कल्याण

राजनीति
समाजनीति
रणनीति
लोकनीति
अर्थ
धर्म
काम
मोक्ष
मानवधर्म
व्यक्तिधर्म
विश्वधर्म
वर्णाश्रमधर्म
दैवीसम्पत्ति
आसुरीसम्पत्ति
सदाचार
शिष्टाचार
मायारहस्य
प्रकृतिरहस्य
सृष्टिरहस्य
जीवरहस्य
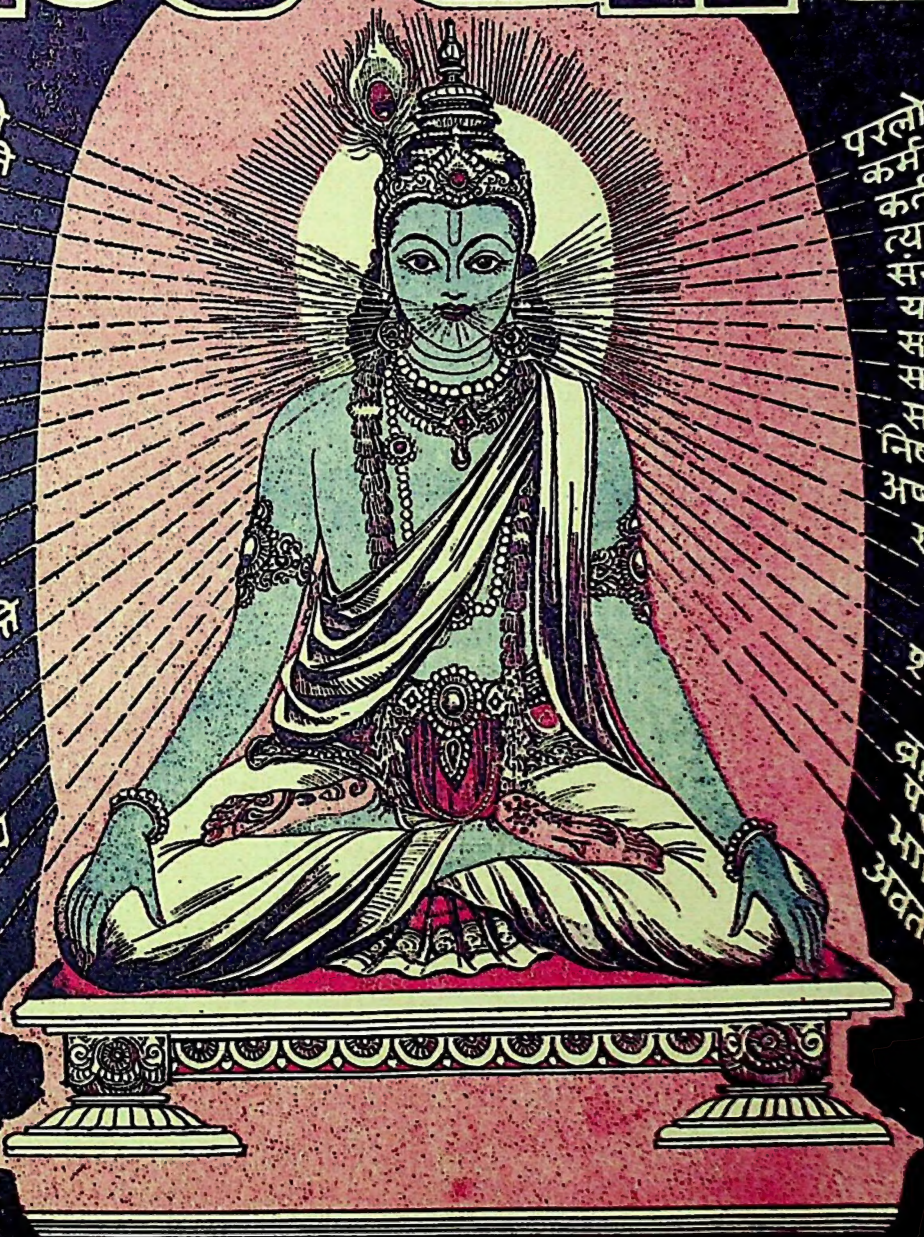
परलोकरहस्य
कर्मरहस्य
कर्तव्यतत्त्व
त्यागतत्त्व
संन्यासतत्त्व
यज्ञतत्त्व
साधनतत्त्व
साध्यतत्त्व
सांख्ययोग
निष्कामकर्मयोग
अष्टाङ्गयोग
राजयोग
ज्ञान
भक्ति
शरणागति
प्रेम
ब्रह्मतत्त्व
परमात्मतत्त्व
भगवत्तत्त्व
अवतारतत्त्व

वर्ष ३८

श्रीकृष्णवचनामृत

संख्या १
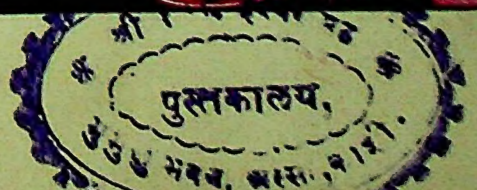
दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय जय, काल-विनाशिनि काली जय जय ।
उमा रमा ब्रह्माणी जय जय, राधा सीता रुक्मिणि जय जय ॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर ।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर ॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जय-जय दुर्गा, जय मा तारा । जय गणेश, जय शुभ-आगारा ॥
जयति शिवा-शिव जानकिराम । गौरीशंकर सीताराम ॥
जय रघुनन्दन जय सियाराम । व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम ॥
रघुपति राघव राजाराम । पतितपावन सीताराम ॥

[संस्करण १,३५,०००]

वार्षिक मूल्य भारतमें ७.५० विदेशमें १०.०० (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

इस अङ्कका मूल्य ७.५० विदेशमें १०.०० (१५ शिलिंग)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

कल्याण

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

वर्ष ३८ संख्या १

श्रीकृष्णवचनामृत

७. 'कल्याण'—व्यवस्था-विभाग, 'कल्याण'—सम्पादन-विभाग, 'कल्याण-कल्पतरु' (अंग्रेजी), 'साधक-सङ्घ' और 'गीता-रामायण-प्रचार-सङ्घ'के नाम गीताप्रेसके पतेपर अलग-अलग पत्र, पारसल, पैकेट, रजिस्ट्री, मनीआर्डर, बीमा आदि भेजने चाहिये तथा उनपर 'गोरखपुर' न लिखकर पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)—इस प्रकार लिखना चाहिये।

८. किसी अनिवार्य कारणवश 'कल्याण' बंद हो जाय तो जितने अङ्क मिले हों, उतनेमें ही वर्षका चंदा समाप्त समझना चाहिये; क्योंकि केवल इस विशेषाङ्कका ही मूल्य ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे) है।

९. जिन ग्राहकोंका सजिल्द मूल्य आया हुआ है उनको यदि वर्तमान परिस्थितिवश सजिल्द अङ्क जानेकी सम्भावना नहीं होगी तो अजिल्द विशेषाङ्क और जिल्द-चार्ज १.२५ मनीआर्डरद्वारा लौटा दिया जा सकेगा। इस बार 'विशेषाङ्क'के प्रकाशनमें कई कारणोंसे कुछ विलम्ब हो गया है। इसके लिये हम क्षमाप्रार्थना करते हैं।

१०. एक सौ रुपये एक साथ देनेपर आजीवन ग्राहक बनाये जाते हैं। जिनको आजीवन ग्राहक बनना हो वे एक सौ रुपये भेजकर ग्राहक बन जायँ। जो सज्जन वर्तमान वर्षके ७.५० भेज चुके हों, वे ९२.५० और भेजकर आजीवन ग्राहक बन सकते हैं। जबतक वे जीवित रहेंगे और जबतक 'कल्याण' बंद नहीं होगा, तबतक 'कल्याण' उन्हें मिलता रहेगा।

श्रीहरिः

संक्षिप्त लीलाप्रसङ्गसहित श्रीकृष्ण-वचनामृताङ्क

विषय — पृष्ठ-संख्या

[महाभारत]

[हरिवंशपुराण]

[विष्णुपुराण]

[जैमिनीयाश्वमेध]

[पद्मपुराण]

[गरुडपुराण]

[आदिपुराण]

[भविष्यपुराण]

[गर्गसंहिता]

[योगवासिष्ठ]

[ब्रह्मवैवर्तपुराण]

चित्र-सूची

बहुरंगे चित्र

दोरंगा-चित्र

रेखा-चित्र

अभयप्रदाता श्रीकृष्ण

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण
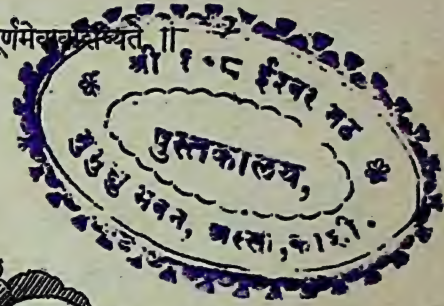
सर्वारिष्टहरं सुखैकरमणं शान्त्यास्पदं भक्तिदं स्मृत्या ब्रह्मपदप्रदं स्वरसदं प्रेमास्पदं शाश्वतम् ।
मेघश्यामशरीरमच्युतपदं पीताम्बरं सुन्दरं श्रीकृष्णं सततं व्रजामि शरणं कायेन वाचा धिया ॥

वर्ष ३८ } गोरखपुर, सौर माघ २०२०, जनवरी १९६४ { संख्या १
पूर्ण संख्या ४४६

अभयप्रदाता श्रीकृष्ण

नित्य अनन्त अचिन्त्य अनिर्वचनीय प्रेम-विज्ञान-निधान ।
विश्वातीत-विश्वमय निर्गुण-सगुण रस-सुधा-सिन्धु महान ॥
अकल सकल सुर-मुनि-ऋषि-सेवित-चरण-सरोरुह श्रीभगवान ।
परम शरण्य, परम गुरु करते जन प्रपन्नका अभय-विधान ॥

श्रीकृष्णवचनामृत

(१)

जो जन्म-मृत्युकी जड़ उखाड़ देती है, सब पाप-तापको भी पछाड़ देती है।
अमरत्व प्रकट करके प्रत्यक्ष दिखाती, जीने-मरनेके भ्रमको दूर भगाती ॥
उस सरस साधनाका भी करती इङ्गन[1], जो देती हरिका प्यार भरा आलिङ्गन।
पीना चाहो वह परम सुधा कल्याणी, तो अपनाओ श्रीकृष्णचन्द्रकी वाणी ॥

(२)

सहजन्मा हैं जिसके हाला-हालाहल, जिसके हित हुआ महान् कलह-कोलाहल।
भूलो सुर-असुरोंके उस रचनामृतको, श्रीकृष्णचन्द्रके पीओ वचनामृतको ॥
वह स्वर्ग-सम्पदा, प्राप्त नहीं इस भवको, यह वसुधापर भी सुधा सुलभ है सबको।
इसमें न मोहिनीकी माया है चलती, यह सुधा स्वतः श्रद्धालु हृदयमें ढलती ॥

(३)

जड सुधा प्राप्तकर असुर न सुर बन पाया, कट गया शीश, अमरत्व मिला मनभाया ?
हरिवचनामृत वह अमल अमोघ रसायन, पीकर जिसको नर हो जाता नारायण ॥
सत्कर्म, भक्ति, विज्ञान, योग है, जप है, वर्णाश्रमधर्म, महान् त्याग है, तप है।
यम, नियम, अखण्ड समाधि, सिद्धियाँ सारी, हरिकी वाणीमें प्रीति-रीति है न्यारी ॥

(४)

है सती-धर्म-उपदेश, ईशकी सत्ता, सुर-पूजन, व्रत-उपवास, सुतीर्थ-महत्ता।
गुरु, तात-मातकी भक्ति, अतिथि-आराधन, दीक्षा, संस्कार, सुदान, यज्ञ-संराधन ॥
परलोक तथा जन्मान्तरका प्रतिपादन, शुभ इष्ट और आपूर्त, श्राद्ध-सम्पादन।
सेवा, परहित, पुरुषार्थ, नीति नव-नव है, श्रीकृष्णचन्द्रके वचनामृतमें सब है ॥

(५)

हरिवचनामृत सच्चिदानन्दघनमय है, हरिके समान ही दीनबन्धु अतिशय है।
शरणागतवत्सल, करुणानिधि भयहारी, माधुर्यराशि, रससिन्धु, सुमङ्गलकारी ॥
सब वेद, शास्त्र, इतिहास-पुराण यही है; समझो सारे वाङ्मयका प्राण यही है।
ले शरण इसीकी मनवाञ्छित फल पाओ, यह सुधा पानकर अजर-अमर हो जाओ ॥

—साहित्याचार्य पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

---

१. संकेत।
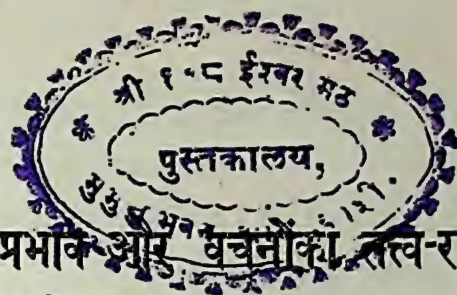
भगवान्‌के स्वरूप, जन्म, चरित्र, गुण, प्रभाव और वचनोंका तत्त्व-रहस्य

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपकी एवं उनके आविर्भाव (जन्म), चरित्र (कर्म), गुण, प्रभाव और वचनों-की महिमा अनन्त और अपार है । इन सबके तत्त्व-रहस्यको न समझनेके कारण ही लोग भगवान्‌की प्राप्तिसे वञ्चित हो रहे हैं । भगवान्‌में श्रद्धा-विश्वास होनेपर ही इन सबका तत्त्व-रहस्य समझमें आ सकता है और तभी भगवान्‌में परम विशुद्ध प्रेम होकर उसे भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है । चाहे कोई कैसा भी पापी क्यों न हो, भगवान्‌में प्रेम हो जानेपर उसे भगवत्प्राप्ति होनी कठिन नहीं है, बल्कि सहज ही शीघ्र हो सकती है (गीता ८ । १४; ९ । ३०–३१) । तथा भगवान्‌में प्रेम हो जानेपर फिर वह भगवान्‌को कभी नहीं भूल सकता और भगवान् उसको नहीं भूल सकते । भगवान् उसको सदा-सर्वदा सर्वत्र प्रतीत होने लगते हैं और सब कुछ भगवान्‌में स्थित प्रतीत होने लगता है एवं वह भगवान्‌में तन्मय हो जाता है, उसकी सारी चेष्टा भगवान्‌में ही होने लगती है (गीता ६ । ३०-३१) । ऐसी स्थिति प्राप्त करनेके लिये भगवान्‌के स्वरूप, जन्म, कर्म, गुण, प्रभाव और वचनोंका तत्त्व-रहस्य भलीभाँति समझना आवश्यक है । अतः इस विषयमें क्रमसे कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है ।

भगवान्‌के स्वरूपका तत्त्व-रहस्य

जैसे जलके परमाणु, भाप, बादल, बूँदें और ओले आदि सब जल ही हैं, वैसे ही सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम, सत्-असत् आदि जो कुछ भी है, वह सब भगवान्‌का स्वरूप ही है । यह भगवान्‌के स्वरूपका तत्त्व है तथा वे अज, अविनाशी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् पूर्णब्रह्म परमात्मा ही स्वयं दिव्य अवतार धारण करके प्रकट होते हैं और उनके दर्शन, भाषण, चिन्तन, वन्दन आदि करके पापी भी परम पवित्र हो जाते हैं—यह उनके स्वरूपका रहस्य है ।

भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा थे—यह बात भक्त अर्जुनने, समस्त ऋषियोंने तथा स्वयं भगवान्‌ने भी कही है । गीतामें अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे कहते हैं—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥
(१० । १२–१३)

'आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं; क्योंकि आपको समस्त ऋषिगण सनातन, दिव्य पुरुष एवं देवोंका भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं । वैसे ही देवर्षि नारद तथा असित और देवल ऋषि तथा महर्षि व्यास भी कहते हैं और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं ।'

जो महापुरुष भगवान्‌के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार स्वरूपके तत्त्व-रहस्यको जानता है, वह इस चराचर संसारके रूपमें भगवान्‌को ही अनुभव करता है, भगवान्‌के अतिरिक्त कुछ भी नहीं देखता, अतः वह भगवान्‌को प्राप्त ही है (गीता ७ । १९; १० । ३९)।

भगवान्‌के जन्मका तत्त्व-रहस्य

भगवान् उत्पत्ति और विनाशसे रहित होते हुए भी मूढ मनुष्योंको जन्म लेते हुए और विनष्ट होते हुए-से प्रतीत होते हैं । वास्तवमें उनका आविर्भाव (प्राकट्य) और तिरोभाव (अन्तर्धान) होता है । भगवान् श्रीकृष्ण जब कारागारमें प्रकट हुए, तब चतुर्भुज रूपमें ही प्रकट

हुए थे, उनका मनुष्यकी भाँति बालकरूपसे जन्म नहीं हुआ था। श्रीभागवतकार कहते हैं—

देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः।
आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः॥
तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं
चतुर्भुजं शङ्खगदायुदायुधम्।
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं
पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम्॥
(श्रीमद्भा० १०। ३। ८-९)

'सबके हृदयमें विराजमान भगवान् विष्णु देवरूपिणी देवकीसे उसी प्रकार प्रकट हुए, जैसे पूर्व दिशामें सोलहों कलाओंसे पूर्ण चन्द्रमाका उदय हुआ हो। श्रीवसुदेवजीने देखा—उनके सामने एक अद्भुत बालक है। उसके नेत्र कमलके समान कोमल और विशाल हैं। उसके चार हाथ हैं, जिनमें शङ्ख, गदा, चक्र और कमल लिये हुए है। वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न है, गलेमें कौस्तुभमणि सुशोभित है और वर्षाकालीन बादलके समान परम सुन्दर श्याम शरीरपर मनोहर पीताम्बर धारण किये हुए है।'

इसी प्रकार जब वे परमधामको पधारे हैं, तब अवतार-शरीरका त्याग न करके सशरीर ही परमधामको गये हैं।

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्॥
(श्रीमद्भा० ११। ३१। ६)

'भगवान् श्रीकृष्णका विग्रह उपासकोंके ध्यान और धारणाका मङ्गलमय आधार और सम्पूर्ण लोकोंके लिये परम रमणीय आश्रय है, इसलिये उन्होंने योगियोंके समान अग्निदेवतासम्बन्धी योगधारणाके द्वारा उसको जलाया नहीं, सशरीर अपने धाममें चले गये (क्योंकि वे योगियोंके भी ईश्वर थे)।

इससे यह सिद्ध हो गया कि भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हुए और अन्तर्धान हो गये, उनकी उत्पत्ति और विनाश नहीं हुआ।

जब गीताके दसवें अध्यायके अन्तमें भगवान्के मुखसे अर्जुनने यह सुना कि सारा संसार उनके एक अंशमें है, तब ग्यारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने प्रार्थना की कि 'वह आपका विश्वरूप मुझे दिखलाइये।' इसपर भगवान्ने उनको विश्वरूप दिखलाया। इसके बाद अर्जुनने अ० ११ श्लोक ४६ में विश्वरूपको समेटकर चतुर्भुजरूप दिखलानेकी प्रार्थना की, तब भगवान्ने उनके इच्छानुसार चतुर्भुजरूप दिखला दिया (गीता ११। ५०)। किंतु बादमें उस चतुर्भुज रूपका भी उपसंहार करके भगवान्ने मनुष्यरूप धारण कर लिया (गीता ११। ५१)। अब विचार कीजिये, विश्वरूप और चतुर्भुज रूपके आविर्भाव और तिरोभावके सिवा और क्या रहा!

भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् परमात्मा होकर भी मनुष्यरूपमें विचरण कर रहे थे। किंतु इस तत्त्व-रहस्यको न समझनेवाले मूर्खलोग उनकी अवज्ञा करके अपना पतन ही करते रहे (गीता ९। ११)। महाभारतमें भी स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा है—

मानुष्यं भावमापन्नं ये मां गृह्णन्त्यवज्ञया।
संसारान्तर्हि ते मूढास्तिर्यग्योनिष्वनेकशः॥
(महा० आश्व० वैष्णव०)

'जो लोग मुझे मनुष्यभावको प्राप्त हुआ समझकर मेरी अवहेलना करते हैं, वे मूर्ख हैं और संसारके भीतर बारंबार तिर्यग्योनियोंमें भटकते रहते हैं।'

क्योंकि जिनका भगवान्पर श्रद्धा-विश्वास नहीं होता, उन अपात्र मनुष्योंके लिये भगवान् अपनेपर मायाका पर्दा डाले रहते हैं। इसलिये वे मूर्ख मनुष्य उनको नहीं पहचान पाते (गीता ७। २५)।

भगवान् अपनी प्रकृतिको वशमें करके अपनी योगमायाशक्तिसे स्वतः ही प्रकट होते हैं (गीता ४ । ६)। हमलोगोंके शरीरोंकी जिस प्रकार उत्पत्ति और विनाश होता है, उससे भगवान्‌के आविर्भाव-तिरोभावकी अत्यन्त विलक्षणता है । एक तो उनके शरीरकी धातु चेतन, अप्राकृत, दिव्य, अलौकिक है और हमलोगोंके शरीरकी धातु जड, प्राकृत, मायिक, लौकिक है । दूसरे, हमलोगोंका जो संसारमें जन्म होता है, उसमें पूर्वकृत पुण्य-पाप हेतु हैं । किंतु भगवान्‌के प्राकट्यमें हेतु संसारका कल्याण है । वे संसारमें प्रकट होकर श्रेष्ठ आचरणवाले पुरुषोंका उद्धार और दुष्ट आचरणवाले मनुष्योंका विनाश करते हैं तथा संसारके कल्याणके लिये अपनी भक्ति और धर्मका प्रचार करते हैं (गीता ४ । ८)। यह है भगवान्‌के जन्मकी दिव्यता । जो इसका तत्त्व-रहस्य जान जाता है, वह स्वयं तो कल्याणस्वरूप है ही, बल्कि वह दूसरोंका भी कल्याण कर सकता है ।

भगवान्‌के जन्मका तत्त्व यह है कि जब जिस रूपमें भी भगवान्‌का अवतार होता है, वे निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा ही उस रूपमें प्रकट होते हैं । यह भलीभाँति समझ लेना ही उनके जन्मका तत्त्व समझना है । तथा जब-जब धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि होती है, तब-तब भगवान् अवतार लेते हैं एवं अवतार लेकर पापका विनाश करके धर्मकी स्थापना कर देते हैं—यह अवतारका प्रयोजन (उद्‌देश्य) ही अवतारका रहस्य है । इसको भलीभाँति समझ लेना ही उनके जन्मका रहस्य समझना है ।

भगवान् अवतार लेकर सुकृती और भगवद्भक्तोंका तो उद्धार करते ही हैं, किंतु दुष्ट दुराचारी मनुष्योंका भी उनको दण्ड देकर उद्धार कर देते हैं—जैसे भगवान् श्रीकृष्णने दुष्टा पूतनाका विनाश करके उसका भी उद्धार कर दिया था । भक्त उद्धवके वाक्य हैं—

अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २ । २३)

‘आश्चर्यकी बात है कि जिस पापिनी पूतनाने अपने स्तनोंमें हलाहल विष लगाकर श्रीकृष्णको मार डालनेकी नीयतसे उन्हें दूध पिलाया था, उसको भी भगवान्‌ने वह परम गति दी, जो धायको मिलनी चाहिये। उन भगवान् श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कौन दयालु है, जिसकी शरण ग्रहण करें ।’

इस तरह दुष्टोंका विनाश करनेमें भी उनका कल्याण कर देनेका जो भाव भरा हुआ है—यह उनके अवतारका रहस्य है । तथा भगवान्‌के अवतारके गुण-प्रभाव आदिके श्रवण, मनन और कथनसे साधारण मनुष्योंका भी सहज ही कल्याण हो सकता है—यह भी अवतारका रहस्य है, जो बिना ईश्वरकृपाके समझमें आना सम्भव नहीं है । किंतु वह ईश्वरकी कृपासे सहज और सुगम है । यद्यपि ईश्वरकृपा सभीपर सदा ही पूर्ण और अपार है, तथापि श्रद्धा-विश्वासकी कमीके कारण लोग ईश्वरकृपाको नहीं मानते—इस अज्ञताके परिणाम-स्वरूप वे उस भगवत्प्राप्तिरूप महान् लाभसे वञ्चित हो रहे हैं । जो बुद्धिमान् मनुष्य भगवत्कृपाको मानते हैं, वे उनके अवतारके तत्त्व-रहस्यको समझकर उससे परम लाभ उठा लेते हैं ।

भगवान्‌के चरित्रका तत्त्व-रहस्य

भगवान् श्रीकृष्णके चरित्र (लीलाएँ) भी दिव्य हैं। हम लोगोंकी प्रत्येक चेष्टामें ममता, अहंकार, आसक्ति, स्वार्थ और अभिमान आदि दोष भरे रहते हैं; किंतु भगवान्‌के चरित्र (कर्म) इन सब दोषोंसे सर्वथा रहित हैं। तथा जिस प्राणीका जैसा गुण-कर्म होता है, उसके अनुसार सारे संसारकी

रचना भगवान् ही करते हैं; तो भी उनमें कर्तापनका अभिमान न होनेके कारण उनका वह कर्म वास्तवमें अकर्म ही है (गीता ४ । १३) । भगवान्‌ने अवतार लेकर जो कर्म किये, उनमें उनका कोई स्वार्थ नहीं था, वे सबके हितके लिये ही चेष्टा करते थे। जो इसके तत्त्वको जान जाता है, उसके भी कर्म स्वाभाविक ही ममता, आसक्ति, कामना, स्वार्थ और कर्तृत्वाभिमानसे रहित, लोकहितके लिये ही होते हैं । वह कर्म करता नहीं, उसके द्वारा कर्म होते हैं । उसका 'करना' 'होने'में बदल जाता है ।

भगवान्‌का बर्ताव बड़ा ही अलौकिक है। भगवान्‌को जो मनुष्य जिस 'भाव'से भजता है, उसके लिये भगवान् वैसे ही बन जाते हैं (गीता ४ । ११) । जो भगवान्‌को कान्ताभावसे भजता है, उसके लिये भगवान् कान्तभावसे युक्त हो वैसा व्यवहार करते हैं, जैसे भगवान् श्रीकृष्णने रुक्मिणीजीके साथ किया था। जो भगवान्‌को माधुर्यभावसे भजता है, उसके लिये वे विशुद्ध प्रेमास्पद बनकर विशुद्ध प्रेमका व्यवहार करते हैं, जैसे भगवान् श्रीकृष्णने गोपियोंके साथ किया था। जो भगवान्‌को दासभावसे भजते हैं, उनके लिये भगवान् स्वामी बनकर रहते हैं, जैसे संजय आदिके लिये। जो सखाभावसे भजते हैं, उनके लिये वे सखा होकर रहते हैं—जैसे ग्वाल-बाल आदिके लिये। जो दास्य और सख्य—दोनों भाव रखकर भजते हैं, उनके लिये भगवान् भी दोनों भावोंसे युक्त होकर रहते हैं, जैसे अर्जुन आदिके लिये। जो वात्सल्यभावसे भजते हैं, उनके लिये पुत्ररूप होकर रहते हैं—जैसे श्रीनन्द-यशोदा आदिके लिये।

इसी तरह जो मनुष्य जिस प्रकारसे भगवान्‌को भजते हैं, उनको भगवान् भी उसी प्रकारसे भजते हैं। कोई भगवान्‌का ध्यान करता है तो भगवान् भी उसका ध्यान करते हैं। जैसे शरशय्यापर लेटे हुए पितामह भीष्म भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान कर रहे थे, तब भगवान् श्रीकृष्ण भी भीष्मजीका ध्यान करते थे। यह बात राज्यप्राप्तिके पश्चात् कृतज्ञता प्रकट करनेके लिये गये हुए महाराज युधिष्ठिरसे भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं बतलायी थी (महा० शान्ति० ४६ । ११) । विचार कीजिये, इस प्रकारका अलौकिक व्यवहार भगवान्‌के सिवा अन्य कौन कर सकता है। भगवान्‌के इन सब व्यवहारोंमें सौहार्द, प्रेम, दया, उदारता, भक्तवत्सलता आदि उत्तमोत्तम भाव भरे हुए हैं।

जब ब्रह्माजीको बाललीला करते हुए भगवान् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें मोह हो गया, तब उन्होंने ग्वाल-बाल और बछड़ोंको ले जाकर गुफामें रख दिया। यह जानकर साक्षात् पूर्णब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही वैसे-के-वैसे ग्वाल-बाल और बछड़ोंके रूपमें बन गये (श्रीमद्भा० १० । १३ । १९) । अतः उन ग्वाल-बाल और बछड़ोंको भगवान् ही समझना लीलाका तत्त्व समझना है। इसके रहस्यको श्रीबलरामजी भी नहीं समझ पाये तथा गायों और माताओंको उनके इच्छा-के अनुसार वात्सल्यसुख प्रदान करनेके लिये भी भगवान्‌ने यह लीला की थी—यह समझना भी लीलाका रहस्य समझना है।

इस प्रकार भगवान्‌के चरित्र अद्भुत, अलौकिक, अप्राकृत तथा दिव्य हैं—इसके तत्त्व-रहस्यको जो मनुष्य जान जाता है, उसके चरित्र (कर्म) भी वैसे ही पवित्र बन जाते हैं। जो मनुष्य श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक भगवान्‌के सब प्रकारसे शरण हो जाता है, वही भगवत्कृपासे भगवान्‌की लीलाके तत्त्व-रहस्यको जान सकता है।

इस तरह जो मनुष्य भगवान्‌के जन्म और कर्मकी दिव्यताके तत्त्व-रहस्यको जान लेता है, वह भगवान्‌को ही प्राप्त हो जाता है तथा देह-त्यागके पश्चात् वह पुनः इस संसारमें लौटकर नहीं आता। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
(गीता ४ । ९)

भगवान्‌के गुणोंका तत्त्व-रहस्य

भगवान् सम्पूर्ण धर्म, ऐश्वर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य, त्याग, प्रेम, दया, विनय, करुणा, क्षमा, शान्ति, सत्य, संतोष, सरलता, कोमलता, उदारता, भक्तवत्सलता, धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता, बुद्धिमत्ता आदि अनन्त गुणोंके महान् सागर हैं। भगवान्‌के गुणोंका तत्त्व यह है कि स्वयं भगवान् ही इन सब दिव्य गुणोंके रूपमें प्रकट हुए हैं, अतः वे गुण भगवान्‌से अभिन्न हैं। जैसे भगवान् दिव्य चिन्मय हैं, वैसे ही उनके गुण भी दिव्य चिन्मय हैं—यह समझना ही भगवान्‌के गुणोंका तत्त्व समझना है।

मनुष्योंमें जहाँ जो भी गुण दिखलायी पड़ते हैं, वे परिमित, एक देशीय, प्राकृत, लौकिक, अल्प और जड हैं; किंतु भगवान्‌के गुण अपरिमित, अनन्त, अप्राकृत, अलौकिक, महान्, दिव्य और चिन्मय हैं। सारे ब्रह्माण्डके गुण मिलकर भी उन गुणसागर भगवान्‌के गुणोंकी एक बूँदका आभासमात्र ही हैं—यह समझना ही गुणोंका रहस्य समझना है।

जो मनुष्य भगवान्‌के गुणोंका तत्त्व-रहस्य समझ जाता है, उसमें भी भगवान्‌के गुण आ जाते हैं, जिसके प्रभावसे उसको शीघ्र ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

भगवान्‌के प्रभावका तत्त्व-रहस्य

सम्पूर्ण बल, तेज, ओज, शक्ति, सामर्थ्य, चराचर जगत्‌का उत्पत्ति-संहार-संचालन करनेकी शक्ति, असम्भवको सम्भव कर सकना आदि भगवान्‌का अपरिमित दिव्य प्रभाव है तथा भगवान्‌का प्रभाव भगवान्‌से अभिन्न है—यह भगवान्‌के प्रभावका तत्त्व है।

भगवान्‌का प्रभाव अपरिमित है। उसको वाणीद्वारा कोई कह नहीं सकता, जैसे खद्योत (जुगनू) से सूर्यकी उपमा नहीं दी जा सकती; किंतु फिर भी शास्त्रोंके आधारपर कुछ कहा जाता है।

सूर्य, अग्नि, विद्युत् आदिमें जो तेज और प्रकाश, चन्द्रमामें शीतलता, पृथ्वीमें क्षमा, समुद्रमें गम्भीरता, आकाशमें अनन्तता आदि, जो उन सबमें प्रभाव प्रतीत होता है, वह सब भगवान्‌से ही है। गीताके सातवें और दसवें अध्यायोंमें भगवान्‌ने जो अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है तथा संसारमें अन्यान्य प्राणी और पदार्थोंमें जो भी शक्ति, सामर्थ्य, कान्ति, ऐश्वर्य, तेज, ओज, प्रभाव आदि है, वह सब भगवान्‌के प्रभावके एक अंशका आभासमात्र है। गीतामें भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

यद्यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
(१० । ४१-४२)

'जो-जो विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशका ही प्राकट्य जान। अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है। मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपनी योगशक्तिके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

यह भगवान्‌के प्रभावका रहस्य है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण मार्कण्डेय ऋषिको अपना प्रभाव बतलाते हुए कहते हैं—

अहं नारायणो नाम प्रभवः शाश्वतोऽव्ययः।
विधाता सर्वभूतानां संहर्ता च द्विजोत्तम॥
अहं विष्णुरहं ब्रह्म शक्रश्चाहं सुराधिपः।
अहं वैश्रवणो राजा यमः प्रेताधिपस्तथा॥
(महा० वन० १८९ । ४-५)

'द्विजश्रेष्ठ! मैं नारायण ही सबकी उत्पत्तिका

कारण, सनातन और अविनाशी हूँ । सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि और संहार करनेवाला भी मैं ही हूँ । मैं ही विष्णु हूँ, मैं ही ब्रह्मा हूँ, मैं ही देवराज इन्द्र हूँ और मैं ही राजा कुबेर तथा प्रेतराज यम हूँ ।'

अहं त्रिवर्त्मा विश्वात्मा सर्वलोकसुखावहः ॥
आविर्भूः सर्वगोऽनन्तो हृषीकेश उरुक्रमः ।
(महा० वन० १८९ । ३४–३५)

'मैं तीनों लोकोंमें व्याप्त, सम्पूर्ण विश्वका आत्मा, सब लोगोंको सुख पहुँचानेवाला, सबकी उत्पत्तिका कारण, सर्वव्यापी, अनन्त, इन्द्रियोंका नियन्ता और महान् विक्रमशाली हूँ ।'

जब कौरव-पाण्डवोंके युद्धकी समाप्तिके पश्चात् महाराज युधिष्ठिरसे आज्ञा लेकर भगवान् श्रीकृष्ण हस्तिनापुरसे द्वारका जा रहे थे, तब मार्गमें मरुस्थलमें गुरुभक्त तपस्वी उत्तङ्क ऋषिसे उनकी भेंट हुई । उत्तङ्क-ऋषिके पूछनेपर भगवान्‌ने बताया कि समस्त कौरव अपने पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसहित युद्धमें मारे गये, केवल पाँच पाण्डव ही बचे हैं । यह सुनकर ऋषिको बड़ा क्रोध आया और उन्होंने कहा—'श्रीकृष्ण ! शक्ति रहते हुए भी तुमने कौरवोंकी रक्षा नहीं की, इसलिये मैं तुम्हें शाप दूँगा ।' इसपर परमदयालु भगवान् बोले—'विप्रवर ! कोई भी मनुष्य तपस्याके बलपर मेरा तिरस्कार नहीं कर सकता । आप तपस्वी हैं, बाल्यावस्थासे आपने ब्रह्मचर्यका पालन किया है, गुरुजनोंको भी सेवासे संतुष्ट किया है । उस अत्यन्त कष्ट पाकर संचित किये हुए आपके तपका मैं नाश कराना नहीं चाहता ।' तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने अपने प्रभावका वर्णन भी किया और कहा—

अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रोऽथ प्रभवाप्ययः ॥
भूतग्रामस्य लोकस्य स्रष्टा संहार एव च ।
(महा० आश्व० ५४ । १४–१५)

'मैं ही विष्णु, मैं ही ब्रह्मा और मैं ही इन्द्र हूँ । सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयका कारण भी मैं ही हूँ । समस्त प्राणिसमुदायकी सृष्टि और संहार भी मेरे द्वारा ही होते हैं ।'

उन्होंने यह भी बतलाया कि 'मैं जिस-जिस योनिमें अवतार लेता हूँ, उस-उसके अनुसार व्यवहार करता हूँ । इस समय मैं मनुष्ययोनिमें अवतीर्ण हुआ हूँ, इसलिये कौरवोंपर अपनी ईश्वरीय शक्तिका प्रयोग न करके पहले मैंने दीनतापूर्वक ही संधिके लिये प्रार्थना की थी; किंतु उन्होंने मोहग्रस्त होनेके कारण मेरी हितकर बात नहीं मानी ।'

मानुष्ये वर्तमाने तु कृपणं याचितं मया ।
न च ते जातसम्मोहा वचोऽगृह्णन्त मे हितम् ॥
(महा० आश्व० ५४ । २०)

महाभारतमें धर्मराज युधिष्ठिरको भी भगवान्‌ने अपना प्रभाव बतलाया है—

अहमादिर्हि देवानां सृष्टा ब्रह्मादयो मया ।
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य जगत् सर्वं सृजाम्यहम् ॥
(महा० आश्व० वैष्णव०)

'मैं ही देवताओंका आदि हूँ । ब्रह्मा आदि देवताओं-की मैंने ही सृष्टि की है । मैं ही अपनी प्रकृतिका आश्रय लेकर सम्पूर्ण संसारकी रचना करता हूँ ।'

केनोपनिषद् खण्ड ३-४ में वर्णन आता है कि एक समय जब देवताओंकी असुरोंपर विजय हो गयी, तब उसमें वे अपनी ही महिमा और प्रभाव समझने लगे । इसपर भगवान्‌ने यक्षरूपमें प्रकट होकर अग्नि, वायु और इन्द्र आदि देवताओंके इस अभिमान और गर्वका नाश किया और उन्हें यह भी दर्शा दिया कि 'मैंने ही असुरोंको पराजित किया है, तुमलोग तो निमित्तमात्र हो और तुमलोगोंमें जो शक्ति है, वह मेरी ही है । अतः इसमें अपना प्रभाव मानना तुमलोगोंकी भूल है ।'

कहाँतक लिखा जाय—महाभारत, भागवत, उपनिषद्

आदि शास्त्रोंमें जगह-जगह भगवान्‌का प्रभाव भरा हुआ है।

इसलिये जहाँ जो कुछ भी प्रभाव दिखायी पड़ता है, वह सब भगवान्‌के प्रभावके एक अंशका आभासमात्र है। यह भगवान्‌के प्रभावका रहस्य है और इसको भलीभाँति समझना ही प्रभावका रहस्य समझना है तथा जो श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्‌के अनन्यशरण हो जाता है, वह भगवान्‌के गुण-प्रभावको सहज ही समझ सकता है, जिससे उसको शीघ्र भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

भगवान्‌के वचनोंका तत्त्व-रहस्य

भगवान्‌की वाणी बड़ी ही कोमल, मधुर, मनोहर, स्निग्ध, स्पष्ट, निर्भीक, गम्भीर, ओज-तेज और प्रभावसे युक्त, परम पवित्र, रहस्यमय, सबके लिये परम हितकर और कल्याण करनेवाली होती है।

महाभारतमें, पाण्डवोंके यहाँ जाकर लौटे हुए संजयने धृतराष्ट्रसे भगवान् श्रीकृष्णके संदेशवाक्योंकी बड़ी महिमा गायी है—

वाचं तां वचनार्हस्य शिक्षाक्षरसमन्विताम्।
अश्रौषमहमिष्टार्थां पश्चाद्धृदयहारिणीम्॥

(उद्योग० ५९। १७)

'तत्पश्चात् मैंने बातचीतमें कुशल भगवान् श्रीकृष्णकी वह वाणी सुनी, जिसका एक-एक अक्षर शिक्षाप्रद था। वह अभीष्ट अर्थका प्रतिपादन करनेवाली तथा मनको आकर्षित कर लेनेवाली थी।'

जब भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंकी ओरसे संधि-प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर गये, उस समय दुर्योधनने उनसे आतिथ्य ग्रहण न करनेका कारण पूछा। तब भगवान्‌ने उत्तरमें कहा—

सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः।
न च सम्प्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम्॥

(महा० उद्योग० ९१। २५)

'किसीके घरका अन्न या तो प्रेमके कारण भोजन किया जाता है या आपत्तिमें पड़नेपर। राजन्! प्रेम तो तुम नहीं करते और किसी आपत्तिमें हम नहीं पड़े हैं।'

भगवान्‌के इन वचनोंकी महिमा गाते हुए श्रीवैशम्पायनजीने कहा है—

स एवमुक्तो गोविन्दः प्रत्युवाच महामनाः।
उद्यन्मेघस्वनः काले प्रगृह्य विपुलं भुजम्॥
अलघूकृतमग्रस्तमनिरस्तमसंकुलम्।
राजीवनेत्रो राजानं हेतुमद् वाक्यमुत्तमम्॥

(महा० उद्योग० ९१। १६-१७)

'दुर्योधनके इस प्रकार पूछे जानेपर महामनस्वी कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने अपनी विशाल भुजा उठाकर राजा दुर्योधनको जलयुक्त मेघके समान गम्भीर वाणीमें उत्तर देना आरम्भ किया। उनका वह वचन परम उत्तम, युक्तिसंगत, दैन्यरहित, प्रत्येक अक्षरकी स्पष्टतासे सुशोभित तथा स्थानभ्रष्टता और संकीर्णतारूप दोषोंसे रहित था।'

तदनन्तर जब भगवान् श्रीकृष्ण कौरव-सभामें पधारे, उस समय वहाँ उन्होंने बड़ा ही प्रभावशाली भाषण दिया, जो महाभारत, उद्योगपर्व, अध्याय ९५ में देखने योग्य है।

भगवान् श्रीकृष्णने गीताके ९ वें अध्यायके पहले श्लोकमें विज्ञानसहित गुह्यतम ज्ञान कहनेकी प्रस्तावना की और दूसरे श्लोकमें आठ विशेषणोंद्वारा उसकी महिमा और विशेषता बतलायी। इसमें यह विचारणीय है कि ज्ञान क्या है और विज्ञान क्या है। गीता अध्याय ९ श्लोक ४-५-६ में जो निराकार स्वरूपका वर्णन किया गया है, उसको जानना तो ज्ञान है और अध्याय ९ श्लोक १६ से १९ तक जो भगवान्‌के साकार-निराकार सगुण-निर्गुण समग्र रूपका वर्णन है, उसको जानना विशेष ज्ञान होनेसे विज्ञान है। ये स्वयं

भगवान् श्रीकृष्णके वचन हैं; अतः इन भगवद्वचनोंको भलीभाँति समझना उन वचनोंका तत्त्व समझना है ।

तथा अर्जुनके प्रति भगवान्ने गीता अध्याय ९ श्लोक ३२ और ३४ में जो शरणागतिका विषय कहा है, वह गोपनीय गुह्यतम रहस्य है । अ० १८ श्लोक ६४ में सर्वगुह्यतम वचन कहनेकी प्रस्तावना करके ६५-६६—इन दो श्लोकोंमें शरणागतिका ही प्रतिपादन किया है । इसके पूर्व अ० १८ श्लोक ६१-६२ में जो शरणागतिका कथन है, वह 'गुह्यतर' है—यह बात अ० १८ श्लोक ६३ में भगवान्ने स्वयं स्पष्ट कह दी है; क्योंकि वहाँ इदंबुद्धिसे 'तम्' कहकर निराकार परमात्माकी शरण ग्रहण करनेका कथन है । किंतु यहाँ अ० १८ श्लोक ६५-६६ में अहंबुद्धिसे 'माम्' कहकर भगवान् स्वयं अपने समग्र रूपकी शरण ग्रहण करनेका आदेश देते हैं । शास्त्रोंमें जहाँ कहीं भी भगवान्ने ऐसा कहा है कि 'मेरा ध्यान कर, मेरा पूजन कर, मुझे नमस्कार कर, मेरी शरण आ जा' आदि-आदि—ये सभी भगवद्वचन सर्वगुह्यतम, परम गोपनीय, अत्यन्त रहस्यमय हैं; क्योंकि इस प्रकारकी बात वहाँ भगवान्ने अपने परम प्रेमी अन्तरङ्ग भक्तको ही कही है । अतः इनको समझना भगवद्वचनोंका रहस्य समझना है । जो मनुष्य भगवान्पर श्रद्धा-विश्वास करके भगवद्-वाणीके तत्त्व-रहस्यको समझ जाता है, वह भगवान्का अतिशय प्रेमी बनकर भगवान्के ही अनन्यशरण हो जाता है, जिससे उसको शीघ्र भगवान्की प्राप्ति हो जाती है ।

इसलिये हमलोगोंको ऊपर बतायी हुई बातोंका तत्त्व-रहस्य भलीभाँति समझकर उनके अनुसार अपना जीवन बनानेकी तत्परतासे प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये ।

भगवान् श्रीकृष्णका गुह्यतम वचन और उसका गुह्यतम अर्थामृत

(लेखक—सर्वदर्शनाचार्य तत्त्वचिन्तक अनन्तश्री स्वामीजी अनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज)

भगवान् श्रीकृष्णके जगदुद्धारक श्रीवचनोंमें—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

—को पूर्वाचार्योंने सर्वगुह्यतम एवं सर्वोत्तम माना है । भगवान् श्रीकृष्णने भी इस वचनको **'सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः'** **'रहस्यं ह्येतदुत्तमम्'** कहा है ।

इस गुह्यतम वचन एवं गुह्यतम अर्थामृतकी प्रशंसामें सर्वतन्त्रस्वतन्त्र आचार्य श्रीवेंकटनाथने यह कहा है—

व्यासाम्नायपयोधिकौस्तुभनिभं हृद्यं हरेरुत्तमं
श्लोकं केचन लोकवेदपदवीविश्वासितार्थं विदुः ।
एषामुक्तिषु मुक्तिसौधविशिखासोपानपंक्तिष्वमी
वैशम्पायनशौनकप्रभृतयः श्रेष्ठाः शिरःकम्पिनः ॥

जैसे समुद्रका सार कौस्तुभमणि है, वैसे ही व्यासाम्नाय (महाभारत) रूप समुद्रका सार गीताका चरमश्लोक (सर्वधर्मान् परित्यज्य०) है । जैसे कौस्तुभमणि विश्वमें अद्वितीय हैं, वैसे ही यह श्लोक भी महाभारतमें अद्वितीय है । सर्वज्ञ श्रीवेंकटनाथ (वेदान्तदेशिक) कौस्तुभमणिकी उपमासे सूचित करते हैं कि जैसे कौस्तुभमणि आत्मज्योतिरूप अथवा सूर्यरूप है, वैसे ही यह श्लोक भगवान्की आत्मज्योतिरूप अथवा ज्ञानसूर्यरूप है । कौस्तुभमणिवत् भगवान्के हृदयमें स्थित होनेसे हृद्य है । 'अपने प्राणपणसे प्रपन्नकी रक्षा करना आवश्यक है' इस लोकमार्ग एवं **'तस्माद् वध्यं प्रपन्नं न प्रयच्छन्ति'** इस वेदमार्गसे विश्वासित प्रपत्ति (शरणागति)-रूप उत्तम अर्थका विधायक होनेसे चरमश्लोक उत्तमोत्तम है । सर्वदेश, सर्वकाल, सर्वदशा, सब अधिकारी एवं सब फलोंके लिये भगवान्की प्रपत्ति है—इस अर्थका साक्षात्कार इस गुह्यतम वचनमें गुरुजनोंने किया है और चेतनों (जीवों) के लिये भगवत्प्राप्ति करना आवश्यक माना है । उनकी इस मान्यताको मुक्ति-महलकी सोपान-पंक्तियोंमें विराजमान अतिशायित ज्ञानी वैशम्पायन एवं शौनक प्रभृति श्रेष्ठोंने शिरःकम्पनपूर्वक स्वीकृत किया है ।

सर्वोत्तमतामें हेतु

चरम श्लोक भगवान्‌के समस्त श्रीवचनोंमें उत्तमोत्तम है, इसका कारण श्रीवेंकटनाथके शब्दोंमें इस प्रकार है—

दुर्विज्ञानैर्नियमगहनैर्दूरविश्रान्तिदेशै-
र्बालानस्मान् बहुभिरयनैः शोचतां नः सुपन्थाः।
निष्प्रत्यूहं निजपदमसौ नेतुकामः स्वभूम्ना
सत्पाथेयं किमपि विदधे सारथिः सर्वनेता॥

दहरविद्या, मधुविद्या, संवर्गविद्या एवं उपकौसलविद्या आदि मोक्षमार्ग दुर्विज्ञेय, नियमगहन एवं विलम्बसे मोक्षप्रद होनेसे अज्ञान, अशक्त, मोक्षमें त्वरावान् अथवा किसी भी कारणसे अयोग्य सर्वसाधारण मुमुक्षुजनोंको शोकाक्रान्त देखकर सर्वान्तर्यामी, सर्वनेता भगवान् श्रीकृष्णने सर्वसाधारण अधिकारियोंके लिये **'सर्वधर्मान् परित्यज्य'** इस गुह्यतम वचनद्वारा शरणागतिरूप गुह्यतम मार्गका विधान किया है। प्रपत्ति (शरणागति) सर्वदेश, सर्वकाल, सर्वावस्थामें सर्व अधिकारियोंके लिये सुलभ है। यही शरणागतिपरक चरमश्लोककी विशेषता (महत्ता) है।

चरम श्लोकका अर्थ

भगवान् श्रीकृष्णके गुह्यतम एवं हृद्य वचनकी व्याख्या अपने-अपने दृष्टिकोणसे अनेक भाष्यकारोंने भिन्न-भिन्न की है। श्रीपराशर भट्टरके मतसे इसकी व्याख्या इस प्रकार है—

मत्प्राप्त्यर्थतया मयोक्तमखिलं संत्यज्य धर्मं पुन-
र्मामेकं मदवाप्तये शरणमित्यार्तोऽवसायं कुरु।
त्वामेवं व्यवसाययुक्तमखिलज्ञानादिपूर्णो ह्यहं
मत्प्राप्तिप्रतिबन्धकैर्विरहितं कुर्यां शुचं मा कृथाः॥

भगवान् श्रीकृष्ण (नारायण) अर्जुन (नर) से कह रहे हैं कि 'मेरी प्राप्ति (भगवत्प्राप्ति) के लिये मैंने (श्रीकृष्णने) जिन कर्मयोग, भक्तियोग एवं ज्ञानयोग आदि धर्मों (उपायों) का श्रीगीतामें प्रतिपादन किया है, उन सब उपायोंको त्यागकर मेरी प्राप्ति (मोक्षप्राप्ति) के लिये केवल एक मैं ही (परमात्मा ही) शरण (उपाय) हूँ—यह निश्चय कर लो। इस प्रकारके निश्चयसे युक्त तुमको ज्ञान, शक्ति, बल, दया एवं क्षमा आदि अखिल गुणोंसे युक्त मैं (पार्थसारथि) मेरी प्राप्ति (भगवत्प्राप्ति) के प्रतिबन्धक (विरोधी अविद्या, कर्मवासना, रुचि एवं प्रकृति-सम्बन्ध आदि-आदि सब पापों) से छुड़ा दूँगा। तुम पापोंकी भीषणता एवं गुरुताको देखकर शोक मत करो। मेरा शरणागत सदाके लिये निर्भर एवं निर्भय हो जाता है।'

प्रपत्ति देवगुह्य है

'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इस गुह्यतम वचनमें भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा प्रतिपादित प्रपत्ति देवताओंके लिये भी गुह्यतम है। तैत्तिरीय आरण्यकमें प्रपत्तिको 'न्यास', 'तप' अथवा 'आत्मयज्ञ' भी कहा है। इसकी गुह्यता (श्रेष्ठता) का वर्णन 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' निम्नलिखितरूपमें कर रही है—

एतन्महोपनिषदं देवानां गुह्यमुत्तमम्।
अभीष्टार्थप्रदं सद्यः सर्वपापप्रणाशनम्॥
अवाच्यमेतत्सर्वस्मै नाभक्ताय कदाचन।
भक्तोऽसि मे स्थिरश्चेति वक्ष्यामि हितकाम्यया॥
यद्येन कामकामेन नासाद्यं साधनान्तरैः।
मुमुक्षुणा यत् सांख्येन योगेन न च भक्तितः॥
प्राप्यते परमं धाम यतो नावर्तते पुनः।
तेन तेनाप्यते तत्तत् न्यासेनैव महामुने॥
परमात्मा च तेनैव साध्यते पुरुषोत्तमः।

अर्थात् यह प्रपत्ति, न्यास अथवा तप महोपनिषद् (उत्कृष्ट रहस्य) है। वेदमें गुह्यार्थमें उपनिषत् शब्द प्रयुक्त हुआ है। न्यासाख्य तप (प्रपत्ति) देवताओंके लिये भी गुह्यातिगुह्य है। यह तत्क्षण ही सब पापोंका प्रणाशक एवं सकल अभीष्टार्थका दाता है। अभक्त इसका दुरुपयोग न करें, अतः इनसे इसकी रक्षा करना आवश्यक है। कामनायुक्त मानवोंको साधनान्तरोंसे जिस-जिस कामनाकी प्राप्ति न होती हो, अथवा

मुमुक्षुओंको सांख्य, योग और भक्तिसे पुनरावृत्तिरहित जिस परमधाम—वैकुण्ठ अथवा श्रीनारायणकी प्राप्ति न होती हो, उन सब कामनाओं तथा श्रीनारायणकी प्राप्ति केवल न्यासाख्य तप (शरणागति) से ही हो जाती है ।

न्यास षडङ्ग है

वेदज्ञ विद्वानोंने न्यासाख्य तप (शरणागति) के छः अङ्ग माने हैं । उनका निर्देश 'अहिर्बुध्न्यसंहिता'-ने इस प्रकार किया है ।

षोढा हि वेदविदुषो वदन्त्येनं महामुने ।
आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ॥
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥
उपाये गृहरक्षित्रोः शब्दः शरणमित्ययम् ।
वर्तते साम्प्रतं चैष उपायार्थैकवाचकः ॥

१ **आनुकूल्य-संकल्प**—भगवदाज्ञा (शास्त्र) अथवा प्राणियोंके अनुकूल चलनेका संकल्प ।

२ **प्रातिकूल्य-वर्जन**—भगवदाज्ञा (शास्त्र) अथवा प्राणियोंके प्रति प्रतिकूलताका वर्जन ।

३ **रक्षिष्यतीति विश्वासः**—शरणागतकी भगवान् रक्षा करेंगे, यह सुदृढ विश्वास ।

४ **गोप्तृत्व-वरण**—भगवान्‌को गोप्ता (रक्षक) रूपसे स्वीकार करना ।

५ **कार्पण्य**—भगवत्-प्राप्तिके लिये भगवत्कृपाके बिना अन्य साधन नहीं है, यह दीनभाव ।

६ **आत्मनिक्षेप**—भगवान्‌के श्रीचरणोंमें अपनी रक्षा-का भार समर्पण ।

'शरणागति' रूप समस्त पदमें विद्यमान शरण शब्द उपाय, गृह एवं रक्षक आदि अनेकार्थोंका वाचक है । न्यास-प्रकरणमें यह केवल 'उपाय' रूप अर्थका ही वाचक है ।

प्रपत्तिका स्वरूप

'अहिर्बुध्न्य' के मतमें 'न्यास' (प्रपत्ति) का स्वरूप (लक्षण) यह है—

अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिंचनोऽगतिः ।
त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः ॥
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम् ।

'हे भगवन् ! मैं अपराधोंका आलय हूँ, अकिंचन (भगवत्प्राप्तिके लिये यत्किंचित् भी साधनसे रहित) हूँ, अगति हूँ; इसलिये हे परमात्मन् ! आपकी प्राप्तिके लिये आप ही उपाय हो जायँ, यह प्रार्थनारूप बुद्धि ही शरणागति (न्यास) है ।'

कर्तव्यान्तराभाव

प्रस्तुत प्रकारसे प्रपत्ति (न्यास) करनेपर प्रपन्नके प्रतिबन्धक सब पाप नष्ट हो जाते हैं । आत्मसमर्पण करनेपर प्रपन्नके लिये दूसरा कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता; कारण कि सब तप, सब तीर्थ, सब यज्ञ एवं सब दान आदि कुशल कर्म न्यासके अन्तर्गत आ जाते हैं । यही नहीं; किंतु—

यानि निःश्रेयसार्थानि चोदितानि तपांसि वै ।
तेषां तु तपसां न्यासमतिरिक्तं तपः श्रुतम् ॥

अर्थात् जितने भी कल्याणसाधक तप कहे गये हैं, उनमें 'न्यास' सबसे बड़ा तप है । जिन यज्ञोंमें समिधा आदिका उपयोग होता है, उनकी अपेक्षा नमस्कार-साधनसे जिसने देवमें आत्मन्यास कर दिया है, वह 'स्वध्वर' है अर्थात् श्रेष्ठ यज्ञका कर्ता है । आत्मन्यासीकी स्वध्वरतामें अहिर्बुध्न्यने—

यज्ञसाधनभूतेन स्वात्मना वेद्यमीश्वरम् ।
अयजंस्तानि धर्माणि प्रथमानीति नः श्रुतम् ॥

यज्ञके साधन अपनी आत्मासे वेद्य परमात्माका यजन सब धर्मोंमें प्रथम (मुख्य) धर्म माना गया है ।

न्यास-यज्ञमें सब यज्ञोंका अन्तर्भाव

न्यास-यज्ञमें सब यज्ञोंके अन्तर्भावका उल्लेख करती हुई 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' कहती है—

यज्ञरूपधरं देवं यजते स्वात्मनैव यः।
तेन सर्वे कृता यज्ञा भवन्तीह महात्मना॥

यज्ञरूपधर परमात्माका अपने आत्मारूप हविसे जिस महात्माने यज्ञ (सम्बन्ध) किया है, वह सब यज्ञोंका अनुष्ठान कर चुका है। दो मूलतत्त्वोंका सम्बन्ध ही यज्ञ है। अतः परमात्मा-जीवात्माका सम्बन्ध महायज्ञ है। अथवा एकतत्त्वमें अन्यतत्त्वका आधान ही यज्ञ है। परमात्मामें जीवात्माका आधान महायज्ञ है। यही न्यास है। न्यासको ही तान्त्रिक परिभाषामें प्रपत्ति, प्रपदन, शरणागति आदि शब्दोंसे परिभाषित किया गया है।

न्यास-यज्ञमें यज्ञाङ्गोंकी पूर्णता

एक तत्त्वमें अन्य तत्त्वका आधान यज्ञ है। यज्ञके इस लक्षण मात्रसे ही 'न्यास' यज्ञ नहीं है, अपितु अधिदैवत तथा अध्यात्ममें प्रयुक्त उन सब यज्ञाङ्गोंका प्रयोग न्यास-यज्ञमें भी है। अधिदैवत, अध्यात्म तथा वैध यज्ञमें प्रयुक्त 'वेदि' न्यास-यज्ञमें परमात्माका शरीर ही है। वैध यज्ञमें प्रयुक्त 'आहवनीयाग्नि' रूप अङ्ग 'न्यासयज्ञ' में परमात्माका 'आस्य' ही है। परमात्माका हृदय ही 'दक्षिणाग्नि' है। परमात्माका उदर 'गार्हपत्याग्नि' है। मनस्तत्त्व 'यजमान' है। बुद्धितत्त्व यजमानपत्नी है। शरणागतोंके विरोधी काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, अविद्या, कर्मवासना, रुचि एवं प्रकृति-सम्बन्ध आदि सब 'न्यास' यज्ञके 'पशु' हैं। परमात्माके लोम ही 'दर्भ' हैं। जीवात्मा ही हव्य (अर्पणीय वस्तु) है। सिर, मध्य एवं चरण ही तीन सवन हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँच कर्मेन्द्रियाँ यज्ञके दस आयुध हैं। यज्ञ दशायुध हैं—यह श्रुति-प्रसिद्ध है। परमात्माकी षोडश भुजाएँ ही सोलह ऋत्विज हैं। भक्तोंकी रक्षाका संकल्प ही 'दीक्षा' है। विविध आभूषणोंके विविध शब्द ही ऋक्, साम, यजुर्वेदका 'घोष' है। 'दया' ही 'दक्षिणा' है।

जुहू, ध्रुवा, स्रुव, प्राशित्रहरण, मोक्षण, उपभृत्, वेद (दर्भमुष्टि), इडा-पात्री, दारुपात्र, योक्त्रा, चमस, सृष्टि, पिष्टोद्वमनी, आज्यस्थाली, इध्म, प्रव्रश्चन एवं मदन्ती आदि अनेक यज्ञाङ्ग देवके आयुधरूपमें हैं। अतः न्यास-यज्ञमें सम्पूर्ण यज्ञाङ्गोंकी पूर्णता है। इस पूर्णताका वर्णन 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' इस रूपमें करती है—

यज्ञरूपधरस्यास्य शरीरं वेदिरिष्यते।
आस्यमाहवनीयाग्निर्हृदयं दक्षिणानलः॥
अथास्य गार्हपत्याग्निरुदरं श्रुतिचोदितम्।
यजमानो मनस्तत्त्वं बुद्धिः पत्नी प्रकीर्तिता॥
स्वाश्रितप्रत्यनीका ये पशवस्ते प्रकीर्तिताः।
लोमानि बर्हिषस्त्वस्य जीवं हव्यं प्रचक्षते॥
सवनानि शिरोमध्यगात्रपादाः प्रकीर्तिताः।
दशयज्ञायुधान्यस्य ज्ञानकर्मेन्द्रियाण्यपि॥
ऋत्विजः षोडशभुजा देवस्यास्य महामुने।
भक्तरक्षणसंकल्पो दीक्षा देवस्य नारद॥
ऋग्यजुःसामघोषोऽस्य भूषणाराव इष्यते।
सदस्या भूषणान्यस्य दया देवस्य दक्षिणा॥
जुहूर्ध्रुवा स्रुवश्चैव प्राशित्रहरणं तथा।
मोक्षणोपभृतौ वेद इडापात्री तथैव च॥
दारुपात्रं च योक्त्रं च चमसः सृष्टिरेव च।
पिष्टोद्वमन्याज्यस्थाल्या विद्या प्रव्रश्चनं तथा॥
मदन्त्यस्य च शस्त्रेषु चक्राद्येषु समाश्रिताः।

'सत्त्वेषु मैत्री' पर श्रीकृष्णके कुछ वचनामृत

(लेखक—श्रीताराचन्द्रजी पांड्या)

श्रीकृष्णके वचनामृत नाना पुराणों, शास्त्रों और ग्रन्थोंमें भरे पड़े हैं, वे सभी विषयोंपर हैं, जीवनके सभी क्षेत्रों और पथोंमें जाज्वल्यमान प्रदीपका कार्य करते हैं तथा सुख-शान्तिको बरसाते हैं । यहाँ हम 'सत्त्वेषु मैत्री' अथवा अहिंसा-के सम्बन्धमें उनके वचन-रत्नोंके कुछ कणोंको प्रस्तुत करते हैं—

श्रीमद्भगवद्गीतामें तो स्थान-स्थानपर अहिंसाकी प्रशंसा और इसकी परम आवश्यकताका उल्लेख है । समता और साम्यावस्था अहिंसाके ही नामान्तर हैं । सोलहवें अध्यायमें दैवी सम्पत्तिके छब्बीस गुणोंमें एवं सतरहवें अध्यायमें तपकी परिभाषामें अहिंसा और उसके पर्यायवाची शब्दोंका बार-बार प्रयोग है ।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

(गीता ६ । ३२)

अर्थात् जो सर्वत्र अपने दुःख-सुखके समान दूसरोंके दुःख-सुखको समझता है, वही श्रेष्ठ योगी है ।

'जो किसी प्राणीसे वैर-भाव नहीं रखता, वह मुझ (ईश्वर) को प्राप्त होता है ।' (गीता ११ । ५५)

'अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके सबमें समबुद्धि रखनेवाले और सब प्राणियोंके हितमें रत रहनेवाले ईश्वरको प्राप्त होते हैं ।' (गीता १२ । ४)

'जो मुझको सब प्राणियोंका मित्र जानता है, वह शान्ति प्राप्त करता है ।' (गीता ५ । २९)

'जो किसी प्राणीसे द्वेष नहीं करता, सबसे मैत्री-भाव रखता है, सबपर करुणा करता है, ममता और अहंकारसे रहित है, सुख-दुःखमें समबुद्धि रखता है, क्षमाशील है, वह भक्त मुझे प्रिय है ।' (गीता १२ । १३)

'जिससे किसी भी प्राणीको क्षोभ नहीं होता और जिसको किसीसे भी क्षोभ प्राप्त नहीं होता तथा जो हर्ष, शोक, ईर्ष्या, भय आदिसे रहित है, वह भक्त मुझे प्रिय है ।' (गीता १२ । १५)

'शौच आदि नियमोंके सदा पालनके लिये अनिवार्यता नहीं है, परंतु अहिंसा आदि यमोंका तो निरन्तर ही पालन करना चाहिये ।' (श्रीमद्भागवत ११ । १० । ५)

'केवल जलमय तीर्थ ही तीर्थ नहीं हैं और केवल मिट्टी या पत्थरकी प्रतिमाएँ ही देवता नहीं होतीं; ये तीर्थ और देवता तो बहुत समयतक सेवन करनेपर पवित्र करते हैं, परंतु संत तो दर्शन करनेसे ही पवित्र कर देते हैं । अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, पृथ्वी, जल, आकाश, वायु, वाणी, मनके देवता तो उपासना करनेपर भी पापका पूरा नाश नहीं करते; परंतु ज्ञानी संतकी तो मुहूर्तभर सेवा ही सब पापोंको विनष्ट कर देती है । परंतु ऐसे संतोंके दर्शन, स्पर्श, प्रणाम, पादपूजन आदिका सुअवसर भी उन्हींको मिल सकता है जिनकी तपस्या कम नहीं है और जो अपने इष्टदेवका दर्शन केवल मूर्तिविशेषमें ही नहीं किंतु सभी प्राणियोंके हृदयमें करते हैं ।' (श्रीमद्भागवत १० । ८४ । १०–१२)

उद्धवजीको भी उन्होंने यही उपदेश दिया है—

'मेरा भक्त दयालु होता है, किसी भी प्राणीसे वैर-भाव नहीं रखता, सब दुःखोंको प्रसन्नतासे सहता है, पापवासना-रहित और सत्यसार होता है, समदर्शी और सबका उपकार करनेवाला होता है ।' (श्रीमद्भागवत ११ । ११ । २९)

'सब प्राणियोंमें मेरी भावना करे; यही मेरा धर्म है, यही मेरी प्राप्तिका श्रेष्ठ साधन है ।' (श्रीमद्भागवत ११ । २९ । १९)

इसी कारण श्रीकृष्णजी मृगया (शिकार) के भी विरुद्ध थे । कालयवनके भस्म होनेके पश्चात् जब मुचुकुन्दने श्रीकृष्णसे भक्तिका वरदान माँगा, तब श्रीकृष्णने स्पष्ट कह दिया कि 'तुमने क्षत्रिय-धर्मका आचरण करते समय शिकार आदिमें प्राणियोंको मारा है, उस पापको तपस्या तथा मेरी उपासनासे धो डालो; इससे अगले जन्ममें तुम सब प्राणियोंके परम सुहृद् उनके सच्चे हितैषी विप्रवर बनोगे और तब मुझ (ईश्वर) को प्राप्त करोगे ।'

क्षात्रधर्मस्थितो जन्तून् न्यवधीर्मृगयादिभिः ।
समाहितस्तत्तपसा जह्यघं मदुपाश्रितः ॥
जन्मन्यनन्तरे राजन् सर्वभूतसुहृत्तमः ।
भूत्वा द्विजवरस्त्वं वै मामुपैष्यसि केवलम् ॥

(श्रीमद्भागवत १० । ५१ । ६३-६४)

इससे स्पष्ट है कि क्षत्रिय-धर्मानुसार की गयी मृगया

आदिकी हिंसाको भी श्रीकृष्णजी पाप मानते थे । भला, समस्त जीवोंके ऐसे सुहृद् श्रीकृष्णजी यज्ञादिमें पशुबलिके समर्थक किस प्रकार हो सकते थे ? इसीलिये पशुबलिके विरुद्ध अपना मत विस्तारसे उन्होंने उद्धवजीसे प्रकट किया है । (देखिये श्रीमद्भागवत ११ वाँ स्कन्ध, इक्कीसवाँ अध्याय ।)

जरा व्याधके द्वारा श्रीकृष्णजीको घातक चोट पहुँचाये जानेपर भी उन्होंने उसे क्षमा कर दिया और उसे भयभीत देखकर कहा कि 'व्याध ! डर मत, उठ-उठ । तूने तो मेरी प्रसन्नताका ही काम किया है । तू पुण्यवानोंकी गतिको प्राप्त कर ।' (श्रीमद्भागवत ११ । ३० । ३९)

श्रीकृष्णके अन्तिम शब्द वे हैं, जो उन्होंने दारुक सारथिसे कहे—'दारुक ! तुम मेरे द्वारा उपदिष्ट धर्ममें स्थित रहो, संसारकी घटनाओंको मायारचित (विनाशशील एवं असार) जानकर ज्ञाननिष्ठ बनकर शान्ति धारण करो ।' (श्रीमद्भागवत ११ । ३० । ४९) यह जीवनका परम और एकमात्र सत्य है और यही सुख-शान्तिका मार्ग है । और श्रीकृष्णजीके द्वारा उपदिष्ट धर्म वही है, जो उन्होंने उद्धवजीसे कहा था (श्रीमद्भागवत ११ । २९ । ८-१९) और जिसका जिक्र ऊपर किया गया है । वह यह है कि सब प्राणियोंमें परमात्माकी भावना करे और सबके साथ मित्रताका वर्ताव करे ।

निस्संदेह इस साधनामें विघ्न और तकलीफें आ सकती हैं; किंतु जैसा कि श्रीकृष्णजीने कहा है, 'भक्तको सब दुःखोंको प्रसन्नतापूर्वक सहनेवाला होना चाहिये; और विघ्न-बाधाओं और कष्ट-विपदाओंके बीचमें भी श्रीकृष्णजीके इस अमूल्य उपदेशका स्मरण रखना चाहिये कि दुःखों और विपदाओंको परमात्माका आशीर्वाद समझना चाहिये; क्योंकि वे संसारका सच्चा स्वरूप जताकर अपने स्वाधीन आनन्दमय परमात्म-स्वरूपकी उपलब्धिकी ओर प्रवृत्त करते हैं । (श्रीमद्भागवत १० । ८८ । ८—१०)

श्रीकृष्ण-स्तवन (गान)

(रचयिता—श्रीजुगलसिंहजी खीची, एम्० ए०, बार-एट्-ला)

भगवान कृष्ण आकर, मुरली मधुर बजाकर ।
इस देशको जगाकर, उपदेश फिर सुना दो ॥ १ ॥
गौएँ बुला रही हैं, नित नैन नीर भर-भर ।
गोपाल वेग आकर, उनकी व्यथा मिटा दो ॥ २ ॥
विद्वेषके अनलसे यह देश जल रहा है ।
पावन पियूष-धारा फिर नेहकी बहा दो ॥ ३ ॥
दलबंदियोंका दलदल थल-थलमें छा रहा है ।
फिर भव्य भाव भरकर इस देशको उठा दो ॥ ४ ॥
नैतिक पतन भयंकर सब ओर हो रहा है ।
तप-त्याग-बल दिलाकर संकट विकट कटा दो ॥ ५ ॥
भारत वतन हमारा, कण-कण हमें है प्यारा ।
सर्वस्व है निछावर, प्रभु ! भाव ये जमा दो ॥ ६ ॥
दुष्टोंका नाश करना, सुजनोंका त्रास हरना ।
इस धर्म-युद्ध-नयको नस-नसमें बस, बसा दो ॥ ७ ॥
था शान्तिका निकेतन, बन शक्तिका पुजारी ।
भारतको शक्तिशाली, भगवान ! फिर बना दो ॥ ८ ॥
निष्काम-कर्म जन-हित, हरि-भक्तिभावनामय ।
इस कर्मयोग-पथको फिरसे 'जुगल' दिखा दो ॥ ९ ॥

सदुक्ति-सुधा

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

साधु और परमात्मा दोनों ही 'सत्'-शब्दवाच्य हैं (गीता १७।२३—२७)। इसलिये सदुक्ति-शब्दसे संत-वचनामृत तथा भगवद्वचनामृत दोनों ही गतार्थ होते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने विनयपत्रिकामें सदुक्तिके लिये बहुत ही सुन्दर लिखा है—

शोक, संदेह, भय, हर्ष, तम, तर्षगण साधु-सद्युक्ति विच्छेदकारी।
यथा रघुनाथ-सायक निशाचर-चमू-निचय-निर्दलन-पटु वेग भारी॥

योगवासिष्ठमें सदुक्तिकी बड़ी प्रशंसा है; कहा गया है कि महात्माओंकी युक्तिपूर्ण निर्मल वाणी चन्द्रकिरणके समान निर्मल, सुखकर, अमृतपूर्ण, अन्तःकरणको शीतल लगनेवाली और अज्ञानरूपी अन्धकारको दूर करनेवाली होती है। मानुषानन्दसे लेकर हिरण्यगर्भके आनन्दपर्यन्त आनन्दकी एक-से-एक कोटियाँ हैं; किंतु महात्माओंकी सूक्ति तो उनसे भी श्रेष्ठ, अपूर्व तथा अनुपम आह्लाद प्रदान करनेवाली, रसमयी होती है। यह आत्मारूपी रत्नको अवलोकित करानेवाली अद्भुत दीप-शिखा है। सज्जनोंकी सूक्ति प्राणीके पाप-ताप, दुर्वासना-तृष्णा, लोभ-भय आदिको दुर्बल कर देती है। उदार बुद्धि-वाले महात्माओंकी वाणी प्राणीके हृदयको जितना आह्लादित करती है, उतना अमृत-समुद्रकी तरङ्गें अथवा स्वर्गीय मन्दार-पारिजात आदि कल्पवृक्षोंकी मञ्जरियाँ भी आह्लादित नहीं कर सकतीं। राघव! महात्माओंकी सेवामें जो दिन व्यतीत हो जाता है, बस, वही केवल आलोकपूर्ण सच्चा दिन है। शेष तो सर्वथा दिन-नामधारी अन्धकारपूर्ण कुसमयकी ही शृङ्खला है—

चन्द्रांशव इवोत्सार्य तमांस्यमृतनिर्मलाः।
अन्तःशीतलयन्त्येता महताममला गिरः॥
अपूर्वाह्लाददायिन्य उच्चैस्तरपदाश्रयाः।
अतिमोहापहारिण्यः सूक्तयो हि महीयसाम्॥
आत्मरत्नावलोकैकदीपिकाः सरसात्मिकाः।
दुरीहितं दुर्विहितं सर्वं सज्जनसूक्तयः॥
मुने मन्दारमञ्जर्यस्तरङ्गा वामृताम्भसः।
न तथा ह्लादयत्यन्तर्यथोदारधियां गिरः॥
यावद्राघव संयाति महाजनसपर्यया।
दिनं तदिह सालोकं शेषास्त्वन्धा दिनालयः॥

(योगवासिष्ठ ५।४।४—११)

ये सारी बातें भगवद्-वचनावलीके लिये भी हैं, साथ ही उनमें एक विचित्र जादूभरी मोहकता तथा अद्भुत संजीवनी-शक्ति है—

परम गँभीर कृपामृत सानी॥
मृतक जिआवनि गिरा सुहाई। श्रवन रंध्र होइ उर जब आई॥
हृष्टपुष्ट तन भए सुहाए। मानहुँ अबहिं भवन ते आए॥

नातिक्षामं भगवतः स्निग्धापाङ्गावलोकनात्।
तद्व्याहृतामृतकलापीयूषश्रवणेन च॥

(श्रीमद्भागवत ३।२१।४६)

रामकी बात सुननेके लिये वनवासी स्त्रियाँ उनके पीछे लगती हैं। जब उनसे कोई कहता है कि ये तो तुमसे बोलेंगे ही क्यों, तब वे कहती हैं कि 'हमसे न सही, आपसमें तो कुछ बातें करेंगे ही—

सुखु पाइहैं कान सुनें बतियाँ कल, आपुसमें कछु पै कहिहैं।
तुलसी अति प्रेम लगीं पलकैं, पुलकीं लखि रामु हिये महि हैं॥

(कवितावली २।२३)

श्रीकाकभुशुण्डीसे भगवान् रामकी बातें हुई थीं। वे अट्ठाईस कल्पके बाद भी उसका गरुड़जीसे वर्णन करते हुए गद्गद होकर कहते हैं—

एवमस्तु कहि रघुकुलनायक। बोले बचन परम सुखदायक॥…
प्रभु बचनामृत सुनि न अघाऊँ। तनु पुलकित मन अति हरषाऊँ॥
सो सुख जानइ मन अरु काना। नहिं रसना पहिं जाइ बखाना॥

(रा० च० उ० ८४)

महर्षि वाल्मीकि बार-बार रामको सर्वोत्तम वक्ता—'वदतां वरम्' कहते हैं और उनके सामने बृहस्पति आदिको सर्वथा तुच्छ मानते हैं—

न भवन्तं मतिश्रेष्ठं समर्थं वदतां वरम्।
अतिशाययितुं शक्तो बृहस्पतिरपि ब्रुवन्॥

(वाल्मीकि० युद्धकाण्ड १७।५१,
,, अयो० २।४३, १।१७ इत्यादि)

इस तरह शास्त्रोंमें भगवद्वाणीकी अत्यद्भुत महिमा है। उसके पठन-मननमें ही जीवनकी वास्तविक सफलता है।

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

संक्षिप्त लीलाप्रसङ्गसहित

श्रीकृष्णवचनामृत

[श्रीमद्भागवत]

भगवान् श्रीकृष्णका आविर्भाव तथा माता-पिताको उनके पूर्वजन्मका वृत्तान्त बताकर उन्हें आश्वासन देना

द्वापर युगकी बात है, दैत्योंके दलने घमंडी राजाओंका रूप धारणकर अपने भारी भारसे पृथ्वीको आक्रान्त कर रक्खा था। उससे त्राण पानेके लिये वह ब्रह्माजीकी शरणमें गयी। वहाँ उसने अपनी पूरी कष्टकथा कह सुनायी। ब्रह्माजीने बड़ी सहानुभूतिके साथ उसकी दुःखगाथा सुनी। उसके बाद वे भगवान् शंकर, स्वर्गके अन्यान्य देवता तथा गोरूपधारिणी पृथ्वीको साथ लेकर क्षीरसागरके तटपर गये। वहाँ पहुँचकर ब्रह्मा आदि देवताओंने पुरुषसूक्तके द्वारा परमपुरुष सर्वान्तर्यामी प्रभुकी स्तुति की। स्तुति करते-करते ब्रह्माजी समाधिस्थ हो गये। उन्होंने समाधि-अवस्थामें ही आकाशवाणी सुनी और देवताओंसे कहा—'देवगण! भगवान्‌को पृथ्वीके कष्टका पहलेसे ही पता है। वे भूभार हरण करनेके लिये भूतलपर अवतीर्ण होंगे। अतः उनकी लीलामें सहयोग करनेके लिये तुमलोग भी अपनी स्त्रियोंसहित यदुकुलमें जन्म ग्रहण करो। वसुदेवजीके घर स्वयं भगवान् पुरुषोत्तम प्रकट होंगे। उनकी और उनकी प्रियतमा श्रीराधाकी सेवाके लिये देवाङ्गनाएँ जन्म ग्रहण करें। स्वयंप्रकाश भगवान् शेष भी उनसे पहले ही उनके बड़े भाईके रूपमें अवतार ग्रहण करेंगे। भगवान्‌की लीलाके कार्य सम्पन्न करनेके लिये भगवती योगमाया भी अंशरूपसे अवतीर्ण होंगी।' देवताओंसे ऐसा कहकर और पृथ्वीको सान्त्वना दे ब्रह्माजी अपने धामको चले गये।

उन दिनों मथुरापुरीमें राजा उग्रसेन राज्य करते थे। उनके भाई देवकके एक पुत्री थी, जिसका नाम था देवकी। उसका विवाह शूरपुत्र वसुदेवजीके साथ हुआ। वसुदेवजी विवाहके पश्चात् अपनी नवविवाहिता पत्नी देवकीके साथ घर जानेके लिये रथपर सवार हुए। उग्रसेनका लड़का था कंस। उसने अपनी चचेरी बहिन देवकीको प्रसन्न करनेके लिये उसके रथके घोड़ोंकी रास पकड़ ली। वह स्वयं ही रथ हाँकने लगा। इसी समय उसे सम्बोधित करके आकाशवाणी हुई—'अरे मूर्ख! जिसको रथमें बैठाकर तू लिये जा रहा है, उसके आठवें गर्भकी संतान तुझे मार डालेगी।' यह आकाशवाणी सुनते ही उसने तलवार खींच ली और अपनी बहिनको मार डालनेके लिये तैयार हो गया। यह देख वसुदेवजीने कंसको बहुत समझाया-बुझाया, परंतु उसने उनकी एक न सुनी। तब वसुदेवजीने देवकीकी प्रत्येक संतान-को उत्पन्न होते ही कंसके हाथमें सौंप देनेकी प्रतिज्ञा की। कंसको यह विश्वास था कि वसुदेवजी कभी झूठ नहीं बोल सकते। अतः उसने उनकी बात मानकर देवकीको छोड़ दिया। शर्तके अनुसार देवकीके प्रथम पुत्र कीर्तिमान्‌को वसुदेवजीने कंसके हाथमें दे दिया, परंतु कंसने वह पुत्र उन्हें लौटा दिया और कहा—'मुझे केवल आठवाँ पुत्र चाहिये।'

इधर नारदजीने कंसके पास आकर बताया कि 'व्रजमें रहनेवाले नन्द आदि, उनकी स्त्रियाँ, वसुदेव आदि वृष्णिवंशी यादव तथा देवकी आदि स्त्रियाँ और इन सबके सगे-सम्बन्धी सब-के-सब देवता हैं। दैत्योंके कारण पृथ्वीका भार बढ़ गया है। अतः देवताओंकी ओरसे अब उनके वधकी तैयारी की जा रही है।' इतना कहकर नारदजी चले गये और कंसने वसुदेव-देवकीको हथकड़ी-बेड़ीसे जकड़कर कैदमें डाल दिया। उन दोनोंसे जो-जो पुत्र होते गये, उन्हें वह मारता गया। अब देवकीके सातवें गर्भके रूपमें भगवान् शेष आये, किंतु श्रीहरिकी आज्ञासे योगमायाने उस गर्भका संकर्षण करके उसे गोकुलवासिनी वसुदेवपत्नी रोहिणीके उदरमें स्थापित कर दिया। मथुराके लोग बड़े दुःखसे इस बातकी चर्चा करने लगे कि बेचारी देवकीका यह गर्भ नष्ट हो गया। तदनन्तर भगवान् अपनी समस्त कलाओंके साथ वसुदेवजीके हृदयमें प्रकट हो गये। फिर वसुदेवजीके आधान करनेपर देवी देवकीने आठवें गर्भके रूपमें उस तेजको ग्रहण किया। अब देवकी अत्यन्त तेजस्विनी दिखायी देने लगीं।

उस समय देवताओंने आकर गर्भस्थ भगवान् एवं माता देवकीकी स्तुति की । तत्पश्चात् जब अत्यन्त शुभ लक्षणोंसे युक्त सुहावना समय आया, चन्द्रमा रोहिणी नक्षत्रपर विराजमान हुए, आकाशके सभी नक्षत्र, ग्रह और तारे शान्त (सौम्य) हो गये, दिशाएँ स्वच्छ दिखायी देने लगीं, निर्मल आकाशमें तारे जगमगाने लगे, नदियोंका जल निर्मल हो गया, रातमें भी सरोवरोंमें कमल खिल उठे, वृक्षोंकी पंक्तियाँ रंग-बिरंगे फूलोंके गुच्छोंसे लद गयीं, पक्षी चहकने और भौंरे गुनगुनाने लगे, उस समय परम पवित्र और शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु अपने स्पर्शसे सुख प्रदान करती हुई बहने लगी, ब्राह्मणोंके अग्निहोत्रकी बुझी हुई अग्नियाँ अपने-आप जल उठीं, संतोंका मन सहसा प्रसन्नतासे भर गया। यही भगवान्के आविर्भावका अवसर था । स्वर्गमें देवताओंकी दुन्दुभियाँ अपने-आप बज उठीं, किन्नर और गन्धर्व गाने लगे, सिद्ध और चारण भगवान्की स्तुति करने लगे, विद्याधरियाँ अप्सराओंके साथ नाचने लगीं, देवगण दिव्य पुष्पोंकी वर्षा करने लगे । भाद्रपद मासके निशीथ कालमें जब सब ओर अन्धकार छा रहा था, देवरूपिणी देवकीके गर्भसे भगवान् प्रकट हुए। मानो पूर्व दिशामें सोलहों कलाओंसे युक्त चन्द्रमा-का उदय हो गया हो ।

वसुदेवजी उस अद्भुत बालककी स्तुति करने लगे । देवकी निहाल हो उसके गुण गाने लगीं । तब भगवान्ने पूर्वजन्मके वृत्तान्तका स्मरण कराते हुए उन दोनोंसे कहा—

भगवान् स्वयं पुत्र बन जाते हैं

त्वमेव पूर्वसर्गेऽभूः पृश्निः स्वायम्भुवे सति ।
तदायं सुतपा नाम प्रजापतिरकल्मषः ॥
युवां वै ब्रह्मणाऽऽदिष्टौ प्रजासर्गे यदा ततः ।
संनियम्येन्द्रियग्रामं तेपाथे परमं तपः ॥
वर्षवातातपहिमघर्मकालगुणाननु ।
सहमानौ श्वासरोधविनिर्धूतमनोमलौ ॥
शीर्णपर्णानिलाहारावुपशान्तेन चेतसा ।
मत्तः कामानभीप्सन्तौ मदाराधनमीहतुः ॥
एवं वां तप्यतोस्तीव्रं तपः परमदुष्करम् ।
दिव्यवर्षसहस्राणि द्वादशेयुर्मदात्मनोः ॥
तदा वां परितुष्टोऽहममुना वपुषानघे ।
तपसा श्रद्धया नित्यं भक्त्या च हृदि भावितः ॥
प्रादुरासं वरदराड् युवयोः कामदित्सया ।
व्रियतां वर इत्युक्ते मादृशो वां वृतः सुतः ॥

(श्रीमद्भागवत १० । ३ । ३२—३८)

'देवि ! स्वायम्भुव मन्वन्तरमें जब तुम्हारा पहला जन्म हुआ था, उस समय तुम्हारा नाम था पृश्नि और ये वसुदेव सुतपा नामके प्रजापति थे । तुम दोनोंके हृदय बड़े ही शुद्ध थे । जब ब्रह्माजीने तुम दोनोंको संतान उत्पन्न करनेकी आज्ञा दी, तब तुमलोगोंने इन्द्रियोंका दमन करके उत्कृष्ट तपस्या की । तुम दोनोंने वर्षा, वायु, घाम, शीत, उष्ण आदि कालके विभिन्न गुणोंको सहन किया और प्राणायामके द्वारा अपने मनके मल धो डाले। तुम दोनों कभी सूखे पत्ते खा लेते और कभी हवा पीकर ही रह जाते । तुम्हारा चित्त बड़ा शान्त था, इस प्रकार तुमलोगोंने मुझसे अभीष्ट वस्तु प्राप्त करनेकी इच्छासे मेरी आराधना की । मुझमें चित्त लगाकर ऐसा परम दुष्कर और घोर तप करते-करते देवताओंके बारह हजार वर्ष बीत गये । पुण्यमयी देवि ! उस समय मैं तुम दोनोंपर प्रसन्न हुआ; क्योंकि तुम दोनोंने तपस्या, श्रद्धा और प्रेममयी भक्तिसे अपने हृदयमें नित्य-निरन्तर

मेरी भावना की थी। उस समय तुम दोनोंकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये वर देनेवालोंका राजा मैं इसी रूपसे तुम्हारे सामने प्रकट हुआ। जब मैंने कहा कि 'तुम्हारी जो इच्छा हो, मुझसे माँग लो', तब तुम दोनोंने मेरे-जैसा पुत्र माँगा।

अजुष्टग्राम्यविषयावनपत्यौ च दम्पती।
न वव्राथेऽपवर्गं मे मोहितौ मम मायया॥
गते मयि युवां लब्ध्वा वरं मत्सदृशं सुतम्।
ग्राम्यान् भोगानभुञ्जाथां युवां प्राप्तमनोरथौ॥
अदृष्ट्वान्यतमं लोके शीलौदार्यगुणैः समम्।
अहं सुतो वामभवं पृश्निगर्भ इति श्रुतः॥
तयोर्वां पुनरेवाहमदित्यामास कश्यपात्।
उपेन्द्र इति विख्यातो वामनत्वाच्च वामनः॥
तृतीयेऽस्मिन् भवेऽहं वै तेनैव वपुषाथ वाम्।
जातो भूयस्तयोरेव सत्यं मे व्याहृतं सति॥
एतद् वां दर्शितं रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय मे।
नान्यथा मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिङ्गेन जायते॥
युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत्।
चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम्॥
(श्रीमद्भागवत १०। ३। ३९—४५)

उस समयतक विषयभोगोंसे तुमलोगोंका कोई सम्बन्ध नहीं हुआ था। तुम्हारे कोई संतान भी न थी। इसलिये मेरी माया(कृपा)से मोहित होकर तुम दोनोंने मुझसे मोक्ष नहीं माँगा। तुम्हें मेरे-जैसा पुत्र होनेका वर प्राप्त हो गया और मैं वहाँसे चला गया। अब सफलमनोरथ होकर तुमलोग विषयोंका भोग करने लगे। मैंने देखा कि संसार-में शील, स्वभाव, उदारता तथा अन्य गुणोंमें मेरे-जैसा दूसरा कोई नहीं है, इसलिये मैं ही तुम दोनोंका पुत्र हुआ और उस समय मैं 'पृश्निगर्भ'के नामसे विख्यात हुआ। फिर दूसरे जन्ममें तुम हुईं अदिति और वसुदेव हुए कश्यप। उस समय भी मैं तुम्हारा पुत्र हुआ। मेरा नाम था 'उपेन्द्र'। शरीर छोटा होनेके कारण लोग मुझे 'वामन' भी कहते थे। सती देवकी! तुम्हारे इस तीसरे जन्ममें भी मैं उसी रूपसे फिर तुम्हारा पुत्र हुआ हूँ। मेरी वाणी सर्वदा सत्य होती है। मैंने तुम्हें अपना यह रूप इसलिये दिखला दिया है कि तुम्हें मेरे पूर्व अवतारोंका स्मरण हो जाय। यदि मैं ऐसा नहीं करता तो केवल मनुष्य-शरीरसे मेरे अवतारकी पहचान नहीं हो पाती। तुम दोनों मेरे प्रति पुत्रभाव तथा निरन्तर ब्रह्मभाव रखना। इस प्रकार वात्सल्य-स्नेह और परमात्म-चिन्तनके द्वारा तुम्हें मेरे परम पदकी प्राप्ति होगी'।

यमलार्जुन-उद्धार, मणिग्रीव और नलकूबरको अनन्य भक्तिभाव देकर विदा करना

एक दिन नन्दरानी यशोदाजीने घरकी दासियोंको तो दूसरे कामोंमें लगा दिया और स्वयं अपने लालाको माखन खिलानेके लिये दही मथने लगीं। साथ ही श्रीकृष्णकी उन बाललीलाओंका, जिन्हें वे अबतक देख चुकी थीं, गान करने लगीं। इसी समय श्रीकृष्ण स्तन-पानके लिये माताके पास आये। उन्होंने दहीकी मथानी पकड़ ली और उन्हें मथनेसे रोक दिया। वे माता यशोदाकी गोदमें चढ़ गये और मैया उन्हें स्तन पिलाती हुई उनके मन्द-मन्द मुसकानसे युक्त मुखारविन्दकी शोभा निहारने लगी। इतनेमें ही दूसरी ओर अँगीठीपर रक्खे हुए दूधमें उफान आया। उसे देख यशोदाजी कन्हैयाको अतृप्त ही छोड़कर जल्दीसे दूध उतारने-के लिये चली गयीं। इससे श्रीकृष्णको कुछ क्रोध आ गया। उन्होंने पास ही पड़े हुए लोढ़ेसे दहीका मटका फोड़ डाला। फिर आँसू बहाते हुए वे घरके भीतर गये और वहाँ माखन उड़ाने लगे। यशोदाजीने दूधको उतारकर लौटनेपर दहीका मटका फूटा पाया। वे समझ गयीं कि यह सब मेरे लालाकी

ही करतूत है। फिर हँसती हुई कन्हैयाको ढूँढ़ने लगीं। घरमें जाकर देखा कि श्रीकृष्ण एक उलटे हुए ऊखलपर खड़े हैं और छींकेपरका माखन ले-लेकर खा रहे हैं और पीछेके चौकेमें एकत्र हुए बंदरोंको इच्छानुसार लुटा रहे हैं। साथ ही चौकन्ने होकर इधर-उधर देख भी रहे हैं। यशोदारानी पीछेसे धीरे-धीरे उनके पास जा पहुँचीं। मैयाको छड़ी लिये आती देख श्रीकृष्ण ओखलीसे कूद पड़े और डरकर भागने लगे। यशोदाजी ज्यों-त्यों करके उन्हें पकड़ सकीं। उस समय श्रीकृष्णकी रुलाई रोकनेपर भी नहीं रुकती थी। वे अपने बायें हाथसे आँखें मल रहे थे; इसलिये मुखपर काजलकी स्याही फैल गयी थी। यशोदाजीने देखा लाला बहुत डर गया है। अतः उनके हृदयमें वात्सल्य-स्नेह उमड़ आया। उन्होंने छड़ी फेंक दी और लालाको रस्सीसे ऊखली-में बाँध दिया। इसके बाद नन्दरानी घरके काम-धंधोंमें उलझ गयीं और ऊखलमें बँधे हुए भगवान् श्यामसुन्दरने उन दोनों अर्जुन-वृक्षोंको मुक्ति देनेकी सोची, जो पहले यक्षराज कुवेरके पुत्र थे। उनके नाम थे नलकूबर और मणिग्रीव। उनके पास धन, सौन्दर्य और ऐश्वर्यकी अधिकता थी। इसलिये उनमें घमंड आ गया था। उस घमंडको देखकर ही देवर्षि नारदने कृपा करके उन्हें शाप दे दिया था और वे गोकुलमें वृक्ष हो गये थे।

भगवान् श्रीकृष्णने अपने भक्त देवर्षि नारदजीकी बात सत्य करनेके लिये धीरे-धीरे ऊखल घसीटते हुए उस ओर प्रस्थान किया, जिधर यमलार्जुन वृक्ष थे। श्रीकृष्ण दोनों वृक्षोंके बीच घुस गये। वे तो दूसरी ओर निकल गये; परंतु ऊखल टेढ़ा होकर अटक गया। उन्होंने अपने पीछे लटकते हुए ऊखलको ज्यों ही तनिक जोरसे खींचा, त्यों ही पेड़ोंकी सारी जड़ें उखड़ गयीं और वे बड़े जोरसे तड़तड़ाते हुए पृथ्वीपर गिर पड़े। उन दोनों वृक्षोंमेंसे अग्निके समान तेजस्वी दो सिद्धपुरुष निकले। उन दोनोंने श्रीकृष्णके चरणोंमें सिर रखकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर उनकी स्तुति की। उनकी की हुई स्तुति सुनकर भगवान् हँसते हुए बोले—

धनके मदसे अन्धोंका ऐश्वर्यनाश—उनपर संतकी कृपा

ज्ञातं मम पुरैवैतदृषिणा करुणात्मना।
यच्छ्रीमदान्धयोर्वाग्भिर्विभ्रंशोऽनुग्रहः कृतः ॥
साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम्।
दर्शनान्नो भवेद् बन्धः पुंसोऽक्ष्णोः सवितुर्यथा ॥
तद् गच्छतं मत्परमौ नलकूबर सादनम्।
संजातो मयि भावो वामीप्सितः परमोऽभवः ॥

(श्रीमद्भागवत १०। १०। ४०—४२)

'तुमलोग श्रीमदसे अंधे हो रहे थे। मैं पहलेसे ही यह बात जानता था कि परम कारुणिक देवर्षि नारदने शाप देकर तुम्हारा ऐश्वर्य नष्ट कर दिया तथा इस प्रकार तुम्हारे ऊपर कृपा की। जिनकी बुद्धि समदर्शिनी है और हृदय पूर्णरूपसे मेरे प्रति समर्पित है, उन साधु पुरुषोंके दर्शनसे बन्धन होना ठीक वैसे ही सम्भव नहीं है, जैसे सूर्योदय होनेपर मनुष्यके नेत्रोंके सामने अन्धकार होना। इसलिये नलकूबर और मणिग्रीव! तुमलोग मेरे परायण होकर अपने-अपने घर जाओ। तुमलोगों-को संसारचक्रसे छुड़ानेवाले अनन्य भक्तिभावकी, जो तुम्हें अभीष्ट है, प्राप्ति हो गयी है'।

वृन्दावनके वृक्षों, भ्रमरों, मयूरों और कोकिलों आदिकी बलरामजीके एवं श्रीकृष्णके प्रति भक्ति

बलराम और श्रीकृष्णने पौगण्ड-अवस्थामें अर्थात् छठे वर्षमें प्रवेश किया था। अब उन्हें गौएँ चरानेकी स्वीकृति मिल गयी। वे अपने सखा ग्वालवालोंके साथ गौएँ चराते हुए वृन्दावनमें जाते और अपने चरणोंसे वृन्दावनको अत्यन्त पावन करते। यह वन गौओंके लिये हरी-हरी घाससे युक्त एवं रंग-बिरंगे पुष्पोंकी खान हो रहा था। आगे-आगे गौएँ, उनके पीछे-पीछे बाँसुरी बजाते हुए श्यामसुन्दर, तदनन्तर बलराम और फिर श्रीकृष्णके यशका गान करते हुए ग्वालबाल—इस प्रकार विहार करनेके लिये उन्होंने उस वनमें प्रवेश किया। उस वनमें कहीं तो भौंरे बड़ी मधुर गुंजार कर रहे थे और कहीं सुन्दर-सुन्दर पक्षी चहक रहे थे। बड़े ही सुन्दर-सुन्दर सरोवर थे, जिनका जल महात्माओंके हृदयके समान स्वच्छ और निर्मल था। उनमें खिले हुए कमलोंके सौरभसे सुवासित होकर शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु उस वनकी सेवा कर रही थी। इतना मनोहर था वह वन कि उसे देखकर भगवान्ने मन-ही-मन उसमें विहार करनेका संकल्प किया।

पुरुषोत्तम भगवान्ने देखा कि बड़े-बड़े वृक्ष फल और फूलोंके भारसे झुककर अपनी डालियों और नूतन कोंपलोंकी लालिमासे उनके चरणोंका स्पर्श कर रहे हैं, तब उन्होंने बड़े आनन्दसे मुसकराते हुए-से अपने बड़े भाई बलरामजीसे कहा।

बलरामजीकी स्तुतिके रूपमें श्रीकृष्णका अपने स्वरूप तथा उनके प्रति जीवमात्रके प्रेमका कथन

अहो अमी देववरामरार्चितं
पादाम्बुजं ते सुमनःफलार्हणम्।
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मन-
स्तमोऽपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम्॥
एतेऽलिनस्तव यशोखिललोकतीर्थं
गायन्त आदिपुरुषानुपदं भजन्ते।
प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या
गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैवम्॥
नृत्यन्त्यमी शिखिन ईड्य मुदा हरिण्यः
कुर्वन्ति गोप्य इव ते प्रियमीक्षणेन।
सूक्तैश्च कोकिलगणा गृहमागताय
धन्या वनौकस इयान् हि सतां निसर्गः॥
धन्येयमद्य धरणी तृणवीरुधस्त्वत्-
पादस्पृशो द्रुमलताः करजाभिमृष्टाः।
नद्योऽद्रयः खगमृगाः सदयावलोकै-
र्गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीः॥

(श्रीमद्भागवत १०। १५। ५–८)

'देवशिरोमणे! यों तो बड़े-बड़े देवता आपके चरण-कमलोंकी पूजा करते हैं; परंतु देखिये तो, ये वृक्ष भी अपनी डालियोंसे सुन्दर पुष्प और फलोंकी सामग्री लेकर आपके चरणकमलोंमें झुक रहे हैं, नमस्कार कर रहे हैं। क्यों न हो, इन्होंने इसी सौभाग्यके लिये तथा अपना दर्शन एवं श्रवण करनेवालोंके अज्ञानका नाश करनेके लिये ही तो वृन्दावनधाममें वृक्ष-योनि ग्रहण की है। इनका जीवन धन्य है। आदिपुरुष! यद्यपि आप इस वृन्दावनमें अपने ऐश्वर्यरूपको छिपाकर बालकोंकी-सी लीला कर रहे हैं, फिर भी आपके श्रेष्ठ भक्त मुनिगण अपने इष्टदेवको पहचानकर यहाँ भी

प्रायः भौंरोंके रूपमें आपके भुवन-पावन यशका निरन्तर गान करते हुए आपके भजनमें लगे रहते हैं। वे एक क्षणके लिये भी आपको नहीं छोड़ना चाहते। भाईजी! वास्तवमें आप ही स्तुति करने योग्य हैं। देखिये, आपको अपने घर आया देख ये मोर आपके दर्शनोंसे आनन्दित होकर नाच रहे हैं। हरिनियाँ मृगनयनी गोपियोंके समान अपनी प्रेमभरी तिरछी चितवनसे आपके प्रति प्रेम प्रकट कर रही हैं। ये कोयलें अपनी मधुर कुहू-कुहू ध्वनिसे आपका कितना सुन्दर स्वागत कर रही हैं। ये वनवासी होनेपर भी धन्य हैं; क्योंकि सत्पुरुषोंका स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे घर आये अतिथिको अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तु भेंट कर देते हैं। आज यहाँकी भूमि अपनी हरी-हरी घासके साथ आपके चरणोंका स्पर्श प्राप्त करके धन्य हो रही है। यहाँके वृक्ष, लताएँ और झाड़ियाँ आपकी अंगुलियोंका स्पर्श पाकर अपना अहोभाग्य मान रही हैं। आपकी दयाभरी चितवनसे नदी, पर्वत, पशु, पक्षी—सब कृतार्थ हो रहे हैं और व्रजकी गोपियाँ आपके वक्षःस्थलका स्पर्श प्राप्त करके, जिसके लिये स्वयं लक्ष्मी भी लालायित रहती हैं, धन्य-धन्य हो रही हैं'।

कालिय नागको रमणक द्वीपमें जानेकी आज्ञा देना और 'कालिय-ह्रद' तीर्थकी महिमा स्थापित करना

एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखा ग्वालबालोंके साथ यमुना-तटपर गये। उस दिन बलरामजी उनके साथ नहीं थे। ज्येष्ठ-आषाढ़के घामसे गौएँ और ग्वालबाल अत्यन्त पीड़ित हो रहे थे, प्याससे उनके कण्ठ सूख रहे थे; अतः उन्होंने यमुनाजीका विषैला जल पी लिया। उस जलके पीते ही सब गौएँ और ग्वालबाल प्राणहीन होकर यमुनाजीके तटपर गिर पड़े। उन्हें ऐसी अवस्थामें देख योगेश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णने अपनी अमृत बरसानेवाली दृष्टिसे उन्हें जीवित कर दिया।

यमुनाजीमें कालिय नागका एक कुण्ड था। उसका जल विषकी गरमीसे खौलता रहता था। यहाँतक कि उसके ऊपर उड़नेवाले पक्षी भी झुलसकर उसमें गिर जाया करते थे। उसके विषैले जलकी उत्ताल तरङ्गोंका स्पर्श करके तथा उसकी छोटी-छोटी बूँदें लेकर जब वायु बाहर आती और तटके घास-पात-वृक्ष एवं पशु-पक्षी आदिका स्पर्श करती, तब वे उसी समय मर जाते थे। दुष्टोंका दमन करनेके लिये अवतार लेनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि उस साँपके विषका भी एक बड़ा प्रचण्ड वेग है और वह भयानक विष ही उस सर्पका महान् बल है तथा उसीके कारण मेरी विहार-स्थली यमुनाजी भी दूषित हो गयी हैं, तब वे कमरका फेंटा कसकर एक बहुत ऊँचे कदम्बके वृक्षपर चढ़ गये और वहाँसे ताल ठोंककर उस विषैले जलमें कूद पड़े। उनके कूदनेसे कालिय-दहका जल इधर-उधर उछलकर चार सौ हाथतक फैल गया। भगवान् मतवाले गजराजके समान वहाँ क्रीडा करते हुए जल उछालने लगे। उनकी भुजाओंकी टक्करसे जलमें बड़े जोर-जोरका शब्द होने लगा। कुण्डके भीतर रहनेवाले कालिय नागको यह सहन नहीं हुआ। उसने श्रीकृष्णको मर्मस्थानोंमें डसकर अपने शरीरके बन्धन-से उन्हें जकड़ लिया। भगवान् नागपाशमें बँधकर निश्चेष्ट हो गये। यह देख उनके प्यारे सखा ग्वालबाल बहुत ही पीड़ित हुए और उसी समय दुःख, पश्चात्ताप तथा भयसे मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। गाय, बैल, बछिया और बछड़े बड़े दुःखसे डकराने लगे। श्रीकृष्णकी ओर ही उनकी टकटकी बँध रही थी।

इधर व्रजमें बड़े भयंकर उत्पात प्रकट होने लगे, जो शीघ्र ही घटित होनेवाली किसी अशुभ घटनाके सूचक थे। नन्दबाबा तथा व्रजके बालक-वृद्ध एवं स्त्रीवर्ग अपने प्यारे कन्हैयाको देखनेकी उत्कट लालसासे घर-द्वार छोड़कर निकल पड़े। वे भगवान्को ढूँढ़ते और मार्गमें उनके चरण-चिह्न देखते-देखते कालिय-दहके समीप आ गये। उन्होंने देखा श्रीकृष्ण कालिय नागके शरीरसे बँधकर चेष्टाहीन हो गये हैं। कुण्डके किनारे ग्वालबाल अचेत पड़े हैं और गाय, बैल आदि सब आर्तस्वरसे डकरा रहे हैं। प्रियतम श्यामसुन्दरको उस दशामें देख गोपियोंके हृदयमें बड़ी पीड़ा होने लगी। माता यशोदा तो कालिय-दहमें कूदने ही जा रही थीं कि गोपियोंने उन्हें पकड़ लिया। नन्दबाबा भी श्रीकृष्णके लिये कालिय-दहमें घुसने लगे, परंतु बलरामजीने सबको समझा-बुझाकर किसी तरह रोका।

व्रजवासियोंको दुखी देख भगवान् श्रीकृष्णने उस समय अपना शरीर फुलाकर खूब मोटा कर लिया। इससे साँपका शरीर टूटने लगा और वह श्रीकृष्णको छोड़कर अलग खड़ा हो गया। कालिय क्रोधसे आगबबूला हो अपने फण ऊँचे करके फुफकारें मारने लगा। श्रीकृष्ण उसके साथ खेलते हुए पैंतरा बदलने लगे। वह साँप भी उनपर चोट करनेका दाँव देखता हुआ पैंतरा देने लगा। अन्तमें उसका बल क्षीण हो गया। भगवान् श्रीकृष्ण उसके बड़े-बड़े सिरोंको दबाकर उनपर सवार हो गये। उसके मस्तकोंके मणियोंके स्पर्शसे भगवान्के सुकुमार तलुओंकी लालिमा और भी बढ़ गयी। वे कालियके सिरोंपर कलापूर्ण नृत्य करने लगे। कालियके एक सौ एक सिर थे। वह अपने जिस सिरको ऊँचा उठाता था, उसीको भगवान् अपने पैरोंकी चोटसे कुचल डालते थे। इससे कालिय नागकी जीवनशक्ति क्षीण हो गयी। उसका एक-एक अङ्ग चूर-चूर हो गया। उसके मुँहसे खूनकी उलटी होने लगी। अब उसे पुराणपुरुष भगवान् नारायणकी स्मृति हुई। वह मन-ही-मन भगवान्की शरणमें गया। नागपत्नियोंके चित्तमें भी बड़ी घबराहट हुई। वे बालकोंको आगे करके पृथ्वीपर लोट गयीं और समस्त प्राणियोंके एकमात्र स्वामी भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करके उनकी स्तुति करने लगीं। तब भगवान्ने दया करके उसे छोड़ दिया। तदनन्तर वह नाग भी बड़ी दीनतासे हाथ जोड़कर भगवान्से इस प्रकार बोला—'प्रभो! आप सर्वज्ञ और सम्पूर्ण जगत्के स्वामी हैं। आप ही हमारे स्वभाव और मायाके कारण हैं। आपने ही हम सर्पोंको अत्यन्त क्रोधी बनाया है; अतः अब आप अपनी ही इच्छासे जैसा ठीक समझें, करें। हमपर कृपा करें या हमें दण्ड दें।'

भगवान्के क्रीडा करनेसे कालिय-दह तीर्थ बन गया

इत्याकर्ण्य वचः प्राह भगवान् कार्यमानुषः।
नात्र स्थेयं त्वया सर्प समुद्रं याहि मा चिरम्।
स्वज्ञात्यपत्यदाराढ्यो गोनृभिर्भुज्यतां नदी॥
य एतत् संस्मरेन्मर्त्यस्तुभ्यं मदनुशासनम्।
कीर्तयन्नुभयोः संध्योर्न युष्मद्भयमाप्नुयात्॥
योऽस्मिन् स्नात्वा मदाक्रीडे देवादींस्तर्पयेज्जलैः।
उपोष्य मां स्मरन्नर्चेत् सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
द्वीपं रमणकं हित्वा ह्रदमेतमुपाश्रितः।
यद्भयात् स सुपर्णस्त्वां नाद्यान्मत्पादलाञ्छितम्॥

(श्रीमद्भागवत १०। १६। ६०—६३)

कालिय नागकी बात सुनकर लीला-मनुष्य भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'सर्प! अब तुझे यहाँ नहीं रहना चाहिये। तू अपने जाति-भाई, पुत्र और स्त्रियोंके साथ शीघ्र ही यहाँसे समुद्रमें चला जा। अब गौएँ और मनुष्य यमुना-जलका उपभोग करें। जो मनुष्य दोनों समय तुझको दी हुई मेरी इस आज्ञाका स्मरण तथा कीर्तन करे, उसे साँपोंसे कभी भय न हो। मैंने इस कालिय-दहमें क्रीडा की है, इसलिये जो पुरुष इसमें स्नान करके जलसे देवता और पितरोंका तर्पण करेगा एवं उपवास करके मेरा स्मरण करता हुआ मेरी पूजा करेगा, वह सब पापोंसे मुक्त हो जायगा। मैं जानता हूँ कि तू गरुडके भयसे रमणक द्वीप छोड़कर इस दहमें आ बसा था। अब तेरा शरीर मेरे चरण-चिह्नोंसे अङ्कित हो गया है। इसलिये जा, अब गरुड तुझे खायेंगे नहीं'।

कात्यायनीव्रत करनेवाली गोपियोंको शिक्षा एवं संकल्प-सिद्धिका वरदान

हेमन्त ऋतुके प्रथम मास मार्गशीर्षमें नन्दबाबाके व्रजकी कुमारियाँ कात्यायनी देवीकी पूजा और व्रत करने लगीं । वे केवल हविष्यान्न ही खाती थीं । वे कुमारी कन्याएँ पूर्व दिशाका क्षितिज लाल होते-होते यमुनाजलमें स्नान कर लेतीं और तटपर ही देवीकी बालुकामयी मूर्ति बनाकर सुगन्धित चन्दन, फूलोंके हार, भाँति-भाँतिके नैवेद्य, धूप-दीप, छोटी-बड़ी भेंटकी सामग्री, पल्लव, फल और चावल आदिसे उनकी पूजा करतीं । साथ ही 'हे कात्यायनी ! हे महामाये ! हे महायोगिनी ! हे सबकी एकमात्र स्वामिनी ! आप नन्द-नन्दन श्रीकृष्णको हमारा पति बना दीजिये । देवि ! हम आपके चरणोंमें नमस्कार करती हैं'—इस मन्त्रका जप करती हुई वे कुमारियाँ देवीकी आराधना करतीं । इस प्रकार उन कुमारियोंने, जिनका मन श्रीकृष्णपर निछावर हो चुका था, इस संकल्पके साथ एक महीनेतक भद्रकालीकी भलीभाँति पूजा की कि 'नन्दनन्दन श्यामसुन्दर ही हमारे पति हों ।' वे प्रतिदिन उषाकालमें ही नाम ले-लेकर एक-दूसरी सखीको पुकार लेतीं और परस्पर हाथ-में-हाथ डालकर ऊँचे स्वरसे भगवान् श्रीकृष्णकी लीला तथा नामोंका गान करती हुई यमुनाजलमें स्नान करनेके लिये जातीं ।

एक दिन सब कुमारियोंने प्रतिदिनकी भाँति यमुनाजीके तटपर जाकर अपने-अपने वस्त्र उतार दिये और भगवान् श्रीकृष्णके गुणोंका गान करती हुई बड़े आनन्दसे जल-क्रीडा करने लगीं । भगवान् श्रीकृष्ण सनकादि योगियों और शंकर आदि योगेश्वरोंके भी ईश्वर हैं । उनसे गोपियोंकी अभिलाषा छिपी न रही । वे उनका अभिप्राय जानकर अपने सखा ग्वाल-बालोंके साथ उन कुमारियोंकी साधना सफल करनेके लिये यमुनातटपर गये । उन्होंने अकेले ही उन गोपियोंके सारे वस्त्र उठा लिये और बड़ी फुर्तीसे वे एक कदम्बके वृक्षपर चढ़ गये । फिर, श्रीकृष्ण गोपियोंसे कहने लगे—'अरी कुमारियो ! तुम यहाँ आकर इच्छा हो, तो अपने-अपने वस्त्र ले जाओ' ।

तदनन्तर गोपियोंके अनुनय-विनय करनेपर उनके शुद्ध भावसे भगवान् बहुत ही प्रसन्न हुए और बड़ी प्रसन्नतासे बोले—'अरी गोपियो ! तुमने जो व्रत लिया था, उसे अच्छी तरह निभाया है—इसमें संदेह नहीं; परंतु इस अवस्थामें वस्त्रहीन होकर तुमने जलमें स्नान किया है, इससे तो जलके अधिष्ठातृ-देवता वरुणका तथा यमुनाजीका अपराध हुआ है' ।

भगवान् श्रीकृष्णकी बात सुनकर उन व्रजकुमारियोंने ऐसा ही समझा कि वास्तवमें वस्त्रहीन होकर स्नान करनेसे हमारे व्रतमें त्रुटि आ गयी । अतः उसकी निर्विघ्न पूर्तिके लिये उन्होंने समस्त कर्मोंके साक्षी श्रीकृष्णको नमस्कार किया; क्योंकि उन्हें नमस्कार करनेसे ही सारी त्रुटियों और अपराधों-का मार्जन हो जाता है ।

भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि उन कुमारियोंने उनके चरणकमलोंके स्पर्शकी कामनासे ही व्रत धारण किया है और उनके जीवनका यही एकमात्र संकल्प है, तब उन गोपियोंके प्रेमके अधीन होकर ऊखलतकमें बँध जानेवाले भगवान्ने उनसे कहा—

भगवान्के प्रति सर्वस्व समर्पणसे महान् सिद्धि

संकल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्चनम् ।
मयानुमोदितः सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति ॥
न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते ।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते ॥
याताबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः ।
यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सतीः ॥

(श्रीमद्भागवत १० । २२ । २५-२७)

'मेरी परम प्रेयसी कुमारियो ! मैं तुम्हारा यह संकल्प जानता हूँ कि तुम मेरी पूजा करना चाहती हो । मैं

तुम्हारी इस अभिलाषाका अनुमोदन करता हूँ, तुम्हारा यह संकल्प सत्य होगा। तुम मेरी पूजा कर सकोगी। जिन्होंने अपना मन और प्राण मुझे समर्पित कर रक्खा है, उनकी कामनाएँ उन्हें सांसारिक भोगोंकी ओर ले जानेमें समर्थ नहीं होतीं; ठीक वैसे ही जैसे भुने या उबाले हुए बीज फिर अङ्कुरके रूपमें उगनेके योग्य नहीं रह जाते। इसलिये कुमारियो! अब तुम अपने-अपने घर लौट जाओ। तुम्हारी साधना सिद्ध हो गयी है। तुम आनेवाली शरद्‌ऋतुकी रात्रियोंमें मेरे साथ विहार करोगी। सतियो! इसी उद्देश्यसे तो तुमलोगोंने यह व्रत और कात्यायनी देवीकी पूजा की थी।'

भगवान्‌की यह आज्ञा पाकर वे कुमारियाँ भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंका ध्यान करती हुई जानेकी इच्छा न होनेपर भी बड़े कष्टसे व्रजमें गयीं। अब उनकी सारी कामनाएँ पूर्ण हो चुकी थीं।

यज्ञपत्नियोंपर कृपा

एक दिन यमुनातटके उपवनमें गौएँ चराते समय ग्वाल-बालोंको बड़ी भूख सताने लगी। उन्होंने राम-श्यामके पास आकर कहा—'प्रभो! हमारी क्षुधा शान्त करनेका कोई उपाय कीजिये।' भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें ब्रह्मवादी स्वर्गकामी ब्राह्मणोंके यज्ञमें अन्न माँग लानेके लिये भेजा; परंतु वहाँ उनकी बात किसीने नहीं सुनी। वे निराश लौट आये। तब भगवान्‌ने कहा—'तुमलोग उनकी पत्नियोंके पास जाओ और मेरा नाम लेकर भोजन माँगो।' ग्वालबालोंने ऐसा ही किया।

श्रीकृष्ण-दर्शनके लिये सदा उत्सुक रहनेवाली उन देवियोंने ग्वालबालोंकी बात सुनकर बड़े हर्षका अनुभव किया और चार प्रकारके स्वादिष्ट भोजनोंकी थाली सजाये वे स्वयं उस स्थानपर गयीं, जहाँ राम-श्याम विराजमान थे। भगवान्‌ने उनका स्वागत करते हुए कहा—

सभी बुद्धिमान् भगवान्‌से प्रेम करते हैं

स्वागतं वो महाभागा आस्यतां करवाम किम्।
यन्नो दिदृक्षया प्राप्ता उपपन्नमिदं हि वः॥
नन्वद्धा मयि कुर्वन्ति कुशलाः स्वार्थदर्शिनः।
अहैतुक्यव्यवहितां भक्तिमात्मप्रिये यथा॥
प्राणबुद्धिमनःस्वात्मदारापत्यधनादयः।
यत्सम्पर्कात् प्रिया आसंस्ततः को न्वपरः प्रियः॥
तद् यात देवयजनं पतयो वो द्विजातयः।
स्वसत्रं पारयिष्यन्ति युष्माभिर्गृहमेधिनः॥

(श्रीमद्भागवत १०। २३। २५—२८)

'महाभाग्यवती देवियो! तुम्हारा स्वागत है। आओ, बैठो। कहो, हम तुम्हारा क्या स्वागत करें? तुमलोग हमारे दर्शनकी इच्छासे यहाँ आयी हो, यह तुम्हारे-जैसे प्रेमपूर्ण हृदयवालोंके योग्य ही है। इसमें संदेह नहीं कि संसारमें अपनी सच्ची भलाईको समझनेवाले जितने भी बुद्धिमान् पुरुष हैं, वे अपने प्रियतमके समान ही मुझसे प्रेम करते हैं और ऐसा प्रेम करते हैं, जिसमें किसी प्रकारकी कामना नहीं रहती—जिसमें किसी प्रकारका व्यवधान, संकोच, छिपाव, दुविधा या द्वैत नहीं होता। प्राण, बुद्धि, मन, शरीर, स्वजन, स्त्री, पुत्र और धन आदि संसारकी सभी वस्तुएँ जिसके लिये और जिसकी संनिधिसे प्रिय लगती हैं—उस आत्मासे, परमात्मासे, मुझ श्रीकृष्णसे बढ़कर और कौन प्यारा हो सकता है? इसलिये तुम्हारा आना उचित ही है। मैं तुम्हारे प्रेमका

अभिनन्दन करता हूँ, परंतु अब तुमलोग मेरा दर्शन कर चुकीं । अब अपनी यज्ञशालामें लौट जाओ । तुम्हारे पति ब्राह्मण गृहस्थ हैं । वे तुम्हारे साथ मिलकर ही अपना यज्ञ पूर्ण कर सकेंगे ।'

यज्ञपत्नियोंने भगवच्चरणोंकी सेवा छोड़कर जाना अस्वीकार कर दिया । वे बोलीं—'हमारे पति अब हमें ग्रहण नहीं करेंगे । हमें इन चरणोंमें ही स्थान प्राप्त हो ।' भगवान्‌ने कहा—

भगवान्‌में मन लगनेसे भगवत्प्राप्ति

पतयो नाभ्यसूयेरन् पितृभ्रातृसुतादयः ।
लोकाश्च वो मयोपेता देवा अप्यनुमन्वते ॥
न प्रीतयेऽनुरागाय ह्यङ्गसङ्गो नृणामिह ।
तन्मनो मयि युञ्जाना अचिरान्मामवाप्स्यथ ॥

(श्रीमद्भागवत १० । २३ । ३१-३२)

'देवियो ! तुम्हारे पति-पुत्र, माता-पिता, भाई-बन्धु—कोई भी तुम्हारा तिरस्कार नहीं करेंगे । उनकी तो बात ही क्या, सारा संसार तुम्हारा सम्मान करेगा । इसका कारण है—अब तुम मेरी हो गयी हो, मुझसे युक्त हो गयी हो । देखो न, ये देवता मेरी बातका अनुमोदन कर रहे हैं । देवियो ! इस संसारमें मेरा अङ्ग-सङ्ग ही मनुष्योंमें मेरी प्रीति या अनुरागका कारण नहीं है । इसलिये तुम जाओ, अपना मन मुझमें लगा दो । तुम्हें बहुत शीघ्र मेरी प्राप्ति हो जायगी ।'

आज्ञा पाकर कृतार्थ हो वे सब यज्ञशालामें लौट गयीं ।

इन्द्रयज्ञके विषयमें प्रश्न तथा उसका निराकरण करके गिरियज्ञ एवं गोयज्ञका प्रतिपादन

भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ वृन्दावनमें रहकर अनेकों प्रकारकी लीलाएँ कर रहे थे । उन्होंने एक दिन देखा कि वहाँके सब गोप इन्द्र-यज्ञ करनेकी तैयारी कर रहे हैं । भगवान् श्रीकृष्ण सबके अन्तर्यामी और सर्वज्ञ हैं । उनसे कोई बात छिपी नहीं थी, वे सब जानते थे । फिर भी विनयावनत होकर इन्होंने नन्दबाबा आदि बड़े-बूढ़े गोपोंसे पूछा—

समझ-बूझकर कर्म करना चाहिये

कथ्यतां मे पितः कोऽयं सम्भ्रमो व उपागतः ।
किं फलं कस्य चोद्देशः केन वा साध्यते मखः ॥
एतद् ब्रूहि महान् कामो मह्यं शुश्रूषवे पितः ।
न हि गोप्यं हि साधूनां कृत्यं सर्वात्मनामिह ॥
अस्त्यस्वपरदृष्टीनाममित्रोदास्तविद्विषाम् ।
उदासीनोऽरिवद् वर्ज्य आत्मवत् सुहृदुच्यते ॥
ज्ञात्वाज्ञात्वा च कर्माणि जनोऽयमनुतिष्ठति ।
विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात्तथा नाविदुषो भवेत् ॥
तत्र तावत् क्रियायोगो भवतां किं विचारितः ।
अथवा लौकिकस्तन्मे पृच्छतः साधु भण्यताम् ॥

(श्रीमद्भागवत १० । २४ । ३–७)

'पिताजी ! आपलोगोंके सामने यह कौन-सा बड़ा भारी काम, कौन-सा उत्सव आ पहुँचा है ? इसका फल क्या है ? किस उद्देश्यसे, कौन लोग, किन साधनोंके द्वारा यह यज्ञ किया करते हैं ? पिताजी ! आप मुझे यह अवश्य बतलाइये । आप मेरे पिता हैं और मैं आपका पुत्र । ये बातें सुननेके लिये मुझे बड़ी उत्कण्ठा भी है । पिताजी ! जो संत पुरुष सबको अपनी आत्मा मानते हैं, जिनकी दृष्टिमें अपने और परायेका भेद नहीं है, जिनका न कोई मित्र है, न शत्रु और न उदासीन—उनके पास छिपानेकी तो कोई बात होती ही नहीं । परंतु यदि ऐसी स्थिति न हो तो रहस्यकी बात शत्रुकी भाँति उदासीनसे भी नहीं कहनी चाहिये । मित्र तो अपने समान ही कहा गया है, इसलिये उससे कोई बात छिपायी नहीं जाती । यह संसारी मनुष्य समझे-बेसमझे अनेकों प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करता है । उनमेंसे समझ-बूझकर करनेवाले पुरुषोंके कर्म जैसे सफल होते हैं, वैसे बेसमझके नहीं । अतः इस समय आपलोग जो क्रियायोग करने जा रहे हैं,

वह सुहृदोंके साथ विचारित—शास्त्रसम्मत है अथवा लौकिक ही है? मैं यह सब जानना चाहता हूँ; आप कृपा करके स्पष्टरूपसे बतलाइये'।

नन्दबाबाने कहा—बेटा! भगवान् इन्द्र वर्षा करनेवाले मेघोंके स्वामी हैं। ये मेघ उन्हींके अपने रूप हैं। वे समस्त प्राणियोंको तृप्त करनेवाला एवं जीवन दान करनेवाला जल बरसाते हैं। मेरे प्यारे पुत्र! हम और दूसरे लोग भी उन्हीं मेघपति भगवान् इन्द्रकी यज्ञोंके द्वारा पूजा किया करते हैं। जिन सामग्रियोंसे यज्ञ होता है, वे भी उनके बरसाये हुए शक्तिशाली जलसे ही उत्पन्न होती हैं। उनका यज्ञ करनेके बाद जो कुछ बच रहता है, उसी अन्नसे हम सब मनुष्य अर्थ, धर्म और कामरूप त्रिवर्गकी सिद्धिके लिये अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। मनुष्योंके खेती आदि प्रयत्नोंके फल देनेवाले इन्द्र ही हैं। यह धर्म हमारी कुल-परम्परासे चला आया है। जो मनुष्य काम, लोभ, भय अथवा द्वेषवश ऐसे परम्परागत धर्मको छोड़ देता है, उसका कभी मङ्गल नहीं होता।

ब्रह्मा, शंकर आदिके भी शासन करनेवाले केशव भगवान्‌ने नन्दबाबा और दूसरे व्रजवासियोंकी बात सुनकर इन्द्रको क्रोध दिलानेके लिये अपने पिता नन्दबाबासे कहा—

गौ, ब्राह्मण तथा गिरिराजके यजनके लिये प्रेरणा

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते।
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते॥

अस्ति चेदीश्वरः कश्चित् फलरूप्यन्यकर्मणाम्।
कर्तारं भजते सोऽपि न ह्यकर्तुः प्रभुर्हि सः॥
किमिन्द्रेणेह भूतानां स्वस्वकर्मानुवर्तिनाम्।
अनीशेनान्यथाकर्तुं स्वभावविहितं नृणाम्॥
स्वभावतन्त्रो हि जनः स्वभावमनुवर्तते।
स्वभावस्थमिदं सर्वं सदेवासुरमानुषम्॥
देहानुच्चावचाञ्जन्तुः प्राप्योत्सृजति कर्मणा।
शत्रुर्मित्रमुदासीनः कर्मैव गुरुरीश्वरः॥
तस्मात् सम्पूजयेत् कर्म स्वभावस्थः स्वकर्मकृत्।
अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम्॥
आजीव्यैकतरं भावं यस्त्वन्यमुपजीवति।
न तस्माद् विन्दते क्षेमं जारं नार्यसती यथा॥
वर्तेत ब्रह्मणा विप्रो राजन्यो रक्षया भुवः।
वैश्यस्तु वार्तया जीवेच्छूद्रस्तु द्विजसेवया॥
कृषिवाणिज्यगोरक्षा कुसीदं तुर्यमुच्यते।
वार्ता चतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयोऽनिशम्॥
सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः।
रजसोत्पद्यते विश्वमन्योन्यं विविधं जगत्॥
रजसा चोदिता मेघा वर्षन्त्यम्बूनि सर्वतः।
प्रजास्तैरेव सिद्ध्यन्ति महेन्द्रः किं करिष्यति॥
न नः पुरो जनपदा न ग्रामा न गृहा वयम्।
नित्य वनौकसस्तात वनशैलनिवासिनः॥
तस्माद् गवां ब्राह्मणानामद्रेश्चारभ्यतां मखः।
य इन्द्रयागसम्भारास्तैरयं साध्यतां मखः॥
पच्यन्तां विविधाः पाकाः सूपान्ताः पायसादयः।
संयावापूपशष्कुल्यः सर्वदोहश्च गृह्यताम्॥
हूयन्तामग्नयः सम्यग् ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः।
अन्नं बहुविधं तेभ्यो देयं वो धेनुदक्षिणाः॥
अन्येभ्यश्चाश्वचाण्डालपतितेभ्यो यथार्हतः।
यवसं च गवां दत्त्वा गिरये दीयतां बलिः॥
स्वलंकृता भुक्तवन्तः स्वनुलिप्ताः सुवाससः।
प्रदक्षिणं च कुरुत गोविप्रानलपर्वतान्॥

एतन्मम मतं तात क्रियतां यदि रोचते ।
अयं गोब्राह्मणाद्रीणां मह्यं च दयितो मखः ॥
(श्रीमद्भागवत १० । २४ । १३–३०)

पिताजी ! प्राणी अपने कर्मके अनुसार ही पैदा होता और कर्मसे ही मर जाता है । उसे उसके कर्मके अनुसार ही सुख-दुःख, भय और मङ्गलके निमित्तोंकी प्राप्ति होती है । यदि कर्मोंको ही सब कुछ न मानकर उनसे भिन्न जीवोंके कर्मका फल देनेवाला ईश्वर माना भी जाय, तो वह कर्म करनेवालोंको ही उनके कर्मके अनुसार फल दे सकता है । कर्म न करनेवालोंपर उसकी प्रभुता नहीं चल सकती । जब सभी प्राणी अपने-अपने कर्मोंका ही फल भोग रहे हैं, तब हमें इन्द्रकी क्या आवश्यकता है ? पिताजी ! जब वे पूर्वसंस्कारके अनुसार प्राप्त होनेवाले मनुष्योंके कर्म-फलको बदल ही नहीं सकते, तब उनसे क्या प्रयोजन ? मनुष्य अपने स्वभाव (पूर्व-संस्कारों) के अधीन है । वह उसीका अनुसरण करता है । यहाँतक कि देवता, असुर, मनुष्य आदिको लिये हुए यह सारा जगत् स्वभावमें ही स्थित है । जीव अपने कर्मोंके अनुसार उत्तम और अधम शरीरोंको ग्रहण करता और छोड़ता रहता है । अपने कर्मोंके अनुसार ही 'यह शत्रु है, यह मित्र है, यह उदासीन है'—ऐसा व्यवहार करता है । कहाँतक कहूँ, कर्म ही गुरु है और कर्म ही ईश्वर । इसलिये पिताजी ! मनुष्यको चाहिये कि पूर्व-संस्कारोंके अनुसार अपने वर्ण तथा आश्रमके अनुकूल धर्मोंका पालन करता हुआ कर्मका ही आदर करे । जिसके द्वारा मनुष्यकी जीविका सुगमतासे चलती है, वही उसका इष्टदेव होता है । जैसे अपने विवाहित पतिको छोड़कर जार पतिका सेवन करनेवाली व्यभिचारिणी स्त्री कभी शान्तिलाभ नहीं करती, वैसे ही जो मनुष्य अपनी आजीविका चलानेवाले एक देवताको छोड़कर किसी दूसरेकी उपासना करते हैं; उससे उन्हें कभी सुख नहीं मिलता । ब्राह्मण वेदोंके अध्ययन-अध्यापनसे, क्षत्रिय पृथ्वीपालनसे, वैश्य वार्तावृत्तिसे और शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी सेवासे अपनी जीविकाका निर्वाह करें । वैश्योंकी वार्तावृत्ति चार प्रकारकी है—कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा और ब्याज लेना । हमलोग उन चारोंमेंसे एक केवल गोपालन ही सदासे करते आये हैं । पिताजी ! इस संसारकी स्थिति, उत्पत्ति और अन्तके कारण क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण हैं । यह विविध प्रकारका सम्पूर्ण जगत् स्त्री-पुरुषके संयोगसे रजोगुणके द्वारा उत्पन्न होता है । उसी रजोगुणकी प्रेरणासे मेघगण सब कहीं जल बरसाते हैं । उसीसे अन्न और अन्नसे ही सब जीवोंकी जीविका चलती है । इसमें भला इन्द्रका क्या लेना-देना है ! वह भला क्या कर सकता है ?

पिताजी ! न तो हमारे पास किसी देशका राज्य है और न तो बड़े-बड़े नगर ही हमारे अधीन हैं । हमारे पास गाँव या घर भी नहीं हैं । हम तो सदाके वनवासी हैं, वन और पहाड़ ही हमारे घर हैं । इसलिये हमलोग गौओं, ब्राह्मणों और गिरिराजका यजन करनेकी तैयारी करें । इन्द्र-यज्ञके लिये जो सामग्रियाँ इकट्ठी की गयी हैं, उन्हींसे इस यज्ञका अनुष्ठान होने दें । अनेकों प्रकारके पकवान—खीर, हलवा, पूआ, पूरी आदिसे लेकर मूँगकी दालतक बनाये जायँ । व्रजका सारा दूध एकत्र कर लिया जाय । वेदवादी ब्राह्मणोंके द्वारा भलीभाँति हवन करवाया जाय तथा उन्हें अनेकों प्रकारके अन्न, गौएँ और दक्षिणाएँ दी जायँ । और भी चाण्डाल, पतित तथा कुत्तोंतकको यथायोग्य वस्तुएँ देकर गायोंको चारा दिया जाय और फिर गिरिराजको भोग लगाया जाय । इसके बाद खूब प्रसाद खा-पीकर सुन्दर-सुन्दर वस्त्र पहनकर, गहनोंसे सज-सजा लिया जाय और चन्दन लगाकर गौ, ब्राह्मण, अग्नि तथा गिरिराज गोवर्धनकी प्रदक्षिणा की जाय । पिताजी !

मेरी तो ऐसी ही सम्मति है। यदि आपलोगोंको रुचे, तो ऐसा ही कीजिये। ऐसा यज्ञ गौ, ब्राह्मण और गिरिराजको तो प्रिय होगा ही; मुझे भी बहुत प्रिय है।'

कालात्मा भगवान्‌की इच्छा थी कि इन्द्रका घमण्ड चूर-चूर कर दें। नन्दबाबा आदि गोपोंने उनकी बात सुनकर बड़ी प्रसन्नतासे स्वीकार कर ली। भगवान् श्रीकृष्णने जिस प्रकारका यज्ञ करनेको कहा था, वैसा ही यज्ञ उन्होंने प्रारम्भ किया। पहले ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर उसी सामग्रीसे गिरिराज और ब्राह्मणोंको सादर भेंटें दीं तथा गौओंको हरी-हरी घास खिलायी। इसके बाद नन्दबाबा आदि गोपोंने गौओंको आगे करके गिरिराजकी प्रदक्षिणा की। ब्राह्मणोंका आशीर्वाद प्राप्त करके वे और गोपियाँ भलीभाँति श्रृङ्गार करके और बैलोंसे जुती गाड़ियोंपर सवार होकर भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंका गान करती हुई गिरिराजकी परिक्रमा करने लगीं। भगवान् श्रीकृष्ण गोपोंको विश्वास दिलानेके लिये गिरिराजके ऊपर एक दूसरा विशाल शरीर धारण करके प्रकट हो गये तथा 'मैं गिरिराज हूँ'—इस प्रकार कहते हुए सारी सामग्री आरोगने लगे। भगवान् श्रीकृष्णने अपने उस स्वरूपको दूसरे व्रजवासियोंके साथ स्वयं भी प्रणाम किया और कहने लगे—'देखो, कैसा आश्चर्य है! गिरिराजने साक्षात् प्रकट होकर हमपर कृपा की है। ये चाहे जैसा रूप धारण कर सकते हैं। जो वनवासी जीव इनका निरादर करते हैं, उन्हें ये नष्ट कर डालते हैं। आओ, अपना और गौओंका कल्याण करनेके लिये इन गिरिराजको हम नमस्कार करें।' इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणासे नन्दबाबा आदि बड़े-बूढ़े गोपोंने गिरिराज, गौ और ब्राह्मणोंका विधिपूर्वक पूजन किया तथा फिर श्रीकृष्णके साथ सब व्रजमें लौट आये।

इन्द्रके कोपसे व्रजकी रक्षाका संकल्प और गोवर्धन-धारण

इन्द्रको जब यह पता लगा कि मेरी पूजा बंद कर दी गयी है, तब वे नन्दबाबा आदि गोपोंपर कुपित हो उठे। उन्होंने प्रलय करनेवाले मेघोंके सांवर्तक नामक गणको व्रज-पर चढ़ाई करनेकी आज्ञा दी। उन मेघोंका बन्धन खोल दिया। वे बड़े वेगसे नन्दबाबाके व्रजपर चढ़ आये और मूसलाधार पानी बरसाकर सारे व्रजको पीड़ित करने लगे। व्रजभूमिका कोना-कोना पानीसे भर गया। कहाँ नीचा है और कहाँ ऊँचा, इसका पता चलना कठिन हो गया। गोपी-गोप और पशु सर्दीसे ठिठुरने और काँपने लगे। वे सब-के-सब भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें आये और बोले—'भक्तवत्सल! अब इन्द्रके क्रोधसे तुम्हीं हमारी रक्षा कर सकते हो।' भगवान्‌ने देखा कि वर्षा और ओलोंकी मारसे पीड़ित होकर सब प्राणी अचेत हो रहे हैं। वे समझ गये कि यह सारी करतूत इन्द्रकी है। तब वे मन-ही-मन कहने लगे—

ऐश्वर्य और पदका अभिमान नष्ट होना आवश्यक

अपर्त्त्वत्युल्बणं वर्षमतिवातं शिलामयम्।
स्वयागे विहतेऽस्माभिरिन्द्रो नाशाय वर्षति॥
तत्र प्रतिविधिं सम्यगात्मयोगेन साधये।
लोकेशमानिनां मौढ्याद्धरिष्ये श्रीमदं तमः॥
न हि सद्भावयुक्तानां सुराणामीशविस्मयः।
मत्तोऽसतां मानभङ्गः प्रशमायोपकल्पते॥
तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम्।
गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः॥

(श्रीमद्भागवत १०। २५। १५—१८)

'हमने इन्द्रका यज्ञ भङ्ग कर दिया है, इसीसे वे व्रजका नाश करनेके लिये बिना ऋतुके ही यह प्रचण्ड वायु और ओलोंके साथ घनघोर वर्षा कर रहे हैं। अच्छा, मैं अपनी योगमायासे इसका भलीभाँति जवाब दूँगा। वे मूर्खतावश अपनेको लोकपाल मानते हैं, उनके ऐश्वर्य और धनका घमंड तथा अज्ञान मैं चूर-चूर कर दूँगा। देवतालोग तो सत्त्वप्रधान होते हैं। इनमें अपने ऐश्वर्य और पदका अभिमान न होना चाहिये। अतः यह उचित ही है कि इन सत्त्वगुणसे च्युत दुष्ट देवताओंका मैं मान भङ्ग कर दूँ। इससे अन्तमें उन्हें शान्ति ही मिलेगी। यह सारा व्रज मेरे आश्रित है, मेरेद्वारा स्वीकृत है और एकमात्र मैं ही इसका रक्षक हूँ। अतः मैं अपनी योगमायासे इसकी रक्षा करूँगा। संतोंकी रक्षा करना तो मेरा व्रत ही

है। अब उसके पालनका अवसर आ पहुँचा है*।'

इस प्रकार कहकर भगवान् श्रीकृष्णने खेल-खेलमें एक ही हाथसे गिरिराज गोवर्धनको उखाड़ लिया और जैसे छोटे-छोटे बालक बरसाती छत्तेके पुष्पको उखाड़कर हाथमें रख लेते हैं, वैसे उन्होंने उस पर्वतको धारण कर लिया।

भगवान्‌के वचनानुसार चलनेवाले आश्रितोंकी भगवान्‌के द्वारा रक्षा

अथाह भगवान् गोपान् हेऽम्ब तात व्रजौकसः।
यथोपजोषं विशत गिरिगर्तं सगोधनाः॥
न त्रास इह वः कार्यो मद्धस्ताद्रिनिपातने।
वातवर्षभयेनालं तत्त्राणं विहितं हि वः॥

(श्रीमद्भागवत, १०। २५। २०-२१)

इसके बाद भगवान्‌ने गोपोंसे कहा—'माताजी, पिताजी और व्रजवासियो! तुमलोग अपनी गौओं और सब सामग्रियों-के साथ इस पर्वतके गड्ढेमें आकर आरामसे बैठ जाओ। देखो, तुमलोग ऐसी शंका न करना कि मेरे हाथसे यह पर्वत गिर पड़ेगा। तुमलोग तनिक भी मत डरो। इस आँधी-पानीके डरसे तुम्हें बचानेके लिये ही मैंने यह युक्ति रची है।'
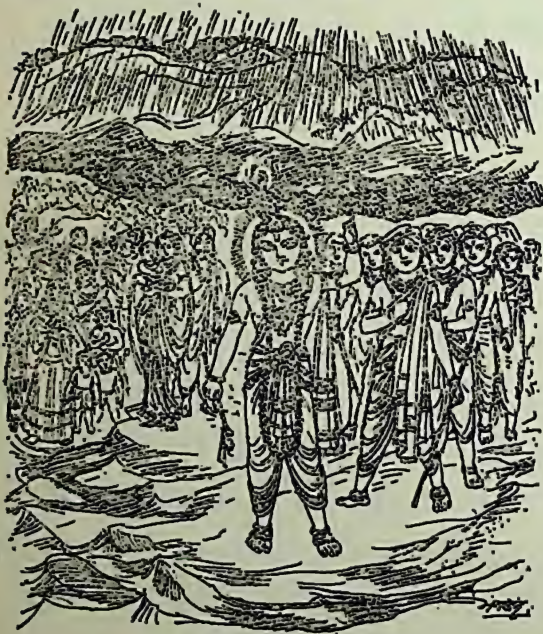
जब भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार सबको आश्वासन दिया, ढाढस बँधाया, तब सब-के-सब ग्वाल अपने-अपने गोधन, छकड़ों, आश्रितों, पुरोहितों और भृत्योंको अपने-अपने साथ लेकर सुभीतेके अनुसार गोवर्धनके गड्ढेमें आ घुसे। भगवान् श्रीकृष्णने सब व्रजवासियोंके देखते-देखते भूख-प्यासकी पीड़ा, आराम-विश्रामकी आवश्यकता आदि सब कुछ भुलाकर सात दिनोंतक लगातार उस पर्वतको उठाये रक्खा। वे एक डग भी वहाँसे इधर-उधर नहीं हुए। श्रीकृष्णकी योगमायाका यह प्रभाव देखकर इन्द्रके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। अपना संकल्प पूरा न होनेके कारण उनकी सारी हेकड़ी बंद हो गयी, वे भौंचक्के-से रह गये। इसके बाद उन्होंने मेघोंको अपने-आप वर्षा करनेसे रोक दिया। जब गोवर्धनधारी भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि वह भयंकर आँधी और घनघोर वर्षा बंद हो गयी, आकाशसे बादल छँट गये और सूर्य दीखने लगे, तब उन्होंने गोपोंसे कहा—

निर्यात त्यजत त्रासं गोपाः सस्त्रीधनार्भकाः।
उपारतं वातवर्षं व्युदप्रायाश्च निम्नगाः॥

(श्रीमद्भागवत १०। २५। २६)

'मेरे प्यारे गोपो! अब तुमलोग निडर हो जाओ और अपनी स्त्रियों, गोधन तथा बच्चोंके साथ बाहर निकल आओ। देखो, अब आँधी-पानी बंद हो गया तथा नदियोंका पानी भी उतर गया।'

भगवान्‌की ऐसी आज्ञा पाकर अपने-अपने गोधन, स्त्रियों, बच्चों और बूढ़ोंको साथ ले तथा अपनी सामग्री छकड़ोंपर लादकर धीरे-धीरे सब लोग बाहर निकल आये।

---

* भगवान् कहते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

'जो केवल एक बार मेरी शरणमें आ जाता है और 'मैं तुम्हारा हूँ' इस प्रकार याचना करता है, उसे मैं सम्पूर्ण प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ—यह मेरा व्रत है।'

इन्द्रके मानभङ्गमें भगवान्‌का अनुग्रह

जब भगवान् श्रीकृष्णने गिरिराज गोवर्धनको धारण करके मूसलाधार वर्षासे व्रजको बचा लिया, तब उनके पास अपने अपराधोंको क्षमा करानेके लिये स्वर्गसे देवराज इन्द्र पधारे ! वे भगवान्‌का तिरस्कार करनेके कारण बहुत लज्जित थे। इसलिये उन्होंने एकान्त स्थानमें भगवान्‌के पास जाकर अपने सूर्यके समान तेजस्वी मुकुटसे उनके चरणोंका स्पर्श किया। परम तेजस्वी भगवान्‌का प्रभाव देख-सुनकर इन्द्रका यह घमंड जाता रहा कि मैं ही तीनों लोकोंका स्वामी हूँ। अब उन्होंने हाथ जोड़कर उनकी स्तुति आरम्भ की—

'भगवन्! आप जगत्के पिता, गुरु और स्वामी हैं। आप जगत्का नियन्त्रण करनेके लिये दण्ड धारण किये हुए दुस्तर काल हैं। आप अपने भक्तोंकी लालसा पूर्ण करनेके लिये स्वच्छन्दतासे लीला-शरीर प्रकट करते हैं और जो लोग हमारी तरह अपनेको ईश्वर मान बैठते हैं, उनका मान मर्दन करते हुए अनेकों प्रकारकी लीलाएँ करते हैं। भगवन्! मेरे अभिमानका अन्त नहीं है और मेरा क्रोध भी बहुत ही तीव्र, मेरे वशके बाहर है। जब मैंने देखा कि मेरा यज्ञ तो नष्ट कर दिया गया, तब मैंने मूसलाधार वर्षा और आँधीके द्वारा सारे व्रजमण्डलको नष्ट कर देना चाहा। परंतु प्रभो! आपने मुझपर बहुत ही अनुग्रह किया। मेरी चेष्टा व्यर्थ होनेसे मेरे घमंडकी जड़ उखड़ गयी। आप मेरे स्वामी हैं, गुरु हैं और मेरे आत्मा हैं। मैं आपकी शरणमें हूँ।' तब भगवान् श्रीकृष्णने हँसकर मेघके समान गम्भीर वाणीमें उनसे कहा—

भगवान्‌के अनुग्रहसे ऐश्वर्यके मदका नाश होता है।

मया तेऽकारि मघवन् मखभङ्गोऽनुगृह्णता।
मदनुस्मृतये नित्यं मत्तस्येन्द्र श्रिया भृशम्॥
मामैश्वर्यश्रीमदान्धो दण्डपाणिं न पश्यति।
तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम्॥
गम्यतां शक्र भद्रं वः क्रियतां मेऽनुशासनम्।
स्थीयतां स्वाधिकारेषु युक्तैर्वः स्तम्भवर्जितैः॥

(श्रीमद्भागवत १०। २७। १५—१७)

'इन्द्र! तुम ऐश्वर्य और धन-सम्पत्तिके मदसे पूरे-पूरे मतवाले हो रहे थे। इसलिये तुमपर अनुग्रह करके मैंने तुम्हारा यज्ञ भङ्ग किया है। यह इसलिये कि अब तुम मुझे नित्य-निरन्तर स्मरण रख सको। जो ऐश्वर्य और धन-सम्पत्तिके मदसे अन्धा हो जाता है, वह यह नहीं देखता कि मैं कालरूप परमेश्वर हाथमें दण्ड लेकर उसके सिरपर सवार हूँ। मैं जिसपर अनुग्रह करना चाहता हूँ, उसे ऐश्वर्यभ्रष्ट कर देता हूँ। इन्द्र! तुम्हारा मङ्गल हो, अब तुम अपनी राजधानी अमरावतीमें जाओ और मेरी आज्ञाका पालन करो। अब कभी घमंड न करना। नित्य-निरन्तर मेरी संनिधिका, मेरे संयोगका अनुभव करते रहना और अपने अधिकारके अनुसार उचित रीतिसे मर्यादाका पालन करना'।

तदनन्तर गोमाता सुरभिने श्रीकृष्णका 'गौओंके इन्द्र' पदपर अभिषेक किया। इससे वे 'गोविन्द' कहलाये। उनका अभिषेक होते ही जगत्में सुख-शान्तिका प्रसार हो गया। क्रूर प्राणी भी परस्पर निर्वैर हो गये। इसके बाद भगवान्‌से आज्ञा ले देवताओंसहित इन्द्र देवलोकको चले गये।

भगवान्के वंशीनादसे आकृष्ट होकर आयी हुई गोपियोंकी प्रेमनिष्ठाका भगवान्के द्वारा परीक्षण और रासलीलामें प्रवेशद्वारा उनपर अनुग्रह

शरद्-ऋतुके प्रभावसे वृन्दावनमें बेला-चमेली आदि पुष्प खिलकर अपनी सुगन्ध फैला रहे थे। चीरहरणके समय भगवान्ने गोपियोंका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये जिनकी ओर संकेत किया था वे रमणीय रात्रियाँ वहाँ उल्लसित हो रही थीं। भगवान्ने उनपर दृष्टिपात किया और अपनी अचिन्त्यशक्ति योगमायाका आश्रय ले मन-ही-मन रासक्रीडाका संकल्प किया। पूर्णिमाके प्रदोष-कालमें चन्द्रोदय हुआ। इन्दुकी कोमल किरणोंसे सारा वन अनुरागके रंगमें रँग गया। फिर तो भगवान्ने वंशीकी मधुर तान छेड़ी। वह प्रेमवर्धक गीत सुनकर वे व्रज-सुन्दरियाँ, जिनका मन अनन्यभावसे भगवान्में ही लगा हुआ था या स्वयं भगवान्ने जिनका चित्त चुरा लिया था, जिन्होंने इन्हींको पतिरूपमें पानेके लिये एकान्त साधना की थी, वे सब-की-सब वहाँ आ पहुँचीं। उस समय भगवान्ने उनकी प्रेमनिष्ठाकी परीक्षाके लिये कहा—

स्त्रियोंके लिये आदर्श लौकिक धर्म क्या है ?

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।
व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम्॥
रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः॥

मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम्॥
दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम्।
यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवशोभितम्॥

तद् यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत॥
अथवा मदभिस्नेहाद् भवत्यो यन्त्रिताशयाः।
आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः॥
भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया।
तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम्॥
दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी॥
अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्।
जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः॥
श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात्।
न तथा संनिकर्षेण प्रतियात ततो गृहान्॥

(श्रीमद्भागवत १०। २९। १८—२७)

'महाभाग्यवती गोपियो! तुम्हारा स्वागत है। बतलाओ, तुम्हें प्रसन्न करनेके लिये मैं कौन-सा काम करूँ? व्रजमें तो सब कुशल-मङ्गल है न? कहो, इस समय यहाँ आनेकी क्या आवश्यकता पड़ गयी? सुन्दरी गोपियो! रातका समय है, यह स्वयं ही बड़ा भयावना होता है और इसमें बड़े-बड़े भयावने जीव-जन्तु इधर-उधर घूमते रहते हैं। अतः तुम सब तुरंत व्रजमें लौट जाओ। रातके समय घोर जंगलमें स्त्रियोंको नहीं रुकना चाहिये। तुम्हें न देखकर तुम्हारे माँ-बाप, पति-पुत्र और भाई-बन्धु ढूँढ़ रहे होंगे। उन्हें भयमें न डालो। तुमलोगोंने रंग-बिरंगे पुष्पोंसे लदे हुए इस वनकी शोभाको देखा। पूर्ण चन्द्रमाकी कोमल रश्मियोंसे यह रँगा हुआ है, मानो उन्होंने अपने हाथों चित्रकारी की हो; और यमुनाजीके जलका स्पर्श करके बहनेवाले शीतल समीरकी मन्द-मन्द गतिसे हिलते हुए ये वृक्षोंके पत्ते तो इस वनकी शोभाको और भी बढ़ा रहे हैं। परंतु अब तो तुमलोगोंने यह सब कुछ देख लिया। अब देर मत करो, शीघ्र-से-शीघ्र व्रजमें लौट जाओ। तुमलोग कुलीन स्त्री हो और स्वयं भी सती हो; जाओ, अपने पतियोंकी और सतियोंकी सेवा-शुश्रूषा करो। देखो, तुम्हारे घरके नन्हे-नन्हे बच्चे और गौओंके बछड़े रो-रँभा रहे हैं; उन्हें दूध पिलाओ, गौएँ दुहो। अथवा यदि मेरे प्रेमसे परवश होकर तुमलोग यहाँ आयी हो तो इसमें कोई अनुचित बात नहीं हुई, यह तो तुम्हारे योग्य ही है; क्योंकि जगत्‌के पशु-पक्षीतक मुझसे प्रेम करते हैं, मुझे देखकर प्रसन्न होते हैं। कल्याणी गोपियो! स्त्रियोंका परम धर्म यही है कि वे पति और उसके भाई-बन्धुओंकी निष्कपटभावसे सेवा करें और संतानका पालन-पोषण करें। जिन स्त्रियोंको उत्तम लोक प्राप्त करनेकी अभिलाषा हो, वे पातकी (सर्वथा भगवद्विमुख) को छोड़कर और किसी भी प्रकारके पतिका परित्याग न करें। भले ही वह बुरे स्वभाववाला, भाग्यहीन, वृद्ध, मूर्ख, रोगी या निर्धन ही क्यों न हो। कुलीन स्त्रियोंके लिये जार पुरुषकी सेवा सब तरहसे निन्दनीय ही है। इससे उनका परलोक बिगड़ता है, स्वर्ग नहीं मिलता, इस लोकमें अपयश होता है। यह कुकर्म स्वयं तो अत्यन्त तुच्छ, क्षणिक है ही; इसमें प्रत्यक्ष—वर्तमानमें भी कष्ट-ही-कष्ट है। मोक्ष आदिकी तो बात ही कौन करे, यह साक्षात् परम भय—नरक आदिका हेतु है। गोपियो! मेरी लीला और गुणोंके श्रवणसे, रूपके दर्शनसे, उन सबके कीर्तन और ध्यानसे मेरे प्रति जैसे अनन्य प्रेमकी प्राप्ति होती है, वैसे प्रेमकी प्राप्ति निकट रहनेसे नहीं होती। इसलिये तुमलोग अपने-अपने घरको लौट जाओ'।

भगवान् श्रीकृष्णका यह अप्रिय भाषण सुनकर गोपियाँ उदास और खिन्न हो गयीं। उनकी आशा टूट गयी। वे चिन्ताके अथाह एवं अपार समुद्रमें डूबने-उतराने लगीं। उनके नेत्रोंमें आँसू आ गये। उन्होंने भगवान्‌को उपालम्भ दिया और उनके चरणोंसे कदापि दूर न होनेका निश्चय प्रकट किया। करुणामय भगवान्‌ने उनकी अविचल प्रेम-निष्ठा देख उन्हें कृपापूर्वक अपनाया। उनके साथ रासक्रीडा करके उनकी जन्म-जन्मकी साध एवं साधना सफल की। अब वे भगवान्‌की हो गयीं। भगवान्‌ने उन्हें सम्पूर्ण हृदयसे अपनी बना

लिया था। त्रिभुवनकी कौन सुन्दरी गोपियोंके सौभाग्यकी सराहना नहीं करेगी। जो सुख, जो सौभाग्य भगवान्के हृदयमें रहनेवाली लक्ष्मीजीको भी सुलभ न हो सका, उसे गोपाङ्गनाओंने प्राप्त कर लिया। बड़े-बड़े योगी और मुनि भी जिनकी कृपादृष्टिके लिये तरसते रहते हैं, वे ही भगवान् श्यामसुन्दर गोपकिशोरियोंके वशमें हैं, उनके इशारेपर नाचते हैं, उनकी प्रत्येक इच्छा पूर्ण करनेमें सुखका अनुभव करते हैं। यही सोचते-सोचते गोपियोंके हृदयमें अभिमानका अङ्कुर उत्पन्न हो गया। यह देख गर्वगञ्जन भगवान् गोविन्द गोपियोंपर कृपा करनेके लिये ही वहाँ अन्तर्धान हो गये।

फिर तो गोपियोंकी वैसी ही दशा हो गयी, जैसे यूथपति गजराजसे बिछुड़ जानेपर हथिनियोंकी होती है। उनका हृदय विरहकी ज्वालासे जलने लगा। भगवान्ने उनके चित्तको चुरा लिया था। वे आर्तस्वरसे विलाप करने लगीं, पगली-सी होकर उनको ढूँढ़ने और तन्मय होकर उन्हींकी लीलाओंका अनुकरण करने लगीं। फिर सबने मिलकर बड़े मार्मिक गीत गाते हुए भगवान्को पुकारा। उस समय वे फूट-फूटकर रोने लगीं। अब भक्तवत्सल भगवान् अपनेको छिपाये न रख सके। वे करुणानिधान उन्हींके बीचमें प्रकट हो गये। उन्हें देखते ही गोपियोंके नेत्र खिल उठे। वे सहसा उठकर खड़ी हो गयीं, मानो मृत-शरीरमें पुनः प्राण आ गये हों। सभी भगवान्की सेवामें लग गयीं। कुछ रूठी हुई मानिनी गोपियोंने श्यामसुन्दरके समक्ष एक प्रश्न उपस्थित किया—'प्यारे! कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो प्रेम करनेवालोंसे ही प्रेम करते हैं और कुछ लोग प्रेम न करनेवालोंसे भी प्रेम करते हैं; परंतु कोई-कोई इन दोनोंसे ही प्रेम नहीं करते। हम जानना चाहती हैं कि इन तीनोंमें कौन श्रेष्ठ है?' उनका यह प्रश्न सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने उत्तर दिया—

भगवान् अपने सर्वत्यागी प्रेमियोंके ऋणी

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते ।
न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा ॥
भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरो यथा ।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः ॥
भजतोऽपि न वै केचिद् भजन्त्यभजतः कुतः ।
आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः ॥
नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये ।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ॥
एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-
स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः ।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं
मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः ॥
न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना ॥

(श्रीमद्भागवत १० । ३२ । १७—२२)

'मेरी प्रिय सखियो ! जो प्रेम करनेपर प्रेम करते हैं, उनका तो सारा उद्योग स्वार्थको लेकर है । लेन-देनमात्र है । न तो उनमें सौहार्द है और न तो धर्म । उनका प्रेम केवल स्वार्थके लिये ही है; इसके अतिरिक्त उनका और कोई प्रयोजन नहीं है । सुन्दरियो ! जो लोग प्रेम न करनेवालेसे भी प्रेम करते हैं—जैसे स्वभाव-से ही करुणाशील सज्जन और माता-पिता—उनका हृदय सौहार्दसे, हितैषितासे भरा रहता है और सच पूछो तो उनके व्यवहारमें निश्छल सत्य एवं पूर्ण धर्म भी है । कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो प्रेम करनेवालोंसे भी प्रेम नहीं करते, न प्रेम करनेवालोंका तो उनके सामने कोई प्रश्न ही नहीं है । ऐसे लोग चार प्रकारके होते हैं । एक तो वे, जो अपने स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं—जिनकी दृष्टिमें कभी द्वैत भासता ही नहीं । दूसरे वे, जिन्हें द्वैत तो भासता है, परंतु जो कृतकृत्य हो चुके हैं; उनका किसीसे कोई प्रयोजन ही नहीं है । तीसरे वे हैं, जो जानते ही नहीं कि हमसे कौन प्रेम करता है; और चौथे वे हैं, जो जान-बूझकर अपना हित करनेवाले परोपकारी गुरुतुल्य लोगोंसे भी द्रोह करते हैं; उनको सताना चाहते हैं । गोपियो ! मैं तो प्रेम करनेवालोंसे भी प्रेमका वैसा व्यवहार नहीं करता, जैसा करना चाहिये । मैं ऐसा केवल इसीलिये करता हूँ कि उनकी चित्तवृत्ति और भी मुझमें लगे, निरन्तर लगी ही रहे । जैसे निर्धन पुरुषको कभी बहुत-सा धन मिल जाय और फिर खो जाय तो उसका हृदय खोये हुए धनकी चिन्तासे भर जाता है, वैसे ही मैं भी मिल-मिलकर छिप-छिप जाता हूँ । गोपियो ! इसमें संदेह नहीं कि तुमलोगोंने मेरे लिये लोक-मर्यादा, वेदमार्ग और अपने सगे-सम्बन्धियोंको भी छोड़ दिया है । ऐसी स्थितिमें तुम्हारी मनोवृत्ति और कहीं न जाय, अपने सौन्दर्य और सुहागकी चिन्ता न करने लगे, मुझमें ही लगी रहे—इसीलिये परोक्षरूपसे तुमलोगोंसे प्रेम करता हुआ ही मैं छिप गया था । इसलिये तुमलोग मेरे प्रेममें दोष मत निकालो । तुम सब मेरी प्यारी हो और मैं तुम्हारा प्यारा हूँ । मेरी प्यारी गोपियो ! तुमने मेरे लिये घर-गृहस्थीकी उन बेड़ियोंको तोड़ डाला है, जिन्हें बड़े-बड़े योगी-यति भी नहीं तोड़ पाते । मुझसे तुम्हारा यह मिलन, यह आत्मिक-संयोग सर्वथा निर्मल और सर्वथा निर्दोष है । यदि मैं अमर शरीरसे, अमर जीवनसे अनन्तकालतक तुम्हारे प्रेम, सेवा और त्यागका बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका सकता । मैं जन्म-जन्म-के लिये तुम्हारा ऋणी हूँ । तुम अपने सौम्य स्वभावसे,

प्रेमसे मुझे उऋण कर सकती हो। परंतु मैं तो तुम्हारा ऋणी ही हूँ।'

तदनन्तर महारास करके भगवान्ने गोपियोंको अनुगृहीत एवं कृतार्थ किया।

सुदर्शन नामक विद्याधर और शङ्खचूड नामक यक्षका उद्धार, अरिष्टासुरका वध, कंसका अक्रूरजीको व्रजमें जानेका आदेश, अक्रूरजीकी व्रजयात्रा, उनकी श्रीकृष्णदर्शन-लालसा तथा श्रीकृष्णसे बातचीत

एक बार नन्दबाबा आदि गोपोंने शिवरात्रिके अवसरपर अम्बिका वनकी यात्रा की। वहाँ उन लोगोंने सरस्वती नदीमें स्नान करके भगवान् शंकर और भगवती अम्बिकाजीका भक्तिभावसे पूजन किया। पूजनके पश्चात् आदरपूर्वक गौएँ, सोना, वस्त्र, मधु और मधुर अन्न ब्राह्मणोंको दिये तथा उनको खूब खिलाया-पिलाया। उस दिन नन्द, सुनन्द आदि गोपोंने उपवास कर रक्खा था। इसलिये वे लोग केवल जल पीकर रातके समय सरस्वती नदीके तटपर ही बेखटके सो गये। उस अम्बिका वनमें एक बड़ा भारी अजगर रहता था, जो बहुत ही भूखा था। दैववश वह उधर ही आ निकला और उसने सोये हुए नन्दजीको पकड़ लिया। अजगरके पकड़ लेनेपर नन्दरायजी चिल्लाने लगे—'बेटा कृष्ण! दौड़ो, दौड़ो। यह अजगर मुझे निगल रहा है। मुझे इस संकटसे बचाओ'। भगवान् श्रीकृष्णने तत्काल वहाँ पहुँचकर अपने चरणोंसे उस अजगरको छू दिया। उनके श्रीचरणोंका स्पर्श होते ही वह अजगरका शरीर छोड़कर तुरंत सर्वाङ्गसुन्दर रूपवान् पुरुष बन गया। उसके शरीरसे दिव्य ज्योति निकल रही थी। वह प्रणाम करनेके बाद हाथ जोड़कर भगवान्के सामने खड़ा हो गया। तब भगवान्ने पूछा—'तुम कौन हो? तुम्हें यह निन्दनीय योनि कैसे प्राप्त हुई?'

वह पुरुष बोला—भगवन्! पहले मैं एक विद्याधर था। मेरा नाम था सुदर्शन। मैं धन और रूप-सम्पत्तिसे मत्त हो विमानद्वारा सम्पूर्ण दिशाओंमें घूमता-फिरता था। एक दिन अङ्गिरा गोत्रके कुरूप ऋषियोंको देखकर मैंने उनकी बहुत हँसी उड़ायी। तब उन्होंने शाप देकर मुझे इस योनिमें डाल दिया। उन कृपालु महर्षियोंने अनुग्रहके लिये ही मुझे शाप दिया था; क्योंकि उसीका यह प्रभाव है कि आज चराचरके गुरु स्वयं आपने अपने चरणकमलोंसे मेरा स्पर्श किया है। इससे मेरे सारे अशुभ नष्ट हो गये। अब मेरी मुक्तिमें क्या संदेह हो सकता है!

ऐसा कहकर सुदर्शनने भगवान्की परिक्रमा की, उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया और उनसे आज्ञा लेकर अपने लोकको प्रस्थान किया। नन्दबाबा भारी संकटसे छूट गये। श्रीकृष्णका वह अद्भुत प्रभाव देख व्रजवासियोंको बड़ा विस्मय हुआ। वे प्रेमसे भगवान्की लीलाका गान करते हुए पुनः व्रजमें लौट आये।

एक दिनकी बात है, अलौकिक कर्म करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम रात्रिके समय वनमें विहार कर रहे थे। भगवान् श्रीकृष्ण निर्मल पीताम्बर और बलरामजी नीलाम्बर धारण किये हुए थे। दोनोंके गलेमें फूलोंके सुन्दर-सुन्दर हार लटक रहे थे तथा शरीरमें अङ्गराग एवं सुगन्धित चन्दन लगा हुआ था। वे दोनों भाई सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित थे। गोपियाँ बड़े प्रेम और आनन्दसे ललित स्वरमें उन्हींके गुणोंका गान कर रही थीं। उसी समय वहाँ शङ्खचूड नामका एक यक्ष आया। वह कुबेरका अनुचर था। उसने दोनों भाइयोंके देखते-देखते कुछ गोपियोंको पकड़कर बड़े वेगसे उत्तर दिशाकी राह ली। गोपियाँ 'हा कृष्ण' 'हा राम' कहकर आर्त स्वरसे विलाप करने लगीं। यह देख दोनों भाई गोपियोंको अभय दान दे हाथमें शालका वृक्ष लिये बड़े वेगसे दौड़े और क्षणभरमें ही उस नीच यक्षके पास पहुँच गये। यक्ष उन्हें देखकर घबरा गया और गोपियोंको वहीं छोड़ प्राण बचानेके लिये भागा। बलरामजी स्त्रियोंकी रक्षाके लिये वहीं खड़े हो गये; परंतु श्रीकृष्णने उसका पीछा करके कुछ ही दूर जानेपर उसे पकड़ लिया और उसके सिरपर कसकर एक घूसा जमाया, यक्षका सिर चूडामणिके साथ धड़से अलग हो गया। इस प्रकार शङ्खचूडको मारकर भगवान् श्रीकृष्ण उसके मस्तककी चमकीली मणि लेकर लौट आये और सब गोपियोंके सामने ही उन्होंने वह मणि बड़े प्रेमसे बड़े भाई बलरामजीको दे दी।

बड़भागिनी गोपियोंका मन श्रीकृष्णमें ही लगा रहता था। वे श्रीकृष्णमय हो गयी थीं। जब भगवान् श्रीकृष्ण दिनमें गौओंको चरानेके लिये वनमें चले जाते, तब वे उन्हींका

चिन्तन करती रहतीं और अपनी-अपनी सखियोंके साथ अलग-अलग उन्हींकी लीलाओंका गान करके उसीमें रम जातीं। इस प्रकार उनके दिन बीत जाते। एक दिन जब भगवान् श्रीकृष्ण व्रजमें प्रवेश कर रहे थे और वहाँ आनन्दोत्सवकी धूम मची हुई थी, उसी समय अरिष्टासुर नामका एक दैत्य बैलका रूप धारण करके आया। उसके कंधेका पुट्ठा और डील-डौल दोनों ही बहुत बड़े थे। वह अपने खुरोंको इतने जोरसे पटक रहा था कि उससे धरती काँप रही थी। वह जोर-जोरसे गरजता, पैरोंसे धूल उछालता, पूँछ खड़ी करके सींगोंसे चहारदीवारी एवं खेतोंके मेड़ आदि तोड़ता और बीच-बीचमें बार-बार गोबर एवं मूत्रोत्सर्ग करता जाता था। उसके जोरके डकड़नेसे भयवश स्त्रियों और गौओंके गर्भ असमयमें ही गिर जाते थे। उसे देखकर गोपियाँ और गोप सभी भयभीत हो गये। पशु डरके मारे गोशाला छोड़कर भाग गये। उस समय सभी व्रजवासी 'श्रीकृष्ण! श्रीकृष्ण! हमें इस भयसे बचाओ' इस प्रकार पुकारते हुए भगवान् गोविन्दकी शरणमें आये। भगवान्‌ने 'डरनेकी कोई बात नहीं है' यह कहकर सबको ढाढ़स बँधाया और उस वृषभासुरको ललकारा। ललकार कर भगवान्‌ने ताल ठोंकी और उसे कुपित करनेके लिये वे अपने एक सखाके गलेमें बाँह डालकर खड़े हो गये। अरिष्टासुर क्रोधसे तिलमिला उठा और खुरोंसे धरती खोदता हुआ श्रीकृष्णकी ओर झपटा। श्रीकृष्णने दोनों हाथोंसे उसके दोनों सींग पकड़ लिये और उसे अठारह पग पीछे ढकेलकर गिरा दिया। फिर पैरोंसे दबाकर इस प्रकार उसका कचूमर निकाला, जैसे कोई गीला कपड़ा निचोड़ रहा हो। इसके बाद उसीका सींग उखाड़कर उसे इतना पीटा कि वह वहीं ढेर हो गया। मुँहसे खून उगलता और गोबर-मूत करता हुआ पैर पटकने लगा। उसकी आँखें उलट गयीं और उसने बड़े कष्टके साथ प्राण छोड़े। अब देवतालोग भगवान्‌पर फूल बरसा-बरसाकर उनकी स्तुति करने लगे। गोपगण उनके गौरव-गीत गाने लगे। जब उन्होंने बलरामजीके साथ गोष्ठमें प्रवेश किया, तब उन्हें देख-देखकर गोपियोंके नेत्र और मन आनन्दसे भर गये।

अरिष्टासुरके वधके पश्चात् देवर्षि नारद कंसके पास जा पहुँचे और इस प्रकार बोले—'कंस! जो कन्या तुम्हारे हाथसे छूटकर आकाशमें चली गयी थी, वह तो यशोदाकी पुत्री थी और व्रजमें जो श्रीकृष्ण हैं, वे देवकीके पुत्र हैं। वसुदेवने तुमसे डरकर अपने मित्र नन्दके पास उन दोनोंको रख दिया है। उन्होंने ही तुम्हारे अनुचर दैत्योंका वध किया है।' यह सुनते ही कंसकी एक-एक इन्द्रिय क्रोधसे काँप उठी। उसने वसुदेवजीको मार डालनेके लिये तुरंत ही तलवार उठा ली; परंतु नारदजीने रोक दिया। जब कंसको मालूम हो गया कि वसुदेवके लड़के ही हमारी मृत्युके कारण हैं, तब उसने देवकी और वसुदेव दोनोंको ही हथकड़ी और बेड़ीसे जकड़कर फिर जेलमें डाल दिया। देवर्षि नारदके चले जानेपर कंसने केशीको बुलाया और कहा—'तुम व्रजमें जाकर बलराम और कृष्णको मार डालो।' वह चला गया। इसके बाद कंसने अपने पहलवानों और महावतोंको बुलाकर कहा—'वीरवर चाणूर और मुष्टिक! तुमलोग मेरी बात सुनो। वसुदेवके दो पुत्र बलराम और कृष्ण जब यहाँ आवें तब तुमलोग उन्हें कुश्ती लड़ने-लड़ानेके बहाने मार डालना। महावत! तुम दंगलके घेरेके फाटकपर ही अपने कुवलयापीड़ हाथीको रखना और जब मेरे शत्रु उधरसे निकलें, तब उसीके द्वारा उन्हें मरवा डालना।'

पहलवान और महावतको इस प्रकार आज्ञा देकर कंसने श्रेष्ठ यदुवंशी अक्रूरको बुलवाया और उनका हाथ अपने हाथमें लेकर कहा—'अक्रूरजी! भोजवंशी और वृष्णिवंशी यादवोंमें आपसे बढ़कर मेरी भलाई करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। यह काम बहुत बड़ा है। इसीलिये मेरे मित्र! मैंने आपका आश्रय लिया है। आप नन्दरायजीके व्रजमें जाइये और वहाँ जो वसुदेवजीके दो पुत्र हैं, उन्हें इसी रथपर चढ़ाकर यहाँ ले आइये। बस, इस काममें देर नहीं होनी चाहिये। नन्द आदि गोपोंको भी बड़ी-बड़ी भेंटोंके साथ यहाँ उपस्थित होनेकी आज्ञा दीजिये। पहले तो मैं वसुदेवके पुत्रोंको हाथीसे कुचलवा दूँगा। यदि उससे बच गये तो पहलवानोंद्वारा मरवा डालूँगा। फिर उनके शोकाकुल बन्धु-बान्धवोंको मारते कितनी देर लगेगी। राज्यकी लिप्सा रखनेवाले बूढ़े पिता उग्रसेन और उसके भाई देवकको भी मैं जीवित नहीं छोड़ूँगा; क्योंकि ये सब मुझसे द्वेष रखते हैं। फिर तो मेरे मित्र! इस पृथ्वीका अकण्टक राज्य मेरे अधिकारमें आ जायगा। आप राम और कृष्णको धनुषयज्ञ दिखानेके बहाने यहाँ ले आइये।'

अक्रूरजीने कहा—महाराज! आप अपनी मृत्यु, अपना अरिष्ट दूर करना चाहते हैं, इसलिये आपका ऐसा सोचना तो ठीक ही है; पर मनुष्यको चाहिये कि वह सिद्धि और असिद्धिमें समभाव रक्खे; क्योंकि प्रयत्नकी सफलता दैवके अधीन है। मनुष्य बड़े-बड़े मनोरथोंके पुल बाँधता है; किंतु वह यह नहीं

जानता कि प्रारब्धने उन मनोरथोंको पहलेसे ही नष्ट कर रक्खा है। यही कारण है कि वह सफल होनेपर हर्षसे फूल उठता है और असफल होनेपर शोकमें डूब जाता है। फिर भी मैं आपकी आज्ञाका पालन तो कर ही रहा हूँ।

कंसने उक्त आदेश देकर मन्त्रियों और अक्रूरजीको विदा कर दिया। फिर वह अपने महलमें चला गया और अक्रूरजी अपने घर लौट आये।

तदनन्तर महामति अक्रूरजी प्रातःकाल होते ही रथपर सवार हुए और नन्दबाबाके गोकुलकी ओर चल दिये। परम भाग्यवान् अक्रूरजी व्रजकी यात्रा करते समय मार्गमें कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णकी परम प्रेममयी भक्तिसे परिपूर्ण हो गये। वे इस प्रकार सोचने लगे—'मैंने ऐसा कौन-सा शुभ कर्म किया है, ऐसी कौन-सी श्रेष्ठ तपस्या की है अथवा किसी सत्पात्रको ऐसा कौन-सा महत्त्वपूर्ण दान दिया है जिसके फलस्वरूप आज मैं भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन करूँगा। मैं बड़ा विषयी हूँ। ऐसी स्थितिमें, बड़े-बड़े सात्त्विक पुरुष भी जिनके गुणोंका ही गान करते रहते हैं, दर्शन नहीं कर पाते—उन भगवान्के दर्शन मेरे लिये अत्यन्त दुर्लभ हैं, ठीक वैसे ही, जैसे शूद्र-कुलके बालकके लिये वेदोंका कीर्तन। परंतु नहीं, मुझ अधमको भी भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन होंगे ही; क्योंकि जैसे नदीमें बहते हुए तिनके कभी-कभी इस पारसे उस पार लग जाते हैं, वैसे ही समयके प्रवाहसे भी कहीं कोई इस संसार-सागरको पार कर सकता है। अवश्य ही आज मेरे सारे अशुभ नष्ट हो गये। आज मेरा जन्म सफल हो गया; क्योंकि आज मैं भगवान्के उन चरण-कमलोंमें साक्षात् नमस्कार करूँगा, जो बड़े-बड़े योगी-यतियोंके भी केवल ध्यानके ही विषय हैं। अहो! कंसने तो आज मेरे ऊपर बड़ी ही कृपा की है। उसी कंसके भेजनेसे मैं इस भूतलपर अवतीर्ण स्वयं भगवान्के चरणकमलोंके दर्शन पाऊँगा। जिनके नखमण्डलकी कान्तिका ध्यान करके पहले युगोंके ऋषि-महर्षि इस अज्ञानरूप अपार अन्धकार-राशिको पार कर चुके हैं, स्वयं वही भगवान् तो अवतार ग्रहण करके प्रकट हुए हैं। ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र आदि बड़े-बड़े देवता जिन चरणकमलोंकी उपासना करते रहते हैं, स्वयं भगवती लक्ष्मी एक क्षणके लिये भी जिनकी सेवा नहीं छोड़तीं, प्रेमी भक्तोंके साथ बड़े-बड़े ज्ञानी भी जिनकी आराधनामें संलग्न रहते हैं—भगवान्के वे ही चरणकमल गौओंको चरानेके लिये ग्वालबालोंके साथ वन-वनमें विचरते हैं। वे ही सुर-मुनि-वन्दित श्रीचरण गोपियोंके वक्षःस्थलपर लगी हुई केसरसे रँग जाते हैं, चिह्नित हो जाते हैं। मैं अवश्य-अवश्य उनके दर्शन करूँगा। मरकतमणिके समान सुस्निग्ध कान्तिमान् उनके कोमल कपोल हैं। तोतेकी ठोरके समान नुकीली नासिका है; होठोंपर मन्द-मन्द मुसकान, प्रेमभरी चितवन, कमलसे कोमल रतनारे लोचन और कपोलोंपर घुँघराली अलकें लटक रही हैं। मैं प्रेम और मुक्तिके परम दानी श्रीमुकुन्दके उस मुखकमलका आज अवश्य दर्शन करूँगा; क्योंकि हरिन मेरी दायीं ओरसे निकल रहे हैं। भगवान् विष्णु पृथ्वीका भार उतारनेके लिये स्वेच्छासे मनुष्यकी-सी लीला कर रहे हैं। वे सम्पूर्ण लावण्यके धाम हैं। सौन्दर्यकी मूर्तिमान् निधि हैं। आज मुझे उन्हींके दर्शन होंगे। अवश्य होंगे। आज मुझे सहजमें ही आँखोंका फल मिल जायगा। भगवान् इस कार्य-कारणरूप जगत्के द्रष्टामात्र हैं और ऐसा होनेपर भी द्रष्टापनका अहंकार उन्हें छूतक नहीं गया है। उनकी चिन्मयी शक्तिसे अज्ञानके कारण होनेवाला भेदभ्रम अज्ञान-सहित दूरसे ही निरस्त रहता है। वे अपनी योगमायासे ही अपने-आपमें भ्रूविलास मात्रसे प्राण, इन्द्रिय और बुद्धि आदिके सहित अपने स्वरूपभूत जीवोंकी रचना कर लेते हैं और उनके साथ वृन्दावनकी कुञ्जोंमें तथा गोपियोंके घरोंमें तरह-तरहकी लीलाएँ करते हुए प्रतीत होते हैं।

मैं कंसका दूत हूँ। उसीके भेजनेसे उनके पास जा रहा हूँ। कहीं वे मुझे अपना शत्रु तो न समझ बैठेंगे? राम राम! वे ऐसा कदापि नहीं समझ सकते; क्योंकि वे निर्विकार हैं, सम हैं, अच्युत हैं, सारे विश्वके साक्षी हैं, सर्वज्ञ हैं, वे चित्तके बाहर भी हैं और भीतर भी। वे क्षेत्रज्ञ-रूपसे स्थित होकर अन्तःकरणकी एक-एक चेष्टाको अपनी निर्मल ज्ञान-दृष्टिके द्वारा देखते रहते हैं, तब मेरी शंका व्यर्थ है। अवश्य ही मैं उनके चरणोंमें हाथ जोड़कर विनीतभावसे खड़ा हो जाऊँगा। वे मुसकराते हुए दयाभरी स्निग्ध दृष्टिसे मेरी ओर देखेंगे। उस समय मेरे जन्म-जन्मके समस्त अशुभ संस्कार उसी क्षण नष्ट हो जायँगे और मैं निःशंक होकर सदाके लिये परमानन्दमें मग्न हो जाऊँगा। मैं उनके कुटुम्बका हूँ और उनका अत्यन्त हित चाहता हूँ। उनके सिवा और कोई मेरा आराध्यदेव भी नहीं है। ऐसी स्थितिमें वे अपनी लंबी-लंबी बाँहोंसे पकड़कर मुझे अवश्य अपने हृदयसे लगा लेंगे। अहा! उस समय मेरी तो देह पवित्र होगी ही, वह दूसरों-को पवित्र करनेवाली भी बन जायगी और उसी समय उनका

आलिङ्गन प्राप्त होते ही मेरे समस्त कर्म-बन्धन, जिनके कारण मैं अनादिकालसे भटक रहा हूँ, टूट जायँगे। जब वे मेरा आलिङ्गन कर चुकेंगे और मैं हाथ जोड़, सिर झुकाकर उनके सामने खड़ा हो जाऊँगा तब वे मुझे 'चाचा अक्रूर!' इस प्रकार कहकर सम्बोधन करेंगे। क्यों न हो, इसी पवित्र और मधुर यशका विस्तार करनेके लिये ही तो वे लीला कर रहे हैं। तब मेरा जीवन सफल हो जायगा। भगवान् श्रीकृष्णने जिसको अपनाया नहीं, जिसे आदर नहीं दिया, उसके उस जन्मको, जीवनको धिक्कार है। मैं उनके सामने विनीतभावसे सिर झुकाकर खड़ा हो जाऊँगा और बलरामजी मुसकराते हुए मुझे अपने हृदयसे लगा लेंगे और फिर मेरे दोनों हाथ पकड़कर मुझे घरके भीतर ले जायँगे। वहाँ सब प्रकारसे मेरा सत्कार करेंगे। इसके बाद मुझसे पूछेंगे कि 'कंस हमारे घरवालोंके साथ कैसा व्यवहार करता है?'

श्वफल्कनन्दन अक्रूर मार्गमें इसी मङ्गल-मनोरथमें डूबे-डूबे रथसे नन्दगाँव पहुँच गये और सूर्य अस्ताचलपर चले गये। जिनके चरणकमलकी रजको सभी लोकपाल अपने किरीटोंके द्वारा सेवन करते हैं, अक्रूरजीने गोष्ठमें उनके चरणचिह्नोंके दर्शन किये। कमल, यव, अङ्कुश आदि असाधारण चिह्नोंके द्वारा उनकी पहचान हो रही थी और उनसे पृथ्वीकी शोभा बढ़ रही थी। उन चरणचिह्नोंके दर्शन करते ही अक्रूरजीके हृदयमें इतना आह्लाद हुआ कि वे अपनेको सँभाल न सके, विह्वल हो गये। प्रेमके आवेगसे उनका रोम-रोम खिल उठा, नेत्रोंमें आँसू भर आये और टपटप टपकने लगे। वे रथसे कूदकर उस धूलिमें लोटने लगे और कहने लगे—'अहो! यह हमारे प्रभुके चरणोंकी रज है।'

व्रजमें पहुँचकर अक्रूरजीने श्रीकृष्ण और बलराम दोनों भाइयोंको गाय दुहनेके स्थानमें विराजमान देखा। श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण पीताम्बर धारण किये हुए थे और गौरसुन्दर बलराम नीलाम्बर। उनके नेत्र शरत्कालीन कमलके समान खिले हुए थे। उन्होंने अभी किशोर अवस्थामें प्रवेश ही किया था। वे दोनों गौर-श्याम निखिल सौन्दर्यकी खान थे। घुटनोंका स्पर्श करनेवाली लंबी-लंबी भुजाएँ, सुंदर वदन, परम मनोहर और गजशावकके समान ललित चाल थी। उनके चरणोंमें ध्वजा, वज्र, अङ्कुश और कमलके चिह्न थे। जब वे चलते थे, उनसे चिह्नित होकर पृथ्वी शोभायमान हो जाती थी। उनकी मन्द-मन्द मुसकान और चितवन ऐसी थी, मानो दया बरस रही हो। वे उदारताकी तो मानो मूर्ति ही थे। उनकी एक-एक लीला उदारता और सुंदर कलासे भरी थी। गलेमें वनमाला और मणियोंके हार जगमगा रहे थे। उन्होंने अभी-अभी स्नान करके निर्मल वस्त्र पहने थे और शरीरमें पवित्र अङ्गराग तथा चन्दनका लेप किया था। उन्हें देखते ही अक्रूरजी प्रेमावेगसे अधीर होकर रथसे कूद पड़े और भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलरामके चरणोंके पास साष्टाङ्ग लोट गये। भगवान्के दर्शनसे उन्हें इतना आह्लाद हुआ कि उनके नेत्र आँसूसे सर्वथा भर गये। सारे शरीरमें पुलकावली छा गयी। उत्कण्ठावश गला भर आनेके कारण वे अपना नाम भी न बतला सके। शरणागतवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण उनके मनका भाव जान गये। उन्होंने बड़ी प्रसन्नतासे चक्राङ्कित हाथोंके द्वारा उन्हें खींचकर उठाया और हृदयसे लगा लिया। इसके बाद जब वे परम मनस्वी श्रीबलरामजीके सामने विनीतभावसे खड़े हो गये, तब उन्होंने उनको गले लगा लिया और उनका एक हाथ श्रीकृष्णने पकड़ा तथा दूसरा बलरामजीने। दोनों भाई उन्हें घर ले गये।

घर ले जाकर भगवान्ने उनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया। कुशल-मङ्गल पूछकर श्रेष्ठ आसनपर बैठाया और विधिपूर्वक उनके पाँव पखारकर मधुपर्क (शहद मिला हुआ दही) आदि पूजाकी सामग्री भेंट की। इसके बाद भगवान्ने अतिथि अक्रूरजीको एक गाय दी और पैर दबाकर उनकी थकावट दूर की तथा बड़े आदर एवं श्रद्धासे उन्हें पवित्र और अनेक गुणोंसे युक्त अन्नका भोजन कराया। जब वे भोजन कर चुके, तब धर्मके परम मर्मज्ञ भगवान् बलरामजीने बड़े प्रेमसे मुखवास (पान-इलायची आदि) और सुगन्धित माला आदि देकर उन्हें अत्यन्त आनन्दित किया। इस प्रकार सत्कार हो चुकनेपर नन्दरायजीने उनके पास आकर पूछा—'अक्रूरजी! आपलोग निर्दयी कंसके जीते-जी किस प्रकार अपने दिन काटते हैं? अरे! उसके रहते आपलोगोंकी वही दशा है, जो कसाईद्वारा पाली हुई भेड़ोंकी होती है। जिस इन्द्रियाराम पापीने अपनी बिलखती हुई बहनके नन्हे-नन्हे बच्चोंको मार डाला, आपलोग उसकी प्रजा हैं। फिर आप सुखी हैं, यह अनुमान तो हम कर ही कैसे सकते हैं?' अक्रूरजीने नन्दबाबासे पहले ही कुशल-मङ्गल पूछ लिया था। जब इस प्रकार नन्दबाबाने मधुर वाणीसे अक्रूरजीसे कुशल-मङ्गल पूछा और उनका सम्मान किया तब अक्रूरजीके शरीरमें रास्ता चलनेकी जो कुछ थकावट थी, वह सब दूर हो गयी।

भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीने अक्रूरजीका भली-भाँति सम्मान किया। वे आरामसे पलँगपर बैठ गये। उन्होंने मार्गमें जो-जो अभिलाषाएँ की थीं, वे सब पूरी हो गयीं। देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने सायंकालका भोजन करनेके बाद अक्रूरजीके पास जाकर अपने स्वजन-सम्बन्धियोंके साथ कंसके व्यवहार और उसके अगले कार्यक्रमके सम्बन्ध-में पूछा—

अत्याचारी सारे कुलके लिये भयंकर व्याधि-स्वरूप होता है।

तात सौम्यागतः कच्चित् स्वागतं भद्रमस्तु वः ।
अपि स्वज्ञातिबन्धूनामनमीवमनामयम् ॥
किं नु नः कुशलं पृच्छे एधमाने कुलामये ।
कंसे मातुलनाम्न्यङ्ग स्वानां नस्तत्प्रजासु च ॥
अहो अस्मदभूद् भूरि पित्रोर्वृजिनमार्ययोः ।
यद्धेतोः पुत्रमरणं यद्धेतोर्बन्धनं तयोः ॥
दिष्ट्याद्य दर्शनं स्वानां मह्यं वः सौम्य काङ्क्षितम् ।
संजातं वर्ण्यतां तात तवागमनकारणम् ॥

(श्रीमद्भागवत १० । ३९ । ४–७)

'चाचाजी! आपका हृदय बड़ा शुद्ध है। आपको यात्रामें कोई कष्ट तो नहीं हुआ? स्वागत है। मैं आपकी मङ्गलकामना करता हूँ। मथुराके हमारे आत्मीय सुहृद्, कुटुम्बी तथा अन्य सम्बन्धी सब सकुशल और स्वस्थ हैं न? हमारा नाममात्रका मामा कंस तो हमारे कुलके लिये एक भयंकर व्याधि है। जबतक उसकी बढ़ती हो रही है, तबतक हम अपने वंशवालों और उनके बाल-बच्चोंका कुशल-मङ्गल क्या पूछें? चाचाजी! हमारे लिये यह बड़े खेदकी बात है कि मेरे ही कारण मेरे निरपराध और सदाचारी माता-पिताको अनेकों प्रकारकी यातनाएँ झेलनी पड़ीं। तरह-तरहके कष्ट उठाने पड़े। और तो क्या कहूँ, मेरे ही कारण उन्हें हथकड़ी-बेड़ीसे जकड़कर जेलमें डाल दिया गया तथा मेरे ही कारण उनके बच्चे भी मार डाले गये। मैं बहुत दिनोंसे चाहता था कि आपलोगोंमेंसे किसी-न-किसीके दर्शन हों। यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज मेरी वह अभिलाषा पूरी हो गयी। सौम्य स्वभाव चाचाजी! अब आप कृपा करके यह बतलाइये कि आपका शुभागमन किस निमित्तसे हुआ?'

जब भगवान् श्रीकृष्णने अक्रूरजीसे इस प्रकार प्रश्न किया, तब उन्होंने बतलाया कि 'कंसने तो सभी यदुवंशियोंसे घोर वैर ठान रक्खा है। वह वसुदेवजीको मार डालनेका भी उद्यम कर चुका है।' अक्रूरजीने कंसका संदेश और जिस उद्देश्यसे उसने स्वयं अक्रूरजीको दूत बनाकर भेजा था और नारदजीने जिस प्रकार वसुदेवके घर श्रीकृष्णके जन्म लेनेका वृत्तान्त उसको बता दिया था, सो सब कह सुनाया। अक्रूरजीकी यह बात सुनकर विपक्षी शत्रुओंका दमन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी हँसने लगे और इसके बाद उन्होंने अपने पिता नन्दजीको कंसकी आज्ञा सुना दी।

श्रीकृष्णको मथुरा जाते देख गोपियोंकी व्याकुलता, अक्रूरको यमुनाजीमें भगवान्‌के दिव्य स्वरूपका साक्षात्कार, मथुरामें पहुँचकर भगवान्‌का अक्रूरको विदा करके नगर देखने जाना, नारियोंकी उत्कण्ठा, रजकको दण्ड देना तथा दर्जी और मालीपर कृपाकी वर्षा

नन्दबाबाने अक्रूरजीके कथनानुसार सब गोपोंको आज्ञा दी कि सारा गोरस एकत्र करो, भेंटकी सामग्री ले लो। कल प्रातःकाल हम सब मथुराकी यात्रा करेंगे और वहाँ चलकर राजा कंसको गोरस देंगे। वहाँ एक बहुत बड़ा उत्सव हो रहा है। उसे देखनेके लिये देशकी सारी प्रजा इकट्ठी हो रही है। हमलोग भी उसे देखेंगे।

जब गोपियोंने सुना कि हमारे मनमोहन श्यामसुन्दर और गौर-सुन्दर बलरामजीको मथुरा ले जानेके लिये अक्रूरजी व्रजमें आये हैं, तब उनके हृदयमें बड़ी व्यथा हुई। वे व्याकुल हो गयीं। उन्हें अपने शरीर और संसारका कुछ ध्यान ही न रहा! भगवान् श्रीकृष्णके प्रेममिश्रित मन्द मुसकान-युक्त हृदयस्पर्शी वचन उन्हें याद आने लगे। वे मोहित

हो गयीं। श्यामसुन्दरके लीला-चरित्रका चिन्तन करते-करते वे उनके विरहके भयसे कातर हो गयीं। उनकी आँखोंसे अविरल अश्रुधारा बहने लगी। वे झुंड-की-झुंड इकट्ठी होकर इस प्रकार कहने लगीं—'हा विधाता! तुम्हारे हृदयमें तनिक भी दया नहीं है। तुम देहधारियोंको प्रेम और मैत्रीसे परस्पर मिला तो देते हो; परंतु उनके मनोरथ सफल होनेके पहले ही उन्हें अकारण एक दूसरेसे अलग कर देते हो। तुम्हारी यह चेष्टा बच्चोंके खेलके समान है। तुमने काली-काली घुँघराली अलकोंसे आवृत सुन्दर कपोल और ऊँची नासिकासे सुशोभित एवं मन्द मुस्कानसे मनोहर मुकुन्दका मुखारविन्द हमें दिखलाया और अब तुम उसे हमारी आँखोंसे ओझल किये देते हो। तुम्हारी यह करतूत अच्छी नहीं है। हमारी आँखोंमें श्यामसुन्दर बसे हुए हैं। तुम इन्हें हमसे दूर ले जाकर हमारी आँख ही छीने लेते हो। प्रिय नन्दनन्दनका सौहार्द भी क्षणभरमें न जाने कहाँ चला गया! हम इनके लिये व्याकुल हैं और ये हमारी ओर देखतेतक नहीं हैं। श्यामसुन्दर आज निर्दय होकर रथपर बैठ गये हैं और मतवाले गोपगण छकड़ोंद्वारा उनके साथ जानेके लिये जल्दी मचा रहे हैं। आज दैव हमारे प्रतिकूल चेष्टा कर रहा है। चलो, हम स्वयं ही चलकर प्राणप्यारे श्यामसुन्दरको रोकती हैं। कुलके बड़े-बूढ़े बन्धुजन हमारा क्या कर लेंगे! हम आधे क्षणके लिये भी मुकुन्दका सङ्ग छोड़नेमें असमर्थ हैं। फिर भी हमारे दुर्भाग्यने उनका वियोग उपस्थित करके हम दुखियारी गोपियोंके दीन-दुखी चित्तका विध्वंस कर डाला है। जिनकी प्रेमभरी मनोहर मुस्कान, मीठी-मीठी बातें, विलासपूर्ण चितवन और प्रेमालिङ्गनसे रासलीलाकी विशाल रातें एक क्षणके समान बिता दी थीं, उन्हींके बिना हम उनकी दी हुई अपार विरह-व्यथाका पार कैसे पायेंगी? उनके बिना हमारा जीवन कैसे रह सकता है?'

ऐसा कहती हुई विरहाकुल व्रजसुन्दरियाँ लज्जा छोड़कर 'गोविन्द, दामोदर, माधव'की पुकार मचाती हुई उच्चस्वरसे फूट-फूटकर रोने लगीं। उनके रोते-रोते सारी रात बीत गयी। सूर्योदय हुआ और अक्रूरने संध्या-वन्दन करके रथको हाँक दिया। श्रीकृष्णने दूतके द्वारा 'मैं फिर आऊँगा' यह प्रेम-संदेश भेजकर गोपियोंको धीरज बँधाया। जब-तक रथकी धूलि दिखायी दी, वे चित्रलिखित-सी खड़ी उसी ओर देखती रहीं। अन्तमें निराश हो घरको लौट आयीं और रात-दिन प्यारे श्यामसुन्दरकी लीलाओंका गान करती हुई अपने शोक-संतापको हलका करने लगीं।

उधर अक्रूर श्रीकृष्ण और बलरामको लेकर अपने वेगशाली रथके द्वारा नन्दगाँवसे पापनाशिनी यमुनाके तटपर जा पहुँचे। वहाँ उन लोगोंने हाथ-मुँह धोकर यमुनाजीका मीठा जल पिया। अक्रूरजीने दोनों भाइयोंको रथपर बिठाकर यमुनाके ब्रह्महृद तीर्थमें विधिवत् स्नानके पश्चात् जलमें डुबकी लगाकर गायत्रीका जप आरम्भ किया। उन्हें जलमें बलभद्र और श्रीकृष्ण दोनों भाई एक साथ बैठे दिखायी दिये। तब उन्होंने आश्चर्यचकित हो पानीसे ऊपर उठकर रथकी ओर दृष्टिपात किया तो वहाँ भी वे पूर्ववत् बैठे दृष्टि-गोचर हुए। जब उन्होंने पुनः डुबकी लगायी तो शेष-शायी श्रीविष्णुके दर्शन हुए। भगवान्‌की वह झाँकी देख अक्रूरजी परमानन्दमें निमग्न हो गये। उन्होंने भक्तिभावसे भगवान्‌की स्तुति की। इतनेमें जलके भीतरकी झाँकी अदृश्य हो गयी। तब अक्रूरजी विस्मित हो जलसे निकलकर रथपर चले आये।

तमपृच्छद्धृषीकेशः किं ते दृष्टमिहाद्भुतम्।
भूमौ वियति तोये वा तथा त्वां लक्षयामहे॥

(श्रीमद्भागवत १०। ४१। ३)

भगवान् श्रीकृष्णने उनसे पूछा—'चाचाजी! आपने पृथ्वी, आकाश या जलमें कोई अद्भुत वस्तु देखी है क्या? क्योंकि आपकी आकृति देखनेसे ऐसा ही जान पड़ता है।'

अक्रूरजीने उत्तर दिया—'प्रभो! पृथ्वी, आकाश या जलमें इस जगत्‌के भीतर जितने भी अद्भुत पदार्थ हैं, वे सब आपमें ही हैं; क्योंकि आप विश्वरूप हैं। जब मैं आपको ही देख रहा हूँ, तब ऐसी कौन-सी अद्भुत वस्तु रह जाती है, जो मैंने न देखी हो।' इतना कहकर अक्रूरजीने रथ हाँक दिया और संध्या होते-होते वे सब लोग मथुरा-पुरीमें जा पहुँचे। मार्गमें विलम्ब हो जानेसे अक्रूरजीका रथ देरमें पहुँचा। नन्दबाबा आदि व्रजवासी पहलेसे ही वहाँ पहुँच गये थे और नगरके बाहरी उपवनमें ठहरकर उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके पास पहुँचकर श्रीकृष्णने अक्रूरजीसे मुस्कराते हुए कहा—

भवान् प्रविशतामग्रे सहयानः पुरीं गृहम्।
वयं त्विहावमुच्याथ ततो द्रक्ष्यामहे पुरीम्॥

(श्रीमद्भागवत १० । ४१ । १०)

'चाचाजी ! आप रथ लेकर पहले पुरीमें प्रवेश कीजिये और अपने घर जाइये, हमलोग यहाँ उतरेंगे और नगरकी शोभा देखनेके लिये जायँगे।'

अक्रूरने आग्रहपूर्वक अनुरोध किया—'प्रभो ! आप अपने सुहृदोंसहित पधारकर हमारा घर सनाथ कीजिये। हम गृहस्थ हैं, आप अपने चरणोंकी धूलिसे मेरे भवनको पवित्र कीजिये।'

श्रीभगवान् बोले—

आयास्ये भवतो गेहमहमार्यसमन्वितः।
यदुचक्रद्रुहं हत्वा वितरिष्ये सुहृत्प्रियम्॥

(श्रीमद्भागवत १० । ४१ । १७)

'चाचाजी ! मैं दाऊ भैयाके साथ आपके घर आऊँगा और पहले इस यदुवंशियोंके द्रोही कंसको मारकर तब अपने सभी सुहृद्-स्वजनोंका प्रिय करूँगा।'

भगवान्‌के इस प्रकार कहनेपर अक्रूरजी कुछ अनमने-से होकर चले गये। उन्होंने कंसको श्रीकृष्णके शुभागमनका समाचार दे दिया। दूसरे दिन तीसरे पहर बलरामजी और ग्वाल-बालोंके साथ मथुरापुरीकी शोभा देखनेके लिये श्रीकृष्णने नगरमें प्रवेश किया। जब वे सब लोग राजमार्गसे निकले, उस समय नगरकी नारियाँ बड़ी उत्कण्ठासे उन्हें देखनेके लिये झटपट अटारियोंपर चढ़ गयीं। कितनी ही जल्दी-जल्दीमें वस्त्र और आभूषणोंको उल्टे-पुल्टे धारण करके चल दीं। किसीके एक ही कानमें कर्णफूल था तो दूसरीके एक ही पैरमें नूपुर। कोई एक ही आँखमें अञ्जन आँज पायी थी और दूसरीमें बिना आँजे ही चल पड़ी। जो खा रही थीं, वे हाथका कौर फेंककर दौड़ीं। जो उबटन लगवा रही थीं, वे बिना स्नान किये ही भागीं। उन सबके मन भगवान् कमलनयनने हर लिये थे। महलोंकी अटारियों-पर चढ़कर वे बलराम और श्रीकृष्णपर फूलोंकी वर्षा करने लगीं। द्विजातियोंने जगह-जगह दही, अक्षत, सजल पात्र, फूलोंके हार, चन्दन और भेंटकी सामग्रियोंसे सानन्द श्रीकृष्ण-बलरामकी पूजा की। पुरवासी परस्पर कहने लगे—'अहो ! गोपियोंने कौन-सा महान् तप किया है, जिससे वे मानव-लोकको परमानन्द प्रदान करनेवाले इन दोनों किशोरोंके नित्य दर्शन करती हैं।

इसी समय भगवान् श्रीकृष्णने देखा, कोई धोबी आ रहा है। वह कपड़े रँगनेका भी काम करता था। भगवान्‌ने उससे अति उत्तम धुले वस्त्र माँगते हुए कहा—

देह्यावयोः समुचितान्यङ्ग वासांसि चार्हतोः।
भविष्यति परं श्रेयो दातुस्ते नात्र संशयः॥

(श्रीमद्भागवत १० । ४१ । ३३)

'भाई ! तुम हमें ऐसे वस्त्र दो, जो हमारे शरीरमें पूरे-पूरे आ जायँ। वास्तवमें हमलोग उन वस्त्रोंके अधिकारी हैं। इसमें संदेह नहीं कि यदि तुम हमलोगोंको वस्त्र दोगे, तो तुम्हारा परम कल्याण होगा।'

परिपूर्णतम भगवान्‌के इस तरह याचनाकी लीला करनेपर राजा कंसके उस मदमत्त सेवकने रोषसे भरकर आक्षेप करते हुए कहा—'जंगली और पहाड़ी कहींके, क्या तुमलोग सदा ऐसे ही कपड़े पहनते हो ? तुम्हारी उद्दण्डता इतनी बढ़ गयी है कि तुम राजाके वस्त्र लेना चाहते हो। मूर्खो ! जल्दी भागो यहाँसे। यदि जीनेकी इच्छा हो तो फिर कभी ऐसी माँग न करना। राजाके कर्मचारी तुम्हारे-जैसे घमंडीको बाँधते, पीटते और सब कुछ छीन लेते हैं'।

जब धोबी बहुत बढ़-बढ़कर बातें बनाने लगा, तब भगवान् श्रीकृष्णने तनिक कुपित होकर उसे एक तमाचा जड़ दिया। चाँटा लगते ही उसका सिर धड़ामसे धड़से नीचे आ गिरा। यह देख उसके साथी कपड़ोंके गट्ठर वहीं छोड़कर चारों ओर भाग गये। भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामने अपनी रुचिके अनुसार वस्त्र पहन लिये। शेष ग्वाल-बालोंको दे दिये और बहुत-से कपड़े वहीं जमीनपर छोड़कर सब लोग चल दिये। आगे जानेपर एक दर्जी मिला। वह भगवान्‌का प्रेमी था। उसने बड़ी प्रसन्नताके साथ उन रंग-बिरंगे सुन्दर वस्त्रोंको उनके शरीरपर ऐसे ढंगसे सजा दिया कि वे सब ठीक-ठीक फब गये। भगवान् श्रीकृष्णने उस दर्जीपर प्रसन्न होकर उसे लोकमें उत्तम धन-सम्पत्ति दी। बल-ऐश्वर्य, अपनी स्मृति और अक्षुण्ण इन्द्रिय-शक्ति प्रदान की। साथ ही मृत्युके बादके लिये अपना सारूप्य मोक्ष भी दे दिया। इसके बाद वे दोनों भाई सुदामा मालीके घर गये। उन्हें देखते ही सुदामाने उठकर पृथ्वीपर माथा टेक साष्टाङ्ग प्रणाम किया

फिर उनको आसनपर बैठाकर उनके पाँव पखारे, हाथ धुलाये और ग्वाल-बालोंसहित सबकी फूलोंके हार, पान, चन्दन आदि सामग्रियोंसे विधिपूर्वक पूजा की। तत्पश्चात् कहा—'प्रभो ! आप दोनोंके शुभागमनसे हमारा जन्म सफल हो गया । कुल पवित्र हुआ; हम पितर, ऋषि और देवताओंके ऋणसे मुक्त हो गये । भगवन् ! इस दासको आज्ञा दीजिये । मैं आपलोगोंकी क्या सेवा करूँ ?' यों कहकर उसने भगवान्‌को अत्यन्त सुन्दर सुगन्धित पुष्पोंके हार पहनाये । ग्वाल-बालोंसहित पुष्पमालासे अलंकृत हो उन दोनों भाइयोंने शरणागत सुदामाको वर माँगनेके लिये कहा । उसने भगवान्‌के प्रति अविचल भक्तिका वर माँगा । भगवान्‌ने वह वर तो दिया ही, उसके साथ-साथ भगवद्भक्तों-के प्रति सौहार्द, समस्त प्राणियोंके प्रति परम दया, वंश-परम्पराके साथ-साथ बढ़नेवाली लक्ष्मी, बल, आयु, कीर्ति तथा कान्तिका भी वरदान दिया । इसके बाद वे दोनों बन्धु वहाँसे विदा हुए ।

कुब्जापर कृपा, धनुष-भङ्ग, कुवलयापीडका, मल्लोंका तथा कंसका उद्धार

तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण अपनी मण्डलीके साथ आगे बढ़े । मार्गमें उन्हें एक युवती दिखायी दी, जिसका मुख तो परम सुन्दर था, परंतु वह शरीरसे कुबड़ी थी । इसलिये लोग उसे 'कुब्जा' कहते थे । वह हाथमें चन्दनका पात्र लिये जा रही थी । सबको प्रेमरस प्रदान करनेवाले श्यामसुन्दरने कुब्जापर कृपा करनेके लिये हँसते हुए उससे पूछा—

का त्वं वरोर्वेतदु हानुलेपनं
कस्याङ्गने वा कथयस्व साधु नः ।
देह्यावयोरङ्गविलेपमुत्तमं
श्रेयस्ततस्ते नचिराद् भविष्यति ॥

(श्रीमद्भागवत १० । ४२ । २)

'सुन्दरी ! तुम कौन हो ? यह चन्दन किसके लिये ले जा रही हो ? कल्याणी ! हमें सब बात सच-सच बता दो । यह उत्तम चन्दन, यह अङ्गराग हमें भी दो । इस दानसे शीघ्र ही तुम्हारा परम कल्याण होगा ।'

सैरन्ध्री (कुब्जा) बोली—'श्यामसुन्दर ! मैं कंसकी प्रिय दासी हूँ । मेरा नाम त्रिवक्रा (कुब्जा) है । मैं राजा-के यहाँ चन्दन, अङ्गराग तैयार करनेका काम करती हूँ । मेरे तैयार किये हुए चन्दन और अङ्गराग भोजराज कंसको बहुत प्रिय हैं, परंतु आप दोनोंसे बढ़कर इस अङ्गरागका उत्तम पात्र मेरी दृष्टिमें दूसरा कोई नहीं है' ।

भगवान्‌के सौन्दर्य-माधुर्यको देखकर कुब्जा मुग्ध हो गयी। उसने दोनों भाइयोंको वह सुन्दर और गाढ़ा अङ्गराग दे दिया । तब भगवान्‌ने अपने साँवले शरीरपर पीले रंगका और बलरामजीने अपने गोरे शरीरपर लाल रंगका अङ्गराग लगाया । नाभिसे ऊपरके भागमें अनुरञ्जित हो वे अत्यन्त शोभा पाने लगे । भगवान् श्रीकृष्ण कुब्जापर बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने अपने चरणोंसे कुब्जाके दोनों पैर दबा लिये और हाथ ऊँचा करके दो अंगुलियाँ उसकी ठोढ़ीमें लगायीं तथा उसके शरीरको तनिक उचका दिया । उचकाते ही उसके सारे अङ्ग सीधे और समान हो गये । प्रेम तथा मुक्तिके दाता भगवान्‌के स्पर्शसे वह तत्काल एक उत्तम सुन्दरी युवती बन गयी । उसी क्षण कुब्जा रूप, गुण और उदारतासे सम्पन्न हो गयी । उसके मनमें भगवान्‌से मिलनकी कामना जाग उठी । भगवान्‌ने उसकी मनोरथ-पूर्तिके लिये आश्वासन दे विदा किया । तदनन्तर जब भगवान् नगरके मुख्य बाजारमें पहुँचे तो व्यापारियोंने भी उनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया ।

इसके बाद पुरवासियोंसे धनुष-यज्ञका स्थान पूछकर भगवान् साथियोंके साथ रंगशालामें पहुँचे । वहाँ एक विशाल धनुष रक्खा गया था । भगवान्‌ने रक्षकोंके रोकनेपर भी उसे उठाकर चढ़ाया और तुरंत बीचसे उसके दो टुकड़े कर डाले । उसके टूटनेकी आवाजसे आकाश, पृथ्वी और सारी दिशाएँ गूँज उठीं । उसे सुनकर कंस भी थर्रा उठा । धनुष-के रक्षक आततायी असुर भगवान्‌पर टूट पड़े, परंतु उन दोनों बन्धुओंने धनुषके उन दोनों टुकड़ोंसे ही उन सबका संहार कर डाला तथा उनकी सहायताके लिये कंसद्वारा भेजी गयी सेनाका भी काम तमाम कर दिया । शामको डेरेपर आकर ग्वालबालोंसहित वे दोनों बन्धु भोजन करके सोये ।

दूसरे दिन कंसने मल्ल-क्रीड़ाका महोत्सव प्रारम्भ कराया। रंगभूमि सजायी गयी, बाजे बजने लगे, नगर और जनपदके निवासी यथास्थान आकर बैठ गये। राजालोग अपने नियत स्थानोंपर आ विराजे। कंसराज सिंहासनपर आसीन हुआ। पहलवान लोग खूब सज-धजकर अपने उस्तादोंके साथ अखाड़ेके समीप आ डटे। उनमें प्रधान थे चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल और तोशल आदि। भोजराजद्वारा बुलाये गये नन्द आदि गोप भी भेंट देकर एक मञ्चपर बैठ गये। तदनन्तर श्रीकृष्ण और बलराम भी नहा-धोकर नगाड़ेकी आवाज सुन रंगभूमि देखनेके लिये आये। रंगद्वारपर महावत-की प्रेरणासे कुवलयापीड हाथी खड़ा था। भगवान्‌ने मेघ-गर्जनाके समान गम्भीर वाणीद्वारा उस महावतसे कहा—

अम्बष्ठाम्बष्ठ मार्गं नौ देह्यपक्राम मा चिरम्।
नो चेत् सकुञ्जरं त्वाद्य नयामि यमसादनम्॥

(श्रीमद्भागवत १०। ४३। ४)

'महावत! ओ महावत! हम दोनोंको रास्ता दे दे। हमारे मार्गसे हट जा। अरे, सुनता नहीं? देर मत कर। नहीं तो, मैं हाथीके साथ अभी तुझे यमराजके घर पहुँचाता हूँ।'

भगवान्‌के इस प्रकार धमकानेपर कुपित हुए महावतने कालके समान भयंकर कुवलयापीडको अङ्कुशकी मारसे क्रुद्ध करके श्रीकृष्णकी ओर बढ़ाया। कुवलयापीडने भगवान्‌की ओर झपटकर उन्हें बड़ी तेजीसे सूँड़में लपेट लिया; परंतु भगवान् सूँड़से बाहर सरक आये और उसे एक घूँसा जमाकर उसके पैरोंमें जा छिपे। हाथीने सूँघकर भगवान्‌को अपनी सूँड़से टटोला और पकड़ा; परंतु उन्होंने बलपूर्वक अपनेको उससे छुड़ा लिया। कुछ देरतक उसके साथ खिलवाड़ करनेके पश्चात् भगवान्‌ने उसकी सूँड़ पकड़कर उसे धरतीपर पटक दिया और पैरोंसे दबाकर उसके दाँत उखाड़ लिये। उन दाँतोंसे ही मारकर उन्होंने हाथी और महावतोंका काम तमाम कर दिया। तदनन्तर दोनों भाई श्रीकृष्ण और बलराम एक-एक हाथमें हाथीके दाँत लिये ग्वालबालोंके साथ रंगशालामें प्रविष्ट हुए। उस समय वे पहलवानोंको वज्रके समान कठोर, साधारण लोगोंको नरश्रेष्ठ, स्त्रियोंको मूर्तिमान् कामदेव, गोपोंको स्वजन, दुष्ट राजाओंको दण्डदाता शासक, माता-पिताके तुल्य वात्सल्यभाव रखनेवालोंको शिशु, कंसको मृत्यु, अज्ञानियोंको विराट्, योगियोंको परम तत्त्व और भक्तशिरोमणि वृष्णिवंशियोंको इष्टदेव जान पड़े।

कंस उन्हें देखकर उद्विग्न हो उठा, नागरिक और राष्ट्रके जनसमुदाय इतने प्रसन्न हुए कि उनके नेत्र और मुख-कमल खिल उठे। वे नयनोंद्वारा उनकी मुख-माधुरीका पान करते-करते अघाते नहीं थे। इसी समय चाणूरने श्रीकृष्ण और बलरामको सम्बोधित करके कहा—'तुम दोनों वीरोंके आदरणीय हो। आओ, हम और तुम मिलकर महाराजको प्रसन्न करनेके लिये कुश्ती लड़ें।' भगवान्‌ने उसकी बातका अनुमोदन करते हुए देश-कालके अनुसार यह बात कही।

मल्लयुद्ध समान बलवालोंमें होना चाहिये

प्रजा भोजपतेरस्य वयं चापि वनेचराः।
करवाम प्रियं नित्यं तन्नः परमनुग्रहः॥
बाला वयं तुल्यबलैः क्रीडिष्यामो यथोचितम्।
भवेन्नियुद्धं माधर्मः स्पृशेन्मल्ल सभासदः॥

(श्रीमद्भागवत १०। ४३। ३७-३८)

'चाणूर! हम भी इन भोजराज कंसकी वनवासी प्रजा हैं। हमें इनको प्रसन्न करनेका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये। इसीमें हमारा कल्याण है; किंतु चाणूर! हमलोग अभी बालक हैं। इसलिये हम अपने समान बलवाले बालकोंके साथ ही कुश्ती लड़नेका खेल करेंगे। कुश्ती समान बलवालोंके साथ ही होनी चाहिये, जिससे देखनेवाले सभासदोंको अन्यायके समर्थक होनेका पाप न लगे।'

चाणूरने कहा—अजी! तुम और बलराम न बालक हो और न तो किशोर। तुम दोनों बलवानोंमें श्रेष्ठ हो, तुमने अभी-अभी हजार हाथियोंका बल रखनेवाले कुवलयापीडको खेल-ही-खेलमें मार डाला; इसलिये तुम दोनोंको हम-जैसे बलवानोंके साथ ही लड़ना चाहिये। इसमें अन्यायकी कोई बात नहीं है। इसलिये श्रीकृष्ण! तुम मुझपर अपना जोर आजमाओ और बलरामके साथ मुष्टिक लड़ेगा।

उपर्युक्त निश्चयके अनुसार जोड़ बद दिये जानेपर

श्रीकृष्ण चाणूरसे और बलराम मुष्टिकसे जा भिड़े। वे एक दूसरेको जीतनेकी इच्छासे हाथोंमें हाथ और पैरोंमें पैर अड़ाकर बलपूर्वक अपनी-अपनी ओर खींचने लगे। पंजोंसे पंजे, घुटनोंसे घुटने, माथेसे माथा और छातीसे छाती भिड़ाकर वे एक-दूसरेपर चोट करने लगे। दर्शकोंमें जो स्त्रियाँ और पुरुष बैठे थे, उन सबको ये जोड़ खटकने लगे। पर्वताकार दैत्योंसे सुकुमार बालकोंको लड़ाना उन्हें अन्याय प्रतीत हुआ। वे अनेक प्रकारकी बातें कहकर अपना विरोध प्रकट करने लगे। इसी समय अनेक दाँव-पेंच देखने-दिखानेके बाद चाणूरने श्रीकृष्णकी छातीपर एक घूसा मारा। तब श्रीकृष्णने उसकी दोनों बाहें पकड़ लीं और उसे अन्तरिक्षमें बड़े वेगसे अनेक बार घुमाकर पृथ्वीपर पटक दिया। चाणूरका शरीर चूर-चूर हो गया और उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। यही दशा मुष्टिक, कूट, शल और तोशल-की भी हुई। इन पाँचोंके धराशायी होते ही शेष पहलवान प्राण बचानेके लिये भाग खड़े हुए। मल्लयुद्धका यह परिणाम देख दर्शकोंको बड़ा आनन्द हुआ। वे धन्य-धन्य कहने लगे। इससे कंसको बड़ा दुःख हुआ और रोष भी। उसने बाजे बंद करा दिये और सेवकोंको आज्ञा दी—'श्रीकृष्ण और बलरामको नगरसे बाहर निकाल दो। गोपोंके धन छीन लो। नन्दको कैद कर लो। वसुदेव और उग्रसेनको भी मार डालो।' कंसको इस प्रकार बड़बड़ाते देख भगवान् श्रीकृष्ण उछलकर मञ्चपर चढ़ गये। कंसने भी ढाल-तलवार उठा ली और दायें-बायें पैंतरे देने लगा। इसी समय कंसका मुकुट गिरा और भगवान्‌ने उसके केश पकड़कर उसे मञ्चसे नीचे गिरा दिया। फिर सारे विश्वका भार लेकर स्वयं भी उसके ऊपर कूद पड़े। कंसकी तत्काल मृत्यु हो गयी। चारों ओर हाहाकार मच गया। द्वेषभावसे चक्रधारी श्रीकृष्ण-का नित्य चिन्तन करनेके कारण उसे भगवान्‌की सारूप्य मुक्ति प्राप्त हुई।

माता-पिताके प्रति पुत्रके कर्तव्यका निर्देश, श्रीकृष्ण-बलरामके उपनयन और गुरुकुल-प्रवेश, विद्याध्ययन तथा गुरुदक्षिणाके रूपमें उनके द्वारा मरे हुए गुरु-पुत्रको यमलोकसे लाकर गुरुकी सेवामें अर्पण

भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि माता-पिताको मेरे ऐश्वर्य-का, मेरे भगवद्भावका ज्ञान हो गया है। परंतु इन्हें ऐसा ज्ञान होना ठीक नहीं, (इससे तो ये पुत्र-स्नेहका सुख नहीं पा सकेंगे—) ऐसा सोचकर उन्होंने उनपर अपनी वह योगमाया फैला दी, जो उनके स्वजनोंको मुग्ध रखकर उनकी लीलामें सहायक होती है। यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण बड़े भाई बलरामजीके साथ अपने माँ-बापके पास जाकर आदरपूर्वक और विनयसे झुककर कहने लगे।

माता-पिता-सेवाकी महिमा तथा पत्नी, संतान, गुरु, ब्राह्मण एवं शरणागत आदिका भरण-पोषण न करनेवालेका जीवन मुर्देके समान

नासत्तो युवयोस्तात नित्योत्कण्ठितयोरपि।
बाल्यपौगण्डकैशोराः पुत्राभ्यामभवन् क्वचित्॥
न लब्धो दैवहतयोर्वासो नौ भवदन्तिके।
यां बालाः पितृगेहस्था विन्दन्ते लालिता मुदम्॥
सर्वार्थसम्भवो देहो जनितः पोषितो यतः।
न तयोर्याति निर्वेशं पित्रोर्मर्त्यः शतायुषा॥

यस्तयोरात्मजः कल्प आत्मना च धनेन च ।
वृत्तिं न दद्यात्तं प्रेत्य स्वमांसं खादयन्ति हि ॥
मातरं पितरं वृद्धं भार्यां साध्वीं सुतं शिशुम् ।
गुरुं विप्रं प्रपन्नं च कल्पोऽबिभ्रच्छ्वसन् मृतः ॥
तन्नावकल्पयोः कंसान्नित्यमुद्विग्नचेतसोः ।
मोघमेते व्यतिक्रान्ता दिवसा वामनर्चतोः ॥
तत् क्षन्तुमर्हथस्तात मातर्नौ परतन्त्रयोः ।
अकुर्वतोर्वां शुश्रूषां क्लिष्टयोर्दुर्हृदा भृशम् ॥

(श्रीमद्भागवत १० । ४५ । ३–९)

'पिताजी ! माताजी ! हम आपके पुत्र हैं और आप हमारे लिये सर्वदा उत्कण्ठित रहे हैं, फिर भी आप हमारे बाल्य, पौगण्ड और किशोर अवस्थाका सुख हमसे नहीं पा सके । दुर्दैववश हमलोगोंको आपके पास रहनेका सौभाग्य ही नहीं मिला । इसीसे बालकोंको माता-पिताके घरमें रहकर जो लाड़-प्यारका सुख मिलता है, वह हमें भी नहीं मिल सका । पिता और माता ही इस शरीरको जन्म देते हैं और इसका लालन-पालन करते हैं । तब कहीं जाकर यह शरीर धर्म, अर्थ, काम अथवा मोक्षकी प्राप्तिका साधन बनता है । यदि कोई मनुष्य सौ वर्षतक जीकर माता और पिताकी सेवा करता रहे, तब भी वह उनके उपकारसे उऋण नहीं हो सकता । जो पुत्र सामर्थ्य रहते भी अपने माँ-बापकी शरीर और धनसे सेवा नहीं करता, उसके मरनेपर यमदूत उसे उसके अपने शरीरका मांस खिलाते हैं । जो पुरुष समर्थ होकर भी बूढ़े माता-पिता, सती पत्नी, बालक-संतान, गुरु, ब्राह्मण और शरणागतका भरण-पोषण नहीं करता वह जीता हुआ भी मुर्देके समान ही है । पिताजी ! हमारे इतने दिन व्यर्थ ही बीत गये; क्योंकि कंसके भय-से सदा उद्विग्नचित्त रहनेके कारण हम आपकी सेवा करनेमें असमर्थ रहे । मेरी माँ और मेरे पिताजी ! आप दोनों हमें क्षमा करें । हाय ! दुष्ट कंसने आपको इतने-इतने कष्ट दिये, परंतु हम परतन्त्र रहनेके कारण आप-की कोई सेवा-शुश्रूषा न कर सके' ।

अपनी लीलासे मनुष्य बने हुए विश्वात्मा श्रीहरिकी इस वाणीसे मोहित हो देवकी-वसुदेवने उन्हें गोदमें उठा लिया और हृदयसे चिपकाकर परमानन्द प्राप्त किया । वे स्नेह-पाश-से बँधकर पूर्णतः मोहित हो गये और आँसुओंकी धारासे उनका अभिषेक करने लगे । यहाँतक कि आँसुओंके कारण गला रुँध जानेसे वे कुछ बोल भी न सके ।

देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार अपने माता-पिताको सान्त्वना देकर अपने नाना उग्रसेनको यदुवंशियोंका राजा बना दिया । फिर उनसे कहा—

आह चास्मान् महाराज प्रजाश्चाज्ञप्तुमर्हसि ।
ययातिशापाद् यदुभिर्नासितव्यं नृपासने ॥
मयि भृत्य उपासीने भवतो विबुधादयः ।
बलिं हरन्त्यवनताः किमुतान्ये नराधिपाः ॥

(श्रीमद्भागवत १० । ४५ । १३-१४)

'महाराज ! हम आपकी प्रजा हैं । आप हमलोगोंपर शासन कीजिये । राजा ययातिका शाप होनेके कारण यदुवंशी राजसिंहासनपर नहीं बैठ सकते; (परंतु मेरी ऐसी ही इच्छा है, इसलिये आपको कोई दोष न होगा)।' जब मैं सेवक बनकर आपकी सेवा करता रहूँगा, तब बड़े-बड़े देवता भी सिर झुकाकर आपको भेंट देंगे । दूसरे नरपतियोंके बारेमें तो कहना ही क्या है ।'

भगवान् श्रीकृष्ण ही सारे विश्वके विधाता हैं। उन्होंने, जो कंसके भयसे व्याकुल होकर इधर-उधर भाग गये थे, उन यदु, वृष्णि, अन्धक, मधु, दाशार्ह और कुकुर आदि वंशोंमें उत्पन्न समस्त सजातीय सम्बन्धियोंको ढूँढ़-ढूँढ़कर बुलवाया। उन्हें घरसे बाहर रहनेमें बड़ा क्लेश उठाना पड़ा था। भगवान्‌ने उनका सत्कार किया, सान्त्वना दी और उन्हें खूब धन-सम्पत्ति देकर तृप्त किया तथा अपने-अपने घरोंमें बसा दिया।

अब देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी दोनों ही नन्दबाबाके पास आये और गले लगनेके बाद उनसे कहने लगे।
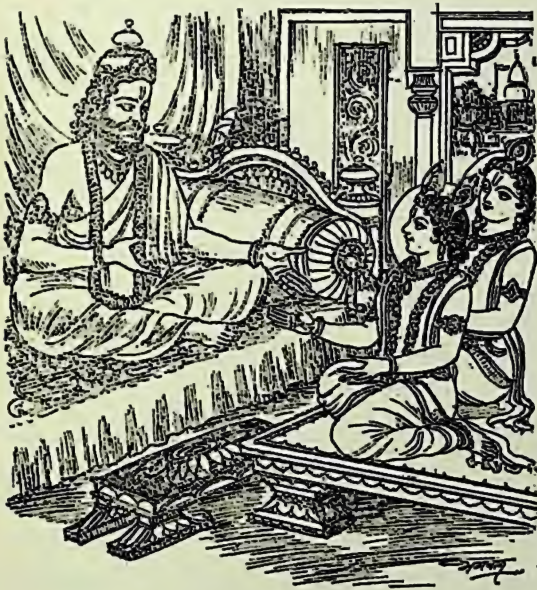
स्वजनोंके द्वारा परित्यक्त बालकोंको पालनेवाले ही उनके माता-पिता हैं

पितर्युवाभ्यां स्निग्धाभ्यां पोषितौ लालितौ भृशम्।
पित्रोरभ्यधिका प्रीतिरात्मजेष्वात्मनोऽपि हि॥
स पिता सा च जननी यौ पुष्णीतां स्वपुत्रवत्।
शिशून् बन्धुभिरुत्सृष्टानकल्पैः पोषरक्षणे॥
यात यूयं व्रजं तात वयं च स्नेहदुःखितान्।
ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम्॥

(श्रीमद्भागवत १०। ४५। २१–२३)

'पिताजी! आपने और मैया यशोदाने बड़े स्नेह और दुलारसे हमारा लालन-पालन किया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि माता-पिता संतानपर अपने शरीरसे भी अधिक स्नेह करते हैं। जिन्हें पालन-पोषण न कर सकनेके कारण स्वजन-सम्बन्धियोंने त्याग दिया है, उन बालकोंको जो लोग अपने पुत्रके समान लाड़-प्यारसे पालते हैं, वे ही वास्तवमें उनके माँ-बाप हैं। पिताजी! अब आपलोग व्रजमें जाइये। इसमें संदेह नहीं कि हमारे बिना वात्सल्य-स्नेहके कारण आपलोगोंको बहुत दुःख होगा। यहाँके सुहृद्-सम्बन्धियोंको सुखी करके हम आपलोगोंसे मिलनेके लिये आयेंगे।'

भगवान् श्रीकृष्णने नन्दबाबा और दूसरे व्रजवासियोंको इस प्रकार समझा-बुझाकर बड़े आदरके साथ वस्त्र, आभूषण और अनेक धातुओंके बने बरतन आदि देकर उनका सत्कार किया। भगवान्‌की बात सुनकर नन्दबाबाने प्रेमसे अधीर होकर दोनों भाइयोंको गले लगा लिया और फिर नेत्रोंमें आँसू भरकर गोपोंके साथ व्रजके लिये प्रस्थान किया। इसके बाद वसुदेवजीने अपने पुरोहित गर्गाचार्य तथा दूसरे ब्राह्मणोंसे दोनों पुत्रोंका विधिपूर्वक द्विजाति-समुचित यज्ञोपवीत-संस्कार करवाया।

अब वे दोनों गुरुकुलमें निवास करनेकी इच्छासे काश्यप-गोत्रीय सान्दीपनि मुनिके पास गये, जो अवन्तीपुर (उज्जैन) में रहते थे। वे दोनों भाई विधिपूर्वक गुरुजीके पास रहने लगे। उस समय वे बड़े ही सुसंयत थे तथा अपनी चेष्टाओंको सर्वथा नियमित रक्खे हुए थे। गुरुजी तो उनका आदर करते ही थे, भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी भी गुरुकी उत्तम सेवा कैसे करनी-चाहिये, इसका आदर्श लोगोंके सामने रखते हुए बड़ी भक्तिसे इष्टदेवके समान उनकी सेवा करने लगे। गुरुवर सान्दीपनिजी उनकी शुद्धभावसे युक्त सेवासे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने दोनों भाइयोंको छहों अङ्ग और उपनिषदोंके सहित सम्पूर्ण वेदोंकी शिक्षा दी। इनके सिवा मन्त्र और देवताओंके ज्ञानके साथ धनुर्वेद, मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र, मीमांसा आदि वेदोंका तात्पर्य बतलानेवाले शास्त्र, तर्कविद्या (न्यायशास्त्र) आदिकी भी शिक्षा दी। साथ ही संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध और आश्रय—इन छः भेदोंसे युक्त राजनीतिका भी अध्ययन कराया। भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम सारी विद्याओंके प्रवर्तक हैं। इस समय केवल श्रेष्ठ मनुष्यका-सा व्यवहार करते हुए ही वे अध्ययन कर

रहे थे । उन्होंने गुरुजीके केवल एक बार कहने मात्रसे सारी विद्याएँ सीख लीं । केवल चौंसठ दिन-रातमें ही संयमीशिरोमणि दोनों भाइयोंने चौंसठों कलाओंका ज्ञान प्राप्त कर लिया । इस प्रकार अध्ययन समाप्त होनेपर उन्होंने सान्दीपनि मुनिसे प्रार्थना की कि 'आपकी जो इच्छा हो, गुरु-दक्षिणा माँग लें ।' सान्दीपनि मुनिने उनकी अद्भुत महिमा और अलौकिक बुद्धिका अनुभव कर लिया था, इसलिये उन्होंने अपनी पत्नीसे सलाह करके यह गुरुदक्षिणा माँगी कि 'प्रभासक्षेत्रमें हमारा बालक समुद्रमें डूबकर मर गया था, उसे तुमलोग ला दो ।' बलरामजी और श्रीकृष्णका पराक्रम अनन्त था । दोनों ही महारथी थे । उन्होंने 'बहुत अच्छा' कहकर गुरुजीकी आज्ञा स्वीकार की और रथपर सवार होकर प्रभासक्षेत्रमें गये । वे समुद्रतटपर जाकर क्षणभर बैठे रहे । उस समय यह जानकर कि ये साक्षात् परमेश्वर हैं, अनेक प्रकारकी पूजा-सामग्री लेकर समुद्र उनके सामने उपस्थित हुआ । भगवान्ने समुद्रसे कहा—'समुद्र ! तुम यहाँ अपनी बड़ी-बड़ी तरङ्गोंसे हमारे जिस गुरुपुत्रको बहा ले गये थे, उसे लाकर शीघ्र हमें दो ।'

मनुष्यवेषधारी समुद्रने कहा—'देवाधिदेव श्रीकृष्ण ! मैंने उस बालकको नहीं लिया है । मेरे जलमें पञ्चजन नामका एक बड़ा भारी दैत्य जातिका असुर शङ्खके रूपमें रहता है । अवश्य ही उसीने वह बालक चुरा लिया होगा ।' समुद्रकी बात सुनकर भगवान् तुरंत ही जलमें जा घुसे और उन्होंने शङ्खासुरको मार डाला । परंतु वह बालक उसके पेटमें नहीं मिला । तब उसके शरीरका शङ्ख लेकर भगवान् रथपर चले आये । वहाँसे बलरामजीके साथ श्रीकृष्णने यमराजकी प्रिय पुरी संयमनीमें जाकर अपना शङ्ख बजाया । शङ्खका शब्द सुनकर सारी प्रजाका शासन करनेवाले यमराजने उनका स्वागत किया और भक्तिभावसे भरकर विधिपूर्वक उनकी पूजा की । फिर नम्रतासे झुककर कहा—'परमेश्वर ! मैं आप दोनोंकी क्या सेवा करूँ ?'

यमराजपर भी भगवान्का शासन

श्रीकृष्णने कहा—

गुरुपुत्रमिहानीतं निजकर्मनिबन्धनम् ।
आनयस्व महाराज मच्छासनपुरस्कृतः ॥

(श्रीमद्भागवत १० । ४५ । ४५)

'यमराज ! यहाँ अपने कर्म-बन्धनसे बँधा हुआ मेरा गुरुपुत्र लाया गया है । तुम मेरी आज्ञा स्वीकार करो और उसके कर्मपर ध्यान न देकर उसे मेरे पास ले आओ ।'

'जो आज्ञा' कहकर यमराजने उनका गुरुपुत्र ला दिया। श्रीकृष्ण और बलराम उस बालकको लेकर उज्जैन लौट आये तथा उसे अपने गुरुदेवको सौंपकर बोले—'आप और जो कुछ चाहें, माँग लें ।'

गुरुजीने कहा—'वत्स ! तुम दोनोंने भलीभाँति गुरुदक्षिणा चुका दी । अब और क्या चाहिये ? जो तुम-जैसे पुरुषोत्तमोंका गुरु है, उसका कौन-सा मनोरथ अपूर्ण रह सकता है ? वीरो ! अब तुम दोनों अपने घर जाओ । तुम्हें लोकपावन कीर्ति प्राप्त हो । तुम्हारी विद्या इहलोक और परलोकमें भी सदा नवीन बनी रहे । कभी विस्मृत न हो ।'

गुरुकी आज्ञा पा वे दोनों भाई तीव्रगामी रथद्वारा मथुरा लौट आये । उन्हें आया देख स्वजन, परिजन और पुरजन सब-के-सब—परमानन्दमें निमग्न हो गये, मानो उन्हें खोया हुआ धन मिल गया हो ।

उद्धवकी व्रजयात्रा, गोपसुन्दरियों तथा श्रीराधासे उनकी भेंट एवं बातचीत, श्यामसुन्दरका संदेश सुनाना और कई मासके बाद उनका पुनः व्रजमें लौटना

उधर श्रीकृष्ण-विरहमें व्रजगोपियोंकी दयनीय दशा थी । किशोरी श्रीराधाका हृदय वियोग-दावानलसे दग्ध हो रहा था । कितनी बार व्याकुलता यहाँतक बढ़ जाती कि प्रतीत होता मानो किशोरीके प्राण अब सचमुच नहीं रहेंगे । परंतु 'आयास्ये'—'प्रिये ! मैं आऊँगा'—श्रीकृष्णचन्द्रजीका यह संदेश इतना सुदृढ़ बन्धन था कि प्राण उसे तोड़ नहीं पाते थे ।

इधर श्रीकृष्णचन्द्रजीके प्राणोंमें भी कम पीड़ा नहीं है । कंसका निधन भी हो चुका है । परंतु कुछ ऐसी विवशता है, जिससे वे स्वयं व्रजमें जा नहीं सकते; इसलिये उन्होंने

अपने प्रिय सखा उद्धवको भानुनन्दिनीका, व्रजसुन्दरियोंका एवं नन्द-दम्पतिका समाचार लानेके लिये वहाँ भेजनेका विचार किया। उद्धवजीका हाथ अपने हाथमें ले शरणागतदुःख-भञ्जन भगवान् श्यामसुन्दर इस प्रकार बोले—

नन्दबाबा, यशोदा तथा श्रीगोपियोंके प्रेमकी महिमा

गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह ।
गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्संदेशैर्विमोचय ॥
ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः ।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम् ॥
मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः ।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः ॥
धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथंचन ।
प्रत्यागमनसंदेशैर्वल्लव्यो मे मदात्मिकाः ॥

(श्रीमद्भागवत १० । ४६ । ३—६)

'सौम्य-स्वभाव उद्धव ! तुम व्रजमें जाओ। वहाँ मेरे माता-पिता नन्दबाबा और यशोदा मैया हैं, उन्हें आनन्दित करो; और गोपियाँ मेरे विरहकी व्याधिसे बहुत ही दुखी हो रही हैं, उन्हें मेरे संदेश सुनाकर उस वेदनासे मुक्त करो । प्यारे उद्धव ! गोपियोंका मन नित्य-निरन्तर मुझमें ही लगा रहता है । उनके प्राण, उनका जीवन, उनका सर्वस्व मैं ही हूँ । मेरे लिये उन्होंने अपने पति-पुत्र आदि सभी सगे-सम्बन्धियों-को छोड़ दिया है। उन्होंने बुद्धिसे भी मुझको ही अपना प्यारा, अपना प्रियतम—नहीं, नहीं, अपना आत्मा मान रक्खा है । मेरा यह व्रत है कि जो लोग मेरे लिये लौकिक और पारलौकिक धर्मोंको छोड़ देते हैं, उनका भरण-पोषण मैं स्वयं करता हूँ । प्रिय उद्धव ! मैं उन गोपियोंका परम प्रियतम हूँ । मेरे यहाँ चले आनेसे वे मुझे दूरस्थ मानती हैं और मेरा स्मरण करके अत्यन्त मोहित हो रही हैं, बार-बार मूर्च्छित हो जाती हैं । वे मेरे विरहकी व्यथासे विह्वल हो रही हैं, प्रतिक्षण मेरे लिये उत्कण्ठित रहती हैं । मेरी गोपियाँ, मेरी प्रेयसियाँ इस समय बड़े ही कष्ट और यत्नसे अपने प्राणोंको किसी प्रकार रख रही हैं । मैंने उनसे कहा था कि 'मैं आऊँगा ।' यही उनके जीवनका आधार है । उद्धव ! और तो क्या कहूँ, मैं ही उनकी आत्मा हूँ । वे नित्य-निरन्तर मुझमें ही तन्मय रहती हैं ।'

उद्धव व्रजमें आते हैं । पहले नन्द-दम्पतिसे मिलते हैं । उन्हें सान्त्वना देने जाते हैं; पर दे नहीं पाते । फिर व्रज-सुन्दरियोंसे उनका मिलन होता है । इनके प्रेमकी धारामें तो उद्धवका सारा ज्ञान बह जाता है । अन्तमें उद्धव भानुनन्दिनीके समीप आये । भानुनन्दिनी दूसरे राज्यमें थीं । वहाँसे उतरकर उद्धवसे मिलीं । पर उसी क्षण उनका मोहन महाभाव उद्वेलित हो उठा । उद्वेलित होकर दिव्योन्मादके रूपमें परिणत हो गया । उसी समय संयोगसे उड़ता हुआ एक भ्रमर भानुकिशोरीके दृष्टिपथमें आ जाता है । भानुकिशोरी ऐसा अनुभव करती हैं—मेरे प्रियतमने इस भ्रमरको दूत बनाकर भेजा है, मुझे यह मनाने आया है । बस, फिर तो किशोरीका वह दिव्योन्माद हिलोरें लेने लगता है; क्रमशः उसमें दस लहरें उठती हैं तथा भानुकिशोरीके श्रीमुखद्वारसे चित्रजल्पके रूपमें बाहरकी ओर प्रवाहित होने लगती हैं ।

पहले प्रजल्पकी लहर आयी; श्रीराधाकिशोरी बोलीं—'रे कितवबन्धु मधुप ! तू मेरे चरणोंका स्पर्श मत कर ।' भौंरा

भानुकिशोरीके चरणोंके समीप उड़ रहा था। भानुकिशोरीने अपने चरण हटा लिये।

दूसरी लहर आयी परिजल्पकी। किशोरीने कहा—'भ्रमर! तेरे स्वामीने केवल एक बार अपनी मोहिनी अधर-सुधाका पान कराया और फिर निर्दय होकर यहाँसे चले गये, जैसे तू पुष्पोंका रस लेकर उड़ जाता है।'

अब विजल्पकी लहर नाचने लगी। किशोरी कह रही थीं—'रे मिलिन्द! यदुकुलशिरोमणिका गुणगान यहाँ क्यों कर रहा है; जा, उड़ जा, मधुपुरकी सुन्दरियोंके सामने किया कर; वे अभी उन्हें नहीं जानतीं।'

चौथी उज्जल्पकी लहर भानुदुलारीकी वाणीमें बह रही थी—'ऐ भृङ्ग! तू मुझे क्यों भुलाने आया है कि श्रीकृष्ण मेरे लिये व्याकुल हैं? बावले! स्वर्गमें, पातालमें, पृथ्वीपर ऐसी कौन है, जो उनपर मोहित होकर न्योछावर न हो जाय; लक्ष्मी भी उनकी उपासना करती हैं फिर मेरी-जैसीको वे क्यों चाहेंगे?'

अब संजल्पकी पाँचवीं तरङ्ग बाहर आयी—'रे मधुकर! मेरे चरणोंको अपने सिरपर क्यों रख रहा है? हटा दे, ऐसा अनुनय-विनय मैं बहुत देख चुकी हूँ; जिनके लिये सब कुछ छोड़ा, वे छोड़कर चले जायँ। अब उनपर क्या विश्वास करें?'

छठी अवजल्पकी लहरी नृत्य कर उठी—'रे भौंरे! आजसे नहीं, मैं उन्हें बहुत पहलेसे जानती हूँ, उनकी निष्ठुरताका परिचय मुझे है। रामरूपमें छिपकर बालिका वध किया; शूर्पणखाका रूप नष्ट कर दिया; दानवेन्द्र बलिसे छल किया। मुझे किसी भी काली वस्तुसे प्रयोजन नहीं""पर उनकी चर्चा तो मैं नहीं छोड़ सकूँगी।'

अब सातवीं अभिजल्पकी तरङ्ग आती है—'रे मधुप! देख, जो एक बार भी उनके लीलापीयूषका एक कण पी लेता है, उसके सारे द्वन्द्व मिट जाते हैं; बहुत-से तो अपना घर-बार स्वाहा कर बाहर चले जाते हैं, भिक्षासे पेट भरते हैं, पर लीलाश्रवण नहीं छोड़ पाते।'

इसके पश्चात् आठवीं आजल्पकी लहरी आयी—'रे अलि! हरिणी व्याधके सुमधुर गानपर विश्वास कर अपना प्राण खो देती है, हम सब भी उनकी मधुभरी बातोंमें भूल गयीं, आज उसीका परिणाम भोग रही हैं। उनकी बात जाने दे, कुछ दूसरी बात कह।'

अनन्तर प्रतिजल्पकी तरङ्ग ऊपर उठी, भानुदुलारी बोलीं—'मधुकर! मेरे प्रियतमके प्यारे सखा! क्या मेरे प्राणनाथने तुम्हें यहाँ भेजा है? तब तो मेरे पूज्य हो। तुम्हें कुछ चाहिये क्या? जो चाहो सो माँग लो। मैं वही दे दूँगी। प्यारे भ्रमर! क्या मुझे वहाँ ले चलोगे?'

अब अन्तमें किशोरीके स्वरमें दीनता आ जाती है। उत्कण्ठाका भी समावेश हो जाता है तथा दसवीं सुजल्पकी लहरी होठोंसे बह चलती है। किशोरी कहने लगती हैं—'प्यारे भ्रमर! आर्यपुत्र श्रीकृष्णचन्द्र मधुपुरीमें सुखसे तो हैं न? क्या वे हम दासियोंकी कभी चर्चा भी करते हैं? ओह! वह दिन कब आयेगा, जब श्रीकृष्णचन्द्र दिव्य सुगन्धपूर्ण अपना हस्तकमल हमारे सिरपर रक्खेंगे!*'

---

* प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्रके किसी सुहृद्से मिलन होकर गूढ़ रोषके कारण अनेक भावोंसे युक्त जो वचन बोलना है, उसे चित्रजल्प कहते हैं। प्रजल्प आदि इसी चित्रजल्पके भेद हैं। इन दसोंके क्रमशः ये उदाहरण श्रीमद्भागवतमें मिलते हैं—

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः
कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः।
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं
यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक्॥
सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक्।
परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा
ह्यपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः॥
किमिह बहु षडङ्घ्रे गायसि त्वं यदूना-
मधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम्।
विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः
क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः॥
दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः
कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भस्य याः स्युः।
चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का
अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः॥
विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारै-
रनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात्।
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका
व्यसृजदकृतचेताः किं नु संधेयमस्मिन्॥

यों कहकर श्रीराधाकिशोरी मौन हो गयीं। महाभावके इस महावैभवको देखकर उद्धव कुछ देर तो आनन्द-जड हुए निश्चल खड़े रहे तथा जब शरीरमें शक्ति आयी तो भानुकिशोरीके चरणोंमें लोट गये। भानुकिशोरीकी छाया पड़नेसे उद्धवका अणु-अणु रससे पूर्ण हो गया। तदनन्तर वे किशोरीको उनके प्रियतमका ज्ञानसंदेश सुनाते हुए बोले—देवि! श्यामसुन्दर कहते हैं—

प्रेमास्पदसे दूर रहनेपर उनकी नित्य और प्रगाढ़ स्मृति होती है

भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित्।
यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही।
तथाहं च मनःप्राणभूतेन्द्रियगुणाश्रयः॥
आत्मन्येवात्मनाऽऽत्मानं सृजे हन्म्यनुपालये।
आत्ममायानुभावेन भूतेन्द्रियगुणात्मना॥

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद् ध्वाङ्क्षवद् य-
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः॥
यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्-
सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति॥
वयमृतमिव जिह्मव्याहृतं श्रद्दधानाः
कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः।
ददृशुरसकृदेतत्तन्नखस्पर्शतीव्र-
स्मररुज उपमन्त्रिन् भण्यतामन्यवार्ता॥
प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किं
वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग।
नयसि कथमिहास्मान् दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वं
सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते॥
अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते
स्मरति स पितृगेहान् सौम्य बन्धूंश्च गोपान्।
क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां गृणीते
भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु॥
(१०।४७।१२—२१)

आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो व्यतिरिक्तोऽगुणान्वयः।
सुषुप्तिस्वप्नजाग्रद्भिर्मायावृत्तिभिरीयते॥
येनेन्द्रियार्थान् ध्यायेत मृषा स्वप्नवदुत्थितः।
तन्निरुन्ध्यादिन्द्रियाणि विनिद्रः प्रत्यपद्यत॥
एतदन्तः समाम्नायो योगः सांख्यं मनीषिणाम्।
त्यागस्तपो दमः सत्यं समुद्रान्ता इवापगाः॥
यत् त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते प्रियो दृशाम्।
मनसः संनिकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया॥
यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्तते।
स्त्रीणां च न तथा चेतः संनिकृष्टेऽक्षिगोचरे॥
मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यत्।
अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ॥
या मया क्रीडता रात्र्यां वनेऽस्मिन् व्रज आस्थिताः।
अलब्धरासाः कल्याण्यो माऽऽपुर्मद्वीर्यचिन्तया॥
(श्रीमद्भागवत १०।४७।२९—३७)

'मैं सबका उपादानकारण होनेसे सबका आत्मा हूँ, सबमें अनुगत हूँ; इसलिये मुझसे कभी भी तुम्हारा वियोग नहीं हो सकता। जैसे संसारके सभी भौतिक पदार्थोंमें आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पाँचों भूत व्याप्त हैं, इन्हींसे सब वस्तुएँ बनी हैं और यही उन वस्तुओंके रूपमें हैं; वैसे ही मैं मन, प्राण, पञ्चभूत, इन्द्रिय और उनके विषयोंका आश्रय हूँ। वे मुझमें हैं, मैं उनमें हूँ। और सच पूछो तो मैं ही उनके रूपमें प्रकट हो रहा हूँ। मैं ही अपनी मायाके द्वारा भूत, इन्द्रिय और उनके विषयोंके रूपमें होकर उनका आश्रय बन जाता हूँ तथा स्वयं निमित्त भी बनकर अपने-आपको ही रचता हूँ, पालता हूँ और समेट लेता हूँ। आत्मा माया और मायाके कार्योंसे पृथक् है। वह विशुद्ध-ज्ञानस्वरूप, जड प्रकृति, अनेक जीव तथा अपने ही अवान्तर भेदोंसे रहित सर्वथा शुद्ध है। कोई भी गुण उसका स्पर्श नहीं कर पाते। मायाकी तीन वृत्तियाँ हैं—सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत्। इनके द्वारा वही अखण्ड,

अनन्त और बोधस्वरूप आत्मा कभी प्राज्ञ तो कभी तैजस और कभी विश्व-रूपसे प्रतीत होता है। मनुष्यको चाहिये कि वह समझे कि स्वप्नमें दीखनेवाले पदार्थोंके समान ही जाग्रत् अवस्थामें इन्द्रियोंके विषय भी प्रतीत हो रहे हैं, वे मिथ्या हैं। इसीलिये उन विषयोंका चिन्तन करनेवाले मन और इन्द्रियोंको रोक ले और मानो सोकर उठा हो, इस प्रकार जगत्के स्वाप्निक विषयोंको त्याग कर मेरा साक्षात्कार करे। जिस प्रकार सभी नदियाँ घूम-फिरकर समुद्रमें ही पहुँचती हैं, उसी प्रकार मनस्वी पुरुषोंका वेदाभ्यास, योग-साधन, आत्मानात्मविवेक, त्याग, तपस्या, इन्द्रियसंयम और सत्य आदि समस्त धर्म मेरी प्राप्तिमें ही समाप्त होते हैं। सबका सच्चा फल है मेरा साक्षात्कार; क्योंकि वे सब मनको निरुद्ध करके मेरे पास पहुँचाते हैं। गोपियो! इसमें संदेह नहीं कि मैं तुम्हारे नयनोंका ध्रुवतारा हूँ। तुम्हारा जीवन-सर्वस्व हूँ; किंतु मैं जो तुमसे इतना दूर रहता हूँ उसका कारण है। वह यही कि तुम निरन्तर मेरा ध्यान कर सको, शरीरसे दूर रहनेपर भी मनसे तुम मेरी संनिधिका अनुभव करो, अपना मन मेरे पास रक्खो; क्योंकि स्त्रियों और अन्यान्य प्रेमियोंका चित्त अपने परदेशी प्रियतममें जितना निश्चल-भावसे लगा रहता है, उतना आँखोंके सामने, पास रहनेवाले प्रियतममें नहीं लगता। अशेष वृत्तियोंसे रहित सम्पूर्ण मन मुझमें लगाकर जब तुमलोग मेरा अनुस्मरण करोगी, तब शीघ्र ही सदाके लिये मुझे प्राप्त हो जाओगी। कल्याणियो! जिस समय मैंने वृन्दावनमें शारदीय पूर्णिमाकी रात्रिमें रासक्रीड़ा की थी, उस समय जो गोपियाँ स्वजनोंके रोक लेनेसे व्रजमें ही रह गयीं—मेरे साथ रास-विहारमें सम्मिलित न हो सकीं, वे मेरी लीलाओंका स्मरण करनेसे ही मुझे प्राप्त हो गयी थीं। (तुम्हें भी मैं मिलूँगा अवश्य, निराश होनेकी कोई बात नहीं है।)'

प्राणवल्लभ श्यामसुन्दरका प्रिय संदेश सुनकर व्रज-सुन्दरियोंकी विरह-व्यथा कुछ शान्त हुई। उन्होंने उद्धवजीका बड़ा सत्कार किया। उद्धव वहाँ गोपियोंका शोक निवारण करनेके लिये कई महीने रहे। वे भगवान् श्रीकृष्णकी अनेकानेक लीलाएँ और बातें सुनाकर व्रजवासियोंको आनन्दित करते रहे। गोपियोंकी प्रेमविह्वलता तथा श्रीकृष्णतन्मयता देख वे प्रेम और आनन्दसे भर गये। वे उन्हें नमस्कार करके उनकी महिमाका तथा अपनी लालसाका इस प्रकार गान करने लगे—

'इस पृथ्वीपर केवल इन गोपियोंका ही शरीर धारण करना श्रेष्ठ एवं सफल है; क्योंकि ये सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्णके परम प्रेममय दिव्य महाभावमें स्थित हो गयी हैं। प्रेमकी यह ऊँची-से-ऊँची स्थिति संसारके भयसे भीत मुमुक्षुजनोंके लिये ही नहीं, अपितु बड़े-बड़े मुनियों—मुक्त पुरुषों तथा हम भक्त-जनोंके लिये भी अभी वाञ्छनीय ही है। हमें इसकी प्राप्ति नहीं हो सकी। सत्य है, जिन्हें भगवान् श्रीकृष्णकी लीला-कथाके रसका चसका लग गया है, उन्हें कुलीनताकी, द्विजाति-समुचित संस्कारकी और बड़े-बड़े यज्ञ-यागोंमें दीक्षित होनेकी क्या आवश्यकता है? अथवा यदि भगवान्‌की कथाका रस नहीं मिला, उसमें रुचि नहीं हुई, तो अनेक महाकल्पोंतक बार-बार ब्रह्मा होनेसे ही क्या लाभ है? कहाँ ये वनचरी आचार, ज्ञान और जातिसे हीन गाँवकी गँवार ग्वालिनें और कहाँ सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णमें यह अनन्य परम प्रेम! अहो धन्य है! धन्य है! इससे सिद्ध होता है कि कोई भगवान्‌के स्वरूप और रहस्यको न जानकर भी उनसे प्रेम करे, उनका भजन करे तो वे स्वयं अपनी शक्तिसे, अपनी कृपासे उसका परम कल्याण कर देते हैं; ठीक वैसे ही, जैसे कोई अनजानमें भी अमृत पी ले तो वह अपनी वस्तु-शक्तिसे ही पीनेवालेको अमर बना देता है। भगवान् श्रीकृष्णने रासोत्सवके समय इन व्रजाङ्गनाओंके गलेमें बाँह डाल-डालकर इनके मनोरथ पूर्ण किये। इन्हें भगवान्‌ने जिस कृपा-प्रसादका वितरण किया, इन्हें जैसा प्रेमदान किया, वैसा भगवान्‌की परम प्रेमवती नित्यसङ्गिनी वक्षःस्थलपर विराजमान लक्ष्मीजीको भी नहीं प्राप्त हुआ। कमलकी-सी सुगन्ध और कान्तिसे युक्त देवाङ्गनाओंको भी नहीं मिला। फिर दूसरी स्त्रियोंकी तो बात ही क्या करें? मेरे लिये तो सबसे अच्छी बात यही होगी कि मैं इस वृन्दावन-धाममें कोई झाड़ी, लता अथवा ओषधि—जड़ी-बूटी ही बन जाऊँ! अहा! यदि मैं ऐसा बन जाऊँगा, तो मुझे इन व्रजाङ्गनाओंकी चरण-धूलि निरन्तर

सेवन करनेके लिये मिलती रहेगी। इनकी चरणरजमें स्नान करके मैं धन्य हो जाऊँगा। धन्य हैं ये गोपियाँ। देखो तो सही, जिनको छोड़ना अत्यन्त कठिन है, उन स्वजन-सम्बन्धियों तथा लोक-वेदकी आर्य-मर्यादाका परित्याग करके इन्होंने भगवान्‌की पदवी—उनके साथ तन्मयता—उनका परम प्रेम प्राप्त कर लिया है। औरोंकी तो बात ही क्या, भगवद्-वाणी, उनकी निःश्वासरूपा समस्त श्रुतियाँ, उपनिषदें भी अब-तक भगवान्‌के परमप्रेममय स्वरूपको ढूँढ़ती ही रहती हैं—प्राप्त नहीं कर पातीं। स्वयं भगवती लक्ष्मीजी जिनकी पूजा करती रहती हैं; ब्रह्मा, शंकर आदि परम समर्थ देवता, पूर्णकाम आत्माराम और बड़े-बड़े योगेश्वर अपने हृदयमें जिनका चिन्तन करते रहते हैं, भगवान् श्रीकृष्णके उन्हीं चरणारविन्दोंको रासलीलाके समय गोपियोंने अपने वक्षःस्थल-पर रक्खा और उनका आलिङ्गन करके अपने हृदयकी जलन—विरह-व्यथा शान्त की। नन्दबाबाके व्रजमें रहनेवाली गोपाङ्गनाओंकी चरण-धूलिको मैं बारंबार प्रणाम करता हूँ। अहा! इन गोपियोंने भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाकथाके सम्बन्धमें जो कुछ गान किया है वह तीनों लोकोंको पवित्र कर रहा है और सदा-सर्वदा पवित्र करता रहेगा*।

कई महीनोंके बाद जब उद्धव मधुपुरीको लौटने लगे तो अनेक उपहार देकर नन्द आदि गोपगण आँखोंमें आँसू भरकर बोले—

'उद्धवजी! अब हम यही चाहते हैं कि हमारे मनकी एक-एक वृत्ति, एक-एक संकल्प श्रीकृष्णके चरणकमलोंके ही आश्रित रहे। हमारी वाणी निरन्तर उनके नामका उच्चारण करे और शरीर उन्हींको प्रणाम करके उन्हींके सेवनमें लगा रहे। हम ईश्वरकी इच्छासे कर्मबन्धनमें बँधकर जहाँ कहीं जिस योनिमें भी भ्रमण करें, वहाँ मङ्गलमय आचरण तथा दान आदिके द्वारा परमेश्वर श्रीकृष्णमें ही हमारा अनुराग निरन्तर बढ़ता रहे।'†

तदनन्तर भानुकिशोरीसे उन्होंने श्रीकृष्णके लिये संदेश माँगा! भानुकिशोरी बोलीं—

'प्रियतम श्यामसुन्दर यहाँ आ जायँ तो हम सबोंको अपार सुख होगा; किंतु यदि यहाँ आनेसे उनकी किञ्चित् भी क्षति होती हो तो वे कदापि यहाँ न आवें। उनके न आनेसे यद्यपि हमारे लिये भीषण दुःखकी सीमा नहीं है तथापि वहाँ रहनेसे यदि उनके हृदयमें सुख होता है तो वे सदा वहीं निवास करें।'

'राधाकिशोरी! तुम्हारे इस दिव्य प्रेमकी जय हो' कहकर उद्धव श्रीकृष्णचन्द्रके पास चल पड़े।

---

* एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः।
वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयं च किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य॥
क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः।
नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षाच्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः॥
नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठलब्धाशिषां य उदगाद् व्रजवल्लवीनाम्॥
आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥
या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामैर्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम्।
कृष्णस्य तद् भगवतश्चरणारविन्दं न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम्॥
वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः। यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥
(श्रीमद्भागवत १०। ४७। ५८—६३)

† मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः। वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु॥
कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया। मङ्गलाचरितैर्दानैरतिर्नः कृष्ण ईश्वरे॥
(श्रीमद्भागवत १०। ४७। ६६-६७)

अपने घरपर पधारे हुए भगवान्की अक्रूरद्वारा स्तुति, भगवान्के द्वारा भगवद्भक्तोंकी प्रशंसा तथा उनका अक्रूरको हस्तिनापुर जानेकी आज्ञा देना

भगवान् श्रीकृष्णका प्रिय संदेश सुनकर गोपियोंकी विरह-व्यथा शान्त हो गयी। उद्धवजी कुछ कालतक व्रजमें रहे। उन्हें गोपियोंकी दिव्य प्रेम-चेष्टाएँ देखनेको मिलीं। वे प्रेमानन्दमें विभोर हो गोपियोंकी चरणधूलिकी वन्दना करने लगे। फिर सबसे विदा ले विविध उपहारोंके साथ व्रजमें लौट आये। व्रजवासियोंकी विरह-दशा भगवान्को सुना दी। तदनन्तर सैरन्ध्रीको कृतार्थ करके एक दिन सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजी और उद्धवजीके साथ अक्रूरजीकी अभिलाषा पूर्ण करने और उनसे कुछ काम लेनेके लिये उनके घर गये। अक्रूरजीने दूरसे ही देख लिया कि हमारे परम बन्धु मनुष्यलोक-शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी आदि पधार रहे हैं। वे तुरंत उठकर आगे गये तथा आनन्दसे भरकर उनका अभिनन्दन और आलिङ्गन करने लगे। अक्रूरजीने भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामको नमस्कार किया तथा उद्धवजीके साथ उन दोनों भाइयोंने भी उन्हें नमस्कार किया। जब सब लोग आरामसे आसनोंपर बैठ गये, तब अक्रूरजी उन लोगोंकी विधिवत् पूजा करने लगे। उन्होंने पहले भगवान्के चरण धोकर चरणोदक सिरपर धारण किया और फिर अनेकों प्रकारकी पूजा-सामग्री, दिव्य वस्त्र, गन्ध, माला और श्रेष्ठ आभूषणोंसे उनका पूजन किया, सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम किया और उनके चरणोंको अपनी गोदमें लेकर दबाने लगे। उसी समय उन्होंने विनयावनत होकर भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीसे कहा—'भगवन्! यह बड़े ही आनन्द और सौभाग्यकी बात है कि पापी कंस अपने अनुयायियोंके साथ मारा गया। उसे मारकर आप दोनोंने यदुवंशको बहुत बड़े संकटसे बचा लिया है तथा उन्नत और समृद्ध किया है। आप दोनों जगत्के कारण और जगत्-रूप आदिपुरुष हैं। आपके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है, न कारण और न तो कार्य। परमात्मन्! आपने ही अपनी शक्तिसे इसकी रचना की है और आप ही अपनी काल, माया आदि शक्तियोंसे इसमें प्रविष्ट होकर जितनी भी वस्तुएँ देखी और सुनी जाती हैं, सबके रूपमें प्रतीत हो रहे हैं। जैसे पृथ्वी आदि कारण-तत्त्वोंसे ही उनके कार्य स्थावर-जङ्गम शरीर बनते हैं, वे उनमें अनुप्रविष्ट-से होकर अनेक रूपोंमें प्रतीत होते हैं, परंतु वास्तवमें वे कारण-रूप ही हैं। इसी प्रकार हैं तो केवल आप ही, परंतु अपने कार्यरूप जगत्में स्वेच्छासे अनेक रूपोंमें प्रतीत होते हैं। यह भी आपकी एक लीला ही है।

प्रभो! आप प्रेमी भक्तोंके परम प्रियतम, सत्यवक्ता, अकारण हितू और कृतज्ञ हैं—जरा-सी सेवाको भी मान लेते हैं। भला, ऐसा कौन बुद्धिमान् पुरुष है, जो आपको छोड़कर किसी दूसरेकी शरणमें जायगा? आप अपना भजन करनेवाले प्रेमी भक्तकी समस्त अभिलाषाएँ पूर्ण कर देते हैं। यहाँतक कि जिसकी कभी क्षति और वृद्धि नहीं होती—जो एकरस है, अपने उस आत्माका भी आप दान कर देते हैं। भक्तोंके कष्ट मिटानेवाले और जन्म-मृत्युके बन्धनसे छुड़ानेवाले प्रभो! बड़े-बड़े योगिराज और देवराज भी आपके स्वरूपको नहीं जान सकते। परंतु हमें आपका साक्षात् दर्शन हो गया, यह कितने सौभाग्यकी बात है। प्रभो! हम स्त्री, पुत्र, धन, स्वजन, गेह और देह आदिके मोहकी रस्सीसे बँधे हुए हैं। अवश्य ही यह आपकी मायाका खेल है। आप कृपा करके इस गाढ़े बन्धनको शीघ्र काट दीजिये।' इस प्रकार भक्त अक्रूरजीने भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा और स्तुति की। इसके बाद भगवान्

श्रीकृष्णने मुसकराकर अपनी मधुर वाणीसे उन्हें मानो मोहित करते हुए कहा—

संत देवताओंसे भी बढ़कर हैं और सच्चे तीर्थ हैं

त्वं नो गुरुः पितृव्यश्च श्लाघ्यो बन्धुश्च नित्यदा।
वयं तु रक्ष्याः पोष्याश्च अनुकम्प्याः प्रजा हि वः॥
भवद्विधा महाभागा निषेव्या अर्हसत्तमाः।
श्रेयस्कामैर्नृभिर्नित्यं देवाः स्वार्था न साधवः॥
न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः॥
स भवान् सुहृदां वै नः श्रेयाञ्छ्रेयश्चिकीर्षया।
जिज्ञासार्थं पाण्डवानां गच्छस्व त्वं गजाह्वयम्॥
पितर्युपरते बालाः सह मात्रा सुदुःखिताः।
आनीताः स्वपुरं राज्ञा वसन्त इति शुश्रुम॥
तेषु राजाम्बिकापुत्रो भ्रातृपुत्रेषु दीनधीः।
समो न वर्तते नूनं दुष्पुत्रवशगोऽन्धदृक्॥
गच्छ जानीहि तद्वृत्तमधुना साध्वसाधु वा।
विज्ञाय तद् विधास्यामो यथा शं सुहृदां भवेत्॥

(श्रीमद्भागवत १०। ४८। २९–३५)

'तात! आप हमारे गुरु, हितोपदेशक और चाचा हैं। हमारे वंशमें अत्यन्त प्रशंसनीय तथा हमारे सदाके हितैषी हैं। हम तो आपके बालक हैं और सदा ही आपके द्वारा रक्षा, पालन और कृपाके पात्र हैं। अपना परम कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको आप-जैसे परम पूजनीय और महाभाग्यवान् संतोंकी सर्वदा सेवा करनी चाहिये। आप-जैसे संत देवताओंसे भी बढ़कर हैं; क्योंकि देवताओंमें तो स्वार्थ रहता है, परंतु संतोंमें नहीं। केवल जलके तीर्थ (नदी, सरोवर आदि) ही तीर्थ नहीं हैं, केवल मृत्तिका और शिला आदिकी बनी हुई मूर्तियाँ ही देवता नहीं हैं। चाचाजी! उनकी तो बहुत दिनोंतक श्रद्धासे सेवा की जाय, तब वे पवित्र करते हैं। परंतु संत पुरुष तो अपने दर्शनमात्रसे पवित्र कर देते हैं। चाचाजी! आप हमारे हितैषी सुहृदोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। इसलिये आप पाण्डवोंका हित करनेके लिये तथा उनका कुशल-मङ्गल जाननेके लिये हस्तिनापुर जाइये। हमने ऐसा सुना है कि राजा पाण्डुके मर जानेपर अपनी माता कुन्तीके साथ युधिष्ठिर आदि पाण्डव बड़े दुःखमें पड़ गये थे। अब राजा धृतराष्ट्र उन्हें अपनी राजधानी हस्तिनापुरमें ले आये हैं और वे वहीं रहते हैं। आप जानते ही हैं कि राजा धृतराष्ट्र एक तो अंधे हैं और दूसरे उनमें मनोबलकी भी कमी है। उनका पुत्र दुर्योधन बहुत दुष्ट है और उसके अधीन होनेके कारण वे पाण्डवोंके साथ अपने पुत्रों-जैसा समान व्यवहार नहीं कर पाते। इसलिये आप वहाँ जाइये और मालूम कीजिये कि उनकी स्थिति अच्छी है या बुरी। आपके द्वारा उनका समाचार जानकर मैं ऐसा उपाय करूँगा, जिससे उन सुहृदोंको सुख मिले।'

सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण अक्रूरजीको इस प्रकार आदेश देकर बलरामजी और उद्धवजीके साथ वहाँसे अपने घर लौट आये।

अक्रूरका हस्तिनापुर जाना और वहाँ पाण्डवोंके प्रति धृतराष्ट्रके विषम बर्तावका प्रत्यक्ष अनुभव करके लौटनेके बाद श्रीकृष्णको सारा हाल बताना, जरासंधका मथुरापर आक्रमण तथा पराजित होकर भागना

भगवान्‌के आज्ञानुसार अक्रूरजी हस्तिनापुर गये। वहाँकी एक-एक वस्तुपर पुरुवंशी नरपतियोंकी अमर कीर्तिकी छाप लग रही है। वे वहाँ पहले धृतराष्ट्र, भीष्म, विदुर, कुन्ती, बाह्लीक और उनके पुत्र सोमदत्त, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण, दुर्योधन, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, युधिष्ठिर आदि पाँचों पाण्डव तथा अन्यान्य इष्ट-मित्रोंसे मिले। जब गान्दिनीनन्दन अक्रूरजी सब इष्ट-मित्रों

और सम्बन्धियोंसे भलीभाँति मिल चुके, तब उनसे उन लोगोंने अपने मथुरावासी स्वजन-सम्बन्धियोंकी कुशल-क्षेम पूछी। उनका उत्तर देकर अक्रूरजीने भी हस्तिनापुरवासियोंके कुशल-मङ्गलके सम्बन्धमें पूछताछ की। अक्रूरजी यह जाननेके लिये कि धृतराष्ट्र पाण्डवोंके साथ कैसा व्यवहार करते हैं, कुछ महीनोंतक वहीं रहे। धृतराष्ट्रमें अपने दुष्ट पुत्रोंकी इच्छाके विपरीत कुछ भी करनेका साहस न था। वे शकुनि आदि दुष्टोंकी सलाहके अनुसार ही काम करते थे। अक्रूरजीको कुन्ती और विदुरने यह बतलाया कि धृतराष्ट्रके लड़के दुर्योधन आदि पाण्डवोंके प्रभाव, शस्त्रकौशल, बल, वीरता तथा विनय आदि सद्गुण देख-देखकर उनसे जलते रहते हैं। जब वे यह देखते हैं कि प्रजा पाण्डवोंसे ही विशेष प्रेम रखती है, तब तो वे और भी चिढ़ जाते हैं और पाण्डवोंका अनिष्ट करनेपर उतारू हो जाते हैं। अबतक दुर्योधन आदि धृतराष्ट्रके पुत्रोंने पाण्डवोंपर कई बार विषदान आदि बहुत-से अत्याचार किये हैं और आगे भी बहुत कुछ करना चाहते हैं।

जब अक्रूरजी कुन्तीके घर आये, तब वह अपने भाईके पास जा बैठीं। अक्रूरजीको देखकर कुन्तीके मनमें अपने मायकेकी स्मृति जग गयी और नेत्रोंमें आँसू भर आये। उन्होंने कहा—'प्यारे भाई! क्या कभी मेरे माँ-बाप, भाई-बहिन, भतीजे, कुलकी स्त्रियाँ और सखी-सहेलियाँ मेरी याद करती हैं? मैंने सुना है कि हमारे भतीजे भगवान् श्रीकृष्ण और कमलनयन बलराम बड़े ही भक्तवत्सल और शरणागत-रक्षक हैं। क्या वे कभी अपने इन फुफेरे भाइयोंको भी याद करते हैं? मैं शत्रुओंके बीच घिरकर शोकाकुल हो रही हूँ। मेरी वही दशा है, जैसे कोई हरिनी भेड़ियोंके बीचमें पड़ गयी हो, मेरे बच्चे बिना बापके हो गये हैं। क्या हमारे श्रीकृष्ण कभी यहाँ आकर मुझको और इन अनाथ बालकोंको सान्त्वना देंगे?'

कुन्ती इस प्रकार अपने सगे-सम्बन्धियों और अन्तमें जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्णको स्मरण करके अत्यन्त दुःखित हो गयी और फफक-फफककर रोने लगी। अक्रूरजी और विदुरजी दोनों ही सुख और दुःखको समान दृष्टिसे देखते थे। दोनों यशस्वी महात्माओंने कुन्तीको उसके पुत्रोंके जन्मदाता धर्म, वायु आदि देवताओंकी याद दिलायी और यह कहकर कि तुम्हारे पुत्र अधर्मका नाश करनेके लिये ही पैदा हुए हैं, बहुत कुछ समझाया-बुझाया और सान्त्वना दी। अक्रूरजी जब मथुरा जाने लगे, तब राजा धृतराष्ट्रके पास आये और उनसे इस प्रकार बोले—

'महाराज धृतराष्ट्रजी! आप कुरुवंशियोंकी उज्ज्वल कीर्तिको और भी बढ़ाइये। आपको यह काम विशेषरूपसे इसलिये भी करना चाहिये कि अपने भाई पाण्डुके परलोक सिधार जानेपर अब आप राज्य-सिंहासनके अधिकारी हुए हैं। आप धर्मसे पृथ्वीका पालन कीजिये। अपने सद्व्यवहारसे प्रजाको प्रसन्न रखिये और अपने स्वजनोंके साथ समान बर्ताव कीजिये। ऐसा करनेसे ही आपको लोकमें यश और परलोकमें सद्गति प्राप्त होगी। यदि आप इसके विपरीत आचरण करेंगे तो इस लोकमें आपकी निन्दा होगी और मरनेके बाद आपको नरकमें जाना पड़ेगा। इसलिये अपने पुत्रों और पाण्डवोंके साथ समानताका बर्ताव कीजिये।'

राजा धृतराष्ट्रने कहा—'दानपते अक्रूरजी! आप मेरे कल्याणकी, भलेकी बात कह रहे हैं। जैसे मरनेवालेको अमृत मिल जाय तो वह उससे तृप्त नहीं हो सकता, वैसे ही मैं भी आपकी इन बातोंसे तृप्त नहीं हो रहा हूँ। फिर भी हमारे हितैषी अक्रूरजी! मेरे चञ्चल चित्तमें आपकी यह प्रिय शिक्षा तनिक भी नहीं ठहर रही है; क्योंकि मेरा हृदय पुत्रोंकी ममताके कारण अत्यन्त विषम हो गया है। जैसे स्फटिक पर्वतके शिखरपर एक बार बिजली कौंधती है और दूसरे ही क्षण अन्तर्धान हो जाती है, वही दशा आपके उपदेशोंकी है। अक्रूरजी! सुना है कि सर्वशक्तिमान् भगवान् पृथ्वीका भार उतारनेके लिये यदुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं। ऐसा कौन पुरुष है, जो उनके विधानमें उलट-फेर कर सके? उनकी जैसी इच्छा होगी, वही होगा—मैं उन्हीं परमैश्वर्यशाली प्रभुको नमस्कार करता हूँ'।

अक्रूरजी महाराज धृतराष्ट्रका अभिप्राय जानकर और कुरुवंशी स्वजन-सम्बन्धियोंसे प्रेमपूर्वक अनुमति लेकर मथुरा लौट आये। उन्होंने वहाँ भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीके सामने धृतराष्ट्रका वह सारा व्यवहार-बर्ताव, जो वे पाण्डवोंके साथ करते थे, कह सुनाया।

इधर कंसके मारे जानेके बाद उसकी दोनों रानियाँ अस्ति और प्राप्ति अत्यन्त दुःखसे व्याकुल हो अपने पिता जरासंधके यहाँ गयीं। उन्होंने पिताके समक्ष बड़े दुःखके साथ अपने विधवा होनेके कारणोंका वर्णन किया। यह अप्रिय समाचार सुनकर पहले तो जरासंधको बड़ा शोक हुआ, परंतु

पीछे वह क्रोधसे तिलमिला उठा। उसने यह निश्चय करके कि मैं पृथ्वीपर एक भी यदुवंशी नहीं रहने दूँगा, युद्धकी बहुत बड़ी तैयारी की और तेईस अक्षौहिणी सेनाके साथ यदुवंशियोंकी राजधानी मथुराको चारों ओरसे घेर लिया।

भगवान् श्रीकृष्णने देखा—जरासंधकी सेना क्या है, उमड़ता हुआ समुद्र है। जरासंधने अपने अधीनस्थ नरपतियोंकी पैदल, घुड़सवार, रथी और हाथियोंसे युक्त कई अक्षौहिणी सेना इकट्ठी कर ली है। भगवान्ने सोचा कि यह सब तो पृथ्वीका भार ही जुटकर मेरे पास आ पहुँचा है। मैं इसका नाश करूँगा। परंतु अभी मगधराज जरासंधको नहीं मारना चाहिये; क्योंकि यह जीवित रहेगा तो फिरसे असुरोंकी बहुत-सी सेना इकट्ठी कर लायेगा। मेरे अवतारका यही प्रयोजन है कि मैं पृथ्वीका बोझ हल्का कर दूँ, साधु-सज्जनोंकी रक्षा करूँ और दुष्ट-दुर्जनोंका संहार।

भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि आकाशसे सूर्यके समान चमकते हुए दो रथ आ पहुँचे। उनमें युद्धकी सारी सामग्रियाँ सुसज्जित थीं और दो सारथि उन्हें हाँक रहे थे। इसी समय भगवान्के दिव्य और सनातन आयुध भी अपने-आप वहाँ आकर उपस्थित हो गये। उन्हें देखकर भगवान् श्रीकृष्णने अपने बड़े भाई बलरामजीसे कहा—'भाईजी! देखिये, यह आपका रथ है और आपके प्यारे आयुध हल-मूसल भी आ पहुँचे हैं। अब आप इस रथपर सवार होकर शत्रु-सेनाका संहार कीजिये और अपने स्वजनोंको इस विपत्तिसे बचाइये। भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीने यह सलाह करके कवच धारण किये और रथपर सवार होकर वे मथुरासे निकले। उस समय दोनों भाई अपने-अपने आयुध लिये हुए थे और छोटी-सी सेना उनके साथ-साथ चल रही थी। श्रीकृष्णका रथ हाँक रहा था दारुक। पुरीसे बाहर निकलकर उन्होंने अपना पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया। उनके शङ्खकी भयंकर ध्वनि सुनकर शत्रुपक्षकी सेनाके वीरोंका हृदय डरके मारे थर्रा उठा। उन्हें देखकर मगधराज जरासंधने कहा—'पुरुषाधम श्रीकृष्ण! तू तो अपने मामाका हत्यारा है। इसलिये मैं तेरे साथ नहीं लड़ सकता। जा, मेरे सामने-से भाग जा। बलराम! यदि तेरे चित्तमें यह श्रद्धा हो कि युद्धमें मरनेपर स्वर्ग मिलता है तो तू आ, हिम्मत बाँधकर मुझसे लड़।'
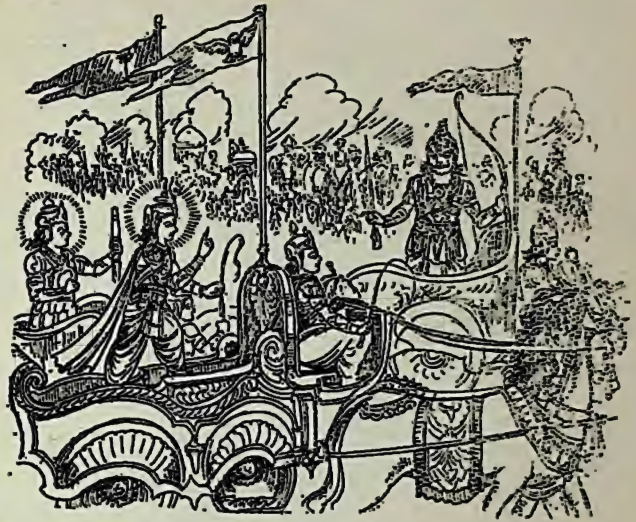
वीर डींग नहीं हाँकते

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—

न वै शूरा विकत्थन्ते दर्शयन्त्येव पौरुषम्।
न गृह्णीमो वचो राजन्नातुरस्य मुमूर्षतः॥
(श्रीमद्भागवत १०। ५०। २०)

'मगधराज! जो शूरवीर होते हैं, वे तुम्हारी तरह डींग नहीं हाँकते, वे तो अपना बल-पौरुष ही दिखलाते हैं। देखो, अब तुम्हारी मृत्यु तुम्हारे सिरपर नाच रही है। तुम वैसे ही अकबक कर रहे हो, जैसे मरनेके समय कोई संनिपातका रोगी करे। बक लो, मैं तुम्हारी बातपर ध्यान नहीं देता'।

मगधराज जरासंधने भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामके सामने आकर अपनी बहुत प्रबल और अपार सेनाके द्वारा उन्हें चारों ओरसे घेर लिया—यहाँतक कि उनकी सेना, रथ, ध्वजा, घोड़ों और सारथियोंका दीखना भी बंद हो गया। तब भगवान् श्रीकृष्णने अपने देवता और असुर—दोनोंसे सम्मानित शार्ङ्ग धनुषका टङ्कार किया। इसके बाद वे तरकस-मेंसे बाण निकालने, उन्हें धनुषपर चढ़ाने और धनुषकी डोरी खींचकर झुंड-के-झुंड बाण छोड़ने लगे। उस समय उनका वह धनुष इतनी फुर्तीसे घूम रहा था, मानो कोई बड़े वेगसे अलातचक्र (लुकारी) घुमा रहा हो। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण जरासंधकी चतुरङ्गिणी—हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सेनाका संहार करने लगे। उस युद्धमें अपार तेजस्वी भगवान्

बलरामजीने अपने मूसलकी चोटसे बहुत-से मतवाले शत्रुओं-को मार-मारकर उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गसे निकले हुए खूनकी सैकड़ों नदियाँ बहा दीं। जरासंधकी सारी सेना मारी गयी। रथ भी टूट गया। शरीरमें केवल प्राण बाकी रहे। तब भगवान् श्रीबलरामजीने जैसे एक सिंह दूसरे सिंहको पकड़ लेता है, वैसे ही बलपूर्वक महाबली जरासंधको पकड़ लिया। जरासंध-ने पहले बहुत-से विपक्षी नरपतियोंका वध किया था, परंतु आज उसे बलरामजी वरुणकी फाँसी और मनुष्योंके फंदेसे बाँध रहे थे। भगवान् श्रीकृष्णने यह सोचकर कि यह छोड़ दिया जायगा तो और भी सेना इकट्ठी करके लायेगा तथा हम सहज ही पृथ्वीका भार उतार सकेंगे, बलरामजीको रोक दिया।

जरासंधकी सेनाकी पराजयसे मथुरावासी भयरहित हो गये थे और भगवान् श्रीकृष्णकी विजयसे उनका हृदय आनन्द-से भर रहा था। भगवान् श्रीकृष्ण आकर उनमें मिल गये। जिस समय श्रीकृष्ण नगरमें प्रवेश कर रहे थे, उस समय नगरकी नारियाँ प्रेम और उत्कण्ठासे भरे हुए नेत्रोंसे उन्हें स्नेहपूर्वक निहार रही थीं और फूलोंके हार, दही, अक्षत और जौ आदिके अङ्कुरोंकी उनके ऊपर वर्षा कर रही थीं। भगवान् श्रीकृष्ण रणभूमिसे जो अपार धन और वीरोंके आभूषण ले आये थे, वह सब उन्होंने यदुवंशियोंके राजा उग्रसेनके पास भेज दिया।

जरासंधकी बारंबार पराजय, कालयवनका संहार और भगवान्का मुचुकुन्दको अपना परिचय दे उनपर अनुग्रह करना

इस प्रकार सत्रह बार तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेना इकट्ठी करके मगधराज जरासंधने भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित यदुवंशियोंके साथ युद्ध किया। किंतु यादवोंने भगवान् श्रीकृष्णकी शक्तिसे हर बार उसकी सारी सेना नष्ट कर दी। जब अठारहवाँ संग्राम छिड़नेवाला था, उसी समय नारदजीके भेजे हुए वीर कालयवनने तीन करोड़ म्लेच्छोंकी सेना लेकर मथुराको घेर लिया। उधर जरासंधका भी आक्रमण होनेही-वाला था। यादवोंपर दुहरी विपत्ति उपस्थित देख भगवान् श्रीकृष्णने बलरामजीसे सलाह करके समुद्रके भीतर एक ऐसा दुर्गम नगर बनवाया, जिसमें सभी वस्तुएँ अद्भुत थीं। उस नगरकी लम्बाई-चौड़ाई अड़तालीस कोसकी थी। भगवान् श्रीकृष्णने अपने समस्त स्वजनों और सम्बन्धियोंको अपनी अचिन्त्य महाशक्ति योगमायाके द्वारा उस द्वारका नगरमें पहुँचा दिया। शेष प्रजाकी रक्षाके लिये बलरामजीको मथुरा-पुरीमें रख दिया और उनसे सलाह लेकर गलेमें कमलोंकी माला पहने, बिना कोई अस्त्र-शस्त्र लिये स्वयं नगरके प्रमुख द्वारसे बाहर निकल आये। उनका दिव्य रूप देखकर काल-यवनने निश्चय किया कि ये ही वासुदेव हैं। उन्हें आयुध-रहित और पैदल देख कालयवनने स्वयं भी उसी तरह रहकर उनसे लड़नेका विचार किया। लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण रणभूमिसे भाग रहे थे और कालयवन उन्हें पकड़नेके लिये पीछा कर रहा था। वह पग-पगपर यही समझ रहा था कि 'अब पकड़ा, तब पकड़ा।' इस प्रकार भगवान् उसे बहुत दूर एक पहाड़की कन्दरामें ले गये। वहाँ एक दूसरा ही मनुष्य सोया हुआ था। उसे देखकर कालयवनने सोचा, यही वह वासुदेव है, जो मुझे दूरतक यहाँ खींच लाया है और अब यहाँ साधु बाबा बनकर सो रहा है। यह सोचकर उस मूर्खने उस सोये हुए मनुष्यको एक लात मारी। वह पुरुष वहाँ बहुत दिनोंसे सोया था। पैरकी ठोकर लगनेसे वह सहसा उठा और धीरेसे आँखें खोलकर चारों ओर देखने लगा। उसने पास ही कालयवनको खड़ा देखा। उस पुरुषकी रोषभरी दृष्टि पड़ते ही कालयवनके शरीरमें आग पैदा हो गयी और वह क्षणभरमें जलकर राखका ढेर हो गया। वे राजा मुचुकुन्द थे और देवताओंसे वर पाकर युगोंसे वहाँ सो रहे थे। देवताओंने कह दिया था कि 'महाराज! सोते समय यदि आपको कोई बीचमें ही जगा देगा तो वह आपकी दृष्टि पड़ते ही भस्म हो जायगा।

कालयवनके भस्म हो जानेपर भगवान् श्रीकृष्णने मुचुकुन्दको दर्शन दिये। मेघके समान श्याम कान्ति, श्रीअङ्गोंपर रेशमी पीताम्बर, वक्षमें श्रीवत्सकी स्वर्णमयी रेखा, कौस्तुभ मणिकी जगमगाहट, चार भुजाएँ, गलेमें वैजयन्ती माला, प्रसन्नतासे पूर्ण मनोहर मुख, चमकते हुए मकराकार कुण्डल, अनुराग भरी दृष्टि, तरुण अवस्था तथा मतवाले मृगराजके समान मतवाली चाल देखकर राजा मुचुकुन्द उनके तेजसे हतप्रभ हो गये। उन्होंने शङ्कित होकर पूछा—

'आप कौन हैं ? काँटोंसे भरे इस घोर वनमें तथा इस पर्वतकी कन्दरामें आपके पधारनेका क्या कारण है ? मैं समझता हूँ आप ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर तीनोंमेंसे पुरुषोत्तम भगवान् नारायण ही हैं। मैं इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रिय हूँ। मेरा नाम मुचुकुन्द है और मैं मान्धाताका पुत्र हूँ। आपका तेज असह्य है। मैं आपको अच्छी तरह देख नहीं सकता।'

भगवान्‌के शरण हो जानेपर शोक देनेवाली कोई वस्तु नहीं रह जाती

श्रीभगवान्‌ने कहा—

जन्मकर्माभिधानानि सन्ति मेऽङ्ग सहस्रशः।
न शक्यन्तेऽनुसंख्यातुमनन्तत्वान्मयापि हि॥
क्वचिद् रजांसि विममे पार्थिवान्युरुजन्मभिः।
गुणकर्माभिधानानि न मे जन्मानि कर्हिचित्॥
कालत्रयोपपन्नानि जन्मकर्माणि मे नृप।
अनुक्रमन्तो नैवान्तं गच्छन्ति परमर्षयः॥
तथाप्यद्यतनान्यङ्ग शृणुष्व गदतो मम।
विज्ञापितो विरिञ्चेन पुराहं धर्मगुप्तये।
भूमेर्भारायमाणानामसुराणां क्षयाय च॥
अवतीर्णो यदुकुले गृह आनकदुन्दुभेः।
वदन्ति वासुदेवेति वसुदेवसुतं हि माम्॥
कालनेमिर्हतः कंसः प्रलम्बाद्याश्च सद्द्विषः।
अयं च यवनो दग्धो राजंस्ते तिग्मचक्षुषा॥
सोऽहं तवानुग्रहार्थं गुहामेतामुपागतः।
प्रार्थितः प्रचुरं पूर्वं त्वयाहं भक्तवत्सलः॥
वरान् वृणीष्व राजर्षे सर्वान् कामान् ददामि ते।
मां प्रपन्नो जनः कश्चिन्न भूयोऽर्हति शोचितुम्॥

(श्रीमद्भागवत १०। ५१। ३७-४४)

'प्रिय मुचुकुन्द ! मेरे हजारों जन्म, कर्म और नाम हैं। वे अनन्त हैं, इसलिये मैं भी उनकी गिनती करके नहीं बतला सकता। यह सम्भव है कि कोई पुरुष अपने अनेक जन्मोंमें पृथ्वीके छोटे-छोटे धूलि-कणोंकी गिनती कर डाले; परंतु मेरे जन्म, गुण, कर्म और नामोंको कोई कभी किसी प्रकार नहीं गिन सकता। राजन् ! सनक-सनन्दन आदि परमर्षिगण मेरे त्रिकाल-सिद्ध जन्म और कर्मोंका वर्णन करते रहते हैं, परंतु कभी उनका पार नहीं पाते। प्रिय मुचुकुन्द ! ऐसा होनेपर भी मैं अपने वर्तमान जन्म, कर्म और नामोंका वर्णन करता हूँ, सुनो। पहले ब्रह्माजीने मुझसे धर्मकी रक्षा और पृथ्वीके भार बने हुए असुरोंका संहार करनेके लिये प्रार्थना की थी। उन्हींकी प्रार्थनासे मैंने यदुवंशमें वसुदेवजीके यहाँ अवतार ग्रहण किया है। अब मैं वसुदेवजीका पुत्र हूँ, इसलिये लोग मुझे 'वासुदेव' कहते हैं। अबतक मैं कालनेमि असुरका, जो कंसके रूपमें पैदा हुआ था तथा प्रलम्ब आदि अनेकों साधुद्रोही असुरोंका संहार कर चुका हूँ। राजन् ! यह कालयवन था, जो मेरी ही प्रेरणासे तुम्हारी तीक्ष्ण दृष्टि पड़ते ही भस्म हो गया। वही मैं तुमपर कृपा करनेके लिये ही इस गुफामें आया हूँ। तुमने पहले मेरी बहुत आराधना की है और मैं हूँ भक्तवत्सल। इसलिये राजर्षे ! तुम्हारी जो अभिलाषा हो, मुझसे माँग लो। मैं तुम्हारी सारी लालसा,

अभिलाषाएँ पूर्ण कर दूँगा। जो पुरुष मेरी शरणमें आ जाता है, उसके लिये फिर ऐसी कोई वस्तु नहीं रह जाती, जिसके लिये वह शोक करे।'

जब भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा, तब राजा मुचुकुन्दको वृद्ध गर्गका यह कथन याद आ गया कि यदुवंशमें भगवान् अवतीर्ण होनेवाले हैं। वे जान गये कि ये स्वयं भगवान् नारायण हैं। आनन्दसे भरकर उन्होंने भगवान्‌के चरणोंमें प्रणाम किया, स्तुति की। तब भगवान् श्रीकृष्णने कहा—

अनन्य भक्त निष्काम होते हैं

सार्वभौम महाराज मतिस्ते विमलोर्जिता।
वरैः प्रलोभितस्यापि न कामैर्विहता यतः ॥
प्रलोभितो वरैर्यत्त्वमप्रमादाय विद्धि तत्।
न धीर्मय्येकभक्तानामाशीर्भिर्भिद्यते क्वचित् ॥
युञ्जानानामभक्तानां प्राणायामादिभिर्मनः।
अक्षीणवासनं राजन् दृश्यते पुनरुत्थितम् ॥
विचरस्व महीं कामं मय्यावेशितमानसः।
अस्त्वेवं नित्यदा तुभ्यं भक्तिर्मय्यनपायिनी ॥
क्षात्रधर्मस्थितो जन्तून् न्यवधीर्मृगयादिभिः।
समाहितस्तत्तपसा जह्यघं मदुपाश्रयः ॥
जन्मन्यनन्तरे राजन् सर्वभूतसुहृत्तमः।
भूत्वा द्विजवरस्त्वं वै मामुपैष्यसि केवलम् ॥

(श्रीमद्भागवत १०। ५१। ५९—६४)

'सार्वभौम महाराज! तुम्हारी मति, तुम्हारा निश्चय बड़ा ही पवित्र और ऊँची कोटिका है। यद्यपि मैंने तुम्हें बार-बार वर देनेका प्रलोभन दिया, फिर भी तुम्हारी बुद्धि कामनाओंके अधीन न हुई। मैंने तुम्हें जो वर देनेका प्रलोभन दिया, वह केवल तुम्हारी सावधानीकी परीक्षाके लिये। मेरे जो अनन्य भक्त होते हैं, उनकी बुद्धि कभी कामनाओंसे इधर-उधर नहीं भटकती। जो लोग मेरे भक्त नहीं होते, वे चाहे प्राणायाम आदिके द्वारा अपने मनको वशमें करनेका कितना ही प्रयत्न क्यों न करें, उनकी वासनाएँ क्षीण नहीं होतीं और राजन्! उनका मन फिरसे विषयोंके लिये मचल पड़ता है। तुम अपने मन और सारे मनोभावोंको मुझे समर्पित कर दो, मुझमें लगा दो और फिर स्वच्छन्दरूपसे पृथ्वीपर विचरण करो। मुझमें तुम्हारी विषयवासनाशून्य निर्मल भक्ति सदा बनी रहेगी। तुमने क्षत्रियधर्मका आचरण करते समय शिकार आदिके अवसरोंपर बहुत-से पशुओंका वध किया है। अब एकाग्रचित्तसे मेरी उपासना करते हुए तपस्याके द्वारा उस पापको धो डालो। राजन्! अगले जन्ममें तुम ब्राह्मण बनोगे और समस्त प्राणियोंके सच्चे हितैषी, परम सुहृद् होओगे तथा फिर मुझ विशुद्ध विज्ञानघन परमात्माको प्राप्त करोगे।'

श्रीकृष्ण और बलरामका द्वारका पहुँचना, बलरामजीका विवाह, विदर्भदेशसे रुक्मिणीका प्रेमसंदेश लेकर एक ब्राह्मणका द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्णसे मिलना, भगवान्‌का रुक्मिणीको हर लानेका निश्चय

मुचुकुन्दको वरदान दे भगवान् श्रीकृष्ण मथुरापुरीमें लौट आये। अब उन्होंने म्लेच्छोंकी सेनाका संहार किया और उसका सारा धन छीनकर द्वारकाको ले चले। उसी समय मगधराज जरासंध फिर तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर आ धमका। शत्रुसेनाका प्रबल वेग देख भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम मनुष्योंकी-सी लीला करते हुए बड़ी फुर्तीके साथ उसके सामनेसे भागे और पैदल भागते ही चले गये। उन्हें भागते देख जरासंध हँसा और अपनी रथसेनाके

साथ उनका पीछा करने लगा। बहुत दूरतक भागनेके बाद वे दोनों भाई प्रवर्षण पर्वतपर चढ़ गये। जरासंधने उस पर्वतपर उन्हें बहुत ढूँढ़ा; परंतु कुछ पता न चला। तब वह उस पर्वतमें चारों ओरसे आग लगाकर उन्हें जला देनेकी चेष्टा करने लगा। वे दोनों भाई जरासंधकी सेनाके घेरेको लाँघते हुए उस ऊँचे पर्वतसे एकदम नीचे धरतीपर कूद आये। जरासंध उन्हें दग्ध हुआ मानकर सेनासहित मगधदेशको लौट गया। श्रीकृष्ण और बलराम दोनों भाई द्वारका पहुँच गये। वहाँ राजा रैवतकी कन्या रेवतीके साथ बलरामजीका विवाह हुआ।

विदर्भदेशमें भीष्मक नामसे प्रसिद्ध एक श्रेष्ठ राजा राज्य करते थे। उनके पाँच पुत्र थे और एक कन्या। पुत्रोंके नाम इस प्रकार थे—रुक्मी, रुक्मरथ, रुक्मबाहु, रुक्मकेश तथा रुक्ममाली। इन पाँचोंकी बहिन थी सती साध्वी रुक्मिणी। वह अपने घरपर आये हुए अतिथियोंके मुखसे भगवान् श्रीकृष्णके अनुपम सौन्दर्य, पराक्रम, गुण और वैभवकी प्रशंसा सुना करती थी। अतः उसने मन-ही-मन यह निश्चय किया कि एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही मेरे लिये योग्य पति हैं। भगवान् श्रीकृष्ण भी रुक्मिणीको अपने लिये योग्य पत्नी मानकर उसीके साथ विवाह करनेका विचार करते थे। रुक्मिणीके भाई-बन्धुओंकी भी यही इच्छा थी कि रुक्मिणीका विवाह श्रीकृष्णके साथ कर दिया जाय। परंतु रुक्मी श्रीकृष्णसे द्वेष रखता था। इसलिये उसने उस विवाहको रोककर शिशुपालको रुक्मिणीका पति बनानेका निश्चय किया। इससे रुक्मिणीके हृदयमें बड़ा दुःख हुआ, उसने बहुत कुछ सोच-विचारकर एक विश्वासपात्र ब्राह्मणको भगवान् श्रीकृष्णके पास भेजा। ब्राह्मण देवता द्वारकापुरीमें पहुँचे। द्वारपालोंने राजमहलके भीतर उनका प्रवेश कराया। ब्राह्मणने भीतर जाकर आदिपुरुष भगवान् श्रीकृष्णको सोनेके सिंहासनपर विराजमान देखा। ब्राह्मणोंको इष्टदेवके समान आदर देनेवाले श्रीकृष्ण उन ब्राह्मण देवताको देखते ही अपने आसनसे नीचे उतर गये। उन्हें आसनपर बिठाकर भगवान्‌ने उनका पूजन—आदर-सत्कार किया। फिर जब वे भोजन करके विश्राम कर चुके, तब भगवान् श्रीकृष्ण उनके पास गये और अपने कोमल

हाथोंसे उनके पैर सहलाते हुए बड़े शान्तभावसे पूछने लगे।

संतोषमें परम सुख

कच्चिद् द्विजवरश्रेष्ठ धर्मस्ते वृद्धसम्मतः।
वर्तते नातिकृच्छ्रेण संतुष्टमनसः सदा॥
संतुष्टो यर्हि वर्तेत ब्राह्मणो येन केनचित्।
अहीयमानः स्वाद्धर्मात् स ह्यस्याखिलकामधुक्॥
असंतुष्टोऽसकृल्लोकानाप्नोत्यपि सुरेश्वरः।
अकिञ्चनोऽपि संतुष्टः शेते सर्वाङ्गविज्वरः॥
विप्रान् स्वलाभसंतुष्टान् साधून् भूतसुहृत्तमान्।
निरहंकारिणः शान्तान् नमस्ये शिरसासकृत्॥
कच्चिद् वः कुशलं ब्रह्मन् राजतो यस्य हि प्रजाः।
सुखं वसन्ति विषये पाल्यमानाः स मे प्रियः॥
यतस्त्वमागतो दुर्गं निस्तीर्येह यदिच्छया।
सर्वं नो ब्रूह्यगुह्यं चेत् किं कार्यं करवाम ते॥

(श्रीमद्भागवत १०। ५२। ३०-३५)

'ब्राह्मणशिरोमणे! आपका चित्त तो सदा-सर्वदा संतुष्ट रहता है न? आपको अपने पूर्वपुरुषोंद्वारा स्वीकृत धर्मका पालन करनेमें कोई कठिनाई तो नहीं

होती ? ब्राह्मण यदि जो कुछ मिल जाय, उसीमें संतुष्ट रहे और अपने धर्मका पालन करे, उससे च्युत न हो तो वह संतोष ही उसकी सारी कामनाएँ पूर्ण कर देता है। यदि इन्द्रका पद पाकर भी किसीको सन्तोष न हो तो उसे सुखके लिये एक लोकसे दूसरे लोकमें बार-बार भटकना पड़ेगा; वह कहीं भी शान्तिसे बैठ नहीं सकेगा। परन्तु जिसके पास तनिक भी संग्रह-परिग्रह नहीं है और जो उसी अवस्थामें सन्तुष्ट है, वह सब प्रकारसे संतापरहित होकर सुखकी नींद सोता है। जो स्वयं प्राप्त हुई वस्तुसे संतोष कर लेते हैं, जिनका स्वभाव बड़ा ही मधुर है और जो समस्त प्राणियोंके परम हितैषी, अहङ्काररहित और शान्त हैं—उन ब्राह्मणोंको मैं सदा सिर झुकाकर नमस्कार करता हूँ। ब्राह्मण-देवता ! राजाकी ओरसे तो आपलोगोंको सब प्रकार-की सुविधा है न ? जिसके राज्यमें प्रजाका अच्छी तरह पालन होता है और वह आनन्दसे रहती है, वह राजा मुझे बहुत ही प्रिय है। ब्राह्मणदेवता ! आप कहाँ-से, किस हेतुसे और किस अभिलाषासे इतना कठिन मार्ग तय करके यहाँ पधारे हैं ? यदि कोई बात विशेष गोपनीय न हो तो हमसे कहिये। हम आपकी क्या सेवा करें ?

भगवान्‌ने जब इस प्रकार पूछा, तब ब्राह्मणदेवताने उनसे अपने आगमनका सारा प्रयोजन कह सुनाया। इसके बाद वे भगवान्‌से रुक्मिणीजीका संदेश सुनाने लगे।

रुक्मिणीजीने कहा है—'त्रिभुवनसुन्दर ! आपके गुणोंको, जो सुननेवालोंके कानोंके रास्ते हृदयमें प्रवेश करके एक-एक अङ्गके ताप, जन्म-जन्मकी जलन बुझा देते हैं तथा अपने सौन्दर्यको जो नेत्रवाले जीवोंके नेत्रोंके लिये धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंके फल एवं स्वार्थ-परमार्थ सब कुछ हैं, श्रवण करके प्यारे अच्युत ! मेरा चित्त लज्जा, शर्म—सब कुछ छोड़कर आपमें ही प्रवेश कर रहा है। प्रेमस्वरूप श्याम-सुन्दर ! चाहे जिस दृष्टिसे देखें—कुल, शील, स्वभाव, सौन्दर्य, विद्या, अवस्था, धन-धाम—सभीमें आप अद्वितीय हैं, अपने ही समान हैं। मनुष्यलोकमें जितने भी प्राणी हैं, सबका मन आपको देखकर शान्तिका अनुभव करता है, आनन्दित होता है। अब पुरुषभूषण ! आप ही बतलाइये ऐसी कौन-सी कुलवती, महागुणवती और धैर्यवती कन्या होगी, जो विवाहके योग्य समय आनेपर आपको ही पतिके रूपमें वरण न करेगी ? इसीलिये प्रियतम ! मैंने आपको पतिरूपसे वरण किया है। मैं आपको आत्मसमर्पण कर चुकी हूँ। आप अन्तर्यामी हैं। मेरे हृदयकी बात आपसे छिपी नहीं है। आप यहाँ पधारकर मुझे अपनी पत्नीके रूपमें स्वीकार कीजिये। कमलनयन ! प्राणवल्लभ ! मैं आप-सरीखे वीरको समर्पित हो चुकी हूँ, आपकी हूँ। अब जैसे सिंहका भाग सियार छू जाय, वैसे कहीं शिशुपाल निकटसे आकर मेरा स्पर्श न कर जाय। मैंने यदि जन्म-जन्ममें पूर्त (कुआँ, बावली आदि खुदवाना), इष्ट (यज्ञादि करना), दान, नियम, व्रत तथा देवता, ब्राह्मण और गुरु आदिकी पूजाके द्वारा भगवान् परमेश्वरकी ही आराधना की हो और वे मुझपर प्रसन्न हों तो, भगवान् श्रीकृष्ण आकर मेरा पाणिग्रहण करें; शिशुपाल अथवा दूसरा कोई भी पुरुष मेरा स्पर्श न कर सके। प्रभो ! आप अजित हैं। जिस दिन मेरा विवाह होनेवाला हो, उसके एक दिन पहले आप हमारी राजधानीमें गुप्तरूपसे आ जाइये और फिर बड़े-बड़े सेनापतियोंके साथ शिशुपाल तथा जरासंधकी सेनाओंको मथ डालिये, तहस-नहस कर दीजिये और बलपूर्वक राक्षस-विधिसे वीरताका मूल्य देकर मेरा पाणिग्रहण कीजिये। यदि आप यह सोचते हों कि 'तुम तो अन्तःपुरमें भीतरके जनाने महलोंमें पहरेके अंदर रहती हो, तुम्हारे भाई-बन्धुओंको मारे बिना मैं तुम्हें कैसे ले जा सकता हूँ ?', तो इसका उपाय मैं आपको बताये देती हूँ। हमारे कुलका ऐसा नियम है कि विवाहके पहले दिन कुलदेवीका दर्शन करनेके लिये एक बहुत बड़ी यात्रा होती है, जुलूस निकलता है, जिसमें विवाही जानेवाली कन्याको—दुलहिनको नगरके बाहर गिरिजादेवीके मन्दिरमें जाना पड़ता है। कमलनयन ! उमापति भगवान् शंकरके समान बड़े-बड़े महापुरुष भी आत्मशुद्धिके लिये आपके चरणकमलोंकी धूलिसे स्नान करना चाहते हैं। यदि मैं आप-का वह प्रसाद, आपकी वह चरणधूलि नहीं प्राप्त कर सकी तो व्रतद्वारा शरीरको सुखाकर प्राण छोड़ दूँगी। चाहे उसके लिये सैकड़ों जन्म क्यों न लेने पड़ें, कभी-न-कभी तो आपका वह प्रसाद अवश्य ही मिलेगा'।

ब्राह्मणदेवता बोले—यदुवंशशिरोमणे ! ये ही रुक्मिणी-

के अत्यन्त गोपनीय संदेश हैं, जिन्हें लेकर मैं आपके पास आया हूँ। इस विषयमें विचार करके आप जो आवश्यक कर्तव्य हो, उसे कीजिये।

भगवान्‌को जो जैसे चाहता है, भगवान् भी उसे वैसे ही चाहते हैं

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—

तथाहमपि तच्चित्तो निद्रां च न लभे निशि।
वेदाहं रुक्मिणा द्वेषान्ममोद्वाहो निवारितः॥
तामानयिष्य उन्मथ्य राजन्यापसदान् मृधे।
मत्परामनवद्याङ्गीमेधसोऽग्निशिखामिव॥

(श्रीमद्भागवत १०। ५३। २-३)

'ब्राह्मणदेवता! जैसे विदर्भराजकुमारी मुझे चाहती हैं, वैसे ही मैं भी उन्हें चाहता हूँ। मेरा चित्त उन्हींमें लगा रहता है। कहाँतक कहूँ, मुझे रातके समय नींद-तक नहीं आती। मैं जानता हूँ कि रुक्मीने द्वेषवश मेरा विवाह रोक दिया है। परंतु ब्राह्मणदेवता! आप देखियेगा, जैसे लकड़ियोंको मथकर—एक-दूसरेसे रगड़कर मनुष्य उनमेंसे आग निकाल लेता है, वैसे ही युद्धमें उन नामधारी क्षत्रियकुल-कलंकोंको तहस-नहस करके अपनेसे प्रेम करनेवाली परम सुन्दरी राजकुमारीको मैं निकाल लाऊँगा।'

भगवान् श्रीकृष्णद्वारा रुक्मिणीका बलपूर्वक अपहरण, शिशुपालके मित्र राजाओं तथा रुक्मीकी पराजय, भगवान् श्रीकृष्णका द्वारकामें रुक्मिणीके साथ विवाह, भगवान्‌के कठोर परिहाससे रुक्मिणीका भयसे मूर्च्छित होना तथा भगवान्‌का उन्हें सान्त्वना देना, रुक्मिणीका उत्तर

प्रेमपरवश, भक्तानुग्रह-कातर मधुसूदन श्रीकृष्णने यह जानकर कि रुक्मिणीके विवाहका लग्न परसों रात्रिमें ही है, सारथिको आज्ञा दी कि 'दारुक! तनिक भी विलम्ब न करके रथ जोत लाओ।' दारुक भगवान्‌के रथमें शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामके चार घोड़े जोतकर उसे ले आया और हाथ जोड़कर भगवान्‌के सामने खड़ा हो गया। शूरनन्दन श्रीकृष्ण ब्राह्मण देवताको पहले रथपर चढ़ाकर फिर आप भी सवार हुए और उन शीघ्रगामी घोड़ोंके द्वारा एक ही रातमें आनर्त-देशसे विदर्भदेशमें जा पहुँचे।

कुण्डिननरेश महाराज भीष्मक अपने बड़े लड़के रुक्मीके स्नेहवश अपनी कन्या शिशुपालको देनेके लिये विवाहोत्सवकी तैयारी करा रहे थे। नगरके राजपथ, चौराहे तथा गली-कूचे झाड़-बुहार दिये गये थे, उनपर छिड़काव किया जा चुका था। चित्र-विचित्र, रंग-बिरंगी, छोटी-बड़ी झंडियाँ और पताकाएँ लगा दी गयी थीं। तोरन बाँध दिये गये थे। वहाँके स्त्री-पुरुष पुष्पमाला, हार, इत्र-फुलेल, चन्दन, गहने और निर्मल वस्त्रोंसे सजे हुए थे। वहाँके सुन्दर-सुन्दर घरोंमेंसे अगरके धूपकी सुगन्ध फैल रही थी। राजा भीष्मकने पितर और देवताओंका विधिपूर्वक पूजन करके ब्राह्मणोंको भोजन कराया और नियमानुसार स्वस्ति-वाचन भी। सुशोभित दाँतोंवाली परम सुन्दरी राजकुमारी रुक्मिणीजीको स्नान कराया गया, उनके हाथोंमें मङ्गलसूत्र कङ्कण पहनाये गये, कोहबर बनाया गया, दो नये-नये वस्त्र उन्हें पहनाये गये और वे उत्तम-उत्तम आभूषणोंसे विभूषित की गयीं। श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने साम, ऋक् और यजुर्वेदके मन्त्रोंसे उनकी रक्षा की और अथर्ववेदके विद्वान् पुरोहितने ग्रह-शान्तिके लिये हवन किया। राजा भीष्मक कुलपरम्परा और शास्त्रीय विधियोंके बड़े जानकार थे। उन्होंने सोना, चाँदी, वस्त्र, गुड़ मिले हुए तिल और गौएँ ब्राह्मणोंको दीं।

इसी प्रकार चेदिनरेश राजा दमघोषने भी अपने पुत्र शिशुपालके लिये मन्त्रज्ञ ब्राह्मणोंसे अपने पुत्रके विवाह-सम्बन्धी मङ्गलकृत्य कराये। इसके बाद वे मद चुआते हुए हाथियों, सोनेकी मालाओंसे सजाये हुए रथों, पैदलों तथा घुड़सवारोंकी चतुरङ्गिणी सेना साथ लेकर कुण्डिनपुर जा पहुँचे। विदर्भराज भीष्मकने आगे आकर उनका स्वागत-सत्कार और प्रथाके अनुसार अर्चन-पूजन किया। इसके बाद उन लोगोंको पहलेसे ही निश्चित किये हुए

जनवासोंमें आनन्दपूर्वक ठहरा दिया । उस बारातमें शाल्व, जरासंध, दन्तवक्त्र, विदूरथ और पौण्ड्रक आदि शिशुपालके सहस्रों मित्र नरपति आये थे । वे सब राजा श्रीकृष्ण और बलरामजीके विरोधी थे और राजकुमारी रुक्मिणी शिशुपालको ही मिले, इस विचारसे आये थे । उन्होंने अपने मनमें यह पहले ही निश्चय कर रक्खा था कि यदि श्रीकृष्ण बलराम आदि यदुवंशियोंके साथ आकर कन्याको हरनेकी चेष्टा करेगा तो हम सब मिलकर उससे लड़ेंगे । यही कारण था कि उन राजाओंने अपनी-अपनी पूरी सेना, रथ, घोड़े, हाथी आदि भी अपने साथ ले लिये थे ।

विपक्षी राजाओंकी इस तैयारीका पता भगवान् बलरामजीको लग गया और जब उन्होंने यह सुना कि भैया श्रीकृष्ण अकेले ही राजकुमारीका हरण करनेके लिये चले गये हैं, तब उन्हें वहाँ लड़ाई-झगड़ेकी बड़ी आशङ्का हुई । यद्यपि वे श्रीकृष्णका बल-विक्रम जानते थे, फिर भी भ्रातृ-स्नेहसे उनका हृदय भर आया; वे तुरंत ही हाथी, घोड़े, रथ और पैदलोंकी बड़ी भारी चतुरङ्गिणी सेना साथ लेकर कुण्डिनपुरके लिये चल पड़े ।

इधर, परमसुन्दरी रुक्मिणीजी भगवान् श्रीकृष्णके शुभागमनकी प्रतीक्षा कर रही थीं । उन्होंने देखा श्रीकृष्णकी तो कौन कहे, अभी ब्राह्मण देवता भी नहीं लौटे । वे बड़ी चिन्तामें पड़ गयीं, 'अहो ! अब मुझ अभागिनीके विवाहमें केवल एक ही रातकी देरी है । परंतु मेरे जीवनसर्वस्व कमलनयन भगवान् अब भी नहीं पधारे । इसका क्या कारण हो सकता है, कुछ निश्चय नहीं मालूम पड़ता । यही नहीं, मेरे संदेश ले जानेवाले ब्राह्मणदेवता भी तो अभी तक नहीं लौटे । इसमें संदेह नहीं कि भगवान् श्रीकृष्णका स्वरूप परम शुद्ध है और विशुद्ध पुरुष ही उनसे प्रेम कर सकते हैं । उन्होंने मुझमें कुछ-न-कुछ बुराई देखी होगी, तभी तो मेरा हाथ पकड़नेके लिये—मुझे स्वीकार करनेके लिये उद्यत होकर वे यहाँ नहीं पधार रहे हैं ! ठीक है, मेरे भाग्य ही मन्द हैं । विधाता और भगवान् शंकर भी मेरे अनुकूल नहीं जान पड़ते । यह भी सम्भव है कि रुद्रपत्नी गिरिराजकुमारी सती पार्वतीजी मुझसे अप्रसन्न हों ।'

रुक्मिणीजी इसी उधेड़-बुनमें पड़ी हुई थीं । उनका सम्पूर्ण मन और उनके सारे मनोभाव भक्तमनचोर भगवान्ने चुरा लिये थे । उन्होंने उन्हींको सोचते-सोचते 'अभी समय है' ऐसा समझकर अपने आँसूभरे नेत्र बंद कर लिये । इस प्रकार रुक्मिणीजी भगवान् श्रीकृष्णके शुभागमनकी प्रतीक्षा कर रही थीं । इसी समय उनकी बायीं जाँघ, भुजा और नेत्र फड़कने लगे, जो प्रियतमके आगमनका प्रिय संवाद सूचित कर रहे थे । इतनेमें ही भगवान् श्रीकृष्णके भेजे हुए वे ब्राह्मणदेवता आ गये और उन्होंने अन्तःपुरमें राजकुमारी रुक्मिणीको इस प्रकार देखा, मानो कोई ध्यानमग्न देवी हो । सती रुक्मिणीजीने देखा ब्राह्मणदेवताका मुख प्रफुल्लित है । उनके मन और चेहरेपर किसी प्रकारकी घबराहट नहीं है । वे उन्हें देखकर लक्षणोंसे ही समझ गयीं कि भगवान् श्रीकृष्ण आ गये । फिर प्रसन्नतासे खिलकर उन्होंने ब्राह्मणदेवतासे पूछा । तब ब्राह्मणदेवताने निवेदन किया कि 'भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ पधार गये हैं' और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की । यह भी बतलाया कि 'राजकुमारीजी ! आपको ले जानेकी उन्होंने सत्य प्रतिज्ञा की है' । भगवान्के शुभागमनका समाचार सुनकर रुक्मिणीजीका हृदय आनन्दातिरेकसे भर गया । उन्होंने इसके बदलेमें ब्राह्मणके लिये भगवान्के अतिरिक्त और कुछ भी प्रिय न देखकर उन्होंने केवल नमस्कार कर लिया । अर्थात् जगत्की समग्र लक्ष्मी ब्राह्मण देवताको सौंप दी ।

राजा भीष्मकने सुना कि भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी मेरी कन्याका विवाह देखनेके लिये उत्सुकता-वश यहाँ पधारे हैं । तब तुरही, भेरी आदि बाजे बजवाते हुए पूजाकी सामग्री लेकर उन्होंने उनकी अगवानी की और मधुपर्क, निर्मल वस्त्र तथा उत्तम-उत्तम भेंट देकर विधिपूर्वक उनकी पूजा की । भीष्मकजी बड़े बुद्धिमान् थे । भगवान्के प्रति उनकी बड़ी भक्ति थी । उन्होंने भगवान्को सेना और साथियोंके सहित समस्त सामग्रियोंसे युक्त निवास-स्थानमें ठहराया और उनका यथावत् आतिथ्य-सत्कार किया । विदर्भराज भीष्मकजीके यहाँ निमन्त्रणमें जितने राजा आये, उन्होंने उनके पराक्रम, अवस्था, बल और धनके अनुसार सारी इच्छित वस्तुएँ देकर सबका खूब सत्कार किया । विदर्भदेशके नागरिकोंने जब सुना कि भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ पधारे हैं, तब वे लोग भगवान्के निवास-स्थानपर आये और अपने नयनोंकी अञ्जलिमें भर-भरकर उनके वदनारविन्दका मधुर मकरन्द-रस पान करने लगे । वे आपसमें इस प्रकार बातचीत करते थे—'रुक्मिणी इन्हींकी अर्द्धाङ्गिनी होनेके योग्य है और ये परम पवित्र

मूर्ति श्यामसुन्दर रुक्मिणीके ही योग्य पति हैं । दूसरी कोई इनकी पत्नी होनेके योग्य नहीं है । यदि हमने अपने पूर्वजन्म या इस जन्ममें कुछ भी सत्कर्म किया हो, तो त्रिलोक-विधाता भगवान् हमपर प्रसन्न हों और ऐसी कृपा करें कि श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण ही विदर्भ-राजकुमारी रुक्मिणीजीका पाणिग्रहण करें ।'

जिस समय प्रेम-परवश होकर पुरवासी लोग परस्पर इस प्रकार बातचीत कर रहे थे, उसी समय रुक्मिणीजी अन्तःपुरसे निकलकर देवीजीके मन्दिरके लिये चलीं । बहुत-से सैनिक उनकी रक्षामें नियुक्त थे । वे प्रेममूर्ति श्रीकृष्णचन्द्रके चरण-कमलोंका चिन्तन करती हुई भगवती भवानीके पादपल्लवों-का दर्शन करनेके लिये पैदल ही चलीं । वे स्वयं मौन थीं और माताएँ तथा सखी-सहेलियाँ सब ओरसे उन्हें घेरे हुए थीं । शूरवीर राजसैनिक हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र उठाये, कवच पहने उनकी रक्षा कर रहे थे । देवीजीके मन्दिरमें पहुँचकर रुक्मिणीजीने अपने कमलके सदृश सुकोमल हाथ-पैर धोये, आचमन किया; इसके बाद बाहर-भीतरसे पवित्र एवं शान्तभावसे युक्त होकर अम्बिका देवीके मन्दिरमें प्रवेश किया । बहुत-सी विधि-विधान जाननेवाली बड़ी-बूढ़ी ब्राह्मणियाँ उनके साथ थीं । उन्होंने भगवान् शंकरकी अर्द्धाङ्गिनी भवानीको और भगवान् शंकरजीको भी रुक्मिणीजी-से प्रणाम करवाया । रुक्मिणीजीने भगवतीसे प्रार्थना की— 'अम्बिका माता ! आपकी गोदमें बैठे हुए आपके प्रिय पुत्र गणेशजीको तथा आपको मैं बार-बार नमस्कार करती हूँ । आप ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि मेरी अभिलाषा पूर्ण हो ! भगवान् श्रीकृष्ण ही मेरे पति हों ।' इसके बाद रुक्मिणीजीने जल, गन्ध, अक्षत, धूप, वस्त्र, पुष्पमाला, हार, आभूषण, अनेकों प्रकारके नैवेद्य, भेंट और आरती आदि सामग्रियोंसे अम्बिका देवीकी पूजा की । तदनन्तर उक्त सामग्रियोंसे तथा नमक, पूआ, पान, कण्ठसूत्र, फल और ईखसे सुहागिन ब्राह्मणियोंकी भी पूजा की । तब ब्राह्मणियोंने उन्हें प्रसाद देकर आशीर्वाद दिये और दुलहिनने ब्राह्मणियों और माता अम्बिकाको नमस्कार करके प्रसाद ग्रहण किया । पूजा-अर्चाकी विधि समाप्त हो जानेपर उन्होंने मौन व्रत तोड़ दिया और रत्नजटित अँगूठीसे जगमगाते हुए करकमलके द्वारा एक सहेलीका हाथ पकड़कर वे गिरिजामन्दिरसे बाहर निकलीं ।

रुक्मिणी भगवान्‌की मायाके समान ही बड़े-बड़े धीर-वीरोंको भी मोहित कर लेनेवाली थीं । उनका कटिभाग बहुत ही सुन्दर और पतला था । मुखमण्डलपर कुण्डलोंकी शोभा जगमगा रही थी । वे किशोर और तरुण अवस्थाकी सन्धिमें स्थित थीं । नितम्बपर जड़ाऊ करधनी शोभायमान हो रही थी, वक्षःस्थल कुछ उभरे हुए थे और उनकी दृष्टि लटकती हुई अलकोंके कारण कुछ चञ्चल हो रही थी । उनके होठोंपर मनोहर मुसकान थी । उनके दाँतोंकी पाँत थी तो कुन्दकलीके समान परम उज्ज्वल, परंतु पके हुए कुँदरूके समान लाल-लाल होठोंकी चमकसे उसपर भी लालिमा आ गयी थी । उनके पाँवोंके पायजेव चमक रहे थे और उनमें लगे हुए छोटे-छोटे घुँघरू रुनझुन-रुनझुन कर रहे थे । वे अपने सुकुमार चरणकमलोंसे पैदल ही राजहंसकी गतिसे चल रही थीं । उनकी वह अपूर्व छबि देखकर वहाँ आये हुए बड़े-बड़े यशस्वी वीर सब मोहित हो गये । रुक्मिणीजी इस प्रकार इस उत्सव-यात्राके बहाने मन्द-मन्द गतिसे चलकर भगवान् श्रीकृष्णपर अपना राशि-राशि सौन्दर्य निछावर कर रही थीं । उन्हें देखकर और उनकी खुली मुसकान तथा लजीली चितवनपर अपना चित्त लुटाकर वे बड़े-बड़े नरपति एवं वीर इतने मोहित और बेसुध हो गये कि उनके हाथोंसे अस्त्र-शस्त्र छूटकर गिर पड़े और वे स्वयं भी रथ, हाथी तथा घोड़ोंसे धरतीपर आ गिरे । इस प्रकार रुक्मिणीजी भगवान् श्रीकृष्णके शुभागमन-की प्रतीक्षा करती हुई अपने कमलकी कलीके समान सुकुमार चरणोंको बहुत ही धीरे-धीरे आगे बढ़ा रही थीं । उन्होंने अपने बा ँ हाथकी अंगुलियोंसे मुखकी ओर लटकती हुई अलकें हटायीं और वहाँ आये हुए नरपतियोंकी ओर लजीली चितवनसे देखा । उसी समय उन्हें श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन हुए । राजकुमारी रुक्मिणीजी रथपर चढ़ना ही चाहती थीं कि भगवान् श्रीकृष्णने समस्त शत्रुओंके देखते-देखते उनकी भीड़मेंसे रुक्मिणीजीको उठा लिया और उन सैकड़ों राजाओंके सिरपर पाँव रखकर उन्हें अपने उस रथपर बैठा लिया, जिसकी ध्वजापर गरुड़का चिह्न लगा हुआ था । इसके बाद जैसे सिंह सियारोंके बीचमें-से अपना भाग ले जाय, वैसे ही रुक्मिणीजीको लेकर भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजी आदि यदुवंशियोंके साथ वहाँसे चल पड़े । उस समय जरासन्धके वशवर्ती अभिमानी राजाओंको अपना यह बड़ा भारी तिरस्कार और यश-कीर्तिका नाश सहन न हुआ । वे सब-के-सब चिढ़कर कहने लगे—'अहो,

हमें धिक्कार है। आज हमलोग धनुष धारण करके खड़े ही रहे और ये ग्वाले, जैसे सिंहके भागको हरिन ले जायँ, उसी प्रकार हमारा सारा यश छीन ले गये।'

तदनन्तर शिशुपालके साथी राजा जरासन्ध आदिने एक साथ ही श्रीकृष्णपर धावा बोल दिया। यह देख यदुवंशियोंके सेनापतियोंने अपने-अपने धनुषका टङ्कार किया और घूमकर उनके सामने डट गये। वहाँ उभयपक्षकी सेनाओंमें घमासान युद्ध हुआ। अन्तमें विजयकी सच्ची आकाङ्क्षावाले यदुवंशियोंने शत्रुओंकी सेना तहस-नहस कर डाली। जरासन्ध आदि सभी नरेश युद्धसे पीठ दिखाकर भाग खड़े हुए।

उधर शिशुपाल अपनी भावी पत्नीके छिन जानेसे मरणासन्न-सा हो रहा था। न तो उसके हृदयमें उत्साह रह गया था और न शरीरपर कान्ति ही थी। उसका मुँह सूख रहा था। उस अवस्थामें जरासन्ध आदिने आकर उसे समझा-बुझा किसी तरह धीरज बँधाया। तब शिशुपाल और उसके साथी अपने-अपने नगरोंको लौट गये। रुक्मी श्रीकृष्णसे सदा द्वेष रखता था। उसको यह बात सहन नहीं हुई कि मेरी बहिनको श्रीकृष्ण हर ले जायँ और उससे राक्षस-रीतिसे विवाह करें। उस बलवान् वीरने एक अक्षौहिणी सेना साथ ले ली और श्रीकृष्णका पीछा किया। जानेसे पहले उसने समस्त राजाओंके सामने अपनी यह प्रतिज्ञा घोषित की कि 'यदि मैं युद्धमें श्रीकृष्णको न मार सका और अपनी बहिन रुक्मिणीको न लौटा सका तो कुण्डिनपुरमें प्रवेश नहीं करूँगा। यह मैं आप लोगोंके सामने सत्य कहता हूँ।' यह कह रथपर सवार हो वह सारथिसे बोला—'जहाँ श्रीकृष्ण हो, वहाँ शीघ्र-से-शीघ्र मेरा रथ ले चलो। आज उसीके साथ मेरा युद्ध होगा। जिसने बलपूर्वक मेरी बहिनका अपहरण किया है, उस खोटी बुद्धिवाले ग्वालेके बल-वीर्यका घमंड आज मैं अपने तीखे बाणोंसे चूर-चूर कर दूँगा।'

रुक्मी भगवान्के प्रभावको बिल्कुल नहीं जानता था। उसकी सेना तो इधर ही रोक ली गयी थी। वह एकमात्र रथके द्वारा ही श्रीकृष्णके पास जा पहुँचा और ललकारने लगा—'अरे! खड़ा रहा, खड़ा रह।' यों कहकर उसने श्रीकृष्णको तीन बाण मारे और उनपर भारी आक्षेप किया। श्रीकृष्णने हँसकर रुक्मीका धनुष काट डाला और छः बाण मारकर रुक्मीको भी घायल कर दिया। फिर आठ बाणोंद्वारा उसके चारों घोड़ोंको तथा दो बाणोंसे सारथिको भी क्षत-विक्षत करके तीन बाणोंसे उसके रथकी ध्वजाको काट डाला। तब रुक्मीने दूसरा धनुष लेकर श्रीकृष्णको पाँच बाण मारे, इतनेहीमें श्रीकृष्णने उसका वह धनुष भी काट डाला। उसने पुनः दूसरा धनुष उठाया, किंतु लगे हाथ श्रीकृष्णने उसे भी काट दिया। इस प्रकार रुक्मीने परिघ, पट्टिश, शूल, ढाल, तलवार, शक्ति और तोमर जो-जो अस्त्र उठाये, सबको भगवान्ने तत्काल काट डाला। अब रुक्मी क्रुद्ध हो हाथमें नंगी तलवार ले श्रीकृष्णको मार डालनेके लिये रथसे कूद पड़ा और उनकी ओर इस तरह झपटा, जैसे पतिंगा आगकी ओर लपकता है। उसे आक्रमण करते देख भगवान्ने अपने बाणोंद्वारा उसकी ढाल, तलवारको तिल-तिल करके काट दिया और उसका वध करनेके लिये उद्यत हो हाथमें तीखी तलवार ले ली।

यह देख रुक्मिणी भयसे व्याकुल हो उठी और पतिके चरणोंमें गिरकर करुण स्वरमें बोली—'देवदेव! जगत्पते! महाबाहो! मेरे भैयाको मारना आपको उचित नहीं है।' परम कृपालु भगवान्ने रुक्मिणीको भयभीत देख दयासे द्रवित हो रुक्मीको मार डालनेका विचार छोड़ दिया, परंतु उसे उसीके दुपट्टेसे बाँध दिया और उसकी दाढ़ी, मूँछ तथा केश कई जगहसे मूँड़कर उसे कुरूप बना दिया। इसी बीचमें यदुवंशी वीरोंने शत्रुकी अद्भुत सेनाको तहस-नहस कर डाला। फिर वे लोग उधरसे लौटकर श्रीकृष्णके पास आये तो देखा कि रुक्मी दुपट्टेसे बँधा हुआ अधमरी अवस्थामें पड़ा है। उसे देखकर बलरामजीको बड़ी दया आयी और उन्होंने उसके बन्धन खोलकर उसे छोड़ दिया और रुक्मिणीको समझा-बुझाकर शान्त किया। वह भोजकट नामक नगर बसाकर वहीं रहने लगा। कुण्डिनपुरमें उसने मुँह नहीं दिखाया। द्वारकामें आनेपर रुक्मिणीके साथ श्रीकृष्णका विवाह-संस्कार बड़ी धूमधामके साथ सम्पन्न हुआ। भगवती लक्ष्मीजीको रुक्मिणीके रूपमें साक्षात् लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्णके साथ विराजमान देख द्वारकावासी नर-नारियोंको परम आनन्द प्राप्त हुआ।

एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण रुक्मिणीजीके साथ पलंगपर पौढ़े हुए थे। रुक्मिणीजी सखियोंसहित पतिकी सेवामें संलग्न थीं। उन्हें पंखा झल रही थीं। उसी समय मुस्कराते हुए भगवान्ने उनसे यह बात कही—

हास्य-विनोदके रूपमें भगवान्‌का अपना स्वरूप-कथन

राजपुत्रीप्सिता भूपैर्लोकपालविभूतिभिः ।
महानुभावैः श्रीमद्भी रूपौदार्यबलोर्जितैः ॥
तान् प्राप्तानर्थिनो हित्वा चैद्यादीन् स्मरदुर्मदान् ।
दत्ता भ्रात्रा स्वपित्रा च कस्मान्नो ववृषेऽसमान् ॥
राजभ्यो बिभ्यतः सुभ्रूः समुद्रं शरणं गतान् ।
बलवद्भिः कृतद्वेषान् प्रायस्त्यक्तनृपासनान् ॥
अस्पष्टवर्त्मनां पुंसामलोकपथमीयुषाम् ।
आस्थिताः पदवीं सुभ्रूः प्रायः सीदन्ति योषितः ॥
निष्किञ्चना वयं शश्वन्निष्किञ्चनजनप्रियाः ।
तस्मात् प्रायेण न ह्याढ्या मां भजन्ति सुमध्यमे ॥
ययोरात्मसमं वित्तं जन्मैश्वर्याकृतिर्भवः ।
तयोर्विवाहो मैत्री च नोत्तमाधमयोः क्वचित् ॥
वैदर्भ्येतदविज्ञाय त्वयादीर्घसमीक्षया ।
वृता वयं गुणैर्हीना भिक्षुभिः श्लाघिता मुधा ॥
अथात्मनोऽनुरूपं वै भजस्व क्षत्रियर्षभम् ।
येन त्वमाशिषः सत्या इहामुत्र च लप्स्यसे ॥
चैद्यशाल्वजरासंधदन्तवक्त्रादयो नृपाः ।
मम द्विषन्ति वामोरु रुक्मी चापि तवाग्रजः ॥
तेषां वीर्यमदान्धानां दृप्तानां स्मयनुत्तये ।
आनीतासि मया भद्रे तेजोऽपहरतासताम् ॥
उदासीना वयं नूनं न स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः ।
आत्मलब्ध्याऽऽस्महे पूर्णा गेहयोर्ज्योतिरक्रियाः ॥

(श्रीमद्भागवत १० । ६० । १०—२०)

'राजकुमारी ! बड़े-बड़े नरपति, जिनके पास लोकपालोंके समान ऐश्वर्य और सम्पत्ति है, जो बड़े महानुभाव और श्रीमान् हैं तथा सुन्दरता, उदारता और बलमें भी बहुत आगे बढ़े हुए हैं; तुमसे विवाह करना चाहते थे । तुम्हारे पिता और भाई भी उन्हींके साथ तुम्हारा विवाह करना चाहते थे, यहाँतक कि उन्होंने वाग्दान भी कर दिया था । शिशुपाल आदि बड़े-बड़े वीरोंको, जो कामोन्मत्त होकर तुम्हारे याचक बन रहे थे, तुमने छोड़ दिया और मेरे-जैसे व्यक्तिको, जो किसी प्रकार तुम्हारे समान नहीं है, अपना पति स्वीकार किया । भला, तुमने ऐसा क्यों किया ? सुन्दरी ! देखो, हम जरासन्ध आदि राजाओंसे डरकर समुद्रकी शरणमें आ बसे हैं । बड़े-बड़े बलवानोंसे हमने वैर बाँध रक्खा है और प्रायः राजसिंहासनके अधिकारसे भी हम वञ्चित ही हैं । सुन्दरी ! हम किस मार्गके अनुयायी हैं, हमारा कौन-सा मार्ग है, यह भी लोगोंको अच्छी तरह मालूम नहीं है । हमलोग लौकिक व्यवहारका भी ठीक-ठीक पालन नहीं करते, अनुनय-विनयके द्वारा स्त्रियोंको रिझाते भी नहीं । जो स्त्रियाँ हमारे-जैसे पुरुषोंका अनुसरण करती हैं, उन्हें प्रायः क्लेश-ही-क्लेश भोगना पड़ता है । सुन्दरी ! हम तो सदाके अकिञ्चन हैं । न तो हमारे पास कभी कुछ था और न रहेगा । ऐसे ही अकिञ्चन लोगोंसे हम प्रेम भी करते हैं, और वे लोग भी हमसे प्रेम करते हैं । यही कारण है कि अपनेको धनी समझनेवाले लोग प्रायः हमसे प्रेम नहीं करते, हमारी सेवा नहीं करते । जिनका धन, कुल, ऐश्वर्य, सौन्दर्य और आय अपने समान होती है—उन्हींसे विवाह और मित्रताका सम्बन्ध करना चाहिये । जो अपनेसे श्रेष्ठ या अधम हों, उनसे नहीं करना चाहिये । विदर्भराजकुमारी ! तुमने अपनी अदूरदर्शिताके कारण इन बातोंका विचार नहीं किया और बिना जाने-बूझे भिक्षुकोंसे मेरी झूठी प्रशंसा सुनकर मुझ गुणहीनको वरण कर लिया । अब भी कुछ बिगड़ा नहीं है । तुम अपने अनुरूप किसी श्रेष्ठ क्षत्रियको वरण कर लो, जिसके द्वारा तुम्हारी इहलोक और परलोककी सारी आशाएँ पूरी हो सकें । सुन्दरी ! तुम जानती ही हो कि शिशुपाल, शाल्व, जरासन्ध, दन्तवक्त्र आदि नरपति और तुम्हारा बड़ा भाई रुक्मी—सभी मुझसे द्वेष करते थे । कल्याणी ! वे सब बल-पौरुषके मदसे अंधे हो रहे थे, अपने सामने किसीको कुछ नहीं गिनते थे । उन

दुष्टोंका मान मर्दन करनेके लिये ही मैंने तुम्हारा हरण किया था। और कोई कारण नहीं था। निश्चय ही हम उदासीन हैं। हम स्त्री, संतान और धनके लोलुप नहीं हैं। निष्क्रिय और देह-गेहसे सम्बन्धरहित दीपशिखाके समान साक्षीमात्र हैं। हम अपने आत्माके साक्षात्कारसे ही पूर्णकाम हैं, कृतकृत्य हैं।'

भगवान् श्रीकृष्णके क्षणभरके लिये भी अलग न होनेके कारण रुक्मिणीजीको यह अभिमान हो गया था कि मैं इनकी सबसे अधिक प्यारी हूँ। इसी गर्वकी शान्तिके लिये इतना कहकर भगवान् चुप हो गये। परीक्षित्! जब रुक्मिणीजीने अपने परमप्रियतम पति त्रिलोकेश्वर भगवान्की ऐसी अप्रिय वाणी सुनी—जैसी पहले कभी नहीं सुनी थी, तब वे अत्यन्त भयभीत हो गयीं; उनका हृदय धड़कने लगा, वे रोते-रोते चिन्ताके अगाध समुद्रमें डूबने-उतराने लगीं। वे अपने कमलके समान कोमल और नखोंकी लालिमासे कुछ-कुछ लाल प्रतीत होनेवाले चरणोंसे धरती कुरेदने लगीं। अञ्जनसे मिले हुए काले-काले आँसू केशरसे रँगे हुए वक्षःस्थलको धोने लगे। मुँह नीचेको लटक गया। अत्यन्त दुःखके कारण उनकी वाणी रुक गयी और वे ठिठकी-सी रह गयीं। अत्यन्त व्यथा, भय और शोकके कारण उनकी विचारशक्ति लुप्त हो गयी। वियोगकी सम्भावनासे वे तत्क्षण इतनी दुबली हो गयीं कि उनकी कलाईका कंगनतक खिसक गया। हाथका चँवर गिर पड़ा, बुद्धिकी विकलताके कारण वे एकाएक अचेत हो गयीं, केश बिखर गये और वे वायुवेगसे उखड़े हुए केलेके खंभेकी तरह धरतीपर गिर पड़ीं। भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि मेरी प्रेयसी रुक्मिणीजी हास्य-विनोदकी गम्भीरता नहीं समझ रही हैं और प्रेम-पाशकी दृढ़ताके कारण उनकी यह दशा हो रही है। स्वभावसे ही परम कारुणिक भगवान् श्रीकृष्णका हृदय उनके प्रति करुणासे भर गया। चार भुजाओंवाले वे भगवान् उसी समय पलँगसे उतर पड़े और रुक्मिणीजीको उठा लिया तथा उनके खुले हुए केशपाशोंको बाँधकर अपने शीतल करकमलोंसे उनका मुँह पोंछ दिया। भगवान्ने उनके नेत्रके आँसू और शोकके आँसुओंसे भींगे हुए स्तनोंको पोंछकर अपने प्रति अनन्य प्रेमभाव रखनेवाली उन सती रुक्मिणीजीको बाँहोंमें भरकर छातीसे लगा लिया। भगवान् श्रीकृष्ण समझाने-बुझानेमें बड़े कुशल और अपने प्रेमी भक्तोंके एकमात्र आश्रय हैं। जब उन्होंने देखा कि हास्यकी गम्भीरताके कारण रुक्मिणीजीकी बुद्धि चक्करमें पड़ गयी है और वे अत्यन्त दीन हो रही हैं, तब उन्होंने इस अवस्थाके अयोग्य अपनी प्रेयसी रुक्मिणीजीको समझाया—

प्रणय-कोपसे सुख होता है

मा मा वैदर्भ्यसूयेथा जाने त्वां मत्परायणाम्।
त्वद्वचः श्रोतुकामेन क्ष्वेल्याऽऽचरितमङ्गने॥
मुखं च प्रेमसंरम्भस्फुरिताधरमीक्षितुम्।
कटाक्षेपारुणापाङ्गं सुन्दरभ्रुकुटीतटम्॥
अयं हि परमो लाभो गृहेषु गृहमेधिनाम्।
यन्नर्मैर्नीयते यामः प्रियया भीरु भामिनि॥

(श्रीमद्भागवत १०। ६०। २९-३१)

'विदर्भनन्दिनी! तुम मुझसे बुरा मत मानना। मुझसे रूठना नहीं। मैं जानता हूँ कि तुम एकमात्र मेरे ही परायण हो। मेरी प्रिय सहचरी! तुम्हारी प्रेमभरी बात सुननेके लिये ही मैंने हँसी-हँसीमें यह छलना की थी। मैं देखना चाहता था कि मेरे यों कहनेपर तुम्हारे लाल-लाल होठ प्रणय-कोपसे किस प्रकार फड़कने लगते हैं। तुम्हारे कटाक्षपूर्वक देखनेसे नेत्रोंमें कैसी लाली छा जाती है और भौंहें चढ़ जानेके कारण तुम्हारा मुँह कैसा सुन्दर लगता है। मेरी परमप्रिये! सुन्दरी! घरके काम-धंधोंमें रात-दिन लगे रहनेवाले गृहस्थोंके लिये घर-गृहस्थीमें इतना ही तो परम लाभ है कि अपनी प्रिय अर्द्धाङ्गिनीके साथ हास-परिहास करते हुए कुछ घड़ियाँ सुखसे बिता ली जाती हैं।'

जब भगवान् श्रीकृष्णने अपनी प्राणप्रियाको इस प्रकार समझाया-बुझाया, तब उन्हें इस बातका विश्वास हो गया कि मेरे प्रियतमने केवल परिहासमें ही ऐसा कहा था। अब उनके हृदयसे यह भय जाता रहा कि प्यारे मुझे छोड़ देंगे। साथ ही उनके हृदयमें भगवान्का स्वरूप-ज्ञान जाग्रत् हो आया और वे भगवान्के शब्दोंका यथार्थ

अर्थ समझकर सलज्ज हास्य और प्रेमपूर्ण मधुर चितवनसे पुरुषभूषण भगवान् श्रीकृष्णका मुखारविन्द निरखती हुई उनसे कहने लगीं—

रुक्मिणीने कहा—कमलनयन ! आपका यह कहना ठीक है कि ऐश्वर्य आदि समस्त गुणोंसे युक्त, अनन्त भगवान्‌के अनुरूप मैं नहीं हूँ । आपकी समानता मैं किसी प्रकार नहीं कर सकती । कहाँ तो अपनी अखण्ड महिमामें स्थित, तीनों गुणोंके स्वामी तथा ब्रह्मा आदि देवताओंसे सेवित आप भगवान्, और कहाँ तीनों गुणोंके अनुसार स्वभाव रखनेवाली गुणमयी प्रकृति मैं, जिसकी सेवा कामनाओंके पीछे भटकनेवाले अज्ञानी लोग ही करते हैं । भला, मैं आपके समान कब हो सकती हूँ ? स्वामिन् ! आपका यह कहना भी ठीक ही है कि आप राजाओंके भयसे समुद्रमें आ छिपे हैं । परंतु राजा शब्दका अर्थ पृथ्वीके राजा नहीं, तीनों गुणरूप राजा हैं । मानो आप उन्हींके भयसे अन्तःकरणरूप समुद्रमें चैतन्यघन अनुभूतिस्वरूप आत्माके रूपमें विराजमान रहते हैं । इसमें संदेह नहीं कि आप राजाओंसे वैर रखते हैं। परन्तु वे राजा कौन हैं ? यही अपनी दुष्ट इन्द्रियाँ । इनसे तो आपका वैर है ही । और प्रभो ! आप राजसिंहासनसे रहित हैं, यह भी ठीक ही है; क्योंकि आपके चरणोंकी सेवा करनेवालोंने भी राजाके पदको घोर अज्ञानान्धकार समझकर दूरसे ही दुत्कार रक्खा है । फिर आपके लिये तो कहना ही क्या है । आप कहते हैं कि हमारा मार्ग स्पष्ट नहीं है और हम लौकिक पुरुषों-जैसा आचरण भी नहीं करते, सो यह बात भी निस्सन्देह सत्य है; क्योंकि जो ऋषि-मुनि आपके पादपद्मोंका मकरन्द-रस सेवन करते हैं, उनका मार्ग भी अस्पष्ट रहता है और विषयोंमें उलझे हुए नरपशु उसका अनुमान भी नहीं लगा सकते । और हे अनन्त ! आपके मार्गपर चलनेवाले आपके भक्तोंकी भी चेष्टाएँ जब प्रायः अलौकिक ही होती हैं, तब समस्त शक्तियों और ऐश्वर्योंके आश्रय आपकी चेष्टाएँ अलौकिक हों, इसमें तो कहना ही क्या है ? आपने अपनेको अकिञ्चन बतलाया है; परन्तु आपकी अकिञ्चनता दरिद्रता नहीं है । उसका अर्थ यह है कि आपके अतिरिक्त और कोई वस्तु न होनेके कारण आप ही सब कुछ हैं । आपके पास रखनेके लिये कुछ नहीं है, परन्तु जिन ब्रह्मा आदि देवताओंकी पूजा सब लोग करते हैं, भेंट देते हैं, वे ही लोग आपकी पूजा करते रहते हैं। आप उनके प्यारे हैं और वे आपके प्यारे हैं। (आपका यह कहना भी सर्वथा उचित है कि धनाढ्य लोग मेरा भजन नहीं करते;) जो लोग अपनी धनाढ्यताके अभिमान-से अंधे हो रहे हैं और इन्द्रियोंको तृप्त करनेमें ही लगे हैं, वे न तो आपका भजन-सेवन ही करते और न तो यह जानते हैं कि आप मृत्युके रूपमें उनके सिरपर सवार हैं। जगत्‌में जीवके लिये जितने भी वाञ्छनीय पदार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—उन सबके रूपमें आप ही प्रकट हैं। आप समस्त वृत्तियों—प्रवृत्तियों, साधनों, सिद्धियों और साध्योंके फलस्वरूप हैं । विचारशील पुरुष आपको प्राप्त करनेके लिये सब कुछ छोड़ देते हैं । भगवन् ! उन्हीं विवेकी पुरुषोंका आपके साथ सम्बन्ध होना चाहिये । जो लोग स्त्री-पुरुषके सहवाससे प्राप्त होनेवाले सुख या दुःखके वशीभूत हैं, वे कदापि आपका सम्बन्ध प्राप्त करने योग्य नहीं हैं । यह ठीक है कि भिक्षुकोंने आपकी प्रशंसा की है। परन्तु किन भिक्षुकोंने ? उन परम शान्त सर्वत्यागी महात्माओंने आपकी महिमा और प्रभावका वर्णन किया है, जिन्होंने अपराधी-से-अपराधी व्यक्तिको भी दण्ड न देनेका निश्चय कर लिया है । मैंने अदूरदर्शितासे नहीं, इस बातको समझते हुए आपको वरण किया है कि आप सारे जगत्‌के आत्मा हैं और अपने प्रेमियोंको आत्मदान करते हैं । मैंने जान-बूझकर उन ब्रह्मा और देवराज इन्द्र आदिका भी इसलिये परित्याग कर दिया है कि आपकी भौंहोंके इशारेसे पैदा होनेवाला काल अपने वेगसे उनकी आशा-अभिलाषाओंपर पानी फेर देता है । फिर दूसरोंकी—शिशुपाल, दन्तवक्त्र या जरासन्धकी तो बात ही क्या है ?

सर्वेश्वर आर्यपुत्र ! आपकी यह बात किसी प्रकार युक्ति-सङ्गत नहीं मालूम होती कि आप इन संसारी राजाओंसे भयभीत होकर समुद्रमें आ बसे हैं; क्योंकि आपने केवल अपने शार्ङ्ग-धनुष-के टङ्कारसे मेरे विवाहके समय आये हुए समस्त राजाओंको भगाकर अपने चरणोंमें समर्पित मुझ दासीको उसी प्रकार हरण कर लिया। जैसे सिंह अपनी कर्कश ध्वनिसे वन्य-पशुओं-को भगाकर अपना भाग ले आवे । कमलनयन ! आप कैसे कहते हैं कि जो मेरा अनुसरण करता है, उसे प्रायः कष्ट ही उठाना पड़ता है । प्राचीनकालके अङ्ग, पृथु, भरत, ययाति और गय आदि जो बड़े-बड़े राजराजेश्वर अपना-अपना एक-छत्र साम्राज्य छोड़कर आपको पानेकी अभिलाषासे तपस्या करने वनमें चले गये थे, वे आपके मार्गका अनुसरण करनेके कारण क्या किसी प्रकारका कष्ट उठा रहे हैं। आप कहते हैं

कि तुम और किसी राजकुमारका वरण कर लो। भगवन्! आप समस्त गुणोंके एकमात्र आश्रय हैं। बड़े-बड़े संत आपके चरणकमलोंकी सुगन्धका बखान करते रहते हैं। उसका आश्रय लेनेमात्रसे लोग संसारके पाप-तापसे मुक्त हो जाते हैं। लक्ष्मी सर्वदा उन्हींमें निवास करती हैं। फिर आप बतलाइये कि अपने स्वार्थ और परमार्थको भलीभाँति समझनेवाली ऐसी कौन-सी स्त्री है, जिसे एक बार उन चरणकमलोंकी सुगन्ध सूँघनेको मिल जाय और फिर वह उनका तिरस्कार करके ऐसे लोगोंको वरण करे जो सदा मृत्यु, रोग, जन्म, जरा आदि भयोंसे युक्त हैं! कोई भी बुद्धिमती ऐसा नहीं कर सकती। प्रभो! आप सारे जगत्के एकमात्र स्वामी हैं! आप ही इस लोक और परलोकमें समस्त आशाओंको पूर्ण करनेवाले एवं आत्मा हैं। मैंने आपको अपने अनुरूप समझकर ही वरण किया है। मुझे अपने कर्मोंके अनुसार विभिन्न योनियोंमें भटकना पड़े, इसकी मुझको परवा नहीं है। मेरी एकमात्र अभिलाषा यही है कि मैं सदा सर्वदा अपना भजन करनेवालोंका मिथ्या संसारभ्रम निवृत्त करनेवाले तथा उन्हें अपना स्वरूप-तक दे डालनेवाले आप परमेश्वरके चरणोंकी शरणमें रहूँ। अच्युत! शत्रुसूदन! गधोंके समान घरका बोझा ढोनेवाले, बैलोंके समान गृहस्थीके व्यापारोंमें जुते रहकर कष्ट उठानेवाले, कुत्तोंके समान तिरस्कार सहनेवाले, बिलावके समान कृपण और हिंसक तथा क्रीत दासोंके समान स्त्रीकी सेवा करनेवाले शिशुपाल आदि राजालोग, जिन्हें वरण करनेके लिये आपने मुझे हास्यविनोदमें संकेत किया है—उसी अभागिनी स्त्रीके पति हों, जिसके कानोंमें भगवान् शंकर, ब्रह्मा आदि देवेश्वरोंकी सभामें गायी जानेवाली आपकी लीलाकथाने प्रवेश नहीं किया है। यह मनुष्यका शरीर जीवित रहनेपर भी मुर्दा ही है। ऊपरसे चमड़ी, दाढ़ी-मूँछ, रोएँ, नख और केशोंसे ढका हुआ है; परन्तु इसके भीतर मांस, हड्डी, खून, कीड़े, मल-मूत्र, कफ, पित्त और वायु भरे पड़े हैं। इसे वही मूढ़ स्त्री अपना प्रियतम पति समझकर सेवन करती है, जिसे कभी आपके चरणारविन्दके मकरन्दकी सुगन्ध सूँघनेको नहीं मिली है। कमलनयन! आप आत्माराम हैं। मैं सुन्दरी अथवा गुणवती हूँ, इन बातोंपर आपकी दृष्टि नहीं जाती। अतः आपका उदासीन रहना स्वाभाविक है, फिर भी आपके चरणकमलोंमें मेरा सुदृढ़ अनुराग हो, यही मेरी अभिलाषा है। जब आप इस संसारकी अभिवृद्धिके लिये उत्कट रजोगुण स्वीकार करके मेरी ओर देखते हैं, तब वह भी आपका परम अनुग्रह ही है। मधुसूदन! आपने कहा कि किसी अनुरूप वरको वरण कर लो। मैं आपकी इस बातको भी झूठ नहीं मानती; क्योंकि कभी-कभी एक पुरुषके द्वारा जीती जानेपर भी काशीनरेशकी कन्या अम्बाके समान किसी-किसीकी दूसरे पुरुषमें भी प्रीति रहती है। कुलटा स्त्रीका मन तो विवाह हो जानेपर भी नये-नये पुरुषोंकी ओर खिंचता रहता है। बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह ऐसी कुलटा स्त्रीको अपने पास न रक्खे। उसे अपनानेवाला पुरुष लोक और परलोक दोनों खो बैठता है, उभयभ्रष्ट हो जाता है।

रुक्मिणीकी इन प्रेमपूर्ण, आत्मसमर्पणमयी, सारगर्भित बातोंको सुनकर श्रीकृष्णने प्रसन्न होकर कहा—

विषयसुखसे नरकोंकी प्राप्ति तथा समर्पणयुक्त भगवत्प्रेमसे भगवान्का ऋणी होना

साध्व्येतच्छ्रोतुकामैस्त्वं राजपुत्रि प्रलम्भिता।
मयोदितं यदन्वात्थ सर्वं तत् सत्यमेव हि॥
यान् यान् कामयसे कामान् मय्यकामाय भामिनि।
सन्ति ह्येकान्तभक्तायास्तव कल्याणि नित्यदा॥
उपलब्धं पतिप्रेम पातिव्रत्यं च तेऽनघे।
यद्वाक्यैश्चाल्यमानाया न धीर्मय्यपकर्षिता॥
ये मां भजन्ति दाम्पत्ये तपसा व्रतचर्यया।
कामात्मानोऽपवर्गेशं मोहिता मम मायया॥
मां प्राप्य मानिन्यपवर्गसम्पदं
वाञ्छन्ति ये सम्पद एव तत्पतिम्।
ते मन्दभाग्या निरयेऽपि ये नृणां
मात्रात्मकत्वान्निरयः सुसंगमः॥
दिष्ट्या गृहेश्वर्यसकृन्मयि त्वया
कृतानुवृत्तिर्भवमोचनी खलैः।
सुदुष्करासौ सुतरां दुराशिषो
ह्यसुम्भराया निकृतिंजुषः स्त्रियाः॥
न त्वादृशीं प्रणयिनीं गृहिणीं गृहेषु
पश्यामि मानिनि यया स्वविवाहकाले।

प्राप्तान् नृपानवगणय्य रहोहरो मे
प्रस्थापितो द्विज उपश्रुतसत्कथस्य ॥
भ्रातुर्विरूपकरणं युधि निर्जितस्य
प्रोद्वाहपर्वणि च तद्वधमक्षगोष्ठयाम् ।
दुःखं समुत्थमसहोऽस्मदयोगभीत्या
नैवाब्रवीः किमपि तेन वयं जितास्ते ॥
दूतस्त्वयाऽऽत्मलभने सुविविक्तमन्त्रः
प्रस्थापितो मयि चिरायति शून्यमेतत् ।
मत्वाजिहास इदमङ्गमनन्ययोग्यं
तिष्ठेत तत्त्वयि वयं प्रतिनन्दयामः ॥
(श्रीमद्भागवत १० । ६० । ४९—५७)

साध्वी ! राजकुमारी ! यही बातें सुननेके लिये तो मैंने तुमसे हँसी-हँसीमें तुम्हारी वञ्चना की थी, तुम्हें छकाया था । तुमने मेरे वचनोंकी जैसी व्याख्या की है, वह अक्षरशः सत्य है । सुन्दरी ! तुम मेरी अनन्य प्रेयसी हो । मेरे प्रति तुम्हारा अनन्य प्रेम है । तुम मुझसे जो-जो अभिलाषाएँ करती हो, वे तो तुम्हें सदा-सर्वदा प्राप्त ही हैं । और यह भी बात है कि मुझसे की हुई अभिलाषाएँ सांसारिक कामनाओंके समान बन्धनमें डालनेवाली नहीं होतीं, बल्कि वे समस्त कामनाओंसे मुक्त कर देती हैं । पुण्यमयी प्रिये ! मैंने तुम्हारा पतिप्रेम और पातिव्रत्य भी भलीभाँति देख लिया । मैंने उलटी-सीधी बात कह-कहकर तुम्हें विचलित करना चाहा था; परन्तु तुम्हारी बुद्धि मुझसे तनिक भी इधर-उधर न हुई । प्रिये ! मैं मोक्षका स्वामी हूँ । लोगोंको संसार-सागरसे पार करता हूँ । जो सकाम पुरुष अनेक प्रकारके व्रत और तपस्या करके दाम्पत्य-जीवनके विषय-सुखकी अभिलाषासे मेरा भजन करते हैं, वे मेरी मायासे मोहित हैं । मानिनी प्रिये ! मैं मोक्ष तथा सम्पूर्ण सम्पदाओंका आश्रय हूँ, अधीश्वर हूँ । मुझ परमात्माको प्राप्त करके भी जो लोग केवल विषयसुखके साधन सम्पत्तिकी ही अभिलाषा करते हैं, मेरी पराभक्ति नहीं चाहते, वे बड़े मन्दभागी हैं; क्योंकि विषयसुख तो नरकमें और नरकके ही समान सूकर-कूकर आदि योनियोंमें भी प्राप्त हो सकते हैं । परन्तु उन लोगोंका मन तो विषयोंमें ही लगा रहता है, इसलिये उन्हें नरकमें जाना भी अच्छा जान पड़ता है । गृहेश्वरी प्राणप्रिये ! यह बड़े आनन्दकी बात है कि तुमने अबतक निरन्तर संसार-बन्धनसे मुक्त करनेवाली मेरी सेवा की है । दुष्ट पुरुष ऐसा कभी नहीं कर सकते । जिन स्त्रियोंका चित्त दूषित कामनाओं-से भरा हुआ है और जो अपनी इन्द्रियोंकी तृप्तिमें ही लगी रहनेके कारण अनेकों प्रकारके छल-छन्द रचती रहती हैं, उनके लिये तो ऐसा करना और भी कठिन है । मानिनि ! मुझे अपने घरभरमें तुम्हारे समान प्रेम करनेवाली भार्या और कोई दिखायी नहीं देती; क्योंकि जिस समय तुमने मुझे देखा न था, केवल मेरी प्रशंसा सुनी थी, उस समय भी अपने विवाहमें आये हुए राजाओंकी उपेक्षा करके ब्राह्मणके द्वारा मेरे पास गुप्त सन्देश भेजा था । तुम्हारा हरण करते समय मैंने तुम्हारे भाईको युद्धमें जीतकर उसे विरूप कर दिया था और अनिरुद्धके विवाहोत्सवमें चौसर खेलते समय बलरामजीने तो उसे मार ही डाला । किन्तु हमसे वियोग हो जानेकी आशङ्कासे तुमने चुपचाप वह सारा दुःख सह लिया । मुझसे एक बात भी नहीं कही । तुम्हारे इस गुणसे मैं तुम्हारे वशमें हो गया हूँ । तुमने मेरी प्राप्तिके लिये दूतके द्वारा अपना गुप्त सन्देश भेजा था; परन्तु जब तुमने मेरे पहुँचनेमें कुछ विलम्ब होता देखा, तब तुम्हें यह सारा संसार सूना दीखने लगा । उस समय तुमने अपना यह सर्वाङ्गसुन्दर शरीर किसी दूसरेके योग्य न समझकर इसे छोड़नेका संकल्प कर लिया था । तुम्हारा यह प्रेमभाव तुम्हारे ही अंदर रहे । मैं इसका बदला नहीं चुका सकता । तुम्हारे इस सर्वोच्च प्रेम-भावका केवल अभिनन्दन करता हूँ ।

शोणितपुरमें अनिरुद्ध और ऊषाका मिलन, बाणासुरका अनिरुद्धको नागपाशमें बाँधना, यादवोंकी चढ़ाई, बाणासुरकी पराजय, उसकी प्राणरक्षाके लिये शिवके अनुरोधपर भगवान्‌के द्वारा उसे अभयदान तथा ऊषा और अनिरुद्धके साथ सबका द्वारकाको प्रस्थान

दैत्यराज बलिके सौ पुत्रोंमें सबसे बड़ेका नाम बाणासुर था। वह सदा भगवान् शिवकी आराधनामें तत्पर रहता था। शोणितपुर नामक रमणीय नगरमें उसकी राजधानी थी। भगवान् शंकरकी कृपासे देवतालोग किंकरकी भाँति उसकी सेवा करते थे। एक दिन भगवान् शंकर जब ताण्डव नृत्य कर रहे थे, उसने अपने हजार हाथोंसे बाजे बजाकर उन्हें संतुष्ट किया। भक्तवत्सल शम्भुने उससे कहा—'तुम्हारी जो इच्छा हो, माँगो।' बाणासुर बोला—'भगवन्! आप हमारे नगरके रक्षक होकर यहीं रहा करें।' तबसे भगवान् शिव वहीं रहने लगे। एक दिन बाणासुरने कहा—'प्रभो! त्रिलोकीमें आपको छोड़कर दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो मेरी बराबरीका योद्धा हो। युद्ध न मिलनेसे मेरी ये भुजाएँ भाररूप हो रही हैं। एक दिन इन भुजाओंकी खुजलाहट मिटानेके लिये मैं दिग्गजोंसे भिड़ना चाहता था, परंतु वे भी डरके मारे भाग खड़े हुए।'

बाणासुरकी यह बात सुनकर भगवान् शंकर क्रोधपूर्वक बोले—'मूढ़! जब तेरी ध्वजा टूटकर गिर जायगी, तब मेरे ही समान योद्धासे तेरा युद्ध होगा और वह युद्धमें तेरे इस घमंडको चूर्ण कर देगा।' यह सुनकर बाणासुर बड़ा प्रसन्न हुआ और उस अवसरकी प्रतीक्षा करने लगा।

उसके एक कन्या थी, जिसका नाम था ऊषा। अभी वह कुमारी ही थी। एक दिन स्वप्नमें उसने देखा कि परम सुन्दर अनिरुद्धजीके साथ मेरा मिलन हो रहा है। आश्चर्यकी बात तो यह थी कि उसने अनिरुद्धजीको न तो कभी देखा था और न उनके विषयमें कभी कुछ सुना ही था। उस स्वप्नमें ही जब वे दृष्टिपथसे ओझल हुए, तब वह बोल उठी—'प्राणप्यारे! तुम कहाँ हो?' इतनेमें ही उसकी नींद टूट गयी। वह अत्यन्त विह्वलताके साथ उठ बैठी और यह देखकर कि मैं सखियोंके बीचमें हूँ, बहुत ही लज्जित हुई। बाणासुरके मन्त्री कुम्भाण्डकी पुत्री चित्रलेखा ऊषाकी सखी थी। उसने कौतूहलवश पूछा—'सुन्दरी! किसे खोज रही हो? तुम्हारे मनोरथका क्या स्वरूप है? राजकुमारी! अभी आजतक तो किसी पुरुषने तुम्हारा हाथ नहीं पकड़ा है।'

ऊषा बोली—'सखी! मैंने स्वप्नमें एक श्यामसुन्दर कमलनयन पीताम्बरधारी महाबाहु तरुण पुरुषको देखा है, जो युवतियोंके चित्तको बरबस अपने अधिकारमें कर लेनेवाला है। वह मुझे अपने अधरामृतका पान कराकर न जाने कहाँ चला गया। मुझे दुःखके समुद्रमें डाल गया। मैं उसी प्राणवल्लभको ढूँढ़ रही हूँ।' चित्रलेखाने कहा—'सखी! तुम्हारा चित्तचोर यदि त्रिलोकीमें कहीं भी होगा और तुम उसे पहचान सकोगी तो मैं उसे अवश्य ला दूँगी।'

यों कहकर चित्रलेखाने बात-की-बातमें बहुत-से देवता, गन्धर्व, सिद्ध, चारण, पन्नग, दैत्य, विद्याधर, यक्ष और मनुष्योंके चित्र बना दिये। मनुष्योंमें उसने वृष्णिवंशी शूर, वसुदेव, बलराम और श्रीकृष्ण आदिके चित्र बनाये। प्रद्युम्नका चित्र देखकर वह लजायी, परंतु अनिरुद्धके चित्रपर दृष्टि पड़ते ही उसने लज्जाके मारे अपना सिर नीचा कर लिया और मुस्कराकर कहा—'मेरा वह प्राणवल्लभ यही है, यही है।'

चित्रलेखा योगिनी थी। वह आकाशमार्गसे रात्रिमें ही द्वारकापुरीमें पहुँची। वहाँ अनिरुद्धजी पलंगपर सो रहे थे। चित्रलेखा योगसिद्धिके प्रभावसे उन्हें उठाकर शोणितपुर ले आयी और सखी ऊषाको उसके प्रियतमके दर्शन कराये। परम सुन्दर प्राणवल्लभको पाकर ऊषाका मुखकमल आनन्दातिरेकसे खिल उठा। वह अपने महलमें अनिरुद्धजीके साथ विहार करने लगी। अनिरुद्धजी भी उस कन्याके अन्तःपुरमें छिपे रहकर अपने-आपको भूल गये। ऊषाने उनका मन मोह लिया था। एक दिन पहरेदारोंसे यह समाचार पाकर कि 'कन्याका चरित्र दूषित हो गया है' बाणासुरको बड़ा कष्ट हुआ। वह झटपट ऊषाके महलमें जा धमका। अनिरुद्धजीको वहाँ बैठा देख उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। अनिरुद्धने देखा, बाणासुर सैनिकोंके साथ आक्रमण

करना चाहता है, तब वे लोहेका एक परिघ लेकर उसका सामना करनेके लिये डट गये। जो भी सैनिक उन्हें पकड़नेके लिये आगे बढ़ा, वह उनके परिघकी मार खाकर धराशायी होता गया। जब बहुत-से सैनिकोंके अङ्ग-भङ्ग हो गये, तब वे उस महलसे निकल भागे। बाणासुरने उन्हें युद्धमें अजेय देख नागपाशद्वारा बाँध लिया। ऊषाने जब यह समाचार सुना तो वह शोक और विषादसे विह्वल हो गयी। उसके नेत्रोंसे अश्रुधारा बह चली। वह रोने लगी।

इधर द्वारकामें अनिरुद्धजीके लापता होनेसे शोक छा रहा था। बरसातके चार महीने बीत गये। एक दिन नारदजीने आकर अनिरुद्धके शोणितपुरमें होनेकी बात बतायी। फिर तो यदुवंशियोंने शोणितपुरपर चढ़ाई कर दी। श्रीकृष्ण और बलरामजीके साथ प्रद्युम्न, सात्यकि, गद, साम्ब, सारण, नन्द, उपनन्द और भद्र आदिने बारह अक्षौहिणी सेनाके साथ व्यूह बनाकर चारों ओरसे बाणासुरकी राजधानीको घेर लिया और नगरके उद्यान, परकोटे, बुर्ज तथा सिंहद्वार तोड़ने आरम्भ कर दिये। तब बाणासुर भी बारह अक्षौहिणी सेनाके साथ नगरसे बाहर निकला। उसकी सहायताके लिये भगवान् शंकर और स्वामी कार्तिकेय भी रणभूमिमें पधारे। दोनों दलोंमें घमासान युद्ध होने लगा। भगवान् श्रीकृष्णसे शंकरजीका, प्रद्युम्नसे कार्तिकेयका, बलरामसे कुम्भाण्डका, साम्बसे बाणासुरके पुत्रका और बाणासुरका सात्यकिसे युद्ध आरम्भ हुआ। श्रीकृष्णने शंकरजीके अनुयायी भूत, प्रेत, प्रमथ, गुह्यक, डाकिनी, यातुधान, वेताल, विनायक, प्रेतगण, मातृगण, पिशाच, कूष्माण्ड और ब्रह्मराक्षसोंको मार भगाया। महादेवजीको भी जृम्भणास्त्रसे मोहित कर दिया। प्रद्युम्नने कार्तिकेयको घायल करके रणभूमिसे भगा दिया। बलरामजीने मूसलकी चोटसे कुम्भाण्डको धराशायी किया और सबने मिलकर बाणासुरकी सेनाको तितर-बितर कर दिया। वैष्णव और माहेश्वर ज्वरोंमें युद्ध हुआ। माहेश्वर ज्वर पीडित हो श्रीकृष्णकी शरणमें गया। श्रीकृष्णने उसे अभयदान दिया और चक्र लेकर बाणासुरकी भुजाओंको काटना आरम्भ किया। यह देख भक्तवत्सल शिव श्रीकृष्णके पास आ उनकी स्तुति करके बोले—'देव! यह बाणासुर मेरा कृपापात्र सेवक है। मैंने इसे अभयदान दिया है। अतः आप इसके ऊपर उसी तरह कृपा करें, जैसे इसके दादा दैत्यराज प्रह्लादपर आपने कृपा की थी।'

भगवान् घमंड चूर करते हैं—

श्रीभगवान् बोले—

यदात्थ भगवंस्त्वं नः करवाम प्रियं तव।
भवतो यद् व्यवसितं तन्मे साध्वनुमोदितम्॥
अवध्योऽयं ममाप्येष वैरोचनिसुतोऽसुरः।
प्रह्लादाय वरो दत्तो न वध्यो मे तवान्वयः॥
दर्पोपशमनायास्य प्रवृक्णा बाहवो मया।
सूदितं च बलं भूरि यच्च भारायितं भुवः॥
चत्वारोऽस्य भुजाः शिष्टा भविष्यन्त्यजरामराः।
पार्षदमुख्यो भवतो नकुतश्चिद्भयोऽसुरः॥

(श्रीमद्भागवत १० । ६३ । ४६—४९)

"भगवन्! आपकी बात मानकर—जैसा आप चाहते हैं, मैं इसे निर्भय किये देता हूँ। आपने पहले इसके सम्बन्धमें जैसा निश्चय किया था—मैंने इसकी भुजाएँ काटकर उसीका अनुमोदन किया है। मैं जानता हूँ कि बाणासुर दैत्यराज बलिका पुत्र है। इसलिये मैं भी उसका वध नहीं कर सकता; क्योंकि मैंने प्रह्लादको वर दे दिया है कि 'मैं तुम्हारे वंशमें पैदा होनेवाले किसी भी दैत्यका वध नहीं करूँगा'। इसका घमंड चूर करनेके लिये ही मैंने इसकी भुजाएँ काट दी हैं। इसकी बहुत बड़ी सेना पृथ्वीके लिये भार हो रही थी, इसीलिये मैंने उसका संहार कर दिया है। अब इसकी चार भुजाएँ बच रही हैं। ये अजर-अमर बनी रहेंगी। यह बाणासुर आपके पार्षदोंमें मुख्य

होगा । अब इसको किसीसे किसी प्रकारका भय नहीं है' ।

श्रीकृष्णसे इस प्रकार आश्वासन पाकर बाणासुरने उनके पास आ धरतीमें माथा टेककर प्रणाम किया और अनिरुद्धजीको अपनी पुत्री ऊषाके साथ रथपर बैठाकर भगवान्‌की सेवामें उपस्थित किया । तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने महादेवजीकी सम्मतिसे वस्त्रालङ्कार-विभूषित ऊषा और अनिरुद्धको सेनाके साथ आगे करके द्वारकाके लिये प्रस्थान किया । द्वारकामें पहुँचनेपर उन सबका बड़े धूमधामसे स्वागत हुआ ।

भगवान्‌की गृहचर्यासे मोहित हुए नारदको आश्वासन-दान

एक समय देवर्षि नारदके मनमें भगवान्‌की गृहचर्या देखनेकी इच्छा हुई । वे द्वारका पहुँचे और भगवान्‌के अन्तः-पुरके एक-एक सदनमें गये । वे जहाँ भी गये, वहाँ भगवान् श्रीकृष्णको उपस्थित देखा । सर्वत्र उनके द्वारा नारदजीका सत्कार हुआ । श्रीकृष्णकी योगमायाका वैभव देख वे बोले—'योगेश्वर ! आपकी माया मायावियोंके लिये भी अगम्य है। परंतु हम भक्तजन आपके चरणकमलोंकी सेवाके प्रभावसे उसका रहस्य जानते हैं' ।

भगवान् ही कर्मके वक्ता, कर्ता और अनुमोदक हैं

तब भगवान् बोले—

ब्रह्मन् धर्मस्य वक्ताहं कर्ता तदनुमोदिता ।
तच्छिक्षयँल्लोकमिममास्थितः पुत्र मा खिदः ॥

(श्रीमद्भागवत १० । ६९ । ४०)

'देवर्षि नारदजी ! मै ही धर्मका उपदेशक, पालन करनेवाला और उसका अनुष्ठान करनेवालोंका अनुमोदन-कर्ता भी हूँ । इसलिये संसारको धर्मकी शिक्षा देनेके उद्देश्यसे ही मैं इस प्रकार धर्मका आचरण करता हूँ । मेरे प्यारे पुत्र ! तुम मेरी यह योगमाया देखकर मोहित मत होना ।'

भगवान्‌का युधिष्ठिरके राजसूययज्ञविषयक विचारका अनुमोदन

एक समय धर्मराज युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णके समक्ष विनीतभावसे राजसूययज्ञ करनेकी इच्छा प्रकट की। तब भगवान्‌ने कहा—

भगवान् सद्गुणोंसे वशमें होतें हैं

सम्यग् व्यवसितं राजन् भवता शत्रुकर्शन।
कल्याणी येन ते कीर्तिर्लोकाननुभविष्यति॥
ऋषीणां पितृदेवानां सुहृदामपि नः प्रभो।
सर्वेषामपि भूतानामीप्सितः क्रतुराडयम्॥
विजित्य नृपतीन् सर्वान् कृत्वा च जगतीं वशे।
सम्भृत्य सर्वसम्भारानाहरस्व महाक्रतुम्॥
एते ते भ्रातरो राजन् लोकपालांशसम्भवाः।
जितोऽस्म्यात्मवता तेऽहं दुर्जयो योऽकृतात्मभिः॥
न कश्चिन्मत्परं लोके तेजसा यशसा श्रिया।
विभूतिभिर्वाभिभवेद् देवोऽपि किमु पार्थिवः॥

(श्रीमद्भागवत १० । ७२ । ७—११)

'शत्रुविजयी धर्मराज! आपका निश्चय बहुत ही उत्तम है। राजसूययज्ञ करनेसे समस्त लोकोंमें आपकी मङ्गलमयी कीर्तिका विस्तार होगा। राजन्! आपका यह महायज्ञ ऋषियों, पितरों, देवताओं, सगे-सम्बन्धियों, हमें—और कहाँतक कहें, समस्त प्राणियोंको अभीष्ट है। महाराज! पृथ्वीके समस्त नरपतियोंको जीतकर, सारी पृथ्वीको अपने वशमें करके और यज्ञोचित सम्पूर्ण सामग्री एकत्रित करके फिर इस महायज्ञका अनुष्ठान कीजिये। महाराज! आपके चारों भाई वायु, इन्द्र आदि लोकपालोंके अंशसे पैदा हुए हैं। वे सब-के-सब बड़े वीर हैं। आप तो परम मनस्वी और संयमी हैं ही। आपलोगोंने अपने सद्गुणोंसे मुझे अपने वशमें कर लिया है। जिन लोगोंने अपनी इन्द्रियों और मनको वशमें नहीं किया है, वे मुझे अपने वशमें नहीं कर सकते, संसारमें कोई बड़े-से-बड़े देवता भी तेज, यश, लक्ष्मी, सौन्दर्य और ऐश्वर्य आदिके द्वारा मेरे भक्तका तिरस्कार नहीं कर सकता, फिर कोई राजा उसका तिरस्कार कर दे, इसकी तो सम्भावना ही क्या है?'

जरासंधके बन्धनसे मुक्त राजाओंको भगवान्‌का आश्वासन

धर्मराजके राजसूययज्ञके पहले भीमसेनद्वारा जरासंधके मारे जानेपर उसके जेलसे छूटे हुए बीस हजार आठ सौ नरेशोंने भगवान् श्रीकृष्णका स्तवन किया। उस समय शरणागतवत्सल भगवान्‌ने बड़ी मधुर वाणीमें उन राजाओंसे कहा—

भगवान्‌में भलीभाँति मन लगानेसे भगवत्प्राप्ति

अद्यप्रभृति वो भूपा मय्यात्मन्यखिलेश्वरे।
सुदृढा जायते भक्तिर्बाढमाशंसितं तथा॥
दिष्ट्या व्यवसितं भूपा भवन्त ऋतभाषिणः।
श्रियैश्वर्यमदोन्नाहं पश्य उन्मादकं नृणाम्॥

हैहयो नहुषो वेनो रावणो नरकोऽपरे ।
श्रीमदाद् भ्रंशिताः स्थानाद् देवदैत्यनरेश्वराः ॥
भवन्त एतद् विज्ञाय देहाद्युत्पाद्यमन्तवत् ।
मां यजन्तोऽध्वरैर्युक्ताः प्रजा धर्मेण रक्षथ ॥
संतन्वन्तः प्रजातन्तून् सुखं दुःखं भवाभवौ ।
प्राप्तं प्राप्तं च सेवन्तो मच्चित्ता विचरिष्यथ ॥
उदासीनाश्च देहादावात्मारामा धृतव्रताः ।
मय्यावेश्य मनः सम्यङ्मामन्ते ब्रह्म यास्यथ ॥

(श्रीमद्भागवत १० । ७३ । १८—२३)

'नरपतियो ! तुमलोगोंने जैसी इच्छा प्रकट की है, उसके अनुसार आजसे मुझमें तुमलोगोंकी निश्चय ही सुदृढ़ भक्ति होगी । यह जान लो कि मैं सबका आत्मा और सबका स्वामी हूँ । नरपतियो ! तुमलोगोंने जो निश्चय किया है, वह सचमुच तुम्हारे लिये बड़े सौभाग्य और आनन्दकी बात है । तुमलोगोंने मुझसे जो कुछ कहा है, वह बिल्कुल ठीक है; क्योंकि मैं देखता हूँ, धन-सम्पत्ति और ऐश्वर्यके मदसे चूर होकर बहुत-से लोग उच्छृङ्खल और मतवाले हो जाते हैं । हैहय, नहुष, वेन, रावण, नरकासुर आदि अनेकों देवता, दैत्य और नरपति श्रीमदके कारण अपने स्थानसे, पदसे च्युत हो गये । तुमलोग यह समझ लो कि शरीर और इसके सम्बन्धी पैदा होते हैं, इसलिये उनका नाश भी अवश्यम्भावी है । अतः उनमें आसक्ति मत करो । बड़ी सावधानीसे मन और इन्द्रियोंको वशमें रखकर यज्ञोंके द्वारा मेरा यजन करो और धर्मपूर्वक प्रजाकी रक्षा करो । तुमलोग अपनी वंश-परम्पराकी रक्षाके लिये, भोगके लिये नहीं, संतान उत्पन्न करो और प्रारब्धके अनुसार जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, लाभ-हानि—जो कुछ भी प्राप्त हों, उन्हें समानभावसे मेरा प्रसाद समझकर सेवन करो और अपना चित्त मुझमें लगाकर जीवन बिताओ । देह और देहके सम्बन्धियोंसे किसी प्रकारकी आसक्ति न रखकर उदासीन रहो; अपने-आपमें, आत्मामें ही रमण करो और भजन तथा आश्रमके योग्य व्रतोंका पालन करते रहो । अपना मन भलीभाँति मुझमें लगाकर अन्तमें तुमलोग मुझ ब्रह्मस्वरूपको ही प्राप्त हो जाओगे ।'

मित्रवत्सल भगवान्‌द्वारा दरिद्र सुदामाका सत्कार

सुदामा नामके एक ब्राह्मण थे, जो श्रीकृष्णके साथ कुछ दिनोंतक उज्जयिनीमें गुरु सान्दीपनिके यहाँ साथ-साथ पढ़े थे, अतः भगवान् श्रीकृष्णके परम मित्र थे । वे बड़े ब्रह्मज्ञानी, विषयोंसे विरक्त, शान्तचित्त और जितेन्द्रिय थे । वे गृहस्थ होनेपर भी किसी प्रकारका संग्रह-परिग्रह न रखकर प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जाता, उसीमें संतुष्ट रहते थे । उनके तो वस्त्र फटे-पुराने थे ही, उनकी पत्नीके भी वैसे ही थे । वह भी अपने पतिके समान ही भूखसे दुबली हो रही थी । एक दिन दरिद्रताकी प्रतिमूर्ति दुःखिनी पतिव्रता भूखके मारे काँपती हुई अपने पतिदेवके पास गयी और मुरझाये हुए मुँहसे बोली—'भगवन् ! साक्षात् लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण आपके सखा हैं । वे भक्तवाञ्छाकल्पतरु, शरणागतवत्सल और ब्राह्मणोंके परम भक्त हैं । परम भाग्यवान् आर्यपुत्र ! वे साधु-संतोंके, सत्पुरुषोंके एकमात्र आश्रय हैं । आप उनके पास जाइये । जब वे जानेंगे कि आप कुटुम्बी हैं और अन्नके बिना दुखी हो रहे हैं, तो वे आपको बहुत-सा धन देंगे । आजकल वे भोज, वृष्णि और अन्धकवंशी यादवोंके स्वामीके रूपमें द्वारकामें ही निवास कर रहे हैं और इतने उदार हैं कि जो उनके चरणकमलोंका स्मरण करते हैं, उन प्रेमी भक्तोंको वे अपने-आपतकका दान कर डालते हैं । ऐसी स्थितिमें जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्तोंको यदि धन और विषय-सुख, जो अत्यन्त वाञ्छनीय नहीं है, दे दें तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है ?' इस प्रकार जब उन ब्राह्मणदेवताकी पत्नीने अपने पतिदेवसे कई बार बड़ी नम्रतासे प्रार्थना की, तब उन्होंने सोचा कि 'धनकी तो कोई बात नहीं है; परंतु भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन हो जायँगे, यह तो जीवनका बहुत बड़ा लाभ है', यही विचार

करके उन्होंने जानेका निश्चय किया और अपनी पत्नीसे बोले—'कल्याणी ! घरमें कुछ भेंट देनेयोग्य वस्तु भी है क्या ? यदि हो तो दे दो।' तब उस ब्राह्मणीने पास-पड़ोसके ब्राह्मणोंके घरसे चार मुट्ठी चिउड़े माँगकर एक कपड़ेमें बाँध दिये और भगवान्‌को भेंट देनेके लिये अपने पतिदेवको दे दिये। इसके बाद वे ब्राह्मणदेवता उन चिउड़ोंको लेकर द्वारकाके लिये चल पड़े। वे मार्गमें यह सोचते जाते थे कि 'मुझे भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन कैसे प्राप्त होंगे ?'

द्वारकामें पहुँचनेपर वे ब्राह्मणदेवता दूसरे ब्राह्मणोंके साथ सैनिकोंकी तीन छावनियाँ और तीन ड्योढ़ियाँ पार करके भगवद्धर्मका पालन करनेवाले अन्धक और वृष्णिवंशी यादवोंके महलोंमें, जहाँ पहुँचना अत्यन्त कठिन है, जा पहुँचे। उनके बीच भगवान् श्रीकृष्णकी सोलह हजार रानियोंके महल थे। उनमेंसे एकमें उन ब्राह्मणदेवताने प्रवेश किया। वह महल खूब सजा-सजाया—अत्यन्त शोभायुक्त था। उसमें प्रवेश करते समय उन्हें ऐसा मालूम हुआ मानो वे ब्रह्मानन्दके समुद्रमें डूब-उतरा रहे हों ! उस समय भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्राणप्रिया रुक्मिणीजीके पलंगपर विराजे हुए थे। ब्राह्मणदेवताको दूरसे ही देखकर वे सहसा उठ खड़े हुए और उनके पास आकर बड़े आनन्दसे उन्हें अपने भुजपाशमें बाँध लिया। परमानन्दस्वरूप भगवान् अपने प्यारे सखा ब्राह्मणदेवताके अङ्ग-स्पर्शसे अत्यन्त आनन्दित हुए। उनके कमलके समान कोमल नेत्रोंसे प्रेमके आँसू बरसने लगे। कुछ समयके बाद भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें ले जाकर अपने पलंगपर बैठा दिया और स्वयं पूजनकी सामग्री लाकर उनकी पूजा की। प्रिय भगवान् श्रीकृष्ण सभीको पवित्र करनेवाले हैं; फिर भी उन्होंने अपने हाथों ब्राह्मण-देवताके पाँव पखारकर उनका चरणोदक अपने सिरपर धारण किया और उनके शरीरमें चन्दन, अरगजा, केसर आदि दिव्य गन्धोंका लेपन किया। फिर उन्होंने बड़े आनन्दसे सुगन्धित धूप और दीपावलीसे अपने मित्रकी आरती उतारी। इस प्रकार पूजा करके पान एवं गाय देकर मधुर वचनोंसे 'भले पधारे' ऐसा कहकर उनका स्वागत किया। ब्राह्मणदेवता फटे-पुराने वस्त्र पहने हुए थे। शरीर अत्यन्त मलिन और दुर्बल था। देहकी सारी नसें दिखायी पड़ती थीं। स्वयं भगवती रुक्मिणीजी चँवर डुलाकर उनकी सेवा करने लगीं। अन्तःपुरकी स्त्रियाँ यह देखकर अत्यन्त विस्मित हो गयीं कि पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीकृष्ण अतिशय प्रेमसे इस मैले-कुचैले अवधूत ब्राह्मणकी पूजा कर रहे हैं। वे आपसमें कहने लगीं—'इस वस्त्रहीन, निर्धन, निन्दनीय और निकृष्ट भिखमंगेने ऐसा कौन-सा पुण्य किया है, जिससे त्रिलोकी-गुरु श्रीनिवास श्रीकृष्ण स्वयं इसका आदर-सत्कार कर रहे हैं। देखो तो सही, इन्होंने अपने पलंगपर सेवा करती हुई स्वयं लक्ष्मीरूपिणी रुक्मिणीजीको छोड़कर इस ब्राह्मणको अपने बड़े भाई बलरामजीके समान हृदयसे लगाया है।' भगवान् श्रीकृष्ण और वे ब्राह्मण दोनों एकदूसरेका हाथ पकड़कर अपने पूर्वजीवनकी उन आनन्द-दायक घटनाओंका स्मरण और वर्णन करने लगे, जो गुरुकुलमें रहते समय घटित हुई थीं।

तीन गुरु और गुरुकी महिमा

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—

अपि ब्रह्मन् गुरुकुलाद् भवता लब्धदक्षिणात्।
समावृत्तेन धर्मज्ञ भार्योढा सदृशी न वा ॥
प्रायो गृहेषु ते चित्तमकामविहतं तथा।
नैवातिप्रीयसे विद्वन् धनेषु विदितं हि मे ॥
केचित् कुर्वन्ति कर्माणि कामैरहतचेतसः।
त्यजन्तः प्रकृतीर्दैवीर्यथाहं लोकसंग्रहम् ॥

कच्चिद् गुरुकुले वासं ब्रह्मन् स्मरसि नौ यतः ।
द्विजो विज्ञाय विज्ञेयं तमसः पारमश्नुते ॥
स वै सत्कर्मणां साक्षाद् द्विजातेरिह सम्भवः ।
आद्योऽङ्ग यत्राश्रमिणां यथाहं ज्ञानदो गुरुः ॥
नन्वर्थकोविदा ब्रह्मन् वर्णाश्रमवतामिह ।
ये मया गुरुणा वाचा तरन्त्यञ्जो भवार्णवम् ॥
नाहमिज्याप्रजातिभ्यां तपसोपशमेन वा ।
तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा ॥
अपि नः स्मर्यते ब्रह्मन् वृत्तं निवसतां गुरौ ।
गुरुदारैश्चोदितानामिन्धनानयने क्वचित् ॥
प्रविष्टानां महारण्यमपर्तौ सुमहद् द्विज ।
वातवर्षमभूत्तीव्रं निष्ठुराः स्तनयित्नवः ॥
सूर्यश्चास्तं गतस्तावत् तमसा चावृता दिशः ।
निम्नं कूलं जलमयं न प्राज्ञायत किंचन ॥
वयं भृशं तत्र महानिलाम्बुभि-
र्निहन्यमाना मुहुरम्बुसम्प्लवे ।
दिशोऽविदन्तोऽथ परस्परं वने
गृहीतहस्ताः परिबभ्रिमातुराः ॥

(श्रीमद्भागवत १० । ८० । २८—३८)

'धर्मके मर्मज्ञ ब्राह्मणदेव! गुरुदक्षिणा देकर जब आप गुरुकुलसे लौट आये, तब आपने अपने अनुरूप स्त्रीसे विवाह किया या नहीं ? मैं जानता हूँ कि आपका चित्त गृहस्थीमें रहनेपर भी प्रायः विषय-भोगोंमें आसक्त नहीं है । विद्वन् ! यह भी मुझे मालूम है कि धन आदिमें भी आपकी कोई प्रीति नहीं है । जगत्में विरले ही लोग ऐसे होते हैं, जो भगवान्‌की मायासे निर्मित विषयसम्बन्धी वासनाओंका त्याग कर देते हैं और चित्तमें विषयोंकी तनिक भी वासना न रहनेपर भी मेरे समान केवल लोकशिक्षाके लिये कर्म करते रहते हैं । ब्राह्मणशिरोमणे ! क्या आपको उस समयकी बात याद है, जब हम दोनों एक साथ गुरुकुलमें निवास करते थे । सचमुच गुरुकुलमें ही द्विजातियोंको अपने ज्ञातव्य वस्तुका ज्ञान होता है, जिसके द्वारा वे अज्ञानान्धकारसे पार हो जाते हैं । मित्र ! इस संसारमें शरीरका कारण—जन्मदाता पिता प्रथम गुरु है । इसके बाद उपनयन-संस्कार करके सत्कर्मोंकी शिक्षा देनेवाला दूसरा गुरु है । वह मेरे ही समान पूज्य है । तदनन्तर ज्ञानोपदेश करके परमात्माको प्राप्त करानेवाला गुरु तो मेरा स्वरूप ही है । वर्णाश्रमियोंके ये तीन गुरु होते हैं । मेरे प्यारे मित्र ! गुरुके स्वरूपमें स्वयं मैं हूँ । इस जगत्में वर्णाश्रमियोंमें जो लोग अपने गुरुदेवके उपदेशानुसार अनायास ही भवसागर पार कर लेते हैं, वे अपने स्वार्थ और परमार्थके सच्चे जानकार हैं । प्रिय मित्र ! मैं सबका आत्मा हूँ ! सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान हूँ ! मैं गृहस्थके धर्म पञ्चमहायज्ञ आदिसे, ब्रह्मचारीके धर्म उपनयन-वेदाध्ययन आदिसे, वानप्रस्थीके धर्म तपस्यासे और सब ओरसे उपरत हो जाना—इस संन्यासीके धर्मसे भी उतना संतुष्ट नहीं होता, जितना गुरुदेवकी सेवा-शुश्रूषासे संतुष्ट होता हूँ ।

ब्रह्मन् ! जिस समय हमलोग गुरुकुलमें निवास कर रहे थे, उस समयकी वह बात आपको याद है क्या ! जब हम दोनोंको एक दिन हमारी गुरुपत्नीने ईंधन लानेके लिये जंगलमें भेजा था । उस समय हमलोग एक घोर जंगलमें गये हुए थे और बिना ऋतुके ही बड़ा भयंकर आँधी-पानी आ गया था । आकाशमें बिजली कड़कने लगी थी । अब सूर्यास्त हो गया; चारों ओर अँधेरा-ही-अँधेरा फैल गया ।

धरतीपर इस प्रकार पानी-ही-पानी हो गया कि कहाँ गड्ढा है, कहाँ किनारा, इसका पता ही न चलता था । वह वर्षा क्या थी, एक छोटा-मोटा प्रलय ही था । आँधीके झटकों और वर्षाकी बौछारोंसे हमलोगोंको बड़ी पीड़ा हुई, दिशाका ज्ञान न रहा । हमलोग अत्यन्त आतुर

हो गये और एक-दूसरेका हाथ पकड़कर जंगलमें इधर-उधर भटकते रहे।'

गुरुके प्रति शिष्योंका कर्त्तव्य

एतद् विदित्वा उदिते रवौ सान्दीपनिर्गुरुः।
अन्वेषमाणो नः शिष्यानाचार्योऽपश्यदातुरान्॥
अहो हे पुत्रका यूयमस्मदर्थेऽतिदुःखिताः।
आत्मा वै प्राणिनां प्रेष्ठस्तमनादृत्य मत्पराः॥
एतदेव हि सच्छिष्यैः कर्तव्यं गुरुनिष्कृतम्।
यद् वै विशुद्धभावेन सर्वार्थात्मार्पणं गुरौ॥
तुष्टोऽहं भो द्विजश्रेष्ठाः सत्याः सन्तु मनोरथाः।
छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च॥
इत्थंविधान्यनेकानि वसतां गुरुवेश्मसु।
गुरोरनुग्रहेणैव पुमान् पूर्णः प्रशान्तये॥
(श्रीमद्भागवत १०।८०।३९—४३)

"जब हमारे गुरुदेव सान्दीपनि मुनिको इस बातका पता चला, तब वे सूर्योदय होनेपर अपने शिष्य हमलोगोंको ढूँढ़ते हुए जंगलमें पहुँचे और उन्होंने देखा कि हम अत्यन्त आतुर हो रहे हैं। वे कहने लगे—'आश्चर्य है, आश्चर्य है! पुत्रो! तुमलोगोंने हमारे लिये अत्यन्त कष्ट उठाया। सभी प्राणियोंको अपना शरीर सबसे अधिक प्रिय होता है; परंतु तुम दोनों उसकी भी परवा न करके हमारी सेवामें ही संलग्न रहे। गुरुके ऋणसे मुक्त होनेके लिये सत्-शिष्योंका इतना ही कर्तव्य है कि वे विशुद्ध-भावसे अपना सब कुछ और शरीर भी गुरुदेवकी सेवामें समर्पित कर दें। द्विजशिरोमणियो! मैं तुमलोगोंसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम्हारे सारे मनोरथ, सारी अभिलाषाएँ पूर्ण हों और तुमलोगोंने हमसे जो वेदाध्ययन किया है, वह तुम्हें सर्वदा कण्ठस्थ रहे तथा इस लोक एवं परलोकमें कहीं भी निष्फल न हो'। प्रिय मित्र! जिस समय हमलोग गुरुकुलमें निवास कर रहे थे, हमारे जीवनमें ऐसी-ऐसी अनेकों घटनाएँ घटित हुई थीं। इसमें संदेह नहीं कि गुरुदेवकी कृपासे ही मनुष्य शान्तिका अधिकारी होता और पूर्णताको प्राप्त करता है।

ब्राह्मणदेवताने कहा—देवताओंके आराध्यदेव जगद्-गुरु श्रीकृष्ण! भला अब हमें क्या करना बाकी है? क्योंकि आपके साथ, जो सत्यसंकल्प परमात्मा हैं, हमें गुरुकुलमें रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। प्रभो! छन्दोमय वेद धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चतुर्विध पुरुषार्थके मूल स्रोत हैं; और वे हैं आपके शरीर। वही आप वेदाध्ययनके लिये गुरुकुलमें निवास करें: यह मनुष्य-लीलाका अभिनय नहीं तो और क्या है?

भगवान् श्रीकृष्ण सबके मनकी बात जानते हैं। वे ब्राह्मणोंके परम भक्त, उनके क्लेशोंके नाशक तथा संतोंके एकमात्र आश्रय हैं। वे पूर्वोक्त प्रकारसे उन ब्राह्मणदेवताके साथ बहुत देरतक बातचीत करते रहे। अब वे अपने प्यारे सखा उन ब्राह्मणसे तनिक मुस्कराकर विनोद करते हुए बोले। उस समय भगवान् श्रीकृष्ण उन ब्राह्मणदेवताकी ओर प्रेमभरी दृष्टिसे देख रहे थे।

प्रेमभक्तिसे दी हुई वस्तु भगवान् स्वयं आरोगते हैं

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—

किमुपायनमानीतं ब्रह्मन् मे भवता गृहात्।
अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत्।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
(श्रीमद्भागवत १०।८१।३-४)

'ब्रह्मन्! आप अपने घरसे मेरे लिये क्या उपहार लाये हैं? मेरे प्रेमी भक्त जब प्रेमसे थोड़ी-सी वस्तु भी मुझे अर्पण करते हैं, तो वह मेरे लिये बहुत हो जाती है। परंतु मेरे अभक्त यदि बहुत-सी सामग्री भी मुझे भेंट करते हैं, तो उससे

मैं संतुष्ट नहीं होता। जो पुरुष प्रेम-भक्तिसे फल-फूल अथवा पत्र-जल कोई भी वस्तु मुझे समर्पित करता है, तो मैं शुद्धचित्त भक्तका वह प्रेमोपहार केवल स्वीकार ही नहीं करता, बल्कि तुरंत भोग लगा लेता हूँ।'

भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर भी उन ब्राह्मण-देवताने लज्जावश उन लक्ष्मीपतिको वे चार मुट्ठी चिउड़े नहीं दिये। उन्होंने संकोचसे अपना मुँह नीचे कर लिया था। भगवान् श्रीकृष्ण समस्त प्राणियोंके हृदयका एक-एक संकल्प और उनका अभाव भी जानते हैं। उन्होंने ब्राह्मणके आनेका कारण, उनके हृदयकी बात जान ली। अब वे विचार करने लगे कि 'एक तो यह मेरा प्यारा सखा है, दूसरे इसने पहले कभी लक्ष्मीकी कामनासे मेरा भजन नहीं किया है। इस समय यह अपनी पतिव्रता पत्नीको प्रसन्न करनेके लिये उसीके आग्रहसे यहाँ आया है। अब मैं इसे ऐसी सम्पत्ति दूँगा, जो देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुर्लभ है।' भगवान् श्रीकृष्णने ऐसा विचार करके उनके वस्त्रमेंसे चिथड़ेकी एक पोटलीमें बँधा हुआ चिउड़ा 'यह क्या है'—ऐसा कहकर स्वयं ही छीन लिया और बड़े आदरसे कहने लगे—

विश्वात्मा भगवान्‌को दी हुई वस्तु समस्त विश्वको तृप्त करती है

नन्वेतदुपनीतं मे परमप्रीणनं सखे।
तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वमेते पृथुकतण्डुलाः॥

(श्रीमद्भागवत १०। ८१। ९)

'प्यारे मित्र! यह तो तुम मेरे लिये अत्यन्त प्रिय भेंट ले आये हो। ये चिउड़े न केवल मुझे, बल्कि समस्त विश्वको तृप्त करनेके लिये पर्याप्त हैं।'

ऐसा कहकर वे उसमेंसे एक मुट्ठी चिउड़ा खा गये और दूसरी मुट्ठी ज्यों ही भरी, त्यों ही रुक्मिणीके रूपमें स्वयं भगवती लक्ष्मीजीने भगवान् श्रीकृष्णका हाथ पकड़ लिया; क्योंकि वे तो एकमात्र भगवान्‌के परायण हैं, उन्हें छोड़कर और कहीं जा नहीं सकतीं। रुक्मिणीजीने कहा—'विश्वात्मन्! बस-बस। मनुष्यको इस लोकमें तथा मरनेके बाद परलोकमें भी समस्त सम्पत्तियोंकी समृद्धि प्राप्त करनेके लिये यह एक मुट्ठी चिउड़ा ही बहुत है; क्योंकि आपके लिये इतना ही प्रसन्नताका हेतु बन जाता है।'

ब्राह्मणदेवता उस रातको भगवान् श्रीकृष्णके महलमें ही रहे। उन्होंने बड़े आरामसे वहाँ खाया-पिया और ऐसा अनुभव किया, मानो मैं वैकुण्ठमें ही पहुँच गया हूँ। भगवान् श्रीकृष्णसे ब्राह्मणको प्रत्यक्षरूपमें कुछ भी न मिला। फिर भी उन्होंने उनसे कुछ माँगा नहीं! वे अपने चित्तकी करतूतपर कुछ लज्जित-से होकर भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनजनित आनन्दमें डूबते-उतराते अपने घरकी ओर चल पड़े। वे मन-ही-मन सोचने लगे—'अहो, कितने आनन्द और आश्चर्यकी बात है। ब्राह्मणोंको अपना इष्टदेव माननेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी ब्राह्मणभक्ति आज मैंने अपनी आँखों देख ली। धन्य है! जिनके वक्षःस्थलपर स्वयं लक्ष्मीजी सदा विराजमान रहती हैं, उन्होंने मुझ अत्यन्त दरिद्रको अपने हृदयसे लगा लिया। कहाँ तो मैं अत्यन्त पापी और दरिद्र, और कहाँ लक्ष्मीके एकमात्र आश्रय भगवान् श्रीकृष्ण! परंतु उन्होंने 'यह ब्राह्मण है'—ऐसा समझकर मुझे अपनी भुजाओंमें भरकर हृदयसे लगा लिया। इतना ही नहीं, उन्होंने मुझे उस पलंगपर सुलाया, जिसपर उनकी प्राणप्रिया रुक्मिणीजी शयन करती हैं। मानो मैं उनका सगा भाई हूँ! कहाँतक कहूँ? मैं थका हुआ था, इसलिये स्वयं उनकी पटरानी रुक्मिणीजीने अपने हाथों चँवर डुलाकर मेरी सेवा की। ओह, देवताओंके आराध्यदेव होकर भी ब्राह्मणोंको अपना इष्टदेव माननेवाले प्रभुने चरण दबाकर, अपने हाथों खिला-पिलाकर मेरी अत्यन्त सेवा-शुश्रूषा की और देवताके समान मेरी पूजा की। स्वर्ग, मोक्ष, पृथ्वी और रसातलकी सम्पत्ति तथा समस्त योगसिद्धियोंकी प्राप्तिका मूल उनके चरणोंकी पूजा ही है। फिर भी परम दयालु श्रीकृष्णने यह सोचकर मुझे थोड़ा-सा भी धन नहीं दिया कि कहीं यह दरिद्र धन पाकर बिल्कुल मतवाला न हो जाय और मुझे न भूल बैठे।*'

इस प्रकार मन-ही-मन विचार करते-करते ब्राह्मणदेवता अपने घरके पास पहुँच गये। वे वहाँ क्या देखते हैं कि

* स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम्।
सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम्॥
अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत्।
इति कारुणिको नूनं धनं मेऽभूरि नाददात्॥
(श्रीमद्भागवत १०। ८१। १९-२०)

सब-का-सब स्थान सूर्य, अग्नि और चन्द्रमाके समान तेजस्वी रत्ननिर्मित महलोंसे घिरा हुआ है। स्थान-स्थानपर चित्र-विचित्र उपवन और उद्यान बने हुए हैं तथा उनमें झुंड-के-झुंड रंग-बिरंगे पक्षी कलरव कर रहे हैं। सरोवरोंमें कुमुदिनी तथा श्वेत, नील और सौगन्धिक—भाँति-भाँतिके कमल खिले हुए हैं; सुन्दर-सुन्दर स्त्री-पुरुष बन-ठनकर इधर-उधर विचर रहे हैं। उस स्थानको देखकर ब्राह्मणदेवता सोचने लगे—'मैं यह क्या देख रहा हूँ? यह किसका स्थान है? यदि यह वही स्थान है, जहाँ मैं रहता था, तो यह ऐसा कैसे हो गया'—इस प्रकार वे सोच ही रहे थे कि देवताओंके समान सुन्दर-सुन्दर स्त्री-पुरुष गाजे-बाजेके साथ मङ्गलगीत गाते हुए उस महाभाग्यवान् ब्राह्मणकी अगवानी करनेके लिये आये। पतिदेवका शुभागमन सुनकर ब्राह्मणीको अपार आनन्द हुआ और वह हड़बड़ाकर जल्दी-जल्दी घरसे निकल आयी। वह ऐसी मालूम होती थी मानो मूर्तिमती लक्ष्मीजी ही कमलवनसे पधारी हों। पतिदेवको देखते ही पतिव्रता पत्नीके नेत्रोंमें प्रेम और उत्कण्ठाके आवेगसे आँसू छलक आये। उसने अपने नेत्र बंद कर लिये। ब्राह्मणीने बड़े प्रेमभावसे उन्हें नमस्कार किया और मन-ही-मन आलिङ्गन भी।

ब्राह्मणपत्नी सोनेके हार पहनी हुई दासियोंके बीचमें विमानस्थित देवाङ्गनाके समान अत्यन्त शोभायमान एवं देदीप्यमान हो रही थी। उसे इस रूपमें देखकर वे विस्मित हो गये। उन्होंने अपनी पत्नीके साथ बड़े प्रेमसे अपने महलमें प्रवेश किया। उनका महल क्या था, मानो देवराज इन्द्रका निवासस्थान। उसमें मणियोंके सैकड़ों खंभे खड़े थे। हाथीके दाँतके बने हुए और सोनेके पातसे मँढ़े हुए पलंगोंपर दूधके फेनकी तरह श्वेत और कोमल बिछौने बिछ रहे थे। बहुत-से चँवर वहाँ रक्खे हुए थे, जिनमें सोनेकी डंडियाँ लगी हुई थीं। सोनेके सिंहासन शोभायमान हो रहे थे, जिनपर बड़ी कोमल-कोमल गद्दियाँ लगी हुई थीं। ऐसे चँदोवे भी झिलमिला रहे थे, जिनमें मोतियोंकी लड़ियाँ लटक रही थीं। स्फटिकमणिकी स्वच्छ भीतोंपर पन्नेकी पच्चीकारी की हुई थी। रत्ननिर्मित स्त्रीमूर्तियोंके हाथोंमें रत्नोंके दीपक जगमगा रहे थे। इस प्रकार समस्त सम्पत्तियोंकी समृद्धि देखकर और उसका कोई प्रत्यक्ष कारण न पाकर, बड़ी गम्भीरतासे ब्राह्मणदेवता विचार करने लगे कि मेरे घर इतनी सम्पत्ति कहाँसे आ गयी? वे मन-ही-मन कहने लगे—'मैं जन्मसे ही भाग्यहीन और दरिद्र हूँ। फिर मेरी इस सम्पत्ति-समृद्धिका कारण क्या है? अवश्य ही परमैश्वर्यशाली यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णके कृपाकटाक्षके अतिरिक्त और कोई कारण नहीं हो सकता। यह सब कुछ उनकी करुणाकी ही देन है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण पूर्णकाम और लक्ष्मीपति होनेके कारण अनन्त भोगसामग्रियोंसे युक्त हैं। इसलिये वे याचक भक्तको उसके मनका भाव जानकर बहुत कुछ दे देते हैं, परंतु उसे समझते हैं बहुत थोड़ा; इसलिये सामने कुछ कहते नहीं। मेरे यदुवंशशिरोमणि सखा श्यामसुन्दर सचमुच उस मेघसे भी बढ़कर उदार हैं, जो समुद्रको भर देनेकी शक्ति रखनेपर भी किसानके सामने न बरसकर उसके सो जानेपर रातमें बरसता है और बहुत बरसनेपर भी थोड़ा ही समझता है। मेरे प्यारे सखा श्रीकृष्ण देते हैं बहुत, पर उसे मानते हैं बहुत थोड़ा और उनका प्रेमी भक्त यदि उनके लिये कुछ भी कर दे, तो वे उसको बहुत मान लेते हैं। देखो तो सही! मैंने उन्हें केवल एक मुट्ठी चिउड़ा भेंट किया था, पर उदार-शिरोमणि श्रीकृष्णने उसे कितने प्रेमसे स्वीकार किया। मुझे जन्म-जन्म उन्हींका प्रेम, उन्हींकी हितैषिता, उन्हींकी मित्रता और उन्हींकी सेवा प्राप्त हो। मुझे सम्पत्तिकी आवश्यकता नहीं, सदा-सर्वदा उन्हीं गुणोंके एकमात्र निवास-स्थान महानुभाव भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें मेरा अनुराग बढ़ता जाय और उन्हींके प्रेमी भक्तोंका सत्सङ्ग प्राप्त हो। अजन्मा भगवान् श्रीकृष्ण सम्पत्ति आदिके दोष जानते हैं। वे देखते हैं कि बड़े-बड़े धनियोंका धन और ऐश्वर्यके मदसे पतन हो जाता है। इसलिये वे अपने अदूरदर्शी भक्तको उसके माँगते रहनेपर भी तरह-तरहकी सम्पत्ति, राज्य और ऐश्वर्य आदि नहीं देते। यह उनकी बड़ी कृपा है*।' परीक्षित्! अपनी बुद्धिसे इस प्रकार निश्चय करके वे ब्राह्मणदेवता त्याग-पूर्वक अनासक्तभावसे अपनी पत्नीके साथ भगवत्प्रसादस्वरूप विषयोंको ग्रहण करने लगे और दिनोंदिन उनकी प्रेम-भक्ति बढ़ने लगी।

---

* तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्री दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात्।
महानुभावेन गुणालयेन विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसङ्गः॥
भक्ताय चित्रा भगवान् हि सम्पदो राज्यं विभूतीर्न समर्थयत्यजः।
अदीर्घबोधाय विचक्षणः स्वयं पश्यन् निपातं धनिनां मदोद्भवम्॥
(श्रीमद्भागवत १०। ८१। ३६-३७)

देवताओंके भी आराध्यदेव भक्तभयहारी यज्ञपति सर्वशक्तिमान् भगवान् स्वयं ब्राह्मणोंको अपना प्रभु, अपना इष्टदेव मानते हैं। इसलिये ब्राह्मणोंसे बढ़कर और कोई भी प्राणी जगत्में नहीं है। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके प्यारे सखा उस ब्राह्मणने देखा कि 'यद्यपि भगवान् अजित हैं, किसीके अधीन नहीं हैं, फिर भी वे अपने सेवकोंके अधीन हो जाते हैं, उनसे पराजित हो जाते हैं' अब वे उन्हींके ध्यानमें तन्मय हो गये। ध्यानके आवेगसे उनकी अविद्याकी गाँठ कट गयी और उन्होंने थोड़े ही समयमें भगवान्का धाम, जो कि संतोंका एकमात्र आश्रय है, प्राप्त किया।

भगवान्का गोपियोंसे मिलकर उन्हें अध्यात्मतत्त्वकी शिक्षा प्रदान करना

भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी जब द्वारकामें निवास कर रहे थे, उन्हीं दिनों एक बार सर्वग्रास सूर्य-ग्रहण लगा। उस ग्रहणका पता पहलेसे ही चल गया था, अतः सब लोग अपने-अपने कल्याणके लिये समन्तपञ्चक तीर्थ कुरुक्षेत्रमें गये। उस समय समस्त यादव, कौरव, उनके सगे-सम्बन्धी तथा नन्द आदि गोपगण भी वहाँ पधारे थे। सबने वहाँ स्नान-दान आदिके पश्चात् एक दूसरे-से भेंट की। परस्पर दर्शन, मिलन और वार्तालापसे सबको बड़ा आनन्द हुआ। सबके नेत्रोंसे प्रेमके अश्रु प्रवाहित होने लगे। नन्द और वसुदेवजी चिरकालके बाद वहाँ गले मिले। रोहिणी और देवकीने व्रजेश्वरी यशोदाको हृदयसे लगाया। बलराम और श्रीकृष्ण मैया यशोदा और नन्द बाबाके हृदयसे लगकर देरतक आँसू बहाते रहे। उनका गला भर आया, अतः वे मुँहसे कुछ बोल न सके।

गोपियोंके परम प्रियतम जीवनसर्वस्व श्रीकृष्ण ही थे। उन्हें दीर्घकालके बाद प्यारे श्यामसुन्दरके दर्शन हुए। उन्होंने नेत्रोंके मार्गसे अपने प्रियतम श्रीकृष्णको हृदयमें ले जाकर गाढ़ आलिङ्गन किया और वे इसी भावमें विभोर एवं तन्मय हो गयीं। भगवान् एकान्तमें उनके पास गये। उनको हृदयसे लगाया और कुशल-मङ्गल पूछा। फिर वे हँसते-हँसते यों बोले—

सबमें सदा भगवान् ही ओतप्रोत हैं

अपि स्मरथ नः सख्यः स्वानामर्थचिकीर्षया।
गतांश्चिरायिताञ्छत्रुपक्षक्षपणचेतसः ॥
अप्यवध्यायथास्मान् स्विदकृतज्ञाविशङ्कया।
नूनं भूतानि भगवान् युनक्ति वियुनक्ति च ॥
वायुर्यथा घनानीकं तृणं तूलं रजांसि च।
संयोज्याक्षिपते भूयस्तथा भूतानि भूतकृत् ॥
मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ॥
अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः।
भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः ॥
एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्माऽऽत्मना ततः।
उभयं मय्यथ परे पश्यताभातमक्षरे ॥

(श्रीमद्भागवत १० । ८२ । ४२-४७)

'सखियो! हमलोग अपने स्वजन-सम्बन्धियोंका काम करनेके लिये व्रजसे बाहर चले आये और इस प्रकार तुम्हारी-जैसी प्रेयसियोंको छोड़कर हम शत्रुओंका विनाश करनेमें उलझ गये, बहुत दिन बीत गये क्या कभी तुमलोग हमारा स्मरण भी करती हो? मेरी प्यारी गोपियो! कहीं तुमलोगोंके मनमें यह आशङ्का तो नहीं हो गयी है कि मैं अकृतज्ञ हूँ और ऐसा समझकर तुमलोग हमसे बुरा तो नहीं मानने लगी हो? निस्संदेह भगवान् ही प्राणियोंके संयोग और वियोगके कारण हैं। जैसे वायु बादलों, तिनकों, रूई और धूलके कणोंको एक-दूसरेसे मिला देती है और फिर स्वच्छन्दरूपसे उन्हें अलग-अलग कर देती है, वैसे ही समस्त पदार्थोंके निर्माता भगवान् भी सबका संयोग-वियोग अपने इच्छानुसार करते रहते हैं। सखियो! यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम सब लोगोंको मेरा वह प्रेम प्राप्त हो चुका है, जो मेरी ही प्राप्ति करानेवाला है; क्योंकि मेरे प्रति की हुई प्रेम-भक्ति प्राणियोंको अमृतत्व (परमानन्द-धाम) प्रदान करनेमें समर्थ है। प्यारी गोपियो! जैसे घट, पट आदि जितने

भी भौतिक पदार्थ हैं, उनके आदि, अन्त और मध्यमें, बाहर और भीतर, उनके मूलकारण पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि तथा आकाश ही ओतप्रोत हो रहे हैं, वैसे ही जितने भी पदार्थ हैं, उनके पहले, पीछे, बीचमें, बाहर और भीतर केवल मैं-ही-मैं हूँ। इसी प्रकार सभी प्राणियोंके शरीरमें ये ही पाँचों भूत कारणरूपसे स्थित हैं और आत्मा भोक्ताके रूपसे अथवा जीवके रूपसे स्थित है। परंतु मैं इन दोनोंसे परे अविनाशी सत्य हूँ। ये दोनों मेरे ही अंदर प्रतीत हो रहे हैं, तुमलोग ऐसा अनुभव करो'।

संत-महात्माओंकी तीर्थाधिक महिमा

प्रभासक्षेत्रमें सूर्यग्रहणके अवसरपर यादव, कौरव-पाण्डव तथा नन्द, व्रजके गोप-गोपीगण एकत्र हो परस्पर प्रेमालापका सुख ले रहे थे। श्रीकृष्णकी पटरानियाँ द्रौपदी एवं गोपियोंके समक्ष अपने वैवाहिक प्रसंगको सुनाकर श्रीकृष्णके प्रति अपने अनुरागको प्रकट कर रही थीं। इसी अवसरपर श्रीकृष्ण और बलरामका दर्शन करनेके लिये बहुत-से ऋषि-मुनि पधारे। यादवों, पाण्डवों तथा श्रीकृष्ण-बलरामने खड़े होकर उनका स्वागत किया और पूजनपूर्वक चरणोंमें मस्तक झुकाया। तदनन्तर श्रीकृष्ण बोले—

संत परमतीर्थ हैं और उनकी सेवा-संगति पाप-तापका नाश करती है

अहो वयं जन्मभृतो लब्धं कार्त्स्न्येन तत्फलम्।
देवानामपि दुष्प्रापं यद् योगेश्वरदर्शनम्॥
किं स्वल्पतपसां नृणामर्चायां देवचक्षुषाम्।
दर्शनस्पर्शनप्रश्नप्रह्वपादार्चनादिकम्॥
न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः॥
नाग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारका
न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः।
उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं
विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया॥
यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि-
ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥
(श्रीमद्भागवत १०। ८४। ९–१३)

'धन्य है! हमलोगोंका जीवन सफल हो गया, आज जन्म लेनेका हमें पूरा-पूरा फल मिल गया; क्योंकि जिन योगेश्वरोंके दर्शन बड़े-बड़े देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुर्लभ हैं, उन्हींके दर्शन हमें प्राप्त हो रहे हैं। जिन्होंने बहुत थोड़ी तपस्या की है और जो लोग अपने इष्टदेवको समस्त प्राणियोंके हृदयमें न देखकर केवल मूर्तिविशेषमें ही उनका दर्शन करते हैं, उन्हें आपलोगोंके दर्शन, स्पर्श, कुशल-प्रश्न, प्रणाम और पाद-पूजन आदिका सुअवसर भला कब मिल सकता है। केवल जलमय तीर्थ ही तीर्थ नहीं कहलाते और केवल मिट्टी या पत्थरकी प्रतिमाएँ ही देवता नहीं होतीं; संतपुरुष ही वास्तवमें तीर्थ और देवता हैं; क्योंकि उनका बहुत समयतक सेवन किया जाय, तब वे पवित्र करते हैं; परंतु संत पुरुष तो दर्शनमात्रसे ही कृतार्थ कर देते हैं। अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, पृथ्वी, जल, आकाश, वायु, वाणी और मनके अधिष्ठातृ-देवता उपासना करनेपर भी पापका पूरा-पूरा नाश नहीं कर सकते; क्योंकि उनकी उपासनासे भेद-बुद्धिका नाश नहीं होता, वह और भी बढ़ती है। परंतु यदि घड़ी-दो-घड़ी भी ज्ञानी महापुरुषोंकी सेवा की जाय तो वे सारे पाप-ताप मिटा देते हैं; क्योंकि वे भेद-बुद्धिके विनाशक हैं। महात्माओ और सभासदो! जो मनुष्य वात, पित्त और कफ—इन तीन धातुओंसे बने हुए शवतुल्य शरीरको ही आत्मा—अपना 'मैं', स्त्री-पुत्र आदिको ही अपना

और मिट्टी, पत्थर, काष्ठ आदि पार्थिव विकारोंको ही इष्टदेव मानता है तथा जो केवल जलको ही तीर्थ समझता है—ज्ञानी महापुरुषोंको नहीं, वह मनुष्य होनेपर भी पशुओंमें भी नीच गधा ही है।'

आत्मा वास्तवमें एक है, उसमें नानात्वकी प्रतीति उपाधि-भेदसे ही है

एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी प्रातःकाल प्रणाम करनेके लिये माता-पिताके पास गये। उस समय वसुदेवजीने उन दोनों भाइयोंका अभिनन्दन करते हुए कहा—'सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्ण! और महायोगीश्वर बलराम! जगत्में जहाँ जो कुछ भी पदार्थ है, सबके रूपमें तुम्हीं दोनों प्रकाशित हो रहे हो, तुम्हारे सिवा कुछ भी नहीं है।' इसके उत्तरमें श्रीकृष्णने कहा—

एक ही आत्मामें उपाधिभेदसे नानात्वकी प्रतीति होती है

वचो वः समवेतार्थं तातैतदुपमन्महे।
यन्नः पुत्रान् समुद्दिश्य तत्त्वग्राम उदाहृतः॥
अहं यूयमसावार्य इमे च द्वारकौकसः।
सर्वेऽप्येवं यदुश्रेष्ठ विमृश्याः सचराचरम्॥
आत्मा ह्येकः स्वयंज्योतिर्नित्योऽन्यो निर्गुणो गुणैः।
आत्मसृष्टैस्तत्कृतेषु भूतेषु बहुधेयते॥
खं वायुर्ज्योतिरापो भूस्तत्कृतेषु यथाशयम्।
आविस्तिरोऽल्पभूर्येको नानात्वं यात्यसावपि॥

(श्रीमद्भागवत १०। ८५। २२-२५)

'पिताजी! हम तो आपके पुत्र ही हैं। हमें लक्ष्य करके आपने यह ब्रह्मज्ञानका उपदेश किया है। हम आपकी एक-एक बात युक्तियुक्त मानते हैं। पिताजी! आपलोग, मैं, भैया बलरामजी, सारे द्वारकावासी, सम्पूर्ण चराचर जगत् सब-के-सब आपने जैसा कहा, वैसे ही हैं। सबको ब्रह्मरूप ही समझना चाहिये। पिताजी! आत्मा तो एक ही है, परंतु वह अपनेमें ही गुणोंकी सृष्टि कर लेता है और गुणोंके द्वारा बनाये हुए पञ्चभूतोंमें एक होनेपर भी अनेक, स्वयंप्रकाश होनेपर भी दृश्य, अपना स्वरूप होनेपर भी अपनेसे भिन्न, नित्य होनेपर भी अनित्य और निर्गुण होनेपर भी सगुणके रूपमें प्रतीत होता है। जैसे आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पञ्चमहाभूत अपने कार्य घट, कुण्डल आदिमें प्रकट-अप्रकट, बड़े-छोटे, अधिक-थोड़े, एक और अनेक-से प्रतीत होते हैं—परंतु वास्तवमें सत्तारूपसे वे एक ही रहते हैं; वैसे ही आत्मामें भी उपाधियोंके भेदसे ही नानात्वकी प्रतीति होती है; इसलिये जो मैं हूँ, वही सब हैं—इस दृष्टिसे आपका कहना ठीक ही है'।

देवकीके कंसद्वारा मारे गये छः पुत्रोंको बलिसे माँगना

एक बार देवकीके अनुरोध करनेपर उसके मारे गये पुत्रोंको लानेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम सुतललोकमें गये। वहाँ राजा बलिने सत्कार करके उनका स्तवन किया। तब भगवान् बोले—

भगवत्कृपासे शापमुक्ति

हिरण्यकशिपोर्जाता नीतास्ते योगमायया॥
देवक्या उदरे जाता राजन् कंसविहिंसिताः।
सा तान्शोचत्यात्मजान् स्वांस्त इमेऽध्यासतेऽन्तिके
इत एतान् प्रणेष्यामो मातृशोकापनुत्तये।
ततः शापाद् विनिर्मुक्ता लोकं यास्यन्ति विज्वराः॥

स्मरोद्गीथः परिष्वङ्गः पतङ्गः क्षुद्रभृद् घृणी ।
षडिमे मत्प्रसादेन पुनर्यास्यन्ति सद्गतिम् ॥
(श्रीमद्भागवत १० । ८५ । ४८—५१)

'(ब्रह्माजीके शापसे ये छः देवता टले) फिर हिरण्यकशिपु-के पुत्ररूपसे उत्पन्न हुए थे। अब योगमायाने उन्हें वहाँसे लाकर देवकीके गर्भमें रख दिया और उनको उत्पन्न होते ही कंसने मार डाला। दैत्यराज ! माता देवकीजी अपने उन पुत्रोंके लिये अत्यन्त शोकातुर हो रही हैं और वे तुम्हारे पास हैं। अतः हम अपनी माताका शोक दूर करनेके लिये इन्हें यहाँसे ले जायँगे, इसके बाद ये शापसे मुक्त हो जायँगे और आनन्दपूर्वक अपने लोकमें चले जायँगे। इनके छः नाम है—स्मर, उद्गीथ, परिष्वङ्ग, पतङ्ग, क्षुद्रभृत् और घृणि—इन्हें मेरी कृपासे पुनः सद्गति प्राप्त होगी'।

ऋषि-मुनियों एवं ब्राह्मणोंकी श्रेष्ठता एवं सेवनीयताका प्रतिपादन

विदेहकी राजधानी मिथिलामें एक गृहस्थ ब्राह्मण थे, उनका नाम था श्रुतदेव। वे भगवान् श्रीकृष्णके परम भक्त थे। उस देशके राजा बहुलाश्व (जनक) भी ब्राह्मणके समान ही भक्तिमान् थे। दोनों ही भगवान्के प्रिय भक्त थे; अतः उन दोनोंको कृतार्थ करनेके लिये भगवान् मिथिला पधारे और एक ही समय पृथक्-पृथक् रूपसे दोनों घरके अतिथि हुए। उनके साथ ऋषिलोग भी थे। दोनोंने अपना भाग्य सराहा। राजाके आग्रहसे भगवान् उनके यहाँ कई दिन रहे। श्रुतदेवने स्तुति करके भगवान्से पूछा—'प्रभो ! मैं क्या सेवा करूँ ?'

संतों तथा ब्राह्मणोंकी महिमा

भगवान्ने कहा—

ब्रह्मंस्तेऽनुग्रहार्थाय सम्प्राप्तान् विद्ध्यमून् मुनीन्।
संचरन्ति मया लोकान् पुनन्तः पादरेणुभिः ॥
देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि दर्शनस्पर्शनार्चनैः ।
शनैः पुनन्ति कालेन तदप्यर्हत्तमेक्षया ॥
ब्राह्मणो जन्मना श्रेयान् सर्वेषां प्राणिनामिह ।
तपसा विद्यया तुष्ट्या किमु मत्कलया युतः ॥
न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम् ।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो ह्यहम् ॥
दुष्प्रज्ञा अविदित्वैवमवजानन्त्यसूयवः ।
गुरुं मां विप्रमात्मानमर्चादाविज्यदृष्टयः ॥
चराचरमिदं विश्वं भावा ये चास्य हेतवः ।
मद्रूपाणीति चेतस्याधत्ते विप्रो मदीक्षया ॥
तस्माद् ब्रह्मऋषीनेतान् ब्रह्मन् मच्छ्रद्धयार्चय ।
एवं चेदर्चितोऽस्म्यद्धा नान्यथा भूरिभूतिभिः ॥
(श्रीमद्भागवत १० । ८६ । ५१-५७)

'प्रिय श्रुतदेव ! ये बड़े-बड़े ऋषि-मुनि तुमपर अनुग्रह करनेके लिये ही यहाँ पधारे हैं। ये अपने चरण-कमलोंकी धूलसे लोगों और लोकोंको पवित्र करते हुए मेरे साथ विचरण कर रहे हैं। देवता, पुण्यक्षेत्र और तीर्थ आदि तो दर्शन, स्पर्श, अर्चन आदिके द्वारा धीरे-धीरे बहुत दिनोंमें पवित्र करते हैं; परंतु संत पुरुष अपनी दृष्टिसे ही सबको पवित्र कर देते हैं। यही नहीं, देवता आदिमें जो पवित्र करनेकी शक्ति है, वह भी उन्हें संतोंकी

दृष्टिसे ही प्राप्त होती है। श्रुतदेव ! जगत्‌में ब्राह्मण जन्मसे ही सब प्राणियोंसे श्रेष्ठ हैं। यदि वह तपस्या, विद्या, संतोष और मेरी उपासना—मेरी भक्तिसे युक्त हो तब तो कहना ही क्या है। मुझे अपना यह चतुर्भुजरूप भी ब्राह्मणोंकी अपेक्षा अधिक प्रिय नहीं है; क्योंकि ब्राह्मण सर्ववेदमय है और मैं सर्वदेवमय हूँ। दुर्बुद्धि मनुष्य इस बातको न जानकर केवल मूर्ति आदि-में ही पूज्यबुद्धि रखते हैं और गुणोंमें दोष निकालकर मेरे स्वरूप जगद्गुरु ब्राह्मणका, जो कि उनका आत्मा ही है, तिरस्कार करते हैं। ब्राह्मण मेरा साक्षात्कार करके अपने चित्तमें यह निश्चय कर लेता है कि यह चराचर जगत्, इसके सम्बन्धकी सारी भावनाएँ और इसके कारण प्रकृति-महत्तत्त्वादि सब-के-सब आत्मस्वरूप भगवान्‌के ही रूप हैं। इसलिये श्रुतदेव ! तुम इन ब्रह्मर्षियोंको मेरा ही स्वरूप समझकर पूरी श्रद्धासे इनकी पूजा करो। यदि तुम ऐसा करोगे, तब तो तुमने साक्षात् अनायास ही मेरा पूजन कर लिया; नहीं तो, बड़ी-बड़ी बहुमूल्य सामग्रियोंसे भी मेरी पूजा नहीं हो सकती।'

बाल-हत्याकारी अश्वत्थामाको दण्ड-प्रदान

जिस समय महाभारत-युद्धमें कौरव और पाण्डव दोनों पक्षोंके बहुत-से वीर वीरगतिको प्राप्त हो चुके थे और भीमसेन-की गदाके प्रहारसे दुर्योधनकी जाँघ टूट चुकी थी, उस समय अश्वत्थामाने अपने स्वामी दुर्योधनका प्रिय कार्य समझकर द्रौपदीके सोते हुए पुत्रोंके सिर काटकर उसे भेंट किये। यह घटना दुर्योधनको भी अप्रिय ही लगी; क्योंकि ऐसे नीच कर्मकी सभी निन्दा करते हैं। उन बालकोंकी माता द्रौपदी अपने पुत्रोंका निधन सुनकर अत्यन्त दुखी हो गयी। उसकी आँखों-में आँसू छलछला आये—वह रोने लगी। अर्जुनने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—'कल्याणी ! मैं तुम्हारे आँसू तब पोंछूँगा जब ब्राह्मणाधमका सिर गाण्डीव-धनुषके बाणोंसे काटकर तुम्हें भेंट करूँगा और पुत्रोंकी अन्त्येष्टि क्रियाके बाद तुम उसपर पैर रखकर स्नान करोगी।' अर्जुनने इन मीठी और विचित्र बातोंसे द्रौपदीको सान्त्वना दी और अपने मित्र भगवान् श्रीकृष्णकी सम्मतिसे उन्हें सारथि बनाकर, कवच धारणकर और अपने भयानक गाण्डीव धनुषको लेकर वे रथपर सवार हुए तथा गुरुपुत्र अश्वत्थामाके पीछे दौड़ पड़े। बच्चोंकी हत्यासे अश्वत्थामाका भी मन उद्विग्न हो गया था। जब उसने दूरसे ही देखा कि अर्जुन मेरी ओर झपटे हुए आ रहे हैं, तब वह अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये पृथ्वीपर जहाँ-तक भाग सकता था, भागता रहा। जब उसे थकावट मालूम हुई तो वह उठकर खड़ा हो गया और डाँट बताने लगा। अन्तमें जब उसने देखा कि मैं बिल्कुल अकेला हूँ, तब उसने अपनेको बचानेका एकमात्र साधन ब्रह्मास्त्र ही समझा। यद्यपि उसे ब्रह्मास्त्रको लौटानेकी विधि मालूम न थी, फिर भी प्राणसंकट देखकर उसने आचमन किया और ध्यानस्थ होकर ब्रह्मास्त्रका संधान किया। उस अस्त्रसे सब दिशाओंमें एक बड़ा प्रचण्ड तेज फैल गया। अर्जुनने देखा कि अब तो मेरे प्राणोंपर ही आ बनी है, तब उन्होंने श्रीकृष्णसे प्रार्थना की—

'स्वयंप्रकाशस्वरूप श्रीकृष्ण ! यह भयंकर तेज सब ओरसे मेरी ओर आ रहा है। यह क्या है, कहाँसे, क्यों आ रहा है—इसका मुझे बिल्कुल पता नहीं है।

भगवान्‌ने कहा—अर्जुन ! यह अश्वत्थामाका चलाया हुआ ब्रह्मास्त्र है । यह बात समझ लो कि प्राण-संकट उपस्थित होनेसे उसने इसका प्रयोग तो कर दिया है, परंतु वह इस अस्त्रको लौटाना नहीं जानता । किसी भी दूसरे अस्त्रमें इसको दबा देनेकी शक्ति नहीं है । तुम शस्त्रास्त्र-विद्याको भलीभाँति जानते ही हो । ब्रह्मास्त्रके तेजसे ही इस ब्रह्मास्त्रकी प्रचण्ड आगको बुझा दो ।

भगवान्‌की बात सुनकर उन्होंने आचमन किया और भगवान्‌की परिक्रमा करके ब्रह्मास्त्रके निवारणके लिये ब्रह्मास्त्र-का ही संधान किया । बाणोंसे वेष्टित उन दोनों ब्रह्मास्त्रोंके तेज प्रलयकालीन सूर्य एवं अग्निके समान आपसमें टकराकर सारे आकाश और दिशाओंमें फैल गये और बढ़ने लगे । उस आगसे प्रजाका और लोकोंका नाश होते देखकर भगवान्‌की अनुमतिसे अर्जुनने उन दोनोंको ही लौटा लिया । अर्जुनकी आँखें क्रोधसे लाल-लाल हो रही थीं । उन्होंने झपटकर उस क्रूर अश्वत्थामाको पकड़ लिया और जैसे कोई रस्सीसे पशुको बाँध ले, वैसे ही बाँध लिया । अश्वत्थामाको बलपूर्वक बाँधकर अर्जुनने जब शिविरकी ओर ले जाना चाहा, तब उनसे कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने कुपित होकर कहा—'अर्जुन ! इस ब्राह्मणाधमको छोड़ना ठीक नहीं है, इसको तो मार ही डालो । इसने रातमें सोये हुए निरपराध बालकोंकी हत्या की है । इस पापी कुलाङ्गार आततायीने तुम्हारे पुत्रोंका वध किया है और अपने स्वामी दुर्योधनको भी दुःख पहुँचाया है । इसलिये अर्जुन ! इसे मार ही डालो ।' भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके धर्मकी परीक्षा लेनेके लिये इस प्रकार प्रेरणा की; परंतु अर्जुनका हृदय महान् था । यद्यपि अश्वत्थामाने उनके पुत्रोंकी हत्या की थी, फिर भी अर्जुनके मनमें गुरुपुत्रको मारनेकी इच्छा नहीं हुई ।

इसके बाद अपने मित्र और सारथि श्रीकृष्णके साथ वे अपने युद्ध-शिविरमें पहुँचे । वहाँ अपने मृत पुत्रोंके लिये शोक करती हुई द्रौपदीको उसे सौंप दिया । द्रौपदीने देखा कि अश्वत्थामा पशुकी तरह बाँधकर लाया गया है । निन्दित कर्म करनेके कारण उसका मुख नीचेकी ओर झुका हुआ है । अपना अनिष्ट करनेवाले गुरुपुत्र अश्वत्थामाको इस प्रकार अपमानित देखकर द्रौपदीका कोमल हृदय कृपासे भर आया और उसने अश्वत्थामाको नमस्कार किया । गुरुपुत्रका इस प्रकार बाँधकर लाया जाना सती द्रौपदीको सहन नहीं हुआ । उसने कहा—'छोड़ दो इन्हें, छोड़ दो । ये ब्राह्मण हैं, हम लोगोंके अत्यन्त पूजनीय हैं । जिनकी कृपासे आपने रहस्यके साथ सारे धनुर्वेद और प्रयोग तथा उपसंहारके साथ सम्पूर्ण शस्त्रास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त किया है, वे आपके आचार्य द्रोण ही पुत्रके रूपमें आपके सामने खड़े हैं । उनकी अर्धाङ्गिनी कृपी अपने वीर पुत्रकी ममतासे ही अपने पतिका अनुगमन नहीं कर सकीं, वे अभी जीवित हैं । महाभाग्यवान् आर्यपुत्र ! आप तो बड़े धर्मज्ञ हैं । जिस गुरुवंशकी नित्य पूजा और वन्दना करनी चाहिये, उसीको व्यथा पहुँचाना आपके योग्य कार्य नहीं है । जैसे अपने बच्चोंके मर जानेसे मैं दुखी होकर रो रही हूँ और मेरी आँखोंसे बार-बार आँसू निकल रहे हैं, वैसे ही इनकी माता पतिव्रता गौतमी न रोयें । जो उच्छृङ्खल राजा अपने कुकृत्योंसे ब्राह्मणकुलको कुपित कर देते हैं, वह कुपित ब्राह्मणकुल उन राजाओंको सपरिवार शोकाग्निमें डालकर शीघ्र ही भस्म कर देता है ।'

द्रौपदीकी बात धर्म और न्यायके अनुकूल थी । उसमें कपट नहीं था, करुणा और समता थी । अतएव राजा युधिष्ठिरने रानीके इन हितभरे श्रेष्ठ वचनोंका अभिनन्दन किया, साथ ही नकुल, सहदेव, सात्यकि, अर्जुन, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण और वहाँपर उपस्थित सभी नर-नारियोंने द्रौपदीकी बातका समर्थन किया । उस समय क्रोधित होकर भीमसेनने कहा, 'जिसने सोते हुए बच्चोंको न अपने लिये और न अपने स्वामीके लिये, बल्कि व्यर्थ ही मार डाला, उसका तो वध ही उत्तम है ।' भगवान् श्रीकृष्णने द्रौपदी और भीमसेनकी बात सुनकर और अर्जुनकी ओर देखकर कुछ हँसते हुए-से कहा ।

ब्राह्मणका वध न करना तथा आततायीका वध करना उचित है

ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्य आततायी वधार्हणः ।
मयैवोभयमाम्नातं परिपाह्यनुशासनम् ॥
कुरु प्रतिश्रुतं सत्यं यत्तत्सान्त्वयता प्रियाम् ।
प्रियं च भीमसेनस्य पाञ्चाल्या मह्यमेव च ॥

(श्रीमद्भागवत १ । ७ । ५३-५४)

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—'पतित ब्राह्मणका भी वध नहीं करना चाहिये और आततायीको मार ही डालना चाहिये'—शास्त्रोंमें मैंने ही ये दोनों बातें कही हैं ।

इसलिये मेरी दोनों आज्ञाओंका पालन करो। तुमने द्रौपदीको सान्त्वना देते समय जो प्रतिज्ञा की थी उसे भी सत्य करो; साथ ही भीमसेन, द्रौपदी और मुझे जो प्रिय हो, वह भी करो।'

अर्जुन भगवान्‌के हृदयकी बात तुरंत ताड़ गये और उन्होंने अपनी तलवारसे अश्वत्थामाके सिरकी मणि उसके बालोंके साथ उतार ली। बालोंकी हत्या करनेसे वह श्रीहीन तो पहले ही हो गया था, अब मणि और ब्रह्मतेजसे भी रहित हो गया। इसके बाद उन्होंने रस्सीका बन्धन खोलकर उसे शिविरसे निकाल दिया। मूँड देना, धन छीन लेना और स्थानसे बाहर निकाल देना—यही ब्राह्मणाधमोंका वध है। उनके लिये इससे भिन्न शारीरिक वधका विधान नहीं है।

उद्धवको भागवत-ज्ञानका उपदेश

जब अन्धे राजा धृतराष्ट्रने अन्यायपूर्वक अपने दुष्ट पुत्रोंका पालन-पोषण करते हुए अपने छोटे भाई पाण्डुके अनाथ बालकोंको लाक्षाभवनमें भेजकर आग लगवा दी। जब उनकी पुत्रवधू और महाराज युधिष्ठिरकी पटरानी द्रौपदीके केश दुःशासनने भरी सभामें खींचे, उस समय द्रौपदीकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली और उस प्रवाहसे उसके वक्षःस्थलपर लगा हुआ केसर भी बह चला; किंतु धृतराष्ट्रने अपने पुत्रको उस कुकर्मसे नहीं रोका। दुर्योधनने सत्यपरायण और भोले-भाले युधिष्ठिरका राज्य जुएमें अन्यायसे जीत लिया और उन्हें वनमें निकाल दिया। किंतु वनसे लौटनेपर प्रतिज्ञानुसार जब उन्होंने अपना न्यायोचित पैतृक भाग माँगा, तब भी मोहवश उन्होंने उन अजातशत्रु युधिष्ठिरको उनका हिस्सा नहीं दिया। महाराज युधिष्ठिरके भेजनेपर जब जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णने कौरवोंकी सभामें हितभरे सुमधुर वचन कहे, जो भीष्मादि सज्जनोंको अमृत-से लगे, पर कुरुराजने उनके कथनको कुछ भी आदर नहीं दिया। देते कैसे? उनके तो सारे पुण्य नष्ट हो चुके थे, फिर जब सलाहके लिये विदुरजीको बुलाया गया, तब मन्त्रियोंमें श्रेष्ठ विदुरजीने राज्यभवनमें जाकर बड़े भाई धृतराष्ट्रके पूछनेपर उन्हें वह सम्मति दी, जिसे नीति-शास्त्रके जाननेवाले पुरुष 'विदुरनीति' कहते हैं।

उन्होंने कहा—'महाराज! आप अजातशत्रु महात्मा युधिष्ठिरको उनका हिस्सा दे दीजिये। वे आपके न सहनेयोग्य अपराधको भी सह रहे हैं। भीमरूप काले नागसे तो आप भी बहुत डरते हैं; देखिये, वह अपने छोटे भाइयोंके सहित बदला लेनेके लिये बड़े क्रोधसे फुफकारें मार रहा है। आपको पता नहीं, भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंको अपना लिया है। वे यदुवीरोंके आराध्यदेव इस समय अपनी राजधानी द्वारकापुरीमें विराजमान हैं। उन्होंने पृथ्वीके सभी बड़े-बड़े राजाओंको अपने अधीन कर लिया है तथा ब्राह्मण और देवता भी उन्हींके पक्षमें हैं। जिसे आप पुत्र मानकर पाल रहे हैं तथा जिसकी हाँ-में-हाँ मिलाते जा रहे हैं, उस दुर्योधनके रूपमें तो मूर्तिमान् दोष ही आपके घरमें घुसा बैठा है। यह तो साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णसे विमुख होकर श्रीहीन हो रहा है। अतएव यदि आप अपने कुलकी कुशल चाहते हैं तो इस दुष्टको तुरंत ही त्याग दीजिये।'

उनकी यह बात सुनते ही कर्ण, दुःशासन और शकुनिके सहित दुर्योधनके होठ अत्यन्त क्रोधसे फड़कने लगे और उसने उनका तिरस्कार करते हुए कहा—'अरे! इस कुटिल दासीपुत्रको यहाँ किसने बुलाया है? यह जिनके टुकड़े खा-खाकर जीता है, उन्हींके प्रतिकूल होकर शत्रुका काम बनाना चाहता है। इसके प्राण तो मत लो, परंतु इसे हमारे नगरसे तुरंत बाहर निकाल दो।' भाईके सामने ही कानोंमें बाणके समान लगनेवाले इन अत्यन्त कठोर वचनोंसे मर्माहत होकर भी विदुरजीने कुछ बुरा न माना और भगवान्‌की मायाको प्रबल समझकर अपना धनुष राजद्वारपर रख वे हस्तिनापुरसे चल दिये। कौरवोंको विदुर-जैसे महात्मा बड़े पुण्यसे प्राप्त हुए थे। वे हस्तिनापुरसे चलकर पुण्य करनेकी इच्छासे भूमण्डलमें तीर्थपाद भगवान्‌के क्षेत्रोंमें विचरने लगे, जहाँ श्रीहरि ब्रह्मा, रुद्र, अनन्त आदि अनेकों मूर्तियोंके

रूपमें विराजमान हैं। घूमते हुए वे यमुना-तटपर पहुँचे, तब वहाँ उन्होंने परम भागवत उद्धवजीके दर्शन किये। वे भगवान् श्रीकृष्णके प्रख्यात सेवक और अत्यन्त शान्त-स्वभाव थे। उन्होंने बृहस्पतिजीसे नीतिशास्त्रकी शिक्षा पायी थी। विदुरजीने उन्हें देखकर प्रेमसे गाढ़ आलिङ्गन किया और उनसे अपने आराध्य भगवान् श्रीकृष्ण और उनके आश्रित अपने स्वजनोंका कुशल-समाचार पूछा।

विदुरजीके पूछनेपर उद्धवने भगवान्की लीलाओंका संक्षेपसे वर्णन करके प्रभासक्षेत्रमें यदुवंशके विनाशका सारा समाचार कह सुनाया। फिर बोले—भगवान् अपनी मायाकी उस विचित्र गतिको देखकर सरस्वतीके जलसे आचमन करके एक वृक्षके नीचे बैठ गये। इससे पहले ही शरणागतोंका दुःख दूर करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने अपने कुलका संहार करनेकी इच्छा होनेपर मुझसे कह दिया था कि तुम बदरिकाश्रम चले जाओ। विदुरजी! इससे यद्यपि मैं उनका आशय समझ गया था, तो भी स्वामीके चरणोंका वियोग न सह सकनेके कारण मैं उनके पीछे-पीछे प्रभासक्षेत्रमें पहुँच गया। वहाँ मैंने देखा कि जो सबके आश्रय हैं; किंतु जिनका कोई और आश्रय नहीं है, वे प्रियतम प्रभु शोभाधाम श्यामसुन्दर सरस्वतीके तटपर अकेले ही बैठे हैं। दिव्य विशुद्ध सत्त्वमय अत्यन्त सुन्दर श्याम शरीर है। शान्तिसे भरी रतनारी आँखें हैं। उनकी चार भुजाएँ और रेशमी पीताम्बर देखकर मैंने उनको दूरसे ही पहचान लिया। वे एक पीपलके छोटे-से वृक्षका सहारा लिये बायीं जाँघपर दायाँ चरणकमल रक्खे बैठे थे। भोजन-पानका त्याग कर देनेपर भी वे आनन्दसे प्रफुल्लित हो रहे थे। इसी समय व्यासजीके प्रिय मित्र परम भागवत सिद्ध मैत्रेयजी लोकोंमें स्वच्छन्द विचरते हुए वहाँ आ पहुँचे। मैत्रेय मुनि भगवान्के अनुरागी भक्त हैं। आनन्द और भक्तिभावसे उनकी गर्दन झुक रही थी। उनके सामने ही श्रीहरिने प्रेम एवं मुसकानयुक्त चितवनसे मुझे आनन्दित करते हुए कहा—

अनन्य भक्तिसे भगवान्के दर्शन होते हैं

वेदाहमन्तर्मनसीप्सितं ते
ददामि यत्तद् दुरवापमन्यैः।
सत्रे पुरा विश्वसृजां वसूनां
मत्सिद्धिकामेन वसो त्वयेष्टः॥
स एष साधो चरमो भवाना-
मासादितस्ते मदनुग्रहो यत्।
यन्मां नृलोकान् रह उत्सृजन्तं
दिष्ट्या ददृश्वान् विशदानुवृत्त्या॥
पुरा मया प्रोक्तमजाय नाभ्ये
पद्मे निषण्णाय ममादिसर्गे।
ज्ञानं परं मन्महिमावभासं
यत्सूरयो भागवतं वदन्ति॥

(श्रीमद्भागवत ३। ४। ११–१३)

'मैं तुम्हारी आन्तरिक अभिलाषा जानता हूँ; इसलिये मैं तुम्हें वह साधन देता हूँ, जो दूसरोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ है। उद्धव! तुम पूर्वजन्ममें वसु थे। विश्वकी रचना करनेवाले प्रजापतियों और वसुओंके यज्ञमें मुझे पानेकी इच्छासे ही तुमने मेरी आराधना की थी। साधुस्वभाव उद्धव! संसारमें तुम्हारा यह अन्तिम जन्म है; क्योंकि इसमें तुमने मेरा अनुग्रह प्राप्त कर लिया है। अब मैं मर्त्यलोकको छोड़कर अपने धाममें जाना चाहता हूँ। इस समय यहाँ एकान्तमें तुम अपनी अनन्य भक्तिके कारण ही मेरे दर्शन पाये हो; यह बड़े सौभाग्यकी बात है। पूर्वकालमें पाद्म-कल्पके आरम्भमें मैंने अपने नाभि-कमलपर बैठे हुए ब्रह्माको अपनी महिमाके प्रकट करनेवाले जिस श्रेष्ठ ज्ञानका उपदेश किया था और जिसे विवेकी लोग 'भागवत' कहते हैं, वही मैं तुम्हें देता हूँ।'

उद्धव गीता

लीला-पुरुषोत्तम आनन्दकन्द भगवान् देवकीनन्दन जब अपने अवतारके सारे कार्य-कलाप पूर्ण कर चुके और कालरूपसे वसुदेवगृहमें निवास करने लगे, उन्हीं दिनों भगवत्सांनिध्यके लोभसे द्वारकाके निकटवर्ती पिण्डारक-क्षेत्रमें विश्वामित्र आदि बहुत-से ऋषि आकर निवास कर रहे थे। भगवान्ने यह विचार किया कि 'लोकदृष्टिसे पृथ्वीका भार उतर जानेपर भी वस्तुतः मेरी दृष्टिसे अभी वह भार नहीं उतरा; क्योंकि अभी दुःसह एवं दुर्द्धर्ष यदुकुलका भार तो भूतलपर बना ही हुआ है। इस दुर्जय कुलका पराभव किसी दूसरेसे नहीं हो सकता; जैसे बाँसका वन परस्पर संघर्षकी आगमें दग्ध होता है, उसी तरह यह कुल भी अन्तःकलहकी अग्निसे ही नष्ट हो सकता है; अतः इसका अन्त करके ही मैं शान्तिपूर्वक अपने धामको जाऊँगा।' भगवान्का यह संकल्प अमोघ होनेके कारण सफल हुआ। यदुकुलके बालकोंने ऋषियोंके साथ परिहास करके उन्हें रुष्ट कर दिया और बदलेमें अपने कुलके संहारका शाप प्राप्त किया। इसी बीचमें नारदजीने आकर वसुदेवजीको ज्ञानोपदेश दिया। तदनन्तर ब्रह्मा आदि देवताओंने आकर भगवान्से परमधाममें पधारनेके लिये प्रार्थना की। भगवान्ने उनकी अभ्यर्थना स्वीकार की और द्वारकामें अनेक प्रकारके उत्पात देख यादवोंको प्रभास-क्षेत्रमें चलनेकी आज्ञा दी। यह आज्ञा पाकर यदुवंशियोंने एक मतसे प्रभास जानेका निश्चय कर लिया और सब अपने-अपने रथोंको सजाने एवं जोतने लगे।

उद्धवजी भगवान् श्रीकृष्णके बड़े प्रेमी और सेवक थे। उन्होंने जब यदुवंशियोंको यात्राकी तैयारी करते देखा, भगवान्की आज्ञा सुनी और अत्यन्त घोर अपशकुन देखे, तब वे जगत्के एकमात्र अधिपति भगवान् श्रीकृष्णके पास एकान्तमें गये, उनके चरणोंपर अपना सिर रखकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर उनसे इस प्रकार प्रार्थना करने लगे—

'योगेश्वर! आप देवाधिदेवोंके भी अधीश्वर हैं। आपकी लीलाओंके श्रवण-कीर्तनसे जीव पवित्र हो जाता है। आप सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हैं। आप चाहते, तो ब्राह्मणोंके शापको मिटा सकते थे; परंतु आपने वैसा किया नहीं। इससे मैं यह समझ गया कि अब आप यदुवंशका संहार करके, इसे समेटकर अवश्य ही इस लोकका परित्याग कर देंगे। परंतु घुँघराली अलकोंवाले श्यामसुन्दर! मैं आधे क्षणके लिये भी आपके चरणकमलोंके त्यागकी बात सोच भी नहीं सकता। मेरे जीवनसर्वस्व, मेरे स्वामी! आप मुझे भी अपने धाममें ले चलिये। प्यारे कृष्ण! आपकी एक-एक लीला मनुष्योंके लिये परम मङ्गलमयी और कानोंके लिये अमृतस्वरूप है। जिसे एक बार उस रसका चसका लग जाता है, उसके मनमें फिर किसी दूसरी वस्तुके लिये लालसा ही नहीं रह जाती। प्रभो! हम तो उठते-बैठते, सोते-जागते, घूमते-फिरते आपके साथ रहे हैं; हमने आपके साथ स्नान किया, खेल खेले, भोजन किया; कहाँतक गिनावें, हमारी एक-एक चेष्टा आपके साथ होती रही। आप हमारे प्रियतम हैं; और तो क्या, आप हमारे आत्मा ही हैं। ऐसी स्थितिमें हम आपके प्रेमी भक्त आपको कैसे छोड़ सकते हैं? हमने आपकी धारण की हुई माला पहनी, आपके लगाये हुए चन्दन लगाये, आपके उतारे हुए वस्त्र पहने और आपके धारण किये हुए गहनोंसे अपने-आपको सजाते रहे। हम आपकी जूठन खानेवाले सेवक हैं। इसलिये हम आपकी मायापर अवश्य ही विजय प्राप्त कर लेंगे। (अतः प्रभो! हमें आपकी मायाका डर नहीं है, डर है तो केवल आपके वियोगका।) हम जानते हैं कि मायाको पार कर लेना बहुत ही कठिन है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि दिगम्बर रहकर और आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका पालन करके अध्यात्मविद्याके लिये अत्यन्त परिश्रम करते हैं। इस प्रकारकी कठिन साधनासे उन संन्यासियोंके हृदय निर्मल हो पाते हैं और तब कहीं वे समस्त वृत्तियोंकी शान्तिरूप नैष्कर्म्य-अवस्थामें स्थित होकर आपके 'ब्रह्म' नामक धामको प्राप्त होते हैं। महायोगेश्वर! हमलोग तो कर्म-मार्गमें ही भ्रम-भटक रहे हैं! परंतु इतना निश्चित है कि हम आपके भक्तजनोंके साथ आपके गुणों और लीलाओंकी चर्चा करेंगे तथा मनुष्यकी-सी लीला करते हुए आपने जो कुछ किया या कहा है, उसका स्मरण-कीर्तन करते रहेंगे। साथ ही आपकी चाल-ढाल, मुसकान-चितवन और हास-परिहासकी स्मृतिमें तल्लीन हो जायँगे। केवल इसीसे हम दुस्तर मायाको पार कर लेंगे। (इसलिये हमें मायासे पार जानेकी नहीं, आपके विरहकी चिन्ता है। आप हमें छोड़िये नहीं, साथ ले चलिये।)'

जब उद्धवजीने देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार प्रार्थना की, तब उन्होंने अपने अनन्यप्रेमी सखा एवं सेवक उद्धवजीसे जो कुछ कहा, उसीको 'उद्धव गीता' के नामसे आगे दिया जा रहा है।

अध्याय प्रथम

अवधूतोपाख्यान—पृथ्वीसे कबूतरतक आठ गुरुओंका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

यदात्थ मां महाभाग तच्चिकीर्षितमेव मे ।
ब्रह्मा भवो लोकपालाः स्वर्वासं मेऽभिकाङ्क्षिणः ॥
मया निष्पादितं ह्यत्र देवकार्यमशेषतः ।
यदर्थमवतीर्णोऽहमंशेन ब्रह्मणार्थितः ॥
कुलं वै शापनिर्दग्धं नङ्क्ष्यत्यन्योन्यविग्रहात् ।
समुद्रः सप्तमेऽह्न्येतां पुरीं च प्लावयिष्यति ॥
यर्ह्येवायं मया त्यक्तो लोकोऽयं नष्टमङ्गलः ।
भविष्यत्यचिरात् साधो कलिनापि निराकृतः ॥
न वस्तव्यं त्वयैवेह मया त्यक्ते महीतले ।
जनोऽधर्मरुचिर्भद्र भविष्यति कलौ युगे ॥
त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु ।
मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग् विचरस्व गाम् ॥
यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः ।
नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम् ॥
पुंसोऽयुक्तस्य नानार्थो भ्रमः स गुणदोषभाक् ।
कर्माकर्मविकर्मेति गुणदोषधियो भिदा ॥
तस्माद् युक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इदं जगत् ।
आत्मनीक्षस्व विततमात्मानं मय्यधीश्वरे ॥
ज्ञानविज्ञानसंयुक्त आत्मभूतः शरीरिणाम् ।
आत्मानुभवतुष्टात्मा नान्तरायैर्विहन्यसे ॥
दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते ।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः ॥
सर्वभूतसुहृच्छान्तो ज्ञानविज्ञाननिश्चयः ।
पश्यन् मदात्मकं विश्वं न विपद्येत वै पुनः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ७ । १-१२)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—महाभाग्यवान् उद्धव ! तुमने मुझसे जो कुछ कहा है, मैं वही करना चाहता हूँ। ब्रह्मा, शंकर और इन्द्रादि लोकपाल भी अब यही चाहते हैं कि मैं उनके लोकोंमें होकर अपने धामको चला जाऊँ । पृथ्वीपर देवताओंका जितना काम करना था, उसे मैं पूरा कर चुका । इसी कामके लिये ब्रह्माजी-की प्रार्थनासे मैं बलरामजीके साथ अवतीर्ण हुआ था । अब यह यदुवंश, जो ब्राह्मणोंके शापसे भस्म हो चुका है, पारस्परिक फूट और युद्धसे नष्ट हो जायगा । आजके सातवें दिन समुद्र इस पुरी—द्वारकाको डुबो देगा । प्यारे उद्धव ! जिस क्षण मैं मर्त्यलोकका परित्याग कर दूँगा, उसी क्षण इसके सारे मङ्गल नष्ट हो जायँगे और थोड़े ही दिनोंमें पृथ्वीपर कलियुगका बोलबाला हो जायगा । जब मैं इस पृथ्वीका त्याग कर दूँ, तब तुम इसपर मत रहना; क्योंकि साधु उद्धव ! कलियुग-में अधिकांश लोगोंकी रुचि अधर्ममें ही होगी । अब तुम अपने आत्मीय स्वजन और बन्धु-बान्धवोंका स्नेह-सम्बन्ध छोड़ दो और अनन्यप्रेमसे मुझमें अपना मन लगाकर समदृष्टिसे पृथ्वीमें स्वच्छन्द विचरण करो । इस जगत्में जो कुछ मनसे सोचा जाता है, वाणीसे कहा जाता है, नेत्रोंसे देखा जाता है और श्रवण आदि इन्द्रियोंसे अनुभव किया जाता है, वह सब नाशवान् है । स्वप्नकी तरह मनका विलास है । इसलिये माया-मात्र है, मिथ्या है—ऐसा समझ लो । जिस पुरुषका मन अशान्त है, असंयत है, उसीको पागलकी तरह अनेकों वस्तुएँ प्रतीत होती हैं; वास्तवमें यह चित्तका भ्रम ही है । नानात्वका भ्रम हो जानेपर ही 'यह गुण है' और 'यह दोष—'इस प्रकारकी कल्पना करनी पड़ती है । जिसकी बुद्धि-में गुण और दोषका भेद बैठ गया है, बद्धमूल हो गया है, उसीके लिये कर्म, अकर्म और विकर्मरूप भेदका प्रतिपादन हुआ है । इसलिये उद्धव ! तुम पहले

अपनी समस्त इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लो, उनकी बागडोर अपने हाथमें ले लो और केवल इन्द्रियोंको ही नहीं, चित्तकी समस्त वृत्तियोंको भी रोक लो और फिर ऐसा अनुभव करो कि यह सारा जगत् अपने आत्मामें ही फैला हुआ है और आत्मा मुझ सर्वात्मा इन्द्रियातीत ब्रह्मसे एक है, अभिन्न है। जब वेदोंके मुख्य तात्पर्य—निश्चयरूप ज्ञान और अनुभवरूप विज्ञानसे भलीभाँति सम्पन्न होकर तुम अपने आत्माके अनुभवमें ही आनन्दमग्न रहोगे और सम्पूर्ण देवता आदि शरीरधारियोंके आत्मा हो जाओगे! इसलिये किसी भी विघ्नसे तुम पीड़ित नहीं हो सकोगे; क्योंकि उन विघ्नों और विघ्न करनेवालोंकी आत्मा भी तुम्हीं होओगे। जो पुरुष गुण और दोष-बुद्धिसे अतीत हो जाता है, वह बालकके समान निषिद्ध कर्म-से निवृत्त होता है, परंतु दोष-बुद्धिसे नहीं। वह विहित कर्मका अनुष्ठान भी करता है, परंतु गुण-बुद्धि-से नहीं। जिसने श्रुतियोंके तात्पर्यका यथार्थ ज्ञान ही नहीं प्राप्त कर लिया बल्कि उनका साक्षात्कार भी कर लिया है और इस प्रकार जो अटल निश्चयसे सम्पन्न हो गया है, वह समस्त प्राणियोंका हितैषी सुहृद् होता है और उसकी वृत्तियाँ सर्वथा शान्त रहती हैं। वह समस्त प्रतीयमान विश्वको मेरा ही स्वरूप—आत्मस्वरूप देखता है; इसलिये उसे फिर कभी जन्म-मृत्युके चक्करमें नहीं पड़ना पड़ता॥ १—१२॥

श्रीशुक उवाच

इत्यादिष्टो भगवता महाभागवतो नृप।
उद्धवः प्रणिपत्याह तत्त्वजिज्ञासुरच्युतम्॥

(श्रीमद्भागवत ११। ७। १३)

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार आदेश दिया, तब भगवान्के परम प्रेमी उद्धवजीने उन्हें प्रणाम करके तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छासे यह प्रश्न किया॥ १३॥

उद्धव उवाच

योगेश योगविन्यास योगात्मन् योगसम्भव।
निःश्रेयसाय मे प्रोक्तस्त्यागः संन्यासलक्षणः॥
त्यागोऽयं दुष्करो भूमन् कामानां विषयात्मभिः।
सुतरां त्वयि सर्वात्मन्नभक्तैरिति मे मतिः॥
सोऽहं ममाहमिति मूढमतिर्विगाढ-
स्त्वन्मायया विरचितात्मनि सानुबन्धे।
तत्त्वञ्जसा निगदितं भवता यथाहं
संसाधयामि भगवन्ननुशाधि भृत्यम्॥
सत्यस्य ते स्वदृश आत्मन आत्मनोऽन्यं
वक्तारमीश विबुधेष्वपि नानुचक्षे।
सर्वे विमोहितधियस्तव माययेमे
ब्रह्मादयस्तनुभृतो बहिरर्थभावाः॥
तस्माद् भवन्तमनवद्यमनन्तपारं
सर्वज्ञमीश्वरमकुण्ठविकुण्ठधिष्ण्यम्।
निर्विण्णधीरहमु ह वृजिनाभितप्तो
नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये॥

(श्रीमद्भागवत ११। ७। १४–१८)

उद्धवजीने कहा—भगवन्! आप ही समस्त योगियोंकी गुप्त पूँजी, योगोंके कारण और योगेश्वर हैं। आप ही समस्त योगोंके आधार, उनके कारण और योगस्वरूप भी हैं। आपने मेरे परम कल्याणके लिये उस संन्यासरूप त्यागका उपदेश किया है। परंतु अनन्त! जो लोग विषयोंके चिन्तन और सेवनमें घुल-मिल गये हैं, विषयात्मा हो गये हैं, उनके लिये विषयभोगों और कामनाओंका त्याग अत्यन्त कठिन है। सर्वस्वरूप! उनमें भी जो लोग आपसे विमुख हैं, उनके लिये तो इस प्रकारका त्याग सर्वथा असम्भव ही है—ऐसा मेरा निश्चय है। प्रभो! मैं भी ऐसा ही हूँ; मेरी मति इतनी मूढ़ हो गयी है कि 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' इस भावसे मैं आपकी मायाके खेल, देह और देहके सम्बन्धी स्त्री, पुत्र, धन आदिमें डूब रहा हूँ। अतः भगवन्! आपने जिस सर्वत्यागका उपदेश किया है, उसका तत्त्व मुझ सेवकको इस प्रकार समझाइये कि मैं सुगमतापूर्वक उसका साधन कर सकूँ। मेरे प्रभो! आप भूत, भविष्य, वर्तमान—इन तीनों कालोंसे अबाधित, एकरस सत्य हैं। आप दूसरेके द्वारा प्रकाशित नहीं, स्वयं-प्रकाश आत्मस्वरूप हैं। प्रभो! मैं समझता हूँ कि मेरे लिये आत्मतत्त्वका उपदेश करनेवाला

आपके अतिरिक्त देवताओंमें भी कोई नहीं है। ब्रह्मा आदि जितने बड़े-बड़े देवता हैं, वे सब शरीराभिमानी होनेके कारण आपकी मायासे मोहित हो रहे हैं। उनकी बुद्धि मायाके वशमें हो गयी है। यही कारण है कि वे इन्द्रियोंसे अनुभव किये जानेवाले बाह्य विषयोंको सत्य मानते हैं। इसीलिये मुझे तो आप ही उपदेश कीजिये। भगवन्! इसीसे चारों ओरसे दुःखोंकी दावाग्निसे जलकर और विरक्त होकर मैं आपकी शरणमें आया हूँ। आप निर्दोष देश-कालसे अपरिच्छिन्न, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और अविनाशी वैकुण्ठ-लोकके निवासी एवं नरके नित्य सखा नारायण हैं (अतः आप ही मुझे उपदेश कीजिये।) ॥ १४—१८ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रायेण मनुजा लोके लोकतत्त्वविचक्षणाः।
समुद्धरन्ति ह्यात्मानमात्मनैवाशुभाशयात् ॥
आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः।
यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते ॥
पुरुषत्वे च मां धीराः सांख्ययोगविशारदाः।
आविस्तरां प्रपश्यन्ति सर्वशक्त्युपबृंहितम् ॥
एकद्वित्रिचतुष्पादो बहुपादस्तथापदः।
बह्व्यः सन्ति पुरः सृष्टास्तासां मे पौरुषी प्रिया ॥
अत्र मां मार्गयन्त्यद्धा युक्ता हेतुभिरीश्वरम्।
गृह्यमाणैर्गुणैर्लिङ्गैरग्राह्यमनुमानतः ॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
अवधूतस्य संवादं यदोरमिततेजसः ॥
अवधूतं द्विजं कंचिच्चरन्तमकुतोभयम्।
कविं निरीक्ष्य तरुणं यदुः पप्रच्छ धर्मवित् ॥

(श्रीमद्भागवत ११।७।१९-२५)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धव! संसारमें जो मनुष्य 'यह जगत् क्या है? इसमें क्या हो रहा है?' इत्यादि बातोंका विचार करनेमें निपुण हैं, वे चित्तमें भरी हुई अशुभ वासनाओंसे अपने-आपको स्वयं अपनी विवेकशक्तिसे ही प्रायः बचा लेते हैं। समस्त प्राणियों-का, विशेषकर मनुष्यका आत्मा अपने हित और अहित-का उपदेशक गुरु है; क्योंकि मनुष्य अपने प्रत्यक्ष अनुभव और अनुमानके द्वारा अपने हित-अहितका निर्णय करनेमें पूर्णतः समर्थ है। सांख्ययोगविशारद धीर पुरुष इस मनुष्ययोनिमें इन्द्रियशक्ति, मनःशक्ति आदिके आश्रय-भूत मुझ आत्मतत्त्वको पूर्णतः प्रकटरूपसे साक्षात्कार कर लेते हैं। मैंने एक पैरवाले, दो पैरवाले, तीन पैरवाले, चार पैरवाले, चारसे अधिक पैरवाले और बिना पैरके—इत्यादि अनेक प्रकारके शरीरोंका निर्माण किया है। उनमें मुझे सबसे अधिक प्रिय मनुष्यका ही शरीर है। इस मनुष्य-शरीरमें एकाग्रचित्त तीक्ष्णबुद्धि पुरुष बुद्धि आदि ग्रहण किये जानेवाले हेतुओंसे, जिनसे कि अनुमान भी होता है, अनुमानसे अग्राह्य अर्थात् अहंकार आदि विषयोंसे भिन्न मुझ सर्वप्रवर्त्तक ईश्वरको साक्षात् अनुभव करते हैं। इस विषयमें महात्मालोग एक प्राचीन इतिहास कहा करते हैं। वह इतिहास परम तेजस्वी अवधूत दत्तात्रेय और राजा यदुके संवादके रूपमें है। एक बार धर्मके मर्मज्ञ राजा यदुने देखा कि एक त्रिकाल-दर्शी तरुण अवधूत ब्राह्मण निर्भय विचर रहे हैं। तब उन्होंने उनसे यह प्रश्न किया ॥ १९—२५ ॥

यदुरुवाच

कुतो बुद्धिरियं ब्रह्मन्नकर्तुः सुविशारदा।
यामासाद्य भवाँल्लोकं विद्वांश्चरति बालवत् ॥
प्रायो धर्मार्थकामेषु विवित्सायां च मानवाः।
हेतुनैव समीहन्ते आयुषो यशसः श्रियः ॥
त्वं तु कल्पः कविर्दक्षः सुभगोऽमृतभाषणः।
न कर्ता नेहसे किंचिज्जडोन्मत्तपिशाचवत् ॥
जनेषु दह्यमानेषु कामलोभदवाग्निना।
न तप्यसेऽग्निना मुक्तो गङ्गाम्भःस्थ इव द्विपः ॥

त्वं हि नः पृच्छतां ब्रह्मन्नात्मन्यानन्दकारणम् ।
ब्रूहि स्पर्शविहीनस्य भवतः केवलात्मनः ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । ७ । २६—३०)

राजा यदुने पूछा—ब्रह्मन् ! आप कर्म तो करते नहीं, फिर आपको यह अत्यन्त निपुण बुद्धि कहाँसे प्राप्त हुई ? जिसका आश्रय लेकर आप परम विद्वान् होनेपर भी बालकके समान संसारमें विचरते रहते हैं । ऐसा देखा जाता है कि मनुष्य आयु, यश अथवा सौन्दर्य, सम्पत्ति आदिकी अभिलाषा लेकर ही धर्म, अर्थ, काम अथवा तत्त्व-जिज्ञासामें प्रवृत्त होते हैं; अकारण कहीं किसीकी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती । मैं देख रहा हूँ कि आप कर्म करनेमें समर्थ, विद्वान् और निपुण हैं । आपका भाग्य और सौन्दर्य भी प्रशंसनीय है । आपकी वाणीसे तो मानो अमृत झर रहा है । फिर भी आप जड, उन्मत्त अथवा पिशाचके समान रहते हैं; न तो कुछ करते हैं और न चाहते ही हैं । संसारके अधिकांश लोग काम और लोभके दावानलसे जल रहे हैं; परंतु आपको देखकर ऐसा मालूम होता है कि आप मुक्त हैं, आपतक उसकी आँच भी नहीं पहुँच पाती; ठीक वैसे ही जैसे कोई हाथी वनमें दावाग्नि लगनेपर उससे छूटकर गङ्गाजलमें खड़ा हो । ब्रह्मन् ! आप पुत्र, स्त्री, धन आदि संसारके स्पर्शसे भी रहित हैं । आप सदा-सर्वदा अपने केवल स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं, हम आपसे यह पूछना चाहते हैं कि आपको अपने आत्मामें ही ऐसे अनिर्वचनीय आनन्दका अनुभव कैसे होता है ? आप कृपा करके अवश्य बतलाइये ॥ २६—३० ॥

श्रीभगवानुवाच

यदुनैवं महाभागो ब्रह्मण्येन सुमेधसा ।
पृष्टः सभाजितः प्राह प्रश्रयावनतं द्विजः ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । ७ । ४१)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धव ! हमारे पूर्वज महाराज यदुकी बुद्धि शुद्ध थी और उनके हृदयमें ब्राह्मणभक्ति थी । उन्होंने परमभाग्यवान् दत्तात्रेयजीका अत्यन्त सत्कार करके यह प्रश्न पूछा और बड़े विनम्र-भावसे सिर झुकाकर वे उनके सामने खड़े हो गये । अब दत्तात्रेयजीने कहा ॥ ३१ ॥

ब्राह्मण उवाच

सन्ति मे गुरवो राजन् बहवो बुद्ध्युपाश्रिताः ।
यतो बुद्धिमुपादाय मुक्तोऽटामीह तान्शृणु ॥
पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः ।
कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकृद् गजः ॥
मधुहा हरिणो मीनः पिङ्गला कुररोऽर्भकः ।
कुमारी शरकृत् सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत् ॥
एते मे गुरवो राजंश्चतुर्विंशतिराश्रिताः ।
शिक्षा वृत्तिभिरेतेषामन्वशिक्षमिहात्मनः ॥
यतो यदनुशिक्षामि यथा वा नाहुषात्मज ।
तत्तथा पुरुषव्याघ्र निबोध कथयामि ते ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । ७ । ३२—३६)

ब्रह्मवेत्ता दत्तात्रेयजीने कहा—राजन् ! मैंने अपनी बुद्धिसे बहुत-से गुरुओंका आश्रय लिया है, उनसे शिक्षा ग्रहण करके मैं इस जगत्में मुक्तभावसे स्वच्छन्द विचरता हूँ । तुम उन गुरुओंके नाम और उनसे ग्रहण की हुई शिक्षा सुनो । मेरे गुरुओंके नाम हैं—पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतंग, भौंरा या मधुमक्खी, हाथी, शहद निकालनेवाला, हरिन, मछली, पिङ्गला वेश्या, कुरर पक्षी, बालक, कुआँरी कन्या, बाण बनानेवाला, सर्प, मकड़ी और भृङ्गी कीट—राजन् ! मैंने इन चौबीस गुरुओंका आश्रय लिया है और इन्हींके आचरणसे इस लोकमें अपने लिये शिक्षा ग्रहण की है । वीरवर ययाति-नन्दन ! मैंने जिससे जिस प्रकार जो कुछ सीखा है, वह सब ज्यों-का-त्यों तुमसे कहता हूँ, सुनो ॥ ३२—३६ ॥
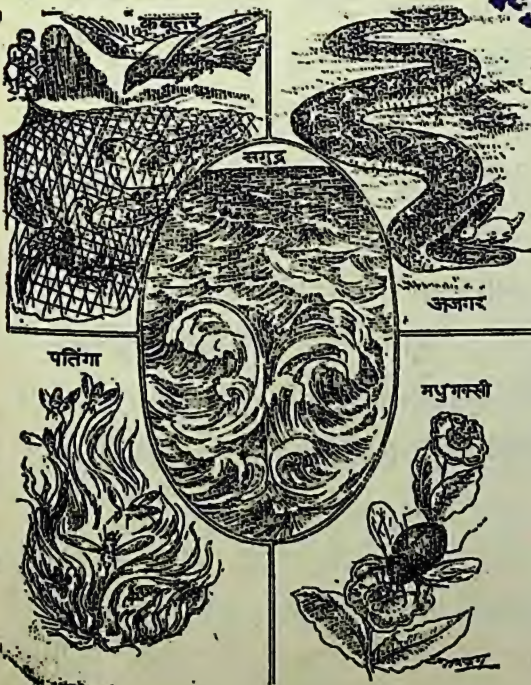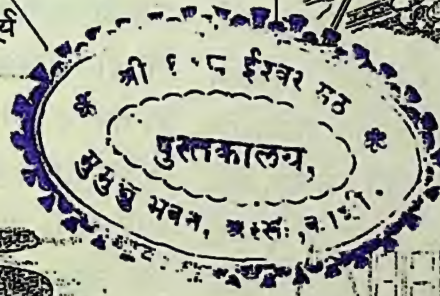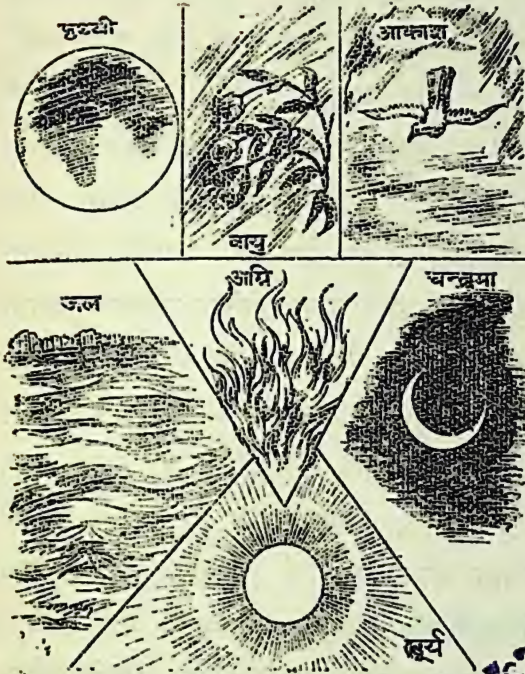
भूतैराक्रम्यमाणोऽपि धीरो दैववशानुगैः।
तद् विद्वान्न चलेन्मार्गादन्वशिक्षं क्षितेर्व्रतम् ॥
शश्वत्परार्थसर्वेहः परार्थैकान्तसम्भवः।
साधुः शिक्षेत भूभृत्तो नगशिष्यः परात्मताम् ॥
(श्रीमद्भागवत ११।७।३७-३८)

मैंने पृथ्वीसे उसके धैर्यकी, क्षमाकी शिक्षा ली है। लोग पृथ्वीपर कितना आघात और क्या-क्या उत्पात नहीं करते; परंतु वह न तो किसीसे बदला लेती है और न रोती-चिल्लाती है। संसारके सभी प्राणी अपने-अपने प्रारब्धके अनुसार चेष्टा कर रहे हैं। वे समय-समयपर भिन्न-भिन्न प्रकारसे जान या अनजानमें आक्रमण कर बैठते हैं। धीर पुरुषको चाहिये कि उनकी विवशता समझे, न तो अपना धीरज खोवे और न क्रोध करे। अपने मार्गपर ज्यों-का-त्यों चलता रहे। पृथ्वीके ही विकार पर्वत और वृक्षसे मैंने यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे उनकी सारी चेष्टाएँ सदा-सर्वदा दूसरोंके हितके लिये ही होती हैं, बल्कि यों कहना चाहिये कि उनका जन्म ही एकमात्र दूसरोंका हित करनेके लिये ही हुआ है; साधु पुरुषको चाहिये कि उनकी शिष्यता स्वीकार करके उनसे परोपकारकी शिक्षा ग्रहण करे ॥ ३७-३८ ॥

प्राणवृत्त्यैव संतुष्येन्मुनिर्नैवेन्द्रियप्रियैः।
ज्ञानं यथा न नश्येत नावकीर्येत वाङ्मनः ॥
विषयेष्वाविशन् योगी नानाधर्मेषु सर्वतः।
गुणदोषव्यपेतात्मा न विषज्जेत वायुवत् ॥
पार्थिवेष्विह देहेषु प्रविष्टस्तद्गुणाश्रयः।
गुणैर्न युज्यते योगी गन्धैर्वायुरिवात्मदृक् ॥
(श्रीमद्भागवत ११।७।३९—४१)

मैंने शरीरके भीतर रहनेवाले वायु—प्राणवायुसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे वह आहारमात्रकी इच्छा रखता है और उसकी प्राप्तिसे ही संतुष्ट हो जाता है, वैसे ही साधकको भी चाहिये कि जितनेसे जीवन-निर्वाह हो जाय, उतना भोजन कर ले। इन्द्रियोंको तृप्त करनेके लिये बहुत-से विषय न चाहे। संक्षेपमें उतने ही विषयोंका उपयोग करना चाहिये, जिनसे बुद्धि विकृत न हो, मन चञ्चल न हो और वाणी व्यर्थकी बातोंमें न लग जाय। शरीरके बाहर रहनेवाले वायुसे मैंने यह सीखा है कि जैसे वायुको अनेक स्थानोंमें जाना पड़ता है, परंतु वह कहीं भी आसक्त नहीं होता, किसीका भी गुण-दोष नहीं अपनाता, वैसे ही साधक पुरुष भी आवश्यकता होनेपर विभिन्न प्रकारके धर्म और स्वभाववाले विषयोंमें जाय, परंतु अपने लक्ष्यपर स्थिर रहे। किसीके गुण या दोषकी ओर झुक न जाय, किसीसे आसक्ति या द्वेष न कर बैठे। गन्ध वायुका गुण नहीं, पृथ्वीका गुण है; परंतु वायुको गन्धका वहन करना पड़ता है। ऐसा करनेपर भी वायु शुद्ध ही रहता है, गन्धसे उसका सम्पर्क नहीं होता। वैसे ही साधकका जबतक इस पार्थिव शरीरसे सम्बन्ध है, तबतक उसे इसकी व्याधि-पीड़ा और भूख-प्यास आदिका भी वहन करना पड़ता है। परंतु अपनेको शरीर नहीं, आत्माके रूपमें देखनेवाला साधक शरीर और उसके गुणोंका आश्रय होनेपर भी उनसे सर्वथा निर्लिप्त रहता है ॥ ३९—४१ ॥

अन्तर्हितश्च स्थिरजङ्गमेषु
ब्रह्मात्मभावेन समन्वयेन।
व्याप्त्याव्यवच्छेदमसङ्गमात्मनो
मुनिर्नभस्त्वं विततस्य भावयेत् ॥
तेजोऽबन्नमयैर्भावैर्मेघाद्यैर्वायुनेरितैः।
न स्पृश्यते नभस्तद्वत् कालसृष्टैर्गुणैः पुमान् ॥
(श्रीमद्भागवत ११।७।४२-४३)

राजन्! जितने भी घट-मठ आदि पदार्थ हैं, वे चाहे चल हों या अचल, उनके कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें आकाश एक और अपरिच्छिन्न (अखण्ड) ही है। वैसे ही चर-अचर जितने भी

सूक्ष्म-स्थूल शरीर हैं, उनमें आत्मारूपसे सर्वत्र स्थित होनेके कारण ब्रह्म सभीमें है। साधकको चाहिये कि सूतके मनियोंमें व्याप्त सूतके समान आत्माको अखण्ड और असङ्गरूपसे देखे। वह इतना विस्तृत है कि उसकी तुलना कुछ-कुछ आकाशसे ही की जा सकती है। इसलिये साधकको आत्माकी आकाशरूपताकी भावना करनी चाहिये। आग लगती है, पानी बरसता है, अन्न आदि पैदा होते और नष्ट होते हैं, वायुकी प्रेरणासे बादल आदि आते हैं और चले जाते हैं; यह सब होनेपर भी आकाश अछूता रहता है। आकाशकी दृष्टिसे यह सब कुछ है ही नहीं। इसी प्रकार भूत, वर्तमान और भविष्यके चक्करमें न जाने किन-किन नाम-रूपोंकी सृष्टि और प्रलय होते हैं; परंतु आत्माके साथ उनका कोई संस्पर्श नहीं है ॥ ४२-४३ ॥

स्वच्छः प्रकृतितः स्निग्धो माधुर्यस्तीर्थभूर्नृणाम्।
मुनिः पुनात्यपां मित्रमीक्षोपस्पर्शकीर्तनैः ॥
तेजस्वी तपसा दीप्तो दुर्धर्षोदरभाजनः।
सर्वभक्षोऽपि युक्तात्मा नादत्ते मलमग्निवत् ॥
क्वचिच्छन्नः क्वचित् स्पष्ट उपास्यः श्रेय इच्छताम्
भुङ्क्ते सर्वत्र दातॄणां दहन् प्रागुत्तराशुभम् ॥
स्वमायया सृष्टमिदं सदसल्लक्षणं विभुः।
प्रविष्ट ईयते तत्तत्स्वरूपोऽग्निरिवैधसि ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ७ । ४४—४७)

जिस प्रकार जल स्वभावसे ही स्वच्छ, चिकना, मधुर और पवित्र करनेवाला होता है तथा गङ्गा आदि तीर्थोंके दर्शन, स्पर्श और नामोच्चारणसे भी लोग पवित्र हो जाते हैं—वैसे ही साधकको भी स्वभावसे ही शुद्ध, स्निग्ध, मधुरभाषी और लोकपावन होना चाहिये। जलसे शिक्षा ग्रहण करनेवाला अपने दर्शन, स्पर्श और नामोच्चारणसे लोगोंको पवित्र कर देता है। राजन्! मैंने अग्निसे यह शिक्षा ली है कि जैसे वह तेजस्वी और ज्योतिर्मय होती है, जैसे उसे कोई अपने तेजसे दबा नहीं सकता, जैसे उसके पास संग्रह-परिग्रहके लिये कोई पात्र नहीं—सब कुछ अपने पेटमें रख लेती है और जैसे सब कुछ खा-पी लेनेपर भी विभिन्न वस्तुओंके दोषोंसे वह लिप्त नहीं होती; वैसे ही साधक भी परम तेजस्वी, तपस्यासे देदीप्यमान, इन्द्रियोंसे अपराभूत, भोजनमात्रका संग्रही और यथायोग्य सभी विषयोंका उपभोग करता हुआ भी अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें रक्खे, किसीका दोष अपनेमें न आने दे। जैसे अग्नि कहीं (लकड़ी आदिमें) अप्रकट रहती है और कहीं प्रकट, वैसे ही साधक भी कहीं गुप्त रहे और कहीं प्रकट हो जाय। वह कहीं-कहीं ऐसे रूपमें भी प्रकट हो जाता है, जिससे कल्याण-कामी पुरुष उसकी उपासना कर सकें। वह अग्निके समान ही भिक्षारूप हवन करनेवालोंके अतीत और भावी अशुभको भस्म कर देता है तथा सर्वत्र अन्न ग्रहण करता है। साधक पुरुषको इसका विचार करना चाहिये कि जैसे अग्नि लंबी-चौड़ी, टेढ़ी-सीधी लकड़ियोंमें रहकर उनके समान ही सीधी-टेढ़ी या लंबी-चौड़ी दिखायी पड़ती है—वास्तवमें वह वैसी है नहीं; वैसे ही सर्वव्यापक आत्मा भी अपनी मायासे रचे हुए कार्य-कारणरूप जगत्में व्याप्त होनेके कारण उन-उन वस्तुओंके नाम-रूपसे कोई सम्बन्ध न होनेपर भी उनके रूपमें प्रतीत होने लगता है ॥ ४४—४७ ॥

विसर्गाद्याः श्मशानान्ता भावा देहस्य नात्मनः।
कलानामिव चन्द्रस्य कालेनाव्यक्तवर्त्मना ॥
कालेन ह्योघवेगेन भूतानां प्रभवाप्ययौ।
नित्यावपि न दृश्येते आत्मनोऽग्नेर्यथार्चिषाम् ॥
गुणैर्गुणानुपादत्ते यथाकालं विमुञ्चति।
न तेषु युज्यते योगी गोभिर्गा इव गोपतिः ॥
बुध्यते स्वेन भेदेन व्यक्तिस्थ इव तद्गतः।
लक्ष्यते स्थूलमतिभिरात्मा चावस्थितोऽर्कवत् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ७ । ४८—५१)

मैंने चन्द्रमासे यह शिक्षा ग्रहण की है कि यद्यपि जिसकी गति नहीं जानी जा सकती, उस कालके प्रभावसे चन्द्रमाकी कलाएँ घटती-बढ़ती रहती हैं, तथापि चन्द्रमा तो चन्द्रमा ही है। वह न घटता है और न बढ़ता ही है; वैसे ही जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त जितनी भी अवस्थाएँ हैं, सब शरीरकी हैं, आत्मासे उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। जैसे आगकी लपट अथवा दीपककी लौ क्षण-क्षणमें उत्पन्न और नष्ट होती रहती है—उनका यह क्रम निरन्तर चलता रहता है, परंतु दीख नहीं पड़ता—वैसे ही जलप्रवाहके समान वेगवान् कालके द्वारा क्षण-क्षणमें प्राणियोंके शरीरकी उत्पत्ति और विनाश होता रहता है, परंतु अज्ञानवश वह दिखायी नहीं पड़ता। राजन्! मैंने सूर्यसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे वे अपनी किरणोंसे पृथ्वीका जल खींचते और समयपर उसे बरसा देते हैं, वैसे ही योगी पुरुष इन्द्रियोंके द्वारा समयपर विषयोंका ग्रहण करता है और समय आनेपर उनका त्याग—उनका दान भी कर देता है। किसी भी समय उसे इन्द्रियके किसी भी विषयमें आसक्ति नहीं होती। स्थूलबुद्धि पुरुषोंको जलके विभिन्न पात्रोंमें प्रतिबिम्बित हुआ सूर्य उन्हींमें प्रविष्ट-सा होकर भिन्न-भिन्न दिखायी पड़ता है। परंतु इससे स्वरूपतः सूर्य अनेक नहीं हो जाता; वैसे ही चल-अचल उपाधियोंके भेदसे ऐसा जान पड़ता है कि प्रत्येक व्यक्तिमें आत्मा अलग-अलग है। परंतु जिनको ऐसा प्रतीत होता है, उनकी बुद्धि मोटी है। असल बात तो यह है कि आत्मा सूर्यके समान एक ही है। स्वरूपतः उसमें कोई भेद नहीं है॥ ४८—५१॥

नातिस्नेहः प्रसङ्गो वा कर्तव्यः क्वापि केनचित्।
कुर्वन् विन्देत संतापं कपोत इव दीनधीः॥
कपोतः कश्चनारण्ये कृतनीडो वनस्पतौ।
कपोत्या भार्यया सार्धमुवास कतिचित् समाः॥
कपोतौ स्नेहगुणितहृदयौ गृहधर्मिणौ।
दृष्टिं दृष्ट्याङ्गमङ्गेन बुद्धिं बुद्ध्या बबन्धतुः॥
शय्यासनाटनस्थानवार्ताक्रीडाशनादिकम्।
मिथुनीभूय विस्रब्धौ चेरतुर्वनराजिषु॥
यं यं वाञ्छति सा राजंस्तर्पयन्त्यनुकम्पिता।
तं तं समनयत् कामं कृच्छ्रेणाप्यजितेन्द्रियः॥
कपोती प्रथमं गर्भं गृह्णती काल आगते।
अण्डानि सुषुवे नीडे स्वपत्युः संनिधौ सती॥
तेषु काले व्यजायन्त रचितावयवा हरेः।
शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कोमलाङ्गतनूरुहाः॥
प्रजाः पुपुषतुः प्रीतौ दम्पती पुत्रवत्सलौ।
शृण्वन्तौ कूजितं तासां निर्वृतौ कलभाषितैः॥
तासां पतत्रैः सुस्पर्शैः कूजितैर्मुग्धचेष्टितैः।
प्रत्युद्गमैरदीनानां पितरौ मुदमापतुः॥
स्नेहानुबद्धहृदयावन्योन्यं विष्णुमायया।
विमोहितौ दीनधियौ शिशून् पुपुषतुः प्रजाः॥
एकदा जग्मतुस्तासामन्नार्थं तौ कुटुम्बिनौ।
परितः कानने तस्मिन्नर्थिनौ चेरतुश्चिरम्॥
दृष्ट्वा ताँल्लुब्धकः कश्चिद् यदृच्छातो वनेचरः।
जगृहे जालमातत्य चरतः स्वालयान्तिके॥
कपोतश्च कपोती च प्रजापोषे सदोत्सुकौ।
गतौ पोषणमादाय स्वनीडमुपजग्मतुः॥
कपोती स्वात्मजान् वीक्ष्य बालकाञ्जालसंवृतान्।
तानभ्यधावत् क्रोशन्ती क्रोशतो भृशदुःखिता॥
सासकृत्स्नेहगुणिता दीनचित्ताजमायया।
स्वयं चाबध्यत शिचा बद्धान् पश्यन्त्यपस्मृतिः॥
कपोतश्चात्मजान् बद्धानात्मनोऽप्यधिकान् प्रियान्।
भार्यां चात्मसमां दीनो विललापातिदुःखितः॥
अहो मे पश्यतापायमल्पपुण्यस्य दुर्मतेः।
अतृप्तस्याकृतार्थस्य गृहस्त्रैवर्गिको हतः॥
अनुरूपानुकूला च यस्य मे पतिदेवता।
शून्ये गृहे मां संत्यज्य पुत्रैः स्वर्याति साधुभिः॥

सोऽहं शून्ये गृहे दीनो मृतदारो मृतप्रजः ।
जिजीविषे किमर्थं वा विधुरो दुःखजीवितः ॥
तांस्तथैवावृताञ्छिग्भिर्मृत्युग्रस्तान् विचेष्टतः ।
स्वयं च कृपणः शिक्षु पश्यन्नप्यबुधोऽपतत् ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । ७ । ५२—७१)

राजन् ! कहीं किसीके साथ अत्यन्त स्नेह अथवा आसक्ति न करनी चाहिये, अन्यथा उसकी बुद्धि अपना स्वातन्त्र्य खोकर दीन हो जायगी और उसे कबूतरकी तरह अत्यन्त क्लेश उठाना पड़ेगा । राजन् ! किसी जंगलमें एक कबूतर रहता था। उसने एक पेड़पर अपना घोंसला बना रक्खा था । अपनी मादा कबूतरीके साथ वह कई वर्षोंतक उसी घोंसलेमें रहा। उस कबूतरके जोड़ेके हृदयमें निरन्तर एक-दूसरेके प्रति स्नेहकी वृद्धि होती जाती थी । वे गृहस्थधर्ममें इतने आसक्त हो गये थे कि उन्होंने एक-दूसरेकी दृष्टिसे दृष्टि, अङ्गसे अङ्ग और बुद्धिसे बुद्धिको बाँध रक्खा था । उनका एक-दूसरेपर इतना विश्वास हो गया था कि वे निःशङ्क होकर वहाँकी वृक्षावलीमें एक साथ सोते, बैठते, घूमते-फिरते, ठहरते, बातचीत करते, खेलते और खाते-पीते थे । राजन् ! कबूतरीपर कबूतरका इतना प्रेम था कि वह जो कुछ चाहती, कबूतर बड़े-से-बड़ा कष्ट उठाकर उसकी कामना पूर्ण करता; वह कबूतरी भी अपने कामुक पतिकी कामनाएँ पूर्ण करती । समय आनेपर कबूतरीको पहला गर्भ रहा । उसने अपने पतिके पास ही घोंसलेमें अंडे दिये । भगवान्की अचिन्त्य शक्तिसे समय आनेपर वे अंडे फूट गये और उनमेंसे सब अङ्गोंवाले बच्चे निकल आये । उनका एक-एक अङ्ग और रोएँ अत्यन्त कोमल थे । अब उन कबूतर-कबूतरीकी आँखें अपने बच्चोंपर लग गयीं, वे बड़े प्रेम और आनन्दसे अपने बच्चोंका लालन-पालन, लाड़-प्यार करते और उनकी मीठी बोली, उनकी गुटर-गूँ सुन-सुनकर आनन्दमग्न हो जाते । बच्चे तो सदा-सर्वदा प्रसन्न रहते ही हैं; वे जब अपने सुकुमार पंखोंसे माँ-बापका स्पर्श करते, कूजते, भोली-भाली चेष्टाएँ करते और फुदक-फुदककर अपने माँ-बापके पास दौड़े आते तब कबूतर-कबूतरी आनन्दमग्न हो जाते । राजन् ! सच पूछो तो वे कबूतर-कबूतरी भगवान्की मायासे मोहित हो रहे थे । उनका हृदय एक-दूसरेके स्नेहबन्धनसे बँध रहा था । वे अपने नन्हे-नन्हे बच्चोंके पालन-पोषणमें इतने व्यग्र रहते कि उन्हें दीन-दुनिया, लोक-परलोककी याद ही न आती । एक दिन दोनों नर-मादा अपने बच्चोंके लिये चारा लाने जंगलमें गये हुए थे; क्योंकि अब उनका कुटुम्ब बहुत बढ़ गया था । वे चारेके लिये बहुत देरतक जंगलमें चारों ओर विचरते रहे । इधर एक बहेलिया घूमता-घामता संयोगवश उनके घोंसलेकी ओर आ निकला । उसने देखा कि घोंसलेके आस-पास कबूतरके बच्चे फुदक रहे हैं; उसने जाल फैलाकर उन्हें पकड़ लिया । कबूतर-कबूतरी बच्चोंको खिलाने-पिलानेके लिये हर समय उत्सुक रहा करते थे । अब वे चारा लेकर अपने घोंसलेके पास आये । कबूतरीने देखा कि उसके नन्हे-नन्हे बच्चे, उनके हृदयके टुकड़े जालमें फँसे हुए हैं और दुःखसे चें-चें कर रहे हैं । उन्हें ऐसी स्थितिमें देखकर कबूतरीके दुःखकी सीमा न रही । वह रोती-चिल्लाती उनके पास दौड़ गयी । भगवान्की मायासे उसका चित्त अत्यन्त दीन-दुखी हो रहा था । वह उमड़ते हुए स्नेहकी रस्सीसे जकड़ी हुई थी। अपने बच्चोंको जालमें फँसा देखकर उसे अपने शरीरकी भी सुध-बुध न रही और वह स्वयं ही जाकर जालमें फँस गयी । जब कबूतरने देखा कि मेरे प्राणोंसे भी प्यारे बच्चे जालमें फँस गये और मेरी प्राणप्रिया पत्नी भी उसी दशामें पहुँच गयी, तब वह अत्यन्त दुःखित होकर विलाप करने लगा । सचमुच उस समय उसकी दशा अत्यन्त दयनीय थी । 'मैं अभागा हूँ, दुर्मति हूँ । हाय, हाय ! मेरा तो सत्यानाश हो गया । देखो, देखो

न मुझे अभी तृप्ति हुई और न मेरी आशाएँ ही पूरी हुईं। तबतक मेरा धर्म, अर्थ और कामका मूल यह गृहस्थाश्रम ही नष्ट हो गया। हाय! मेरी प्राणप्यारी मुझे ही अपना इष्टदेव समझती थी; मेरी एक-एक बात मानती थी, मेरे इशारेपर नाचती थी, सब तरहसे मेरे योग्य थी। आज वह मुझे सूने घरमें छोड़कर हमारे सीधे-सादे निश्छल बच्चोंके साथ स्वर्ग सिधार रही है। मेरे बच्चे मर गये। मेरी पत्नी जाती रही। मेरा अब संसारमें क्या काम है? मुझ दीनका यह विधुरजीवन—बिना गृहिणीका जीवन, जलनका—व्यथाका जीवन है। अब मैं इस सूने घरमें किसके लिये जीऊँ?' राजन्! कबूतरके बच्चे जालमें फँसकर तड़फड़ा रहे थे। स्पष्ट दीख रहा था कि वे मौतके पंजेमें हैं, परंतु वह मूर्ख कबूतर यह सब देखते हुए भी इतना दीन हो रहा था कि स्वयं जान-बूझकर जालमें कूद पड़ा॥ ५२—७१॥

तं लब्ध्वा लुब्धकः क्रूरः कपोतं गृहमेधिनम्।
कपोतकान् कपोतीं च सिद्धार्थः प्रययौ गृहम्॥
एवं कुटुम्ब्यशान्तात्मा द्वन्द्वारामः पतत्रिवत्।
पुष्णन् कुटुम्बं कृपणः सानुबन्धोऽवसीदति॥
यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम्।
गृहेषु खगवत् सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः॥

(श्रीमद्भागवत ११। ७। ७२—७४)

राजन्! वह बहेलिया बड़ा क्रूर था। गृहस्थाश्रमी कबूतर-कबूतरी और उनके बच्चोंके मिल जानेसे उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने समझा मेरा काम बन गया और वह उन्हें लेकर चलता बना। जो कुटुम्बी हैं, विषयों और लोगोंके सङ्ग-साथमें ही जिसे सुख मिलता है एवं अपने कुटुम्बके भरण-पोषणमें ही जो सारी सुध-बुध खो बैठा है, उसे कभी शान्ति नहीं मिल सकती। वह उसी कबूतरके समान अपने कुटुम्बके साथ कष्ट पाता है। यह मनुष्य-शरीर मुक्तिका खुला हुआ द्वार है। इसे पाकर भी जो कबूतरकी तरह अपनी घर-गृहस्थीमें ही फँसा हुआ है, वह बहुत ऊँचेतक चढ़कर गिर रहा है। शास्त्रकी भाषामें वह 'आरूढच्युत' है॥ ७२—७४॥

अध्याय द्वितीय

अवधूतोपाख्यान—अजगरसे पिङ्गलातक नौ गुरुओंका वर्णन

ब्राह्मण उवाच

सुखमैन्द्रियकं राजन् स्वर्गे नरक एव च।
देहिनां यद् यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद् बुधः॥
ग्रासं सुमृष्टं विरसं महान्तं स्तोकमेव वा।
यदृच्छयैवापतितं ग्रसेदाजगरोऽक्रियः॥
शयीताहानि भूरीणि निराहारोऽनुपक्रमः।
यदि नोपनमेद् ग्रासो महाहिरिव दिष्टभुक्॥
ओजःसहोबलयुतं बिभ्रद् देहमकर्मकम्।
शयानो वीतनिद्रश्च नेहेतेन्द्रियवानपि॥

(श्रीमद्भागवत ११। ८। १—४)

अवधूत दत्तात्रेयजी कहते हैं—राजन्! प्राणियोंको जैसे बिना इच्छाके, बिना किसी प्रयत्नके, रोकनेकी चेष्टा करनेपर भी पूर्वकर्मानुसार दुःख प्राप्त होते हैं, वैसे ही स्वर्गमें—कहीं भी रहें, उन्हें इन्द्रिय-सम्बन्धी सुख भी प्राप्त होते हैं। इसलिये सुख और दुःखका रहस्य जाननेवाले बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि इनके लिये इच्छा अथवा किसी प्रकारका प्रयत्न न करे। बिना माँगे, बिना इच्छा किये स्वयं ही अनायास जो कुछ मिल जाय—वह चाहे रूखा-सूखा हो, चाहे बहुत मधुर और स्वादिष्ट, अधिक हो या थोड़ा—बुद्धिमान् पुरुष अजगरके समान उसे ही खाकर जीवन-निर्वाह कर ले और उदासीन रहे। यदि भोजन न मिले तो

उसे भी प्रारब्ध-भोग समझकर किसी प्रकारकी चेष्टा न करे—बहुत दिनोंतक भूखा ही पड़ा रहे। उसे चाहिये कि अजगरके समान केवल प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए भोजनमें ही संतुष्ट रहे। उसके शरीरमें मनोबल, इन्द्रियबल और देहबल—तीनों हों, तब भी वह निश्चेष्ट ही रहे। निद्रारहित होनेपर भी सोया हुआ-सा रहे और कर्मेन्द्रियोंके होनेपर भी उनसे कोई चेष्टा न करे। राजन्! मैंने अजगरसे यही शिक्षा ग्रहण की है॥१—४॥

मुनिः प्रसन्नगम्भीरो दुर्विगाह्यो दुरत्ययः।
अनन्तपारो ह्यक्षोभ्यः स्तिमितोद इवार्णवः॥
समृद्धकामो हीनो वा नारायणपरो मुनिः।
नोत्सर्पेत न शुष्येत सरिद्भिरिव सागरः॥
(श्रीमद्भागवत ११।८।५-६)

समुद्रसे मैंने यह सीखा है कि साधकको सर्वदा प्रसन्न और गम्भीर रहना चाहिये। उसका भाव अथाह, अपार और असीम होना चाहिये तथा किसी भी निमित्तसे उसे क्षोभ न होना चाहिये। उसे ठीक वैसे ही रहना चाहिये, जैसे ज्वार-भाटे और तरङ्गोंसे रहित शान्त समुद्र। देखो, समुद्र वर्षा ऋतुमें नदियोंकी बाढ़के कारण बढ़ता नहीं और न ग्रीष्मऋतुमें घटता ही है; वैसे ही भगवत्परायण साधकको भी सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिसे प्रफुल्लित नहीं होना चाहिये और न उनके घटनेसे उदास ही होना चाहिये॥ ५-६॥

दृष्ट्वा स्त्रियं देवमायां तद्भावैरजितेन्द्रियः।
प्रलोभितः पतत्यन्धे तमस्यग्नौ पतङ्गवत्॥
योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादि-
द्रव्येषु मायारचितेषु मूढः।
प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या
पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः॥
(श्रीमद्भागवत ११।८।७-८)

राजन्! मैंने पतिंगेसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे वह रूपपर मोहित होकर आगमें कूद पड़ता है और जल मरता है, वैसे ही अपनी इन्द्रियोंको वशमें न रखनेवाला पुरुष जब स्त्रीको देखता है तो उसके हाव-भावपर लट्टू हो जाता है और घोर नरकमें गिरकर अपना सत्यानाश कर लेता है। सचमुच स्त्री देवताओंकी वह माया है, जिससे जीव भगवान् या मोक्षकी प्राप्तिसे वञ्चित रह जाता है। जो मूढ़ कामिनी-कञ्चन, गहने-कपड़े आदि नाशवान् मायिक पदार्थोंमें फँसा हुआ है और जिसकी सम्पूर्ण चित्तवृत्ति उनके उपभोगके लिये ही लालायित है, वह अपनी विवेक-बुद्धि खोकर पतिंगेके समान नष्ट हो जाता है॥ ७-८॥

स्तोकं स्तोकं ग्रसेद् ग्रासं देहो वर्तेत यावता।
गृहानहिंसन्नातिष्ठेद् वृत्तिं माधुकरीं मुनिः॥
अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः॥
सायंतनं श्वस्तनं वा न संगृह्णीत भिक्षितम्।
पाणिपात्रोदरामत्रो मक्षिकेव न संग्रही॥
सायंतनं श्वस्तनं वा न संगृह्णीत भिक्षुकः।
मक्षिका इव संगृह्णन् सह तेन विनश्यति॥
(श्रीमद्भागवत ११।८।९—१२)

राजन्! संन्यासीको चाहिये कि गृहस्थोंको किसी प्रकारका कष्ट न देकर भौंरेकी तरह अपना जीवन-निर्वाह करे। वह अपने शरीरके लिये उपयोगी रोटीके कुछ टुकड़े कई घरोंसे माँग ले। जिस प्रकार भौंरा विभिन्न पुष्पोंसे—चाहे वे छोटे हों या बड़े—उनका सार संग्रह करता है, वैसे ही बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि छोटे-बड़े सभी शास्त्रोंसे उनका सार—उनका रस निचोड़ ले। राजन्! मैंने मधु-मक्खीसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि संन्यासीको सायंकाल अथवा दूसरे दिनके लिये भिक्षाका संग्रह न करना चाहिये। उसके पास भिक्षा लेनेको कोई पात्र हो तो केवल हाथ और रखनेके लिये कोई बर्तन हो तो पेट। वह कहीं संग्रह न कर बैठे, नहीं तो मधुमक्खियोंके समान उसका

जीवन ही दूभर हो जायगा। यह बात खूब समझ लेनी चाहिये कि संन्यासी प्रातः-संध्याके लिये किसी प्रकारका संग्रह न करे; यदि संग्रह करेगा, तो मधुमक्खियोंके समान अपने संग्रहके साथ ही जीवन भी गँवा बैठेगा॥ ९—१२॥

पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद् दारवीमपि।
स्पृशन् करीव बध्येत करिण्या अङ्गसङ्गतः॥
नाधिगच्छेत् स्त्रियं प्राज्ञः कर्हिचिन्मृत्युमात्मनः।
बलाधिकैः स हन्येत गजैरन्यैर्गजो यथा॥
(श्रीमद्भागवत ११। ८। १३-१४)

राजन्! मैंने हाथीसे यह सीखा कि संन्यासीको कभी पैरसे भी काठकी बनी हुई स्त्रीका भी स्पर्श न करना चाहिये। यदि वह ऐसा करेगा तो जैसे हथिनीके अङ्ग-सङ्गसे हाथी बँध जाता है, वैसे ही वह भी बँध जायगा। विवेकी पुरुष किसी भी स्त्रीको कभी भी भोग्यरूपसे स्वीकार न करे; क्योंकि यह उसकी मूर्तिमती मृत्यु है। यदि वह स्वीकार करेगा तो हाथियोंसे हाथीकी तरह अधिक बलवान् अन्य पुरुषोंके द्वारा मारा जायगा॥ १३-१४॥

न देयं नोपभोग्यं च लुब्धैर्यद् दुःखसंचितम्।
भुङ्क्ते तदपि तच्चान्यो मधुहेवार्थविन्मधु॥
सुदुःखोपार्जितैर्वित्तैराशासानां गृहाशिषः।
मधुहेवाग्रतो भुङ्क्ते यतिर्वै गृहमेधिनाम्॥
(श्रीमद्भागवत ११। ८। १५-१६)

मैंने मधु निकालनेवाले पुरुषसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि संसारके लोभी पुरुष बड़ी कठिनाईसे धनका संचय तो करते रहते हैं, किंतु वह संचित धन न किसीको दान करते हैं और न स्वयं उसका उपभोग ही करते हैं। बस, जैसे मधु निकालनेवाला मधु-मक्खियों-द्वारा संचित रसको निकाल ले जाता है, वैसे ही उनके संचित धनको भी उसकी टोह रखनेवाला कोई दूसरा पुरुष ही भोगता है। तुम देखते हो न कि मधुहारी मधुमक्खियोंका संग्रह किया हुआ मधु उनके खानेसे पहले ही साफ कर जाता है; वैसे ही गृहस्थोंके बहुत कठिनाईसे संचित किये पदार्थोंको, जिनसे वे सुखभोगकी अभिलाषा रखते हैं, उनसे भी पहले संन्यासी और ब्रह्मचारी भोगते हैं; क्योंकि गृहस्थ तो पहले अतिथि-अभ्यागतोंको भोजन कराकर ही स्वयं भोजन करेगा॥ १५-१६॥

ग्राम्यगीतं न शृणुयाद् यतिर्वनचरः क्वचित्।
शिक्षेत हरिणाद् बद्धान्मृगयोर्गीतमोहितात्॥
नृत्यवादित्रगीतानि जुषन् ग्राम्याणि योषिताम्।
आसां क्रीडनको वश्य ऋष्यशृङ्गो मृगीसुतः॥
(श्रीमद्भागवत ११। ८। १७-१८)

मैंने हरिनसे यह सीखा है कि वनवासी संन्यासीको कभी विषय-सम्बन्धी गीत नहीं सुनने चाहिये। वह इस बातकी शिक्षा उस हरिनसे ग्रहण करे, जो व्याधके गीतसे मोहित होकर बँध जाता है। तुम्हें इस बातका पता है कि हरिनीके गर्भसे पैदा हुए ऋष्यशृङ्ग मुनि स्त्रियोंका विषय-सम्बन्धी गाना-बजाना, नाचना आदि देख-सुनकर उनके वशमें हो गये थे और उनके हाथकी कठपुतली बन गये थे॥ १७-१८॥

जिह्वयातिप्रमाथिन्या जनो रसविमोहितः।
मृत्युमृच्छत्यसद्बुद्धिर्मीनस्तु बडिशैर्यथा॥
इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः।
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते॥
तावज्जितेन्द्रियो न स्याद् विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेद् रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे॥
(श्रीमद्भागवत ११। ८। १९-२१)

अब मैं तुम्हें मछलीकी सीख सुनाता हूँ। जैसे मछली काँटेमें लगे हुए मांसके टुकड़ेके लोभसे अपने प्राण गँवा देती है, वैसे ही स्वादका लोभी दुर्बुद्धि मनुष्य भी अपनी मनको मथकर व्याकुल कर देनेवाली

जिह्वाके वशमें हो जाता है और मारा जाता है। विवेकी पुरुष भोजन बंद करके दूसरी इन्द्रियोंपर तो बहुत शीघ्र विजय प्राप्त कर लेते हैं, परंतु इससे उनकी रसना इन्द्रिय वशमें नहीं होती। वह तो भोजन बंद कर देनेसे और भी प्रबल हो जाती है। मनुष्य और सब इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर लेनेपर भी तबतक जितेन्द्रिय नहीं हो सकता, जबतक रसनेन्द्रियको अपने वशमें नहीं कर लेता और यदि रसनेन्द्रियको वशमें कर लिया, तब तो मानो सभी इन्द्रियाँ वशमें हो गयीं ॥१९—२१॥

पिङ्गला नाम वेश्याऽऽसीद् विदेहनगरे पुरा।
तस्या मे शिक्षितं किंचिन्निबोध नृपनन्दन॥
सा स्वैरिण्येकदा कान्तं संकेत उपनेष्यती।
अभूत् काले बहिर्द्वारि बिभ्रती रूपमुत्तमम्॥
मार्ग आगच्छतो वीक्ष्य पुरुषान् पुरुषर्षभ।
ताञ्छुल्कदान् वित्तवतः कान्तान् मेनेऽर्थकामुका॥
आगतेष्वपयातेषु सा संकेतोपजीविनी।
अप्यन्यो वित्तवान् कोऽपि मामुपैष्यति भूरिदः॥
एवं दुराशया ध्वस्तनिद्रा द्वार्यवलम्बती।
निर्गच्छन्ती प्रविशती निशीथं समपद्यत॥
तस्या वित्ताशया शुष्यद्वक्त्राया दीनचेतसः।
निर्वेदः परमो जज्ञे चिन्ताहेतुः सुखावहः॥
तस्या निर्विण्णचित्ताया गीतं शृणु यथा मम।
निर्वेद आशापाशानां पुरुषस्य यथा ह्यसिः॥
न ह्यङ्गाजातनिर्वेदो देहबन्धं जिहासति।
यथा विज्ञानरहितो मनुजो ममतां नृप॥

(श्रीमद्भागवत ११।८।२२—२९)

नृपनन्दन! प्राचीन कालकी बात है कि विदेहनगरी मिथिलामें एक वेश्या रहती थी। उसका नाम था पिङ्गला। मैंने उससे जो कुछ शिक्षा ग्रहण की, वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ; सावधान होकर सुनो। वह स्वेच्छाचारिणी तो थी ही, रूपवती भी थी। एक दिन रात्रिके समय किसी पुरुषको अपने रमणस्थानमें लानेके लिये खूब बन-ठनकर—उत्तम वस्त्राभूषणोंसे सजकर बहुत देरतक अपने घरके बाहरी दरवाजेपर खड़ी रही। नररत्न! उसे पुरुषकी नहीं धनकी कामना थी और उसके मनमें यह कामना इतनी दृढ़मूल हो गयी थी कि वह किसी भी पुरुषको उधरसे आते-जाते देखकर यही सोचती थी कि यह कोई धनी है और मुझे धन देकर उपभोग करनेके लिये ही आ रहा है। जब आने-जानेवाले आगे बढ़ जाते, तब फिर वह संकेतजीविनी वेश्या यही सोचती कि अवश्य ही अबकी बार कोई ऐसा धनी मेरे पास आयेगा जो मुझे बहुत-सा धन देगा। उसके चित्तकी यह दुराशा बढ़ती ही जाती थी। वह दरवाजेपर बहुत देरतक टँगी रही। उसकी नींद भी जाती रही। वह कभी बाहर आती, तो कभी भीतर जाती। इस प्रकार आधी रात हो गयी। राजन्! सचमुच आशा और सो भी धनकी—बहुत बुरी है! धनीकी बाट जोहते-जोहते उसका मुँह सूख गया, चित्त व्याकुल हो गया। अब उसे इस वृत्तिसे बड़ा वैराग्य हुआ। उसमें दुःख-बुद्धि हो गयी। इसमें संदेह नहीं कि इस वैराग्यका कारण चिन्ता ही थी। परंतु ऐसा वैराग्य भी है तो सुखका ही हेतु। जब पिङ्गलाके चित्तमें इस प्रकार वैराग्यकी भावना जाग्रत् हुई तब उसने एक गीत गाया। वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ। राजन्! मनुष्य आशाकी फाँसीपर लटक रहा है। इसको तलवारकी तरह काटनेवाली यदि कोई वस्तु है तो वह केवल वैराग्य है। प्रिय राजन्! जिसे वैराग्य नहीं हुआ है, जो इन बखेड़ोंसे ऊबा नहीं है, वह शरीर और इसके बन्धनसे उसी प्रकार मुक्त नहीं होना चाहता, जैसे अज्ञानी पुरुष ममता छोड़नेकी इच्छा भी नहीं करता॥२२—२९॥

पिङ्गलोवाच

अहो मे मोहवितर्ति पश्यताविजितात्मनः।
या कान्तादसतः कामं कामये येन बालिशा॥

सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं
वित्तप्रदं नित्यमिमं विहाय।
अकामदं दुःखभयाधिशोक-
मोहप्रदं तुच्छमहं भजेऽज्ञा॥
अहो मयाऽऽत्मा परितापितो वृथा
साङ्केत्यवृत्त्यातिविगर्ह्यवार्तया।
स्त्रैणान्नराद् यार्थतृषोऽनुशोच्यात्
क्रीतेन वित्तं रतिमात्मनेच्छती॥
यदस्थिभिर्निर्मितवंशवंश्य-
स्थूणं त्वचा रोमनखैः पिनद्धम्।
क्षरन्नवद्वारमगारमेतद्
विण्मूत्रपूर्णं मदुपैति कान्या॥
विदेहानां पुरे ह्यस्मिन्नहमेकैव मूढधीः।
यान्यमिच्छन्त्यसत्यस्मादात्मदात् काममच्युतात्॥
सुहृत् प्रेष्ठतमो नाथ आत्मा चायं शरीरिणाम्।
तं विक्रीयात्मनैवाहं रमेऽनेन यथा रमा॥
कियत् प्रियं ते व्यभजन् कामा ये कामदा नराः।
आद्यन्तवन्तो भार्याया देवा वा कालविद्रुताः॥
नूनं मे भगवान् प्रीतो विष्णुः केनापि कर्मणा।
निर्वेदोऽयं दुराशाया यन्मे जातः सुखावहः॥
मैवं स्युर्मन्दभाग्यायाः क्लेशा निर्वेदहेतवः।
येनानुबन्धं निर्हृत्य पुरुषः शममृच्छति॥
तेनोपकृतमादाय शिरसा ग्राम्यसङ्गताः।
त्यक्त्वा दुराशाः शरणं व्रजामि तमधीश्वरम्॥
संतुष्टा श्रद्दधत्येतद्यथालाभेन जीवती।
विहराम्यमुनैवाहमात्मना रमणेन वै॥
संसारकूपे पतितं विषयैर्मुषितेक्षणम्।
ग्रस्तं कालाहिनाऽऽत्मानं कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः॥
आत्मैव ह्यात्मनो गोप्ता निर्विद्येत यदाखिलात्।
अप्रमत्त इदं पश्येद् ग्रस्तं कालाहिना जगत्॥
(श्रीमद्भागवत ११। ८। ३०–४२)

पिङ्गलाने यह गीत गाया था—हाय! हाय! मैं इन्द्रियोंके अधीन हो गयी। भला! मेरे मोहका विस्तार तो देखो! मैं इन दुष्ट पुरुषोंसे, जिनका कोई अस्तित्व ही नहीं है, विषयसुखकी लालसा करती हूँ। कितने दुःखकी बात है! मैं सचमुच मूर्ख हूँ। देखो तो सही, मेरे निकट-से-निकट हृदयमें ही मेरे सच्चे स्वामी भगवान् विराजमान हैं। वे वास्तविक प्रेम-सुख और परमार्थका सच्चा धन भी देनेवाले हैं। जगत्के पुरुष अनित्य हैं और वे नित्य हैं। हाय! हाय! मैंने उनको तो छोड़ दिया और उन तुच्छ मनुष्योंका सेवन किया जो मेरी एक भी कामना पूरी नहीं कर सकते; उलटे दुःख-भय, आधि-व्याधि, शोक और मोह ही देते हैं। यह मेरी मूर्खता भी असीम है कि मैं उनका सेवन करती हूँ। बड़े खेदकी बात है, मैंने अत्यन्त निन्दनीय आजीविका वेश्यावृत्तिका आश्रय लिया और व्यर्थमें अपने शरीर और मनको क्लेश दिया—पीड़ा पहुँचायी। मेरा यह शरीर बिक गया है। लम्पट, लोभी और निन्दनीय मनुष्योंने इसे खरीद लिया है और मैं इतनी मूर्ख हूँ कि इसी शरीरसे धन और रति-सुख चाहती हूँ। मुझे धिक्कार है। यह शरीर एक घर है। इसमें हड्डियोंके टेढ़े-तिरछे बाँस और खंभे लगे हुए हैं; चाम, रोएँ और नाखूनोंसे यह छाया गया है। इसमें नौ दरवाजे हैं, जिनसे मल निकलते ही रहते हैं। इसमें संचित सम्पत्तिके नामपर केवल मल और मूत्र है। मेरे अतिरिक्त ऐसी कौन स्त्री है, जो इस स्थूलशरीरको अपना प्रिय समझकर सेवन करेगी। यों तो यह विदेहोंकी—जीवन्मुक्तोंकी नगरी है, परंतु इसमें मैं ही सबसे मूर्ख और दुष्ट हूँ; क्योंकि अकेली मैं ही तो आत्मदानी, अविनाशी एवं परम प्रियतम परमात्माको छोड़कर दूसरे पुरुषकी अभिलाषा करती हूँ। मेरे हृदयमें विराजमान प्रभु, समस्त प्राणियोंके हितैषी सुहृद्, प्रियतम, स्वामी और आत्मा हैं। अब मैं अपने आपको देकर इन्हें

खरीद लूँगी और इनके साथ वैसे ही विहार करूँगी, जैसे लक्ष्मीजी करती हैं। मेरे मूर्ख चित्त! तू बतला तो सही, जगत्के विषय-भोगोंने और उनको देनेवाले पुरुषोंने तुझे कितना सुख दिया है। अरे! वे तो स्वयं ही पैदा होते और मरते रहते हैं। मैं केवल अपनी ही बात नहीं कहती, केवल मनुष्योंकी भी नहीं; क्या देवताओंने भी भोगोंके द्वारा अपनी पत्नियोंको संतुष्ट किया है? वे बेचारे तो स्वयं कालके गालमें पड़े-पड़े कराह रहे हैं। अवश्य ही मेरे किसी शुभ-कर्मसे विष्णुभगवान् मुझपर प्रसन्न हैं, तभी तो दुराशासे मुझे इस प्रकार वैराग्य हुआ है। अवश्य ही मेरा यह वैराग्य सुख देनेवाला होगा। यदि मैं मन्द-भागिनी होती तो मुझे ऐसे दुःख ही न उठाने पड़ते, जिनसे वैराग्य होता है। मनुष्य वैराग्यके द्वारा ही घर आदिके सब बन्धनोंको काटकर शान्ति लाभ करता है। अब मैं भगवान्का यह उपकार आदरपूर्वक सिर झुकाकर स्वीकार करती हूँ और विषयभोगोंकी दुराशा छोड़कर उन्हीं जगदीश्वरकी शरण ग्रहण करती हूँ। अब मुझे प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जायगा, उसीसे निर्वाह कर लूँगी और बड़े संतोष तथा श्रद्धाके साथ रहूँगी। मैं अब किसी दूसरे पुरुषकी ओर न ताककर अपने हृदयेश्वर आत्मस्वरूप प्रभुके साथ ही विहार करूँगी। यह जीव संसारके कूएँमें गिरा हुआ है। विषयोंने इसे अंधा बना दिया है। कालरूपी अजगरने इसे अपने मुँहमें दबा रक्खा है। अब भगवान्को छोड़कर इसकी रक्षा करनेमें दूसरा कौन समर्थ है। जिस समय जीव समस्त विषयोंसे विरक्त हो जाता है, उस समय वह स्वयं ही अपनी रक्षा कर लेता है। इसलिये बड़ी सावधानीके साथ यह देखते रहना चाहिये कि सारा जगत् कालरूपी अजगरसे ग्रस्त है॥ ३०—४२॥

ब्राह्मण उवाच

एवं व्यवसितमतिर्दुराशां कान्ततर्षजाम्।
छित्त्वोपशममास्थाय शय्यामुपविवेश सा॥
आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।
यथा सञ्छिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला॥

(श्रीमद्भागवत ११। ८। ४३-४४)

अवधूत दत्तात्रेयजी कहते हैं—राजन्! पिङ्गला वेश्याने ऐसा निश्चय करके अपने प्रिय धनियोंकी दुराशा, उनसे मिलनेकी लालसाका परित्याग कर दिया और शान्तभावसे जाकर वह अपने बिछौनेपर सो रही। सचमुच आशा ही सबसे बड़ा दुःख है और निराशा ही सबसे बड़ा सुख है; क्योंकि पिङ्गला वेश्याने जब पुरुषकी आशा त्याग दी, तभी वह सुखसे सो सकी॥ ४३-४४॥

अध्याय तृतीय

अवधूतोपाख्यान—कुरर पक्षीसे भृङ्गीतक सात गुरुओंका वर्णन

ब्राह्मण उवाच

परिग्रहो हि दुःखाय यद् यत्प्रियतमं नृणाम्।
अनन्तं सुखमाप्नोति तद् विद्वान् यस्त्वकिंचनः॥
सामिषं कुररं जघ्नुर्बलिनो ये निरामिषाः।
तदामिषं परित्यज्य स सुखं समविन्दत॥

(श्रीमद्भागवत ११। ९। १-२)

अवधूत दत्तात्रेयजीने कहा—राजन्! मनुष्योंको जो वस्तुएँ अत्यन्त प्रिय लगती हैं, उन्हें संग्रह करना ही उनके दुःखका कारण है। जो बुद्धिमान् पुरुष यह बात समझकर अकिंचन भावसे रहता है—शरीरकी तो बात ही अलग, मनसे भी किसी वस्तुका संग्रह नहीं करता—उसे अनन्त सुखस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है। एक कुरर पक्षी अपनी चोंचमें मांसका टुकड़ा लिये हुए था। उस समय दूसरे बलवान् पक्षी, जिनके

पास मांस नहीं था, उससे छीननेके लिये उसे घेरकर चोंच मारने लगे। जब कुरर पक्षीने अपनी चोंचसे मांसका टुकड़ा फेंक दिया, तभी उसे सुख मिला ॥१-२॥

न मे मानावमानौ स्तो न चिन्ता गेहपुत्रिणाम्।
आत्मक्रीड आत्मरतिर्विचरामीह बालवत्॥
द्वावेव चिन्तया मुक्तौ परमानन्द आप्लुतौ।
यो विमुग्धो जडो बालो यो गुणेभ्यः परं गतः॥

(श्रीमद्भागवत ११।९।३-४)

मुझे मान या अपमानका कोई ध्यान नहीं है और घर एवं परिवारवालोंको जो चिन्ता होती है, वह मुझे नहीं है। मैं अपने आत्मामें ही रमता हूँ और अपने साथ ही क्रीडा करता हूँ। यह शिक्षा मैंने बालकसे ली है। अतः उसीके समान मैं भी मौजसे रहता हूँ। इस जगत्‌में दो ही प्रकारके व्यक्ति निश्चिन्त और परमानन्दमें मग्न रहते हैं—एक तो भोलानाथ निश्चेष्ट नन्हा-सा बालक और दूसरा वह पुरुष जो गुणातीत हो गया हो॥ ३-४॥

क्वचित् कुमारी त्वात्मानं वृणानान् गृहमागतान्।
स्वयं तानर्हयामास क्वापि यातेषु बन्धुषु॥
तेषामभ्यवहारार्थं शालीन् रहसि पार्थिव।
अवघ्नन्त्याः प्रकोष्ठस्थाश्चक्रुः शङ्खाः स्वनं महत्॥
सा तज्जुगुप्सितं मत्वा महती व्रीडिता ततः।
बभञ्जैकैकशः शङ्खान् द्वौ द्वौ पाण्योरशेषयत्॥
उभयोरप्यभूद् घोषो ह्यवघ्नन्त्याः स शङ्खयोः।
तत्राप्येकं निरभिददेकस्मान्नाभवद् ध्वनिः॥
अन्वशिक्षमिमं तस्या उपदेशमरिंदम।
लोकाननुचरन्नेतान् लोकतत्त्वविवित्सया॥
वासे बहूनां कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि।
एक एव चरेत्तस्मात् कुमार्या इव कङ्कणः॥

(श्रीमद्भागवत ११।९।५—१०)

एक बार किसी कुमारी कन्याके घर उसे वरण करनेके लिये कई लोग आये हुए थे। उस दिन उसके घरके लोग कहीं बाहर गये हुए थे। इसलिये उसने स्वयं ही उनका आतिथ्य-सत्कार किया। राजन्! उनको भोजन करानेके लिये वह घरके भीतर एकान्तमें धान कूटने लगी। उस समय उसकी कलाईमें पड़ी शंखकी चूड़ियाँ जोर-जोरसे बज रही थीं। इस शब्दको निन्दित समझकर कुमारीको बड़ी लज्जा मालूम हुई और उसने एक-एक करके सब चूड़ियाँ तोड़ डालीं और दोनों हाथोंमें केवल दो-दो चूड़ियाँ रहने दीं। अब वह फिर धान कूटने लगी। परंतु वे दो-दो चूड़ियाँ भी बजने लगीं, तब उसने एक-एक चूड़ी और तोड़ दी। जब दोनों कलाइयोंमें केवल एक-एक चूड़ी रह गयी, तब किसी प्रकारकी आवाज नहीं हुई। रिपुदमन! उस समय लोगोंका आचार-विचार निरखने-परखनेके लिये इधर-उधर घूमता-घामता मैं भी वहाँ पहुँच गया था। मैंने उससे यह शिक्षा ग्रहण की कि जब बहुत लोग एक साथ रहते हैं, तब कलह होता है और दो आदमी साथ रहते हैं तब भी बातचीत तो होती ही है; इसलिये कुमारी कन्याकी चूड़ीके समान अकेले ही विचरना चाहिये॥५—१०॥

मन एकत्र संयुज्याज्जितश्वासो जितासनः।
वैराग्याभ्यासयोगेन ध्रियमाणमतन्द्रितः॥
यस्मिन् मनो लब्धपदं यदेत-
च्छनैः शनैर्मुञ्चति कर्मरेणून्।
सत्त्वेन वृद्धेन रजस्तमश्च
विधूय निर्वाणमुपैत्यनिन्धनम्॥
तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो
न वेद किंचिद् बहिरन्तरं वा।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्त-
मिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे॥

(श्रीमद्भागवत ११।९।११—१३)

राजन्! मैंने बाण बनानेवालेसे यह सीखा है कि आसन और श्वासको जीतकर वैराग्य और अभ्यासके

द्वारा अपने मनको वशमें कर ले और फिर बड़ी सावधानीके साथ उसे एक लक्ष्यमें लगा दे। जब परमानन्दस्वरूप परमात्मामें मन स्थिर हो जाता है, तब वह धीरे-धीरे कर्मवासनाओंकी धूलको धो बहाता है। सत्त्वगुणकी वृद्धिसे रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियोंका त्याग करके मन वैसे ही शान्त हो जाता है, जैसे ईंधनके बिना अग्नि। इस प्रकार जिसका चित्त अपने आत्मामें ही स्थिर—निरुद्ध हो जाता है, उसे बाहर-भीतर कहीं किसी पदार्थका भान नहीं होता। मैंने देखा था कि एक बाण बनानेवाला कारीगर बाण बनानेमें इतना तन्मय हो रहा था कि उसके पाससे ही दलबलके साथ राजाकी सवारी निकल गयी और उसे पता तक न चला ॥ ११–१३ ॥

एकचार्यनिकेतः स्यादप्रमत्तो गुहाशयः ।
अलक्ष्यमाण आचारैर्मुनिरेकोऽल्पभाषणः ॥
गृहारम्भोऽतिदुःखाय विफलश्चाध्रुवात्मनः ।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ९ । १४-१५)

राजन्! मैंने साँपसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि संन्यासीको सर्पकी भाँति अकेले ही विचरण करना चाहिये, उसे मण्डली नहीं बाँधनी चाहिये, मठ तो बनाना ही नहीं चाहिये। वह एक स्थानमें न रहे, प्रमाद न करे, गुफा आदिमें पड़ा रहे, बाहरी आचारोंसे पहचाना न जाय। किसीसे सहायता न ले और बहुत कम बोले। इस अनित्य शरीरके लिये घर बनानेके बखेड़ेमें पड़ना व्यर्थ और दुःखकी जड़ है। साँप दूसरोंके बनाये घरमें घुसकर बड़े आरामसे अपना समय काटता है ॥ १४-१५ ॥

एको नारायणो देवः पूर्वसृष्टं स्वमायया ।
संहृत्य कालकलया कल्पान्त इदमीश्वरः ॥
एक एवाद्वितीयोऽभूदात्माधारोऽखिलाश्रयः ।
कालेनात्मानुभावेन साम्यं नीतासु शक्तिषु ।
सत्त्वादिष्वादिपुरुषः प्रधानपुरुषेश्वरः ॥
परावराणां परम आस्ते कैवल्यसंज्ञितः ।
केवलानुभवानन्दसंदोहो निरुपाधिकः ॥
केवलात्मानुभावेन स्वमायां त्रिगुणात्मिकाम् ।
संक्षोभयन् सृजत्यादौ तया सूत्रमरिंदम ॥
तामाहुस्त्रिगुणव्यक्तिं सृजन्तीं विश्वतोमुखम् ।
यस्मिन् प्रोतमिदं विश्वं येन संसरते पुमान् ॥
यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णां संतत्य वक्त्रतः ।
तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ९ । १६—२१)

अब मकड़ीसे ली हुई शिक्षा सुनो। सबके प्रकाशक और अन्तर्यामी सर्वशक्तिमान् भगवान्‌ने पूर्वकल्पमें बिना किसी अन्य सहायकके अपनी ही मायासे रचे हुए जगत्‌को कल्पके अन्तमें (प्रलयकाल उपस्थित होनेपर) कालशक्तिके द्वारा नष्ट कर दिया—उसे अपनेमें लीन कर लिया और सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेदसे शून्य अकेले ही शेष रह गये। वे सबके अधिष्ठान हैं, सबके आश्रय हैं; परंतु स्वयं अपने आश्रय—अपने ही आधारसे रहते हैं; उनका कोई दूसरा आधार नहीं है। वे प्रकृति और पुरुष दोनोंके नियामक, कार्य और कारणात्मक जगत्‌के आदिकारण परमात्मा अपनी शक्ति कालके प्रभावसे सत्त्व-रज आदि समस्त शक्तियोंको साम्यावस्थामें पहुँचा देते हैं और स्वयं कैवल्यरूपसे एक और अद्वितीयरूप विराजमान रहते हैं। वे केवल अनुभवस्वरूप और आनन्दघन मात्र हैं। किसी भी प्रकारकी उपाधिका उनसे सम्बन्ध नहीं है। वे ही प्रभु केवल अपनी शक्ति कालके द्वारा अपनी त्रिगुणमयी मायाको क्षुब्ध करते हैं और उससे पहले क्रियाशक्तिप्रधान सूत्र (महत्तत्त्व) की रचना करते हैं। यह सूत्ररूप महत्तत्त्व ही तीनों गुणोंकी पहली अभिव्यक्ति है, वही सब प्रकारकी सृष्टिका मूल कारण है। उसीमें

यह सारा विश्व, सूतमें ताने-बानेकी तरह ओतप्रोत है और इसीके कारण जीवको जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ना पड़ता है। जैसे मकड़ी अपने हृदयसे मुँहके द्वारा जाला फैलाती है, उसीमें विहार करती है और फिर उसे निगल जाती है, वैसे ही परमेश्वर भी इस जगत्को अपनेमेंसे उत्पन्न करते हैं, उसमें जीवरूपसे विहार करते हैं और फिर उसे अपनेमें लीन कर लेते हैं॥ १६—२१॥

यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया।
स्नेहाद् द्वेषाद् भयाद् वापि याति तत्तत्सरूपताम्॥
कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यां तेन प्रवेशितः।
याति तत्सात्मतां राजन् पूर्वरूपमसंत्यजन्॥
(श्रीमद्भागवत ११। ९। २२-२३)

राजन्! मैंने भृङ्गी (बिलनी) कीड़ेसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि यदि प्राणी स्नेहसे, द्वेषसे अथवा भयसे भी जान-बूझकर एकाग्ररूपसे अपना मन किसीमें लगा दे तो उसे उसी वस्तुका स्वरूप प्राप्त हो जाता है। राजन्! जैसे भृङ्गी एक कीड़ेको ले जाकर दीवारपर अपने रहनेकी जगह बंद कर देता है और वह कीड़ा भयसे उसीका चिन्तन करते-करते अपने पहले शरीरका त्याग किये बिना ही उसी शरीरसे तद्रूप हो जाता है॥२२-२३॥

एवं गुरुभ्य एतेभ्य एषा मे शिक्षिता मतिः।
स्वात्मोपशिक्षितां बुद्धिं शृणु मे वदतः प्रभो॥
देहो गुरुर्मम विरक्तिविवेकहेतु-
र्बिभ्रत् स्म सत्त्वनिधनं सततार्त्युदर्कम्।
तत्त्वान्यनेन विमृशामि यथा तथापि
पारक्यमित्यवसितो विचराम्यसङ्गः॥
जायात्मजार्थपशुभृत्यगृहाप्तवर्गान्
पुष्णाति यत्प्रियचिकीर्षया वितन्वन्।
स्वान्ते सकृच्छ्रमवरुद्धधनः स देहः
सृष्ट्वास्य बीजमवसीदति वृक्षधर्मा॥
जिह्वैकतोऽमुमपकर्षति कर्हि तर्षा
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति॥
सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥
लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥
एवं संजातवैराग्यो विज्ञानालोक आत्मनि।
विचरामि महीमेतां मुक्तसङ्गोऽनहंकृतिः॥
न ह्येकस्माद् गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात् सुपुष्कलम्।
ब्रह्मैतदद्वितीयं वै गीयते बहुधर्षिभिः॥
(श्रीमद्भागवत ११। ९। २४—३१)

राजन्! इस प्रकार मैंने इतने गुरुओंसे ये शिक्षाएँ ग्रहण कीं। अब मैंने अपने शरीरसे जो कुछ सीखा है, वह तुम्हें बताता हूँ, सावधान होकर सुनो। यह शरीर भी मेरा गुरु ही है; क्योंकि यह मुझे विवेक और वैराग्यकी शिक्षा देता है। मरना और जीना तो इसके साथ लगा ही रहता है। इस शरीरको पकड़ रखनेका फल यह है कि दुःख-पर-दुःख भोगते जाओ। यद्यपि इस शरीरसे तत्त्वविचार करनेमें सहायता मिलती है, तथापि मैं इसे अपना कभी नहीं समझता; सर्वदा यही निश्चय रखता हूँ कि एक दिन इसे सियार-कुत्ते खा जायँगे। इसीलिये मैं इससे असङ्ग होकर विचरता हूँ। जीव जिस शरीरका प्रिय करनेके लिये ही अनेकों प्रकारकी कामनाएँ और कर्म करता है तथा स्त्री-पुत्र,

धन-दौलत, हाथी-घोड़े, नौकर-चाकर, घर-द्वार और भाई-बन्धुओंका विस्तार करते हुए उनके पालन-पोषणमें लगा रहता है। बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ सहकर धन-संचय करता है। आयु पूरी होनेपर वही शरीर स्वयं तो नष्ट होता ही है, वृक्षके समान दूसरे शरीरके लिये बीज बोकर उसके लिये भी दुःखकी व्यवस्था कर जाता है। जैसे बहुत-सी सौतें अपने एक पतिको अपनी-अपनी ओर खींचती हैं, वैसे ही जीवको जीभ एक ओर—स्वादिष्ट पदार्थोंकी ओर खींचती है तो प्यास दूसरी ओर—जलकी ओर; जननेन्द्रिय एक ओर—स्त्रीसम्भोगकी ओर ले जाना चाहती है तो त्वचा, पेट और कान दूसरी ओर—कोमल स्पर्श, भोजन और मधुर शब्दकी ओर खींचने लगते हैं। नासा कहीं सुन्दर गन्ध सूँघनेके लिये ले जाना चाहती है तो चञ्चल नेत्र कहीं दूसरी ओर सुन्दर रूप देखनेके लिये। इस प्रकार कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ—दोनों ही इसे सताती रहती हैं। वैसे तो भगवान्‌ने अपनी अचिन्त्य शक्ति मायासे वृक्ष, सरीसृप (रेंगनेवाले जन्तु), पशु, पक्षी, डाँस और मछली आदि अनेकों प्रकारकी योनियाँ रचीं; परंतु उनसे उन्हें संतोष न हुआ। तब उन्होंने मनुष्य-शरीरकी सृष्टि की। यह ऐसी बुद्धिसे युक्त है, जो ब्रह्मका साक्षात्कार करा सकती है। इसकी रचना करके वे बहुत आनन्दित हुए। यद्यपि यह मनुष्य-शरीर है तो अनित्य ही—मृत्यु सदा इसके पीछे लगी रहती है। परंतु इससे परम पुरुषार्थकी प्राप्ति हो सकती है; इसलिये अनेक जन्मोंके बाद यह अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य-शरीर पाकर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि शीघ्र-से-शीघ्र, मृत्युके पहले ही परम कल्याणकी प्राप्तिका प्रयत्न कर ले। इस जीवनका मुख्य उद्देश्य मोक्ष ही है। विषयभोग तो सभी योनियोंमें प्राप्त हो सकते हैं, इसलिये उनके संग्रहमें यह अमूल्य जीवन नहीं खोना चाहिये। राजन्! यही सब सोच-विचारकर मुझे जगत्‌से वैराग्य हो गया। मेरे हृदयमें ज्ञान-विज्ञानकी ज्योति जगमगाती रहती है। न तो कहीं मेरी आसक्ति है और न कहीं अहंकार ही। अब मैं स्वच्छन्दरूपसे इस पृथ्वीमें विचरण करता हूँ। राजन्! अकेले गुरुसे ही यथेष्ट और सुदृढ़ बोध नहीं होता, उसके लिये अपनी बुद्धिसे भी बहुत-कुछ सोचने-समझनेकी आवश्यकता है। देखो, ऋषियोंने एक ही अद्वितीय ब्रह्मका अनेकों प्रकारसे गान किया है। (यदि तुम स्वयं विचारकर निर्णय न करोगे, तो ब्रह्मके वास्तविक स्वरूपको कैसे जान सकोगे?) ॥२४—३१॥

श्रीभगवानुवाच

इत्युक्त्वा स यदुं विप्रस्तमामन्त्र्य गभीरधीः।
वन्दितोऽभ्यर्थितो राज्ञा ययौ प्रीतो यथागतम्॥
अवधूतवचः श्रुत्वा पूर्वेषां नः स पूर्वजः।
सर्वसङ्गविनिर्मुक्तः समचित्तो बभूव ह॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ९ । ३२-३३)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्यारे उद्धव! गम्भीर-बुद्धि अवधूत दत्तात्रेयने राजा यदुको इस प्रकार उपदेश किया। यदुने उनकी पूजा और वन्दना की। दत्तात्रेयजी उनसे अनुमति लेकर बड़ी प्रसन्नतासे इच्छानुसार पधार गये। हमारे पूर्वजोंके भी पूर्वज राजा यदु अवधूत दत्तात्रेयकी यह बात सुनकर समस्त आसक्तियोंसे छुटकारा पा गये और समदर्शी हो गये। (इसी प्रकार तुम्हें भी समस्त आसक्तियोंका परित्याग करके समदर्शी हो जाना चाहिये) ॥ ३२-३३ ॥

अध्याय चतुर्थ

इस लोक और परलोकके भोग दुःखरूप तथा असार हैं

श्रीभगवानुवाच

मयोदितेष्ववहितः स्वधर्मेषु मदाश्रयः ।
वर्णाश्रमकुलाचारमकामात्मा समाचरेत् ॥
अन्वीक्षेत विशुद्धात्मा देहिनां विषयात्मनाम् ।
गुणेषु तत्त्वध्यानेन सर्वारम्भविपर्ययम् ॥
सुप्तस्य विषयालोको ध्यायतो वा मनोरथः ।
नानात्मकत्वाद् विफलस्तथा भेदात्मधीर्गुणैः ॥
निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत् ।
जिज्ञासायां सम्प्रवृत्तो नाद्रियेत् कर्मचोदनाम् ॥
यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान् मत्परः क्वचित् ।
मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम् ॥
अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः ।
असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक् ॥
जायापत्यगृहक्षेत्रस्वजनद्रविणादिषु ।
उदासीनः समं पश्यन् सर्वेष्वर्थमिवात्मनः ॥
विलक्षणः स्थूलसूक्ष्माद् देहादात्मेक्षिता स्वदृक् ।
यथाग्निर्दारुणो दाह्याद् दाहकोऽन्यः प्रकाशकः ॥
निरोधोत्पत्त्यणुबृहन्नानात्वं तत्कृतान् गुणान् ।
अन्तःप्रविष्ट आधत्त एवं देहगुणान् परः ॥
योऽसौ गुणैर्विरचितो देहोऽयं पुरुषस्य हि ।
संसारस्तन्निबन्धोऽयं पुंसो विद्याच्छिदात्मनः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । १० । १—१०)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्यारे उद्धव! साधकको चाहिये कि सब प्रकारसे मेरी शरणमें रहकर (गीता, पाञ्चरात्र आदिमें) मेरेद्वारा उपदिष्ट अपने धर्मोंका सावधानीसे पालन करे। साथ ही जहाँतक उनसे विरोध न हो, निष्कामभावसे अपने वर्ण, आश्रम और कुलके अनुसार सदाचारका भी अनुष्ठान करे। निष्काम होनेका उपाय यह है कि स्वधर्मोंका पालन करनेसे शुद्ध हुए अपने चित्तमें यह विचार करे कि जगत्के विषयी प्राणी शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयोंको सत्य समझकर उनकी प्राप्तिके लिये जो प्रयत्न करते हैं, उसमें उनका उद्देश्य तो यह होता है कि सुख मिले, परंतु मिलता है दुःख। इसके सम्बन्धमें ऐसा विचार करना चाहिये कि स्वप्न-अवस्थामें और मनोरथ करते समय जाग्रत्-अवस्थामें भी मनुष्य मन-ही-मन अनेकों प्रकारके विषयोंका अनुभव करता है, परंतु उसकी वह सारी कल्पना वस्तुशून्य होनेके कारण व्यर्थ है। वैसे ही इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाली भेदबुद्धि भी व्यर्थ ही है; क्योंकि यह भी इन्द्रियजन्य और नाना वस्तुविषयक होनेके कारण पूर्ववत् असत्य ही है। जो पुरुष मेरी शरणमें है, उसे अन्तर्मुख करनेवाले निष्काम अथवा नित्यकर्म ही करने चाहिये। उन कर्मोंका बिल्कुल परित्याग कर देना चाहिये, जो बहिर्मुख बनानेवाले अथवा सकाम हों। जब आत्मज्ञानकी उत्कट इच्छा जाग उठे, तब तो कर्मसम्बन्धी विधि-विधानोंका भी आदर नहीं करना चाहिये। अहिंसा आदि यमोंका तो आदरपूर्वक सेवन करना चाहिये, परंतु शौच (पवित्रता) आदि नियमोंका पालन शक्तिके अनुसार और आत्मज्ञानके विरोधी न होनेपर ही करना चाहिये। जिज्ञासु पुरुषके लिये यम और नियमोंके पालनसे भी बढ़कर आवश्यक बात यह है कि वह अपने गुरुकी, जो मेरे स्वरूपको जाननेवाले और शान्त हों, मेरा ही स्वरूप समझकर सेवा करे। शिष्यको अभिमान न करना चाहिये। वह कभी किसीसे डाह न करे—किसीका बुरा न सोचे। वह प्रत्येक कार्यमें कुशल हो—उसे आलस्य छू न जाय। उसे कहीं भी ममता न

हो और गुरुके चरणोंमें दृढ़ अनुराग हो। कोई काम हड़बड़ाकर न करे—उसे सावधानीसे पूरा करे। सदा परमार्थके सम्बन्धमें ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा बनाये रक्खे। किसीके गुणोंमें दोष न निकाले और व्यर्थकी बात न करे। जिज्ञासुका परम धन है आत्मा; इसलिये वह स्त्री-पुत्र, घर-खेत, स्वजन और धन आदि सम्पूर्ण पदार्थोंमें एक सम आत्माको देखे और किसीमें कुछ विशेषताका आरोप करके उससे ममता न करे—उदासीन रहे। उद्धव! जैसे जलनेवाली लकड़ीसे उसे जलाने और प्रकाशित करनेवाली आग सर्वथा अलग है, ठीक वैसे ही विचार करनेपर जान पड़ता है कि पञ्चभूतोंका बना स्थूलशरीर और मन-बुद्धि आदि सत्रह तत्त्वोंका बना सूक्ष्मशरीर दोनों ही दृश्य और जड हैं। तथा उनको जानने और प्रकाशित करनेवाला आत्मा साक्षी एवं स्वयंप्रकाश है। शरीर अनित्य, अनेक एवं जड हैं। आत्मा नित्य, एक एवं चेतन है। इस प्रकार देहकी अपेक्षा आत्मामें महान् विलक्षणता है। अतएव देहसे आत्मा भिन्न है। जब आग लकड़ीमें प्रज्वलित होती है, तब लकड़ीके उत्पत्ति-विनाश, बड़ाई-छोटाई और अनेकता आदि सभी गुण वह स्वयं ग्रहण कर लेती है। परंतु सच पूछो, तो लकड़ीके उन गुणोंसे आगका कोई सम्बन्ध नहीं है। वैसे ही जब आत्मा अपनेको शरीर मान लेता है, तब वह देहके जडता, अनित्यता, स्थूलता, अनेकता आदि गुणोंसे सर्वथा रहित होनेपर भी उनसे युक्त जान पड़ता है। ईश्वरके द्वारा नियन्त्रित मायाके गुणोंने ही सूक्ष्म और स्थूल शरीरका निर्माण किया है। जीवको शरीर और शरीरको जीव समझ लेनेके कारण ही स्थूलशरीरके जन्म-मरण और सूक्ष्मशरीरके आवागमनका आत्मापर आरोप किया जाता है। जीवको जन्म-मृत्युरूप संसार इसी भ्रम अथवा अध्यासके कारण प्राप्त होता है। आत्माके स्वरूपका ज्ञान होनेपर उसकी जड़ कट जाती है॥ १—१०॥

तस्माज्जिज्ञासयाऽऽत्मानमात्मस्थं केवलं परम्।
संगम्य निरसेदेतद्वस्तुबुद्धिं यथाक्रमम्॥
आचार्योऽरणिराद्यः स्यादन्तेवास्युत्तरारणिः।
तत्संधानं प्रवचनं विद्यासंधिः सुखावहः॥
वैशारदी सातिविशुद्धबुद्धि-
र्धुनोति मायां गुणसम्प्रसूताम्।
गुणांश्च संदह्य यदात्ममेतत्
स्वयं च शाम्यत्यसमिद् यथाग्निः॥

(श्रीमद्भागवत ११। १०। ११—१३)

प्यारे उद्धव! इस जन्म-मृत्युरूप संसारका कोई दूसरा कारण नहीं, केवल अज्ञान ही मूल कारण है। इसलिये अपने वास्तविक स्वरूपको—आत्माको जाननेकी इच्छा करनी चाहिये। अपना यह वास्तविक स्वरूप समस्त प्रकृति और प्राकृत जगत्से अतीत, द्वैतकी गन्धसे रहित एवं अपने-आपमें ही स्थित है। उसका और कोई आधार नहीं है। उसे जानकर धीरे-धीरे स्थूल-शरीर, सूक्ष्मशरीर आदिमें जो सत्यत्व-बुद्धि हो रही है, उसे क्रमशः मिटा देना चाहिये। (यज्ञमें जब अरणि-मन्थन करके अग्नि उत्पन्न करते हैं, तब उसमें नीचे-ऊपर दो लकड़ियाँ रहती हैं और बीचमें मन्थन-काष्ठ रहता है; वैसे ही) विद्यारूप अग्निकी उत्पत्तिके लिये आचार्य और शिष्य तो नीचे-ऊपरकी अरणियाँ हैं तथा उपदेश मन्थन-काष्ठ है। इनसे जो ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होती है, वह विलक्षण सुख देनेवाली है। इस यज्ञमें बुद्धिमान् शिष्य सद्गुरुके द्वारा जो अत्यन्त विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करता है, वह गुणोंसे बनी हुई विषयोंकी मायाको भस्म कर देता है। तत्पश्चात् वे गुण भी भस्म हो जाते हैं, जिनसे कि यह संसार बना हुआ है। इस प्रकार सबके भस्म हो जानेपर जब आत्माके अतिरिक्त और कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती, तब वह ज्ञानाग्नि भी ठीक वैसे ही अपने वास्तविक स्वरूपमें शान्त हो जाती

है, जैसे समिधा न रहनेपर आग बुझ जाती है॥ ११—१३ ॥

अथैषां कर्मकर्तॄणां भोक्तॄणां सुखदुःखयोः ।
नानात्वमथ नित्यत्वं लोककालागमात्मनाम् ॥
मन्यसे सर्वभावानां संस्था ह्यौत्पत्तिकी यथा ।
तत्तदाकृतिभेदेन जायते भिद्यते च धीः ॥
एवमप्यङ्ग सर्वेषां देहिनां देहयोगतः ।
कालावयवतः सन्ति भावा जन्मादयोऽसकृत् ॥
अत्रापि कर्मणां कर्तुरस्वातन्त्र्यं च लक्ष्यते ।
भोक्तुश्च दुःखसुखयोः को न्वर्थो विवशं भजेत् ॥
न देहिनां सुखं किंचिद् विद्यते विदुषामपि ।
तथा च दुःखं मूढानां वृथाहंकरणं परम् ॥
यदि प्राप्तिं विघातं च जानन्ति सुखदुःखयोः ।
तेऽप्यद्धा न विदुर्योगं मृत्युर्न प्रभवेद् यथा ॥
को न्वर्थः सुखयत्येनं कामो वा मृत्युरन्तिके ।
आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव न तुष्टिदः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । १० । १४—२०)

प्यारे उद्धव ! यदि तुम कदाचित् कर्मोंके कर्ता और सुख-दुःखोंके भोक्ता जीवोंको अनेक तथा जगत्, काल, वेद और आत्माओंको नित्य मानते हो; साथ ही समस्त पदार्थोंकी स्थिति प्रवाहसे नित्य और यथार्थ स्वीकार करते हो तथा यह समझते हो कि घट-पट आदि बाह्य आकृतियोंके भेदसे उनके अनुसार ज्ञान ही उत्पन्न होता और बदलता रहता है; तो ऐसे मतके माननेसे बड़ा अनर्थ हो जायगा । (क्योंकि इस प्रकार जगत्के कर्ता आत्माकी नित्य सत्ता और जन्म-मृत्युके चक्रसे मुक्ति भी सिद्ध न हो सकेगी ।) यदि कदाचित् ऐसा स्वीकार भी कर लिया जाय तो देह और संवत्सरादि कालावयवोंके सम्बन्धसे होनेवाली जीवोंकी जन्म-मरण आदि अवस्थाएँ भी नित्य होनेके कारण दूर न हो सकेंगी; क्योंकि तुम देहादि पदार्थ और कालकी नित्यता स्वीकार करते हो । इसके सिवा, यहाँ भी कर्मोंका कर्ता तथा सुख-दुःखका भोक्ता जीव परतन्त्र ही दिखायी देता है, यदि वह स्वतन्त्र हो तो दुःखका फल क्यों भोगना चाहेगा ? इस प्रकार सुख-भोगकी समस्या सुलझ जानेपर भी दुःख-भोगकी समस्या तो उलझी ही रहेगी। अतः इस मतके अनुसार जीवको कभी मुक्ति या स्वतन्त्रता प्राप्त न हो सकेगी । जब जीव स्वरूपतः परतन्त्र है—विवश है, तब तो स्वार्थ या परमार्थ कोई भी उसका सेवन न करेगा । अर्थात् वह स्वार्थ और परमार्थ–दोनोंसे ही वञ्चित रह जायगा । (यदि यह कहा जाय कि जो भलीभाँति कर्म करना जानते हैं, वे सुखी रहते हैं और जो नहीं जानते, उन्हें दुःख भोगना पड़ता है तो यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि) ऐसा देखा जाता है कि बड़े-बड़े कर्म-कुशल विद्वानोंको भी कुछ सुख नहीं मिलता और मूढ़ोंका भी कभी दुःखसे पाला नहीं पड़ता । इसलिये जो लोग अपनी बुद्धि या कर्मसे सुख पानेका घमंड करते हैं, उनका वह अभिमान व्यर्थ है। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि वे लोग सुखकी प्राप्ति और दुःखके नाशका ठीक-ठीक उपाय जानते हैं, तो भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि उन्हें भी ऐसे उपाय-का पता नहीं है, जिससे मृत्यु उनके ऊपर कोई प्रभाव न डाल सके और वे कभी मरें ही नहीं । जब मृत्यु उनके सिरपर नाच रही है, तब ऐसी कौन-सी भोग-सामग्री या भोग-कामना है जो उन्हें सुखी कर सके! भला, जिस मनुष्यको फाँसीपर लटकानेके लिये वधस्थान-पर ले जाया जा रहा है, उसे क्या फूल-चन्दन-स्त्री आदि पदार्थ संतुष्ट कर सकते हैं ? कदापि नहीं । (अतः पूर्वोक्त मत माननेवालोंकी दृष्टिसे न सुख ही सिद्ध होगा और न जीवका कुछ पुरुषार्थ ही रहेगा) ॥ १४—२० ॥

श्रुतं च दृष्टवद् दुष्टं स्पर्धासूयात्ययव्ययैः ।
बह्वन्तरायकामत्वात् कृषिवच्चापि निष्फलम् ॥

अन्तरायैरविहितो यदि धर्मः स्वनुष्ठितः ।
तेनापि निर्जितं स्थानं यथा गच्छति तच्छृणु ॥
इष्ट्वेह देवता यज्ञैः स्वर्लोकं याति याज्ञिकः ।
भुञ्जीत देववत्तत्र भोगान् दिव्यान् निजार्जितान्॥
स्वपुण्योपचिते शुभ्रे विमान उपगीयते ।
गन्धर्वैर्विहरन् मध्ये देवीनां हृद्यवेषधृक् ॥
स्त्रीभिः कामगयानेन किङ्किणीजालमालिना ।
क्रीडन् न वेदात्मपातं सुराक्रीडेषु निर्वृतः ॥
तावत् प्रमोदते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते ।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । १० । २१—२६)

प्यारे उद्धव ! लौकिक सुखके समान पारलौकिक सुख भी दोषयुक्त ही है; क्योंकि वहाँ भी बराबरीवालोंसे होड़ चलती है, अधिक सुख भोगनेवालोंके प्रति असूया होती है—उनके गुणोंमें दोष निकाला जाता है और छोटोंसे घृणा होती है । प्रतिदिन पुण्य क्षीण होनेके साथ ही वहाँके सुख भी क्षयके निकट पहुँचते रहते हैं और एक दिन नष्ट हो जाते हैं । वहाँकी कामना पूर्ण होनेमें भी यजमान, ऋत्विज और कर्म आदिकी त्रुटियोंके कारण बड़े-बड़े विघ्नोंकी सम्भावना रहती है । जैसे हरी-भरी खेती भी अतिवृष्टि-अनावृष्टि आदिके कारण नष्ट हो जाती है, वैसे ही स्वर्ग भी प्राप्त होते-होते विघ्नोंके कारण नहीं मिल पाता । यदि यज्ञ-यागादि धर्म बिना किसी विघ्नके पूरा हो जाय, तो उसके द्वारा जो स्वर्गादि लोक मिलते हैं, उनकी प्राप्तिका प्रकार मैं बतलाता हूँ, सुनो । यज्ञ करनेवाला पुरुष यज्ञोंके द्वारा देवताओंकी आराधना करके स्वर्गमें जाता है और वहाँ अपने पुण्यकर्मोंके द्वारा उपार्जित दिव्य भोगोंको देवताओंके समान भोगता है । उसे उसके पुण्योंके अनुसार एक चमकीला विमान मिलता है और वह उसपर सवार होकर सुर-सुन्दरियोंके साथ विहार करता है । गन्धर्वगण उसके गुणोंका गान करते हैं और उसके रूप-लावण्यको देखकर दूसरोंका मन लुभा जाता है । उसका विमान वह जहाँ ले जाना चाहता है, वहीं चला जाता है और उसकी घंटियाँ घनघनाकर दिशाओंको गुंजारित करती हैं । वह अप्सराओंके साथ नन्दनवन आदि देवताओंकी विहार-स्थलियोंमें क्रीड़ाएँ करते-करते इतना बेसुध हो जाता है कि उसे इस बातका पता ही नहीं चलता कि अब मेरे पुण्य समाप्त हो जायँगे और मैं यहाँसे ढकेल दिया जाऊँगा । जबतक उसके पुण्य शेष रहते हैं, तबतक वह स्वर्गमें चैनकी वंशी बजाता रहता है; परंतु पुण्य क्षीण होते ही इच्छा न रहनेपर भी उसे नीचे गिरना पड़ता है; क्योंकि कालकी चाल ही ऐसी है ॥ २१—२६ ॥

यद्यधर्मरतः सङ्गादसतां वाजितेन्द्रियः ।
कामात्मा कृपणो लुब्धः स्त्रैणो भूतविहिंसकः ॥
पशूनविधिनाऽऽलभ्य प्रेतभूतगणान् यजन् ।
नरकानवशो जन्तुर्गत्वा यात्युल्बणं तमः ॥
कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन् देहेन तैः पुनः ।
देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः ॥
लोकानां लोकपालानां मद् भयं कल्पजीविनाम् ।
ब्रह्मणोऽपि भयं मत्तो द्विपरार्धपरायुषः ॥
गुणाः सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान् ।
जीवस्तु गुणसंयुक्तो भुङ्क्ते कर्मफलान्यसौ ॥
यावत् स्याद् गुणवैषम्यं तावन्नानात्वमात्मनः ।
नानात्वमात्मनो यावत् पारतन्त्र्यं तदैव हि ॥
यावदस्यास्वतन्त्रत्वं तावदीश्वरतो भयम् ।
य एतत् समुपासीरंस्ते मुह्यन्ति शुचार्पिताः ॥
काल आत्माऽऽगमो लोकः स्वभावो धर्म एव च ।
इति मां बहुधा प्राहुर्गुणव्यतिकरे सति ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । १० । २७—३४)

यदि कोई मनुष्य दुष्टोंकी संगतिमें पड़कर अधर्म-परायण हो जाय, अपनी इन्द्रियोंके वशमें होकर मनमानी करने लगे, लोभवश दाने-दानेमें कृपणता करने लगे,

लम्पट हो जाय अथवा प्राणियोंको सताने लगे और विधि-विरुद्ध पशुओंकी बलि देकर भूत-प्रेतोंकी उपासनामें लग जाय, तब तो वह पशुओंसे भी गया-बीता हो जाता है और अवश्य ही नरकमें जाता है। उसे अन्तमें घोर अन्धकारमें, स्वार्थ और परमार्थसे रहित अज्ञानमें ही भटकना पड़ता है। जितने भी सकाम और बहिर्मुख करनेवाले कर्म हैं, उनका फल दुःख ही है। जो जीव शरीरमें अहंता-ममता करके उन्हींमें लग जाता है, उसे बार-बार जन्मपर जन्म और मृत्युपर मृत्यु प्राप्त होती रहती है। ऐसी स्थितिमें मृत्युधर्मा जीवको क्या सुख हो सकता है? सारे लोक और लोकपालोंकी आयु भी केवल एक कल्प है, इसलिये मुझसे भयभीत रहते हैं। औरोंकी तो बात ही क्या, स्वयं ब्रह्मा भी मुझसे भयभीत रहते हैं; क्योंकि उनकी आयु भी कालसे सीमित—केवल दो परार्द्ध है। सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण इन्द्रियोंको उनके कर्मोंमें प्रेरित करते हैं और इन्द्रियाँ कर्म करती हैं। जीव अज्ञानवश सत्त्व, रज आदि गुणों और इन्द्रियोंको अपना स्वरूप मान बैठता है और उनके किये हुए कर्मोंका फल सुख-दुःख भोगने लगता है। जबतक गुणोंकी विषमता है अर्थात् शरीरादिमें मैं और मेरेपनका अभिमान है; तभीतक आत्माके एकत्वकी अनुभूति नहीं होती—वह अनेक जान पड़ता है और जबतक आत्माकी अनेकता है, तबतक तो उन्हें काल अथवा कर्म किसीके अधीन रहना ही पड़ेगा। जबतक परतन्त्रता है, तबतक ईश्वरसे भय बना ही रहता है। जो मैं और मेरेपनके भावसे ग्रस्त रहकर आत्माकी अनेकता, परतन्त्रता आदि मानते हैं और वैराग्य न ग्रहण करके बहिर्मुख करनेवाले कर्मोंका ही सेवन करते रहते हैं, उन्हें शोक और मोहकी प्राप्ति होती है। प्यारे उद्धव! जब मायाके गुणोंमें क्षोभ होता है, तब मुझ आत्माको ही काल, जीव, वेद, लोक, स्वभाव और धर्म आदि अनेक नामोंसे निरूपण करने लगते हैं॥ २७—३४॥

उद्धव उवाच

गुणेषु वर्तमानोऽपि देहजेष्वनपावृतः।
गुणैर्न बद्ध्यते देही बद्ध्यते वा कथं विभो॥
कथं वर्तेत विहरेत् कैर्वा ज्ञायेत लक्षणैः।
किं भुञ्जीतोत विसृजेच्छयीतासीत याति वा॥
एतदच्युत मे ब्रूहि प्रश्नं प्रश्नविदां वर।
नित्यमुक्तो नित्यबद्ध एक एवेति मे भ्रमः॥

(श्रीमद्भागवत ११। १०। ३५—३७)

उद्धवजीने पूछा—भगवन्! यह जीव देह आदिरूप गुणोंमें ही रह रहा है। फिर देहसे होनेवाले कर्मों या सुख-दुःख आदिरूप फलोंमें क्यों नहीं बँधता है? अथवा यह आत्मा गुणोंसे निर्लिप्त है, देह आदिके सम्पर्कसे सर्वथा रहित है, फिर इसे बन्धनकी प्राप्ति कैसे होती है? बद्ध अथवा मुक्त पुरुष कैसा बर्ताव करता है? वह कैसे विहार करता है? या वह किन लक्षणोंसे पहचाना जाता है? कैसे भोजन करता है? और मल-त्याग आदि कैसे करता है? कैसे सोता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है? अच्युत! प्रश्नका मर्म जाननेवालोंमें आप श्रेष्ठ हैं। इसलिये आप मेरे इस प्रश्नका उत्तर दीजिये—एक ही आत्मा अनादि गुणोंके संसर्गसे नित्यबद्ध भी मालूम पड़ता है और असङ्ग होनेके कारण नित्यमुक्त भी। इस बातको लेकर मुझे भ्रम हो रहा है॥ ३५-३७॥

अध्याय पञ्चम

बद्ध, मुक्त और संत-भक्तोंके लक्षण

श्रीभगवानुवाच

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः।
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम्॥
शोकमोहौ सुखं दुःखं देहापत्तिश्च मायया।
स्वप्नो यथाऽऽत्मनः ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवी॥
विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम्॥

मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते॥
एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते।
बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः॥
अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते।
विरुद्धधर्मिणोस्तात स्थितयोरेकधर्मिणि॥
सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ
यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न-
मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्॥
आत्मानमन्यं च स वेद विद्वा-
नपिप्पलादो न तु पिप्पलादः।
योऽविद्यया युक् स तु नित्यबद्धो
विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः॥
देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान् स्वप्नाद् यथोत्थितः
अदेहस्थोऽपि देहस्थः कुमतिः स्वप्नदृग् यथा॥
इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च।
गृह्यमाणेष्वहंकुर्यान्न विद्वान् यस्त्वविक्रियः॥
दैवाधीने शरीरेऽस्मिन् गुणभाव्येन कर्मणा।
वर्तमानोऽबुधस्तत्र कर्तास्मीति निबद्ध्यते॥

(श्रीमद्भागवत ११। ११। १–१०)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्यारे उद्धव ! आत्मा बद्ध है या मुक्त है, इस प्रकारकी व्याख्या या व्यवहार मेरे अधीन रहनेवाले सत्त्वादि गुणोंकी उपाधिसे ही होता है। वस्तुतः—तत्त्व-दृष्टिसे नहीं। सभी गुण मायामूलक हैं—इन्द्रजाल हैं—जादूके खेलके समान हैं इसलिये न तो मेरा मोक्ष है और न मेरा बन्धन ही है। जैसे स्वप्न बुद्धिका विवर्त है—उसमें बिना हुए ही भासता है—मिथ्या है, वैसे ही शोक-मोह, सुख-दुःख, शरीरकी उत्पत्ति और मृत्यु—यह सब संसारका बखेड़ा माया (अविद्या) के कारण प्रतीत होनेपर भी वास्तविक नहीं है। उद्धव ! शरीरधारियोंको मुक्तिका अनुभव करानेवाली आत्मविद्या और बन्धनका अनुभव करानेवाली अविद्या—ये दोनों ही मेरी अनादि शक्तियाँ हैं। मेरी मायासे ही इनकी रचना हुई है। इनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। भाई ! तुम तो स्वयं बड़े बुद्धिमान् हो, विचार करो—जीव तो एक ही है। वह व्यवहार-के लिये ही मेरे अंशके रूपमें कल्पित हुआ है, वस्तुतः मेरा स्वरूप ही है। आत्मज्ञानसे सम्पन्न होनेपर उसे मुक्त कहते हैं और आत्माका ज्ञान न होनेसे बद्ध। और यह अज्ञान अनादि होनेसे बन्धन भी अनादि कहलाता है। इस प्रकार मुझ एक ही धर्मीमें रहनेपर भी जो शोक और आनन्दरूप विरुद्ध धर्मवाले जान पड़ते हैं, उन बद्ध और मुक्त जीवका भेद मैं बतलाता हूँ। (वह भेद दो प्रकारका है—एक तो नित्यमुक्त ईश्वरसे जीवका भेद और दूसरा मुक्त-बद्ध जीवका भेद। पहला सुनो)—जीव और ईश्वर बद्ध और मुक्तके भेदसे भिन्न-भिन्न होनेपर भी एक ही शरीरमें नियन्ता और नियन्त्रितके रूपसे स्थित हैं। ऐसा समझो कि शरीर एक वृक्ष है, इसमें हृदयका घोंसला बनाकर जीव और ईश्वर नामके दो पक्षी रहते हैं। वे दोनों चेतन होनेके कारण समान हैं और कभी न बिछुड़नेके कारण सखा हैं। इनके निवास करनेका कारण केवल लीला ही है। इतनी समानता होनेपर भी जीव तो शरीररूप वृक्षके फल सुख-दुःख आदि भोगता है परंतु ईश्वर उन्हें न भोगकर कर्मफल सुख-दुःख आदिसे असङ्ग और उनका साक्षीमात्र रहता है। अभोक्ता होनेपर भी ईश्वरकी यह विलक्षणता है कि वह ज्ञान, ऐश्वर्य, आनन्द और सामर्थ्य आदिमें भोक्ता जीवसे बढ़-कर है। साथ ही एक यह भी विलक्षणता है कि अभोक्ता ईश्वर तो अपने वास्तविक स्वरूप और इसके अतिरिक्त जगत्को भी जानता है, परंतु भोक्ता जीव न अपने वास्तविक रूपको जानता है और न अपनेसे अतिरिक्तको। इन दोनोंमें जीव तो अविद्यासे युक्त होनेके कारण नित्यबद्ध है और ईश्वर विद्यास्वरूप

होनेके कारण नित्यमुक्त है । प्यारे उद्धव ! ज्ञानसम्पन्न पुरुष भी मुक्त ही है; जैसे स्वप्न टूट जानेपर जगा हुआ पुरुष स्वप्नके स्मर्यमाण शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता, वैसे ही ज्ञानी पुरुष सूक्ष्म और स्थूल शरीरमें रहनेपर भी उनसे किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखता, परंतु अज्ञानी पुरुष वास्तवमें शरीरसे कोई सम्बन्ध न रखनेपर भी अज्ञानके कारण शरीरमें ही स्थित रहता है, जैसे स्वप्न देखनेवाला पुरुष स्वप्न देखते समय स्वाप्निक शरीरमें बँध जाता है । व्यवहारमें इन्द्रियाँ शब्द-स्पर्शादि विषयोंको ग्रहण करती हैं; क्योंकि यह तो नियम ही है कि गुण ही गुणको ग्रहण करते हैं, आत्मा नहीं । इसलिये जिसने अपने निर्विकार आत्मस्वरूपको समझ लिया है, वह उन विषयोंके ग्रहण-त्यागमें किसी प्रकारका अभिमान नहीं करता । यह शरीर प्रारब्धके अधीन है । इससे शारीरिक और मानसिक जितने भी कर्म होते हैं, सब गुणोंकी प्रेरणासे ही होते हैं । अज्ञानी पुरुष झूठ-मूठ अपनेको उन ग्रहण-त्याग आदि कर्मोंका कर्ता मान बैठता है और इसी अभिमानके कारण वह बँध जाता है ॥ १—१० ॥

एवं विरक्तः शयने आसनाटनमज्जने ।
दर्शनस्पर्शनघ्राणभोजनश्रवणादिषु ॥
न तथा बद्ध्यते विद्वांस्तत्र तत्रादयन् गुणान् ।
प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तो यथा खं सवितानिलः ॥
वैशारद्येक्षयासङ्गशितया छिन्नसंशयः ।
प्रतिबुद्ध इव स्वप्नान्नानात्वाद् विनिवर्तते ॥
यस्य स्युर्वीतसंकल्पाः प्राणेन्द्रियमनोधियाम् ।
वृत्तयः स विनिर्मुक्तो देहस्थोऽपि हि तद्गुणैः ॥
यस्यात्मा हिंस्यते हिंस्रैर्येन किंचिद् यदृच्छया ।
अर्च्यते वा क्वचित्तत्र न व्यतिक्रियते बुधः ॥
न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा ।
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ् मुनिः ॥
न कुर्यान्न वदेत् किंचिन्न ध्यायेत् साध्वसाधु वा ।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ११ । ११—१७)

प्यारे उद्धव ! पूर्वोक्त पद्धतिसे विचार करके विवेकी पुरुष समस्त विषयोंसे विरक्त रहता है और सोने-बैठने, घूमने-फिरने, नहाने, देखने, छूने, सूँघने, खाने और सुनने आदि क्रियाओंमें अपनेको कर्ता नहीं मानता, बल्कि गुणोंको ही कर्ता मानता है । गुण ही सभी कर्मोंके कर्ता-भोक्ता हैं—ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष कर्मवासना और फलोंसे नहीं बँधते । वे प्रकृतिमें रहकर भी वैसे ही असङ्ग रहते हैं, जैसे स्पर्श आदिसे आकाश, जलकी आर्द्रता आदिसे सूर्य और गन्ध आदिसे वायु । उनकी विमल बुद्धिकी तलवार असङ्ग-भावनाकी सानसे और भी तीखी हो जाती है और वे उससे अपने सारे संशय-संदेहोंको काट-कूटकर फेंक देते हैं । जैसे कोई स्वप्नसे जाग उठा हो, उसी प्रकार वे इस भेदबुद्धिके भ्रमसे मुक्त हो जाते हैं । जिनके प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी समस्त चेष्टाएँ बिना संकल्पके होती हैं, वे देहमें स्थित रहकर भी उसके गुणोंसे मुक्त हैं । उन तत्त्वज्ञ मुक्त पुरुषोंके शरीरको चाहे हिंसक लोग पीड़ा पहुँचायें और चाहे कभी कोई दैवयोगसे पूजा करने लगे—वे न तो किसीके सतानेसे दुखी होते हैं और न पूजा करनेसे सुखी । जो समदर्शी महात्मा गुण और दोषकी भेददृष्टिसे ऊपर उठ गये हैं, वे न तो अच्छे काम करनेवालेकी स्तुति करते हैं और न बुरे काम करनेवालेकी निन्दा; न वे किसीकी अच्छी बात सुनकर उसकी सराहना करते हैं और न बुरी बात सुनकर किसीको झिड़कते ही हैं । जीवन्मुक्त पुरुष न तो कुछ भला या बुरा काम करते हैं, न कुछ भला या बुरा कहते हैं और न सोचते ही हैं । वे व्यवहारमें अपनी समान वृत्ति रखकर आत्मानन्दमें ही मग्न रहते हैं और जड़के समान—मानो कोई मूर्ख हो, इस प्रकार विचरण करते रहते हैं ॥ ११—१७ ॥

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः ॥
गां दुग्धदोहामसतीं च भार्यां
देहं पराधीनमसत्प्रजां च।
वित्तं त्वतीर्थीकृतमङ्ग वाचं
हीनां मया रक्षति दुःखदुःखी ॥
यस्यां न मे पावनमङ्ग कर्म
स्थित्युद्भवप्राणनिरोधमस्य ।
लीलावतारेप्सितजन्म वा स्याद्
वन्ध्यां गिरं तां बिभृयान्न धीरः ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । ११ । १८—२०)

प्यारे उद्धव ! जो पुरुष वेदोंका तो पारगामी विद्वान् हो, परंतु परब्रह्मके ज्ञानसे शून्य हो, उसके परिश्रमका कोई फल नहीं है। वह तो वैसा ही है, जैसे बिना दूधकी गायका पालनेवाला। दूध न देनेवाली गाय, व्यभिचारिणी स्त्री, पराधीन शरीर, दुष्ट पुत्र, सत्पात्रके प्राप्त होनेपर भी दान न किया हुआ धन और मेरे गुणों-से रहित वाणी व्यर्थ है। इन वस्तुओंकी रखवाली करनेवाला दुःखपर दुःख ही भोगता रहता है। इसलिये उद्धव ! जिस वाणीमें जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयरूप मेरी लोकपावन लीलाका वर्णन न हो और लीलावतारोंमें भी मेरे लोकप्रिय राम-कृष्णादि अवतारोंका जिसमें यशोगान न हो, वह वाणी वन्ध्या है। बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि ऐसी वाणीका उच्चारण एवं श्रवण न करे ॥ १८—२० ॥

एवं जिज्ञासयापोह्य नानात्वभ्रममात्मनि।
उपारमेत विरजं मनो मय्यर्प्य सर्वगे ॥
यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम्।
मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचर ॥
श्रद्धालुर्मे कथाः शृण्वन् सुभद्रा लोकपावनीः।
गायन्ननुस्मरन् कर्म जन्म चाभिनयन् मुहुः ॥
मदर्थे धर्मकामार्थानाचरन् मदपाश्रयः।
लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव सनातने ॥
सत्संगलब्धया भक्त्या मयि मां स उपासिता।
स वै मे दर्शितं सद्भिरञ्जसा विन्दते पदम् ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । ११ । २१—२५)

प्रिय उद्धव ! जैसा कि पहले कहा गया है, आत्मजिज्ञासा और विचारके द्वारा आत्मामें जो अनेकता-का भ्रम है, उसे दूर कर दे और मुझ सर्वव्यापी परमात्मा-में अपना निर्मल मन लगा दे तथा संसारके व्यवहारोंसे उपराम हो जाय। यदि तुम अपना मन परब्रह्ममें स्थिर न कर सको, तो सारे कर्म निरपेक्ष होकर मेरे लिये ही करो। मेरी कथाएँ समस्त लोकोंको पवित्र करनेवाली एवं कल्याणस्वरूपिणी हैं, श्रद्धाके साथ उन्हें सुनना चाहिये। मेरे अवतार और लीलाओंका बार-बार गान, स्मरण और अभिनय करना चाहिये। मेरे आश्रित रहकर मेरे ही लिये धर्म, काम और अर्थका सेवन करना चाहिये। प्रिय उद्धव ! जो ऐसा करता है, उसे मुझ अविनाशी पुरुषके प्रति अनन्य प्रेममयी भक्ति प्राप्त हो जाती है। भक्तिकी प्राप्ति सत्सङ्गसे होती है; जिसे भक्ति प्राप्त हो जाती है, वह मेरी उपासना करता है, मेरे सांनिध्यका अनुभव करता है। इस प्रकार जब उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब वह संतोंके उपदेशोंके अनुसार उनके द्वारा बताये हुए मेरे परमपदको—वास्तविक स्वरूपको सहजहीमें प्राप्त हो जाता है ॥ २१—२५ ॥

उद्धव उवाच

साधुस्तवोत्तमश्लोक मतः कीदृग्विधः प्रभो।
भक्तिस्त्वय्युपयुज्येत कीदृशी सद्भिरादृता ॥
एतन्मे पुरुषाध्यक्ष लोकाध्यक्ष जगत्प्रभो।
प्रणतायानुरक्ताय प्रपन्नाय च कथ्यताम् ॥
त्वं ब्रह्म परमं व्योम पुरुषः प्रकृतेः परः।
अवतीर्णोऽसि भगवन् स्वेच्छोपात्तपृथग्वपुः ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । ११ । २६—२८)

उद्धवजीने पूछा—भगवन् ! बड़े-बड़े संत आपकी कीर्तिका गान करते हैं। आप कृपया बतलाइये कि आपके विचारसे संतपुरुषका क्या लक्षण है ? आपके प्रति कैसी भक्ति करनी चाहिये, जिसका संतलोग आदर करते हैं ? भगवन् ! आप ही ब्रह्मा आदि श्रेष्ठ देवता, सत्यादि लोक और चराचर जगत्के स्वामी हैं। मैं आपका विनीत, प्रेमी और शरणागत भक्त हूँ। आप मुझे भक्ति और भक्तका रहस्य बतलाइये। भगवन् ! मैं जानता हूँ कि आप प्रकृतिसे परे पुरुषोत्तम एवं चिदाकाशस्वरूप ब्रह्म हैं। आपसे भिन्न कुछ भी नहीं है; फिर भी आपने लीलाके लिये स्वेच्छासे ही यह अलग शरीर धारण करके अवतार लिया है। इसलिये वास्तवमें आप ही भक्ति और भक्तका रहस्य बतला सकते हैं ॥ २६—२८ ॥

श्रीभगवानुवाच

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिंचनः ।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः ।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥
आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान् ।
धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स सत्तमः ॥
ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः ॥

(श्रीमद्भागवत ११। ११। २९—३३)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्यारे उद्धव ! मेरा भक्त कृपाकी मूर्ति होता है। वह किसी भी प्राणीसे वैरभाव नहीं रखता और घोर-से-घोर दुःख भी प्रसन्नतापूर्वक सहता है। उसके जीवनका सार है सत्य और उसके मनमें किसी प्रकारकी पापवासना कभी नहीं आती। वह समदर्शी और सबका भला करनेवाला होता है। उसकी बुद्धि कामनाओंसे कलुषित नहीं होती। वह संयमी, मधुरस्वभाव और पवित्र होता है। संग्रह-परिग्रहसे सर्वथा दूर रहता है। किसी भी वस्तुके लिये वह कोई चेष्टा नहीं करता। परिमित भोजन करता है और शान्त रहता है। उसकी बुद्धि स्थिर होती है। उसे केवल मेरा ही भरोसा होता है और वह आत्मतत्त्वके चिन्तनमें सदा संलग्न रहता है। वह प्रमादरहित, गम्भीर स्वभाव और धैर्यवान् होता है। भूख-प्यास, शोक-मोह और जन्म-मृत्यु—ये छहों उसके वशमें रहते हैं। वह स्वयं तो कभी किसीसे किसी प्रकारका सम्मान नहीं चाहता, परंतु दूसरोंका सम्मान करता रहता है। मेरे सम्बन्धकी बातें दूसरोंको समझानेमें बड़ा निपुण होता है और सभीके साथ मित्रताका व्यवहार करता है। उसके हृदयमें करुणा भरी होती है। मेरे तत्त्वका उसे यथार्थ ज्ञान होता है। प्रिय उद्धव ! मैंने वेदों और शास्त्रोंके रूपमें मनुष्योंके धर्मका उपदेश किया है, उनके पालनसे अन्तःकरण-शुद्धि आदि गुण और उल्लङ्घनसे नरकादि दुःख प्राप्त होते हैं; परंतु मेरा जो भक्त उन्हें भी अपने ध्यान आदिमें विक्षेप समझकर त्याग देता है और केवल मेरे ही भजनमें लगा रहता है, वह परमसंत है। मैं कौन हूँ, कितना बड़ा हूँ, कैसा हूँ—इन बातोंको जाने, चाहे न जाने; किंतु जो अनन्यभावसे मेरा भजन करते हैं, वे मेरे विचारसे मेरे परम भक्त हैं ॥ २९—३३ ॥

मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम् ।
परिचर्या स्तुतिः प्रह्वगुणकर्मानुकीर्तनम् ॥
मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धव ।
सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम् ॥
मज्जन्मकर्मकथनं मम पर्वानुमोदनम् ।
गीतताण्डववादित्रगोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सवः ॥
यात्रा बलिविधानं च सर्ववार्षिकपर्वसु ।
वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम् ॥
ममार्चास्थापने श्रद्धा स्वतः संहत्य चोद्यमः ।
उद्यानोपवनाक्रीडपुरमन्दिरकर्मणि ॥
सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तनैः ।

गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद् यदमायया ॥
अमानित्वमदम्भित्वं कृतस्यापरिकीर्तनम् ।
अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम् ॥
यद् यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥
सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणो गावो वैष्णवः खं मरुज्जलम् ।
भूरात्मा सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे ॥
सूर्ये तु विद्यया त्रय्या हविषाग्नौ यजेत माम् ।
आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये गोष्वङ्ग यवसादिना ॥
वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया ।
वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैस्तोयपुरस्कृतैः ॥
स्थण्डिले मन्त्रहृदयैर्भोगैरात्मानमात्मनि ।
क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम् ॥
धिष्ण्येष्वेष्विति मद्रूपं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः ।
युक्तं चतुर्भुजं शान्तं ध्यायन्नर्चेत् समाहितः ॥
इष्टापूर्तेन मामेवं यो यजेत समाहितः ।
लभते मयि सद्भक्तिं मत्स्मृतिः साधुसेवया ॥
प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनोद्धव ।
नोपायो विद्यते सध्र्यङ् प्रायणं हि सतामहम् ॥
अथैतत् परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन ।
सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ११ । ३४—४९)

प्यारे उद्धव ! मेरी मूर्ति और मेरे भक्तजनोंका दर्शन, स्पर्श, पूजा, सेवा-शुश्रूषा, स्तुति और प्रणाम करे तथा मेरे गुण और कर्मोंका कीर्तन करे । उद्धव ! मेरी कथा सुननेमें श्रद्धा रक्खे और निरन्तर मेरा ध्यान करता रहे । जो कुछ मिले, वह मुझे समर्पित कर दे और दास्यभावसे मुझे आत्मनिवेदन करे । मेरे दिव्य जन्म और कर्मोंकी चर्चा करे । जन्माष्टमी, रामनवमी आदि पर्वोंपर आनन्दोत्सव मनावे और संगीत, नृत्य, बाजे और समाजोंद्वारा मेरे मन्दिरोंमें उत्सव करे-करावे । वार्षिक त्यौहारोंके दिन मेरे स्थानोंकी यात्रा करे, शोभायात्रा निकाले तथा विविध उपहारोंसे मेरी पूजा करे । वैदिक अथवा तान्त्रिक पद्धतिसे दीक्षा ग्रहण करे । मेरे व्रतोंका पालन करे । मन्दिरोंमें मेरी मूर्तियोंकी स्थापनामें श्रद्धा रक्खे । यदि यह काम अकेला न कर सके, तो औरोंके साथ मिलकर उद्योग करे । मेरे लिये पुष्पवाटिका, बगीचे, क्रीड़ाके स्थान, नगर और मन्दिर बनवावे । सेवककी भाँति श्रद्धा-भक्तिके साथ निष्कपट भावसे मेरे मन्दिरोंकी सेवा-शुश्रूषा करे—झाड़े-बुहारे, लीपे-पोते, छिड़काव करे और तरह-तरहके चौक पूरे । अभिमान न करे, दम्भ न करे । साथ ही अपने शुभ कर्मोंका ढिंढोरा भी न पीटे । प्रिय उद्धव ! मेरे चढ़ावेको, अपने काममें लगानेकी बात तो दूर रही, मुझे समर्पित दीपकके प्रकाशसे भी अपना काम न ले । किसी दूसरे देवताकी चढ़ायी हुई वस्तु मुझे न चढ़ावे । संसारमें जो वस्तु अपनेको सबसे प्रिय, सबसे अभीष्ट जान पड़े, वह मुझे समर्पित कर दे । ऐसा करनेसे वह वस्तु अनन्त फल देनेवाली हो जाती है । भद्र ! सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौ, वैष्णव, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, आत्मा और समस्त प्राणी—ये सब मेरी पूजाके स्थान हैं । प्यारे उद्धव ! ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेदके मन्त्रोंद्वारा सूर्यमें मेरी पूजा करनी चाहिये । हवनके द्वारा अग्निमें, आतिथ्यके द्वारा श्रेष्ठ ब्राह्मणमें और हरी-हरी घास आदिके द्वारा गौमें मेरी पूजा करे । भाई-बन्धुके समान सत्कारके द्वारा वैष्णवमें, निरन्तर ध्यानमें लगे रहकर हृदयाकाशमें, मुख्य प्राण समझकर वायुमें और जल-पुष्प आदि सामग्रियोंद्वारा जलमें मेरी आराधना की जाती है । गुप्तमन्त्रोंद्वारा न्यास करके मिट्टीकी वेदीमें, उपयुक्त भोगोंद्वारा आत्मामें और समदृष्टिद्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरी आराधना करनी चाहिये; क्योंकि मैं सभीमें क्षेत्रज्ञ—आत्माके रूपसे स्थित हूँ । इन सभी स्थानोंमें शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म धारण किये चार भुजाओंवाले शान्तमूर्ति श्रीभगवान् विराजमान हैं, ऐसा ध्यान करते हुए एकाग्रताके साथ मेरी पूजा करनी

चाहिये । इस प्रकार जो मनुष्य एकाग्रचित्तसे यज्ञ-यागादि 'इष्ट' और कुआँ-बावली बनवाना आदि 'पूर्त'-कर्मोंके द्वारा मेरी पूजा करता है, उसे मेरी श्रेष्ठ भक्ति प्राप्त होती है तथा संतपुरुषोंकी सेवा करनेसे मेरे स्वरूपका ज्ञान भी हो जाता है । प्यारे उद्धव ! मेरा ऐसा निश्चय है कि सत्सङ्ग और भक्तियोग—इन दो साधनोंका एक साथ ही अनुष्ठान करते रहना चाहिये । प्रायः इन दोनोंके अतिरिक्त संसारसागरसे पार होनेका और कोई उपाय नहीं है; क्योंकि संतपुरुष मुझे अपना आश्रय मानते हैं और मैं सदा-सर्वदा उनके पास बना रहता हूँ । प्यारे उद्धव ! अब मैं तुम्हें एक अत्यन्त गोपनीय परम रहस्यकी बात बतलाऊँगा; क्योंकि तुम मेरे प्रिय सेवक, हितैषी, सुहृद् और प्रेमी सखा हो; साथ ही सुननेके भी इच्छुक हो ॥ ३४—४९ ॥

अध्याय षष्ठ

सत्सङ्गकी महिमा, कर्म तथा कर्मत्यागकी विधि

श्रीभगवानुवाच

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः ।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥
सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः ।
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः ॥
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः ।
रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगेऽनघ ॥
बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः ।
वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः ॥
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः ।
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे ॥
ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः ।
अव्रतातप्ततपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः ॥
केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः ।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥
यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः ।
व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि

(श्रीमद्भागवत ११ । १२ । १—९)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्धव ! जगत्में जितनी आसक्तियाँ हैं, उन्हें सत्सङ्ग नष्ट कर देता है । यही कारण है कि सत्सङ्ग जिस प्रकार मुझे वशमें कर लेता है, वैसा साधन न योग है न सांख्य, न धर्मपालन और न स्वाध्याय । तपस्या, त्याग, इष्टापूर्त और दक्षिणासे भी मैं वैसा प्रसन्न नहीं होता । कहाँतक कहूँ—व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ और यम-नियम भी सत्सङ्गके समान मुझे वशमें करनेमें समर्थ नहीं हैं । निष्पाप उद्धव ! यह एक युगकी नहीं, सभी युगोंकी एक-सी बात है । सत्सङ्गके द्वारा ही दैत्य-राक्षस, पशु-पक्षी, गन्धर्व-अप्सरा, नाग-सिद्ध, चारण-गुह्यक और विद्याधरोंको मेरी प्राप्ति हुई है । मनुष्योंमें वैश्य, शूद्र, स्त्री और अन्त्यज आदि रजोगुणी-तमोगुणी प्रकृतिके बहुत-से जीवोंने मेरा परमपद प्राप्त किया है । वृत्रासुर, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मय दानव, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान्, जाम्बवान्, गजेन्द्र, जटायु, तुलाधार वैश्य, धर्मव्याध, कुब्जा, व्रजकी गोपियाँ, यज्ञपत्नियाँ और दूसरे लोग भी सत्सङ्गके प्रभावसे ही मुझे प्राप्त कर सके हैं । उन लोगोंने न तो वेदोंका स्वाध्याय किया था और न विधिपूर्वक महापुरुषोंकी उपासना की थी । इसी प्रकार उन्होंने कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि व्रत और कोई तपस्या भी नहीं की थी । बस, केवल सत्सङ्गके प्रभावसे ही

वे मुझे प्राप्त हो गये। गोपियाँ, गायें, यमलार्जुन आदि वृक्ष, व्रजके हरिन आदि पशु, कालिय आदि नाग—ये तो साधन-साध्यके सम्बन्धमें सर्वथा ही मूढ़बुद्धि थे। ये ही नहीं, ऐसे-ऐसे और भी बहुत हो गये हैं, जिन्होंने केवल प्रेमपूर्ण भावके द्वारा ही अनायास मेरी प्राप्ति कर ली और कृतकृत्य हो गये। उद्धव! बड़े-बड़े प्रयत्नशील साधक योग, सांख्य, दान, व्रत, तपस्या, यज्ञ, श्रुतियोंकी व्याख्या, स्वाध्याय और संन्यास आदि साधनोंके द्वारा मुझे नहीं प्राप्त कर सकते, परंतु सत्सङ्गके द्वारा तो मैं अत्यन्त सुलभ हो जाता हूँ॥ १—९॥

रामेण सार्धं मथुरां प्रणीते
श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ताः।
विगाढभावेन न मे वियोग-
तीव्राधयोऽन्यं ददृशुः सुखाय॥
तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता
मयैव वृन्दावनगोचरेण।
क्षणार्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां
हीना मया कल्पसमा बभूवुः॥
ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्ध-
धियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे॥
मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः।
ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः॥
तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः॥
(श्रीमद्भागवत ११। १२। १०—१५)

उद्धव! जिस समय अक्रूरजी भैया बलरामजीके साथ मुझे व्रजसे मथुरा ले आये, उस समय गोपियोंका हृदय गाढ़ प्रेमके कारण मेरे अनुरागके रंगमें रँगा हुआ था। मेरे वियोगकी तीव्र व्याधिसे वे व्याकुल हो रही थीं और मेरे अतिरिक्त कोई भी दूसरी वस्तु उन्हें सुखकारक नहीं जान पड़ती थी। तुम जानते हो कि मैं ही उनका एकमात्र प्रियतम हूँ। जब मैं वृन्दावनमें था, तब उन्होंने बहुत-सी रात्रियाँ—वे रासकी रात्रियाँ मेरे साथ आधे क्षणके समान बिता दी थीं; परंतु प्यारे उद्धव! मेरे बिना वे ही रात्रियाँ उनके लिये एक-एक कल्पके समान हो गयीं। जैसे बड़े-बड़े ऋषि-मुनि समाधिमें स्थित होकर तथा गङ्गा आदि बड़ी-बड़ी नदियाँ समुद्रमें मिलकर अपने नाम-रूप खो देती हैं, वैसे ही वे गोपियाँ परम प्रेमके द्वारा मुझमें इतनी तन्मय हो गयी थीं कि उन्हें लोक-परलोक, शरीर और अपने कहलानेवाले पति-पुत्रादिकी भी सुध-बुध नहीं रह गयी थी। उद्धव! उन गोपियोंमें बहुत-सी तो ऐसी थीं, जो मेरे वास्तविक स्वरूपको नहीं जानती थीं। वे मुझे भगवान् न जानकर केवल प्रियतम ही समझती थीं और जारभावसे मुझसे मिलनेकी आकांक्षा किया करती थीं। उन साधनहीन सैकड़ों, हजारों अबलाओंने केवल सङ्गके प्रभावसे ही मुझ परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लिया। इसलिये उद्धव! तुम श्रुति-स्मृति, विधि-निषेध, प्रवृत्ति-निवृत्ति और सुननेयोग्य तथा सुने हुए विषयका भी परित्याग करके सर्वत्र मेरी ही भावना करते हुए समस्त प्राणियोंके आत्मस्वरूप मुझ एकको ही शरण सम्पूर्ण रूपसे ग्रहण करो; क्योंकि मेरी शरणमें आ जानेसे तुम सर्वथा निर्भय हो जाओगे॥ १०—१५॥

उद्धव उवाच

संशयः शृण्वतो वाचं तव योगेश्वरेश्वर।
न निवर्तत आत्मस्थो येन भ्राम्यति मे मनः॥
(श्रीमद्भागवत ११। १२। १६)

उद्धवजीने कहा—सनकादि योगेश्वरोंके भी परमेश्वर प्रभो! यों तो मैं आपका उपदेश सुन रहा हूँ; परंतु इससे मेरे

मनका संदेह मिट नहीं रहा है । मुझे स्वधर्मका पालन करना चाहिये या सब कुछ छोड़कर आपकी शरण ग्रहण करनी चाहिये, मेरा मन इसी दुविधामें लटक रहा है । आप कृपा करके मुझे भलीभाँति समझाइये ॥ १६ ॥

श्रीभगवानुवाच

स एष जीवो विवरप्रसूतिः
प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः ।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं
मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः ॥
यथानलः खेऽनिलबन्धुरूष्मा
बलेन दारुण्यधिमथ्यमानः ।
अणुः प्रजातो हविषा समिध्यते
तथैव मे व्यक्तिरियं हि वाणी ॥
एवं गदिः कर्म गतिर्विसर्गो
घ्राणो रसो दृक् स्पर्शः श्रुतिश्च ।
संकल्पविज्ञानमथाभिमानः
सूत्रं रजःसत्त्वतमोविकारः ॥
अयं हि जीवस्त्रिवृदब्जयोनि-
रव्यक्त एको वयसा स आद्यः ।
विश्लिष्टशक्तिर्बहुधेव भाति
बीजानि योनिं प्रतिपद्य यद्वत् ॥
यस्मिन्निदं प्रोतमशेषमोतं
पटो यथा तन्तुवितानसंस्थः ।
य एष संसारतरुः पुराणः
कर्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते ॥
द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः
पञ्चस्कन्धः पञ्चरसप्रसूतिः ।
दशैकशाखो द्विसुपर्णनीड-
स्त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कं प्रविष्टः ॥
अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा
ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः ।
हंसा य एकं बहुरूपमिज्यै-
र्मायामयं वेद स वेद वेदम् ॥
एवं गुरूपासनयैकभक्त्या
विद्याकुठारेण शितेन धीरः ।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः
सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । १२ । १७—२४)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव ! जिस परमात्माका परोक्षरूपसे वर्णन किया जाता है, वे साक्षात् अपरोक्ष—प्रत्यक्ष ही हैं; क्योंकि वे ही निखिल वस्तुओंको सत्ता-स्फूर्ति—जीवन-दान करनेवाले हैं, वे ही पहले अनाहत नादस्वरूप परा वाणी नामक प्राणके साथ 'मूलाधार' चक्रमें प्रवेश करते हैं । उसके बाद 'मणिपूरक' चक्र (नाभिस्थान) में आकर पश्यन्ती वाणीका मनोमय सूक्ष्मरूप धारण करते हैं । तदनन्तर कण्ठदेशमें स्थित 'विशुद्ध' नामक चक्रमें आते हैं और वहाँ मध्यमा वाणीके रूपमें व्यक्त होते हैं । फिर क्रमशः मुखमें आकर ह्रस्व-दीर्घादि मात्रा, उदात्त-अनुदात्त आदि स्वर तथा ककारादि वर्णरूप स्थूल—वैखरी वाणीका रूप ग्रहण कर लेते हैं । अग्नि आकाशमें ऊष्मा अथवा विद्युत्के रूपसे अव्यक्त रूपमें स्थित है । जब बलपूर्वक काष्ठ-मन्थन किया जाता है, तब वायुकी सहायतासे वह पहले अत्यन्त सूक्ष्म चिनगारीके रूपमें प्रकट होती है और फिर आहुति देनेपर प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है, वैसे ही मैं भी शब्दब्रह्म-स्वरूपसे क्रमशः परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणीके रूपमें प्रकट होता हूँ । इसी प्रकार बोलना, हाथोंसे काम करना, पैरोंसे चलना, मूत्रेन्द्रिय तथा गुदासे मल-मूत्र त्यागना, सूँघना, चखना, देखना, छूना, सुनना, मनसे संकल्प-विकल्प करना, बुद्धिसे समझना, अहंकारके द्वारा अभिमान करना, महत्तत्त्वके रूपमें सबका ताना-बाना बनना तथा सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणके सारे विकार कहाँतक कहूँ—समस्त कर्ता, कारण और कर्म मेरी ही अभिव्यक्तियाँ हैं । यह सबको जीवित करनेवाला परमेश्वर ही इस त्रिगुणमय ब्रह्माण्ड-कमलका कारण है ।

यह आदिपुरुष पहले एक और अव्यक्त था। जैसे उपजाऊ खेतमें बोया हुआ बीज शाखा-पत्र-पुष्पादि अनेक रूप धारण कर लेता है, वैसे ही कालगतिसे मायाका आश्रय लेकर शक्ति-विभाजनके द्वारा परमेश्वर ही अनेक रूपोंमें प्रतीत होने लगता है। जैसे तागोंके ताने-बानेमें वस्त्र ओतप्रोत रहता है, वैसे ही यह सारा विश्व परमात्मामें ही ओतप्रोत है। जैसे सूतके बिना वस्त्रका अस्तित्व नहीं है; किंतु सूत वस्त्रके बिना भी रह सकता है, वैसे ही इस जगत्‌के न रहनेपर भी परमात्मा रहता है; किंतु यह जगत् परमात्म-स्वरूप ही है—परमात्माके बिना इसका कोई अस्तित्व नहीं है। यह संसार-वृक्ष अनादि और प्रवाहरूपसे नित्य है। इसका स्वरूप ही है—कर्मकी परम्परा। इस वृक्षके फल-फूल हैं—मोक्ष और भोग। इस संसार-वृक्षके दो बीज हैं—पाप और पुण्य। असंख्य वासनाएँ जड़ें हैं और तीन गुण तने हैं। पाँच भूत इसकी मोटी-मोटी प्रधान शाखाएँ हैं और शब्दादि पाँच विषय रस हैं, ग्यारह इन्द्रियाँ शाखा हैं तथा जीव और ईश्वर—दो पक्षी इसमें घोंसला बनाकर निवास करते हैं। इस वृक्षमें वात, पित्त और कफरूप तीन तरहकी छाल है। इसमें दो तरहके फल लगते हैं—सुख और दुःख। यह विशाल वृक्ष सूर्यमण्डल तक फैला हुआ है। (इस सूर्यमण्डलका भेदन कर जानेवाले मुक्त पुरुष फिर संसार-चक्रमें नहीं पड़ते।) जो गृहस्थ शब्द-रूप-रस आदि विषयोंमें फँसे हुए हैं, वे कामनासे भरे हुए होनेके कारण गीधके समान हैं। वे इस वृक्षका दुःखरूप फल भोगते हैं; क्योंकि वे अनेक प्रकारके कर्मोंके बन्धनमें फँसे रहते हैं। जो अरण्यवासी परमहंस विषयोंसे विरक्त हैं, वे इस वृक्षमें राजहंसके समान हैं और वे इसका सुखरूप फल भोगते हैं। प्रिय उद्धव! वास्तवमें मैं एक ही हूँ। यह मेरा जो अनेकों प्रकारका रूप है, वह तो केवल मायामय है। जो इस बातको गुरुओंके द्वारा समझ लेता है, वही वास्तवमें समस्त वेदोंका रहस्य जानता है। अतः उद्धव! तुम इस प्रकार गुरुदेवकी उपासनारूप अनन्य भक्तिके द्वारा अपने ज्ञानकी कुल्हाड़ी-को तीखी कर लो और उसके द्वारा धैर्य एवं सावधानी-से जीवभावको काट डालो। फिर परमात्म-स्वरूप होकर उस वृत्तिरूप अस्त्रोंको भी छोड़ दो और अपने अखण्ड स्वरूपमें ही स्थित हो रहो॥ १७—२४॥

अध्याय सप्तम

हंस-रूपसे सनकादिको दिये गये उपदेशका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

सत्त्वं रजस्तम इति गुणा बुद्धेर्न चात्मनः।
सत्त्वेनान्यतमौ हन्यात् सत्त्वं सत्त्वेन चैव हि॥
सत्त्वाद् धर्मो भवेद् वृद्धात् पुंसो मद्भक्तिलक्षणः।
सात्त्विकोपासया सत्त्वं ततो धर्मः प्रवर्तते॥
धर्मो रजस्तमो हन्यात् सत्त्ववृद्धिरनुत्तमः।
आशु नश्यति तन्मूलो ह्यधर्म उभये हते॥
आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः॥
तत्तत् सात्त्विकमेवैषां यद् यद् वृद्धाः प्रचक्षते।
निन्दन्ति तामसं तत्तद् राजसं तदुपेक्षितम्॥
सात्त्विकान्येव सेवेत पुमान् सत्त्वविवृद्धये।
ततो धर्मस्ततो ज्ञानं यावत् स्मृतिरपोहनम्॥
वेणुसंघर्षजो वह्निर्दग्ध्वा शाम्यति तद्वनम्।
एवं गुणव्यत्ययजो देहः शाम्यति तत्क्रियः॥

(श्रीमद्भागवत ११। १३। १—७)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्धव! सत्त्व, रज और तम—ये तीनों बुद्धि (प्रकृति) के गुण हैं,

आत्माके नहीं। सत्त्वके द्वारा रज और तम—इन दो गुणोंपर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिये। तदनन्तर सत्त्वगुणकी शान्त वृत्तिके द्वारा उसकी दया आदि वृत्तियों-को भी शान्त कर देना चाहिये। जब सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है, तभी जीवको मेरे भक्तिरूप स्वधर्मकी प्राप्ति होती है। निरन्तर सात्त्विक वस्तुओंका सेवन करनेसे ही सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है और तब मेरे भक्तिरूप स्वधर्ममें प्रवृत्ति होने लगती है। जिस धर्मके पालनसे सत्त्वगुणकी वृद्धि हो, वही सबसे श्रेष्ठ है। वह धर्म रजोगुण और तमोगुणको नष्ट कर देता है। जब वे दोनों नष्ट हो जाते हैं, तब उन्हींके कारण होनेवाला अधर्म भी शीघ्र ही मिट जाता है। शास्त्र, जल, प्रजाजन, देश, समय, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार—ये दस वस्तुएँ यदि सात्त्विक हों तो सत्त्वगुणकी, राजसिक हों तो रजोगुणकी और तामसिक हों तो तमोगुणकी वृद्धि करती हैं। इनमेंसे शास्त्रज्ञ महात्मा जिनकी प्रशंसा करते हैं, वे सात्त्विक हैं; जिनकी निन्दा करते हैं, वे तामसिक हैं और जिनकी उपेक्षा करते हैं, वे वस्तुएँ राजसिक हैं। जबतक अपने आत्माका साक्षात्कार तथा स्थूल-सूक्ष्म शरीर और उनके कारण तीनों गुणोंकी निवृत्ति न हो, तबतक मनुष्यको चाहिये कि सत्त्वगुणकी वृद्धिके लिये सात्त्विक शास्त्र आदिका ही सेवन करे; क्योंकि उससे धर्मकी वृद्धि होती है और धर्मकी वृद्धिसे अन्तःकरण शुद्ध होकर आत्मतत्त्वका ज्ञान होता है। बाँसोंकी रगड़से आग पैदा होती है और वह उनके सारे वनको जलाकर शान्त हो जाती है। वैसे ही यह शरीर गुणोंके वैषम्यसे उत्पन्न हुआ है। विचारद्वारा मन्थन करनेपर इससे ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होती है और वह समस्त शरीरों एवं गुणोंको भस्म करके स्वयं भी शान्त हो जाती है॥ १—७॥

उद्धव उवाच

विदन्ति मर्त्याः प्रायेण विषयान् पदमापदाम्।
तथापि भुञ्जते कृष्ण तत् कथं श्वखराजवत्॥

(श्रीमद्भागवत ११। १३। ८)

उद्धवजीने पूछा—भगवन्! प्रायः सभी मनुष्य इस बातको जानते हैं कि विषय विपत्तियोंके घर हैं; फिर भी वे कुत्ते, गधे और बकरेके समान दुःख सहन करके भी उन्हींको ही भोगते रहते हैं। इसका क्या कारण है?॥ ८॥

श्रीभगवानुवाच

अहमित्यन्यथाबुद्धिः प्रमत्तस्य यथा हृदि।
उत्सर्पति रजो घोरं ततो वैकारिकं मनः॥
रजोयुक्तस्य मनसः संकल्पः सविकल्पकः।
ततः कामो गुणध्यानाद् दुस्सहः स्याद्धि दुर्मतेः॥
करोति कामवशगः कर्माण्यविजितेन्द्रियः।
दुःखोदर्काणि सम्पश्यन् रजोवेगविमोहितः॥
रजस्तमोभ्यां यदपि विद्वान् विक्षिप्तधीः पुनः।
अतन्द्रितो मनो युञ्जन् दोषदृष्टिर्न सज्जते॥
अप्रमत्तोऽनुयुञ्जीत मनो मय्यर्पयञ्छनैः।
अनिर्विण्णो यथाकालं जितश्वासो जितासनः॥
एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धाऽऽवेश्यते यथा॥

(श्रीमद्भागवत ११। १३। ९—१४)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! जीव जब अज्ञानवश अपने स्वरूपको भूलकर हृदयसे सूक्ष्म-स्थूलादि शरीरोंमें अहंबुद्धि कर बैठता है—जो कि सर्वथा भ्रम ही है—तब उसका सत्त्वप्रधान मन घोर रजोगुणकी ओर झुक जाता है, उससे व्याप्त हो जाता है। बस, जहाँ मनमें रजोगुणकी प्रधानता हुई कि उसमें संकल्प-विकल्पोंका ताँता बँध जाता है। अब वह विषयोंका चिन्तन करने लगता है और अपनी दुर्बुद्धिके कारण कामके फंदेमें फँस जाता है, जिससे फिर छुटकारा होना बहुत ही कठिन है। अब वह

अज्ञानी कामवश अनेकों प्रकारके कर्म करने लगता है और इन्द्रियोंके वश होकर, यह जानकर भी कि इन कर्मोंका अन्तिम फल दुःख ही है, उन्हींको करता है। उस समय वह रजोगुणके तीव्र वेगसे अत्यन्त मोहित रहता है। यद्यपि विवेकी पुरुषका चित्त भी कभी-कभी रजोगुण और तमोगुणके वेगसे विक्षिप्त होता है, तथापि उसकी विषयोंमें दोषदृष्टि बनी रहती है; इसलिये वह बड़ी सावधानीसे अपने चित्तको एकाग्र करनेकी चेष्टा करता रहता है, जिससे उसकी विषयोंमें आसक्ति नहीं होती। साधकको चाहिये कि आसन और प्राणवायुपर विजय प्राप्त कर अपनी शक्ति और समयके अनुसार बड़ी सावधानीसे धीरे-धीरे मुझमें अपना मन लगावे और इस प्रकार अभ्यास करते समय अपनी असफलता देखकर तनिक भी ऊबे नहीं, बल्कि और भी उत्साहसे उसीमें जुड़ जाय। प्रिय उद्धव! मेरे शिष्य सनकादि परमर्षियोंने योगका यही स्वरूप बताया है कि साधक अपने मनको सब ओरसे खींचकर विराट् आदिमें नहीं, साक्षात् मुझ श्रीकृष्णमें ही पूर्णरूपसे लगा दें॥ ९—१४॥

उद्धव उवाच

यदा त्वं सनकादिभ्यो येन रूपेण केशव।
योगमादिष्टवानेतद् रूपमिच्छामि वेदितुम्॥

(श्रीमद्भागवत ११। १३। १५)

उद्धवजीने कहा—श्रीकृष्ण! आपने जिस समय जिस रूपसे सनकादि परमर्षियोंको योगका आदेश दिया था, उस रूपको मैं जानना चाहता हूँ॥ १५॥

श्रीभगवानुवाच

पुत्रा हिरण्यगर्भस्य मानसाः सनकादयः।
पप्रच्छुः पितरं सूक्ष्मां योगस्यैकान्तिकीं गतिम्॥

(श्रीमद्भागवत ११। १३। १६)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! सनकादि परमर्षि ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं। उन्होंने एक बार अपने पितासे योगकी सूक्ष्म अन्तिम सीमाके सम्बन्धमें इस प्रकार प्रश्न किया था॥ १६॥

सनकादय ऊचुः

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो।
कथमन्योन्यसंत्यागो मुमुक्षोरतितितीर्षोः॥

(श्रीमद्भागवत ११। १३। १७)

सनकादि परमर्षियोंने पूछा—पिताजी! चित्त गुणों अर्थात् विषयोंमें घुसा ही रहता है और गुण भी चित्तकी एक-एक वृत्तिमें प्रविष्ट रहते ही हैं। अर्थात् चित्त और गुण आपसमें मिले-जुले ही रहते हैं। ऐसी स्थितिमें जो पुरुष इस संसार-सागरसे पार होकर मुक्तिपद प्राप्त करना चाहता है, वह इन दोनोंको एक-दूसरेसे अलग कैसे कर सकता है॥ १७॥

श्रीभगवानुवाच

एवं पृष्टो महादेवः स्वयंभूर्भूतभावनः।
ध्यायमानः प्रश्नबीजं नाभ्यपद्यत कर्मधीः॥
स मामचिन्तयद् देवः प्रश्नपारतितीर्षया।
तस्याहं हंसरूपेण सकाशमगमं तदा॥
दृष्ट्वा मां त उपव्रज्य कृत्वा पादाभिवन्दनम्।
ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा पप्रच्छुः को भवानिति॥
इत्यहं मुनिभिः पृष्टस्तत्त्वजिज्ञासुभिस्तदा।
यदवोचमहं तेभ्यस्तदुद्धव निबोध मे॥
वस्तुनो यद्यनानात्वमात्मनः प्रश्न ईदृशः।
कथं घटेत वो विप्रा वक्तुर्वा मे क आश्रयः॥
पञ्चात्मकेषु भूतेषु समानेषु च वस्तुतः।
को भवानिति वः प्रश्नो वाचारम्भो ह्यनर्थकः॥
मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥
गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रजाः।
जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः॥
गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया।

गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत् ॥
जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः ।
तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः ॥
यर्हि संसृतिबन्धोऽयमात्मनो गुणवृत्तिदः ।
मयि तुर्ये स्थितो जह्यात् त्यागस्तद् गुणचेतसाम् ॥
अहंकारकृतं बन्धमात्मनोऽर्थविपर्ययम् ।
विद्वान् निर्विद्य संसारचिन्तां तुर्ये स्थितस्त्यजेत् ॥
यावन्नानार्थधीः पुंसो न निवर्तेत युक्तिभिः ।
जागर्त्यपि स्वपन्नज्ञः स्वप्ने जागरणं यथा ॥
असत्त्वादात्मनोऽन्येषां भावानां तत्कृता भिदा ।
गतयो हेतवश्चास्य मृषा स्वप्नदृशो यथा ॥
यो जागरे बहिरनुक्षणधर्मिणोऽर्थान्
भुङ्क्ते समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृक्षान् ।
स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः
स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः ॥
एवं विमृश्य गुणतो मनसस्त्र्यवस्था
मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः ।
संछिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्ण-
ज्ञानासिना भजत माखिलसंशयाधिम् ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । १३ । १८—३३)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्धव ! यद्यपि ब्रह्माजी सब देवताओंके शिरोमणि, स्वयम्भू और प्राणियोंके जन्मदाता हैं । फिर भी सनकादि परमर्षियोंके इस प्रकार पूछनेपर ध्यान करके भी वे इस प्रश्नका मूल कारण न समझ सके; क्योंकि उनकी बुद्धि कर्म-प्रवण थी । उद्धव ! उस समय ब्रह्माजीने इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये भक्तिभावसे मेरा चिन्तन किया । तब मैं हंसका रूप धारण करके उनके सामने प्रकट हुआ । मुझे देखकर सनकादि ब्रह्माजीको आगे करके मेरे पास आये और उन्होंने मेरे चरणोंकी वन्दना करके मुझसे पूछा कि 'आप कौन हैं ?' प्रिय उद्धव ! सनकादि परमार्थ-तत्त्वके जिज्ञासु थे; इसलिये उनके पूछनेपर उस समय मैंने जो कुछ कहा वह तुम मुझसे सुनो—'ब्राह्मणो ! यदि परमार्थरूप वस्तु नानात्वसे सर्वथा रहित है, तो आत्माके सम्बन्धमें आपलोगोंका ऐसा प्रश्न कैसे युक्तिसंगत हो सकता है ? अथवा मैं यदि उत्तर देनेके लिये बोलूँ भी तो किस जाति, गुण, क्रिया और सम्बन्ध आदिका आश्रय लेकर उत्तर दूँ ? देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी शरीर पञ्चभूतात्मक होनेके कारण अभिन्न ही हैं और परमार्थरूपसे भी अभिन्न हैं । ऐसी स्थितिमें 'आप कौन हैं ?' आपलोगों-का यह प्रश्न ही केवल वाणीका व्यवहार है; विचार-पूर्वक नहीं है, अतः निरर्थक है । मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ, मुझसे भिन्न और कुछ नहीं है । यह सिद्धान्त आपलोग तत्त्वविचारके द्वारा समझ लीजिये । पुत्रो ! यह चित्त चिन्तन करते-करते विषयाकार हो जाता है और विषय चित्तमें प्रविष्ट हो जाते हैं; यह बात सत्य है, तथापि विषय और चित्त-ये दोनों ही मेरे स्वरूपभूत जीवके देह हैं—उपाधि हैं । अर्थात् आत्माका चित्त और विषयके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है । इसलिये बार-बार विषयोंका सेवन करते रहनेसे जो चित्त विषयोंमें आसक्त हो गया है और विषय भी चित्तमें प्रविष्ट हो गये हैं, इन दोनोंको अपने वास्तविकसे अभिन्न मुझ परमात्माका साक्षात्कार करके त्याग देना चाहिये । जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ सत्त्वादि गुणोंके अनुसार होती हैं और बुद्धिकी वृत्तियाँ हैं, सच्चिदानन्द-का स्वभाव नहीं । इन वृत्तियोंका साक्षी होनेके कारण जीव उनसे विलक्षण है । यह सिद्धान्त श्रुति, युक्ति और अनुभूतिसे युक्त है; क्योंकि बुद्धि-वृत्तियोंके द्वारा होनेवाला यह बन्धन ही आत्मामें त्रिगुणमयी वृत्तियोंका दान करता है । इसलिये तीनों अवस्थाओंसे विलक्षण और उनमें अनुगत मुझ तुरीय तत्त्वमें स्थित होकर इस

बुद्धिके बन्धनका परित्याग कर दे। तब विषय और चित्त दोनोंका युगपत् त्याग हो जाता है। यह बन्धन अहंकारकी ही रचना है और यही आत्माके परिपूर्णतम सत्य, अखण्ड ज्ञान और परमानन्द-स्वरूपको छिपा देता है। इस बातको जानकर विरक्त हो जाय और अपने तीन अवस्थाओंमें अनुगत तुरीय स्वरूपमें होकर संसारकी चिन्ताको छोड़ दे। जबतक पुरुषकी भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें सत्यत्व-बुद्धि, अहं-बुद्धि और मम-बुद्धि युक्तियोंके द्वारा निवृत्त नहीं हो जाती, तबतक वह अज्ञानी यद्यपि जागता है तथापि सोता हुआ-सा रहता है—जैसे स्वप्नावस्थामें जान पड़ता है कि मैं जाग रहा हूँ। आत्मासे अन्य देह आदि प्रतीयमान नामरूपात्मक प्रपञ्चका कुछ भी अस्तित्व नहीं है। इसलिये उनके कारण होनेवाले वर्णाश्रमादि भेद, स्वर्गादि फल और उनके कारणभूत कर्म—ये सब-के-सब इस आत्माके लिये वैसे ही मिथ्या हैं; जैसे स्वप्नदर्शी पुरुषके द्वारा देखे हुए सबके सब पदार्थ। जो जाग्रत्-अवस्थामें समस्त इन्द्रियोंके द्वारा बाहर दीखनेवाले सम्पूर्ण क्षणभङ्गुर पदार्थोंको अनुभव करता है एवं स्वप्नावस्थामें हृदयमें ही जाग्रत्में देखे हुए पदार्थोंके समान ही वासनामय विषयोंका अनुभव करता है और सुषुप्ति-अवस्थामें उन सब विषयोंको समेटकर उनके लयका भी अनुभव करता है, वह एक ही है। जाग्रत्-अवस्थाके इन्द्रिय, स्वप्नावस्थाके मन और सुषुप्तिकी संस्कारवती बुद्धिका भी वही स्वामी है; क्योंकि वह त्रिगुणमयी तीनों अवस्थाओंका साक्षी है। 'जिस मैंने स्वप्न देखा, जो मैं सोया, वही मैं जाग रहा हूँ'—इस स्मृतिके बलपर एक ही आत्माका समस्त अवस्थाओंमें होना सिद्ध हो जाता है। ऐसा विचारकर मनकी ये तीनों अवस्थाएँ गुणोंके द्वारा मेरी मायासे मेरे अंशस्वरूप जीवमें कल्पित की गयी हैं और आत्मामें ये नितान्त असत्य हैं, ऐसा निश्चय करके तुमलोग अनुमान, सत्पुरुषोंद्वारा किये गये उपनिषदोंके श्रवण और तीक्ष्ण ज्ञान-खड्गके द्वारा सकल संशयोंके आधार अहंकारका छेदन करके हृदयमें स्थित मुझ परमात्माका भजन करो॥ १८—३३॥

ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं
दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रम्।
विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया
स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः॥
दृष्टिं ततः प्रतिनिवर्त्य निवृत्ततृष्ण-
स्तूष्णीं भवेन्निजसुखानुभवो निरीहः।
संदृश्यते क्व च यदीदमवस्तुबुद्ध्या
त्यक्तं भ्रमाय न भवेत् स्मृतिरानिपातात्॥
देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।
दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥
देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्
स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः॥
मयैतदुक्तं वो विप्रा गुह्यं यत् सांख्ययोगयोः।
जानीत माऽऽगतं यज्ञं युष्मद्धर्मविवक्षया॥
अहं योगस्य सांख्यस्य सत्यस्यर्तस्य तेजसः।
परायणं द्विजश्रेष्ठाः श्रियः कीर्तेर्दमस्य च॥
मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम्।
सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयोऽगुणाः॥
इति मे छिन्नसंदेहा मुनयः सनकादयः।
सभाजयित्वा परया भक्त्यागृणत संस्तवैः॥
तैरहं पूजितः सम्यक् संस्तुतः परमर्षिभिः।
प्रत्येयाय स्वकं धाम पश्यतः परमेष्ठिनः॥

(श्रीमद्भागवत ११। १३। ३४—४२)

यह जगत् मनका विलास है, दीखनेपर भी नष्ट-प्राय है, अलातचक्र (लुकारियोंकी बनेठी) के समान अत्यन्त चञ्चल है और भ्रममात्र है—ऐसा समझे । ज्ञाता और ज्ञेयके भेदसे रहित एक ज्ञानस्वरूप आत्मा ही अनेक-सा प्रतीत हो रहा है । यह स्थूल शरीर इन्द्रिय और अन्तःकरणरूप तीन प्रकारका विकल्प गुणोंके परिणामकी रचना है और स्वप्नके समान मायाका खेल है, अज्ञानसे कल्पित है । इसलिये उस देहादिरूप दृश्यसे दृष्टि हटाकर तृष्णारहित इन्द्रियोंके व्यापारसे हीन और निरीह होकर आत्मानन्दके अनुभवमें मग्न हो जाय । यद्यपि कभी-कभी आहार आदिके समय यह देहादिक प्रपञ्च देखनेमें आता है, तथापि यह पहले ही आत्मवस्तुसे अतिरिक्त और मिथ्या समझकर छोड़ा जा चुका है । इसलिये वह पुनः भ्रान्तिमूलक मोह उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हो सकता । देहपातपर्यन्त केवल संस्कारमात्र उसकी प्रतीति होती है । जैसे मदिरा पीकर उन्मत्त पुरुष यह नहीं देखता कि मेरे द्वारा पहना हुआ वस्त्र शरीरपर है या गिर गया, वैसे ही सिद्ध पुरुष जिस शरीरसे उसने अपने स्वरूपका साक्षात्कार किया है, वह प्रारब्धवश खड़ा है, बैठा है या दैववश कहीं गया या आया है—नश्वर शरीरसम्बन्धी इन बातोंपर दृष्टि नहीं डालता । प्राण और इन्द्रियोंके साथ यह शरीर भी प्रारब्धके अधीन है । इसलिये अपने आरम्भक (बनानेवाले) कर्म जबतक हैं, तबतक उनकी प्रतीक्षा करता ही रहता है । परंतु आत्मवस्तुका साक्षात्कार करनेवाला तथा समाधिपर्यन्त योगमें आरूढ़ पुरुष, स्त्री, पुत्र, धन आदि प्रपञ्चके सहित उस शरीरको फिर कभी स्वीकार नहीं करता, अपना नहीं मानता, जैसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नावस्थाके शरीर आदिको । सनकादि ऋषियो ! मैंने तुमसे जो कुछ कहा है, वह सांख्य और योग दोनोंका गोपनीय रहस्य है । मैं स्वयं भगवान् हूँ, तुमलोगोंको तत्त्वज्ञानका उपदेश करनेके लिये ही यहाँ आया हूँ, ऐसा समझो । विप्रवरो ! मैं योग, सांख्य, सत्य, ऋत (मधुरभाषण), तेज, श्री, कीर्ति और दम (इन्द्रियनिग्रह)—इन सबकी परम गति—परम अधिष्ठान हूँ । मैं समस्त गुणोंसे रहित हूँ और किसीकी अपेक्षा नहीं रखता । फिर भी साम्य, असङ्गता आदि सभी गुण मेरा ही सेवन करते हैं, मुझमें ही प्रतिष्ठित हैं; क्योंकि मैं सबका हितैषी सुहृद्, प्रियतम और आत्मा हूँ । सच पूछो तो उन्हें गुण कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि वे सत्त्वादि गुणोंके परिणाम नहीं हैं और नित्य हैं । प्रिय उद्धव ! इस प्रकार मैंने सनकादि मुनियोंके संशय मिटा दिये । उन्होंने परम भक्तिसे मेरी पूजा की और स्तुतियोंद्वारा मेरी महिमाका गान किया । जब उन परमर्षियोंने भलीभाँति मेरी पूजा और स्तुति कर ली, तब मैं ब्रह्माजीके सामने ही अदृश्य होकर अपने धाममें लौट आया ॥ ३४–४२ ॥

अध्याय अष्टम

भक्तियोगकी महिमा और ध्यान-विधि

उद्धव उवाच

वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः ।
तेषां विकल्पप्राधान्यमुताहो एकमुख्यता ॥
भवतोदाहृतः स्वामिन् भक्तियोगोऽनपेक्षितः ।
निरस्य सर्वतः सङ्गं येन त्वय्याविशेन्मनः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । १४ । १–२)

उद्धवजीने पूछा—श्रीकृष्ण ! ब्रह्मवादी महात्मा आत्मकल्याणके अनेकों साधन बतलाते हैं । उनमें अपनी-अपनी दृष्टिके अनुसार सभी श्रेष्ठ हैं अथवा किसी एककी प्रधानता है ? मेरे स्वामी ! आपने तो अभी-अभी भक्तियोगको ही निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र साधन बतलाया है; क्योंकि इसीसे सब ओरसे आसक्ति छोड़कर मन आपमें ही तन्मय हो जाता है ॥ १–२ ॥

श्रीभगवानुवाच

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता ।
मयाऽऽदौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः ॥
तेन प्रोक्ता च पुत्राय मनवे पूर्वजाय सा ।
ततो भृग्वादयोऽगृह्णन् सप्त ब्रह्ममहर्षयः ॥
तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा देवदानवगुह्यकाः ।
मनुष्याः सिद्धगन्धर्वाः सविद्याधरचारणाः ॥
किंदेवाः किंनरा नागा रक्षःकिम्पुरुषादयः ।
बह्व्यस्तेषां प्रकृतयो रजःसत्त्वतमोभुवः ॥
याभिर्भूतानि भिद्यन्ते भूतानां मतयस्तथा ।
यथाप्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचः स्रवन्ति हि ॥
एवं प्रकृतिवैचित्र्याद् भिद्यन्ते मतयो नृणाम् ।
पारम्पर्येण केषाञ्चित् पाखण्डमतयोऽपरे ॥
मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ ।
श्रेयो वदन्त्यनेकान्तं यथाकर्म यथारुचि ॥
धर्ममेके यशश्चान्ये कामं सत्यं दमं शमम् ।
अन्ये वदन्ति स्वार्थं वा ऐश्वर्यं त्यागभोजनम् ॥
केचिद् यज्ञतपोदानं व्रतानि नियमान् यमान् ।
आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः ।
दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रानन्दाः शुचार्पिताः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । १४ । ३—११)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव ! यह वेद-वाणी समयके फेरसे प्रलयके अवसरपर लुप्त हो गयी थी; फिर जब सृष्टिका समय आया, तब मैंने अपने संकल्पसे ही इसे ब्रह्माको उपदेश किया । इसमें मेरे भागवतधर्मका ही वर्णन है । ब्रह्माने अपने ज्येष्ठ पुत्र स्वायम्भुव मनुको उपदेश किया और उनसे भृगु, अङ्गिरा, मरीचि, पुलह, अत्रि, पुलस्त्य और क्रतु—इन सात प्रजापति-महर्षियोंने ग्रहण किया । तदनन्तर इन ब्रह्मर्षियोंकी संतान देवता, दानव, गुह्यक, मनुष्य, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, चारण, किंदेव, किन्नर, नाग, राक्षस और किम्पुरुष आदिने इसे अपने पूर्वज इन्हीं ब्रह्मर्षियोंसे प्राप्त किया । सभी जातियों और व्यक्तियोंके स्वभाव—उनकी वासनाएँ सत्त्व, रज और तमोगुणके कारण भिन्न-भिन्न हैं; इसलिये उनमें और उनकी बुद्धिवृत्तियोंमें भी अनेकों भेद हैं । इसलिये वे सभी अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार उस वेदवाणीका भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण करते हैं । वह वाणी ही ऐसी अलौकिक है कि उससे विभिन्न अर्थ निकलना स्वाभाविक ही है । इसी प्रकार स्वभावभेद तथा परम्परागत उपदेशके भेदसे मनुष्योंकी बुद्धिमें भिन्नता आ जाती है और कुछ लोग तो बिना किसी विचारके वेदविरुद्ध पाखण्ड-मतावलम्बी हो जाते हैं । प्रिय उद्धव ! सभीकी बुद्धि मेरी मायासे मोहित हो रही है; इसीसे वे अपने-अपने कर्म-संस्कार और अपनी-अपनी रुचिके अनुसार आत्म-कल्याणके साधन भी एक नहीं, अनेकों बतलाते हैं । पूर्वमीमांसक धर्मको, साहित्याचार्य यशको, कामशास्त्री कामको, योगवेत्ता सत्य और शम-दमादिको, दण्ड-नीतिकार ऐश्वर्यको, त्यागी त्यागको और लोकायतिक भोगको ही मनुष्य-जीवनका स्वार्थ—परम लाभ बतलाते हैं । कर्मयोगी लोग यज्ञ, तप, दान, व्रत तथा यम-नियम आदिको पुरुषार्थ बतलाते हैं । परंतु ये सभी कर्म हैं; इनके फलस्वरूप जो लोक मिलते हैं, वे उत्पत्ति और नाशवाले हैं । कर्मोंका फल समाप्त हो जानेपर उनसे दुःख ही मिलता है और सच पूछो तो उनकी अन्तिम गति घोर अज्ञान ही है । उनसे जो सुख मिलता है, वह तुच्छ है—नगण्य है और वे लोक भोगके समय भी असूया आदि दोषोंके कारण शोकसे परिपूर्ण हैं (इसलिये इन विभिन्न साधनोंके फेरमें न पड़ना चाहिये) ॥ ३—११ ॥

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः ।
मयाऽऽत्मना सुखं यत्तत् कुतः स्याद् विषयात्मनाम् ॥
अकिंचनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः ।
मया संतुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद् विनान्यत् ॥
न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः ।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥
निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥
निष्किंचना मय्यनुरक्तचेतसः
शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः ।
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत्
तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम ॥
बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः ।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते ॥
यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥
न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥
धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता ।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि ॥
कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।
विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुध्येद् भक्त्या विनाऽऽशयः
वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥
यथाग्निना हेम मलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम् ।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥
यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ
मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः ।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं
चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम् ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । १४ । १२—२६)

प्रिय उद्धव ! जो सब ओर निरपेक्ष—बेपरवाह हो गया है, किसी भी कर्म या फल आदिकी आवश्यकता नहीं रखता और अपने अन्तःकरणको सब प्रकारसे मुझे ही समर्पित कर चुका है, परमानन्दस्वरूप मैं उसकी आत्माके रूपमें स्फुरित होने लगता हूँ। इससे वह जिस सुखका अनुभव करता है, वह विषय-लोलुप प्राणियोंको किसी प्रकार मिल नहीं सकता। जिसने अपनी मानकर किसी भी वस्तुको नहीं रक्खा है और जो सब प्रकारके संग्रह-परिग्रहसे रहित—अकिञ्चन है, जो अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करके शान्त और समदर्शी हो गया है, जो मेरी प्राप्तिसे ही मेरे सान्निध्य-का अनुभव करके ही सदा-सर्वदा पूर्ण संतोषका अनुभव करता है, उसके लिये आकाशका एक-एक कोना आनन्दसे भरा हुआ है। जिसने अपनेको मुझे सौं[illegible] दिया है, वह मुझे छोड़कर न तो ब्रह्माका पद चाहता है और न देवराज इन्द्रका। उसके मनमें न तो सार्वभौम सम्राट् बननेकी इच्छा होती है और न वह स्वर्गसे [illegible] श्रेष्ठ रसातलका ही स्वामी होना चाहता है। वह यो[illegible]की बड़ी-बड़ी सिद्धियों और मोक्ष तककी अभिलाषा नहीं करता। उद्धव ! मुझे तुम्हारे-जैसे प्रेमी भक्त जि[illegible] प्रियतम हैं, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, आत्मा शं[illegible] सगे भाई बलरामजी, स्वयं अर्धाङ्गिनी लक्ष्मीजी [illegible] मेरा अपना आत्मा भी नहीं है। जिसे किसीकी अपे[illegible] नहीं, जो जगत्के चिन्तनसे सर्वथा उपरत होकर [illegible] ही मनन-चिन्तनमें तल्लीन रहता है और राग-द्वेष [illegible] रखकर सबके प्रति समान दृष्टि रखता है, [illegible] भक्तके पीछे-पीछे मैं निरन्तर यह सोचकर [illegible]

करता हूँ कि उसके चरणोंकी धूल उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ। जो सब प्रकारके संग्रह-परिग्रहसे रहित हैं—यहाँतक कि शरीर आदिमें भी अहंता-ममता नहीं रखते, जिनका चित्त मेरे ही प्रेमके रंगमें रँग गया है, जो संसारकी वासनाओंसे शान्त—उपरत हो चुके हैं और जो अपनी महत्ता-उदारताके कारण स्वभावसे ही समस्त प्राणियोंके प्रति दया और प्रेमका भाव रखते हैं, किसी प्रकारकी कामना जिनकी बुद्धिका स्पर्श नहीं कर पाती, उन्हें मेरे जिस परमानन्द-स्वरूपका अनुभव होता है, उसे और कोई नहीं जान सकता; क्योंकि वह परमानन्द तो केवल निरपेक्षतासे ही प्राप्त होता है। उद्धवजी! मेरा जो भक्त अभी जितेन्द्रिय नहीं हो सका है और संसारके विषय बार-बार उसे बाधा पहुँचाते रहते हैं—अपनी ओर खींच लिया करते हैं, वह भी क्षण-क्षणमें बढ़नेवाली मेरी प्रगल्भ भक्तिके प्रभावसे प्रायः विषयोंसे पराजित नहीं होता। उद्धव! जैसे धधकती हुई आग लकड़ियोंके बड़े ढेरको भी जलाकर खाक कर देती है, वैसे ही मेरी भक्ति भी समस्त पाप-राशिको पूर्णतया जला डालती है। उद्धव! योग-साधन, ज्ञान-विज्ञान, धर्मानुष्ठान, जप-पाठ और तप-त्याग मुझे प्राप्त करानेमें उतने समर्थ नहीं हैं, जितनी दिनों-दिन बढ़नेवाली मेरी अनन्य प्रेममयी भक्ति। मैं संतोंका प्रियतम आत्मा हूँ, मैं अनन्य श्रद्धा और अनन्य भक्तिसे ही पकड़में आता हूँ। मुझे प्राप्त करनेका यह एक ही उपाय है। मेरी अनन्य भक्ति उन लोगों-को भी पवित्र—जातिदोषसे मुक्त कर देती है, जो जन्मसे ही चाण्डाल हैं। इसके विपरीत जो मेरी भक्तिसे वञ्चित हैं, उनके चित्तको सत्य और दयासे युक्त धर्म और तपस्यासे युक्त विद्या भी भलीभाँति पवित्र करनेमें असमर्थ है। जबतक सारा शरीर पुलकित नहीं हो जाता, चित्त पिघलकर गद्गद नहीं हो जाता, आनन्दके आँसू आँखोंसे छलकने नहीं लगते तथा अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग भक्तिकी बाढ़में चित्त डूबने-उतराने नहीं लगता, तबतक इसके शुद्ध होनेकी कोई सम्भावना नहीं है। जिसकी वाणी प्रेमसे गद्गद हो रही है, चित्त पिघलकर एक ओर बहता रहता है, एक क्षणके लिये भी रोनेका ताँता नहीं टूटता, परंतु जो कभी-कभी खिलखिलाकर हँसने भी लगता है, कहीं लाज छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने लगता है तो कहीं नाचने लगता है, भैया उद्धव! मेरा वह भक्त न केवल अपनेको बल्कि सारे संसारको पवित्र कर देता है। जैसे आगमें तपानेपर सोना मैल छोड़ देता है—निखर जाता है और अपने असली शुद्ध रूपमें स्थित हो जाता है, वैसे ही मेरे भक्तियोगके द्वारा आत्मा कर्म-वासनाओंसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त हो जाता है; क्योंकि मैं ही उसका वास्तविक स्वरूप हूँ। उद्धवजी! मेरी परम-पावन लीला-कथाके श्रवण-कीर्तनसे ज्यों-ज्यों चित्तका मैल धुलता जाता है, त्यों-त्यों उसे सूक्ष्म वस्तुके—वास्तविक तत्त्वके दर्शन होने लगते हैं—जैसे अञ्जनके द्वारा नेत्रोंका दोष मिटनेपर उनमें सूक्ष्म वस्तुओंको देखनेकी शक्ति आने लगती है॥ १२—२६॥

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥
तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम्।
हित्वा मयि समाधत्स्व मनो मद्भावभावितम्॥
स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।
क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः॥
न तथास्य भवेत् क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः।
योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः॥

(श्रीमद्भागवत ११। १४। २७—३०)

जो पुरुष निरन्तर विषय-चिन्तन किया करता है, उसका चित्त विषयोंमें फँस जाता है और जो मेरा

स्मरण करता है, उसका चित्त मुझमें तल्लीन हो जाता है। इसलिये तुम दूसरे साधनों और फलोंका चिन्तन छोड़ दो। अरे भाई! मेरे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं; जो कुछ जान पड़ता है, वह ठीक वैसा ही है जैसे स्वप्न अथवा मनोरथका राज्य। इसलिये मेरे चिन्तनसे तुम अपना चित्त शुद्ध कर लो और उसे पूरी तरहसे—एकाग्रतासे मुझमें ही लगा दो। संयमी पुरुष स्त्रियों और उनके प्रेमियोंका संग दूरसे ही छोड़कर, पवित्र एकान्त स्थानमें बैठकर बड़ी सावधानीसे मेरा ही चिन्तन करे। प्यारे उद्धव! स्त्रियोंके संगसे और स्त्रीसंगियोंके—लम्पटोंके संगसे पुरुषको जैसे क्लेश और बन्धनमें पड़ना पड़ता है, वैसा क्लेश और फँसावट और किसीके भी संगसे नहीं होती॥ २७-३०॥

उद्धव उवाच

यथा त्वामरविन्दाक्ष यादृशं वा यदात्मकम्।
ध्यायेन्मुमुक्षुरेतन्मे ध्यानं त्वं वक्तुमर्हसि॥
(श्रीमद्भागवत ११। १४। ३१)

उद्धवजीने पूछा—कमलनयन श्यामसुन्दर! आप कृपा करके यह बतलाइये कि मुमुक्षु पुरुष आपका किस रूपसे, किस प्रकार और किस भावसे ध्यान करे?॥ ३१॥

श्रीभगवानुवाच

सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम्।
हस्तावुत्सङ्ग आधाय स्वनासाग्रकृतेक्षणः॥
प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः।
विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः॥
हृद्यविच्छिन्नमोङ्कारं घण्टानादं बिसोर्णवत्।
प्राणेनोदीर्य तत्राथ पुनः संवेशयेत् स्वरम्॥
एवं प्रणवसंयुक्तं प्राणमेव समभ्यसेत्।
दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग् जितानिलः॥
हृत्पुण्डरीकमन्तःस्थमूर्ध्वनालमधोमुखम्।
ध्यात्वोर्ध्वमुखमुन्निद्रमष्टपत्रं सकर्णिकम्॥
कर्णिकायां न्यसेत् सूर्यसोमाग्नीनुत्तरोत्तरम्।
वह्निमध्ये स्मरेद् रूपं ममैतद् ध्यानमङ्गलम्॥
समं प्रशान्तं सुमुखं दीर्घचारुचतुर्भुजम्।
सुचारुसुन्दरग्रीवं सुकपोलं शुचिस्मितम्॥
समानकर्णविन्यस्तस्फुरन्मकरकुण्डलम्।
हेमाम्बरं घनश्यामं श्रीवत्सश्रीनिकेतनम्॥
शङ्खचक्रगदापद्मवनमालाविभूषितम्।
नूपुरैर्विलसत्पादं कौस्तुभप्रभया युतम्॥
द्युमत्किरीटकटककटिसूत्राङ्गदायुतम्।
सर्वाङ्गसुन्दरं हृद्यं प्रसादसुमुखेक्षणम्।
सुकुमारमभिध्यायेत् सर्वाङ्गेषु मनो दधत्॥
(श्रीमद्भागवत ११। १४। ३२—४१)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! जो न तो बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा ही—ऐसे आसनपर शरीरको सीधा रखकर आरामसे बैठ जाय, हाथोंको अपनी गोदमें रख ले और दृष्टि अपनी नासिकाके अग्रभागपर जमावे। इसके बाद पूरक, कुम्भक और रेचक तथा रेचक, कुम्भक और पूरक—इन प्राणायामोंके द्वारा नाड़ियोंका शोधन करे। प्राणायामका अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिये और उसके साथ-साथ इन्द्रियोंको जीतनेका भी अभ्यास करना चाहिये। हृदयमें कमल-नालगत पतले सूतके समान ॐकारका चिन्तन करे, प्राणके द्वारा उसे ऊपर ले जाय और उसमें घंटानादके समान स्वर स्थिर करे। उस स्वरका ताँता टूटने न पावे। इस प्रकार प्रतिदिन तीन समय दस-दस बार ॐकारसहित प्राणायामका अभ्यास करे। ऐसा करनेसे एक महीनेके अंदर ही प्राणवायु वशमें हो जाता है। इसके बाद ऐसा चिन्तन करे कि हृदय एक कमल है। वह शरीरके भीतर इस प्रकार स्थित है मानो उसकी डंडी तो ऊपरकी ओर है और मुँह नीचेकी ओर। अब ध्यान करना चाहिये कि उसका मुख ऊपरकी ओर होकर खिल गया है, उसके आठ दल (पँखुड़ियाँ) हैं और उनके बीचोंबीच पीली-पीली अत्यन्त सुकुमार

कर्णिका (गद्दी) है । कर्णिकापर क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा और अग्निका न्यास करना चाहिये । तदनन्तर अग्निके अंदर मेरे इस रूपका स्मरण करना चाहिये । मेरा यह स्वरूप ध्यानके लिये बड़ा ही मङ्गलमय है । मेरे अवयवोंकी गठन बड़ी ही सुडौल है । रोम-रोमसे शान्ति टपकती है । मुखकमल अत्यन्त प्रफुल्लित और सुन्दर है । घुटनोंतक लंबी मनोहर चार भुजाएँ हैं । बड़ी ही सुन्दर और मनोहर गरदन है । मरकतमणिके समान सुस्निग्ध कपोल हैं । मुखपर मन्द-मन्द मुसकानकी अनोखी ही छटा है । दोनों ओरके कान बराबर हैं और उनमें मकराकृत कुण्डल झिलमिल-झिलमिल कर रहे हैं । वर्षाकालीन मेघके समान श्यामल शरीरपर पीताम्बर फहरा रहा है । श्रीवत्स एवं लक्ष्मीजीका चिह्न वक्षःस्थल-पर दायें-बायें विराजमान है । हाथोंमें क्रमशः शङ्ख, चक्र, गदा एवं पद्म धारण किये हुए हैं। गलेमें वनमाला लटक रही है । चरणोंमें नूपुर शोभा दे रहे हैं, गलेमें कौस्तुभमणि जगमगा रही है । अपने-अपने स्थानपर चमचमाते हुए किरीट, कंगन, करधनी और बाजूबंद शोभायमान हो रहे हैं । मेरा एक-एक अङ्ग अत्यन्त सुन्दर एवं हृदयहारी है । सुन्दर मुख और प्यारभरी चितवन कृपा-प्रसादकी वर्षा कर रही है । उद्धव ! मेरे इस सुकुमार रूपका ध्यान करना चाहिये और अपने मनको एक-एक अङ्गमें लगाना चाहिये ॥ ३२—४१ ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाऽऽकृष्य तन्मनः।
बुद्धया सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः ॥
तत् सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत् ।
नान्यानि चिन्तयेद् भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम् ॥
तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत् ।
तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥
एवं समाहितमतिर्मामेवात्मानमात्मनि ।
विचष्टे मयि सर्वात्मन् ज्योतिर्ज्योतिषि संयुतम् ॥
ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मनः ।
संयास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । १४ । ४२—४६)

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि मनके द्वारा इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे खींच ले और मनको बुद्धिरूप सारथिकी सहायतासे मुझमें ही लगा दे, चाहे मेरे किसी भी अङ्गमें क्यों न लगे । जब सारे शरीरका ध्यान होने लगे, तब अपने चित्तको खींचकर एक स्थानमें स्थिर करे और अन्य अङ्गोंका चिन्तन न करके केवल मन्द-मन्द मुसकानकी छटासे युक्त मेरे मुखका ही ध्यान करे । जब चित्त मुखारविन्दमें ठहर जाय, तब उसे वहाँसे हटाकर आकाशमें स्थिर करे । तदनन्तर आकाश-का चिन्तन भी त्याग कर मेरे स्वरूपमें आरूढ़ हो जाय और मेरे सिवा किसी भी वस्तुका चिन्तन न करे । जब इस प्रकार चित्त समाहित हो जाता है, तब जैसे एक ज्योति दूसरी ज्योतिसे मिलकर एक हो जाती है, वैसे ही वह अपनेमें मुझे और मुझ सर्वात्मामें अपनेको अनुभव करने लगता है । जो योगी इस प्रकार तीव्र ध्यानयोगके द्वारा मुझमें ही अपने चित्तका संयम करता है, उसके चित्तसे वस्तुकी अनेकता, तत्सम्बन्धी ज्ञान और उनकी प्राप्तिके लिये होनेवाले कर्मोंका भ्रम शीघ्र ही निवृत्त हो जाता है ॥ ४२—४६ ॥

अध्याय नवम

विभिन्न सिद्धियोंके नाम और लक्षण

श्रीभगवानुवाच

जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः ।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । १५ । १)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्धव ! जब साधक इन्द्रिय, प्राण और मनको अपने वशमें करके अपना चित्त मुझमें लगाने लगता है, मेरी धारणा करने लगता है, तब उसके सामने बहुत-सी सिद्धियाँ उपस्थित होती हैं ॥ १॥

उद्धव उवाच

कया धारणया कास्वित् कथंस्वित् सिद्धिरच्युत ।
कति वा सिद्धयो ब्रूहि योगिनां सिद्धिदो भवान् ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । १५ । २)

उद्धवजीने कहा—अच्युत ! कौन-सी धारणा करनेसे किस प्रकार कौन-सी सिद्धि प्राप्त होती है और उनकी संख्या कितनी है, आप ही योगियोंको सिद्धियाँ देते हैं, अतः आप इनका वर्णन कीजिये ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता धारणायोगपारगैः ।
तासामष्टौ मत्प्रधाना दशैव गुणहेतवः ॥
अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः ।
प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता ॥
गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यति ।
एता मे सिद्धयः सौम्य अष्टावौत्पत्तिका मताः ॥
अनूर्मिमत्त्वं देहेऽस्मिन् दूरश्रवणदर्शनम् ।
मनोजवः कामरूपं परकायप्रवेशनम् ॥
स्वच्छन्दमृत्युर्देवानां सहक्रीडानुदर्शनम् ।
यथासंकल्पसंसिद्धिराज्ञाप्रतिहता गतिः ॥
त्रिकालज्ञत्वमद्वन्द्वं परचित्ताद्यभिज्ञता ।
अग्न्यर्काम्बुविषादीनां प्रतिष्टम्भोऽपराजयः ॥
एताश्चोद्देशतः प्रोक्ता योगधारणसिद्धयः ।
यया धारणया या स्याद् यथा वा स्यान्निबोध मे ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । १५ । ३—९)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव ! धारणायोगके पारगामी योगियोंने अठारह प्रकारकी सिद्धियाँ बतलायी हैं, उनमें आठ सिद्धियाँ तो प्रधानरूपसे मुझमें ही रहती हैं और दूसरोंमें न्यून । और दस सत्त्वगुणके विकाससे भी मिल जाती हैं । उनमें तीन सिद्धियाँ तो शरीरकी हैं—'अणिमा', 'महिमा' और 'लघिमा' । इन्द्रियोंकी एक सिद्धि है—'प्राप्ति' । लौकिक और पारलौकिक पदार्थोंका इच्छानुसार अनुभव करनेवाली सिद्धि 'प्राकाम्य' है । माया और उसके कार्योंको इच्छानुसार संचालित करना 'ईशिता' नामकी सिद्धि है । विषयोंमें रहकर भी उनमें आसक्त न होना 'वशिता' है और जिस-जिस सुखकी कामना करे, उसकी सीमातक पहुँच जाना 'कामावसायिता' नामकी आठवीं सिद्धि है । ये आठों सिद्धियाँ मुझमें स्वभावसे ही रहती हैं और जिन्हें मैं देता हूँ, उन्हींको अंशतः प्राप्त होती हैं। इनके अतिरिक्त और भी कई सिद्धियाँ हैं । शरीरमें भूख, प्यास आदि वेगोंका न होना, बहुत दूरकी वस्तु देख लेना और बहुत दूरकी बात सुन लेना, मनके साथ ही शरीरका उस स्थानपर पहुँच जाना, जो इच्छा हो वही रूप बना लेना, दूसरे शरीरमें प्रवेश करना, जब इच्छा हो तभी शरीर छोड़ना, अप्सराओंके साथ होनेवाली देवक्रीड़ाका दर्शन, संकल्पकी सिद्धि, सब जगह सबके द्वारा विना ननु-नचके आज्ञापालन—ये दस सिद्धियाँ सत्त्वगुणके विशेष विकाससे होती हैं । भूत, भविष्य और वर्तमानकी बात जान लेना; शीत-उष्ण, सुख-दुःख और राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंके वशमें न होना, दूसरेके मन आदिकी बात जान लेना; अग्नि, सूर्य, जल, विष आदिकी शक्तिको स्तम्भित कर देना और किसीसे भी पराजित न होना—ये पाँच सिद्धियाँ भी योगियोंको प्राप्त होती हैं । प्रिय उद्धव ! योग-धारणा करनेसे जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उनका मैंने नाम-निर्देशके साथ वर्णन कर दिया । अब किस धारणासे कौन-सी सिद्धि कैसे प्राप्त होती है, यह बतलाता हूँ, सुनो ॥ ३—९ ॥

भूतसूक्ष्मात्मनि मयि तन्मात्रं धारयेन्मनः ।
अणिमानमवाप्नोति तन्मात्रोपासको मम ॥
महत्यात्मन्मयि परे यथासंस्थं मनो दधत् ।
महिमानमवाप्नोति भूतानां च पृथक् पृथक् ॥
परमाणुमये चित्तं भूतानां मयि रञ्जयन् ।
कालसूक्ष्मार्थतां योगी लघिमानमवाप्नुयात् ॥
धारयन् मय्यहंतत्त्वे मनो वैकारिकेऽखिलम् ।

सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं प्राप्तिं प्राप्नोति मन्मनाः ॥
महत्यात्मनि यः सूत्रे धारयेन्मयि मानसम् ।
प्राकाम्यं पारमेष्ठ्यं मे विन्दतेऽव्यक्तजन्मनः ॥
विष्णौ त्र्यधीश्वरे चित्तं धारयेत् कालविग्रहे ।
स ईशित्वमवाप्नोति क्षेत्रक्षेत्रज्ञचोदनाम् ॥
नारायणे तुरीयाख्ये भगवच्छब्दशब्दिते ।
मनो मय्यादधद् योगी मद्धर्मा वशितामियात् ॥
निर्गुणे ब्रह्मणि मयि धारयन् विशदं मनः ।
परमानन्दमाप्नोति यत्र कामोऽवसीयते ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । १५ । १०—१७)

प्रिय उद्धव ! पञ्चभूतोंकी सूक्ष्मतम मात्राएँ मेरा ही शरीर हैं । जो साधक केवल मेरे उसी शरीरकी उपासना करता है और अपने मनको तदाकार बनाकर उसीमें लगा देता है अर्थात् मेरे तन्मात्रात्मक शरीरके अतिरिक्त और किसी भी वस्तुका चिन्तन नहीं करता, उसे 'अणिमा' नामकी सिद्धि अर्थात् पत्थरकी चट्टान आदिमें भी प्रवेश करनेकी शक्ति—अणुता प्राप्त हो जाती है । महत्तत्त्वके रूपमें भी मैं ही प्रकाशित हो रहा हूँ और उस रूपमें समस्त व्यावहारिक ज्ञानोंका केन्द्र हूँ । जो मेरे उस रूपमें अपने मनको महत्तत्त्वाकार करके तन्मय कर देता है, उसे 'महिमा' नामकी सिद्धि प्राप्त होती है और इसी प्रकार आकाशादि पञ्चभूतोंमें—जो मेरे ही शरीर हैं—अलग-अलग मन लगानेसे उन-उनकी महत्ता प्राप्त हो जाती है । यह भी 'महिमा' सिद्धिके ही अन्तर्गत है । जो योगी वायु आदि चार भूतोंके परमाणुओंको मेरा ही रूप समझकर चित्तको तदाकार कर देता है, उसे 'लघिमा' सिद्धि प्राप्त हो जाती है—उसे परमाणुरूप कालके समान सूक्ष्म वस्तु बननेकी सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है । जो सात्त्विक अहंकारको मेरा स्वरूप समझकर मेरे उसी रूपमें चित्तकी धारणा करता है, वह समस्त इन्द्रियोंका अधिष्ठाता हो जाता है । मेरा चिन्तन करनेवाला भक्त इस प्रकार 'प्राप्ति' नामकी सिद्धि प्राप्त कर लेता है । जो पुरुष मुझ महत्तत्त्वाभिमानी सूत्रात्मामें अपना चित्त स्थिर करता है, उसे मुझ अव्यक्त-जन्मा (सूत्रात्मा) की 'प्राकाम्य' नामकी सिद्धि प्राप्त होती है—जिससे इच्छानुसार सभी भोग प्राप्त हो जाते हैं । जो त्रिगुणमयी मायाके स्वामी मेरे कालस्वरूप विश्वरूपकी धारणा करता है, वह शरीरों और जीवोंको अपने इच्छानुसार प्रेरित करनेकी सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है । इस सिद्धिका नाम 'ईशित्व' है । जो योगी मेरे नारायण-स्वरूपमें—जिसे तुरीय और भगवान् भी कहते हैं—मनको लगा देता है, मेरे स्वाभाविक गुण उसमें प्रकट होने लगते हैं और उसे 'वशिता' नामकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है । निर्गुण ब्रह्म भी मैं ही हूँ । जो अपना निर्मल मन मेरे इस ब्रह्मस्वरूपमें स्थित कर लेता है, उसे परमानन्द-स्वरूपिणी 'कामावसायिता' नामकी सिद्धि प्राप्त होती है । इसके मिलनेपर उसकी सारी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं, समाप्त हो जाती हैं ॥ १०—१७ ॥

श्वेतद्वीपपतौ चित्तं शुद्धे धर्ममये मयि ।
धारयञ्छ्वेततां याति षडूर्मिरहितो नरः ॥
मय्याकाशात्मनि प्राणे मनसा घोषमुद्वहन् ।
तत्रोपलब्धा भूतानां हंसो वाचः शृणोत्यसौ ॥
चक्षुस्त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि ।
मां तत्र मनसा ध्यायन् विश्वं पश्यति सूक्ष्मदृक् ॥
मनो मयि सुसंयोज्य देहं तदनु वायुना ।
मद्धारणानुभावेन तत्रात्मा यत्र वै मनः ॥
यदा मन उपादाय यद् यद् रूपं बुभूषति ।
तत्तद् भवेन्मनोरूपं मद्योगबलमाश्रयः ॥
परकायं विशन् सिद्ध आत्मानं तत्र भावयेत् ।
पिण्डं हित्वा विशेत् प्राणो वायुभूतः षडङ्घ्रिवत् ॥
पार्ष्ण्याऽऽपीड्य गुदं प्राणं हृदुरःकण्ठमूर्धसु ।
आरोप्य ब्रह्मरन्ध्रेण ब्रह्म नीत्वोत्सृजेत्तनुम् ॥

विहरिष्यन् सुराक्रीडे मत्स्थं सत्त्वं विभावयेत्।
विमानेनोपतिष्ठन्ति सत्त्ववृत्तीः सुरस्त्रियः॥
यथा संकल्पयेद् बुद्धया यदा वा मत्परः पुमान्।
मयि सत्ये मनो युञ्जंस्तथा तत् समुपाश्नुते॥
यो वै मद्भावमापन्न ईशितुर्वशितुः पुमान्।
कुतश्चिन्न विहन्येत तस्य चाज्ञा यथा मम॥
मद्भक्त्या शुद्धसत्त्वस्य योगिनो धारणाविदः।
तस्य त्रैकालिकी बुद्धिर्जन्ममृत्यूपबृंहिता॥
अग्न्यादिभिर्न हन्येत मुनेर्योगमयं वपुः।
मद्योगश्रान्तचित्तस्य यादसामुदकं यथा॥
मद्विभूतीरभिध्यायन् श्रीवत्सास्त्रविभूषिताः।
ध्वजातपत्रव्यजनैः स भवेदपराजितः॥
श्रीमद्भागवत ११। १५। १८—३०)

प्रिय उद्धव! मेरा वह रूप, जो श्वेतद्वीपका स्वामी है, अत्यन्त शुद्ध और धर्ममय है। जो उसकी धारणा करता है, वह भूख-प्यास, जन्म-मृत्यु और शोक-मोह—इन छः ऊर्मियोंसे मुक्त हो जाता है और उसे शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति होती है। मैं ही समष्टि-प्राणरूप आकाशात्मा हूँ। जो मेरे इस स्वरूपमें मनके द्वारा अनाहत नादका चिन्तन करता है, वह 'दूरश्रवण' नामकी सिद्धिसे सम्पन्न हो जाता है और आकाशमें उपलब्ध होनेवाली विविध प्राणियोंकी बोली सुन-समझ सकता है। जो योगी नेत्रोंको सूर्यमें और सूर्यको नेत्रोंमें संयुक्त कर देता है और दोनोंके संयोगमें मन-ही-मन मेरा ध्यान करता है, उसकी दृष्टि सूक्ष्म हो जाती है, उसे 'दूरदर्शन' नामकी सिद्धि प्राप्त होती है और वह सारे संसारको देख सकता है। मन और शरीरको प्राणवायुके सहित मेरे साथ संयुक्त कर दे और मेरी धारणा करे तो इससे 'मनोजव' नामकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसके प्रभावसे वह योगी जहाँ भी जानेका संकल्प करता है, वहीं उसका शरीर उसी क्षण पहुँच जाता है। जिस समय योगी मनको उपादान-कारण बनाकर किसी देवता आदिका रूप धारण करना चाहता है तो वह अपने मनके अनुकूल वैसा ही रूप धारण कर लेता है। इसका कारण यह है कि उसने अपने चित्तको मेरे साथ जोड़ दिया है। जो योगी दूसरे शरीरमें प्रवेश करना चाहे, वह ऐसी भावना करे कि 'मैं उसी शरीरमें हूँ'। ऐसा करनेसे उसका प्राण वायुरूप धारण कर लेता है और वह एक फूलसे दूसरे फूलपर जानेवाले भौंरेके समान अपना शरीर छोड़कर दूसरे शरीरमें प्रवेश कर जाता है। योगीको यदि शरीरका परित्याग करना हो तो एड़ीसे गुदाद्वारको दबाकर प्राणवायुको क्रमशः हृदय, वक्षःस्थल, कण्ठ और मस्तकमें ले जाय। फिर ब्रह्मरन्ध्रके द्वारा उसे ब्रह्ममें लीन करके शरीरका परित्याग कर दे। यदि उसे देवताओंके विहारस्थलोंमें क्रीड़ा करनेकी इच्छा हो, तो मेरे शुद्ध सत्त्वमय स्वरूपकी भावना करे। ऐसा करनेसे सत्त्वगुणकी अंश-स्वरूपा सुर-सुन्दरियाँ विमानपर चढ़कर उसके पास पहुँच जाती हैं। जिस पुरुषने मेरे सत्य-संकल्प-स्वरूपमें अपना चित्त स्थिर कर दिया है, उसीके ध्यानमें संलग्न है, वह अपने मनसे जिस समय जैसा संकल्प करता है, उसी समय उसका वह संकल्प सिद्ध हो जाता है। मैं 'ईशित्व' और 'वशित्व'—इन दोनों सिद्धियोंका स्वामी हूँ; इसलिये कभी कोई मेरी आज्ञा टाल नहीं सकता। जो मेरे उस रूपका चिन्तन करके उसी भावसे युक्त हो जाता है, मेरे समान उसकी आज्ञाको भी कोई टाल नहीं सकता। जिस योगीका चित्त मेरी धारणा करते-करते मेरी भक्तिके प्रभावसे शुद्ध हो गया है, उसकी बुद्धि जन्म, मृत्यु आदि अदृष्ट विषयोंको भी जान लेती है। और तो क्या—भूत, भविष्य और वर्तमानकी सभी बातें उसे मालूम हो जाती हैं। जैसे जलके द्वारा जलमें रहनेवाले प्राणियोंका नाश नहीं होता, वैसे ही जिस योगीने अपना चित्त मुझमें लगाकर शिथिल कर दिया है, उसके योगमय शरीरको अग्नि, जल आदि कोई भी पदार्थ नष्ट नहीं कर सकते।

जो पुरुष श्रीवत्स आदि चिह्न और शङ्ख-गदा-चक्र-पद्म आदि आयुधोंसे विभूषित तथा ध्वजा-छत्र-चँवर आदिसे सम्पन्न मेरे अवतारोंका ध्यान करता है, वह अजेय हो जाता है ॥ १८—३० ॥

उपासकस्य मामेवं योगधारणया मुनेः ।
सिद्धयः पूर्वकथिता उपतिष्ठन्त्यशेषतः ॥
जितेन्द्रियस्य दान्तस्य जितश्वासात्मनो मुनेः ।
मद्धारणां धारयतः का सा सिद्धिः सुदुर्लभा ॥
अन्तरायान् वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम् ।
मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः ॥
जन्मौषधितपोमन्त्रैर्यावतीरिह सिद्धयः ।
योगेनाप्नोति ताः सर्वा नान्यैर्योगगतिं व्रजेत् ॥
सर्वासामपि सिद्धीनां हेतुः पतिरहं प्रभुः ।
अहं योगस्य सांख्यस्य धर्मस्य ब्रह्मवादिनाम् ॥
अहमात्माऽऽन्तरो बाह्योऽनावृतः सर्वदेहिनाम् ।
यथा भूतानि भूतेषु बहिरन्तः स्वयं तथा ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । १५ । ३१—३६)

इस प्रकार जो विचारशील पुरुष मेरी उपासना करता है और योगधारणाके द्वारा मेरा चिन्तन करता है, उसे वे सभी सिद्धियाँ पूर्णतः प्राप्त हो जाती हैं, जिनका वर्णन मैंने किया है । प्यारे उद्धव ! जिसने अपने प्राण, मन और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली है, जो संयमी है और मेरे ही स्वरूपकी धारणा कर रहा है, उसके लिये ऐसी कोई भी सिद्धि नहीं, जो दुर्लभ हो । उसे तो सभी सिद्धियाँ प्राप्त ही हैं । परंतु श्रेष्ठ पुरुष कहते हैं कि जो लोग भक्तियोग अथवा ज्ञानयोगादि उत्तम योगोंका अभ्यास कर रहे हैं, जो मुझसे एक हो रहे हैं,—उनके लिये इन सिद्धियोंका प्राप्त होना एक विघ्न ही है; क्योंकि इनके कारण व्यर्थ ही उनके समयका दुरुपयोग होता है । जगत्‌में जन्म, ओषधि, तपस्या और मन्त्रादिके द्वारा जितनी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, वे सभी योगके द्वारा मिल जाती हैं; परंतु योगकी अन्तिम सीमा—मेरे सारूप्य, सालोक्य आदिकी प्राप्ति विना मुझमें चित्त लगाये, किसी भी साधनसे नहीं प्राप्त हो सकती । ब्रह्मवादियोंने बहुत-से साधन बतलाये हैं—योग, सांख्य और धर्म आदि । उनका एवं समस्त सिद्धियोंका एकमात्र मैं ही हेतु, स्वामी और प्रभु हूँ । जैसे स्थूल पञ्चभूतोंमें बाहर, भीतर—सर्वत्र सूक्ष्म पञ्च-महाभूत ही हैं, सूक्ष्म भूतोंके अतिरिक्त स्थूल भूतोंकी कोई सत्ता ही नहीं है, वैसे ही मैं समस्त प्राणियोंके भीतर द्रष्टारूपसे और बाहर दृश्यरूपसे स्थित हूँ । मुझमें बाहर-भीतरका भेद भी नहीं है; क्योंकि मैं निरावरण, एक—अद्वितीय आत्मा हूँ ॥ ३१–३६ ॥

अध्याय दशम

भगवान्‌की विभूतियोंका वर्णन

उद्धव उवाच

त्वं ब्रह्म परमं साक्षादनाद्यन्तमपावृतम् ।
सर्वेषामपि भावानां त्राणस्थित्यप्ययोद्भवः ॥
उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयमकृतात्मभिः ।
उपासते त्वां भगवन् याथातथ्येन ब्राह्मणाः ॥
येषु येषु च भावेषु भक्त्या त्वां परमर्षयः ।
उपासीनाः प्रपद्यन्ते संसिद्धिं तद् वदस्व मे ॥
गूढश्चरसि भूतात्मा भूतानां भूतभावन ।
न त्वां पश्यन्ति भूतानि पश्यन्तं मोहितानि ते ॥
याः काश्च भूमौ दिवि वै रसायां
विभूतयो दिक्षु महाविभूते ।
ता मह्यमाख्याह्यनुभावितास्ते
नमामि ते तीर्थपदाङ्घ्रिपद्मम् ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । १६ । १–५)

उद्धवजीने कहा—भगवन् ! आप स्वयं परब्रह्म हैं, न आपका आदि है और न अन्त । आप आवरणरहित

अद्वितीय तत्त्व हैं। समस्त प्राणियों और पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति, रक्षा और प्रलयके कारण भी आप ही हैं। आप उच्च-नीच सभी प्राणियोंमें स्थित हैं; परंतु जिन लोगोंने अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें नहीं किया है, वे आपको नहीं जान सकते। आपकी यथोचित उपासना तो ब्रह्मवेत्ता पुरुष ही करते हैं। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि आपके जिन रूपों और विभूतियोंकी परम भक्तिके साथ उपासना करके सिद्धि प्राप्त करते हैं, वह आप मुझसे कहिये। समस्त प्राणियोंके जीवनदाता प्रभो! आप समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं। आप उनमें अपनेको गुप्त रखकर लीला करते रहते हैं। आप तो सबको देखते हैं, परंतु जगत्‌के प्राणी आपकी मायासे ऐसे मोहित हो रहे हैं कि वे आपको नहीं देख पाते। अचिन्त्य ऐश्वर्यसम्पन्न प्रभो! पृथ्वी, स्वर्ग, पाताल तथा दिशा-विदिशाओंमें आपके प्रभावसे युक्त जो-जो भी विभूतियाँ हैं, आप कृपा करके मुझसे उनका वर्णन कीजिये। प्रभो! मैं आपके उन चरणकमलोंकी वन्दना करता हूँ, जो समस्त तीर्थोंको भी तीर्थ बनानेवाले हैं ॥ १—५ ॥

श्रीभगवानुवाच

एवमेतदहं पृष्टः प्रश्नं प्रश्नविदां वर।
युयुत्सुना विनशने सपत्नैरर्जुनेन वै ॥
ज्ञात्वा ज्ञातिवधं गर्ह्यमधर्मं राज्यहेतुकम्।
ततो निवृत्तो हन्ताहं हतोऽयमिति लौकिकः ॥
स तदा पुरुषव्याघ्रो युक्त्या मे प्रतिबोधितः।
अभ्यभाषत मामेवं यथा त्वं रणमूर्धनि ॥
अहमात्मोद्धवामीषां भूतानां सुहृदीश्वरः।
अहं सर्वाणि भूतानि तेषां स्थित्युद्भवाप्ययः ॥
अहं गतिर्गतिमतां कालः कलयतामहम्।
गुणानां चाप्यहं साम्यं गुणिन्यौत्पत्तिको गुणः ॥
गुणिनामप्यहं सूत्रं महतां च महानहम्।
सूक्ष्माणामप्यहं जीवो दुर्जयानामहं मनः ॥
हिरण्यगर्भो वेदानां मन्त्राणां प्रणवस्त्रिवृत्।
अक्षराणामकारोऽस्मि पदानिच्छन्दसामहम् ॥
इन्द्रोऽहं सर्वदेवानां वसूनामस्मि हव्यवाट्।
आदित्यानामहं विष्णू रुद्राणां नीललोहितः ॥
ब्रह्मर्षीणां भृगुरहं राजर्षीणामहं मनुः।
देवर्षीणां नारदोऽहं हविर्धान्यस्मि धेनुषु ॥
सिद्धेश्वराणां कपिलः सुपर्णोऽहं पतत्त्रिणाम्।
प्रजापतीनां दक्षोऽहं पितॄणामहमर्यमा ॥
मां विद्ध्युद्धव दैत्यानां प्रह्लादमसुरेश्वरम्।
सोमं नक्षत्रौषधीनां धनेशं यक्षरक्षसाम् ॥
ऐरावतं गजेन्द्राणां यादसां वरुणं प्रभुम्।
तपतां द्युमतां सूर्यं मनुष्याणां च भूपतिम् ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । १६ । ६—१७)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! तुम प्रश्नका मर्म समझनेवालोंमें शिरोमणि हो। जिस समय कुरुक्षेत्रमें कौरव-पाण्डवोंका युद्ध छिड़ा हुआ था, उस समय शत्रुओंसे युद्धके लिये तत्पर अर्जुनने मुझसे यही प्रश्न किया था। अर्जुनके मनमें ऐसी धारणा हुई कि कुटुम्बियोंको मारना और सो भी राज्यके लिये, बहुत ही निन्दनीय अधर्म है। साधारण पुरुषोंके समान वह यह सोच रहा था कि 'मैं मारनेवाला हूँ और ये सब मरनेवाले हैं।' यह सोचकर वह युद्धसे उपरत हो गया। तब मैंने रणभूमिमें बहुत-सी युक्तियाँ देकर वीर-शिरोमणि अर्जुनको समझाया था। उस समय अर्जुनने भी मुझसे यही प्रश्न किया था, जो तुम कर रहे हो। उद्धव! मैं समस्त प्राणियोंका आत्मा, हितैषी सुहृद् और ईश्वर-नियामक हूँ। मैं ही इन समस्त प्राणियों और पदार्थोंके रूपमें हूँ और इनकी उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयका कारण भी हूँ। गतिशील पदार्थोंमें मैं गति हूँ। अपने अधीन करनेवालोंमें मैं काल हूँ। गुणोंमें मैं उनकी मूलस्वरूपा साम्यावस्था हूँ और जितने भी गुणवान् पदार्थ हैं उनमें उनका स्वाभाविक गुण हूँ। गुणयुक्त वस्तुओंमें मैं क्रियाशक्ति-प्रधान प्रथम कार्य सूत्रात्मा हूँ और महानोंमें ज्ञानशक्ति-प्रधान प्रथम कार्य महत्तत्त्व हूँ। सूक्ष्म वस्तुओंमें मैं जीव हूँ और कठिनाईसे वशमें होनेवालोंमें मन हूँ। मैं वेदोंका अभिव्यक्ति-स्थान हिरण्यगर्भ हूँ और मन्त्रोंमें

तीन मात्राओं (अ+उ+म) वाला ओंकार हूँ। मैं अक्षरोंमें अकार, छन्दोंमें त्रिपदा गायत्री हूँ। समस्त देवताओंमें इन्द्र, आठ वसुओंमें अग्नि, द्वादश आदित्योंमें विष्णु और एकादश रुद्रोंमें नीललोहित नामका रुद्र हूँ। मैं ब्रह्मर्षियोंमें भृगु, राजर्षियोंमें मनु, देवर्षियोंमें नारद और गौओंमें कामधेनु हूँ। मैं सिद्धेश्वरोंमें कपिल, पक्षियोंमें गरुड़, प्रजापतियोंमें दक्ष प्रजापति और पितरोंमें अर्यमा हूँ। प्रिय उद्धव! मैं दैत्योंमें दैत्यराज प्रह्लाद, नक्षत्रोंमें चन्द्रमा, ओषधियोंमें सोमरस एवं यक्ष-राक्षसोंमें कुबेर हूँ—ऐसा समझो। मैं गजराजोंमें ऐरावत, जलनिवासियोंमें उनका प्रभु वरुण, तपने और चमकनेवालोंमें सूर्य तथा मनुष्योंमें राजा हूँ॥ ६—१७॥

उच्चैःश्रवास्तुरङ्गाणां धातूनामस्मि काञ्चनम्।
यमः संयमतां चाहं सर्पाणामस्मि वासुकिः॥
नागेन्द्राणामनन्तोऽहं मृगेन्द्रः शृङ्गिदंष्ट्रिणाम्।
आश्रमाणामहं तुर्यो वर्णानां प्रथमोऽनघ॥
तीर्थानां स्रोतसां गङ्गा समुद्रः सरसामहम्।
आयुधानां धनुरहं त्रिपुरघ्नो धनुष्मताम्॥
धिष्ण्यानामस्म्यहं मेरुर्गहनानां हिमालयः।
वनस्पतीनामश्वत्थ ओषधीनामहं यवः॥
पुरोधसां वसिष्ठोऽहं ब्रह्मिष्ठानां बृहस्पतिः।
स्कन्दोऽहं सर्वसेनान्यामग्रण्यां भगवानजः॥
यज्ञानां ब्रह्मयज्ञोऽहं व्रतानामविहिंसनम्।
वाय्वग्न्यर्काम्बुवागात्मा शुचीनामप्यहं शुचिः॥
योगानामात्मसंरोधो मन्त्रोऽस्मि विजिगीषताम्।
आन्वीक्षिकी कौशलानां विकल्पः ख्यातिवादिनाम्॥
स्त्रीणां तु शतरूपाहं पुंसां स्वायम्भुवो मनुः।
नारायणो मुनीनां च कुमारो ब्रह्मचारिणाम्॥
धर्माणामस्मि संन्यासः क्षेमाणामबहिर्मतिः।
गुह्यानां सूनृतं मौनं मिथुनानामजस्त्वहम्॥
संवत्सरोऽस्म्यनिमिषामृतूनां मधुमाधवौ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहं नक्षत्राणां तथाभिजित्॥
अहं युगानां च कृतं धीराणां देवलोऽसितः।
द्वैपायनोऽस्मि व्यासानां कवीनां काव्य आत्मवान्॥
वासुदेवो भगवतां त्वं तु भागवतेष्वहम्।
किम्पुरुषाणां हनुमान् विद्याध्राणां सुदर्शनः॥
(श्रीमद्भागवत ११। १६। १८—२९)

मैं घोड़ोंमें उच्चैःश्रवा, धातुओंमें सोना, दण्डधारियोंमें यम और सर्पोंमें वासुकि हूँ। निष्पाप उद्धवजी! मैं नागराजोंमें शेषनाग, सींग और दाढ़वाले प्राणियोंमें उनका राजा सिंह, आश्रमोंमें संन्यास और वर्णोंमें ब्राह्मण हूँ। मैं तीर्थ और नदियोंमें गङ्गा, जलाशयोंमें समुद्र, अस्त्र-शस्त्रोंमें धनुष तथा धनुर्धरोंमें त्रिपुरारि शंकर हूँ। मैं निवासस्थानोंमें सुमेरु, दुर्गम स्थानोंमें हिमालय, वनस्पतियोंमें पीपल और धान्योंमें जौ हूँ। मैं पुरोहितोंमें वसिष्ठ, वेदवेत्ताओंमें बृहस्पति, समस्त सेनापतियोंमें स्वामिकार्तिक और सन्मार्ग-प्रवर्तकोंमें भगवान् ब्रह्मा हूँ। पञ्चमहायज्ञोंमें ब्रह्मयज्ञ (स्वाध्याययज्ञ) हूँ, व्रतोंमें अहिंसाव्रत और शुद्ध करनेवाले पदार्थोंमें नित्य शुद्ध वायु, अग्नि, सूर्य, जल, वाणी एवं आत्मा हूँ। आठ प्रकारके योगोंमें मैं मनोनिरोध-रूप समाधि हूँ। विजयके इच्छुकोंमें रहनेवाला मैं मन्त्र (नीति) बल हूँ, कौशलोंमें आत्मा और अनात्माका विवेकरूप कौशल तथा ख्यातिवादियोंमें विकल्प हूँ। मैं स्त्रियोंमें मनुपत्नी शतरूपा, पुरुषोंमें स्वायम्भुव मनु, मुनीश्वरोंमें नारायण और ब्रह्मचारियोंमें सनत्कुमार हूँ। मैं धर्मोंमें कर्मसंन्यास अथवा एषणात्रयके त्यागद्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदान-रूप सच्चा संन्यास हूँ। अभयके साधनोंमें आत्मस्वरूपका अनुसंधान हूँ, अभिप्राय-गोपनके साधनोंमें मधुर वचन एवं मौन हूँ और स्त्री-पुरुषके जोड़ोंमें मैं प्रजापति हूँ—जिनके शरीरके दो भागोंसे पुरुष और स्त्रीका पहला जोड़ा पैदा हुआ। सदा सावधान रहकर जागनेवालोंमें संवत्सररूप काल मैं हूँ, ऋतुओंमें वसन्त, महीनोंमें मार्गशीर्ष और नक्षत्रोंमें अभिजित् हूँ। मैं युगोंमें सत्ययुग,

विवेकियोंमें महर्षि देवल और असित, व्यासोंमें श्रीकृष्ण-द्वैपायन व्यास तथा कवियोंमें मनस्वी शुक्राचार्य हूँ। सृष्टिकी उत्पत्ति और लय, प्राणियोंके जन्म और मृत्यु तथा विद्या और अविद्याके जाननेवाले भगवानोंमें (विशिष्ट महापुरुषोंमें) मैं वासुदेव हूँ। मेरे प्रेमी भक्तोंमें तुम (उद्धव), किम्पुरुषोंमें हनुमान्, विद्याधरोंमें सुदर्शन (जिसने अजगरके रूपमें नन्दबाबाको ग्रस लिया था और फिर भगवान्‌के पादस्पर्शसे मुक्त हो गया था) मैं हूँ ॥ १८–२९ ॥

रत्नानां पद्मरागोऽस्मि पद्मकोशः सुपेशसाम् ।
कुशोऽस्मि दर्भजातीनां गव्यमाज्यं हविःष्वहम् ॥
व्यवसायिनामहं लक्ष्मीः कितवानां छलग्रहः ।
तितिक्षास्मि तितिक्षूणां सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥
ओजः सहो बलवतां कर्माहं विद्धि सात्वताम् ।
सात्वतां नवमूर्तीनामादिमूर्तिरहं परा ॥
विश्वावसुः पूर्वचित्तिर्गन्धर्वाप्सरसामहम् ।
भूधराणामहं स्थैर्यं गन्धमात्रमहं भुवः ॥
अपां रसश्च परमस्तेजिष्ठानां विभावसुः ।
प्रभा सूर्येन्दुताराणां शब्दोऽहं नभसः परः ॥
ब्रह्मण्यानां बलिरहं वीराणामहमर्जुनः ।
भूतानां स्थितिरुत्पत्तिरहं वै प्रतिसंक्रमः ।
गत्युक्त्युत्सर्गोपादानमानन्दस्पर्शलक्षणम् ॥
आस्वादश्रुत्यवघ्राणमहं सर्वेन्द्रियेन्द्रियम् ।
पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतिरहं महान् ॥
विकारः पुरुषोऽव्यक्तं रजः सत्त्वं तमः परम् ।
अहमेतत्प्रसंख्यानं ज्ञानं तत्त्वविनिश्चयः ॥
मयेश्वरेण जीवेन गुणेन गुणिना विना ।
सर्वात्मनापि सर्वेण न भावो विद्यते क्वचित् ॥
संख्यानं परमाणूनां कालेन क्रियते मया ।
न तथा मे विभूतीनां सृजतोऽण्डानि कोटिशः ॥
तेजः श्रीः कीर्तिरैश्वर्यं ह्रीस्त्यागः सौभगं भगः ।
वीर्यं तितिक्षा विज्ञानं यत्र यत्र स मेंऽशकः ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । १६ । ३०—४०)

रत्नोंमें पद्मराग (लाल), सुन्दर वस्तुओंमें कमलकी कली, तृणोंमें कुश और हविष्योंमें गायका घी हूँ। मैं व्यापारियोंमें रहनेवाली लक्ष्मी, छल-कपट करनेवालोंमें द्यूत-क्रीडा, तितिक्षुओंकी तितिक्षा (कष्टसहिष्णुता) और सात्त्विक पुरुषोंमें रहनेवाला सत्त्वगुण हूँ। मैं बलवानोंमें उत्साह और पराक्रम तथा भगवद्भक्तोंमें भक्तियुक्त निष्काम कर्म हूँ। वैष्णवोंकी पूज्य वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नारायण, हयग्रीव, वराह, नृसिंह और ब्रह्मा—इन नौ मूर्तियोंमें मैं पहली एवं श्रेष्ठ मूर्ति वासुदेव हूँ। मैं गन्धर्वोंमें विश्वावसु और अप्सराओंमें ब्रह्माजीके दरबारकी अप्सरा पूर्वचित्ति हूँ। पर्वतोंमें स्थिरता और पृथ्वीमें शुद्ध अविकारी गन्ध मैं ही हूँ। मैं जलमें रस, तेजस्वियोंमें परम तेजस्वी अग्नि; सूर्य, चन्द्र और तारोंमें प्रभा तथा आकाशमें उसका एकमात्र गुण शब्द हूँ। उद्धवजी ! मैं ब्राह्मण-भक्तोंमें बलि, वीरोंमें अर्जुन और प्राणियोंमें उनकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय हूँ। मैं ही पैरोंमें चलनेकी शक्ति, वाणीमें बोलनेकी शक्ति, पायुमें मलत्यागकी शक्ति, हाथोंमें पकड़नेकी शक्ति और जननेन्द्रियमें आनन्दोपभोगकी शक्ति हूँ। त्वचामें स्पर्शकी, नेत्रोंमें दर्शनकी, रसनामें स्वाद लेनेकी, कानोंमें श्रवणकी और नासिकामें सूँघनेकी शक्ति भी मैं ही हूँ। समस्त इन्द्रियोंकी इन्द्रिय-शक्ति मैं ही हूँ। पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, तेज, अहंकार, महत्तत्त्व, पञ्च-महाभूत, जीव, अव्यक्त, प्रकृति, सत्त्व, रज, तम और उनसे परे रहनेवाला ब्रह्म—ये सब मैं ही हूँ। इन तत्त्वोंकी गणना, लक्षणोंद्वारा उनका ज्ञान तथा तत्त्व-ज्ञानरूप उसका फल भी मैं ही हूँ। मैं ही ईश्वर हूँ, मैं ही जीव हूँ, मैं ही गुण हूँ और मैं ही गुणी हूँ। मैं ही सबका आत्मा हूँ और मैं ही सब कुछ हूँ। मेरे अतिरिक्त और कोई भी पदार्थ कहीं भी नहीं है। यदि मैं गिनने लगूँ तो किसी समय परमाणुओंकी

गणना तो कर सकता हूँ, परंतु अपनी विभूतियोंकी गणना नहीं कर सकता; क्योंकि जब मेरे रचे हुए कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंकी भी गणना नहीं हो सकती, तब मेरी विभूतियोंकी गणना तो हो ही कैसे सकती है। ऐसा समझो कि जिसमें भी तेज, श्री, कीर्ति, ऐश्वर्य, लज्जा, त्याग, सौन्दर्य, सौभाग्य, पराक्रम, तितिक्षा और विज्ञान आदि श्रेष्ठ गुण हों, वह मेरा ही अंश है॥ ३०—४०॥

एतास्ते कीर्तिताः सर्वाः संक्षेपेण विभूतयः।
मनोविकारा एवैते यथा वाचाभिधीयते॥
वाचं यच्छ मनो यच्छ प्राणान् यच्छेन्द्रियाणि च।
आत्मानमात्मना यच्छ न भूयः कल्पसेऽध्वने॥
यो वै वाङ्मनसी सम्यगसंयच्छन् धिया यतिः।
तस्य व्रतं तपो दानं स्रवत्यामघटाम्बुवत्॥
तस्मान्मनोवचःप्राणान् नियच्छेन्मत्परायणः।
मद्भक्तियुक्तया बुद्ध्या ततः परिसमाप्यते॥

(श्रीमद्भागवत ११। १६। ४१—४४)

उद्धवजी! मैंने तुम्हारे प्रश्नके अनुसार संक्षेपसे विभूतियोंका वर्णन किया। ये सब परमार्थ-वस्तु नहीं हैं, मनोविकारमात्र हैं; क्योंकि मनसे सोची और वाणीसे कही हुई कोई भी वस्तु परमार्थ (वास्तविक) नहीं होती। उसकी एक कल्पना ही होती है। इसलिये तुम वाणीको स्वच्छन्द भाषणसे रोको, मनके संकल्प-विकल्प बंद करो। इसके लिये प्राणोंको वशमें करो और इन्द्रियोंका दमन करो। सात्त्विक बुद्धिके द्वारा प्रपञ्चाभिमुख बुद्धिको शान्त करो। फिर तुम्हें संसारके जन्म-मृत्युरूप बीहड़ मार्गमें भटकना नहीं पड़ेगा। जो साधक बुद्धिके द्वारा वाणी और मनको पूर्णतया वशमें नहीं कर लेता, उसके व्रत, तप और दान उसी प्रकार क्षीण हो जाते हैं, जैसे कच्चे घड़ेमें भरा हुआ जल। इसलिये मेरे प्रेमी भक्तको चाहिये कि वह मेरे परायण होकर भक्तियुक्त बुद्धिसे वाणी, मन और प्राणोंका संयम करे। ऐसा कर लेनेपर फिर उसे कुछ करना शेष नहीं रहता। वह कृतकृत्य हो जाता है॥४१—४४॥

अध्याय एकादश

वर्णाश्रम-धर्मका निरूपण

उद्धव उवाच

यस्त्वयाभिहितः पूर्वं धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः।
वर्णाश्रमाचारवतां सर्वेषां द्विपदामपि॥
यथानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवेत्।
स्वधर्मेणारविन्दाक्ष तत् समाख्यातुमर्हसि॥
पुरा किल महाबाहो धर्मं परमकं प्रभो।
यत्तेन हंसरूपेण ब्रह्मणेऽभ्यात्थ माधव॥
स इदानीं सुमहता कालेनामित्रकर्शन।
न प्रायो भविता मर्त्यलोके प्रागनुशासितः॥
वक्ता कर्ताविता नान्यो धर्मस्याच्युत ते भुवि।
सभायामपि वैरिञ्च्यां यत्र मूर्तिधराः कलाः॥
कर्त्रावित्रा प्रवक्त्रा च भवता मधुसूदन।
त्यक्ते महीतले देव विनष्टं कः प्रवक्ष्यति॥
तत्त्वं नः सर्वधर्मज्ञ धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः।
यथा यस्य विधीयेत तथा वर्णय मे प्रभो॥

(श्रीमद्भागवत ११। १७। १—७)

उद्धवजीने कहा—कमलनयन श्रीकृष्ण! आपने पहले वर्णाश्रम-धर्मका पालन करनेवालोंके लिये और सामान्यतः मनुष्यमात्रके लिये उस धर्मका उपदेश किया था, जिससे आपकी भक्ति प्राप्त होती है। अब आप कृपा करके यह बतलाइये कि मनुष्य किस प्रकारसे अपने धर्मका अनुष्ठान करे, जिससे आपके चरणोंमें उसे भक्ति प्राप्त हो जाय। प्रभो! महाबाहु माधव! पहले आपने हंसरूपसे अवतार ग्रहण करके ब्रह्माजीको अपने परम धर्मका उपदेश किया था। रिपुदमन! बहुत समय बीत जानेके कारण वह इस समय मर्त्यलोकमें प्रायः नहीं-सा रह गया है; क्योंकि आपको उसका उपदेश किये बहुत दिन हो गये हैं।

अच्युत ! पृथ्वीमें तथा ब्रह्माकी उस सभामें भी, जहाँ सम्पूर्ण वेद मूर्तिमान् होकर विराजमान रहते हैं, आपके अतिरिक्त ऐसा कोई भी नहीं है जो आपके इस धर्मका प्रवचन, प्रवर्त्तन अथवा संरक्षण कर सके। इस धर्मके प्रवर्तक, रक्षक और उपदेशक आप ही हैं। आपने पहले जैसे मधु दैत्यको मारकर वेदोंकी रक्षा की थी, वैसे ही अपने धर्मकी भी रक्षा कीजिये। स्वयंप्रकाश परमात्मन् ! जब आप पृथ्वीतलसे अपनी लीला संवरण कर लेंगे, तब तो इस धर्मका लोप ही हो जायगा तो फिर उसे कौन बतायेगा ? आप समस्त धर्मोंके मर्मज्ञ हैं; इसलिये प्रभो ! आप उस धर्मका वर्णन कीजिये, जो आपकी भक्ति प्राप्त करानेवाला है और यह भी बतलाइये कि किसके लिये उसका कैसा विधान है ॥ १—७ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्थं स्वभृत्यमुख्येन पृष्टः स भगवान् हरिः।
प्रीतः क्षेमाय मर्त्यानां धर्मानाह सनातनान् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । १७ । ८)

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! जब इस प्रकार भक्तशिरोमणि उद्धवजीने प्रश्न किया, तब भगवान् श्रीकृष्णने अत्यन्त प्रसन्न होकर प्राणियोंके कल्याणके लिये उन्हें सनातन धर्मोंका उपदेश दिया ॥ ८ ॥

श्रीभगवानुवाच

धर्म्य एष तव प्रश्नो नैःश्रेयसकरो नृणाम्।
वर्णाश्रमाचारवतां तमुद्धव निबोध मे ॥
आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः।
कृतकृत्याः प्रजा जात्या तस्मात् कृतयुगं विदुः ॥
वेदः प्रणव एवाग्रे धर्मोऽहं वृषरूपधृक्।
उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्तकिल्बिषाः ॥
त्रेतामुखे महाभाग प्राणान्मे हृदयात्त्रयी।
विद्या प्रादुरभूत्तस्या अहमासं त्रिवृन्मखः ॥
विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः ॥
गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम।
वक्षःस्थानाद् वने वासो न्यासः शीर्षणि संस्थितः
वर्णानामाश्रमाणां च जन्मभूम्यनुसारिणीः।
आसन् प्रकृतयो नृणां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमाः ॥
शमो दमस्तपः शौचं संतोषः क्षान्तिरार्जवम्।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः ॥
तेजो बलं धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः।
स्थैर्यं ब्रह्मण्यतैश्वर्यं क्षत्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥
आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम्।
अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः ॥
शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां चाप्यमायया।
तत्र लब्धेन संतोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥
अशौचमनृतं स्तेयं नास्तिक्यं शुष्कविग्रहः।
कामः क्रोधश्च तर्षश्च स्वभावोऽन्तेवसायिनाम् ॥
अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । १७ । ९—२१)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव ! तुम्हारा प्रश्न धर्ममय है; क्योंकि इससे वर्णाश्रमधर्मी मनुष्योंको परम कल्याण-स्वरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है। अतः मैं तुम्हें उन धर्मोंका उपदेश करता हूँ, सावधान होकर सुनो। जिस समय इस कल्पका प्रारम्भ हुआ था और पहला सत्ययुग चल रहा था, उस समय सभी मनुष्योंका 'हंस' नामक एक ही वर्ण था। उस युगमें सब लोग जन्मसे ही कृतकृत्य होते थे; इसीलिये उसका एक नाम कृतयुग भी है। उस समय केवल प्रणव ही वेद था और तपस्या, शौच, दया एवं सत्यरूप चार चरणोंसे युक्त मैं ही वृषभरूपधारी धर्म था। उस समयके निष्पाप एवं परम तपस्वी भक्तजन मुझ हंसस्वरूप शुद्ध परमात्माकी उपासना करते थे। परम भाग्यवान् उद्धव ! सत्ययुगके बाद त्रेतायुगका आरम्भ होनेपर मेरे हृदयसे श्वास-प्रश्वासके द्वारा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेदरूप त्रयीविद्या प्रकट हुई और उस त्रयीविद्यासे होता, अध्वर्यु और उद्गाताके कर्मरूप तीन भेदोंवाले यज्ञके रूपसे मैं प्रकट हुआ। विराट् पुरुषके मुखसे ब्राह्मण,

भुजासे क्षत्रिय, जंघासे वैश्य और चरणोंसे शूद्रोंकी उत्पत्ति हुई। उनकी पहचान उनके स्वभावानुसार और आचरणसे होती है। उद्धवजी! विराट् पुरुष भी मैं ही हूँ; इसलिये मेरे ही ऊरुस्थलसे गृहस्थाश्रम, हृदयसे ब्रह्मचर्याश्रम, वक्षःस्थलसे वानप्रस्थाश्रम और मस्तकसे संन्यासाश्रमकी उत्पत्ति हुई है। इन वर्ण और आश्रमोंके पुरुषोंके स्वभाव भी इनके जन्मस्थानोंके अनुसार उत्तम, मध्यम और अधम हो गये। अर्थात् उत्तम स्थानोंसे उत्पन्न होनेवाले वर्ण और आश्रमोंके स्वभाव उत्तम और अधम स्थानोंसे उत्पन्न होनेवालोंके अधम हुए। शम, दम, तपस्या, पवित्रता, संतोष, क्षमाशीलता, सीधापन, मेरी भक्ति, दया और सत्य—ये ब्राह्मण-वर्णके स्वभाव हैं। तेज, बल, धैर्य, वीरता, सहनशीलता, उदारता, उद्योगशीलता, स्थिरता, ब्राह्मणभक्ति और ऐश्वर्य—ये क्षत्रिय वर्णके स्वभाव हैं। आस्तिकता, दानशीलता, दम्भहीनता, ब्राह्मणोंकी सेवा करना और धनसंचयसे संतुष्ट न होना—ये वैश्य वर्णके स्वभाव हैं। ब्राह्मण, गौ और देवताओंकी निष्कपटभावसे सेवा करना और उसीसे जो कुछ मिल जाय, उसमें संतुष्ट रहना—ये शूद्र वर्णके स्वभाव हैं। अपवित्रता, झूठ बोलना, चोरी करना, ईश्वर और परलोककी परवा न करना, झूठमूठ झगड़ना और काम, क्रोध एवं तृष्णाके वशमें रहना—ये अन्त्यजोंके स्वभाव हैं। उद्धवजी! चारों वर्णों और चारों आश्रमोंके लिये साधारण धर्म यह है कि मन, वाणी और शरीरसे किसीकी हिंसा न करें; सत्यपर दृढ़ रहें; चोरी न करें; काम, क्रोध तथा लोभसे बचें और जिन कामोंके करनेसे समस्त प्राणियोंकी प्रसन्नता और उनका भला हो, वे ही करें॥ ९—२१॥

द्वितीयं प्राप्यानुपूर्व्याज्जन्मोपनयनं द्विजः।
वसन् गुरुकुले दान्तो ब्रह्माधीयीत चाहुतः॥
मेखलाजिनदण्डाक्षब्रह्मसूत्रकमण्डलून्।
जटिलोऽधौतदद्वासोऽरक्तपीठः कुशान् दधत्॥
स्नानभोजनहोमेषु जपोच्चारे च वाग्यतः।
नच्छिन्द्यान्नखरोमाणि कक्षोपस्थगतान्यपि॥
रेतो नावकिरेज्जातु ब्रह्मव्रतधरः स्वयम्।
अवकीर्णेऽवगाह्याप्सु यतासुस्त्रिपदीं जपेत्॥
अग्न्यर्काचार्यगोविप्रगुरुवृद्धसुराञ्छुचिः।
समाहित उपासीत संध्ये च यतवाग् जपन्॥
आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥
सायं प्रातरुपानीय भैक्ष्यं तस्मै निवेदयेत्।
यच्चान्यदप्यनुज्ञातमुपयुञ्जीत संयतः॥
शुश्रूषमाण आचार्यं सदोपासीत नीचवत्।
यानशय्यासनस्थानैर्नातिदूरे कृताञ्जलिः॥
एवंवृत्तो गुरुकुले वसेद् भोगविवर्जितः।
विद्या समाप्यते यावद् बिभ्रद् व्रतमखण्डितम्॥

(श्रीमद्भागवत ११। १७। २२—३०)

ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य गर्भाधान आदि संस्कारोंके क्रमसे यज्ञोपवीत-संस्काररूप द्वितीय जन्म प्राप्त करके गुरुकुलमें रहे और अपनी इन्द्रियोंको वशमें रक्खे। आचार्यके बुलानेपर वेदका अध्ययन करे और उसके अर्थका भी विचार करे। मेखला, मृगचर्म, वर्णके अनुसार दण्ड, रुद्राक्षकी माला, यज्ञोपवीत और कमण्डलु धारण करे। सिरपर जटा रक्खे, शौकीनीके लिये दाँत और वस्त्र न धोवे, रंगीन आसनपर न बैठे और कुश धारण करे। स्नान, भोजन, हवन, जप और मल-मूत्र-त्यागके समय मौन रहे और कक्ष तथा गुप्तेन्द्रियके बाल और नाखूनोंको कभी न काटे। पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करे। स्वयं तो कभी वीर्यपात करे ही नहीं, यदि स्वप्न आदिमें वीर्य स्खलित हो जाय, तो जलमें स्नान करके प्राणायाम करे एवं गायत्रीका जप करे। ब्रह्मचारीको पवित्रताके साथ एकाग्रचित्त होकर अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्धजन और देवताओंकी उपासना करनी चाहिये

तथा सायंकाल और प्रातःकाल मौन होकर संध्योपासन एवं गायत्रीका जप करना चाहिये। आचार्यको मेरा ही स्वरूप समझे, कभी उनका तिरस्कार न करे। उन्हें साधारण मनुष्य समझकर दोषदृष्टि न करे; क्योंकि गुरु सर्वदेवमय होता है। सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय जो कुछ भिक्षामें मिले, सो लाकर गुरुदेवके आगे रख दे। केवल भोजन ही नहीं, जो कुछ हो सब। तदनन्तर उनके आज्ञानुसार बड़े संयमसे भिक्षा आदिका यथोचित उपयोग करे। आचार्य यदि जाते हों तो उनके पीछे-पीछे चले, उनके सो जानेके बाद बड़ी सावधानीसे उनसे थोड़ी दूरपर सोवे। थके हों, तो पास बैठकर चरण दबावे और बैठे हों तो उनके आदेशकी प्रतीक्षामें हाथ जोड़कर पासमें ही खड़ा रहे। इस प्रकार अत्यन्त छोटे व्यक्तिकी भाँति सेवा-शुश्रूषाके द्वारा सदा-सर्वदा आचार्यकी आज्ञामें तत्पर रहे। जबतक विद्याध्ययन समाप्त न हो जाय, तबतक सब प्रकारके भोगोंसे दूर रहकर इसी प्रकार गुरुकुलमें निवास करे और कभी अपना ब्रह्मचर्यव्रत खण्डित न होने दे॥ २२—३०॥

यद्यसौ छन्दसां लोकमारोक्ष्यन् ब्रह्मविष्टपम्।
गुरवे विन्यसेद् देहं स्वाध्यायार्थं बृहद्व्रतः॥
अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेषु मां परम्।
अपृथग्धीरुपासीत ब्रह्मवर्चस्व्यकल्मषः॥
स्त्रीणां निरीक्षणस्पर्शसंलापक्ष्वेलनादिकम्।
प्राणिनो मिथुनीभूतानगृहस्थोऽग्रतस्त्यजेत्॥
शौचमाचमनं स्नानं संध्योपासनमार्जवम्।
तीर्थसेवा जपोऽस्पृश्याभक्ष्यासम्भाष्यवर्जनम्॥
सर्वाश्रमप्रयुक्तोऽयं नियमः कुलनन्दन।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायसंयमः॥
एवं बृहद्व्रतधरो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन्।
मद्भक्तस्तीव्रतपसा दग्धकर्माशयोऽमलः॥
(श्रीमद्भागवत ११। १७। ३१—३६)

यदि ब्रह्मचारीका विचार हो कि मैं मूर्तिमान् वेदोंके निवासस्थान ब्रह्मलोकमें जाऊँ, तो उसे आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-व्रत ग्रहण कर लेना चाहिये और वेदोंके स्वाध्यायके लिये अपना सारा जीवन आचार्यकी सेवामें ही समर्पित कर देना चाहिये। ऐसा ब्रह्मचारी सचमुच ब्रह्मतेजसे सम्पन्न हो जाता है और उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। उसे चाहिये कि अग्नि, गुरु, अपने शरीर और समस्त प्राणियोंमें मेरी ही उपासना करे और यह भाव रक्खे कि मेरे तथा सबके हृदयमें एक ही परमात्मा विराजमान है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासियोंको चाहिये कि वे स्त्रियोंको देखना, स्पर्श करना, उनसे बातचीत या हँसी-मसखरी आदि करना दूरसे ही त्याग दें; मैथुन करते हुए प्राणियोंपर तो दृष्टिपाततक न करें। प्रिय उद्धव! शौच, आचमन, स्नान, संध्योपासन, सरलता, तीर्थसेवन, जप, समस्त प्राणियोंमें मुझे ही देखना, मन, वाणी और शरीरका संयम—यह ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—सभीके लिये एक-सा नियम है। अस्पृश्योंको न छूना, अभक्ष्य वस्तुओंको न खाना और जिनसे बोलना नहीं चाहिये उनसे न बोलना—ये नियम भी सबके लिये हैं। नैष्ठिक ब्रह्मचारी ब्राह्मण इन नियमोंका पालन करनेसे अग्निके समान तेजस्वी हो जाता है। तीव्र तपस्याके कारण उसके कर्म-संस्कार भस्म हो जाते हैं, अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और वह मेरा भक्त होकर मुझे प्राप्त कर लेता है॥ ३१—३६॥

अथानन्तरमावेक्ष्यन् यथा जिज्ञासितागमः।
गुरवे दक्षिणां दत्त्वा स्नायाद् गुर्वनुमोदितः॥
गृहं वनं वोपविशेत् प्रव्रजेद् वा द्विजोत्तमः।
आश्रमादाश्रमं गच्छेन्नान्यथा मत्परश्चरेत्॥
(श्रीमद्भागवत ११। १७। ३७-३८)

प्यारे उद्धव! यदि नैष्ठिक ब्रह्मचर्य ग्रहण करनेकी इच्छा न हो—गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहता हो,

तो विधिपूर्वक वेदाध्ययन समाप्त करके आचार्यको दक्षिणा देकर और उनकी अनुमति लेकर समावर्तन-संस्कार करावे—स्नातक बनकर ब्रह्मचर्याश्रम छोड़ दे। ब्रह्मचारीको चाहिये कि ब्रह्मचर्य-आश्रमके बाद गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करे। यदि ब्राह्मण हो तो संन्यास भी ले सकता है। अथवा उसे चाहिये कि क्रमशः एक आश्रमसे दूसरे आश्रममें प्रवेश करे; किंतु मेरा आज्ञाकारी भक्त बिना आश्रमके रहकर अथवा विपरीत क्रमसे आश्रम-परिवर्तन कर स्वेच्छाचारमें न प्रवृत्त हो ॥ ३७-३८॥

गृहार्थी सदृशीं भार्यामुद्वहेदजुगुप्सिताम्।
यवीयसीं तु वयसा तां सवर्णामनु क्रमात्॥
इज्याध्ययनदानानि सर्वेषां च द्विजन्मनाम्।
प्रतिग्रहोऽध्यापनं च ब्राह्मणस्यैव याजनम्॥
प्रतिग्रहं मन्यमानस्तपस्तेजोयशोनुदम्।
अन्याभ्यामेव जीवेत शिलैर्वा दोषदृक् तयोः॥
ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च॥
शिलोञ्छवृत्त्या परितुष्टचित्तो
धर्मं महान्तं विरजं जुषाणः।
मय्यर्पितात्मा गृह एव तिष्ठ-
न्नातिप्रसक्तः समुपैति शान्तिम्॥
समुद्धरन्ति ये विप्रं सीदन्तं मत्परायणम्।
तानुद्धरिष्ये नचिरादापद्भ्यो नौरिवार्णवात्॥

(श्रीमद्भागवत ११।१७।३९—४४)

प्रिय उद्धव! यदि ब्रह्मचर्याश्रमके बाद गृहस्थाश्रम स्वीकार करना हो तो ब्रह्मचारीको चाहिये कि अपने अनुरूप एवं शास्त्रोक्त लक्षणोंसे सम्पन्न कुलीन कन्यासे विवाह करे। वह अवस्थामें अपनेसे छोटी और अपने ही वर्णकी होनी चाहिये। यदि कामवश अन्य वर्णकी कन्यासे और विवाह करना हो, तो क्रमशः अपनेसे निम्न वर्णकी कन्यासे विवाह कर सकता है। यज्ञ-यागादि, अध्ययन और दान करनेका अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्योंको समानरूपसे है। परंतु दान लेने, पढ़ाने और यज्ञ करानेका अधिकार केवल ब्राह्मणोंको ही है। ब्राह्मणको चाहिये कि इन तीनों वृत्तियोंमें प्रतिग्रह अर्थात् दान लेनेकी वृत्तिको तपस्या, तेज और यशका नाश करनेवाली समझकर पढ़ाने और यज्ञ करानेके द्वारा ही अपना जीवननिर्वाह करे और यदि इन दोनों वृत्तियोंमें भी दोषदृष्टि हो—परावलम्बन, दीनता आदि दोष दीखते हों—तो अन्न कटनेके बाद खेतोंमें पड़े हुए दाने बीनकर ही अपने जीवनका निर्वाह कर ले। उद्धव! ब्राह्मणका शरीर अत्यन्त दुर्लभ है। यह इसलिये नहीं है कि इसके द्वारा तुच्छ विषय-भोग ही भोगे जायँ। यह तो जीवन-पर्यन्त कष्ट भोगने, तपस्या करने और अन्तमें अनन्त आनन्दस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति करनेके लिये है। जो ब्राह्मण घरमें रहकर अपने महान् धर्मका निष्कामभावसे पालन करता है और खेतोंमें तथा बाजारोंमें गिरे-पड़े दाने चुनकर संतोषपूर्वक अपने जीवनका निर्वाह करता है, साथ ही अपना शरीर, प्राण, अन्तःकरण और आत्मा मुझे समर्पित कर देता है और कहीं भी अत्यन्त आसक्ति नहीं करता, वह बिना संन्यास लिये ही परम शान्तिस्वरूप परमपद प्राप्त कर लेता है। जो लोग विपत्तिमें पड़े कष्ट पा रहे मेरे भक्त ब्राह्मणको विपत्तियोंसे बचा लेते हैं, उन्हें मैं शीघ्र ही समस्त आपत्तियोंसे उसी प्रकार बचा लेता हूँ, जैसे समुद्रमें डूबते हुए प्राणीको नौका बचा लेती है ॥३९—४४॥

सर्वाः समुद्धरेद् राजा पितेव व्यसनात् प्रजाः।
आत्मानमात्मना धीरो यथा गजपतिर्गजान्॥
एवंविधो नरपतिर्विमानेनार्कवर्चसा।
विधूयेहाशुभं कृत्स्नमिन्द्रेण सह मोदते॥
सीदन् विप्रो वणिग्वृत्त्या पण्यैरेवापदं तरेत्।
खड्गेन वाऽऽपदाक्रान्तो न श्ववृत्त्या कथंचन॥
वैश्यवृत्त्या तु राजन्यो जीवेन्मृगययाऽऽपदि।

चरेद् वा विप्ररूपेण न श्ववृत्त्या कथंचन ॥
शूद्रवृत्तिं भजेद् वैश्यः शूद्रः कारुकटक्रियाम् ।
कृच्छ्रान्मुक्तो न गर्ह्येण वृत्तिं लिप्सेत कर्मणा ॥
वेदाध्यायस्वधास्वाहाबल्यन्नाद्यैर्यथोदयम् ।
देवर्षिपितृभूतानि मद्रूपाण्यन्वहं यजेत् ॥
यदृच्छयोपपन्नेन शुक्लेनोपार्जितेन वा ।
धनेनापीडयन् भृत्यान् न्यायेनैवाहरेत् क्रतून् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । १७ । ४५—५१)

राजा पिताके समान सारी प्रजाका कष्टसे उद्धार करे—उन्हें बचावे, जैसे गजराज दूसरे गजोंकी रक्षा करता है और धीर होकर स्वयं अपने आपसे अपना उद्धार करे । जो राजा इस प्रकार प्रजाकी रक्षा करता है, वह सारे पापोंसे मुक्त होकर अन्त समयमें सूर्यके समान तेजस्वी विमानपर चढ़कर स्वर्गलोकमें जाता है और इन्द्रके साथ सुख भोगता है । यदि ब्राह्मण अध्यापन अथवा यज्ञ-यागादिसे अपनी जीविका न चला सके, तो वैश्य-वृत्तिका आश्रय ले ले और जबतक विपत्ति दूर न हो जाय तबतक करे । यदि बहुत बड़ी आपत्तिका सामना करना हो तो तलवार उठाकर क्षत्रियोंकी वृत्तिसे भी अपना काम चला ले, परंतु किसी भी अवस्थामें नीचोंकी सेवा—जिसे 'श्वानवृत्ति' कहते हैं—न करे । इसी प्रकार यदि क्षत्रिय भी प्रजापालन आदिके द्वारा अपने जीवनका निर्वाह न कर सके तो वैश्यवृत्ति—व्यापार आदि कर ले । बहुत बड़ी आपत्ति हो तो शिकारके द्वारा अथवा विद्यार्थियोंको पढ़ाकर अपनी आपत्तिके दिन काट दे, परंतु नीचोंकी सेवा, 'श्वानवृत्ति'का आश्रय कभी न ले । वैश्य भी आपत्तिके समय शूद्रोंकी वृत्ति सेवासे अपना जीवन-निर्वाह कर ले और शूद्र चटाई बुनने आदि कारुवृत्तिका आश्रय ले ले; परंतु उद्धव ! ये सारी बातें आपत्तिकालके लिये ही हैं । आपत्तिका समय बीत जानेपर निम्नवर्णोंकी वृत्तिसे जीविकोपार्जन करनेका लोभ न करे । गृहस्थ पुरुषको चाहिये कि वेदाध्ययनरूप ब्रह्मयज्ञ, तर्पणरूप पितृयज्ञ, हवनरूप देवयज्ञ, काक-बलि आदि भूतयज्ञ और अन्नदानरूप अतिथियज्ञ आदिके द्वारा मेरे स्वरूपभूत ऋषि, देवता, पितर, मनुष्य एवं अन्य समस्त प्राणियोंकी यथाशक्ति प्रतिदिन पूजा करता रहे । गृहस्थ पुरुष अनायास प्राप्त अथवा शास्त्रोक्त रीतिसे उपार्जित अपने शुद्ध धनसे अपने भृत्य, आश्रित प्रजाजनको किसी प्रकारका कष्ट न पहुँचाते हुए न्याय और विधिके साथ ही यज्ञ करे ॥ ४५—५१ ॥

कुटुम्बेषु न सज्जेत न प्रमाद्येत् कुटुम्ब्यपि ।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत् ॥
पुत्रदाराप्तबन्धूनां संगमः पान्थसंगमः ।
अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा ॥
इत्थं परिमृशन्मुक्तो गृहेष्वतिथिवद् वसन् ।
न गृहैरनुबध्येत निर्ममो निरहंकृतः ॥
कर्मभिर्गृहमेधीयैरिष्ट्वा मामेव भक्तिमान् ।
तिष्ठेद् वनं वोपविशेत् प्रजावान् वा परिव्रजेत् ॥
यस्त्वासक्तमतिर्गेहे पुत्रवित्तैषणातुरः ।
स्त्रैणः कृपणधीर्मूढो ममाहमिति बध्यते ॥
अहो मे पितरौ वृद्धौ भार्या बालात्मजाऽऽत्मजाः ।
अनाथा मामृते दीनाः कथं जीवन्ति दुःखिताः ॥
एवं गृहाशयाक्षिप्तहृदयो मूढधीरयम् ।
अतृप्तस्ताननुध्यायन् मृतोऽन्धं विशते तमः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । १७ । ५२—५८)

प्रिय उद्धव ! गृहस्थ पुरुष कुटुम्बमें आसक्त न हो । बड़ा कुटुम्ब होनेपर भी भजनमें प्रमाद न करे । बुद्धिमान् पुरुषको यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि जैसे इस लोककी सभी वस्तुएँ नाशवान् हैं, वैसे ही स्वर्गादि परलोकके भोग भी नाशवान् ही हैं । यह जो स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु और गुरुजनोंका मिलना-जुलना है, यह वैसा ही है, जैसे किसी प्याऊपर कुछ बटोही इकट्ठे हो गये हों । सबको अलग-अलग रास्ते जाना

है। जैसे स्वप्न नींद टूटनेतक ही रहता है, वैसे ही इन मिलने-जुलनेवालोंका सम्बन्ध ही बस, शरीरके रहनेतक ही रहता है; फिर तो कौन किसको पूछता है। गृहस्थको चाहिये कि इस प्रकार विचार करके घर-गृहस्थीमें फँसे नहीं, उसमें इस प्रकार अनासक्तभावसे रहे मानो कोई अतिथि निवास कर रहा हो। जो शरीर आदिमें अहंकार और घर आदिमें ममता नहीं करता, उसे घर-गृहस्थीके फंदे बाँध नहीं सकते। भक्तिमान् पुरुष गृहस्थोचित शास्त्रोक्त कर्मोंके द्वारा मेरी आराधना करता हुआ घरमें ही रहे। अथवा यदि पुत्रवान् हो तो वानप्रस्थ आश्रममें चला जाय या संन्यासाश्रम स्वीकार कर ले। प्रिय उद्धव! जो लोग इस प्रकारका गृहस्थजीवन न बिताकर घर-गृहस्थीमें ही आसक्त हो जाते हैं; स्त्री, पुत्र और धनकी कामनाओंमें फँसकर हाय-हाय करते रहते और मूढतावश स्त्रीलम्पट और कृपण होकर मैं-मेरेके फेरमें पड़ जाते हैं, वे बँध जाते हैं। वे सोचते रहते हैं—हाय! हाय! मेरे माता-बाप बूढ़े हो गये; पत्नीके बाल-बच्चे अभी छोटे-छोटे हैं, मेरे न रहनेपर ये दीन, अनाथ और दुखी हो जायँगे; फिर इनका जीवन कैसे रहेगा?' इस प्रकार घर-गृहस्थीकी वासनासे जिसका चित्त विक्षिप्त हो रहा है, वह मूढ़-बुद्धि पुरुष विषयभोगोंसे कभी तृप्त नहीं होता, उन्हींमें उलझकर अपना जीवन खो बैठता है और मरकर घोर तमोमय नरकमें जाता है॥ ५२—५८॥

अध्याय द्वादश

वानप्रस्थ और संन्यासीके धर्म

श्रीभगवानुवाच

वनं विविक्षुः पुत्रेषु भार्यां न्यस्य सहैव वा।
वन एव वसेच्छान्तस्तृतीयं भागमायुषः॥
कन्दमूलफलैर्वन्यैर्मेध्यैर्वृत्तिं प्रकल्पयेत्।
वसीत वल्कलं वासस्तृणपर्णाजिनानि च॥
केशरोमनखश्मश्रुमलानि बिभृयाद् दतः।
न धावेदप्सु मज्जेत त्रिकालं स्थण्डिलेशयः॥
ग्रीष्मे तप्येत पञ्चाग्नीन् वर्षास्वासारषाड् जले।
आकण्ठमग्नः शिशिरे एवंवृत्तस्तपश्चरेत्॥
अग्निपक्वं समश्नीयात् कालपक्वमथापि वा।
उलूखलाश्मकुट्टो वा दन्तोलूखल एव वा॥
स्वयं संचिनुयात् सर्वमात्मनो वृत्तिकारणम्।
देशकालबलाभिज्ञो नाददीतान्यदाहृतम्॥
वन्यैश्चरुपुरोडाशैर्निर्वपेत् कालचोदितान्।
न तु श्रौतेन पशुना मां यजेत वनाश्रमी॥
अग्निहोत्रं च दर्शश्च पूर्णमासश्च पूर्ववत्।
चातुर्मास्यानि च मुनेराम्नातानि च नैगमैः॥
एवं चीर्णेन तपसा मुनिर्धमनिसंततः।
मां तपोमयमाराध्य ऋषिलोकादुपैति माम्॥
यस्त्वेतत् कृच्छ्रतश्चीर्णं तपो निःश्रेयसं महत्।
कामायाल्पीयसे युञ्ज्याद् बालिशः कोऽपरस्ततः॥

(श्रीमद्भागवत ११। १८। १—१०)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्धव! यदि गृहस्थ मनुष्य वानप्रस्थ-आश्रममें जाना चाहे, तो अपनी पत्नीको पुत्रोंके हाथ सौंप दे अथवा अपने साथ ही ले ले और फिर शान्तचित्तसे अपनी आयुका तीसरा भाग वनमें ही रहकर व्यतीत करे। उसे वनके पवित्र कन्द-मूल और फलोंसे ही शरीर-निर्वाह करना चाहिये; वस्त्रकी जगह वृक्षोंकी छाल पहिने अथवा घास-पात और मृगछालासे ही काम निकाल ले। केश, रोएँ, नख और मूँछ-दाढ़ीरूप शरीरके मलको हटावे नहीं। दाँतुन न करे। जलमें घुसकर त्रिकाल स्नान करे और धरतीपर ही पड़ रहे। ग्रीष्म ऋतुमें पञ्चाग्नि तपे। वर्षा ऋतुमें खुले मैदानमें रहकर वर्षाकी बौछार

सहे । जाड़ेके दिनोंमें गलेतक जलमें डूबा रहे । इस प्रकार घोर तपस्यामय जीवन व्यतीत करे । कन्द-मूलोंको केवल आगमें भूनकर खा ले अथवा समयानुसार पके हुए फल आदिके द्वारा ही काम चला ले । उन्हें कूटनेकी आवश्यकता हो तो ओखलीमें या सिलपर कूट ले, अन्यथा दाँतोंसे ही चबा-चबाकर खा ले । वानप्रस्थाश्रमीको चाहिये कि कौन-सा पदार्थ कहाँसे लाना चाहिये, किस समय लाना चाहिये, कौन-कौन पदार्थ अपने अनुकूल हैं—इन बातोंको जानकर अपने जीवन-निर्वाहके लिये स्वयं ही सब प्रकारके कन्द-मूल-फल आदि ले आवे । देश-काल आदिसे अनभिज्ञ लोगोंसे लाये हुए अथवा दूसरे समयके संचित पदार्थोंको अपने काममें न ले । नीवार आदि जंगली अन्नसे ही चरु-पुरोडाश आदि तैयार करे और उन्हींसे समयोचित आग्रयण आदि वैदिक कर्म करे । वानप्रस्थ हो जानेपर वेदविहित पशुओंद्वारा मेरा यजन न करे । वेदवेत्ताओंने वानप्रस्थीके लिये अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास और चातुर्मास्य आदिका वैसा ही विधान किया है, जैसा गृहस्थोंके लिये है । इस प्रकार घोर तपस्या करते-करते मांस सूख जानेके कारण वानप्रस्थीकी एक-एक नस दीखने लगती है । वह इस तपस्याके द्वारा मेरी आराधना करके पहले तो ऋषियोंके लोकमें जाता है और वहाँसे फिर मेरे पास आ जाता है; क्योंकि तप मेरा ही स्वरूप है । प्रिय उद्धव ! जो पुरुष बड़े कष्टसे किये हुए और मोक्ष देनेवाले इस महान् तपको स्वर्ग, ब्रह्मलोक आदि छोटे-मोटे फलोंकी प्राप्तिके लिये करता है, उससे बढ़कर मूर्ख और कौन होगा ? इसलिये तपस्याका अनुष्ठान निष्कामभावसे ही करना चाहिये ॥ १–१० ॥

यदासौ नियमेऽकल्पो जरया जातवेपथुः ।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य मच्चित्तोऽग्निं समाविशेत्॥
यदा कर्मविपाकेषु लोकेषु निरयात्मसु ।
विरागो जायते सम्यङ् न्यस्ताग्निः प्रव्रजेत्ततः ॥
इष्ट्वा यथोपदेशं मां दत्त्वा सर्वस्वमृत्विजे ।
अग्नीन् स्वप्राण आवेश्य निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥
विप्रस्य वै संन्यसतो देवा दारादिरूपिणः ।
विघ्नान् कुर्वन्त्ययं ह्यस्मानाक्रम्य समियात् परम्॥

(श्रीमद्भागवत ११ । १८ । ११–१४)

प्यारे उद्धव ! वानप्रस्थी जब अपने आश्रमोचित नियमोंका पालन करनेमें असमर्थ हो जाय, बुढ़ापेके कारण उसका शरीर काँपने लगे, तब यज्ञाग्नियोंको भावनाके द्वारा अपने अन्तःकरणमें आरोपित कर ले और अपना मन मुझमें लगाकर अग्निमें प्रवेश कर जाय । (यह विधान केवल उनके लिये है, जो विरक्त नहीं हैं ।) यदि उसकी समझमें यह बात आ जाय कि काम्य कर्मोंसे उनके फलस्वरूप जो लोक प्राप्त होते हैं, वे नरकोंके समान ही दुःखपूर्ण हैं और मनमें लोक-परलोकसे पूरा वैराग्य हो जाय तो विधिपूर्वक यज्ञाग्नियोंका परित्याग करके संन्यास ले ले । जो वानप्रस्थी संन्यासी होना चाहे, वह पहले वेदविधिके अनुसार आठों प्रकारके श्राद्ध और प्राजापत्य यज्ञसे मेरा यजन करे । इसके बाद अपना सर्वस्व ऋत्विजको दे दे । यज्ञाग्नियोंको अपने प्राणोंमें लीन कर ले और फिर किसी भी स्थान, वस्तु और व्यक्तिकी अपेक्षा न रखकर स्वच्छन्द विचरण करे । उद्धवजी ! जब ब्राह्मण संन्यास लेने लगता है, तब देवतालोग स्त्री-पुत्रादि सगे-सम्बन्धियोंका रूप धारण करके उसके संन्यास-ग्रहणमें विघ्न डालते हैं । वे सोचते हैं कि 'अरे ! यह तो हमलोगोंकी अवहेलना कर, हमलोगोंको लाँघकर परमात्माको प्राप्त होने जा रहा है' ॥ ११–१४ ॥

बिभृयाच्चेन्मुनिर्वासः कौपीनाच्छादनं परम् ।
त्यक्तं न दण्डपात्राभ्यामन्यत् किंचिदनापदि ॥
दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम् ।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥

मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देहचेतसाम् ।
न ह्येते यस्य सन्त्यङ्ग वेणुभिर्न भवेद् यतिः ॥
भिक्षां चतुर्षु वर्णेषु विगर्ह्यान् वर्जयंश्चरेत् ।
सप्तागारानसंक्लृप्तांस्तुष्येल्लब्धेन तावता ॥
बहिर्जलाशयं गत्वा तत्रोपस्पृश्य वाग्यतः ।
विभज्य पावितं शेषं भुञ्जीताशेषमाहृतम् ॥
एकश्चरेन्महीमेतां निस्सङ्गः संयतेन्द्रियः ।
आत्मक्रीड आत्मरत आत्मवान् समदर्शनः ॥
विविक्तक्षेमशरणो मद्भावविमलाशयः ।
आत्मानं चिन्तयेदेकमभेदेन मया मुनिः ॥
अन्वीक्षेतात्मनो बन्धं मोक्षं च ज्ञाननिष्ठया ।
बन्ध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषां च संयमः ॥
तस्मान्नियम्य षड्वर्गं मद्भावेन चरेन्मुनिः ।
विरक्तः क्षुल्लकामेभ्यो लब्ध्वाऽऽत्मनि सुखं महत्
पुरग्रामव्रजान् सार्थान् भिक्षार्थं प्रविशंश्चरेत् ।
पुण्यदेशसरिच्छैलवनाश्रमवतीं महीम् ॥
वानप्रस्थाश्रमपदेष्वभीक्ष्णं भैक्ष्यमाचरेत् ।
संसिध्यत्याश्वसम्मोहः शुद्धसत्त्वः शिलान्धसा ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । १८ । १५—२५)

यदि संन्यासी वस्त्र धारण करे तो केवल लँगोटी लगा ले और अधिक-से-अधिक उसके ऊपर एक ऐसा छोटा-सा टुकड़ा लपेट ले कि जिसमें लँगोटी ढक जाय । तथा आश्रमोचित दण्ड और कमण्डलुके अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु अपने पास न रक्खे। यह नियम आपत्ति-कालको छोड़कर सदाके लिये है । नेत्रोंसे धरती देखकर पैर रक्खे, कपड़ेसे छानकर जल पिये, मुँहसे प्रत्येक बात सत्यपूत—सत्यसे पवित्र हुई ही निकाले और शरीरसे जितने भी काम करे, बुद्धिपूर्वक—सोच-विचार कर ही करे । वाणीके लिये मौन, शरीरके लिये निश्चेष्ट स्थिति और मनके लिये प्राणायाम दण्ड हैं । जिसके पास ये तीनों दण्ड नहीं हैं, वह केवल शरीरपर बाँसके दण्ड धारण करनेसे 'दण्डी स्वामी' नहीं हो जाता । संन्यासीको चाहिये कि जातिच्युत और गोघाती आदि पतितोंको छोड़कर चारों वर्णोंकी भिक्षा ले । केवल अनिश्चित सात घरोंसे जितना मिल जाय, उतनेसे ही संतोष कर ले । इस प्रकार भिक्षा लेकर बस्तीके बाहर जलाशयपर जाय, वहाँ हाथ-पैर धोकर जलके द्वारा भिक्षा पवित्र कर ले, फिर शास्त्रोक्त पद्धतिसे जिन्हें भिक्षाका भाग देना चाहिये, उन्हें देकर जो कुछ बचे, उसे मौन होकर खा ले, दूसरे समयके लिये बचाकर न रक्खे और न अधिक माँगकर ही लाये । संन्यासीको पृथ्वीपर अकेले ही विचरना चाहिये । उसकी कहीं भी आसक्ति न हो, सब इन्द्रियाँ अपने वशमें हों । वह अपने-आपमें ही मस्त रहे, आत्म-प्रेममें ही तन्मय रहे, प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थितियोंमें भी धैर्य रक्खे और सर्वत्र समानरूपसे स्थित परमात्माका अनुभव करता रहे । संन्यासीको निर्जन और निर्भय एकान्त-स्थानमें रहना चाहिये । उसका हृदय निरन्तर मेरी भावनासे विशुद्ध बना रहे । वह अपने-आपको मुझसे अभिन्न और अद्वितीय अखण्डके रूपमें चिन्तन करे । वह अपनी ज्ञाननिष्ठासे चित्तके बन्धन और मोक्षपर विचार करे तथा निश्चय करे कि इन्द्रियोंका विषयोंके लिये विक्षिप्त होना—चञ्चल होना बन्धन है और उनको संयममें रखना ही मोक्ष है । इसलिये संन्यासीको चाहिये कि मन एवं पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंको जीत ले, भोगोंकी क्षुद्रता समझकर उनकी ओरसे सर्वथा मुँह मोड़ ले और अपने-आपमें ही परम आनन्दका अनुभव करे । इस प्रकार वह मेरी भावनासे भरकर पृथ्वीमें विचरता रहे । केवल भिक्षाके लिये ही नगर, गाँव,अहीरोंकी बस्ती या यात्रियों-की टोलीमें जाय । पवित्र देश, नदी, पर्वत, वन और आश्रमोंसे पूर्ण पृथ्वीमें बिना कहीं ममता जोड़े घूमता-फिरता रहे। भिक्षा भी अधिकतर वानप्रस्थियोंके आश्रमसे ही ग्रहण करे; क्योंकि कटे हुए खेतोंके दानेसे बनी हुई

भिक्षा शीघ्र ही चित्तको शुद्ध कर देती है और उससे बचा-खुचा मोह दूर होकर सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥ १५–२५ ॥

नैतद् वस्तुतया पश्येद् दृश्यमानं विनश्यति ।
असक्तचित्तो विरमेदिहामुत्र चिकीर्षितात् ॥
यदेतदात्मनि जगन्मनोवाक्प्राणसंहतम् ।
सर्वं मायेति तर्केण स्वस्थस्त्यक्त्वा न तत् स्मरेत् ॥
ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः ।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः ॥
बुधो बालकवत् क्रीडेत् कुशलो जडवच्चरेत् ।
वदेदुन्मत्तवद् विद्वान् गोचर्यां नैगमश्चरेत् ॥
वेदवादरतो न स्यान्न पाखण्डी न हैतुकः ।
शुष्कवादविवादे न कंचित् पक्षं समाश्रयेत् ॥
नोद्विजेत जनाद् धीरो जनं चोद्वेजयेन्न तु ।
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन ।
देहमुद्दिश्य पशुवद् वैरं कुर्यान्न केनचित् ॥
एक एव परो ह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थितः ।
यथेन्दुरुदपात्रेषु भूतान्येकात्मकानि च ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । १८ । २६—३२)

विचारवान् संन्यासी दृश्यमान जगत्को सत्य वस्तु कभी न समझे; क्योंकि यह तो प्रत्यक्ष ही नाशवान् है । इस जगत्में कहीं भी अपने चित्तको लगाये नहीं । इस लोक और परलोकमें जो कुछ करने-पानेकी इच्छा हो, उससे विरक्त हो जाय । संन्यासी विचार करे कि आत्मामें जो मन, वाणी और प्राणोंका संघात-रूप यह जगत् है, वह सारा-का-सारा माया ही है । इस विचारके द्वारा इसका बाध करके अपने स्वरूपमें स्थित हो जाय और फिर कभी उसका स्मरण भी न करे । ज्ञाननिष्ठ, विरक्त, मुमुक्षु और मोक्षकी भी अपेक्षा न रखनेवाला मेरा भक्त आश्रमोंकी मर्यादामें बद्ध नहीं है । वह चाहे तो आश्रमों और उनके चिह्नोंको छोड़-छाड़कर, वेद-शास्त्रके विधि-निषेधोंसे परे होकर स्वच्छन्द विचरे । वह बुद्धिमान् होकर भी बालकोंके समान खेले, निपुण होकर भी जडवत् रहे, विद्वान् होकर भी पागलकी तरह बातचीत करे और समस्त वेद-विधियों का जानकार होकर भी पशुवृत्तिसे (अनियत आचारवान्) रहे । उसे चाहिये कि वेदोंके कर्मकाण्ड-भागकी व्याख्यामें न लगे, पाखण्ड न करे, तर्क-वितर्कसे बचे और जहाँ कोरा वाद-विवाद हो रहा हो, वहाँ कोई पक्ष न ले । वह इतना धैर्यवान् हो कि उसके मनमें किसी भी प्राणीसे उद्वेग न हो और वह स्वयं भी किसी प्राणीको उद्विग्न न करे । उसकी कोई निन्दा करे, तो प्रसन्नतासे सह ले; किसीका अपमान न करे । प्रिय उद्धव ! संन्यासी इस शरीरके लिये किसीसे भी वैर न करे । ऐसा वैर तो पशु करते हैं। जैसे एक ही चन्द्रमा जलसे भरे हुए विभिन्न पात्रोंमें अलग-अलग दिखायी देता है, वैसे ही एक ही परमात्मा समस्त प्राणियोंमें और अपनेमें भी स्थित है । सबका आत्मा तो एक है ही, पञ्चभूतोंसे बने हुए शरीर भी सबके एक ही हैं; क्योंकि सब पाञ्चभौतिक ही तो हैं (ऐसी अवस्थामें किसीसे भी वैर-विरोध करना अपने ही वैर-विरोध है) ॥ २६—३२ ॥

अलब्ध्वा न विषीदेत काले कालेऽशनं क्वचित् ।
लब्ध्वा न हृष्येद् धृतिमानुभयं दैवतन्त्रितम् ॥
आहारार्थं समीहेत युक्तं तत्प्राणधारणम् ।
तत्त्वं विमृश्यते तेन तद् विज्ञाय विमुच्यते ॥
यदृच्छयोपपन्नान्नमद्याच्छ्रेष्ठमुतापरम् ।
तथा वासस्तथा शय्यां प्राप्तं प्राप्तं भजेन्मुनिः ॥
शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनया चरेत् ।
अन्यांश्च नियमाञ्ज्ञानी यथाहं लीलयेश्वरः ॥
न हि तस्य विकल्पाख्या या च मद्वीक्षया हता ।
आदेहान्तात् क्वचित् ख्यातिस्ततःसम्पद्यते मया ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । १८ । ३३-३७)

प्रिय उद्धव ! संन्यासीको किसी दिन यदि समयपर

भोजन न मिले, तो उसे दुखी नहीं होना चाहिये और यदि बराबर मिलता रहे, तो हर्षित न होना चाहिये। उसे चाहिये कि वह धैर्य रक्खे। मनमें हर्ष और विषाद—दोनों प्रकारके विकार न आने दे; क्योंकि भोजन मिलना और न मिलना—दोनों ही प्रारब्धके अधीन हैं। भिक्षा अवश्य माँगनी चाहिये, ऐसा करना उचित ही है; क्योंकि भिक्षासे ही प्राणोंकी रक्षा होती है। प्राण रहनेसे ही तत्त्वका विचार होता है और तत्त्वविचारसे तत्त्वज्ञान होकर मुक्ति मिलती है। संन्यासीको प्रारब्धके अनुसार अच्छी या बुरी—जैसी भी भिक्षा मिल जाय, उसीसे पेट भर लें। वस्त्र और बिछौने भी जैसे मिल जायँ, उन्हींसे काम चला ले। उनमें अच्छेपन या बुरेपनकी कल्पना न करे। जैसे मैं परमेश्वर होनेपर भी अपनी लीलासे ही शौच आदि शास्त्रोक्त नियमोंका पालन करता हूँ, वैसे ही ज्ञाननिष्ठ पुरुष भी शौच, आचमन, स्नान और दूसरे नियमोंका लीलासे ही आचरण करे। वह शास्त्रविधिके अधीन होकर—विधि-किङ्कर होकर न करे; क्योंकि ज्ञाननिष्ठ पुरुषको भेदकी प्रतीति ही नहीं होती। जो पहले थी, वह भी मुझ सर्वात्माके साक्षात्कारसे नष्ट हो गयी। यदि कभी-कभी मरणपर्यन्त बाधित भेदकी प्रतीति भी होती है, तब भी देहपात हो जानेपर वह मुझसे एक हो जाता है ॥ ३३–३७ ॥

दुःखोदर्केषु कामेषु जातनिर्वेद आत्मवान्।
अजिज्ञासितमद्धर्मो गुरुं मुनिमुपाव्रजेत् ॥
तावत् परिचरेद् भक्तः श्रद्धावाननसूयकः।
यावद् ब्रह्म विजानीयान्मामेव गुरुमादृतः ॥
यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः।
ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति ॥
सुरानात्मानमात्मस्थं निह्नुते मां च धर्महा।
अविपक्वकषायोऽस्मादमुष्माच्च विहीयते ॥
भिक्षोर्धर्मः शमोऽहिंसा तप ईक्षा वनौकसः।
गृहिणो भूतरक्षेज्या द्विजस्याचार्यसेवनम् ॥
ब्रह्मचर्यं तपः शौचं संतोषो भूतसौहृदम्।
गृहस्थस्याप्यृतौ गन्तुः सर्वेषां मदुपासनम् ॥
इति मां यः स्वधर्मेण भजेन्नित्यमनन्यभाक्।
सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दते दृढाम् ॥
भक्त्योद्धवानपायिन्या सर्वलोकमहेश्वरम्।
सर्वोत्पत्त्यप्ययं ब्रह्म कारणं मोपयाति सः ॥
इति स्वधर्मनिर्णिक्तसत्त्वो निर्ज्ञातमद्गतिः।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो नचिरात् समुपैति माम् ॥
वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः।
स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः ॥
एतत्तेऽभिहितं साधो भवान् पृच्छति यच्च माम्।
यथा स्वधर्मसंयुक्तो भक्तो मां समियात् परम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । १८ । ३८—४८)

उद्धवजी! (यह तो हुई ज्ञानवान्की बात। अब केवल वैराग्यवान्की बात सुनो।) जितेन्द्रिय पुरुष, जब यह निश्चय हो जाय कि संसारके विषयोंके भोगका फल दुःख-ही-दुःख है, तब वह विरक्त हो जाय और यदि वह मेरी प्राप्तिके साधनोंको न जानता हो तो भगवच्चिन्तनमें तन्मय रहनेवाले ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुकी शरण ग्रहण करे। वह गुरुकी दृढ़ भक्ति करे, श्रद्धा रक्खे और उनमें दोष कभी न निकाले। जबतक ब्रह्मका ज्ञान हो, तबतक बड़े आदरसे मुझे ही गुरुके रूपमें समझता हुआ उनकी सेवा करे। किंतु जिसने पाँच इन्द्रियाँ और मन—इन छहोंपर विजय नहीं प्राप्त की है, जिसके इन्द्रियरूपी घोड़े और बुद्धिरूपी सारथि बिगड़े हुए हैं और जिसके हृदयमें न ज्ञान है और न तो वैराग्य, वह यदि त्रिदण्डी संन्यासीका वेष धारणकर पेट पालता है तो वह संन्यासधर्मका सत्यानाश ही कर रहा है और अपने पूज्य देवताओंको, अपने-आपको और अपने हृदयमें स्थित मुझको ठगनेकी चेष्टा करता है। अभी उस वेषमात्रके संन्यासीकी वासनाएँ क्षीण नहीं हुई हैं;

इसलिये वह इस लोक और परलोक—दोनोंसे हाथ धो बैठता है। संन्यासीका मुख्य धर्म है—शान्ति और अहिंसा। वानप्रस्थीका मुख्य धर्म है—तपस्या और भगवद्भाव। गृहस्थका मुख्य धर्म है— प्राणियोंकी रक्षा और यज्ञ-याग तथा ब्रह्मचारीका मुख्य धर्म है—आचार्यकी सेवा। गृहस्थ भी केवल ऋतुकालमें ही अपनी स्त्रीका सहवास करे। उसके लिये भी ब्रह्मचर्य, तपस्या, शौच, संतोष और समस्त प्राणियोंके प्रति प्रेमभाव—ये मुख्य धर्म हैं। मेरी उपासना तो सभी-को करनी चाहिये। जो पुरुष इस प्रकार अनन्यभावसे अपने वर्णाश्रमधर्मके द्वारा मेरी सेवामें लगा रहता है और समस्त प्राणियोंमें मेरी भावना करता रहता है, उसे मेरी अविचल भक्ति प्राप्त हो जाती है। उद्धवजी! मैं सम्पूर्ण लोकोंका एकमात्र स्वामी, सबकी उत्पत्ति और प्रलयका परम कारण ब्रह्म हूँ। निरन्तर बढ़नेवाली अखण्ड भक्तिके द्वारा वह मुझे प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार वह गृहस्थ अपने धर्मपालनके द्वारा अन्तःकरणको शुद्ध करके मेरे ऐश्वर्यको—मेरे स्वरूपको जान लेता है और ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न होकर शीघ्र ही मुझे प्राप्त कर लेता है। मैंने तुम्हें सदाचाररूप वर्णाश्रमियोंका धर्म बतलाया है। यदि इस धर्मानुष्ठानमें मेरी भक्तिका पुट लग जाय, तब तो इससे अनायास ही परम कल्याणस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति हो जाय। साधुस्वभाव उद्धव! तुमने मुझसे जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर मैंने दे दिया और यह बतला दिया कि अपने धर्मका पालन करनेवाला भक्त मुझ परब्रह्मस्वरूपको किस प्रकार प्राप्त होता है॥३८-४८॥
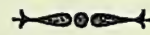
अध्याय त्रयोदश

भक्ति, ज्ञान और यम-नियमादि साधनोंका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

यो विद्याश्रुतसम्पन्न आत्मवान् नानुमानिकः।
मायामात्रमिदं ज्ञात्वा ज्ञानं च मयि संन्यसेत्॥
ज्ञानिनस्त्वहमेवेष्टः स्वार्थो हेतुश्च सम्मतः।
स्वर्गश्चैवापवर्गश्च नान्योऽर्थो मदृते प्रियः॥
ज्ञानविज्ञानसंसिद्धाः पदं श्रेष्ठं विदुर्मम।
ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनासौ बिभर्ति माम्॥
तपस्तीर्थं जपो दानं पवित्राणीतराणि च।
नालं कुर्वन्ति तां सिद्धिं या ज्ञानकलया कृता॥
तस्माज्ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावितः॥
ज्ञानविज्ञानयज्ञेन मामिष्ट्वाऽऽत्मानमात्मनि।
सर्वयज्ञपतिं मां वै संसिद्धिं मुनयोऽगमन्॥
त्वय्युद्धवाश्रयति यस्त्रिविधो विकारो
मायान्तराऽऽपतति नाद्यपवर्गयोर्यत्।
जन्मादयोऽस्य यदमी तव तस्य किं स्यु-
राद्यन्तयोर्यदसतोऽस्ति तदेव मध्ये॥
(श्रीमद्भागवत ११।१९।१–७)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धवजी! जिसने उपनिषदादि शास्त्रोंके श्रवण, मनन और निदिध्यासनके द्वारा आत्मसाक्षात्कार कर लिया है, जो श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ है, जिसका निश्चय केवल युक्तियों और अनुमानोंपर ही निर्भर नहीं करता, दूसरे शब्दोंमें जो केवल परोक्ष ज्ञानी नहीं है, वह यह जानकर कि सम्पूर्ण द्वैत-प्रपञ्च और इसकी निवृत्तिका साधन वृत्तिज्ञान मायामात्र है, उन्हें मुझमें लीन कर दे, वे दोनों ही मुझ आत्मामें अध्यस्त हैं, ऐसा जान ले। ज्ञानी पुरुषका अभीष्ट पदार्थ मैं ही हूँ, उसके साधन-साध्य, स्वर्ग और अपवर्ग भी मैं ही हूँ, मेरे अतिरिक्त और किसी भी पदार्थसे वह प्रेम नहीं करता। जो ज्ञान और विज्ञान

सम्पन्न सिद्धपुरुष हैं, वे ही मेरे वास्तविक स्वरूपको जानते हैं। इसीलिये ज्ञानी पुरुष मुझे सबसे प्रिय है। उद्धवजी! ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञानके द्वारा निरन्तर मुझे अपने अन्तःकरणमें धारण करता है। तत्त्वज्ञानके लेशमात्रका उदय होनेसे जो सिद्धि प्राप्त होती है, वह तपस्या, तीर्थ, जप, दान अथवा अन्तःकरणशुद्धिके और किसी भी साधनसे पूर्णतया नहीं हो सकती। इसलिये मेरे प्यारे उद्धव! तुम ज्ञानके सहित अपने आत्मस्वरूपको जान लो और फिर ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न होकर भक्तिभावसे मेरा भजन करो। बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंने ज्ञान-विज्ञानरूप यज्ञके द्वारा अपने अन्तःकरण-में मुझ सब यज्ञोंके अधिपति आत्माका यजन करके परम सिद्धि प्राप्त की है। उद्धव! आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—इन तीन विकारोंकी समष्टि ही शरीर है और वह सर्वथा तुम्हारे आश्रित है। यह पहले नहीं था और अन्तमें नहीं रहेगा; केवल बीचमें ही दीख रहा है। इसलिये इसे जादूके खेलके समान माया ही समझना चाहिये। इसके जो जन्मना, रहना, बढ़ना, बदलना, घटना और नष्ट होना—ये छः भावविकार हैं, इनसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। यही नहीं, ये विकार उस मायाके भी नहीं हैं; क्योंकि वह स्वयं असत् है। असत् वस्तु तो पहले नहीं थी, बादमें भी नहीं रहेगी; इसलिये बीचमें भी उसका कोई अस्तित्व नहीं होता॥ १—७॥

उद्धव उवाच

ज्ञानं विशुद्धं विपुलं यथैतद्-
वैराग्यविज्ञानयुतं पुराणम्।
आख्याहि विश्वेश्वर विश्वमूर्ते
त्वद्भक्तियोगं च महद्विमृग्यम्॥
तापत्रयेणाभिहतस्य घोरे
संतप्यमानस्य भवाध्वनीश।
पश्यामि नान्यच्छरणं तवाङ्घ्रि-
द्वन्द्वातपत्रादमृताभिवर्षात्॥
दष्टं जनं सम्पतितं बिलेऽस्मिन्
कालाहिना क्षुद्रसुखोरुतर्षम्।
समुद्धरैनं कृपयाऽऽपवर्ग्यै-
र्वचोभिरासिञ्च महानुभाव॥

(श्रीमद्भागवत ११। १९। ८—१०)

उद्धवजीने कहा—विश्वरूप परमात्मन्! आप ही विश्वके स्वामी हैं। आपका यह वैराग्य और विज्ञानसे युक्त सनातन एवं विशुद्ध ज्ञान जिस प्रकार सुदृढ़ हो जाय, उसी प्रकार मुझे स्पष्ट करके समझाइये और उस अपने भक्तियोग-का भी वर्णन कीजिये, जिसे ब्रह्मा आदि महापुरुष भी ढूँढ़ा करते हैं। मेरे स्वामी! जो पुरुष इस संसारके विकट मार्गमें तीनों तापोंके थपेड़े खा रहे हैं और भीतर-बाहर जल-भुन रहे हैं, उनके लिये आपके अमृतवर्षी युगल चरणारविन्दोंकी छत्र-छायाके अतिरिक्त और कोई भी आश्रय नहीं दीखता। महानुभाव! आपका यह अपना सेवक अँधेरे कुएँमें पड़ा हुआ है, कालरूपी सर्पने इसे डस रक्खा है; फिर भी विषयों-के क्षुद्र सुख-भोगोंकी तीव्र तृष्णा मिटती नहीं, बढ़ती ही जा रही है। आप कृपा करके इसका उद्धार कीजिये और इससे मुक्त करनेवाली वाणीकी सुधा-धारासे इसे सराबोर कर दीजिये॥ ८—१०॥

श्रीभगवानुवाच

इत्थमेतत् पुरा राजा भीष्मं धर्मभृतां वरम्।
अजातशत्रुः पप्रच्छ सर्वेषां नोऽनुशृण्वताम्॥
निवृत्ते भारते युद्धे सुहृन्निधनविह्वलः।
श्रुत्वा धर्मान् बहून् पश्चान्मोक्षधर्मानपृच्छत॥
तानहं तेऽभिधास्यामि देवव्रतमुखाच्छ्रुतान्।
ज्ञानवैराग्यविज्ञानश्रद्धाभक्त्युपबृंहितान्॥
नवैकादश पञ्च त्रीन् भावान् भूतेषु येन वै।
ईक्षेताथैकमप्येषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम्॥
एतदेव हि विज्ञानं न तथैकेन येन यत्।
स्थित्युत्पत्त्यप्ययान् पश्येद् भावानां त्रिगुणात्मनाम्॥
आदावन्ते च मध्ये च सृज्यात् सृज्यं यदन्वियात्।
पुनस्तत्प्रतिसंक्रामे यच्छिष्येत तदेव सत्॥
श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम्।
प्रमाणेष्वनवस्थानाद् विकल्पात् स विरज्यते॥

कर्मणां परिणामित्वादाविरिञ्चादमङ्गलम् ।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत् ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । १९ । ११—१८)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धवजी ! जो प्रश्न तुमने मुझसे किया है, यही प्रश्न धर्मराज युधिष्ठिरने धार्मिकशिरोमणि भीष्मपितामहसे किया था । उस समय हम सभी लोग वहाँ विद्यमान थे । जब भारतीय महायुद्ध समाप्त हो चुका था और धर्मराज युधिष्ठिर अपने स्वजन-सम्बन्धियोंके संहारसे शोक-विह्वल हो रहे थे, तब उन्होंने भीष्मपितामहसे बहुत-से धर्मोंका विवरण सुननेके पश्चात् मोक्षके साधनोंके सम्बन्धमें प्रश्न किया था । उस समय भीष्मपितामहके मुखसे सुने हुए मोक्ष-धर्म मैं तुम्हें सुनाऊँगा; क्योंकि वे ज्ञान, वैराग्य, विज्ञान, श्रद्धा और भक्तिके भावोंसे परिपूर्ण हैं । उद्धवजी ! जिस ज्ञानसे प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्रा—ये नौ, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन—ये ग्यारह, पाँच महाभूत और तीन गुण अर्थात् इन अट्ठाईस तत्त्वोंको ब्रह्मासे लेकर तृण तक सम्पूर्ण कार्योंमें देखा जाता है और इनमें भी एक परमात्म-तत्त्वको अनुगत रूपसे देखा जाता है—वह परोक्ष-ज्ञान है, ऐसा मेरा निश्चय है । जब जिस एक तत्त्वसे अनुगत एकात्मक तत्त्वोंको पहले देखता था, उनको पहलेके समान न देखे, किंतु एक परम कारण ब्रह्मको ही देखे; तब यही निश्चित विज्ञान (अपरोक्ष-ज्ञान) कहा जाता है । (इस ज्ञान और विज्ञानको प्राप्त करनेकी युक्ति यह है कि) यह शरीर आदि जितने भी त्रिगुणात्मक सावयव पदार्थ हैं, उनकी स्थिति, उत्पत्ति और प्रलयका विचार करे । जो तत्त्ववस्तु सृष्टि-के प्रारम्भमें और अन्तमें कारणरूपसे स्थित रहती है, वही मध्यमें भी रहती है और वही प्रतीयमान कार्यसे प्रतीयमान कार्यान्तरमें अनुगत भी होती है । फिर उन कार्योंका प्रलय अथवा बाध होनेपर उसके साक्षी एवं अधिष्ठानरूपसे शेष रह जाती है । वही सत्य परमार्थ वस्तु है, ऐसा समझे । श्रुति, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य (महापुरुषोंमें प्रसिद्धि) और अनुमान—प्रमाणोंमें ये चार मुख्य हैं । इनकी कसौटीपर कसनेसे दृश्य-प्रपञ्च अस्थिर, नश्वर एवं विकारी होनेके कारण सत्य सिद्ध नहीं होता, इसलिये विवेकी पुरुष इस विविध कल्पना-रूप अथवा शब्दमात्र प्रपञ्चसे विरक्त हो जाता है। विवेकी पुरुषको चाहिये कि वह स्वर्गादि फल देनेवाले यज्ञादि कर्मोंके परिणामी—नश्वर होनेके कारण ब्रह्मलोक-पर्यन्त स्वर्गादि सुख—अदृष्टको भी इस प्रत्यक्ष विषय-सुखके समान ही अमङ्गल, दुःखदायी एवं नाशवान् समझे ॥ ११—१८ ॥

भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ ।
पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम् ॥
श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् ।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥
आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् ।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् ।
मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् ॥
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च ।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः ॥
एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् ।
मयि संजायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । १९ । १९—२४)

निष्पाप उद्धवजी ! भक्तियोगका वर्णन मैं तुम्हें पहले ही सुना चुका हूँ; परंतु उसमें तुम्हारी बहुत प्रीति है, इसलिये मैं तुम्हें फिरसे भक्ति प्राप्त होनेका श्रेष्ठ साधन बतलाता हूँ । जो मेरी भक्ति प्राप्त करना चाहता हो, वह मेरी अमृतमयी कथामें श्रद्धा रक्खे; निरन्तर मेरे गुण, लीला और नामोंका संकीर्तन करे; मेरी पूजामें अत्यन्त निष्ठा रक्खे और स्तोत्रोंके द्वारा मेरी स्तुति करे ।

मेरी सेवा-पूजामें प्रेम रक्खे और सामने साष्टाङ्ग लोटकर प्रणाम करे; मेरे भक्तोंकी पूजा मेरी पूजासे बढ़कर करे और समस्त प्राणियोंमें मुझे ही देखे। अपने एक-एक अङ्गकी चेष्टा केवल मेरे ही लिये करे; वाणीसे मेरे ही गुणोंका गान करे और अपना मन भी मुझे ही अर्पित कर दे तथा सारी कामनाएँ छोड़ दे। मेरे लिये धन, भोग और प्राप्त सुखका भी परित्याग कर दे और जो कुछ यज्ञ, दान, हवन, जप, व्रत और तप किया जाय, वह सब मेरे लिये ही करे। उद्धवजी! जो मनुष्य इन धर्मोंका पालन करते हैं और मेरे प्रति आत्मनिवेदन कर देते हैं, उनके हृदयमें मेरी प्रेममयी भक्तिका उदय होता है और जिसे मेरी भक्ति प्राप्त हो गयी, उसके लिये और किस दूसरी वस्तुका प्राप्त होना शेष रह जाता है? ॥ १९—२४ ॥

यदाऽऽत्मन्यर्पितं चित्तं शान्तं सत्त्वोपबृंहितम्।
धर्मं ज्ञानं सवैराग्यमैश्वर्यं चाभिपद्यते॥
यदर्पितं तद् विकल्पे इन्द्रियैः परिधावति।
रजस्वलं चासन्निष्ठं चित्तं विद्धि विपर्ययम्॥
धर्मो मद्भक्तिकृत् प्रोक्तो ज्ञानं चैकात्म्यदर्शनम्।
गुणेष्वसङ्गो वैराग्यमैश्वर्यं चाणिमादयः॥
(श्रीमद्भागवत ११। १९। २५—२७)

इस प्रकारके धर्मोंका पालन करनेसे चित्तमें जब सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है और वह शान्त होकर आत्मामें लग जाता है; उस समय साधकको धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं। यह संसार विविध कल्पनाओंसे भरपूर है। सच पूछो तो इसका नाम तो है, किंतु कोई वस्तु नहीं है। जब चित्त इसमें लगा दिया जाता है, तब इन्द्रियोंके साथ इधर-उधर भटकने लगता है। इस प्रकार चित्तमें रजोगुणकी बाढ़ आ जाती है, वह असत् वस्तुमें लग जाता है और उसके धर्म, ज्ञान आदि तो लुप्त हो ही जाते हैं तथा वह अधर्म, अज्ञान और मोहका भी घर बन जाता है। उद्धव! जिससे मेरी भक्ति हो, वही धर्म है; जिससे ब्रह्म और आत्माकी एकताका साक्षात्कार हो, वही ज्ञान है; विषयोंसे असङ्ग—निर्लेप रहना ही वैराग्य है और अणिमादि सिद्धियाँ ही ऐश्वर्य हैं॥ २५—२७॥

उद्धव उवाच

यमः कतिविधः प्रोक्तो नियमो वारिकर्शन।
कः शमः को दमः कृष्ण का तितिक्षा धृतिः प्रभो॥
किं दानं किं तपः शौर्यं किं सत्यमृतमुच्यते।
कस्त्यागः किं धनं चेष्टं को यज्ञः का च दक्षिणा॥
पुंसः किंस्विद् बलं श्रीमन् भगो लाभश्च केशव।
का विद्या ह्रीः परा का श्रीः किं सुखं दुःखमेव च॥
कः पण्डितः कश्च मूर्खः कः पन्था उत्पथश्च कः।
कः स्वर्गो नरकः कः स्वित् को बन्धुरुत किं गृहम्॥
क आढ्यः को दरिद्रो वा कृपणः कः क ईश्वरः।
एतान् प्रश्नान् मम ब्रूहि विपरीतांश्च सत्पते॥
(श्रीमद्भागवत ११। १९। २८—३२)

उद्धवजीने कहा—रिपुसूदन! यम और नियम कितने प्रकारके हैं? श्रीकृष्ण! शम क्या है? दम क्या है? प्रभो! तितिक्षा और धैर्य क्या है? आप मुझे दान, तपस्या, शूरता, सत्य और ऋतका भी स्वरूप बतलाइये। त्याग क्या है? अभीष्ट धन कौन-सा है? यज्ञ किसे कहते हैं? और दक्षिणा क्या वस्तु है? श्रीमान् केशव! पुरुषका सच्चा बल क्या है? भग किसे कहते हैं? और लाभ क्या वस्तु है? उत्तम विद्या, लज्जा, श्री तथा सुख और दुःख क्या है? पण्डित और मूर्खके लक्षण क्या हैं? सुमार्ग और कुमार्गका क्या लक्षण है? स्वर्ग-नरक क्या हैं? भाई-बन्धु किसे मानना चाहिये? और घर क्या है? धनवान् और निर्धन किसे कहते हैं? कृपण कौन है? और ईश्वर किसे कहते हैं? भक्तवत्सल प्रभो! आप मेरे इन प्रश्नोंका उत्तर दीजिये और साथ ही इनके विरोधी भावोंकी भी व्याख्या कीजिये॥ २८—३२॥

श्रीभगवानुवाच

अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसंचयः।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम्॥
शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं मदर्चनम्।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्॥
एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः।

पुंसामुपासितास्तात यथाकामं दुहन्ति हि ॥
शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इन्द्रियसंयमः ।
तितिक्षा दुःखसंमर्षो जिह्वोपस्थजयो धृतिः ॥
दण्डन्यासः परं दानं कामत्यागस्तपः स्मृतम् ।
स्वभावविजयः शौर्यं सत्यं च समदर्शनम् ॥
ऋतं च सूनृता वाणी कविभिः परिकीर्तिता ।
कर्मस्वसंगमः शौचं त्यागः संन्यास उच्यते ॥
धर्म इष्टं धनं नृणां यज्ञोऽहं भगवत्तमः ।
दक्षिणा ज्ञानसंदेशः प्राणायामः परं बलम् ॥
भगो म ऐश्वरो भावो लाभो मद्भक्तिरुत्तमः ।
विद्याऽऽत्मनि भिदाबाधो जुगुप्सा ह्रीरकर्मसु ॥
श्रीर्गुणा नैरपेक्ष्याद्याः सुखं दुःखसुखात्ययः ।
दुःखं कामसुखापेक्षा पण्डितो बन्धमोक्षवित् ॥
मूर्खो देहाद्यहंबुद्धिः पन्था मन्निगमः स्मृतः ।
उत्पथश्चित्तविक्षेपः स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः ॥
नरकस्तमउन्नाहो बन्धुर्गुरुरहं सखे ।
गृहं शरीरं मानुष्यं गुणाढ्यो ह्याढ्य उच्यते ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । १९ । ३३—४३)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'यम' बारह हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), असङ्गता, लज्जा, असंचय (आवश्यकतासे अधिक धन आदि न जोड़ना), आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, क्षमा और अभय । नियमोंकी संख्या भी बारह ही हैं। शौच (बाहरी पवित्रता और भीतरी पवित्रता), जप, तप, हवन, श्रद्धा, अतिथि-सेवा, मेरी पूजा, तीर्थयात्रा, परोपकारकी चेष्टा, संतोष और गुरुसेवा—इस प्रकार 'यम' और 'नियम' दोनोंकी संख्या बारह-बारह हैं। ये सकाम और निष्काम दोनों प्रकारके साधकोंके लिये उपयोगी हैं। उद्धवजी ! जो पुरुष इनका पालन करते है, वे यम और नियम उनके इच्छानुसार उन्हें भोग और मोक्ष दोनों प्रदान करते हैं। बुद्धिका मुझमें लग जाना ही 'शम' है। इन्द्रियोंके संयमका नाम 'दम' है। न्यायसे प्राप्त दुःखके सहनेका नाम 'तितिक्षा' है। जिह्वा और जननेन्द्रियपर विजय प्राप्त करना 'धैर्य' है। किसीसे द्रोह न करना, सबको अभय देना 'दान' है। कामनाओंका त्याग करना ही 'तप' है। अपनी वासनाओंपर विजय प्राप्त करना ही 'शूरता' है। सर्वत्र समस्वरूप, सत्यस्वरूप परमात्माका दर्शन ही 'सत्य' है। इसी प्रकार सत्य और मधुर भाषणको ही महात्माओंने 'ऋत' कहा है। कर्मोंमें आसक्त न होना ही 'शौच' है। कामनाओंका त्याग ही सच्चा 'संन्यास' है। धर्म ही मनुष्योंका अभीष्ट 'धन' है। मैं परमेश्वर ही 'यज्ञ' हूँ। ज्ञानका उपदेश देना ही 'दक्षिणा' है। प्राणायाम ही श्रेष्ठ 'बल' है। मेरा ऐश्वर्य ही 'भग' है। मेरी श्रेष्ठ भक्ति ही उत्तम 'लाभ' है। सच्ची 'विद्या' वही है जिससे ब्रह्म और आत्माका भेद मिट जाता है। पाप करनेसे घृणा होनेका नाम ही 'लज्जा' है। निरपेक्षता आदि गुण ही शरीरका सच्चा सौन्दर्य—'श्री' है। दुःख और सुख दोनोंकी भावनाका सदाके लिये नष्ट हो जाना ही 'सुख' है। विषयभोगोंकी कामना ही 'दुःख' है। जो बन्धन और मोक्षका तत्त्व जानता है, वही 'पण्डित' है। शरीर आदिमें जिसका 'मैं'पन है, वही 'मूर्ख' है। जो संसारकी ओरसे निवृत्त करके मुझे प्राप्त करा देता है, वही सच्चा 'सुमार्ग' है। चित्तकी बहिर्मुखता ही 'कुमार्ग' है। सत्त्वगुणकी वृद्धि ही 'स्वर्ग' और सखे ! तमोगुणकी वृद्धि ही 'नरक' है। गुरु ही सच्चा 'भाई-बन्धु' है और वह गुरु मैं हूँ। यह मनुष्य-शरीर ही सच्चा 'घर' है तथा सच्चा 'धनी' वह है, जो गुणोंसे सम्पन्न है, जिसके पास गुणोंका खजाना है ॥ ३३—४३ ॥

दरिद्रो यस्त्वसंतुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः ।
गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसङ्गो विपर्ययः ॥
एत उद्धव ते प्रश्नाः सर्वे साधु निरूपिताः ।

किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः ।
गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । १९ । ४४-४५)

जिसके चित्तमें असंतोष है, अभावका बोध है, वही 'दरिद्र' है । जो जितेन्द्रिय नहीं है, वही 'कृपण' है । समर्थ, स्वतन्त्र और 'ईश्वर' वह है, जिसकी चित्तवृत्ति विषयोंमें आसक्त नहीं है । इसके विपरीत जो विषयोंमें आसक्त है, वही सर्वथा 'असमर्थ' है । प्यारे उद्धव ! तुमने जितने प्रश्न पूछे थे, उनका उत्तर मैंने दे दिया; इनको समझ लेना मोक्ष-मार्गके लिये सहायक है । मैं तुम्हें गुण और दोषोंका लक्षण अलग-अलग कहाँतक बताऊँ ? सबका सारांश इतनेमें ही समझ लो कि गुणों और दोषोंपर दृष्टि जाना ही सबसे बड़ा दोष है और गुण-दोषोंपर दृष्टि न जाकर अपने शान्त निःसंकल्प स्वरूपमें स्थित रहे—वही सबसे बड़ा गुण है ॥ ४४-४५ ॥

अध्याय चतुर्दश

ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग

उद्धव उवाच

विधिश्च प्रतिषेधश्च निगमो हीश्वरस्य ते ।
अवेक्षतेऽरविन्दाक्ष गुणं दोषं च कर्मणाम् ॥
वर्णाश्रमविकल्पं च प्रतिलोमानुलोमजम् ।
द्रव्यदेशवयःकालान् स्वर्गं नरकमेव च ॥
गुणदोषभिदादृष्टिमन्तरेण वचस्तव ।
निःश्रेयसं कथं नृणां निषेधविधिलक्षणम् ॥
पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुस्तवेश्वर ।
श्रेयस्त्वनुपलब्धेऽर्थे साध्यसाधनयोरपि ॥
गुणदोषभिदादृष्टिर्निगमात्ते न हि स्वतः ।
निगमेनापवादश्च भिदाया इति ह भ्रमः ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २० । १—५)

उद्धवजीने कहा—कमलनयन श्रीकृष्ण ! आप सर्वशक्तिमान् हैं । आपकी आज्ञा ही वेद है; उसमें कुछ कर्मोंको करनेकी विधि है और कुछके करनेका निषेध है । यह विधि-निषेध कर्मोंके गुण और दोषकी परीक्षा करके ही तो होता है । वर्णाश्रम-भेद, प्रतिलोम और अनुलोमरूप वर्णसंकर, कर्मोंके उपयुक्त और अनुपयुक्त द्रव्य, देश, आयु और काल तथा स्वर्ग और नरकके भेदोंका बोध भी वेदोंसे ही होता है । इसमें संदेह नहीं कि आपकी वाणी ही वेद है, परंतु उसमें विधि-निषेध ही तो भरा पड़ा है । यदि उसमें गुण और दोषमें भेद करनेवाली दृष्टि न हो, तो वह प्राणियोंका कल्याण करनेमें समर्थ ही कैसे हो ? सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ! आपकी वाणी वेद ही पितर, देवता और मनुष्योंके लिये श्रेष्ठ मार्गदर्शकका काम करता है; क्योंकि उसीके द्वारा स्वर्ग-मोक्ष आदि अदृष्ट वस्तुओंका बोध होता है और इस लोकमें भी किसका कौन-सा साध्य है और क्या साधन—इसका निर्णय भी उसीसे होता है । प्रभो ! इसमें संदेह नहीं कि गुण और दोषोंमें भेददृष्टि आपकी वाणी वेदके ही अनुसार है, किसीकी अपनी कल्पना नहीं; परंतु प्रश्न तो यह है कि आपकी वाणी ही भेदका निषेध भी करती है । यह विरोध देखकर मुझे भ्रम हो रहा है । आप कृपा करके मेरा यह भ्रम मिटाइये ॥ १—५ ॥

श्रीभगवानुवाच

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥
तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥
स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव ।
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत् ॥
अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः ।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया ॥

स्वर्गिणोऽप्येतमिच्छन्ति लोकं निरयिणस्तथा ।
साधकं ज्ञानभक्तिभ्यामुभयं तदसाधकम् ॥
न नरः स्वर्गतिं काङ्क्षेन्नारकीं वा विचक्षणः ।
नेमं लोकं च काङ्क्षेत देहावेशात् प्रमाद्यति ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २० । ६—१२)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव ! मैंने ही वेदोंमें एवं अन्यत्र भी मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये अधिकारी-भेदसे तीन प्रकारके योगोंका उपदेश किया है। वे हैं—ज्ञान, कर्म और भक्ति । मनुष्यके परम कल्याणके लिये इनके अतिरिक्त और कोई उपाय कहीं नहीं है । उद्धवजी ! जो लोग कर्मों तथा उनके फलोंसे विरक्त हो गये हैं और उनका त्याग कर चुके हैं, वे ज्ञानयोगके अधिकारी हैं । इसके विपरीत जिनके चित्तमें कर्मों और उनके फलोंसे वैराग्य नहीं हुआ है, उनमें दुःख-बुद्धि नहीं हुई है, वे सकाम व्यक्ति कर्म-योगके अधिकारी हैं । जो पुरुष न तो अत्यन्त विरक्त है और न अत्यन्त आसक्त ही है तथा किसी पूर्वजन्मके शुभकर्मसे सौभाग्यवश मेरी लीला-कथा आदिमें जिसकी श्रद्धा हो गयी है, वह भक्तियोगका अधिकारी है । उसे भक्तियोगके द्वारा ही सिद्धि मिल सकती है । कर्मके सम्बन्धमें जितने भी विधि-निषेध हैं, उनके अनुसार तभीतक कर्म करना चाहिये, जबतक कर्ममय जगत् और उससे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि सुखोंसे वैराग्य न हो जाय अथवा जबतक मेरी लीला-कथाके श्रवण-कीर्तन आदिमें श्रद्धा न हो जाय । उद्धव ! इस प्रकार अपने वर्ण और आश्रमके अनुकूल धर्ममें स्थित रहकर यज्ञोंके द्वारा बिना किसी आशा और कामनाके मेरी आराधना करता रहे और निषिद्ध कर्मोंसे दूर रहकर केवल विहित कर्मोंका ही आचरण करे तो उसे स्वर्ग या नरकमें नहीं जाना पड़ता । अपने धर्ममें निष्ठा रखनेवाला पुरुष इस शरीरमें रहते-रहते ही निषिद्ध कर्मका परित्याग कर देता है और रागादि मलोंसे भी मुक्त—पवित्र हो जाता है । इसीसे अनायास ही उसे आत्मसाक्षात्कारस्व[illegible] विशुद्ध तत्त्वज्ञान अथवा द्रुत-चित्त होनेपर मेरी भक्ति प्राप्त होती है । यह विधि-निषेधरूप कर्मका अधिकार[illegible] मनुष्य-शरीर बहुत ही दुर्लभ है । स्वर्ग और नरक दोनों ही लोकोंमें रहनेवाले जीव इसकी अभिलाषा करते रहते हैं; क्योंकि इसी शरीरमें अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर ज्ञान अथवा भक्तिकी प्राप्ति हो सकती है । स्वर्ग अथवा नरकका भोगप्रधान शरीर किसी भी साधनके उपयुक्त नहीं है । बुद्धिमान् पुरुषको न तो स्वर्गकी अभिलाषा करनी चाहिये और न नरककी ही । और तो क्या, इस मनुष्य-शरीरकी भी कामना न करनी चाहिये; क्योंकि किसी भी शरीरमें गुणबुद्धि और अभिमान हो जानेसे अपने वास्तविक स्वरूपकी प्राप्तिके साधनमें प्रमाद होने लगता है ॥ ६—१२ ॥

एतद् विद्वान् पुरा मृत्योरभवाय घटेत सः ।
अप्रमत्त इदं ज्ञात्वा मर्त्यमप्यर्थसिद्धिदम् ॥
छिद्यमानं यमैरेतैः कृतनीडं वनस्पतिम् ।
खगः स्वकेतमुत्सृज्य क्षेमं याति ह्यलम्पटः ॥
अहोरात्रैश्छिद्यमानं बुद्ध्वाऽऽयुर्भयवेपथुः ।
मुक्तसङ्गः परं बुद्ध्वा निरीह उपशाम्यति ॥
नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २० । १४—१७)

यद्यपि यह मनुष्य-शरीर है तो मृत्युग्रस्त ही, परंतु इसके द्वारा परमार्थकी—सत्य वस्तुकी प्राप्ति हो सकती है । बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि यह बात जानकर मृत्यु होनेके पूर्व ही सावधान होकर ऐसी साधना कर ले, जिससे वह जन्म-मृत्युके चक्करसे सदाके लिये छूट जाय—मुक्त हो जाय । यह शरीर एक वृक्ष है । इसमें घोंसला बनाकर जीवरूप पक्षी

निवास करता है। इसे यमराजके दूत प्रतिक्षण काट रहे हैं। जैसे पक्षी कटते हुए वृक्षको छोड़कर उड़ जाता है, वैसे ही अनासक्त जीव भी इस शरीरको छोड़कर मोक्षका भागी बन जाता है, परंतु आसक्त जीव दुःख ही भोगता रहता है। प्रिय उद्धव! ये दिन और रात क्षण-क्षणमें शरीरकी आयुको क्षीण कर रहे हैं। यह जानकर जो भयसे काँप उठता है, वह व्यक्ति इसमें आसक्ति छोड़कर परम तत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लेता है और फिर इसके जीवन-मरणसे निरपेक्ष होकर अपने आत्मामें ही शान्त हो जाता है। यह मनुष्य-शरीर समस्त शुभ फलोंकी प्राप्तिका मूल है और अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी अनायास सुलभ हो गया है। इस संसार-सागरसे पार जानेके लिये यह एक सुदृढ़ नौका है। शरण-ग्रहणमात्रसे ही गुरुदेव इसके केवट बनकर पतवारका संचालन करने लगते हैं और स्मरण-मात्रसे ही मैं अनुकूल वायुके रूपमें इसे लक्ष्यकी ओर बढ़ाने लगता हूँ। इतनी सुविधा होनेपर भी जो इस शरीरके द्वारा संसार-सागरसे पार नहीं हो जाता, वह तो अपने हाथों अपने आत्माका हनन—अधःपतन कर रहा है ॥ १४—१७ ॥

यदाऽऽरम्भेषु निर्विण्णो विरक्तः संयतेन्द्रियः।
अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः॥
धार्यमाणं मनो यर्हि भ्राम्यदाश्वनवस्थितम्।
अतन्द्रितोऽनुरोधेन मार्गेणात्मवशं नयेत्॥
मनोगतिं न विसृजेज्जितप्राणो जितेन्द्रियः।
सत्त्वसम्पन्नया बुद्ध्या मन आत्मवशं नयेत्॥
एष वै परमो योगो मनसः संग्रहः स्मृतः।
हृदयज्ञत्वमन्विच्छन् दम्यस्येवार्वतो मुहुः॥
सांख्येन सर्वभावानां प्रतिलोमानुलोमतः।
भवाप्ययावनुध्यायेन्मनो यावत् प्रसीदति॥
निर्विण्णस्य विरक्तस्य पुरुषस्योक्तवेदिनः।
मनस्त्यजति दौरात्म्यं चिन्तितस्यानुचिन्तया॥
यमादिभिर्योगपथैरान्वीक्षिक्या च विद्यया।
मदर्चोपासनाभिर्वा नान्यैर्योग्यं स्मरेन्मनः॥

(श्रीमद्भागवत ११। २०। १८—२४)

प्रिय उद्धव! जब पुरुष दोषदर्शनके कारण कर्मोंसे उद्विग्न और विरक्त हो जाय, तब जितेन्द्रिय होकर वह योगमें स्थित हो जाय और अभ्यास—आत्मानुसंधानके द्वारा अपना मन मुझ परमात्मामें निश्चलरूपसे धारण करे। जब स्थिर करते समय मन चञ्चल होकर इधर-उधर भटकने लगे, तब झटपट बड़ी सावधानीसे उसे मनाकर, समझा-बुझाकर, फुसलाकर अपने वशमें कर ले। इन्द्रियों और प्राणोंको अपने वशमें रक्खे और मनको एक क्षणके लिये भी स्वतन्त्र न छोड़े—उसकी एक-एक चाल, एक-एक हरकतको देखता रहे। इस प्रकार सत्त्वसम्पन्न बुद्धिके द्वारा धीरे-धीरे मनको अपने वशमें कर लेना चाहिये। जैसे सवार घोड़ेको अपने वशमें करते समय उसे अपने मनोभावकी पहचान कराना चाहता है—अपनी इच्छाके अनुसार उसे चलाना चाहता है और बार-बार फुसलाकर उसे अपने वशमें कर लेता है, वैसे ही मनको फुसलाकर, उसे मीठी-मीठी बातें सुनाकर वशमें कर लेना भी परम योग है। सांख्यशास्त्रमें प्रकृतिसे लेकर शरीरपर्यन्त सृष्टिका जो क्रम बतलाया गया है, उसके अनुसार सृष्टि-चिन्तन करना चाहिये और जिस क्रमसे शरीर आदिका प्रकृतिमें लय बताया गया है, उस प्रकार लय-चिन्तन करना चाहिये। यह क्रम तबतक जारी रखना चाहिये, जबतक मन शान्त—स्थिर न हो जाय। जो पुरुष संसारसे विरक्त हो गया है और जिसे संसारके पदार्थोंमें दुःख-बुद्धि हो गयी है, वह अपने गुरुजनोंके उपदेशको भलीभाँति समझकर बार-बार अपने स्वरूपके ही चिन्तनमें संलग्न रहता है। इस अभ्याससे बहुत शीघ्र ही उसका मन अपनी वह चञ्चलता, जो अनात्मा शरीर आदिमें आत्मबुद्धि करनेसे हुई है, छोड़

देता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि योगमार्गोंसे वस्तुतत्त्वका निरीक्षण-परीक्षण करनेवाली आत्मविद्यासे तथा मेरी प्रतिमाकी उपासनासे—अर्थात् कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगसे मन परमात्माका चिन्तन करने लगता है; और कोई उपाय नहीं है ॥ १८—२४ ॥

यदि कुर्यात् प्रमादेन योगी कर्म विगर्हितम् ।
योगेनैव दहेदंहो नान्यत्तत्र कदाचन ॥
स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।
कर्मणां जात्यशुद्धानामनेन नियमः कृतः ॥
गुणदोषविधानेन सङ्गानां त्याजनेच्छया ॥
जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु ।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः ॥
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः ।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन् ॥
प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो मासकृन्मुनेः ।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते ॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २० । २५—३०)

उद्धवजी ! वैसे तो योगी कभी कोई निन्दित कर्म करता ही नहीं; परंतु यदि कभी उससे प्रमादवश कोई अपराध बन जाय तो योगके द्वारा ही उस पापको जला डाले, कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि दूसरे प्रायश्चित्त कभी न करे। अपने-अपने अधिकारमें जो निष्ठा है, वही गुण कहा गया है। इस गुण-दोष और विधि-निषेधके विधान-से यही तात्पर्य निकलता है कि किसी प्रकार विषया-सक्तिका परित्याग हो जाय; क्योंकि कर्म तो जन्मसे ही अशुद्ध हैं, अनर्थके मूल हैं। शास्त्रका तात्पर्य उनका नियन्त्रण, नियमन ही है। जहाँतक हो सके प्रवृत्तिका संकोच ही करना चाहिये। जो साधक समस्त कर्मोंसे विरक्त हो गया हो, उनमें दुःख-बुद्धि रखता हो, मेरी लीलाकथाके प्रति श्रद्धालु हो और यह भी जानता है कि सभी भोग और भोगवासनाएँ दुःखरूप हैं; कि… इतना सब जानकर भी जो उनके परित्यागमें समर्थ न हो, उसे चाहिये कि उन भोगोंको तो भोग ले; परं… उन्हें सच्चे हृदयसे दुःखजनक समझे और मन-ही-म… उनकी निन्दा करे तथा इसे अपना दुर्भाग्य ही समझे। साथ ही इस दुविधाकी स्थितिसे छुटकारा पानेके लि… श्रद्धा, दृढ निश्चय और प्रेमसे मेरा भजन करे। इ… प्रकार मेरे बतलाये हुए भक्तियोगके द्वारा निरन्तर मे… भजन करनेसे मैं उस साधकके हृदयमें आकर बैठ जा… हूँ और मेरे विराजमान होते ही उसके हृदयकी सा… वासनाएँ अपने संस्कारोंके साथ नष्ट हो जाती हैं। इ… तरह जब उसे मुझ सर्वात्माका साक्षात्कार हो जाता है तब तो उसके हृदयकी गाँठ टूट जाती है, उसके स… संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और कर्मवासनाएँ स… क्षीण हो जाती हैं ॥ २५—३० ॥

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥
यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथंचिद् यदि वाञ्छति ॥
न किंचित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥
नरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम् ।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत् ॥
न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः ।
साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम् ॥
एवमेतान् मयाऽऽदिष्टाननुतिष्ठन्ति मे पथः ।
क्षेमं विन्दन्ति मत्स्थानं यद् ब्रह्म परमं विदुः ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २० । ३१—…

इसीसे जो योगी मेरी भक्तिसे युक्त और चिन्तनमें मग्न रहता है, उसके लिये ज्ञान

वैराग्यकी आवश्यकता नहीं होती। उसका कल्याण तो प्रायः मेरी भक्तिके द्वारा ही हो जाता है। कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योगाभ्यास, दान, धर्म और दूसरे कल्याण-साधनोंसे जो कुछ स्वर्ग, अपवर्ग, मेरा परम धाम अथवा कोई भी वस्तु प्राप्त होती है, वह सब मेरा भक्त मेरे भक्तियोगके प्रभावसे ही, यदि चाहे तो, अनायास प्राप्त कर लेता है। मेरे अनन्य प्रेमी एवं धैर्यवान् साधु भक्त स्वयं तो कुछ चाहते ही नहीं; यदि मैं उन्हें देना चाहता हूँ और देता भी हूँ तो भी दूसरी वस्तुओंकी तो बात ही क्या—वे कैवल्य-मोक्ष भी नहीं लेना चाहते। उद्धवजी! सबसे श्रेष्ठ एवं महान् निःश्रेयस (परम कल्याण) तो निरपेक्षताका ही दूसरा नाम है। इसलिये जो निष्काम और निरपेक्ष होता है, उसीको मेरी भक्ति प्राप्त होती है। मेरे अनन्य प्रेमी भक्तोंका और उन समदर्शी महात्माओंका, जो बुद्धिसे अतीत परम तत्त्वको प्राप्त हो चुके हैं, इन विधि और निषेधसे होनेवाले पुण्य और पापसे कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। इस प्रकार जो लोग मेरे बतलाये हुए इन ज्ञान, भक्ति और कर्म-मार्गोंका आश्रय लेते हैं, वे मेरे परम कल्याणस्वरूप धामको प्राप्त होते हैं; क्योंकि वे परब्रह्म-तत्त्वको जान लेते हैं॥ २१—३७॥

अध्याय पञ्चदश

गुण-दोष-व्यवस्थाका स्वरूप और रहस्य

श्रीभगवानुवाच

य एतान् मत्पथो हित्वा भक्तिज्ञानक्रियात्मकान्।
क्षुद्रान् कामांश्चलैः प्राणैर्जुषन्तः संसरन्ति ते॥
स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः॥
शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु।
द्रव्यस्य विचिकित्सार्थं गुणदोषौ शुभाशुभौ॥
धर्मार्थं व्यवहारार्थं यात्रार्थमिति चानघ।
दर्शितोऽयं मयाऽऽचारो धर्ममुद्वहतां धुरम्॥
भूम्यम्ब्वग्न्यनिलाकाशा भूतानां पञ्च धातवः।
आब्रह्मस्थावरादीनां शारीरा आत्मसंयुताः॥
वेदेन नामरूपाणि विषमाणि समेष्वपि।
धातुषूद्धव कल्प्यन्ते एतेषां स्वार्थसिद्धये॥
देशकालादिभावानां वस्तूनां मम सत्तम।
गुणदोषौ विधीयेते नियमार्थं हि कर्मणाम्॥

(श्रीमद्भागवत ११। २१। १—७)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्धव! मेरी प्राप्तिके तीन मार्ग हैं—भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग। जो इन्हें छोड़कर चञ्चल इन्द्रियोंके द्वारा क्षुद्र भोग भोगते रहते हैं, वे बार-बार जन्म-मृत्युरूप संसारके चक्करमें भटकते रहते हैं। अपने-अपने अधिकारके अनुसार धर्ममें दृढ़ निष्ठा रखना ही गुण कहा गया है और इसके विपरीत अनधिकार चेष्टा करना दोष है। तात्पर्य यह कि गुण और दोष दोनोंकी व्यवस्था अधिकारके अनुसार की जाती है, किसी वस्तुके अनुसार नहीं। वस्तुओंके समान होनेपर भी शुद्धि-अशुद्धि, गुण-दोष और शुभ-अशुभ आदिका जो विधान किया जाता है, उसका अभिप्राय यह है कि पदार्थका ठीक-ठीक निरीक्षण-परीक्षण हो सके और उनमें संदेह उत्पन्न करके ही यह योग्य है कि अयोग्य, स्वाभाविक प्रवृत्तिको नियन्त्रित—संकुचित किया जा सके। उनके द्वारा धर्म-सम्पादन कर सके, समाजका व्यवहार ठीक-ठीक चल सके और अपने व्यक्तिगत जीवनके निर्वाहमें भी सुविधा हो। इससे यह लाभ भी है कि मनुष्य अपनी वासनामूलक सहज प्रवृत्तियोंके द्वारा इनके जालमें न फँसकर शास्त्रा-नुसार अपने जीवनको नियन्त्रित और मनको वशीभूत
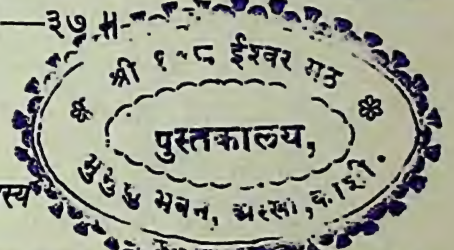
कर लेता है। निष्पाप उद्धव! इस आचारका मैंने ही मनु आदिका रूप धारग करके धर्मका भार ढोनेवाले कर्मजडोंके लिये उपदेश किया है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पञ्चभूत ही ब्रह्मासे लेकर पर्वत-वृक्ष-पर्यन्त सभी प्रागियोंके शरीरोंके मूल कारण हैं। इस तरह वे सब शरीरकी दृष्टिसे तो समान हैं ही, सबका आत्मा भी एक ही है। प्रिय उद्धव! यद्यपि सबके शरीरोंके पञ्चभूत समान हैं, फिर भी वेदोंने इनके वर्णाश्रम आदि अलग-अलग नाम और रूप इसलिये बना दिये हैं कि ये अपनी वासनामूलक प्रवृत्तियोंको संकुचित करके—नियन्त्रित करके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंको सिद्ध कर सकें। साधुश्रेष्ठ! देश, काल, फल, निमित्त, अधिकारी और धान्य आदि वस्तुओंके गुग-दोषोंका विधान भी मेरेद्वारा इसीलिये किया गया है कि कर्मोंमें लोगोंकी उच्छृङ्खल प्रवृत्ति न हो, मर्यादाका भङ्ग न होने पावे॥ १—७॥

अकृष्णसारो देशानामब्रह्मण्योऽशुचिर्भवेत्।
कृष्णसारोऽप्यसौवीरकीकटासंस्कृतेरिणम्॥
कर्मण्यो गुणवान् कालो द्रव्यतः स्वत एव वा।
यतो निवर्तते कर्म स दोषोऽकर्मकः स्मृतः॥
द्रव्यस्य शुद्ध्यशुद्धी च द्रव्येग वचनेन च।
संस्कारेणाथ कालेन महत्त्वाल्पतयाथवा॥
शक्त्याशक्त्याथवा बुद्ध्या समृद्ध्या च यदात्मने।
अघं कुर्वन्ति हि यथा देशावस्थानुसारतः॥
धान्यदार्वस्थितन्तूनां रसतैजसचर्मगाम्।
कालवाय्वग्निमृत्तोयैः पार्थिवानां युतायुतैः॥
अमेध्यलिप्तं यद् येन गन्धं लेपं व्यपोहति।
भजते प्रकृतिं तस्य तच्छौचं तावदिष्यते॥
(श्रीमद्भागवत ११। २१। ८—१३)

देशोंमें वह देश अपवित्र है, जिसमें कृष्णसार मृग न हों और जिसके निवासी ब्राह्मणभक्त न हों। कृष्णसार मृगके होनेपर भी, केवल उन प्रदेशोंको छोड़कर जहाँ संत पुरुष रहते हैं, कीकट देश अपवित्र ही है। संस्काररहित और ऊसर आदि स्थान भी अपवित्र ही होते हैं। समय वही पवित्र है, जिसमें कर्म करने योग्य सामग्री मिल सके तथा कर्म भी हो सके। जिसमें कर्म करनेकी सामग्री न मिले, आगन्तुक दोषोंसे अथवा स्वाभाविक दोषके कारण जिसमें कर्म ही न हो सके, वह समय अशुद्ध है। पदार्थोंकी शुद्धि और अशुद्धि द्रव्य, वचन, संस्कार, काल, महत्त्व अथवा अल्पत्वसे भी होती है। (जैसे कोई पात्र जलसे शुद्ध और मूत्रादिसे अशुद्ध हो जाता है। किसी वस्तुकी शुद्धि अथवा अशुद्धिमें शंका होनेपर ब्राह्मणोंके वचनसे वह शुद्ध हो जाती है, अन्यथा अशुद्ध रहती है। पुष्पादि जल छिड़कनेसे शुद्ध और सूँघनेसे अशुद्ध माने जाते हैं। तत्कालका पकाया हुआ अन्न शुद्ध और बासी अशुद्ध माना जाता है। बड़े सरोवर और नदी आदिका जल शुद्ध और छोटे गड्ढोंका अशुद्ध माना जाता है। इस प्रकार क्रमसे समझ लेना चाहिये।) शक्ति, अशक्ति, बुद्धि और वैभवके अनुसार भी पवित्रता और अपवित्रताकी व्यवस्था होती है। उसमें भी स्थान और उपयोग करनेवालेकी आयुका विचार करते हुए ही अशुद्ध वस्तुओंके व्यवहारका दोष ठीक तरहसे आँका जाता है। (जैसे धनी-दरिद्र, बलवान्-निर्बल, बुद्धिमान्-मूर्ख, उपद्रवपूर्ण और सुखद देश तथा तरुग एवं वृद्धावस्थाके भेदसे शुद्धि और अशुद्धिकी व्यवस्थामें अन्तर पड़ जाता है।) अनाज, लकड़ी, हाथीदाँत आदि, हड्डी, सूत, मधु, नमक, तेल, घी आदि रस, सोना-पारा आदि तैजस पदार्थ, चाम और घड़ा आदि मिट्टीके बने पदार्थ समयपर अपने आप हवा लगनेसे, आगमें जलानेसे, मिट्टी लगानेसे अथवा जलमें धोनेसे शुद्ध हो जाते हैं। देश, काल और अवस्थाके अनुसार कहीं जल-मिट्टी आदि शोधक सामग्रीके संयोगसे शुद्धि करनी पड़ती है तो कहीं-कहीं एक-एकसे भी शुद्धि हो जाती है। यदि किसी वस्तुमें कोई अशुद्ध

पदार्थ लग गया हो तो छीलनेसे या मिट्टी आदि मलनेसे जब उस पदार्थकी गन्ध और लेप न रहे और वह वस्तु अपने पूर्वरूपमें आ जाय, तब उसको शुद्ध समझना चाहिये ॥ ८—१३ ॥

स्नानदानतपोऽवस्थावीर्यसंस्कारकर्मभिः ।
मत्स्मृत्या चात्मनः शौचं शुद्धः कर्माचरेद् द्विजः ॥
मन्त्रस्य च परिज्ञानं कर्मशुद्धिर्मदर्पणम् ।
धर्मः सम्पद्यते षड्भिरधर्मस्तु विपर्ययः ॥
क्वचिद् गुणोऽपि दोषः स्याद् दोषोऽपि विधिना गुणः ।
गुणदोषार्थनियमस्तद्भिदामेव बाधते ॥
समानकर्माचरणं पतितानां न पातकम् ।
औत्पत्तिको गुणः सङ्गो न शयानः पतत्यधः ॥
यतो यतो निवर्तेत विमुच्येत ततस्ततः ।
एष धर्मो नृणां क्षेमः शोकमोहभयापहः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २१ । १४—१८)

स्नान, दान, तपस्या, वय, सामर्थ्य, संस्कार, कर्म और मेरे स्मरणसे चित्तकी शुद्धि होती है । इनके द्वारा शुद्ध होकर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यको विहित कर्मोंका आचरण करना चाहिये । गुरुमुखसे सुनकर भलीभाँति हृदयङ्गम कर लेनेसे मन्त्रकी और मुझे समर्पित कर देनेसे कर्मकी शुद्धि होती है । उद्धवजी ! इस प्रकार देश, काल, पदार्थ, कर्त्ता, मन्त्र और कर्म—इन छहोंके शुद्ध होनेसे धर्म और अशुद्ध होनेसे अधर्म होता है । कहीं-कहीं शास्त्रविधिसे गुण दोष हो जाता है और दोष गुण । (जैसे ब्राह्मणके लिये संध्या-वन्दन, गायत्री-जप आदि गुण हैं; परंतु शूद्रके लिये दोष हैं और दूध आदिका व्यापार वैश्यके लिये विहित है; परंतु ब्राह्मणके लिये अत्यन्त निषिद्ध है ।) एक ही वस्तुके विषयमें किसीके लिये गुण और किसीके लिये दोषका विधान गुण और दोषोंकी वास्तविकताका खण्डन कर देता है और इससे यह निश्चय होता है कि गुण-दोषका यह भेद कल्पित है । जो लोग पतित हैं, वे पतितोंका-सा आचरण करते हैं तो उन्हें पाप नहीं लगता, जब कि श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये वह सर्वथा त्याज्य होता है । जैसे गृहस्थोंके लिये स्वाभाविक होनेके कारण अपनी पत्नीका सङ्ग पाप नहीं है; परंतु संन्यासीके लिये घोर पाप है । उद्धवजी ! बात तो यह है कि जो नीचे सोया हुआ है, वह गिरेगा कहाँ ? वैसे ही जो पहलेसे ही पतित हैं, उनका अब और पतन क्या होगा ? जिन-जिन दोषों और गुणोंसे मनुष्यका चित्त उपरत हो जाता है, उन्हीं वस्तुओंके बन्धनसे वह मुक्त हो जाता है । मनुष्योंके लिये यह निवृत्तिरूप धर्म ही परम कल्याणका साधन है; क्योंकि यही शोक, मोह और भयको मिटानेवाला है ॥ १४—१८ ॥

विषयेषु गुणाध्यासात् पुंसः सङ्गस्ततो भवेत् ।
सङ्गात्तत्र भवेत् कामः कामादेव कलिर्नृणाम् ॥
कलेर्दुर्विषहः क्रोधस्तमस्तमनुवर्तते ।
तमसा ग्रस्यते पुंसश्चेतना व्यापिनी द्रुतम् ॥
तया विरहितः साधो जन्तुः शून्याय कल्पते ।
ततोऽस्य स्वार्थविभ्रंशो मूर्च्छितस्य मृतस्य च ॥
विषयाभिनिवेशेन नात्मानं वेद नापरम् ।
वृक्षजीविकया जीवन् व्यर्थं भस्त्रेव यः श्वसन् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २१ । १९—२२)

उद्धवजी ! विषयोंमें कहीं भी गुणोंका आरोप करनेसे उस वस्तुके प्रति आसक्ति हो जाती है । आसक्ति होनेसे उसे अपने पास रखनेकी कामना हो जाती है और इस कामनाकी पूर्तिमें किसी प्रकारकी बाधा पड़नेपर लोगोंमें परस्पर कलह होने लगता है । कलहसे असह्य क्रोधकी उत्पत्ति होती है और क्रोधके समय अपने हित-अहितका बोध नहीं रहता, अज्ञान छा जाता है । इस अज्ञानसे शीघ्र ही मनुष्यकी कार्याकार्यका निर्णय करनेवाली व्यापक चेतना-शक्ति लुप्त हो जाती है । साधो ! चेतनाशक्ति अर्थात् स्मृतिके लुप्त हो जानेपर मनुष्यमें मनुष्यता नहीं रह जाती, पशुता आ जाती है और वह शून्यके समान अस्तित्वहीन हो जाता है । अब

उसकी अवस्था वैसी ही हो जाती है, जैसे कोई मूर्च्छित या मुर्दा हो । ऐसी स्थितिमें न तो उसका स्वार्थ बनता है और न तो परमार्थ । विषयोंका चिन्तन करते-करते वह विषयरूप हो जाता है । उसका जीवन वृक्षोंके समान जड हो जाता है । उसके शरीरमें उसी प्रकार व्यर्थ श्वास चलता रहता है, जैसे लुहारकी धौंकनीकी हवा । उसे न अपना ज्ञान रहता है और न किसी दूसरेका । वह सर्वथा आत्मवञ्चित हो जाता है ॥ १९—२२ ॥

फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम् ।
श्रेयोविवक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्यरोचनम् ॥
उत्पत्त्यैव हि कामेषु प्राणेषु स्वजनेषु च ।
आसक्तमनसो मर्त्या आत्मनोऽनर्थहेतुषु ॥
न तानविदुषः स्वार्थं भ्राम्यतो वृजिनाध्वनि ।
कथं युञ्ज्यात् पुनस्तेषु तांस्तमो विशतो बुधः ॥
एवं व्यवसितं केचिदविज्ञाय कुबुद्धयः ।
फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदज्ञा वदन्ति हि ॥
कामिनः कृपणा लुब्धाः पुष्पेषु फलबुद्धयः ।
अग्निमुग्धा धूमतान्ताः स्वं लोकं न विदन्ति ते ॥
न ते मामङ्ग जानन्ति हृदिस्थं य इदं यतः ।
उक्थशस्त्रा ह्यसुतृपो यथा नीहारचक्षुषः ॥
ते मे मतमविज्ञाय परोक्षं विषयात्मकाः ।
हिंसायां यदि रागः स्याद् यज्ञ एव न चोदना ॥
हिंसाविहारा ह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया ।
यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन् खलाः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २१ । २३—३०)

उद्धवजी ! यह स्वर्गादिरूप फलका वर्णन करनेवाली श्रुति मनुष्योंके लिये उन-उन लोगोंको परम पुरुषार्थ नहीं बतलाती, परंतु बहिर्मुख पुरुषोंके लिये अन्तःकरण-शुद्धिके द्वारा परम कल्याणमय मोक्षकी विवक्षासे ही कर्मोंमें रुचि उत्पन्न करनेके लिये वैसा वर्णन करती है । जैसे बच्चोंसे ओषधिमें रुचि उत्पन्न करनेके लिये रोचक वाक्य कहे जाते हैं । (बेटा ! प्रेमसे गिलोयका काढ़ा पी लो तो तुम्हारी चोटी बढ़ जायगी ।) इसमें संदेह नहीं कि संसारके विषयभोगोंमें, प्राणोंमें और सगे-सम्बन्धियोंमें सभी मनुष्य जन्मसे ही आसक्त हैं और उन वस्तुओंकी आसक्ति उनकी आत्मोन्नतिमें बाधक एवं अनर्थका कारण है । वे अपने परम पुरुषार्थको नहीं जानते, इसलिये स्वर्गादिका जो वर्णन मिलता है, वह ज्यों-का-त्यों सत्य है—ऐसा विश्वास करके देवादि योनियोंमें भटकते रहते हैं और फिर वृक्ष आदि योनियोंके घोर अन्धकारमें आ पड़ते हैं । ऐसी अवस्थामें कोई भी विद्वान् अथवा वे फिरसे उन्हें उन्हीं विषयोंमें क्यों प्रवृत्त करेगा ! दुर्बुद्धिलोग (कर्मवादी) वेदोंका यह अभिप्राय न समझकर कर्मासक्तिवश पुष्पोंके समान स्वर्गादि लोकोंका वर्णन देखते हैं और उन्हींको परम फल मानकर भटक जाते हैं । परंतु वेदवेत्ता लोग श्रुतियोंका ऐसा तात्पर्य नहीं बतलाते । विषय-वासनाओंमें फँसे हुए दीन-हीन, लोभी पुरुष रंग-बिरंगे पुष्पोंके समान स्वर्गादि लोकोंको ही सब कुछ समझ बैठते हैं, अग्निके द्वारा सिद्ध होनेवाले यज्ञ-यागादि कर्मोंमें ही मुग्ध हो जाते हैं । उन्हें अन्तमें देवलोक, पितृलोक आदिकी ही प्राप्ति होती है । इधर-ओर भटक जानेके कारण उन्हें अपने निजधाम आत्मपदका पता नहीं लगता । प्यारे उद्धव ! उनके पास साधना है तो केवल कर्मकी और उसका फल है तो इन्द्रियोंकी तृप्ति । उनकी आँखें धुँधली हो गयी हैं; इसीसे वे यह बात नहीं जानते कि जिससे इस जगत्की उत्पत्ति हुई है, जो स्वयं इस जगत्के रूपमें है,-वह परमात्मा मैं उनके हृदयमें ही हूँ । यदि हिंसा और उसके फल मांस-भक्षणमें राग ही हो, उसका त्याग न किया जा सकता हो, तो यज्ञमें ही करे—यह परिसंख्या विधि है, स्वाभाविक प्रवृत्तिका संकोच है, संध्या-वन्दनादिके समान अपूर्व विधि नहीं है । इस प्रकार मेरे परोक्ष अभिप्रायको न जानकर विषयलोलुप पुरुष हिंसाका खिलवाड़ खेलते हैं और दुष्टतावश

इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये वध किये हुए पशुओंके मांससे यज्ञ करके देवता, पितर तथा भूतपतियोंके यजनका ढोंग करते हैं ॥ २३—३० ॥

स्वप्नोपममसुं लोकमसन्तं श्रवणप्रियम् ।
आशिषो हृदि संकल्प्य त्यजन्त्यर्थान् यथा वणिक्
रजःसत्त्वतमोनिष्ठा रजःसत्त्वतमोजुषः ।
उपासत इन्द्रमुख्यान् देवादीन् न तथैव माम्॥
इष्ट्वेह देवता यज्ञैर्गत्वा रंस्यामहे दिवि ।
तस्यान्त इह भूयास्म महाशाला महाकुलाः ॥
एवं पुष्पितया वाचा व्याक्षिप्तमनसां नृणाम्।
मानिनां चातिस्तब्धानां मद्वार्तापि न रोचते ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २१ । ३१—३४)

उद्धवजी ! स्वर्गादि परलोक स्वप्नके दृश्योंके समान हैं; वास्तवमें वे असत् हैं, केवल उनकी बातें सुननेमें बहुत मीठी लगती हैं। सकाम पुरुष वहाँके भोगोंके लिये मन-ही-मन अनेकों प्रकारके संकल्प कर लेते हैं और जैसे व्यापारी अधिक लाभकी आशासे मूलधनको भी खो बैठता है, वैसे ही वे सकाम यज्ञोंद्वारा अपने धनका नाश करते हैं। वे स्वयं रजोगुण, सत्त्वगुण या तमोगुणमें स्थित रहते हैं और रजोगुणी, सत्त्वगुणी अथवा तमोगुणी इन्द्रादि देवताओंकी उपासना करते हैं। वे उन्हीं सामग्रियोंसे उतने ही परिश्रमसे मेरी पूजा नहीं करते। वे जब इस प्रकारकी पुष्पिता वाणी—रंग-बिरंगी मीठी-मीठी बातें सुनते हैं कि 'हमलोग इस लोकमें यज्ञोंके द्वारा देवताओंका यजन करके स्वर्गमें जायँगे और दिव्य आनन्द भोगेंगे, उसके बाद जब फिर हमारा जन्म होगा, तब हम बड़े कुलीन परिवारमें पैदा होंगे, हमारे बड़े-बड़े महल होंगे और हमारा कुटुम्ब बहुत सुखी और बहुत बड़ा होगा,' तब उनका चित्त क्षुब्ध हो जाता है और उन हेकड़ी जतानेवाले घमंडियोंको मेरे सम्बन्धकी बातचीत भी अच्छी नहीं लगती ॥ ३१—३४ ॥

वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्डविषया इमे ।
परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम् ॥
शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम् ।
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत् ॥
मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणानन्तशक्तिना ।
भूतेषु घोषरूपेण बिसेषूर्णेव लक्ष्यते ॥
यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णामुद्वमते मुखात् ।
आकाशाद् घोषवान् प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा ॥
छन्दोमयोऽमृतमयः सहस्रपदवीं प्रभुः ।
ओङ्काराद् व्यञ्जितस्पर्शस्वरोष्मान्तःस्थभूषिताम्॥
विचित्रभाषाविततां छन्दोभिश्चतुरुत्तरैः ।
अनन्तपारां बृहतीं सृजत्याक्षिपते स्वयम् ॥
गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती पङ्क्तिरेव च ।
त्रिष्टुब्जगत्यतिच्छन्दो ह्यत्यष्ट्यतिजगद् विराट्॥
किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत् ।
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद् वेद कश्चन ॥
मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम् ।
एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम् ।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २१ । ३५—४३)

उद्धवजी ! वेदोंमें तीन काण्ड हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान। इन तीनों काण्डोंके द्वारा प्रतिपादित विषय है—ब्रह्म और आत्माकी एकता; सभी मन्त्र और मन्त्रद्रष्टा ऋषि इस विषयको खोलकर नहीं, गुप्तभावसे बतलाते हैं और मुझे भी इस बातको गुप्तरूपसे कहना ही अभीष्ट है। वेदोंका नाम है—शब्दब्रह्म। वे मेरी मूर्ति हैं; इसीसे उनका रहस्य समझना अत्यन्त कठिन है। वह शब्दब्रह्म परा, पश्यन्ती और मध्यमा वाणीके रूपमें प्राण, मन और इन्द्रियमय है। समुद्रके समान सीमारहित और गहरा है। उसकी थाह लगाना अत्यन्त कठिन है। उद्धव ! मैं अनन्तशक्ति-सम्पन्न एवं स्वयं अनन्त ब्रह्म हूँ। मैंने ही वेदवाणीका विस्तार किया है। जैसे कमल-नालमें पतला-सा सूत होता है, वैसे ही वह वेदवाणी

प्राणियोंके अन्तःकरणमें अनाहत नादके रूपमें प्रकट होती है । भगवान् हिरण्यगर्भ स्वयं वेदमूर्ति एवं अमृतमय हैं । उनकी उपाधि है प्राण और स्वयं अनाहत शब्दके द्वारा ही उनकी अभिव्यक्ति हुई है । जैसे मकड़ी अपने हृदयसे मुखद्वारा जाला उगलती और फिर निगल लेती है, वैसे ही वे स्पर्श आदि वर्णोंका संकल्प करनेवाले मनरूप निमित्तकारणके द्वारा हृदयाकाशसे अनन्त अपार अनेकों मार्गोंवाली वैखरीरूप वेद वाणीको स्वयं ही प्रकट करते हैं और फिर उसे अपनेमें लीन कर लेते हैं । वह वाणी हृद्गत सूक्ष्म ओंकारके द्वारा अभिव्यक्त स्पर्श ('क' से लेकर 'म' तक—२५), स्वर ('अ' से 'औ' तक—९), ऊष्मा (श, ष, स, ह) और अन्तःस्थ (य, र, ल, व)—इन वर्णोंसे विभूषित है । उसमें ऐसे छन्द हैं, जिनमें उत्तरोत्तर चार-चार वर्ण बढ़ते जाते हैं और उनके द्वारा विचित्र भाषाके रूपमें वह विस्तृत हुई है । (चार-चार अधिक वर्णोंवाले छन्दोंमेंसे कुछ ये हैं—) गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अतिच्छन्द, अत्यष्टि, अतिजगती और विराट् । वह वेदवाणी कर्मकाण्डमें क्या विधान करती है, उपासनाकाण्डमें किन देवताओंका वर्णन करती है और ज्ञानकाण्डमें किन प्रतीतियोंका अनुवाद करके उनमें अनेकों प्रकारके विकल्प करती है—इन बातोंको, इस सम्बन्धमें श्रुतिके रहस्यको मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं जानता । मैं तुम्हें स्पष्ट बतला देता हूँ कि सभी श्रुतियाँ कर्मकाण्डमें मेरा ही विधान करती हैं । उपासनाकाण्डमें उपास्य देवताओंके रूपमें वे मेरा ही वर्णन करती हैं और ज्ञानकाण्डमें आकाशादि रूपसे मुझमें ही अन्य वस्तुओंका आरोप करके उनका निषेध कर देती हैं । सम्पूर्ण श्रुतियोंका बस, इतना ही तात्पर्य है कि वे मेरा आश्रय लेकर मुझमें भेदका आरोप करती हैं, मायामात्र कहकर उसका अनुवाद करती हैं और अन्तमें सबका निषेध करके मुझमें ही शान्त हो जाती हैं और केवल अधिष्ठानरूपसे मैं ही शेष रह जाता हूँ ॥ ३५—४३ ॥

अध्याय षोडश

तत्त्वोंकी संख्या और प्रकृति-पुरुष-विवेक

उद्धव उवाच

कति तत्त्वानि विश्वेश संख्यातान्यृषिभिः प्रभो ।
नवैकादश पञ्च त्रीण्यात्थ त्वमिह शुश्रुम ॥
केचित् षड्विंशतिं प्राहुरपरे पञ्चविंशतिम् ।
सप्तैके नव षट् केचिच्चत्वार्येकादशापरे ॥
केचित् सप्तदश प्राहुः षोडशैके त्रयोदश ।
एतावत्त्वं हि संख्यानामृषयो यद्विवक्षया ।
गायन्ति पृथगायुष्मन्निदं नो वक्तुमर्हसि ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २२ । १–३)

उद्धवजीने कहा—प्रभो ! विश्वेश्वर ! ऋषियोंने तत्त्वोंकी संख्या कितनी बतलायी है ? आपने तो अभी (उन्नीसवें अध्यायमें) नौ, ग्यारह, पाँच और तीन अर्थात् कुल अट्ठाईस तत्त्व गिनाये हैं । यह तो हम सुन चुके हैं; किंतु कुछ लोग छब्बीस तत्त्व बतलाते हैं तो कुछ पचीस; कोई सात, अथवा छः स्वीकार करते हैं, कोई चार बतलाते हैं तो कोई ग्यारह । इसी प्रकार किन्हीं-किन्हीं ऋषि-मुनियोंके मतमें उनकी संख्या सत्रह है, कोई सोलह और कोई तेरह बतलाते हैं । सनातन श्रीकृष्ण ! ऋषि-मुनि इतनी भिन्न संख्याएँ किस अभिप्रायसे बतलाते हैं ? आप कृपा करके हमें बतलाइये ॥ १–३ ॥

श्रीभगवानुवाच

युक्तं च सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा ।
मायां मदीयामुद्गृह्य वदतां किं नु दुर्घटम् ॥
नैतदेवं यथाऽऽत्थ त्वं यदहं वच्मि तत्तथा ।
एवं विवदतां हेतुं शक्तयो मे दुरत्ययाः ॥

यासां व्यतिकरादासीद् विकल्पो वदतां पदम् ।
प्राप्ते शमदमेऽप्येति वादस्तमनु शाम्यति ॥
परस्परानुप्रवेशात् तत्त्वानां पुरुषर्षभ ।
पौर्वापर्यप्रसंख्यानं यथा वक्तुर्विवक्षितम् ॥
एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानीतराणि च ।
पूर्वस्मिन् वापरस्मिन् वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्वशः ॥
पौर्वापर्यमतोऽमीषां प्रसंख्यानमभीप्सताम् ।
यथा विविक्तं यद्वक्त्रं गृह्णीमो युक्तिसम्भवात् ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २२ । ४—९)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धवजी ! वेदज्ञ ब्राह्मण इस विषयमें जो कुछ कहते हैं, वह सभी ठीक है; क्योंकि सभी तत्त्व सबमें अन्तर्भूत हैं । मेरी मायाको स्वीकार करके क्या कहना असम्भव है ? 'जैसा तुम कहते हो, वह ठीक नहीं है, जो मैं कहता हूँ, वही यथार्थ है'—इस प्रकार जगत्‌के कारणके सम्बन्धमें विवाद इसलिये होता है कि मेरी शक्तियों—सत्त्व, रज आदि गुणों और उनकी वृत्तियोंका रहस्य लोग समझ नहीं पाते; इसलिये वे अपनी-अपनी मनोवृत्तिपर ही आग्रह कर वैठते हैं । सत्त्व आदि गुणोंके क्षोभसे ही यह विविध कल्पनारूप प्रपञ्च—जो वस्तु नहीं केवल नाम है—उठ खड़ा हुआ है । यही वाद-विवाद करनेवालोंके विवादका विषय है । जब इन्द्रियाँ अपने वशमें हो जाती हैं तथा चित्त शान्त हो जाता है, तब यह प्रपञ्च भी निवृत्त हो जाता है और उसकी निवृत्तिके साथ ही सारे वाद-विवाद भी मिट जाते हैं । पुरुषशिरोमणे ! तत्त्वोंका एक दूसरेमें अनुप्रवेश है, इसलिये वक्ता तत्त्वोंकी जितनी संख्या बतलाना चाहता है, उसके अनुसार कारणको कार्यमें अथवा कार्यको कारणमें मिलाकर अपनी इच्छित संख्या सिद्ध कर लेता है । ऐसा देखा जाता है कि एक ही तत्त्वमें बहुत-से दूसरे तत्त्वोंका अन्तर्भाव हो गया है । इसका कोई बन्धन नहीं है कि किसका किसमें अन्तर्भाव हो । कभी घट-पट आदि कार्य वस्तुओंका उनके कारण मिट्टी-सूत आदिमें, तो कभी मिट्टी-सूत आदिका घट-पट आदि कार्योंमें अन्तर्भाव हो जाता है । इसलिये वादी-प्रतिवादियोंमेंसे जिसकी वाणीने जिस कार्यको जिस कारणमें अथवा जिस कारणको जिस कार्यमें अन्तर्भूत करके तत्त्वोंकी जितनी संख्या स्वीकार की है, वह हम निश्चय ही स्वीकार करते हैं; क्योंकि उनका वह उपपादन युक्तिसङ्गत ही है ॥ ४—९॥

अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम् ।
स्वतो न सम्भवादन्यस्तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत् ॥
पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि ।
तदन्यकल्पनापार्था ज्ञानं च प्रकृतेर्गुणः ॥
प्रकृतिर्गुणसाम्यं वै प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः ।
सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ॥
सत्त्वं ज्ञानं रजः कर्म तमोऽज्ञानमिहोच्यते ।
गुणव्यतिकरः कालः स्वभावः सूत्रमेव च ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २२ । १०—१३)

उद्धवजी ! जिन लोगोंने छब्बीस संख्या स्वीकार की है, वे ऐसा कहते हैं कि जीव अनादि कालसे अविद्यासे ग्रस्त हो रहा है । वह स्वयं अपने-आपको नहीं जान सकता । उसे आत्मज्ञान करानेके लिये किसी अन्य सर्वज्ञकी आवश्यकता है । (इसलिये प्रकृतिके कार्य-कारणरूप चौबीस तत्त्व, पचीसवाँ पुरुष और छब्बीसवाँ ईश्वर—इस प्रकार कुल छब्बीस तत्त्व स्वीकार करने चाहिये ।) पचीस तत्त्व माननेवाले कहते हैं कि इस शरीरमें जीव और ईश्वरका अणुमात्र भी अन्तर या भेद नहीं है, इसलिये उनमें भेदकी कल्पना व्यर्थ है । रही ज्ञानकी बात, सो तो सत्त्वात्मिका प्रकृतिका गुण है । तीनों गुणोंकी साम्यावस्था ही प्रकृति है, इसलिये सत्त्व, रज आदि गुण आत्माके नहीं, प्रकृतिके ही हैं । इन्हींके द्वारा जगत्‌की स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय हुआ करते हैं । इसलिये ज्ञान आत्माका गुण नहीं, प्रकृतिका ही गुण सिद्ध होता है । इस प्रसङ्गमें सत्त्वगुण ही ज्ञान

है, रजोगुण ही कर्म है और तमोगुण ही अज्ञान कहा गया है और गुणोंमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाला ईश्वर ही काल है और सूत्र अर्थात् महत्तत्त्व ही स्वभाव है। (इसलिये पचीस और छब्बीस तत्त्वोंकी—दोनों ही संख्या युक्तिसंगत है) ॥ १०-१३ ॥

पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमहंकारो नभोऽनिलः ।
ज्योतिरापः क्षितिरिति तत्त्वान्युक्तानि मे नव ॥
श्रोत्रं त्वग्दर्शनं घ्राणो जिह्वेति ज्ञानशक्तयः ।
वाक्पाण्युपस्थपाय्वङ्घ्रिकर्माण्यङ्गोभयं मनः ॥
शब्दः स्पर्शो रसो गन्धो रूपं चेत्यर्थजातयः ।
गत्युक्त्युत्सर्गशिल्पानि कर्मायतनसिद्धयः ॥
सर्गादौ प्रकृतिर्ह्यस्य कार्यकारणरूपिणी ।
सत्त्वादिभिर्गुणैर्धत्ते पुरुषोऽव्यक्त ईक्षते ॥
व्यक्तादयो विकुर्वाणा धातवः पुरुषेक्षया ।
लब्धवीर्याः सृजन्त्यण्डं संहताः प्रकृतेर्बलात् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २२ । १४—१८)

उद्धवजी ! (यदि तीनों गुणोंको प्रकृतिसे अलग मान लिया जाय, जैसा कि उनकी उत्पत्ति और प्रलय-को देखते हुए मानना चाहिये, तो तत्त्वोंकी संख्या स्वयं ही अट्ठाईस हो जाती है। उन तीनोंके अतिरिक्त पचीस ये हैं—) पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये नौ तत्त्व मैं पहले ही गिना चुका हूँ। श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, नासिका और रसना—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन जो कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनों ही है। इस प्रकार कुल ग्यारह इन्द्रियाँ तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये ज्ञानेन्द्रियोंके पाँच विषय। इस प्रकार तीन, नौ, ग्यारह और पाँच—सब मिलाकर अट्ठाईस तत्त्व होते हैं। कर्मेन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले पाँच कर्म—चलना, बोलना, मल त्यागना, पेशाब करना और काम करना—इनके द्वारा तत्त्वोंकी संख्या नहीं बढ़ती। इन्हें कर्मेन्द्रिय-स्वरूप ही मानना चाहिये। सृष्टिके आरम्भमें कार्य (ग्यारह इन्द्रिय और पञ्चभूत) और कारण (महत्तत्त्व आदि) के रूपमें प्रकृति ही रहती है। वही सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी सहायतासे जगत्की स्थिति, उत्पत्ति और संहारसम्बन्धी अवस्थाएँ धारण करती है। अव्यक्त पुरुष तो प्रकृति और उसकी अवस्थाओंका केवल साक्षीमात्र बना रहता है। महत्तत्त्व आदि कारण धातुएँ विकारको प्राप्त होते हुए पुरुषके ईक्षणसे शक्ति प्राप्त करके परस्पर मिल जाते हैं और प्रकृतिका आश्रय लेकर उसीके बलसे ब्रह्माण्डकी सृष्टि करते हैं ॥ १४—१८ ॥

सप्तैव धातव इति तत्रार्थाः पञ्च खादयः ।
ज्ञानमात्मोभयाधारस्ततो देहेन्द्रियासवः ॥
षडित्यत्रापि भूतानि पञ्च षष्ठः परः पुमान् ।
तैर्युक्त आत्मसम्भूतैः सृष्ट्वेदं समुपाविशत् ॥
चत्वार्येवेति तत्रापि तेज आपोऽन्नमात्मनः ।
जातानि तैरिदं जातं जन्मावयविनः खलु ॥
संख्याने सप्तदशके भूतमात्रेन्द्रियाणि च ।
पञ्च पञ्चैकमनसा आत्मा सप्तदशः स्मृतः ॥
तद्वत् षोडशसंख्याने आत्मैव मन उच्यते ।
भूतेन्द्रियाणि पञ्चैव मन आत्मा त्रयोदश ॥
एकादशत्व आत्मासौ महाभूतेन्द्रियाणि च ।
अष्टौ प्रकृतयश्चैव पुरुषश्च नवेत्यथ ।
इति नानाप्रसंख्यानं तत्त्वानामृषिभिः कृतम् ।
सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद् विदुषां किमशोभनम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २२ । १९—

उद्धवजी ! जो लोग तत्त्वोंकी संख्या सात ब करते हैं, उनके विचारसे आकाश, वायु, तेज, जल पृथ्वी—ये पाँच भूत, छठा जीव और सातवाँ परमात्मा जो साक्षी जीव और साक्ष्य जगत् दोनोंका आधार है—ये ही तत्त्व हैं। देह, इन्द्रिय और प्राण उत्पत्ति तो पञ्चभूतोंसे ही हुई है [इसलिये

अलग नहीं गिनते]। जो लोग केवल छः तत्त्व स्वीकार करते हैं, वे कहते हैं कि पाँच भूत हैं और छठा है परम पुरुष परमात्मा। वह परमात्मा अपने बनाये हुए पञ्चभूतोंसे युक्त होकर देह आदिकी सृष्टि करता है और उनमें जीवरूपसे प्रवेश करता है। (इस मतके अनुसार जीवका परमात्मामें और शरीर आदिका पञ्चभूतोंमें समावेश हो जाता है।) जो लोग कारणके रूपमें चार ही तत्त्व स्वीकार करते हैं, वे कहते हैं कि आत्मासे तेज, जल और पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई है और जगत्‌में जितने पदार्थ हैं, सब इन्हींसे उत्पन्न होते हैं। वे सभी कार्योंका इन्हींमें समावेश कर लेते हैं। जो लोग तत्त्वोंकी संख्या सत्रह बतलाते हैं, वे इस प्रकार गणना करते हैं—पाँच भूत, पाँच तन्मात्राएँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, एक मन और एक आत्मा। जो लोग तत्त्वोंकी संख्या सोलह बतलाते हैं, उनकी गणना भी इसी प्रकार है। अन्तर केवल इतना ही है कि वे आत्मामें मनका भी समावेश कर लेते हैं और इस प्रकार उनकी तत्त्व-संख्या सोलह रह जाती है। जो लोग तेरह तत्त्व मानते हैं, वे कहते हैं कि आकाशादि पाँच भूत, श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, एक मन, एक जीवात्मा और परमात्मा—ये तेरह तत्त्व हैं। ग्यारह संख्या माननेवालोंने पाँच भूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और इनके अतिरिक्त एक आत्माका अस्तित्व स्वीकार किया है। जो लोग नौ तत्त्व मानते हैं, वे आकाशादि पाँच भूत और मन, बुद्धि, अहंकार—ये आठ प्रकृतियाँ और नवाँ पुरुष—इन्हींको तत्त्व मानते हैं। उद्धवजी! इस प्रकार ऋषि-मुनियोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे तत्त्वोंकी गणना की है। सबका कहना उचित ही है; क्योंकि सभीकी संख्या युक्तियुक्त है। जो लोग तत्त्वज्ञानी हैं, उन्हें किसी भी मतमें बुराई नहीं दीखती। उनके लिये तो सब कुछ ठीक ही है॥ १९—२५॥

उद्धव उवाच

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ यद्यप्यात्मविलक्षणौ।
अन्योन्यापाश्रयात् कृष्ण दृश्यते न भिदा तयोः॥
प्रकृतौ लक्ष्यते ह्यात्मा प्रकृतिश्च तथाऽऽत्मनि।
एवं मे पुण्डरीकाक्ष महान्तं संशयं हृदि॥
छेत्तुमर्हसि सर्वज्ञ वचोभिर्नयनैपुणैः।
त्वत्तो ज्ञानं हि जीवानां प्रमोषस्तेऽत्र शक्तितः॥
त्वमेव ह्यात्ममायाया गतिं वेत्थ न चापरः।

(श्रीमद्भागवत ११। २२। २६—२८)

उद्धवजीने कहा—श्यामसुन्दर! यद्यपि स्वरूपतः प्रकृति और पुरुष दोनों एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं, तथापि वे आपसमें इतने घुल-मिल गये हैं कि साधारणतः उनका भेद नहीं जान पड़ता। प्रकृतिमें पुरुष और पुरुषमें प्रकृति अभिन्न-से प्रतीत होते हैं। इनकी भिन्नता स्पष्ट कैसे हो? कमलनयन श्रीकृष्ण! मेरे हृदयमें इनकी भिन्नता और अभिन्नताको लेकर बहुत बड़ा संदेह है। आप तो सर्वज्ञ हैं, अपनी युक्तियुक्त वाणीसे मेरे संदेहका निवारण कर दीजिये। भगवन्! आपकी ही कृपासे जीवोंको ज्ञान होता है और आपकी मायाशक्तिसे ही उनके ज्ञानका नाश होता है। अपनी आत्मस्वरूपिणी मायाकी विचित्र गति आप ही जानते हैं, और कोई नहीं जानता। अतएव आप ही मेरा संदेह मिटानेमें समर्थ हैं॥ २६—२८॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकृतिः पुरुषश्चेति विकल्पः पुरुषर्षभ।
एष वैकारिकः सर्गो गुणव्यतिकरात्मकः॥
ममाङ्ग माया गुणमय्यनेकधा
विकल्पबुद्धीश्च गुणैर्विधत्ते।
वैकारिकस्त्रिविधोऽध्यात्ममेक-
मथाधिदैवमधिभूतमन्यत्॥
दृग् रूपमार्कं वपुरत्र रन्ध्रे
परस्परं सिध्यति यः स्वतः खे।
आत्मा यदेषामपरो य आद्यः
स्वयानुभूत्याखिलसिद्धसिद्धिः।
एवं त्वगादि श्रवणादि चक्षु-
र्जिह्वादि नासादि च चित्तयुक्तम्॥

है, रजोगुण ही कर्म है और तमोगुण ही अज्ञान कहा गया है और गुणोंमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाला ईश्वर ही काल है और सूत्र अर्थात् महत्तत्त्व ही स्वभाव है। (इसलिये पचीस और छब्बीस तत्त्वोंकी—दोनों ही संख्या युक्तिसंगत है) ॥ १०–१३ ॥

पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमहंकारो नभोऽनिलः।
ज्योतिरापः क्षितिरिति तत्त्वान्युक्तानि मे नव ॥
श्रोत्रं त्वग्दर्शनं घ्राणो जिह्वेति ज्ञानशक्तयः।
वाक्पाण्युपस्थपाय्वङ्घ्रिकर्माण्यङ्गोभयं मनः ॥
शब्दः स्पर्शो रसो गन्धो रूपं चेत्यर्थजातयः।
गत्युक्त्युत्सर्गशिल्पानि कर्मायतनसिद्धयः ॥
सर्गादौ प्रकृतिर्ह्यस्य कार्यकारणरूपिणी।
सत्त्वादिभिर्गुणैर्धत्ते पुरुषोऽव्यक्त ईक्षते ॥
व्यक्तादयो विकुर्वाणा धातवः पुरुषेक्षया।
लब्धवीर्याः सृजन्त्यण्डं संहताः प्रकृतेर्बलात् ॥
(श्रीमद्भागवत ११। २२। १४—१८)

उद्धवजी! (यदि तीनों गुणोंको प्रकृतिसे अलग मान लिया जाय, जैसा कि उनकी उत्पत्ति और प्रलय-को देखते हुए मानना चाहिये, तो तत्त्वोंकी संख्या स्वयं ही अट्ठाईस हो जाती है। उन तीनोंके अतिरिक्त पचीस ये हैं—) पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये नौ तत्त्व मैं पहले ही गिना चुका हूँ। श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, नासिका और रसना—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन जो कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनों ही है। इस प्रकार कुल ग्यारह इन्द्रियाँ तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये ज्ञानेन्द्रियोंके पाँच विषय। इस प्रकार तीन, नौ, ग्यारह और पाँच—सब मिलाकर अट्ठाईस तत्त्व होते हैं। कर्मेन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले पाँच कर्म—चलना, बोलना, मल त्यागना, पेशाब करना और काम करना—इनके द्वारा तत्त्वोंकी संख्या नहीं बढ़ती। इन्हें कर्मेन्द्रिय-स्वरूप ही मानना चाहिये। सृष्टिके आरम्भमें कार्य (ग्यारह इन्द्रिय और पञ्चभूत) और कारण (महत्तत्त्व आदि) के रूपमें प्रकृति ही रहती है। वही सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी सहायतासे जगत्‌की स्थिति, उत्पत्ति और संहारसम्बन्धी अवस्थाएँ धारण करती है। अव्यक्त पुरुष तो प्रकृति और उसकी अवस्थाओंका केवल साक्षीमात्र बना रहता है। महत्तत्त्व आदि कारण धातुएँ विकारको प्राप्त होते हुए पुरुषके ईक्षणसे शक्ति प्राप्त करके परस्पर मिल जाते हैं और प्रकृतिका आश्रय लेकर उसीके बलसे ब्रह्माण्डकी सृष्टि करते हैं ॥ १४—१८ ॥

सप्तैव धातव इति तत्रार्थाः पञ्च खादयः।
ज्ञानमात्मोभयाधारस्ततो देहेन्द्रियासवः ॥
षडित्यत्रापि भूतानि पञ्च षष्ठः परः पुमान्।
तैर्युक्त आत्मसम्भूतैः सृष्ट्वेदं समुपाविशत् ॥
चत्वार्येवेति तत्रापि तेज आपोऽन्नमात्मनः।
जातानि तैरिदं जातं जन्मावयविनः खलु ॥
संख्याने सप्तदशके भूतमात्रेन्द्रियाणि च।
पञ्च पञ्चैकमनसा आत्मा सप्तदशः स्मृतः ॥
तद्वत् षोडशसंख्याने आत्मैव मन उच्यते।
भूतेन्द्रियाणि पञ्चैव मन आत्मा त्रयोदश ॥
एकादशत्व आत्मासौ महाभूतेन्द्रियाणि च।
अष्टौ प्रकृतयश्चैव पुरुषश्च नवेत्यथ ॥
इति नानाप्रसंख्यानं तत्त्वानामृषिभिः कृतम्।
सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद् विदुषां किमशोभनम् ॥
(श्रीमद्भागवत ११। २२। १९—२५)

उद्धवजी! जो लोग तत्त्वोंकी संख्या सात स्वीकार करते हैं, उनके विचारसे आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये पाँच भूत, छठा जीव और सातवाँ परमात्मा—जो साक्षी जीव और साक्ष्य जगत् दोनोंका अधिष्ठान है—ये ही तत्त्व हैं। देह, इन्द्रिय और प्राणादिकी उत्पत्ति तो पञ्चभूतोंसे ही हुई है [इसलिये वे है

अलग नहीं गिनते]। जो लोग केवल छः तत्त्व स्वीकार करते हैं, वे कहते हैं कि पाँच भूत हैं और छठा है परम पुरुष परमात्मा। वह परमात्मा अपने बनाये हुए पञ्चभूतोंसे युक्त होकर देह आदिकी सृष्टि करता है और उनमें जीवरूपसे प्रवेश करता है। (इस मतके अनुसार जीवका परमात्मामें और शरीर आदिका पञ्चभूतोंमें समावेश हो जाता है।) जो लोग कारणके रूपमें चार ही तत्त्व स्वीकार करते हैं, वे कहते हैं कि आत्मासे तेज, जल और पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई है और जगत्‌में जितने पदार्थ हैं, सब इन्हींसे उपत्न्न होते हैं। वे सभी कार्योंका इन्हींमें समावेश कर लेते हैं। जो लोग तत्त्वोंकी संख्या सत्रह बतलाते हैं, वे इस प्रकार गणना करते हैं—पाँच भूत, पाँच तन्मात्राएँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, एक मन और एक आत्मा। जो लोग तत्त्वोंकी संख्या सोलह बतलाते हैं, उनकी गणना भी इसी प्रकार है। अन्तर केवल इतना ही है कि वे आत्मामें मनका भी समावेश कर लेते हैं और इस प्रकार उनकी तत्त्व-संख्या सोलह रह जाती है। जो लोग तेरह तत्त्व मानते हैं, वे कहते हैं कि आकाशादि पाँच भूत, श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, एक मन, एक जीवात्मा और परमात्मा—ये तेरह तत्त्व हैं। ग्यारह संख्या माननेवालोंने पाँच भूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और इनके अतिरिक्त एक आत्माका अस्तित्व स्वीकार किया है। जो लोग नौ तत्त्व मानते हैं, वे आकाशादि पाँच भूत और मन, बुद्धि, अहंकार—ये आठ प्रकृतियाँ और नवाँ पुरुष—इन्हींको तत्त्व मानते हैं। उद्धवजी! इस प्रकार ऋषि-मुनियोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे तत्त्वोंकी गणना की है। सबका कहना उचित ही है; क्योंकि सभीकी संख्या युक्तियुक्त है। जो लोग तत्त्वज्ञानी हैं, उन्हें किसी भी मतमें बुराई नहीं दीखती। उनके लिये तो सब कुछ ठीक ही है॥ १९—२५॥

उद्धव उवाच

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ यद्यप्यात्मविलक्षणौ।
अन्योन्यापाश्रयात् कृष्ण दृश्यते न भिदा तयोः॥
प्रकृतौ लक्ष्यते ह्यात्मा प्रकृतिश्च तथाऽऽत्मनि।
एवं मे पुण्डरीकाक्ष महान्तं संशयं हृदि॥
छेत्तुमर्हसि सर्वज्ञ वचोभिर्नयनैपुणैः।
त्वत्तो ज्ञानं हि जीवानां प्रमोषस्तेऽत्र शक्तितः॥
त्वमेव ह्यात्ममायाया गतिं वेत्थ न चापरः।

(श्रीमद्भागवत ११। २२। २६—२८)

उद्धवजीने कहा—श्यामसुन्दर! यद्यपि स्वरूपतः प्रकृति और पुरुष दोनों एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं, तथापि वे आपसमें इतने घुल-मिल गये हैं कि साधारणतः उनका भेद नहीं जान पड़ता। प्रकृतिमें पुरुष और पुरुषमें प्रकृति अभिन्न-से प्रतीत होते हैं। इनकी भिन्नता स्पष्ट कैसे हो? कमलनयन श्रीकृष्ण! मेरे हृदयमें इनकी भिन्नता और अभिन्नताको लेकर/बहुत बड़ा संदेह है। आप तो सर्वज्ञ हैं, अपनी युक्तियुक्त वाणीसे मेरे संदेहका निवारण कर दीजिये। भगवन्! आपकी ही कृपासे जीवोंको ज्ञान होता है और आपकी मायाशक्तिसे ही उनके ज्ञानका नाश होता है। अपनी आत्मस्वरूपिणी मायाकी विचित्र गति आप ही जानते हैं, और कोई नहीं जानता। अतएव आप ही मेरा संदेह मिटानेमें समर्थ हैं॥ २६—२८॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकृतिः पुरुषश्चेति विकल्पः पुरुषर्षभ।
एष वैकारिकः सर्गो गुणव्यतिकरात्मकः॥
ममाङ्ग माया गुणमय्यनेकधा
विकल्पबुद्धीश्च गुणैर्विधत्ते।
वैकारिकस्त्रिविधोऽध्यात्ममेक-
मथाधिदैवमधिभूतमन्यत्॥
दृग् रूपमार्कं वपुरत्र रन्ध्रे
परस्परं सिध्यति यः स्वतः खे।
आत्मा यदेषामपरो य आद्यः
स्वयानुभूत्याखिलसिद्धसिद्धिः।
एवं त्वगादि श्रवणादि चक्षु-
र्जिह्वादि नासादि च चित्तयुक्तम्॥

योऽसौ गुणक्षोभकृतो विकारः
प्रधानमूलान्महतः प्रसूतः ।
अहं त्रिवृन्मोहविकल्पहेतु-
र्वैकारिकस्तामस ऐन्द्रियश्च ॥
आत्मा परिज्ञानमयो विवादो
ह्यस्तीति नास्तीति भिदार्थनिष्ठः।
व्यर्थोऽपि नैवोपरमेत पुंसां
मत्तः परावृत्तधियां स्वलोकात् ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २२ । २९—३३)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धवजी ! प्रकृति और पुरुष, शरीर और आत्मा—इन दोनोंमें अत्यन्त भेद है । इस प्राकृत जगत्‌में जन्म-मरण एवं वृद्धि-ह्रास आदि विकार लगे ही रहते हैं । इसका कारण यह है कि यह गुणोंके क्षोभसे ही बना है । प्रिय मित्र ! मेरी माया त्रिगुणात्मिका है । वही अपने सत्त्व, रज आदि गुणोंसे अनेकों प्रकारकी भेदवृत्तियाँ उत्पन्न कर देती है। यद्यपि इसका विस्तार असीम है, फिर भी इस विकारात्मक सृष्टिको तीन भागोंमें बाँट सकते हैं । वे तीन भाग हैं—अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत । उदाहरणार्थ—नेत्रेन्द्रिय अध्यात्म है, उसका विषय रूप अधिभूत है और नेत्रगोलकमें स्थित सूर्यदेवताका अंश अधिदैव है। ये तीनों परस्पर एक दूसरेके आश्रयसे सिद्ध होते हैं और इसलिये अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत—ये तीनों ही परस्पर सापेक्ष हैं । परंतु आकाशमें स्थित सूर्यमण्डल इन तीनोंकी अपेक्षासे मुक्त है; क्योंकि वह स्वतःसिद्ध है । इसी प्रकार आत्मा भी उपर्युक्त तीनों भेदोंका मूल कारण, उनका साक्षी और उनसे परे है । वही अपने स्वयंसिद्ध प्रकाशसे समस्त सिद्ध पदार्थोंकी मूल सिद्धि है । उसीके द्वारा सबका प्रकाश होता है । जिस प्रकार चक्षुके तीन भेद बताये गये, उसी प्रकार त्वचा, श्रोत्र, जिह्वा, नासिका और चित्त आदिके भी तीन-तीन भेद हैं । प्रकृतिसे महत्तत्त्व बनता है और महत्तत्त्वसे अहंकार । इस प्रकार यह अहंकार गुणोंके क्षोभसे उत्पन्न हुआ प्रकृतिका ही एक विकार है । अहंकारके तीन भेद हैं—सात्त्विक, तामस और राजस । यह अहंकार ही अज्ञान और सृष्टिकी विविधता-का मूल कारण है । आत्मा ज्ञानस्वरूप है; उसका इन पदार्थोंसे न तो कोई सम्बन्ध है और न उसमें कोई विवादकी ही बात है ! अस्ति-नास्ति (है-नहीं), सगुण-निर्गुण, भाव-अभाव, सत्य-मिथ्या आदि रूपसे जितने भी वाद-विवाद हैं, सबका मूल कारण भेद-दृष्टि ही है । इसमें संदेह नहीं कि इस विवादका कोई प्रयोजन नहीं है, यह सर्वथा व्यर्थ है; तथापि जो लोग मुझसे—अपने वास्तविक स्वरूपसे विमुख हैं, वे इस विवादसे मुक्त नहीं हो सकते ॥ २९—३३ ॥

उद्धव उवाच

त्वत्तः परावृत्तधियः स्वकृतैः कर्मभिः प्रभो।
उच्चावचान् यथा देहान् गृह्णन्ति विसृजन्ति च॥
तन्ममाख्याहि गोविन्द दुर्विभाव्यमनात्मभिः।
न ह्येतत् प्रायशो लोके विद्वांसः सन्ति वञ्चिताः॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २२ । ३४-३५)

उद्धवजीने पूछा—भगवन् ! आपसे विमुख जीव अपने किये हुए पुण्य-पापोंके फलस्वरूप ऊँची-नीची योनियोंमें जाते आते रहते हैं । अब प्रश्न यह है कि व्यापक आत्माका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाना, अकर्ताका कर्म करना और नित्य-वस्तुका जन्म-मरण कैसे सम्भव है ? गोविन्द ! जो लोग आत्मज्ञानसे रहित हैं, वे तो इस विषयको ठीक-ठीक सोच भी नहीं सकते और इस विषयके विद्वान् संसारमें प्रायः मिलते नहीं; क्योंकि सभी लोग आपकी मायाकी भूलभुलैयामें पड़े हुए हैं । इसलिये आप ही कृपा करके मुझे इसका रहस्य समझाइये ॥ ३४—३५ ॥

श्रीभगवानुवाच

मनः कर्ममयं नृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम् ।
लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्तते ॥
ध्यायन् मनोऽनु विषयान् दृष्टान् वानुश्रुतानथ ।
उद्यत् सीदत् कर्मतन्त्रं स्मृतिस्तदनु शाम्यति ॥

विषयाभिनिवेशेन नात्मानं यत् स्मरेत् पुनः ।
जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः ॥
जन्म त्वात्मतया पुंसः सर्वभावेन भूरिद ।
विषयस्वीकृतिं प्राहुर्यथा स्वप्नमनोरथः ॥
स्वप्नं मनोरथं चेत्थं प्राक्तनं न स्मरत्यसौ ।
तत्र पूर्वमिवात्मानमपूर्वं चानुपश्यति ॥
इन्द्रियायनसृष्ट्येदं त्रैविध्यं भाति वस्तुनि ।
बहिरन्तर्भिदाहेतुर्जनोऽसज्जनकृद् यथा ॥
नित्यदा ह्यङ्ग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च ।
कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न दृश्यते ॥
यथार्चिषां स्रोतसां च फलानां वा वनस्पतेः ।
तथैव सर्वभूतानां वयोऽवस्थादयः कृताः ॥
सोऽयं दीपोऽर्चिषां यद्वत्स्रोतसां तदिदं जलम् ।
सोऽयं पुमानिति नृणां मृषा गीर्धीर्मृषायुषाम् ॥
मा स्वस्य कर्मबीजेन जायते सोऽप्ययं पुमान् ।
म्रियते वामरो भ्रान्त्या यथाग्निर्दारुसंयुतः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २२ । ३६—४५)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव ! मनुष्योंका मन कर्म-संस्कारोंका पुञ्ज है । उन संस्कारोंके अनुसार भोग प्राप्त करनेके लिये उसके साथ पाँच इन्द्रियाँ भी लगी हुई हैं । इसीका नाम है लिङ्गशरीर । वही कर्मोंके अनुसार एक शरीरसे दूसरे शरीरमें, एक लोकसे दूसरे लोकमें आता-जाता रहता है । आत्मा इस लिङ्गशरीरसे सर्वथा पृथक् है । उसका आना-जाना नहीं होता; परंतु जब वह अपनेको लिङ्गशरीर ही समझ बैठता है, उसीमें अहंकार कर लेता है, तब उसे भी अपना जाना-आना प्रतीत होने लगता है । मन कर्मोंके अधीन है। वह देखे हुए या सुने हुए विषयोंका चिन्तन करने लगता है और क्षणभरमें ही उनमें तदाकार हो जाता है तथा उन्हीं पूर्वचिन्तित विषयोंमें लीन हो जाता है । धीरे-धीरे उसकी स्मृति, पूर्वापरका अनुसंधान भी नष्ट हो जाता है । उन देवादि शरीरोंमें इसका इतना अभिनिवेश, इतनी तल्लीनता हो जाती है कि जीवको अपने पूर्व शरीरका स्मरण भी नहीं रहता । किसी भी कारणसे शरीरको सर्वथा भूल जाना ही मृत्यु है । उदार उद्धव ! जब यह जीव किसी भी शरीरको अभेद-भावसे 'मैं' के रूपमें स्वीकार कर लेता है, तब उसे ही जन्म कहते हैं; ठीक वैसे ही जैसे स्वप्नकालीन और मनोरथकालीन शरीरमें अभिमान करना ही स्वप्न और मनोरथ कहा जाता है । यह वर्तमान देहमें स्थित जीव जैसे पूर्व देहका स्मरण नहीं करता, वैसे ही स्वप्न या मनोरथमें स्थित जीव भी पहलेके स्वप्न और मनोरथको स्मरण नहीं करता; प्रत्युत उस वर्तमान स्वप्न और मनोरथमें पूर्व सिद्ध होनेपर भी अपनेको नवीन-सा ही समझता है । इन्द्रियोंके आश्रय मन या शरीरकी सृष्टिसे आत्मवस्तुमें यह उत्तम, मध्यम और अधमकी त्रिविधता भासती है । उनमें अभिमान करनेसे ही आत्मा बाह्य और आभ्यन्तर भेदोंका हेतु मालूम पड़ने लगता है, जैसे दुष्ट पुत्रको उत्पन्न करनेवाला पिता पुत्रके शत्रु-मित्र आदिके लिये भेदका हेतु हो जाता है । प्यारे उद्धव ! कालकी गति सूक्ष्म है । उसे साधारणतः देखा नहीं जा सकता । उसके द्वारा प्रतिक्षण ही शरीरोंकी उत्पत्ति और नाश होते रहते हैं । सूक्ष्म होनेके कारण ही प्रतिक्षण होनेवाले जन्म-मरण नहीं दीख पड़ते । जैसे कालके प्रभावसे दीपककी लौ, नदियोंके प्रवाह अथवा वृक्षके फलोंकी विशेष-विशेष अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, वैसे ही समस्त प्राणियोंके शरीरोंकी आयु, अवस्था आदि भी बदलती रहती है। जैसे यह उन्हीं ज्योतियोंका वही दीपक है, प्रवाहका यह वही जल है—ऐसा समझना और कहना मिथ्या है, वैसे ही विषयचिन्तनमें व्यर्थ आयु बितानेवाले अविवेकी पुरुषोंका ऐसा कहना और समझना कि यह वही पुरुष है, सर्वथा मिथ्या है । यद्यपि वह भ्रान्त पुरुष भी अपने कर्मोंके बीजद्वारा न पैदा होता है और न तो मरता ही है;

वह भी अजन्मा और अमर ही है। फिर भी भ्रान्तिसे वह उत्पन्न होता है और मरता-सा भी है, जैसे कि काष्ठसे युक्त अग्नि पैदा होता और नष्ट होता दिखायी पड़ता है ॥ ३६—४५ ॥

निषेकगर्भजन्मानि बाल्यकौमारयौवनम् ।
वयोमध्यं जरा मृत्युरित्यवस्थास्तनोर्नव ॥
एता मनोरथमयीर्ह्यन्यस्योच्चावचास्तनुः ।
गुणसङ्गादुपादत्ते क्वचित् कश्चिज्जहाति च ॥
आत्मनः पितृपुत्राभ्यामनुमेयौ भवाप्ययौ ।
न भवाप्ययवस्तूनामभिज्ञो द्वयलक्षणः ॥
तरोर्बीजविपाकाभ्यां यो विद्वाञ्जन्मसंयमौ ।
तरोर्विलक्षणो द्रष्टा एवं द्रष्टा तनोः पृथक् ॥
प्रकृतेरेवमात्मानमविविच्याबुधः पुमान् ।
तत्त्वेन स्पर्शसम्मूढः संसारं प्रतिपद्यते ॥
सत्त्वसङ्गादृषीन् देवान् रजसासुरमानुषान् ।
तमसा भूततिर्यक्त्वं भ्रामितो याति कर्मभिः ॥
नृत्यतो गायतः पश्यन् यथैवानुकरोति तान् ।
एवं बुद्धिगुणान् पश्यन्ननीहोऽप्यनुकार्यते ॥
यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव ।
चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते भ्रमतीव भूः ॥
यथा मनोरथधियो विषयानुभवो मृषा ।
स्वप्नदृष्टाश्च दाशार्ह तथा संसार आत्मनः ॥
अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २२ । ४६—५५)

उद्धवजी ! गर्भाधान, गर्भवृद्धि, जन्म, बाल्यावस्था, कुमारावस्था, जवानी, अधेड़ अवस्था, बुढ़ापा और मृत्यु —ये नौ अवस्थाएँ शरीरकी ही हैं। यह शरीर जीवसे भिन्न है और ये ऊँची-नीची अवस्थाएँ उसके मनोरथके अनुसार ही हैं; परंतु वह अज्ञानवश गुणोंके सङ्गसे इन्हें अपनी मानकर भटकने लगता है और कभी-कभी विवेक हो जानेपर इन्हें छोड़ भी देता है। पिताको पुत्रके जन्मसे और पुत्रको पिताकी मृत्युसे अपने-अपने जन्म-मरणका अनुमान कर लेना चाहिये। जन्म-मृत्युसे युक्त देहोंका द्रष्टा जन्म और मृत्युसे युक्त शरीर नहीं है। जैसे जौ-गेहूँ आदिकी फसल बोनेपर उग आती है और पक जानेपर काट दी जाती है, किंतु जो पुरुष उनके उगने और काटनेका जाननेवाला साक्षी है, वह उनसे सर्वथा पृथक् है; वैसे ही जो शरीर और उसकी अवस्थाओंका साक्षी है, वह शरीरसे सर्वथा पृथक् है। अज्ञानी पुरुष इस प्रकार प्रकृति और शरीरसे आत्माका विवेचन नहीं करते। वे उसे उनसे तत्त्वतः अलग अनुभव नहीं करते और विषयभोगमें सच्चा सुख मानने लगते हैं तथा उसीमें मोहित हो जाते हैं। इसीसे उन्हें जन्म-मृत्युरूप संसारमें भटकना पड़ता है। जब अविवेकी जीव अपने कर्मोंके अनुसार जन्म-मृत्युके चक्रमें भटकने लगता है, तब सात्त्विक कर्मोंकी आसक्तिसे वह ऋषिलोक और देवलोकमें, राजसिक कर्मोंकी आसक्तिसे मनुष्य और असुर-योनियोंमें तथा तामसी कर्मोंकी आसक्तिसे भूत-प्रेत एवं पशु-पक्षी आदि योनियोंमें जाता है। जब मनुष्य किसीको नाचते-गाते देखता है, तब वह स्वयं भी उसका अनुकरण करने—तान तोड़ने लगता है। वैसे ही जब जीव बुद्धिके गुणोंको देखता है, तब स्वयं निष्क्रिय होनेपर भी उसका अनुकरण करनेके लिये बाध्य हो जाता है। जैसे नदी-तालाब आदिके जलके हिलने या चञ्चल होनेपर उसमें प्रतिबिम्बित तटके वृक्ष भी उसके साथ हिलते-डोलते-से जान पड़ते हैं, जैसे घुमाये जानेवाले नेत्रके साथ-साथ पृथ्वी भी घूमती हुई-सी दिखायी देती है, जैसे मनके द्वारा सोचे गये तथा स्वप्नमें देखे गये भोग-पदार्थ सर्वथा अलीक ही होते हैं, वैसे ही हे दाशार्ह ! आत्माका विषयानुभवरूप संसार भी सर्वथा असत्य है। आत्मा तो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव ही है। विषयोंके सत्य न होनेपर भी जो जीव विषयोंका ही चिन्तन करता रहता है, उसका यह जन्म-

मृत्युरूप संसार-चक्र कभी निवृत्त नहीं होता, जैसे स्वप्नमें प्राप्त अनर्थ-परम्परा जागे बिना निवृत्त नहीं होती ॥ ४६—५५ ॥

तस्मादुद्धव मा भुङ्क्ष्व विषयानसदिन्द्रियैः ।
आत्माग्रहणनिर्भातं पश्य वैकल्पिकं भ्रमम् ॥
क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिः प्रलब्धोऽसूयितोऽथवा ।
ताडितः संनिबद्धो वा वृत्त्या वा परिहापितः ॥
निष्ठितो मूत्रितो वाज्ञैर्बहुधैवं प्रकम्पितः ।
श्रेयस्कामः कृच्छ्रगत आत्मनाऽऽत्मानमुद्धरेत् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २२ । ५६—५८)

प्रिय उद्धव ! इसलिये इन दुष्ट (कभी तृप्त न होनेवाली) इन्द्रियोंसे विषयोंको मत भोगो । आत्माके अज्ञानसे प्रतीत होनेवाला सांसारिक भेदभाव भ्रममूलक ही है, ऐसा समझो । असाधु पुरुष गर्दन पकड़कर बाहर निकाल दें, वाणीद्वारा अपमान करें, उपहास करें, निन्दा करें, मारें-पीटें, बाँधें, आजीविका छीन लें, ऊपर थूक दें, मूत दें अथवा तरह-तरहसे विचलित करें, निष्ठासे डिगानेकी चेष्टा करें, पर उनके किसी भी उपद्रवसे क्षुब्ध न होना चाहिये; क्योंकि वे तो बेचारे अज्ञानी हैं, उन्हें परमार्थका तो पता ही नहीं है । अतः जो अपने कल्याणका इच्छुक है, उसे सभी कठिनाइयोंसे अपनी विवेक-बुद्धिद्वारा ही—किसी बाह्य साधनसे नहीं—अपनेको बचा लेना चाहिये । वस्तुतः आत्मदृष्टि ही समस्त विपत्तियोंसे बचनेका एकमात्र साधन है ॥ ५६—५८ ॥

उद्धव उवाच

यथैवमनुबुध्येयं वद नो वदतां वर ।
सुदुस्सहमिमं मन्ये आत्मन्यसदतिक्रमम् ॥
विदुषामपि विश्वात्मन् प्रकृतिर्हि बलीयसी ।
ऋते त्वद्धर्मनिरतान् शान्तांस्ते चरणालयान् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २२ । ५९-६०)

उद्धवजीने कहा—भगवन् ! आप समस्त वक्ताओंके शिरोमणि हैं । मैं इस दुर्जनोंसे किये गये तिरस्कारको अपने मनमें अत्यन्त असह्य समझता हूँ । अतः जैसे मैं इसको समझ सकूँ, आपका उपदेश जीवनमें धारण कर सकूँ, वैसे मुझे बतलाइये । विश्वात्मन् ! जो आपके भागवतधर्मके आचरणमें प्रेमपूर्वक संलग्न हैं, जिन्होंने आपके चरण-कमलोंका ही आश्रय ले लिया है, उन शान्त पुरुषोंके अतिरिक्त बड़े-बड़े विद्वानोंके लिये भी दुष्टोंके द्वारा किया हुआ तिरस्कार सह लेना अत्यन्त कठिन है; क्योंकि प्रकृति अत्यन्त बलवती है ॥ ५९-६० ॥

अध्याय सप्तदश

एक तितिक्षु ब्राह्मणका इतिहास

बादरायणिरुवाच

स एवमाशंसित उद्धवेन
भागवतमुख्येन दाशार्हमुख्यः ।
सभाजयन् भृत्यवचो मुकुन्द-
स्तमाबभाषे श्रवणीयवीर्यः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २३ । १)

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! वास्तवमें भगवान्‌की लीला-कथा ही श्रवण करने योग्य है । वे ही प्रेम और मुक्तिके दाता हैं । जब उनके परम प्रेमी भक्त उद्धवजीने इस प्रकार प्रार्थना की, तब यदुवंशविभूषण श्रीभगवान्‌ने उनके प्रश्नकी प्रशंसा करके उनसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

बार्हस्पत्य स वै नात्र साधुर्वै दुर्जनेरितैः ।
दुरुक्तैर्भिन्नमात्मानं यः समाधातुमीश्वरः ॥
न तथा तप्यते विद्धः पुमान् बाणैः सुमर्मगैः ।
यथा तुदन्ति मर्मस्था ह्यसतां परुषेषवः ॥
कथयन्ति महत्पुण्यमितिहासमिहोद्धव ।
तमहं वर्णयिष्यामि निबोध सुसमाहितः ॥

केनचिद् भिक्षुणा गीतं परिभूतेन दुर्जनैः ।
स्मरता धृतियुक्तेन विपाकं निजकर्मणाम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २३ । २–५)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—देवगुरु बृहस्पतिके शिष्य उद्धवजी ! इस संसारमें प्रायः ऐसे संत पुरुष नहीं मिलते, जो दुर्जनोंकी कटुवाणीसे बिंधे हुए अपने हृदयको सँभाल सकें । मनुष्यका हृदय मर्मभेदी बाणोंसे बिंधनेपर भी उतनी पीड़ाका अनुभव नहीं करता, जितनी पीड़ा उसे दुष्टजनोंके मर्मान्तक एवं कठोर वाग्बाण पहुँचाते हैं । उद्धवजी ! इस विषयमें महात्मालोग एक बड़ा पवित्र प्राचीन इतिहास कहा करते हैं; मैं वही तुम्हें सुनाऊँगा, तुम मन लगाकर उसे सुनो । एक भिक्षुकको दुष्टोंने बहुत सताया था । उस समय भी उसने अपना धैर्य न छोड़ा और उसे अपने पूर्वजन्मके कर्मोंका फल समझकर कुछ अपने मानसिक उद्गार प्रकट किये थे । उन्हींका इस इतिहासमें वर्णन है ॥ २–५ ॥

अवन्तिषु द्विजः कश्चिदासीदाढ्यतमः श्रिया ।
वार्तावृत्तिः कदर्यस्तु कामी लुब्धोऽतिकोपनः ॥
ज्ञातयोऽतिथयस्तस्य वाङ्मात्रेणापि नार्चिताः ।
शून्यावसथ आत्मापि काले कामैरनर्चितः ॥
दुश्शीलस्य कदर्यस्य द्रुह्यन्ते पुत्रबान्धवाः ।
दारा दुहितरो भृत्या विषण्णा नाचरन् प्रियम् ॥
तस्यैवं यक्षवित्तस्य च्युतस्योभयलोकतः ।
धर्मकामविहीनस्य चुक्रुधुः पञ्चभागिनः ॥
तदवध्यानविस्रस्तपुण्यस्कन्धस्य भूरिद ।
अर्थोऽप्यगच्छन्निधनं बह्वायासपरिश्रमः ॥
ज्ञातयो जगृहुः किंचित् किंचिद् दस्यव उद्धव ।
दैवतः कालतः किंचिद् ब्रह्मबन्धोर्नृपार्थिवात् ॥
स एवं द्रविणे नष्टे धर्मकामविवर्जितः ।
उपेक्षितश्च स्वजनैश्चिन्तामाप दुरत्ययाम् ॥
तस्यैवं ध्यायतो दीर्घं नष्टरायस्तपस्विनः ।
खिद्यतो बाष्पकण्ठस्य निर्वेदः सुमहानभूत् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २३ । ६—१३)

प्राचीन समयकी बात है, उज्जैनमें एक ब्राह्मण रहता था । उसने खेती-व्यापार आदि करके बहुत-सी धन-सम्पत्ति इकट्ठी कर ली थी । वह बहुत ही कृपण, कामी और लोभी था । क्रोध तो उसे बात-बातमें आ जाया करता था । उसने अपने जाति-बन्धु और अतिथियोंको कभी मीठी बातसे भी प्रसन्न नहीं किया; खिलाने-पिलानेकी तो बात ही क्या है ? वह धर्म-कर्मसे रीते घरमें रहता और स्वयं भी अपनी धन-सम्पत्तिके द्वारा समयपर अपने शरीरको भी सुखी नहीं करता था। उसकी कृपणता और बुरे स्वभावके कारण उसके बेटे-बेटी, भाई-बन्धु, नौकर-चाकर और पत्नी आदि सभी दुखी रहते और मन-ही-मन उसका अनिष्ट-चिन्तन किया करते थे । कोई भी उसके मनको प्रिय लगनेवाला व्यवहार नहीं करता था । वह लोक-परलोक दोनोंसे ही गिर गया था । बस, यक्षोंके समान धनकी रखवाली करता रहता था । उस धनसे वह न तो धर्म कमाता था और न भोग ही भोगता था । बहुत दिनोंतक इस प्रकार जीवन बितानेसे उसपर पञ्चमहायज्ञके भागी देवता बिगड़ उठे । उदार उद्धवजी ! पञ्चमहायज्ञके भागियोंके तिरस्कारसे उसके पूर्व-पुण्योंका सहारा—जिसके बलसे अबतक धन टिका हुआ था—जाता रहा और जिसे उसने बड़े उद्योग और परिश्रमसे इकट्ठा किया था, वह धन उसकी आँखोंके सामने ही नष्ट-भ्रष्ट हो गया। उस नीच ब्राह्मणका कुछ धन तो उसके कुटुम्बियोंने ही छीन लिया, कुछ चोर चुरा ले गये । कुछ आग लग जाने आदि दैवी कोपसे नष्ट हो गया, कुछ समयके फेरसे मारा गया । कुछ साधारण मनुष्योंने ले लिया और बचा-खुचा कर और दण्डके रूपमें शासकोंने हड़प लिया । उद्धवजी ! इस प्रकार उसकी सारी सम्पत्ति जाती रही । न तो उसने धर्म ही कमाया और न भोग ही भोगे । इधर उसके सगे-सम्बन्धियोंने भी उसकी ओरसे मुँह मोड़ लिया । अब उसे बड़ी भयानक चिन्ता

ने घेर लिया। धनके नाशसे उसके हृदयमें बड़ी जलन हुई। उसका मन खेदसे भर गया। आँसुओंके कारण गला रुँध गया। परंतु इस तरह चिन्ता करते-करते ही उसके मनमें संसारके प्रति महान् दुःख-बुद्धि और उत्कट वैराग्यका उदय हो गया ॥ ६—१३ ॥

स चाहेदमहो कष्टं वृथाऽऽत्मा मेऽनुतापितः।
न धर्माय न कामाय यस्यार्थायास ईदृशः॥
प्रायेणार्थाः कदर्याणां न सुखाय कदाचन।
इह चात्मोपतापाय मृतस्य नरकाय च॥
यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः।
लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम्॥
अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥
स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥
भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा।
एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः॥
अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः।
त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम्॥
लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं मानुष्यं तद् द्विजाग्र्यताम्।
तदनादृत्य ये स्वार्थं घ्नन्ति यान्त्यशुभां गतिम्॥
स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान्।
द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि॥

(श्रीमद्भागवत ११। २३। १४—२३)

अब वह ब्राह्मण मन-ही-मन कहने लगा—'हाय! हाय!! बड़े खेदकी बात है, मैंने इतने दिनोंतक अपनेको व्यर्थ ही इस प्रकार सताया। जिस धनके लिये मैंने सिरतोड़ परिश्रम किया, वह न तो धर्म-कर्ममें लगा और न मेरे सुखभोगके ही काम आया। प्रायः देखा जाता है कि कृपण पुरुषोंको धनसे कभी सुख नहीं मिलता। इस लोकमें तो वे धन कमाने और रक्षाकी चिन्तासे जलते रहते हैं और मरनेपर धर्म न करनेके कारण नरकमें जाते हैं। जैसे थोड़ा-सा भी कोढ़ सर्वाङ्गसुन्दर स्वरूपको बिगाड़ देता है, वैसे ही तनिक-सा भी लोभ यशस्वियोंके शुद्ध यश और गुणियोंके प्रशंसनीय गुणोंपर पानी फेर देता है। धन कमानेमें, कमा लेनेपर उसको बढ़ाने, रक्षा करने एवं खर्च करनेमें तथा उसके नाश और उपभोगमें—जहाँ देखो वहीं निरन्तर परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रमका ही सामना करना पड़ता है। चोरी, हिंसा, झूठ बोलना, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहंकार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, लम्पटता, जूआ और शराब—ये पंद्रह अनर्थ मनुष्योंमें धनके कारण ही माने गये हैं। इसलिये कल्याणकामी पुरुषको चाहिये कि स्वार्थ एवं परमार्थके विरोधी 'अर्थ'नामधारी अनर्थको दूरसे ही छोड़ दे। भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, माता-पिता, सगे-सम्बन्धी—जो स्नेहबन्धनसे बँधकर बिल्कुल एक हुए रहते हैं—सब-के-सब कौड़ीके कारण इतने फट जाते हैं कि तुरंत एक-दूसरेके शत्रु बन जाते हैं। ये लोग थोड़े-से धनके लिये भी क्षुब्ध और क्रुद्ध हो जाते हैं। बात-की-बातमें सौहार्द-सम्बन्ध छोड़ देते हैं, लाग-डाँट रखने लगते हैं और एकाएक प्राण लेने-देनेपर उतारू हो जाते हैं। यहाँतक कि एक-दूसरेका सर्वनाश कर डालते हैं। देवताओंके भी प्रार्थनीय मनुष्य-जन्मको और उसमें भी श्रेष्ठ ब्राह्मण-शरीरको प्राप्त करके जो उसका अनादर करते हैं और अपने सच्चे स्वार्थ-परमार्थका नाश करते हैं, वे अशुभ गतिको प्राप्त होते हैं। यह मनुष्य-शरीर मोक्ष और स्वर्गका द्वार है, इसको पाकर भी ऐसा कौन बुद्धिमान् मनुष्य है जो अनर्थोंके धाम धनके चक्करमें फँसा रहे ॥ १४—२३ ॥

देवर्षिपितृभूतानि ज्ञातीन् बन्धूंश्च भागिनः।
असंविभज्य चात्मानं यक्षवित्तः पतत्यधः॥
व्यर्थयार्थेहया वित्तं प्रमत्तस्य वयो बलम्।

कुशला येन सिध्यन्ति जरठः किं नु साधये॥
कस्मात् संक्लिश्यते विद्वान् व्यर्थयार्थेहयासकृत्।
कस्यचिन्मायया नूनं लोकोऽयं सुविमोहितः॥
किं धनैर्धनदैर्वा किं कामैर्वा कामदैरुत।
मृत्युना ग्रस्यमानस्य कर्मभिर्वोत जन्मदैः॥

(श्रीमद्भागवत ११। २३। २४–२७)

जो मनुष्य देवता, ऋषि, पितर, प्राणी, जाति-भाई, कुटुम्बी और धनके दूसरे भागीदारोंको उनका भाग देकर संतुष्ट नहीं रखता और न स्वयं ही उसका उपभोग करता है, वह यक्षके समान धनकी रखवाली करनेवाला कृपण तो अवश्य ही अधोगतिको प्राप्त होता है। मैं अपने कर्तव्यसे च्युत हो गया हूँ। मैंने प्रमादमें अपनी आयु, धन और बल-पौरुष खो दिये। विवेकीलोग जिन साधनोंसे मोक्षतक प्राप्त कर लेते हैं, उन्हींको मैंने धन इकट्ठा करनेकी व्यर्थ चेष्टामें खो दिया। अब बुढ़ापेमें मैं कौन-सा साधन करूँगा। मुझे मालूम नहीं होता कि बड़े-बड़े विद्वान् भी धनकी व्यर्थ तृष्णासे निरन्तर क्यों दुखी रहते हैं? हो-न-हो, अवश्य ही यह संसार किसीकी मायासे अत्यन्त मोहित हो रहा है। यह मनुष्यशरीर कालके विकराल गालमें पड़ा हुआ है। इसको धनसे, धन देनेवाले देवताओं और लोगोंसे, भोगवासनाओं और उनको पूर्ण करनेवालोंसे तथा पुनः-पुनः जन्म-मृत्युके चक्करमें डालनेवाले सकाम कर्मोंसे लाभ ही क्या है?॥ २४–२७॥

नूनं मे भगवांस्तुष्टः सर्वदेवमयो हरिः।
येन नीतो दशामेतां निर्वेदश्चात्मनः प्लवः॥
सोऽहं कालावशेषेण शोषयिष्येऽङ्गमात्मनः।
अप्रमत्तोऽखिलस्वार्थे यदि स्यात् सिद्ध आत्मनि॥
तत्र मामनुमोदेरन् देवास्त्रिभुवनेश्वराः।
मुहूर्तेन ब्रह्मलोकं खट्वाङ्गः समसाधयत्॥

(श्रीमद्भागवत ११। २३। २८–३०)

इसमें संदेह नहीं कि सर्वदेवस्वरूप भगवान् मुझपर प्रसन्न हैं। तभी तो उन्होंने मुझे इस दशामें पहुँचाया है और मुझे जगत्के प्रति यह दुःख-बुद्धि और वैराग्य दिया है। वस्तुतः वैराग्य ही इस संसार-सागरसे पार होनेके लिये नौकाके समान है। मैं अब ऐसी अवस्थामें पहुँच गया हूँ। यदि मेरी आयु शेष हो तो मैं आत्म-लाभमें ही संतुष्ट रहकर अपने परमार्थके सम्बन्धमें सावधान हो जाऊँगा और अब जो समय बच रहा है, उसमें अपने शरीरको तपस्याके द्वारा सुखा डालूँगा। तीनों लोकोंके स्वामी देवगण मेरे इस संकल्पका अनुमोदन करें। अभी निराश होनेकी कोई बात नहीं है; क्योंकि राजा खट्वाङ्गने तो दो घड़ीमें ही भगवद्धामकी प्राप्ति कर ली थी॥ २८—३०॥

श्रीभगवानुवाच

इत्यभिप्रेत्य मनसा ह्यावन्त्यो द्विजसत्तमः।
उन्मुच्य हृदयग्रन्थीन् शान्तो भिक्षुरभून्मुनिः॥
स चचार महीमेतां संयतात्मेन्द्रियानिलः।
भिक्षार्थं नगरग्रामानसङ्गोऽलक्षितोऽविशत्॥
तं वै प्रवयसं भिक्षुमवधूतमसज्जनाः।
दृष्ट्वा पर्यभवन् भद्र बह्वीभिः परिभूतिभिः॥
केचित्त्रिवेणुं जगृहुरेके पात्रं कमण्डलुम्।
पीठं चैकेऽक्षसूत्रं च कन्थां चीराणि केचन॥
प्रदाय च पुनस्तानि दर्शितान्याददुर्मुनेः।
अन्नं च भैक्ष्यसम्पन्नं भुञ्जानस्य सरित्तटे॥
मूत्रयन्ति च पापिष्ठाः ष्ठीवन्त्यस्य च मूर्धनि।
यतवाचं वाचयन्ति ताडयन्ति न वक्ति चेत्॥
तर्जयन्त्यपरे वाग्भिः स्तेनोऽयमिति वादिनः।
बध्नन्ति रज्ज्वा तं केचिद् बध्यतां बध्यतामिति
क्षिपन्त्येकेऽवजानन्त एष धर्मध्वजः शठः।
क्षीणवित्त इमां वृत्तिमग्रहीत् स्वजनोज्झितः॥
अहो एष महासारो धृतिमान् गिरिराडिव।
मौनेन साधयत्यर्थं बकवद् दृढनिश्चयः॥
इत्येके विहसन्त्येनमेके दुर्वातयन्ति च।

तं बबन्धुर्निरुरुधुर्यथा क्रीडनकं द्विजम् ॥
एवं स भौतिकं दुःखं दैविकं दैहिकं च यत् ।
भोक्तव्यमात्मनो दिष्टं प्राप्तं प्राप्तमबुध्यत ॥
परिभूत इमां गाथामगायत नराधमैः ।
पातयद्भिः स्वधर्मस्थो धृतिमास्थाय सात्त्विकीम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २३ । ३१—४२)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धवजी ! उस उज्जैननिवासी ब्राह्मणने मन-ही-मन इस प्रकार निश्चय करके 'मैं' और 'मेरे'पनकी गाँठ खोल दी । इसके बाद वह शान्त होकर मौनी संन्यासी हो गया । अब उसके चित्तमें किसी भी स्थान, वस्तु या व्यक्तिके प्रति आसक्ति न रही । उसने अपने मन, इन्द्रिय और प्राणोंको वशमें कर लिया । वह पृथ्वीपर स्वच्छन्द रूपसे विचरने लगा । वह भिक्षाके लिये नगर और गाँवोंमें जाता अवश्य था, परंतु इस प्रकार जाता था कि कोई उसे पहचान न पाता था । उद्धवजी ! वह भिक्षुक अवधूत बहुत बूढ़ा हो गया था । दुष्ट उसे देखते ही टूट पड़ते और तरह-तरहसे उसका तिरस्कार करके उसे तंग करते । कोई उसका दण्ड छीन लेता, तो कोई भिक्षापात्र ही झटक ले जाता । कोई कमण्डलु उठा ले जाता तो कोई आसन, रुद्राक्ष-माला और कन्था ही लेकर भाग जाता । कोई तो उसकी लँगोटी और वस्त्रको ही इधर-उधर डाल देते । कोई-कोई वे वस्तुएँ देकर और कोई दिखला-दिखलाकर फिर छीन लेते । जब वह अवधूत मधुकरी माँगकर लाता और बाहर नदी-तटपर भोजन करने बैठता, तो पापीलोग कभी उसके सिरपर मूत देते, तो कभी थूक देते । वे लोग उस मौनी अवधूतको तरह-तरहसे बोलनेके लिये विवश करते और जब वह इसपर भी न बोलता तो उसे पीटते । कोई उसे चोर कहकर डाँटने-डपटने लगता । कोई कहता 'इसे बाँध लो, बाँध लो' और फिर उसे रस्सीसे बाँधने लगते । कोई उसका तिरस्कार करके इस प्रकार ताना कसते कि 'देखो-देखो, अब इस कृपणने धर्मका ढोंग रचा है । धन-सम्पत्ति जाती रही, स्त्री-पुत्रोंने घरसे निकाल दिया; तब इसने भीख माँगनेका रोजगार लिया है । ओहो ! देखो तो सही, यह मोटा-तगड़ा भिखारी धैर्यमें बड़े भारी पर्वतके समान है । यह मौन रहकर अपना काम बनाना चाहता है । सचमुच यह बगुलेसे भी बढ़कर ढोंगी और दृढ़निश्चयी है । कोई उस अवधूतकी हँसी उड़ाता, तो कोई उसपर अधोवायु छोड़ता । जैसे लोग तोता-मैना आदि पालतू पक्षियोंको बाँध लेते या पिंजड़ेमें बंद कर लेते हैं, वैसे ही उसे भी वे लोग बाँध देते और घरोंमें बंद कर देते । किंतु वह सब कुछ चुपचाप सह लेता । उसे कभी ज्वर आदिके कारण दैहिक पीड़ा सहनी पड़ती, कभी गरमी-सर्दी आदिसे दैवी कष्ट उठाना पड़ता और कभी दुर्जन लोग अपमान आदिके द्वारा उसे भौतिक पीड़ा पहुँचाते; परंतु भिक्षुकके मनमें इससे कोई विकार न होता । वह समझता कि यह सब मेरे पूर्वजन्मके कर्मोंका फल है और इसे मुझे अवश्य भोगना पड़ेगा । यद्यपि नीच मनुष्य तरह-तरहके तिरस्कार करके उसे उसके धर्मसे गिरानेकी चेष्टा किया करते, फिर भी वह बड़ी दृढ़तासे अपने धर्ममें स्थिर रहता और सात्त्विक धैर्यका आश्रय लेकर कभी-कभी ऐसे उद्गार प्रकट किया करता ॥ ३१–४२ ॥

द्विज उवाच

नायं जनो मे सुखदुःखहेतु-
र्न देवताऽऽत्मा ग्रहकर्मकालाः ।
मनः परं कारणमामनन्ति
संसारचक्रं परिवर्तयेद् यत् ॥
मनो गुणान् वै सृजते बलीय-
स्ततश्च कर्माणि विलक्षणानि ।
शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि
तेभ्यः सवर्णाः सृतयो भवन्ति ॥
अनीह आत्मा मनसा समीहता
हिरण्मयो मत्सख उद्विचष्टे ।

मनः स्वलिङ्गं परिगृह्य कामान्
जुषन् निबद्धो गुणसङ्गतोऽसौ॥
दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च
श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः॥
समाहितं यस्य मनः प्रशान्तं
दानादिभिः किं वद तस्य कृत्यम्।
असंयतं यस्य मनो विनश्यद्
दानादिभिश्चेदपरं किमेभिः॥
मनोवशेऽन्ये ह्यभवन् स्म देवा
मनश्च नान्यस्य वशं समेति।
भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्
युञ्ज्याद् वशे तं स हि देवदेवः॥
तं दुर्जयं शत्रुमसह्यवेग-
मरुन्तुदं तन्न विजित्य केचित्।
कुर्वन्त्यसद्विग्रहमत्र मर्त्यै-
र्मित्राण्युदासीनरिपून् विमूढाः॥
देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वा
ममाहमित्यन्धधियो मनुष्याः।
एषोऽहमन्योऽयमिति भ्रमेण
दुरन्तपारे तमसि भ्रमन्ति॥
(श्रीमद्भागवत ११। २३। ४३-५०)

ब्राह्मण कहता—मेरे सुख अथवा दुःखका कारण न ये मनुष्य हैं, न देवता हैं, न शरीर है और न ग्रह, कर्म एवं काल आदि ही हैं। श्रुतियाँ और महात्माजन मनको ही इसका परम कारण बताते हैं और मन ही इस सारे संसारचक्रको चला रहा है। सचमुच यह मन बहुत बलवान् है। इसीने विषयों, उनके कारण गुणों और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली वृत्तियोंकी सृष्टि की है। उन वृत्तियोंके अनुसार ही सात्त्विक, राजस और तामस—अनेकों प्रकारके कर्म होते हैं और कर्मोंके अनुसार ही जीवकी विविध गतियाँ होती हैं। मन ही समस्त चेष्टाएँ करता है। उसके साथ रहनेपर भी आत्मा निष्क्रिय ही है। वह ज्ञान शक्तिप्रधान है, मुझ जीवका सनातन सखा है और अपने अलुप्त ज्ञानसे सब कुछ देखता रहता है। मनके द्वारा ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। जब वह मनको स्वीकार करके उसके द्वारा विषयोंका भोक्ता बन बैठता है, तब कर्मोंके साथ आसक्ति होनेके कारण वह उनसे बँध जाता है। दान, अपने धर्मका पालन, नियम, यम, वेदाध्ययन, सत्कर्म और ब्रह्मचर्यादि श्रेष्ठ व्रत—इन सबका अन्तिम फल यही है कि मन एकाग्र हो जाय, भगवान्में लग जाय। मनका समाहित हो जाना ही परम योग है। जिसका मन शान्त और समाहित है, उसे दान आदि समस्त सत्कर्मोंका फल प्राप्त हो चुका है। अब उनसे कुछ लेना बाकी नहीं है। जिसका मन चञ्चल है अथवा आलस्यसे अभिभूत हो रहा है, उसको इन दानादि शुभ-कर्मोंसे अबतक कोई लाभ नहीं हुआ। सभी इन्द्रियाँ मनके वशमें हैं। मन किसी भी इन्द्रियके वशमें नहीं। यह मन बलवान्से भी बलवान्, अत्यन्त भयंकर देव है। जो इसको अपने वशमें कर लेता है, वही देव-देव—इन्द्रियोंका विजेता है। सचमुच मन बहुत बड़ा शत्रु है। इसका आक्रमण असह्य है। यह बाहरी शरीरको ही नहीं, हृदयादि मर्मस्थानोंको भी बेधता रहता है। इसे जीतना बहुत ही कठिन है। मनुष्योंको चाहिये कि सबसे पहले इसी शत्रुपर विजय प्राप्त करें; परंतु होता है यह कि मूर्खलोग इसे तो जीतनेका प्रयत्न करते नहीं, दूसरे मनुष्योंसे झूठमूठ झगड़ा-बखेड़ा करते रहते हैं और इस जगत्के लोगोंको ही मित्र-शत्रु-उदासीन बना लेते हैं। साधारणतः मनुष्योंकी बुद्धि अंधी हो रही है। तभी तो वे इस मनःकल्पित शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मान बैठते हैं और फिर इस भ्रमके फंदेमें फँस जाते हैं कि 'यह मैं हूँ और यह

दूसरा ।' इसका परिणाम यह होता है कि वे इस अनन्त अज्ञानान्धकारमें ही भटकते रहते हैं ॥ ४३—५० ॥

जनस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनश्चात्र ह भौमयोस्तत् ।
जिह्वां क्वचित् संदशति स्वदद्भि-
स्तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत् ॥
दुःखस्य हेतुर्यदि देवतास्तु
किमात्मनस्तत्र विकारयोस्तत् ।
यदङ्गमङ्गेन निहन्यते क्वचित्
क्रुध्येत कस्मै पुरुषः स्वदेहे ॥
आत्मा यदि स्यात् सुखदुःखहेतुः
किमन्यतस्तत्र निजस्वभावः ।
न ह्यात्मनोऽन्यद् यदि तन्मृषा स्यात्
क्रुध्येत कस्मान्न सुखं न दुःखम् ॥
ग्रहा निमित्तं सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनोऽजस्य जनस्य ते वै ।
ग्रहैर्ग्रहस्यैव वदन्ति पीडां
क्रुध्येत कस्मै पुरुषस्ततोऽन्यः ॥
कर्मास्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनस्तद्धि जडाजडत्वे ।
देहस्त्वचित् पुरुषोऽयं सुपर्णः
क्रुध्येत कस्मै न हि कर्ममूलम् ॥
कालस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनस्तत्र तदात्मकोऽसौ ।
नाग्नेर्हि तापो न हिमस्य तत् स्यात्
क्रुध्येत कस्मै न परस्य द्वन्द्वम् ॥
न केनचित् क्वापि कथंचनास्य
द्वन्द्वोपरागः परतः परस्य ।
यथाहमः संसृतिरूपिणः स्या-
देवं प्रबुद्धो न बिभेति भूतैः ॥
एतां स आस्थाय परात्मनिष्ठा-
मध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः ।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं
तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २३ । ५१—५८)

यदि मान लें कि मनुष्य ही सुख-दुःखका कारण है, तो भी उनसे आत्माका क्या सम्बन्ध ? क्योंकि सुख-दुःख पहुँचानेवाला भी मिट्टीका शरीर है और भोगनेवाला भी । कभी भोजन आदिके समय यदि अपने दाँतोंसे ही अपनी जीभ कट जाय और उससे पीड़ा होने लगे, तो मनुष्य किसपर क्रोध करेगा ? यदि ऐसा मान लें कि देवता ही दुःखके कारण हैं, तो भी इस दुःखसे आत्माकी क्या हानि ? क्योंकि यदि दुःखके कारण देवता हैं, तो इन्द्रियाभिमानी देवताओंके रूपमें उनके भोक्ता भी तो वे ही हैं और देवता सभी शरीरोंमें एक हैं; जो देवता एक शरीरमें हैं वे ही दूसरेमें भी हैं । ऐसी दशामें यदि अपने ही शरीरके किसी एक अङ्गसे दूसरे अङ्गको चोट लग जाय तो भला, किसपर क्रोध किया जायगा ? यदि ऐसा मानें कि आत्मा ही सुख-दुःखका कारण है तो वह तो अपना आप ही है, कोई दूसरा नहीं; क्योंकि आत्मासे भिन्न कुछ है ही नहीं । यदि दूसरा कुछ प्रतीत होता है, तो वह मिथ्या है । इसलिये न सुख है, न दुःख; फिर क्रोध कैसा ? क्रोधका निमित्त ही क्या ? यदि ग्रहोंको सुख-दुःखका निमित्त मानें, तो उनसे भी अजन्मा आत्माकी क्या हानि ? उनका प्रभाव भी जन्म-मृत्युशील शरीरपर ही होता है । ग्रहोंकी पीड़ा तो उनका प्रभाव ग्रहण करनेवाले शरीरको ही होती है और आत्मा उन ग्रहों और शरीरोंसे सर्वथा परे है । तब भला, वह किसपर क्रोध करे ? यदि कर्मोंको ही सुख-दुःखका कारण मानें तो उनसे आत्माका क्या प्रयोजन ? क्योंकि वे तो एक पदार्थके जड और चेतन—उभयरूप होनेपर ही हो सकते हैं । (जो वस्तु विकारयुक्त और अपना हिताहित जाननेवाली होती है, उसीसे कर्म हो

सकते हैं; अतः वह विकारयुक्त होनेके कारण जड होनी चाहिये और हिताहितका ज्ञान रखनेके कारण चेतन।) किंतु देह तो अचेतन है और उसमें पक्षीरूपसे रहनेवाला आत्मा सर्वथा निर्विकार और साक्षीमात्र है। इस प्रकार कर्मोंका तो कोई आधार ही सिद्ध नहीं होता। फिर क्रोध किसपर करें? यदि ऐसा मानें कि काल ही सुख-दुःखका कारण है, तो आत्मापर उसका क्या प्रभाव? क्योंकि काल तो आत्मस्वरूप ही है। जैसे आग आगको नहीं जला सकती और बर्फ बर्फ-को नहीं गला सकता, वैसे ही आत्मस्वरूप काल अपने आत्माको ही सुख-दुःख नहीं पहुँचा सकता। फिर किसपर क्रोध किया जाय? आत्मा शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत है। आत्मा प्रकृतिके स्वरूप, धर्म, कार्य, लेश, सम्बन्ध और गन्धसे भी रहित है। उसे कभी, कहीं, किसीके द्वारा, किसी भी प्रकारसे द्वन्द्वका स्पर्श ही नहीं होता। वह तो जन्म-मृत्युके चक्रमें भटकनेवाले अहंकारको ही होता है। जो इस बातको जान लेता है, वह फिर किसी भी भयके निमित्तसे भयभीत नहीं होता। बड़े-बड़े प्राचीन ऋषि-मुनियोंने इस परमात्मनिष्ठाका आश्रय ग्रहण किया है। मैं भी इसीका आश्रय ग्रहण करूँगा और मुक्ति तथा प्रेमके दाता भगवान्‌के चरणकमलोंकी सेवाके द्वारा ही इस दुरन्त अज्ञानसागरको अनायास ही पार कर लूँगा॥ ५१—५८॥

श्रीभगवानुवाच

निर्विद्य नष्टद्रविणो गतक्लमः
प्रव्रज्य गां पर्यटमान इत्थम्।
निराकृतोऽसद्भिरपि स्वधर्मा-
दकम्पितोऽमुं मुनिराह गाथाम्॥

सुखदुःखप्रदो नान्यः पुरुषस्यात्मविभ्रमः।
मित्रोदासीनरिपवः संसारस्तमसः कृतः॥
तस्मात् सर्वात्मना तात निगृहाण मनो धिया।
मय्यावेशितया युक्त एतावान् योगसंग्रहः॥
य एतां भिक्षुणा गीतां ब्रह्मनिष्ठां समाहितः।
धारयञ्छ्रावयञ्छृण्वन् द्वन्द्वैर्नैवाभिभूयते॥

(श्रीमद्भागवत ११। २३। ५९—६२)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धवजी! उस ब्राह्मणका धन क्या नष्ट हुआ, उसका सारा क्लेश ही दूर हो गया। अब वह संसारसे विरक्त हो गया था और संन्यास लेकर पृथ्वीमें स्वच्छन्द विचर रहा था। यद्यपि दुष्टोंने उसे बहुत सताया, फिर भी वह अपने धर्ममें अटल रहा, तनिक भी विचलित न हुआ। उस समय वह मौनी अवधूत मन-ही-मन इस प्रकारका गीत गाया करता था। उद्धवजी! इस संसारमें मनुष्यको कोई दूसरा सुख या दुःख नहीं देता, यह तो उसके चित्तका भ्रममात्र है। यह सारा संसार और इसके भीतर मित्र, उदासीन और शत्रुके भेद अज्ञानकल्पित हैं। इसलिये प्यारे उद्धव! अपनी वृत्तियोंको मुझमें तन्मय कर दो और इस प्रकार अपनी सारी शक्ति लगाकर मनको वशमें कर लो और फिर मुझमें ही नित्ययुक्त होकर स्थित हो जाओ। बस, सारे योगसाधन-का इतना ही सार-संग्रह है। यह भिक्षुकका गीत क्या है, मूर्तिमान् ब्रह्मज्ञान-निष्ठा ही है। जो पुरुष एकाग्रचित्तसे इसे सुनता, सुनाता और धारण करता है वह कभी सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंके वशमें नहीं होता। उनके बीचमें भी वह सिंहके समान दहाड़ता रहता है॥ ५९—६२॥

अध्याय अष्टादश

सांख्ययोग

श्रीभगवानुवाच

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि सांख्यं पूर्वैर्विनिश्चितम् ।
यद् विज्ञाय पुमान् सद्यो जह्याद् वैकल्पिकं भ्रमम्
आसीज्ज्ञानमथो ह्यर्थ एकमेवाविकल्पितम् ।
यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगेऽयुगे ॥
तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितम् ।
वाङ्मनोऽगोचरं सत्यं द्विधा समभवद् बृहत् ॥
तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका ।
ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते ॥
तमो रजः सत्त्वमिति प्रकृतेरभवन् गुणाः ।
मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुमतेन च ॥
तेभ्यः समभवत् सूत्रं महान् सूत्रेण संयुतः ।
ततो विकुर्वतो जातोऽहंकारो यो विमोहनः ॥
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिवृत् ।
तन्मात्रेन्द्रियमनसां कारणं चिदचिन्मयः ॥
अर्थस्तन्मात्रिकाज्जज्ञे तामसादिन्द्रियाणि च ।
तैजसाद् देवता आसन्नेकादश च वैकृतात् ॥
मया संचोदिता भावाः सर्वे संहत्यकारिणः ।
अण्डमुत्पादयामासुर्ममायतनमुत्तमम् ॥
तस्मिन्नहं समभवमण्डे सलिलसंस्थितौ ।
मम नाभ्यामभूत् पद्मं विश्वाख्यं तत्र चात्मभूः ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २४ । १—१०)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्यारे उद्धव ! अब मैं तुम्हें सांख्यशास्त्रका निर्णय सुनाता हूँ । प्राचीन कालके बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंने इसका निश्चय किया है । जब जीव इसे भलीभाँति समझ लेता है, तो वह भेदबुद्धि-मूलक सुख-दुःखादि-रूप भ्रमका तत्काल त्याग कर देता है । युगोंसे पूर्व प्रलयकालमें आदि-सत्ययुगमें और जब कभी मनुष्य विवेकनिपुण होते हैं—इन सभी अवस्थाओंमें यह सम्पूर्ण दृश्य और द्रष्टा, जगत् और जीव विकल्पशून्य किसी प्रकारके भेदभावसे रहित केवल ब्रह्म ही होते हैं । इसमें संदेह नहीं कि ब्रह्ममें किसी प्रकारका विकल्प नहीं है, वह केवल---अद्वितीय सत्य है; मन और वाणीकी उसमें गति नहीं है । वह ब्रह्म ही माया और उसमें प्रतिबिम्बित जीवके रूपमें—दृश्य और द्रष्टाके रूपमें—दो भागोंमें विभक्त-सा हो गया । उनमेंसे एक वस्तुको प्रकृति कहते हैं । उसीने जगत्में कार्य और कारणका रूप धारण किया है । दूसरी वस्तुको, जो ज्ञानस्वरूप है, पुरुष कहते हैं । उद्धवजी ! मैंने ही जीवोंके शुभ-अशुभ कर्मोंके अनुसार प्रकृतिको क्षुब्ध किया । तब उससे सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण प्रकट हुए । उनसे क्रिया-शक्ति-प्रधान सूत्र और ज्ञानशक्ति-प्रधान महत्तत्त्व प्रकट हुए । वे दोनों परस्पर मिले हुए ही हैं । महत्तत्त्वमें विकार होनेपर अहंकार व्यक्त हुआ । यह अहंकार ही जीवों-को मोहमें डालनेवाला है । वह तीन प्रकारका है—सात्त्विक, राजस और तामस । अहंकार पञ्चतन्मात्रा, इन्द्रिय और मनका कारण है; इसलिये वह जड-चेतन—उभयात्मक है । तामस अहंकारसे पञ्चतन्मात्राएँ और उनसे पाँच भूतोंकी उत्पत्ति हुई । तथा राजस अहंकारसे इन्द्रियाँ और सात्त्विक अहंकारसे इन्द्रियोंके अधिष्ठाता ग्यारह देवता प्रकट हुए । ये सभी पदार्थ मेरी प्रेरणासे एकत्र होकर परस्पर मिल गये और इन्हों-ने यह ब्रह्माण्डरूप अण्ड उत्पन्न किया । यह अण्ड मेरा उत्तम निवासस्थान है । जब वह अण्ड जलमें स्थित हो गया तब मैं नारायणरूपसे इसमें विराजमान हो गया । मेरी नाभिसे विश्वकमलकी उत्पत्ति हुई । उसीपर ब्रह्माका आविर्भाव हुआ ॥ १–१० ॥

सोऽसृजत्तपसा युक्तो रजसा मदनुग्रहात्।
लोकान् सपालान् विश्वात्मा भूर्भुवःस्वरिति त्रिधा॥
देवानामोक आसीत् स्वर्भूतानां च भुवः पदम्।
मर्त्यादीनां च भूर्लोकः सिद्धानां त्रितयात् परम्॥
अधोऽसुराणां नागानां भूमेरोकोऽसृजत् प्रभुः।
त्रिलोक्यां गतयः सर्वाः कर्मणां त्रिगुणात्मनाम्॥
योगस्य तपसश्चैव न्यासस्य गतयोऽमलाः।
महर्जनस्तपः सत्यं भक्तियोगस्य मद्गतिः॥
मया कालात्मना धात्रा कर्मयुक्तमिदं जगत्।
गुणप्रवाह एतस्मिन्नुन्मज्जति निमज्जति॥
अणुर्बृहत् कृशः स्थूलो यो यो भावः प्रसिध्यति।
सर्वोऽप्युभयसंयुक्तः प्रकृत्या पुरुषेण च॥
यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यं च तस्य सन्।
विकारो व्यवहारार्थो यथा तैजसपार्थिवाः॥
यदुपादाय पूर्वस्तु भावो विकुरुतेऽपरम्।
आदिरन्तो यदा यस्य तत् सत्यमभिधीयते॥
प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः।
सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयं त्वहम्॥
सर्गः प्रवर्तते तावत् पौर्वापर्येण नित्यशः।
महान् गुणविसर्गार्थः स्थित्यन्तो यावदीक्षणम्॥

(श्रीमद्भागवत ११। २४। ११-२०)

विश्व-समष्टिके अन्तःकरण ब्रह्माने पहले बहुत बड़ी तपस्या की। उसके बाद मेरा कृपा-प्रसाद प्राप्त करके रजोगुणके द्वारा भूः, भुवः, स्वः अर्थात् पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग—इन तीन लोकोंकी और इनके लोकपालोंकी रचना की। देवताओंके निवासके लिये स्वर्लोक, भूत-प्रेतादिके लिये भुवर्लोक (अन्तरिक्ष) और मनुष्य आदिके लिये भूर्लोक (पृथ्वीलोक) का निश्चय किया गया। इन तीनों लोकोंसे ऊपर महर्लोक, तपलोक आदि सिद्धोंके निवासस्थान हुए। सृष्टिकार्यमें समर्थ ब्रह्माजीने असुर और नागोंके लिये पृथ्वीके नीचे अतल, वितल, सुतल आदि सात पाताल बनाये। इन्हीं तीनों लोकोंमें त्रिगुणात्मक कर्मोंके अनुसार विविध गतियाँ प्राप्त होती हैं। योग, तपस्या और संन्यासके द्वारा महर्लोक, जन-लोक, तपलोक और सत्यलोकरूप उत्तम गति प्राप्त होती है तथा भक्तियोगसे मेरा परम धाम मिलता है। यह सारा जगत् कर्म और उनके संस्कारोंसे युक्त है। मैं ही कालरूपसे कर्मोंके अनुसार उनके फलका विधान करता हूँ। इस गुणप्रवाहमें पड़कर जीव कभी डूब जाता है और कभी ऊपर आ जाता है—कभी उसकी अधोगति होती है और कभी उसे पुण्यगति—उच्चगति प्राप्त हो जाती है। जगत्में छोटे-बड़े, मोटे-पतले—जितने भी पदार्थ बनते हैं, सब प्रकृति और पुरुष दोनोंके संयोगसे ही सिद्ध होते हैं। जिसके आदि और अन्तमें जो है, वही बीचमें भी है और वही सत्य है। विकार तो केवल व्यवहारके लिये की हुई कल्पना मात्र है। जैसे कंगन-कुण्डल आदि सोनेके विकार और घड़े-सकोरे आदि मिट्टीके विकार पहले सोना या मिट्टी ही थे, बादमें भी सोना या मिट्टी ही रहेंगे। अतः बीचमें भी वे सोना या मिट्टी ही हैं। पूर्ववर्ती कारण (महत्तत्त्व आदि) भी जिस परम कारणको उपादान बनाकर अपर (अहंकार आदि) कार्यवर्गकी सृष्टि करते हैं, वही उनकी अपेक्षा भी परम सत्य है। तात्पर्य यह कि जब जो जिस किसी भी कार्यके आदि और अन्तमें विद्यमान रहता है, वही सत्य है। इस प्रपञ्चका उपादान-कारण प्रकृति है, परमात्मा अधिष्ठान है और इसको प्रकट करनेवाला काल है। व्यवहार-कालकी यह त्रिविधता वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप है और मैं वही शुद्ध ब्रह्म हूँ। जबतक परमात्माकी ईक्षण-शक्ति अपना काम करती रहती है, जबतक उनकी पालन-प्रवृत्ति बनी रहती है, तबतक जीवोंके कर्मभोगके लिये कारण-कार्यरूपसे अथवा पिता-पुत्रादिके रूपसे यह सृष्टिचक्र निरन्तर चलता रहता है॥ ११-२०॥

विराण्मयाऽऽसाद्यमानो लोककल्पविकल्पकः।
पञ्चत्वाय विशेषाय कल्पते भुवनैः सह॥

अन्ने प्रलीयते मर्त्यमन्नं धानासु लीयते।
धाना भूमौ प्रलीयन्ते भूमिर्गन्धे प्रलीयते॥
अप्सु प्रलीयते गन्ध आपश्च स्वगुणे रसे।
लीयते ज्योतिषि रसो ज्योती रूपे प्रलीयते॥
रूपं वायौ स च स्पर्शे लीयते सोऽपि चाम्बरे।
अम्बरं शब्दतन्मात्र इन्द्रियाणि स्वयोनिषु॥
योनिर्वैकारिके सौम्य लीयते मनसीश्वरे।
शब्दो भूतादिमप्येति भूतादिर्महति प्रभुः॥
स लीयते महान् स्वेषु गुणेषु गुणवत्तमः।
तेऽव्यक्ते सम्प्रलीयन्ते तत् काले लीयतेऽव्यये॥
कालो मायामये जीवे जीव आत्मनि मय्यजे।
आत्मा केवल आत्मस्थो विकल्पापायलक्षणः॥
एवमन्वीक्षमाणस्य कथं वैकल्पिको भ्रमः।
मनसो हृदि तिष्ठेत व्योम्नीवार्कोदये तमः॥
एष सांख्यविधिः प्रोक्तः संशयग्रन्थिभेदनः।
प्रतिलोमानुलोमाभ्यां परावरदृशा मया॥

(श्रीमद्भागवत ११। २४। २१–२९)

यह विराट् ही विविध लोकोंकी सृष्टि, स्थिति और संहारकी लीलाभूमि है। जब मैं कालरूपसे इसमें व्याप्त होता हूँ, प्रलयका संकल्प करता हूँ, तब यह भुवनोंके साथ विनाशरूप विभागके योग्य हो जाता है। उसके लीन होनेकी प्रक्रिया यह है कि प्राणियोंके शरीर अन्नमें, अन्न बीजमें, बीज भूमिमें और भूमि गन्ध-तन्मात्रामें लीन हो जाती है। गन्ध जलमें, जल अपने गुण रसमें, रस तेजमें और तेज रूपमें लीन हो जाता है। रूप वायुमें, वायु स्पर्शमें, स्पर्श आकाशमें तथा आकाश शब्द-तन्मात्रामें लीन हो जाता है। इन्द्रियाँ अपने कारण देवताओंमें और अन्ततः राजस अहंकारमें समा जाती हैं। हे सौम्य! राजस अहंकार अपने नियन्ता सात्त्विक अहंकाररूप मनमें, शब्द-तन्मात्रा पञ्चभूतोंके कारण तामस अहंकारमें और सारे जगत्को मोहित करनेमें समर्थ त्रिविध अहंकार महत्तत्त्वमें लीन हो जाता है। ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति-प्रधान महत्तत्त्व अपने कारण गुणोंमें लीन हो जाता है। गुण अव्यक्त प्रकृतिमें और प्रकृति अपने प्रेरक अविनाशी कालमें लीन हो जाती है। काल मायामय जीवमें और जीव मुझ अजन्मा आत्मामें लीन हो जाता है। आत्मा किसीमें लीन नहीं होता, वह उपाधिरहित अपने स्वरूपमें स्थित रहता है। वह जगत्की सृष्टि और लयका अधिष्ठान एवं अवधि है। उद्धवजी! जो इस प्रकार विवेकदृष्टिसे देखता है, उसके चित्तमें यह प्रपञ्चका भ्रम हो ही नहीं सकता। यदि कदाचित् उसकी स्फूर्ति हो भी जाय, तो वह अधिक कालतक हृदयमें ठहर कैसे सकता है? क्या सूर्योदय होनेपर भी आकाशमें अन्धकार ठहर सकता है? उद्धवजी! मैं कार्य और कारण दोनोंका ही साक्षी हूँ। मैंने तुम्हें सृष्टिसे प्रलय और प्रलयसे सृष्टितककी सांख्यविधि बतला दी। इससे संदेहकी गाँठ कट जाती है और पुरुष अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है॥ २१–२९॥

अध्याय एकोनविंश

तीनों गुणोंकी वृत्तियोंका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

गुणानामसम्मिश्राणां पुमान् येन यथा भवेत्।
तन्मे पुरुषवर्येदमुपधारय शंसतः॥
शमो दमस्तितिक्षेक्षा तपः सत्यं दया स्मृतिः।
तुष्टिस्त्यागोऽस्पृहा श्रद्धा ह्रीर्दयादिः स्वनिर्वृतिः॥
काम ईहा मदस्तृष्णा स्तम्भ आशीर्भिदा सुखम्।

मदोत्साहो यशःप्रीतिर्हास्यं वीर्यं बलोद्यमः ॥
क्रोधो लोभोऽनृतं हिंसा याच्ञा दम्भः क्लमः कलिः
शोकमोहौ विषादार्तो निद्राऽऽशा भीरनुद्यमः ॥
सत्त्वस्य रजसश्चैतास्तमसश्चानुपूर्वशः ।
वृत्तयो वर्णितप्रायाः संनिपातमथो शृणु ॥
संनिपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः ।
व्यवहारः संनिपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः ॥
धर्मे चार्थे च कामे च यदासौ परिनिष्ठितः ।
गुणानां संनिकर्षोऽयं श्रद्धारतिधनावहः ॥
प्रवृत्तिलक्षणे निष्ठा पुमान् यर्हि गृहाश्रमे ।
स्वधर्मे चानुतिष्ठेत गुणानां समितिर्हि सा ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २५ । १-८)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—पुरुषप्रवर उद्धव ! प्रत्येक व्यक्तिमें अलग-अलग गुणोंका प्रकाश होता है। उनके कारण प्राणियोंके स्वभावमें भी भेद हो जाता है। अब मैं बतलाता हूँ कि किस गुणसे कैसा-कैसा स्वभाव बनता है। तुम सावधानीसे सुनो। सत्त्वगुणकी वृत्तियाँ हैं—शम (मनःसंयम), दम (इन्द्रियनिग्रह), तितिक्षा (सहिष्णुता), विवेक, तप, सत्य, दया, स्मृति, संतोष, त्याग, विषयोंके प्रति अनिच्छा, श्रद्धा, लज्जा (पाप करनेमें स्वाभाविक संकोच), आत्मरति, दान, विनय और सरलता आदि। रजोगुणकी वृत्तियाँ हैं—इच्छा, प्रयत्न, घमंड, तृष्णा (असंतोष), ऐंठ या अकड़, देवताओंसे धन आदिकी याचना, भेदबुद्धि, विषयभोग, युद्धादिके लिये मदजनित उत्साह, अपने यशमें प्रेम, हास्य, पराक्रम और हठपूर्वक उद्योग करना आदि। तमोगुणकी वृत्तियाँ हैं—क्रोध (असहिष्णुता), लोभ, मिथ्याभाषण, हिंसा, याचना, पाखण्ड, श्रम, कलह, शोक, मोह, विषाद, दीनता, निद्रा, आशा, भय और अकर्मण्यता आदि। इस प्रकार क्रमसे सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी अधिकांश वृत्तियोंका पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया। अब उनके मेलसे होनेवाली वृत्तियोंका वर्णन सुनो। उद्धवजी ! मैं हूँ और यह मेरा है, इस प्रकारकी बुद्धिमें तीनों गुणोंका मिश्रण है। जिन मन, शब्दादि विषय, इन्द्रिय और प्राणोंके कारण पूर्वोक्त वृत्तियोंका उदय होता है, वे सब-के-सब सात्त्विक, राजस और तामस हैं। जब मनुष्य धर्म, अर्थ और काममें संलग्न रहता है, तब उसे सत्त्वगुणसे श्रद्धा, रजोगुणसे रति और तमोगुणसे धनकी प्राप्ति होती है। यह भी गुणोंका मिश्रण ही है। जिस समय मनुष्य सकाम कर्म, गृहस्थाश्रम और स्वधर्माचरणमें अधिक प्रीति रखता है, उस समय भी उसमें तीनों गुणोंका मेल ही समझना चाहिये ॥ १-८ ॥

पुरुषं सत्त्वसंयुक्तमनुमीयाच्छमादिभिः ।
कामादिभी रजोयुक्तं क्रोधाद्यैस्तमसा युतम् ॥
यदा भजति मां भक्त्या निरपेक्षः स्वकर्मभिः ।
तं सत्त्वप्रकृतिं विद्यात् पुरुषं स्त्रियमेव वा ॥
यदा आशिष आशास्य मां भजेत स्वकर्मभिः ।
तं रजःप्रकृतिं विद्याद्धिंसामाशास्य तामसम् ॥
सत्त्वं रजस्तम इति गुणा जीवस्य नैव मे ।
चित्तजा यैस्तु भूतानां सज्जमानो निबध्यते ॥
यदेतरौ जयेत् सत्त्वं भास्वरं विशदं शिवम् ।
तदा सुखेन युज्येत धर्मज्ञानादिभिः पुमान् ॥
यदा जयेत्तमः सत्त्वं रजः सङ्गं भिदा चलम् ।
यदा दुःखेन युज्येत कर्मणा यशसा श्रिया ॥
यदा जयेद् रजः सत्त्वं तमो मूढं लयं जडम् ।
युज्येत शोकमोहाभ्यां निद्रया हिंसयाऽऽशया ॥
तदा चित्तं प्रसीदेत इन्द्रियाणां च निर्वृतिः ।
देहेऽभयं मनोऽसङ्गं तत् सत्त्वं विद्धि मत्पदम् ॥
विकुर्वन् क्रियया चाधीरनिर्वृत्तिश्च चेतसाम् ।
गात्रास्वास्थ्यं मनो भ्रान्तं रज एतैर्निशामय ॥
सीदच्चित्तं विलीयेत चेतसो ग्रहणेऽक्षमम् ।
मनो नष्टं तमो ग्लानिस्तमस्तदुपधारय ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २५ । ९-१८)

मानसिक शान्ति और जितेन्द्रियता आदि गुणोंसे सत्त्वगुणी पुरुषकी, कामना आदिसे रजोगुणी पुरुषकी और क्रोध-हिंसा आदिसे तमोगुणी पुरुषकी पहचान करे। पुरुष हो, चाहे स्त्री—जब वह निष्काम होकर अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मोंद्वारा मेरी आराधना करे, तब उसे सत्त्वगुणी जानना चाहिये। सकामभावसे अपने कर्मोंके द्वारा मेरा भजन-पूजन करनेवाला रजोगुणी है और जो अपने शत्रुकी मृत्यु आदिके लिये मेरा भजन-पूजन करे, उसे तमोगुणी समझना चाहिये। सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका कारण जीवका चित्त है। उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। इन्हीं गुणोंके द्वारा जीव शरीर अथवा धन आदिमें आसक्त होकर बन्धनमें पड़ जाता है। सत्त्वगुग प्रकाशक, निर्मल और शान्त है। जिस समय वह रजोगुण और तमोगुणको दबाकर बढ़ता है, उस समय पुरुष सुख, धर्म और ज्ञान आदि-का भाजन हो जाता है। रजोगुण भेदबुद्धिका कारण है। उसका स्वभाव है आसक्ति और प्रवृत्ति। जिस समय तमोगुण और सत्त्वगुणको दबाकर रजोगुण बढ़ता है, उस समय मनुष्य दुःख, कर्म, यश और लक्ष्मीसे सम्पन्न होता है। तमोगुणका स्वरूप है अज्ञान। उसका स्वभाव है आलस्य और बुद्धिकी मूढ़ता। जब वह बढ़-कर सत्त्वगुग और रजोगुणको दबा लेता है, तब प्राणी तरह-तरहकी आशाएँ करता है, शोक-मोहमें पड़ जाता है, हिंसा करने लगता है अथवा निद्रा-आलस्यके वशी-भूत होकर पड़ रहता है। जब चित्त प्रसन्न हो, इन्द्रियाँ शान्त हों, देह निर्भय हो और मनमें आसक्ति न हो, तब सत्त्वगुणकी वृद्धि समझनी चाहिये। सत्त्वगुण मेरी प्राप्तिका साधन है। जब काम करते-करते जीवकी बुद्धि चञ्चल, ज्ञानेन्द्रियाँ असंतुष्ट, कर्मेन्द्रियाँ विकारयुक्त, मन भ्रान्त और शरीर अस्वस्थ हो जाय, तब समझना चाहिये कि रजोगुण जोर पकड़ रहा है। जब चित्त ज्ञानेन्द्रियों-के द्वारा शब्दादि विषयोंको ठीक-ठीक समझनेमें असमर्थ हो जाय और खिन्न होकर लीन होने लगे, मन सूना-सा हो जाय तथा अज्ञान और विषादकी वृद्धि हो, तब समझना चाहिये कि तमोगुण वृद्धिपर है ॥ ९–१८ ॥

एधमाने गुणे सत्त्वे देवानां बलमेधते।
असुराणां च रजसि तमस्युद्धव रक्षसाम् ॥
सत्त्वाज्जागरणं विद्याद् रजसा स्वप्नमादिशेत्।
प्रस्वापं तमसा जन्तोस्तुरीयं त्रिषु संततम् ॥
उपर्युपरि गच्छन्ति सत्त्वेन ब्राह्मणा जनाः।
तमसाधोऽध आमुख्याद् रजसान्तरचारिणः ॥
सत्त्वे प्रलीनाः स्वर्यान्ति नरलोकं रजोलयाः।
तमोलयास्तु निरयं यान्ति मामेव निर्गुणाः ॥
मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तत्।
राजसं फलसंकल्पं हिंसाप्रायादि तामसम् ॥
कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकं च यत्।
प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम् ॥
वनं तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते।
तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतं तु निर्गुणम् ॥
सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः।
तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः ॥
सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी।
तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायां तु निर्गुणा ॥
पथ्यं पूतमनायस्तमाहार्यं सात्त्विकं स्मृतम्।
राजसं चेन्द्रियप्रेष्ठं तामसं चार्तिदाशुचि ॥
सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थं तु राजसम्।
तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम् ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २५ । १९—२९)

उद्धवजी! सत्त्वगुणके बढ़नेपर देवताओंका, रजोगुणके बढ़नेपर असुरोंका और तमोगुणके बढ़नेपर राक्षसोंका बल बढ़ जाता है। (वृत्तियोंमें भी क्रमशः सत्त्वादि गुणोंकी अधिकता होनेपर देवत्व, असुरत्व और राक्षसत्वप्रधान निवृत्ति, प्रवृत्ति अथवा मोहकी प्रधानता हो जाती है।) सत्त्वगुणसे जाग्रत्-अवस्था, रजोगुणसे

स्वप्नावस्था और तमोगुणसे सुषुप्ति-अवस्था होती है। तुरीय इन तीनोंमें एक-सा व्याप्त रहता है। वही शुद्ध और एकरस आत्मा है। वेदोंके अभ्यासमें तत्पर ब्राह्मण सत्त्वगुणके द्वारा उत्तरोत्तर ऊपरके लोकोंमें जाते हैं। तमोगुणसे जीवोंको वृक्षादिपर्यन्त अधोगति प्राप्त होती है और रजोगुणसे मनुष्यशरीर मिलता है। जिसकी मृत्यु सत्त्वगुणकी वृद्धिके समय होती है, उसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है; जिसकी रजोगुणकी वृद्धिके समय होती है, उसे मनुष्यलोक मिलता है और जो तमोगुणकी वृद्धिके समय मरता है, उसे नरककी प्राप्ति होती है। परंतु जो पुरुष त्रिगुणातीत—जीवन्मुक्त हो गये हैं, उन्हें मेरी प्राप्ति होती है। जब अपने धर्मका आचरण मुझे समर्पित करके अथवा निष्कामभावसे किया जाता है, तब वह सात्त्विक कर्म होता है। जिस कर्मके अनुष्ठानमें किसी फलकी कामना रहती है, वह राजसिक होता है और जिस कर्ममें किसीको सताने अथवा दिखाने आदिका भाव रहता है, वह तामसिक होता है। शुद्ध आत्माका ज्ञान सात्त्विक है। उसको कर्ता-भोक्ता समझना राजस ज्ञान है और उसे शरीर समझना तो सर्वथा तामसिक है। इन तीनोंसे विलक्षण मेरे स्वरूपका वास्तविक ज्ञान निर्गुण ज्ञान है। वनमें रहना सात्त्विक निवास है, गाँवमें रहना राजस है और जूआ-घरमें रहना तामसिक है। इन सबसे बढ़कर मेरे मन्दिरमें रहना निर्गुण निवास है। अनासक्तभावसे कर्म करनेवाला सात्त्विक है, रागान्ध होकर कर्म करनेवाला राजसिक है और पूर्वापर-विचारसे रहित होकर करनेवाला तामसिक है। इनके अतिरिक्त जो पुरुष केवल मेरी शरणमें रहकर बिना अहंकारके कर्म करता है, वह निर्गुण कर्ता है। आत्मज्ञानविषयक श्रद्धा सात्त्विक श्रद्धा है, कर्मविषयक श्रद्धा राजस है और जो श्रद्धा अधर्ममें होती है, वह तामस है तथा मेरी सेवामें जो श्रद्धा है, वह निर्गुण श्रद्धा है। जो आहार आरोग्यदायक, पवित्र और अनायास प्राप्त है, वह भोजन सात्त्विक है। रसनेन्द्रियको रुचिकर और स्वादकी दृष्टिसे युक्त आहार राजस है तथा दुःखदायी और अपवित्र आहार तामस है। अन्तर्मुखतासे—आत्मचिन्तनसे प्राप्त होनेवाला सुख सात्त्विक है। बहिर्मुखतासे—विषयोंसे प्राप्त होनेवाला राजस है तथा अज्ञान और दीनतासे प्राप्त होनेवाला सुख तामस है और जो सुख मुझसे मिलता है, वह तो गुणातीत और अप्राकृत है॥ १९—२९॥

द्रव्यं देशः फलं कालो ज्ञानं कर्म च कारकः।
श्रद्धावस्थाऽऽकृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एव हि॥
सर्वे गुणमया भावाः पुरुषाव्यक्तधिष्ठिताः।
दृष्टं श्रुतमनुध्यातं बुद्ध्या वा पुरुषर्षभ॥
एताः संसृतयः पुंसो गुणकर्मनिबन्धनाः।
येनेमे निर्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः।
भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते॥
तस्माद् देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसम्भवम्।
गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः॥
निस्सङ्गो मां भजेद् विद्वानप्रमत्तो जितेन्द्रियः।
रजस्तमश्चाभिजयेत् सत्त्वसंसेवया मुनिः॥
सत्त्वं चाभिजयेद् युक्तो नैरपेक्ष्येण शान्तधीः।
सम्पद्यते गुणैर्मुक्तो जीवो जीवं विहाय माम्॥
जीवो जीवविनिर्मुक्तो गुणैश्चाशयसम्भवैः।
मयैव ब्रह्मणा पूर्णो न बहिर्नान्तरश्चरेत्॥

(श्रीमद्भागवत ११। २५। ३०—३६)

उद्धवजी! द्रव्य (वस्तु), देश (स्थान), फल काल, ज्ञान, कर्म, कर्ता, श्रद्धा, अवस्था, देव-मनुष्य-तिर्यगादि शरीर और निष्ठा—सभी त्रिगुणात्मक हैं। नररत्न! पुरुष और प्रकृतिके आश्रित जितने भी भाव हैं, सभी गुणमय हैं—वे चाहे नेत्रादि इन्द्रियोंसे अनुभव किये हुए हों, शास्त्रोंके द्वारा लोक-लोकान्तरोंके सम्बन्धमें सुने गये हों अथवा बुद्धिके द्वारा सोचे-विचारे

गये हों। जीवको जितनी भी योनियाँ अथवा गतियाँ प्राप्त होती हैं, वे सब उनके गुणों और कर्मोंके अनुसार ही होती हैं। हे सौम्य! सब-के-सब गुण चित्तसे ही सम्बन्ध रखते हैं (इसलिये जीव उन्हें अनायास ही जीत सकता है)। जो जीव उनपर विजय प्राप्त कर लेता है, वह भक्तियोगके द्वारा मुझमें ही परिनिष्ठित हो जाता है और अन्ततः मेरा वास्तविक स्वरूप, जिसे मोक्ष भी कहते हैं, प्राप्त कर लेता है। यह मनुष्यशरीर बहुत ही दुर्लभ है। इसी शरीरमें तत्त्वज्ञान और उसमें निष्ठारूप विज्ञानकी प्राप्ति सम्भव है; इसलिये इसे पाकर बुद्धिमान् पुरुषोंको गुणोंकी आसक्ति हटाकर मेरा भजन करना चाहिये। विचारशील पुरुषको चाहिये कि बड़ी सावधानीसे सत्त्वगुणके सेवनसे रजोगुण और तमोगुणको जीत ले, इन्द्रियोंको वशमें कर ले और मेरे स्वरूपको समझकर मेरे भजनमें लग जाय। आसक्तिको लेशमात्र भी न रहने दे। योगयुक्तिसे चित्तवृत्तियोंको शान्त करके निरपेक्षताके द्वारा सत्त्वगुणपर भी विजय प्राप्त कर ले। इस प्रकार गुणोंसे मुक्त होकर जीव अपने जीवभावको छोड़ देता है और मुझसे एक हो जाता है। जीव लिङ्गशरीररूप अपनी उपाधि जीवत्वसे तथा अन्तःकरणमें उदय होनेवाली सत्त्वादि गुणोंकी वृत्तियोंसे मुक्त होकर मुझ ब्रह्मकी अनुभूतिसे एकत्वदर्शनसे पूर्ण हो जाता है और वह फिर बाह्य अथवा आन्तरिक किसी भी विषयमें नहीं जाता ॥ ३०—३६॥

अध्याय विंश

पुरूरवाके वैराग्यके उद्गार
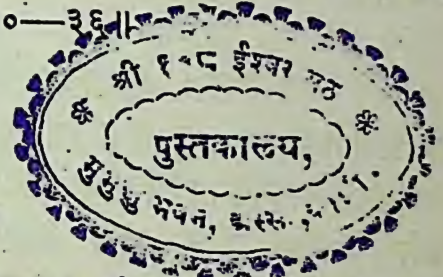
श्रीभगवानुवाच

मल्लक्षणमिमं कायं लब्ध्वा मद्धर्म आस्थितः।
आनन्दं परमात्मानमात्मस्थं समुपैति माम् ॥
गुणमय्या जीवयोन्या विमुक्तो ज्ञाननिष्ठया।
गुणेषु मायामात्रेषु दृश्यमानेष्ववस्तुतः।
वर्तमानोऽपि न पुमान् युज्यतेऽवस्तुभिर्गुणैः ॥
सङ्गं न कुर्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित्।
तस्यानुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगान्धवत् ॥
ऐलः सम्राडिमां गाथामगायत बृहच्छ्रवाः।
उर्वशीविरहान्मुह्यन् निर्विण्णः शोकसंयमे ॥
त्यक्त्वाऽऽत्मानं व्रजन्तीं तां नग्न उन्मत्तवन्नृपः।
विलपन्नन्वगाज्जाये घोरे तिष्ठेति विक्लवः ॥
कामानतृप्तोऽनुजुषन् क्षुल्लकान् वर्षयामिनीः।
न वेद यान्तीर्नायान्तीरुर्वश्याकृष्टचेतनः ॥

(श्रीमद्भागवत ११। २६। १—६)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धवजी! यह मनुष्य-शरीर मेरे स्वरूप-ज्ञानकी प्राप्तिका—मेरी प्राप्तिका मुख्य साधन है। इसे पाकर जो मनुष्य सच्चे प्रेमसे मेरी भक्ति करता है, वह अन्तःकरणमें स्थित मुझ आनन्द-स्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। जीवोंकी सभी योनियाँ, सभी गतियाँ त्रिगुणमयी हैं। जीव ज्ञाननिष्ठाके द्वारा उनसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है। सत्त्व-रज आदि गुण जो दीख रहे हैं वे वास्तविक नहीं हैं, मायामात्र हैं। ज्ञान हो जानेके बाद पुरुष उन गुणोंमें रहनेपर भी, उनके द्वारा व्यवहार करनेपर भी उनसे बँधता नहीं। इसका कारण यह है कि उन गुणोंकी वास्तविक सत्ता ही नहीं है। साधारण लोगोंको इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि जो लोग विषयोंके सेवन और उदरपोषणमें ही लगे हुए हैं, उन असत् पुरुषोंका सङ्ग कभी न करें; क्योंकि उनका अनुगमन करनेवाले पुरुषकी वैसी ही दुर्दशा होती है, जैसे अंधेके सहारे चलनेवाले अंधेकी। उसे तो घोर अन्धकारमें ही भटकना पड़ता है। उद्धवजी!

पहले तो परम यशस्वी सम्राट् इलानन्दन पुरूरवा उर्वशीके विरहसे अत्यन्त बेसुध हो गये थे। पीछे शोक हट जानेपर उन्हें बड़ा वैराग्य हुआ और तब उन्होंने यह गाथा गायी। राजा पुरूरवा नग्न होकर पागलकी भाँति अपनेको छोड़कर भागती हुई उर्वशीके पीछे अत्यन्त विह्वल होकर दौड़ने लगे और कहने लगे—'देवि! निष्ठुरहृदये! थोड़ी देर ठहर जा, भाग मत'। उर्वशीने उनका चित्त आकृष्ट कर लिया था। उन्हें तृप्ति नहीं हुई थी। वे क्षुद्र विषयोंके सेवनमें इतने डूब गये थे कि उन्हें वर्षोंकी रात्रियाँ न जाती माल्म पड़ीं और न तो आतीं॥ १—६॥

ऐल उवाच

अहो मे मोहविस्तारः कामकश्मलचेतसः।
देव्या गृहीतकण्ठस्य नायुःखण्डा इमे स्मृताः॥
नाहं वेदाभिनिर्मुक्तः सूर्यो वाभ्युदितोऽमुया।
मुषितो वर्षपूगानां बताहानि गतान्युत॥
अहो मे आत्मसम्मोहो येनात्मा योषितां कृतः।
क्रीडामृगश्चक्रवर्ती नरदेवशिखामणिः॥
सपरिच्छदमात्मानं हित्वा तृणमिवेश्वरम्।
यान्तीं स्त्रियं चान्वगमं नग्न उन्मत्तवद् रुदन्॥
कुतस्तस्यानुभावः स्यात् तेज ईशत्वमेव वा।
योऽन्वगच्छं स्त्रियं यान्तीं खरवत् पादताडितः॥
किं विद्यया किं तपसा किं त्यागेन श्रुतेन वा।
किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम्॥
स्वार्थस्याकोविदं धिङ् मां मूर्खं पण्डितमानिनम्।
योऽहमीश्वरतां प्राप्य स्त्रीभिर्गोखरवज्जितः॥
सेवतो वर्षपूगान् मे उर्वश्या अधरासवम्।
न तृप्यत्यात्मभूः कामो वह्निराहुतिभिर्यथा॥
पुंश्चल्यापहृतं चित्तं को न्वन्यो मोचितुं प्रभुः।
आत्मारामेश्वरमृते भगवन्तमधोक्षजम्॥
बोधितस्यापि देव्या मे सूक्तवाक्येन दुर्मतेः।
मनोगतो महामोहो नापयात्यजितात्मनः॥
किमेतया नोऽपकृतं रज्ज्वा वा सर्पचेतसः।
रज्जुस्वरूपाविदुषो योऽहं यदजितेन्द्रियः॥
क्वायं मलीमसः कायो दौर्गन्ध्याद्यात्मकोऽशुचिः।
क्व गुणाः सौमनस्याद्या ह्यध्यासोऽविद्यया कृतः॥

(श्रीमद्भागवत ११। २६। ७—१८)

पुरूरवाने कहा—हाय-हाय! भला, मेरी मूढ़ता तो देखो, कामवासनाने मेरे चित्तको कितना कलुषित कर दिया! उर्वशीने अपनी बाहुओंसे मेरा ऐसा गला पकड़ा कि मैंने आयुके न जाने कितने वर्ष खो दिये। ओह! विस्मृतिकी भी एक सीमा होती है। हाय-हाय! इसने मुझे लूट लिया। सूर्य अस्त हो गया या उदित हुआ—यह भी मैं न जान सका। बड़े खेदकी बात है कि बहुत-से वर्षोंके दिनपर दिन बीतते गये और मुझे माल्म तक न पड़ा। अहो! आश्चर्य है! मेरे मनमें इतना मोह बढ़ गया, जिसने नरदेव-शिखामणि चक्रवर्ती सम्राट् मुझ पुरूरवाको भी स्त्रियोंका क्रीडामृग (खिलौना) बना दिया। देखो, मैं प्रजाको मर्यादामें रखनेवाला सम्राट् हूँ। वह मुझे और मेरे राजपाटको तिनकेकी तरह छोड़कर जाने लगी और मैं पागल होकर नंग-धड़ंग रोता-बिलखता उस स्त्रीके पीछे दौड़ पड़ा। हाय! हाय! यह भी कोई जीवन है! मैं गधेकी तरह दुलत्तियाँ सहकर भी स्त्रीके पीछे-पीछे दौड़ता रहा; फिर मुझमें प्रभाव, तेज और स्वामित्व भला, कैसे रह सकता है? स्त्रीने जिसका मन चुरा लिया, उसकी विद्या व्यर्थ है। उसे तपस्या, त्याग और शास्त्राभ्याससे भी कोई लाभ नहीं। और इसमें संदेह नहीं कि उसका एकान्तसेवन और मौन भी निष्फल है। मुझे अपने ही हानि-लाभका पता नहीं, फिर भी मैं अपनेको बहुत बड़ा पण्डित मानता हूँ। मुझ मूर्खको धिक्कार है! हाय! हाय! मैं चक्रवर्ती सम्राट् होकर भी गधे और बैलकी तरह स्त्रीके फंदेमें फँस गया। मैं वर्षोंतक उर्वशीके होठोंकी मादक मदिरा पीता रहा,

पर मेरी कामवासना तृप्त न हुई। सच है, कहीं आहुतियोंसे अग्निकी तृप्ति हुई है? उस कुल्टाने मेरा चित्त चुरा लिया। आत्माराम जीवन्मुक्तोंके स्वामी इन्द्रियातीत भगवान्‌को छोड़कर और ऐसा कौन है, जो मुझे उसके फंदेसे निकाल सके। उर्वशीने तो मुझे वैदिक सूक्तके वचनोंद्वारा यथार्थ बात कहकर समझाया भी था; परंतु मेरी बुद्धि ऐसी मारी गयी कि मेरे मनका वह भयंकर मोह तब भी मिटा नहीं। जब मेरी इन्द्रियाँ ही मेरे हाथके बाहर हो गयीं, तब मैं समझता भी कैसे? जो रस्सीके स्वरूपको न जानकर उसमें सर्पकी कल्पना कर रहा है और दुखी हो रहा है, रस्सीने उसका क्या बिगाड़ा है? इसी प्रकार इस उर्वशीने भी मेरा क्या बिगाड़ा था? क्योंकि स्वयं मैं ही अजितेन्द्रिय होनेके कारण अपराधी हूँ। कहाँ तो यह मैला-कुचैला, दुर्गन्धसे भरा अपवित्र शरीर और कहाँ सुकुमारता, पवित्रता, सुगन्ध आदि पुष्पोचित गुण! परंतु मैंने अज्ञानवश असुन्दरमें सुन्दरका आरोप कर लिया॥ ७—१८॥

पित्रोः किं स्वं नु भार्यायाः स्वामिनोऽग्नेः श्वगृध्रयोः
किमात्मनः किं सुहृदामिति यो नावसीयते॥
तस्मिन् कलेवरेऽमेध्ये तुच्छनिष्ठे विषज्जते।
अहो सुभद्रं सुनसं सुस्मितं च मुखं स्त्रियाः॥
त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंहतौ।
विण्मूत्रपूये रमतां कृमीणां कियदन्तरम्॥
अथापि नोपसज्जेत स्त्रीषु स्त्रैणेषु चार्थवित्।
विषयेन्द्रियसंयोगान्मनः क्षुभ्यति नान्यथा॥
अदृष्टादश्रुताद् भावान्न भाव उपजायते।
असम्प्रयुञ्जतः प्राणान् शाम्यति स्तिमितं मनः॥
तस्मात् सङ्गो न कर्तव्यः स्त्रीषु स्त्रैणेषु चेन्द्रियैः।
विदुषां चाप्यविश्रब्धः षड्वर्गः किमु मादृशाम्॥

(श्रीमद्भागवत ११। २६। १९—२४)

यह शरीर माता-पिताका सर्वस्व है अथवा पत्नीकी सम्पत्ति? यह स्वामीकी मोल ली हुई वस्तु है, आगका ईंधन है अथवा कुत्ते और गीधोंका भोजन? इसे अपना कहें अथवा सुहृद्-सम्बन्धियोंका? बहुत सोचने-विचारनेपर भी कोई निश्चय नहीं होता। यह शरीर मल-मूत्रसे भरा हुआ अत्यन्त अपवित्र है। इसका अन्त यही है कि पक्षी खाकर विष्ठा कर दें, इसके सड़ जानेपर इसमें कीड़े पड़ जायँ अथवा जला देनेपर यह राखका ढेर हो जाय। ऐसे शरीरपर लोग लट्टू हो जाते हैं और कहने लगते हैं—'अहो! इस स्त्रीका मुखड़ा कितना सुन्दर है। नाक कितनी सुघड़ है और मन्द-मन्द मुसकान कितनी मनोहर है। यह शरीर त्वचा, मांस, रुधिर, स्नायु, मेदा, मज्जा और हड्डियोंका ढेर और मल-मूत्र तथा पीबसे भरा हुआ है। यदि मनुष्य इसमें रमता है, तो मल-मूत्रके कीड़ोंमें और उसमें अन्तर ही क्या है। इसलिये अपनी भलाई समझनेवाले विवेकी मनुष्यको चाहिये कि स्त्रियों और स्त्री-लम्पट पुरुषोंका सङ्ग न करे। विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे ही मनमें विकार होता है; अन्यथा विकारका कोई अवसर ही नहीं है। जो वस्तु कभी देखी या सुनी नहीं गयी है, उसके लिये मनमें विकार नहीं होता। जो लोग विषयोंके साथ इन्द्रियोंका संयोग नहीं होने देते, उनका मन अपने-आप निश्चल होकर शान्त हो जाता है। अतः वाणी, कान और मन आदि इन्द्रियोंसे स्त्रियों और स्त्री-लम्पटोंका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये। मेरे-जैसे लोगोंकी तो बात ही क्या, बड़े-बड़े विद्वानोंके लिये भी अपनी इन्द्रियाँ और मन विश्वसनीय नहीं हैं॥ १९—२४॥

श्रीभगवानुवाच

एवं प्रगायन् नृपदेवदेवः
स उर्वशीलोकमथो विहाय।
आत्मानमात्मन्यवगम्य मां वै
उपारमज्ज्ञानविधूतमोहः॥

ततो दुस्सङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान् ।
सन्त एतस्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः॥
सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः ।
निर्ममा निरहंकारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ॥
तेषु नित्यं महाभाग महाभागेषु मत्कथाः ।
सम्भवन्ति हिता नृणां जुषतां प्रपुनन्त्यघम् ॥
ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः ।
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २६ । २५–२९)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धवजी ! राज-राजेश्वर पुरूरवाके मनमें जब इस तरहके उद्गार उठने लगे, तब उन्होंने उर्वशीलोकका परित्याग कर दिया। अब ज्ञानोदय होनेके कारण उनका मोह जाता रहा और उन्होंने अपने हृदयमें ही आत्मस्वरूपसे मेरा साक्षात्कार कर लिया और वे शान्तभावमें स्थित हो गये। इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि पुरूरवाकी भाँति कुसङ्ग छोड़कर सत्पुरुषोंका सङ्ग करे। संत पुरुष अपने सदुपदेशोंसे उसके मनकी आसक्ति नष्ट कर देंगे। संत पुरुषोंका लक्षण यह है कि उन्हें कभी किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं होती। उनका चित्त मुझमें लगा रहता है। उनके हृदयमें शान्तिका अगाध समुद्र लहराता रहता है। वे सदा-सर्वदा सर्वत्र सबमें सब रूपसे स्थित भगवान्का ही दर्शन करते हैं। उनमें अहंकारका लेश भी नहीं होता, फिर ममताकी तो सम्भावना ही कहाँ है। वे सर्दी-गरमी, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें एकरस रहते हैं तथा बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक और पदार्थ-सम्बन्धी किसी प्रकारका भी परिग्रह नहीं रखते। परमभाग्यवान् उद्धव ! संतोंके सौभाग्यकी महिमा कौन कहे ? उनके पास सदा-सर्वदा मेरी लीला-कथाएँ हुआ करती हैं। मेरी कथाएँ मनुष्योंके लिये परम हितकर हैं; जो उनका सेवन करते हैं, उनके सारे पाप-तापोंको वे धो डालती हैं। जो लोग आदर और श्रद्धासे मेरी लीला-कथाओंका श्रवण, गान और अनुमोदन करते हैं, वे मेरे परायण हो जाते हैं और मेरी अनन्य प्रेममयी भक्ति प्राप्त कर लेते हैं ॥ २५–२९ ॥

भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते ।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि ॥
यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम् ।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा ॥
निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम् ।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम् ॥
अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्तानां शरणं त्वहम् ।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम्॥
सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः ।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च ॥
वैतसेनस्ततोऽप्येवमुर्वश्या लोकनिःस्पृहः ।
मुक्तसङ्गो महीमेतामात्मारामश्चचार ह ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २६ । ३०—३५)

उद्धवजी ! मैं अनन्त अचिन्त्य कल्याणमय गुणगणोंका आश्रय हूँ। मेरा स्वरूप है—केवल आनन्द, केवल अनुभव, विशुद्ध आत्मा । मैं साक्षात् परब्रह्म हूँ। जिसे मेरी भक्ति मिल गयी, वह तो संत हो गया। अब उसे कुछ भी पाना शेष नहीं है। उनकी तो बात ही क्या—जिसने उन संतपुरुषोंकी शरण ग्रहण कर ली, उसकी भी कर्मजडता, संसारभय और अज्ञान आदि सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं। भला, जिसने अग्नि-भगवान्का आश्रय ले लिया, उसे शीत, भय अथवा अन्धकारका दुःख हो सकता है ? जो इस घोर संसारसागरमें डूब-उतरा रहे हैं, उनके लिये ब्रह्मवेत्ता और शान्त संत ही एकमात्र आश्रय हैं, जैसे जलमें डूब रहे लोगोंके लिये दृढ़ नौका। जैसे अन्नसे प्राणियोंके प्राणकी रक्षा होती है, जैसे मैं ही दीन-दुखियोंका परम रक्षक हूँ, जैसे मनुष्यके लिये परलोकमें धर्म ही एकमात्र

पूँजी है—वैसे ही जो लोग संसारसे भयभीत हैं, उनके लिये संतजन ही परम आश्रय हैं। जैसे सूर्य आकाशमें उदय होकर लोगोंको जगत् तथा अपनेको देखनेके लिये नेत्रदान करता है, वैसे ही संतपुरुष अपनेको तथा भगवान्‌को देखनेके लिये अन्तर्दृष्टि देते हैं। संत अनुग्रह-शील देवता हैं। संत अपने हितैषी सुहृद् हैं। संत अपने प्रियतम आत्मा हैं। और अधिक क्या कहूँ, स्वयं मैं ही संतके रूपमें विद्यमान हूँ। प्रिय उद्धव ! आत्म-साक्षात्कार होते ही इलानन्दन पुरूरवाको उर्वशीके लोककी स्पृहा न रही। उनकी सारी आसक्तियाँ मिट गयीं और वे आत्माराम होकर स्वच्छन्दरूपसे इस पृथ्वीपर विचरण करने लगे ॥ ३०—३५ ॥

अध्याय एकविंश

क्रियायोगका वर्णन

उद्धव उवाच

क्रियायोगं समाचक्ष्व भवदाराधनं प्रभो।
यस्मात्त्वां ये यथार्चन्ति सात्वताः सात्वतर्षभ ॥
एतद् वदन्ति मुनयो मुहुर्निःश्रेयसं नृणाम्।
नारदो भगवान् व्यास आचार्योऽङ्गिरसः सुतः ॥
निस्सृतं ते मुखाम्भोजाद् यदाह भगवानजः।
पुत्रेभ्यो भृगुमुख्येभ्यो देव्यै च भगवान् भवः ॥
एतद् वै सर्ववर्णानामाश्रमाणां च सम्मतम्।
श्रेयसामुत्तमं मन्ये स्त्रीशूद्राणां च मानद ॥
एतत् कमलपत्राक्ष कर्मबन्धविमोचनम्।
भक्ताय चानुरक्ताय ब्रूहि विश्वेश्वरेश्वर ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २७ । १–५)

उद्धवजीने पूछा—भक्तवत्सल श्रीकृष्ण ! जिस क्रिया-योगका आश्रय लेकर जो भक्तजन जिस प्रकारसे जिस उद्देश्यसे आपकी अर्चा-पूजा करते हैं, आप अपने उस आराधनरूप क्रियायोगका वर्णन कीजिये। देवर्षि नारद, भगवान् व्यासदेव और आचार्य बृहस्पति आदि बड़े-बड़े ऋषि-मुनि यह बात बार-बार कहते हैं कि क्रियायोगके द्वारा आप-की आराधना ही मनुष्योंके परम कल्याणकी साधना है। यह क्रियायोग पहले-पहल आपके मुखारविन्दसे ही निकला था। आपसे ही ग्रहण करके इसे ब्रह्माजीने अपने पुत्र भृगु आदि महर्षियोंको और भगवान् शंकरने अपनी अर्द्धाङ्गिनी भगवती पार्वतीजीको उपदेश किया था। मर्यादारक्षक प्रभो ! यह क्रियायोग ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि वर्णों और ब्रह्मचारी-गृहस्थ आदि आश्रमोंके लिये भी परम कल्याणकारी है। मैं तो ऐसा समझता हूँ कि स्त्री-शूद्रादिके लिये भी यही सबसे श्रेष्ठ साधना-पद्धति है। कमलनयन श्यामसुन्दर ! आप शंकर आदि जगदीश्वरोंके भी ईश्वर हैं और मैं आपके चरणोंका प्रेमी भक्त हूँ। आप कृपा करके मुझे यह कर्मबन्धनसे मुक्त करनेवाली विधि बतलाइये ॥ १—५ ॥

श्रीभगवानुवाच

न ह्यन्तोऽनन्तपारस्य कर्मकाण्डस्य चोद्धव।
संक्षिप्तं वर्णयिष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥
वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत् ॥
यदा स्वनिगमेनोक्तं द्विजत्वं प्राप्य पूरुषः।
यथा यजेत मां भक्त्या श्रद्धया तन्निबोध मे ॥
अर्चायां स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्ये वाप्सु हृदि द्विजे।
द्रव्येण भक्तियुक्तोऽर्चेत् स्वगुरुं माममायया ॥
पूर्वं स्नानं प्रकुर्वीत धौतदन्तोऽङ्गशुद्धये।
उभयैरपि च स्नानं मन्त्रैर्मृद्ग्रहणादिना ॥
संध्योपास्त्यादिकर्माणि वेदेनाचोदितानि मे।
पूजां तैः कल्पयेत् सम्यक्संकल्पः कर्मपावनीम् ॥
शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता ॥
चलाचलेति द्विविधा प्रतिष्ठा जीवमन्दिरम्।
उद्वासावाहने न स्तः स्थिरायामुद्धवार्चने ॥
अस्थिरायां विकल्पः स्यात् स्थण्डिले तु भवेद् द्वयम्।
स्नपनं त्वविलेप्यायामन्यत्र परिमार्जनम् ॥

द्रव्यैः प्रसिद्धैर्मद्यागः प्रतिमादिष्वमायिनः।
भक्तस्य च यथालब्धैर्हृदि भावेन चैव हि॥
(श्रीमद्भागवत ११। २७। ६—१५)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धवजी! कर्मकाण्डका इतना विस्तार है कि उसकी कोई सीमा नहीं है; इसलिये मैं उसे थोड़ेमें ही पूर्वापर-क्रमसे विधिपूर्वक वर्णन करता हूँ। मेरी पूजाकी तीन विधियाँ हैं—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्रित। इन तीनोंमेंसे मेरे भक्तको, जो भी अपने अनुकूल जान पड़े, उसी विधिसे मेरी आराधना करनी चाहिये। पहले अपने अधिकारानुसार शास्त्रोक्त विधिसे समयपर यज्ञोपवीत-संस्कारके द्वारा संस्कृत होकर द्विजत्व प्राप्त करे। फिर श्रद्धा और भक्तिके साथ वह किस प्रकार मेरी पूजा करे, इसकी विधि तुम मुझसे सुनो। भक्तिपूर्वक निष्कपट भावसे अपने पिता एवं गुरुरूप मुझ परमात्माका पूजाकी सामग्रियोंके द्वारा मूर्तिमें, वेदीमें, अग्निमें, सूर्यमें, जलमें, हृदयमें अथवा ब्राह्मणमें—चाहे किसीमें भी आराधना करे। उपासकको चाहिये कि प्रातःकाल दतुअन करके पहले शरीर-शुद्धिके लिये स्नान करे और फिर वैदिक और तान्त्रिक दोनों प्रकारके मन्त्रोंसे मिट्टी और भस्म आदिका लेप करके पुनः स्नान करे। इसके पश्चात् वेदोक्त संध्या-वन्दनादि नित्यकर्म करने चाहिये। उसके बाद मेरी आराधनाका ही सुदृढ़ संकल्प करके वैदिक और तान्त्रिक विधियोंसे कर्मबन्धनोंसे छुड़ानेवाली मेरी पूजा करे। मेरी मूर्ति आठ प्रकारकी होती है—पत्थरकी, लकड़ीकी, धातुकी, मिट्टी और चन्दन आदिकी, चित्रमयी, बालुकामयी, मनोमयी और मणिमयी। चल और अचल भेदसे दो प्रकारकी प्रतिमा ही मुझ भगवान्‌का मन्दिर है। उद्धवजी! अचल प्रतिमाके पूजनमें प्रतिदिन आवाहन और विसर्जन नहीं करना चाहिये। चल प्रतिमाके सम्बन्धमें विकल्प है। चाहे करे और चाहे न करे। परंतु बालुकामयी प्रतिमामें तो आवाहन और विसर्जन प्रतिदिन करना ही चाहिये। मिट्टी और चन्दनकी तथा चित्रमयी प्रतिमाओंको स्नान न करावे, केवल मार्जन कर दे; परंतु और सबको स्नान कराना चाहिये। प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पदार्थोंसे प्रतिमा आदिमें मेरी पूजा की जाती है; परंतु जो निष्काम भक्त है, वह अनायास प्राप्त पदार्थोंसे और भावनामात्रसे ही हृदयमें मेरी पूजा कर ले॥ ६–१५॥

स्नानालंकरणं प्रेष्ठमर्चायामेव तूद्धव।
स्थण्डिले तत्त्वविन्यासो वह्नावाज्यप्लुतं हविः॥
सूर्ये चाभ्यर्हणं प्रेष्ठं सलिले सलिलादिभिः।
श्रद्धयोपाहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्यपि॥
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते।
गन्धो धूपः सुमनसो दीपोऽन्नाद्यं च किं पुनः॥
(श्रीमद्भागवत ११। २७। १६—१८)

उद्धवजी! स्नान, वस्त्र, आभूषण आदि तो पाषाण अथवा धातुकी प्रतिमाके पूजनमें ही उपयोगी हैं। बालुकामयी मूर्ति अथवा मिट्टीकी वेदीमें पूजा करनी हो, तो उसमें मन्त्रोंके द्वारा अङ्ग और उसके प्रधान देवताओंकी यथास्थान पूजा करनी चाहिये। तथा अग्निमें पूजा करनी हो तो घृतमिश्रित हवन-सामग्रियोंसे आहुति देनी चाहिये। सूर्यको प्रतीक मानकर की जानेवाली उपासनामें मुख्यतः अर्घ्यदान एवं उपस्थान ही प्रिय है और जलमें तर्पण आदिसे मेरी उपासना करनी चाहिये। जब मुझे कोई भक्त हार्दिक श्रद्धासे जल भी चढ़ाता है, तब मैं उसे बड़े प्रेमसे स्वीकार करता हूँ। पर यदि कोई अभक्त मुझे बहुत-सी सामग्री निवेदन करे, तो भी मैं उससे संतुष्ट नहीं होता। जब मैं भक्ति-श्रद्धापूर्वक समर्पित जलसे ही प्रसन्न हो जाता हूँ, तब गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य आदि वस्तुओंके समर्पणसे तो कहना ही क्या है॥ १६–१८॥

शुचि सम्भृतसम्भारः प्राग्दर्भैः कल्पितासनः।
आसीनः प्रागुदग् वार्चेदर्चायामथ सम्मुखः॥

वीर-रस

रौद्र-रस
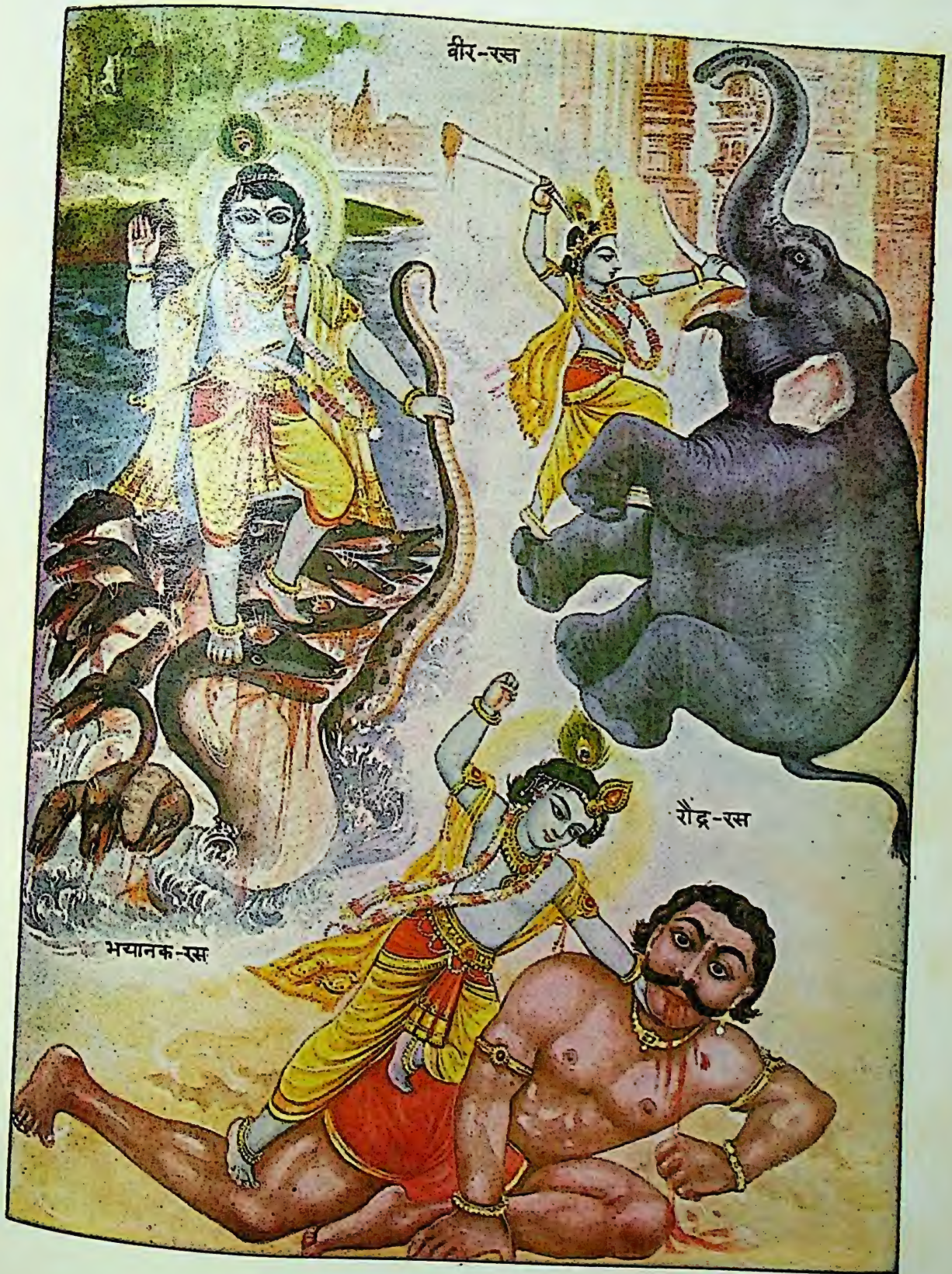
भयानक-रस

(१) श्रीकृष्णलीलाके नौ रसमें—वीर, भयानक, रौद्र

[कालिय-दमन, कुवलयापीड-वध, चाणूरमल्ल-मर्दन]

कृतन्यासः कृतन्यासां मदर्चां पाणिनाऽऽमृजेत्।
कलशं प्रोक्षणीयं च यथावदुपसाधयेत् ॥
तदद्भिर्देवयजनं द्रव्याण्यात्मानमेव च।
प्रोक्ष्य पात्राणि त्रीण्यद्भिस्तैस्तैर्द्रव्यैश्च साधयेत्॥
पाद्यार्घ्याचमनीयार्थं त्रीणि पात्राणि दैशिकः।
हृदा शीर्ष्णाथ शिखया गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत्॥
पिण्डे वाय्वग्निसंशुद्धे हृत्पद्मस्थां परां मम।
अण्वीं जीवकलां ध्यायेन्नादान्ते सिद्धभाविताम्॥
तयाऽऽत्मभूतया पिण्डे व्याप्ते सम्पूज्य तन्मयः।
आवाह्यार्चादिषु स्थाप्य न्यस्ताङ्गं मां प्रपूजयेत् ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २७ । १९—२४)

उपासक पहले पूजाकी सामग्री इकट्ठी कर ले। फिर इस प्रकार कुश बिछाये कि उनके अगले भाग पूर्वकी ओर रहें। तदनन्तर पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके पवित्रतासे उन कुशोंके आसनपर बैठ जाय। यदि प्रतिमा अचल हो तो उसके सामने ही बैठना चाहिये। इसके बाद पूजाकार्य प्रारम्भ करे। पहले विधिपूर्वक अङ्गन्यास और करन्यास कर ले। इसके बाद मूर्तिमें मन्त्रन्यास करे और हाथसे प्रतिमापरसे पूर्वसमर्पित सामग्री हटाकर उसे पोंछ दे। इसके बाद जलसे भरे हुए कलश और प्रोक्षणपात्र आदिकी पूजा गन्ध-पुष्प आदिसे करे। प्रोक्षणपात्रके जलसे पूजासामग्री और अपने शरीरका प्रोक्षण कर ले। तदनन्तर पाद्य, अर्घ्य और आचमनके लिये तीन पात्रोंमें कलशमेंसे जल भर-कर रख ले और उनमें पूजा-पद्धतिके अनुसार सामग्री डाले। (पाद्यपात्रमें श्यामाक—साँवेके दाने, दूब, कमल, विष्णुक्रान्ता और चन्दन, तुलसीदल आदि; अर्घ्यपात्रमें गन्ध, पुष्प, अक्षत, जौ, कुश, तिल, सरसों और दूब तथा आचमनपात्रमें जायफल, लौंग आदि डाले।) इसके बाद पूजा करनेवालेको चाहिये कि तीनों पात्रोंको क्रमशः हृदयमन्त्र, शिरोमन्त्र और शिखा-मन्त्रसे अभिमन्त्रित करके अन्तमें गायत्रीमन्त्रसे तीनोंको अभिमन्त्रित करे। इसके बाद प्राणायामके द्वारा प्राण-वायु और भावनाओंद्वारा शरीरस्थ अग्निके शुद्ध हो जानेपर हृदयकमलमें परम सूक्ष्म और श्रेष्ठ दीपक-शिखाके समान मेरी जीवकलाका ध्यान करे। बड़े-बड़े सिद्ध ऋषि-मुनि ॐकारके अकार, उकार, मकार, बिन्दु और नाद—इन पाँच कलाओंके अन्तमें उसी जीवकलाका ध्यान करते हैं। वह जीवकला आत्मस्वरूपिणी है। जब उसके तेजसे सारा अन्तःकरण और शरीर भर जाय, तब मानसिक उपचारोंसे मन-ही-मन उसकी पूजा करनी चाहिये। तदनन्तर तन्मय होकर मेरा आवाहन करे और प्रतिमा आदिमें स्थापना करे। फिर मन्त्रोंके द्वारा अङ्गन्यास करके उसमें मेरी पूजा करे॥ १९—२४॥

पाद्योपस्पर्शार्हणादीनुपचारान् प्रकल्पयेत्।
धर्मादिभिश्च नवभिः कल्पयित्वाऽऽसनं मम ॥
पद्ममष्टदलं तत्र कर्णिकाकेसरोज्ज्वलम्।
उभाभ्यां वेदतन्त्राभ्यां मह्यं तूभयसिद्धये ॥
सुदर्शनं पाञ्चजन्यं गदासीषुधनुर्हलान्।
मुसलं कौस्तुभं मालां श्रीवत्सं चानुपूजयेत् ॥
नन्दं सुनन्दं गरुडं प्रचण्डं चण्डमेव च।
महाबलं बलं चैव कुमुदं कुमुदेक्षणम् ॥
दुर्गां विनायकं व्यासं विष्वक्सेनं गुरून् सुरान्।
स्वे स्वे स्थाने त्वभिमुखान् पूजयेत् प्रोक्षणादिभिः॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २७ । २५—२९)

उद्धवजी! मेरे आसनमें धर्म आदि गुणों और विमला आदि शक्तियोंकी भावना करे। अर्थात् आसनके चारों कोनोंमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यरूप चार पाये हैं; अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य—ये चारों दिशाओंमें डंडे हैं; सत्त्व-रज-तमरूप तीन पटरियोंकी बनी हुई पीठ है; उसपर विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या, ईशाना और अनुग्रहा—ये नौ शक्तियाँ विराजमान हैं। उस आसनपर एक अष्टदल कमल है, उसकी

कर्णिका अत्यन्त प्रकाशमान है और पीली-पीली केसरोंकी छटा निराली ही है। आसनके सम्बन्धमें ऐसी भावना करके पाद्य, आचमनीय और अर्घ्य आदि उपचार प्रस्तुत करे। तदनन्तर भोग और मोक्षकी सिद्धिके लिये वैदिक और तान्त्रिक विधिसे मेरी पूजा करे। सुदर्शन चक्र, पाञ्चजन्य शङ्ख, कौमोदकी गदा, खड्ग, बाण, धनुष, हल, मूसल—इन आठ आयुधोंकी पूजा आठ दिशाओंमें करे और कौस्तुभमणि, वैजयन्तीमाला तथा श्रीवत्स-चिह्नकी वक्षःस्थलपर यथास्थान पूजा करे। नन्द, सुनन्द, प्रचण्ड, चण्ड, महाबल, बल, कुमुद और कुमुदेक्षण—इन आठ पार्षदोंकी आठ दिशाओंमें; गरुडकी सामने; दुर्गा, विनायक, व्यास और विष्वक्सेनकी चारों कोनोंमें स्थापना करके पूजन करे। बायीं ओर गुरुकी और यथाक्रम पूर्वादि दिशाओंमें इन्द्रादि आठ लोकपालोंकी स्थापना करके प्रोक्षण, अर्घ्यदान आदि क्रमसे उनकी पूजा करनी चाहिये ॥ २५—२९ ॥

चन्दनोशीरकर्पूरकुङ्कुमागुरुवासितैः ।
सलिलैः स्नापयेन्मन्त्रैर्नित्यदा विभवे सति ॥
स्वर्णघर्मानुवाकेन महापुरुषविद्यया ।
पौरुषेणापि सूक्तेन सामभी राजनादिभिः ॥
वस्त्रोपवीताभरणपत्रस्रग्गन्धलेपनैः ।
अलंकुर्वीत सप्रेम मद्भक्तो मां यथोचितम् ॥
पाद्यमाचमनीयं च गन्धं सुमनसोऽक्षतान् ।
धूपदीपोपहार्याणि दद्यान्मे श्रद्धयार्चकः ॥
गुडपायससर्पींषि शष्कुल्यापूपमोदकान् ।
संयावदधिसूपांश्च नैवेद्यं सति कल्पयेत् ॥
अभ्यङ्गोन्मर्दनादर्शदन्तधावाभिषेचनम् ।
अन्नाद्यगीतनृत्यादि पर्वणि स्युरुतान्वहम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २७ । ३०—३५)

प्रिय उद्धव! यदि सामर्थ्य हो तो प्रतिदिन चन्दन, खस, कपूर, केसर और अरगजा आदि सुगन्धित वस्तुओं-द्वारा सुवासित जलसे मुझे स्नान कराये और उस समय 'सुवर्ण घर्म' इत्यादि स्वर्णघर्मानुवाक, 'जितं ते पुण्डरीकाक्ष' इत्यादि महापुरुषविद्या, 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इत्यादि पुरुषसूक्त और 'इन्द्रं नरो नेमधिता हवन्त' इत्यादि मन्त्रोक्त राजनादि सामगायनका पाठ भी करता रहे। मेरा भक्त वस्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण, पत्र, माला, गन्ध और चन्दनादिसे प्रेमपूर्वक यथावत् मेरा श्रृङ्गार करे। उपासक श्रद्धाके साथ मुझे पाद्य, आचमन, चन्दन, पुष्प, अक्षत, धूप, दीप आदि सामग्रियाँ समर्पित करे। यदि हो सके तो गुड़, खीर, घृत, पूड़ी, पूए, लड्डू, हलुआ, दही और दाल आदि विविध व्यञ्जनोंका नैवेद्य लगावे। भगवान्‌के विग्रहको दतुअन कराये, उबटन लगाये, पञ्चामृत आदिसे स्नान कराये, सुगन्धित पदार्थोंका लेप करे, दर्पण दिखाये, भोग लगाये और शक्ति हो तो प्रतिदिन अथवा पर्वोंके अवसरपर नाचने-गाने आदिका भी प्रबन्ध करे ॥ ३०—३५ ॥

विधिना विहिते कुण्डे मेखलागर्तवेदिभिः ।
अग्निमाधाय परितः समूहेत् पाणिनोदितम् ॥
परिस्तीर्याथ पर्युक्षेदन्वाधाय यथाविधि ।
प्रोक्षण्याऽऽसाद्य द्रव्याणि प्रोक्ष्याग्नौ भावयेत माम् ॥
तप्तजाम्बूनदप्रख्यं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः ।
लसच्चतुर्भुजं शान्तं पद्मकिञ्जल्कवाससम् ॥
स्फुरत्किरीटकटककटिसूत्रवराङ्गदम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभं वनमालिनम् ॥
ध्यायन्नभ्यर्च्य दारूणि हविषाभिघृतानि च ।
प्रास्याज्यभागावाघारौ दत्त्वा चाज्यप्लुतं हविः ॥
जुहुयान्मूलमन्त्रेण षोडशर्चावदानतः ।
धर्मादिभ्यो यथान्यायं मन्त्रैः स्विष्टकृतं बुधः ॥
अभ्यर्च्याथ नमस्कृत्य पार्षदेभ्यो बलिं हरेत् ।
मूलमन्त्रं जपेद् ब्रह्म स्मरन्नारायणात्मकम् ॥
दत्त्वाऽऽचमनमुच्छेषं विष्वक्सेनाय कल्पयेत् ।
मुखवासं सुरभिमत् ताम्बूलाद्यमथार्हयेत् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २७ । ३६—४

उद्धवजी! तदनन्तर पूजाके बाद शास्त्रोक्त विधिसे बने हुए कुण्डमें अग्निकी स्थापना करे। वह कुण्ड मेखला, गर्त और वेदीसे शोभायमान हो। उसमें हाथकी हवासे अग्नि प्रज्वलित करके उसका परिसमूहन करे, अर्थात् उसे एकत्र कर दे। वेदीके चारों ओर कुशकण्डिका करके अर्थात् चारों ओर बीस-बीस कुश बिछाकर मन्त्र पढ़ता हुआ उनपर जल छिड़के। इसके बाद विधिपूर्वक समिधाओंका आधानरूप अन्वाधान कर्म करके अग्निके उत्तर भागमें होमोपयोगी सामग्री रक्खे और प्रोक्षणीपात्रके जलसे प्रोक्षण करे। तदनन्तर अग्निमें मेरा इस प्रकार ध्यान करे। मेरी मूर्ति तपाये हुए सोनेके समान दम-दम दमक रही है। रोम-रोमसे शान्तिकी वर्षा हो रही है। लंबी और विशाल चार भुजाएँ शोभायमान हैं। उनमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म विराजमान हैं। कमलकी केसरके समान पीला-पीला वस्त्र फहरा रहा है। सिरपर मुकुट, कलाइयोंमें कंगन, कमरमें करधनी और बाहोंमें बाजूबंद झिलमिला रहे हैं। वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न है। गलेमें कौस्तुभमणि जगमगा रही है। घुटनोंतक वनमाला लटक रही है। अग्निमें मेरी इस मूर्तिका ध्यान करके पूजा करनी चाहिये। इसके बाद सूखी समिधाओंको घृतमें डुबोकर आहुति दे और आज्यभाग और आघार नामक दो-दो आहुतियोंसे और भी हवन करे। तदनन्तर घीसे भिगोकर अन्य हवन-सामग्रियोंसे आहुति दे। इसके बाद अपने इष्टमन्त्रसे अथवा 'ॐ नमो नारायणाय' इस अष्टाक्षर मन्त्रसे तथा पुरुषसूक्तके सोलह मन्त्रोंसे हवन करे। बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि धर्मादि देवताओंके लिये भी विधिपूर्वक मन्त्रोंसे हवन करे और स्विष्टकृत् आहुति भी दे। इस प्रकार अग्निमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित भगवान्‌की पूजा करके उन्हें नमस्कार करे और नन्द-सुनन्द आदि पार्षदोंको आठों दिशाओंमें हवन-कर्माङ्ग बलि दे। तदनन्तर प्रतिमाके सम्मुख बैठकर परब्रह्मस्वरूप भगवान् नारायणका स्मरण करे और भगवत्स्वरूप मूलमन्त्र 'ॐ नमो नारायणाय'का जप करे। इसके बाद भगवान्‌को आचमन करावे और उनका प्रसाद विष्वक्सेनको निवेदन करे। इसके पश्चात् अपने इष्टदेवकी सेवामें सुगन्धित ताम्बूल आदि मुखवास उपस्थित करे तथा पुष्पाञ्जलि समर्पित करे ॥ ३६—४३ ॥

उपगायन् गृणन् नृत्यन् कर्माण्यभिनयन् मम।
मत्कथाः श्रावयञ्छृण्वन् मुहूर्तं क्षणिको भवेत् ॥
स्तवैरुच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरपि।
स्तुत्वा प्रसीद भगवन्निति वन्देत दण्डवत् ॥
शिरो मत्पादयोः कृत्वा बाहुभ्यां च परस्परम्।
प्रपन्नं पाहि मामीश भीतं मृत्युग्रहार्णवात् ॥
इति शेषां मया दत्तां शिरस्याधाय सादरम्।
उद्वासयेच्चेदुद्वास्यं ज्योतिर्ज्योतिषि तत् पुनः ॥
अर्चादिषु यदा यत्र श्रद्धा मां तत्र चार्चयेत्।
सर्वभूतेष्वात्मनि च सर्वात्माहमवस्थितः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २७ । ४४—४८)

मेरी लीलाओंको गावे, उनका वर्णन करे और मेरी ही लीलाओंका अभिनय करे। यह सब करते समय प्रेमोन्मत्त होकर नाचने लगे। मेरी लीला-कथाएँ स्वयं सुने और दूसरोंको सुनावे। कुछ समयतक संसार और उसके रगड़ों-झगड़ोंको भूलकर मुझमें ही तन्मय हो जाय। प्राचीन ऋषियोंके द्वारा अथवा प्राकृत भक्तोंके द्वारा बनाये हुए छोटे-बड़े स्तव और स्तोत्रोंसे मेरी स्तुति करके प्रार्थना करे—'भगवन्! आप मुझपर प्रसन्न हों। मुझे अपने कृपाप्रसादसे सराबोर कर दें।' तदनन्तर दण्डवत्-प्रणाम करे। अपना सिर मेरे चरणोंपर रख दे और अपने दोनों हाथोंसे—दायेंसे दाहिना और बायेंसे बायाँ चरण पकड़कर कहे—'भगवन्! इस संसार-सागरमें मैं डूब रहा हूँ। मृत्युरूप मगर मेरा पीछा कर रहा है। मैं डरकर आपकी शरणमें आया हूँ। प्रभो! आप मेरी रक्षा कीजिये।' इस प्रकार

स्तुति करके मुझे समर्पण की हुई माला आदरके साथ अपने सिरपर रक्खे और उसे मेरा दिया हुआ प्रसाद समझे। यदि विसर्जन करना हो तो ऐसी भावना करनी चाहिये कि प्रतिमामेंसे, एक दिव्य ज्योति निकली है और वह मेरी हृदयस्थ ज्योतिमें लीन हो गयी है। बस, यही विसर्जन है। उद्धवजी! प्रतिमा आदिमें जब जहाँ श्रद्धा हो, तब वहाँ मेरी पूजा करनी चाहिये; क्योंकि मैं सर्वात्मा हूँ और समस्त प्राणियोंमें तथा अपने हृदयमें भी स्थित हूँ ॥ ४४—४८ ॥

एवं क्रियायोगपथैः पुमान् वैदिकतान्त्रिकैः।
अर्चन्नुभयतः सिद्धिं मत्तो विन्दत्यभीप्सिताम् ॥
मदर्चां सम्प्रतिष्ठाप्य मन्दिरं कारयेद् दृढम्।
पुष्पोद्यानानि रम्याणि पूजायात्रोत्सवाश्रितान् ॥
पूजादीनां प्रवाहार्थं महापर्वस्वथान्वहम्।
क्षेत्रापणपुरग्रामान् दत्त्वा मत्सार्ष्टितामियात् ॥
प्रतिष्ठया सार्वभौमं सद्मना भुवनत्रयम्।
पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्यतामियात् ॥
मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति।
भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम् ॥
यः स्वदत्तां परैर्दत्तां हरेत सुरविप्रयोः।
वृत्तिं स जायते विड्भुग् वर्षाणामयुतायुतम् ॥
कर्तुश्च सारथेर्हेतोरनुमोदितुरेव च।
कर्मणां भागिनः प्रेत्य भूयो भूयसि तत् फलम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११। २७। ४९—५५)

उद्धवजी! जो मनुष्य इस प्रकार वैदिक, तान्त्रिक क्रियायोगके द्वारा मेरी पूजा करता है, वह इस लोक और परलोकमें मुझसे अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करता है। यदि शक्ति हो, तो उपासक सुन्दर और सुदृढ़ मन्दिर बनवाये और उसमें मेरी प्रतिमा स्थापित करे। सुन्दर-सुन्दर फूलोंके बगीचे लगवा दे; नित्यकी पूजा, पर्वकी यात्रा और बड़े-बड़े उत्सवोंकी व्यवस्था कर दे। जो मनुष्य पर्वोंके उत्सव और प्रतिदिनकी पूजा लगातार चलनेके लिये खेत, बाजार, नगर अथवा गाँव मेरे नामपर समर्पित कर देते हैं, उन्हें मेरे समान ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है। मेरी मूर्तिकी प्रतिष्ठा करनेसे पृथ्वीका एकछत्र राज्य, मन्दिर-निर्माणसे त्रिलोकीका राज्य, पूजा आदिकी व्यवस्था करनेसे ब्रह्मलोक और तीनोंके द्वारा मेरी समानता प्राप्त होती है। जो निष्कामभावसे मेरी पूजा करता है, उसे मेरा भक्तियोग प्राप्त हो जाता है और उस निरपेक्ष भक्तियोगके द्वारा वह स्वयं मुझे प्राप्त कर लेता है। जो अपनी दी हुई या दूसरोंकी दी हुई देवता और ब्राह्मणकी जीविका हरण कर लेता है, वह करोड़ों वर्षोंतक विष्ठाका कीड़ा होता है। जो लोग ऐसे कामोंमें सहायता, प्रेरणा अथवा अनुमोदन करते हैं, वे भी मरनेके बाद प्राप्त करनेवालेके समान ही फलके भागीदार होते हैं। यदि उनका हाथ अधिक रहा तो फल भी उन्हें अधिक ही मिलता है ॥ ४९—५५ ॥

अध्याय द्वाविंश

परमार्थ-निरूपण

श्रीभगवानुवाच

परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत्।
विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च ॥
परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति।
स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः ॥
तैजसे निद्रयाऽऽपन्ने पिण्डस्थो नष्टचेतनः।
मायां प्राप्नोति मृत्युं वा तद्वन्नानार्थदृक् पुमान् ॥
किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्।
वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च ॥
छायाप्रत्याह्वयाभासा ह्यसन्तोऽप्यर्थकारिणः।

एवं देहादयो भावा यच्छन्त्यामृत्युतो भयम् ॥
आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः ।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः ॥
तस्मान्न ह्यात्मनोऽन्यस्मादन्यो भावो निरूपितः ।
निरूपितेयं त्रिविधा निर्मूला भातिरात्मनि ।
इदं गुणमयं विद्धि त्रिविधं मायया कृतम् ॥
एतद् विद्वान् मदुदितं ज्ञानविज्ञाननैपुणम् ।
न निन्दति न च स्तौति लोके चरति सूर्यवत् ॥
प्रत्यक्षेणानुमानेन निगमेनात्मसंविदा ।
आद्यन्तवदसज्ज्ञात्वा निस्संगो विचरेदिह ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २८ । १–९)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धवजी ! यद्यपि व्यवहारमें पुरुष और प्रकृति—द्रष्टा और दृश्यके भेदसे दो प्रकारका जगत् जान पड़ता है, तथापि परमार्थ-दृष्टिसे देखनेपर यह सब एक अधिष्ठान-स्वरूप ही है; इसलिये किसीके शान्त, घोर और मूढ़ स्वभाव तथा उनके अनुसार कर्मोंकी न स्तुति करनी चाहिये और न निन्दा। सर्वदा अद्वैत-दृष्टि रखनी चाहिये। जो पुरुष दूसरोंके स्वभाव और उनके कर्मोंकी प्रशंसा अथवा निन्दा करते हैं, वे शीघ्र ही अपने यथार्थ परमार्थ-साधनसे च्युत हो जाते हैं; क्योंकि साधन तो द्वैतके अभिनिवेशका—उसके प्रति सत्यत्व-बुद्धिका निषेध करता है और प्रशंसा तथा निन्दा उसकी सत्यताके भ्रमको और भी दृढ़ करती है। उद्धवजी ! सभी इन्द्रियाँ राजस अहंकारके कार्य हैं। जब वे निद्रित हो जाती हैं, तब शरीरका अभिमानी जीव चेतनाशून्य हो जाता है अर्थात् उसे बाहरी शरीरकी स्मृति नहीं रहती। उस समय यदि मन बच रहा, तब तो वह स्वप्नके झूठे दृश्योंमें भटकने लगता है और वह भी लीन हो गया, तब तो जीव मृत्युके समान गाढ़ निद्रा—सुषुप्तिमें लीन हो जाता है। वैसे ही, जब जीव अपने अद्वितीय आत्म-स्वरूपको भूलकर नाना वस्तुओंका दर्शन करने लगता है, तब वह स्वप्नके समान झूठे दृश्योंमें फँस जाता है अथवा मृत्युके समान अज्ञानमें लीन हो जाता है। उद्धवजी ! जब द्वैत नामकी कोई वस्तु ही नहीं है, तब उसमें अमुक वस्तु भली है और अमुक बुरी, अथवा इतनी भली और इतनी बुरी है—यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता। विश्वकी सभी वस्तुएँ वाणीसे कही जा सकती हैं अथवा मनसे सोची जा सकती हैं; इसलिये दृश्य एवं अनित्य होनेके कारण उनका मिथ्यात्व तो स्पष्ट ही है। परछाईं, प्रतिध्वनि और सीपी आदिमें चाँदी आदिके आभास यद्यपि हैं तो सर्वथा मिथ्या, परंतु उनके द्वारा मनुष्यके हृदयमें भय-कम्प आदिका संचार हो जाता है। वैसे ही देहादि सभी वस्तुएँ हैं तो सर्वथा मिथ्या ही, परंतु जबतक ज्ञानके द्वारा इनकी असत्यताका बोध नहीं हो जाता, इनकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो जाती, तबतक ये भी अज्ञानियोंको भयभीत करती रहती हैं। उद्धवजी ! जो कुछ प्रत्यक्ष या परोक्ष वस्तु है, वह आत्मा ही है। वही सर्वशक्तिमान् भी है। जो कुछ विश्व-सृष्टि प्रतीत हो रही है, इसका वह निमित्त-कारण तो है ही, उपादान-कारण भी है अर्थात् वही विश्व बनता है और वही बनाता भी है, वही रक्षक है और रक्षित भी वही है। सर्वात्मा भगवान् ही इसका संहार करते हैं और जिसका संहार होता है, वह भी वे ही हैं। अवश्य ही व्यवहारदृष्टिसे देखनेपर आत्मा इस विश्वसे भिन्न है; परंतु आत्मदृष्टिसे उसके अतिरिक्त और कोई वस्तु ही नहीं है। उसके अतिरिक्त जो कुछ प्रतीत हो रहा है, उसका किसी भी प्रकार निर्वचन नहीं किया जा सकता और अनिर्वचनीय तो केवल आत्मस्वरूप ही है; इसलिये आत्मामें सृष्टि-स्थिति-संहार अथवा अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत—ये तीन-तीन प्रकारकी प्रतीतियाँ सर्वथा निर्मूल ही हैं। न होनेपर भी यों ही प्रतीत हो रही हैं। यह सत्त्व, रज और तमके कारण प्रतीत होनेवाली

द्रष्टा-दर्शन-दृश्य आदिकी त्रिविधता मायाका खेल है। उद्धवजी ! तुमसे मैंने ज्ञान और विज्ञानकी उत्तम स्थितिका वर्णन किया है। जो पुरुष मेरे इन वचनोंका रहस्य जान लेता है, वह न तो किसीकी प्रशंसा करता है और न निन्दा। वह जगत्‌में सूर्यके समान समभावसे विचरता रहता है। प्रत्यक्ष, अनुमान, शास्त्र और आत्मानुभूति आदि सभी प्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि यह जगत् उत्पत्ति-विनाशशील होनेके कारण अनित्य एवं असत्य है। यह बात जानकर जगत्‌में असङ्गभावसे विचरना चाहिये ॥ १—९ ॥

उद्धव उवाच

नैवात्मनो न देहस्य संसृतिर्द्रष्टृदृश्ययोः ।
अनात्मस्वदृशोरीश कस्य स्यादुपलभ्यते ॥
आत्माव्ययोऽगुणः शुद्धः स्वयंज्योतिरनावृतः ।
अग्निवद्दारुवदचिद्देहः कस्येह संसृतिः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २८ । १०-११)

उद्धवजीने पूछा—भगवन् ! आत्मा है द्रष्टा और देह है दृश्य। आत्मा स्वयंप्रकाश है और देह है जड। ऐसी स्थितिमें जन्म-मृत्युरूप संसार न शरीरको हो सकता है और न आत्माको। परंतु इसका होना भी उपलब्ध होता है। तब यह होता किसे है ? आत्मा तो अविनाशी, प्राकृत-अप्राकृत गुणोंसे रहित, शुद्ध, स्वयंप्रकाश और सभी प्रकारके आवरणोंसे रहित है; तथा शरीर विनाशी, सगुण, अशुद्ध, प्रकाश्य और आवृत है। आत्मा अग्निके समान प्रकाशमान है, तो शरीर काठकी तरह अचेतन। फिर यह जन्म-मृत्युरूप संसार है किसे ? ॥ १०—११ ॥

श्रीभगवानुवाच

यावद् देहेन्द्रियप्राणैरात्मनः संनिकर्षणम् ।
संसारः फलवांस्तावदपार्थोऽप्यविवेकिनः ॥
अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥
यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत् ।
स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते ॥
शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः ।
अहंकारस्य दृश्यन्ते जन्म मृत्युश्च नात्मनः ॥
देहेन्द्रियप्राणमनोऽभिमानो
जीवोऽन्तरात्मा गुणकर्ममूर्तिः ।
सूत्रं महानित्युरुधेव गीतः
संसार आधावति कालतन्त्रः ॥
अमूलमेतद् बहु रूपरूपितं
मनोवचःप्राणशरीरकर्म ।
ज्ञानासिनोपासनया शितेन-
च्छित्त्वा मुनिर्गां विचरत्यतृष्णः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २८ । १२—१७)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—वस्तुतः प्रिय उद्धव ! संसारका अस्तित्व नहीं है तथापि जबतक देह, इन्द्रिय और प्राणोंके साथ आत्माकी सम्बन्ध-भ्रान्ति है, तबतक अविवेकी पुरुषको वह सत्य-सा स्फुरित होता है। जैसे स्वप्नमें अनेकों विपत्तियाँ आती हैं, पर वास्तवमें वे हैं नहीं, फिर भी स्वप्न टूटनेतक उनका अस्तित्व नहीं मिटता, वैसे ही संसारके न होनेपर भी जो उसमें प्रतीत होनेवाले विषयोंका चिन्तन करते रहते हैं, उनके जन्म-मृत्युरूप संसारकी निवृत्ति नहीं होती। जब मनुष्य स्वप्न देखता रहता है, तब नींद टूटनेके पहले उसे बड़ी-बड़ी विपत्तियोंका सामना करना पड़ता है; परंतु जब उसकी नींद टूट जाती है, वह जग पड़ता है, तब न तो स्वप्नकी विपत्तियाँ रहती हैं और न उनके कारण होनेवाले मोह आदि विकार ही। उद्धवजी ! अहंकार ही शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, स्पृहा और जन्म-मृत्युका शिकार बनता है। आत्मासे तो इनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। उद्धव ! देह, इन्द्रिय, प्राण और मनमें स्थित आत्मा ही जब उनका अभिमान कर बैठता है—उन्हें अपना स्वरूप मान लेता है—तब उसका नाम 'जीव' हो जाता है। उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्माकी मूर्ति है—गुण और कर्मोंका बना हुआ

लिङ्गशरीर। उसे ही कहीं सूत्रात्मा कहा जाता है और कहीं महत्तत्त्व। उसके और भी बहुत-से नाम हैं। वही कालरूप परमेश्वरके अधीन होकर जन्म-मृत्युरूप संसारमें इधर-उधर भटकता रहता है। वास्तवमें मन, वाणी, प्राण और शरीर अहंकारके ही कार्य हैं। यह है तो निर्मूल, परंतु देवता, मनुष्य आदि अनेक रूपोंमें इसीकी प्रतीति होती है। मननशील पुरुष उपासनाकी शानपर चढ़ाकर ज्ञानकी तलवारको अत्यन्त तीखी बना लेता है और उसके द्वारा देहाभिमान-का—अहंकारका मूलोच्छेद करके पृथ्वीमें निर्द्वन्द्व होकर विचरता है। फिर उसमें किसी प्रकारकी आशा-तृष्णा नहीं रहती ॥ १२—१७ ॥

ज्ञानं विवेको निगमस्तपश्च
प्रत्यक्षमैतिह्यमथानुमानम् ।
आद्यन्तयोरस्य यदेव केवलं
कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये ॥
यथा हिरण्यं स्वकृतं पुरस्तात्
पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य ।
तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं
नानापदेशैरहमस्य तद्वत् ॥
विज्ञानमेतत्त्रियवस्थमङ्ग
गुणत्रयं कारणकार्यकर्तृ ।
समन्वयेन व्यतिरेकतश्च
येनैव तुर्येण तदेव सत्यम् ॥
न यत् पुरस्तादुत यन्न पश्चा-
न्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम् ।
भूतं प्रसिद्धं च परेण यद् यत्
तदेव तत् स्यादिति मे मनीषा ॥
अविद्यमानोऽप्यवभासते यो
वैकारिको राजससर्ग एषः ।
ब्रह्म स्वयंज्योतिरतो विभाति
ब्रह्मेन्द्रियार्थात्मविकारचित्रम् ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २८ । १८—२२)

आत्मा और अनात्माके स्वरूपको पृथक्-पृथक् भलीभाँति समझ लेना ही ज्ञान है; क्योंकि विवेक होते ही द्वैतका अस्तित्व मिट जाता है। उसका साधन है—तपस्याके द्वारा हृदयको शुद्ध करके वेदादि शास्त्रोंका श्रवण करना। इनके अतिरिक्त श्रवणानुकूल युक्तियाँ, महापुरुषोंके उपदेश और इन दोनोंसे अविरुद्ध स्वानुभूति भी प्रमाण हैं। सबका सार यही निकलता है कि इस संसारके आदिमें जो था तथा अन्तमें जो रहेगा, जो इसका मूल कारण और प्रकाशक है, वही अद्वितीय, उपाधिशून्य परमात्मा बीचमें भी है। उसके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है। उद्धवजी! सोनेसे कंगन, कुण्डल आदि बहुत-से आभूषण बनते हैं; परंतु जब वे गहने नहीं बने थे, तब भी सोना था और जब नहीं रहेंगे, तब भी सोना रहेगा। इसलिये जब बीचमें उसके कंगन-कुण्डल आदि अनेकों नाम रखकर व्यवहार करते हैं, तब भी वह सोना ही है। ठीक ऐसे ही जगत्का आदि, अन्त और मध्य मैं ही हूँ। वास्तवमें मैं ही सत्य तत्त्व हूँ। भाई उद्धव! मनकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति; इन अवस्थाओंके कारण तीन ही गुण हैं—सत्त्व, रज और तम। और जगत्के तीन भेद हैं—अध्यात्म (इन्द्रियाँ), अधिभूत (पृथिव्यादि) और अधिदैव (कर्ता)। ये सभी त्रिविधताएँ जिसकी सत्तासे सत्यके समान प्रतीत होती हैं और समाधि आदिमें यह त्रिविधता न रहनेपर भी जिसकी सत्ता बनी रहती है, वह तुरीय-तत्त्व—इन तीनोंसे परे और इनमें अनुगत चौथा ब्रह्म-तत्त्व ही सत्य है। जो उत्पत्तिसे पहले नहीं था और प्रलयके पश्चात् भी नहीं रहेगा, ऐसा समझना चाहिये कि बीचमें भी वह है नहीं—केवल कल्पनामात्र, नाममात्र ही है। यह निश्चित सत्य है कि जो पदार्थ जिससे बनता है और जिसके द्वारा प्रकाशित होता है, वही उसका वास्तविक स्वरूप है, वही उसकी परमार्थ-सत्ता है—

यह मेरा दृढ़ निश्चय है । यह जो विकारमयी राजस सृष्टि है, यह न होनेपर भी दीख रही है । यह स्वयंप्रकाशक ब्रह्म ही है । इसलिये इन्द्रिय, विषय, मन और पञ्चभूतादि जितने चित्र-विचित्र नामरूप हैं उनके रूपमें ब्रह्म ही प्रतीत हो रहा है ॥ १८—२२ ॥

एवं स्फुटं ब्रह्मविवेकहेतुभिः
परापवादेन विशारदेन ।
छित्त्वाऽऽत्मसंदेहमुपारमेत
स्वानन्दतुष्टोऽखिलकामुकेभ्यः ॥
नात्मा वपुः पार्थिवमिन्द्रियाणि
देवा ह्यसुर्वायुजलं हुताशः ।
मनोऽन्नमात्रं धिषणा च सत्त्व-
महंकृतिः खं क्षितिरर्थसाम्यम् ॥
समाहितैः कः करणैर्गुणात्मभि-
र्गुणो भवेन्मत्सुविविक्तधाम्नः ।
विक्षिप्यमाणैरुत किं नु दूषणं
घनैरुपेतैर्विगतै रवेः किम् ॥
यथा नभो वाय्वनलाम्बुभूगुणै-
र्गतागतैर्वर्तुगुणैर्न सज्जते ।
तथाक्षरं सत्त्वरजस्तमोमलै-
रहंमतेः संसृतिहेतुभिः परम् ॥
तथापि सङ्गः परिवर्जनीयो
गुणेषु मायारचितेषु तावत् ।
मद्भक्तियोगेन दृढेन यावद्
रजो निरस्येत मनःकषायः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २८ । २३—२७)

ब्रह्मविचारके साधन हैं—श्रवण, मनन, निदिध्यासन और स्वानुभूति । उनमें सहायक हैं—आत्मज्ञानी गुरुदेव ! इनके द्वारा विचार करके स्पष्टरूपसे देहादि अनात्म पदार्थोंका निषेध कर देना चाहिये । इस प्रकार निषेधके द्वारा आत्मविषयक संदेहोंको छिन्न-भिन्न करके अपने आनन्द-स्वरूप आत्मामें ही मग्न हो जाय और सब प्रकारकी विषयवासनाओंसे रहित हो जाय । निषेध करनेकी प्रक्रिया यह है कि पृथ्वीका विकार होनेके कारण शरीर आत्मा नहीं है । इन्द्रिय, उनके अधिष्ठातृ-देवता, प्राण, वायु, जल, अग्नि एवं मन भी आत्मा नहीं हैं; क्योंकि इनका धारण-पोषण शरीरके समान ही अन्नके द्वारा होता है । बुद्धि, चित्त, अहंकार, आकाश, पृथ्वी, शब्दादि विषय और गुणोंकी साम्यावस्था प्रकृति भी आत्मा नहीं हैं; क्योंकि ये सब-के-सब दृश्य एवं जड हैं । उद्धवजी ! जिसे मेरे स्वरूपका भलीभाँति ज्ञान हो गया है, उसकी वृत्तियाँ और इन्द्रियाँ यदि समाहित रहती हैं तो उसे उनसे लाभ क्या है ? और यदि वे विक्षिप्त रहती हैं, तो उनसे हानि भी क्या है ? क्योंकि अन्तःकरण और बाह्य करण—सभी गुणमय हैं और आत्मासे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है । भला, आकाशमें बादलोंके छा जाने अथवा तितर-बितर हो जानेसे सूर्यका क्या बनता-बिगड़ता है । जैसे वायु आकाशको सुखा नहीं सकती, आग जला नहीं सकती, जल भिगो नहीं सकता, धूल-धुएँ मटमैला नहीं कर सकते और ऋतुओंके गुण गरमी-सर्दी आदि उसे प्रभावित नहीं कर सकते—क्योंकि ये सब आने-जानेवाले क्षणिक भाव हैं और आकाश इन सबका एकरस अधिष्ठान है—वैसे ही सत्त्वगुण, रजो-गुण और तमोगुणकी वृत्तियाँ तथा कर्म अविनाशी आत्माका स्पर्श नहीं कर पाते; वह तो इनसे सर्वथा परे है । इनके द्वारा तो केवल वही संसारमें भटकता है, जो इनमें अहंकार कर बैठता है । उद्धवजी ! ऐसा होनेपर भी तबतक इन मायानिर्मित गुणों और उनके कार्योंका सङ्ग सर्वथा त्याग देना चाहिये, जबतक मेरे सुदृढ़ भक्तियोगके द्वारा मनका रजोगुणरूप मल एकदम निकल न जाय ॥ २३—२७ ॥

यथाऽऽमयोऽसाधुचिकित्सितो नृणां
पुनः पुनः संतुदति प्ररोहन् ।
एवं मनोऽपक्वकषायकर्म
कुयोगिनं विध्यति सर्वसङ्गम् ॥

कुयोगिनो ये विहतान्तरायै-
र्मनुष्यभूतैस्त्रिदशोपसृष्टैः ।
ते प्राक्तनाभ्यासबलेन भूयो
युञ्जन्ति योगं न तु कर्मतन्त्रम् ॥
करोति कर्म क्रियते च जन्तुः
केनाप्यसौ चोदित आनिपातात् ।
न तत्र विद्वान् प्रकृतौ स्थितोऽपि
निवृत्ततृष्णः स्वसुखानुभूत्या ॥
तिष्ठन्तमासीनमुत व्रजन्तं
शयानमुक्षन्तमदन्तमन्नम् ।
स्वभावमन्यत् किमपीहमान-
मात्मानमात्मस्थमतिर्न वेद ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २८ । २८—३१)

उद्धवजी ! जैसे भलीभाँति चिकित्सा न करनेपर रोगका समूल नाश नहीं होता, वह बार-बार उभरकर मनुष्यको सताया करता है; वैसे ही जिस मनकी वासनाएँ और कर्मोंके संस्कार मिट नहीं गये हैं, जो स्त्री-पुत्र आदिमें आसक्त है, वह बार-बार अधूरे योगीको बेधता रहता है और उसे कई बार योगभ्रष्ट भी कर देता है। देवताओंके द्वारा प्रेरित शिष्य-पुत्र आदिके द्वारा किये हुए विघ्नोंसे यदि कदाचित् अधूरा योगी मार्गच्युत हो जाय तो भी वह अपने पूर्वाभ्यासके कारण पुनः योगाभ्यासमें ही लग जाता है। कर्म आदिमें उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। उद्धवजी ! जीव संस्कार आदिसे प्रेरित होकर जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त कर्ममें ही लगा रहता है और उनमें इष्ट-अनिष्ट-बुद्धि करके हर्ष-विषाद आदि विकारोंको प्राप्त होता रहता है। परंतु जो तत्त्वका साक्षात्कार कर लेता है, वह प्रकृतिमें स्थित रहनेपर भी, संस्कारानुसार कर्म होते रहनेपर भी उनमें इष्ट-अनिष्ट-बुद्धि करके हर्ष-विषाद आदि विकारोंसे युक्त नहीं होता; क्योंकि आनन्दस्वरूप आत्माके साक्षात्कारसे उसकी संसारसम्बन्धी सभी आशा-तृष्णाएँ पहले ही नष्ट हो चुकी होती हैं। जो अपने स्वरूपमें स्थित हो गया है, उसे इस बातका भी पता नहीं रहता कि शरीर खड़ा है या बैठा, चल रहा है या सो रहा है, मल-मूत्र त्याग रहा है, भोजन कर रहा है अथवा और कोई स्वाभाविक कर्म कर रहा है; क्योंकि उसकी वृत्ति तो आत्मस्वरूपमें स्थित—ब्रह्माकार रहती है ॥२८–३१॥

यदि स्म पश्यत्यसदिन्द्रियार्थं
नानानुमानेन विरुद्धमन्यत् ।
न मन्यते वस्तुतया मनीषी
स्वाप्नं यथोत्थाय तिरोदधानम् ॥
पूर्वं गृहीतं गुणकर्मचित्र-
मज्ञानमात्मन्यविविक्तमङ्ग ।
निवर्तते तत् पुनरीक्षयैव
न गृह्यते नापि विसृज्य आत्मा ॥
यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषां
तमो निहन्यान्न तु सद् विधत्ते ।
एवं समीक्षा निपुणा सती मे
हन्यात्तमिस्रं पुरुषस्य बुद्धेः ॥
एष स्वयंज्योतिरजोऽप्रमेयो
महानुभूतिः सकलानुभूतिः ।
एकोऽद्वितीयो वचसां विरामे
येनेषिता वागसवश्चरन्ति ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २८ । ३२—३५)

यदि ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें इन्द्रियोंके विविध बाह्य विषय, जो कि असत् हैं, आते भी हैं तो वह उन्हें अपने आत्मासे भिन्न नहीं मानता; क्योंकि वे युक्तियों, प्रमाणों और स्वानुभूतिसे सिद्ध नहीं होते। जैसे नींद टूट जानेपर स्वप्नमें देखे हुए और जागनेपर तिरोहित हुए पदार्थोंको कोई सत्य नहीं मानता; वैसे ही ज्ञानी पुरुष भी अपनेसे भिन्न प्रतीयमान पदार्थोंको सत्य नहीं मानते। उद्धवजी ! (इसका यह अर्थ नहीं है कि अज्ञानीने आत्माका त्याग कर दिया है और

ज्ञानी उसको ग्रहण करता है । इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि) अनेकों प्रकारके गुण और कर्मोंसे युक्त देह-इन्द्रिय आदि पदार्थ पहले अज्ञानके कारण आत्मासे अभिन्न मान लिये गये थे, उनका विवेक नहीं था । अब आत्मदृष्टि होनेपर अज्ञान और उसके कार्योंकी निवृत्ति हो जाती है । इसलिये अज्ञानकी निवृत्ति ही अभीष्ट है । वृत्तियोंके द्वारा न तो आत्माका ग्रहण हो सकता है और न त्याग । जैसे सूर्य उदय होकर मनुष्योंके नेत्रोंके सामनेसे अन्धकारका परदा हटा देते हैं, किसी नयी वस्तुका निर्माण नहीं करते, वैसे ही मेरे स्वरूपका दृढ अपरोक्ष ज्ञान पुरुषके बुद्धिगत अज्ञानका आवरण नष्ट कर देता है । वह इदं-रूपसे किसी वस्तुका अनुभव नहीं कराता । उद्धवजी ! आत्मा नित्य अपरोक्ष है; उसकी प्राप्ति नहीं करनी पड़ती । वह स्वयंप्रकाश है । उसमें अज्ञान आदि किसी प्रकारके विकार नहीं हैं । वह जन्मरहित है अर्थात् कभी किसी प्रकार भी वृत्तिमें आरूढ नहीं होता, इसलिये अप्रमेय है । ज्ञान आदिके द्वारा उसका संस्कार भी नहीं किया जा सकता । आत्मामें देश, काल और वस्तुकृत परिच्छेद न होनेके कारण अस्तित्व, वृद्धि, परिवर्तन, ह्रास और विनाश—उसका स्पर्श भी नहीं कर सकते । सबकी और सब प्रकारकी अनुभूतियाँ आत्मस्वरूप ही हैं । जब मन और वाणी आत्माको अपना अविषय समझकर निवृत्त हो जाते हैं तब वही सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदसे शून्य एक अद्वितीय रह जाता है । व्यवहारदृष्टिसे उसके स्वरूपका वाणी और प्राण आदिके प्रवर्तकके रूपमें निरूपण किया जाता है ॥ ३२—३५॥

एतावानात्मसम्मोहो यद् विकल्पस्तु केवले ।
आत्मन्नृते स्वमात्मानमवलम्बो न यस्य हि ॥
यन्नामाकृतिभिर्ग्राह्यं पञ्चवर्णमबाधितम् ।
व्यर्थेनाप्यर्थवादोऽयं द्वयं पण्डितमानिनाम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २८ । ३६-३७)

उद्धवजी ! अद्वितीय आत्मतत्त्वमें अर्थहीन नामोंके द्वारा विविधता मान लेना ही मनका भ्रम है, अज्ञान है । सचमुच यह बहुत बड़ा मोह है; क्योंकि अपने आत्माके अतिरिक्त उस भ्रमका भी और कोई अधिष्ठान नहीं है । अधिष्ठान-सत्तामें अध्यस्तकी सत्ता है ही नहीं । इसलिये सब कुछ आत्मा ही है । बहुत-से पण्डिताभिमानी लोग ऐसा कहते हैं कि यह पाञ्चभौतिक द्वैत विभिन्न नामों और रूपोंके रूपमें इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किया जाता है, इसलिये सत्य है । परंतु यह तो अर्थहीन वाणीका आडम्बरमात्र है; क्योंकि तत्त्वतः तो इन्द्रियोंकी पृथक् सत्ता ही सिद्ध नहीं होती; फिर वे किसीको प्रमाणित कैसे करेंगी ॥ ३६-३७ ॥

योगिनोऽपक्वयोगस्य युञ्जतः काय उत्थितैः ।
उपसर्गैर्विहन्येत तत्रायं विहितो विधिः ॥
योगधारणया कांश्चिदासनैर्धारणान्वितैः ।
तपोमन्त्रौषधैः कांश्चिदुपसर्गान् विनिर्दहेत् ॥
कांश्चिन्ममानुध्यानेन नामसंकीर्तनादिभिः ।
योगेश्वरानुवृत्त्या वा हन्यादशुभदाञ्छनैः ॥
केचिद् देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम् ।
विधाय विविधोपायैरथ युञ्जन्ति सिद्धये ॥
न हि तत् कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः ।
अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः ॥
योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत् कल्पतामियात् ।
तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान् योगमुत्सृज्य मत्परः ॥
योगचर्यामिमां योगी विचरन् मदपाश्रयः ।
नान्तरायैर्विहन्येत निःस्पृहः स्वसुखानुभूः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २८ । ३८—४४)

उद्धवजी ! यदि योगसाधना पूर्ण होनेके पहले ही किसी साधकका शरीर रोगादि उपद्रवोंसे पीड़ित हो तो उसे इन उपायोंका आश्रय लेना चाहिये । गरमी-ठंडक आदिको चन्द्रमा-सूर्य आदिकी धारणाके द्वारा, वात

आदि रोगोंको वायुधारणायुक्त आसनोंके द्वारा और ग्रह-सर्पादिकृत विघ्नोंको तपस्या, मन्त्र एवं ओषधिके द्वारा नष्ट कर डालना चाहिये। काम-क्रोध आदि विघ्नोंको मेरे चिन्तन और नाम-संकीर्तन आदिके द्वारा नष्ट करना चाहिये तथा पतनकी ओर ले जानेवाले दम्भ-मद आदि विघ्नोंको धीरे-धीरे महापुरुषोंकी सेवाके द्वारा दूर कर देना चाहिये। कोई-कोई मनस्वी योगी विविध उपायोंके द्वारा इस शरीरको सुदृढ़ और युवावस्थामें स्थिर करके फिर अणिमा आदि सिद्धियोंके लिये योगसाधन करते हैं, परंतु बुद्धिमान् पुरुष ऐसे विचारका समर्थन नहीं करते; क्योंकि यह तो एक व्यर्थ प्रयास है। वृक्षमें लगे हुए फलके समान इस शरीरका नाश तो अवश्यम्भावी है। यदि कदाचित् बहुत दिनोंतक निरन्तर और आदरपूर्वक योगसाधना करते रहनेपर शरीर सुदृढ भी हो जाय, तब भी बुद्धिमान् पुरुषको अपनी साधना छोड़कर उतनेमें ही संतोष नहीं कर लेना चाहिये। उसे तो सर्वदा मेरी प्राप्तिके लिये ही संलग्न रहना चाहिये। जो साधक मेरा आश्रय लेकर मेरेद्वारा कही हुई योगसाधनामें संलग्न रहता है, उसे कोई भी विघ्न-बाधा डिगा नहीं सकती। उसकी सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं और वह आत्मानन्दकी अनुभूतिमें मग्न हो जाता है ॥ ३८—४४ ॥

अध्याय त्रयोविंश

भागवत-धर्मोंका निरूपण

उद्धव उवाच

सुदुश्चरामिमां मन्ये योगचर्यामनात्मनः।
यथाञ्जसा पुमान् सिद्ध्येत् तन्मे ब्रूह्यञ्जसाच्युत ॥
प्रायशः पुण्डरीकाक्ष युञ्जन्तो योगिनो मनः।
विषीदन्त्यसमाधानान्मनोनिग्रहकर्शिताः ॥
अथात आनन्ददुघं पदाम्बुजं
हंसाः श्रयेरन्नरविन्दलोचन।
सुखं नु विश्वेश्वर योगकर्मभि-
स्त्वन्माययामी विहता न मानिनः ॥
किं चित्रमच्युत तवैतदशेषबन्धो
दासेष्वनन्यशरणेषु यदात्मसात्त्वम्।
योऽरोचयत् सह मृगैः स्वयमीश्वराणां
श्रीमत्किरीटतटपीडितपादपीठः ॥
तं त्वाखिलात्मदयितेश्वरमाश्रितानां
सर्वार्थदं स्वकृतविद् विसृजेत को नु।
को वा भजेत् किमपि विस्मृतयेऽनु भूत्यै
किं वा भवेन्न तव पादरजोजुषां नः ॥
नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश
ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः।
योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्व-
न्नाचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २९ । १–६)

उद्धवजीने कहा—अच्युत! जो अपना मन वशमें नहीं कर सका है, उसके लिये आपकी बतलायी हुई इस योगसाधनाको तो मैं बहुत ही कठिन समझता हूँ। अतः अब आप कोई ऐसा सरल और सुगम साधन बतलाइये, जिससे मनुष्य अनायास ही परमपद प्राप्त कर सके। कमल-नयन! आप जानते ही हैं कि अधिकांश योगी जब अपने मनको एकाग्र करने लगते हैं, तब वे बार-बार चेष्टा करनेपर भी सफल न होनेके कारण हार मान लेते हैं और उसे वशमें न कर पानेके कारण दुखी हो जाते हैं। पद्मलोचन! आप विश्वेश्वर हैं! आपके ही द्वारा सारे संसारका नियमन होता है। इसीसे सारासार-विचारमें चतुर मनुष्य आपके आनन्द-वर्षी चरणकमलोंकी शरण लेते हैं और अनायास ही सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। आपकी माया उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकती; क्योंकि उन्हें योगसाधना और कर्मानुष्ठानका अभिमान नहीं होता। परंतु जो आपके चरणोंका आश्रय नहीं लेते, वे योगी और कर्मी अपने साधनके घमंडसे फूल जाते हैं; अवश्य ही आपकी मायाने उनकी मति हर ली है। प्रभो! आप

सबके हितैषी सुहृद् हैं। आप अपने अनन्य शरणागत बलि आदि सेवकोंके अधीन हो जायँ, यह आपके लिये कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि आपने रामावतार ग्रहण करके प्रेमवश वानरोंसे भी मित्रताका निर्वाह किया, यद्यपि ब्रह्मा आदि लोकेश्वरगण भी अपने दिव्य किरीटोंको आपके चरण-कमल रखनेकी चौकीपर रगड़ते रहते हैं। प्रभो! आप सबके प्रियतम, स्वामी और आत्मा हैं। आप अपने अनन्य शरणागतोंको सब कुछ दे देते हैं। आपने बलि-प्रह्लाद आदि अपने भक्तोंको जो कुछ दिया है, उसे जानकर ऐसा कौन पुरुष होगा जो आपको छोड़ देगा? यह बात किसी प्रकार बुद्धिमें ही नहीं आती कि भला, कोई विचारवान् विस्मृतिके गर्तमें डालनेवाले तुच्छ विषयोंमें ही फँसा रखनेवाले भोगोंको क्यों चाहेगा? हमलोग आपके चरणकमलोंकी रजके उपासक हैं। हमारे लिये दुर्लभ ही क्या है? भगवन्! आप समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें अन्तर्यामीरूपसे और बाहर गुरुरूपसे स्थित होकर उनके सारे पाप-ताप मिटा देते हैं और अपने वास्तविक स्वरूपको उनके प्रति प्रकट कर देते हैं। बड़े-बड़े ब्रह्मज्ञानी ब्रह्माजीके समान लंबी आयु पाकर भी आपके उपकारोंका बदला नहीं चुका सकते। इसीसे वे आपके उपकारोंका स्मरण करके क्षण-क्षण अधिकाधिक आनन्दका अनुभव करते रहते हैं ॥ १—६ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युद्धवेनात्यनुरक्तचेतसा
पृष्टो जगत्क्रीडनकः स्वशक्तिभिः ।
गृहीतमूर्तित्रय ईश्वरेश्वरो
जगाद सप्रेममनोहरस्मितः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २९ । ७)

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मादि ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं। वे ही सत्त्व-रज आदि गुणोंके द्वारा ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रका रूप धारण करके जगत्की उत्पत्ति-स्थिति आदिके खेल खेला करते हैं। जब उद्धवजीने अनुरागभरे चित्तसे उनसे यह प्रश्न किया, तब उन्होंने मन्द-मन्द मुसकराकर बड़े प्रेमसे कहना प्रारम्भ किया ॥ ७ ॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि मम धर्मान् सुमङ्गलान् ।
यान्श्रद्धयाऽऽचरन् मर्त्यो मृत्युं जयति दुर्जयम् ॥
कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन् ।
मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः ॥
देशान् पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान् ।
देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च ॥
पृथक् सत्रेण वा मह्यं पर्वयात्रामहोत्सवान् ।
कारयेद् गीतनृत्याद्यैर्महाराजविभूतिभिः ॥
मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम् ।
ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः ॥
इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते ।
सभाजयन् मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः ॥
ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके ।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः ॥
नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात् ।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहंकारा वियन्ति हि ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २९ । ८—१५)

श्रीभगवान्ने कहा—प्रिय उद्धव! अब मैं तुम्हें अपने उन मङ्गलमय भागवतधर्मोंका उपदेश करता हूँ, जिनका श्रद्धापूर्वक आचरण करके मनुष्य संसाररूप दुर्जय मृत्युको अनायास ही जीत लेता है। उद्धवजी! मेरे भक्तको चाहिये कि अपने सारे कर्म मेरे लिये ही करे और धीरे-धीरे उनको करते समय मेरे स्मरणका अभ्यास बढ़ाये। कुछ ही दिनोंमें उसके मन और चित्त मुझमें समर्पित हो जायँगे। उसके मन और आत्मा मेरे ही धर्मोंमें रम जायँगे। मेरे भक्त साधुजन जिन पवित्र स्थानोंमें निवास करते हों, उन्हींमें रहे और देवता, असुर अथवा मनुष्योंमें जो मेरे अनन्य भक्त हों, उनके आचरणोंका अनुसरण करे। पर्वके अवसरों-पर सबके साथ मिलकर अथवा अकेला ही नृत्य, गान, वाद्य आदि महाराजोचित ठाट-बाटसे मेरी यात्रा आदिके महोत्सव करे। शुद्धान्तःकरण पुरुष आकाशके समान बाहर और भीतर परिपूर्ण एवं आवरणशून्य मुझ परमात्माको ही समस्त प्राणियोंके और अपने हृदयमें स्थित देखे। निर्मलबुद्धि उद्धवजी! जो साधक केवल इस ज्ञानदृष्टिका आश्रय लेकर सम्पूर्ण प्राणियों और पदार्थोंमें मेरा दर्शन करता है और उन्हें मेरा ही रूप

मानकर सत्कार करता है तथा ब्राह्मण और चाण्डाल, चोर और ब्राह्मणभक्त, सूर्य और चिनगारी तथा कृपालु और क्रूरमें समान दृष्टि रखता है, उसे ही सच्चा ज्ञानी समझना चाहिये। जब निरन्तर सभी नर-नारियोंमें मेरी ही भावना की जाती है, तब थोड़े ही दिनोंमें साधकके चित्तसे स्पर्द्धा (होड़), ईर्ष्या, तिरस्कार और अहंकार आदि दोष दूर हो जाते हैं ॥ ८—१५ ॥

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम् ॥
यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः ॥
सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया।
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः ॥
अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः ॥
न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि।
मया व्यवसितः सम्यङ्निर्गुणत्वादनाशिषः ॥
यो यो मयि परे धर्मः कल्प्यते निष्फलाय चेत्।
तदायासो निरर्थः स्याद् भयादेरिव सत्तम ॥
एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २९ । १६—२२)

अपने ही लोग यदि हँसी करें तो करने दे, उनकी परवा न करे। 'मैं अच्छा हूँ, वह बुरा है' ऐसी देह-दृष्टिको और लोक-लज्जाको छोड़ दे और कुत्ते, चाण्डाल, गौ एवं गधेको भी पृथ्वीपर गिरकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करे। जबतक समस्त प्राणियोंमें मेरी भावना—भगवद्-भावना न होने लगे, तबतक इस प्रकारसे मन, वाणी और शरीरके सभी संकल्पों और कर्मोंद्वारा मेरी उपासना करता रहे। उद्धवजी! जब इस प्रकार सर्वत्र आत्मबुद्धि—ब्रह्मबुद्धिका अभ्यास किया जाता है, तब थोड़े ही दिनोंमें उसे ज्ञान होकर सब कुछ ब्रह्मस्वरूप दीखने लगता है। ऐसी दृष्टि हो जानेपर सारे संशय-संदेह अपने-आप निवृत्त हो जाते हैं और वह सब कहीं मेरा साक्षात्कार करके संसार-दृष्टिसे उपराम हो जाता है। मेरी प्राप्तिके जितने साधन हैं उनमें मैं तो सबसे श्रेष्ठ साधन यही समझता हूँ कि समस्त प्राणियों और पदार्थोंमें मन, वाणी और शरीरकी समस्त वृत्तियोंसे मेरी ही भावना की जाय। उद्धवजी! यही मेरा अपना भागवत-धर्म है; इसको एक बार आरम्भ कर देनेके बाद फिर किसी प्रकारकी विघ्न-बाधासे इसमें रत्तीभर भी अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि यह धर्म निष्काम है और स्वयं मैंने ही इसे निर्गुण होनेके कारण सर्वोत्तम निश्चय किया है। भागवत-धर्ममें किसी प्रकारकी त्रुटि पड़नी तो दूर रही—यदि इस धर्मका साधक भय-शोक आदिके अवसरपर होनेवाली भावना और रोने-पीटने, भागने-जैसे निरर्थक कर्म भी निष्कामभावसे मुझे समर्पित कर दे तो वे भी मेरी प्रसन्नताके कारण धर्म बन जाते हैं। विवेकियोंके विवेक और चतुरोंकी चतुराईकी पराकाष्ठा इसीमें है कि वे इस विनाशी और असत्य शरीरके द्वारा मुझ अविनाशी एवं सत्य तत्त्वको प्राप्त कर लें ॥ १६—२२ ॥

एष तेऽभिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य संग्रहः।
समासव्यासविधिना देवानामपि दुर्गमः ॥
अभीक्ष्णशस्ते गदितं ज्ञानं विस्पष्टयुक्तिमत्।
एतद् विज्ञाय मुच्येत पुरुषो नष्टसंशयः ॥
सुविविक्तं तव प्रश्नं मयैतदपि धारयेत्।
सनातनं ब्रह्मगुह्यं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥
य एतन्मम भक्तेषु सम्प्रदद्यात् सुपुष्कलम्।
तस्याहं ब्रह्मदायस्य ददाम्यात्मानमात्मना ॥
य एतत् समधीयीत पवित्रं परमं शुचि।
स पूयेताहरहर्मां ज्ञानदीपेन दर्शयन् ॥
य एतच्छ्रद्धया नित्यमव्यग्रः शृणुयान्नरः।
मयि भक्तिं परां कुर्वन् कर्मभिर्न स बध्यते ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २९ । २३—२८)

उद्धवजी ! यह सम्पूर्ण ब्रह्मविद्याका रहस्य मैंने संक्षेप और विस्तारसे तुम्हें सुना दिया। इस रहस्यको समझना मनुष्योंकी तो कौन कहे, देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन है। मैंने जिस सुस्पष्ट और युक्तियुक्त ज्ञानका वर्णन बार-बार किया है, उसके मर्मको जो समझ लेता है, उसके हृदयकी संशय-ग्रन्थियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और वह मुक्त हो जाता है। मैंने तुम्हारे प्रश्नका भलीभाँति समाधान कर दिया; जो पुरुष हमारे प्रश्नोत्तरको विचारपूर्वक धारण करेगा, वह वेदोंके भी परम रहस्य सनातन परब्रह्मको प्राप्त कर लेगा। जो पुरुष मेरे भक्तोंको इसे भलीभाँति स्पष्ट करके समझायेगा, उस ज्ञानदाताको मैं प्रसन्नमनसे अपना स्वरूप तक दे डालूँगा, उसे आत्मज्ञान करा दूँगा। उद्धवजी ! यह तुम्हारा और मेरा संवाद स्वयं तो परम पवित्र है ही, दूसरोंको भी पवित्र करनेवाला है। जो प्रतिदिन इसका पाठ करेगा और दूसरोंको सुनायेगा, वह इस ज्ञानदीपके द्वारा दूसरोंको मेरा दर्शन करानेके कारण पवित्र हो जायगा। जो कोई एकाग्रचित्तसे इसे श्रद्धापूर्वक नित्य सुनेगा, उसे मेरी पराभक्ति प्राप्त होगी और वह कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा ॥ २३—२८ ॥

अप्युद्धव त्वया ब्रह्म सखे समवधारितम्।
अपि ते विगतो मोहः शोकश्चासौ मनोभवः ॥
नैतत्त्वया दाम्भिकाय नास्तिकाय शठाय च।
अशुश्रूषोरभक्ताय दुर्विनीताय दीयताम् ॥
एतैर्दोषैर्विहीनाय ब्रह्मण्याय प्रियाय च।
साधवे शुचये ब्रूयाद् भक्तिः स्याच्छूद्रयोषिताम् ॥
नैतद् विज्ञाय जिज्ञासोर्ज्ञातव्यमवशिष्यते।
पीत्वा पीयूषममृतं पातव्यं नावशिष्यते ॥
ज्ञाने कर्मणि योगे च वार्तायां दण्डधारणे।
यावानर्थो नृणां तात तावांस्तेऽहं चतुर्विधः ॥
मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै ॥
(श्रीमद्भागवत ११। २९। २९-३४)

प्रिय सखे ! तुमने भलीभाँति ब्रह्मका स्वरूप समझ लिया न ? अब तुम्हारे चित्तका मोह एवं शोक तो दूर हो गया न ? तुम इसे दाम्भिक, नास्तिक, शठ, अश्रद्धालु, भक्तिहीन और उद्धत पुरुषको कभी मत देना। जो इन दोषोंसे रहित हो, ब्राह्मणभक्त हो, प्रेमी हो, साधु-स्वभाव हो और जिसका चरित्र पवित्र हो, उसीको यह प्रसङ्ग सुनाना चाहिये। यदि शूद्र और स्त्री भी मेरे प्रति प्रेम-भक्ति रखते हों, तो उन्हें भी इसका उपदेश करना चाहिये। जैसे दिव्य अमृतपान कर लेनेपर कुछ भी पीना शेष नहीं रहता, वैसे ही इसे जान लेनेपर जिज्ञासुके लिये और कुछ भी जानना शेष नहीं रहता। प्यारे उद्धव ! मनुष्योंको ज्ञान, कर्म, योग, वाणिज्य और राजदण्डादिसे क्रमशः मोक्ष, धर्म, काम और अर्थरूप फल प्राप्त होते हैं, परंतु तुम्हारे-जैसे अनन्य भक्तोंके लिये वह चारों प्रकारका फल केवल मैं ही हूँ। जिस समय मनुष्य समस्त कर्मोंका परित्याग करके मुझे आत्मसमर्पण कर देता है, उस समय वह मेरा विशेष माननीय हो जाता है और मैं उसे उसके जीवत्वसे छुड़ाकर अमृतस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति करा देता हूँ और वह मुझसे मिलकर मेरा स्वरूप हो जाता है ॥ २९—३४ ॥

श्रीशुक उवाच

स एवमादर्शितयोगमार्ग-
स्तदोत्तमश्लोकवचो निशम्य।
बद्धाञ्जलिः प्रीत्युपरुद्धकण्ठो
न किंचिदूचेऽश्रुपरिप्लुताक्षः ॥
विष्टभ्य चित्तं प्रणयावघूर्णं
धैर्येण राजन् बहु मन्यमानः।
कृताञ्जलिः प्राह यदुप्रवीरं
शीर्ष्णा स्पृशंस्तच्चरणारविन्दम् ॥
(श्रीमद्भागवत ११। २९। ३५-३६)

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! अब उद्धवजी

योगमार्गका पूरा-पूरा उपदेश प्राप्त कर चुके थे। भगवान् श्रीकृष्णकी बात सुनकर उनकी आँखोंमें आँसू उमड़ आये। प्रेमकी बाढ़से उनका गला रुँध गया, वे चुपचाप हाथ जोड़े रह गये और वाणीसे कुछ बोला न गया। उनका चित्त प्रेमावेशसे विह्वल हो रहा था। उन्होंने धैर्यपूर्वक उसे रोका और अपनेको अत्यन्त सौभाग्यशाली अनुभव करते हुए शिरसे यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंको स्पर्श किया तथा हाथ जोड़कर उनसे यह प्रार्थना की ॥३५-३६॥

उद्धव उवाच

विद्रावितो मोहमहान्धकारो
य आश्रितो मे तव संनिधानात्।
विभावसोः किं नु समीपगस्य
शीतं तमो भीः प्रभवन्त्यजाद्य ॥
प्रत्यर्पितो मे भवतानुकम्पिना
भृत्याय विज्ञानमयः प्रदीपः।
हित्वा कृतज्ञस्तव पादमूलं
कोऽन्यत् समीयाच्छरणं त्वदीयम् ॥
वृकणश्च मे सुदृढः स्नेहपाशो
दाशार्हवृष्ण्यन्धकसात्वतेषु ।
प्रसारितः सृष्टिविवृद्धये त्वया
स्वमायया ह्यात्मसुबोधहेतिना ॥
नमोऽस्तु ते महायोगिन् प्रपन्नमनुशाधि माम्।
यथा त्वच्चरणाम्भोजे रतिः स्यादनपायिनी ॥
(श्रीमद्भागवत ११। २९। ३७—४०)

उद्धवजीने कहा—प्रभो! आप माया और ब्रह्मा आदिके भी मूल कारण हैं। मैं मोहके महान् अन्धकारमें भटक रहा था। आपके सत्सङ्गसे वह सदाके लिये भाग गया। भला, जो अग्निके पास पहुँच गया उसके सामने क्या शीत, अन्धकार और उसके कारण होनेवाला भय ठहर सकते हैं? भगवन्! आपकी मोहिनी मायाने मेरा ज्ञानदीपक छीन लिया था; परंतु आपने कृपा करके वह फिर अपने सेवकको लौटा दिया। आपने मेरे ऊपर महान् अनुग्रहकी वर्षा की है। ऐसा कौन होगा, जो आपके इस कृपा-प्रसादका अनुभव करके भी आपके चरणकमलोंकी शरण छोड़ दे और किसी दूसरेका सहारा ले? आपने अपनी मायासे सृष्टि-वृद्धिके लिये दाशार्ह, वृष्णि, अन्धक और सात्वत-वंशी यादवोंके साथ मुझे सुदृढ स्नेहपाशसे बाँध दिया था। आज आपने आत्मबोधकी तीखी तलवारसे उस बन्धनको अनायास ही काट डाला। महायोगेश्वर! मेरा आपको नमस्कार है। अब आप कृपा करके मुझ शरणागतको ऐसी आज्ञा दीजिये, जिससे आपके चरणकमलमें मेरी अनन्य भक्ति बनी रहे ॥ ३७—४० ॥

श्रीभगवानुवाच

गच्छोद्धव मयाऽऽदिष्टो बदर्याख्यं ममाश्रमम्।
तत्र मत्पादतीर्थोदे स्नानोपस्पर्शनैः शुचिः ॥
ईक्षयालकनन्दाया विधूताशेषकल्मषः।
वसानो वल्कलान्यङ्ग वन्यभुक् सुखनिःस्पृहः ॥
तितिक्षुर्द्वन्द्वमात्राणां सुशीलः संयतेन्द्रियः।
शान्तः समाहितधिया ज्ञानविज्ञानसंयुतः ॥
मत्तोऽनुशिक्षितं यत्ते विविक्तमनुभावयन्।
मय्यावेशितवाक्चित्तो मद्धर्मनिरतो भव।
अतिव्रज्य गतीस्तिस्रो मामेष्यसि ततः परम् ॥
(श्रीमद्भागवत ११। २९। ४१—४४)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धवजी! अब तुम मेरी आज्ञासे बदरीवनमें चले जाओ। वह मेरा ही आश्रम है। वहाँ मेरे चरणकमलोंके धोवन गङ्गाजलका स्नान-पानके द्वारा सेवन करके तुम पवित्र हो जाओगे। अलकनन्दाके दर्शनमात्रसे तुम्हारे सारे पाप-ताप नष्ट हो जायँगे। प्रिय उद्धव! तुम वहाँ वृक्षोंकी छाल पहनना, वनके कन्द-मूल-फल खाना और किसी भोगकी अपेक्षा न रखकर निःस्पृह-वृत्तिसे अपने-आपमें मस्त रहना। सर्दी-गरमी, सुख-दुःख—जो कुछ आ पड़े, उसे सम रहकर सहना। स्वभाव सौम्य रखना, इन्द्रियोंको वशमें रखना। चित्त शान्त रहे। बुद्धि समाहित रहे और तुम स्वयं मेरे स्वरूपके ज्ञान और अनुभवमें डूबे रहना। मैंने तुम्हें जो कुछ शिक्षा दी है, उसका एकान्तमें विचारपूर्वक अनुभव करते रहना। अपनी वाणी और चित्तको मुझमें ही लगाये रखना और मेरे बतलाये हुए भागवतधर्ममें प्रेमसे रम जाना। अन्तमें तुम त्रिगुण और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली गतियोंको पार करके उनसे परे मेरे परमार्थस्वरूपमें मिल जाओगे ॥ ४१—४४ ॥

श्रीशुक उवाच

स एवमुक्तो हरिमेधसोद्धवः
प्रदक्षिणं तं परिसृत्य पादयोः।
शिरो निधायाश्रुकलाभिरार्द्रधी-
र्न्यषिञ्चदद्वन्द्वपरोऽप्यपक्रमे ॥
सुदुस्त्यजस्नेहवियोगकातरो
न शक्नुवंस्तं परिहातुमातुरः।
कृच्छ्रं ययौ मूर्धनि भर्तृपादुके
बिभ्रन्नमस्कृत्य ययौ पुनः पुनः॥
ततस्तमन्तर्हृदि संनिवेश्य
गतो महाभागवतो विशालाम्।
यथोपदिष्टां जगदेकबन्धुना
तपः समास्थाय हरेरगाद् गतिम्॥
य एतदानन्दसमुद्रसम्भृतं
ज्ञानामृतं भागवताय भाषितम्।
कृष्णेन योगेश्वरसेविताङ्घ्रिणा
सच्छ्रद्धयाऽऽसेव्य जगद् विमुच्यते॥
भवभयमपहन्तुं ज्ञानविज्ञानसारं
निगमकृदुपजह्रे भृङ्गवद् वेदसारम्।
अमृतमुदधितश्चापाययद् भृत्यवर्गान्
पुरुषमृषभमाद्यं कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मि॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २९ । ४५-४९)

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपका ज्ञान संसारके भेद-भ्रमको छिन्न-भिन्न कर देता है। जब उन्होंने स्वयं उद्धवजीको ऐसा उपदेश किया तो उन्होंने उनकी परिक्रमा की और उनके चरणोंपर सिर रख दिया। इसमें संदेह नहीं कि उद्धवजी संयोग-वियोगसे होनेवाले सुख-दुःखके द्वन्द्वसे परे थे; क्योंकि वे भगवान्के निर्द्वन्द्व चरणोंकी शरण ले चुके थे; फिर भी वहाँसे चलते समय उनका चित्त प्रेमावेशसे भर गया। उन्होंने अपने नेत्रोंकी झरती हुई अश्रुधारासे भगवान्के चरणकमलोंको भिगो दिया। परीक्षित्! भगवान्के प्रति प्रेम करके उसका त्याग करना सम्भव नहीं है। उन्हींके वियोगकी कल्पनासे उद्धवजी कातर हो गये, उनका त्याग करनेमें समर्थ न हुए। बार-बार विह्वल होकर मूर्छित होने लगे। कुछ समयके बाद उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंकी पादुकाएँ अपने सिरपर रख लीं और बार-बार भगवान्के चरणोंमें प्रणाम करके वहाँसे प्रस्थान किया। भगवान्के परम प्रेमी भक्त उद्धवजी हृदयमें उनकी दिव्य छबि धारण किये बदरिकाश्रम पहुँचे और वहाँ उन्होंने तपोमय जीवन व्यतीत करके जगत्के एकमात्र हितैषी भगवान् श्रीकृष्णके उपदेशानुसार उनकी स्वरूपभूत परम गति प्राप्त की। भगवान् शंकर आदि योगेश्वर भी सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंकी सेवा किया करते हैं। उन्होंने स्वयं श्रीमुखसे अपने परम प्रेमी भक्त उद्धवके लिये इस ज्ञानामृतका वितरण किया। यह ज्ञानामृत आनन्द-महासागरका सार है। जो श्रद्धाके साथ इसका सेवन करता है, वह तो मुक्त हो ही जाता है, उसके सङ्गसे सारा जगत् मुक्त हो जाता है। परीक्षित्! जैसे भौंरा विभिन्न पुष्पोंसे उनका सार-सार मधु संग्रह कर लेता है, वैसे ही स्वयं वेदोंको प्रकाशित करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने भक्तोंको संसारसे मुक्त करनेके लिये यह ज्ञान और विज्ञानका सार निकाला है। उन्होंने जरा-रोगादि भयकी निवृत्तिके लिये क्षीरसमुद्रसे अमृत भी निकाला था तथा इन्हें क्रमशः अपने निवृत्तिमार्गी और प्रवृत्तिमार्गी भक्तोंको पिलाया। वे ही पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण सारे जगत्के मूल कारण हैं। मैं उनके चरणोंमें नमस्कार करता हूँ॥ ४५—४९॥

उद्धव गीता समाप्त

भगवान् श्रीकृष्णका दिव्य विग्रहरूपसे ही परमधाम-गमन, बहेलियेपर कृपा और दारुकको उपदेश

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित् ! बलरामजीने समुद्र-तटपर बैठकर एकाग्रचित्तसे परमात्मचिन्तन करते हुए अपने आत्माको आत्मरूपमें ही स्थिर कर लिया और मानव-शरीरका परित्याग कर दिया । जब भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि मेरे बड़े भाई बलरामजी परमपदमें लीन हो गये, तब वे एक पीपलके पेड़के तले जाकर चुपचाप धरतीपर ही विराज गये । भगवान् श्रीकृष्णने उस समय अपनी अङ्गकान्तिसे देदीप्यमान चतुर्भुज रूप धारण कर रक्खा था और धूमसे रहित अग्निके समान दिशाओंको अन्धकाररहित—प्रकाशमान बना रहे थे । वर्षाकालीन मेघके समान साँवले शरीरसे तपे हुए सोनेके सदृश ज्योति निकल रही थी । वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न शोभायमान था । वे रेशमी पीताम्बरकी धोती और वैसा ही दुपट्टा धारण किये हुए थे । बड़ा ही मङ्गलमय रूप था । मुखकमलपर सुन्दर मुसकान और कपोलोंपर नीली-नीली अलकें बड़ी ही सुहावनी लगती थीं । कमलके समान सुन्दर-सुन्दर एवं सुकुमार नेत्र थे । कानोंमें मकराकृत कुण्डल झिलमिला रहे थे । कमरमें करधनी, कंधेपर यज्ञोपवीत, माथेपर मुकुट, कलाइयोंमें कंगन, बाँहोंमें बाजूबंद, वक्षःस्थलपर हार, चरणोंमें नूपुर, अँगुलियोंमें अँगूठियाँ और गलेमें कौस्तुभमणि शोभायमान हो रही थी । घुटनोंतक वनमाला लटक रही थी । शङ्ख, चक्र, गदा आदि आयुध मूर्तिमान् होकर प्रभुकी सेवा कर रहे थे । उस समय भगवान् अपनी दाहिनी जाँघपर बायाँ चरण रखकर बैठे हुए थे । लाल-लाल तलवा रक्त-कमलके समान चमक रहा था ।

परीक्षित् ! जरा नामका एक बहेलिया था । उसे दूरसे भगवान्का लाल-लाल तलवा हरिनके मुखके समान जान पड़ा । उसने उसे सचमुच हरिन समझकर अपने बाणसे बींध दिया । जब वह पास आया, तब उसने देखा कि 'अरे! ये तो चतुर्भुज पुरुषोत्तम हैं ।' अब तो वह अपराध कर चुका था, इसलिये डरके मारे काँपने लगा और दैत्यदलन भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंपर सिर रखकर धरतीपर गिर पड़ा । उसने कहा—'मधुसूदन ! मैंने अनजानमें यह पाप किया है । सचमुच मैं बहुत बड़ा पापी हूँ; परंतु आप परम यशस्वी और निर्विकार हैं । आप कृपा करके मेरा अपराध क्षमा कीजिये । सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् प्रभो ! महात्मालोग कहा करते हैं कि आपके स्मरणमात्रसे मनुष्योंका अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है । बड़े खेदकी बात है कि मैंने स्वयं आपका ही अनिष्ट कर दिया । वैकुण्ठनाथ ! मैं निरपराध हरिनोंको मारनेवाला महापापी हूँ । आप मुझे अभी-अभी मार डालिये; क्योंकि मर जानेपर मैं फिर कभी आप-जैसे महापुरुषोंका ऐसा अपराध न करूँगा । भगवन् ! सम्पूर्ण विद्याओंके पारदर्शी ब्रह्माजी और उनके पुत्र रुद्र आदि भी आपकी योगमायाका विलास नहीं समझ पाते; क्योंकि उनकी दृष्टि भी आपकी मायासे आवृत है । ऐसी अवस्थामें हमारे-जैसे पापयोनि लोग उसके विषयमें कह ही क्या सकते हैं !' तब—

श्रीभगवानुवाच

मा भैर्जरे त्वमुत्तिष्ठ काम एष कृतो हि मे ।
याहि त्वं मदनुज्ञातः स्वर्गं सुकृतिनां पदम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ३० । ३९)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे जरे ! तू डर मत, उठ-उठ ! यह तो तूने मेरे मनका काम किया है । जा, मेरी आज्ञासे तू उस स्वर्गमें निवास कर, जिसकी प्राप्ति बड़े-बड़े पुण्यवानोंको होती है ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण तो अपनी इच्छासे शरीर प्रकट करते हैं । जब उन्होंने जरा व्याधको यह आदेश दिया, तब उसने उनकी तीन बार परिक्रमा की, नमस्कार किया और विमानपर सवार होकर स्वर्गको चला गया ।

भगवान् श्रीकृष्णका सारथि दारुक उनके स्थानका पता लगाता हुआ उनके द्वारा धारण की हुई तुलसीकी गन्धसे युक्त वायु सूँघकर और उससे उनके होनेके स्थानका अनुमान लगाकर सामनेकी ओर गया । दारुकने वहाँ जाकर देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण पीपलके वृक्षके नीचे आसन लगाये बैठे हैं । असह्य तेजवाले आयुध मूर्तिमान् होकर उनकी सेवामें संलग्न हैं । उन्हें देखकर दारुकके हृदयमें प्रेमकी बाढ़ आ गयी । नेत्रोंसे आँसुओंकी धार बहने लगी । वह रथसे कूदकर भगवान्के चरणोंपर गिर पड़ा । उसने भगवान्से प्रार्थना की—'प्रभो ! रात्रिके समय चन्द्रमाके अस्त हो जानेपर राह चलनेवालेकी जैसी दशा हो जाती है, आपके चरणकमलोंका दर्शन न पाकर मेरी भी वैसी ही दशा हो

गयी है। मेरी दृष्टि नष्ट हो गयी है, चारों ओर अँधेरा छा गया है। अब न तो मुझे दिशाओंका ज्ञान है और न मेरे हृदयमें शान्ति ही है।' परीक्षित्! अभी दारुक इस प्रकार कह ही रहा था कि उसके सामने ही भगवान्‌का गरुडध्वज रथ पताका और घोड़ोंके साथ आकाशमें उड़ गया। उसके पीछे-पीछे भगवान्‌के दिव्य आयुध भी चले गये। यह सब देखकर दारुकके आश्चर्यकी सीमा न रही। तब भगवान्‌ने उससे कहा—'दारुक! अब तुम द्वारका चले जाओ और वहाँ यदुवंशियोंके पारस्परिक संहार, भैया बलरामजीकी परम गति और मेरे स्वधाम-गमनकी बात कहो। उनसे कहना कि 'अब तुमलोगोंको अपने परिवारवालोंके साथ द्वारकामें नहीं रहना चाहिये। मेरे न रहनेपर समुद्र उस नगरीको डुबो देगा। सब लोग अपनी-अपनी धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब और मेरे माता-पिताको लेकर अर्जुनके संरक्षणमें इन्द्रप्रस्थ चले जायँ।

त्वं तु मद्धर्ममास्थाय ज्ञाननिष्ठ उपेक्षकः।
मन्मायारचनामेतां विज्ञायोपशमं व्रज ॥

(श्रीमद्भागवत ११।३०।४९)

'दारुक! तुम मेरे द्वारा उपदिष्ट भागवत-धर्मका आश्रय लो और ज्ञाननिष्ठ होकर सबकी उपेक्षा कर दो तथा इस दृश्यको मेरी मायाकी रचना समझकर शान्त हो जाओ'।

भगवान्‌का यह आदेश पाकर दारुकने उनकी परिक्रमा की और उनके चरणकमल अपने सिरपर रखकर वारंवार प्रणाम किया। तदनन्तर वह उदास मनसे द्वारकाके लिये चल पड़ा।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! दारुकके चले जानेपर ब्रह्माजी, शिव-पार्वती, इन्द्रादि लोकपाल, मरीचि आदि प्रजापति, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, पितर-सिद्ध, गन्धर्व-विद्याधर, नाग-चारण, यक्ष-राक्षस, किन्नर-अप्सराएँ तथा गरुडलोकके विभिन्न पक्षी एवं मैत्रेय आदि ब्राह्मण भगवान् श्रीकृष्णके परमधाम-प्रस्थानको देखनेके लिये बड़ी उत्सुकतासे वहाँ आये। वे सभी भगवान् श्रीकृष्णके जन्म और लीलाओंका गान अथवा वर्णन कर रहे थे। उनके विमानोंसे सारा आकाश भर-सा गया था। वे बड़ी भक्तिसे भगवान्‌पर पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे। सर्वव्यापक भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्माजी और अपने विभूतिस्वरूप देवताओंको देखकर अपने आत्माको स्वरूपमें स्थित किया और कमलके समान नेत्र बंद कर लिये। भगवान्‌का श्रीविग्रह उपासकोंके ध्यान और धारणाका मङ्गलमय आधार और समस्त लोकोंके लिये परम रमणीय आश्रय है; इसलिये उन्होंने (योगियोंके समान) अग्निदेवता-सम्बन्धी योगधारणाके द्वारा उसको जलाया नहीं, सशरीर अपने धाममें पधार गये। उस समय स्वर्गमें नगारे बजने लगे और आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णके पीछे-पीछे इस लोकसे सत्य, धर्म, धैर्य, कीर्ति और श्रीदेवी भी चली गयीं। भगवान् श्रीकृष्णकी गति मन और वाणीके परे है; तभी तो जब भगवान् अपने धाममें प्रवेश करने लगे, तब ब्रह्मादि देवता भी उन्हें न देख सके। इस घटनासे उन्हें बड़ा ही विस्मय हुआ। जैसे बिजली मेघमण्डलको छोड़कर जब आकाशमें प्रवेश करती है, तब मनुष्य उसकी चाल नहीं देख पाते, वैसे ही बड़े-बड़े देवता भी श्रीकृष्णकी गतिके सम्बन्धमें कुछ न जान सके। ब्रह्माजी और भगवान् शंकर आदि देवता भगवान्‌की यह परम योगमयी गति देखकर बड़े विस्मयके साथ उसकी प्रशंसा करते अपने-अपने लोकमें चले गये।

इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतारवीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि।
अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन् मनुष्यो भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत ॥

(श्रीमद्भागवत ११।३१।२८)

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इस प्रकार जो भक्त-भयहारी निखिल सौन्दर्य-माधुर्य-समुद्र श्रीकृष्णचन्द्रके अवतार-सम्बन्धी रुचिर पराक्रम और इस श्रीमद्भागवत तथा दूसरे पुराणोंमें वर्णित परमानन्दमयी बाललीला, कैशोरलीला आदिका संकीर्तन करता है, वह परमहंस मुनीन्द्रोंके अन्तिम प्राप्तव्य श्रीकृष्णके चरणोंमें पराभक्ति (प्रेम) प्राप्त करता है।

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

संक्षिप्त लीला-प्रसङ्गसहित

श्रीकृष्णवचनामृत

[महाभारत]

श्रीकृष्णका राजसूय यज्ञके लिये सम्मति देना तथा जरासंध-वधको आवश्यक बताना

एक समय देवर्षि नारद स्वर्गसे लौटकर राजा युधिष्ठिरसे मिले और उनसे उनके स्वर्गीय पिताका संदेश सुनाया कि तुम राजसूय यज्ञका अनुष्ठान करो। राजाने अपने पास आने-जानेवाले राजाओं और मन्त्रियोंसे इसके विषयमें पूछा। सबने एक स्वरसे समर्थन करते हुए राजाको उस यज्ञके लिये उत्साहित किया। तदनन्तर युधिष्ठिरने दूत भेजकर भगवान् श्रीकृष्णको बुलवाया और उनसे इस यज्ञके विषयमें सलाह पूछी—'श्रीकृष्ण! मैं राजसूय यज्ञ करना चाहता हूँ; परंतु वह केवल चाहने भरसे ही पूरा नहीं हो सकता। जिस उपायसे उस यज्ञकी पूर्ति हो सकती है, वह सब आपको ही ज्ञात है। जिसमें सब कुछ सम्भव है अर्थात् जो सब कुछ कर सकता है, जिसकी सर्वत्र पूजा होती है तथा जो सर्वेश्वर होता है, वही राजा राजसूय यज्ञ सम्पन्न कर सकता है। मेरे सब सुहृद् एकत्र होकर मुझसे वही राजसूय यज्ञ करनेके लिये कहते हैं; परंतु इसके विषयमें अन्तिम निश्चय तो आपके कहनेसे ही होगा। कुछ लोग प्रेम-सम्बन्धके नाते ही मेरे दोषों या त्रुटियोंको नहीं बताते हैं। दूसरे लोग स्वार्थवश वही बात कहते हैं, जो मुझे प्रिय लगे। कुछ लोग जो अपने लिये हितकर है, उसीको मेरे लिये भी प्रिय एवं हितकर समझ बैठते हैं। इस प्रकार अपने-अपने प्रयोजनको लेकर प्रायः लोगोंकी भिन्न-भिन्न बातें देखी जाती हैं। परंतु आप उपर्युक्त सभी हेतुओंसे एवं काम-क्रोधसे रहित होकर (अपने स्वरूपमें स्थित हैं। अतः) इस लोकमें मेरे लिये जो उत्तम हित कारक एवं करने योग्य हो, उसको ठीक-ठीक बतानेकी कृपा करें।' इसके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्ण महापराक्रमी जरासंध और उसके साथी तथा अनुगत शिशुपाल, दन्तवक्र, करभ, मेघवाहन, भगदत्त, पौण्ड्रक, भीष्मक, शूरसेन आदि राजाओंके तथा अपने पक्षके राजाओं एवं वीरोंका वर्णन करते हुए बोले—

बंदी राजाओंको छुड़ाये और अत्याचारी जरासंधका निधन किये बिना राजसूय यज्ञ सफल नहीं हो सकेगा

स त्वं सम्राड्गुणैर्युक्तः सदा भरतसत्तम।
क्षत्रे सम्राजमात्मानं कर्तुमर्हसि भारत॥
न तु शक्यं जरासंधे जीवमाने महाबले।
राजसूयस्त्वयावाप्तुमेषा राजन् मतिर्मम॥
तेन रुद्धा हि राजानः सर्वे जित्वा गिरिव्रजे।
कन्दरे पर्वतेन्द्रस्य सिंहेनेव महाद्विपाः॥
स हि राजा जरासंधो यियक्षुर्वसुधाधिपैः।
महादेवं महात्मानमुमापतिमरिंदम॥
आराध्य तपसोग्रेण निर्जितास्तेन पार्थिवाः।
प्रतिज्ञायाश्च पारं स गतः पार्थिवसत्तम॥
स हि निर्जित्य निर्जित्य पार्थिवान् पृतनागतान्।
पुरमानीय बद्ध्वा च चकार पुरुषव्रजम्॥
वयं चैव महाराज जरासंधभयात् तदा।
मथुरां सम्परित्यज्य गता द्वारवतीं पुरीम्॥
यदि त्वेनं महाराज यज्ञं प्राप्तुमभीप्ससि।
यतस्व तेषां मोक्षाय जरासंधवधाय च॥
समारम्भो न शक्योऽयमन्यथा कुरुनन्दन।
राजसूयश्च कार्त्स्न्येन कर्तुं मतिमतां वर॥
(जरासंधवधोपायश्चिन्त्यतां भरतर्षभ।
तस्मिन् जिते जितं सर्वं सकलं पार्थिवं बलम्॥)
इत्येषा मे मती राजन् यथा वा मन्यसेऽनघ।
एवंगते ममाचक्ष्व स्वयं निश्चित्य हेतुभिः॥

(महाभारत सभा० १४। ६१—७०)

'भरतवंशशिरोमणे युधिष्ठिर ! आप सदा ही सम्राट्के गुणोंसे युक्त हैं। अतः भारत ! आपको क्षत्रियसमाजमें अपनेको सम्राट् बना लेना चाहिये। किंतु राजन् ! मेरी सम्मति यह है कि जबतक महाबली जरासंध जीवित है, तबतक आप राजसूय यज्ञ पूर्ण नहीं कर सकते। उसने सब राजाओंको जीतकर गिरिव्रजमें इस प्रकार कैद कर रक्खा है, जैसे मानो सिंहने किसी महान् पर्वतकी गुफामें बड़े-बड़े गजराजोंको रोक रक्खा हो। शत्रुदमन ! राजा जरासंधने उमावल्लभ महात्मा महादेवजीकी उग्र तपस्याके द्वारा आराधना करके एक विशेष प्रकारकी शक्ति प्राप्त कर ली है; इसीलिये वे सभी राजा उससे परास्त हो गये हैं। वह राजाओंकी बलि देकर एक (घोर तामस) यज्ञ करना चाहता है। नृपश्रेष्ठ ! वह अपनी प्रतिज्ञा प्रायः पूरी कर चुका है; क्योंकि उसने सेनाके साथ आये हुए राजाओंको एक-एक करके जीता है और अपनी राजधानीमें लाकर उन्हें कैद करके राजाओंका बहुत बड़ा समुदाय एकत्र कर लिया है। महाराज ! उस समय हम भी जरासंधके भयसे ही पीड़ित हो मथुराको छोड़कर द्वारकापुरीमें चले गये थे (और अबतक वहीं निवास करते हैं)। राजन् ! यदि आप इस यज्ञको पूर्णरूपसे सम्पन्न करना चाहते हैं तो उन कैदी राजाओंको छुड़ाने और जरासंधको मारनेका प्रयत्न कीजिये। बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कुरुनन्दन ! ऐसा किये बिना राजसूय यज्ञका आयोजन पूर्णरूपसे सफल न हो सकेगा। भरतश्रेष्ठ ! आप जरासंधके वधका उपाय सोचिये। उसके जीत लिये जानेपर समस्त भूपालोंकी सेनाओंपर विजय प्राप्त हो जायगी। निष्पाप नरेश ! मेरा मत तो यही है, फिर आप जैसा उचित समझें, करें। ऐसी दशामें स्वयं हेतु और युक्तियोंद्वारा कुछ निश्चय करके मुझे बताइये।'

जरासंधकी शक्तिमत्ताका वर्णन

युधिष्ठिर बोले—माधव ! जब आप ही जरासंधसे सशङ्कित हैं, तब मैं उसके सामने अपनेको कदापि बलवान् नहीं मान सकता। बताइये, आपसे, बलरामजीसे, भीमसेनसे अथवा अर्जुनसे वह मारा जा सकता है, या नहीं ?

भीमसेनने कहा—जो आलस्य त्यागकर उत्तम युक्ति एवं नीतिसे काम लेता है, वह दुर्बल होनेपर भी बलवान् शत्रुको जीत लेता है और अपने लिये हितकर एवं अभीष्ट अर्थ प्राप्त करता है। श्रीकृष्णमें नीति है, मुझमें बल है और अर्जुनमें विजयकी शक्ति है; अतः हम तीनों मिलकर मगधराजपर अवश्य विजय प्राप्त करेंगे।

सम्राट्-पदप्राप्तिके पाँच गुण—शत्रु-विजय, प्रजापालन, तपःशक्ति, धन-समृद्धि और उत्तम नीति

श्रीकृष्ण उवाच

अर्थानारभते बालो नानुबन्धमवेक्षते।
तस्मादरिं न मृष्यन्ति बालमर्थपरायणम् ॥
जित्वा जय्यान् यौवनाश्विः पालनाच्च भगीरथः।
कार्तवीर्यस्तपोवीर्याद् बलात् तु भरतो विभुः॥
ऋद्ध्या मरुत्तस्तान् पञ्च सम्राजस्त्वनुशुश्रुम।
साम्राज्यमिच्छतस्ते तु सर्वाकारं युधिष्ठिर ॥
निग्राह्यलक्षणं प्राप्तिर्धर्मार्थनयलक्षणैः।
बार्हद्रथो जरासंधस्तद् विद्धि भरतर्षभ।
न चैनमनुरुद्ध्यन्ते कुलान्येकशतं नृपाः।
तस्मादिह बलादेव साम्राज्यं कुरुते हि सः॥
रत्नभाजो हि राजानो जरासंधमुपासते।
न च तुष्यति तेनापि बाल्यादनयमास्थितः॥
मूर्धाभिषिक्तं नृपतिं प्रधानपुरुषो बलात्।
आदत्ते न च नो दृष्टोऽभागः पुरुषतः क्वचित्॥
एवं सर्वान् वशे चक्रे जरासंधः शतावरान्।
तं दुर्बलतरो राजा कथं पार्थ उपैष्यति॥
प्रोक्षितानां प्रमृष्टानां राज्ञां पशुपतेर्गृहे।
पशूनामिव का प्रीतिर्जीविते भरतर्षभ॥

क्षत्रियः शस्त्रमरणो यदा भवति सत्कृतः ।
ततः स्म मागधं संख्ये प्रतिबाधेम यद् वयम् ॥
षडशीतिः समानीताः शेषा राजंश्चतुर्दश ।
जरासंधेन राजानस्ततः क्रूरं प्रवत्स्यते ॥
प्राप्नुयात् स यशो दीप्तं तत्र यो विघ्नमाचरेत् ।
जयेद् यश्च जरासंधं स सम्राण्नियतं भवेत् ॥
(महाभारत सभा० १५ । १४—२५)

श्रीकृष्णने कहा—राजन् ! अज्ञानी मनुष्य बड़े-बड़े कार्योंका आरम्भ तो कर देता है, परंतु उनके परिणामकी ओर नहीं देखता । अतः केवल अपने स्वार्थ-साधनमें लगे हुए विवेकशून्य शत्रुके व्यवहारको वीर पुरुष नहीं सह सकते । युवनाश्वके पुत्र मान्धाताने जीतने योग्य शत्रुओंको जीतकर सम्राट्‌का पद प्राप्त किया था । भगीरथ प्रजाका पालन करनेसे, कार्तवीर्य (सहस्रबाहु अर्जुन) तपोबलसे तथा राजा भरत स्वाभाविक बलसे सम्राट् हुए थे । इसी प्रकार राजा मरुत्त अपनी समृद्धिके प्रभावसे सम्राट् बने थे । अबतक उन पाँच सम्राटोंका ही नाम हम सुनते आ रहे हैं । युधिष्ठिर ! वे मान्धाता आदि एक-एक गुणसे ही सम्राट् हो सके थे; परंतु आप तो सम्पूर्णरूपसे सम्राट्‌पद प्राप्त करना चाहते हैं । साम्राज्य-प्राप्तिके जो पाँच गुण—शत्रु-विजय, प्रजापालन, तपः-शक्ति, धन-समृद्धि और उत्तम नीति है, उन सबसे आप सम्पन्न हैं । परंतु भरतश्रेष्ठ ! आपके मार्गमें बृहद्रथका पुत्र जरासंध बाधक है, यह आपको जान लेना चाहिये । क्षत्रियोंके जो एक सौ कुल हैं, वे कभी उसका अनुसरण नहीं करते । अतः वह बलसे ही अपना साम्राज्य स्थापित कर रहा है । जो रत्नोंके अधिपति हैं, ऐसे राजालोग (धन देकर) जरासंधकी उपासना करते हैं, परंतु वह उससे भी संतुष्ट नहीं होता । अपनी विवेकशून्यताके कारण अन्यायका आश्रय ले उनपर अत्याचार ही करता है । आजकल वह प्रधान पुरुष बनकर मूर्धाभिषिक्त राजाको बलपूर्वक बंदी बना लेता है । जिनका विधिपूर्वक राज्यपर अभिषेक हुआ है, ऐसे पुरुषोंमेंसे कहीं किसी एकको भी हमने ऐसा नहीं देखा, जिसे उसने बलिका भाग न बना लिया हो—कैदमें न डाल रक्खा हो । इस प्रकार जरासंधने लगभग सौ राजकुलोंके राजाओंमेंसे कुछको छोड़कर सबको अपने वशमें कर लिया है । कुन्तीनन्दन ! कोई अत्यन्त दुर्बल राजा उससे भिड़नेका साहस कैसे करेगा ? भरतश्रेष्ठ ! रुद्रदेवताको बलि देनेके लिये जल छिड़ककर एवं मार्जन करके शुद्ध किये हुए पशुओंकी भाँति जो पशुपतिके मन्दिरमें कैद हैं, उन राजाओंको अब अपने जीवनमें क्या प्रीति रह गयी है ? क्षत्रिय जब युद्धमें अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा मारा जाता है, तब यह उसका सत्कार है । अतः हमलोग जरासंधको द्वन्द्व-युद्धमें मार डालें । राजन् ! जरासंधने सौमेंसे छियासी (प्रतिशत) राजाओंको तो कैद कर लिया है, केवल चौदह (प्रतिशत) शेष हैं । उनको भी बंदी बनानेके पश्चात् वह क्रूर कर्ममें प्रवृत्त होगा । जो उसके इस कर्ममें विघ्न डालेगा, वह उज्ज्वल यशका भागी होगा तथा जो जरासंधको जीत लेगा, वह निश्चय ही सम्राट् होगा ।

श्रीकृष्णद्वारा अर्जुनकी बातका अनुमोदन तथा युधिष्ठिरको जरासंधकी उत्पत्तिका प्रसंग सुनाना

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण ! मैं सम्राट्के गुणोंको प्राप्त करनेकी इच्छा रखकर स्वार्थ-साधनमें तत्पर हो केवल साहसके भरोसे आपलोगोंको जरासंधके पास कैसे भेज दूँ ?

भीमसेन और अर्जुन मेरे दोनों नेत्र हैं और जनार्दन ! आपको मैं अपना मन मानता हूँ। अपने मन और नेत्रोंको खो देनेपर मेरा यह जीवन कैसा हो जायगा ?

अर्जुनने कहा—राजन् ! धनुष, शस्त्र, बाण, पराक्रम, श्रेष्ठ सहायक, भूमि, यश और बलकी प्राप्ति बड़ी कठिनाईसे होती है; किंतु ये सभी दुर्लभ वस्तुएँ मुझे अपनी इच्छाके अनुकूल प्राप्त हुई हैं। अनुभवी विद्वान् उत्तम कुलमें जन्मकी बड़ी प्रशंसा करते हैं; परंतु बलके समान वह भी नहीं है। मुझे तो बल-पराक्रम ही श्रेष्ठ जान पड़ता है। यदि हम राजसूय यज्ञकी सिद्धिके लिये जरासंधका विनाश तथा कैदमें पड़े हुए राजाओंकी रक्षा कर सकें तो इससे उत्तम और क्या हो सकता है ? यदि हम यज्ञका आरम्भ नहीं करते हैं तो निश्चय ही हमारी अयोग्यता एवं दुर्बलता प्रकट होती है; अतः राजन् ! सुनिश्चित गुणकी उपेक्षा करके आप निर्गुणताका कलङ्क क्यों स्वीकार कर रहे हैं ?

अत्यन्त बलवान् शत्रुपर विजय प्राप्त करनेकी रणनीति

वासुदेव उवाच

जातस्य भारते वंशे तथा कुन्त्याः सुतस्य च।
या वै युक्ता मतिः सेयमर्जुनेन प्रदर्शिता ॥
न स्म मृत्युं वयं विद्म रात्रौ वा यदि वा दिवा।
न चापि कंचिदमरमयुद्धेनानुशुश्रुम ॥
एतावदेव पुरुषैः कार्यं हृदयतोषणम्।
नयेन विधिदृष्टेन यदुपक्रमते परान् ॥
सुनयस्यानपायस्य संयोगे परमः क्रमः।
संगत्या जायतेऽसाम्यं साम्यं च न भवेद् द्वयोः ॥
अनयस्यानुपायस्य संयुगे परमः क्षयः।
संशयो जायते साम्याज्जयश्च न भवेद् द्वयोः ॥
ते वयं नयमास्थाय शत्रुदेहसमीपगाः।
कथमन्तं न गच्छेम वृक्षस्येव नदीरयाः ॥
पररन्ध्रे पराक्रान्ताः स्वरन्ध्रावरणे स्थिताः।
व्यूढानीकैरतिबलैर्न युद्धेदरिभिः सह।
इति बुद्धिमतां नीतिस्तन्ममापीह रोचते ॥
अनवद्या ह्यसम्बुद्धाः प्रविष्टाः शत्रुसद्म तत्।
शत्रुदेहमुपाक्रम्य तं कामं प्राप्नुयामहे ॥
एको ह्येव श्रियं नित्यं बिभर्ति पुरुषर्षभः।
अन्तरात्मेव भूतानां तत्क्षयं नैव लक्षये ॥
अथवैनं निहत्याजौ शेषेणापि समाहताः।
प्राप्नुयाम ततः स्वर्गं ज्ञातित्राणपरायणाः ॥

(महाभारत सभा० १७। १—१०)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजन् ! भरतवंशमें उत्पन्न पुरुष और कुन्ती-जैसी माताके पुत्रकी जैसी बुद्धि होनी चाहिये, अर्जुनने यहाँ उसीका परिचय दिया है। महाराज ! हमलोग यह नहीं जानते कि मौत कब आयेगी ? रातमें आयेगी या दिनमें ? (क्योंकि उसके नियत समयका ज्ञान किसीको नहीं है।) हमने यह भी नहीं सुना है कि युद्ध न करनेके कारण कोई अमर हो गया हो। अतः वीर पुरुषोंका इतना ही कर्तव्य है कि वे अपने हृदयके संतोषके लिये नीतिशास्त्रमें बतायी हुई नीतिके अनुसार शत्रुओंपर आक्रमण करें। दैव आदिकी प्रतिकूलतासे रहित अच्छी नीति एवं सलाह प्राप्त होनेपर आरम्भ किया हुआ कार्य पूर्णरूपसे सफल होता है। शत्रुके साथ भिड़नेपर ही दोनों पक्षोंका अन्तर ज्ञात होता है। दोनों दल सभी बातोंमें समान ही हों, ऐसा सम्भव नहीं। जिसने अच्छी नीति नहीं अपनायी है और उत्तम उपायसे काम नहीं लिया है, उसका युद्धमें सर्वथा विनाश होता है। यदि दोनों पक्षोंमें समानता हो, तो संशय ही रहता है तथा दोनोंमेंसे किसीकी भी जय अथवा पराजय नहीं होती। जब हमलोग नीतिका आश्रय लेकर शत्रुके शरीरके निकटतक पहुँच जायँगे, तब जैसे नदीका वेग किनारेके वृक्षको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार हम शत्रुका अन्त

क्यों न कर डालेंगे ? हम अपने छिद्रोंको छिपाये रखकर शत्रुके छिद्रको देखेंगे और अवसर मिलते ही उसपर बलपूर्वक आक्रमण कर देंगे। जिनकी सेनाएँ मोर्चा बाँधकर खड़ी हों और जो अत्यन्त बलवान् हों, ऐसे शत्रुओंके साथ (सम्मुख होकर) युद्ध नहीं करना चाहिये; यह बुद्धिमानोंकी नीति है। यही नीति यहाँ मुझे भी अच्छी लगती है। यदि हम छिपे-छिपे शत्रुके घरतक पहुँच जायँ तो यह हमारे लिये कोई निन्दाकी बात नहीं होगी। फिर हम शत्रुके शरीरपर आक्रमण करके अपना काम बना लेंगे। यह पुरुषोंमें श्रेष्ठ जरासंध प्राणियोंके भीतर स्थित आत्माकी भाँति सदा अकेला ही साम्राज्य-लक्ष्मीका उपभोग करता है; अतः उसका और किसी उपायसे नाश होता नहीं दिखायी देता। उसके विनाशके लिये हमें स्वयं प्रयत्न करना होगा। अथवा यदि जरासंधको युद्धमें मारकर उसके पक्षमें रहनेवाले शेष सैनिकोंद्वारा हम भी मारे गये, तो भी हमें कोई हानि नहीं है। अपने जातिभाइयोंकी रक्षामें संलग्न होनेके कारण हमें स्वर्गकी ही प्राप्ति होगी।

युधिष्ठिरने पूछा—श्रीकृष्ण ! यह जरासंध कौन है ? उसका बल और पराक्रम कैसा है, जो प्रज्वलित अग्निके समान आपका स्पर्श करके भी पतंगके समान जलकर भस्म नहीं हो गया ?

जरासंधके जन्म और बलका परिचय

श्रीकृष्ण उवाच

शृणु राजञ्जरासंधो यद्वीर्यो यत्पराक्रमः।
यथा चोपेक्षितोऽस्माभिर्बहुशः कृतविप्रियः॥
अक्षौहिणीनां तिसृणां पतिः समरदर्पितः।
राजा बृहद्रथो नाम मगधाधिपतिर्बली॥
रूपवान् वीर्यसम्पन्नः श्रीमानतुलविक्रमः।
नित्यं दीक्षाङ्किततनुः शतक्रतुरिवापरः॥
तेजसा सूर्यसंकाशः क्षमया पृथिवीसमः।
यमान्तकसमः क्रोधे श्रिया वैश्रवणोपमः॥
तस्याभिजनसंयुक्तैर्गुणैर्भरतसत्तम।
व्याप्तेयं पृथिवी सर्वा सूर्यस्येव गभस्तिभिः॥
स काशिराजस्य सुते यमजे भरतर्षभ।
उपयेमे महावीर्यो रूपद्रविणसंयुते।
तयोश्चकार समयं मिथः स पुरुषर्षभः॥
नातिवर्तिष्य इत्येवं पत्नीभ्यां संनिधौ तदा।

(महाभारत सभा० १७। १२—१७½)

श्रीकृष्णने कहा—राजन् ! जरासंधका बल और पराक्रम कैसा है तथा अनेक बार हमारा अप्रिय करनेपर भी हमलोगोंने क्यों उसकी उपेक्षा कर दी, यह सब बता रहा हूँ, सुनिये। मगधदेशमें बृहद्रथ नामसे प्रसिद्ध एक बलवान् राजा राज्य करते थे। वे तीन अक्षौहिणी सेनाओंके स्वामी और युद्धमें बड़े अभिमानके साथ लड़नेवाले थे। राजा बृहद्रथ बड़े ही रूपवान्, बलवान्, धनवान् और अनुपम पराक्रमी थे। उनका शरीर दूसरे इन्द्रकी भाँति सदा यज्ञकी दीक्षाके चिह्नोंसे भी सुशोभित होता रहता था। वे तेजमें सूर्य, क्षमामें पृथ्वी, क्रोधमें यमराज और धन-सम्पत्तिमें कुबेरके समान थे। भरतश्रेष्ठ ! जैसे सूर्यकी किरणोंसे यह सारी पृथ्वी आच्छादित हो जाती है, उसी प्रकार उनके उत्तम कुलोचित सद्गुणोंसे समस्त भूमण्डल व्याप्त हो रहा था—सर्वत्र उनके गुणोंकी चर्चा एवं प्रशंसा होती रहती थी। भरतकुलभूषण ! महापराक्रमी राजा बृहद्रथने काशिराजकी जुड़वीं कन्याओंके साथ, जो अपनी रूप-सम्पत्तिसे अपूर्व शोभा पा रही थीं, विवाह किया और उन नरश्रेष्ठने एकान्तमें अपनी दोनों पत्नियोंके समीप यह प्रतिज्ञा की कि मैं तुम दोनोंके साथ कभी विषम व्यवहार नहीं करूँगा (अर्थात् दोनोंके प्रति समानरूपसे मेरा प्रेमभाव बना रहेगा)।

विषयेषु निमग्नस्य तस्य यौवनमभ्यगात्।
न च वंशकरः पुत्रस्तस्याजायत कश्चन॥

मङ्गलैर्बहुभिर्होमैः पुत्रकामाभिरिष्टिभिः ।
नाससाद नृपश्रेष्ठः पुत्रं कुलविवर्धनम् ॥
अथ काक्षीवतः पुत्रं गौतमस्य महात्मनः ।
शुश्राव तपसि श्रान्तमुदारं चण्डकौशिकम् ॥
यदृच्छयाऽऽगतं तं तु वृक्षमूलमुपाश्रितम् ।
पत्नीभ्यां सहितो राजा सर्वरत्नैरतोषयत् ॥
(बृहद्रथं च स ऋषिर्यथावत् प्रत्यनन्दत ।
उपविष्टश्च तेनाथ अनुज्ञातो महात्मना ॥
तमपृच्छत् तदा विप्रः किमागमनमित्यथ ।
पौरैरनुगतस्यैव पत्नीभ्यां सहितस्य च ॥
स उवाच मुनिं राजा भगवन् नास्ति मे सुतः ।
अपुत्रस्य वृथा जन्म इत्याहुर्मुनिसत्तम ॥
तादृशस्य हि राज्येन वृद्धत्वे किं प्रयोजनम् ।
सोऽहं तपश्चरिष्यामि पत्नीभ्यां सहितो वने ॥
नाप्रजस्य मुने कीर्तिः स्वर्गश्चैवाक्षयो भवेत् ।
एवमुक्तस्य राज्ञा तु मुनेः कारुण्यमागतम् ॥)
तमब्रवीत् सत्यधृतिः सत्यवागृषिसत्तमः ।
परितुष्टोऽस्मि राजेन्द्र वरं वरय सुव्रत ॥
ततः सभार्यः प्रणतस्तमुवाच बृहद्रथः ।
पुत्रदर्शननैराश्याद् बाष्पसंदिग्धया गिरा ॥

(महाभारत सभा० १७ । २०–२५)

विषयोंमें डूबे हुए राजाकी सारी जवानी बीत गयी, परंतु उन्हें कोई वंश चलानेवाला पुत्र नहीं प्राप्त हुआ। उन श्रेष्ठ नरेशने बहुत-से माङ्गलिक कृत्य होम और पुत्रेष्टि-यज्ञ कराये, तो भी उन्हें वंशकी वृद्धि करनेवाले पुत्रकी प्राप्ति नहीं हुई। एक दिन उन्होंने सुना कि गौतम-गोत्रीय महात्मा काक्षीवान्‌के पुत्र परम उदार चण्डकौशिक मुनि तपस्यासे उपरत होकर अकस्मात् इधर आ गये हैं और एक वृक्षके नीचे बैठे हैं। यह समाचार पाकर राजा बृहद्रथ अपनी दोनों पत्नियों (एवं पुरवासियों-) के साथ उनके पास गये तथा सब प्रकारके रत्नों (मुनिजनोचित उत्कृष्ट वस्तुओं-) की भेंट देकर उन्हें संतुष्ट किया। महर्षिने भी यथोचित बर्तावद्वारा बृहद्रथको प्रसन्न किया। उन महात्माकी आज्ञा पाकर राजा उनके निकट बैठे। उस समय ब्रह्मर्षि चण्डकौशिकने उनसे पूछा—'राजन्! अपनी दोनों पत्नियों और पुरवासियोंके साथ यहाँ तुम्हारा आगमन किस उद्देश्यसे हुआ है?' तब राजाने मुनिसे कहा—'भगवन्! मेरे कोई पुत्र नहीं है। मुनिश्रेष्ठ! लोग कहते हैं कि पुत्रहीन मनुष्यका जन्म व्यर्थ है। इस बुढ़ापेमें पुत्रहीन रहकर मुझे राज्यसे क्या प्रयोजन है? इसलिये अब मैं दोनों पत्नियोंके साथ तपोवनमें रहकर तपस्या करूँगा। मुने! संतानहीन मनुष्यको न तो इस लोकमें कीर्ति प्राप्त होती है और न परलोकमें अक्षय स्वर्ग ही प्राप्त होता है।' राजाके ऐसा कहनेपर महर्षिको दया आ गयी। तब धैर्यसे सम्पन्न और सत्यवादी मुनिवर चण्डकौशिकने राजा बृहद्रथसे कहा—'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले राजेन्द्र! मैं तुमपर संतुष्ट हूँ। तुम इच्छानुसार वर माँगो।' यह सुनकर राजा बृहद्रथ अपनी दोनों रानियोंके साथ मुनिके चरणोंमें पड़ गये और पुत्रदर्शनसे निराश होनेके कारण नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए गद्‌गद वाणीमें बोले।

राजोवाच

भगवन् राज्यमुत्सृज्य प्रस्थितोऽहं तपोवनम् ।
किं वरेणाल्पभाग्यस्य किं राज्येनाप्रजस्य मे ॥

(महाभारत सभा० १७ । २६)

राजाने कहा—भगवन्! मैं तो अब राज्य छोड़कर तपोवनकी ओर चल पड़ा हूँ। मुझ अभागे और संतानहीनको वर अथवा राज्यकी क्या आवश्यकता?

श्रीकृष्ण उवाच

एतच्छ्रुत्वा मुनिर्ध्यानमगमत् क्षुभितेन्द्रियः ।
तस्यैव चाम्रवृक्षस्यच्छायायां समुपाविशत् ॥

तस्योपविष्टस्य मुनेरुत्सङ्गे निपपात ह ।
अवातमशुकादष्टमेकमाम्रफलं किल ॥
तत् प्रगृह्य मुनिश्रेष्ठो हृदयेनाभिमन्त्र्य च ।
राज्ञे ददावप्रतिमं पुत्रसम्प्राप्तिकारणम् ॥
उवाच च महाप्राज्ञस्तं राजानं महामुनिः ।
गच्छ राजन् कृतार्थोऽसि निवर्तस्व नराधिप ॥
(एष ते तनयो राजन् मा तप्सीस्त्वं तपो वने ।
प्रजाः पालय धर्मेण एष धर्मो महीक्षिताम् ॥
यजस्व विविधैर्यज्ञैरिन्द्रं तर्पय चेन्दुना ।
पुत्रं राज्ये प्रतिष्ठाप्य तत आश्रममाव्रज ॥
अष्टौ वरान् प्रयच्छामि तव पुत्रस्य पार्थिव ।
ब्रह्मण्यतामजेयत्वं युद्धेषु च तथा रतिम् ॥
प्रियातिथेयतां चैव दीनानामन्ववेक्षणम् ।
तथा बलं च सुमहल्लोके कीर्तिं च शाश्वतीम् ॥
अनुरागं प्रजानां च ददौ तस्मै स कौशिकः ।)
एतच्छ्रुत्वा मुनेर्वाक्यं शिरसा प्रणिपत्य च ।
मुनेः पादौ महाप्राज्ञः स नृपः स्वगृहं गतः ॥

(महाभारत सभा० १७ । २७—३१)

श्रीकृष्ण कहते हैं—राजाका यह कातर वचन सुनकर मुनिकी इन्द्रियाँ क्षुब्ध हो गयीं (उनका हृदय पिघल गया) । तब वे ध्यानस्थ हो गये और उसी आम्रवृक्षकी छायामें बैठे रहे । उसी समय वहाँ बैठे हुए मुनिकी गोदमें एक आमका फल गिरा । वह न हवाके चलनेसे गिरा था, न किसी तोतेने ही उस फलमें अपनी चोंच गड़ायी थी । मुनिश्रेष्ठ चण्डकौशिकने उस अनुपम फलको हाथमें ले लिया और उसे मन-ही-मन अभिमन्त्रित करके पुत्रकी प्राप्ति करानेके लिये राजाको दे दिया । तत्पश्चात् उन महाज्ञानी महामुनिने राजासे कहा—'राजन् ! तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो गया । नरेश्वर ! अब तुम अपनी राजधानीको लौट जाओ । महाराज ! यह फल तुम्हें पुत्रप्राप्ति करायेगा, अब तुम वनमें जाकर तपस्या न करो; धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करो । यही राजाओंका धर्म है । नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करो और देवराज इन्द्रको सोमरससे तृप्त करो । फिर पुत्रको राज्यसिंहासनपर बिठाकर वानप्रस्थाश्रममें आ जाना । भूपाल ! मैं तुम्हारे पुत्रके लिये आठ वर देता हूँ—वह ब्राह्मणभक्त होगा; युद्धमें अजेय होगा, उसकी युद्धविषयक रुचि कभी कम न होगी । वह अतिथियोंका प्रेमी होगा, दीन-दुखियोंपर उसकी सदा कृपा-दृष्टि बनी रहेगी, उसका बल महान् होगा, लोकमें उसकी अक्षय कीर्तिका विस्तार होगा और प्रजाजनोंपर उसका सदा स्नेह बना रहेगा ।' इस प्रकार चण्डकौशिक मुनिने उसके लिये ये आठ वर दिये । मुनिका यह वचन सुनकर उन परम बुद्धिमान् राजा बृहद्रथने उनके दोनों चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और अपने घरको लौट गये ।

यथासमयमाज्ञाय तदा स नृपसत्तमः ।
द्वाभ्यामेकं फलं प्रादात् पत्नीभ्यां भरतर्षभ ॥
ते तदाम्रं द्विधा कृत्वा भक्षयामासतुः शुभे ।
भावित्वादपि चार्थस्य सत्यवाक्यतया मुनेः ॥
तयोः समभवद् गर्भः फलप्राशनसम्भवः ।
ते च दृष्ट्वा स नृपतिः परां मुदमवाप ह ॥
अथ काले महाप्राज्ञ यथासमयमागते ।
प्रजायेतामुभे राजञ्छरीरशकले तदा ॥
एकाक्षिबाहुचरणे अर्धोदरमुखस्फिचे ।
दृष्ट्वा शरीरशकले प्रवेपतुरुभे भृशम् ॥
उद्विग्ने सह सम्मन्त्र्य ते भगिन्यौ तदाबले ।
सजीवे प्राणिशकले तत्यजाते सुदुःखिते ॥
तयोर्धात्र्यौ सुसंवीते कृत्वा ते गर्भसम्प्लवे ।
निर्गम्यान्तःपुरद्वारात् समुत्सृज्याभिजग्मतुः ॥

(महाभारत सभा० १७ । ३२—३८)

भरतश्रेष्ठ ! उन उत्तम नरेशने उचित कालका विचार करके दोनों पत्नियोंके लिये वह एक फल दे दिया । उन दोनों शुभस्वरूपा रानियोंने उस आमके दो

टुकड़े करके एक-एक टुकड़ा खा लिया। होनेवाली बात होकर ही रहती है, इसलिये तथा मुनिकी सत्यवादिताके प्रभावसे वह फल खानेके कारण दोनों रानियोंके गर्भ रह गये। उन्हें गर्भवती हुई देखकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई। महाप्राज्ञ युधिष्ठिर! प्रसवकाल पूर्ण होनेपर उन दोनों रानियोंने यथासमय अपने गर्भसे शरीरका एक-एक टुकड़ा पैदा किया। प्रत्येक टुकड़ेमें एक आँख, एक हाथ, एक पैर, आधा पेट, आधा मुँह और कटिके नीचेका आधा भाग था। एक शरीरके उन टुकड़ोंको देखकर वे दोनों भयके मारे थर-थर काँपने लगीं। उनका हृदय उद्विग्न हो उठा; अबला ही तो थीं। उन दोनों बहिनोंने अत्यन्त दुखी होकर परस्पर सलाह करके उन दोनों टुकड़ोंको, जिनमें जीव तथा प्राण विद्यमान थे, त्याग दिया। उन दोनोंकी धायें गर्भके उन टुकड़ोंको कपड़ेसे ढककर अन्तःपुरके दरवाजेसे बाहर निकलीं और चौराहेपर फेंककर चली गयीं।

ते चतुष्पथनिक्षिप्ते जरा नामाथ राक्षसी।
जग्राह मनुजव्याघ्र मांसशोणितभोजना ॥
कर्तुकामा सुखवहे शकले सा तु राक्षसी।
संयोजयामास तदा विधानबलचोदिता ॥
ते समानीतमात्रे तु शकले पुरुषर्षभ।
एकमूर्तिधरो वीरः कुमारः समपद्यत ॥
ततः सा राक्षसी राजन् विस्मयोत्फुल्ललोचना।
न शशाक समुद्वोढुं वज्रसारमयं शिशुम् ॥
बालस्ताम्रतलं मुष्टिं कृत्वा चास्ये निधाय सः।
प्राक्रोशदतिसंरब्धः सतोय इव तोयदः ॥
तेन शब्देन सम्भ्रान्तः सहसान्तःपुरे जनः।
निर्जगाम नरव्याघ्र राज्ञा सह परंतप ॥
ते चाबले परिम्लाने पयःपूर्णपयोधरे।
निराशे पुत्रलाभाय सहसैवाभ्यगच्छताम् ॥
अथ दृष्ट्वा तथाभूते राजानं चेष्टसंततिम्।
तं च बालं सुबलिनं चिन्तयामास राक्षसी ॥
नार्हामि विषये राज्ञो वसन्ती पुत्रगृद्धिनः।
बालं पुत्रमिमं हन्तुं धार्मिकस्य महात्मनः ॥
सा तं बालमुपादाय मेघलेखेव भास्करम्।
कृत्वा च मानुषं रूपमुवाच वसुधाधिपम् ॥

(महाभारत सभा० १७। ३९-४८)

पुरुषसिंह! चौराहेपर फेंके हुए उन टुकड़ोंको रक्त और मांस खानेवाली जरा नामकी एक राक्षसीने उठा लिया। विधाताके विधानसे प्रेरित होकर उस राक्षसीने उन दोनों टुकड़ोंको सुविधापूर्वक ले जाने योग्य बनानेकी इच्छासे उस समय जोड़ दिया। नरश्रेष्ठ! उन टुकड़ोंका परस्पर संयोग होते ही वह एक शरीरधारी वीर कुमार बन गया। राजन्! यह देखकर राक्षसीके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे। उसे वह शिशु वज्रके सार-तत्त्वका बना जान पड़ा। राक्षसी उसे उठाकर ले जानेमें असमर्थ हो गयी। उस बालकने अपने लाल हथेलीवाले हाथोंकी मुट्ठी बाँधकर मुँहमें डाल ली और अत्यन्त क्रुद्ध होकर जलसे भरे मेघकी भाँति गम्भीर स्वरसे रोना शुरू कर दिया। परंतप नरव्याघ्र! बालकके उस रोने-चिल्लानेके शब्दसे रनिवासकी सब स्त्रियाँ घबरा उठीं तथा राजाके साथ सहसा बाहर निकलीं। दूधसे भरे हुए स्तनोंवाली वे दोनों अबला रानियाँ भी, जो पुत्रप्राप्तिकी आशा छोड़ चुकी थीं, मलिनमुख हो सहसा बाहर निकल आयीं। उन दोनों रानियोंको उस प्रकार उदास, राजाको संतान पानेके लिये उत्सुक तथा उस बालकको अत्यन्त बलवान् देखकर राक्षसीने सोचा, 'मैं इस राजाके राज्यमें रहती हूँ। यह पुत्रकी इच्छा रखता है; अतः इस धर्मात्मा तथा महात्मा नरेशके बालक पुत्रकी हत्या करना मेरे लिये उचित नहीं है।' ऐसा विचारकर उस राक्षसीने मानवीका रूप धारण किया और जैसे मेघमाला सूर्यको धारण करे, उसी प्रकार वह उस बालकको गोदमें उठाकर भूपालसे बोली।

राक्षस्युवाच

बृहद्रथ सुतस्तेऽयं मया दत्तः प्रगृह्यताम् ।
तव पत्नीद्वये जातो द्विजातिवरशासनात् ।
धात्रीजनपरित्यक्तो मयायं परिरक्षितः ॥
(महाभारत सभा० १७ । ४९)

राक्षसीने कहा—बृहद्रथ ! यह तुम्हारा पुत्र है, जिसे मैंने तुम्हें दिया है । तुम इसे ग्रहण करो । ब्रह्मर्षिके वरदान एवं आशीर्वादसे तुम्हारी दोनों पत्नियोंके गर्भसे इसका जन्म हुआ है । धायोंने इसे घरके बाहर लाकर डाल दिया था; किंतु मैंने इसकी रक्षा की है ।

श्रीकृष्ण उवाच

ततस्ते भरतश्रेष्ठ काशिराजसुते शुभे ।
तं बालमभिपद्याशु प्रस्नवैरभ्यषिञ्चताम् ॥
ततः स राजा संहृष्टः सर्वं तदुपलभ्य च ।
अपृच्छद्धेमगर्भाभां राक्षसीं तामराक्षसीम् ॥
(महाभारत सभा० १७ । ५०-५१)

श्रीकृष्ण कहते हैं—भरतकुलभूषण ! तब काशिराजकी उन दोनों शुभलक्षणा कन्याओंने उस बालकको तुरंत गोदमें लेकर उसे स्तनोंके दूधसे सींच दिया । यह सब देख-सुनकर राजाके हर्षकी सीमा न रही । उन्होंने सुवर्णकी-सी कान्तिवाली उस राक्षसीसे, जो स्वरूपसे राक्षसी नहीं जान पड़ती थी, इस प्रकार पूछा—

राजोवाच

का त्वं कमलगर्भाभे मम पुत्रप्रदायिनी ।
कामया ब्रूहि कल्याणि देवता प्रतिभासि मे ॥
(महाभारत सभा० १७ । ५२)

राजाने कहा—कमलके भीतरी भागके समान मनोहर कान्तिवाली कल्याणी ! मुझे पुत्र प्रदान करनेवाली तुम कौन हो ? बताओ । मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि तुम इच्छानुसार विचरनेवाली कोई देवी हो ।

जरा राक्षसीका अपना परिचय देना और उसीके नामपर बालकका नामकरण होना

राक्षस्युवाच

जरा नामास्मि भद्रं ते राक्षसी कामरूपिणी ।
तव वेश्मनि राजेन्द्र पूजिता न्यवसं सुखम् ॥
गृहे गृहे मनुष्याणां नित्यं तिष्ठामि राक्षसी ।
गृहदेवीति नाम्ना वै पुरा सृष्टा स्वयंभुवा ॥
दानवानां विनाशाय स्थापिता दिव्यरूपिणी ।
यो मां भक्त्या लिखेत् कुड्ये सपुत्रां यौवनान्विताम्
गृहे तस्य भवेद् वृद्धिरन्यथा क्षयमाप्नुयात् ।
त्वद्गृहे तिष्ठमानाहं पूजिताहं सदा विभो ॥
लिखिता चैव कुड्येषु पुत्रैर्बहुभिरावृता ।
गन्धपुष्पैस्तथा धूपैर्भक्ष्यभोज्यैः सुपूजिता ॥
साहं प्रत्युपकारार्थं चिन्तयाम्यनिशं तव ।
तवेमे पुत्रशकले दृष्टवत्यस्मि धार्मिक ॥
संश्लेषिते मया दैवात् कुमारः समपद्यत ।
तव भाग्यान्महाराज हेतुमात्रमहं त्विह ॥
(तस्य बालस्य यत् कृत्यं तत् कुरुष्व नराधिप ।
मम नाम्ना च लोकेऽस्मिन् ख्यात एष भविष्यति॥)
मेरुं वा खादितुं शक्ता किं पुनस्तव बालकम् ।
गृहसम्पूजनात् तुष्टया मया प्रत्यर्पितस्तव ॥
(महाभारत सभा० १८ । १—८)

राक्षसीने कहा—राजेन्द्र ! तुम्हारा कल्याण हो । मेरा नाम जरा है । मैं इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली राक्षसी हूँ और तुम्हारे घरमें पूजित हो सुखपूर्वक रहती चली आयी हूँ । मैं मनुष्योंके घर-घरमें सदा मौजूद रहती हूँ । कहनेको तो मैं राक्षसी ही हूँ; किंतु पूर्वकालमें ब्रह्माजीने गृहदेवीके नामसे मेरी सृष्टि की थी और उन्होंने मुझे दानवोंके विनाशके लिये नियुक्त किया था । मैं दिव्य रूप धारण करनेवाली हूँ । जो अपने घरकी दीवारपर मुझे अनेक पुत्रोंसहित युवती स्त्रीके रूपमें भक्तिपूर्वक लिखता है (मेरा चित्र अङ्कित करता है),

उसके घरमें सदा वृद्धि होती है; अन्यथा उसे हानि उठानी पड़ती है। प्रभो! मैं तुम्हारे घरमें रहकर सदा पूजित होती चली आयी हूँ एवं तुम्हारे घरकी दीवारोंपर मेरा ऐसा चित्र अङ्कित किया गया है, जिसमें मैं अनेक पुत्रोंसे घिरी हुई खड़ी हूँ। उस चित्रके रूपमें मेरा गन्ध, पुष्प, धूप और भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंद्वारा भलीभाँति पूजन होता आ रहा है। अतः मैं उस पूजनके बदले तुम्हारा कोई उपकार करनेकी बात सदा सोचती रहती थी। धर्मात्मन्! मैंने तुम्हारे पुत्रके शरीरके इन दोनों टुकड़ोंको देखा और दोनोंको जोड़ दिया। महाराज! दैववश तुम्हारे भाग्यसे ही उन टुकड़ोंके जुड़नेसे यह राजकुमार प्रकट हो गया है। मैं तो इसमें केवल निमित्तमात्र बन गयी हूँ। राजन्! अब इस बालकके लिये जो आवश्यक संस्कार हैं, उन्हें करो। यह इस संसारमें मेरे ही नामसे विख्यात होगा। मुझमें सुमेरु पर्वतको भी निगल जानेकी शक्ति है; फिर तुम्हारे इस बच्चेको खा जाना कौन बड़ी बात है? किंतु तुम्हारे घरमें जो मेरी भलीभाँति पूजा होती आयी है, उसीसे संतुष्ट होकर मैंने तुम्हें यह बालक समर्पित किया है।

श्रीकृष्ण उवाच

एवमुक्त्वा तु सा राजंस्तत्रैवान्तरधीयत।
स संगृह्य कुमारं तं प्रविवेश गृहं नृपः॥
तस्य बालस्य यत् कृत्यं तच्चकार नृपस्तदा।
आज्ञापयच्च राक्षस्या मगधेषु महोत्सवम्॥
तस्य नामाकरोच्चैव पितामहसमः पिता।
जरया संधितो यस्माज्जरासंधो भवत्वयम्॥
सोऽवर्धत महातेजा मगधाधिपतेः सुतः।
प्रमाणबलसम्पन्नो हुताहुतिरिवानलः।
मातापित्रोर्नन्दिकरः शुक्लपक्षे यथा शशी॥

(महाभारत सभा० १८। ९—१२)

श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर जरा राक्षसी वहीं अन्तर्धान हो गयी और राजा उस बालकको लेकर अपने महलमें चले आये। उस समय राजाने उस बालकके जातकर्म आदि सभी आवश्यक संस्कार सम्पन्न किये और मगधदेशमें जरा राक्षसी (गृहदेवी) के पूजनका महान् उत्सव मनानेकी आज्ञा दी। ब्रह्माजीके समान प्रभावशाली राजा बृहद्रथने उस बालकका नाम रखते हुए कहा—'इसको जराने संधित किया (जोड़ा) है, इसलिये इसका नाम जरासंध होगा।' मगधराजका वह महातेजस्वी बालक माता-पिताको आनन्द प्रदान करते हुए आकार और बलसे सम्पन्न हो घीकी आहुति दी जानेसे प्रज्वलित हुई अग्नि और शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति दिनोंदिन बढ़ने लगा।

श्रीकृष्णका जरासंधपर विजयके लिये भीम तथा अर्जुनको धरोहरके रूपमें माँगना; युधिष्ठिरके अनुमोदन करनेपर श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेनकी मगध-यात्रा

शत्रुको भस्म करनेके लिये नीति, बल और सुरक्षा आवश्यक

वासुदेव उवाच

पतितौ हंसडिम्भकौ कंसश्च सगणो हतः।
जरासंधस्य निधने कालोऽयं समुपागतः॥
न शक्योऽसौ रणे जेतुं सर्वैरपि सुरासुरैः।
बाहुयुद्धेन जेतव्यः स इत्युपलभामहे॥
मयि नीतिर्बलं भीमे रक्षिता चावयोर्जयः।
मागधं साधयिष्याम इष्टिं त्रय इवाग्नयः॥
त्रिभिरासादितोऽस्माभिर्विजने स नराधिपः।
न संदेहो यथा युद्धमेकेनाप्युपयास्यति॥
अवमानाच्च लोभाच्च बाहुवीर्याच्च दर्पितः।
भीमसेनेन युद्धाय ध्रुवमप्युपयास्यति॥
अलं तस्य महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः।

लोकस्य समुदीर्णस्य निधनायान्तको यथा ॥
यदि मे हृदयं वेत्सि यदि ते प्रत्ययो मयि ।
भीमसेनार्जुनौ शीघ्रं न्यासभूतौ प्रयच्छ मे ॥
(महाभारत सभा० २० । १–७)

श्रीकृष्ण कहते हैं—धर्मराज ! जरासंधके मुख्य सहायक हंस और डिम्भक यमुनाजीमें डूब मरे । कंस भी अपने सेवकों और सहायकोंसहित कालके गालमें चला गया । अब जरासंधके नाशका यह उचित अवसर आ पहुँचा है । युद्धमें तो सम्पूर्ण देवता और असुर भी उसे जीत नहीं सकते, अतः मेरी समझमें यही आता है कि उसे बाहुयुद्धके द्वारा जीतना चाहिये । मुझमें नीति है, भीमसेनमें बल है और अर्जुन हम दोनोंकी रक्षा करनेवाले हैं; अतः जैसे तीन अग्नियाँ यज्ञकी सिद्धि करती हैं, उसी प्रकार हम तीनों मिलकर जरासंधके वधका काम पूरा कर लेंगे । जब हम तीनों एकान्तमें राजा जरासंधसे मिलेंगे, तब वह हम तीनोंमेंसे किसी एकके साथ द्वन्द्वयुद्ध करना स्वीकार कर लेगा; इसमें संदेह नहीं है । अपमानके भयसे, बड़े योद्धा भीमसेनके साथ लड़नेके लोभसे तथा अपने बाहुबलसे घमंडमें चूर होनेसे जरासंध निश्चय ही भीमसेनके साथ युद्ध करनेको उद्यत होगा । जैसे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत्के विनाशके लिये एक ही यमराज काफी हैं, उसी प्रकार महाबली महाबाहु भीमसेन जरासंधके वधके लिये पर्याप्त हैं । राजन् ! यदि आप मेरे हृदयको जानते हैं और यदि आपका मुझपर विश्वास है तो भीमसेन और अर्जुनको शीघ्र ही धरोहरके रूपमें मुझे दे दीजिये ।

युधिष्ठिर बोले—अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले शत्रुसूदन अच्युत ! आप ऐसी बात न कहें, न कहें । आप हम सब पाण्डवोंके स्वामी हैं, रक्षक हैं; हम सब लोग आपकी शरणमें हैं । गोविन्द ! आप जैसा कहते हैं, वह सब ठीक है । जिनकी राज्यलक्ष्मी विमुख हो चुकी है, उनके सम्मुख आप आते ही नहीं हैं । आपकी आज्ञाके अनुसार चलनेमात्रसे मैं यह मानता हूँ कि जरासंध मारा गया । समस्त राजा उसकी कैदसे छुटकारा पा गये और मेरा राजसूय यज्ञ भी सुसम्पन्न हो गया । जगन्नाथ ! पुरुषोत्तम ! आप सावधान होकर वही उपाय कीजिये, जिससे यह कार्य शीघ्र ही पूरा हो जाय । जैसे धर्म, काम और अर्थसे रहित रोगातुर मनुष्य अत्यन्त दुखी हो जीवनसे हाथ धो बैठता है, उसी प्रकार मैं भी आप तीनोंके बिना जीवित नहीं रह सकता । श्रीकृष्णके बिना अर्जुन और पाण्डुपुत्र अर्जुनके बिना श्रीकृष्ण नहीं रह सकते । इन दोनों कृष्णनामधारी वीरोंके लिये लोकमें कोई भी अजेय नहीं है; ऐसा मेरा विश्वास है । यह बलवानोंमें श्रेष्ठ महायशस्वी कान्तिमान् वीर भीमसेन भी आप दोनोंके साथ रहकर क्या नहीं कर सकता ? यदुश्रेष्ठ ! समस्त कार्योंकी सिद्धिके लिये आपका आश्रय लेना परम आवश्यक है । अर्जुन आपका अनुसरण करें और भीमसेन अर्जुनका । नीति, विजय और बल तीनों मिलकर पराक्रम करें, तो उन्हें अवश्य सिद्धि प्राप्त होगी ।

युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर वे सब महातेजस्वी भाई—श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेन—मगधराज जरासंधसे भिड़नेके लिये उसकी राजधानीकी ओर चल दिये । उन्होंने तेजस्वी स्नातक ब्राह्मणोंके-से वस्त्र पहनकर उनके द्वारा अपने क्षत्रिय रूपको छिपाकर यात्रा की । उस समय हितैषी सुहृदोंने मनोहर वचनोंद्वारा उन सबका अभिनन्दन किया ।

परस्पर बातें करते हुए वे सभी महातेजस्वी भाई श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेन मगधकी राजधानीमें प्रवेश करनेके लिये चल पड़े । वे मुख्य फाटकपर न जाकर नगरके चैत्यक नामक ऊँचे पर्वतपर चले गये । उस स्थानपर राजा बृहद्रथने (वृषभरूपधारी) ऋषभ नामक एक मांसभक्षी राक्षससे युद्ध किया और उसे मारकर उसकी खालसे तीन बड़े-बड़े नगारे तैयार कराये थे, जिनपर चोट करनेसे महीनेभरतक आवाज होती रहती थी ।

इन तीनों वीरोंने उपर्युक्त तीनों नगारोंको फोड़कर चैत्यक पर्वतके परकोटेपर आक्रमण किया और अपनी विशाल भुजाओंसे टक्कर मारकर उस चैत्यक पर्वतके शिखरको गिरा दिया । तदनन्तर वे अत्यन्त प्रसन्न होकर मगधकी राजधानी गिरिव्रजके भीतर घुसे तथा क्रमशः बुद्धिमान् राजा जरासंधके महलके समीप जा पहुँचे । शालवृक्षके तनेके समान ऊँचे डील और चौड़ी छातीवाले गजराज-सदृश उन बलवान् वीरोंको देखकर मगधनिवासियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ । वे नर-

श्रेष्ठ लोगोंसे भरी हुई तीन ड्योढ़ियोंको पार करके निर्भय एवं निश्चिन्त हो बड़े अभिमानके साथ राजा जरासंधके निकट गये। उन्हें आया देख जरासंध उठकर खड़ा हो गया। उसने विधिपूर्वक उनका आतिथ्य-सत्कार किया और कहा—'आपलोगोंका स्वागत है।' उस समय अर्जुन और भीमसेन तो मौन थे; परंतु महाबुद्धिमान् श्रीकृष्णने यह बात कही—'राजेन्द्र! ये दोनों एक नियम ले चुके हैं; अतः आधी रातसे पहले नहीं बोलते। आधी रातके बाद ये दोनों आपसे बात करेंगे'। तब राजा उन्हें यज्ञशालामें ठहराकर स्वयं राजभवनमें चला गया। फिर आधी रात होनेपर जहाँ वे ब्राह्मण ठहरे थे, वहाँ गया। उन तीनोंको अपूर्व वेषमें देखकर नृपश्रेष्ठ जरासंधको बड़ा विस्मय हुआ। वह उनके पास गया। राजा जरासंधको देखते ही वे इस प्रकार बोले-'महाराज! आपका कल्याण हो।' ऐसा कहकर वे तीनों खड़े हो गये तथा कभी राजा जरासंधको और कभी आपसमें एक दूसरेको देखने लगे। तब जरासंधने कहा—'आपलोग बैठ जायँ।' फिर वे सभी बैठ गये। उस समय सत्यप्रतिज्ञ राजा जरासंधने वेषग्रहणके विपरीत आचरणवाले उन तीनोंकी निन्दा करते हुए कहा—

'चैत्यक पर्वतके शिखरको तोड़कर राजाका अपराध करके भी उससे भयभीत न हो छद्मवेष धारण किये द्वारके बिना ही इस नगरमें जो आपलोग घुस आये हैं, इसका क्या कारण है? बताइये, ब्राह्मणके तो प्रायः वचनमें ही वीरता होती है, उसकी क्रियामें नहीं। आपलोगोंने जो यह पर्वतशिखर तोड़नेका काम किया है, यह आपके वर्ण तथा वेषके सर्वथा विपरीत है, बताइये आपने आज क्या सोच रक्खा है?' जरासंधके ऐसा कहनेपर बोलनेमें चतुर महामना श्रीकृष्ण स्निग्ध एवं गम्भीर वाणीमें इस प्रकार बोले—

शत्रुके घरमें बिना दरवाजे और मित्रके घरमें दरवाजेसे प्रवेश करना चाहिये

श्रीकृष्ण उवाच

स्नातकान् ब्राह्मणान् राजन् विद्ध्यस्मांस्त्वं नराधिप।
स्नातकव्रतिनो राजन् ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः॥
विशेषनियमाश्चैषामविशेषाश्च सन्त्युत।
विशेषवांश्च सततं क्षत्रियः श्रियमृच्छति॥
पुष्पवत्सु ध्रुवा श्रीश्च पुष्पवन्तस्ततो वयम्।
क्षत्रियो बाहुवीर्यस्तु न तथा वाक्यवीर्यवान्।
अप्रगल्भं वचस्तस्य तस्माद् बार्हद्रथेरितम्॥
स्ववीर्यं क्षत्रियाणां तु बाह्वोर्धाता न्यवेशयत्।
तद् दिदृक्षसि चेद् राजन् द्रष्टास्यद्य न संशयः॥
अद्वारेण रिपोर्गेहं द्वारेण सुहृदो गृहान्।
प्रविशन्ति नरा धीरा द्वाराण्येतानि धर्मतः॥
कार्यवन्तो गृहानेत्य शत्रुतो नार्हणां वयम्।
प्रतिगृह्णीम तद् विद्धि एतन्नः शाश्वतं व्रतम्॥

(महाभारत सभा० २१। ४९-५४)

श्रीकृष्णने कहा—राजन्! तुम हमें (वेषके अनुसार) स्नातक ब्राह्मण समझ सकते हो। वैसे तो स्नातक-व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णोंके लोग होते हैं। इन स्नातकोंमें कुछ विशेष नियमका पालन करनेवाले होते हैं और कुछ साधारण। विशेष नियमका पालन करनेवाला क्षत्रिय सदा लक्ष्मीको प्राप्त करता है। जो पुष्प धारण करनेवाले हैं, उनमें लक्ष्मीका निवास ध्रुव है, इसीलिये हमलोग पुष्पमालाधारी हैं। क्षत्रियका बल और पराक्रम उसकी भुजाओंमें होता है, वह बोलनेमें वैसा वीर नहीं होता। बृहद्रथनन्दन! इसीलिये क्षत्रियका वचन धृष्टतारहित (विनययुक्त) बताया गया है। विधाताने क्षत्रियोंका अपना बल उनकी भुजाओंमें ही भर दिया है। राजन्! यदि आज उसे देखना चाहते हो, तो निश्चय ही देख लोगे। धीर मनुष्य शत्रुके घरमें बिना दरवाजेके और मित्रके घरमें दरवाजेसे जाते हैं। शत्रु और मित्रके लिये ये धर्मतः द्वार बतलाये गये हैं। हम अपने कार्यसे आपके घर आये हैं; अतः शत्रुसे पूजा नहीं ग्रहण कर सकते। इस बातको आप अच्छी तरह समझ लें। यह हमारा सनातन व्रत है।

जरासंध बोला—ब्राह्मणो! मुझे याद नहीं आता कि कब मैंने आपलोगोंके साथ वैर किया है? बहुत सोचनेपर भी मुझे आपके प्रति अपने द्वारा किया हुआ अपराध नहीं दिखायी देता।

श्रीकृष्ण उवाच

कुलकार्यं महाबाहो कश्चिदेकः कुलोद्वहः।
वहते यस्तन्नियोगाद् वयमभ्युद्यतास्त्वयि॥
त्वया चोपहता राजन् क्षत्रिया लोकवासिनः।
तदागः क्रूरमुत्पाद्य मन्यसे किमनागसम्॥
राजा राज्ञः कथं साधून् हिंस्यान्नृपतिसत्तम।
तद् राज्ञः संनिगृह्य त्वं रुद्रायोपजिहीर्षसि॥
अस्मांस्तदेनो गच्छेद्धि कृतं बार्हद्रथ त्वया।
वयं हि शक्ता धर्मस्य रक्षणे धर्मचारिणः॥
मनुष्याणां समालम्भो न च दृष्टः कदाचन।
स कथं मानुषैर्देवं यष्टुमिच्छसि शंकरम्॥

(महाभारत सभा० २२। ७–११)

श्रीकृष्णने कहा—महाबाहो! समूचे कुलमें कोई एक ही पुरुष कुलका भार सँभालता है। उस कुलके सभी लोगोंकी रक्षा आदिका कार्य सम्पन्न करता है। जो वैसे महापुरुष हैं, उन्हींकी आज्ञासे हमलोग आज तुम्हें दण्ड देनेको उद्यत हुए हैं। राजन्! तुमने भूलोकनिवासी क्षत्रियोंको कैद कर लिया है। ऐसे क्रूर अपराधका आयोजन करके भी तुम अपनेको निरपराध कैसे मान रहे हो? नृपश्रेष्ठ! एक राजा दूसरे श्रेष्ठ राजाओंकी हत्या कैसे कर सकता है? तुम राजाओंको कैद करके उन्हें रुद्रदेवताकी भेंट चढ़ाना चाहते हो? बृहद्रथकुमार! तुम्हारे द्वारा किया हुआ यह पाप हम सब लोगोंपर लागू होगा; क्योंकि हम धर्मकी रक्षा करनेमें समर्थ और धर्मका पालन करनेवाले हैं। किसी देवताकी पूजाके लिये मनुष्योंका वध कभी नहीं देखा गया। फिर तुम कल्याणकारी देवता भगवान् शिवकी पूजा मनुष्योंकी हिंसाद्वारा कैसे करना चाहते हो?

क्षत्रियके लिये युद्धमें मृत्युका वरण करना ही स्वर्ग-प्राप्तिका अमोघ साधन है

सवर्णो हि सवर्णानां पशुसंज्ञां करिष्यसि।
कोऽन्य एवं यथा हि त्वं जरासंध वृथामतिः॥
यस्यां यस्यामवस्थायां यद् यत् कर्म करोति यः।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत् फलं समवाप्नुयात्॥
ते त्वां ज्ञातिक्षयकरं वयमार्तानुसारिणः।
ज्ञातिवृद्धिनिमित्तार्थं विनिहन्तुमिहागताः॥
नास्ति लोके पुमानन्यः क्षत्रियेष्विति चैव तत्।
मन्यसे स च ते राजन् सुमहान् बुद्धिविप्लवः॥
को हि जानन्नभिजनमात्मवान् क्षत्रियो नृप।
नाविशेत् स्वर्गमतुलं रणानन्तरमव्ययम्॥
स्वर्गं ह्येव समास्थाय रणयज्ञेषु दीक्षिताः।
जयन्ति क्षत्रिया लोकांस्तद् विद्धि मनुजर्षभ॥
स्वर्गयोनिर्महद् ब्रह्म स्वर्गयोनिर्महद् यशः।
स्वर्गयोनिस्तपो युद्धे मृत्युः सोऽव्यभिचारवान्॥
एष ह्यैन्द्रो वैजयन्तो गुणैर्नित्यं समाहितः।
येनासुरान् पराजित्य जगत् पाति शतक्रतुः॥
स्वर्गमार्गाय कस्य स्याद् विग्रहो वै यथा तव।
मागधैर्विपुलैः सैन्यैर्बाहुल्यबलदर्पितः॥
मावमंस्थाः परान् राजन्नस्ति वीर्यं नरे नरे।
समं तेजस्त्वया चैव विशिष्टं वा नरेश्वर॥
यावदेतदसम्बुद्धं तावदेव भवेत् तव।
विषह्यमेतदस्माकमतो राजन् ब्रवीमि ते॥
जहि त्वं सदृशेष्वेव मानं दर्पं च मागध।
मा गमः ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम्॥
दम्भोद्भवः कार्तवीर्य उत्तरश्च बृहद्रथः।
श्रेयसो ह्यवमन्येह विनेशुः सबला नृपाः॥
युयुक्षमाणास्त्वत्तो हि न वयं ब्राह्मणा ध्रुवम्।
शौरिरस्मि हृषीकेशो नृवीरौ पाण्डवाविमौ।
अनयोर्मातुलेयं च कृष्णं मां विद्धि ते रिपुम्॥
त्वामाह्वयामहे राजन् स्थिरो युध्यस्व मागध।
मुञ्च वा नृपतीन् सर्वान् गच्छ वा त्वं यमक्षयम्॥

(महाभारत सभा० २२। १२—२६)

जरासंध! तुम्हारी बुद्धि मारी गयी है, तुम भी उसी वर्णके हो, जिस वर्णके वे राजालोग हैं। क्या

तुम अपने ही वर्गके लोगोंको पशु नाम देकर उनकी हत्या करोगे ? तुम्हारे-जैसा क्रूर दूसरा कौन है ? जो जिस-जिस अवस्थामें जो-जो कर्म करता है, वह उसी-उसी अवस्थामें उसके फलको प्राप्त करता है। तुम अपने ही जाति-भाइयोंके हत्यारे हो और हमलोग संकटमें पड़े हुए दीन-दुखियोंकी रक्षा करनेवाले हैं; अतः सजातीय बन्धुओंकी वृद्धिके उद्देश्यसे हम तुम्हारा वध करनेके लिये यहाँ आये हैं। राजन्! तुम जो यह मान बैठे हो कि इस जगत्के क्षत्रियोंमें मेरे समान दूसरा कोई नहीं है, यह तुम्हारी बुद्धिका बहुत बड़ा भ्रम है। नरेश्वर! कौन ऐसा स्वाभिमानी क्षत्रिय होगा जो अपने अभिजनको (जातीय-बन्धुओंकी रक्षा परम धर्म है, इस बातको) जानते हुए भी युद्ध करके अनुपम एवं अक्षय स्वर्गलोकमें जाना नहीं चाहेगा ? नरश्रेष्ठ! स्वर्गप्राप्तिका ही उद्देश्य रखकर रणयज्ञकी दीक्षा लेनेवाले क्षत्रिय अपने अभीष्ट लोकोंपर विजय पाते हैं, यह बात तुम्हें भलीभाँति जाननी चाहिये। वेदाध्ययन स्वर्गप्राप्तिका कारण है, परोपकाररूप महान् यश भी स्वर्गका हेतु है, तपस्याको भी स्वर्गलोकका साधन बताया गया है; परंतु क्षत्रियके लिये इन तीनोंकी अपेक्षा युद्धमें मृत्युका वरण करना ही स्वर्गप्राप्तिका अमोघ साधन है। क्षत्रियका यह युद्धमें मरण इन्द्रका वैजयन्त नामक प्रासाद (राजमहल) है। यह सदा सभी गुणोंसे परिपूर्ण है। इसी युद्धके द्वारा शतक्रतु इन्द्र असुरोंको परास्त करके सम्पूर्ण जगत्की रक्षा करते हैं। हमारे साथ जो तुम्हारा युद्ध होनेवाला है, वह तुम्हारे लिये जैसा स्वर्गलोककी प्राप्तिका साधक हो सकता है, वैसा युद्ध और किसको सुलभ है ? मेरे पास बहुत बड़ी सेना एवं शक्ति है, इस घमंडमें आकर मगधदेशकी अगणित सेनाओंद्वारा तुम दूसरोंका अपमान न करो। राजन्! प्रत्येक मनुष्यमें बल एवं पराक्रम होता है। महाराज! किसीमें तुम्हारे समान तेज है तो किसीमें तुमसे अधिक भी है। भूपाल! जबतक तुम इस बातको नहीं जानते थे, तभीतक तुम्हारा घमंड बढ़ रहा था। अब तुम्हारा यह अभिमान हमलोगोंके लिये असह्य हो उठा है, इसलिये मैं तुम्हें यह सलाह देता हूँ। मगधराज! तुम अपने समान वीरोंके साथ अभिमान और घमंड करना छोड़ दो। इस घमंडको रखकर अपने पुत्र, मन्त्री और सेनाके साथ यमलोकमें जानेकी तैयारी न करो। दम्भोद्भव, कार्तवीर्य अर्जुन, उत्तर तथा बृहद्रथ—ये सभी नरेश अपनेसे बड़ोंका अपमान करके अपनी सेनासहित नष्ट हो गये। तुमसे युद्धकी इच्छा रखनेवाले हमलोग अवश्य ही ब्राह्मण नहीं हैं। मैं वसुदेवपुत्र हृषीकेश हूँ और ये दोनों पाण्डुपुत्र वीरवर भीमसेन और अर्जुन हैं। मैं इन दोनोंके मामाका पुत्र और तुम्हारा प्रसिद्ध शत्रु श्रीकृष्ण हूँ। मुझे अच्छी तरह पहचान लो। मगधनरेश! हम तुम्हें युद्धके लिये ललकारते हैं। तुम डटकर युद्ध करो। तुम या तो समस्त राजाओंको छोड़ दो अथवा यमलोककी राह लो।

जरासंध-वध और दिग्विजयके पश्चात् राजसूय यज्ञ आरम्भ होनेपर श्रीकृष्णकी अग्रपूजा, शिशुपालद्वारा उसका विरोध, भगवान्का उसके असहनीय अपराध बताकर सुदर्शनसे उसका मस्तक काट देना

भगवान् श्रीकृष्णके ललकारनेपर जरासंध अपने पुत्र सहदेवको राज्यपर अभिषिक्त करके युद्धके लिये तैयार हो गया। उस समय श्रीकृष्णने उससे पूछा—राजन्! तुम हम तीनोंमेंसे किसके साथ युद्ध करना चाहते हो ? जरासंधने भीमसेनके साथ ही युद्ध करनेका निश्चय किया। फिर तो दोनोंमें भयानक मल्लयुद्ध होने लगा। कार्तिक मासके प्रथम दिन उन दोनोंका युद्ध आरम्भ हुआ और दिन-रात बिना खाये-पिये अविराम गतिसे चलता रहा। इसी तरह त्रयोदशी-

तक युद्ध चला। चतुर्दशीकी रातमें मगधनरेशको थकावट-का अनुभव होने लगा। इसी समय भगवान् श्रीकृष्णका संकेत पाकर भीमसेनने जरासंधको धरतीपर पटक दिया और उसके पीठको धनुषकी तरह मोड़कर दोनों घुटनोंकी चोटसे उसकी रीढ़ तोड़ डाली। इसके बाद अपने एक हाथसे उसका एक पैर पकड़कर और दूसरे पैरको अपने पैरसे दबाकर महाबली भीमने उसे दो खण्डोंमें चीर डाला। उस समय भीमसेनका सिंहनाद सुनकर मगधवासी भयभीत हो काँपने लगे। जरासंधके शवको राजद्वारपर सुलाकर उसके ही रथपर आरूढ़ हो भीम और अर्जुनसहित श्रीकृष्णने बंदी राजाओंको बन्धनसे मुक्त किया। उन राजाओं, पुरवासियों तथा जरासंधकुमार सहदेवसे सत्कृत हो वे तीनों विजयी वीर इन्द्रप्रस्थको लौट आये। युधिष्ठिरने उनका स्वागत किया और उनसे मिलकर वे बहुत प्रसन्न हुए।

तदनन्तर भीमसेन आदि चार भाइयोंने चारों दिशाओंमें जाकर दिग्विजय प्राप्त की तथा वे बहुत-सा धन, रत्न आदि लेकर युधिष्ठिरके पास लौट आये। नियत समयपर राजसूय यज्ञका कार्य आरम्भ हुआ। राजाओं, ब्राह्मणों तथा सगे-सम्बन्धियोंको निमन्त्रित किया गया। देश-देशके राजा, कौरव तथा यादव वहाँ आये और सबके भोजन एवं विश्रामकी सुव्यवस्था की गयी। युधिष्ठिरको भेंटमें असंख्य रत्नराशि तथा अन्य सामग्री प्राप्त हुई। भगवान् श्रीकृष्ण सबको संतुष्ट करनेकी इच्छासे स्वयं ही ब्राह्मणोंके चरण पखारने लगे। ब्राह्मणों तथा राजाओंके उस समुदायमें श्रीनारदजीने भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका वर्णन किया और भीष्मजीकी अनुमतिसे सहदेवने श्रीकृष्णका ही अग्रपूजन किया, सबसे पहले उन्हींको अर्घ्य प्राप्त हुआ। यह देख शिशुपालको क्रोध आ गया। उसने श्रीकृष्णको राजोचित पूजा प्राप्त करनेका अनधिकारी बताया और उनपर अनेक प्रकारके आक्षेप किये। युधिष्ठिरने शिशुपालको समझाया और भीष्मजीने उसके आक्षेपोंका उत्तर देकर भगवान्‌के अवतार-चरित्रोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया। फिर पाण्डव सहदेवने विरोधी राजाओंको चुनौती दी। इससे क्षुब्ध होकर शिशुपाल आदि नरेश युद्धके लिये उद्यत हो गये। युधिष्ठिरको चिन्ता हुई और भीष्मजीने उन्हें सान्त्वना दी। शिशुपालने भीष्मकी बड़ी निन्दा की। इससे भीमसेन-को बड़ा क्रोध हुआ। वे उछलकर शिशुपालके पास पहुँचना ही चाहते थे कि महाबाहु भीष्मने उन्हें वेगपूर्वक पकड़ लिया और समझा-बुझाकर शान्त किया। शिशुपालने पुनः भीष्म-को फटकारा और भीष्मने चुनौती देते हुए कहा कि 'जिसकी मौत निकट हो, वह श्रीकृष्णको युद्धके लिये ललकारे।' तब शिशुपालने श्रीकृष्णका युद्धके लिये आह्वान करते हुए उनपर पुनः आक्षेप किया। उस समय श्रीकृष्णने विनम्र, मधुर और गम्भीर वाणीमें इस प्रकार कहा—

शिशुपालके अपराधोंका वर्णन

एष नः शत्रुरत्यन्तं पार्थिवाः सात्वतीसुतः।
सात्वतानां नृशंसात्मा न हितोऽनपकारिणाम्॥
प्राग्ज्योतिषपुरं यातानस्माञ्ज्ञात्वा नृशंसकृत्।
अदहद् द्वारकामेष स्वस्रीयः सन् नराधिपाः॥
क्रीडतो भोजराजस्य एष रैवतके गिरौ।
हत्वा बद्ध्वा च तान् सर्वानुपायात् स्वपुरं पुरा॥
अश्वमेधे हयं मेध्यमुत्सृष्टं रक्षिभिर्वृतम्।
पितुर्मे यज्ञविघ्नार्थमहरत् पापनिश्चयः॥
सौवीरान् प्रति यातां च बभ्रोरेष तपस्विनः।
भार्यामभ्यहरन्मोहादकामां तामितो गताम्॥
एष मायाप्रतिच्छन्नः करूषार्थे तपस्विनीम्।
जहार भद्रां वैशालीं मातुलस्य नृशंसकृत्॥
पितृष्वसुः कृते दुःखं सुमहन्मर्षयाम्यहम्।
दिष्ट्या हीदं सर्वराज्ञां संनिधावद्य वर्तते॥
पश्यन्ति हि भवन्तोऽद्य मय्यतीव व्यतिक्रमम्।
कृतानि तु परोक्षं मे यानि तानि निबोधत॥
इमं त्वस्य न शक्ष्यामि क्षन्तुमद्य व्यतिक्रमम्।
अवलेपाद् वधार्हस्य समग्रे राजमण्डले॥
रुक्मिण्यामस्य मूढस्य प्रार्थनाऽऽसीन्मुमूर्षतः।
न च तां प्राप्तवान् मूढः शूद्रो वेदश्रुतीमिव॥
(महाभारत सभा० ४५। ६—१५)

'भूमिपालो! यह है तो यदुकुलकी कन्याका पुत्र, परंतु हमलोगोंसे अत्यन्त शत्रुता रखता है। यद्यपि यादवोंने इसका कभी कोई अपराध नहीं किया है, तो भी यह क्रूरात्मा उनके अहितमें ही लगा रहता है। नरेश्वरो! हम प्राग्ज्योतिषपुरमें गये थे, यह बात जब

इसे मालूम हुई, तब इस क्रूरकर्माने मेरे पिताजीका भानजा होकर भी द्वारकामें आग लगवा दी। एक बार भोजराज (उग्रसेन) रैवतक पर्वतपर क्रीड़ा कर रहे थे। उस समय यह वहाँ जा पहुँचा और उनके सेवकोंको मारकर तथा शेष व्यक्तियोंको कैद करके उन सबको अपने नगरमें ले गया। मेरे पिताजी अश्वमेध यज्ञकी दीक्षा ले चुके थे। उसमें रक्षकोंसे घिरा हुआ पवित्र अश्व छोड़ा गया था। इस पापपूर्ण विचारवाले दुष्टात्माने पिताजीके यज्ञमें विघ्न डालनेके लिये उस अश्वको भी चुरा लिया था। इतना ही नहीं, इसने तपस्वी बभ्रुकी पत्नीका, जो यहाँसे द्वारका जाते समय सौवीरदेश पहुँची थी और इसके प्रति जिसके मनमें तनिक भी अनुराग नहीं था, मोहवश अपहरण कर लिया। इस क्रूरकर्माने मायासे अपने असली रूपको छिपाकर करूषराजकी प्राप्तिके लिये तपस्या करनेवाली अपने मामा विशालानरेशकी कन्या भद्राका (करूषराजके ही वेषमें उपस्थित हो उसे धोखा देकर) अपहरण कर लिया। मैं अपनी बुआके संतोषके लिये ही इसके बड़े दुःखद अपराधोंको सहन कर रहा हूँ; सौभाग्यकी बात है कि आज यह समस्त राजाओंके समीप मौजूद है। आप सब लोग देख ही रहे हैं कि इस समय यह मेरे प्रति कैसा अभद्र वर्ताव कर रहा है। इसने परोक्षमें मेरे प्रति जो अपराध किये हैं, उन्हें भी आप अच्छी तरह जान लें। परंतु आज इसने अहंकारवश समस्त राजाओंके सामने मेरे साथ जो दुर्व्यवहार किया है, उसे मैं कभी क्षमा न कर सकूँगा। अब यह मरना ही चाहता है। इस मूर्खने पहले रुक्मिणीके लिये उसके बन्धु-बान्धवोंसे याचना की थी; परंतु जैसे शूद्र वेदकी ऋचाओंको श्रवण नहीं कर सकता, उसी प्रकार इस अज्ञानीको वह प्राप्त न हो सकी।'

भगवान् श्रीकृष्णकी ये सब बातें सुनकर उन समस्त राजाओंने एक स्वरसे चेदिराज शिशुपालको धिक्कारा और उसकी निन्दा की। श्रीकृष्णका उपर्युक्त वचन सुनकर प्रतापी शिशुपाल ठहाका मारकर हँसने लगा और पुनः उसने उनका तिरस्कार किया। शिशुपाल तिरस्कारपूर्ण बातें कर ही रहा था कि भगवान् मधुसूदनने मन-ही-मन दैत्यवर्ग-विनाशक सुदर्शन चक्रका स्मरण किया। चिन्तन करते ही तत्काल चक्र हाथमें आ गया। तब बोलनेमें कुशल भगवान् श्रीकृष्णने उच्च स्वरसे यह वचन कहा—

> शृण्वन्तु मे महीपाला येनैतत् क्षमितं मया।
> अपराधशतं क्षाम्यं मातुरस्यैव याचने॥
> दत्तं मया याचितं च तानि पूर्णानि पार्थिवाः।
> अधुना वधयिष्यामि पश्यतां वो महीक्षिताम्॥
>
> (महाभारत सभा० ४५। २३-२

'यहाँ बैठे हुए सब महीपाल यह सुन लें कि मैंने क्यों अबतक इसके अपराध क्षमा किये हैं! इसकी माताके याचना करनेपर मैंने उसे यह प्रार्थित वर दिया था कि शिशुपालके सौ अपराध क्षमा कर दूँगा। राजाओ! वे सब अपराध अब पूरे हो गये हैं; अतः आप भूमिपतियोंके देखते-देखते मैं अभी इसका वध किये देता हूँ।'

ऐसा कहकर कुपित हुए शत्रुहन्ता यदु भगवान् श्रीकृष्णने चक्रसे उसी क्षण चेदिराज शि सिर उड़ा दिया।

श्रीकृष्णद्वारा कौरवोंके नाशकी घोषणा तथा अर्जुनके साथ अपनी एकता एवं आत्मीयताका प्रतिपादन

राजसूय यज्ञमें पाण्डवोंका वैभव देखकर दुर्योधनके हृदयमें ईर्ष्याकी आग जल उठी। उसने धृतराष्ट्रको प्रभावित करके जूएका आयोजन किया और शकुनिको आगे करके धर्मराज युधिष्ठिरके साथ द्यूत-क्रीडा आरम्भ की। उस द्यूतमें शकुनिके छलसे युधिष्ठिर अपना सारा राजपाट तथा पटरानी द्रौपदीको भी हार गये। दुर्योधनने भरी सभामें द्रौपदीकी लाज लूटनी चाही, परंतु उसने भगवान्‌की शरण ली और भक्तवत्सलने उसकी लज्जा रख ली। धृतराष्ट्रने जूएमें जीता हुआ सब कुछ युधिष्ठिरको लौटा दिया। अन्तमें एक शर्तपर फिर द्यूत आरम्भ हुआ कि 'हारनेवालेको बारह वर्षोंतक वनवास और एक वर्षतक अज्ञातवास करना पड़ेगा।' उसमें भी शकुनिके तिकड़मसे युधिष्ठिर हार गये और द्रौपदीसहित पाण्डव विवश होकर वनमें चले गये। यह समाचार सुनकर यादव तथा पाञ्चालगण पाण्डवोंसे मिलनेके लिये वनमें गये। वहाँ भगवान् श्रीकृष्ण खिन्न हो युधिष्ठिरको प्रणाम करके इस प्रकार बोले—

दूसरोंके साथ छल-कपट करके सुख भोगनेवालोंका वध सनातन धर्म है

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः।
दुःशासनचतुर्थानां भूमिः पास्यति शोणितम्॥
तान् निहत्य समरे ये च तस्य पदानुगाः।
ततः सर्वान् विनिर्जित्य सहितान् सनराधिपान्॥
निकृत्ये भिषिञ्चामो धर्मराजं युधिष्ठिरम्।
न वध्य एष धर्मः सनातनः॥

'राजाओ (महाभारत वन० १२। ५—७)

कर्ण, दुरात्मा ॰ पड़ता है, यह पृथ्वी दुर्योधन, सबके रक्तका पान ॰र चौथे दुःशासन—इन सब सेवकोंको अन्य ॰द्धमें इनको और इनके सब लोग धर्मराज युधि॰ पराास्त करके हम चक्रवर्ती नरेशके पदपर अभिषिक्त करें। जो दूसरेके साथ छल-कपट अथवा धोखा करके सुख भोग रहा हो, उसे मार डालना चाहिये, यह सनातन धर्म है।'

कुन्तीपुत्रोंके अपमानसे भगवान् श्रीकृष्ण ऐसे कुपित हो उठे, मानो वे समस्त प्रजाको जलाकर भस्म कर देंगे। उन्हें इस प्रकार क्रोध करते देख अर्जुनने उन्हें शान्त किया और उन सत्यकीर्ति महात्माद्वारा पूर्व शरीरोंमें किये हुए कर्मोंका कीर्तन किया। भगवान्‌की अवतार-लीलाओंका कीर्तन करके जब अर्जुन चुप हो गये, तब जनार्दनने कुन्ती-कुमारसे अपनी एकता और आत्मीयता प्रकट करते हुए इस प्रकार कहा—

अर्जुनके साथ श्रीकृष्णकी अभिन्नता

ममैव त्वं तवैवाहं ये मदीयास्तवैव ते।
यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु॥
नरस्त्वमसि दुर्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम्।
काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी॥
अनन्यः पार्थ मत्तस्त्वं त्वत्तश्चाहं तथैव च।
नावयोरन्तरं शक्यं वेदितुं भरतर्षभ॥

(महाभारत वन० १२। ४५—४७)

'पार्थ! तुम मेरे ही हो, मैं तुम्हारा ही हूँ। जो मेरे हैं, वे तुम्हारे ही हैं। जो तुमसे द्वेष रखता है, वह मुझसे भी रखता है। जो तुम्हारे अनुकूल है, वह मेरे भी अनुकूल है। दुर्धर्ष वीर! तुम नर हो और मैं नारायण श्रीहरि हूँ। इस समय हम दोनों नर-नारायण ऋषि ही इस लोकमें आये हैं। कुन्तीकुमार! तुम मुझसे अभिन्न हो और मैं तुमसे पृथक् नहीं हूँ। भरतश्रेष्ठ! हम दोनोंका भेद जाना नहीं जा सकता।'

द्रौपदीको श्रीकृष्ण॰—शत्रुओंको मारकर पाण्डव राजा होंगे और तुम रानी

उस समय द्रौपदीने भी श्रीकृ॰ दुर्दशाका वर्णन करके कहा—'मधुसू॰ ॰ी दारुण होती हुई भी इन पाँचों पाण्डवोंके देखते-॰ द्रौ॰ घसीटी गयी।' ऐसा कहकर मृदुभाषिणी द्रौ॰॰ समान कान्तिमान् एवं कोमल हाथसे अपने॰ फूट-फूटकर रोने लगी। तब भगवान् श्रीकृष्णने वीरोंके उस समुदायमें द्रौपदीको धीरज बँधाते हुए इस प्रकार कहा—

वासुदेव उवाच

रोदिष्यन्ति स्त्रियो ह्येवं येषां क्रुद्धासि भाविनि।
बीभत्सुशरसंछन्नाञ्छोणितौघपरिप्लुतान्॥

निहतान् वल्लभान् वीक्ष्य शयानान् वसुधातले ।
यत् समर्थं पाण्डवानां तत् करिष्यामि मा शुचः ॥
सत्यं ते प्रतिजानामि राज्ञां राज्ञी भविष्यसि ।
पतेद् द्यौर्हिमवाञ्छीर्येत् पृथिवी शकलीभवेत् ॥
शुष्येत् तोयनिधिः कृष्णे न मे मोघं वचो भवेत् ।
(महाभारत वन० १२ । १२८—१३०½)

श्रीकृष्ण बोले—भाविनि ! तुम जिनपर क्रुद्ध हुई हो, उनकी स्त्रियाँ भी अपने प्राणप्यारे पतियोंको अर्जुनके बाणोंसे छिन्न-भिन्न और खूनसे लथपथ हो मरकर धरतीपर पड़ा देख इसी प्रकार रोयेंगी । पाण्डवोंके हितके लिये जो कुछ भी सम्भव है, वह सब करूँगा, शोक न करो । मैं सत्य प्रतिज्ञापूर्वक कह रहा हूँ कि तुम राजरानी बनोगी । कृष्णे ! आसमान फट पड़े, हिमालय पर्वत विदीर्ण हो जाय, पृथ्वीके टुकड़े-टुकड़े हो जायँ और समुद्र सूख जाय, किंतु मेरी यह बात झूठी नहीं हो सकती ।

द्रौपदीने अपनी बातोंके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे ऐसी बातें सुनकर तिरछी चितवनसे अपने मँझले पति अर्जुनकी ओर देखा । तब अर्जुनने कहा—'देवि ! रोओ मत । भगवान् मधुसूदन जो कुछ कह रहे हैं, वह अवश्य होकर रहेगा, टल नहीं सकता ।'

श्रीकृष्णका जूएके दोष बताते हुए पाण्डवोंपर आयी हुई विपत्तिमें अपनी अनुपस्थितिको कारण ब[illegible]

धन-ऐश्वर्यके नष्ट होनेके चार कारण—स्त्रियोंके प्रति आसक्ति, जूआ, शिकार और शराब—

वासुदेव उवाच

नैतत् कृच्छ्रमनुप्राप्तो भवान् स्याद् वसुधाधिप ।
यद्यहं द्वारकायां स्यां राजन् संनिहितः पुरा ॥
आगच्छेयमहं द्यूतमनाहूतोऽपि कौरवैः ।
आम्बिकेयेन दुर्धर्ष राज्ञा दुर्योधनेन च ॥
वारयेयमहं द्यूतं बहून् दोषान् प्रदर्शयन् ॥
भीष्मद्रोणौ समानाय्य कृपं बाह्लीकमेव च ।
वैचित्रवीर्यं राजानमलं द्यूतेन कौरव ॥
पुत्राणां तव राजेन्द्र त्वन्निमित्तमिति प्रभो ।
तत्राचक्षमहं दोषान् यैर्भवान् व्यतिरोपितः ॥
वीरसेनसुतो यैस्तु राज्यात् प्रभ्रंशितः ॥
अतर्कितविनाशश्च देवनेन [illegible]थम् ॥
सातत्यं च प्रसङ्गस्य वर्णयेयं[illegible]थतम् ।
स्त्रियोऽक्षा मृगया पानमेतत्[illegible]ते श्रियः ॥
दुःखं चतुष्टयं प्रोक्तं यैर्[illegible]कोविदाः ।
तत्र सर्वत्र वक्तव्यं [illegible]न्ति तद्विदः ॥
विशेषतश्च वक्तव्[illegible] व्यसनमेव च ।
एकाहाद् द्रव्य[illegible]रुष्यं च केवलम् ॥
अभुक्तनाश[illegible] प्रसङ्गि कटुकोदयम् ।
एतच्चान्[illegible] समासाद्याम्बिकासुतम् ॥
द्यूते[illegible]
(महाभारत वन० १३ । १—१०)

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—राजन् ! यदि मैं पहले द्वारकामें या उसके निकट होता तो आप इस भारी संकटमें नहीं पड़ते । दुर्जय वीर ! अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्र, राजा दुर्योधन तथा अन्य कौरवोंके बिना बुलाये भी मैं उस द्यूतसभामें आता और जूएके अनेक दोष दिखाकर उसे रोकनेकी चेष्टा करता । प्रभो ! मैं आपके लिये भीष्म, द्रोण, कृप, बाह्लीक तथा राजा धृतराष्ट्रको बुलाकर कहता—'कुरुवंशके महाराज ! आपके पुत्रोंको जूआ नहीं खेलना चाहिये ।' राजन् ! मैं द्यूतसभामें जूएके उन दोषोंको स्पष्टरूपसे बताता, जिनके कारण आपको अपने राज्यसे वञ्चित होना पड़ा है तथा जिन दोषोंने पूर्वकालमें वीरसेनपुत्र महाराज नलको राजसिंहासनसे च्युत किया था । नरेश्वर ! जूआ खेलनेसे सहसा ऐसा सर्वनाश उपस्थित हो जाता है, जो कल्पनामें भी नहीं आ सकता । इसके सिवा उससे सदा जूआ खेलनेकी आदत बन जाती है। यह सब बातें मैं ठीक-ठीक बता रहा हूँ । स्त्रियोंके प्रति आसक्ति, जूआ खेलना, शिकार खेलनेका शौक और मद्यपान—ये चार प्रकारके भोग कामनाजनित दुःख बताये गये हैं, जिनके कारण मनुष्य अपने धन-ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जाता है । शास्त्रोंके निपुण विद्वान् सभी परिस्थितियोंमें इन चारोंको निन्दनीय मानते हैं; परंतु द्यूतक्रीडाको तो जूएके दोष जाननेवाले लोग विशेषरूपसे निन्दनीय समझते हैं। जूएसे एक ही दिनमें सारे धनका नाश हो जाता है । साथ ही जूआ खेलनेसे उसके प्रति आसक्ति होनी निश्चित है । समस्त भोग-पदार्थोंका बिना भोगे ही नाश हो जाता है और बदलेमें केवल कटु वचन सुननेको मिलते हैं । कुरुनन्दन ! ये तथा और भी बहुत-से दोष हैं, जो जूएके प्रसंगसे कटु परिणाम उत्पन्न करनेवाले हैं। महाबाहो ! मैं धृतराष्ट्रसे मिलकर जूएके ये सभी दोष बतलाता ।

एवमुक्तो यदि मया गृह्णीयाद् वचनं मम ।
अनामयं स्याद् धर्मश्च कुरूणां कुरुवर्धन ॥
न चेत् स मम राजेन्द्र गृह्णीयान्मधुरं वचः ।
पथ्यं च भरतश्रेष्ठ निगृह्णीयां बलेन तम् ॥
अथैनमपनीतेन सुहृदो नाम दुर्हृदः ।
सभासदोऽनुवर्तेरंस्तांश्च हन्यां दुरोदरान् ॥
असांनिध्यं तु कौरव्य ममानर्तेष्वभूत् तदा ।
येनेदं व्यसनं प्राप्ता भवन्तो द्यूतकारितम् ॥
सोऽहमेत्य कुरुश्रेष्ठ द्वारकां पाण्डुनन्दन ।
अश्रौषं त्वां व्यसनिनं युयुधानाद् यथातथम् ॥
श्रुत्वैव चाहं राजेन्द्र परमोद्विग्नमानसः ।
तूर्णमभ्यागतोऽस्मि त्वां द्रष्टुकामो विशाम्पते ॥
अहो कृच्छ्रमनुप्राप्ताः सर्वे स्म भरतर्षभ ।
सोऽहं त्वां व्यसने मग्नं पश्यामि सह सोदरैः ॥

(महाभारत वन० १३ । ११—१७)

कुरुवर्धन ! मेरे इस प्रकार समझाने-बुझानेपर यदि वे मेरी बात मान लेते, तो कौरवोंमें शान्ति बनी रहती और धर्मका भी पालन होता । राजेन्द्र ! भरतश्रेष्ठ ! यदि वे मेरे मधुर एवं हितकर वचनको सुनकर उसे न मानते, तो मैं उन्हें बलपूर्वक रोक देता । यदि वहाँ सुहृद्-नामधारी शत्रु अन्यायका आश्रय ले इस धृतराष्ट्रका साथ देते, तो मैं उन सभासद् जुआरियोंको मार डालता । कुरुश्रेष्ठ ! मैं उन दिनों आनर्तदेशमें ही नहीं था, इसीलिये आपलोगोंपर यह द्यूतजनित संकट आ गया । कुलप्रवर पाण्डुनन्दन ! जब मैं द्वारकामें आया, तब सात्यकिसे आपके संकटमें पड़नेका यथावत् समाचार सुना । राजेन्द्र ! वह सुनते ही मेरा मन अत्यन्त उद्विग्न हो उठा और प्रजेश्वर ! मैं तुरंत ही आपसे मिलनेके लिये चला आया । भरतकुलभूषण ! अहो ! आप सब लोग बड़ी कठिनाईमें पड़ गये हैं । मैं तो आपको सब भाइयोंसहित विपत्तिके समुद्रमें डूबा हुआ देख रहा हूँ ।

सौभ विमानके अधिपति राजा शाल्वके वधका वर्णन

युधिष्ठिरने पूछा—श्रीकृष्ण ! जब यहाँ द्यूतक्रीडाका आयोजन हो रहा था, उस समय तुम द्वारकामें क्यों उपस्थित नहीं थे ? उन दिनों तुम्हारा निवास कहाँ था ? और उस प्रवासमें तुमने कौन-सा कार्य किया ?

युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर श्रीकृष्णने कहा—राजन् ! उस समय मैं सौभ विमानके स्वामी राजा शाल्वके साथ युद्धमें उलझा हुआ था। शाल्वका वध करके द्वारकामें लौटनेपर ज्यों ही आप लोगोंपर आये हुए इस संकटका समाचार सुना, त्यों ही यहाँ चला आया। फिर शाल्वके साथ हुए भीषण युद्धकी बातें सुनाकर भगवान् श्रीकृष्ण बोले कि 'घोर युद्धके बाद भी जब यादव वीर एक दम खिन्न-चित्त हो गये, तब मेरे सारथि दारुकने मुझसे कहा—

साधु सम्पश्य वार्ष्णेय शाल्वं सौभपतिं स्थितम्।
अलं कृष्णावमन्यैनं साधु यत्नं समाचर ॥
मार्दवं सखितां चैव शाल्वादद्य व्यपाहर।
जहि शाल्वं महाबाहो मैनं जीवय केशव ॥
सर्वैः पराक्रमैर्वीर वध्यः शत्रुरमित्रहन्।
न शत्रुरवमन्तव्यो दुर्बलोऽपि बलीयसा ॥
योऽपि स्यात् पीठगः कश्चित् किं पुनः समरे स्थितः।
स त्वं पुरुषशार्दूल सर्वयत्नैरिमं प्रभो ॥
जहि वृष्णिकुलश्रेष्ठ मा त्वां कालोऽत्यगात् पुनः।
नैष मार्दवसाध्यो वै मतो नापि सखा तव ॥
येन त्वं योधितो वीर द्वारका चावमर्दिता।
एवमादि तु कौन्तेय श्रुत्वाहं सारथेर्वचः ॥
तत्त्वमेतदिति ज्ञात्वा युद्धे मतिमधारयम्।
वधाय शाल्वराजस्य सौभस्य च निपातने ॥

(महाभारत वन० २२ । २१—२७)

'वार्ष्णेय ! वह देखिये, सौभराज शाल्व वहाँ खड़ा है। श्रीकृष्ण ! इसकी उपेक्षा करनेसे कोई लाभ नहीं। इसके वधका कोई उचित उपाय कीजिये। महाबाहु केशव ! अब शाल्वकी ओरसे कोमलता और मित्रभाव हटा लीजिये। इसे मार डालिये, जीवित न रहने दीजिये। शत्रुहन्ता वीरवर ! आपको सारा पराक्रम लगाकर इस शत्रुका वध कर डालना चाहिये। कोई कितना ही बलवान् क्यों न हो, उसे अपने दुर्बल शत्रुकी भी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। कोई शत्रु अपने घरमें आसनपर बैठा हो (युद्ध न करना चाहता हो), तो भी उसे नष्ट करनेमें नहीं चूकना चाहिये; फिर जो संग्राममें युद्ध करनेके लिये खड़ा हो, उसकी तो बात ही क्या है ? अतः पुरुषसिंह ! प्रभो ! आप सभी उपायोंसे इस शत्रुको मार डालिये। वृष्णिवंशावतंस ! इस कार्यमें आपको पुनः विलम्ब नहीं करना चाहिये। यह मृदुतापूर्ण उपायसे वशमें आनेवाला नहीं। वास्तवमें यह आपका मित्र भी नहीं है; क्योंकि वीर ! इसने आपके साथ युद्ध किया और द्वारकापुरीको तहस-नहस कर दिया, अतः इसको शीघ्र मार डालना चाहिये।'

कुन्तीनन्दन ! सारथिके मुखसे इस तरहकी बातें सुनकर मैंने सोचा, यह ठीक ही तो कहता है। यह विचारकर मैंने शाल्वराजका वध करने और सौभ विमानको मार गिरानेके लिये युद्धमें मन लगा दिया।

दारुकं चाब्रुवं वीर मुहूर्तं स्थीयतामिति।
ततोऽप्रतिहतं दिव्यमभेद्यमतिवीर्यवत् ॥
आग्नेयमस्त्रं दयितं सर्वसाहं महाप्रभम्।
योजयं तत्र धनुषा दानवान्तकरं रणे ॥
यक्षाणां राक्षसानां च दानवानां च संयुगे।
राज्ञां च प्रतिलोमानां भस्मान्तकरणं महत् ॥
क्षुरान्तममलं चक्रं कालान्तकयमोपमम्।
अनुमन्त्र्याहमतुलं द्विषतां विनिबर्हणम् ॥
जहि सौभं स्ववीर्येण ये चात्र रिपवो मम।
इत्युक्त्वा भुजवीर्येण तस्मै प्राहिणवं रुषा ॥
रूपं सुदर्शनस्यासीदाकाशे पततस्तदा।
द्वितीयस्येव सूर्यस्य युगान्ते प्रपतिष्यतः ॥

तत् समासाद्य नगरं सौभं व्यपगतत्विषम् ।
मध्येन पाटयामास क्रकचो दार्विवोच्छ्रितम् ॥
द्विधा कृतं ततः सौभं सुदर्शनबलाद्धतम् ।
महेश्वरशरोद्धूतं पपात त्रिपुरं यथा ॥
तस्मिन् निपतिते सौभे चक्रमागात् करं मम ।
पुनश्चादाय वेगेन शाल्वायेत्यहमब्रुवम् ॥
ततः शाल्वं गदां गुर्वीमाविध्यन्तं महाहवे ।
द्विधा चकार सहसा प्रजज्वाल च तेजसा ॥
तस्मिन् विनिहते वीरे दानवास्त्रस्तचेतसः ।
हाहाभूता दिशो जग्मुरर्दिता मम सायकैः ॥
ततोऽहं समवस्थाप्य रथं सौभसमीपतः ।
शङ्खं प्रध्माप्य हर्षेण सुहृदः पर्यहर्षयम् ॥
तन्मेरुशिखराकारं विध्वस्ताट्टालगोपुरम् ।
दह्यमानमभिप्रेक्ष्य स्त्रियस्ताः सम्प्रदुद्रुवुः ॥
एवं निहत्य समरे सौभं शाल्वं निपात्य च ।
आनर्तान् पुनरागम्य सुहृदां प्रीतिमावहम् ॥
तदेतत् कारणं राजन् यदहं नागसाह्वयम् ।
नागमं परवीरघ्न न हि जीवेत् सुयोधनः ॥
मय्यागतेऽथवा वीर द्यूतं न भविता तथा ।
अद्याहं किं करिष्यामि भिन्नसेतुरिवोदकम् ॥

(महाभारत वन० २२ । २८—४३)

वीर ! तत्पश्चात् मैंने दारुकसे कहा—'सारथे ! दो घड़ी और ठहरो (फिर तुम्हारी इच्छा पूरी हो जायगी) ।' तदनन्तर मैंने कहीं भी कुण्ठित न होनेवाले, दिव्य, अभेद्य, अत्यन्त शक्तिशाली, सब कुछ सहन करनेमें समर्थ, प्रिय तथा परम कान्तिमान् आग्नेयास्त्रका अपने धनुषपर संधान किया । वह अस्त्र युद्धमें दानवोंका अन्त करनेवाला था । इतना ही नहीं—वह यक्षों, राक्षसों, दानवों तथा विपक्षी राजाओंको भी भस्म कर डालनेवाला और महान् था । वह आग्नेयास्त्र (सुदर्शन) चक्रके रूपमें था । उसके परिधिभागमें सब ओर तीखे छुरे लगे हुए थे । वह उज्ज्वल अस्त्र काल, यम और अन्तकके समान भयंकर था । उस शत्रुनाशक अनुपम अस्त्रको अभिमन्त्रित करके मैंने कहा—'तुम अपनी शक्तिसे सौभ विमान और उसपर रहनेवाले मेरे शत्रुओंको मार डालो ।' ऐसा कहकर अपने बाहुबलसे रोषपूर्वक मैंने वह अस्त्र सौभ विमानकी ओर चलाया । आकाशमें जाते ही उस सुदर्शन चक्रका स्वरूप प्रलयकालमें उगनेवाले द्वितीय सूर्यके समान प्रकाशित हो उठा । उस दिव्यास्त्रने सौभनगरमें पहुँचकर उसे श्रीहीन कर दिया और जैसे आरा ऊँचे काठको चीर डालता है, उसी प्रकार सौभ विमानको बीचसे काट डाला । सुदर्शन चक्रकी शक्तिसे कटकर दो टुकड़ोंमें बँटा हुआ सौभ विमान महादेवजीके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हुए त्रिपुरकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा । सौभ विमानके गिरनेपर चक्र फिर मेरे हाथमें आ गया । मैंने फिर उसे लेकर वेगपूर्वक चलाया और कहा—'अबकी बार शाल्वको मारनेके लिये तुम्हें छोड़ रहा हूँ ।' तब उस चक्रने महासमरमें बड़ी भारी गदा घुमानेवाले शाल्वके सहसा दो टुकड़े कर दिये और वह तेजसे प्रज्वलित हो उठा । वीर शाल्वके मारे जानेपर दानवोंके मनमें भय समा गया । वे मेरे बाणोंसे पीड़ित हो हाहाकार करते हुए सब दिशाओंमें भाग गये । तब मैंने सौभ विमानके समीप अपने रथको खड़ा करके प्रसन्नतापूर्वक शङ्ख बजाकर सभी सुहृदोंको हर्षमें निमग्न कर दिया । मेरुपर्वतके शिखरके समान आकृतिवाले सौभनगरकी अट्टालिका और गोपुर सभी नष्ट हो गये । उसे जलते देख उसपर रहनेवाली स्त्रियाँ इधर-उधर भाग गयीं । धर्मराज ! इस प्रकार युद्धमें सौभ विमान तथा राजा शाल्वको नष्ट करके मैं पुनः आनर्तनगर (द्वारका) में लौट आया और सुहृदोंका हर्ष बढ़ाने लगा । राजन् ! यही कारण है, जिससे मैं उन दिनों हस्तिनापुरमें न आ सका । शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले धर्मराज ! मेरे आनेपर या तो जूआ नहीं होता या दुर्योधन जीवित

नहीं रह पाता। जैसे बाँध टूट जानेपर पानीको कोई नहीं रोक सकता, उसी प्रकार आज जब कि सब कुछ बिगड़ चुका है, तब मैं क्या कर सकूँगा।

ऐसा कहकर पुरुषोंमें श्रेष्ठ महाबाहु श्रीमान् मधुसूदन कुरुनन्दन युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर द्वारकाकी ओर चले। महाबाहु श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरको प्रणाम किया। राजा युधिष्ठिर तथा भीमने बड़ी-बड़ी भुजाओंवाले श्रीकृष्णका सिर सूँघा। अर्जुनने उनको हृदयसे लगाया और नकुल-सहदेवने उनके चरणोंमें प्रणाम किया। पुरोहित धौम्यजीने उनका सम्मान किया तथा द्रौपदीने अपने आँसुओंसे उनकी अर्चना की। पाण्डवोंसे सम्मानित श्रीकृष्ण सुभद्रा और अभिमन्युको अपने सुवर्णमय रथपर बैठाकर स्वयं भी उसपर आरूढ़ हुए। उस रथमें शैव्य और सुग्रीव नामक घोड़े जुते हुए थे और वह सूर्यके समान तेजस्वी प्रतीत होता था। युधिष्ठिरको आश्वासन देकर श्रीकृष्ण उसी रथके द्वारा द्वारकापुरीकी ओर चल दिये।

पाण्डव अपनी भुजाओंद्वारा जीती हुई पृथ्वीको ही ग्रहण करेंगे, दूसरोंकी दी हुई नहीं—यह कथन

वनवासी पाण्डव तीर्थयात्राके प्रसंगसे प्रभास क्षेत्रमें गये। वहाँ उनका आगमन सुनकर द्वारकावासी यादव उनसे मिलने आये। पाण्डवोंको अत्यन्त दुर्बल देखकर वेदनासे पीड़ित हो वे आँसू बहाने लगे। बलरामजीने वहाँ सहानुभूति-सूचक दुःख-पूर्ण उद्गार प्रकट किया। सात्यकिने वीरोचित उद्गार प्रकट करते हुए कहा—'हम यादवोंकी सेना लेकर धृतराष्ट्र-पुत्रोंपर अभी चढ़ाई कर दें और उन्हें मारकर उनके हाथसे सारा राज्य छीनकर पाण्डवोंको दे दें। पाण्डव लोग यदि वनवासका नियम पूरा करके ही लौटना चाहें तो इनके लौटनेतक अभिमन्यु राजगद्दी सँभालें।' सात्यकिका यह उत्साह और शौर्यसे भरा वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा—

काम, भय, लोभ—किसी हेतुसे भी युधिष्ठिर धर्म नहीं छोड़ सकते

वासुदेव उवाच

असंशयं माधव सत्यमेतद्
गृह्णीम ते वाक्यमदीनसत्त्व।
स्वाभ्यां भुजाभ्यामजितां तु भूमिं
नेच्छेत् कुरूणामृषभः कथंचित्॥
न ह्येष कामान्न भयान्न लोभाद्
युधिष्ठिरो जातु जह्यात् स्वधर्मम्।
भीमार्जुनौ चातिरथौ यमौ च
तथैव कृष्णा द्रुपदात्मजेयम्॥
उभौ हि युद्धेऽप्रतिमौ पृथिव्यां
वृकोदरश्चैव धनंजयश्च।
कस्मान्न कृत्स्नां पृथिवीं प्रशासे-
न्माद्रीसुताभ्यां च पुरस्कृतोऽयम्॥
यदा तु पञ्चालपतिर्महात्मा
सकेकयश्चेदिपतिर्वयं च।
युध्येम विक्रम्य रणे समेता-
स्तदैव सर्वे रिपवो हि न स्युः॥

(महाभारत वनपर्व १२० । २३—२६)

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—उदारहृदय मधुकुलभूषण सात्यके! तुम्हारी यह बात सत्य है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। हम तुम्हारे इन वचनोंको स्वीकार करते हैं; परंतु ये कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर किसी भी ऐसी भूमिको किसी तरह लेना नहीं चाहेंगे, जिसे इन्होंने अपनी भुजाओंद्वारा न जीता हो। कामना, भय अथवा लोभ—किसी भी कारणसे युधिष्ठिर अपना धर्म कदापि नहीं छोड़ सकते। उसी तरह अतिरथी वीर भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा यह द्रुपदकुमारी कृष्णा भी अपना धर्म नहीं छोड़ सकती। भीमसेन और अर्जुन—

ये दोनों वीर युद्धमें इस पृथ्वीपर अपना सानी नहीं रखते। इनसे और दोनों माद्रीकुमारोंसे संयुक्त होनेपर ये युधिष्ठिर सारी पृथ्वीका शासन कैसे नहीं कर सकते? जब महात्मा पाञ्चालराज, केकय, चेदिराज और हम सब लोग एक साथ होकर रणमें पराक्रम दिखायेंगे, उसी समय हमारे सारे शत्रुओंका अस्तित्व मिट जायगा।

राजा विराटकी सभामें भगवान् श्रीकृष्णका भाषण

विराटकी राजधानीमें उत्तरा और अभिमन्युका विवाह करके कुरुवीर पाण्डव तथा उनके अपने पक्षके लोग (यादव-पाञ्चाल आदि) अत्यन्त आनन्दित हुए। रात्रिमें विश्राम करके वे प्रातःकाल जगे और (नित्य-कर्म करके) विराटकी सभामें उपस्थित हुए। वहाँ सबसे पहले राजा विराट और द्रुपद आसनपर विराजमान हुए; क्योंकि वे दोनों समस्त भूपतियोंमें वृद्ध और माननीय थे। तत्पश्चात् अपने पिता वसुदेवके साथ बलराम और श्रीकृष्णने भी आसन ग्रहण किये। पाञ्चालराज द्रुपदके पास शिनिवंशके श्रेष्ठ वीर सात्यकि तथा रोहिणीनन्दन बलरामजी बैठे थे और मत्स्यराज विराटके अत्यन्त निकट श्रीकृष्ण तथा युधिष्ठिर विराजमान थे। राजा द्रुपदके सब पुत्र, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, युद्धवीर प्रद्युम्न और साम्ब, विराटके पुत्रोंसहित अभिमन्यु तथा द्रौपदीके सभी पुत्र सुवर्णजटित सुन्दर सिंहासनोंपर आस-पास ही बैठे थे। द्रौपदीके पाँचों पुत्र पराक्रम, सौन्दर्य और बलमें अपने पिता पाण्डवोंके ही समान थे। वे सब-के-सब शूरवीर थे। भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंके कार्यके लिये ही उन श्रेष्ठ राजाओंको संगठित किया था। जब उन सब लोगोंकी बातचीत बंद हो गयी, तब वे सिंहके समान पराक्रमी नरेश एक साथ श्रीकृष्णके सारगर्भित तथा श्रेष्ठ फल देनेवाले वचन सुनने लगे।

श्रीकृष्ण उवाच

सर्वैर्भवद्भिर्विदितं यथायं
युधिष्ठिरः सौबलेनाक्षवत्याम्।
जितो निकृत्यापहृतं च राज्यं
वनप्रवासे समयः कृतश्च॥
शक्तैर्विजेतुं तरसा महीं च
सत्ये स्थितैः सत्यरथैर्यथावत्।
पाण्डोः सुतैस्तद् व्रतमुग्ररूपं
वर्षाणि षट् सप्त च चीर्णमग्र्यैः॥
त्रयोदशश्चैव सुदुस्तरोऽय-
मज्ञायमानैर्भवतां समीपे।
क्लेशानसह्यान् विविधान् सहद्भि-
र्महात्मभिश्चापि वने निविष्टम्॥
एतैः परप्रेष्यनियोगयुक्तै-
रिच्छद्भिराप्तं स्वकुलेन राज्यम्।
एवंगते धर्मसुतस्य राज्ञो
दुर्योधनस्यापि च यद्धितं स्यात्॥
तच्चिन्तयध्वं कुरुपुङ्गवानां
धर्म्यं च युक्तं च यशस्करं च।
अधर्मयुक्तं न च कामयेत
राज्यं सुराणामपि धर्मराजः॥
धर्मार्थयुक्तं तु महीपतित्वं
ग्रामेऽपि कस्मिंश्चिदयं बुभूषेत्।
पित्र्यं हि राज्यं विदितं नृपाणां
यथापकृष्टं धृतराष्ट्रपुत्रैः॥

(महाभारत उद्योग० १। १०—१५)

श्रीकृष्णने भाषण देना प्रारम्भ किया—उपस्थित सुहृद्गण! आप सब लोगोंको यह मालूम ही है कि सुबलपुत्र शकुनिने द्यूतसभामें किस प्रकार कपट करके धर्मात्मा युधिष्ठिरको परास्त किया और इनका राज्य छीन लिया है। उस जूएमें यह शर्त रख दी गयी थी कि जो हारे, वह बारह वर्षोंतक वनवास और एक वर्षतक अज्ञातवास करे। पाण्डव सदा सत्यपर आरूढ़ रहते हैं। सत्य ही इनका रथ (आश्रय) है। इनमें वेगपूर्वक समस्त भूमण्डलको जीत लेनेकी शक्ति है तथापि इन वीराग्रगण्य पाण्डुकुमारोंने सत्यका खयाल करके तेरह वर्षोंतक

वनवास और अज्ञातवासके उस कठोर व्रतका धैर्यपूर्वक पालन किया है, जिसका स्वरूप बड़ा ही उग्र है। इस तेरहवें वर्षको पार करना बहुत ही कठिन था, परंतु इन महात्माओंने आपके पास ही अज्ञातरूपसे रहकर भाँति-भाँतिके असह्य क्लेश सहते हुए यह वर्ष बिताया है, इसके अतिरिक्त बारह वर्षोंतक ये वनमें भी रह चुके हैं। अपनी कुलपरम्परासे प्राप्त हुए राज्यकी अभिलाषासे ही इन वीरोंने अबतक अज्ञातावस्थामें दूसरोंकी सेवामें संलग्न रहकर तेरहवाँ वर्ष पूरा किया है। ऐसी परिस्थितिमें जिस उपायसे धर्मपुत्र युधिष्ठिर तथा राजा दुर्योधनका भी हित हो, उसका आपलोग विचार करें। आप कोई ऐसा मार्ग ढूँढ़ निकालें, जो इन कुरुश्रेष्ठ वीरोंके लिये धर्मानुकूल, न्यायोचित तथा यशकी वृद्धि करनेवाला हो। धर्मराज युधिष्ठिर यदि धर्मके विरुद्ध देवताओंका भी राज्य प्राप्त होता हो, तो उसे लेना नहीं चाहेंगे। किसी छोटेसे गाँवका राज्य भी यदि धर्म और अर्थके अनुकूल प्राप्त होता हो, तो ये उसे लेनेकी इच्छा कर सकते हैं। आप सभी नरेशोंको यह विदित ही है कि धृतराष्ट्रके पुत्रोंने पाण्डवोंके पैतृक राज्यका किस प्रकार अपहरण किया है।

मिथ्योपचारेण यथा ह्यनेन
कृच्छ्रं महत् प्राप्तमसह्यरूपम्।
न चापि पार्थो विजितो रणे तैः
स्वतेजसा धृतराष्ट्रस्य पुत्रैः॥

तथापि राजा सहितः सुहृद्भि-
रभीप्सतेऽनामयमेव तेषाम्।
यत् तु स्वयं पाण्डुसुतैर्विजित्य
समाहृतं भूमिपतीन् प्रपीड्य॥

तत् प्रार्थयन्ते पुरुषप्रवीराः
कुन्तीसुता माद्रवतीसुतौ च।
बालास्त्विमे तैर्विविधैरुपायैः
सम्प्रार्थिता हन्तुममित्रसंघैः॥

राज्यं जिहीर्षद्भिरसद्भिरुग्रैः
सर्वं च तद् वो विदितं यथावत्।
तेषां च लोभं प्रसमीक्ष्य वृद्धं
धर्मज्ञतां चापि युधिष्ठिरस्य॥

सम्बन्धितां चापि समीक्ष्य तेषां
मतिं कुरुध्वं सहिताः पृथक् च।
इमे च सत्येऽभिरताः सदैव
तं पालयित्वा समयं यथावत्॥

अतोऽन्यथा तैरुपचर्यमाणा
हन्युः समेतान् धृतराष्ट्रपुत्रान्।
तैर्विप्रकारं च निशम्य कार्ये
सुहृज्जनास्तान् परिवारयेयुः॥

युद्धेन बाधेयुरिमांस्तथैव
तैर्बाध्यमाना युधि तांश्च हन्युः।
तथापि नेमेऽल्पतया समर्था-
स्तेषां जयायेति भवेन्मतं वः॥

समेत्य सर्वे सहिताः सुहृद्भि-
स्तेषां विनाशाय यतेयुरेव।
दुर्योधनस्यापि मतं यथाव-
न्न ज्ञायते किं नु करिष्यतीति॥

अज्ञायमाने च मते परस्य
किं स्यात् समारभ्यतमं मतं वः।
तस्मादितो गच्छतु धर्मशीलः
शुचिः कुलीनः पुरुषोऽप्रमत्तः

दूतः समर्थः प्रशमाय तेषां
राज्यार्धदानाय युधिष्ठिरस्य ।

(महाभारत उद्योग० १ । १६—२४½)

कौरवोंके इस मिथ्या व्यवहार तथा छल-कपटके कारण पाण्डवोंको कितना महान् और असह्य कष्ट भोगना पड़ा है, यह भी आपलोगोंसे छिपा नहीं है । धृतराष्ट्रके उन पुत्रोंने अपने बल और पराक्रमसे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको किसी युद्धमें पराजित नहीं किया था (छलसे ही इनका राज्य छीना) । तथापि सुहृदोंसहित राजा युधिष्ठिर उनकी भलाई ही चाहते हैं । पाण्डवोंने दूसरे-दूसरे राजाओंको युद्धमें जीतकर उन्हें पीड़ित करके जो धन स्वयं प्राप्त किया था, उसीको कुन्ती और माद्रीके ये वीर पुत्र माँग रहे हैं । जब पाण्डव बालक थे—अपना हित-अहित कुछ नहीं समझते थे, तभी इनके राज्यको हर लेनेकी इच्छासे उन उग्र प्रकृतिके दुष्ट शत्रुओंने संघबद्ध होकर भाँति-भाँतिके षड्यन्त्रोंद्वारा इन्हें मार डालनेकी पूरी चेष्टा की थी; ये सब बातें आपलोग अच्छी तरह जानते होंगे । अतः सभी सभासद् कौरवोंके बढ़े हुए लोभको, युधिष्ठिरकी धर्मज्ञताको तथा इन दोनोंके पारस्परिक सम्बन्धको देखते हुए अलग-अलग तथा एक रायसे भी कुछ निश्चय करें । ये पाण्डवगण सदा ही सत्यपरायण होनेके कारण पहले की हुई प्रतिज्ञाका यथावत् पालन करके हमारे सामने उपस्थित हैं ।

यदि अब भी धृतराष्ट्रके पुत्र इनके साथ विपरीत व्यवहार ही करते रहेंगे—इनका राज्य नहीं लौटायेंगे, तो पाण्डव उन सबको मार डालेंगे । कौरवलोग पाण्डवोंके कार्यमें विघ्न डाल रहे हैं और उनकी बुराईपर ही तुले हुए हैं; यह बात निश्चितरूपसे जान लेनेपर सुहृदों और सम्बन्धियोंको उचित है कि वे उन दुष्ट कौरवोंको (इस प्रकार अत्याचार करनेसे) रोकें । यदि धृतराष्ट्रके पुत्र इस प्रकार युद्ध छेड़कर इन पाण्डवोंको सतायेंगे, तो उनके बाध्य करनेपर ये भी डटकर युद्धमें उनका सामना करेंगे और उन्हें मार गिरायेंगे । सम्भव है, आपलोग यह सोचते हों कि ये पाण्डव अल्पसंख्यक होनेके कारण उनपर विजय पानेमें समर्थ नहीं हैं । तथापि ये सब लोग अपने हितैषी सुहृदोंके साथ मिलकर शत्रुओंके विनाशके लिये प्रयत्न तो करेंगे ही । (अतः इन्हें आपलोग दुर्बल न समझें ।) युद्धका भी निश्चय कैसे किया जाय; क्योंकि दुर्योधनके भी मतका अभी ठीक-ठीक पता नहीं है कि वह क्या करेगा ? शत्रुपक्षका विचार जाने बिना आपलोग कोई ऐसा निश्चय कैसे कर सकते हैं, जिसे अवश्य ही कार्यरूपमें परिणत किया जा सके ? अतः मेरा विचार है कि यहाँसे कोई धर्मशील, पवित्रात्मा, कुलीन और सावधान पुरुष दूत बनकर वहाँ जाय । वह दूत ऐसा होना चाहिये, जो उनके जोश तथा रोषको शान्त करनेमें समर्थ हो और उन्हें युधिष्ठिरको इनका आधा राज्य दे देनेके लिये विवश कर सके ।

बलराम, सात्यकि तथा द्रुपदके भाषण और भगवान् श्रीकृष्णद्वारा द्रुपदकी बातका अनुमोदन

भगवान् श्रीकृष्णका धर्म और अर्थसे युक्त, मधुर एवं उभय पक्षके लिये समानरूपसे हितकर वचन सुनकर उनके बड़े भाई बलरामजीने उस भाषणकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके अपना वक्तव्य आरम्भ किया ।

सज्जनो ! गदाग्रज श्रीकृष्णने जो कुछ धर्मानुकूल तथा अर्थशास्त्रसम्मत सम्भाषण किया है, उसे आप सब लोगोंने सुना है । इसीमें अजातशत्रु युधिष्ठिरका भी हित है तथा ऐसा करनेसे ही राजा दुर्योधनकी भलाई है । वीर कुन्तीकुमार आधा राज्य छोड़कर केवल आधेके लिये ही प्रयत्नशील हैं । दुर्योधन भी पाण्डवोंको आधा राज्य देकर हमारे साथ स्वयं भी सुखी और प्रसन्न होगा । यदि दुर्योधनका भी विचार जाननेके लिये तथा कौरव-पाण्डवोंमें शान्ति स्थापित करनेके लिये कोई दूत जाय, तो यह मेरे लिये बड़ी प्रसन्नताकी बात होगी । किसी भी दशामें कौरवोंको

उत्तेजित या कुपित नहीं करना चाहिये; क्योंकि उन्होंने बलवान् होकर ही पाण्डवोंके राज्यपर अधिकार जमाया है। (युधिष्ठिर भी सर्वथा निर्दोष नहीं हैं, क्योंकि) ये जूएको प्रिय मानकर उसमें आसक्त हो गये थे, तभी इनके राज्यका अपहरण हुआ है। कौरव-पाण्डवोंमें परस्पर युद्ध हो, ऐसी आशङ्का न करो—ऐसा कोई कदम न उठाओ। संधि या समझौतेकी भावनासे ही दुर्योधनको आमन्त्रित करो। मेल-मिलापसे समझा-बुझाकर जो प्रयोजन सिद्ध किया जाता है, वही परिणाममें हितकारी होता है। युद्धमें तो दोनों पक्षकी ओरसे अन्याय अर्थात् अनीतिका ही बर्ताव किया जाता है और अन्यायसे इस जगत्में किसी प्रयोजनकी सिद्धि नहीं हो सकती।

बलदेवजी इस प्रकार कह ही रहे थे कि शिनिवंशके श्रेष्ठ शूरमा सात्यकि सहसा उछलकर खड़े हो गये। उन्होंने कुपित होकर बलभद्रजीके भाषणकी कड़ी आलोचना करते हुए इस प्रकार कहना आरम्भ किया—

महात्मा युधिष्ठिर जूआ खेलना नहीं जानते थे, तो भी जूएके खेलमें निपुण धूर्तोंने उन्हें अपने घर बुलाकर अपने विश्वासके अनुसार हराया अथवा जीता है। यह उनकी धर्मपूर्वक विजय कैसे कही जा सकती है? यदि भाइयोंसहित कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर अपने घरपर जूआ खेलते होते और ये कौरव वहाँ जाकर उन्हें हरा देते, तो यह उनकी धर्मपूर्वक विजय कही जा सकती थी। परंतु उन्होंने सदा क्षत्रिय-धर्ममें तत्पर रहनेवाले राजा युधिष्ठिरको बुलाकर छल और कपटसे उन्हें पराजित किया है। क्या यही उनका परम कल्याणमय कर्म कहा जा सकता है? ये राजा युधिष्ठिर अपनी वनवास-विषयक प्रतिज्ञा तो पूर्ण ही कर चुके हैं, अब किसलिये उनके आगे मस्तक झुकायें—क्यों प्रणाम अथवा विनय करें? वनवासके बन्धनसे मुक्त होकर अब ये अपने बाप-दादोंके राज्यको पानेके न्यायतः अधिकारी हो गये हैं। यदि युधिष्ठिर अन्यायसे भी अपना धन, अपना राज्य लेनेकी इच्छा करें, तो भी अत्यन्त दीन बनकर शत्रुओंके सामने हाथ फैलाने या भीख माँगनेके योग्य नहीं हैं। कौरव पाण्डवोंको उनका पैतृक धन वापस देनेका निश्चय अथवा प्रयास नहीं कर रहे हैं। मैं तो रणभूमिमें पैने बाणोंसे उन्हें बलपूर्वक मनाकर महात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरके चरणोंमें गिरा दूँगा। यदि वे परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरके चरणोंमें गिरनेका निश्चय नहीं करेंगे, तो अपने मन्त्रियोंसहित उन्हें यमलोककी यात्रा करनी पड़ेगी। आततायी शत्रुओंका वध करनेमें कोई पा[illegible] नहीं है। शत्रुओंके सामने याचना करना ही अधर्म औ[illegible] अपयशकी बात है।

(सात्यकिकी बात सुनकर) द्रुपदने कहा—महाबाहो! तुम्हारा कहना ठीक है। इसमें संदेह नहीं कि ऐसा ही होगा; क्योंकि दुर्योधन मधुर व्यवहारसे राज्य नहीं देगा। अपने उस पुत्रके प्रति आसक्त रहनेवाले धृतराष्ट्र भी उसीका अनुसरण करेंगे। भीष्म और द्रोणाचार्य दीनतावश त[illegible] कर्ण और शकुनि मूर्खतावश दुर्योधनका साथ देंगे। [illegible] पापपूर्ण विचार रखनेवाला है; अतः मृदु व्यवहारसे [illegible] आनेवाला नहीं है। हमें अपने मित्रोंके पास यह संदे[illegible] भेजना चाहिये कि वे हमारे लिये सैन्य-संग्रहका उद्यो[illegible] करें। हमारे शीघ्रगामी दूत शल्य, धृष्टकेतु, जयत्सेन औ[illegible] समस्त केकयराजकुमारोंके पास जायँ। निश्चय ही दुर्योध[illegible] भी सबके यहाँ संदेश भेजेगा। श्रेष्ठ राजा जब किसीके द्वा[illegible] पहले सहायताके लिये निमन्त्रित हो जाते हैं, तब प्र[illegible] निमन्त्रण देनेवालेकी ही सहायता करते हैं। अतः स[illegible] राजाओंके पास पहले ही अपना निमन्त्रण पहुँच ज[illegible] इसके लिये शीघ्रता करो। मैं समझता हूँ, हम सब लोगोंक[illegible] महान् कार्यका भार वहन करना है। मत्स्यराज! ये मे[illegible] पुरोहित विद्वान् ब्राह्मण हैं, इन्हें धृतराष्ट्रके पास भेजि[illegible] और वहाँके लिये उचित संदेश दीजिये। दुर्योधनसे [illegible] कहना है? शान्तनुनन्दन भीष्मजीसे किस प्रकार बातचीत करनी है? धृतराष्ट्रको क्या संदेश देना है? तथा रथियों[illegible] श्रेष्ठ द्रोणाचार्यसे किस प्रकार वार्तालाप करना है? यह स[illegible] उन्हें समझा दीजिये।

वासुदेव उवाच

उपपन्नमिदं वाक्यं सोमकानां धुरंधरे।
अर्थसिद्धिकरं राज्ञः पाण्डवस्यामितौजसः॥
एतच्च पूर्वं कार्यं नः सुनीतमभिकाङ्क्षताम्।
अन्यथा ह्याचरन् कर्म पुरुषः स्यात् सुबालिशः॥
किं तु सम्बन्धकं तुल्यमस्माकं कुरुपाण्डुषु।
यथेष्टं वर्तमानेषु पाण्डवेषु च तेषु च॥
ते विवाहार्थमानीता वयं सर्वे तथा भवान्।
कृते विवाहे मुदिता गमिष्यामो गृहान् प्रति॥
भवान् वृद्धतमो राज्ञां वयसा च श्रुतेन च।

शिष्यवत् ते वयं सर्वे भवामेह न संशयः ॥
भवन्तं धृतराष्ट्रश्च सततं बहु मन्यते ।
आचार्ययोः सखा चासि द्रोणस्य च कृपस्य च ॥
स भवान् प्रेषयत्वद्य पाण्डवार्थकरं वचः ।
सर्वेषां निश्चितं तन्नः प्रेषयिष्यति यद् भवान् ॥
यदि तावच्छमं कुर्यान्न्यायेन कुरुपुङ्गवः ।
न भवेत् कुरुपाण्डूनां सौभ्रात्रेण महान् क्षयः ॥
अथ दर्पान्वितो मोहान्न कुर्याद् धृतराष्ट्रजः ।
अन्येषां प्रेषयित्वा च पश्चादस्मान् समाह्वये ॥
ततो दुर्योधनो मन्दः सहामात्यः सबान्धवः ।
निष्ठामापत्स्यते मूढः क्रुद्धे गाण्डीवधन्वनि ॥

(महाभारत उद्योग० ५ । १—१०)

तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने कहा—सभासदो! सोमकवंशके धुरंधर वीर महाराज द्रुपदने जो बात कही है, वह उन्हींके योग्य है। इसीसे अमित तेजस्वी पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिरके अभीष्ट कार्यकी सिद्धि हो सकती है। हमलोग सुनीतिकी इच्छा रखनेवाले हैं; अतः हमें सबसे पहले यही कार्य करना चाहिये। जो अवसरके विपरीत आचरण करता है, वह मनुष्य अत्यन्त मूर्ख माना जाता है। परंतु हमलोगोंका कौरवों और पाण्डवोंसे एक-सा सम्बन्ध है। पाण्डव और कौरव दोनों ही हमारे साथ यथायोग्य अनुकूल बर्ताव करते हैं। इस समय हम और आप सब लोग विवाहोत्सवमें निमन्त्रित होकर आये हैं। विवाहकार्य सम्पन्न हो गया; अतः अब हम प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने घरोंको लौट जायँगे। आप समस्त राजाओंमें अवस्था तथा शास्त्रज्ञान दोनों ही दृष्टियोंसे सबकी अपेक्षा बड़े हैं। इसमें संदेह नहीं कि हम सब लोग आपके शिष्यके समान हैं। राजा धृतराष्ट्र भी सदा आपको विशेष आदर देते हैं, आचार्य द्रोण और कृप दोनोंके आप सखा हैं। अतः आप ही आज पाण्डवोंकी कार्य-सिद्धिके अनुकूल संदेश भेजिये। आप जो भी संदेश भेजेंगे, वह हम सब लोगोंका निश्चित मत होगा। यदि कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन न्यायके अनुसार शान्ति स्वीकार करेगा, तो कौरव और पाण्डवोंमें परस्पर बन्धुजनोचित सौहार्द-वश महान् संहार न होगा। यदि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन मोहवश घमंडमें आकर हमारा प्रस्ताव स्वीकार न करे, तो आप दूसरे राजाओंको युद्धका निमन्त्रण भेजकर सबके बाद हमलोगोंको आमन्त्रित कीजियेगा। फिर तो गाण्डीवधन्वा अर्जुनके कुपित होनेपर मन्दबुद्धि मूढ दुर्योधन अपने मन्त्रियों और बन्धुजनोंके साथ सर्वथा नष्ट हो जायगा।

श्रीकृष्णके द्वारा दुर्योधन और अर्जुन दोनोंको सहायता देने, अर्जुनका सारथि बननेके लिये स्वीकृति

पाण्डवलोग युद्धोद्योगमें लगे थे और भारतके विभिन्न नरेशोंको निमन्त्रण दे रहे थे। श्रीकृष्ण विराट-नगरसे द्वारकापुरीको चल दिये थे। दुर्योधनको गुप्तचरोंसे जब इस बातका पता चला तो वह भी द्वारकाकी ओर प्रस्थित हो गया। पाण्डव-पक्षसे अर्जुन श्रीकृष्णसे सहायता माँगनेके लिये चले। दोनों एक ही समय वहाँ पहुँचे। उस समय श्रीकृष्ण शयन कर रहे थे। दुर्योधन पहले उनके शयनगृहमें गये और उनके सिरहानेकी ओर रक्खे हुए एक श्रेष्ठ सिंहासनपर बैठ गये। इसके बाद अर्जुन पहुँचे और बड़ी नम्रताके साथ हाथ

जोड़े हुए श्रीकृष्णके चरणोंकी ओर खड़े हो गये। नींद खुलनेपर श्रीकृष्णने पहले अर्जुनको देखा और उन दोनोंका यथावत् सत्कार किया। तदनन्तर दुर्योधन बोले—'मधुसूदन! मैं पहले आया हूँ, अतः युद्धमें आप मेरी सहायता कीजिये।' यह सुनकर श्रीकृष्णने कहा—

भवानभिगतः पूर्वमत्र मे नास्ति संशयः।
दृष्टस्तु प्रथमं राजन् मया पार्थो धनंजयः॥
तव पूर्वाभिगमनात् पूर्वं चाप्यस्य दर्शनात्।
साहाय्यमुभयोरेव करिष्यामि सुयोधन॥
प्रवारणं तु बालानां पूर्वं कार्यमिति श्रुतिः।
तस्मात् प्रवारणं पूर्वमर्हः पार्थो धनंजयः॥
मत्संहननतुल्यानां गोपानामर्बुदं महत्।
नारायणा इति ख्याताः सर्वे संग्रामयोधिनः॥
ते वा युधि दुराधर्षा भवन्त्वेकस्य सैनिकाः।
अयुध्यमानः संग्रामे न्यस्तशस्त्रोऽहमेकतः॥
आभ्यामन्यतरं पार्थ यत् ते हृद्यतरं मतम्।
तद् वृणीतां भवानग्रे प्रवार्यस्त्वं हि धर्मतः॥

(महाभारत उद्योग० ७। १५-२०)

'राजन्! इसमें संदेह नहीं कि आप ही मेरे यहाँ पहले आये हैं; परंतु मैंने पहले कुन्तीनन्दन अर्जुनको ही देखा है। सुयोधन! आप पहले आये हैं और अर्जुनको मैंने पहले देखा है; इसलिये मैं दोनोंकी ही सहायता करूँगा। शास्त्रकी आज्ञा है कि पहले बालकोंको ही उनकी अभीष्ट वस्तु देनी चाहिये; अतः अवस्थामें छोटे होनेके कारण पहले कुन्तीपुत्र अर्जुन ही अपनी अभीष्ट वस्तु पानेके अधिकारी हैं। मेरे पास दस करोड़ गोपोंकी विशाल सेना है, जो सब-के-सब मेरे-जैसे ही बलिष्ठ शरीरवाले हैं। उन सबकी 'नारायण' संज्ञा है, वे सभी युद्धमें डटकर लोहा लेनेवाले हैं। एक ओर तो वे दुर्धर्ष सैनिक युद्धके लिये उद्यत रहेंगे और दूसरी ओरसे अकेला मैं रहूँगा, परंतु मैं न तो युद्ध करूँगा और न कोई शस्त्र ही धारण करूँगा। अर्जुन! इन दोनोंमेंसे कोई एक वस्तु जो तुम्हारे मनको अधिक प्रिय जान पड़े, तुम पहले चुन लो; क्योंकि धर्मके अनुसार पहले तुम्हें ही अपनी मनचाही वस्तु चुननेका अधिकार है।'

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि अर्जुनने केवल भगवान् श्रीकृष्णको चुना और उन्हींकी विजय हुई। दुर्योधन भगवान्‌को चाहते भी नहीं थे। उनको नारायणी सेनाकी जरूरत थी। पर नारायणरहित नारायणी सेना वैसी ही थी जैसे चेतन आत्मारहित शरीर।

दुर्योधनके चले जानेपर पीताम्बरधारी जगत्स्रष्टा जनार्दन श्रीकृष्णने अर्जुनसे पूछा—

अयुध्यमानः कां बुद्धिमास्थायाहं वृतस्त्वया॥

(महाभारत उद्योग० ७। ३४)

'पार्थ! मैं तो युद्ध करूँगा नहीं, फिर तुमने क्या सोच-समझकर मुझे चुना है?'

अर्जुन बोले—आप शत्रुनाशक हैं और मैं भी शत्रुओंका नाश चाहता हूँ, आप यशस्वी हैं और मैं भी यश चाहता हूँ, इसलिये आपको चुना है। इसके सिवा मेरे मनमें चिरकालसे यह अभिलाषा थी कि आपको अपना सारथि बनाऊँ, मेरी इस कामनाको आप पूर्ण करें।

वासुदेव उवाच

उपपन्नमिदं पार्थ यत् स्पर्धसि मया सह।
सारथ्यं ते करिष्यामि कामः सम्पद्यतां तव॥

(महाभारत उद्योग० ७। ३८)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—पार्थ! तुम जो (शत्रुओंपर विजय पानेमें) मेरे साथ स्पर्धा रखते हो, यह तुम्हारे लिये ठीक ही है। मैं तुम्हारा सारथ्य करूँगा। तुम्हारा यह मनोरथ पूर्ण हो।

संजयकी बातोंका उत्तर देते हुए श्रीकृष्णका उसे धृतराष्ट्रके लिये चेतावनी देना

भगवान् श्रीकृष्ण और द्रुपदकी सम्मतिके अनुसार हस्तिनापुरमें पाण्डवपक्षसे दूत भेजा गया। दूतका कार्य सम्पन्न किया राजा द्रुपदके बुद्धिमान् पुरोहितने। उन्होंने कहा—'पाण्डवोंपर कौरवोंकी ओरसे पहले बड़े-बड़े अत्याचार किये गये हैं। उन्हें छलसे जूएमें हराकर वनवास और अज्ञातवासके लिये विवश किया गया है तथापि पाण्डव वनवासका नियम पूर्ण करके आ गये हैं और अपना पैतृक राज्य माँग रहे हैं। वे पुरानी बातें भुलाकर कौरवोंसे मेल-जोल बनाये रखना चाहते हैं और जनसंहार किये बिना ही अपना न्याय्य राज्याधिकार प्राप्त करना चाहते हैं। उनकी इस शान्तिको दुर्बलता न माना जाय। वे स्वयं तो अजेय शूरवीर हैं ही, उनके साथ शूरवीरोंकी सात अक्षौहिणी सेनाएँ भी हैं। सात्यकि, भीमसेन, नकुल, सहदेव, अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्ण युधिष्ठिरके संरक्षक हैं। इन सब बातोंको समझ लेनेपर कोई भी पाण्डवोंके साथ भिड़नेका साहस नहीं कर सकता। अतः आपलोग धर्म और पहलेकी की हुई प्रतिज्ञाके अनुसार पाण्डवोंको उनका आधा राज्य, जो उन्हें मिलना ही चाहिये, दे दीजिये। कहीं ऐसा न हो कि यह सुन्दर अवसर आपलोगोंके हाथसे निकल जाय।'

द्रुपद-पुरोहितके इस कथनका भीष्मजीने समर्थन किया और कर्णने विरोध। किंतु धृतराष्ट्रने कर्णको डाँटकर पुरोहितको सादर विदा किया और कहा—'मैं संजयको युधिष्ठिरके पास भेजूँगा।' इस निश्चयके अनुसार संजयको भेजा गया। संजय पाण्डवोंसे मिले। कुशल-प्रश्नके पश्चात् उन्होंने युधिष्ठिरको धृतराष्ट्रका संदेश सुनाया और उन्हें युद्धसे विरत रहनेकी सलाह दी। युधिष्ठिरने श्रीकृष्णपर सारा भार डाल दिया और कहा, 'श्रीकृष्ण जो कहेंगे, वही करूँगा; मैं इनकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता।' तब भगवान् श्रीकृष्णने संजयको इस प्रकार उत्तर दिया—

युधिष्ठिर और हम—शान्ति चाहते हैं

वासुदेव उवाच

अविनाशं संजय पाण्डवाना-
मिच्छाम्यहं भूतिमेषां प्रियं च।
तथा राज्ञो धृतराष्ट्रस्य सूत
समाशंसे बहुपुत्रस्य वृद्धिम्॥
कामो हि मे संजय नित्यमेव
नान्यद् ब्रूयां तान् प्रति शाम्यतेति।
राज्ञश्च हि प्रियमेतच्छृणोमि
मन्ये चैतत् पाण्डवानां समक्षम्॥
सुदुष्करस्तत्र शमो हि नूनं
प्रदर्शितः संजय पाण्डवेन।
यस्मिन् गृद्धो धृतराष्ट्रः सपुत्रः
कस्मादेषां कलहो नावमूर्च्छेत्॥

(महाभारत उद्योग० २९। १—३)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—सूत संजय! मैं जिस प्रकार पाण्डवोंको विनाशसे बचाना, उनको ऐश्वर्य दिलाना तथा उनका प्रिय करना चाहता हूँ, उसी प्रकार अनेक पुत्रोंसे युक्त राजा धृतराष्ट्रका भी अभ्युदय चाहता हूँ। सूत! मेरी भी सदा यही अभिलाषा है कि दोनों पक्षोंमें शान्ति बनी रहे। 'कुन्तीकुमारो! कौरवोंसे संधि करो, उनके प्रति शान्त बने रहो,'—इसके सिवा दूसरी कोई बात मैं पाण्डवोंके सामने नहीं कहता हूँ। राजा युधिष्ठिरके मुँहसे भी ऐसा ही प्रिय वचन सुनता हूँ और स्वयं भी इसीको ठीक मानता हूँ। संजय! जैसा कि पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने प्रकट किया है, राज्यके प्रश्नोंको लेकर दोनों पक्षोंमें शान्ति बनी रहे, यह अत्यन्त दुष्कर जान पड़ता है। पुत्रोंसहित धृतराष्ट्र (इनके स्वत्व-रूप) जिस राज्यमें आसक्त होकर उसे लेनेकी इच्छा करते हैं, उसके लिये इन कौरव-पाण्डवोंमें कलह कैसे नहीं बढ़ेगा?

गृहस्थके लिये कर्म आवश्यक है

न त्वं धर्मं विचरं संजयेह
मत्तश्च जानासि युधिष्ठिराच्च।
अथो कस्मात् संजय पाण्डवस्य
उत्साहिनः पूरयतः स्वकर्म॥

यथाऽऽख्यातमावसतः कुटुम्बे
पुरा कस्मात् साधुविलोपमात्थ ।
अस्मिन् विधौ वर्तमाने यथाव-
दुच्चावचा मतयो ब्राह्मणानाम् ॥
कर्मणाऽऽहुः सिद्धिमेके परत्र
हित्वा कर्म विद्यया सिद्धिमेके ।
नाभुञ्जानो भक्ष्यभोज्यस्य तृप्येद्
विद्वानपीह विहितं ब्राह्मणानाम् ॥
(महाभारत उद्योग० २९ । ४—६)

संजय ! तुम यह अच्छी तरह जानते हो कि मुझसे और युधिष्ठिरसे धर्मका लोप नहीं हो सकता, तो भी जो उत्साहपूर्वक स्वधर्मका पालन करते हैं तथा शास्त्रोंमें जैसा बताया गया है, उसके अनुसार ही कुटुम्ब (गृहस्थाश्रम) में रहते हैं, उन्हीं पाण्डुकुमार युधिष्ठिरके धर्मलोपकी चर्चा या आशङ्का तुमने पहले किस आधारपर की है ? गृहस्थ-आश्रममें रहनेकी जो शास्त्रोक्त विधि है, उसके होते हुए भी इसके ग्रहण अथवा त्यागके विषयमें वेदज्ञ ब्राह्मणोंके भिन्न-भिन्न विचार हैं । कोई तो (गृहस्थाश्रममें रहकर) कर्मयोगके द्वारा ही परलोकमें सिद्धि लाभ होनेकी बात बताते हैं, दूसरे लोग कर्मको त्यागकर ज्ञानके द्वारा ही सिद्धि (मोक्ष-) का प्रतिपादन करते हैं । विद्वान् पुरुष भी इस जगत्में भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंको भोजन किये बिना तृप्त नहीं हो सकता, अतएव विद्वान् ब्राह्मणके लिये भी क्षुधा-निवृत्तिके हेतु भोजन करनेका विधान है ।

या वै विद्याः साधयन्तीह कर्म
तासां फलं विद्यते नेतरासाम् ।
तत्रेह वै दृष्टफलं तु कर्म
पीत्वोदकं शाम्यति तृष्णयाऽऽर्तः ॥
सोऽयं विधिर्विहितः कर्मणैव
संवर्तते संजय तत्र कर्म ।
तत्र योऽन्यत् कर्मणः साधु मन्ये-
न्मोघं तस्यालपितं दुर्बलस्य ॥
कर्मणामी भान्ति देवाः परत्र
कर्मणैवेह प्लवते मातरिश्वा ।
अहोरात्रे विदधत् कर्मणैव
अतन्द्रितो नित्यमुदेति सूर्यः ॥
मासार्धमासानथ नक्षत्रयोगा-
नतन्द्रितश्चन्द्रमाश्चाभ्युपैति ।
अतन्द्रितो दहते जातवेदाः
समिध्यमानः कर्म कुर्वन् प्रजाभ्यः ॥
अतन्द्रिता भारमिमं महान्तं
बिभर्ति देवी पृथिवी बलेन ।
अतन्द्रिताः शीघ्रमपो वहन्ति
संतर्पयन्त्यः सर्वभूतानि नद्यः ॥
(महाभारत उद्योग० २९ । ७-११)

जो विद्याएँ कर्मका सम्पादन करती हैं, उन्हींका फल दृष्टिगोचर होता है, दूसरी विद्याओंका नहीं । विद्या तथा कर्ममें भी कर्मका ही फल यहाँ प्रत्यक्ष दिखायी देता है । प्याससे पीड़ित मनुष्य जल पीकर ही शान्त होता है (उसे जानकर नहीं; अतः गृहस्थाश्रममें रहकर सत्कर्म करना ही श्रेष्ठ है) । संजय ! ज्ञानका विधान भी कर्मको साथ लेकर ही है; अतः ज्ञानमें भी कर्म विद्यमान है । जो कर्मसे भिन्न कर्मोंके त्यागको श्रेष्ठ मानता है, वह दुर्बल है, उसका कथन व्यर्थ ही है । ये देवता कर्मसे ही स्वर्गलोकमें प्रकाशित होते हैं । वायुदेव कर्मको अपनाकर ही सम्पूर्ण जगत्में विचरण करते हैं तथा सूर्यदेव आलस्य छोड़कर कर्मद्वारा ही दिन-रातका विभाग करते हुए प्रतिदिन उदित होते हैं । चन्द्रमा भी आलस्य त्यागकर (कर्मके द्वारा ही) मास, पक्ष तथा नक्षत्रोंका योग प्राप्त करते हैं; इसी प्रकार जातवेदा (अग्निदेव) भी आलस्यरहित होकर प्रजाके लिये कर्म करते हुए ही प्रज्वलित होकर दाह-

क्रिया सम्पन्न करते हैं। पृथ्वीदेवी भी आलस्यशून्य हो (कर्ममें तत्पर रहकर ही) बलपूर्वक विश्वके इस महान् भारको ढोती हैं। ये नदियाँ भी आलस्य छोड़कर (कर्मपरायण हो) सम्पूर्ण प्राणियोंको तृप्त करती हुई शीघ्रतापूर्वक जल वहाया करती हैं।

बृहस्पति और इन्द्र आदि देवताओंने सत्कर्मसे महत्त्व प्राप्त किया

अतन्द्रितो वर्षति भूरितेजाः
संनादयन्नन्तरिक्षं दिशश्च।
अतन्द्रितो ब्रह्मचर्यं चचार
श्रेष्ठत्वमिच्छन् बलभिद् देवतानाम्॥
हित्वा सुखं मनसश्च प्रियाणि
तेन शक्रः कर्मणा श्रैष्ठ्यमाप।
सत्यं धर्मं पालयन्नप्रमत्तो
दमं तितिक्षां समतां प्रियं च॥
एतानि सर्वाण्युपसेवमानः
स देवराज्यं मघवान् प्राप मुख्यम्।
बृहस्पतिर्ब्रह्मचर्यं चचार
समाहितः संशितात्मा यथावत्॥
हित्वा सुखं प्रतिरुध्येन्द्रियाणि
तेन देवानामगमद् गौरवं सः।
तथा नक्षत्राणि कर्मणामुत्र भान्ति
रुद्रादित्या वसवोऽथापि विश्वे॥
(महाभारत उद्योग० २९। १२–१५)

जिन्होंने देवताओंमें श्रेष्ठ स्थान पानेकी इच्छासे तन्द्रारहित होकर ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया था, वे महातेजस्वी बलसूदन इन्द्र भी आलस्य छोड़कर (कर्मपरायण होकर ही) मेघगर्जनाद्वारा आकाश तथा दिशाओंको गुँजाते हुए समय-समयपर वर्षा करते हैं। इन्द्रने सुख तथा मनको प्रिय लगनेवाली वस्तुओंका त्याग करके सत्कर्मके बलसे ही देवताओंमें ऊँची स्थिति प्राप्त की। उन्होंने सावधान होकर सत्य, धर्म, इन्द्रियसंयम, सहिष्णुता, समदर्शिता तथा सबको प्रिय लगनेवाले उत्तम बर्तावका पालन किया था। इन समस्त सद्गुणोंका सेवन करनेके कारण ही इन्द्रको देवसम्राट्का श्रेष्ठ पद प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार बृहस्पतिजीने भी नियमपूर्वक समाहित एवं संयतचित्त होकर सुखका परित्याग करके समस्त इन्द्रियोंको अपने वशमें रखते हुए ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया था। इसी सत्कर्मके प्रभावसे उन्होंने देवगुरुका सम्मानित पद प्राप्त किया है। आकाशके सारे नक्षत्र सत्कर्मके ही प्रभावसे परलोकमें प्रकाशित हो रहे हैं। रुद्र, आदित्य, वसु तथा विश्वेदेवगण भी कर्मबलसे ही महत्त्वको प्राप्त हुए हैं।

पाण्डव धर्मरक्षा तथा कर्तव्य-पालनमें मृत्युको भी श्रेष्ठ मानते हैं

यमो राजा वैश्रवणः कुबेरो
गन्धर्वयक्षाप्सरसश्च सूत।
ब्रह्मविद्यां ब्रह्मचर्यं क्रियां च
निषेवमाणा ऋषयोऽमुत्र भान्ति॥
जानन्निमं सर्वलोकस्य धर्मं
विप्रेन्द्राणां क्षत्रियाणां विशां च।
स कस्मात् त्वं जानतां ज्ञानवान् सन्
व्यायच्छसे संजय कौरवार्थे॥
आम्नायेषु नित्यसंयोगमस्य
तथाश्वमेधे राजसूये च विद्धि।
संयुज्यते धनुषा वर्मणा च
हस्त्यश्वाद्यै रथशस्त्रैश्च भूयः॥
ते चेदिमे कौरवाणामुपाय-
मवगच्छेयुरवधेनैव पार्थाः।
धर्मत्राणं पुण्यमेषां कृतं स्या-
दार्ये वृत्ते भीमसेनं निगृह्य॥
ते चेत् पित्र्ये कर्मणि वर्तमाना
आपद्येरन् दिष्टवशेन मृत्युम्।

यथाशक्त्या पूरयन्तः स्वकर्म
तदप्येषां निधनं स्यात् प्रशस्तम् ॥
(महाभारत उद्योग० २९ । १९–२०)

सूत ! यमराज, विश्रवाके पुत्र कुबेर, गन्धर्व, यक्ष तथा अप्सराएँ भी अपने-अपने कर्मोंके प्रभावसे ही स्वर्गमें विराजमान हैं । ब्रह्मज्ञान तथा ब्रह्मचर्य-कर्मका सेवन करनेवाले महर्षि भी कर्मबलसे ही परलोकमें प्रकाशमान हो रहे हैं । संजय ! तुम श्रेष्ठ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा सम्पूर्ण लोकोंके इस सुप्रसिद्ध धर्मको जानते हो । तुम ज्ञानियोंमें भी श्रेष्ठ ज्ञानी हो, तो भी तुम कौरवोंकी स्वार्थसिद्धिके लिये क्यों वाग्जाल फैला रहे हो ? राजा युधिष्ठिरका वेद-शास्त्रोंके साथ स्वाध्यायके रूपमें सदा सम्बन्ध बना रहता है । इसी प्रकार अश्वमेध तथा राजसूय आदि यज्ञोंसे भी इनका सदा सम्पर्क है । ये धनुष और कवचसे भी संयुक्त हैं । हाथी-घोड़े आदि वाहनों, रथों और अस्त्र-शस्त्रोंकी भी इनके पास कमी नहीं है । ये कुन्तीपुत्र यदि कौरवोंका वध किये बिना ही अपने राज्यकी प्राप्तिका कोई दूसरा उपाय जान लेंगे, तो भीमसेनको आग्रहपूर्वक आर्य पुरुषोंके द्वारा आचरित सद्व्यवहारमें लगाकर धर्मरक्षारूप पुण्यका ही सम्पादन करेंगे, तुम ऐसा (भलीभाँति) समझ लो । पाण्डव अपने बाप-दादोंके कर्म—क्षात्रधर्म (युद्ध आदि-) में प्रवृत्त हो यथाशक्ति अपने कर्तव्यका पालन करते हुए यदि दैववश मृत्युको भी प्राप्त हो जायँ तो इनकी वह मृत्यु उत्तम ही मानी जायगी ।

चारों वर्णोंके और राजाके धर्म

उताहो त्वं मन्यसे शाम्यमेव
राज्ञां युद्धे वर्तते धर्मतन्त्रम् ।
अयुद्धे वा वर्तते धर्मतन्त्रं
तथैव ते वाचमिमां शृणोमि ॥
चातुर्वर्ण्यस्य प्रथमं संविभाग-
मवेक्ष्य त्वं संजय स्वं च कर्म ।
निशम्याथो पाण्डवानां च कर्म
प्रशंस वा निन्द वा या मतिस्ते ॥
अधीयीत ब्राह्मणो वै यजेत
दद्यादीयात् तीर्थमुख्यानि चैव ।
अध्यापयेद् याजयेच्चापि याज्यान्
प्रतिग्रहान् वा विहितान् प्रतीच्छेत् ॥
(अधीयीत क्षत्रियोऽथो यजेत
दद्याद् दानं न तु याचेत किंचित् ।
न याजयेन्नापि चाध्यापयीत
एष स्मृतः क्षत्रधर्मः पुराणः ॥)
तथा राजन्यो रक्षणं वै प्रजानां
कृत्वा धर्मेणाप्रमत्तोऽथ दत्त्वा ।
यज्ञैरिष्ट्वा सर्ववेदानधीत्य
दारान् कृत्वा पुण्यकृदावसेद् गृहान् ॥
स धर्मात्मा धर्ममधीत्य पुण्यं
यदिच्छया व्रजति ब्रह्मलोकम् ।
वैश्योऽधीत्य कृषिगोरक्षपण्यै-
र्वित्तं चिन्वन् पालयन्नप्रमत्तः ॥
प्रियं कुर्वन् ब्राह्मणक्षत्रियाणां
धर्मशीलः पुण्यकृदावसेद् गृहान् ।
परिचर्या वन्दनं ब्राह्मणानां
नाधीयीत प्रतिषिद्धोऽस्य यज्ञः ।
नित्योत्थितो भूतयेऽतन्द्रितः स्या-
देवं स्मृतः शूद्रधर्मः पुराणः ॥
(महाभारत उद्योग० २९ । २१–२६)

यदि तुम शान्ति धारण करना ही ठीक समझते हो तो बताओ, युद्धमें प्रवृत्त होनेसे राजाओंके धर्मका ठीक-ठीक पालन होता है या युद्ध छोड़कर भाग जानेसे! क्षत्रिय-धर्मका विचार करते हुए तुम जो कुछ भी कहो, मैं तुम्हारी वही बात सुननेको उद्यत हूँ । संजय ! तुम पहले ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके विभाग तथा उनके प्रत्येक वर्णके अपने-अपने कर्मको देख लो । फि

पाण्डवोंके वर्तमान कर्मपर दृष्टिपात करो; तत्पश्चात् जैसा तुम्हारा विचार हो, उसके अनुसार इनकी प्रशंसा अथवा निन्दा करना । ब्राह्मण अध्ययन, यज्ञ एवं दान करे तथा प्रधान-प्रधान तीर्थोंकी यात्रा करे, शिष्योंको पढ़ावे और यजमानोंका यज्ञ करावे अथवा शास्त्रविहित प्रतिग्रह (दान) स्वीकार करे । इसी प्रकार क्षत्रिय स्वाध्याय, यज्ञ और दान करे । किसीसे किसी भी वस्तुकी याचना न करे । वह न तो दूसरोंका यज्ञ करावे और न अध्यापनका ही कार्य करे; यही धर्मशास्त्रोंमें क्षत्रियोंका प्राचीन धर्म बताया गया है। इसके सिवा क्षत्रिय धर्मके अनुसार सावधान रहकर प्रजाजनोंकी रक्षा करे, दान दे, यज्ञ करे । सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करके विवाह करे और पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ गृहस्थाश्रममें रहे । इस प्रकार वह धर्मात्मा क्षत्रिय धर्म एवं पुण्यका सम्पादन करके अपनी इच्छाके अनुसार ब्रह्मलोकको जाता है । वैश्य अध्ययन करके कृषि, गोरक्षा तथा व्यापारद्वारा धनोपार्जन करते हुए सावधानीके साथ उसकी रक्षा करे । ब्राह्मणों और क्षत्रियोंका प्रिय करते हुए धर्मशील एवं पुण्यात्मा होकर वह गृहस्थाश्रममें निवास करे । शूद्र ब्राह्मणोंकी सेवा तथा वन्दना करे, वेदोंका स्वाध्याय न करे । उसके लिये यज्ञका भी निषेध है । वह सदा उद्योगी और आलस्यरहित होकर अपने कल्याणके लिये चेष्टा करे । इस प्रकार शूद्रोंका प्राचीन धर्म बताया गया है ।

एतान् राजा पालयन्नप्रमत्तो
नियोजयन् सर्ववर्णान् स्वधर्मे ।
अकामात्मा समवृत्तिः प्रजासु
नाधार्मिकाननुरुध्येत कामान् ॥
श्रेयांस्तस्माद् यदि विद्येत कश्चि-
दभिज्ञातः सर्वधर्मोपपन्नः ।
स तं द्रष्टुमनुशिष्यात् प्रजानां
न चैतद् बुध्येदिति तस्मिन्नसाधुः ॥
यदा गृध्येत् परभूतौ नृशंसो
विधिप्रकोपाद् बलमाददानः ।
ततो राज्ञामभवद् युद्धमेतत्
तत्र जातं वर्म शस्त्रं धनुश्च ॥

(महाभारत उद्योग० २९ । २७–२९)

राजा सावधानीके साथ इन सब वर्णोंका पालन करते हुए ही इन्हें अपने-अपने धर्ममें लगावे । वह कामभोगमें आसक्त न होकर समस्त प्रजाओंके साथ समानभावसे बर्ताव करे और पापपूर्ण इच्छाओंका कदापि अनुसरण न करे । यदि राजाको यह ज्ञात हो जाय कि उसके राज्यमें कोई सर्वधर्मसम्पन्न श्रेष्ठ पुरुष निवास करता है, तो वह उसीको प्रजाके गुण-दोषका निरीक्षण करनेके लिये नियुक्त करे तथा उसके द्वारा पता लगवावे कि मेरे राज्यमें कोई पाप-कर्म करनेवाला तो नहीं है ! जब कोई क्रूर मनुष्य दूसरेकी धन-सम्पत्तिमें लालच रखकर उसे ले लेनेकी इच्छा करता है और विधाताके कोपसे (परपीडनके लिये) सेना संग्रह करने लगता है, उस समय राजाओंमें युद्धका अवसर उपस्थित होता है । ऐसे ही युद्धके लिये कवच, अस्त्र-शस्त्र और धनुष-का आविष्कार हुआ है ।

चोर-डाकुओं और अत्याचारियोंके वधसे पुण्यकी प्राप्ति होती है

इन्द्रेणैतद् दस्युवधाय कर्म
उत्पादितं वर्म शस्त्रं धनुश्च ॥
तत्र पुण्यं दस्युवधेन लभ्यते
सोऽयं दोषः कुरुभिस्तीव्ररूपः ।
अधर्मज्ञैर्धर्ममबुध्यमानैः
प्रादुर्भूतः संजय साधु तन्न ॥

तत्र राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
धर्म्यं हरेत् पाण्डवानामकस्मात् ।
नावेक्षन्ते राजधर्मं पुराणं
तदन्वयाः कुरवः सर्व एव ॥
स्तेनो हरेद् यत्र धनं ह्यदृष्टः
प्रसह्य वा यत्र हरेत दृष्टः ।
उभौ गर्ह्यौ भवतः संजयैतौ
किं वै पृथक्त्वं धृतराष्ट्रस्य पुत्रे ॥
सोऽयं लोभान्मन्यते धर्ममेतं
यमिच्छति क्रोधवशानुगामी ।
भागः पुनः पाण्डवानां निविष्ट-
स्तं नः कस्मादाददीरन् परे वै ॥
अस्मिन् पदे युध्यतां नो वधोऽपि
श्लाघ्यः पित्र्यं परराज्याद् विशिष्टम् ।
एतान् धर्मान् कौरवाणां पुराणा-
नाचक्षीथाः संजय राजमध्ये ॥

(महाभारत उद्योग० २९ । ३०–३५)

स्वयं देवराज इन्द्रने ऐसे लुटेरोंका वध करनेके लिये कवच, अस्त्र-शस्त्र और धनुषका आविष्कार किया है । (राजाओंको) लुटेरोंका वध करनेसे पुण्यकी प्राप्ति होती है । संजय ! कौरवोंमें यह लुटेरेपनका दोष तीव्ररूपसे प्रकट हो गया है, जो अच्छा नहीं है । वे अधर्मके तो पूरे पण्डित हैं; परंतु धर्मकी बात बिल्कुल नहीं जानते । राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंके साथ मिलकर सहसा पाण्डवोंके धर्मतः प्राप्त उनके पैतृक राज्यका अपहरण करनेको उतारू हो गये हैं । अन्य समस्त कौरव भी उन्हींका अनुसरण कर रहे हैं । वे प्राचीन राजधर्मकी ओर नहीं देखते हैं । चोर चाहे छिपा रहकर धन चुरा ले जाय अथवा सामने आकर डाका डाले, दोनों ही दशाओंमें वे चोर-डाकू निन्दाके ही पात्र होते हैं । संजय ! तुम्हीं कहो, धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन और उन चोर-डाकुओंमें क्या अन्तर है ? दुर्योधन क्रोधके वशीभूत हो उसके अनुसार चलनेवाला है और वह लोभसे राज्यको ले लेना चाहता है। इसीको वह धर्म मान रहा है; परंतु वह तो पाण्डवोंका भाग है, जो कौरवोंके यहाँ धरोहरके रूपमें रक्खा गया है । संजय ! हमारे उस भागको हमसे शत्रुता रखनेवाले कौरव कैसे ले सकते हैं ? सूत ! इस राज्यभागकी प्राप्तिके लिये युद्ध करते हुए हमलोगोंका वध हो जाय तो वह भी हमारे लिये स्पृहणीय ही है । बाप-दादोंका राज्य पराये राज्यकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। संजय ! तुम राजाओंकी मण्डलीमें राजाओंके इन प्राचीन धर्मोंका कौरवोंके समक्ष वर्णन करना ।

एते मदान्मृत्युवशाभिपन्नाः
समानीता धार्तराष्ट्रेण मूढाः ।
इदं पुनः कर्म पापीय एव
सभामध्ये पश्य वृत्तं कुरूणाम् ॥
प्रियां भार्यां द्रौपदीं पाण्डवानां
यशस्विनीं शीलवृत्तोपपन्नाम् ।
यदुपैक्षन्त कुरवो भीष्ममुख्याः
कामानुगेनोपरुद्धां व्रजन्तीम् ॥
तं चेत् तदा ते सकुमारवृद्धा
अवारयिष्यन् कुरवः समेताः ।
मम प्रियं धृतराष्ट्रोऽकरिष्यत्
पुत्राणां च कृतमस्याभविष्यत् ॥
दुःशासनः प्रातिलोम्यान्निनाय
सभामध्ये श्वशुराणां च कृष्णाम् ।
सा तत्र नीता करुणं व्यपेक्ष्य
नान्यं क्षत्तुर्नाथमवाप किंचित् ॥

(महाभारत उद्योग० २९ । ३६–३९)

दुर्योधनने जिन्हें युद्धके लिये बुलवाया है, वे मूर्ख राजा बलके मदसे मोहित होकर मौतके फंदेमें फँस गये हैं । संजय ! भरी सभामें कौरवोंने जो यह अत्यन्त पापपूर्ण कर्म किया था, उनके इस दुराचारपर दृष्टि डालो । पाण्डवोंकी प्यारी पत्नी यशस्विनी द्रौपदी

जो शील और सदाचारसे सम्पन्न है, रजस्वला-अवस्थामें सभाके भीतर लायी जा रही थी, परंतु भीष्म आदि प्रधान कौरवोंने भी उसकी ओरसे उपेक्षा दिखायी। यदि बालकसे लेकर बूढ़ेतक सभी कौरव उस समय दुःशासन-को रोक देते तो राजा धृतराष्ट्र मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य करते तथा उनके पुत्रोंका भी प्रिय मनोरथ सिद्ध हो जाता। दुःशासन मर्यादाके विपरीत द्रौपदीको सभाके भीतर श्वशुरजनोंके समक्ष घसीट ले गया। द्रौपदीने वहाँ जाकर कातर भावसे चारों ओर करुणदृष्टि डाली, परंतु उसने वहाँ विदुरजीके सिवा और किसीको अपना रक्षक नहीं पाया।

कार्पण्यादेव सहितास्तत्र भूपा
नाशक्नुवन् प्रतिवक्तुं सभायाम्।
एकः क्षत्ता धर्म्यमर्थं ब्रुवाणो
धर्मबुद्ध्या प्रत्युवाचाल्पबुद्धिम्॥
अबुद्ध्वा त्वं धर्ममेतं सभाया-
मथेच्छसे पाण्डवस्योपदेष्टुम्।
कृष्णा त्वेतत् कर्म चकार शुद्धं
सुदुष्करं तत्र सभां समेत्य॥
येन कृच्छ्रात् पाण्डवानुज्जहार
तथाऽऽत्मानं नौरिव सागरौघात्।
यत्राब्रवीत् सूतपुत्रः सभायां
कृष्णां स्थितां श्वशुराणां समीपे॥
न ते गतिर्विद्यते याज्ञसेनि
प्रपद्य दासी धार्तराष्ट्रस्य वेश्म।
पराजितास्ते पतयो न सन्ति
पतिं चान्यं भाविनि त्वं वृणीष्व॥
यो बीभत्सोर्हृदये प्रोत आसी-
दस्थिच्छिन्दन् मर्मघाती सुघोरः।
कर्णाच्छरो वाङ्मयस्तिग्मतेजाः
प्रतिष्ठितो हृदये फाल्गुनस्य॥

(महाभारत उद्योग० २९। ४०—४४)

उस समय सभामें बहुत-से भूपाल एकत्रित थे, परंतु अपनी कायरताके कारण वे उस अन्यायका प्रति-वाद न कर सके। एकमात्र विदुरजीने अपना धर्म समझकर मन्दबुद्धि दुर्योधनसे धर्मानुकूल वचन कहकर उसके अन्यायका विरोध किया। संजय! द्यूतसभामें जो अन्याय हुआ था, उसे भुलाकर तुम पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर-को धर्मका उपदेश देना चाहते हो? द्रौपदीने उस दिन सभामें जाकर अत्यन्त दुष्कर और पवित्र कार्य किया कि उसने पाण्डवों तथा अपनेको महान् संकटसे बचा लिया; ठीक उसी तरह, जैसे नौका समुद्रकी अगाध जलराशिमें डूबनेसे बचा लेती है। उस सभामें कृष्णा श्वशुरजनोंके समीप खड़ी थी, तो भी सूतपुत्र कर्णने उसे अपमानित करते हुए कहा—'याज्ञसेनि! अब तेरे लिये दूसरी गति नहीं है। तू दासी बनकर दुर्योधनके महलमें चली जा। पाण्डव जूएमें अपनेको हार चुके हैं; अतः अब वे तेरे पति नहीं रहे। भाविनि! अब तू किसी दूसरेको अपना पति वरण कर ले'। कर्णके मुखसे निकला हुआ वह अत्यन्त घोर कटु-वचनरूपी बाण मर्म-पर चोट पहुँचानेवाला था। वह कानके रास्तेसे भीतर जाकर हड्डियोंको छेदता हुआ अर्जुनके हृदयमें धँस गया। तीखी कसक पैदा करनेवाला वह वाग्बाण आज भी अर्जुनके हृदयमें गड़ा हुआ है (और इनके कलेजे-को साल रहा है)।

कृष्णाजिनानि परिधित्समानान्
दुःशासनः कटुकान्यभ्यभाषत्।
एते सर्वे षण्ढतिला विनष्टाः
क्षयं गता नरकं दीर्घकालम्॥
गान्धारराजः शकुनिर्निकृत्या
यदब्रवीद् द्यूतकाले स पार्थम्।
पराजितो नन्दनः किं तवास्ति
कृष्णया त्वं दीव्य वै याज्ञसेन्या॥

जानासि त्वं संजय सर्वमेतद्
द्यूते वाक्यं गर्ह्यमेवं यथोक्तम् ।
स्वयं त्वहं प्रार्थये तत्र गन्तुं
समाधातुं कार्यमेतद् विपन्नम् ॥
अहापयित्वा यदि पाण्डवार्थं
शमं कुरूणामपि चेच्छकेयम् ।
पुण्यं च मे स्याच्चरितं महोदयं
मुच्येरंश्च कुरवो मृत्युपाशात् ॥
(महाभारत उद्योग० २९ । ४५—४८)

जिस समय पाण्डव वनमें जानेके लिये कृष्ण-मृगचर्म धारण करना चाहते थे, उस समय दु:शासनने उनके प्रति कितनी ही कड़वी बातें कहीं—'ये सब-के-सब हिजड़े अब नष्ट हो गये—चिरकालके लिये नरकके गर्तमें गिर गये'। गान्धारराज शकुनिने द्यूतक्रीड़ाके समय कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरसे शठतापूर्वक यह बात कही थी कि 'अब तो तुम अपने छोटे भाईको भी हार गये, अब तुम्हारे पास क्या है ? इसलिये इस समय तुम द्रुपदनन्दिनी कृष्णाको दाँवपर रखकर जूआ खेलो ।' संजय ! (कहाँतक गिनाऊँ,) जूएके समय जितने और जैसे निन्दनीय वचन कहे गये थे, वे सब तुम्हें ज्ञात हैं। इतनेपर भी इस बिगड़े हुए कार्यको बनानेके लिये मैं स्वयं हस्तिनापुर चलना चाहता हूँ। यदि पाण्डवोंका स्वार्थ नष्ट किये बिना ही मैं कौरवोंके साथ इनकी संधि करानेमें सफल हो सका तो मेरेद्वारा यह परम पवित्र और महान् अभ्युदयका कार्य सम्पन्न हो जायगा तथा कौरव भी मौतके फंदेसे छूट जायँगे।

पाण्डव धृतराष्ट्रकी सेवा करनेको भी तैयार हैं और युद्ध करनेको भी

अपि मे वाचं भाषमाणस्य काव्यां
धर्मारामामर्थवतीमहिंस्राम् ।
अवेक्षेरन् धार्तराष्ट्राः समक्षं
मां च प्राप्तं कुरवः पूजयेयुः ॥

अतोऽन्यथा रथिना फाल्गुनेन
भीमेन चैवाहवदंशितेन ।
परासिक्तान् धार्तराष्ट्रांश्च विद्धि
प्रदह्यमानान् कर्मणा स्वेन पापान् ॥
पराजितान् पाण्डवेयांस्तु वाचो
रौद्रा रूक्षा भाषते धार्तराष्ट्रः ।
गदाहस्तो भीमसेनोऽप्रमत्तो
दुर्योधनं स्मारयिता हि काले ॥
(महाभारत उद्योग० २९ । ४९-५१)

मैं वहाँ जाकर शुक्रनीतिके अनुसार धर्म और अर्थसे युक्त ऐसी बातें कहूँगा, जो हिंसावृत्तिको दबानेवाली होंगी। क्या धृतराष्ट्रके पुत्र मेरी उन बातोंपर विचार करेंगे ? क्या कौरवगण अपने सामने उपस्थित होनेपर मेरा सम्मान करेंगे ? संजय ! यदि ऐसा नहीं हुआ—कौरवोंने इसके विपरीत भाव दिखाया तो समझ लो कि रथपर बैठे हुए अर्जुन और युद्धके लिये कवच धारण करके तैयार हुए भीमसेनके द्वारा पराजित होकर धृतराष्ट्रके वे सभी पापात्मा पुत्र अपने ही कर्मदोषसे दग्ध हो जायँगे। द्यूतके समय जब पाण्डव हार गये थे, तब दुर्योधनने उनके प्रति बड़ी भयानक और कड़वी बातें कही थीं। अतः सदा सावधान रहनेवाले भीमसेन युद्धके समय गदा हाथमें लेकर दुर्योधनको उन बातोंकी याद दिलायेंगे।

सुयोधनो मन्युमयो महाद्रुमः
स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः ।
दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे
मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी ॥
युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः
स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः ।
माद्रीपुत्रौ पुष्पफले समृद्धे
मूलं त्वहं ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च ॥

वनं राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
व्याघ्रास्ते वै संजय पाण्डुपुत्राः ।
सिंहाभिगुप्तं न वनं विनश्येत्
सिंहो न नश्येत वनाभिगुप्तः ॥
निर्वनो वध्यते व्याघ्रो निर्व्याघ्रं छिद्यते वनम् ।
तस्माद् व्याघ्रो वनं रक्षेद् वनं व्याघ्रं च पालयेत् ॥
लताधर्मा धार्तराष्ट्राः शालाः संजय पाण्डवाः ।
न लता वर्धते जातु महाद्रुममनाश्रिता ॥
स्थिताः शुश्रूषितुं पार्थाः स्थिता योद्धुमरिंदमाः ।
यत् कृत्यं धृतराष्ट्रस्य तत् करोतु नराधिपः ॥
स्थिताः शमे महात्मानः पाण्डवा धर्मचारिणः ।
योधाः समर्थास्तद् विद्वन्नाचक्षीथा यथातथम् ॥

(महाभारत उद्योग० २९ । ५२–५८)

दुर्योधन क्रोधमय विशाल वृक्षके समान है, कर्ण उस वृक्षका स्कन्ध, शकुनि शाखा और दुःशासन समृद्ध फल-पुष्प है । अज्ञानी राजा धृतराष्ट्र ही इसके मूल (जड़) हैं । युधिष्ठिर धर्ममय विशाल वृक्ष हैं । अर्जुन (उस वृक्षके) स्कन्ध, भीमसेन शाखा और माद्रीनन्दन नकुल-सहदेव इसके समृद्ध फल-पुष्प हैं । मैं (भगवान्), वेद और ब्राह्मण ही इस वृक्षके मूल (जड़) हैं । संजय ! पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र एक वन हैं और पाण्डव उस वनमें निवास करनेवाले व्याघ्र हैं । सिंहोंसे रक्षित वन नष्ट नहीं होता एवं वनमें रहकर सुरक्षित सिंह नष्ट नहीं होता, उस वनका उच्छेद न करो; क्योंकि वनसे बाहर निकला हुआ व्याघ्र मारा जाता है और बिना व्याघ्रके वनको सब लोग आसानीसे काट लेते हैं । अतः व्याघ्र वनकी रक्षा करे और वन व्याघ्रकी । संजय ! धृतराष्ट्रके पुत्र लताओंके समान हैं और पाण्डव शाल-वृक्षोंके समान । कोई भी लता किसी महान् वृक्षका आश्रय लिये बिना कभी नहीं बढ़ती है (अतः पाण्डवोंका आश्रय लेकर ही धृतराष्ट्रपुत्र बढ़ सकते हैं) । शत्रुओंका दमन करनेवाले कुन्तीपुत्र धृतराष्ट्रकी सेवा करनेके लिये भी उद्यत हैं और युद्धके लिये भी । अब राजा धृतराष्ट्रका जो कर्तव्य हो, उसका वे पालन करें । विद्वान् संजय ! धर्मका आचरण करनेवाले महात्मा पाण्डव शान्तिके लिये भी तैयार हैं और युद्ध करनेमें भी समर्थ हैं । इन दोनों अवस्थाओंको समझकर तुम राजा धृतराष्ट्रसे यथार्थ बातें कहना ।

तदनन्तर युधिष्ठिरने भी अपना संदेश देकर संजयको विदा कर दिया ।

संजयका युधिष्ठिरके पास आना और लौटनेपर कौरव-सभामें भगवान् श्रीकृष्णके संदेश सुनाना

राजा द्रुपदके पुरोहित जब कौरव-सभासे लौट आये, तब धृतराष्ट्रने संजयको बहुत-सी बातें समझाकर उसे युधिष्ठिरके पास भेजा । वहाँ आकर युधिष्ठिरसे मिलनेके पश्चात् संजयने उनसे कुशल-समाचार पूछा, फिर युधिष्ठिरने भी कौरवपक्षका समाचार पूछते हुए वहाँ संजयसे अनेक सारगर्भित प्रश्न किये । संजयने युधिष्ठिरको उनके प्रश्नोंका उत्तर देकर धृतराष्ट्रका शान्तिमय संदेश सुनाया और अपनी ओरसे भी शान्तिके लिये प्रार्थना की । युधिष्ठिरने कहा—'संजय ! शान्ति तो तभी सम्भव होगी, जब हमें इन्द्रप्रस्थ लौटा दिया जायगा ।' यह सुनकर संजयने युधिष्ठिरको युद्धमें अनेक दोषोंकी सम्भावना बताकर उन्हें युद्धसे विरत रहनेकी सलाह दी । फिर युधिष्ठिरने भी संजयको उसकी बातका उत्तर दिया । इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने उसे धृतराष्ट्रके लिये चेतावनी दी । तदनन्तर संजयको बिदाई मिली और युधिष्ठिरने भिन्न-भिन्न कुरुवंशियोंके प्रति अपने संदेश दिये । संजयने हस्तिनापुरको प्रस्थान किया और धृतराष्ट्रसे मिलकर युधिष्ठिरका कुशल-समाचार सुनाया । फिर उसने धृतराष्ट्रके कार्योंकी कड़ी आलोचना की और दूसरे दिन सभामें पाण्डवोंके संदेश सुनानेका वादा करके वह अपने घरको चला गया । धृतराष्ट्रको रातभर नींद नहीं आयी । विदुरजी उनके पास बैठकर उन्हें नीतिकी बातें सुनाते रहे । फिर सनत्सुजातजीने धृतराष्ट्रको ज्ञानोपदेश किया । दूसरे दिन कौरव-सभामें उपस्थित हो संजयने अर्जुन-

का संदेश सुनाया। साथ ही उन्हें दुर्योधनपर शासन करनेकी सलाह दी। अन्तमें उसने भगवान् श्रीकृष्णका संदेश इस प्रकार कहा—

द्रौपदीका ऋण मुझपर बढ़ रहा है

वासुदेव उवाच

संजयेदं वचो ब्रूया धृतराष्ट्रं मनीषिणम्।
कुरुमुख्यस्य भीष्मस्य द्रोणस्यापि च शृण्वतः॥
आवयोर्वचनात् सूत ज्येष्ठानप्यभिवादयन्।
यवीयसश्च कुशलं पश्चात् पृष्ट्वैवमुत्तरम्॥
यजध्वं विविधैर्यज्ञैर्विप्रेभ्यो दत्तदक्षिणाः।
पुत्रैर्दारैश्च मोदध्वं महद् वो भयमागतम्॥
अर्थांस्त्यजत पात्रेभ्यः सुतान् प्राप्नुत कामजान्।
प्रियं प्रियेभ्यश्चरत राजा हि त्वरते जये॥
ऋणमेतत् प्रवृद्धं मे हृदयान्नापसर्पति।
यद् गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम्॥
(महाभारत उद्योग० ५९। १८—२२)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—संजय! जब कुरुकुलके प्रधान पुरुष भीष्म तथा आचार्य द्रोण भी सुन रहे हों, उसी समय तुम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रसे यह बात कहना। सूत! हम दोनोंकी ओरसे पहले तुम हमसे बड़ी अवस्थावाले श्रेष्ठ पुरुषोंको प्रणाम कहना और जो लोग अवस्थामें हमसे छोटे हों, उनकी कुशल पूछना। इसके बाद हमारा यह उत्तर सुना देना—'कौरवो! नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान आरम्भ करो, ब्राह्मणोंको दक्षिणाएँ दो, पुत्रों और स्त्रियोंसे मिल-जुलकर आनन्द भोग लो; क्योंकि तुम्हारे ऊपर बहुत बड़ा भय आ पहुँचा है। तुम सुपात्र व्यक्तियोंको धनका दान दे लो, अपनी इच्छाके अनुसार पुत्र पैदा कर लो तथा अपने प्रेमीजनोंका प्रिय कार्य सिद्ध कर लो; क्योंकि राजा युधिष्ठिर अब तुमलोगोंपर विजय पानेके लिये उतावले हो रहे हैं। जिस समय कौरवसभामें द्रौपदीका वस्त्र खींचा जा रहा था, मैं हस्तिनापुरसे बहुत दूर था। उस समय कृष्णाने आर्तभावसे 'गोविन्द' कहकर जो मुझे पुकारा था, उसका मेरे ऊपर बहुत बड़ा ऋण है और यह ऋण बढ़ता ही जा रहा है! (अपराधी कौरवोंका संहार किये बिना) उसका भार मेरे हृदयसे दूर नहीं हो सकता।

जिसका मैं सहायक हूँ, उस अर्जुनको कोई नहीं जीत सकता

तेजोमयं दुराधर्षं गाण्डीवं यस्य कार्मुकम्।
मद्द्वितीयेन तेनेह वैरं वः सव्यसाचिना॥
मद्द्वितीयं पुनः पार्थं कः प्रार्थयितुमिच्छति।
यो न कालपरीतो वाप्यपि साक्षात् पुरंदरः॥
बाहुभ्यामुद्वहेद् भूमिं दहेत् क्रुद्ध इमाः प्रजाः।
पातयेत् त्रिदिवाद् देवान् योऽर्जुनं समरे जयेत्॥
देवासुरमनुष्येषु यक्षगन्धर्वभोगिषु।
न तं पश्याम्यहं युद्धे पाण्डवं योऽभ्ययाद् रणे॥
यत् तद् विराटनगरे श्रूयते महदद्भुतम्।
एकस्य च बहूनां च पर्याप्तं तन्निदर्शनम्॥
एकेन पाण्डुपुत्रेण विराटनगरे यदा।
भग्नाः पलायत दिशः पर्याप्तं तन्निदर्शनम्॥
बलं वीर्यं च तेजश्च शीघ्रता लघुहस्तता।
अविषादश्च धैर्यं च पार्थान्नान्यत्र विद्यते॥
(महाभारत उद्योग० ५९। २३—२९)

जिनके पास अजेय तेजस्वी गाण्डीव नामक धनुष है और जिनका मित्र या सहायक दूसरा मैं हूँ, उन्हीं सव्यसाची अर्जुनके साथ यहाँ तुमने वैर बढ़ाया है। जिसको कालने सब ओरसे घेर न लिया हो, ऐसा कौन पुरुष, भले ही वह साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हो, उस अर्जुनके साथ युद्ध करना चाहता है, जिसका सहायक दूसरा मैं हूँ। जो अर्जुनको युद्धमें जीत ले, वह अपनी दोनों भुजाओंपर इस पृथ्वीको उठा सकता है, कुपित होकर इन समस्त प्रजाओंको भस्म कर सकता है और सम्पूर्ण देवताओंको स्वर्गसे नीचे गिरा

सकता है। देवताओं, असुरों, मनुष्यों, यक्षों, गन्धर्वों तथा नागोंमें भी मुझे कोई ऐसा वीर नहीं दिखायी देता, जो पाण्डुनन्दन अर्जुनका सामना कर सके। विराट-नगरमें अकेले अर्जुन और बहुत-से कौरवोंका जो अद्भुत और महान् संग्राम सुना जाता है, वही मेरे उपर्युक्त कथनकी सत्यताका पर्याप्त प्रमाण है। जब विराटनगरमें एकमात्र पाण्डुकुमार अर्जुनसे पराजित हो तुमलोगोंने भागकर विभिन्न दिशाओंकी शरण ली थी, वह एक ही दृष्टान्त अर्जुनकी प्रबलताका पर्याप्त प्रमाण है। बल, पराक्रम, तेज, शीघ्रकारिता, हाथोंकी फुर्ती, विषादहीनता तथा धैर्य—ये सभी सद्गुण कुन्तीपुत्र अर्जुनके सिवा (एक साथ) दूसरे किसी पुरुषमें नहीं हैं।

युधिष्ठिरका शान्ति-रक्षापूर्वक राज्य-प्राप्तिका उपाय पूछना और भगवान् श्रीकृष्णका शान्तिदूत बनकर कौरवसभामें जानेकी इच्छा प्रकट करते हुए युधिष्ठिरको युद्धके लिये प्रोत्साहित करना

इधर संजयके चले जानेपर धर्मराज युधिष्ठिरने भीमसेन, अर्जुन, माद्रीकुमार नकुल-सहदेव, विराट, द्रुपद तथा केकय-देशीय महारथियोंके पास जाकर कहा—'हमलोग शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके पास चलकर उनसे कौरव-सभामें जानेके लिये प्रार्थना करें। वे वहाँ जाकर ऐसा प्रयत्न करें, जिससे हमें भीष्म, द्रोण, बुद्धिमान् बाह्लीक तथा अन्य कुरुवंशियोंके साथ रणक्षेत्रमें युद्ध न करना पड़े। यही हमारा पहला ध्येय है और यही हमारे लिये परम कल्याण-की बात है।' राजा युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर वे सब लोग प्रसन्नचित्त होकर भगवान् श्रीकृष्णके समीप गये। श्रीकृष्णके पास पहुँचकर कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने इस प्रकार कहा—

'मित्रवत्सल श्रीकृष्ण! मित्रोंकी सहायताके लिये यही उपयुक्त अवसर आया है। मैं आपके सिवा दूसरे किसीको ऐसा नहीं देखता, जो इस विपत्तिसे हमलोगोंका उद्धार करे। राजा धृतराष्ट्रको राज्यका बड़ा लोभ है। उनके मनमें पाप बस गया है। अतः वे अपने अनुरूप व्यवहार न करके राज्य दिये बिना ही हमारे साथ संधिका मार्ग ढूँढ़ रहे हैं। मधुसूदन! मैंने केवल पाँच ही गाँव माँगे थे, परंतु दुष्टात्मा दुर्योधन सबपर अपना ही अधिकार मानकर उन पाँच गाँवोंको भी देनेकी बात नहीं स्वीकार कर रहा है। इससे बढ़कर कष्टकी बात और क्या हो सकती है? हमलोग किसी भी न्यायसे अपनी पैतृक सम्पत्तिका परित्याग करने योग्य नहीं हैं। इसके लिये प्रयत्न करते हुए यदि हमलोगोंका वध हो जाय तो वह भी अच्छा ही है। माधव! इस विषयमें हमारा पहला ध्येय यही है कि हम और कौरव आपसमें संधि करके शान्तभाव-से रहकर उस सम्पत्तिका समानरूपसे उपभोग करें। अतः हमलोग न तो राज्य त्यागना चाहते हैं और न कुलके विनाशकी ही इच्छा रखते हैं। यदि नम्रता दिखानेसे भी शान्ति हो जाय तो वही सबसे बढ़कर है। ऐसे समयमें आप क्या उचित समझते हैं? हम कैसा बर्ताव करें, जिससे हमें अर्थ और धर्मसे भी वञ्चित न होना पड़े?' धर्मराज युधिष्ठिर-के ऐसा कहनेपर भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा—

न्याययुक्त संधि होगी, तो मैं बड़ा पुण्य समझूँगा

उभयोरेव वामर्थे यास्यामि कुरुसंसदम् ॥
शमं तत्र लभेयं चेद् युष्मदर्थमहापयन् ।
पुण्यं मे सुमहद् राजंश्चरितं स्यान्महाफलम् ॥
मोचयेयं मृत्युपाशात् संरब्धान् कुरुसृंजयान् ।
पाण्डवान् धार्तराष्ट्रांश्च सर्वां च पृथिवीमिमाम् ॥

(महाभारत उद्योग० ७२। ७९-८१)

'राजन्! मैं दोनों पक्षोंके हितके लिये कौरवोंकी सभामें जाऊँगा। वहाँ जाकर आपके लाभमें किसी

प्रकारकी बाधा न पहुँचाते हुए यदि मैं दोनों पक्षोंमें संधि करा सका, तो समझूँगा कि मेरेद्वारा यह महान् फलदायक एवं बहुत बड़ा पुण्यकर्म सम्पन्न हो गया। ऐसा होनेपर एक-दूसरेके प्रति रोषमें भरे हुए इन कौरवों, सृंजयों, पाण्डवों और धृतराष्ट्रपुत्रोंको तथा इस सारी पृथ्वीको भी मानो मैं मौतके फंदेसे छुड़ा लूँगा।'

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण! मेरा यह विचार नहीं है कि आप कौरवोंके यहाँ जायँ; क्योंकि आपकी कही हुई अच्छी बातोंको भी दुर्योधन नहीं मानेगा। माधव! यदि दुर्योधनने द्रोहवश आपके साथ कोई अनुचित बर्ताव किया, तो धन, सुख, देवत्व तथा सम्पूर्ण देवताओंका ऐश्वर्य भी हमें प्रसन्न नहीं कर सकेगा।'

मेरे कोपके सामने कोई नहीं ठहर सकते

श्रीभगवानुवाच

जानाम्येतां महाराज धार्तराष्ट्रस्य पापताम्।
अवाच्यास्तु भविष्यामः सर्वलोके महीक्षिताम्॥
न चापि मम पर्याप्ताः सहिताः सर्वपार्थिवाः।
क्रुद्धस्य संयुगे स्थातुं सिंहस्येवेतरे मृगाः॥
अथ चेत् ते प्रवर्तन्ते मयि किंचिदसाम्प्रतम्।
निर्दहेयं कुरून् सर्वानिति मे धीयते मतिः॥
न जातु गमनं पार्थ भवेत् तत्र निरर्थकम्।
अर्थप्राप्तिः कदाचित् स्यादन्ततो वाप्यवाच्यता॥
(महाभारत उद्योग० ७२। ८५-८८)

श्रीभगवान्‌ने कहा—महाराज! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन कितना पापाचारी है, यह मैं जानता हूँ। तथापि वहाँ जाकर संधिके लिये प्रयत्न करनेपर हम सब लोग सम्पूर्ण जगत्‌के राजाओंकी दृष्टिमें निन्दाके पात्र न होंगे। (मेरे तिरस्कारके भयसे भी आप चिन्तित न हों, क्योंकि) जैसे क्रोधमें भरे हुए सिंहके सामने दूसरे पशु नहीं ठहर सकते, उसी प्रकार यदि मैं कोप करूँ, तो संसारके सारे भूपाल मिलकर भी युद्धमें मेरे सामने खड़े नहीं हो सकते। यदि वे मेरे साथ थोड़ा-सा भी अनुचित बर्ताव करेंगे, तो मैं उन समस्त कौरवोंको जलाकर भस्म कर डालूँगा; यह मेरा निश्चित विचार है। अतः कुन्तीनन्दन! मेरा वहाँ जाना कदापि निरर्थक नहीं होगा। सम्भव है, वहाँ अपने अभीष्ट अर्थकी सिद्धि हो जाय और यदि काम न बना, तो भी हम निन्दासे तो बच ही जायँगे (उत्तरदायित्वसे मुक्त हो जायँगे)।'

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण! आपकी जैसी रुचि हो, वही कीजिये। आपका कल्याण हो। आप प्रसन्नतापूर्वक कौरवोंके पास जाइये। आशा है, मैं पुनः आपको अपने कार्यमें सफल होकर यहाँ सकुशल लौटा हुआ देखूँगा। आप हमलोगोंके भाई और मित्र हैं। अर्जुनके तथा मेरे भी प्रीतिभाजन हैं। आपके सौहार्दके विषयमें हमारे मनमें कोई शंका नहीं है। अतः आप उभय पक्षोंकी भलाईके लिये वहाँ जाइये। आपका कल्याण हो।

क्षत्रिय धर्मयुद्धमें विजय प्राप्त करे, या अपने प्राण दे दे; यही उसका स्वधर्म है

श्रीभगवानुवाच

संजयस्य श्रुतं वाक्यं भवतश्च श्रुतं मया।
सर्वं जानाम्यभिप्रायं तेषां च भवतश्च यः॥
तव धर्माश्रिता बुद्धिस्तेषां वैराश्रया मतिः।
यदयुद्धेन लभ्येत तत् ते बहुमतं भवेत्॥
न चैवं नैष्ठिकं कर्म क्षत्रियस्य विशाम्पते।
आहुराश्रमिणः सर्वे न भैक्षं क्षत्रियश्चरेत्॥
जयो वधो वा संग्रामे धात्राऽऽदिष्टः सनातनः।
स्वधर्मः क्षत्रियस्यैष कार्पण्यं न प्रशस्यते॥
न हि कार्पण्यमास्थाय शक्या वृत्तिर्युधिष्ठिर।
विक्रमस्व महाबाहो जहि शत्रून् परंतप॥
अतिगृद्धाः कृतस्नेहा दीर्घकालं सहोषिताः।
कृतमित्राः कृतबला धार्तराष्ट्राः परंतप॥
न पर्यायोऽस्ति यत् साम्यं त्वयि कुर्युर्विशाम्पते।
बलवत्तां हि मन्यन्ते भीष्मद्रोणकृपादिभिः॥
(महाभारत उद्योग० ७३। १-…)

श्रीभगवान् बोले—राजन्! मैंने संजयकी और आपकी भी बातें सुनी हैं। कौरवोंका क्या अभिप्राय है, वह सब मैं जानता हूँ और आपका जो विचार है, उससे भी मैं अपरिचित नहीं हूँ। आपकी बुद्धि धर्ममें स्थित है और उनकी बुद्धिने शत्रुताका आश्रय ले रक्खा है। आप तो विना युद्ध किये जो कुछ मिल जाय, उसीको बहुत समझेंगे। परंतु महाराज! यह क्षत्रियका नैष्ठिक (स्वाभाविक) कर्म नहीं है। सभी आश्रमोंके श्रेष्ठ पुरुषोंका यह कथन है कि क्षत्रियको भीख नहीं माँगनी चाहिये। उसके लिये विधाताने यही सनातन कर्तव्य बताया है कि वह संग्राममें विजय प्राप्त करे अथवा वहीं प्राण दे दे। यही क्षत्रियका स्वधर्म है। दीनता अथवा कायरता उसके लिये प्रशंसाकी वस्तु नहीं है। महाबाहु युधिष्ठिर! दीनताका आश्रय लेनेसे क्षत्रियकी जीविका नहीं चल सकती। शत्रुओंको संताप देनेवाले महाराज! अब पराक्रम दिखाइये और शत्रुओं-का संहार कीजिये। परंतप! धृतराष्ट्रके पुत्र बड़े लोभी हैं। इधर उन्होंने बहुत-से मित्र-राजाओंका संग्रह कर लिया है और उनके साथ दीर्घकालतक रहकर अपने प्रति उनका स्नेह भी बढ़ा लिया है। (शिक्षा और अभ्यास आदिके द्वारा भी) उन्होंने विशेष शक्तिका संचय कर लिया है। अतः प्रजानाथ! ऐसा कोई उपाय नहीं है, जिससे (वे आपको आधा राज्य देकर) आपके प्रति समता (संधि) स्थापित करें। भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदि उनके पक्षमें हैं, इसलिये वे अपनेको आपसे अधिक बलवान् समझते हैं।

दुर्योधन-दुःशासन आदिके दुर्व्यवहारका वर्णन

यावच्च मार्दवेनैतान् राजन्नुपचरिष्यसि।
तावदेते हरिष्यन्ति तव राज्यमरिंदम॥
नानुक्रोशान्न कार्पण्यान्न च धर्मार्थकारणात्।
अलं कर्तुं धार्तराष्ट्रास्तव काममरिंदम॥
एतदेव निमित्तं ते पाण्डवास्तु यथा त्वयि।
नान्वतप्यन्त कौपीनं तावत् कृत्वापि दुष्करम्॥
पितामहस्य द्रोणस्य विदुरस्य च धीमतः।
ब्राह्मणानां च साधूनां राज्ञश्च नगरस्य च॥
पश्यतां कुरुमुख्यानां सर्वेषामेव तत्त्वतः।
दानशीलं मृदुं दान्तं धर्मशीलमनुव्रतम्॥
यत् त्वामुपधिना राजन् द्यूते वञ्चितवांस्तदा।
न चापत्रपते तेन नृशंसः स्वेन कर्मणा॥
तथाशीलसमाचारे राजन् मा प्रणयं कृथाः।
वध्यास्ते सर्वलोकस्य किं पुनस्तव भारत॥
वाग्भिस्त्वप्रतिरूपाभिरतुदत् त्वां सहानुजम्।
श्लाघमानः प्रहृष्टः सन् भ्रातृभिः सह भाषते॥
एतावत् पाण्डवानां हि नास्ति किंचिदिह स्वकम्।
नामधेयं च गोत्रं च तदप्येषां न शिष्यते॥
कालेन महता चैषां भविष्यति पराभवः।
प्रकृतिं ते भजिष्यन्ति नष्टप्रकृतयो मयि॥

(महाभारत उद्योग० ७३।८–१७)

अतः शत्रुदमन राजन्! जबतक आप इनके साथ नरमीका बर्ताव करेंगे, तबतक ये आपके राज्यका अपहरण करनेकी ही चेष्टा करेंगे। शत्रुमर्दन नरेश! आप यह न समझें कि धृतराष्ट्रके पुत्र आपपर कृपा करके या अपनेको दीन-दुर्बल मानकर अथवा धर्म एवं अर्थकी ओर दृष्टि रखकर आपका मनोरथ पूर्ण कर देंगे। पाण्डुनन्दन! कौरवोंके संधि न करनेका सबसे बड़ा कारण या प्रमाण तो यही है कि उन्होंने आपको कौपीन धारण कराकर तथा उतने दीर्घकालतकके लिये वनवासका दुष्कर कष्ट देकर भी कभी इसके लिये पश्चात्ताप नहीं किया। राजन्! आप दानशील, कोमल-स्वभाव, मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले, स्वभावतः धर्मपरायण तथा सबके हैं, तो भी क्रूर दुर्योधनने उस समय पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, बुद्धिमान् विदुर, साधु, ब्राह्मण, राजा धृतराष्ट्र, नगरनिवासी, जनसमुदाय तथा कुरुकुलके सभी श्रेष्ठ पुरुषोंके देखते-देखते आपको जूएमें

छलसे ठग लिया और अपने उस कुकृत्यके लिये वह अबतक लज्जाका अनुभव नहीं करता है। राजन्! ऐसे कुटिलस्वभाव और खोटे आचरणवाले दुर्योधनके प्रति आप प्रेम न दिखावें। भारत! धृतराष्ट्रके वे पुत्र तो सभी लोगोंके वध्य हैं; फिर आप उनका वध करें, इसके लिये तो कहना ही क्या है? (क्या आप वह दिन भूल गये, जब कि) दुर्योधनने भाइयोंसहित आपको अपने अनुचित वचनोंद्वारा मार्मिक पीड़ा पहुँचायी थी? वह अत्यन्त हर्षसे फूलकर अपनी मिथ्या प्रशंसा करता हुआ अपने भाइयोंके साथ कहता था—'अब पाण्डवोंके पास इस संसारमें 'अपनी' कहनेके लिये इतनी-सी भी कोई वस्तु नहीं रह गयी है। केवल नाम और गोत्र बचा है, परंतु वह भी शेष नहीं रहेगा। दीर्घकालके पश्चात् इनकी भारी पराजय होगी। इनकी स्वाभाविक शूरता-वीरता आदि नष्ट हो जायगी और ये मेरे पास ही प्राणत्याग करेंगे'।

दुःशासनेन पापेन तदा द्यूते प्रवर्तिते।
अनाथवत् तदा देवी द्रौपदी सुदुरात्मना॥
आकृष्य केशे रुदती सभायां राजसंसदि।
भीष्मद्रोणप्रमुखतो गौरिति व्याहृता मुहुः॥
भवता वारिताः सर्वे भ्रातरो भीमविक्रमाः।
धर्मपाशनिबद्धाश्च न किंचित् प्रतिपेदिरे॥
एताश्चान्याश्च परुषा वाचः स समुदीरयन्।
श्लाघते ज्ञातिमध्ये स त्वयि प्रव्रजिते वनम्॥
ये तत्रासन् समानीतास्ते दृष्ट्वा त्वामनागसम्।
अश्रुकण्ठा रुदन्तश्च सभायामासते तदा॥
न चैनमभ्यनन्दंस्ते राजानो ब्राह्मणैः सह।
सर्वे दुर्योधनं तत्र निन्दन्ति स्म सभासदः॥

(महाभारत उद्योग० ७३। १८-२३)

उन दिनों जब जूएका खेल चल रहा था, अत्यन्त दुरात्मा पापी दुःशासन अनाथकी भाँति रोती-कलपती हुई महारानी द्रौपदीको उनके केश पकड़कर राजसभामें घसीट लाया और भीष्म तथा द्रोणाचार्य आदिके समक्ष उसने उनका उपहास करते हुए बारंबार उसे 'गाय' कहकर पुकारा। यद्यपि आपके भाई भयंकर पराक्रम प्रकट करनेमें समर्थ थे, तथापि आपने इन्हें रोक दिया; इसलिये धर्मबन्धनमें बँधे होनेके कारण ये उस समय उस अन्यायका कुछ भी प्रतीकार न कर सके। जब आप वनकी ओर जाने लगे, उस समय भी वह बन्धु-बान्धवोंके बीचमें ऊपर कही हुई तथा और भी बहुत-सी कठोर बातें कहकर अपनी प्रशंसा करता रहा। जो लोग वहाँ बुलाये गये थे, वे सभी नरेश आपको निरपराध देखकर रोते और आँसू बहाते रुँधे हुए कण्ठसे उस समय चुपचाप सभामें बैठे रहे। ब्राह्मणों-सहित उन राजाओंने वहाँ दुर्योधनकी प्रशंसा नहीं की। उस समय सभी सभासद् उसकी निन्दा ही कर रहे थे।

मैं दुर्योधनके सब दोषोंको खोल दूँगा, जिससे दुर्योधन-की सभामें सब लोग उसकी नीचताको समझ जायँगे और उनके मन बदल जायँगे

कुलीनस्य च या निन्दा वधो वामित्रकर्शन।
महागुणो वधो राजन् न तु निन्दा कुजीविका॥
तदैव निहतो राजन् यदैव निरपत्रपः।
निन्दितश्च महाराज पृथिव्यां सर्वराजभिः॥
ईषत् कार्यो वधस्तस्य यस्य चारित्रमीदृशम्।
प्रस्कन्देन प्रतिस्तब्धश्छिन्नमूल इव द्रुमः॥
वध्यः सर्प इवानार्यः सर्वलोकस्य दुर्मतिः।
जह्येनं त्वममित्रघ्न मा राजन् विचिकित्सिथाः॥
सर्वथा त्वत्क्षमं चैतद् रोचते च ममानघ।
यत् त्वं पितरि भीष्मे च प्रणिपातं समाचरेः॥
अहं तु सर्वलोकस्य गत्वा छेत्स्यामि संशयम्।
येषामस्ति द्विधाभावो राजन् दुर्योधनं प्रति॥
मध्ये राज्ञामहं तत्र प्रातिपौरुषिकान् गुणान्।

तव संकीर्तयिष्यामि ये च तस्य व्यतिक्रमाः ॥
ब्रुवतस्तत्र मे वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम् ।
निशम्य पार्थिवाः सर्वे नानाजनपदेश्वराः ॥
त्वयि सम्प्रतिपत्स्यन्ते धर्मात्मा सत्यवागिति ।
तस्मिंश्चाधिगमिष्यन्ति यथा लोभादवर्तत ॥
गर्हयिष्यामि चैवैनं पौरजानपदेष्वपि ।
वृद्धबालानुपादाय चातुर्वर्ण्ये समागते ॥
शमं वै याचमानस्त्वं नाधर्मं तत्र लप्स्यसे ।
कुरून् विगर्हयिष्यन्ति धृतराष्ट्रं च पार्थिवाः ॥
तस्मिँल्लोकपरित्यक्ते किं कार्यमवशिष्यते ।
हते दुर्योधने राजन् यदन्यत् क्रियतामिति ॥
यात्वा चाहं कुरून् सर्वान् युष्मदर्थमहापयन् ।
यतिष्ये प्रशमं कर्तुं लक्षयिष्ये च चेष्टितम् ॥
कौरवाणां प्रवृत्तिं च गत्वा युद्धाधिकारिकाम् ।
निशम्य विनिवर्तिष्ये जयाय तव भारत ॥

(महाभारत उद्योग० ७३ । २४-३७)

शत्रुसूदन ! कुलीन पुरुषकी निन्दा हो या वध—इनमेंसे वध ही उसके लिये अत्यन्त गुणकारक है; निन्दा नहीं। निन्दा तो जीवनको घृणित बना देती है। महाराज ! जब इस भूमण्डलके सभी राजाओंने निन्दा की, उसी समय उस निर्लज्ज दुर्योधनकी एक प्रकारसे मृत्यु हो गयी। जिसका चरित्र इतना गिरा हुआ है, उसका वध करना तो बहुत साधारण कार्य है। जिसकी जड़ कट गयी हो और जो गोल वेदीके आधारपर खड़ा हो, उस वृक्षकी भाँति दुर्योधनके भी धराशायी होनेमें अब अधिक विलम्ब नहीं है। खोटी बुद्धिवाला दुराचारी दुर्योधन दुष्ट सर्पकी भाँति सब लोगोंके लिये वध्य है। शत्रुओंका नाश करनेवाले महाराज ! आप दुविधामें न पड़ें, इस दुष्टको अवश्य मार डालें। निष्पाप नरेश ! आप जो पितृतुल्य धृतराष्ट्र तथा पितामह भीष्मके प्रति प्रणाम एवं नम्रतापूर्ण बर्ताव करते हैं, वह सर्वथा आपके योग्य है। मैं भी इसे पसंद करता हूँ। राजन् ! दुर्योधनके सम्बन्धमें जिन लोगोंका मन दुविधामें है—जो लोग उसके अच्छे या बुरे होनेका निर्णय नहीं कर सके हैं, उन सब लोगोंका संदेह मैं वहाँ जाकर दूर कर दूँगा। मैं राजसभामें जुटे हुए भूपालोंकी मण्डलीमें आपके सर्वसाधारण गुणोंका वर्णन और दुर्योधनके दोषों तथा अपराधोंका उद्घाटन करूँगा। मेरे मुखसे धर्म और अर्थसे संयुक्त हितकर वचन सुनकर नाना जनपदोंके स्वामी समस्त भूपाल आपके विषयमें यह निश्चितरूपसे समझ लेंगे कि युधिष्ठिर धर्मात्मा तथा सत्यवादी हैं और दुर्योधनके सम्बन्धमें भी उन्हें यह निश्चय हो जायगा कि उसने लोभसे प्रेरित होकर ही सारा अनुचित बर्ताव किया है। मैं वहाँ आये हुए चारों वर्णोंके आबालवृद्ध जनसमुदायको अपनाकर उनके सामने तथा पुरवासियों और देशवासियोंके समक्ष भी इस दुर्योधनकी निन्दा करूँगा। वहाँ शान्तिके लिये याचना करनेपर आप अधर्मके भी भागी न होंगे। सब राजा कौरवोंकी तथा धृतराष्ट्रकी ही निन्दा करेंगे। सब लोग दुर्योधनको अन्यायी समझकर त्याग देंगे और वह निन्दनीय होनेके कारण नष्टप्राय हो जायगा। उस दशामें आपका दूसरा कौन-सा कार्य शेष रह जाता है, जिसे सम्पन्न किया जाय। वहाँ पहुँचकर आपके स्वार्थकी सिद्धिमें तनिक भी त्रुटि न आने देते हुए मैं समस्त कौरवोंसे संधि-स्थापनके लिये प्रयत्न करूँगा और उनकी चेष्टाओंपर दृष्टि रक्खूँगा। भारत ! मैं जाकर कौरवोंकी युद्धविषयक तैयारीकी बातें जान-सुनकर आपकी विजयके लिये पुनः यहाँ लौट आऊँगा।

शकुनोंसे भी युद्धकी सम्भावना दीखती है

सर्वथा युद्धमेवाहमाशंसामि परैः सह ।
निमित्तानि हि सर्वाणि तथा प्रादुर्भवन्ति मे ॥
मृगाः शकुन्ताश्च वदन्ति घोरं
हस्त्यश्वमुख्येषु निशामुखेषु ।

घोराणि रूपाणि तथैव चाग्नि-
वर्णान् बहून् पुष्यति घोररूपान् ॥
मनुष्यलोकक्षयकृत् सुघोरो
नो चेदनुप्राप्त इहान्तकः स्यात् ।
शस्त्राणि यन्त्रं कवचान् रथांश्च
नागान् हयांश्च प्रतिपादयित्वा ॥
योधाश्च सर्वे कृतनिश्चयास्ते
भवन्तु हस्त्यश्वरथेषु यत्ताः ।
सांग्रामिकं ते यदुपार्जनीयं
सर्वं समग्रं कुरु तन्नरेन्द्र ॥
दुर्योधनो न ह्यलमद्य दातुं
जीवंस्तवैतन्नृपते कथंचित् ।
यत् ते पुरस्तादभवत् समृद्धं
द्यूते हृतं पाण्डवमुख्य राज्यम् ॥

(महाभारत उद्योग० ७३ । ३८—४२)

मुझे तो शत्रुओंके साथ सर्वथा युद्ध होनेकी ही सम्भावना दीख रही है; क्योंकि मेरे सामने ऐसे ही लक्षण (शकुन) प्रकट हो रहे हैं। मृग (पशु) और पक्षी भयंकर शब्द कर रहे हैं। प्रदोषकालमें प्रमुख हाथियों और घोड़ोंके समुदायमें बड़ी भयानक आकृतियाँ प्रकट होती हैं । इसी प्रकार अग्निदेव भी नाना प्रकारके भयजनक वर्णों (रंगों) को धारण करते हैं । यदि मनुष्यलोकका संहार करनेवाली अत्यन्त भयंकर मृत्यु इनको नहीं प्राप्त हुई होती, तो ऐसी बातें देखनेमें नहीं आतीं । अतः नरेन्द्र ! आपके समस्त योद्धा युद्धके लिये दृढ़ निश्चय करके भाँति-भाँतिके शस्त्र, यन्त्र, कवच, रथ, हाथी और घोड़ोंको सुसज्जित कर लें तथा उन हाथियों, घोड़ों एवं रथोंपर सवार हो युद्ध करनेके निमित्त सदा तैयार रहें । इसके सिवा आपको युद्धोपयोगी जिन समस्त वस्तुओंका संग्रह करना है, उन सबका भी आप संग्रह कर लीजिये। पाण्डवप्रवर ! नरेश्वर ! यह निश्चय मानिये, आपके पास पहले जो समृद्धिशाली राज्य-वैभव था और जिसे आपने जूएमें खो दिया था, वह सारा राज्य अब दुर्योधन अपने जीते-जी आपको कभी नहीं दे सकता ।

अर्जुनका निवेदन और श्रीकृष्णद्वारा उसका उत्तर

भीमसेनके द्वारा संधिविषयक प्रस्ताव करनेपर श्रीकृष्णने उनको समझाया और आश्वासन दिया; फिर उत्साह प्रदान किया । तदनन्तर अर्जुनने कहा—'प्रभो ! जिस कार्यको अच्छी तरह किया जाय, वह सफल हो सकता है । श्रीकृष्ण ! आप ऐसा ही प्रयत्न करें, जिससे शत्रुओंके साथ हमारी संधि हो जाय । जनार्दन ! ऐसा करना आपके लिये अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य है । प्रभो ! आप वहाँ जानेमात्रसे यह कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न कर लेंगे । अथवा यदि आप अब कौरवोंका वध ही श्रेष्ठ मानते हों, तो वही शीघ्र-से-शीघ्र किया जाय । फिर इसके सिवा और किसी बातपर आपको विचार नहीं करना चाहिये । आप जानते हैं, इस पापात्मा दुर्योधनने भरी सभामें द्रुपदकुमारी कृष्णाको कितना कष्ट पहुँचाया था, परंतु हमने उसके इस महान् अपराधको भी चुपचाप सह लिया था । माधव ! वही दुर्योधन अब पाण्डवोंके साथ अच्छा बर्ताव करेगा, ऐसी बात मेरी बुद्धिमें जँच नहीं रही है । उसके साथ संधिका जो प्रयत्न ऊसरमें बोये हुए बीजकी भाँति व्यर्थ ही है । अतः वृष्णिकुलभूषण श्रीकृष्ण ! आप पाण्डवोंके लिये अबसे करने योग्य जो उचित एवं हितकर कार्य मानते हों, वही यथासम्भव शीघ्र आरम्भ कीजिये ।'

कौरव-पाण्डव दोनोंके हितके लिये मैं प्रयत्न करूँगा

श्रीभगवानुवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि पाण्डव ।
पाण्डवानां कुरूणां च प्रतिपत्स्ये निरामयम् ॥
सर्वं त्विदं ममायत्तं बीभत्सो कर्मणोर्द्वयोः ।
क्षेत्रं हि रसवच्छुद्धं कर्मणैवोपपादितम् ॥

ऋते वर्षान्न कौन्तेय जातु निर्वर्तयेत् फलम् ।
तत्र वै पौरुषं ब्रूयुरासेकं यत्र कारितम् ॥
तत्र चापि ध्रुवं पश्येच्छोषणं दैवकारितम् ।
तदिदं निश्चितं बुद्ध्या पूर्वैरपि महात्मभिः ॥
दैवे च मानुषे चैव संयुक्तं लोककारणम् ।

(महाभारत उद्योग० ७९ । १—४½)

श्रीभगवान् बोले—महाबाहु पाण्डुकुमार ! तुम जैसा कहते हो, वैसा ही करना उचित है । मैं वही करनेका प्रयत्न करूँगा, जिससे कौरव तथा पाण्डव—दोनोंका संकट दूर हो—दोनों सुखी हो सकें । अर्जुन ! इसमें संदेह नहीं कि शान्ति और युद्ध—इन दोनों कार्योंमेंसे किसी एकको हितकर समझकर अपनानेका सारा दायित्व मेरे हाथमें आ गया है; तथापि इसमें प्रारब्धकी अनुकूलता अपेक्षित है । कुन्तीनन्दन ! जुताई और सिंचाई करके कितना ही शुद्ध और सरस बनाया हुआ खेत क्यों न हो, कभी-कभी वर्षाके बिना वह अच्छी उपज नहीं दे सकता । जिस खेतमें जुताई और सिंचाई की गयी है, वहाँ यह पुरुषार्थ ही किया गया है; परंतु वहाँ भी दैववश सूखा पड़ गया, यह निश्चितरूपसे देखा जाता है [अतः पुरुषार्थकी सफलताके लिये प्रारब्धकी अनुकूलता आवश्यक है] ।

अहं हि तत् करिष्यामि परं पुरुषकारतः ॥
दैवं तु न मया शक्यं कर्म कर्तुं कथंचन ।
स हि धर्मं च लोकं च त्यक्त्वा चरति दुर्मतिः ॥
न हि संतप्यते तेन तथारूपेण कर्मणा ।
तथापि बुद्धिं पापिष्ठां वर्धयन्त्यस्य मन्त्रिणः ॥
शकुनिः सूतपुत्रश्च भ्राता दुःशासनस्तथा ।
स हि त्यागेन राज्यस्य न शमं समुपैष्यति ॥
अन्तरेण वधं पार्थ सानुबन्धः सुयोधनः ।
न चापि प्रणिपातेन त्यक्तुमिच्छति धर्मराट् ।
याच्यमानश्च राज्यं स न प्रदास्यति दुर्मतिः ॥
न तु मन्ये स तद् वाच्यो यद् युधिष्ठिरशासनम् ।
उक्तं प्रयोजनं यत् तु धर्मराजेन भारत ॥
तथा पापस्तु तत् सर्वं न करिष्यति कौरवः ।
तस्मिंश्चाक्रियमाणेऽसौ लोके वध्यो भविष्यति ॥

(महाभारत उद्योग० ७९ । ५—११)

इसलिये पूर्वकालके महात्माओंने अपनी बुद्धिद्वारा यही निश्चय किया है कि लोकहितका साधन दैव तथा पुरुषार्थ दोनोंपर निर्भर है । मैं पुरुषार्थसे जितना हो सकता है, उतना संधिस्थापनके लिये अधिक-से-अधिक प्रयत्न करूँगा; परंतु प्रारब्धके विधानको किसी प्रकार भी टाल देना या बदल देना मेरे लिये सम्भव नहीं है । दुर्बुद्धि दुर्योधन सदा धर्म और लोकाचारको छोड़कर ही चलता है; परंतु इस प्रकार धर्म और लोकके विरुद्ध कार्य करके भी वह उससे संतप्त नहीं होता । इतनेपर भी उसके मन्त्री शकुनि, सूतपुत्र कर्ण तथा भाई दुःशासन—ये उसकी अत्यन्त पापपूर्ण बुद्धिको बढ़ावा देते रहते हैं । कुन्तीनन्दन ! अपने सगे-सम्बन्धियोंसहित दुर्योधन जबतक मारा नहीं जायगा, तबतक वह राज्यभाग देकर कदापि संधि नहीं करेगा । धर्मराज युधिष्ठिर भी नम्रतापूर्वक संधिके लिये अपना राज्य छोड़ना नहीं चाहते हैं । उधर दुर्बुद्धि दुर्योधन माँगनेपर भी राज्य नहीं देगा । भरतनन्दन ! धर्मराज युधिष्ठिरने केवल पाँच गाँवोंको माँगनेके लिये जो आज्ञा दी है तथा नम्रतापूर्ण वचनोंमें जो संधिका प्रयोजन बताया है, वह सब दुर्योधनसे कहना उचित नहीं है—ऐसा मैं मानता हूँ; क्योंकि वह कुरुकुल-कलंक पापात्मा उन सब बातोंको कभी स्वीकार नहीं करेगा ।

हमलोगोंका प्रस्ताव स्वीकार न करनेपर वह इस जगत्में अवश्य ही वधके योग्य हो जायगा।

मम चापि स वध्यो हि जगतश्चापि भारत ।
येन कौमारके यूयं सर्वे विप्रकृताः सदा ॥
विप्रलुप्तं च वो राज्यं नृशंसेन दुरात्मना ।
न चोपशाम्यते पापः श्रियं दृष्ट्वा युधिष्ठिरे ॥
असकृच्चाप्यहं तेन त्वत्कृते पार्थ भेदितः ।
न मया तद् गृहीतं च पापं तस्य चिकीर्षितम् ॥
जानासि हि महाबाहो त्वमप्यस्य परं मतम् ।
प्रियं चिकीर्षमाणं च धर्मराजस्य मामपि ॥
संजानंस्तस्य चात्मानं मम चैव परं मतम् ।
अजानन्निव मां कस्मादर्जुनाद्याभिशङ्कसे ॥
यच्चापि परमं दिव्यं तच्चाप्यनुगतं त्वया ।
विधानं विहितं पार्थ कथं शर्म भवेत् परैः ॥
यत् तु वाचा मया शक्यं कर्मणा वापि पाण्डव ।
करिष्ये तदहं पार्थ न त्वाशंसे शमं परैः ॥
कथं गोहरणे ह्युक्तो नैतच्छर्म तथा हितम् ।
याच्यमानो हि भीष्मेण संवत्सरगतेऽध्वनि ॥

(महाभारत उद्योग० ७९ । १२—१९)

भारत ! जिसने तुम सब लोगोंको कुमारावस्थामें भी सदा नाना प्रकारके कष्ट दिये हैं, जिस दुरात्मा एवं निर्दयीने तुम्हारे राज्यका भी अपहरण कर लिया है तथा जो पापी दुर्योधन युधिष्ठिरके पास सम्पत्ति देखकर शान्त नहीं रह सकता है, वह मेरे और समस्त संसारके लिये भी वध्य है । कुन्तीनन्दन ! उसने मुझे भी तुम्हारी ओरसे फोड़नेके लिये अनेक बार चेष्टा की है; परंतु मैंने उसके पापपूर्ण प्रस्तावको कभी स्वीकार नहीं किया है । महाबाहो ! तुम जानते ही हो कि दुर्योधनकी भी मेरे विषयमें यही निश्चित धारणा है कि मैं धर्मराज युधिष्ठिरका प्रिय करना चाहता हूँ। अर्जुन ! इस प्रकार तुम दुर्योधनके मनकी भावना तथा मेरे दृढ़ निश्चयको जानते हुए भी आज अनजान-की भाँति क्यों मुझपर संदेह कर रहे हो ? कुन्तीकुमार! जो देवताओंका परम दिव्य (भूभार उतारनेके लिये) निश्चित विधान है, उससे भी तुम सर्वथा परिचित हो; फिर शत्रुओंके साथ संधि कैसे हो सकती है। पाण्डुनन्दन ! मेरेद्वारा वाणी और प्रयत्नसे जो कुछ हो सकता है, वह मैं अवश्य करूँगा; परंतु पार्थ! मुझे यह तनिक भी आशा नहीं है कि शत्रुओंके साथ संधि हो जायगी । विराटनगरमें गोहरणके समय तुम्हारे अज्ञातवास-वर्ष पूरा हो चुका था । उस समय भीष्मजीने मार्गमें दुर्योधनसे याचना की थी कि तुम पाण्डवोंको उनका राज्य दे उनसे मेल कर लो, परंतु यह कल्याण और हितकी बात भी उसने किसी प्रकार स्वीकार नहीं की।

तदैव ते पराभूता यदा संकल्पितास्त्वया।
लवशः क्षणशश्चापि न च तुष्टः सुयोधनः।
सर्वथा तु मया कार्यं धर्मराजस्य शासनम्।
विभाव्यं तस्य भूयश्च कर्म पापं दुरात्मनः।

(महाभारत उद्योग० ७९ । २०-२१)

जब तुमने कौरवोंको पराजित करनेका संकल्प किया, उसी समय वे पराजित हो गये । परंतु दुर्योधन तुम्हें क्षणभरके लिये किञ्चिन्मात्र भी संतुष्ट नहीं है। वहाँ जाकर सबसे पहले धर्मराजकी आज्ञाके अनुसार संधिके लिये सब प्रकारसे प्रयत्न करना है। यदि सफल न हुआ तो फिर मुझे यह विचार करना है कि दुरात्मा दुर्योधनको उसके पापकर्मका दण्ड दिया जाय ?
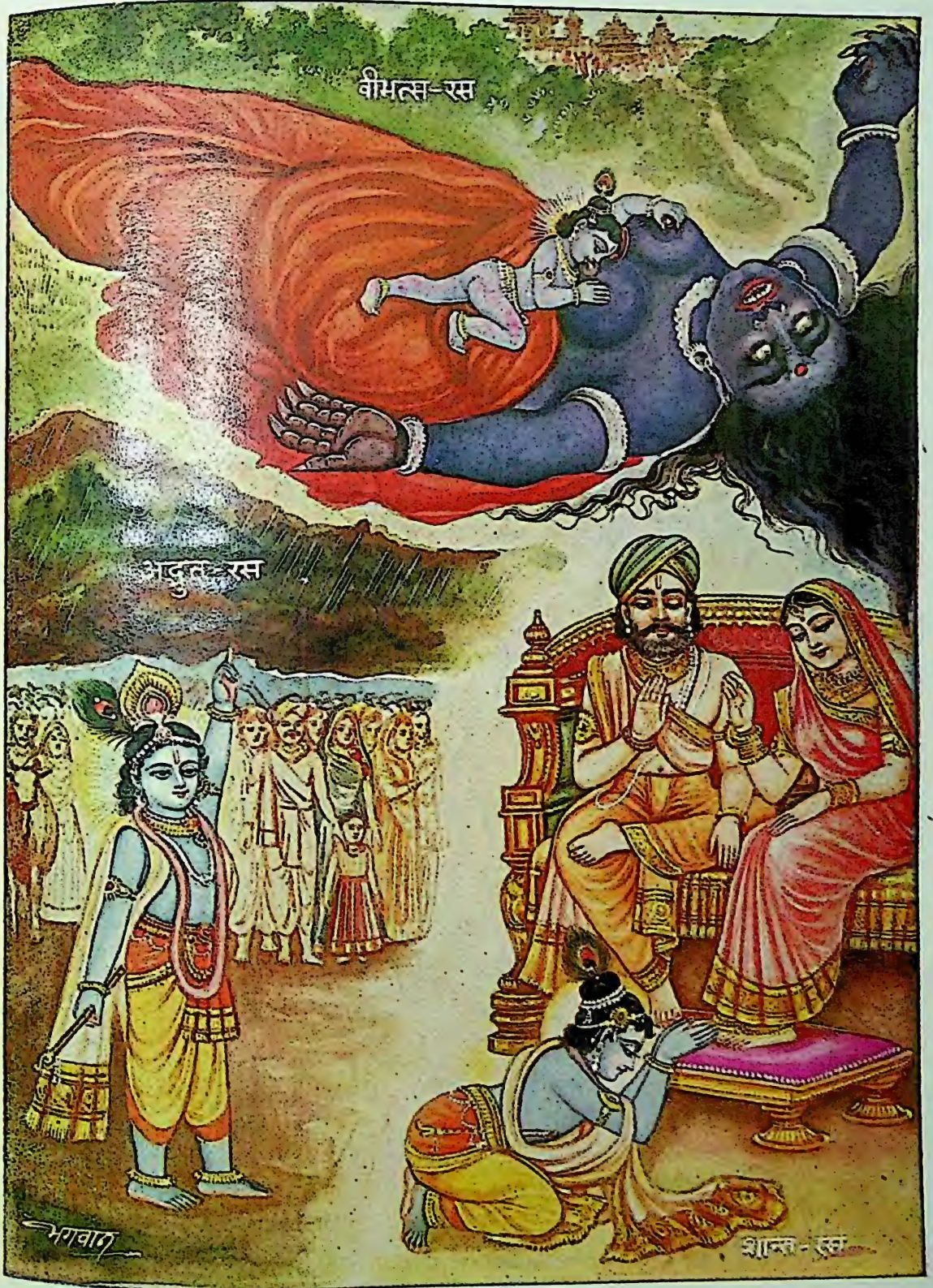
(२) श्रीकृष्णलीलाके नौ रसमें—बीभत्स, अद्भुत, शान्त

[पूतना-उद्धार, गोवर्धन-धारण, मातृ-पितृ-पूजन]
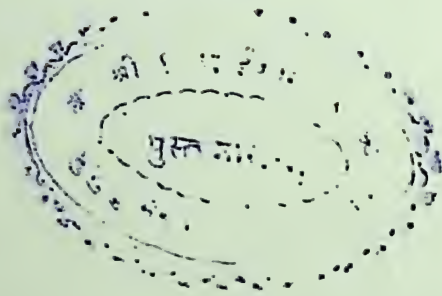
द्रौपदीको सान्त्वना देना

सबके बाद द्रौपदी भगवान् श्रीकृष्णके पास आयी और अपनी दारुण दुरवस्थाका वर्णन करके कौरवोंके अत्याचारोंका स्मरण कराती हुई बोली—'श्रीकृष्ण ! शत्रुओंके साथ संधिकी इच्छासे आप जो-जो कार्य अथवा प्रयत्न करें, उन सबमें दुःशासनके हाथोंसे खींचे गये मेरे इन केशोंको याद रक्खें । यदि दुःशासनकी बाँह कटकर धूलमें लोटती न देखूँ तो मेरे हृदयको क्या शान्ति मिलेगी ! आज भीमसेनने जो संधिका प्रस्ताव किया है, वह मेरे हृदयमें बाण-सा लगा है ।' इतना कहते-कहते द्रौपदीका गला भर आया । वह फूट-फूटकर रोने लगी ।

तामुवाच महाबाहुः केशवः परिसान्त्वयन् ।
अचिराद् द्रक्ष्यसे कृष्णे रुदतीर्भरतस्त्रियः ॥
एवं ता भीरु रोत्स्यन्ति निहतज्ञातिबान्धवाः ।
हतमित्रा हतबला येषां क्रुद्धासि भामिनि ॥
अहं च तत् करिष्यामि भीमार्जुनयमैः सह ।
युधिष्ठिरनियोगेन दैवाच्च विधिनिर्मितात् ॥
धार्तराष्ट्राः कालपक्वा न चेच्छृण्वन्ति मे वचः ।
शेष्यन्ते निहता भूमौ श्वशृगालादनीकृताः ॥
चलेद्धि हिमवाञ्छैलो मेदिनी शतधा फलेत् ।
द्यौः पतेच्च सनक्षत्रा न मे मोघं वचो भवेत् ॥
सत्यं ते प्रतिजानामि कृष्णे बाष्पो निगृह्यताम् ।
हतामित्राञ्श्रिया युक्तानचिराद् द्रक्ष्यसे पतीन् ॥

(महाभारत उद्योग० ८२ । ४४—४९)

तब महाबाहु केशवने द्रौपदीको सान्त्वना देते हुए कहा—'कृष्णे ! तुम शीघ्र ही भरतवंशकी दूसरी स्त्रियोंको भी इसी प्रकार रुदन करते देखोगी । भामिनी ! जिनपर तुम कुपित हुई हो, उन विपक्षियोंकी स्त्रियाँ भी अपने कुटुम्बी, बन्धु-बान्धव, मित्रवृन्द तथा सेनाओंके मारे जानेपर इसी तरह रोयेंगी । महाराज युधिष्ठिरकी आज्ञा तथा विधाताके रचे हुए अदृष्टसे प्रेरित हो भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवको साथ लेकर मैं भी वही करूँगा, जो तुम्हें अभीष्ट है । यदि कालके गालमें जानेवाले धृतराष्ट्रपुत्र मेरी बात नहीं सुनेंगे, तो मारे जाकर धरतीपर लोटेंगे और कुत्तों तथा सियारोंके भोजन बन जायँगे । हिमालय पर्वत अपनी जगहसे टल जाय, पृथ्वीके सैकड़ों टुकड़े हो जायँ तथा नक्षत्रोंसहित आकाश टूट पड़े, परंतु मेरी यह बात झूठी नहीं हो सकती । कृष्णे ! अपने आँसुओंको रोको । मैं तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, तुम शीघ्र ही देखोगी कि सारे शत्रु मार डाले गये और तुम्हारे पति राज्यलक्ष्मीसे सम्पन्न हैं ।'

कुन्तीको आश्वासन

भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवपक्षसे संधिका प्रस्ताव ले दूत बनकर हस्तिनापुरमें पहुँचनेपर अपनी बुआ कुन्तीके पास गये। कुन्तीने उनका आदर-सत्कार किया और अपनी तथा पुत्रोंकी कष्ट-कथा सुनाकर वे रो पड़ीं। फिर पुत्रोंको संदेश देती हुई बोलीं—"माधव ! तुम धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरसे कहना—'बेटा ! तुम्हारे धर्मकी बड़ी हानि हो रही है। तुम उसे व्यर्थ नष्ट न करो।' फिर अर्जुन और भीमसेनसे कहना—'पुत्रो ! क्षत्राणी जिस प्रयोजनके लिये पुत्र उत्पन्न करती है, उसे पूरा करनेका यह समय आ गया है।' फिर नकुल और सहदेवको मेरा यह संदेश सुनाना—'मेरे बच्चो ! तुम प्राणोंकी बाजी लगाकर भी पराक्रमसे प्राप्त किये हुए भोगोंको ही ग्रहण करना।' मधुसूदन ! राज्य छिन गया, इसका मुझे दुःख नहीं है, जूएमें हार हुई या मेरे बेटे वनमें भेजे गये—इसके कारण भी मुझे दुःख नहीं है। परंतु मेरी एकवस्त्रा वधू कृष्णाको रजस्वलावस्थामें बलपूर्वक भरी सभामें ले जाकर जो अपमानित किया गया—इससे बढ़कर दुःखकी बात मेरे लिये और क्या हो सकती है। पुरुषोत्तम ! तुम, बलराम और प्रद्युम्न जिसके रक्षक हों, भीमसेन और अर्जुन-जैसे जिसके बेटे जीवित हैं, वही मैं ऐसे-ऐसे दुःख भोग रही हूँ।"

कुन्तीकी यह बात सुनकर श्रीकृष्णने उन्हें इस प्रकार आश्वासन दिया—

पाण्डव ग्राम्य-सुखका त्याग करके वीर-सुख भोगते हैं

वासुदेव उवाच

का तु सीमन्तिनी त्वादृक् लोकेष्वस्ति पितृष्वसः।
शूरस्य राज्ञो दुहिता आजमीढकुलं गता॥
महाकुलीना भवती ह्रदाद्ध्रदमिवागता।
ईश्वरी सर्वकल्याणी भर्त्रा परमपूजिता॥
वीरसूर्वीरपत्नी त्वं सर्वैः समुदिता गुणैः।
सुखदुःखे महाप्राज्ञे त्वादृशी सोढुमर्हति॥
निद्रातन्द्रे क्रोधहर्षौ क्षुत्पिपासे हिमातपौ।
एतानि पार्था निर्जित्य नित्यं वीरसुखे रताः॥
त्यक्तग्राम्यसुखाः पार्था नित्यं वीरसुखप्रियाः।
न तु स्वल्पेन तुष्येयुर्महोत्साहा महाबलाः॥
अन्तं धीरा निषेवन्ते मध्यं ग्राम्यसुखप्रियाः।
उत्तमांश्च परिक्लेशान् भोगांश्चातीव मानुषान्॥
अन्तेषु रेमिरे धीरा न ते मध्येषु रेमिरे।
अन्तप्राप्तिं सुखं प्राहुर्दुःखमन्तरमेतयोः॥
अभिवादयन्ति भवतीं पाण्डवाः सह कृष्णया।
आत्मानं च कुशलिनं निवेद्याहुरनामयम्॥
अरोगान् सर्वसिद्धार्थान् क्षिप्रं द्रक्ष्यसि पाण्डवान्।
ईश्वरान् सर्वलोकस्य हतामित्राञ्छ्रिया वृतान्॥

(महाभारत उद्योग० ९० । ११—११

भगवान् वासुदेव बोले—बुआ ! संसारमें तुम-जैसी सौभाग्यशालिनी नारी दूसरी कौन है ? तुम रा[illegible] शूरसेनकी पुत्री हो और महाराज अजमीढके कु[illegible] ब्याहकर आयी हो। तुम एक उच्च कुलकी कन्या है और दूसरे उच्च कुलमें ब्याही गयी हो; मानो कमलि[illegible] एक सरोवरसे दूसरे सरोवरमें आयी हो। एक दिन [illegible] सर्वकल्याणी महारानी थीं; तुम्हारे पतिदेवने [illegible] तुम्हारा विशेष सम्मान किया है। तुम वीरपत्नी, [illegible] जननी तथा समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न हो। महाप्रा[illegible]

तुम्हारी-जैसी विवेकशील स्त्रीको सुख और दुःख चुपचाप सहने चाहिये। तुम्हारे सभी पुत्र निद्रा, तन्द्रा (आलस्य), क्रोध, हर्ष, भूख-प्यास तथा सर्दी-गरमी इन सबको जीत-कर सदा वीरोचित सुखका उपभोग करते हैं। तुम्हारे पुत्रोंने ग्राम्यसुखको त्याग दिया है; वीरोचित सुख ही उन्हें सदा प्रिय है। वे महान् उत्साही और महाबली हैं; अतः थोड़े-से ऐश्वर्यसे संतुष्ट नहीं हो सकते। धीर पुरुष भोगोंकी अन्तिम स्थितिका सेवन करते हैं। ग्राम्य विषयभोगोंमें आसक्त पुरुष भोगोंकी मध्य स्थितिका ही सेवन करते हैं। वे धीर पुरुष कर्तव्यपालनके रूपमें प्राप्त बड़े-से-बड़े क्लेशोंको सहर्ष सहन करके अन्तमें मनुष्यातीत भोगोंमें रमण करते हैं। महापुरुषोंका कहना है कि अन्तिम (सुख-दुःखसे अतीत) स्थितिकी प्राप्ति ही वास्तविक सुख है तथा सुख-दुःखके बीचकी स्थिति ही दुःख है। बुआजी! द्रौपदीसहित पाण्डवोंने तुम्हें प्रणाम कहलाया है और अपनेको सकुशल बताकर अपनी स्वस्थता भी सूचित की है। तुम शीघ्र ही देखोगी, पाण्डव नीरोग अवस्थामें तुम्हारे सामने उपस्थित हैं, उनके सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध हो गये हैं और वे अपने शत्रुओंका संहार करके साम्राज्य-लक्ष्मीसे संयुक्त हो सम्पूर्ण जगत्‌के शासक-पदपर प्रतिष्ठित हैं।

इस प्रकार आश्वासन पाकर पुत्रों आदिसे दूर पड़ी हुई कुन्तीदेवीने अज्ञानजनित मोहका निरोध करके भगवान् जनार्दनसे कहा—'महाबाहु मधुसूदन श्रीकृष्ण! जो पाण्डवोंके लिये हितकर हो तथा जैसे-जैसे कार्य करना तुम्हें उचित जान पड़े, वैसे-वैसे करो।'

दुर्योधनके निमन्त्रणको अस्वीकार करनेका कारण बताना

तदनन्तर बुआकी आज्ञा ले, उनकी परिक्रमा करके भगवान् श्रीकृष्ण दुर्योधनके घर गये। राजभवनकी तीन ड्योढ़ियाँ पार करके वे एक श्वेत पर्वत-शिखरके समान ऊँचे प्रासादपर आरूढ हुए। वहाँ सहस्रों राजाओंसे घिरा हुआ दुर्योधन राजसिंहासनपर आसीन था। दुःशासन, कर्ण तथा शकुनि भी ऊँचे आसनोंपर बैठे थे। श्रीकृष्णके आते ही दुर्योधन मन्त्रियोंसहित उठकर खड़ा हो गया। दुर्योधनसे मिलकर केशव अवस्थाके अनुसार वहाँ सभी राजाओंसे यथायोग्य मिले। फिर उस राजसभामें रत्नोंसे विभूषित एक सुवर्णमय पर्यङ्कपर भगवान् श्रीकृष्ण विराजमान हुए। कुरु-राजने जनार्दनकी सेवामें गौ, मधुपर्क, जल, गृह तथा राज्य सब कुछ निवेदन कर दिया। इसके बाद दुर्योधनने उन्हें भोजनके लिये निमन्त्रित किया, परंतु श्रीकृष्णने उस निमन्त्रण-को स्वीकार नहीं किया। जब उनसे इसका कारण पूछा गया, तब भगवान्‌ने इस प्रकार उत्तर दिया—

दूतके भोजन-सम्मानका नियम

कृतार्था भुञ्जते दूताः पूजां गृह्णन्ति चैव ह।
कृतार्थं मां सहामात्यं समर्चिष्यसि भारत ॥
(महाभारत उद्योग० ९१। १८)

'भारत! ऐसा नियम है कि दूत अपना प्रयोजन सिद्ध होनेपर ही भोजन और सम्मान स्वीकार करते हैं। आप भी मेरा उद्देश्य सिद्ध हो जानेपर ही मेरा और मेरे मन्त्रियोंका सत्कार करें।' दुर्योधनको इस उत्तरसे संतोष नहीं हुआ। वह बोला—'उद्देश्य सफल हो या न हो, हमारे यहाँ भोजन करनेमें क्या हर्ज है?' तब भगवान्‌ने कहा—

किसी भी हेतुसे धर्मत्याग स्वीकार नहीं

नाहं कामान्न संरम्भान्न द्वेषान्नार्थकारणात्।
न हेतुवादाल्लोभाद् वा धर्मं जह्यां कथंचन ॥
(महाभारत उद्योग० ९१। २४)

'राजन्! मैं कामसे, क्रोधसे, द्वेषसे, स्वार्थवश, हेतुवाद (बहानेबाजी) अथवा लोभसे भी किसी प्रकार धर्मका त्याग नहीं कर सकता।'

भोजन प्रेमके कारण किया जाता है, या भूखों मरनेपर

सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः।
न च सम्प्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम् ॥

अकस्माद् द्वेष्टि वै राजन् जन्मप्रभृति पाण्डवान् ।
प्रियानुवर्तिनो भ्रातॄन् सर्वैः समुदितान् गुणैः ॥
अकस्माच्चैव पार्थानां द्वेषणं नोपपद्यते ।
धर्मे स्थिताः पाण्डवेयाः कस्तान् किं वक्तुमर्हति ॥

(महाभारत उद्योग० ९१ । २५-२७)

किसीके घरका अन्न या तो प्रेमके कारण भोजन किया जाता है या आपत्तिमें पड़नेपर (भूखों मरनेपर)। नरेश्वर ! प्रेम तो तुम नहीं रखते और किसी आपत्तिमें हम नहीं पड़े हैं । राजन् ! पाण्डव तुम्हारे भाई ही हैं, वे अपने प्रेमियोंका साथ देनेवाले और समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न हैं, तथापि तुम जन्मसे ही उनके साथ अकारण ही द्वेष करते हो । विना कारण ही कुन्तीपुत्रोंके साथ द्वेष रखना तुम्हारे लिये कदापि उचित नहीं है । पाण्डव सदा अपने धर्ममें स्थित रहते हैं, अतः उनके विरुद्ध कौन क्या कह सकता है ?

पाण्डवोंका द्वेषी मेरा द्वेषी और उनके अनुकूल मेरे अनुकूल

यस्तान् द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्ताननु स मामनु ।
ऐकात्म्यं मां गतं विद्धि पाण्डवैर्धर्मचारिभिः ॥
कामक्रोधानुवर्ती हि यो मोहाद् विरुरुत्सते ।
गुणवन्तं च यो द्वेष्टि तमाहुः पुरुषाधमम् ॥

(महाभारत उद्योग० ९१ । २८-२९)

जो पाण्डवोंसे द्वेष करता है, वह मुझसे भी द्वेष करता है और जो उनके अनुकूल है, वह मेरे भी अनुकूल है । तुम मुझे धर्मात्मा पाण्डवोंके साथ एकरूप हुआ ही समझो । जो काम और क्रोधके वशीभूत होकर मोहवश किसी गुणवान् पुरुषके साथ विरोध करना चाहता है, उसे पुरुषोंमें अधम कहा गया है ।

यः कल्याणगुणाञ्ज्ञातीन् मोहाल्लोभाद् दिदृक्षते।
सोऽजितात्माजितक्रोधो न चिरं तिष्ठति श्रियम्॥
अथ यो गुणसम्पन्नान् हृदयस्याप्रियानपि ।
प्रियेण कुरुते वश्यांश्चिरं यशसि तिष्ठति ॥
(द्विषदन्नं न भोक्तव्यं द्विषन्तं नैव भोजयेत् ।
पाण्डवान् द्विषसे राजन् मम प्राणा हि पाण्डवाः॥)
सर्वमेतन्न भोक्तव्यमन्नं दुष्टाभिसंहितम् ।
क्षत्तुरेकस्य भोक्तव्यमिति मे धीयते मतिः ॥

(महाभारत उद्योग० ९१ । ३०-३२)

जो कल्याणमय गुणोंसे युक्त अपने कुटुम्बीजनोंको मोह और लोभकी दृष्टिसे देखना चाहता है, वह अपने मन और क्रोधको न जीतनेवाला पुरुष दीर्घकालतक राजलक्ष्मीका उपभोग नहीं कर सकता । जो अपने मनको प्रिय न लगनेवाले गुणवान् व्यक्तियोंको भी अपने प्रिय व्यवहारद्वारा वशमें कर लेता है, वह दीर्घकालतक यशस्वी बना रहता है । जो द्वेष रखता हो, उसका अन्न नहीं खाना चाहिये । द्वेष रखनेवालेको खिलाना भी नहीं चाहिये । राजन् ! तुम पाण्डवोंसे द्वेष रखते हो और पाण्डव मेरे प्राण हैं । तुम्हारा यह सारा अन्न दुर्भावनासे दूषित है; अतः मेरे भोजन करने योग्य नहीं है । मेरे लिये तो यहाँ केवल विदुरका ही अन्न खाने योग्य है । यह मेरी निश्चित धारणा है ।

एवमुक्त्वा महाबाहुर्दुर्योधनममर्षणम्।
निश्चक्राम ततः शुभ्राद् धार्तराष्ट्रनिवेशनात्॥

(महाभारत उद्योग० ९१ । ३३)

अमर्षशील दुर्योधनसे ऐसा कहकर महाबाहु श्रीकृ उसके भव्य भवनसे बाहर निकले ।

तदनन्तर वे विदुरजीके घर पधारे और वहाँ विदुर श्रीकृष्णको समस्त मनोवाञ्छित वस्तुएँ समर्पित करके प्र पूर्वक उनका पूजन किया । तदनन्तर उन्होंने अनेक प्र पवित्र एवं गुणकारक अन्न-पान महात्मा केशवको अ किये । मधुसूदनने उस अन्न-पानसे पहले ब्राह्मणोंको किया । फिर उन्होंने उन वेदवेत्ताओंको श्रेष्ठ धन भी दि तदनन्तर देवताओंसहित इन्द्रकी भाँति अनुचरोंसहित श्रीकृष्णने विदुरजीके पवित्र एवं गुणकारक अन्न-पान ग्रहण

तदनन्तर विदुरजीने धृतराष्ट्रपुत्रोंकी दुर्भावना विनययुक्त वाणीद्वारा भगवान् श्रीकृष्णको कौरवसभामें रोका । विदुरका प्रेम और विनयसे युक्त वचन पुरुषोत्तम भगवान् मधुसूदनने यह बात कही—

शक्तिभर धर्म-कार्यका प्रयत्न करनेपर भी सफलता न मिले, तो भी पुण्य होता है

श्रीभगवानुवाच

यथा ब्रूयान्महाप्राज्ञो यथा ब्रूयाद् विचक्षणः।
यथा वाच्यस्त्वद्विधेन भवता मद्विधः सुहृत्॥
धर्मार्थयुक्तं तथ्यं च यथा त्वय्युपपद्यते।
तथा वचनमुक्तोऽस्मि त्वयैतत् पितृमातृवत्॥
सत्यं प्राप्तं च युक्तं चाप्येवमेव यथाऽऽत्थ माम्।
शृणुष्वागमने हेतुं विदुरावहितो भव॥
दौरात्म्यं धार्तराष्ट्रस्य क्षत्रियाणां च वैरताम्।
सर्वमेतदहं जानन् क्षत्तः प्राप्तोऽद्य कौरवान्॥
पर्यस्तां पृथिवीं सर्वां साश्वां सरथकुञ्जराम्।
यो मोचयेन्मृत्युपाशात् प्राप्नुयाद् धर्ममुत्तमम्॥
धर्मकार्यं यतञ्छक्त्या नो चेत् प्राप्नोति मानवः।
प्राप्तो भवति तत् पुण्यमत्र मे नास्ति संशयः॥
मनसा चिन्तयन् पापं कर्मणा नातिरोचयन्।
न प्राप्नोति फलं तस्येत्येवं धर्मविदो विदुः॥
सोऽहं यतिष्ये प्रशमं क्षत्तः कर्तुममायया।
कुरूणां सृञ्जयानां च संग्रामे विनशिष्यताम्॥
सेयमापन्महाघोरा कुरुष्वेव समुत्थिता।
कर्णदुर्योधनकृता सर्वे ह्येते तदन्वयाः॥

(महाभारत उद्योग० ९३। १-९)

श्रीभगवान् बोले—विदुरजी! एक महान् बुद्धिमान् पुरुष जैसी बात कह सकता है, विद्वान् मनुष्य जैसी सलाह दे सकता है, आप-जैसे हितैषी पुरुषके लिये मेरे-जैसे सुहृद्से जैसी बात कहनी उचित है और आपके मुखसे जैसा धर्म और अर्थसे युक्त सत्य वचन निकलना चाहिये, आपने माता-पिताके समान स्नेहपूर्वक वैसी ही बात मुझसे कही है। आपने मुझसे जो कुछ कहा है, वही सत्य, समयोचित और युक्तिसंगत है। तथापि विदुरजी! यहाँ मेरे आनेका जो कारण है, उसे सावधान होकर सुनिये। विदुरजी! मैं धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधनकी दुष्टता और क्षत्रिय योद्धाओंके वैरभाव—इन सब बातोंको जानकर ही आज कौरवोंके पास आया हूँ। अश्व, रथ और हाथियोंसहित यह सारी पृथ्वी विनष्ट होना चाहती है। जो इसे मृत्युपाशसे छुड़ानेका प्रयत्न करेगा, उसे ही उत्तम धर्म प्राप्त होगा। मनुष्य यदि अपनी शक्तिभर किसी धर्मकार्यको करनेका प्रयत्न करते हुए भी उसमें सफलता न प्राप्त कर सके, तो भी उसे उसका पुण्य तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता है। इस विषयमें मुझे संदेह नहीं है। इसी प्रकार यदि मनुष्य मनसे पापका चिन्तन करते हुए भी उसमें रुचि न होनेके कारण उसे क्रियाद्वारा सम्पादित न करे, तो उसे उस पापका फल नहीं मिलता है, ऐसा धर्मज्ञ पुरुष जानते हैं। अतः विदुरजी! मैं युद्धमें मर मिटनेको उद्यत हुए कौरवों तथा सृञ्जयोंमें संधि करानेका निश्छलभावसे प्रयत्न करूँगा। यह अत्यन्त भयंकर आपत्ति कर्ण और दुर्योधनद्वारा ही उपस्थित की गयी है; क्योंकि ये सभी नरेश इन्हीं दोनोंका अनुसरण करते हैं। अतः इस विपत्तिका प्रादुर्भाव कौरवपक्षमें ही हुआ है।

मित्रका कर्तव्य

व्यसने क्लिश्यमानं हि यो मित्रं नाभिपद्यते।
अनुनीय यथाशक्ति तं नृशंसं विदुर्बुधाः॥
आकेशग्रहणान्मित्रमकार्यात् संनिवर्तयन्।
अवाच्यः कस्यचिद् भवति कृतयत्नो यथाबलम्॥
तत् समर्थं शुभं वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम्।
धार्तराष्ट्रः सहामात्यो ग्रहीतुं विदुरार्हति॥
हितं हि धार्तराष्ट्राणां पाण्डवानां तथैव च।
पृथिव्यां क्षत्रियाणां च यतिष्येऽहममायया॥
हिते प्रयतमानं मां शङ्केद् दुर्योधनो यदि।
हृदयस्य च मे प्रीतिरानृण्यं च भविष्यति॥
ज्ञातीनां हि मिथो भेदे यन्मित्रं नाभिपद्यते।
सर्वयत्नेन माध्यस्थ्यं न तन्मित्रं विदुर्बुधाः॥

न मां ब्रूयुरधर्मिष्ठा मूढा ह्यसुहृदस्तथा ।
शक्तो नावारयत् कृष्णः संरब्धान् कुरुपाण्डवान् ॥
उभयोः साधयन्नर्थमहमागत इत्युत ।
तत्र यत्नमहं कृत्वा गच्छेयं नृष्ववाच्यताम् ॥
मम धर्मार्थयुक्तं हि श्रुत्वा वाक्यमनामयम् ।
न चेदादास्यते बालो दिष्टस्य वशमेष्यति ॥
अहापयन् पाण्डवार्थं यथाव-
च्छमं कुरूणां यदि चाचरेयम् ।
पुण्यं च मे स्याच्चरितं महात्मन्
मुच्येरंश्च कुरवो मृत्युपाशात् ॥
अपि वाचं भाषमाणस्य काव्यां
धर्मारामामर्थवतीमहिंस्राम् ।
अवेक्षेरन् धार्तराष्ट्राः शमार्थं
मां च प्राप्तं कुरवः पूजयेयुः ॥
न चापि मम पर्याप्ताः सहिताः सर्वपार्थिवाः ।
क्रुद्धस्य प्रमुखे स्थातुं सिंहस्येवेतरे मृगाः ॥

(महाभारत उद्योग० ९३ । १०-२१)

जो किसी व्यसन या विपत्तिमें पड़कर क्लेश उठाते हुए मित्रको यथाशक्ति समझा-बुझाकर उसका उद्धार नहीं करता है, उसे विद्वान् पुरुष निर्दय एवं क्रूर मानते हैं । जो अपने मित्रको उसकी चोटी पकड़-कर भी बुरे कार्यसे हटानेके लिये यथाशक्ति प्रयत्न करता है, वह किसीकी निन्दाका पात्र नहीं होता है । अतः विदुरजी ! दुर्योधन और उसके मन्त्रियोंको मेरी शुभ, हितकर, युक्तियुक्त तथा धर्म और अर्थके अनुकूल बात अवश्य माननी चाहिये । मैं तो निष्कपटभावसे धृतराष्ट्रके पुत्रों, पाण्डवों तथा भूमण्डलके सभी क्षत्रियोंके हितका ही प्रयत्न करूँगा । इस प्रकार हित-साधनके लिये प्रयत्न करनेपर भी यदि दुर्योधन मुझपर शङ्का करेगा तो भी मेरे मनको तो प्रसन्नता ही होगी और मैं अपने कर्तव्यके भारसे उऋण हो जाऊँगा । भाई-बन्धुओंमें परस्पर फूट होनेका अवसर आनेपर जो मित्र सर्वथा प्रयत्न करके उनमें मेल करानेके लिये मध्यस्थता नहीं करता, उसे विद्वान् पुरुष मित्र नहीं मानते । संसारके पापी, मूढ़ और शत्रुभाव रखनेवाले लोग मेरे विषयमें यह न कहें कि श्रीकृष्णने समर्थ होते हुए भी क्रोधसे भरे हुए कौरव-पाण्डवोंको युद्धसे नहीं रोका (इसलिये भी सच्चे भावसे मैं संधि करानेका प्रयत्न करूँगा) । मैं दोनों ही पक्षोंका स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये यहाँ आया हूँ । इसके लिये पूर्णरूपसे प्रयत्न कर लेनेपर मैं लोगोंमें निन्दाका पात्र नहीं बनूँगा । यदि मूर्ख दुर्योधन मेरे कष्टनिवारक एवं धर्म तथा अर्थके अनुकूल वचनोंको सुनकर भी उन्हें ग्रहण नहीं करेगा, तो उसे दुर्भाग्यके अधीन होना पड़ेगा । महात्मन् ! यदि मैं पाण्डवोंके न्याय्य स्वत्वमें बाधा न आने देकर कौरवों तथा पाण्डवोंमें यथायोग्य संधि करा सकूँगा, तो मेरे द्वारा यह महान् पुण्यकर्म बन जायगा और कौरव भी मृत्युके पाशसे मुक्त हो जायँगे । मैं शान्तिके लिये विद्वानोंद्वारा अनुमोदित धर्म और अर्थके अनुकूल हिंसारहित बात कहूँगा । यदि धृतराष्ट्रके पुत्र मेरी बातपर ध्यान देंगे तो उसे अवश्य मानेंगे तथा कौरव भी मुझे वास्तवमें शान्ति-स्थापनके लिये ही आया हुआ जान मेरा आदर करेंगे । जैसे क्रोधमें भरे हुए सिंहके सामने दूसरे पशु नहीं ठहर सकते, उसी प्रकार यदि मैं कुपित हो जाऊँ, तो ये समस्त राजालोग एक साथ मिलकर भी मेरा सामना करनेमें समर्थ न होंगे।

यदुकुलको सुख देनेवाले वृष्णिवंशविभूषण श्रीकृष्ण विदुरजीसे उपर्युक्त बात कहकर स्पर्शमात्रसे सुख देनेवाली शय्यापर सो गये ।

भगवान् श्रीकृष्णका कौरव-सभामें पहुँचकर प्रभावशाली भाषण देना

प्रातःकाल उठकर श्रीकृष्णने स्नान, जप और अग्निहोत्रसे निवृत्त हो उदित होते हुए सूर्यका उपस्थान किया और फिर वस्त्र एवं आभूषणादि धारण किये। इसी समय राजा दुर्योधन और सुबलके पुत्र शकुनिने उनके पास आकर कहा—'महाराज धृतराष्ट्र तथा भीष्मादि सब कौरव महानुभाव सभामें आ गये हैं और आपकी बाट देख रहे हैं।' तब श्रीकृष्णचन्द्रने बड़ी मधुर वाणीमें उन दोनोंका अभिनन्दन किया। इसके पश्चात् सारथिने आकर श्रीकृष्णके चरणोंमें प्रणाम किया और उनका उत्तम घोड़ोंसे जुता हुआ शुभ्र रथ लाकर खड़ा कर दिया। श्रीयदुनाथ उस रथपर सवार हुए। उस समय कौरव-वीर उन्हें सब ओरसे घेरकर चले। भगवान्के पीछे उन्हींके रथमें समस्त धर्मोंको जाननेवाले विदुरजी भी सवार हो गये। दुर्योधन और शकुनि एक दूसरे रथमें बैठकर उनके पीछे-पीछे चले। धीरे-धीरे भगवान्का रथ राजसभाके द्वारपर आ गया और वे उससे उतरकर भीतर सभामें गये। जिस समय श्रीकृष्ण विदुर और सात्यकिका हाथ पकड़कर सभा-भवनमें पधारे, उस समय उनकी कान्तिने समस्त कौरवोंको निस्तेज-सा कर दिया। उनके आगे-आगे दुर्योधन और कर्ण तथा पीछे कृतवर्मा और वृष्णिवंशी वीर चल रहे थे। सभामें पहुँचनेपर उनका मान करनेके लिये राजा धृतराष्ट्र तथा भीष्म, द्रोण आदि सभी लोग अपने-अपने आसनोंसे खड़े हो गये। श्रीकृष्णके लिये राजसभामें महाराज धृतराष्ट्रकी आज्ञासे सर्वतोभद्र नामका सुवर्णमय सिंहासन रक्खा गया था। उसपर बैठकर श्रीश्यामसुन्दर मुसकराते हुए राजा धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोण तथा दूसरे राजाओंसे बातचीत करने लगे तथा समस्त कौरव और राजाओंने सभामें पधारे हुए श्रीकृष्णका पूजन किया।

इस समय श्रीकृष्णने सभाके भीतर ही अन्तरिक्षमें नारदादि ऋषियोंको खड़े देखा। तब उन्होंने धीरेसे शान्तनुनन्दन भीष्मजीसे कहा, 'इस राजसभाको देखनेके लिये ऋषि लोग आये हुए हैं। उनको आसनादि देकर बड़े सत्कारसे आवाहन कीजिये। उनके बिना बैठे यहाँ कोई भी बैठ नहीं सकेगा। इन शुद्धचित्त मुनियोंकी शीघ्र ही पूजा कीजिये।' इतनेहीमें मुनियोंको सभाके द्वारपर आया देख भीष्मजीने बड़ी शीघ्रतासे सेवकोंको आसन लानेकी आज्ञा दी। वे तुरंत ही बहुत-से आसन ले आये। जब ऋषियोंने आसनोंपर बैठकर अर्घ्यादि ग्रहण कर लिये तब श्रीकृष्ण तथा अन्य सब राजा भी अपने-अपने आसनोंपर बैठ गये। महामति विदुरजी श्रीकृष्णके सिंहासनसे लगे हुए एक मणिमय आसनपर, जिसपर श्वेत मृगचर्म बिछा हुआ था, बैठे। राजाओंको श्रीकृष्णके बहुत दिनोंपर दर्शन हुए थे; अतः अमृत पीते-पीते जैसे कभी तृप्ति नहीं होती, उसी प्रकार वे उन्हें देखते-देखते अघाते नहीं थे। उस सभामें सभीका मन श्रीकृष्णमें लगा हुआ था, इसलिये किसीके मुखसे कोई भी बात नहीं निकलती थी।

जब सभामें सब राजा मौन होकर बैठ गये, तब श्रीकृष्णने महाराज धृतराष्ट्रकी ओर देखते हुए बड़ी गम्भीर वाणीमें कहा—

कृपा, अनुकम्पा, करुणा, अनृशंसता, सरलता, क्षमा और सत्य इन उत्तम सद्गुणोंसे सम्पन्न कुरुवंशमें अनुचित कार्य होना कल्याणकारक नहीं है

श्रीभगवानुवाच

कुरूणां पाण्डवानां च शमः स्यादिति भारत।
अप्रणाशेन वीराणामेतद् याचितुमागतः॥
राजन् नान्यत् प्रवक्तव्यं तव नैःश्रेयसं वचः।
विदितं ह्येव ते सर्वं वेदितव्यमरिंदम॥
इदं ह्यद्य कुलं श्रेष्ठं सर्वराजसु पार्थिव।
श्रुतवृत्तोपसम्पन्नं सर्वैः समुदितं गुणैः॥
कृपानुकम्पा कारुण्यमानृशंस्यं च भारत।
तथाऽऽर्जवं क्षमा सत्यं कुरुष्वेतद् विशिष्यते॥
तस्मिन्नेवंविधे राजन् कुले महति तिष्ठ ते।
त्वन्निमित्तं विशेषेण नेह युक्तमसाम्प्रतम्॥
त्वं हि धारयिता श्रेष्ठः कुरूणां कुरुसत्तम।
मिथ्या प्रचरतां तात बाह्येष्वाभ्यन्तरेषु च॥
ते पुत्रास्तव कौरव्य दुर्योधनपुरोगमाः।
धर्मार्थौ पृष्ठतः कृत्वा प्रचरन्ति नृशंसवत्॥
अशिष्टा गतमर्यादा लोभेन हृतचेतसः।
स्वेषु बन्धुषु मुख्येषु तद् वेत्थ पुरुषर्षभ॥
(महाभारत उद्योग० ९५। ३—१०)

श्रीभगवान् बोले—भरतनन्दन ! मैं आपसे यह प्रार्थना करनेके लिये यहाँ आया हूँ कि क्षत्रिय वीरोंका संहार हुए बिना ही कौरवों और पाण्डवोंमें शान्तिस्थापन हो जाय। शत्रुदमन नरेश ! मुझे इसके सिवा दूसरी कोई कल्याणकारक बात आपसे नहीं कहनी है; क्योंकि जानने योग्य जितनी बातें हैं, वे सब आपको विदित ही हैं। भूपाल ! इस समय समस्त राजाओंमें यह कुरुवंश ही सर्वश्रेष्ठ है। इसमें शास्त्र एवं सदाचारका पूर्णतः आदर एवं पालन किया जाता है। यह कौरवकुल समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न है। भारत ! कुरुवंशियोंमें कृपा[1], अनुकम्पा[2], करुणा[3], अनृशंसता[4], सरलता, क्षमा और सत्य—ये सद्गुण अन्य राजवंशोंकी अपेक्षा अधिक पाये जाते हैं। राजन् ! ऐसे उत्तम गुणसम्पन्न एवं अत्यन्त प्रतिष्ठित कुलके होते हुए भी यदि इसमें आपके कारण कोई अनुचित कार्य हो, तो यह ठीक नहीं है। तात कुरुश्रेष्ठ ! यदि कौरवगण बाहर और भीतर (प्रकट और गुप्त-रूपसे) मिथ्या आचरण (असद्व्यवहार) करने लगें, तो आप ही उन्हें रोककर सन्मार्गमें स्थापित करनेवाले हैं। कुरुनन्दन ! दुर्योधनादि आपके पुत्र धर्म और अर्थको पीछे करके क्रूर मनुष्योंके समान आचरण करते हैं। पुरुषरत्न ! ये अपने ही श्रेष्ठ बन्धुओंके साथ अशिष्टता-पूर्ण बर्ताव करते हैं। लोभने इनके हृदयको ऐसा वशीभूत कर लिया है कि इन्होंने धर्मकी मर्यादा तोड़ दी है। इस बातको आप अच्छी तरह जानते हैं।

आप अपने पुत्रोंको और मैं पाण्डवोंको नियन्त्रणमें रखकर प्रयत्न करें, तो संधि हो सकती है

सेयमापन्महाघोरा कुरुष्वेव समुत्थिता।
उपेक्ष्यमाणा कौरव्य पृथिवीं घातयिष्यति॥
शक्या चेयं शमयितुं त्वं चेदिच्छसि भारत।
न दुष्करो ह्यत्र शमो मतो मे भरतर्षभ॥
त्वय्यधीनः शमो राजन् मयि चैव विशाम्पते।
पुत्रान् स्थापय कौरव्य स्थापयिष्याम्यहं परान्॥
आज्ञा तव हि राजेन्द्र कार्या पुत्रैः सहान्वयैः।
हितं बलवदप्येषां तिष्ठतां तव शासने॥
तव चैव हितं राजन् पाण्डवानामथो हितम्।
शमे प्रयतमानस्य तव शासनकाङ्क्षिणः॥
स्वयं निष्फलमालक्ष्य संविधत्स्व विशाम्पते।
सहायभूता भरतास्तवैव स्युर्जनेश्वर॥

(महाभारत उद्योग० ९५। ११-१६)

कुरुश्रेष्ठ ! इस समय यह अत्यन्त भयंकर आपत्ति कौरवोंमें ही प्रकट हुई है। यदि इसकी उपेक्षा की गयी तो यह समस्त भूमण्डलको विध्वंस कर डालेगी। भारत ! यदि आप चाहते हों तो इस भयानक विपत्तिका अब भी निवारण किया जा सकता है। भरतश्रेष्ठ ! इन दोनों पक्षोंमें शान्ति स्थापित होना मैं कठिन कार्य नहीं मानता। प्रजापालक कौरवनरेश ! इस समय इन दोनों पक्षोंमें संधि कराना आपके और मेरे अधीन है। आप अपने पुत्रोंको मर्यादामें रखिये और मैं पाण्डवोंको नियन्त्रणमें रक्खूँगा। राजेन्द्र ! आपके पुत्रोंको चाहिये कि वे अपने अनुयायियोंके साथ आपकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करें। आपके शासनमें रहनेसे ही इनका महान् हित हो सकता है। राजन् ! यदि आप अपने पुत्रोंपर शासन करना चाहें और संधिके लिये प्रयत्न करें तो इसीमें आपका भी हित है और इसीसे पाण्डवों का भी भला हो सकता है। प्रजानाथ ! पाण्डवोंके साथ वैर और विवादका कोई अच्छा परिणाम नहीं हो सकता; यह विचारकर आप स्वयं ही संधिके लिये प्रयत्न करें। जनेश्वर ! ऐसा करनेसे भरतवंशी पाण्डव आपके ही सहायक होंगे।

---

१. दूसरोंको सुख पहुँचानेकी सहज भावनाका नाम 'कृपा' है। २. दूसरोंका दुःख देखकर द्रवित होना एवं काँप उठना 'अनुकम्पा' कहलाता है। ३. दूसरोंके दुःखको दूर करनेका भाव 'करुणा' है। ४. क्रूरताका सर्वथा अभाव 'अनृशंसता' कहलाता है।

आपके पुत्र तथा पाण्डव मिल जानेपर आप सबके अजेय हो सकते हैं

धर्मार्थयोस्तिष्ठ राजन् पाण्डवैरभिरक्षितः ।
न हि शक्यास्तथाभूता यत्नादपि नराधिप ॥
न हि त्वां पाण्डवैर्जेतुं रक्ष्यमाणं महात्मभिः ।
इन्द्रोऽपि देवैः सहितः प्रसहेत कुतो नृपः ॥
यत्र भीष्मश्च द्रोणश्च कृपः कर्णो विविंशतिः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तोऽथ बाह्लिकः ॥
सैन्धवश्च कलिङ्गश्च काम्बोजश्च सुदक्षिणः ।
युधिष्ठिरो भीमसेनः सव्यसाची यमौ तथा ॥
सात्यकिश्च महातेजा युयुत्सुश्च महारथः ।
को नु तान् विपरीतात्मा युद्ध्येत भरतर्षभ ॥
लोकस्येश्वरतां भूयः शत्रुभिश्चाप्यधृष्यताम् ।
प्राप्स्यसि त्वममित्रघ्न सहितः कुरुपाण्डवैः ॥
तस्य ते पृथिवीपालास्त्वत्समाः पृथिवीपते ।
श्रेयांसश्चैव राजानः संधास्यन्ते परंतप ॥
स त्वं पुत्रैश्च पौत्रैश्च पितृभिर्भ्रातृभिस्तथा ।
सुहृद्भिः सर्वतो गुप्तः सुखं शक्ष्यसि जीवितुम् ॥
एतानेव पुरोधाय सत्कृत्य च यथा पुरा ।
अखिलां भोक्ष्यसे सर्वां पृथिवीं पृथिवीपते ॥
एतैर्हि सहितः सर्वैः पाण्डवैः स्वैश्च भारत ।
अन्यान् विजेष्यसे शत्रूनेष स्वार्थस्तवाखिलः ॥

(महाभारत उद्योग० ९५ । १७—२६)

राजन् ! आप पाण्डवोंसे सुरक्षित होकर धर्म और अर्थका अनुष्ठान कीजिये । नरेन्द्र ! आपको पाण्डवोंके समान संरक्षक प्रयत्न करनेपर भी नहीं मिल सकते । महात्मा पाण्डवोंसे सुरक्षित होनेपर आपको देवताओंसहित इन्द्र भी नहीं जीत सकते; फिर दूसरे किसी राजाकी तो बात ही क्या है ? भरतश्रेष्ठ ! जिस पक्षमें भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण, विविंशति, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त, बाह्लीक, सिन्धुराज जयद्रथ, कलिङ्गराज, काम्बोजनरेश सुदक्षिण तथा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल-सहदेव, महातेजस्वी सात्यकि तथा महारथी युयुत्सु हों; उस पक्षके योद्धाओंसे कौन विपरीत बुद्धिवाला राजा युद्ध कर सकता है ? शत्रुसूदन नरेश ! कौरव और पाण्डवोंके साथ रहनेपर आप पुनः सम्पूर्ण जगत्के सम्राट् होकर शत्रुओंके लिये अजेय हो जायँगे । शत्रुओंको संताप देनेवाले भूपाल ! उस दशामें जो राजा आपके समान या आपसे बड़े हैं, वे भी आपके साथ संधि कर लेंगे । इस प्रकार आप अपने पुत्र, पौत्र, पिता, भाई और सुहृदोंद्वारा सर्वथा सुरक्षित रहकर सुखसे जीवन बिता सकेंगे । पृथ्वीपते ! यदि आप पहलेकी भाँति इन पाण्डवोंका ही सत्कार करके इन्हें आगे रक्खें तो इस सारी पृथ्वीका उपभोग करेंगे। भारत ! इन समस्त पाण्डवों तथा अपने पुत्रोंके साथ रहकर आप दूसरे शत्रुओंपर भी विजय प्राप्त कर सकेंगे । इसपर आपके समस्त स्वार्थकी सिद्धि होगी ।

आप संधि करके सबको महान् संहारसे बचाइये और इन राजाओंको सकुशल सानन्द घर लौटा दीजिये

तैरेवोपार्जितां भूमिं भोक्ष्यसे च परंतप ।
यदि सम्पत्स्यसे पुत्रैः सहामात्यैर्नराधिप ॥
संयुगे वै महाराज दृश्यते सुमहान् क्षयः ।
क्षये चोभयतो राजन् कं धर्ममनुपश्यसि ॥
पाण्डवैर्निहतैः संख्ये पुत्रैर्वापि महाबलैः ।
यद् विन्देथाः सुखं राजंस्तद् ब्रूहि भरतर्षभ ॥
शूराश्च हि कृतास्त्राश्च सर्वे युद्धाभिकाङ्क्षिणः ।
पाण्डवास्तावकाश्चैव तान् रक्ष महतो भयात् ॥
न पश्येम कुरून् सर्वान् पाण्डवांश्चैव संयुगे ।
क्षीणानुभयतः शूरान् रथिनो रथिभिर्हतान् ॥
समवेताः पृथिव्यां हि राजानो राजसत्तम ।
अमर्षवशमापन्ना नाशयेयुरिमाः प्रजाः ॥
त्राहि राजन्निमं लोकं न नश्येयुरिमाः प्रजाः ।
त्वयि प्रकृतिमापन्ने शेषः स्यात् कुरुनन्दन ॥

शुक्ला वदान्या ह्रीमन्त आर्याः पुण्याभिजातयः।
अन्योन्यसचिवा राजंस्तान् पाहि महतो भयात् ॥
शिवेनेमे भूमिपालाः समागम्य परस्परम्।
सह भुक्त्वा च पीत्वा च प्रतियान्तु यथागृहम् ॥
सुवाससः स्रग्विणश्च सत्कृता भरतर्षभ।
अमर्षं च निराकृत्य वैराणि च परंतप ॥

(महाभारत उद्योग० ९५। २७—३६)

शत्रुसंतापी नरेश! यदि आप मन्त्रियोंसहित अपने समस्त पुत्रों (पाण्डवों और कौरवों) से मिलकर रहेंगे तो उन्हींके द्वारा जीती हुई इस पृथ्वीका राज्य भोगेंगे। महाराज! युद्ध छिड़नेपर तो महान् संहार ही दिखायी देता है। राजन्! इस प्रकार दोनों पक्षोंका विनाश करानेमें आप कौन-सा धर्म, सुख, हित तथा कल्याण देखते हैं? भरतश्रेष्ठ! यदि पाण्डव युद्धमें मारे गये अथवा आपके महाबली पुत्र ही नष्ट हो गये तो उस दशामें आपको कौन-सा सुख मिलेगा? यह बताइये। पाण्डव तथा आपके पुत्र सभी शूरवीर, अस्त्रविद्याके पारङ्गत तथा युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले हैं। आप इन सबकी महान् भयसे रक्षा कीजिये। युद्धके परिणामपर विचार करनेसे हमें समस्त कौरव और पाण्डव नष्टप्राय दिखायी देते हैं। दोनों ही पक्षोंके शूरवीर रथी रथियोंसे ही मारे जाकर नष्ट हो जायँगे। नृपश्रेष्ठ! भूमण्डलके समस्त राजा यहाँ एकत्र हो अमर्षमें भरकर इन प्रजाओंका नाश करेंगे। कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले नरेश! आप इस जगत्‌की रक्षा कीजिये, जिससे इन समस्त प्रजाओंका नाश न हो। आपके प्रकृतिस्थ होनेपर ये सब लोग बच जायँगे। राजन्! ये सब नरेश शुद्ध, उदार, लज्जाशील, श्रेष्ठ, पवित्र कुलोंमें उत्पन्न और एक दूसरेके सहायक हैं। आप इन सबकी महान् भयसे रक्षा कीजिये। आप ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे ये भूपाल परस्पर मिलकर तथा एक साथ खा-पीकर कुशलपूर्वक अपने-अपने घरको वापस लौट जायँ। शत्रुओंको संताप देनेवाले भरतकुलभूषण! ये राजालोग उत्तम वस्त्र और सुन्दर हार पहनकर अमर्ष और वैरको मनसे निकालकर यहाँसे सत्कारपूर्वक विदा हों।

पितृहीन पाण्डुपुत्र आपके ही पुत्र हैं, इनका न्यायपूर्वक पालन कीजिये

हार्दं यत् पाण्डवेष्वासीत् प्राप्तेऽस्मिन्नायुषः क्षये।
तदेव ते भवत्वद्य संधत्स्व भरतर्षभ ॥
बाला विहीनाः पित्रा ते त्वयैव परिवर्धिताः।
तान् पालय यथान्यायं पुत्रांश्च भरतर्षभ ॥
भवतैव हि रक्ष्यास्ते व्यसनेषु विशेषतः।
मा ते धर्मस्तथैवार्थो नश्येत भरतर्षभ ॥

(महाभारत उद्योग० ९५। ३७—३९)

भरतश्रेष्ठ! अब आपकी आयु भी क्षीण हो चली है; इस बुढ़ापेमें आपका पाण्डवोंके ऊपर वैसा ही स्नेह बना रहे, जैसा पहले था; अतः संधि कर लीजिये। भरतश्रेष्ठ! पाण्डव बाल्यावस्थामें पितासे बिछुड़ गये थे। आपने ही उन्हें पाल-पोसकर बड़ा किया; अतः उनका और अपने पुत्रोंका न्यायपूर्वक पालन कीजिये। भरतभूषण! आपको ही पाण्डवोंकी सदा रक्षा करनी चाहिये, विशेषतः संकटके अवसरपर तो आपके लिये उनकी रक्षा अत्यन्त आवश्यक है ही। कहीं ऐसा न हो कि पाण्डवोंसे वैर बाँधनेके कारण आपके धर्म और अर्थ दोनों नष्ट हो जायँ।

पाण्डवोंने आपके प्रति प्रार्थना की है—

आहुस्त्वां पाण्डवा राजन्नभिवाद्य प्रसाद्य च।
भवतः शासनाद् दुःखमनुभूतं सहानुगैः ॥
द्वादशेमानि वर्षाणि वने निर्व्युषितानि नः।
त्रयोदशं तथाज्ञातैः सजने परिवत्सरम्॥
स्थाता नः समये तस्मिन् पितेति कृतनिश्चयाः।
नाहास्म समयं तात तच्च नो ब्राह्मणा विदुः।

तस्मिन् नः समये तिष्ठ स्थितानां भरतर्षभ ।
नित्यं संक्लेशिता राजन् स्वराज्यांशं लभेमहि ॥
त्वं धर्ममर्थं संजानन् सम्यङ् नस्त्रातुमर्हसि ।
गुरुत्वं भवति प्रेक्ष्य बहून् क्लेशांस्तितिक्ष्महे ॥
स भवान् मातृपितृवदस्मासु प्रतिपद्यताम् ।
गुरोर्गरीयसी वृत्तिर्या च शिष्यस्य भारत ॥
वर्तामहे त्वयि च तां त्वं च वर्तस्व नस्तथा ।
पित्रा स्थापयितव्या हि वयमुत्पथमास्थिताः ॥
संस्थापय पथिष्वस्मांस्तिष्ठ धर्मे सुवर्त्मनि ।

(महाभारत उद्योग० ९५ । ४०—४६$\frac{1}{2}$)

राजन् ! पाण्डवोंने आपको प्रणाम करके प्रसन्न करते हुए यह संदेश कहलाया है—'ताऊजी ! आपकी आज्ञासे अनुचरोंसहित हमने भारी दुःख सहन किया है । बारह वर्षोंतक हमने निर्जन वनमें निवास किया है और तेरहवाँ वर्ष जनसमुदायसे भरे हुए नगरमें अज्ञात रहकर बिताया । ताऊजी ! आप हमारे ज्येष्ठ पिता हैं; अतः हमारे विषयमें की हुई अपनी प्रतिज्ञापर डटे रहेंगे (अर्थात् वनवाससे लौटनेपर हमारा राज्य हमें प्रसन्नतापूर्वक लौटा देंगे)—ऐसा निश्चय करके ही हमने वनवास और अज्ञातवासकी शर्तको कभी नहीं तोड़ा है, इस बातको हमारे साथ रहे हुए ब्राह्मणलोग जानते हैं । भरतवंशशिरोमणे ! हम उस प्रतिज्ञापर दृढ़तापूर्वक स्थित रहे हैं; अतः आप भी हमारे साथ की हुई अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर रहें । राजन् ! हमने सदा क्लेश उठाया है; अब हमें हमारा राज्य-भाग प्राप्त होना चाहिये । आप धर्म और अर्थके ज्ञाता हैं; अतः हमलोगोंकी रक्षा कीजिये । आपमें गुरुत्व देखकर—आप गुरुजन हैं, यह विचार करके (आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये) हम बहुत-से क्लेश चुपचाप सहते जा रहे हैं; अब आप भी हमारे ऊपर माता-पिताकी भाँति स्नेहपूर्ण बर्ताव कीजिये । भारत ! गुरुजनोंके प्रति शिष्य एवं पुत्रोंका जो बर्ताव होना चाहिये, हम आपके प्रति उसीका पालन करते हैं । आप भी हमलोगोंपर गुरुजनोचित स्नेह रखते हुए तदनुरूप बर्ताव कीजिये । हम पुत्रगण यदि कुमार्गपर जा रहे हों, तो पिताके नाते आपका कर्तव्य है कि हमें सन्मार्ग-में स्थापित करें । इसलिये आप स्वयं धर्मके सुन्दर मार्ग-पर स्थित होइये और हमें भी धर्मके मार्गपर ही लाइये ।'

पाण्डवोंकी ओरसे सभाको संदेश; सभासदोंके कर्त्तव्यका वर्णन

आहुश्चेमां परिषदं पुत्रास्ते भरतर्षभ ॥
धर्मज्ञेषु सभासत्सु नेह युक्तमसाम्प्रतम् ।
यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ॥
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ।
विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्र प्रपद्यते ॥
न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ।
धर्म एतानारुजति यथा नद्यनुकूलजान् ॥

(महाभारत उद्योग० ९५ । ४७—५०)

भरतश्रेष्ठ ! आपके पुत्र पाण्डवोंने इस सभाके लिये भी यह संदेश दिया है—'आप समस्त सभासद्गण धर्मके ज्ञाता हैं । आपके रहते हुए यहाँ कोई अयोग्य कार्य हो, यह उचित नहीं है । जहाँ सभासदोंके देखते-देखते अधर्मके द्वारा धर्मका और मिथ्याके द्वारा सत्यका गला घोंटा जाता हो, वहाँ वे सभासद् नष्ट हुए माने जाते हैं । जिस सभामें अधर्मसे विद्ध हुआ धर्म प्रवेश करता है और सभासद्गण उस अधर्मरूपी काँटेको काटकर निकाल नहीं देते हैं , वहाँ उस काँटेसे सभासद् ही बिंधे जाते हैं (अर्थात् उन्हें ही अधर्मसे लिप्त होना पड़ता है) । जैसे नदी अपने तटपर उगे हुए वृक्षोंको गिराकर नष्ट कर देती है, उसी प्रकार वह अधर्मविद्ध धर्म ही उन सभासदोंका नाश कर डालता है ।'

पाण्डवोंकी प्रार्थना सत्य, धर्म और न्यायसङ्गत

ये धर्ममनुपश्यन्तस्तूष्णीं ध्यायन्त आसते ।
ते सत्यमाहुर्धर्म्यं च न्याय्यं च भरतर्षभ ॥

शक्यं किमन्यद् वक्तुं ते दानादन्यज्जनेश्वर ।
ब्रुवन्तु ते महीपालाः सभायां ये समासते ॥
धर्मार्थौ सम्प्रधार्यैव यदि सत्यं ब्रवीम्यहम् ।
प्रमुञ्चेमान् मृत्युपाशात् क्षत्रियान् पुरुषर्षभ ॥
प्रशाम्य भरतश्रेष्ठ मा मन्युवशमन्वगाः ।
पित्र्यं तेभ्यः प्रदायांशं पाण्डवेभ्यो यथोचितम् ॥
ततः सपुत्रः सिद्धार्थो भुङ्क्ष्व भोगान् परंतप ।

(महाभारत उद्योग० ९५ । ५१—५४½)

तदनन्तर श्रीकृष्णने कहा—भरतश्रेष्ठ ! जो पाण्डव सदा धर्मकी ओर ही दृष्टि रखते हैं और उसीका विचार करके चुपचाप बैठे हैं, वे जो आपसमें राज्य लौटा देनेका अनुरोध करते हैं, वह सत्य, धर्मसम्मत और न्यायसंगत है । जनेश्वर ! आपसे पाण्डवोंका राज्य लौटा देनेके सिवा दूसरी कौन-सी बात यहाँ कही जा सकती है ? इस सभामें जो भूमिपाल बैठे हैं, वे धर्म और अर्थका विचार करके स्वयं बतावें, मैं ठीक कहता हूँ या नहीं । पुरुषरत्न ! आप इन क्षत्रियोंको मौतके फंदेसे छुड़ाइये । भरतश्रेष्ठ ! शान्त हो जाइये, क्रोधके वशीभूत न होइये। परंतप ! पाण्डवों-को यथोचित पैतृक राज्यभाग देकर अपने पुत्रोंके साथ सफलमनोरथ हो मनोवाञ्छित भोग भोगिये ।

मैं आपका और पाण्डवोंका कल्याण चाहता हूँ; आप न्याय करके प्रजाको सुखी कीजिये

अजातशत्रुं जानीषे स्थितं धर्मे सतां सदा ॥
सपुत्रे त्वयि वृत्तिं च वर्तते यां नराधिप ।
दाहितश्च निरस्तश्च त्वामेवोपाश्रितः पुनः ॥
इन्द्रप्रस्थं त्वयैवासौ सपुत्रेण विवासितः ।
स तत्र विवसन् सर्वान् वशमानीय पार्थिवान् ॥
त्वन्मुखानकरोद् राजन् न च त्वामत्यवर्तत ।
तस्यैवं वर्तमानस्य सौबलेन जिहीर्षता ॥
राष्ट्राणि धनधान्यं च प्रयुक्तः परमोपधिः ।
स तामवस्थां सम्प्राप्य कृष्णां प्रेक्ष्य सभागताम् ॥
क्षत्रधर्मादमेयात्मा नाकम्पत युधिष्ठिरः ।
अहं तु तव तेषां च श्रेय इच्छामि भारत ॥
धर्मादर्थात् सुखाच्चैव मा राजन् नीनशः प्रजाः ।
अनर्थमर्थं मन्वानोऽप्यर्थं चानर्थमात्मनः ॥
लोभेऽतिप्रसृतान् पुत्रान् निगृह्णीष्व विशाम्पते ।
स्थिताः शुश्रूषितुं पार्थाः स्थिता योद्धुमरिंदमाः ॥
यत् ते पथ्यतमं राजंस्तस्मिंस्तिष्ठ परंतप ॥

(महाभारत उद्योग० ९५ । ५५—६२)

नरेश्वर ! आप जानते हैं कि अजातशत्रु युधिष्ठिर सदा सत्पुरुषोंके धर्मपर स्थित हैं । उनका पुत्रोंसहित आपके प्रति जो बर्ताव है, उससे भी आप अपरिचित नहीं हैं । आपलोगोंने उन्हें लाक्षागृहकी आगमें जलवाया तथा राज्य और देशसे निकाल दिया; तो भी वे पुनः आपकी ही शरणमें आये हैं । पुत्रोंसहित आपने ही युधिष्ठिरको यहाँसे निकालकर इन्द्रप्रस्थका निवासी बनाया । वहाँ रहकर उन्होंने समस्त राजाओंको अपने वशमें किया और उन्हें आपका मुखापेक्षी बना दिया । राजन् ! तो भी युधिष्ठिरने कभी आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं किया । ऐसे सद् बर्ताववाले युधिष्ठिरके राज्य तथा धन-धान्यका अपहरण कर लेनेकी इच्छासे सुबलपुत्र शकुनिने जूएके वहाने अपना महान् कपट-जाल फैलाया । उस दयनीय अवस्थामें पहुँचकर अपनी महारानी कृष्णाको सभामें (तिरस्कारपूर्वक) लायी गयी देखकर भी महामना युधिष्ठिर अपने क्षत्रियधर्मसे विचलित नहीं हुए। भारत ! मैं तो आपका और पाण्डवोंका भी कल्याण ही चाहता हूँ । राजन् ! आप समस्त प्रजाको धर्म, अर्थ और सुखसे वञ्चित न कीजिये । इस समय आप अनर्थको ही अर्थ और अर्थको ही अपने लिये अनर्थ मान रहे हैं । प्रजानाथ ! आपके पुत्र लोभमें अत्यन्त आसक्त हो गये हैं, उन्हें नियन्त्रणमें लाइये । राजन् ! शत्रुओंका दमन करनेवाले कुन्तीके पुत्र आपकी सेवा

लिये भी तैयार हैं और युद्धके लिये भी प्रस्तुत हैं। परंतप ! जो आपके लिये विशेष हितकर जान पड़े, उसी मार्गका अवलम्बन कीजिये।

भगवान् श्रीकृष्णके उस कथनका समस्त राजाओंने हृदयसे आदर किया। वहाँ उसके उत्तरमें कोई भी कुछ कहनेके लिये अग्रसर न हो सका।

धृतराष्ट्रके अनुरोधसे भगवान् श्रीकृष्णका दुर्योधनको समझाना

कौरव-सभामें जब श्रीकृष्ण प्रभावशाली भाषण दे चुके, उस समय मुनिवर परशुराम, कण्व तथा देवर्षि नारदने नाना प्रकारके उपाख्यान सुनाकर दुर्योधनको समझानेका प्रयास किया; परंतु उसने किसीकी बात नहीं सुनी। तब धृतराष्ट्रने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'तात जनार्दन ! मैं अपने वशमें नहीं हूँ। जो कुछ किया जा रहा है, वह मुझे प्रिय नहीं है, किंतु क्या कहूँ ? मेरे दुरात्मा पुत्र मेरी बात नहीं मानेंगे। महाबाहु पुरुषोत्तम ! शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले मेरे इस मूर्ख पुत्र दुर्योधनको आप ही समझा-बुझाकर राहपर लानेका प्रयत्न कीजिये। यह सत्पुरुषोंकी कही हुई बात नहीं सुनता है। गान्धारी, बुद्धिमान् विदुर तथा हित चाहनेवाले भीष्म आदि अन्यान्य सुहृदोंके कथनपर भी ध्यान नहीं दे रहा है। प्रभो ! दुरात्मा राजा दुर्योधनकी बुद्धि पापमें लगी हुई है। यह पापका ही चिन्तन करनेवाला क्रूर और विवेक-शून्य है। आप ही इसपर अनुशासन कीजिये। यदि आप इसे संधिके लिये राजी कर लें तो आपके द्वारा सुहृदोंका यह बहुत बड़ा कार्य सम्पन्न हो जायगा।'

धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर सम्पूर्ण अर्थ और धर्मके तत्त्वको जाननेवाले वृष्णिकुलनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण अमर्षशील दुर्योधनकी ओर घूमकर उससे मधुर वाणीमें बोले—

दुर्योधनके गुणोंकी सराहना करते हुए उनसे अपनी तथा भीष्म, द्रोण, विदुर, कृपाचार्य आदिकी सम्मति माननेके लिये अनुरोध

दुर्योधन निबोधेदं मद्वाक्यं कुरुसत्तम ॥
शर्मार्थं ते विशेषेण सानुबन्धस्य भारत।
महाप्राज्ञकुले जातः साध्वेतत् कर्तुमर्हसि ॥
श्रुतवृत्तोपसम्पन्नः सर्वैः समुदितो गुणैः।
दौष्कुलेया दुरात्मानो नृशंसा निरपत्रपाः ॥
त एतदीदृशं कुर्युर्यथा त्वं तात मन्यसे।
धर्मार्थयुक्ता लोकेऽस्मिन् प्रवृत्तिर्लक्ष्यते सताम् ॥
असतां विपरीता तु लक्ष्यते भरतर्षभ।
विपरीता त्वियं वृत्तिरसकृल्लक्ष्यते त्वयि ॥
अधर्मश्चानुबन्धोऽत्र घोरः प्राणहरो महान्।
अनिष्टश्चानिमित्तश्च न च शक्यश्च भारत ॥
तमनर्थं परिहरन्नात्मश्रेयः करिष्यसि।
भ्रातॄणामथ भृत्यानां मित्राणां च परंतप ॥
अधर्म्यादयशस्याच्च कर्मणस्त्वं प्रमोक्ष्यसे।
प्राज्ञैः शूरैर्महोत्साहैरात्मवद्भिर्बहुश्रुतैः ॥
संधत्स्व पुरुषव्याघ्र पाण्डवैर्भरतर्षभ।
तद्धितं च प्रियं चैव धृतराष्ट्रस्य धीमतः ॥
पितामहस्य द्रोणस्य विदुरस्य महामतेः।
कृपस्य सोमदत्तस्य बाह्लीकस्य च धीमतः ॥
अश्वत्थाम्नो विकर्णस्य संजयस्य विविंशतेः।
ज्ञातीनां चैव भूयिष्ठं मित्राणां च परंतप ॥
(महाभारत उद्योग० १२४। ८—१८)

कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन ! तुम मेरी यह बात सुनो। भारत ! मैं विशेषतः सगे-सम्बन्धियोंसहित तुम्हारे कल्याणके लिये ही तुम्हें कुछ परामर्श दे रहा हूँ। तुम परम ज्ञानी महापुरुषोंके कुलमें उत्पन्न हुए हो। स्वयं भी शास्त्रोंके ज्ञान तथा सद्व्यवहारसे सम्पन्न हो। तुममें सभी उत्तम गुण विद्यमान हैं। अतः तुम्हें मेरी यह अच्छी सलाह अवश्य माननी चाहिये। तात ! जिसे तुम ठीक समझते हो, ऐसा अधम कार्य तो वे लोग करते हैं, जो नीच कुलमें उत्पन्न हुए हैं तथा जो दुष्टचित्त, क्रूर एवं निर्लज्ज हैं। भरतश्रेष्ठ ! इस जगत्‌में सत्पुरुषोंका व्यवहार धर्म और अर्थसे युक्त

देखा जाता है और दुष्टोंका बर्ताव ठीक इसके विपरीत दृष्टिगोचर होता है। तुम्हारे भीतर यह विपरीत वृत्ति बारंबार देखनेमें आती है। भारत ! इस समय तुम्हारा जो दुराग्रह है, वह अधर्ममय ही है। उसके होनेका कोई समुचित कारण भी नहीं है। यह भयंकर हठ अनिष्टकारक तथा महान् प्राणनाशक है। तुम इसे सफल बना सको, यह सम्भव नहीं है। परंतप ! यदि तुम उस अनर्थकारी दुराग्रहको छोड़ दो तो अपने कल्याणके साथ ही भाइयों, सेवकों तथा मित्रोंका भी महान् हित-साधन करोगे। ऐसा करनेपर तुम्हें अधर्म और अपयशकी प्राप्ति करानेवाले कर्मसे छुटकारा मिल जायगा। अतः भरतकुलभूषण पुरुषसिंह ! तुम ज्ञानी, परम उत्साही, शूरवीर, मनस्वी एवं अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता पाण्डवोंके साथ संधि कर लो। यही परम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रको भी प्रिय एवं हितकर जान पड़ता है। परंतप ! पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, महामति विदुर, कृपाचार्य, सोमदत्त, बुद्धिमान् बाह्लीक, अश्वत्थामा, विकर्ण, संजय, विविंशति तथा अन्यान्य कुटुम्बीजनों एवं मित्रोंको भी यही अधिक प्रिय है।

जो श्रेष्ठ सुहृदोंकी बात न मानकर दुष्टोंको अपनाता और सुहृदोंसे द्वेष करता है, वह नष्ट हो जाता है

शमे शर्म भवेत् तात सर्वस्य जगतस्तथा।
ह्रीमानसि कुले जातः श्रुतवाननृशंसवान्।
तिष्ठ तात पितुः शास्त्रे मातुश्च भरतर्षभ ॥
एतच्छ्रेयो हि मन्यन्ते पिता यच्छास्ति भारत।
उत्तमापद्गतः सर्वः पितुः स्मरति शासनम् ॥
रोचते ते पितुस्तात पाण्डवैः सह संगमः।
सामात्यस्य कुरुश्रेष्ठ तत् तुभ्यं तात रोचताम् ॥
श्रुत्वा यः सुहृदां शास्त्रं मर्त्यो न प्रतिपद्यते।
विपाकान्ते दहत्येनं किम्पाकमिव भक्षितम् ॥
यस्तु निःश्रेयसं वाक्यं मोहान्न प्रतिपद्यते।
स दीर्घसूत्रो हीनार्थः पश्चात्तापेन युज्यते ॥
यस्तु निःश्रेयसं श्रुत्वा प्राक् तदेवाभिपद्यते।
आत्मनो मतमुत्सृज्य स लोके सुखमेधते ॥
योऽर्थकामस्य वचनं प्रातिकूल्यान्न मृष्यते।
शृणोति प्रतिकूलानि द्विषतां वशमेति सः ॥

(महाभारत उद्योग० १२४। १९-२५)

तात ! संधि होनेपर ही सम्पूर्ण जगत्का भला हो सकता है। तुम श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न, लज्जाशील, शास्त्रज्ञ और क्रूरतासे रहित हो। अतः भरतश्रेष्ठ ! तुम पिता और माताके शासनके अधीन रहो। भारत ! पिता जो कुछ शिक्षा देते हैं, उसीको श्रेष्ठ पुरुष अपने लिये कल्याणकारी मानते हैं। भारी आपत्तिमें पड़नेपर सब लोग अपने पिताके उपदेशका ही स्मरण करते हैं। तात ! मन्त्रियोंसहित तुम्हारे पिताको पाण्डवोंके साथ संधि कर लेना ही अच्छा जान पड़ता है। कुलश्रेष्ठ ! यही तुम्हें भी पसंद आना चाहिये। जो मनुष्य सुहृदोंके मुखसे शास्त्रसम्मत उपदेश सुनकर भी उसे स्वीकार नहीं करता है, उसका यह अस्वीकार उसे परिणाममें उसी प्रकार शोकदग्ध करता है, जैसे खाया हुआ इन्द्रायण-फल पाचनके अन्तमें दाह उत्पन्न करनेवाला होता है।

जो मोहवश अपने हितकी बात नहीं मानता है, वह दीर्घसूत्री मनुष्य अपने स्वार्थसे भ्रष्ट होकर केवल पश्चात्तापका भागी होता है। जो मानव अपने कल्याणकी बात सुनकर अपने मतका आग्रह छोड़कर पहले उसीको ग्रहण कर लेता है, वह संसारमें सुखपूर्वक उन्नतिशील होता है। जो अपनी ही भलाई चाहनेवाले अपने सुहृद्के वचनोंको मनके प्रतिकूल होनेके कारण नहीं सहन करता, और उन असुहृदोंके प्रतिकूल कहे हुए वचनोंको ही सुनता है, वह शत्रुओंके अधीन हो जाता है।

सतां मतमतिक्रम्य योऽसतां वर्तते मते।
शोचन्ते व्यसने तस्य सुहृदो नचिरादिव ॥

मुख्यानमात्यानुत्सृज्य योनिहीनान् निषेवते ।
स घोरामापदं प्राप्य नोत्तारमधिगच्छति ॥
योऽसत्सेवी वृथाचारो न श्रोता सुहृदां सताम् ।
परान् वृणीते स्वान् द्वेष्टि तं गौस्त्यजति भारत॥
(महाभारत उद्योग० १२४ । २६—२८)

जो मनुष्य सत्पुरुषोंकी सम्मतिका उल्लङ्घन करके दुष्टोंके मतके अनुसार चलता है, उसके सुहृद् उसे शीघ्र ही विपत्तिमें पड़ा देख शोकके भागी होते हैं। जो अपने मुख्य मन्त्रियोंको छोड़कर नीच प्रकृतिके लोगोंका सेवन करता है, वह भयंकर विपत्तिमें फँसकर अपने उद्धारका कोई मार्ग नहीं देख पाता है । भारत ! जो दुष्ट पुरुषोंका संग करनेवाला और मिथ्याचारी होकर अपने श्रेष्ठ सुहृदोंकी बात नहीं सुनता, दूसरोंको अपनाता और आत्मीयजनोंसे द्वेष रखता है, उसे यह पृथ्वी त्याग देती है ।

पाण्डवोंकी भाँति तुम्हें भी उनके साथ सद्व्यवहार करना चाहिये

स त्वं विरुध्य तैर्वीरैरन्येभ्यस्त्राणमिच्छसि ।
अशिष्टेभ्योऽसमर्थेभ्यो मूढेभ्यो भरतर्षभ ॥
को हि शक्रसमान् ज्ञातीनतिक्रम्य महारथान् ।
अन्येभ्यस्त्राणमाशंसेत् त्वदन्यो भुवि मानवः ॥
जन्मप्रभृति कौन्तेया नित्यं विनिकृतास्त्वया ।
न च ते जातु कुप्यन्ति धर्मात्मानो हि पाण्डवाः॥
मिथ्योपचरितास्तात जन्मप्रभृति बान्धवाः ।
त्वयि सम्यङ् महाबाहो प्रतिपन्ना यशस्विनः ॥
त्वयापि प्रतिपत्तव्यं तथैव भरतर्षभ ।
स्वेषु बन्धुषु मुख्येषु मा मन्युवशमन्वगाः ॥
(महाभारत उद्योग० १२४ । २९-३३)

भरतश्रेष्ठ ! तुम उन वीर पाण्डवोंसे विरोध करके दूसरे अशिष्ट, असमर्थ और मूढ़ मनुष्योंसे अपनी रक्षा चाहते हो । इस भूतलपर तुम्हारे सिवा दूसरा कौन मनुष्य है, जो इन्द्रके समान पराक्रमी एवं महारथी बन्धु-बान्धवोंको त्यागकर दूसरोंसे अपनी रक्षाकी आशा करेगा ? तुमने जन्मसे ही कुन्तीपुत्रोंके साथ सदा शठतापूर्ण बर्ताव किया है, परंतु वे इसके लिये कभी कुपित नहीं हुए हैं; क्योंकि पाण्डव धर्मात्मा हैं । तात महाबाहो ! यद्यपि तुमने अपने ही भाई पाण्डवोंके साथ जन्मसे ही छल-कपटका बर्ताव किया है तथापि वे यशस्वी पाण्डव तुम्हारे प्रति सदा सद्भाव ही रखते आये हैं । भरतश्रेष्ठ ! तुम्हें भी अपने उन श्रेष्ठ बन्धुओंके प्रति वैसा ही बर्ताव करना चाहिये । तुम क्रोधके वशीभूत न होओ ।

धर्मके द्वारा त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और कामकी प्राप्ति शीघ्र होती है; धर्म-त्यागी नष्ट हो जाता है

त्रिवर्गयुक्तः प्राज्ञानामारम्भो भरतर्षभ ।
धर्मार्थावनुरुध्यन्ते त्रिवर्गासम्भवे नराः ॥
पृथक् च विनिविष्टानां धर्मं धीरोऽनुरुध्यते ।
मध्यमोऽर्थं कलिं बालः काममेवानुरुध्यते ॥
इन्द्रियैः प्राकृतो लोभाद् धर्मं विप्रजहाति यः ।

कामार्थावनुपायेन लिप्समानो विनश्यति ॥
कामार्थौ लिप्समानस्तु धर्ममेवादितश्चरेत्।
न हि धर्मादपैत्यर्थः कामो वापि कदाचन ॥
उपायं धर्ममेवाहुस्त्रिवर्गस्य विशाम्पते।
लिप्समानो हि तेनाशु कक्षेऽग्निरिव वर्धते ॥
(महाभारत उद्योग० १२४। ३४-३८)

भरतभूषण ! विद्वान् एवं बुद्धिमान् पुरुषोंका प्रत्येक काय धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंकी सिद्धिके अनुकूल ही होता है। यदि तीनोंकी सिद्धि असम्भव हो तो बुद्धिमान् मानव धर्म और अर्थका ही अनुसरण करते हैं। पृथक्-पृथक् स्थित हुए धर्म, अर्थ और काममेंसे किसी एकको चुनना हो तो धीर पुरुष धर्मका ही अनुसरण करता है, मध्यम श्रेणीका मनुष्य कलहके कारणभूत अर्थको ही ग्रहण करता है और अधम श्रेणीका अज्ञानी पुरुष कामको ही पाना चाहता है। जो अधम मनुष्य इन्द्रियोंके वशीभूत होकर लोभ-वश धर्मको छोड़ देता है, वह अयोग्य उपायोंसे अर्थ और कामकी लिप्सामें पड़कर नष्ट हो जाता है। जो अर्थ और काम प्राप्त करना चाहता हो, उसे पहले धर्मका ही आचरण करना चाहिये; क्योंकि अर्थ या काम कभी धर्मसे पृथक् नहीं होता है। प्रजानाथ ! विद्वान् पुरुष धर्मको ही त्रिवर्गकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय बताते हैं। अतः जो धर्मके द्वारा अर्थ और कामको पाना चाहता है, वह शीघ्र ही उसी प्रकार उन्नतिकी दिशामें आगे बढ़ जाता है, जैसे सूखे तिनकोंमें लगी हुई आग बढ़ जाती है।

पाण्डवोंसे प्रेम होनेपर सब मनोरथोंकी सिद्धि

स त्वं तातानुपायेन लिप्ससे भरतर्षभ।
आधिराज्यं महद् दीप्तं प्रथितं सर्वराजसु ॥
आत्मानं तक्षति ह्येष वनं परशुना यथा।
यः सम्यग्वर्तमानेषु मिथ्या राजन् प्रवर्तते ॥
न तस्य हि मतिं छिन्द्याद् यस्य नेच्छेत् पराभवम्।
अविच्छिन्नमतेरस्य कल्याणे धीयते मतिः।
आत्मवान् नावमन्येत त्रिषु लोकेषु भारत ॥
अप्यन्यं प्राकृतं किंचित् किमु तान् पाण्डवर्षभान्।
अमर्षवशमापन्नो न किंचिद् बुध्यते जनः ॥
छिद्यते ह्याततं सर्वं प्रमाणं पश्य भारत।
श्रेयस्ते दुर्जनात् तात पाण्डवैः सह संगतम् ॥
तैर्हि सम्प्रीयमाणस्त्वं सर्वान् कामानवाप्स्यसि।
पाण्डवैर्निर्मितां भूमिं भुञ्जानो राजसत्तम ॥
पाण्डवान् पृष्ठतः कृत्वा त्राणमाशंससेऽन्यतः।
(महाभारत उद्योग० १२४। ३९-४४½)

तात भरतश्रेष्ठ ! तुम समस्त राजाओंमें विख्यात इस विशाल एवं उज्ज्वल साम्राज्यको अनुचित उपायसे पाना चाहते हो। राजन् ! जो उत्तम व्यवहार करनेवाले सत्पुरुषोंके साथ असद्व्यवहार करता है, वह कुल्हाड़ीसे जंगलकी भाँति उस दुर्व्यवहारसे अपने-आपको ही काटता है। मनुष्य जिसका पराभव न करना चाहे, उसकी बुद्धिका उच्छेद न करे। जिसकी बुद्धि नष्ट नहीं हुई है, उसी पुरुषका मन कल्याणकारी कार्योंमें प्रवृत्त होता है। भरतनन्दन ! मनस्वी पुरुषको चाहिये कि वह तीनों लोकोंमें किसी प्राकृत (निम्न श्रेणीके) पुरुषका भी अपमान न करे; फिर इन श्रेष्ठ पाण्डवोंके अपमानकी तो बात ही क्या है ? ईर्ष्याके वशमें रहनेवाला मनुष्य किसी बातको ठीकसे समझ नहीं पाता। भरतनन्दन ! देखो, ईर्ष्यालु मनुष्यके समक्ष प्रस्तुत किये हुए सम्पूर्ण विस्तृत प्रमाण भी उच्छिन्न-से हो जाते हैं। तात ! किसी दुष्ट मनुष्य-का साथ करनेकी अपेक्षा पाण्डवोंके साथ मेल-मिलाप रखना तुम्हारे लिये विशेष कल्याणकारी है। पाण्डवोंसे प्रेम रखनेपर तुम सम्पूर्ण मनोरथोंको प्राप्त कर लोगे। नृपश्रेष्ठ ! तुम पाण्डवोंद्वारा स्थापित राज्यका उपभोग कर रहे हो, तो भी उन्हींको पीछे करके अर्थात्

उनकी अवहेलना करके दूसरोंसे अपनी रक्षाकी आशा रखते हो ।

भीमसेनका तथा मुझ (श्रीकृष्ण) सारथिसे युक्त अर्जुनका सामना करनेमें इन्द्रपर्यन्त कोई भी समर्थ नहीं है

दुःशासने दुर्विषहे कर्णे चापि ससौबले ॥
एतेष्वैश्वर्यमाधाय भूतिमिच्छसि भारत ।
न चैते तव पर्याप्ता ज्ञाने धर्मार्थयोस्तथा ॥
विक्रमे चाप्यपर्याप्ताः पाण्डवान् प्रति भारत ।
न हीमे सर्वराजानः पर्याप्ताः सहितास्त्वया ॥
क्रुद्धस्य भीमसेनस्य प्रेक्षितुं मुखमाहवे ।
इदं संनिहितं तात समग्रं पार्थिवं बलम् ॥
अयं भीष्मस्तथा द्रोणः कर्णश्चायं तथा कृपः ।
भूरिश्रवाः सौमदत्तिरश्वत्थामा जयद्रथः ॥
अशक्ताः सर्व एवैते प्रतियोद्धुं धनंजयम् ।
अजेयो ह्यर्जुनः संख्ये सर्वैरपि सुरासुरैः ।
मानुषैरपि गन्धर्वैर्मा युद्धे चेत आधिथाः ॥
दृश्यतां वा पुमान् कश्चित् समग्रे पार्थिवे बले ।
योऽर्जुनं समरे प्राप्य स्वस्तिमानाव्रजेद् गृहान् ॥
किं ते जनक्षयेणेह कृतेन भरतर्षभ ।
यस्मिञ्जिते जितं तत् स्यात् पुमानेकः स दृश्यताम् ॥
यः स देवान् सगन्धर्वान् सयक्षासुरपन्नगान् ।
अजयत् खाण्डवप्रस्थे कस्तं युध्येत मानवः ॥
तथा विराटनगरे श्रूयते महदद्भुतम् ।
एकस्य च बहूनां च पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥
युद्धे येन महादेवः साक्षात् संतोषितः शिवः ।
तमजेयमनाधृष्यं विजेतुं जिष्णुमच्युतम् ।
आशंससीह समरे वीरमर्जुनमूर्जितम् ॥
मद्द्वितीयं पुनः पार्थं कः प्रार्थयितुमर्हति ।
युद्धे प्रतीपमायान्तमपि साक्षात् पुरंदरः ॥
बाहुभ्यामुद्वहेद् भूमिं दहेत् क्रुद्ध इमाः प्रजाः ।
पातयेत् त्रिदिवाद् देवान् योऽर्जुनं समरे जयेत् ॥

(महाभारत उद्योग० १२४ । ४५—५७)

भारत ! तुम दुःशासन, दुर्विषह, कर्ण और शकुनि—इन सबपर अपने ऐश्वर्यका भार रखकर उन्नतिकी इच्छा रखते हो ? भरतनन्दन ! ये तुम्हें ज्ञान, धर्म और अर्थकी प्राप्ति करानेमें समर्थ नहीं हैं और पाण्डवोंके सामने पराक्रम प्रकट करनेमें भी ये असमर्थ ही हैं । तुम्हारे सहित ये सब राजालोग भी युद्धमें कुपित हुए भीमसेनके मुखकी ओर आँख उठाकर देख ही नहीं सकते हैं । तात ! तुम्हारे निकट जो यह समस्त राजाओंकी सेना एकत्र हुई है, यह तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य, सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवा, अश्वत्थामा और जयद्रथ—ये सभी मिलकर भी अर्जुनका सामना करनेमें समर्थ नहीं हैं । सम्पूर्ण देवता और असुर भी युद्धमें अर्जुनको जीत नहीं सकते । वे समस्त मनुष्यों और गन्धर्वोंके द्वारा भी अजेय हैं; अतः तुम युद्धका विचार मत करो । राजाओंकी इन सम्पूर्ण सेनाओंमें किसी ऐसे पुरुषपर दृष्टिपात तो करो, जो युद्धमें अर्जुनका सामना करके कुशलपूर्वक अपने घर लौट सके ? भरतश्रेष्ठ ! यह नरसंहार करनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा ? तुम अपने पक्षमें किसी ऐसे पुरुषको ढूँढ़ निकालो, जो उन अर्जुनपर विजय पा सके, जिनके जीते जानेपर तुम्हारे पक्षकी विजय मान ली जाय । जिन्होंने खाण्डववनमें गन्धर्वों, यक्षों, असुरों और नागोंसहित सम्पूर्ण देवताओंको जीत लिया था, उन अर्जुनके साथ कौन मनुष्य युद्ध कर सकेगा ? इसके सिवा, विराटनगरमें जो बहुत-से महारथी योद्धाओंके साथ एक अर्जुनके युद्धकी अत्यन्त अद्भुत घटना सुनी जाती है, वह एक ही युद्धके भावी परिणामको बतानेके लिये पर्याप्त है । जिन्होंने युद्धमें साक्षात् महादेव शिवको अपने पराक्रमसे संतुष्ट किया है, अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले उन अजेय, दुर्धर्ष एवं विजयशील बलशाली वीर अर्जुनको तुम युद्धमें जीतनेकी आशा रखते हो, यह बड़े आश्चर्यकी बात है ! फिर मैं जिसका

सारथि बनकर साथ रहूँ और वह अर्जुन प्रतिपक्षी होकर युद्धके लिये आये, उस समय साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हों, कौन उस अर्जुनके साथ युद्ध करना चाहेगा ? जो समरभूमिमें अर्जुनको जीत सकता है, वह मानो अपनी दोनों भुजाओंपर पृथ्वीको उठा सकता है, कुपित होनेपर इस समस्त प्रजाको दग्ध कर सकता है और देवताओंको स्वर्गसे नीचे गिरा सकता है ।

पाण्डवोंके साथ संधि करनेपर सबकी रक्षा और राजलक्ष्मीकी प्राप्ति होगी

पश्य पुत्रांस्तथा भ्रातृञ्ज्ञातीन् सम्बन्धिनस्तथा ।
त्वत्कृते न विनश्येयुरिमे भरतसत्तमाः ॥
अस्तु शेषं कौरवाणां मा पराभूदिदं कुलम् ।
कुलघ्न इति नोच्येथा नष्टकीर्तिर्नराधिप ॥
त्वामेव स्थापयिष्यन्ति यौवराज्ये महारथाः ।
महाराज्येऽपि पितरं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥
मा तात श्रियमायान्तीमवमंस्थाः समुद्यताम् ।
अर्धं प्रदाय पार्थेभ्यो महतीं श्रियमाप्नुहि ॥
पाण्डवैः संशमं कृत्वा कृत्वा च सुहृदां वचः ।
सम्प्रीयमाणो मित्रैश्च चिरं भद्राण्यवाप्स्यसि ॥

(महाभारत उद्योग० १२४ । ५८—६२)

दुर्योधन ! अपने इन पुत्रों, भाइयों, कुटुम्बीजनों और सगे-सम्बन्धियोंकी ओर तो देखो। ये श्रेष्ठ भरतवंशी तुम्हारे कारण नष्ट न हो जायँ । नरेश्वर ! कौरववंश बचा रहे, इस कुलका पराभव न हो और तुम भी अपनी कीर्तिका नाश करके कुलघाती न कहलाओ । महारथी पाण्डव तुम्हींको युवराजके पदपर स्थापित करेंगे और तुम्हारे पिता राजा धृतराष्ट्रको महाराजके पदपर बनाये रक्खेंगे । तात ! अपने घरमें आनेको उद्यत हुई राजलक्ष्मीका अपमान न करो । कुन्तीके पुत्रोंको आधा राज्य देकर स्वयं विशाल सम्पत्तिका उपभोग करो । पाण्डवोंके साथ संधि करके और अपने हितैषी सुहृदोंकी बात मानकर मित्रोंके साथ प्रसन्नतापूर्वक रहते हुए तुम दीर्घकालतक कल्याणके भागी बने रहोगे ।

भीष्म, द्रोण, विदुर तथा धृतराष्ट्रद्वारा श्रीकृष्णके कथनका समर्थन, दुर्योधनका श्रीकृष्णको उत्तर तथा पाण्डवोंको राज्य न देनेका निश्चय, श्रीकृष्णका दुर्योधनको फटकारना और भीष्म आदिको उसे कैद करनेकी सलाह देना

भगवान् श्रीकृष्णका पूर्वोक्त वचन सुनकर अमर्षमें भरे हुए दुर्योधनसे भीष्मजीने कहा—'तात ! सुहृदोंमें परस्पर शान्ति बनाये रखनेकी इच्छासे भगवान् श्रीकृष्णने जो सत् सम्मति दी है, उसे स्वीकार करो । महात्मा केशवकी बात न माननेसे तुम कभी श्रेय, सुख और कल्याणके भागी नहीं हो सकोगे । कुलघाती, कुत्सित पुरुष, कुबुद्धि एवं कुमार्गगामी न बनो । मनमानी करके माता-पिताको शोकके समुद्रमें न डुबाओ ।'

यह सुनकर दुर्योधन अमर्षके वशीभूत हो बारंबार लंबी साँस खींचने लगा । तब द्रोणाचार्य बोले—'तात ! भगवान् श्रीकृष्ण तथा शान्तनुनन्दन भीष्मने तुमसे धर्मार्थयुक्त एवं हितकी बात कही है । तुम इसे मान लो । जो लोग तुम्हें युद्धके लिये उत्साहित कर रहे हैं, वे कभी तुम्हारे काम नहीं आयेंगे । युद्धका अवसर आनेपर वैरका बोझ दूसरेके कंधेपर डाल देंगे । समस्त प्रजाओं, पुत्रों और भाइयोंकी हत्या न कराओ । जिनकी ओर भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन हैं, उन्हें युद्धमें अजेय समझो । यदि इस समय तुम श्रीकृष्ण और भीष्मकी बात नहीं मानोगे तो पीछे पछताओगे ।'

इसी बीचमें विदुरजी भी दुर्योधनकी ओर देखकर बोले—'भरतकुलभूषण दुर्योधन ! मैं तुम्हारे लिये शोक नहीं करता । मुझे तो तुम्हारे बूढ़े माता-पिता गान्धारी और धृतराष्ट्रके लिये भारी शोक हो रहा है; क्योंकि ये दोनों तुम-जैसे दुष्ट सहायकके कारण मित्रों और मन्त्रियोंके नष्ट हो जानेपर कटे पंखवाले पक्षीकी भाँति अनाथ होकर विचरेंगे और भिक्षुकोंका जीवन बितायेंगे ।'

तदनन्तर धृतराष्ट्रने कहा—'दुर्योधन ! मेरी बात मानो। श्रीकृष्णका कथन अत्यन्त कल्याणकारी है, इसे स्वीकार करो। तुम इनके साथ युधिष्ठिरके पास जाओ और भरतवंशियोंका मङ्गल-कृत्य सम्पादित करो। यही समयोचित कर्तव्य है। श्रीकृष्ण शान्तिकी प्रार्थना कर रहे हैं। यदि तुम इनकी इस प्रार्थनाको ठुकरा दोगे तो तुम्हारा पराभव हुए बिना नहीं रह सकता।'

तत्पश्चात् भीष्म और द्रोणाचार्यने पुनः दुर्योधनसे कहा—'वत्स ! जबतक श्रीकृष्ण और अर्जुन कवच धारण करके युद्धके लिये उद्यत नहीं होते हैं, जबतक गाण्डीव धनुष घरमें रक्खा हुआ है, जबतक धौम्य मुनि यज्ञाग्निमें शत्रुओंकी सेनाके विनाशके लिये आहुति नहीं डालते हैं और जबतक लज्जाशील महाधनुर्धर युधिष्ठिर तुम्हारी सेनाको क्रोधपूर्वक नहीं देखते हैं, तभीतक यह भावी जनसंहार शान्त हो जाना चाहिये।'

कौरवसभामें ये अप्रिय बातें सुनकर राजा दुर्योधनने श्रीकृष्णसे कहा—'केशव ! आपको अच्छी तरह सोच-समझकर बोलना चाहिये। आप तो पाण्डवोंके प्रेमकी दुहाई देकर उल्टी-सीधी बातें कहते हुए विशेषरूपसे मुझे ही दोषी ठहरा रहे हैं। सो क्या आप बलाबलका विचार करके ही सर्वदा मेरी निन्दा किया करते हैं ? मैं देखता हूँ आप, विदुरजी, पिताजी, आचार्यजी और दादाजी अकेले मेरे ही ऊपर सारे दोष लाद रहे हैं। मैंने तो खूब विचारकर देख लिया, मुझे अपना कोई भी बड़े-से-बड़ा या छोटे-से-छोटा दोष दिखायी नहीं देता। पाण्डव लोग अपने ही शौकसे जूआ खेलनेमें प्रवृत्त हुए थे; उसमें मामा शकुनिने उनका राज्य जीत लिया, इसीसे उन्हें वनमें जाना पड़ा। बताइये, इसमें मेरा क्या अपराध था, जो हमारे साथ वैर ठानकर वे विरोध कर रहे हैं ? हम जानते हैं, पाण्डवोंमें हमारा सामना करनेकी शक्ति नहीं है, फिर भी बड़े उत्साहके साथ वे हमारे प्रति शत्रुओंका-सा बर्ताव क्यों कर रहे हैं ? हम उनके भयानक कामोंको देखकर या आपलोगोंकी भीषण बातोंको सुनकर डरनेवाले नहीं हैं। इस प्रकार तो हम इन्द्रके सामने भी नहीं झुक सकते। कृष्ण ! हमें तो ऐसा कोई भी क्षत्रिय दिखायी नहीं देता, जो युद्धमें हमें जीतनेकी हिम्मत रखता हो। भीष्म, द्रोण, कृप और कर्णको तो देवता लोग भी युद्धमें नहीं जीत सकते; पाण्डवोंकी तो बात ही क्या है ? पिताजी मुझे पहले जो राज्यका भाग दे चुके हैं, उसे मेरे जीवित रहते कोई ले नहीं सकता। जबतक मैं जीवित हूँ, तबतक तो पाण्डवोंको इतनी भूमि भी नहीं दे सकता, जितनी कि एक बारीक सूईकी नोकसे छिद सकती है।'

दुर्योधनकी बातें सुनकर श्रीकृष्णके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। वे कुछ विचार करके कौरवसभामें दुर्योधनसे पुनः इस प्रकार बोले—

भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंके साथ किये हुए दुर्व्यवहारका वर्णन करते हुए दुर्योधनको चेतावनी देते हैं

लप्स्यसे वीरशयनं काममेतदवाप्स्यसि।
स्थिरो भव सहामात्यो विमर्दो भविता महान्॥
यच्चैवं मन्यसे मूढ न मे कश्चिद् व्यतिक्रमः।
पाण्डवेष्विति तत् सर्वं निबोधत नराधिपाः॥
श्रिया संतप्यमानेन पाण्डवानां महात्मनाम्।
त्वया दुर्मन्त्रितं द्यूतं सौबलेन च भारत॥
कथं च ज्ञातयस्तात श्रेयांसः साधुसम्मताः।
अथान्याय्यमुपस्थातुं जिह्मेनाजिह्मचारिणः॥
अक्षद्यूतं महाप्राज्ञ सतां मतिविनाशनम्।
असतां तत्र जायन्ते भेदाश्च व्यसनानि च॥
तदिदं व्यसनं घोरं त्वया द्यूतमुखं कृतम्।
असमीक्ष्य सदाचारान् सार्धं पापानुबन्धनैः॥
कश्चान्यो भ्रातृभार्यां वै विप्रकर्तुं तथार्हति।
आनीय च सभां व्यक्तं यथोक्ता द्रौपदी त्वया॥
कुलीना शीलसम्पन्ना प्राणेभ्योऽपि गरीयसी।
महिषी पाण्डुपुत्राणां तथा विनिकृता त्वया॥
जानन्ति कुरवः सर्वे यथोक्ताः कुरुसंसदि।
दुःशासनेन कौन्तेयाः प्रव्रजन्तः परंतपाः॥
सम्यग्वृत्तेष्वलुब्धेषु सततं धर्मचारिषु।
स्वेषु बन्धुषु कः साधुश्चरेदेवमसाम्प्रतम्॥
नृशंसानामनार्याणां पुरुषाणां च भाषणम्।
कर्णदुःशासनाभ्यां च त्वया च बहुशः कृतम्॥
सह मात्रा प्रदग्धुं तान् बालकान् वारणावते।

आस्थितः परमं यत्नं न समृद्धं च तत् तव ॥
ऊषुश्च सुचिरं कालं प्रच्छन्नाः पाण्डवास्तदा ।
मात्रा सहैकचक्रायां ब्राह्मणस्य निवेशने ॥
विषेण सर्पबन्धैश्च यतिताः पाण्डवास्त्वया ।
सर्वोपायैर्विनाशाय न समृद्धं च तत् तव ॥

(महाभारत उद्योग० १२८ । २—१५)

दुर्योधन! तुझे रणभूमिमें वीर-शय्या प्राप्त होगी। तेरी यह इच्छा पूर्ण होगी । तू मन्त्रियोंसहित धैर्यपूर्वक रह । अब बहुत बड़ा नरसंहार होनेवाला है । मूढ ! तू जो ऐसा मानता है कि पाण्डवोंके प्रति मेरा कोई अपराध ही नहीं है, तो इसके सम्बन्धमें मैं सब बातें बताता हूँ । राजाओ ! आपलोग भी ध्यान देकर सुनें । भारत ! महात्मा पाण्डवोंकी बढ़ती हुई समृद्धिसे संतप्त होकर तूने ही शकुनिके साथ यह खोटा विचार किया था कि पाण्डवोंके साथ जूआ खेला जाय। तात ! अन्यथा सदा सरलतापूर्ण बर्ताव करनेवाले और साधु-सम्मानित तेरे श्रेष्ठ बन्धु पाण्डव यहाँ तुझ-जैसे कपटीके साथ अन्याययुक्त घूतके लिये कैसे उपस्थित हो सकते थे ? महामते ! जूएका खेल तो सत्पुरुषोंकी बुद्धिको भी नाश करनेवाला है और यदि दुष्ट पुरुष उसमें प्रवृत्त हों तो उनमें बड़ा भारी कलह होता है तथा उन सबपर बहुत-से संकट छा जाते हैं। तूने ही सदाचारकी ओर लक्ष्य न रखकर पापासक्त पुरुषोंके सहित भयंकर विपत्तिके कारणभूत ये घूतक्रीड़ा आदि कार्य किये हैं। तेरे सिवा दूसरा कौन ऐसा अधम होगा, जो अपने बड़े भाईकी पत्नीको सभामें लाकर उसके साथ वैसा अनुचित बर्ताव करेगा, जैसा कि तूने द्रौपदीके प्रति स्पष्टरूपसे न कहने योग्य बातें कहकर दुर्व्यवहार किया है । द्रौपदी उत्तम कुलमें उत्पन्न, शील और सदाचारसे सम्पन्न तथा पाण्डवोंके लिये प्राणोंसे भी अधिक आदरणीया उन सबकी महारानी है; तथापि तूने उसके प्रति अत्याचार किया । जिस समय शत्रुओंको संताप देनेवाले कुन्तीकुमार पाण्डव वनको जा रहे थे, उस समय दुःशासनने कौरवसभामें उनके प्रति जैसी कठोर बातें कही थीं, उन्हें सभी कौरव जानते हैं । सदा धर्ममें ही तत्पर रहनेवाले, लोभरहित, सदाचारी अपने बन्धुओंके प्रति कौन साधु पुरुष ऐसा अयोग्य बर्ताव करेगा ? दुर्योधन ! तूने कर्ण और दुःशासनके साथ अनेक बार निर्दयी तथा अनार्य पुरुषोंकी-सी बातें कही हैं । तूने वारणावत नगरमें बाल्यावस्थामें पाण्डवोंको उनकी मातासहित जला डालनेका महान् प्रयत्न किया था; परंतु तेरा वह उद्देश्य सफल न हो सका । उन दिनों पाण्डव अपनी माताके साथ सुदीर्घकालतक एकचक्रा नगरीमें किसी ब्राह्मणके घरमें छिपे रहे । तूने (भीमसेनको) विष देकर, सर्पसे कटाकर और बँधे हुए हाथ-पैरोंसहित जलमें डुबाकर——इन सभी उपायोंद्वारा पाण्डवोंको नष्ट कर देनेका प्रयत्न किया है, परंतु तेरा यह प्रयास भी सफल न हो सका ।

एवंबुद्धिः पाण्डवेषु मिथ्यावृत्तिः सदा भवान् ।
कथं ते नापराधोऽस्ति पाण्डवेषु महात्मसु ॥
यच्चैभ्यो याचमानेभ्यः पित्र्यमंशं न दित्ससि ।
तच्च पाप प्रदातासि भ्रष्टैश्वर्यो निपातितः ॥
कृत्वा बहून्यकार्याणि पाण्डवेषु नृशंसवत् ।
मिथ्यावृत्तिरनार्यः सन्नद्य विप्रतिपद्यसे ॥
मातापितृभ्यां भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च ।
शाम्येति मुहुरुक्तोऽसि न च शाम्यसि पार्थिव ॥
शमे हि सुमहाँल्लाभस्तव पार्थस्य चोभयोः ।
न च रोचयसे राजन् किमन्यद् बुद्धिलाघवात् ॥
न शर्म प्राप्स्यसे राजन्नुत्क्रम्य सुहृदां वचः ।
अधर्म्यमयशस्यं च क्रियते पार्थिव त्वया ॥

(महाभारत उद्योग० १२८ । १६-२१)

ऐसे ही विचार रखकर तू पाण्डवोंके प्रति सदा कपटपूर्ण बर्ताव करता आया है, फिर कैसे मान लिया जाय कि महात्मा पाण्डवोंके प्रति तेरा कोई अपराध ही नहीं है?

पापात्मन्! तू याचना करनेपर इन पाण्डवोंको जो पैतृक राज्य-भाग नहीं देना चाहता है, वही तुझे उस समय देना पड़ेगा, जब कि रणभूमिमें धराशायी होकर तू ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जायगा। क्रूरकर्मी मनुष्योंकी भाँति तू पाण्डवोंके प्रति बहुत-से अयोग्य बर्ताव करके मिथ्याचारी और अनार्य होकर भी आज अपने उन अपराधोंके प्रति अनभिज्ञता प्रकट करता है। माता-पिता, भीष्म, द्रोण और विदुर सबने तुझसे बार-बार कहा है कि 'तू संधि कर ले—शान्त हो जा।' परंतु भूपाल! तू शान्त होनेका नाम ही नहीं लेता। राजन्! शान्ति स्थापित होनेपर तेरा और युधिष्ठिरका दोनोंका ही महान् लाभ है, परंतु तुझे यह प्रस्ताव अच्छा नहीं लगता। इसे बुद्धिकी मन्दताके सिवा और क्या कहा जा सकता है? राजन्! तू हितैषी सुहृदोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके कल्याणका भागी नहीं हो सकेगा। भूपाल! तू सदा अधर्म और अपयशका कार्य करता है।

श्रीकृष्णका यह कथन सुनकर दुःशासनके उकसानेपर दुर्योधन सभासे उठकर चला गया। तब भीष्मजीने भगवान्‌से कहा—'राजा धृतराष्ट्रका यह दुरात्मा पुत्र दुर्योधन लक्ष्यसिद्धिके उपायके विपरीत कार्य करनेवाला तथा क्रोध और लोभके वशीभूत रहनेवाला है। इसे राजा होनेका मिथ्या अभिमान है। जनार्दन! मैं समझता हूँ कि ये समस्त क्षत्रियगण कालसे पके हुए फलकी भाँति मौतके मुँहमें जानेवाले हैं। तभी तो ये सब-के-सब मोहवश अपने मन्त्रियोंके साथ दुर्योधनका अनुसरण करते हैं।'

भीष्मका यह कथन सुनकर महापराक्रमी दशार्हकुलनन्दन कमलनयन श्रीकृष्णने भीष्म और द्रोण आदि सब लोगोंसे इस प्रकार कहा—

कुरु-कुलके बड़े-बूढ़ोंका कर्तव्य

सर्वेषां कुरुवृद्धानां महानयमतिक्रमः।
प्रसह्य मन्दमैश्वर्ये न नियच्छत यन्नृपम्॥
तत्र कार्यमहं मन्ये कालप्राप्तमरिंदमाः।
क्रियमाणे भवेच्छ्रेयस्तत् सर्वं शृणुतानघाः॥
प्रत्यक्षमेतद् भवतां यद् वक्ष्यामि हितं वचः।
भवतामानुकूल्येन यदि रोचेत भारताः॥
भोजराजस्य वृद्धस्य दुराचारो ह्यनात्मवान्।
जीवतः पितुरैश्वर्यं हृत्वा मृत्युवशं गतः॥
उग्रसेनसुतः कंसः परित्यक्तः स बान्धवैः।
ज्ञातीनां हितकामेन मया शस्तो महामृधे॥
आहुकः पुनरस्माभिर्ज्ञातिभिश्चापि सत्कृतः।
उग्रसेनः कृतो राजा भोजराजन्यवर्धनः॥
कंसमेकं परित्यज्य कुलार्थे सर्वयादवाः।
सम्भूय सुखमेधन्ते भारतान्धकवृष्णयः॥
अपि चाप्यवदद् राजन् परमेष्ठी प्रजापतिः।
व्यूढे देवासुरे युद्धेऽभ्युद्यतेष्वायुधेषु च॥
द्वैधीभूतेषु लोकेषु विनश्यत्सु च भारत।
अब्रवीत् सृष्टिमान् देवो भगवाँल्लोकभावनः॥
पराभविष्यन्त्यसुरा दैतेया दानवैः सह।
आदित्या वसवो रुद्रा भविष्यन्ति दिवौकसः॥
देवासुरमनुष्याश्च गन्धर्वोरगराक्षसाः।
अस्मिन् युद्धे सुसंक्रुद्धा हनिष्यन्ति परस्परम्॥
इति मत्वाब्रवीद् धर्मं परमेष्ठी प्रजापतिः।
वरुणाय प्रयच्छैतान् बद्ध्वा दैतेयदानवान्॥
एवमुक्तस्ततो धर्मो नियोगात् परमेष्ठिनः।
वरुणाय ददौ सर्वान् बद्ध्वा दैतेयदानवान्॥
तान् बद्ध्वा धर्मपाशैश्च स्वैश्च पाशैर्जलेश्वरः।
वरुणः सागरे यत्तो नित्यं रक्षति दानवान्॥
(महाभारत उद्योग० १२८। ३४—४७)

कुरुकुलके सभी बड़े-बूढ़े लोगोंका यह बहुत बड़ा अन्याय है कि आपलोग इस मूर्ख दुर्योधनको राजाके पदपर बिठाकर अब इसका बलपूर्वक नियन्त्रण नहीं कर रहे हैं। शत्रुओंका दमन करनेवाले निष्पाप कौरवो! इस विषयमें मैंने समयोचित कर्तव्यका निश्चय कर लिया है, जिसका पालन करनेपर सबका भला होगा। वह सब मैं बता रहा हूँ, आपलोग सुनें। मैं तो हितकी

बात बताने जा रहा हूँ। उसका आपलोगोंको भी प्रत्यक्ष अनुभव है। भरतवंशियो ! यदि वह आपके अनुकूल होनेके कारण ठीक जान पड़े तो आप उसे काममें ला सकते हैं। बूढ़े भोजराज उग्रसेनका पुत्र कंस बड़ा दुराचारी एवं अजितेन्द्रिय था। वह अपने पिताके जीते-जी उनका सारा ऐश्वर्य लेकर स्वयं राजा बन बैठा था, जिसका परिणाम यह हुआ कि वह मृत्युके अधीन हो गया। समस्त भाई-बन्धुओंने उसका त्याग कर दिया था, अतः सजातीय बन्धुओंके हितकी इच्छासे मैंने महान् युद्धमें उस उग्रसेनपुत्र कंसको मार डाला। तदनन्तर हम सब कुटुम्बीजनोंने मिलकर भोजवंशी क्षत्रियोंकी उन्नति करनेवाले आहुक उग्रसेनको सत्कारपूर्वक पुनः राजा बना दिया। भरतनन्दन ! कुलकी रक्षाके लिये एकमात्र कंसका परित्याग करके अन्धक और वृष्णि आदि कुलोंके समस्त यादव परस्पर संगठित हो सुखसे रहते और उत्तरोत्तर उन्नति कर रहे हैं। राजन् ! इसके सिवा एक और उदाहरण लीजिये। एक समय प्रजापति ब्रह्माजीने जो बात कही थी, वही बता रहा हूँ। देवता और असुर युद्धके लिये मोर्चे बाँधकर खड़े थे। सबके अस्त्र-शस्त्र प्रहारके लिये ऊपर उठ गये थे। सारा संसार दो भागोंमें बँटकर विनाशके गर्तमें गिरना चाहता था। भारत ! उस अवस्थामें सृष्टिकी रचना करनेवाले लोकभावन भगवान् ब्रह्माजीने स्पष्टरूपसे बता दिया कि इस युद्धमें दानवोंसहित दैत्यों तथा असुरोंकी पराजय होगी। आदित्य, वसु तथा रुद्र आदि देवता विजयी होंगे। देवता, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, नाग तथा राक्षस—ये युद्धमें अत्यन्त कुपित होकर एक दूसरेका वध करेंगे। यह भावी परिणाम जानकर परमेष्ठी प्रजापति ब्रह्माने धर्मराजसे यह बात कही—'तुम इन दैत्यों और दानवोंको बाँधकर वरुण-देवको सौंप दो'। उनके ऐसा कहनेपर धर्मने ब्रह्मा-जीकी आज्ञाके अनुसार सम्पूर्ण दैत्यों और दानवोंको बाँधकर वरुणको सौंप दिया। तबसे जलके स्वामी वरुण उन्हें धर्मपाश एवं वारुणपाशमें बाँधकर प्रतिदिन सावधान रहकर उन दानवोंको समुद्रकी सीमामें ही रखते हैं।

कुलके कल्याणके लिये एक पुरुषका, गाँवके लिये कुलका, जनपदके लिये गाँवका और आत्मकल्याणके लिये भूमण्डलका त्याग कर दे

तथा दुर्योधनं कर्णं शकुनिं चापि सौबलम्।
बद्ध्वा दुःशासनं चापि पाण्डवेभ्यः प्रयच्छत ॥
त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥
राजन् दुर्योधनं बद्ध्वा ततः संशाम्य पाण्डवैः।
त्वत्कृते न विनश्येयुः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ॥
(महाभारत उद्योग० १२८। ४८—५०)

भरतवंशियो ! उसी प्रकार आपलोग दुर्योधन, कर्ण, सुबलपुत्र शकुनि तथा दुःशासनको बंदी बनाकर पाण्डवोंके हाथमें दे दें। समस्त कुलकी भलाईके लिये एक पुरुषको, एक गाँवके हितके लिये एक कुलको, जनपदके भलेके लिये एक गाँवको और आत्मकल्याणके लिये समस्त भूमण्डलको त्याग दे। राजन् ! आप दुर्योधनको कैद करके पाण्डवोंसे संधि कर लें। क्षत्रिय-शिरोमणे ! ऐसा न हो कि आपके कारण समस्त क्षत्रियोंका विनाश हो जाय।

भगवान् श्रीकृष्णकी सिंह-गर्जना तथा उनके विश्वरूपका प्रादुर्भाव

तदनन्तर धृतराष्ट्रने गान्धारीको बुलवाया और गान्धारीने पुनः सभामें बुलवाकर दुर्योधनको समझाया; परंतु उनकी बातपर भी ध्यान न देकर दुर्योधन सभासे उठ गया और दुष्ट मन्त्रियोंकी सलाहसे भगवान् श्रीकृष्णको बंदी बनानेका षड्यन्त्र करने लगा। सात्यकिने भरी सभामें इसका भण्डाफोड़ किया। तब विदुरने धृतराष्ट्रको चेतावनी

देते हुए कहा—'महाराज ! आपके बेटे श्रीकृष्णको बंदी बनानेका दुःसाहस करके जलती आगसे खेल रहे हैं, अवश्य ही ये सब पतंगोंकी तरह जल मरेंगे ।' विदुरके ऐसा कहनेपर भगवान् केशवने समस्त सुहृदोंको सुनाते हुए राजा धृतराष्ट्रकी ओर देखकर कहा—

श्रीकृष्णकी सिंहगर्जना

राजन्नेते यदि क्रुद्धा मां निगृह्णीयुरोजसा ॥
एते वा मामहं वैनाननुजानीहि पार्थिव ।
एतान् हि सर्वान् संरब्धान् नियन्तुमहमुत्सहे ॥
न त्वहं निन्दितं कर्म कुर्यां पापं कथंचन ।
पाण्डवार्थे हि लुभ्यन्तः स्वार्थान् हास्यन्ति ते सुताः ॥
एते चेदेवमिच्छन्ति कृतकार्यो युधिष्ठिरः ।
अद्यैव ह्यहमेनांश्च ये चैनाननु भारत ॥
निगृह्य राजन् पार्थेभ्यो दद्यां किं दुष्कृतं भवेत् ।
इदं तु न प्रवर्तेयं निन्दितं कर्म भारत ॥
संनिधौ ते महाराज क्रोधजं पापबुद्धिजम् ।
एष दुर्योधनो राजन् यथेच्छति तथास्तु तत् ॥
अहं तु सर्वांस्तनयाननुजानामि ते नृप ।

(महाभारत उद्योग० १३० । २४—२९½)

राजन् ! ये दुष्ट कौरव यदि कुपित होकर मुझे बलपूर्वक पकड़ सकते हों तो आप इन्हें आज्ञा दे दीजिये। फिर देखिये, ये मुझे पकड़ पाते हैं या मैं इन्हें बंदी बनाता हूँ । यद्यपि क्रोधमें भरे हुए इन समस्त कौरवोंको मैं बाँध लेनेकी शक्ति रखता हूँ, तथापि मैं किसी प्रकार भी कोई निन्दित कर्म अथवा पाप नहीं कर सकता । आपके पुत्र पाण्डवोंका धन लेनेके लिये लुभाये हुए हैं, परंतु इन्हें अपने धनसे भी हाथ धोना पड़ेगा । यदि ये ऐसा ही चाहते हैं, तब तो युधिष्ठिरका काम बन गया । भारत ! मैं आज ही इन कौरवों तथा इनके अनुगामियोंको कैद करके यदि कुन्तीपुत्रोंके हाथमें सौंप दूँ तो क्या बुरा होगा ? परंतु भारत ! महाराज ! आपके समीप मैं क्रोध अथवा पापबुद्धिसे होनेवाला यह निन्दित कर्म नहीं प्रारम्भ करूँगा । नरेश्वर ! यह दुर्योधन जैसा चाहता है, वैसा ही हो । मैं आपके सभी पुत्रोंको इसके लिये आज्ञा देता हूँ ।

श्रीकृष्णकी यह बात सुनकर धृतराष्ट्रने विदुरजीके द्वारा दुर्योधनको बुलवाया और कड़ी फटकार सुनायी। फिर विदुरजीने भी भगवान्‌के अनन्त बल-पौरुषका वर्णन किया । तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने दुर्योधनसे कहा—

विश्वरूपका प्राकट्य

एकोऽहमिति यन्मोहान्मन्यसे मां सुयोधन ।
परिभूय सुदुर्बुद्धे ग्रहीतुं मां चिकीर्षसि ॥
इहैव पाण्डवाः सर्वे तथैवान्धकवृष्णयः ।
इहादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च महर्षिभिः ॥

(महाभारत उद्योग० १३१ । २—३)

दुर्बुद्धि दुर्योधन ! तू मोहवश जो मुझे अकेला मान रहा है और इसलिये मेरा तिरस्कार करके जो मुझे पकड़ना चाहता है, यह तेरा अज्ञान है । देख, सब पाण्डव यहीं हैं । अन्धक और वृष्णिवंशके वीर भी यहीं मौजूद हैं । आदित्यगण, रुद्रगण तथा महर्षियों-सहित वसुगण भी यहीं हैं ।

ऐसा कहकर भगवान्‌ने उच्चस्वरसे अट्टहास किया और तुरंत ही उनका विश्वरूप वहाँ प्रकट हो गया । धृतराष्ट्रने भी भगवत्कृपा-से अदृश्य नेत्र पाकर उस स्वरूपका दर्शन किया । इसके बाद अपने उस रूपको समेटकर सात्यकि और कृतवर्माके साथ भगवान् कौरवसभासे चल दिये ।

कौरवोंसे विदा माँगना

कौरव-सभासे बाहर आकर भगवान् अपने रथपर आरूढ़ हुए । उस समय धृतराष्ट्रने कहा—'केशव ! अपने पुत्रोंपर मेरा कितना बल काम करता है, यह आपने अपनी आँखों देख लिया है । मैं भी कौरवोंमें शान्तिकी इच्छा रखता हूँ ।

मेरा भाव पापपूर्ण नहीं है।' तब भगवान् श्रीकृष्णने धृतराष्ट्र, द्रोणाचार्य, भीष्म, विदुर, बाह्लीक और कृपाचार्यसे कहा—

प्रत्यक्षमेतद् भवतां यद् वृत्तं कुरुसंसदि।
यथा चाशिष्टवन्मन्दो रोषादद्य समुत्थितः॥
वदत्यनीशमात्मानं धृतराष्ट्रो महीपतिः।
आपृच्छे भवतः सर्वान् गमिष्यामि युधिष्ठिरम्॥

(महाभारत उद्योग० १३१। ३७—३८)

कौरव-सभामें जो घटना घटित हुई है, उसे आपलोगोंने प्रत्यक्ष देखा है, मूर्ख दुर्योधन किस प्रकार अशिष्टकी भाँति आज रोषपूर्वक सभासे उठ गया था? महाराज धृतराष्ट्र भी अपनेको असमर्थ बता रहे हैं। अतः अब मैं आप सब लोगोंसे आज्ञा चाहता हूँ। मैं युधिष्ठिरके पास जाऊँगा।

आज्ञा लेकर श्रीकृष्ण चले। उन्हें पहुँचानेके लिये भीष्म, द्रोण आदि भी उनके पीछे कुछ दूरतक गये। श्रीकृष्ण अपनी बुआ कुन्तीसे मिलनेके लिये गये और इस प्रकार बोले—

कुन्तीसे जानेकी आज्ञा तथा पाण्डवोंके लिये संदेश माँगना

उक्तं बहुविधं वाक्यं ग्रहणीयं सहेतुकम्।
ऋषिभिश्चैव च मया न चासौ तद् गृहीतवान्॥
कालपक्कमिदं सर्वं सुयोधनवशानुगम्।
आपृच्छे भवतीं शीघ्रं प्रयास्ये पाण्डवान् प्रति॥
किं वाच्याः पाण्डवेयास्ते भवत्या वचनान्मया।
तद् ब्रूहि त्वं महाप्राज्ञे शुश्रूषे वचनं तव॥

(महाभारत उद्योग० १३२। २—४)

बुआजी! मैंने तथा महर्षियोंने भी नाना प्रकारके युक्तियुक्त वचन, जो सर्वथा ग्रहण करने योग्य थे, सभामें कहे, परंतु दुर्योधनने उन्हें नहीं माना। जान पड़ता है, दुर्योधनके वशमें होकर उसीके पीछे चलनेवाला यह सारा क्षत्रियसमुदाय कालसे परिपक्व हो गया है, (अतः शीघ्र ही नष्ट होनेवाला है।) अब मैं तुमसे आज्ञा चाहता हूँ। यहाँसे शीघ्र ही मैं पाण्डवोंके पास जाऊँगा। महाप्राज्ञे! मुझे पाण्डवोंसे तुम्हारा क्या संदेश कहना होगा, उसे बताओ! मैं तुम्हारी बात सुनना चाहता हूँ।

कुन्तीने विदुलाका उपाख्यान सुनाकर अपने वीर-पुत्रोंके लिये बड़े ओजस्वी शब्दोंमें बल-पराक्रम दिखानेके संदेश दिये।

भगवान् श्रीकृष्णका कर्णको पाण्डवपक्षमें आ जानेके लिये विविध भाँतिसे समझाना

कुन्तीके संदेश सुन उन्हें प्रणाम करके भगवान् श्रीकृष्ण उनके घरसे निकले। भीष्म आदि कुरुवंशियोंको विदा करके कर्णको अपने रथपर बिठा लिया और सात्यकिके साथ वहाँसे प्रस्थान किया। मार्गमें बहुत देरतक उन्होंने कर्णके साथ बात की।

वासुदेव उवाच

उपासितास्ते राधेय ब्राह्मणा वेदपारगाः।
तत्त्वार्थं परिपृष्टाश्च नियतेनानसूयया॥
त्वमेव कर्ण जानासि वेदवादान् सनातनान्।
त्वमेव धर्मशास्त्रेषु सूक्ष्मेषु परिनिष्ठितः॥

(महाभारत उद्योग० १४०। ६—७)

श्रीकृष्णने कहा—राधानन्दन! तुमने वेदोंके पारंगत ब्राह्मणोंकी उपासना की है। तत्त्वज्ञानके लिये संयम-नियमसे रहकर दोष-दृष्टिका परित्याग करके उन ब्राह्मणोंसे अपनी शङ्काएँ पूछी हैं। कर्ण! सनातन वैदिक सिद्धान्त क्या है? इसे तुम अच्छी तरह जानते हो। धर्मशास्त्रोंके सूक्ष्म विषयोंके भी तुम परिनिष्ठित विद्वान् हो।

कानीनश्च सहोढश्च कन्यायां यश्च जायते।
वोढारं पितरं तस्य प्राहुः शास्त्रविदो जनाः॥
सोऽसि कर्ण तथा जातः पाण्डोः पुत्रोऽसि धर्मतः।
निग्रहाद् धर्मशास्त्राणामेहि राजा भविष्यसि॥
पितृपक्षे च ते पार्था मातृपक्षे च वृष्णयः।

द्वौ पक्षावभिजानीहि त्वमेतौ पुरुषर्षभ ॥
मया सार्धमितो यातमद्य त्वां तात पाण्डवाः ।
अभिजानन्तु कौन्तेयं पूर्वजातं युधिष्ठिरात् ॥
पादौ तव ग्रहीष्यन्ति भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः ।
द्रौपदेयास्तथा पञ्च सौभद्रश्चापराजितः ॥
राजानो राजपुत्राश्च पाण्डवार्थे समागताः ।
पादौ तव ग्रहीष्यन्ति सर्वे चान्धकवृष्णयः ॥
हिरण्मयांश्च ते कुम्भान् राजतान् पार्थिवांस्तथा ।
ओषध्यः सर्वबीजानि सर्वरत्नानि वीरुधः ॥
राजन्या राजकन्याश्चाप्यानयन्त्वाभिषेचनम् ॥

(महाभारत उद्योग० १४० । ८—१५)

कर्ण ! कन्याके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होता है, उसके दो भेद बताये जाते हैं—कानीन और सहोढ । (जो विवाहसे पहले उत्पन्न होता है, वह कानीन है और जो विवाहके पहले गर्भमें आकर विवाहके बाद उत्पन्न होता है, वह सहोढ कहलाता है ।) वैसे पुत्र-की माताका जिसके साथ विवाह होता है, शास्त्रज्ञोंने उसीको उसका पिता बताया है। कर्ण ! तुम्हारा जन्म भी इसी प्रकार हुआ है; (तुम कुन्तीके ही कन्यावस्था-में उत्पन्न हुए पुत्र हो) अतः तुम भी धर्मानुसार पाण्डुके ही पुत्र हो । इसलिये आओ, धर्मशास्त्रोंके निश्चयके अनुसार तुम्हीं राजा होओगे । पिताके पक्षमें कुन्तीके सभी पुत्र तुम्हारे सहायक हैं और मातृपक्षमें समस्त वृष्णिवंशी तुम्हारे साथ हैं । पुरुषश्रेष्ठ ! तुम अपने इन दोनों पक्षोंको जान लो ।

तात ! मेरे साथ यहाँसे चलनेपर आज पाण्डवोंको तुम्हारे विषयमें यह पता चल जाय कि तुम कुन्तीके ही पुत्र हो और युधिष्ठिरसे भी पहले तुम्हारा जन्म हुआ है। पाँचों भाई पाण्डव, द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा किसीसे परास्त न होनेवाला सुभद्राकुमार वीर अभिमन्यु—ये सभी तुम्हारे चरणोंका स्पर्श करेंगे। इसके सिवा, पाण्डवों-की सहायताके लिये आये हुए समस्त राजा, राजकुमार तथा अन्धक और वृष्णिवंशके योद्धा भी तुम्हारे चरणों-में नतमस्तक होंगे । बहुत-से राजपुत्र और राजकन्याएँ तुम्हारे लिये सोने, चाँदी तथा मिट्टीके बने हुए कलश, औषधसमूह, सब प्रकारके बीज, सम्पूर्ण रत्न और लता आदि अभिषेक-सामग्री लेकर आयेंगी ।

अग्निं जुहोतु वै धौम्यः संशितात्मा द्विजोत्तमः ।
अद्य त्वामभिषिञ्चन्तु चातुर्वैद्या द्विजातयः ॥
पुरोहितः पाण्डवानां ब्रह्मकर्मण्यवस्थितः ।
तथैव भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ॥
द्रौपदेयास्तथा पञ्च पञ्चालाश्चेदयस्तथा ।
अहं च त्वाभिषेक्ष्यामि राजानं पृथिवीपतिम्॥
युवराजोऽस्तु ते राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
गृहीत्वा व्यजनं श्वेतं धर्मात्मा संशितव्रतः ॥
उपान्वारोहतु रथं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
छत्रं च ते महाश्वेतं भीमसेनो महाबलः ॥
अभिषिक्तस्य कौन्तेयो धारयिष्यति मूर्धनि ।
किङ्किणीशतनिर्घोषं वैयाघ्रपरिवारणम् ॥
रथं श्वेतहयैर्युक्तमर्जुनो वाहयिष्यति ।
अभिमन्युश्च ते नित्यं प्रत्यासन्नो भविष्यति ॥
नकुलः सहदेवश्च द्रौपदेयाश्च पञ्च ये ।
पञ्चालाश्चानुयास्यन्ति शिखण्डी च महारथः ॥
अहं च त्वानुयास्यामि सर्वे चान्धकवृष्णयः ।
दाशार्हाः परिवारास्ते दाशार्णाश्च विशाम्पते ॥
भुङ्क्ष्व राज्यं महाबाहो भ्रातृभिः सह पाण्डवैः ।
जपैर्होमैश्च संयुक्तो मङ्गलैश्च पृथग्विधैः ॥
पुरोगमाश्च ते सन्तु द्रविडाः सह कुन्तलैः ।
आन्ध्रास्तालचराश्चैव चूचुपा वेणुपास्तथा ॥
स्तुवन्तु त्वां च बहुभिः स्तुतिभिः सूतमागधाः ।
विजयं वसुषेणस्य घोषयन्तु च पाण्डवाः ॥
स त्वं परिवृतः पार्थैर्नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः ।
प्रशाधि राज्यं कौन्तेय कुन्तीं च प्रतिनन्दय ॥

मित्राणि ते प्रहृष्यन्तु व्यथन्तु रिपवस्तथा ।
सौभ्रात्रं चैव तेऽद्यास्तु भ्रातृभिः सह पाण्डवैः ॥
(महाभारत उद्योग० १४० । १६—२९)

विशुद्ध हृदयवाले द्विजश्रेष्ठ धौम्य आज तुम्हारे लिये होम करें और चारों वेदोंके विद्वान् ब्राह्मण तथा सदा ब्राह्मणोचित धर्मके पालनमें स्थित रहनेवाले पाण्डवोंके पुरोहित धौम्यजी तुम्हारा राज्याभिषेक करें । इसी प्रकार पाँचों भाई पुरुषसिंह पाण्डव, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, पाञ्चाल और चेदिदेशके नरेश तथा मैं—ये सब लोग तुम्हें पृथ्वीपालक सम्राट्के पदपर अभिषिक्त करेंगे । कठोर व्रतका पालन करनेवाले धर्मपुत्र धर्मात्मा कुन्ती-नन्दन राजा युधिष्ठिर तुम्हारे युवराज होंगे, जो हाथमें श्वेत चँवर लेकर तुम्हारे पीछे रथपर बैठेंगे और महाबली कुन्तीकुमार भीमसेन राज्याभिषेक होनेके पश्चात् तुम्हारे मस्तकपर महान् श्वेत छत्र धारण करेंगे । सैकड़ों क्षुद्र घण्टिकाओंकी सुमधुर ध्वनिसे युक्त, व्याघ्रचर्मसे आच्छादित तथा श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए तुम्हारे रथको अर्जुन सारथि बनकर हाँकेंगे और अभिमन्यु सदा तुम्हारी सेवाके लिये निकट खड़ा रहेगा । नकुल, सहदेव, द्रौपदीके पाँच पुत्र, पञ्चालदेशीय क्षत्रिय तथा महारथी शिखण्डी—ये सब तुम्हारे पीछे-पीछे चलेंगे ।

मैं तथा समस्त अन्धक और वृष्णिवंशके लोग भी तुम्हारा अनुसरण करेंगे । प्रजानाथ ! दशार्ह तथा दशार्णकुलके समस्त क्षत्रिय तुम्हारे परिवार हो जायँगे । महाबाहो ! तुम अपने भाई पाण्डवोंके साथ राज्य भोगो । जप, होम तथा नाना प्रकारके माङ्गलिक कर्मोंमें संलग्न रहो । द्रविड, कुन्तल, आन्ध्र, तालचर, चूचुप तथा वेणुप देशके लोग तुम्हारे अग्रगामी सेवक हों । सूत, मागध और वन्दीजन नाना प्रकारकी स्तुतियोंद्वारा तुम्हारा यशोगान करें और पाण्डवलोग महाराज वसुषेण कर्णकी विजय घोषित कर दें ।

कुन्तीकुमार ! नक्षत्रोंसे घिरे हुए चन्द्रमाकी भाँति तुम अपने अन्य भाइयोंसे घिरे रहकर राज्यका पालन और कुन्तीको आनन्दित करो । तुम्हारे मित्र प्रसन्न हों और शत्रुओंके मनमें व्यथा हो । कर्ण ! आजसे अपने भाई पाण्डवोंके साथ तुम्हारा एक अच्छे बन्धुकी भाँति स्नेहपूर्ण बर्ताव हो ।

कर्णसे पाण्डव-पक्षकी निश्चित विजयका प्रतिपादन

श्रीकृष्णकी बात सुनकर कर्णने कहा—'केशव ! आपका कथन ठीक है । अवश्य ही मेरे प्रति सौहार्द, स्नेह, मैत्री तथा हितकी ही भावनासे आपने ये बातें कही हैं । मुझे यह भी पता चल गया है कि मैं कुन्तीका पुत्र होनेके कारण धर्मतः पाण्डुका ही पुत्र हूँ और भगवान् सूर्यके संयोगसे मेरा जन्म हुआ है । तथापि कुन्ती देवीने मुझे पाकर भी त्याग दिया और माता राधाने मुझे जलसे निकालकर अपनी गोदमें स्थान दिया, स्नेहवश उसके स्तनोंसे दूध उतर आया । अधिरथने भी सदा मुझे पुत्र माना । उसके ही द्वारा मेरे संस्कार हुए । सूत जातिकी कन्यासे ही मेरा विवाह हुआ, संतानें हुईं । इस स्नेह-सम्बन्धको आज मैं स्वार्थवश मिथ्या नहीं बना सकता । दुर्योधनने मेरा मित्रवत् सम्मान किया है, मुझे राजोचित सुख दिया है; आज संकटके समय उसका साथ मैं कैसे छोड़ दूँ ! आप इस गुप्त बातको अपने ही तक सीमित रक्खें । युधिष्ठिर को यह पता न चले कि मैं कुन्तीका प्रथम पुत्र हूँ, अन्यथा वे राज्य मुझे दे देंगे और मैं उसे पाकर भी दुर्योधनको ही दे दूँगा । मेरी भी यही इच्छा है कि धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर ही राजा हों । अतः आप युद्ध न रोकें ।'

कर्णको फटकार तथा पाण्डवोंके निश्चित विजयकी घोषणा

श्रीभगवानुवाच

अपि त्वां न लभेत् कर्ण राज्यलम्भोपपादनम् ।
मया दत्तां हि पृथिवीं न प्रशासितुमिच्छसि ॥
ध्रुवो जयः पाण्डवानामितीदं
न संशयः कश्चन विद्यतेऽत्र ।

जयध्वजो दृश्यते पाण्डवस्य
समुच्छ्रितो वानरराज उग्रः ॥
दिव्या माया विहिता भौमनेन
समुच्छ्रिता इन्द्रकेतुप्रकाशा ।
दिव्यानि भूतानि जयावहानि
दृश्यन्ति चैवात्र भयानकानि ॥
न सज्जते शैलवनस्पतिभ्य
ऊर्ध्वं तिर्यग्योजनमात्ररूपः ।
श्रीमान् ध्वजः कर्ण धनंजयस्य
समुच्छ्रितः पावकतुल्यरूपः ॥
(महाभारत उद्योग० १४२ । २—५)

श्रीभगवान् बोले—कर्ण ! मैं जो राज्यकी प्राप्तिका उपाय बता रहा हूँ, जान पड़ता है वह तुम्हें ग्राह्य नहीं प्रतीत होता है । तुम मेरी दी हुई पृथ्वीका शासन नहीं करना चाहते हो । पाण्डवोंकी विजय अवश्यम्भावी है, इस विषयमें कोई भी संशय नहीं है । पाण्डुनन्दन अर्जुनका वानरराज हनुमान्से उपलक्षित वह भयंकर विजयध्वज बहुत ऊँचा दिखायी देता है । विश्वकर्माने उस ध्वजमें दिव्य मायाकी रचना की है । वह ऊँची ध्वजा इन्द्रध्वजके समान प्रकाशित होती है । उसके ऊपर विजयकी प्राप्ति करानेवाले दिव्य एवं भयंकर प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं । कर्ण ! धनंजयका वह अग्निके समान तेजस्वी तथा कान्तिमान् ऊँचा ध्वज एक योजन लंबा है । वह ऊपर अथवा अगल-बगलमें पर्वतों तथा वृक्षोंसे कहीं अटकता नहीं है ।

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे श्वेताश्वं कृष्णसारथिम् ।
ऐन्द्रमस्त्रं विकुर्वाणमुभे चाप्यग्निमारुते ॥
गाण्डीवस्य च निर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च ॥
यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
जपहोमसमायुक्तं स्वां रक्षन्तं महाचमूम् ॥
आदित्यमिव दुर्धर्षं तपन्तं शत्रुवाहिनीम् ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च ॥
यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे भीमसेनं महाबलम् ।
दुःशासनस्य रुधिरं पीत्वा नृत्यन्तमाहवे ॥
प्रभिन्नमिव मातङ्गं प्रतिद्विरदघातिनम् ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च ॥
यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे द्रोणं शान्तनवं कृपम् ।
सुयोधनं च राजानं सैन्धवं च जयद्रथम् ॥
युद्धायापततस्तूर्णं वारितान् सव्यसाचिना ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च ॥
यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे माद्रीपुत्रौ महाबलौ ।
वाहिनीं धार्तराष्ट्राणां क्षोभयन्तौ गजाविव ॥
विगाढे शस्त्रसम्पाते परवीररथारुजौ ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च ॥
(महाभारत उद्योग० १४२ । ६—१५)

कर्ण ! जब युद्धमें मुझ श्रीकृष्णको सारथि बनाकर आये हुए श्वेतवाहन अर्जुनको तुम ऐन्द्र, आग्नेय तथा वायव्य अस्त्र प्रकट करते देखोगे और जब गाण्डीवकी वज्र-गर्जनाके समान भयंकर टंकार तुम्हारे कानोंमें पड़ेगी, उस समय तुम्हें सत्ययुग, त्रेता और द्वापरकी प्रतीति नहीं होगी (केवल कलहस्वरूप भयंकर कलि ही दृष्टिगोचर होगा) । जब जप और होममें लगे हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको संग्राममें अपनी विशाल सेनाकी रक्षा करते तथा सूर्यके समान दुर्धर्ष होकर शत्रुसेनाको संतप्त करते देखोगे, उस समय तुम्हें सत्ययुग, त्रेता और द्वापरकी प्रतीति नहीं होगी । जब तुम महाबली भीमसेनको दुःशासनका रक्त पीकर नाचते तथा मदकी धारा बहानेवाले गजराजके समान उन्हें शत्रुपक्षकी गजसेनाका संहार करते देखोगे, उस समय तुम्हें सत्ययुग, त्रेता और द्वापरकी प्रतीति नहीं होगी । जब तुम देखोगे कि युद्धमें आचार्य द्रोण, शान्तनुनन्दन भीष्म, कृपाचार्य, राजा दुर्योधन और सिन्धुराज जयद्रथ ज्यों ही युद्धके लिये आगे बढ़े हैं त्यों ही सव्यसाची

अर्जुनने तुरंत उन सबकी गति रोक दी है, तब तुम हक्के-बक्के-से रह जाओगे और उस समय तुम्हें सत्ययुग, त्रेता और द्वापर कुछ भी सूझ नहीं पड़ेगा। जब युद्धस्थलमें अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार प्रगाढ़ अवस्थाको पहुँच जायगा (जोर-जोरसे होने लगेगा) और शत्रु-वीरोंके रथको नष्ट-भ्रष्ट करनेवाले महाबली माद्रीकुमार नकुल-सहदेव दो गजराजोंकी भाँति धृतराष्ट्रपुत्रोंकी सेनाको क्षुब्ध करने लगेंगे तथा जब तुम अपनी आँखोंसे यह अवस्था देखोगे, उस समय तुम्हारे सामने न सत्ययुग होगा, न त्रेता और न द्वापर ही रह जायगा।

ब्रूयाः कर्ण इतो गत्वा द्रोणं शान्तनवं कृपम् ।
सौम्योऽयं वर्तते मासः सुप्रापयवसेन्धनः ॥
सर्वौषधिवनस्फीतः फलवानल्पमक्षिकः ।
निष्पङ्को रसवत्तोयो नात्युष्णशिशिरः सुखः ॥
सप्तमाच्चापि दिवसादमावास्या भविष्यति ।
संग्रामो युज्यतां तस्यां तामाहुः शक्रदेवताम् ॥
तथा राज्ञो वदेः सर्वान् ये युद्धायाभ्युपागताः ।
यद् वो मनीषितं तद् वै सर्वं सम्पादयाम्यहम् ॥
राजानो राजपुत्राश्च दुर्योधनवशानुगाः ।
प्राप्य शस्त्रेण निधनं प्राप्स्यन्ति गतिमुत्तमाम् ॥

(महाभारत उद्योग० १४२ । १६—२०)

कर्ण ! तुम यहाँसे जाकर आचार्य द्रोण, शान्तनुनन्दन भीष्म और कृपाचार्यसे कहना कि 'यह सौम्य (सुखद) मास चल रहा है। इसमें पशुओंके लिये घास और जलानेके लिये लकड़ी आदि वस्तुएँ सुगमतासे मिल सकती हैं। सब प्रकारकी ओषधियों तथा फल-फूलोंसे वनकी समृद्धि बढ़ी हुई है, धानके खेतोंमें खूब फल लगे हुए हैं, मक्खियाँ बहुत कम हो गयी हैं, धरतीपर कीचड़का नाम नहीं है। जल स्वच्छ एवं सुस्वादु प्रतीत होता है, इस सुखद समयमें न तो अधिक गरमी है और न अधिक सर्दी ही (यह मार्गशीर्ष मास चल रहा है)। आजसे सातवें दिनके बाद अमावास्या होगी। उसके देवता इन्द्र कहे गये हैं। उसीमें युद्ध आरम्भ किया जाय। इसी प्रकार जो युद्धके लिये यहाँ पधारे हैं, उन समस्त राजाओंसे भी कह देना—'आपलोगोंके मनमें जो अभिलाषा है, वह सब मैं अवश्य पूर्ण करूँगा।' दुर्योधनके वशमें रहनेवाले जितने राजा और राजकुमार हैं, वे शस्त्रोंद्वारा मृत्युको प्राप्त होकर उत्तम गति लाभ करेंगे।

तदनन्तर कर्णने भी लक्षणों और अपने स्वप्नोंके आधार-पर यह स्वीकार किया कि पाण्डवोंकी विजय तथा कौरवोंकी पराजय अवश्य होगी।

श्रीकृष्णका कौरवोंके समाचार सुनाकर उनके प्रति दण्डनीतिके प्रयोगपर ही जोर देना

श्रीकृष्ण उपप्लव्यमें लौट आये। युधिष्ठिरने वहाँका समाचार पूछा; तब वे बोले—जब कौरव-सभामें मैंने अपनी बात रक्खी, तब दुर्योधन हँसने लगा। उस समय भीष्मजीने कुपित होकर कहा—'दुर्योधन ! तुम्हारे पिता अंधे थे, अतः राज्यके अधिकारी नहीं समझे गये। महाभाग पाण्डुको राजा बनाया गया। उन्हींके पुत्र पाण्डव हैं, अतः पिताकी सम्पत्तिके वे उत्तराधिकारी हैं। तुम उन्हें आधा राज्य दे दो।' द्रोणने कहा—'मैं जैसे कौरवोंका गुरु हूँ, उसी तरह पाण्डवोंका भी हूँ। मुझे अर्जुन अश्वत्थामाके समान प्रिय हैं। मैं कहता हूँ, पाण्डवोंको आधा राज्य दे दो। पाण्डव धर्मके पथपर हैं, जहाँ धर्म है, वहीं विजय है।' विदुरजीने भीष्मसे कहा—'आप पापी दुर्योधनको कैद करके स्वयं राज्य कीजिये, जिससे कौरव-कुलका विनाश न हो।' गान्धारीने युधिष्ठिरको ही राजा बनानेकी सलाह दी। धृतराष्ट्रने भी आधा राज्य पाण्डवोंको दे देनेका ही आदेश दिया।

वासुदेव उवाच

एवमुक्ते तु भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च ।
गान्धार्या धृतराष्ट्रेण न वै मन्दोऽन्वबुद्ध्यत ॥
अवधूयोत्थितो मन्दः क्रोधसंरक्तलोचनः ।

अन्वद्रवन्त तं पश्चाद् राजानस्त्यक्तजीविताः ॥
आज्ञापयच्च राज्ञस्तान् पार्थिवान् नष्टचेतसः ।
प्रयाध्वं वै कुरुक्षेत्रं पुष्योऽद्येति पुनः पुनः ॥
(महाभारत उद्योग० १५० । १—३)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन्! भीष्म, द्रोण, विदुर, गान्धारी तथा धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर भी मन्द-बुद्धि दुर्योधनको तनिक भी चेत नहीं हुआ। वह मूर्ख क्रोधसे लाल आँखें किये उन सबकी अवहेलना करके सभासे उठकर चला गया। उसीके पीछे अन्य राजा भी अपने जीवनका मोह छोड़कर सभासे उठकर चल दिये। ज्ञात हुआ है, दुर्योधनने उन विवेकशून्य राजाओंको यह बार-बार आज्ञा दे दी कि तुम सब लोग कुरुक्षेत्रको चलो। आज पुष्य नक्षत्र है।

ततस्ते पृथिवीपालाः प्रययुः सहसैनिकाः ।
भीष्मं सेनापतिं कृत्वा संहृष्टाः कालचोदिताः ॥
अक्षौहिण्यो दशैका च कौरवाणां समागताः ।
तासां प्रमुखतो भीष्मस्तालकेतुर्व्यरोचत ॥
यदत्र युक्तं प्राप्तं च तद् विधत्स्व विशाम्पते ।
उक्तं भीष्मेण यद् वाक्यं द्रोणेन विदुरेण च ॥
गान्धार्या धृतराष्ट्रेण समक्षं मम भारत ।
एतत् ते कथितं राजन् यद् वृत्तं कुरुसंसदि ॥
साम्यमादौ प्रयुक्तं मे राजन् सौभ्रात्रमिच्छता ।
अभेदायास्य वंशस्य प्रजानां च विवृद्धये ॥
पुनर्भेदश्च मे युक्तो यदा साम न गृह्यते ।
कर्मानुकीर्तनं चैव देवमानुषसंहितम् ॥
यदा नाद्रियते वाक्यं सामपूर्वं सुयोधनः ।
तदा मया समानीय भेदिताः सर्वपार्थिवाः ॥
अद्भुतानि च घोराणि दारुणानि च भारत ।
अमानुषाणि कर्माणि दर्शितानि मया विभो ॥
निर्भर्त्सयित्वा राज्ञस्तांस्तृणीकृत्य सुयोधनम् ।
राधेयं भीषयित्वा च सौबलं च पुनः पुनः ॥
द्यूततो धार्तराष्ट्राणां निन्दां कृत्वा तथा पुनः ।
भेदयित्वा नृपान् सर्वान् वाग्भिर्मन्त्रेण चासकृत् ॥
पुनः सामाभिसंयुक्तं सम्प्रदानमथाब्रुवम् ।
अभेदात् कुरुवंशस्य कार्ययोगात् तथैव च ॥
(महाभारत उद्योग० १५० । ४—१४)

तदनन्तर वे सभी भूपाल कालसे प्रेरित हो भीष्मको सेनापति बनाकर बड़े हर्षके साथ सैनिकोंसहित वहाँसे चल दिये हैं। कौरवोंकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ आ गयी हैं। उन सबमें प्रधान हैं भीष्मजी, जो अपने तालध्वजके साथ सुशोभित हो रहे हैं। प्रजानाथ! अब तुम्हें भी जो उचित जान पड़े, वह करो। भारत! कौरवसभामें भीष्म, द्रोण, विदुर, गान्धारी तथा धृतराष्ट्रने मेरे सामने जो बातें कही थीं, वे सब आपको सुना दीं। राजन्! यही वहाँका वृत्तान्त है। राजन्! मैंने सब भाइयोंमें उत्तम बन्धुजनोचित प्रेम बने रहनेकी इच्छासे पहले सामनीतिका प्रयोग किया था, जिससे इस वंशमें फूट न हो और प्रजाजनोंकी निरन्तर उन्नति होती रहे। जब वे सामनीति न ग्रहण कर सके, तब मैंने भेदनीतिका प्रयोग किया (उनमें फूट डालनेकी चेष्टा की)। पाण्डवोंके देव-मनुष्योचित कर्मोंका बारंबार वर्णन किया। जब मैंने देखा दुर्योधन मेरे सान्त्वनापूर्ण वचनोंका पालन नहीं कर रहा है, तब मैंने सब राजाओंको बुलाकर उनमें फूट डालनेका प्रयत्न किया। भारत! वहाँ मैंने बहुत-से अद्भुत, भयंकर, निष्ठुर एवं अमानुषिक कर्मोंका प्रदर्शन किया। समस्त राजाओंको डाँट बताकर दुर्योधनको तिनकेके समान समझकर तथा राधानन्दन कर्ण और सुबलपुत्र शकुनिको बार-बार डराकर जूएसे धृतराष्ट्र-पुत्रोंकी निन्दा करके वाणी तथा गुप्तमन्त्रणाद्वारा सब राजाओंके मनमें अनेक बार भेद उत्पन्न करनेके पश्चात् फिर सामसहित दानकी बात उठायी, जिससे कुरुवंशकी एकता बनी रहे और अभीष्ट कार्यकी सिद्धि हो जाय।

ते शूरा धृतराष्ट्रस्य भीष्मस्य विदुरस्य च ।
तिष्ठेयुः पाण्डवाः सर्वे हित्वा मानमधश्चराः ॥

प्रयच्छन्तु च ते राज्यमनीशास्ते भवन्तु च ।
यथाऽऽह राजा गाङ्गेयो विदुरश्च हितं तव ॥
सर्वं भवतु ते राज्यं पञ्च ग्रामान् विसर्जय ।
अवश्यं भरणीया हि पितुस्ते राजसत्तम ॥
एवमुक्तोऽपि दुष्टात्मा नैव भागं व्यमुञ्चत ।
दण्डं चतुर्थं पश्यामि तेषु पापेषु नान्यथा ॥
निर्याताश्च विनाशाय कुरुक्षेत्रं नराधिपाः ।
एतत् ते कथितं राजन् यद्वृत्तं कुरुसंसदि ॥
न ते राज्यं प्रयच्छन्ति विना युद्धेन पाण्डव ।
विनाशहेतवः सर्वे प्रत्युपस्थितमृत्यवः ॥

(महाभारत उद्योग० १५० । १५—२०)

मैंने कहा—नृपश्रेष्ठ ! यद्यपि पाण्डव शौर्यसे सम्पन्न हैं तथापि वे सब-के-सब अभिमान छोड़कर भीष्म, धृतराष्ट्र और विदुरके नीचे रह सकते हैं। वे अपना राज्य भी तुम्हींको दे दें और सदा तुम्हारे अधीन होकर रहें। राजा धृतराष्ट्र, भीष्म और विदुरजीने तुम्हारे हितके लिये जैसी बात कही हैं, वैसा ही करो। सारा राज्य तुम्हारे ही पास रहे। तुम पाण्डवोंको पाँच ही गाँव दे दो; क्योंकि तुम्हारे पिताके लिये पाण्डवोंका भरण-पोषण करना भी परम आवश्यक है।

मेरे इस प्रकार कहनेपर भी उस दुष्टात्माने राज्यका कोई भाग तुम्हारे लिये नहीं छोड़ा अर्थात् देना नहीं स्वीकार किया। अब तो मैं उन पापियोंपर चौथे उपाय दण्डके प्रयोगकी ही आवश्यकता देखता हूँ, अन्यथा उन्हें मार्गपर लाना असम्भव है। सब राजा अपने विनाशके लिये कुरुक्षेत्रको प्रस्थान कर चुके हैं। राजन्! कौरवसभामें जो कुछ हुआ था, वह सारा वृत्तान्त मैंने तुमसे कह सुनाया।

पाण्डुनन्दन ! वे कौरव बिना युद्ध किये तुम्हें राज्य नहीं देंगे। उन सबके विनाशका कारण जुट गया है और उनका मृत्युकाल भी आ पहुँचा है।

युधिष्ठिरके पूछनेपर भगवान्‌का युद्धको ही कर्तव्य बताना

भगवान् श्रीकृष्णके पूर्वोक्त कथनका स्मरण करके युधिष्ठिरने पुनः उनसे पूछा—'भगवन् ! वर्तमान समयमें हमारे लिये क्या करना उचित है ? हम कैसा बर्ताव करें, जिससे अपने धर्मसे भ्रष्ट न हों। आप दुर्योधन, कर्ण तथा शकुनिके और भाइयोंसहित मेरे भी विचारोंसे अवगत हैं। विदुर और भीष्मजीकी भी बातें आपने सुनी हैं तथा माता कुन्तीका विचार भी अच्छी तरहसे जान लिया है। इन सबके विचारोंसे ऊपर जो आपका विचार है, उसके अनुसार आप हमारे लिये उचित कर्तव्यका निर्देश करें।'

श्रीकृष्ण उवाच

उक्तवानस्मि यद् वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम् ।
न तु तन्निकृतिप्रज्ञे कौरव्ये प्रतितिष्ठति ॥
न च भीष्मस्य दुर्मेधाः शृणोति विदुरस्य वा ।
मम वा भाषितं किंचित् सर्वमेवातिवर्तते ॥
नैष कामयते धर्मं नैष कामयते यशः ।
जितं स मन्यते सर्वं दुरात्मा कर्णमाश्रितः ॥
बन्धमाज्ञापयामास मम चापि सुयोधनः ।
न च तं लब्धवान् कामं दुरात्मा पापनिश्चयः ॥
न च भीष्मो न च द्रोणो युक्तं तत्राहतुर्वचः ।
सर्वे तमनुवर्तन्ते ऋते विदुरमच्युत ॥
शकुनिः सौबलश्चैव कर्णदुःशासनावपि ।
त्वय्ययुक्तान्यभाषन्त मूढा मूढमसर्षणम् ॥
किं च तेन मयोक्तेन यान्यभाषत कौरवः ।
संक्षेपेण दुरात्मासौ न युक्तं त्वयि वर्तते ॥
पार्थिवेषु न सर्वेषु य इमे तव सैनिकाः ।
यत् पापं यन्नकल्याणं सर्वं तस्मिन् प्रतिष्ठितम् ॥
न चापि वयमत्यर्थं परित्यागेन कर्हिचित् ।
कौरवैः शममिच्छामस्तत्र युद्धमनन्तरम् ॥

(महाभारत उद्योग० १५४ । ७—१६)

श्रीकृष्ण बोले—मैंने जो धर्म और अर्थसे युक्त हितकर बात कही है, वह छल-कपट करनेमें ही कुशल कुरुवंशी दुर्योधनके मनमें नहीं बैठती है। खोटी बुद्धिवाला वह दुष्ट न भीष्मकी, न विदुरकी और न मेरी ही कोई बात सुनता है। वह सबकी सभी बातोंको लाँघ जाता है। दुरात्मा दुर्योधन कर्णके

आश्रय लेकर सभी वस्तुओंको जीती हुई ही समझता है। इसीलिये न यह धर्मकी इच्छा रखता है और न यशकी ही कामना करता है। पापपूर्ण निश्चयवाले उस दुरात्मा दुर्योधनने मुझे भी कैद कर लेनेकी आज्ञा दे दी थी; परंतु वह उस मनोरथको पूर्ण न कर सका। अच्युत! वहाँ भीष्म तथा द्रोणाचार्य भी सदा उचित बात नहीं कहते हैं। विदुरको छोड़कर अन्य सब लोग दुर्योधनका ही अनुसरण कर लेते हैं। सुबलपुत्र शकुनि, कर्ण और दुःशासन—इन तीनों मूर्खोंने मूढ़ और असहिष्णु दुर्योधनके समीप आपके विषयमें अनेक अनुचित बातें कही थीं। उन लोगोंने जो-जो बातें कहीं, उन्हें यदि मैं पुनः यहाँ दोहराऊँ तो इससे क्या लाभ है? थोड़ेमें इतना ही समझ लीजिये कि वह दुरात्मा दुर्योधन आपके प्रति न्याययुक्त बर्ताव नहीं कर रहा है।

इन सब राजाओंमें, जो आपकी सेनामें स्थित हैं, जो पाप और अमङ्गलकारक भाव नहीं हैं, वह सब अकेले दुर्योधनमें विद्यमान है। हमलोग भी बहुत अधिक त्याग करके (सर्वस्व खोकर) कभी किसी भी दशामें कौरवोंके साथ संधिकी इच्छा नहीं रखते हैं। अतः इसके बाद हमारे लिये युद्ध ही करना उचित है।

श्रीकृष्णका अर्जुनको भीष्मका दर्शन कराकर पहले उन्हींकी सेनासे लड़नेका तथा विजयके लिये दुर्गाजीकी स्तुति करनेका आदेश देना

कुरुक्षेत्रके समराङ्गणमें कौरवों तथा पाण्डवोंकी सेनाएँ एक-दूसरेके सम्मुख युद्धके लिये प्रस्तुत थीं। दोनों समान-रूपसे आगे बढ़ रही थीं। दोनों ओरके व्यूहमें खड़े हुए सैनिक हर्षसे उल्लसित थे। दोनों ही सेनाएँ हाथी, रथ और घोड़ोंसे भरी थीं। कौरवोंका मुख पश्चिम दिशाकी ओर था और कुन्तीके पुत्र उनसे युद्ध करनेके लिये पूर्वाभिमुख खड़े थे। उस समय सेनाके मध्यभागमें खड़े हुए दुर्जय वीर निद्राविजयी राजकुमार अर्जुनसे भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा—

वासुदेव उवाच

य एष रोषात् प्रतपन् बलस्थो
यो नः सेनां सिंह इवेक्षते च।
स एष भीष्मः कुरुवंशकेतु-
र्येनाहृतास्त्रिशतं वाजिमेधाः॥
एतान्यनीकानि महानुभावं
गूहन्ति मेघा इव रश्मिमन्तम्।
एतानि हत्वा पुरुषप्रवीर
काङ्क्षस्व युद्धं भरतर्षभेण॥

(महाभारत भीष्म० २२। १५-१६)

भगवान् वासुदेव बोले—धनंजय! ये जो अपनी सेनाके मध्यभागमें स्थित हो रोषसे तप रहे हैं और सिंहके समान हमारी सेनाकी ओर देखते हैं, ये ही कुरुकुलकेतु भीष्म हैं, जिन्होंने अबतक तीन सौ अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया है। जैसे बादल अंशुमाली सूर्यको ढक लेते हैं, उसी प्रकार ये सारी सेनाएँ इन महानुभाव भीष्मको आच्छादित किये हुए हैं। नरवीर! अर्जुन! तुम पहले इन सेनाओंको मारकर भरतकुलभूषण भीष्मजीके साथ युद्धकी अभिलाषा करो।

तदनन्तर दुर्योधनकी सेनाको युद्धके लिये उपस्थित देख श्रीकृष्णने अर्जुनके हितके लिये इस प्रकार कहा—

श्रीभगवानुवाच

शुचिर्भूत्वा महाबाहो संग्रामाभिमुखे स्थितः।
पराजयाय शत्रूणां दुर्गास्तोत्रमुदीरय॥

(महाभारत भीष्म० २३। २)

श्रीभगवान् बोले—महाबाहो! तुम युद्धके सम्मुख खड़े हो। पवित्र होकर शत्रुओंको पराजित करनेके लिये दुर्गादेवीकी स्तुति करो।

अर्जुनने वह स्तवन किया और दुर्गाजीने प्रत्यक्ष दर्शन दे उन्हें विजयका वरदान दिया।

श्रीमद्भगवद्गीता प्रथम अध्याय

दोनों सेनाओंके प्रधान-प्रधान वीरोंका वर्णन तथा स्वजन-वधके पापसे भयभीत अर्जुनका विषाद

कौरव-पाण्डवोंमें युद्ध आरम्भ हो गया । तब व्यासजीके द्वारा दिव्यदृष्टि-प्राप्त संजयसे धृतराष्ट्रने पूछा और उत्तरमें संजयने भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनको दिये गये गीता-उपदेशका वर्णन किया । इसीका नाम श्रीमद्भगवद्गीता है ।

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—हे संजय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छासे एकत्र हुए मेरे और पाण्डुपुत्रोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

दोनों सेनाओंके प्रधान-प्रधान वीरोंका परिचय

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥
अस्माकं तु विशिष्टा ये तान् निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥
भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥
अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥
अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

संजयने (उत्तरमें) कहा—उस समय राजा दुर्योधनने व्यूहरचनायुक्त पाण्डवोंकी सेनाको देखकर आचार्यके पास जाकर यह वचन कहा—॥ २ ॥ आचार्य ! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नके द्वारा व्यूहाकार सुसज्जित पाण्डुपुत्रोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये ॥ ३ ॥ इस सेनामें बड़े-बड़े धनुषोंवाले तथा युद्धमें भीम और अर्जुनके समान रण-कलामें कुशल शूरवीर सात्यकि, विराट तथा महारथी राजा द्रुपद, धृष्टकेतु और चेकितान, बलवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज और मनुष्योंमें श्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु, बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्र—ये सभी महारथी हैं ॥ ४-६ ॥ ब्राह्मणश्रेष्ठ ! हमारे पक्षमें भी जो सेनानायक (विशिष्ट योद्धा) हैं, उनको आप समझ लीजिये । आपकी जानकारीके लिये मेरी सेनाके जो-जो सेनानायक हैं, उनको बतलाता हूँ ॥ ७ ॥ आप स्वयं द्रोणाचार्य और पितामह भीष्म, कर्ण संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा, विकर्ण और सोम-दत्तके पुत्र भूरिश्रवा ॥ ८ ॥ (इनके अतिरिक्त) और भी मेरे लिये जीवनको उत्सर्ग कर देनेवाले

शूरवीर अनेक प्रकारके शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित हैं और सब-के-सब युद्ध-कलामें विशारद हैं ॥ ९ ॥ भीष्मपितामहद्वारा सुरक्षित हमारी वह सेना अपर्याप्त—(सब प्रकारसे अजेय) है और भीमद्वारा रक्षित इन लोगोंकी यह सेना पर्याप्त (विजय प्राप्त करनेमें सुगम) है ॥ १० ॥ इसलिये सब मोर्चोंपर अपनी-अपनी जगह डटे हुए आपलोग सभी भीष्मपितामहकी ही सब ओरसे भलीभाँति रक्षा करें ॥ ११ ॥

दोनों सेनाओंके वीरोंद्वारा शङ्खध्वनि

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥
ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान् दध्मुः पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

(दुर्योधनकी यह बात सुनकर) कौरवोंमें वृद्ध बड़े प्रतापवान् पितामह भीष्मने उस दुर्योधनके हृदयमें हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्चस्वरसे सिंहके नादके समान गरजकर शङ्ख बजाया । इसके पश्चात् (बहुत-से) शङ्ख, नगारे, ढोल, मृदङ्ग और रणसिंघे आदि रणवाद्य एक ही साथ बज उठे । उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ ॥ १२–१३ ॥ तदनन्तर सफेद घोड़ोंसे युक्त उत्तम रथपर विराजमान भगवान् श्रीमाधवने और अर्जुनने भी दिव्य शङ्ख बजाये ॥ १४ ॥ हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णने 'पाञ्चजन्य' नामक, अर्जुनने 'देवदत्त' नामक और भयानक कर्मवाले भीमसेनने 'पौण्ड्र' नामक महाशङ्ख बजाया ॥ १५ ॥ कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने 'अनन्तविजय' नामक, नकुल तथा सहदेवने 'सुघोष' और 'मणिपुष्पक' नामक शङ्ख बजाये। पृथ्वीपते ! फिर श्रेष्ठ धनुर्धर काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट और अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद, द्रौपदीके पाँचों पुत्र और सुभद्रापुत्र महाबाहु अभिमन्यु—इन सभीने (अपने-अपने स्थानसे) अलग-अलग शङ्ख बजाये ॥ १६–१८ ॥ वह तुमुल शङ्खघोष आकाश और पृथ्वीको भी गुँजाता हुआ धृतराष्ट्रपुत्रोंके (आपके पक्षवालोंके) हृदयोंको विदीर्ण करने लगा ॥ १९ ॥

अर्जुनके द्वारा सेना-निरीक्षण

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥
यावदेतान् निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

पृथ्वीपते ! इसके बाद कपिध्वज अर्जुनने युद्धके लिये सुसज्जित धृतराष्ट्रपक्षीय योद्धाओंको देखकर, उस शस्त्र चलनेकी तैयारीके समय, धनुष उठाकर हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णसे ये वचन कहे—'अच्युत ! मेरे रथको आप दोनों सेनाओंके बीचमें (ऐसी जगह) खड़ा कीजिये, जहाँसे युद्धकी इच्छासे सुव्यवस्थित रूपसे सुसज्जित इन विपक्षी योद्धाओंको मैं भलीभाँति देख सकूँ कि इस रणोद्योगमें मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना है । युद्धमें धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्बुद्धि दुर्योधनका हित चाहनेवाले जो ये सब लोग यहाँ एकत्र हुए हैं, युद्धके लिये प्रस्तुत इन लोगोंको मैं देखूँगा' ॥ २०–२३ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥ २५ ॥
तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा ॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

संजयने कहा—भारत ! (धृतराष्ट्र !) निद्राविजयी अर्जुनके इस प्रकार कहनेपर इन्द्रियोंके स्वामी भगवान् श्रीकृष्णने दोनों सेनाओंके बीचमें भीष्म और द्रोणाचार्यके तथा सम्पूर्ण राजाओंके सामने उत्तम रथको खड़ा करके इस प्रकार कहा—'पार्थ ! युद्धके लिये एकत्र हुए इन कुरुपक्षीय योद्धाओंको देख' ॥ २४–२५ ॥ तब पृथापुत्र अर्जुनने उन दोनों ही सेनाओंमें युद्धके लिये उपस्थित ताऊ-चाचोंको, दादों-परदादोंको, आचार्य-गुरुओंको, मामाओंको, भाइयोंको, पुत्रोंको, पौत्रोंको, मित्रोंको तथा श्वशुरोंको और सुहृदोंको देखा । उन सम्पूर्ण बन्धुओंको उपस्थित देखकर वे कुन्तीपुत्र अर्जुन अत्यन्त करुणासे युक्त होकर विषाद करते हुए ये वचन बोले ॥ २६–२७½ ॥

मोहसे व्याप्त अर्जुनके विषाद, स्नेह और युद्ध-विरतिसूचक वचन

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३०॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२॥
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥ ३३ ॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥
एतान् न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान् नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६॥
तस्मान् नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७॥

अर्जुनने कहा—श्रीकृष्ण ! युद्धके लिये समुपस्थित इस स्वजन-समुदायको देखकर मेरे सारे अङ्ग शिथिल हुए जा रहे हैं, मुख सूखा जा रहा है और मेरे शरीरमें कम्प तथा रोमाञ्च हो रहा है ॥ २८–२९ ॥ गाण्डीव-धनुष मेरे हाथसे गिर रहा है, त्वचा बहुत जल रही है और मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है । इसलिये मैं खड़ा रहनेमें भी समर्थ नहीं हूँ ॥ ३० ॥ इस प्रकार मैं सारे लक्षणोंको ही विपरीत देख रहा हूँ । केशव ! युद्धमें स्वजन-समुदायको मारकर मैं कोई कल्याण भी नहीं देखता ॥ ३१ ॥ श्रीकृष्ण ! मैं न तो विजय चाहता हूँ और न राज्य या सुखोंको ही । गोविन्द ! हमें ऐसे राज्यसे, ऐसे भोगोंसे और जीवनसे भी क्या प्रयोजन है ? ॥ ३२ ॥ हमें जिनके लिये राज्य, भोग और सुख आदि आकाङ्क्षित हैं, वे ही ये सब गुरुजन, ताऊ-चाचे, पुत्र, पौत्र, दादे, मामे, श्वशुर, साले तथा अन्यान्य सम्बन्धी प्राण और धनका परित्याग करके युद्धमें प्रस्तुत हैं ॥ ३३–३४ ॥ मधुसूदन ! इनके द्वारा मारे जानेपर भी अथवा तीनों लोकोंके राज्यके लिये भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता; फिर पृथ्वीके लिये तो बात ही क्या है ? ॥ ३५ ॥ जनार्दन ! धृतराष्ट्रपक्षीय लोगोंको मारकर हमें क्या प्रसन्नता (सुख-प्राप्ति) होगी ? इन आततायियोंको मारनेसे हमें तो पाप ही लगेगा ॥ ३६ ॥ अतएव हे माधव ! धृतराष्ट्रपक्षीय इन अपने ही बान्धवोंको मारना हमारे लिये योग्य नहीं है; क्योंकि अपने ही स्वजन-समुदायको मारकर हम कैसे सुखी होंगे ? ॥ ३७ ॥

कुलक्षयजनित दोषोंका वर्णन

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९॥
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४०॥
अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४॥

अहो बत महत् पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद् राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५॥
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६॥

यद्यपि लोभके कारण जिनकी विचारशक्ति नष्ट हो गयी है, ऐसे ये लोग कुल-नाशजनित दोषको और मित्र-द्रोहसे उत्पन्न पापको नहीं देख पा रहे हैं; परंतु जनार्दन ! कुलके नाशसे उत्पन्न दोषको जाननेवाले हमलोगोंको इस पापसे बचनेका उपाय क्यों नहीं सोचना चाहिये ? ॥ ३८–३९ ॥ कुलका नाश होनेपर सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्मका नाश हो जानेपर सम्पूर्ण कुलमें अधर्म सब ओरसे छा जाता है। श्रीकृष्ण ! अधर्म छा जानेपर कुलकी स्त्रियाँ अत्यन्त दूषित हो जाती हैं और वार्ष्णेय ! स्त्रियोंके दूषित हो जानेपर वर्णसंकर उत्पन्न होता है। वह वर्णसंकर कुलघातियों और कुलको नरकमें ले जानेवाला होता है। कुलमें पिण्ड और जलदानकी क्रिया (श्राद्ध-तर्पणके) लुप्त हो जानेपर इनके पितरलोग भी अधोगतिको प्राप्त हो जाते हैं। कुलघातियोंके इन वर्णसंकरकारक दोषोंसे सनातन कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं और जनार्दन ! जिनके कुल धर्म नष्ट हो जाते हैं, ऐसे मनुष्योंका अनिश्चित कालके लिये नरकमें निवास होता है, ऐसा हम सुनते आये हैं ॥ ४०–४४ ॥ अहो ! बड़े शोककी बात है, हमलोगोंने बुद्धिमान् होकर भी बहुत बड़ा पाप करनेका निश्चय कर लिया है, जो राज्य और सुखके लोभसे स्वजनोंका संहार करनेके लिये उद्यत हो गये हैं ॥ ४५ ॥ यदि मुझ सामना न करनेवाले शस्त्ररहितको शस्त्रधारी धृतराष्ट्रके पुत्र रणमें मार डालें, तो वह भी मेरे लिये विशेष कल्याणकारक होगा ॥ ४६ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७॥

संजय बोले—रणभूमिमें इस प्रकार कहकर, शोकसे उद्विग्न मनवाले अर्जुन बाणसहित धनुषको त्यागकर रथके पिछले भागमें बैठ गये ॥ ४७ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'अर्जुनविषादयोग' नामक प्रथम अध्याय (महाभारत भीष्मपर्व अध्याय २५)

श्रीमद्भगवद्गीता द्वितीय अध्याय

अर्जुनको युद्धके लिये उत्साहित करते हुए भगवान्के द्वारा नित्यानित्य वस्तुके विवेचन-पूर्वक सांख्ययोग, कर्मयोग एवं स्थितप्रज्ञकी स्थिति और महिमाका प्रतिपादन

अर्जुनकी युद्ध-विरतिके सम्बन्धमें श्रीकृष्णार्जुनका संवाद

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

संजय बोले—इस प्रकार करुणासे व्याप्त और आँसुओंसे पूर्ण, व्याकुल नेत्रोंवाले शोकयुक्त उस अर्जुनके प्रति भगवान् मधुसूदनने यह वचन कहा ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत् त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन ! तुझे इस असमय (संकटके समय-) में यह मोह किस हेतुसे प्राप्त हुआ ? न तो यह श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा आचरित है, न स्वर्गदायक है और न कीर्ति ही करनेवाला है ॥ २ ॥ पार्थ ! नपुंसकताको मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ती। परंतप ! हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर तू युद्धके लिये खड़ा हो जा ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥
गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।

हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥
न चैतद् विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद् वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

अर्जुन बोले—मधुसूदन ! मैं रणभूमिमें बाणोंके द्वारा भीष्मपितामह और द्रोणाचार्यके विरुद्ध किस प्रकार लड़ूँगा ? अरिसूदन ! ये दोनों ही पूजनीय हैं ॥ ४ ॥ इन महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर मैं इस लोकमें भिक्षाका अन्न भी खाना कल्याणकारक समझता हूँ; क्योंकि इन गुरुजनोंको मारकर भी इस लोकमें रुधिरसे सने हुए अर्थकामरूप भोगोंको ही तो भोगूँगा ॥ ५ ॥ फिर, हम यह भी तो नहीं जानते कि हमारे लिये युद्ध करना श्रेष्ठ है या न करना । अथवा यह भी नहीं जानते कि उन्हें हम जीतेंगे या वे हमको जीतेंगे और जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही हमारे आत्मीय धृतराष्ट्रके पुत्र हमारे सामने डटकर खड़े हैं ॥ ६ ॥ (इन्हें देखकर) कायरतारूप दोषसे मेरा (क्षत्रिय-) स्वभाव उपहत हो गया है तथा धर्मके विषयमें मेरा चित्त मोहित हो गया है । अतः मैं आपसे पूछ रहा हूँ कि मेरे लिये जो कल्याणकारक निश्चित साधन हो, वह मुझे बतलाइये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, आपके शरणापन्न हुए मुझ दीनको शिक्षा दीजिये ॥ ७ ॥ निश्चय ही सारी पृथ्वीका निष्कण्टक धन-धान्यसम्पन्न राज्य और देवताओंके आधिपत्य-को प्राप्त होकर भी मैं उस उपायको नहीं देखता हूँ, जो मेरी इन्द्रियोंके सुखानेवाले शोकको दूर कर सके ॥ ८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

संजय बोले—राजन् ! निद्राको जीतनेवाले अर्जुन अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहकर, फिर श्रीगोविन्दसे यह स्पष्ट कहकर कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' चुप हो गये ॥ ९ ॥ भरतवंशी धृतराष्ट्र ! तब अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णने दोनों सेनाओंके बीचमें शोक करते हुए उस अर्जुनसे हँसते हुए-से ये वचन कहे ॥ १० ॥

सांख्ययोग

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥
न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥
देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥
मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥
अविनाशि तु तद् विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥
न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन ! तू न शोक करनेयोग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंकी-सी बातें भी बना रहा है, परंतु पण्डितजन, जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिये भी शोक नहीं करते ॥ ११ ॥ क्योंकि वास्तवमें—न तो ऐसा ही है कि मैं पहले कभी नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे ॥ १२ ॥ इस देहमें जैसे जीवात्माको बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था प्राप्त होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; इस बातको समझनेवाला धीर पुरुष मोहित नहीं होता (शोक नहीं करता) ॥ १३ ॥ कुन्तीपुत्र ! सर्दी-गरमी और सुख-दुःखके देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं; इसलिये भारत ! इनको तू सहन कर; क्योंकि पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग व्याकुल नहीं करते, वह अमृतत्व—मोक्षके योग्य होता है ॥ १४-१५ ॥ असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है । इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंके द्वारा देखा गया है ॥ १६ ॥ उस (चेतन आत्मतत्त्व-) को तू नाशरहित जान, जिससे यह सम्पूर्ण (जड) जगत्—दृश्यवर्ग व्याप्त है । इस अविनाशीका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है ॥ १७ ॥ इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर अन्तवाले—नाशवान् कहे गये हैं । इसलिये भरतवंशी अर्जुन ! तू युद्ध कर ॥ १८ ॥ जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तवमें न तो किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जाता है ॥ १९ ॥ यह आत्मा न तो किसी कालमें जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है । शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता है ॥ २० ॥ पृथापुत्र अर्जुन ! जो पुरुष इस आत्माको अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है ? ॥ २१ ॥ जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥
अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥
आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥
देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

इस आत्माको शस्त्र नहीं काट सकते, इसको आग नहीं जला सकती, इसको जल नहीं गला सकता और वायु नहीं सुखा सकता ॥ २३ ॥ क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य है; यह अदाह्य, अक्लेद्य और निःसंदेह अशोष्य है और यह नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है ॥ २४ ॥ यह आत्मा अव्यक्त है, अचिन्त्य है और विकाररहित कहा जाता है । इससे अर्जुन ! इस आत्माको उपर्युक्त प्रकारसे जानकर तू शोक करनेके योग्य नहीं है (तुझे शोक करना उचित नहीं है) ॥२५॥ किंतु यदि तू इस आत्माको सदा जन्मनेवाला तथा सदा मरनेवाला मानता हो, तो भी महाबाहो ! तू इस प्रकार शोक करनेके योग्य नहीं है; क्योंकि इस मान्यताके अनुसार जन्मे हुएकी मृत्यु निश्चित है और मरे हुएका जन्म निश्चित है । इससे भी इस अपरिहार्य विषयमें तू शोक करनेके योग्य नहीं है ॥ २६-२७ ॥ अर्जुन ! सम्पूर्ण प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद भी अप्रकट हो जानेवाले हैं, केवल बीचमें ही प्रकट हैं; ऐसी स्थितिमें किस बातका शोक करना है ? ॥२८॥ कोई एक महापुरुष ही इस आत्माको आश्चर्यकी भाँति देखता है, वैसे ही दूसरा कोई महापुरुष ही इसके तत्त्वका आश्चर्यकी भाँति वर्णन करता है और दूसरा कोई अधिकारी पुरुष ही इसे आश्चर्यकी भाँति सुनता है और कोई-कोई तो सुनकर भी इसको नहीं जानता है ॥२९॥ अर्जुन ! यह आत्मा सबके शरीरमें सदा ही अवध्य है । इस कारण सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये तू शोक करनेके योग्य नहीं है ॥ ३० ॥

क्षात्र-धर्मके अनुसार युद्धकी उपादेयता

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते॥३१॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥
अथ चेत् त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥
भयाद् रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥
अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

(इसके अतिरिक्त,) अपने (क्षत्रिय-) धर्मको देखकर भी तुझे युद्धसे काँप जाना नहीं चाहिये; क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मरूप युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है ॥ ३१ ॥ पार्थ ! अपने-आप प्राप्त यह (स्वधर्मरूप युद्ध) स्वर्गके खुले हुए द्वार-रूप है । इस प्रकारके युद्धको भाग्यवान् क्षत्रिय ही पाते हैं ॥३२॥ अब यदि तू यह धर्मयुक्त युद्ध नहीं करेगा तो अपने धर्म और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होगा ॥ ३३ ॥ सब लोग तेरी सदा रहनेवाली अकीर्तिकी भी बातें करेंगे और प्रतिष्ठित पुरुषके लिये अकीर्ति मरणसे भी बढ़कर है ॥ ३४ ॥ जिनकी दृष्टिमें तू बहुत सम्मानित है, उन्हींमें अब तू लघुताको प्राप्त होगा । वे महारथी तुझे भयके कारण युद्धसे हटा हुआ मानेंगे ॥ ३५ ॥ तेरे वैरी तेरे सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए तुझे बहुत-से न कहने योग्य दुर्वचन भी कहेंगे; इससे अधिक दुःख और क्या होगा ? ॥ ३६ ॥ यदि तू युद्धमें मारा गया तो स्वर्गको प्राप्त होगा अथवा संग्राममें जीतकर पृथ्वीका राज्य भोगेगा । इस कारण कुन्तीपुत्र अर्जुन ! तू युद्धके लिये निश्चय करके खड़ा हो जा ॥३७॥ सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजयको समान

समझकर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा, इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा ॥ ३८ ॥

निष्काम कर्मयोग

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥४५॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

पार्थ ! यह बुद्धि तुझे ज्ञानयोगके विषयमें कही गयी । अब तू इसको कर्मयोगके विषयमें सुन—जिस बुद्धिसे युक्त होकर तू कर्मबन्धनको भलीभाँति नष्ट कर सकेगा ॥३९॥ इस कर्मयोगमें आरम्भका (बीजका) नाश नहीं है और प्रत्यवाय भी नहीं है; बल्कि इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन महान् भयसे त्राण कर देता है ॥ ४० ॥ अर्जुन ! इस कर्मयोगमें निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है; किंतु निश्चयहीन अविवेकी सकाम मनुष्योंकी बुद्धियाँ निश्चय ही बहुत भेदोंवाली और अनन्त होती हैं ॥ ४१ ॥ अर्जुन ! जो भोगोंमें तन्मय हो रहे हैं, कर्मफलके प्रशंसक वेदवाक्योंमें ही प्रीति रखते हैं; जिनकी बुद्धिमें स्वर्ग ही परम प्राप्य वस्तु है और जो स्वर्गसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है—ऐसा कहनेवाले हैं—वे अविवेकीजन इस प्रकारकी पुनर्जन्मरूप कर्मफल देनेवाली एवं भोग-ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये नाना प्रकारकी बहुत-सी क्रियाओंका वर्णन करनेवाली है, जिस पुष्पिता (दिखाऊ शोभायुक्त) वाणीको कहा करते हैं, ऐसी उस वाणीद्वारा जिनका चित्त हर लिया गया है तथा जो भोग-ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन मनुष्योंके अन्तःकरणमें निश्चयात्मिका बुद्धि उत्पन्न नहीं होती ॥४२–४४॥ अर्जुन ! वेद (सत्, रज और तम—इन) तीनों गुणोंके कार्यरूप समस्त भोगों एवं उनके साधनोंका प्रतिपादन करनेवाले हैं; इसलिये तू उन भोगों एवं उनके साधनोंमें आसक्तिहीन, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे रहित, नित्य विशुद्ध-सत्त्वरूप परमात्मामें स्थित योग (सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति) तथा क्षेम (उनकी रक्षा-) को न चाहनेवाला आत्मपरायण हो ॥ ४५ ॥ सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयके प्राप्त हो जानेपर छोटे जलाशयमें मनुष्यका जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्मको तत्त्वसे जाननेवाले ब्राह्मणका समस्त वेदोंमें उतना-सा ही प्रयोजन रह जाता है ॥ ४६ ॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥४८॥
दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥५०॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

तेरा कर्मोंमें ही अधिकार है, उनके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलकी वासनावाला मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो ॥ ४७ ॥ धनंजय ! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समबुद्धि होकर योगमें स्थित हुआ कर्त्तव्य कर्मोंको कर। यह 'समत्व' ही योग कहलाता है ॥ ४८ ॥ इस समत्वरूप बुद्धियोगकी अपेक्षा अन्य सकाम कर्म अत्यन्त ही तुच्छ है। इसलिये धनंजय ! तू समत्व-रूप बुद्धियोगका ही आश्रय ग्रहण कर; क्योंकि फलकी वासनावाले अत्यन्त दीन हैं ॥ ४९ ॥ समत्वबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनोंको इसी लोकमें त्याग देता है (उनसे मुक्त हो जाता है)। इससे तू समत्वबुद्धि-रूप योगमें लग जा; यह समत्वरूप योग ही कर्मोंमें कुशलता है (कर्मबन्धनसे छूटनेका उपाय है) ॥ ५० ॥ समत्वबुद्धिसे युक्त ज्ञानीजन कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलको त्यागकर जन्मरूप बन्धनसे मुक्त हो निरामय परमपदको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ५१ ॥ यों करते-करते जब तेरी बुद्धि मोहरूप दलदलको भलीभाँति पार कर जायगी, उस समय तू सुने हुए और भविष्यमें सुने जानेवाले इस लोक और परलोकके सभी भोगोंसे विरक्त हो जायगा ॥ ५२ ॥ भाँति-भाँतिके वचनोंको सुननेसे विचलित हुई तेरी बुद्धि जब शुद्ध-सत्त्वरूप परमात्मामें अचल और स्थिर ठहर जायगी, तब तू योगको प्राप्त हो जायगा ॥ ५३ ॥

स्थितप्रज्ञ पुरुषके लक्षण और उसका महत्त्व

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

अर्जुनने कहा—केशव ! समाधिमें स्थित स्थिरबुद्धि पुरुषका क्या लक्षण है ? वह स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है ? ॥ ५४ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

श्रीभगवान्ने उत्तर दिया—पार्थ! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥५५॥ दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंके लिये जो सर्वथा निःस्पृह रहता है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नहीं रहते हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है ॥ ५६ ॥ जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तुको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है ॥ ५७ ॥ जैसे कछुवा सब ओरसे अपने अङ्गोंको समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष इन्द्रियोंको इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकारसे समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर है (ऐसा समझना चाहिये) ॥ ५८ ॥ निराहारी (इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको

ग्रहण न करनेवाले) पुरुषके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं; परंतु उनमें रहनेवाला रस (विषयासक्ति) निवृत्त नहीं होता। (पर) इस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी तो विषयासक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है ॥५९॥ अर्जुन ! आसक्तिका नाश न होनेके कारण ये प्रमथनस्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलपूर्वक हर लेती हैं ॥ ६० ॥ इसलिये साधकको चाहिये कि वह मेरे परायण होकर—भगवत्परायण होकर* उन समस्त इन्द्रियोंका संयम करके समाहित-चित्तसे बैठे; क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है ॥ ६१ ॥

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ।६२।
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।६३।
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥
तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

* बाहरसे विषयोंका त्याग होनेपर भी भीतर उनका चिन्तन होता रहता है। वस्तुतः भगवत्परायण होनेपर ही भगवत्कृपासे जब इन्द्रियाँ भगवद्विषयोंमें लगती हैं, तभी मनसे भगवान्‌का चिन्तन होता है । नहीं तो, विषयचिन्तन होता रहता है और वह सर्वनाशका कारण बन जाता है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥
विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे अत्यन्त मूढ़भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ़भावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेपर यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है—उसका सर्वनाश हो जाता है ॥ ६२-६३ ॥ परंतु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी विमलताको—प्रसन्नताको प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी निर्मलता—प्रसन्नतासे सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले पुरुषकी बुद्धि शीघ्र ही (सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति) स्थिर हो जाती है ॥ ६४-६५ ॥ अयुक्त (मन-इन्द्रियोंपर विजय नहीं प्राप्त किये हुए) पुरुषमें न तो (आत्मस्थितिरूप) बुद्धि होती है और न उस अयुक्तके अन्तःकरणमें भावना ही होती है तथा भावनाहीन मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित मनुष्यको सुख कहाँ मिल सकता है ? ॥ ६६ ॥ जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता

है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है ॥ ६७ ॥ अतएव महाबाहो ! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकारसे निग्रह की हुई हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है ॥ ६८ ॥ सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये जो रात्रिके समान है, उसमें नित्य-ज्ञानस्वरूप परमानन्दकी प्राप्तिमें स्थितप्रज्ञ योगी जागता है और जिस नाशवान् सांसारिक सुखकी प्राप्तिमें सब प्राणी जागते हैं, परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले मुनिके लिये वह रात्रिके समान है ॥ ६९ ॥ जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका क्षोभ उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंकी कामनावाला नहीं ॥ ७० ॥ जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर, स्पृहारहित, ममतारहित और अहंकाररहित होकर विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥ पार्थ ! यह ब्राह्मी स्थिति है—ब्रह्मको प्राप्त पुरुषकी स्थिति है; इसको प्राप्त होकर वह कभी मोहित नहीं होता और अन्तकालमें भी इस ब्राह्मी स्थितिमें स्थित होकर निर्वाणको—ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है ॥ ७२ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता 'सांख्ययोग' नामक द्वितीय अध्याय (महाभारत भीष्मपर्व अध्याय २६) ।

श्रीमद्भगवद्गीता तृतीय अध्याय

ज्ञानयोग और कर्मयोग आदि समस्त साधनोंके अनुसार कर्तव्य-कर्म करनेकी आवश्यकताका प्रतिपादन, स्वधर्मपालनकी महिमा तथा कामनिरोधके उपायका वर्णन

ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोगके अनुसार अनासक्त भावसे नियत कर्म करनेकी श्रेष्ठता

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

अर्जुन बोले—जनार्दन ! यदि आप कर्मकी अपेक्षा बुद्धि (ज्ञान) को श्रेष्ठ मानते हैं, तो फिर केशव ! मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं ? ॥ १ ॥ आप इन मिले हुए-से वचनोंसे मेरी बुद्धिको मानो मोहित कर रहे हैं । अतएव एक निश्चित बात बतलाइये, जिससे मैं कल्याणको प्राप्त होऊँ ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥
न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

श्रीभगवान् बोले—निष्पाप अर्जुन ! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है। उनमें सांख्ययोगियोंकी ज्ञानयोगसे और योगियोंकी कर्मयोगसे (सम्पन्न) होती है ॥ ३ ॥ मनुष्य न तो कर्मोंके अनारम्भसे निष्कर्मता (योगनिष्ठा) को प्राप्त

होता है और न कर्मोंके त्याग मात्रसे ही सिद्धि (सांख्यनिष्ठा) को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥ क्योंकि कोई भी क्षणभर भी बिना कर्म किये नहीं रहता; सारा मनुष्य-समुदाय प्रकृतिजनित गुणोंसे विवश होकर कर्म करनेको बाध्य होता है ॥ ५ ॥ जो मनुष्य कर्मेन्द्रियोंको हठपूर्वक रोककर मनसे उन इन्द्रियोंके विषयोंका स्मरण करता रहता है, वह मूढात्मा मिथ्याचारी कहलाता है ॥ ६ ॥ अर्जुन ! जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्त होकर समस्त इन्द्रियों-द्वारा कर्मयोगका आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है ॥७॥ (अतः) तू नियत (शास्त्रविहित कर्तव्य-) कर्म कर; क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है और कर्म न करनेसे तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा ॥ ८ ॥

यज्ञादि कर्म करनेकी आवश्यकता

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥
अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

यज्ञके (भगवत्सेवा या भगवान्‌के) लिये किये जानेवाले कर्मोंसे अतिरिक्त दूसरे कर्मोंमें लगा हुआ यह मनुष्यसमुदाय कर्म-बन्धनसे बँध जाता है । इसलिये अर्जुन ! तू आसक्तिरहित होकर उस यज्ञके लिये ही कर्मका भलीभाँति आचरण कर ॥ ९ ॥ प्रजापतिने कल्पके आदिमें यज्ञसहित प्रजाओंको रचकर कहा था कि 'तुमलोग इस (यज्ञ-) के द्वारा फूलो-फलो और यह यज्ञ तुमलोगोंको इच्छित भोग प्रदान करनेवाला हो । तुमलोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमलोगोंको उन्नत करें ।' इस प्रकार निःस्वार्थ-भावसे एक दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे । यज्ञके द्वारा समुन्नत देवता तुमलोगोंको बिना माँगे ही इच्छित भोग देते रहेंगे । उन देवताओंके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष उनको बिना दिये स्वयं भोगता है वह निश्चय ही चोर है ॥१०—१२॥ यज्ञसे बचे हुए (पदार्थों-) को खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं; परंतु जो मनुष्य (केवल) अपने पोषणके लिये ही पकाते (कमाते) हैं, वे तो पापको ही खाते हैं ॥१३॥ अन्नसे सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ (विहित) कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला है । कर्मसमुदायको तू वेदसे उत्पन्न और वेदको अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ जान । इससे सिद्ध होता है कि सर्वव्यापी अक्षर ब्रह्म (परमात्मा) सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है ॥ १४-१५ ॥ पार्थ ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टिचक्रके अनुकूल नहीं चलता है; (अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता है,) वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापजीवन मनुष्य व्यर्थ ही जीता है ॥ १६ ॥

ज्ञानवान् और भगवान्‌के लिये भी लोक-संग्रहार्थ कर्म करनेका प्रतिपादन

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि ॥२०॥
यद्‌ यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

अवश्य ही जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही संतुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है; क्योंकि उस महापुरुषका न तो इस लोकमें कर्म करनेसे कोई प्रयोजन है और न कर्मोंके न करनेसे ही । सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी उसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थ-सम्बन्ध नहीं रहता ॥१७-१८॥ इसलिये तू निरन्तर आसक्तिरहित होकर कर्तव्य-कर्मका भलीभाँति आचरण करता रह; क्योंकि आसक्ति-से रहित होकर कर्म करता हुआ ही मनुष्य परमात्मा-को प्राप्त हो जाता है ॥ १९ ॥ जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मके आचरणसे परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे । इसलिये, तथा लोकसंग्रहको देखते हुए भी तुझे कर्म ही करने चाहिये ॥ २० ॥ श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, दूसरे लोग भी उसीका अनुकरण करके वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं । वह (अपने आचरणद्वारा) जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है ॥ २१ ॥ अर्जुन ! यद्यपि मेरे लिये इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न किसी अप्राप्त वस्तुको मुझे प्राप्त ही करना है; तथापि मैं कर्ममें ही बर्तता हूँ ॥ २२ ॥ निश्चय ही पार्थ ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्ममें न प्रवृत्त होऊँ, तो (मेरी देखादेखी सब लोग कर्तव्य-कर्म छोड़ दें; क्योंकि) सब मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं ॥ २३ ॥ और यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं वर्णसंकरताका करनेवाला बनूँ तथा इस सारी प्रजाको नष्ट करनेवाला होऊँ ॥ २४ ॥

अज्ञानी और ज्ञानीके लक्षण तथा रागद्वेषरहित कर्मके लिये प्रेरणा

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥२६॥
प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥
तत्त्ववित् तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥
प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥
ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

इसलिये भारत ! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान्—ज्ञानीको भी लोकसंग्रह चाहते हुए उसी प्रकार कर्म करने चाहिये ॥ २५ ॥ परमात्माके स्वरूपमें अटल स्थित हुए ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि वह शास्त्रविहित कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भेद (कर्मोंमें अश्रद्धा) उत्पन्न न करे; बल्कि स्वयं शास्त्रविहित समस्त कर्म भलीभाँति करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवावे ॥ २६॥ यद्यपि सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं; तथापि जिसका अन्तःकरण अहंकारसे मोहित हो रहा है, वह अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं कर्ता हूँ ॥ २७ ॥ परंतु महाबाहो ! गुणविभाग और कर्मविभागके तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानयोगी सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, ऐसा समझकर उनमें आसक्त नहीं होता ॥ २८ ॥ प्रकृतिके गुणोंसे मोहित मनुष्य गुणोंमें और कर्मोंमें आसक्त रहते हैं, उन पूर्णतया न समझनेवाले मन्दबुद्धि अज्ञानियोंको पूर्णतया जाननेवाला ज्ञानी विचलित न करे ॥ २९ ॥ (अतः) मुझ (भगवान्-) में लगे हुए चित्तके द्वारा सब कर्मोंको मुझमें निक्षेप करके आशारहित, ममतारहित और संतापरहित (कामनाके ज्वरसे रहित) होकर तू युद्ध कर ॥ ३० ॥ जो मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मतका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सब कर्मोंसे छूट जाते हैं ॥ ३१ ॥ परंतु जो मुझमें दोषारोपण करते हुए मेरे मतके अनुसार नहीं चलते, उन मूर्खोंको तू सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित और नष्ट हुए ही समझ ॥ ३२ ॥ सभी प्राणी प्रकृति (स्वभाव-) के अनुसार चलते हैं । ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, फिर इसमें कोई क्या निग्रह करेगा ? ॥ ३३ ॥ इन्द्रिय-इन्द्रियके विषयमें राग-द्वेष छिपे हुए स्थित हैं । मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याण-धनको लूट लेनेवाले बटमार शत्रु हैं ॥ ३४ ॥ अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए पराये धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है । अपने धर्ममें मरना भी श्रेष्ठ है; परंतु पराया धर्म भयकारक है ॥ ३५॥

पापमें कारण काम; और कामके निरोधका साधन

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६॥

अर्जुन बोले—श्रीकृष्ण ! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किसके द्वारा प्रेरित होकर पापका आचरण करता है ? ॥ ३६ ॥

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥
तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—रजोगुण (विषयासक्तिरूप रज—राग)से उत्पन्न यह काम ही (प्रतिहत होने-पर) क्रोध बनता है, यह काम (विषयोंकी कामना) बहुत खानेवाला (भोगोंसे कभी न अघानेवाला) और

बड़ा पापी है, इसीको तू इस विषयमें वैरी जान ॥३७॥ जिस प्रकार धुएँसे अग्नि और मैलसे दर्पण ढका जाता है तथा जिस प्रकार जेरसे गर्भ ढका रहता है, वैसे ही उस कामके द्वारा यह ज्ञान ढका रहता है॥३८॥ कुन्तीपुत्र अर्जुन ! इस अग्निके समान कभी न पूर्ण होनेवाले कामरूप ज्ञानियोंके नित्य वैरीके द्वारा ज्ञान ढका हुआ है ॥ ३९ ॥ इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—ये सब इस (काम-) के वासस्थान कहे जाते हैं। यह काम इनके (मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके) द्वारा ही ज्ञानको ढककर जीवात्माको मोहित करता है ॥ ४० ॥ इसलिये भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! तू पहले इन्द्रियोंको वशमें करके इस ज्ञान-विज्ञानका नाश करनेवाले महान् पापी कामको अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल ॥ ४१ ॥ इन्द्रियोंको स्थूल शरीरसे (ज्ञानेन्द्रियोंको कर्मेन्द्रियोंसे) पर—श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं; इन इन्द्रियोंसे पर मन है, मनसे भी पर बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त पर है, वह आत्मा है (वह आत्मा तेरा स्वरूप है; अतः तू इस कामको मारनेमें समर्थ है ।) ॥ ४२ ॥ इस प्रकार बुद्धिसे पर अर्थात् सूक्ष्म, बलवान् और अत्यन्त श्रेष्ठ आत्माको जानकर और बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके, हे महाबाहो ! तू इस कामरूप दुर्जय शत्रुको मार डाल ॥४३॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'कर्मयोग' नामक तृतीय अध्याय (महाभारत भीष्मपर्व अध्याय २७)।

श्रीमद्भगवद्गीता चतुर्थ अध्याय

अवतार-रहस्य, सगुण भगवान्का प्रभाव, निष्काम कर्मयोग तथा योगी महात्मा पुरुषोंके आचरण और उनकी महिमाका वर्णन करते हुए विविध यज्ञों एवं ज्ञानकी महिमाका वर्णन

अवतार-रहस्य और निष्काम कर्मयोग

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् बोले—मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे कहा था, सूर्यने (अपने पुत्र) वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने (अपने पुत्र राजा) इक्ष्वाकुसे कहा ॥ १ ॥ परंतप अर्जुन ! इस प्रकार परम्परासे प्राप्त इस योगको राजर्षियोंने जाना; किंतु उसके बाद वह योग बहुत कालसे इस पृथ्वीलोकमें लुप्तप्राय हो गया ॥ २ ॥ तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिये वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझको कहा है; क्योंकि यह अति उत्तम रहस्य है ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद् विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४॥

अर्जुन बोले—आपका जन्म तो पीछे (अभी) हुआ है और सूर्यका जन्म बहुत पहलेका है (वह कल्पके आदिमें हो चुका था); तब मैं इस बातको कैसे समझूँ कि आपने ही कल्पके आदिमें सूर्यसे यह योग कहा था ? ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९॥

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं। उन सबको मैं जानता हूँ, तू नहीं जानता ॥ ५॥ मैं अजन्मा, अविनाशीस्वरूप तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर रहते हुए अपनी प्रकृतिमें अधिष्ठित रहकर अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ * ॥ ६॥ भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपनेको उपर्युक्त रूपमें प्रकट करता हूँ। साधुपुरुषोंका परित्राण करनेके लिये, पापकर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ † ॥ ७-८॥ अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य (अप्राकृत-अलौकिक) हैं, इस प्रकार

* यहाँ भगवान्ने अवताररूपसे प्रकट अपने अप्राकृत दिव्य स्वरूपका परिचय दिया है। वे अजन्मा रहते हुए ही जन्म लेते-से दीखते हैं, अव्ययात्मा—अविनाशी रहते हुए ही अप्रकट हो जाते हैं और अनन्त लोकोंके अनन्त प्राणियोंके सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं-समर्थ' महान् ईश्वर रहते हुए ही माता-पिता, बन्धु-बान्धव आदिके तथा प्रेमी भक्तोंके पराधीन-से प्रतीत होते हैं। प्राकृत जगत्में अप्राकृत लीला करनेके लिये भगवान् अपनी प्रकृतिमें अधिष्ठित रहकर 'अपनी माया' (आत्ममाया-) से प्रकट होते हैं।

भगवान्की तीन प्रकृतियाँ हैं—(१) जगद्रूप अष्टधा 'अपरा प्रकृति', (२) जीवभूत चेतन 'परा प्रकृति', जो अखिल जगत्को धारण करती है और (३) उनकी अपनी प्रकृति (स्वां प्रकृतिम्), जिसमें लीलाके समय भगवान् अधिष्ठित रहते हैं। यह अन्तरङ्गा—विशुद्ध भगवत्स्वरूपा है।

इसी प्रकार भगवान्की मायाके भी अनेक रूप हैं; पर जिस मायासे भगवान् स्वयं लीला-सम्पादन करते हैं वह माया भगवान्की निजी माया है। इसीका नाम 'योगमाया' अथवा भगवान्की 'स्वरूपभूता लीला' है। यह योगमाया ही भगवान्की लीलाकी सारी व्यवस्था करती है। रासलीलाके प्रारम्भमें इसी 'योगमाया'का समाश्रयण किया गया था—'योगमायामुपाश्रितः।' इसी निजस्वरूपभूता योगमायासे भगवान् अपनेको छिपाये भी रखते हैं—'योगमायासमावृतः'।' (अ० ७। २५)

† भगवान्ने अवतारके तीन हेतु बतलाये हैं—'साधुओंका परित्राण,' 'दुष्कृतोंका विनाश' और 'धर्मका संस्थापन।' 'स्वयं भगवान्'के इस पूर्णावतारमें अन्यान्य अवतारी रूपोंका भी समावेश है। अतएव भगवान्के द्वारा निश्चय ही पापात्मा राजाओंके रूपमें प्रकट असुरोंका और उनके अनुगामी आसुरीभावापन्न दुष्कृतोंका विनाश, इन दुराचारियोंके द्वारा संत्रस्त सदाचारी साधुप्रकृति पुरुषोंका परित्राण और पापाचारियोंके द्वारा प्रचलित अधर्मका विध्वंस करके विशुद्ध सनातन मानवधर्मकी भलीभाँति स्थापना—ये तीन मङ्गलमय कार्य सुसम्पन्न होते हैं।

इन तीनोंका एक दूसरा रूप भी है। स्वयं भगवान् अपने इस अखिल-रसामृतमूर्ति, अचिन्त्य-अनिर्वचनीय परस्परविरोधी-गुण-धर्माश्रयस्वरूप, घनीभूत परम-प्रेमानन्द-सुधामय मधुर मनोहर दिव्य चिन्मय लीला-विग्रहके द्वारा उन साधुओंका परित्राण करते हैं, जो अपने परम प्रियतम भगवान्के मङ्गलमय-रसमय प्रेम एवं परमानन्द-रसमय दर्शनकी तीव्रतम महती उत्कण्ठासे अतुलनीय विरह-वेदनाका अनुभव कर रहे हैं और अपने जीवनके एक-एक पलको भीषण विरहानलकी भयानक ज्वालामें दग्ध होते बिता रहे हैं।

इसी प्रकार भगवान् उन दुष्कृतोंका, उन भाग्यवान् असुरोंके देहोंका विनाश करके उन्हें सहज ही अपने परम कल्याणरूप परम धाममें पहुँचा देते हैं, जो केवल भगवान्के ही मङ्गलमय दिव्य करकमलोंके द्वारा देहत्याग करके भगवान्के दिव्य धाममें पहुँचनेके अधिकारी बन चुके हैं।

और धर्मके संस्थापनका अभिप्राय यह है कि भगवान् उस काम-कलुषित मोहविजृम्भित विषय-सेवनरूप अधर्मके अभ्युत्थानको ध्वंसकर, भुक्ति-मुक्तिकी वाञ्छाके सहज सर्वत्यागसे सुसम्पन्न, परम उत्कृष्ट, असमोर्ध्व मधुर विशुद्ध प्रेमधर्मकी स्थापना करते हैं।

प्रेमीजनोंकी मान्यतामें भगवान्के अवतारके यही तीन प्रधान कार्य हैं।

जो तत्त्वसे जान लेता है वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता; वह मुझे ही प्राप्त होता है * ॥ ९ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥
काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात् त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥
किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत् ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।१६।
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

पहले भी जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गये थे और जो मुझमें अनन्य प्रेमपूर्वक स्थित रहते थे, ऐसे मेरे आश्रित रहनेवाले बहुत-से भक्त उपर्युक्त मेरे जन्म-कर्मके तत्त्वज्ञान-रूप तपसे पवित्र होकर मेरे भावको प्राप्त हो चुके हैं ॥ १० ॥ जो मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ। अर्जुन ! सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं ॥ ११ ॥ इस मनुष्यलोकमें कर्मोंके सिद्धि—(कर्मोंके फल) को चाहनेवाले (सकाम) लोग देवताओंका पूजन किया करते हैं; क्योंकि उनको कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धि यहाँ शीघ्र ही मिल जाती है ॥ १२ ॥ (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन) चार वर्णोंका समूह गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है । इस प्रकार उसका कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्ता ही जान ॥ १३ ॥ न तो मुझे कर्म लिपायमान करते हैं और न मुझे कर्मोंके फलमें स्पृहा ही है—इस प्रकार जो मुझे भलीभाँति जान लेता है, वह कर्मोंसे नहीं बँधता है ॥१४॥ पूर्वकालके मुमुक्षु पुरुषोंने भी इस प्रकार जानकर ही कर्म किये हैं । अतएव तू भी पूर्वजोंद्वारा किये जानेवाले कर्मोंको ही कर ॥ १५ ॥ कर्म क्या है ? इसका निर्णय करनेमें बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं। इसलिये वह कर्म-तत्त्व मैं तुझे भलीभाँति समझाकर बतलाऊँगा, जिसे जानकर तू अशुभ (कर्मबन्धन)से मुक्त हो जायगा ॥१६॥ कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये, अकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये तथा विकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये; क्योंकि कर्मकी गति गहन है ॥ १७ ॥ जो पुरुष कर्ममें अकर्म देखता है और जो अकर्ममें कर्म देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है और वही योगी समस्त कर्मोंको करनेवाला है ॥ १८ ॥

* नित्य सहज अजन्मा भगवान्का यह जन्म और उनके कर्म 'दिव्य' हैं; क्योंकि भगवान् न तो कर्मपरवश मायाधीन होकर जन्म ग्रहण करते हैं और न इस लीला-जन्मसे प्रकट भगवान्का मङ्गलमय दिव्य विग्रह ही प्राकृतिक उपादानोंसे रचित होता है । वह हानोपादानरहित, जन्म-मरण आदि विकारोंसे रहित, देह-देही-सम्बन्धसे रहित, नित्य, शाश्वत, अप्राकृत, सच्चिदानन्दमय, स्वेच्छामय, विशुद्ध भगवत्स्वरूप होता है। इसी प्रकार उनके लीला-कर्म भी अहंता-ममता आदिसे रहित सर्वथा दिव्य—अप्राकृत भगवत्-रसमय होते हैं । इस प्रकार अनुभव करना ही दिव्य जन्म-कर्मको तत्त्वसे जानना है और यों तत्त्वसे जाननेवाला पुरुष भगवान्को ही प्राप्त होता है, शरीरत्यागके पश्चात् उसका पुनर्जन्म नहीं होता ।

योगी महात्मा पुरुषोंके आचरण और उनकी महिमा

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥२०॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

जिसके सम्पूर्ण (शास्त्रसम्मत) कर्म बिना कामना और संकल्पके होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञान-रूप अग्निके द्वारा दग्ध हो गये हैं, उसको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं ॥ १९ ॥ जो पुरुष समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करके भोगमय संसारके आश्रयसे रहित हो गया है और परमात्मामें नित्य तृप्त है, वह कर्मोंमें भलीभाँति प्रवृत्त रहता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता ॥ २० ॥ जिसका अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीर जीता हुआ है और जिसने समस्त परिग्रहका परित्याग कर दिया है, भोगोंकी आशासे रहित ऐसा पुरुष केवल शरीरसम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पापको नहीं प्राप्त होता ॥ २१ ॥ जो बिना इच्छाके अपने-आप प्राप्त हुई परिस्थितिमें सदा संतुष्ट रहता है, जिसमें मत्सरताका सर्वथा अभाव हो गया है, जो हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत हो गया है—सिद्धि और असिद्धिमें सम रहनेवाला ऐसा कर्मयोगी कर्म करते हुए भी बँधता नहीं ॥ २२ ॥ जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी है; जो देहाभिमान और ममतासे मुक्त हो गया है, जिसका चित्त निरन्तर परमात्माके ज्ञानमें स्थित रहता है— केवल यज्ञके लिये कर्म करनेवाले ऐसे पुरुषके कर्म पूर्णरूपसे विलीन हो जाते हैं ॥ २३ ॥

फलसहित विविध यज्ञोंका वर्णन

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥३२॥
श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है, हवन किये जानेयोग्य द्रव्य भी ब्रह्म है और ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—ऐसे उस ब्रह्मकर्ममें स्थित योगीके द्वारा प्राप्त किये जानेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है ॥ २४ ॥ दूसरे योगीजन देवताओंके पूजनरूप यज्ञका ही भलीभाँति अनुष्ठान किया करते हैं और अन्य योगीजन ब्रह्मरूप अग्निमें अभेद-दर्शनरूप यज्ञके द्वारा ही आत्म-रूप यज्ञका हवन किया करते हैं ॥ २५ ॥ अन्य

योगीजन कर्ण आदि समस्त इन्द्रियोंको संयमरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं और दूसरे योगी लोग शब्दादि समस्त विषयोंको इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं ॥ २६ ॥ कुछ योगीजन इन्द्रियों-की सम्पूर्ण क्रियाओंको और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंको ज्ञानसे प्रकाशित आत्मसंयम-योगरूप अग्निमें हवन किया करते हैं ॥ २७ ॥ कई पुरुष द्रव्यसम्बन्धी यज्ञ करनेवाले हैं, कितने ही तपरूप यज्ञ करनेवाले हैं तथा दूसरे कितने ही योगरूप यज्ञ करनेवाले हैं और कितने ही अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त यत्नशील पुरुष स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं ॥ २८ ॥ अन्य कितने ही योगीजन अपानवायुमें प्राणवायुको हवन करते हैं, वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायुमें अपान-वायुको हवन करते हैं तथा अन्य कितने ही नियमित आहार करनेवाले प्राणायामपरायण पुरुष प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणोंको प्राणोंमें ही हवन किया करते हैं। ये सभी साधक यज्ञोंद्वारा पापोंका नाश कर देनेवाले और यज्ञोंको जाननेवाले हैं॥२९-३०॥ कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञसे बचे हुए अमृतका भोजन करनेवाले योगीजन सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं और यज्ञको न करनेवाले पुरुषके लिये तो यह मनुष्यलोक भी (सुखदायक) नहीं है; फिर परलोक कैसे (सुख-दायक) हो सकता है ? ॥ ३१ ॥ इसी प्रकार और भी बहुत प्रकारके यज्ञ वेद-वाणीमें विस्तारसे कहे गये हैं। उन सबको तू मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रिया-द्वारा सम्पन्न होनेवाले जान; इस प्रकार तत्त्वसे जानकर तू कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा ॥ ३२ ॥ परंतप अर्जुन! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है; क्योंकि समस्त कर्म (पूर्णतया) ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

ज्ञानकी महिमा

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥३७॥
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥
योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥
तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर प्रश्न करनेसे वे ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्व-ज्ञानका उपदेश करेंगे ॥ ३४ ॥ अर्जुन! जिस ज्ञानको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ (सच्चिदानन्द परमात्मा-) में देखेगा ॥ ३५ ॥ यदि तू सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है, तो भी तू ज्ञानरूप नौकाके द्वारा निश्चय ही समस्त पापोंसे भलीभाँति तर जायगा ॥ ३६ ॥ अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको भस्ममय कर देती है, वैसे ही ज्ञान-रूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्ममय कर देती है ॥३७॥ निःसंदेह इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला अन्य कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही

कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण होकर पुरुष अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है ॥ ३८ ॥ श्रद्धावान्, तत्पर और जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह तुरंत ही परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥ ३९ ॥ अज्ञानी और श्रद्धारहित, संशयसे भरा मनुष्य परमार्थसे अवश्य भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशयात्मा मनुष्यके लिये न यह लोक है, न परलोक और न सुख ही है॥४०॥ धनंजय ! जिसने कर्मयोगके द्वारा समस्त कर्मोंको परमात्मामें अर्पण कर दिया है और जिसने ज्ञानके द्वारा समस्त संशयोंका नाश कर दिया है, ऐसे आत्मवान् (वशमें किये हुए अन्तःकरण-वाले) पुरुषको कर्म नहीं बाँधते ॥ ४१ ॥ इसलिये भरतवंशी अर्जुन ! तू हृदयमें स्थित इस अज्ञानजनित संशयको ज्ञानरूप खड्गके द्वारा काटकर समत्वरूप कर्मयोगमें स्थित हो जा और (युद्धके लिये) उठ खड़ा हो ॥ ४२ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग' नामक चतुर्थ अध्याय (महाभारत भीष्मपर्व अध्याय २८)।

श्रीमद्भगवद्गीता पञ्चम अध्याय

सांख्ययोग, निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तिसहित ध्यानयोगका वर्णन

सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोगका निर्णय

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—श्रीकृष्ण ! आप (कभी तो) कर्मोंके संन्यासकी और (कभी) फिर कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं। इन दोनोंमेंसे जो एक मेरे लिये भलीभाँति सुनिश्चित कल्याणकारक हो, वही मुझे बतलाइये ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥ ३ ॥
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥
यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥
संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

श्रीभगवान् बोले—कर्मसंन्यास और कर्मयोग—ये दोनों ही कल्याण करनेवाले हैं, परंतु उन दोनोंमें भी कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग (साधनमें सुगम होनेके कारण) श्रेष्ठ है ॥ २ ॥ महाबाहु अर्जुन ! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न आकाङ्क्षा करता है, उसे सदा संन्यासी ही समझना चाहिये; क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥ उपर्युक्त संन्यास और कर्मयोगको बाल-बुद्धिके लोग ही पृथक्-पृथक् (फल देनेवाले) बतलाते हैं, न कि विद्वज्जन; क्योंकि इनमेंसे एकमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फल-(रूप परमात्मा-) को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥ ज्ञानयोगियोंके द्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, वही कर्म-योगियोंके द्वारा भी प्राप्त किया जाता है । इसलिये जो पुरुष सांख्य और कर्मयोगको (फलरूपमें) एक देखता है, वही (यथार्थ) देखता है ॥ ५ ॥ परंतु अर्जुन ! कर्मयोगके बिना संन्यास (मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग) प्राप्त होना कठिन है और भगवत्स्वरूपको मनन करनेवाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको ही प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

सांख्ययोगी और निष्काम कर्मयोगीके लक्षण और उनकी महिमा

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥
नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन् ॥८॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन् निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥११॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

जिसका मन अपने वशमें है, जो जितेन्द्रिय एवं विशुद्ध अन्तःकरणवाला है और सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मरूप परमात्मा ही जिसका आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता ॥ ७ ॥ तत्त्वको जाननेवाला पुरुष (सांख्ययोगी) तो देखता, सुनता, स्पर्श करता, सूँघता, भोजन करता, चलता, सोता, श्वास लेता, बोलता, त्याग करता, ग्रहण करता तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी—सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों (विषयों-) में बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर निःसंदेह ऐसा ही माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ ॥ ८—९ ॥ जो पुरुष सब कर्मोंको ब्रह्ममें अर्पण करके और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह जलसे कमलके पत्तेकी भाँति पापसे लिप्त नहीं होता ॥ १० ॥ कर्मयोगी (ममत्व-बुद्धिरहित) केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरके द्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं ॥ ११ ॥ कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके नैष्ठिकी (भगवत्प्राप्तिरूप) शान्तिको प्राप्त होता है और सकाम पुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँध जाता है ॥ १२ ॥

ज्ञानयोग

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन् ॥१३॥
न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥
नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥
विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

अन्तःकरण जिसके वशमें है, सांख्ययोगका आचरण करनेवाला ऐसा पुरुष न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नौ द्वारोंवाले शरीररूप घरमें सब कर्मोंको मनसे त्यागकर आनन्दपूर्वक (सच्चिदानन्दघन परमात्म-स्वरूपमें स्थित) रहता है ॥ १३ ॥ प्रभु (परमात्मा) न तो मनुष्योंके कर्तापनकी, न कर्मोंकी और न कर्मफलके संयोगकी ही रचना करते हैं; किंतु (इन सबमें) स्वभाव ही प्रवृत्त हो रहा है ॥ १४ ॥ वह विभु (सर्वव्यापी परमेश्वर) न तो किसीके पापको और न किसीके शुभकर्म (पुण्य-) को ही ग्रहण करता है; किंतु अज्ञानके द्वारा ज्ञान ढका हुआ है; उसीसे अज्ञानी जीव मोहित हो रहे हैं ॥ १५ ॥ परंतु जिनका वह अज्ञान परमात्माके तत्त्वज्ञानद्वारा नष्ट

कर दिया गया है, उनका वह ज्ञान सूर्यके सदृश उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्रकाशित कर देता है ॥१६॥ जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर ऐक्यभावसे स्थिति है, ऐसे भगवत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्ति (परमगति) को प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥ वे ज्ञानीजन विद्या-विनयसम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं । (इनमें समान व्यवहार असम्भव है, पर वे सबमें एक परमात्माको समभावसे देखते हैं) ॥१८॥

जिनका मन समतामें स्थित है, उनके द्वारा यहीं (इस जीवित-अवस्थामें ही) संसार जीत लिया गया (वे सदाके लिये जन्म-मरणसे छूटकर जीवन्मुक्त हो गये); क्योंकि ब्रह्म (सच्चिदानन्दघन परमात्मा) निर्दोष और सम है; इससे वे ब्रह्म (सच्चिदानन्दघन परमात्मा-) में ही स्थित हैं ॥ १९ ॥

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥
योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं होता और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न नहीं होता, वह स्थिरबुद्धि, मोहरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष परब्रह्म (परमात्मा) में स्थित है ॥ २० ॥ बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें जो सुख है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय सुखका अनुभव करता है ॥ २१ ॥ इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले जितने भी भोग हैं, (वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं, तो भी वस्तुतः) वे सब दुःखके ही उत्पत्ति-स्थल हैं । इसलिये अर्जुन ! बुद्धिमान् पुरुष उनमें नहीं रमता ॥ २२ ॥ जो साधक शरीर छूटनेके पहले ही काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है, वही पुरुष योगी है और वही सुखी है ॥ २३ ॥ जो पुरुष अन्तरात्मामें ही रमण करनेवाला है और जो आत्मामें ही ज्योति (ज्ञान-) वाला है, वह ब्रह्मभूत (सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ अभिन्नभावको प्राप्त सांख्ययोगी) ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥ जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं; जिनके सब संशय ज्ञानके द्वारा निवृत्त हो गये हैं; जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हैं और जिनका जीता हुआ मन

निश्चल भावसे परमात्मामें स्थित हैं, वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥ काम-क्रोधसे रहित, जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे ब्रह्मनिर्वाण (शान्त परब्रह्म परमात्मा) ही परिपूर्ण है ॥ २६ ॥

भक्तियुक्त ध्यानयोग तथा भगवान्‌की सर्वसुहृदता

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

बाहरके विषय-भोगोंका न चिन्तन करता हुआ उन्हें बाहर ही निकालकर और नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थित करके, नासिकाके भीतर विचरनेवाले प्राण और अपानको सम करके—जिसकी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि जीती हुई हैं—ऐसा जो मोक्षपरायण मुनि इच्छा, भय और क्रोधसे रहित हो गया है, वह सदा मुक्त ही है ॥ २७-२८ ॥ (पर जो उपर्युक्त इन सब साधनोंको न कर सकता हो, उसके लिये सुगम साधन यह है कि) जो पुरुष मुझको (भगवान् श्रीकृष्णको) सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा समस्त भूत-प्राणियोंका सुहृद् (स्वार्थरहित अहैतुक दयालु और प्रेमी)—ऐसा तत्त्वसे जान लेता है, वह शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥ २९ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'कर्मसंन्यासयोग' नामक पञ्चम अध्याय (महाभारत भीष्मपर्व अध्याय २९) ।

श्रीमद्भगवद्गीता षष्ठ अध्याय

निष्काम कर्मयोगका प्रतिपादन करते हुए आत्मोद्धारके लिये प्रेरणा तथा मनोनिग्रहपूर्वक ध्यानयोग एवं योगभ्रष्टकी गतिका वर्णन

निष्काम कर्मयोगका स्वरूप और योगारूढ पुरुषके लक्षण

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

श्रीभगवान् बोले—जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर करनेयोग्य कर्म करता है, वही संन्यासी और योगी है और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है तथा न केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी ही है ॥ १ ॥ पाण्डुनन्दन ! जिसको संन्यास ऐसा कहते हैं, उसीको तू योग जान; क्योंकि संकल्पोंका त्याग न करनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता ॥ २ ॥ योगमें आरूढ़ होनेकी इच्छावाले मननशील पुरुषके लिये योगकी प्राप्तिमें (निष्कामभावसे) कर्म करना ही हेतु कहा जाता है और (योगारूढ हो जानेपर) उस योगारूढ पुरुषका जो शम (सर्व-संकल्पोंका अभाव) है, वही (कल्याणमें) हेतु कहा जाता है ॥ ३ ॥ जब न तो पुरुष इन्द्रियोंके भोगोंमें आसक्त होता है

न कर्मोंमें ही, तब वह सर्व-संकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है ॥ ४ ॥

आत्मोद्धारके लिये प्रेरणा और भगवत्प्राप्त पुरुषके लक्षण

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥
बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥
जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥
योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

अपने द्वारा अपना उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है ॥ ५ ॥ जिसके द्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है, उसका तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिये वह आप ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें वर्तता है ॥ ६॥ सर्दी-गरमी, सुख-दुःखादि तथा मान-अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे समाहित पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं (उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं) ॥७॥ जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी 'युक्त' कहा जाता है॥ ८॥ सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें तथा साधुओं (धर्मात्माओं) में और पापियोंमें भी जो समबुद्धि रखता है, वह श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥ मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें रखनेवाला, आशा और संग्रहसे रहित योगी अकेला ही एकान्त स्थानमें स्थित होकर अपनेको निरन्तर परमात्मामें लगावे ॥ १० ॥

ध्यानयोगकी विधि आदिका विस्तृत उपदेश

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥
युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥
सुखमात्यन्तिकं यत् तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

शुद्ध स्थानमें, जिसपर क्रमशः कुशा, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं, जो न बहुत ऊँचा है न बहुत नीचा, ऐसे

अपने आसनको स्थिर स्थापन करके उस आसनपर बैठकर, चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे॥ ११-१२॥ काया, सिर और गलेको समान एवं अचल धारण करके, स्थिर होकर अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर, अन्य दिशाओंको न देखता हुआ, ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला सावधान योगी मनको रोककर मुझमें चित्त लगाकर और मेरे परायण होकर बैठे॥ १३-१४॥ इस प्रकार वशमें किये हुए मनवाला योगी आत्माको निरन्तर मुझ परमेश्वरके स्वरूपमें जोड़ता हुआ, मुझमें रहनेवाली निर्वाणपरमा—परमानन्दकी पराकाष्ठारूप शान्तिको प्राप्त होता है॥ १५॥ अर्जुन! यह योग न तो अधिक खानेवालेका, न सर्वथा न खानेवालेका, न बहुत शयन करनेके स्वभाववालेका और न अधिक जागनेवालेका ही सिद्ध होता है॥ १६॥ दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य नियमित आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है॥ १७॥ जब भलीभाँति वशमें किया हुआ चित्त परमात्मामें ही स्थित हो जाता है, तब सम्पूर्ण भोगोंसे स्पृहारहित पुरुष 'योगयुक्त' है—ऐसा कहा जाता है॥ १८॥ जिस प्रकार वायुरहित स्थानमें स्थित दीपक हिलता-डुलता नहीं, वैसी ही उपमा परमात्माके ध्यानमें संलग्न योगीके जीते हुए चित्तकी कही गयी है॥ १९॥ योगके अभ्याससे निरुद्ध-चित्त जिस अवस्थामें उपरत हो जाता है और जिस अवस्थामें परमात्माके ध्यानसे शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा परमात्माको साक्षात् करता हुआ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही संतुष्ट रहता है॥ २०॥ ऐसा जो इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ग्रहण करने योग्य अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है, उसमें स्थित योगी परमात्माके स्वरूपसे कभी विचलित नहीं होता॥ २१॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥२२॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥२३॥
संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥२४॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥२५॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥२६॥
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥२७॥

परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्म-प्राप्तिरूप अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता॥ २२॥ उस दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित योगको जानना चाहिये। उस योगका सम्पादन न उकताये हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है॥२३॥ संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषरूपसे त्यागकर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सभी ओरसे भलीभाँति रोककर, क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे॥ २४-२५॥ यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस-उस विषयसे हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही निरुद्ध करे॥ २६॥ क्योंकि जिसका मन भलीभाँति

शान्त है, जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके साथ ऐक्यभावको प्राप्त योगीको उत्तम सुख प्राप्त होता है॥ २७ ॥

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ, सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त सुखका अनुभव करता है ॥ २८ ॥ सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें ऐक्यभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें (स्थित) और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें (कल्पित) देखता है ॥ २९ ॥ जो पुरुष सर्वत्र मुझ भगवान् वासुदेवको ही देखता है और सबको मुझ वासुदेवमें देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता ॥ ३० ॥ जो पुरुष मुझमें ऐक्यभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझे भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है ॥ ३१ ॥ अर्जुन ! जो योगी अपने सदृश सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें (अपने सदृश ही) सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ॥ ३२ ॥

मनकी चञ्चलता और उसके निग्रहका साधन

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम्॥३३॥
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

अर्जुन बोले—मधुसूदन ! यह योग जो समताके रूपमें आपके द्वारा कहा गया है, मनके चञ्चल होनेसे मैं इसकी नित्य स्थितिको नहीं देख पा रहा हूँ ॥ ३३ ॥ क्योंकि श्रीकृष्ण ! यह मन बड़ा चञ्चल, प्रमथन स्वभाववाला, बड़ा दृढ़ और बलवान् है । इसको वशमें करना मैं वायुके रोकनेके समान अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

श्रीभगवान् बोले—महाबाहो ! निःसंदेह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है, परंतु कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह अभ्यास और वैराग्यसे वशमें होता है ॥ ३५ ॥ मनको वशमें न किये हुए पुरुषके द्वारा इस योगको प्राप्त करना अत्यन्त ही कठिन है और वशमें किये हुए मनवाले प्रयत्नशील पुरुषके द्वारा साधन करनेपर इसका प्राप्त होना सहज है—यह मेरा मत है ॥ ३६ ॥

योगभ्रष्ट पुरुषकी विविध गतियाँ और भगवद्गतचित्त होकर श्रद्धापूर्वक भजन करनेवाले योगीकी महिमा

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

अर्जुन बोले—श्रीकृष्ण ! जो योगमें श्रद्धा रखनेवाला है, पर संयमी नहीं है, इस कारण जिसका मन अन्तकालमें योगसे विचलित हो गया है, ऐसा साधक योगकी सिद्धिको (आत्मज्ञान या भगवत्साक्षात्कारको) न प्राप्त होकर किस गतिको प्राप्त होता है ? ॥ ३७ ॥ महाबाहो ! वह ब्रह्मकी प्राप्तिके मार्गमें मोहित और आश्रयरहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादलकी भाँति दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता ? ॥ ३८ ॥ श्रीकृष्ण ! मेरे इस संशयको सम्पूर्ण रूपसे काटनेके लिये आप ही योग्य हैं । निश्चय ही आपके सिवा दूसरा इस संशयको छेदन करनेवाला मिलना सम्भव नहीं है ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥
प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ॥४६॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

श्रीभगवान् बोले—पार्थ ! उस पुरुषका न तो इस लोकमें नाश होता है और न परलोकमें ही; क्योंकि प्यारे ! कल्याण (आत्मोद्धार) के लिये कर्म करनेवाला कोई भी पुरुष दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता ॥ ४० ॥ वह योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यकर्मा पुरुषोंके लोकों (स्वर्गादि उत्तम लोकों) को प्राप्त होकर, उनमें बहुत वर्षोंतक निवास करके, फिर शुद्ध आचरणवाले श्रीमान् पुरुषोंके घरमें जन्म लेता है ॥ ४१ ॥ अथवा वह (वैराग्यवान् पुरुष उन लोकोंमें न जाकर) ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेता है; परंतु इस प्रकारका (यह जन्म) इस संसारमें निश्चय ही अत्यन्त दुर्लभ है ॥४२॥ वहाँ (उपर्युक्त जन्ममें) पूर्व शरीरमें संग्रह किये हुए बुद्धि-संयोगको अर्थात् समबुद्धिरूप योगके संस्कारोंको अनायास ही प्राप्त हो जाता है और कुरुनन्दन ! उसके प्रभावसे वह फिर परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिके लिये (पहलेसे भी बढ़कर) प्रयत्न करता है ॥ ४३ ॥ वह (श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला) योगभ्रष्ट पुरुष पराधीन होनेपर भी उस पूर्वके अभ्याससे निश्चय ही उसी योगकी ओर आकर्षित किया जाता है तथा समबुद्धिरूप योगका जिज्ञासु भी वेदमें कहे हुए सकाम कर्मोंके फलको उल्लङ्घन कर जाता है ॥ ४४ ॥ परंतु प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाला योगी तो पिछले अनेक जन्मोंके संस्कार-बलसे इसी जन्ममें संसिद्ध होकर सम्पूर्ण पापोंसे रहित हो, फिर तत्काल ही परमगतिको प्राप्त हो जाता है ॥४५॥ योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियोंसे भी वह श्रेष्ठ माना गया है और सकाम कर्म करनेवालोंसे भी वह श्रेष्ठ है । इससे अर्जुन ! तू योगी हो ॥४६॥ सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझ (भगवान्) में लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मेरे मतमें सर्वोत्तम है ॥ ४७ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'आत्मसंयमयोग' नामक षष्ठ अध्याय (महाभारत भीष्मपर्व अध्याय ३०) ।

श्रीमद्भगवद्गीता सप्तम अध्याय

ज्ञान-विज्ञान, भगवान्‌की व्यापकता, अन्य देवताओंकी उपासना एवं भगवान्‌को प्रभावसहित न जाननेवालोंकी निन्दा और जाननेवालोंकी महिमाका कथन

भगवान्‌के समग्ररूप-सम्बन्धी विज्ञानयुक्त ज्ञानका निरूपण

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

श्रीभगवान् बोले—पार्थ ! अनन्य प्रेमसे मुझमें आसक्तचित्त तथा अनन्यभावसे मेरे परायण होकर योगमें लगा हुआ तू जिस प्रकारसे सम्पूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्यादि गुणोंसे युक्त, सबके आत्मरूप मुझ समग्र*को संशयरहित जानेगा, उसको सुन ॥ १ ॥ मैं तेरे लिये इस विज्ञान (समग्रके ज्ञानरूप विशेष ज्ञान) सहित ज्ञानको सम्पूर्णतया कहूँगा, जिसको जानकर संसारमें फिर और कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रह जाता ॥ २ ॥ हजारों मनुष्योंमें कोई एक (ब्रह्मसाक्षात्काररूप) सिद्धिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले सिद्ध पुरुषोंमेंसे भी कोई एक मेरे (मुझ समग्र भगवान्‌के) परायण होकर (ज्ञानोत्तर पराभक्ति—प्रेमके द्वारा) मेरे समग्ररूपको तत्त्वसे जानता है ॥ ३ ॥ पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—इस प्रकार यह आठ प्रकारसे विभाजित मेरी प्रकृति है । यह आठ प्रकारके भेदोंवाली तो अपरा (अर्थात् मेरी जड प्रकृति) है और महाबाहो ! इससे दूसरीको, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है, मेरी जीवरूपा परा (चेतन) प्रकृति जान ॥ ४-५ ॥ अर्जुन ! तू ऐसा समझ कि सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियोंसे ही उत्पन्न होनेवाले हैं और मैं सम्पूर्ण जगत्‌का प्रभव तथा प्रलय हूँ (अर्थात् सम्पूर्ण जगत्‌का मूलकारण हूँ) ॥ ६ ॥ धनंजय ! मुझसे भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है । यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें (सूत्रके) मणियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है ॥ ७ ॥

समस्त पदार्थोंमें जीवनतत्त्व-रूपसे भगवान्‌की व्यापकता

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

* जो सर्वमय, सर्वातीत, सर्वगुणमय, सर्वगुणातीत, सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, अणु-महान्, सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्र-भक्तपराधीन आदि नित्य अनन्त अचिन्त्य-अनिर्वचनीय युगपत् परस्पर-विरुद्धगुणधर्माश्रयस्वरूप हैं, जो अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त वीर्य, अनन्त यश, अनन्त श्री, अनन्त ज्ञान, अनन्त वैराग्य, अनन्त शक्ति, अनन्त बल, अनन्त तेज, अनन्त आनन्द, अनन्त ज्योति, अनन्त विरुद्ध-शक्तित्व और अदोषस्पर्शित्व-स्वरूप हैं और जो परमात्मा, अन्तर्यामी, अधियज्ञ, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, क्षर जीव-जगत्, क्षेत्र,क्षेत्रज्ञ, अधिष्ठातृदेवता, अक्षर कूटस्थ ब्रह्म, एवं अक्षर-ब्रह्मसे भी श्रेष्ठ पुरुषोत्तम आदि अनन्त रूपोंमें अभिव्यक्त हैं—वे भगवान् ही 'समग्र' भगवान् हैं ।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

अर्जुन ! मैं जलमें रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्यमें प्रभा हूँ, सम्पूर्ण वेदोंमें ओंकार हूँ, आकाशमें शब्द और पुरुषोंमें पुरुषत्व हूँ । मैं पृथिवीमें पवित्र गन्ध, अग्निमें तेज, सम्पूर्ण भूतोंमें उनका जीवन और तपस्वियोंमें तप हूँ ॥ ८-९ ॥ अर्जुन ! तू सम्पूर्ण भूतोंका सनातन बीज मुझको ही जान । मैं बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वियोंका तेज हूँ । भरतश्रेष्ठ ! मैं बलवानोंका आसक्ति और कामनाओंसे रहित बल हूँ और सब भूतोंमें धर्मके अनुकूल (शास्त्रके अनुकूल) काम हूँ ॥ १०-११ ॥ और भी जो ये सत्त्वगुणसे, रजोगुणसे तथा तमोगुणसे उत्पन्न होनेवाले भाव हैं, उन सबको तू 'मुझसे ही होनेवाले हैं'—ऐसा जान । परंतु वास्तवमें उनमें मैं और वे मुझमें नहीं हैं ॥१२॥ गुणोंके कार्यरूप सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनों प्रकारके भावोंसे यह सब संसार—प्राणि-समुदाय मोहित हो रहा है । इसीलिये इन तीनों गुणोंसे परे मुझ अविनाशी (अनुत्तम अविनाशी परमभावस्वरूप भगवान्-) को नहीं जानता ॥ १३ ॥

भगवद्भक्तिकी महिमा, आसुर भाववालोंकी निन्दा और चतुर्विध भक्तोंका स्वरूप

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥१८॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

मेरी यह दैवी* त्रिगुणमयी माया बड़ी दुस्तर है । (इससे पार पाना अत्यन्त ही कठिन है) परंतु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं (मेरे ही शरणापन्न होते हैं), वे इस मायाको उल्लङ्घन कर जाते हैं (संसारसे तर जाते हैं) ॥ १४ ॥ (इस) मायाके द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, ऐसे आसुर स्वभावको धारण किये हुए, मनुष्योंमें अधम, दुष्कृति (घोर विषयासक्त—भगवद्विमुख) मूढ मनुष्य मुझको नहीं भजते ॥ १५ ॥ भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! सुकृती अर्थार्थी, आर्त्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—

* महेश्वर भगवान्की शक्ति ही महामाया या स्वभाव-स्वरूपा स्वीया प्रकृति है (मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्—श्वेताश्वतरोपनिषद् ४-१०) । इसीके विभिन्न लीलाकार्य हैं । लीलाकार्योंके अनुसार ही मायाके विभिन्न काम और नाम हैं । इनमें जो संसारका सृजन करनेवाली तथा जीवको मोहसे ढकनेवाली है, वह भगवान्की दैवी माया है । यह त्रिगुणा-स्वरूपा है—गुणमयी है । गुणोंका प्राकट्य इसीसे होता है । (सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः । गीता १४ । ५) मूलप्रकृतिकी आठ विकृति ही भगवान्की अपरा प्रकृति है । मायाको इसीसे महानुभाव अनिर्वचनीय कहते हैं । इस भगवान्की मायाका आवरण भगवान्की शरणागतिसे ही दूर होता है ।

ऐसे चार* प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं ॥१६॥ इन (चारों-) में मुझ भगवान्के साथ सदा संयुक्त और विशुद्ध अहैतुक अनन्य प्रेमसम्पन्न ज्ञानी भक्त विशेषरूपसे अति उत्तम है। एकमात्र मुझ भगवान्को ही (परम श्रेय-स्वरूप परम श्रेष्ठ और परम प्रेय-स्वरूप परम प्रेष्ठ) जाननेवाला वह तत्त्वज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है। यह ज्ञानी भक्त ज्ञानकी परानिष्ठारूप पराभक्ति अथवा विशुद्ध प्रेमके द्वारा समग्र भगवान्का भजन करके ब्रह्मकी भी प्रतिष्ठारूप भगवान्के पुरुषोत्तम-स्वरूपको जान लेता है। (१४ । २७; १५ । १९; १८ । ५४) ॥ १७ ॥ भोगविमुख तथा भगवदभिमुख होकर भगवान्के लिये ही अपने-अपने भावानुसार

* लौकिक तथा पारलौकिक भोग-सुखोंकी इच्छासे भजनेवाले—'अर्थार्थी' जैसे ध्रुव, सुग्रीव, विभीषणादि; शारीरिक तथा मानसिक, वर्तमान एवं भावी संकटोंसे व्याकुल होकर उनसे छूटनेके लिये भजन करनेवाले—'आर्त्त', जैसे गजराज, द्रौपदी आदि; भोगसुख-प्राप्ति एवं संकट-निवारण आदिके लिये न भजकर केवल भगवान्के स्वरूपको भलीभाँति जाननेके लिये ही भजन करनेवाले—'जिज्ञासु' जैसे परीक्षित्, उद्धव आदि; और परमात्माके ज्ञानकी अथवा परमात्माकी प्राप्ति हो जानेपर परमात्मामें रमे हुए सहज ही उनका अनुभवरूप भजन करनेवाले 'ज्ञानी' भक्त हैं—जैसे श्रीशुकदेवजी, जनकादि, सनकादि।

इस श्लोकमें आये हुए चार प्रकारके भक्तोंका जिस (आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी) क्रमसे वर्णन है, टीकाओंमें प्रायः इस क्रमको बदलकर अर्थार्थी, आर्त्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—इस प्रकार क्रम रक्खा गया है; क्योंकि न्यायतः साधना तथा भावकी दृष्टिसे भी 'अर्थार्थी' से 'आर्त्त' और 'आर्त्त'से 'जिज्ञासु'की श्रेणी उच्च है। अर्थार्थी भोगके लिये जान-बूझकर कामनासे भजन करता है, आर्त्त केवल संकटसे त्राण पानेके लिये भगवान्को पुकारता है, भोगके लिये नहीं और जिज्ञासु तो भगवत्तत्त्वकी प्राप्तिके लिये ही उन्हें भजता है।

भक्त वास्तवमें वही होना भी चाहिये, जो भगवान्की या भगवान्के विशुद्ध प्रेमकी प्राप्तिके लिये भगवान्को भजता हो। अर्थ आदिके लिये भजनेवाला तो सचमुच उस अर्थका ही भक्त है, भगवान्का नहीं; क्योंकि भगवान्के भजनको वह अर्थ-प्राप्तिका साधन बनाता है। अतः उसे भगवान्का भक्त कैसे माना जाय ?

फिर लौकिक, पारलौकिक 'अर्थ' (भोग) तो यथार्थमें अनर्थरूप है। श्रीमद्भागवतमें अर्थको दुःख-चिन्ता-पतनका कारण और चोरी, हिंसा, असत्य भाषण, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहंकार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, जूआ और शराब—इन पंद्रह अनर्थोंको उत्पन्न करनेवाला परमार्थका बाधक 'अर्थ' नामक 'अनर्थ' बतलाया गया है और कहा है कि कल्याण चाहनेवाला इसे दूरसे ही त्याग दे। (तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्। भागवत ११ । २३ । १९)

नाशवान् 'शरीर' तथा 'नाम'के संकटको संकट माननेवाला भी मिथ्या 'नाम-रूप'में ही आसक्त है—वह भी यथार्थतः भक्त नहीं। अतएव उपर्युक्त श्लोकमें आये हुए आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—इस क्रमको ही ठीक मानते हुए इसका अभिप्राय निम्न प्रकारसे समझना चाहिये—

आर्त्त—समस्त कामनाओंका परित्याग करके जो एकमात्र भगवान्को पानेके लिये ही अत्यन्त आतुर—आकुल हो रहा है; जैसे रासमण्डलसे भगवान् श्रीकृष्णके अन्तर्धान हो जानेपर भाग्यवती प्रेममयी व्रजाङ्गनाएँ।

जिज्ञासु—इस प्रकार अत्यन्त आर्त्तभाव आनेपर 'जिज्ञासा' अपने-आप जाग्रत् होती है—जैसे व्रजाङ्गनाएँ व्याकुल होकर जड-चेतन पशु-पक्षी, वृक्ष-लता सभीसे अत्यन्त उत्सुकताके साथ भगवान्का पता पूछती हैं।

अर्थार्थी—जो किसी वस्तुके लिये इस प्रकारका जिज्ञासु होता है, वह उसी वस्तुको वास्तवमें 'एकमात्र अर्थ—परम अर्थ है,'—ऐसा समझता है। अतः जिनके मनमें केवल भगवान् ही 'परम अर्थ'-स्वरूप रह गये हैं और जो केवल उन्हींकी अनन्य कामना करता है—वही सच्चा 'अर्थार्थी' है। लौकिक तथा पारलौकिक भोग-सुखोंकी इच्छासे भजनेवाला नहीं।

ज्ञानी—समग्ररूप भगवान्के पुरुषोत्तम-तत्त्वको भलीभाँति जानकर विशुद्ध अनन्य प्रेमके द्वारा जो नित्य सर्वत्र उन्हींके दर्शन करता हुआ उनका भजन करता है, वह ज्ञानी है।

भगवान्का भजन करनेवाले होनेके कारण ये सभी उदार हैं; परंतु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा आत्मा ही है—ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त परमोत्तम गतिस्वरूप मुझ भगवान्में ही अच्छी प्रकार स्थित है॥१८॥ बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें (पराभक्ति-परायण ज्ञानकी परानिष्ठाको प्राप्त) ज्ञानी भक्त मुझ भगवान्‌को इस प्रकार भजता है कि सब कुछ वासुदेव ही हैं। (इनमें परम श्रेयकी भावनावालेको विश्वरूप—सर्वत्र व्यापक वासुदेव—ब्रह्मका अनुभव होता है और परम प्रेमभाववाले ज्ञानी भक्तको, जहाँ उसके नेत्र जाते हैं, वहीं अपने परम प्रेष्ठ भगवान् वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण दिखायी देते हैं। ऐसे महात्मा जगत्का अभाव नहीं देखते—जगत्को सर्वत्र सर्वथा एकमात्र भगवान्से ही परिपूर्ण देखते हैं—सर्वत्र भगवान्को ही अभिव्यक्त पाते हैं।) ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है॥१९॥

अन्य देवताओंकी उपासना

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥२०॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥२१॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्॥२२॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद् भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥२३॥

भोगोंकी कामनाद्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, वे लोग अपने स्वभावसे प्रेरित होकर (कामना-सिद्धिके लिये उपयोगी) उस-उस नियमको धारण करके अन्य (मेरे ही अङ्ग-स्वरूप) देवताओंको भजते हैं॥२०॥ जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस देवताके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है, उस-उस भक्तकी श्रद्धाको मैं उसी (मेरे अङ्गस्वरूप) देवताके प्रति स्थिर कर देता हूँ॥२१॥ वह पुरुष उस श्रद्धासे युक्त होकर उस देवताका पूजन करता है और उस देवतासे मेरे ही द्वारा विधान किये हुए उन इच्छित भोगोंको निःसंदेह प्राप्त करता है॥२२॥ परंतु उन अल्पबुद्धिवालोंका वह फल नाशवान् होता है तथा वे देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं; परंतु मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें—अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं॥२३॥

भगवान्के प्रभाव और स्वरूपको न जाननेवालेकी निन्दा और जाननेवालेकी महिमा

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥२४॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥२५॥
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥२६॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप॥२७॥
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥२८॥
जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद् विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥२९॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥३०॥

बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम अविनाशी परमभावको न जानते हुए, मन-इन्द्रियोंसे परे मुझ नित्य सच्चिदानन्द-विग्रह भगवत्स्वरूपको मनुष्यकी भाँति जन्म लेकर व्यक्ति-भावको प्राप्त हुआ मानते हैं॥२४॥ मैं सबके क्योंकि अपनी योगमायासे* समावृत

* भगवान्की अचिन्त्यानिर्वचनीय महामाया-शक्तिका ही अन्यतम प्रमुख रूप 'योगमाया' है। यह चिन्मय भगवान्की अचिन्त्य अन्तरङ्गा चिच्छक्ति है। इसे 'विशुद्धसत्त्व' की ही एक विशेष परिणति समझना चाहिये। (शेष अगले पृष्ठमें)

प्रत्यक्ष नहीं होता; इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता (मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है) ॥ २५ ॥ अर्जुन ! पूर्वमें व्यतीत हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ, परंतु, मुझको कोई भी (श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष) नहीं जानता ॥ २६ ॥ क्योंकि भरतवंशी अर्जुन ! संसारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न, सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञताको प्राप्त हो रहे हैं ॥ २७ ॥ परंतु निष्कामभावसे पवित्र कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे (राग-द्वेष-जनित) द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त दृढ़निश्चयी भक्त मुझको सब प्रकारसे भजते हैं ॥ २८ ॥ जो मेरे शरण होकर जरा और मरणसे छूटनेके लिये प्रयत्न करते हैं, वे पुरुष उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मोंको जानते हैं ॥ २९ ॥ जो पुरुष अधिभूत और अधिदैवके तथा अधियज्ञके सहित (इन सबके रूपमें अभिव्यक्त) मुझको अन्तकालमें भी जान लेते हैं, वे युक्त चित्तवाले पुरुष मुझे जानते हैं—मुझको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३० ॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'ज्ञान-विज्ञानयोग' नामक सप्तम अध्याय (महाभारत भीष्मपर्व अध्याय ३१)।
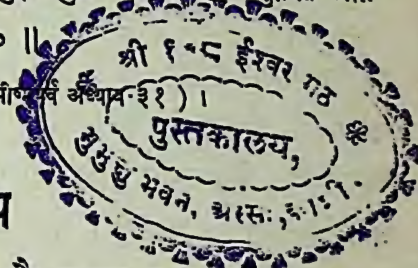
श्रीमद्भगवद्गीता अष्टम अध्याय

ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मादिके विषयमें अर्जुनके सात प्रश्न और उनका उत्तर एवं भक्तियोग तथा शुक्ल और कृष्ण मार्गोंका प्रतिपादन

ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म आदिके सम्बन्धमें अर्जुनके सात प्रश्न और उनका उत्तर

अर्जुन उवाच

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

अर्जुनने पूछा—पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत नामसे क्या कहा गया है और अधिदैव किसको कहते हैं ? ॥ १ ॥ मधुसूदन ! यहाँ अधियज्ञ कौन है ? और वह इस शरीरमें कैसे है ? एवं युक्तचित्तवाले पुरुषोंद्वारा अन्त समयमें आप किस प्रकार जाननेमें आते हैं ? ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

प्रपञ्चका सृजन तथा जीवको मोहसे बलात् ढकनेवाली शक्ति 'माया' है और भगवान्‌को उनके इच्छानुसार ढकनेवाली उनकी लीलास्वरूप शक्ति 'योगमाया' है। इसी योगमायाको भगवान्‌ने अपने अवतार-प्रसङ्गमें 'आत्ममाया' (४ । ६) कहा है। यह योगमाया सहज ही 'अघटना घटना' सम्पन्न करती है। महान्‌को क्षुद्र, सर्वज्ञको अल्पज्ञ, सर्वव्यापीको एकदेशीय, अजन्माको जन्म लेनेवाला, अविनाशीको तिरोहित होनेवाला, सर्वलोकमहेश्वरको भक्तपराधीन और नित्यमुक्तको यशोदा मैयाके द्वारा बन्धन-प्राप्त, नित्य निर्भय तथा नित्यानन्द-स्वरूपको मैया यशोदाके हाथमें छड़ी देखकर भययुक्त तथा रुदनपरायण तथा परम पूज्य एवं परम सेव्य सहज परम-ऐश्वर्य-स्वरूपको सर्वथा ढककर, माधुर्य-स्वरूपमें प्रीति-स्नेहका पात्र बना देना—इस योगमायाका ही विलक्षण लीलाकार्य है। यह योगमाया भगवान्‌की नित्य स्वरूपाशक्ति है। इसीसे भगवान् सदा युगपत् परस्पर-विरोधी-गुणधर्माश्रय-स्वरूप हैं।

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥
यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥
तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

श्रीभगवान‍्ने कहा—परम अक्षर 'ब्रह्म' है, अपना स्वरूप (जीवात्मा) 'अध्यात्म' नामसे कहा जाता है तथा भूतोंके भावोंको उत्पन्न करनेवाला जो त्याग है, वह 'कर्म' नामसे कहा गया है ॥ ३ ॥ क्षर (क्षयशील) सब पदार्थ अधिभूत हैं, हिरण्मयपुरुष अधिदैव है और देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! इस शरीरमें मैं 'वासुदेव' ही अन्तर्यामीरूपसे अधियज्ञ हूँ ॥ ४ ॥ जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे भावको—स्वरूपको प्राप्त होता है । इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ॥ ५ ॥ कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावका स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है ॥ ६ ॥ अतएव अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर । इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा ॥ ७ ॥

भगवान‍्की महत्ता और भक्तिके द्वारा भगवान‍्की प्राप्ति

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥
कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद् यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत् ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥
सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥१२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥१३॥
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

पार्थ ! यह नियम है कि भगवान‍्के ध्यानके अभ्यासरूप योगसे युक्त, दूसरी ओर न जानेवाले चित्तसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ मनुष्य दिव्य परम पुरुष परमेश्वरको ही प्राप्त होता है ॥ ८ ॥ जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता, सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करनेवाले, अचिन्त्य स्वरूप, सूर्यके सदृश नित्य चेतन प्रकाशरूप और अविद्यासे अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वरका स्मरण करता है, वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकालमें भी योगबलसे भृकुटीके मध्यमें प्राणको अच्छी प्रकार स्थापित करके फिर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ उस दिव्यस्वरूप परम पुरुष परमेश्वरको ही प्राप्त होता है ॥ ९-१० ॥ वेदके जाननेवाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परम पदको 'अक्षर'—अविनाशी कहते हैं, आसक्ति

दिव्य उपदेश—एक शरण मेरे आ जाओ सब धर्मोंका करके त्याग।

रहित यत्नशील संन्यासी महात्मागण जिसमें प्रवेश करते हैं और जिस परम पदको चाहनेवाले ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, उस परम पदको मैं तेरे लिये संक्षेपमें कहूँगा ॥ ११ ॥ सब इन्द्रियोंके द्वारोंको रोककर तथा मनको हृद्देशमें स्थिर करके, फिर उस जीते हुए मनके द्वारा प्राणको मस्तकमें स्थापित करके, परमात्मासम्बन्धी योगधारणामें स्थित होकर जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मेरा स्मरण करता हुआ, शरीरको त्यागकर जाता है, वह पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है ॥ १२-१३ ॥ अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर नित्य-निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमका स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ (उसे अनायास ही प्राप्त हो जाता हूँ) ॥ १४ ॥ परम सिद्धिको प्राप्त महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दुःखोंके घर एवं अनित्य पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते ॥ १५ ॥ अर्जुन ! ब्रह्मलोकपर्यन्त सभी लोक पुनरावर्ती हैं, परंतु कुन्तीपुत्र ! मुझे प्राप्त कर लेनेपर फिर जन्म नहीं होता । (क्योंकि मैं कालातीत नित्य हूँ और ये सब ब्रह्मादिके लोक कालके द्वारा सीमित होनेके कारण अनित्य हैं) ॥ १६ ॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥
अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥
परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम ॥२१॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

ब्रह्माका जो एक दिन है, उसको एक हजार चतुर्युगी तककी अवधिवाला और रात्रिको भी एक हजार चतुर्युगीतककी अवधिवाली जो पुरुष जानते हैं, वे योगीजन कालके तत्त्वको जाननेवाले हैं ॥ १७ ॥ ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे सम्पूर्ण चराचर भूतगण उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेश-कालमें उस अव्यक्तमें ही लीन हो जाते हैं ॥ १८ ॥ पार्थ ! वही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिके वशमें हुआ रात्रिके प्रवेशकालमें लीन होता है और दिनके प्रवेशकालमें फिर उत्पन्न होता है ॥ १९ ॥ उस अव्यक्तसे भी अति परे दूसरा विलक्षण जो सनातन अव्यक्त भाव है, वह परम दिव्य पुरुष सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता ॥ २० ॥ जो अव्यक्त 'अक्षर' इस नामसे कहा गया है, उसी अक्षर नामक अव्यक्तभावको परम गति कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्तभावको प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते, वह मेरा परम धाम है ॥ २१ ॥ पार्थ ! जिसके अन्तर्गत समस्त भूत हैं और जिससे यह सब जगत् व्याप्त—परिपूर्ण है, वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्य भक्तिसे ही प्राप्त करने योग्य है ॥ २२ ॥

शुक्ल और कृष्ण मार्गका वर्णन

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।

एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥२६॥
नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत् सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

अर्जुन ! जिस कालमें शरीर त्यागकर गये हुए योगीजन वापस न लौटनेवाली गतिको एवं जिस कालमें गये हुए वापस लौटनेवाली गतिको ही प्राप्त होते हैं, उस कालको (दोनों मार्गोंको) अब मैं तुझे बतलाता हूँ ॥२३॥ जिस मार्गमें ज्योतिर्मय अग्नि-अभिमानी देवता है, दिनका अभिमानी देवता है, शुक्ल पक्षका अभिमानी देवता है और उत्तरायणके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें गये हुए ब्रह्मवेत्ता योगीजन उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले जाये जाकर ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥ जिस मार्गमें धूमाभिमानी देवता है, रात्रि-अभिमानी देवता है तथा कृष्णपक्षका अभिमानी देवता है और दक्षिणायनके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें गया हुआ सकाम कर्म करनेवाला योगी उपर्युक्त देवताओंके द्वारा क्रमसे ले गया हुआ चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर स्वर्गमें अपने शुभ कर्मोंका फल भोगकर वापस लौट आता है ॥ २५॥ क्योंकि जगत्‌के ये दो प्रकारके शुक्ल और कृष्ण— देवयान और पितृयान मार्ग सनातन माने गये हैं। इनमें एकके द्वारा गया हुआ—जिससे वापस नहीं लौटना पड़ता, उस परमगतिको प्राप्त होता है और दूसरेके द्वारा गया हुआ फिर लौट आता है (जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है) ॥ २६ ॥ पार्थ ! इस प्रकार इन दोनों मार्गोंको जाननेवाला कोई भी योगी मोहित नहीं होता। इसलिये अर्जुन ! तू सब कालमें योगसे युक्त हो—निरन्तर मेरी प्राप्तिके लिये मुझसे जुड़ा रह ॥२७॥ योगी पुरुष इस रहस्यको तत्त्वसे जानकर, वेदोंके पढ़नेमें तथा यज्ञ, तप और दानादिके करनेमें जो पुण्यफल बताया गया है—उस सबको निःसंदेह उल्लङ्घन कर जाता है (उनसे आगे बढ़कर आद्य सनातन परमपदको प्राप्त होता है) ॥ २८॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'अक्षरब्रह्मयोग' नामक अष्टम अध्याय (महाभारत भीष्मपर्व अध्याय ३२)।

श्रीमद्भगवद्गीता नवम अध्याय

ज्ञान, विज्ञान और जगत्‌की उत्पत्तिका, आसुरी और दैवी सम्पदावालोंका, प्रभावसहित भगवान्‌के स्वरूपका, सकाम-निष्काम उपासनाका एवं भगवद्भक्तिकी महिमाका वर्णन

प्रभावसहित भगवान्‌के परम गुह्य ज्ञानका निरूपण

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १ ॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३॥
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५॥
यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६॥

श्रीभगवान् बोले—तुझ (मुझमें तथा मेरे भक्तोंमें) असूयारहित* (दोषदृष्टिरहित) भक्तके लिये इस 'गुह्यतम' (परम गोपनीय) विज्ञान (समग्र भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके ज्ञान-) सहित (ब्रह्म-) ज्ञानको पुनः भलीभाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू समस्त अशुभसे मुक्त हो जायगा ॥ १ ॥ यह विज्ञानसहित ज्ञान सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करनेमें बड़ा सुगम और अविनाशी है (समग्र भगवान्के स्वरूपको बतानेवाली 'राजविद्या' और उसकी प्राप्तिका प्रत्यक्ष साधन 'राजगुह्य'—गुह्यतम है) ॥ २ ॥ परंतप ! इस धर्ममें श्रद्धा न रखनेवाले पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसारचक्रमें भ्रमण करते रहते हैं ॥ ३ ॥ मुझ अव्यक्त मूर्ति (मेरे निराकार व्यापक-स्वरूप-) से यह सब जगत् (जलसे बरफके सदृश) परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधारपर स्थित हैं; किंतु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ ॥ ४ ॥ वे सब भूत भी मुझमें स्थित नहीं हैं; किंतु मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है (भगवान् नित्य परस्पर-विरोधी गुणधर्माश्रय हैं । अतः ऐसा होना सर्वथा सुसंगत है । यही भगवत्स्वरूप है) ॥ ५ ॥ जैसे आकाशसे उत्पन्न सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा आकाशमें ही स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्प-द्वारा उत्पन्न होनेसे सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसा जान ॥ ६ ॥

* १८वें अध्यायमें भी भगवान्ने अपनेमें असूया रखनेवाले (भगवान्में दोषदृष्टि करनेवाले) अभक्तको गुह्यतम—परम गोपनीय तत्त्व बतलानेसे मना किया है और भक्तोंमें ही उसके प्रचारकी आज्ञा दी है । ('न च मां योऽभ्यसूयति', 'य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति') । (१८ । ६७-६८)

जगत्की उत्पत्तिका रहस्य

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते ॥१०॥

अर्जुन ! कल्पोंके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं और कल्पोंके आदिमें उनको मैं फिर उत्पन्न करता हूँ ॥ ७ ॥ प्रकृतिके बलसे विवश हुए इस समस्त भूतसमुदायको मैं अपनी प्रकृतिको अपने वशमें करके उनके कर्मानुसार बार-बार रचना करता हूँ ॥ ८ ॥ अर्जुन ! उन कर्मोंमें आसक्तिरहित और उदासीनके सदृश स्थित मुझको वे कर्म नहीं बाँधते ॥९॥ अर्जुन ! मुझ अध्यक्षके द्वारा प्रेरित प्रकृति चराचर-सहित समस्त जगत्को उत्पन्न करती है और इसी हेतुसे यह संसारचक्र घूम रहा है ॥ १० ॥

भगवान्का तिरस्कार करनेवाले असुर-मानवोंकी निन्दा और दैवी प्रकृतिवालोंके भजनका प्रकार

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

मेरे परमभाव नित्य सच्चिदानन्दविग्रह भगवत्स्वरूप-को न जाननेवाले मूढ़लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वरको तुच्छ—साधारण मनुष्य समझते हैं ॥ ११ ॥ वे व्यर्थ आशा, व्यर्थ कर्म और व्यर्थ ज्ञानवाले विक्षिप्त-चित्त अज्ञानीजन राक्षसी, आसुरी और मोहिनी (क्रोध, लोभ और कामरूप) प्रकृतिको ही धारण किये रहते हैं ॥ १२ ॥ परंतु कुन्तीपुत्र ! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका आदि और अविनाशी कारण जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं ॥ १३ ॥ वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरा (मेरे नाम, लीला एवं गुणोंका) कीर्तन करते हुए तथा भलीभाँति यत्न करते हुए और मुझको बार-बार नमस्कार करते हुए मनके द्वारा मुझसे जुड़े रहकर भक्तिसे (अनन्य प्रेमसे) मेरी उपासना करते हैं ॥ १४ ॥ दूसरे ज्ञानयोगी मुझ निर्गुण-निराकार ब्रह्मका ज्ञान-यज्ञके द्वारा अभिन्नभावसे पूजन करते हुए मेरी उपासना करते हैं और दूसरे मनुष्य विभिन्न प्रकारसे अभिव्यक्त मुझ विराट्-स्वरूप परमेश्वरकी पृथक्भावसे उपासना करते हैं ॥ १५ ॥

सर्वात्मरूपसे प्रभावसहित भगवान्‌के स्वरूपका वर्णन

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

क्रतु मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, स्वधा मैं हूँ, औषध मैं हूँ, मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ ॥ १६ ॥ मैं ही इस समस्त जगत्‌का माता, पिता, धाता (धारण करनेवाला), पितामह हूँ और मैं ही जाननेयोग्य, पवित्र ओङ्कार तथा ऋग्वेद, सामवेद एवं यजुर्वेद भी हूँ ॥ १७ ॥ मैं ही गति (प्राप्त होनेयोग्य परमधाम), भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी, शुभाशुभका देखनेवाला, सबका वास-स्थान, शरण लेनेयोग्य, प्रत्युपकार न चाहकर हित करनेवाला, सबकी उत्पत्ति-प्रलयका हेतु, स्थितिका आधार, निधान और अविनाशी बीज हूँ ॥ १८ ॥ मैं ही सूर्यरूपसे तपता हूँ, वर्षाका आकर्षण करता हूँ और उसे बरसाता हूँ । अर्जुन ! मैं ही अमृत और मृत्यु तथा सत्-असत् भी मैं हूँ ॥ १९ ॥

सकाम और निष्काम उपासनाके विभिन्न फल

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥२०॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥
येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥
यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

तीनों वेदोंमें विधान किये हुए सकाम कर्मोंको करने-वाले, सोमरस पीनेवाले, पापरहित पुरुष मुझको यज्ञोंके

द्वारा पूजकर स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं; वे पुरुष अपने पुण्योंके फलरूप स्वर्गलोकको प्राप्त होकर स्वर्गमें दिव्य देवताओंके भोगोंको भोगते हैं। वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर पुनः मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वर्गके साधनरूप तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मका आश्रय लेनेवाले और भोगोंकी कामनावाले पुरुष बार-बार आवागमनको प्राप्त होते हैं, (पुण्यके प्रभावसे स्वर्गमें जाते हैं और पुण्य क्षीण होनेपर पुनः मृत्युलोकमें लौट आते हैं) ॥ २०-२१ ॥ किंतु जो अनन्य प्रेमी भक्तजन निरन्तर चिन्तन करते हुए मुझे निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्ययुक्त (नित्य-निरन्तर मेरे भजन-परायण रहनेवाले) पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ (उनके लिये अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्तके संरक्षणका सारा भार मैं ही वहन करता हूँ) ॥ २२ ॥ अर्जुन! यद्यपि श्रद्धासे युक्त जो सकाम भक्त दूसरे (मेरे ही अङ्गरूप) देवताओंको पूजते हैं, वे भी मुझको ही पूजते हैं; किंतु उनका वह पूजन अविधिपूर्वक (अज्ञानपूर्वक) है ॥ २३ ॥ क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ; परंतु वे मुझ परमेश्वरको तत्त्वसे नहीं जानते, इसीसे उनका पतन होता है (वे पुनर्जन्मको प्राप्त होते हैं) ॥ २४ ॥ देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, पितरोंको पूजनेवाले पितरोंको प्राप्त होते हैं, भूतोंको पूजनेवाले भूतोंको प्राप्त होते हैं और मेरा पूजन करनेवाले भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

सर्वार्पणरूपा निष्काम भक्तिकी महिमा

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥
अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥३०॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

जो कोई भी भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल अर्पण करता है, उस शुद्ध-बुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं स्वयं प्रीतिसहित खाता हूँ ॥ २६ ॥ अर्जुन! तू जो कुछ करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर ॥ २७ ॥ (इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं) ऐसे संन्यास (समर्पण-) योगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा ॥ २८ ॥ मैं सब भूतोंमें सम हूँ। न कोई मेरा द्वेषका पात्र है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें है और मैं भी उनमें हूँ ॥ २९ ॥ यदि कोई अतिशय दुराचारी भी मेरा अनन्य भक्त होकर मुझको भजता है, तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। कुन्तीपुत्र अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता (उसका अपनी

स्थितिसे कभी पतन नहीं होता) ॥ ३०-३१ ॥ अर्जुन ! मेरे शरण होनेपर स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि (चाण्डालादि) कोई भी हों, वे सब परम गतिको ही प्राप्त होते हैं ॥ ३२ ॥ फिर जो पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्त हैं, उनके लिये तो कहना ही क्या है । इसलिये तू इस सुखरहित और क्षणभंगुर मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर* ॥ ३३ ॥ मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको नमस्कार कर । इस प्रकार अपनेको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा (भगवान्की प्रत्यक्ष सेवाका यह परम साधन 'गुह्यतम' है । इसीको आगे चलकर १८वें अध्यायके अन्तमें और भी विशद तथा स्पष्टरूपसे 'सर्वगुह्यतम' नामसे कहा गया है ।)॥३४॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'राजविद्या राजगुह्य' नामक नवम अध्याय (महाभारत भीष्मपर्व अध्याय ३३)।

श्रीमद्भगवद्गीता दशम अध्याय

भगवान्की विभूति, योगशक्ति तथा प्रभावसहित भक्तियोगका कथन, अर्जुनके पूछनेपर भगवान्के द्वारा अपनी विभूतियोंका और योगशक्तिका पुनः वर्णन

भगवान्की विभूति और योगशक्ति तथा उनके जाननेका फल

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत् तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥
बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥
एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

श्रीभगवान् बोले—महाबाहो ! फिर तू मेरे श्रेष्ठ (परम रहस्य और प्रभावयुक्त) वचनको सुन, जो मैं तुझ अतिशय प्रेम रखनेवालेके लिये तेरे हितकी कामनासे कहूँगा ॥ १ ॥ लीलासे ही मेरे प्रकट होनेको (अथवा मेरे प्रभावको) न देवतागण जानते हैं और न महर्षिजन ही; क्योंकि मैं देवताओंका और महर्षियोंका भी सब प्रकारसे आदिकारण हूँ ॥ २ ॥ जो मुझ (पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण-) को अजन्मा, अनादि और लोकोंका महान् ईश्वर जानता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् पुरुष सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥ बुद्धि, ज्ञान, मोहहीनता, क्षमा, सत्य, इन्द्रियोंका वशमें करना, मनका निग्रह, सुख-दुःख, उत्पत्ति-प्रलय, भय और अभय

---

* भगवान् ही परम गति हैं, वे ही एकमात्र भर्ता और स्वामी हैं, वे ही परम आश्रय और परम आत्मीय संरक्षक हैं—ऐसा मानकर उन्हींपर निर्भर हो जाना, उनके प्रत्येक विधानमें सदा ही संतुष्ट रहना, उन्हींकी आज्ञाका अनुसरण करना, उनके नाम-रूप-गुण-प्रभाव-लीला आदिके श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदिमें अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको नित्य निमग्न रखना और उन्हींकी प्रीतिके लिये प्रत्येक कार्य करना—इसीका नाम 'भगवान्का भक्त बनना' है ।

अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, कीर्ति और अकीर्ति—प्राणियोंके ये नाना प्रकारके भाव मुझसे ही होते हैं ॥ ४–५ ॥ सात महर्षि, उनसे भी पूर्व होनेवाले चार सनकादि तथा स्वायम्भुव आदि चौदह मनु—ये मुझमें भाववाले सब मेरे संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं, जिनकी संसारमें उत्पन्न यह सारी प्रजा है ॥ ६ ॥ जो पुरुष मेरी इस परमैश्वर्यरूप विभूतिको और योगशक्तिको तत्त्वसे जानता है, वह निश्चल भक्तियोगसे युक्त हो जाता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ ७ ॥

फल और प्रभावसहित भक्तियोग

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

मैं सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही समस्त जगत् चेष्टा करता है—इस प्रकार समझकर भाव-समन्वित बुद्धिमान् भक्त मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं ॥८॥ निरन्तर मुझमें मन लगाये रखनेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी चर्चाके द्वारा परस्पर मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण-प्रभावसहित नित्य मेरा कथन करते हुए ही संतुष्ट होते हैं और मुझमें ही रमण करते हैं ॥ ९ ॥ उन निरन्तर मुझमें लगे हुए प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥ अर्जुन ! उनपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकार-को प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ ॥ ११ ॥

अर्जुनके द्वारा श्रीकृष्णकी महत्ताज्ञापनपूर्वक स्तुति और विभूति तथा योगैश्वर्य-वर्णनके लिये प्रार्थना

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥
स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥
वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् मया ॥१७॥
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

इसपर अर्जुनने कहा—आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं; आपको सब ऋषिगण और देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यासजी सनातन, दिव्य पुरुष एवं देवोंके भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी बतलाते हैं और स्वयं आप भी मुझसे ऐसा ही कहते हैं ॥ १२-१३ ॥ केशव ! आप जो कुछ भी मुझसे कहते हैं, इन सबको मैं सत्य (तत्त्व) मानता हूँ । भगवन् ! आपके लीलामय स्वरूपको न तो देवता जानते हैं, न दानव ही ॥ १४ ॥ हे भूतोंको उत्पन्न करनेवाले ! भूतोंके ईश्वर ! देवोंके देव ! जगत्के स्वामी पुरुषोत्तम ! आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं ॥ १५ ॥ इसलिये आप ही उन अपनी दिव्य विभूतियोंको पूरा-पूरा बतलानेमें समर्थ हैं, जिन विभूतियोंद्वारा इन लोकोंको व्याप्त करके आप स्थित हैं ॥१६॥ योगेश्वर ! मैं किस प्रकार निरन्तर आपका चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ और भगवन् ! आप किन-किन भावोंमें मेरे द्वारा चिन्तन किये जानेके योग्य हैं ॥ १७ ॥ जनार्दन ! अपनी योगशक्तिको और विभूतिको फिर विस्तारपूर्वक बतलाइये; क्योंकि आपके अमृतमय वचनोंको सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं हो रही है ॥ १८ ॥

श्रीकृष्णके द्वारा अपनी विविध विभूतियोंका और योगशक्तिका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥
आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥
रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥
पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥
प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥
पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥
सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—कुरुश्रेष्ठ ! अब मैं अपनी प्रधान-प्रधान दिव्य विभूतियोंको तेरे प्रति कहूँगा; क्योंकि मेरे विस्तारका अन्त नहीं है ॥ १९ ॥ अर्जुन ! सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा मैं हूँ और मैं ही सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी हूँ ॥ २० ॥ मैं अदितिके बारह पुत्रोंमें विष्णु, ज्योतियोंमें किरणोंवाला सूर्य, मरुतोंमें मरीचि—उनचास वायु देवताओंका तेज और नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्रमा हूँ ॥ २१ ॥ मैं वेदोंमें सामवेद हूँ, देवोंमें इन्द्र हूँ, इन्द्रियोंमें मन हूँ और भूतप्राणियोंकी चेतना (जीवनीशक्ति) हूँ ॥ २२ ॥ मैं एकादश रुद्रोंमें शंकर और यक्ष-राक्षसोंमें धनका स्वामी कुबेर हूँ । मैं आठ वसुओंमें पावक (अग्नि) और शिखरवाले पर्वतोंमें सुमेरु हूँ ॥ २३ ॥ पार्थ ! पुरोहितोंमें प्रमुख बृहस्पति तू मुझको जान ! मैं सेनापतियोंमें स्कन्द और जलाशयोंमें समुद्र हूँ ॥ २४ ॥ मैं महर्षियोंमें भृगु और शब्दोंमें एक अक्षर (प्रणव—ओंकार) हूँ । सब प्रकारके यज्ञोंमें जपयज्ञ और स्थिर रहनेवालोंमें हिमालय हूँ ॥ २५ ॥ मैं सब वृक्षोंमें पीपल, देवर्षियोंमें नारद, गन्धर्वोंमें चित्ररथ और सिद्धोंमें कपिल मुनि हूँ ॥ २६ ॥ घोड़ोंमें अमृतके साथ उत्पन्न होनेवाला उच्चैःश्रवा, श्रेष्ठ हाथियोंमें ऐरावत और मनुष्योंमें राजा तू मुझको जान ॥ २७ ॥ मैं शस्त्रोंमें वज्र और गौओंमें कामधेनु हूँ । शास्त्रोक्त रीतिसे संतानकी उत्पत्तिका हेतु कामदेव हूँ और सर्पोंमें सर्पराज वासुकि हूँ ॥ २८ ॥ मैं नागोंमें शेषनाग और जलचरोंका अधिपति वरुण देवता हूँ । पितरोंमें अर्यमा तथा शासन करनेवालोंमें यमराज मैं हूँ ॥ २९ ॥ मैं दैत्योंमें प्रह्लाद, गणना करनेवालोंका समय, पशुओंमें मृगराज सिंह और पक्षियोंमें मैं गरुड़ हूँ ॥ ३० ॥ मैं पवित्र करनेवालोंमें वायु और शस्त्रधारियोंमें श्रीराम हूँ । मछलियोंमें मगर और नदियोंमें जाह्नवी—श्री गङ्गाजी हूँ ॥ ३१ ॥ अर्जुन ! सृष्टियोंका आदि, अन्त और मध्य भी मैं ही हूँ । मैं विद्याओंमें अध्यात्मविद्या

(ब्रह्मविद्या) और परस्पर विवाद करनेवालोंका तत्त्वनिर्णयके लिये किया जानेवाला वाद हूँ ॥ ३२ ॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥
मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥३४॥
बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥
द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥
यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥
यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत् तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥४१॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

मैं अक्षरोंमें अकार और समासोंमें 'द्वन्द्व'नामक समास हूँ । मैं ही अक्षय काल (कालका भी महाकाल) तथा सब ओर मुखवाला विराट्स्वरूप और सबका धारण-पोषण करनेवाला हूँ ॥ ३३ ॥ मैं सबका नाश करनेवाला मृत्यु और उत्पन्न होनेवालोंका उत्पत्तिहेतु हूँ । नारियोंमें मैं कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ ॥ ३४ ॥ मैं गायन करनेयोग्य श्रुतियोंमें बृहत्साम, छन्दोंमें गायत्री, महीनोंमें मार्गशीर्ष और ऋतुओंमें वसन्त हूँ ॥ ३५ ॥ मैं छल करनेवालोंमें जूआ, तेजस्वी पुरुषोंका तेज, जीतनेवालोंकी विजय, निश्चय करनेवालोंका निश्चय और सत्त्वशीलोंका सत्त्व हूँ ॥ ३६ ॥ मैं वृष्णिवंशियोंमें वासुदेव (वसुदेवपुत्र श्रीकृष्ण स्वयं तेरा सखा), पाण्डवोंमें (तू) धनंजय हूँ । मुनियोंमें वेदव्यास और कवियोंमें उशना कवि (शुक्राचार्य) भी मैं ही हूँ ॥ ३७ ॥ मैं दमन करनेवालोंमें दण्ड (दमन करनेकी शक्ति) हूँ, जीतनेकी इच्छावालोंकी नीति हूँ, गुप्त रखने योग्य भावोंका रक्षक मौन हूँ और ज्ञानवानोंका तत्त्वज्ञान मैं ही हूँ ॥ ३८ ॥ और अर्जुन ! जो भी सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है, वह सब मैं ही हूँ; ऐसा चर और अचर कोई भी भूत नहीं है, जो मेरे बिना हो ॥ ३९ ॥ परंतप ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है, मैंने अपनी विभूतियोंका यह विस्तार तो तुझे संक्षेपसे कहा है ॥ ४० ॥ जो-जो भी विभूतियुक्त (ऐश्वर्ययुक्त), कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान ॥ ४१ ॥ अथवा अर्जुन ! इस बहुत जाननेसे तुझे क्या प्रयोजन है ? मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी योगशक्तिके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ ॥ ४२ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'विभूतियोग' नामक दशम अध्याय (महाभारत भीष्मपर्व अध्याय ३४)
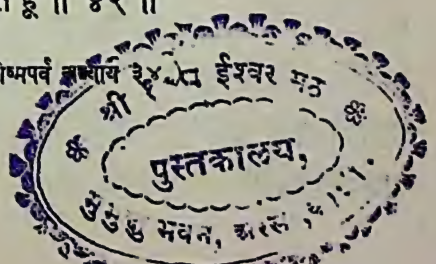
श्रीमद्भगवद्गीता एकादश अध्याय

विश्वरूपका दर्शन करानेके लिये अर्जुनकी प्रार्थना, भगवान् और संजयद्वारा विश्वरूपका वर्णन, अर्जुनके द्वारा भगवान्के विश्वरूपका दर्शन, भयभीत अर्जुनके द्वारा भगवान्की स्तुति-प्रार्थना, भगवान्के द्वारा विश्वरूप और चतुर्भुजरूपके दर्शनकी महिमा और अनन्य भक्तिसे ही भगवान्की प्राप्तिका कथन

विश्वरूपका दर्शन करानेके लिये अर्जुनकी प्रार्थना

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत् त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥
एवमेतद् यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

अर्जुन बोले—मुझपर अनुग्रह करनेके लिये आपने जो परम गोपनीय अध्यात्मविषयक वचन कहा, उससे मेरा मोह नष्ट हो गया है ॥ १ ॥ क्योंकि कमलनेत्र ! मैंने आपसे भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलय विस्तारपूर्वक सुने हैं तथा आपका अविनाशी माहात्म्य भी सुना है ॥ २ ॥ परमेश्वर ! आप अपनेको जैसा बतलाते हैं, यह ठीक वैसा ही है; परंतु पुरुषोत्तम ! आपके (ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजसे युक्त) ऐश्वर-रूपको मैं प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ ॥ ३ ॥ प्रभो ! यदि मेरेद्वारा आपका वह ऐश्वर-रूप देखा जाना सम्भव है—आप ऐसा मानते हैं, तो योगेश्वर ! उस अविनाशी स्वरूपके मुझे दर्शन कराइये ॥ ४ ॥

भगवान्के द्वारा विश्वरूपका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥
पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥
इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

श्रीभगवान् बोले—पार्थ ! अब तू मेरे सैकड़ों-हजारों नाना प्रकारके, नाना वर्ण और नाना आकृतिवाले अलौकिक रूपोंको देख ॥ ५ ॥ भरतवंशी अर्जुन ! मुझमें (बारहों) आदित्यों, (आठों) वसुओं, (एकादश) रुद्रों, (दोनों) अश्विनीकुमारों और (उन्चास) मरुद्गणोंको देख तथा और भी बहुत-से (पहले) न देखे हुए आश्चर्यमय रूपोंको देख ॥ ६ ॥ गुडाकेश अर्जुन ! अब इस मेरे शरीरमें एक ही देशमें स्थित चराचरसहित सम्पूर्ण जगत् तथा और भी जो कुछ देखना चाहता हो, सो सब देख ॥ ७ ॥ परंतु मुझको तू इन अपने (प्राकृत) नेत्रोंद्वारा नहीं देख सकता है। अतएव मैं तुझे दिव्य (अप्राकृत) चक्षु देता हूँ, उससे तू मेरे ऐश्वर-योग (ईश्वरीय योगशक्ति) को देख ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्रके प्रति संजयके द्वारा विश्वरूपका वर्णन

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥
तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

संजय बोले—राजन्! इस प्रकार कहनेके अनन्तर महायोगेश्वर और सब पापोंके हरण करनेवाले भगवान्ने अर्जुनको परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्य स्वरूप दिखलाया ॥ ९ ॥ अनेक मुख और नेत्रोंसे युक्त, अनेक अद्भुत दर्शनोंवाले बहुत-से दिव्य आभूषणोंसे युक्त और बहुत-से दिव्य शस्त्रोंको हाथोंमें उठाये हुए, दिव्य माला और वस्त्रोंको धारण किये हुए, दिव्य गन्धका सारे शरीरमें लेपन किये हुए, सब प्रकारके आश्चर्योंसे युक्त, सीमारहित और सब ओर मुख किये हुए विराट्-स्वरूप परमदेव परमेश्वरको अर्जुनने देखा ॥ १०–११ ॥ आकाशमें सहस्र सूर्योंके एक साथ उदय होनेसे उत्पन्न जो प्रकाश हो, वह भी उस विश्वरूप भगवान्के प्रकाशके सदृश कदाचित् ही हो ॥ १२ ॥ पाण्डुपुत्र अर्जुनने उस समय अनेक प्रकारसे विभक्त पृथक्-पृथक् सम्पूर्ण जगत्को देवोंके देव (श्रीकृष्ण भगवान्-) के शरीरमें एक देशमें स्थित देखा ॥ १३ ॥ तब विस्मयमें भरे हुए वे पुलकित-शरीर अर्जुन (उन) प्रकाशमय विश्वरूप श्रीकृष्णको श्रद्धा-भक्तिसहित सिरसे प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोले—॥ १४ ॥

अर्जुनके द्वारा विश्वरूपके दर्शन और विश्वरूपका स्तवन

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्
दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥
अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद् भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

अर्जुन बोले— देव! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवोंको, अनेक भूतोंके विभिन्न समुदायोंको, कमलके आसनपर विराजित ब्रह्माको, महादेवको और समस्त ऋषियोंको तथा दिव्य सर्पोंको देख रहा हूँ ॥ १५ ॥ सम्पूर्ण विश्वके स्वामिन्! आपको मैं अनेक भुजा, उदर, मुख और नेत्रोंसे युक्त तथा सब ओरसे अनन्त रूपोंवाला देख रहा हूँ। विश्वरूप! मैं न आपके अन्तको देख पाता हूँ, न मध्यको और न आदिको ही ॥ १६ ॥ आपको मैं मुकुटयुक्त, गदायुक्त, चक्रयुक्त तथा सब ओरसे देदीप्यमान तेजके पुञ्ज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्यके सदृश ज्योतियुक्त, कठिनतासे देखे जानेयोग्य और सब ओरसे अप्रमेयरूप देख रहा हूँ ॥ १७ ॥ आप ही जानने योग्य परम अक्षर (परब्रह्म परमात्मा) हैं, आप ही इस विश्वके परम निधान हैं, आप ही शाश्वत धर्मके रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं, ऐसा मेरा मत है ॥ १८ ॥ आपको आदि, मध्य और अन्तसे रहित, अनन्त सामर्थ्यसे युक्त, अनन्त भुजावाले, चन्द्र-सू

नेत्रोंवाले, प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाले और अपने तेजसे इस विश्वको तपाते हुए देख रहा हूँ ॥ १९ ॥ महात्मन् ! यह द्युलोक और पृथ्वीके बीचका सम्पूर्ण आकाश तथा सारी दिशाएँ एक आपसे ही व्याप्त हैं। आपके इस अद्भुत और उग्र रूपको देखकर तीनों लोक अत्यन्त व्यथित हो रहे हैं ॥ २० ॥ वे देवताओंके समूह आपमें प्रवेश कर रहे हैं; कितने ही भयभीत होकर हाथ जोड़े आपके नाम और गुणोंका गान कर रहे हैं। महर्षियों और सिद्धोंके समुदाय 'कल्याण हो'— ऐसा कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रोंद्वारा आपका स्तवन कर रहे हैं ॥२१॥ जो (ग्यारह) रुद्र, (बारह) आदित्य, (आठ) वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, (दोनों) अश्विनीकुमार तथा (उनचास) मरुद्गण, पितरोंका समुदाय, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धोंके समुदाय हैं, वे सब-के-सब विस्मित होकर आपको देख रहे हैं ॥ २२ ॥

रूपं महत् ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद् विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत् समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

महाबाहो ! आपके बहुत मुख और नेत्रोंवाले, बहुत हाथ, जाँघ और पैरोंवाले, बहुत उदरोंवाले और बहुत-सी दाढ़ोंके कारण अत्यन्त विकराल महान् रूपको देखकर सब लोग अत्यन्त व्यथित हो रहे हैं तथा मैं भी अति व्यथित हो रहा हूँ ॥ २३ ॥ क्योंकि हे विष्णो ! आकाशको स्पर्श करनेवाले, देदीप्यमान, अनेक वर्णोंसे युक्त तथा फैलाये हुए मुखों और प्रज्वलित विशाल नेत्रोंसे युक्त आपको देखकर भयभीत अन्तःकरणवाला मैं धैर्य और शान्ति नहीं पा रहा हूँ ॥ २४ ॥ दाढ़ोंके कारण विकराल और प्रलयकी अग्निके समान प्रज्वलित आपके मुखोंको देखकर न तो मुझे दिशाओंका ज्ञान ही रह गया है और न मैं शान्ति ही पा रहा हूँ। इसलिये हे देवेश ! जगन्निवास ! आप प्रसन्न हों ॥ २५ ॥ वे सभी धृतराष्ट्रके पुत्र राजाओंके समुदायसहित आपमें प्रवेश कर रहे हैं। भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, सूतपुत्र कर्ण और हमारे पक्षके भी प्रधान योद्धाओंके सहित सब-के-सब आपके विकराल भयानक दाढ़ोंवाले मुखोंमें बड़े वेगसे दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं और कई एक चूर्ण हुए सिरोंसहित आपके दाँतोंके बीचमें लगे हुए दिख रहे हैं ॥ २६-२७ ॥ जैसे नदियोंके बहुत-से जल-प्रवाह स्वाभाविक ही समुद्रके ही सम्मुख दौड़ते हैं (समुद्रमें प्रवेश करते हैं), वैसे ही वे नरलोकके वीर भी आपके प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं। जैसे पतिंगे मोहवश नष्ट होनेके लिये प्रज्वलित अग्निमें अतिवेगसे दौड़ते हुए प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी अपने नाशके लिये आपके मुखोंमें अतिवेगसे प्रवेश कर रहे हैं ॥ २८-२९ ॥ आप उन अपने प्रज्वलित मुखोंद्वारा सम्पूर्ण लोकोंको ग्रास करते हुए सब ओरसे बार-

बार चाट रहे हैं । विष्णो ! आपका उग्र प्रकाश समस्त जगत्को अपने तेजके द्वारा परिपूर्ण करके तपा रहा है ॥ ३० ॥ आप उग्ररूपवाले कौन हैं ? यह मुझे बतलाइये । देवोंमें श्रेष्ठ ! आपको नमस्कार हो । आप प्रसन्न होइये । आप आदिपुरुषको मैं विशेषरूपसे जानना चाहता हूँ; क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्तिको जान नहीं पा रहा हूँ ॥ ३१ ॥

भगवान्के द्वारा लोकसंहारकारी अपने कालरूपका वर्णन और अर्जुनको युद्धके लिये उत्साह-प्रदान

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥
तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

श्रीभगवान् बोले—मैं लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ और इस समय इन लोकोंका संहार करनेमें प्रवृत्त हूँ । अतएव प्रतिपक्षियोंकी सेनामें स्थित जो योद्धागण हैं, वे सब तेरे बिना भी नहीं बचेंगे (युद्धमें तेरे द्वारा न मारे जानेपर भी इन सबका नाश हो जायगा) ॥ ३२ ॥ अतएव तू उठ ! शत्रुओंको जीतकर यश प्राप्त कर और धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको भोग । ये सब शूरवीर पहलेसे ही मेरे ही द्वारा मारे हुए हैं । सव्यसाचिन् ! तू तो केवल निमित्तमात्र बन जा ॥ ३३ ॥ द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह, जयद्रथ, कर्ण तथा और भी बहुत-से मेरे द्वारा (पहलेसे) मारे हुए शूरवीर योद्धाओंको तू मार । भय मत कर । निस्संदेह तू युद्धमें वैरियोंको निश्चय ही जीतेगा । अतएव युद्ध कर ॥ ३४ ॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

संजय बोले—केशव भगवान्के इस वचनको सुनकर मुकुटधारी अर्जुन हाथ जोड़कर काँपते हुए नमस्कार करके और अत्यन्त डरते-डरते पुनः प्रणाम करके भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गद्गद वाणीसे बोले—॥ ३५ ॥

भयभीत अर्जुनके द्वारा भगवान्की स्तुति और चतुर्भुज रूप प्रकट करनेके लिये प्रार्थना

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥
कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत् तत्परं यत् ॥३७॥
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

अर्जुन बोले—इन्द्रियोंके स्वामी अन्तर्यामी भगवन् !

यह उचित ही है जो आपके नाम, गुण और प्रभावके कीर्तनसे समस्त जगत् अति हर्षित है और अनुरागको भी प्राप्त हो रहा है। तथा राक्षसलोग भयभीत होकर दिशाओंमें भाग रहे हैं एवं सब सिद्धोंके समूह आपको नमस्कार कर रहे हैं ॥ ३६ ॥ महात्मन् ! ब्रह्माके भी आदिकर्ता और सबसे श्रेष्ठ आपके लिये वे कैसे नमस्कार न करें; क्योंकि अनन्त ! देवेश ! जगन्निवास ! जो सत्, असत् और उससे भी परे (पुरुषोत्तम) है, वह आप ही हैं ॥ ३७ ॥ आप आदिदेव और पुरातन पुरुष हैं; इस जगत्के परम निधान और जाननेवाले, जाननेयोग्य तथा परमधाम हैं। अनन्तरूप ! आपसे यह समस्त विश्व व्याप्त (परिपूर्ण) है ॥ ३८ ॥ आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजाके स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्माके भी पिता हैं। आपके प्रति सहस्र-सहस्र नमस्कार ! नमस्कार !! आपके प्रति पुनः बार-बार नमस्कार ! नमस्कार !! ॥ ३९ ॥ अनन्त सामर्थ्यवाले ! आपको आगेसे तथा पीछेसे भी नमस्कार । सर्वात्मन् ! आपको सभी ओरसे नमस्कार हो; अनन्त पराक्रमशाली आप समस्त संसारको व्याप्त किये हुए हैं; इससे आप ही सर्वरूप हैं ॥ ४० ॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥४१॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥
पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥
तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देवरूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

आपकी इस महिमाको न जाननेवाले मुझ मूढ़के द्वारा—'आप मेरे सखा हैं'—ऐसा मानकर प्रेमवश या प्रमादसे जो 'हे यादव ! हे कृष्ण ! हे सखे'—इस प्रकार अविनयपूर्वक बिना सोचे-समझे कहा गया है और अच्युत ! परिहास (विनोद) के लिये चलते, सोते, बैठते और भोजन करते समय अकेलेमें अथवा उन सखाओंके सामने आप जो तिरस्कृत किये गये हैं, वह सारा अपराध आप अप्रमेयस्वरूप (अचिन्त्य महिमामय) परमेश्वरसे मैं क्षमा करवाता हूँ ॥ ४१-४२ ॥ आप इस चराचर लोकके पिता और सबसे बड़े गुरु एवं परम पूजनीय हैं, अनुपम प्रभावशाली ! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है (फिर आपसे) बढ़कर तो कैसे हो सकता है ? ॥ ४३ ॥ अतएव प्रभो ! मैं शरीरको भलीभाँति चरणोंमें निवेदित कर, प्रणाम करके, स्तुति करने योग्य आप ईश्वरसे प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ। देव ! पिता जैसे पुत्रके, सखा जैसे सखाके और स्वामी जैसे प्रियतमा पत्नीके अपराध सहन करते हैं—क्षमा करते हैं—वैसे ही आपको भी मेरे अपराध सहन (क्षमा) करने उचित हैं ॥ ४४ ॥ पहले न देखे हुए आपके इस आश्चर्यमय रूपको देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ; परंतु साथ ही मेरा मन भयसे अत्यन्त व्यथित भी हो रहा है। इसलिये आप उस अपने चतुर्भुज रूपको ही मुझे दिखलाइये। देवेश ! जगन्निवास ! प्रसन्न होइये ॥ ४५ ॥ मैं आपको वैसे ही मुकुट धारण किये हुए, गदा और चक्र हाथमें लिये हुए देखना चाहता हूँ। विश्वरूप ! सहस्रबाहो ! आप उसी चतुर्भुजरूपसे युक्त होइये ॥ ४६ ॥

भगवान्के द्वारा अपने स्वरूपदर्शनकी महिमाका कथन और चतुर्भुज सौम्य रूपके दर्शन कराना

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।

तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन ! प्रसन्न हुए मुझ परमेश्वरके द्वारा आत्मयोगसे—अपनी योगशक्तिके प्रभावसे तुझको यह मेरा परम तेजोमय, सबका आदि और सीमारहित वह विराट्रूप दिखलाया गया है, जो तेरे अतिरिक्त दूसरे किसीके द्वारा पहले नहीं देखा गया था ॥ ४७ ॥ कुरुकुलमें श्रेष्ठ अर्जुन ! मनुष्यलोकमें इस प्रकार विश्वरूपवाला मैं न वेदसे, न यज्ञोंके अध्ययनसे, न दानोंसे, न क्रियाओंसे और न उग्र तपोंसे ही तेरे अतिरिक्त दूसरेके द्वारा देखा जा सकता हूँ ॥ ४८ ॥ मेरे इस प्रकारके इस घोर रूपको देखकर तुझको व्यथित और मूढ़भावापन्न नहीं होना चाहिये । तू भय छोड़कर, प्रेमभरे मनसे पुनः मेरे उसी चतुर्भुज रूपको फिर देख ॥ ४९ ॥

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

संजय बोले—वासुदेव भगवान्ने अर्जुनके प्रति इस प्रकार कहकर फिर वैसे ही अपने चतुर्भुज रूपको दिखलाया । इस प्रकार महात्मा श्रीकृष्णने सौम्य विग्रह होकर इस भयभीत अर्जुनको धीरज दिया ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

अर्जुन बोले—जनार्दन ! आपके इस परम सौम्य मनुष्यरूपको देखकर अब मैं सचेत हो गया हूँ और अपनी प्रकृति (स्वाभाविक स्थिति) को प्राप्त हो गया हूँ ॥ ५१ ॥

अनन्य भक्तिसे ही भगवान्के दर्शन, ज्ञान तथा उनमें प्रवेशकी योग्यताका और अनन्य भक्तिके स्वरूपका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

श्रीभगवान् बोले—मेरा जो रूप तुमने देखा है, यह सुदुर्दर्श है (इसके दर्शन बड़े ही दुर्लभ हैं) । देवता भी सदा इस रूपके दर्शनकी आकाङ्क्षा करते रहते हैं ॥ ५२ ॥ जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है—उस प्रकार मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ ॥ ५३ ॥ परंतु परंतप अर्जुन ! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये भी शक्य हूँ ॥ ५४ ॥ अर्जुन ! जो पुरुष

केवल मेरे ही कर्म करनेवाला है, मेरे ही परायण है, मेरा ही भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है—वह (अनन्यभक्तियुक्त) पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है * ॥ ५५ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'विश्वरूपदर्शनयोग' नामक एकादश अध्याय (महाभारत भीष्मपर्व अध्याय ३५) ।

श्रीमद्भगवद्गीता द्वादश अध्याय

साकार और निराकारके उपासकोंकी उत्तमताका निर्णय तथा भगवत्प्राप्तिके उपायका वर्णन एवं भगवत्प्राप्त भगवान्‌के प्रिय भक्तोंके लक्षण

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—जो अनन्यप्रेमी भक्तजन पूर्वोक्त प्रकारसे निरन्तर आपके भजन-ध्यानमें लगे रहकर आप दिव्य मङ्गल-विग्रह साकार-सगुणस्वरूप भगवान्‌को और दूसरे जो केवल अक्षर सच्चिदानन्दघन अव्यक्त ब्रह्मको ही अति श्रेष्ठ भावसे भजते हैं, उन दोनों प्रकारके उपासकोंमें अति उत्तम योगवेत्ता कौन हैं ? ॥ १ ॥

दिव्य-मङ्गलविग्रह भगवान् और अव्यक्त अक्षरके उपासकोंकी श्रेष्ठताका निर्णय

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

श्रीभगवान् बोले—मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ दिव्य साकार-सगुणस्वरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं ॥ २ ॥ परंतु जो पुरुष

---

* (१) कर्म करके भगवान्‌के अर्पण करना (तत्कुरुष्व मदर्पणम् ९ । २५), (२) भगवान्‌के ही लिये कर्म करना (मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि—१२ । १०) और (३) भगवान्‌के ही कर्म करना—इनमें पहले दोनोंमें भी उसके कर्म भगवान्‌के ही अर्पण होते हैं। परंतु इस तीसरेमें तो उसके अपने कर्म कुछ रह ही नहीं गये हैं। वह भगवान्‌रूप यन्त्रीके संचालनसे यन्त्रकी भाँति भगवान्‌के ही कर्म करता है—'मत्कर्मकृत्' से यही तात्पर्य प्रतीत होता है।

'मत्परमः' से यह भाव प्रतीत होता है कि भगवान् ही जिसके परम गति, परम प्रियतम, परम आश्रय, परम धन, परम साध्य और परम साधन भी हैं। जो भगवान्‌के सिवा किसीसे कोई सम्बन्ध ही नहीं रखता।

ऐसा 'भगवत्कर्मकृत्' और 'भगवत्परायण' पुरुष ही सच्चे अर्थमें भगवान्‌का 'अनन्य भक्त' होता है और फिर उसका सर्वत्र सर्वथा आसक्तिशून्य तथा प्राणिमात्रमें वैरभावसे रहित होना तो स्वाभाविक ही है, पर राग-द्वेषके रहते कोई भूलसे यह न मान ले कि 'मैं भगवत्कर्मी और भगवत्परायण भक्त हूँ'—इसलिये भी उसमें राग-द्वेषका अभाव बतलाया जाना सर्वथा युक्त है।

इन्द्रियोंके समुदायको भलीभाँति वशमें करके मन-बुद्धिसे परे, सर्वव्यापी, अचिन्त्य-स्वरूप और कूटस्थ, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर अभिन्नभावसे ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत और सबमें समान भाववाले योगी भी मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥ ३-४ ॥ उन अव्यक्त निराकार ब्रह्ममें आसक्त चित्तवालोंके क्लेश अधिकतर हैं; क्योंकि देहाभिमानियोंके द्वारा अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है*॥५॥ परंतु जो भक्त सम्पूर्ण कर्मोंका मुझमें संन्यास (पूर्ण समर्पण) करके, मेरे परायण, (मुझको ही अनन्य-गति, अनन्य प्रियतम, अनन्य साध्य और अनन्य साधन माननेवाले) होकर, अनन्य भक्तियोगके द्वारा निरन्तर मेरा चिन्तन करते हुए मुझको ही भजते हैं; अर्जुन ! उन मुझमें आविष्टचित्त प्रेमी भक्तोंका मृत्युरूप संसारसागरसे मैं शीघ्र ही समुद्धार (भलीभाँति पार) करनेवाला होता हूँ। (उन्हें अपने साधन-बलपर प्रयास करके—तैरकर संसार-समुद्र पार नहीं करना पड़ता। मैं अखिल-सौन्दर्य-माधुर्य-निधि स्वयं अपने साथ उन्हें सुखमय सुदृढ़ कृपा-पोतपर चढ़ाकर तुरंत ही पार उतार देता हूँ) ॥ ६-७ ॥

भगवत्प्राप्तिका उपाय

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥१२॥

अतः तू मुझमें मन लगा और मुझमें ही बुद्धि लगा; इसके अनन्तर तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ ८ ॥ यदि तू चित्तको मुझमें स्थिरता-पूर्वक स्थापन करनेमें समर्थ नहीं है तो अर्जुन ! अभ्यास-रूप योगके द्वारा मुझे प्राप्त करनेकी इच्छा कर ॥ ९ ॥ यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है, तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे लिये कर्मोंको करता हुआ भी तू मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा ॥ १० ॥ यदि मेरी प्राप्तिरूप योगके आश्रित होकर उपर्युक्त (मदर्थकर्मरूप) साधन करनेमें भी तू असमर्थ है तो मन-बुद्धि आदिपर विजय प्राप्त करके समस्त कर्मोंके फलका त्याग कर ॥ ११ ॥ (मर्मको न समझकर किये हुए) अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे (मुझ भगवान्‌के स्वरूपका) ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्तिकी प्राप्ति होती है ॥ १२ ॥

भगवान्‌के प्रिय भक्तोंके लक्षण

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

* भगवान्‌का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि जो इस प्रकारके साधन-सम्पन्न हों तो वे भी मुझको ही प्राप्त होते हैं, पर वे मेरे ब्रह्मस्वरूपसे अभिन्नता प्राप्त करते हैं। मुझ दिव्य साकार सगुण मङ्गलविग्रहकी सेवा उन्हें नहीं प्राप्त होती और उनकी इस सफलताका दायित्व भी उन्हींपर है, मैं उन्हें संसार-सागरसे पार नहीं करता।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥१७॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥१९॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्धाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, सबका ही स्वार्थरहित मित्र और हेतुरहित दयालु, ममता और अहंकारसे रहित, दुःख-सुखोंकी प्राप्तिमें सम, क्षमाशील (अपराध करनेवालेंका भी कल्याण करनेवाला), योगी, निरन्तर संतुष्ट, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें रखनेवाला और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है, वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है ॥ १३-१४ ॥ जिससे किसी जीवको उद्वेग नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवके द्वारा उद्वेगको प्राप्त नहीं होता; जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है, वह भक्त मुझको प्रिय है ॥ १५॥ जो पुरुष आकाङ्क्षासे रहित, बाहर-भीतरसे शुद्ध, दक्ष, उदासीन—पक्षपातसे रहित और व्यथाओंसे मुक्त है, वह (अपने लिये) सारे आरम्भोंका त्यागी मेरा भक्त मुझको प्रिय है ॥ १६ ॥ जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न आकाङ्क्षा करता है तथा जो शुभ-अशुभ (दोनों प्रकारके) सम्पूर्ण कर्मों-का त्यागी है, वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है॥ १७॥ जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है, सर्दी-गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है, आसक्तिसे रहित है, निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला है, मौन (मननशील) है, जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा संतुष्ट है और घरमें (रहनेके स्थानमें) ममता और आसक्तिसे रहित है, वह स्थिर-बुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है ॥ १८-१९॥ परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस उपर्युक्त धर्ममय अमृतका निष्काम प्रेम भावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं ॥ २०॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'भक्तियोग' नामक द्वादश अध्याय (महाभारत भीष्मपर्व अध्याय ३६)।

श्रीमद्भगवद्गीता त्रयोदश अध्याय

ज्ञानसहित क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ और प्रकृति-पुरुषका वर्णन

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका स्वरूप

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत् तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥
तत् क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत् समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥
महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

श्रीभगवान् बोले—कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह [शरीर] 'क्षेत्र'—इस नामसे कहा जाता है और इस[को] जो जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ'—इस नामसे [उसके] तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं ॥ १ ॥

सब क्षेत्रोंमें तू क्षेत्रज्ञ भी मुझको ही जान और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका (विकारसहित प्रकृतिका और पुरुषका) जो तत्त्वसे जानना है, वह ज्ञान है—ऐसा मेरा मत है ॥ २ ॥ वह क्षेत्र जो और जैसा है तथा जिन विकारोंवाला है और जिस कारणसे जो हुआ है, तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो और जिस प्रभाववाला है—वह सब संक्षेपमें मुझसे सुन ॥३॥ (यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व) ऋषियोंके द्वारा बहुत प्रकारसे कहा गया है और विविध वेदमन्त्रोंके द्वारा भी विभागपूर्वक बतलाया गया है तथा भलीभाँति निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है ॥ ४ ॥(पाँच) महाभूत, अहंकार, बुद्धि और मूल प्रकृति, दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध), इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख, स्थूल देहका पिण्ड, चेतना और धृति—इस प्रकार विकारोंके सहित यह क्षेत्र संक्षेपमें बतलाया गया ॥ ५-६ ॥

साधन-ज्ञान

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

मानहीनता, दम्भहीनता, अहिंसा (किसी भी प्राणीको किसी प्रकार भी न सताना), क्षमा, मन-वाणीकी सरलता, (श्रद्धा-भक्तिसहित) आचार्यसेवा, (बाहर-भीतरकी) शुद्धि, (अन्तःकरणकी) स्थिरता और मन-इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह; इन्द्रियोंके भोगोंमें वैराग्य और अहंकारहीनता, जन्म, मृत्यु, जरा (बुढ़ापा) एवं रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार देखना; पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें अनासक्ति, ममताका अभाव, प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना; मुझ भगवान्‌में अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव, विषयासक्त जन-समुदायमें अप्रीति, अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको ही देखना—यह सब ज्ञान है और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान है—ऐसा कहा है ॥ ७-११ ॥

ज्ञेयस्वरूप परमात्माके स्वरूपका वर्णन और उसके ज्ञानसे भक्तको भगवद्भावकी प्राप्ति

ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत् परं ब्रह्म न सत् तन्नासदुच्यते ॥१२॥
सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात् तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥१६॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

जो ज्ञेय (जानने योग्य) है तथा जिसको जान-कर (मनुष्य) अमृतत्वको प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा। वह अनादिमत्* परम ब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही ॥ १२ ॥ वह सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है; वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है ॥ १३ ॥ वह सब इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है, परंतु सब इन्द्रियोंसे रहित है, आसक्ति-रहित होनेपर भी सबका धारण-पोषण करनेवाला और निर्गुण होनेपर भी गुणोंका भोक्ता है ॥ १४ ॥ वह चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचररूप भी वही है, वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है; तथा वह अति समीप भी है और दूरमें भी स्थित है ॥ १५ ॥ वह परमात्मा विभागरहित होनेपर भी चराचर सम्पूर्ण भूतोंमें विभक्त-सा स्थित प्रतीत होता है तथा वह ज्ञेय (जाननेयोग्य परमात्मा) सब भूतोंको धारण-पोषण करनेवाला, संहार करनेवाला तथा सबको उत्पन्न करनेवाला है ॥ १६ ॥ वह ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है। वह ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानगम्य (तत्त्वज्ञानसे प्राप्त करने योग्य) है और सबके हृदयमें स्थित है ॥ १७॥ इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयका स्वरूप संक्षेपसे कहा गया। मेरा भक्त इसको तत्त्वसे जानकर मेरे भावको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

परमात्माके ज्ञानसहित प्रकृति-पुरुषका वर्णन

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥१९॥
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥२२॥
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥
ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥
यावत् संजायते किंचित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।

---

* इस श्लोकमें आये हुए 'अनादिमत् परम्'का कुछ आचार्योंने 'अनादि' 'मत्परम्'के रूपमें पदच्छेद किया है। अर्वाचीन ही नहीं, प्रातःस्मरणीय भाष्यकार आचार्य श्रीशंकराचार्यके गीताभाष्य लिखते समय सम्भवतः उनके सामने भी गीताकी ऐसी कई टीकाएँ वर्तमान थीं, जिनमें 'अनादि' 'मत्परम्' पदच्छेद करके उसका यह अर्थ किया गया था कि 'मैं वासुदेव कृष्ण ही जिसकी शक्ति हूँ, वह ज्ञेय मत्परम् है।'

भगवान् शंकराचार्यके शब्द ये हैं—'अत्र केचिद् अनादि मत्परम् इति पदं छिन्दन्ति·····अर्थविशेषं च दर्शयन्ति 'अहं वासुदेवाख्यापराशक्तिः यस्य तद् मत्परम्' इति·····''

'मत्परम्' पदच्छेद करनेसे ये अर्थ भी होते हैं—'ब्रह्म मेरी ही एक परम सत्ता है।' 'मैं ब्रह्मका आश्रय हूँ।' आदि। और ज्ञेय-तत्त्वके जाननेके बाद इसी भगवद्भाव (भगवत्स्वरूप-) की प्राप्ति होती है। गीता चतुर्दश अध्यायमें 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' से भी यही अर्थ निकलता है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद् विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

प्रकृति और पुरुष—इन दोनोंको ही तू अनादि जान और सब विकारोंको तथा त्रिगुणोंको प्रकृतिसे ही उत्पन्न जान ॥ १९ ॥ कार्य और करणको उत्पन्न करनेमें हेतु प्रकृति कही जाती है और सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें (भोगनेमें) हेतु पुरुष (जीवात्मा) कहा जाता है ॥ २० ॥ प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही प्रकृतिके गुणोंको भोगता है और इन गुणोंका संग ही उसके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है (यह प्रकृतिस्थ पुरुष ही जीवात्मा है) ॥ २१ ॥ इस देहमें स्थित परमपुरुष साक्षी होनेसे उपद्रष्टा, यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता, सबका धारण-पोषण करनेवाला होनेसे भर्ता, जीवरूपसे भोक्ता, सबका महान् ईश्वर होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होनेसे परमात्मा है—ऐसा कहा गया है ॥ २२ ॥ इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको जो तत्त्वसे जानता है, वह सब प्रकारसे कर्तव्य-कर्म करता हुआ भी फिर जन्म ग्रहण नहीं करता ॥ २३ ॥ उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो (शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे) ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं; अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं ॥ २४ ॥ दूसरे, इस प्रकार न जानते हुए (कितने ही) दूसरोंसे (तत्त्वको जाननेवालोंसे) सुनकर ही उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निश्चय ही तर जाते हैं ॥ २५ ॥ अर्जुन ! जितने भी स्थावर-जङ्गम प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सबको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न जान ॥ २६ ॥ जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें परमेश्वरको नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही (यथार्थ) देखता है ॥ २७ ॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम्॥२८॥
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥३०॥
अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥३२॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

क्योंकि जो पुरुष सबमें समभावसे स्थित परमेश्वरको समान देखता हुआ अपने द्वारा अपनेको नष्ट नहीं करता, तभी वह परमगतिको प्राप्त होता है ॥२८॥ जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिके द्वारा ही किये जाते हुए देखता है और आत्माको अकर्ता देखता है, वही (यथार्थ) देखता है ॥ २९ ॥ जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक (परमात्मा-)में ही स्थित तथा उस (परमात्मा-) से ही सम्पूर्ण भूतोंके विस्तारको देखता है, उसी क्षण वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ ३० ॥ कुन्तीपुत्र अर्जुन ! अनादि और निर्गुण होनेसे यह अविनाशी परमात्मा शरीरमें स्थित होनेपर भी वास्तवमें न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है ॥ ३१ ॥ जैसे सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही देहमें सर्वत्र स्थित आत्मा (निर्गुण होनेके कारण देहके गुणोंसे) लिप्त नहीं होता ॥ ३२ ॥ अर्जुन ! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही

आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है ॥ ३३ ॥ इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त होनेको जो पुरुष ज्ञान-नेत्रोंके द्वारा तत्त्वसे जान लेते हैं, वे परम ब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग' नामक त्रयोदश अध्याय (महाभारत भीष्मपर्व अध्याय ३७)।

श्रीमद्भगवद्गीता चतुर्दश अध्याय

ज्ञानकी महिमा और प्रकृति-पुरुषसे जगत्‌की उत्पत्तिका, सत्त्व-रज-तम—तीनों गुणोंका, भगवत्प्राप्तिके साधनोंका एवं गुणातीत पुरुषके लक्षणोंका वर्णन

ज्ञानकी महिमा

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—ज्ञानोंमें अति उत्तम परम ज्ञानको मैं फिर कहता हूँ, जिसको जानकर सब मुनिजन इस संसारसे मुक्त होकर परम सिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं ॥ १ ॥ इस ज्ञानका आश्रय लेकर मेरे साधर्म्यको प्राप्त हुए पुरुष न तो सृष्टिके आदिमें पुनः उत्पन्न होते हैं और न प्रलयकालमें व्यथित होते हैं ॥ २ ॥

प्रकृति माता, भगवान् पिता

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

भारत ! मेरी महद्-ब्रह्मरूप मूल प्रकृति योनि है । मैं उसमें चेतन-समुदायरूप गर्भको स्थापन करता हूँ । उस (जड-चेतनके संयोग-) से सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥ कुन्तीपुत्र अर्जुन ! सब योनियोंमें नाना प्रकारकी जितनी मूर्तियाँ (शरीरधारी प्राणी) उत्पन्न होती हैं, प्रकृति उन सबकी गर्भ धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ ॥ ४ ॥

सत्त्व, रज, तम तीनों गुणोंके विभिन्न परिणाम

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

अर्जुन ! प्रकृतिसे उत्पन्न सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—ये तीनों गुण अविनाशी जीवात्माको देहमें बाँध लेते हैं ॥ ५ ॥ निष्पाप ! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण तो निर्मल होनेके कारण प्रकाशक और विकाररहित है; वह सुखके सम्बन्धसे और ज्ञानके सम्बन्धसे अर्थात् उसके अभिमानसे बाँधता है ॥ ६ ॥ कुन्तीपुत्र अर्जुन ! रागात्मक रजोगुणको तृष्णा और आसक्तिसे उत्पन्न जान । वह इस जीवात्माको कर्मोंके (और उनके फलके) सम्बन्धसे बाँधता है ॥ ७ ॥ अर्जुन ! सब देहाभिमानियोंको मोहित करनेवाले तमोगुणको तू अज्ञानसे उत्पन्न जान । वह इस जीवात्माको प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा बाँधता है ॥ ८ ॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

अर्जुन ! सत्त्वगुण सुखमें लगाता है और रजोगुण कर्ममें, परंतु तमोगुण तो ज्ञानको ढककर प्रमादमें लगाता है ॥ ९ ॥ अर्जुन ! रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुण, वैसे ही सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुण होता (बढ़ता) है ॥ १० ॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

जिस समय इस देहमें तथा अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनता और ज्ञान उत्पन्न होता है, उस समय ऐसा जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है ॥११॥ भरतश्रेष्ठ ! रजोगुणके बढ़नेपर लोभ, प्रवृत्ति, आरम्भ, अशान्ति और भोग-स्पृहा—ये सब उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥ कुरुनन्दन ! तमोगुणके बढ़नेपर अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें अप्रकाश, कर्त्तव्य-कर्मोंमें अप्रवृत्ति, प्रमाद (करने योग्य कार्य न करना और न करने योग्य कार्य करना) और निद्रादि अन्तःकरणकी मोहिनी वृत्तियाँ— ये सब उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥१४॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

जब यह जीवात्मा सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होता है तब वह उत्तम तत्त्वको जाननेवालोंके निर्मल दिव्य लोकोंको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥ रजोगुणकी वृद्धिके समय मृत्युको प्राप्त होकर कर्मासक्त मनुष्योंमें उत्पन्न होता है तथा तमोगुणके बढ़नेपर मरा हुआ मनुष्य पशु, कीट आदि मूढ़ योनियोंमें उत्पन्न होता है ॥ १५ ॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥
सत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

श्रेष्ठ कर्मका फल सात्त्विक (सुख, ज्ञान और वैराग्यादि-रूप) निर्मल होता है । राजस कर्मका फल दुःख और तामस कर्मका फल अज्ञान होता है, ऐसा कहा गया है ॥ १६ ॥ सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुणसे निश्चय ही लोभ एवं तमोगुणसे प्रमाद और मोह तथा अज्ञान उत्पन्न होता है ॥ १७ ॥ सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें (मनुष्यलोकमें) ही रहते हैं और तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद तथा आलस्यादिमें स्थित तामस पुरुष अधोगतिको (कीट, पशु आदि नीच योनियोंको तथा नरकोंको) प्राप्त होते हैं ॥ १८ ॥

भगवत्प्राप्तिके साधन

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

जिस समय द्रष्टा तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता

है, उस समय वह मेरे भावको प्राप्त होता है॥ १९॥ यह पुरुष शरीरकी उत्पत्तिके कारणरूप इन तीनों गुणोंको उल्लङ्घन करके जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त होकर अमृतत्वको प्राप्त होता है॥ २०॥

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते॥२१॥

अर्जुन बोले—प्रभो! इन तीनों गुणोंसे अतीत पुरुष किन-किन लक्षणोंसे युक्त होता है और किस प्रकारके आचरणों-वाला होता है और वह कैसे इन तीनों गुणोंसे अतीत होता है? ॥ २१॥

गुणातीत पुरुषके लक्षण

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥२२॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥२३॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥२५॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—अर्जुन! जो पुरुष सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाश, रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्ति और तमोगुणके कार्यरूप मोहके प्रवृत्त होनेपर उनसे द्वेष नहीं करता है और निवृत्त होनेपर उनकी आकांक्षा नहीं करता॥ २२॥ जो उदासीनके सदृश स्थित हुआ गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता और गुण ही गुणोंमें बरतते हैं—ऐसा समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन परमात्मामें अभिन्न भावसे स्थित रहता है एवं उस स्थितिसे कभी विचलित नहीं होता॥ २३॥ जो निरन्तर 'स्व'—आत्मामें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी-पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, धीर, प्रिय-अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है॥ २४॥ जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और शत्रुके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है; वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है॥ २५॥

भगवान् ही ब्रह्म आदिके आश्रय हैं

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥२६॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥२७॥

जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है, वह भी इन तीनों गुणोंको भली-भाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होनेके लिये योग्य बन जाता है। (मेरी अव्यभिचारिणी भक्तिके द्वारा भी गुणातीतावस्थाकी या ब्रह्मकी प्राप्ति हो सकती है)॥२६॥ क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्मका, अमृतका, नित्य धर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं (पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही) हूँ॥ २७॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'गुणत्रयविभागयोग' नामक चतुर्दश अध्याय (महाभारत भीष्मपर्व अध्याय ३८)।

श्रीमद्भगवद्गीता पञ्चदश अध्याय

संसार-वृक्षका, भगवत्प्राप्तिके उपायका, प्रभावसहित परमेश्वरके स्वरूपका एवं क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमके तत्त्वका वर्णन

संसार-वृक्ष और भगवत्प्राप्तिके उपायका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥
ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥
निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥
न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम ॥ ६ ॥
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

श्रीभगवान् बोले—ऊपर (आदिपुरुष परमेश्वररूप) मूलवाले और नीचे (ब्रह्मारूप मुख्य) शाखावाले जिस संसाररूप पीपलके वृक्षको अविनाशी कहते हैं, वेद जिसके पत्ते कहे गये हैं, उस (संसाररूप वृक्ष) को जो पुरुष (मूलसहित तत्त्वसे) जानता है, वह वेदके तात्पर्यको जाननेवाला है ॥ १ ॥ उस संसार-वृक्षकी तीनों गुणों (रूप-जल-) के द्वारा बढ़ी हुई एवं विषयभोगरूप कोंपलोंवाली, देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनिरूप शाखाएँ नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्यलोकमें कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाली अहंता, ममता और वासनारूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सभी लोकोंमें व्याप्त हो रही हैं ॥ २ ॥ इस संसार-वृक्षका स्वरूप जैसा कहा है, वैसा यहाँ विचारकालमें नहीं पाया जाता; क्योंकि न तो इसका आदि है, न अन्त है तथा न इसकी अच्छी प्रकारसे प्रतिष्ठा ही है । इसलिये इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रके द्वारा

काटकर फिर उस परमपदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसारमें नहीं आते और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसार-वृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष भगवान्के मैं शरण हूँ, इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये ॥ ३-४ ॥ जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जिनकी परमात्माके स्वरूपमें नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं, वे सुख-दुःखनामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥ जिसको प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर संसारमें नहीं आते, उस स्वयंप्रकाश परमपदको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही; वही मेरा परम धाम है ॥ ६ ॥ इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है और वही प्रकृतिमें स्थित इन मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षण करता है ॥ ७ ॥

जीवात्माका स्वरूप तथा कार्य

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

जैसे वायु गन्धके स्थानसे गन्धको ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादिका स्वामी जीवात्मा भी जिस शरीरका त्याग करता है, उससे इन मनसहित इन्द्रियोंको ग्रहण करके फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है, उसमें जाता है ॥ ८ ॥ यह जीवात्मा श्रोत्र, नेत्र, त्वचा और रसना, घ्राण तथा मनका आश्रय करके (इन सबके सहारेसे) ही विषयोंका सेवन करता है ॥ ९ ॥ शरीरको छोड़कर जाते हुएको, शरीरमें स्थित हुएको अथवा विषयोंको भोगते हुएको—इस प्रकार तीनों गुणोंसे युक्त हुएको भी मूढ़ अज्ञानीजन नहीं जानते, केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानीजन ही तत्त्वसे जानते हैं ॥ १० ॥ यत्न करनेवाले योगीजन अपने हृदयमें स्थित इस आत्माको तत्त्वसे देखते हैं; किंतु जिन्होंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते रहनेपर भी इसको नहीं देख पाते ॥ ११ ॥

प्रभावसहित भगवान्के स्वरूपका वर्णन

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥
सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

जो सूर्यमें स्थित तेज समस्त जगत्को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है, उसको तू मेरा ही तेज जान ॥ १२ ॥ मैं ही पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी शक्तिसे सब भूतोंको धारण करता हूँ और रसमय (अमृतमय) चन्द्रमा होकर सारी ओषधियोंको (वनस्पतियोंको) पुष्ट करता हूँ ॥ १३ ॥ मैं ही सब प्राणियोंके शरीरमें स्थित प्राण और अपानसे संयुक्त वैश्वानर अग्निरूप होकर चार प्रकारके भोजनको पचाता हूँ ॥ १४ ॥

मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें (अन्तर्यामीरूपसे) स्थित हूँ, मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है, सब वेदोंके द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ तथा मैं ही वेदान्तका कर्ता और वेदोंको जाननेवाला भी हूँ ॥१५॥

क्षर और अक्षर

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥
यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

इस संसारमें नाशवान् और अविनाशी भी, ये दो प्रकारके पुरुष हैं । इनमें सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके शरीर तो क्षर (नाशवान्) और जीवात्मा अक्षर (अविनाशी) कहा जाता है ॥ १६ ॥ इन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा—इस प्रकारसे कहा गया है ॥ १७ ॥ क्योंकि मैं क्षर (नाशवान् जड़वर्ग क्षेत्रसे) तो सर्वथा अतीत हूँ और अविनाशी अक्षर—जीवात्मासे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें भी मैं पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ ॥ १८ ॥

श्रीकृष्ण—गुह्यतम पुरुषोत्तम तत्त्व

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥२०॥

भारत ! जो ज्ञानी पुरुष इस प्रकार मुझको (श्रीकृष्णको) ही पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव श्रीकृष्णको ही भजता है* ॥ १९ ॥ निष्पाप अर्जुन ! इस प्रकार यह गुह्यतम (अति रहस्ययुक्त गोपनीय) शास्त्र मेरेद्वारा कहा गया । इसको तत्त्वसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतकृत्य हो जाता है ॥ २० ॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'पुरुषोत्तमयोग' नामक पञ्चदश अध्याय (महाभारत भीष्मपर्व अध्याय ३९) ।

---

* जीवोंका विनाशी शरीर 'क्षर' है, कूटस्थ जीवात्मा अक्षर है और क्षरसे अतीत एवं अक्षरसे उत्तम 'पुरुषोत्तम' है, ऐसा अर्थ सर्वथा युक्तियुक्त है ।

एक दूसरी दृष्टिसे इसका अर्थ यों किया जाता है कि प्रकृतिप्रसूत सर्वभूतमय जगत् 'क्षर' है, ब्रह्म 'अक्षर' है और इनसे क्रमशः अतीत और उत्तम 'पुरुषोत्तम' है ।

'क्षर जगत्' गुणमय विकारी है । 'अक्षर ब्रह्म' निर्गुण निर्विकार निराकार है और 'पुरुषोत्तम' भौतिक आकाररहित, सर्वथा अविकार, अप्राकृत सच्चिद्घनाकार हैं—प्राकृत गुणोंसे सर्वथा रहित, सच्चिन्मय, दिव्य गुण-स्वरूप हैं । ये पुरुषोत्तम स्वयं श्रीकृष्ण हैं ('यो मामेवं जानाति पुरुषोत्तमम्'—जो मुझको ही 'पुरुषोत्तम' जानता है) । यही गुह्यतम तत्त्व है ।

परमात्माका विनाशी भूतमय जगत्के रूपमें अभिव्यक्त होना रहस्यमय होनेके कारण यह 'क्षर'-तत्त्व 'गुह्य' है, अक्षर परब्रह्म 'गुह्यतर' है ('ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया' १८ । ६३) और इन दोनोंसे विलक्षण पुरुषोत्तम श्रीकृष्णका तत्त्व 'गुह्यतम' है । १८वें अध्यायमें 'गुह्याद् गुह्यतरम्'तत्त्वके पश्चात् भगवान्ने इस 'गुह्यतम' तत्त्वका वर्णन किया है ।

वहाँ भगवान्ने अपने एकान्त प्रिय भक्त अर्जुनको उसके हितार्थ इस गुह्यतम परम तत्त्वका विशेष विशदरूपसे स्पष्ट उपदेश किया है और सब धर्मोंका त्याग करके एकमात्र अपनी शरण ग्रहण करनेका आदेश देते हुए गीताके अन्तिम उपदेशके रूपमें 'सर्वगुह्यतम' के नामसे इसे बतलाया है ।

श्रीमद्भगवद्गीता षोडश अध्याय

फलसहित दैवी और आसुरी सम्पदाका वर्णन तथा शास्त्रविपरीत आचरणोंके त्याग और शास्त्रानुकूल आचरणके लिये प्रेरणा

दैवी सम्पदा

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् बोले—भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति, सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण, वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन-रूप स्वाध्याय, स्वधर्मपालनके लिये कष्टसहनरूप तप और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता ॥ १॥ मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोध न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दादि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव ॥ २ ॥ तेज, क्षमा, धैर्य, बाहर-भीतरकी शुद्धि, किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—अर्जुन! ये सब गुण दैवी सम्पदामें उत्पन्न पुरुषमें होते हैं ॥ ३॥

आसुरी सम्पदा तथा दैवी सम्पदाके फल

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ ४॥
दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५॥

पार्थ ! दम्भ, घमंड, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान—ये सब (दुर्गुण) आसुरी-सम्पदामें उत्पन्न मनुष्यमें होते हैं ॥ ४ ॥ दैवी-सम्पदा मोक्षके लिये और आसुरी-सम्पदा बन्धनके लिये मानी जाती है। इसलिये पाण्डुकुमार ! तू शोक मत कर; क्योंकि तू दैवी-सम्पदामें उत्पन्न हुआ है ॥ ५ ॥

आसुरी सम्पदा और उसके परिणाम

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम् ॥ ८॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १०॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११॥

अर्जुन ! इस लोकमें प्राणियोंकी सृष्टि (मनुष्य-समुदायकी श्रेणी) दो ही प्रकारकी है—एक तो दैवी प्रकृति और दूसरी आसुरी । उनमेंसे दैवी प्रकृति तो विस्तार-

पूर्वक कही जा चुकी है; अब तू असुर-मानवोंकी प्रकृतिको भी विस्तारपूर्वक मुझसे सुन ॥ ६ ॥ आसुर-स्वभाववाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति—इन दोनोंको ही नहीं जानते। इसलिये उनमें न तो बाहर-भीतरकी शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है और न सत्य ही है ॥ ७ ॥ वे (असुर-मानव) कहा करते हैं कि जगत् सर्वथा असत्य, अप्रतिष्ठ (आश्रयरहित) और ईश्वररहित है। यह अपने-आप केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न है। अतएव केवल काम ही इसका हेतु है। इसके सिवा और क्या हेतु है ? ॥ ८ ॥ इस प्रकारकी दृष्टिका अवलम्बन करके नष्ट (पतित-) स्वभाव अन्तःकरण, मन्द-बुद्धि, सबके अहितमें संलग्न, वे उग्र कर्म करनेवाले मनुष्य केवल जगत्के नाशके लिये ही उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥ वे दम्भ, मान और मदसे युक्त मनुष्य किसी प्रकार भी पूर्ण न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेकर, अज्ञान—मोहसे मिथ्या सिद्धान्तोंको ग्रहणकर एवं अशुद्ध आचरणोंको धारण करके संसारमें विचरते हैं ॥ १० ॥ वे मृत्युपर्यन्त रहनेवाली असंख्य चिन्ताओंका आश्रय लेनेवाले, विषयभोगोंके भोगमें तत्पर रहनेवाले और 'इतना ही परम पुरुषार्थ और परम सुख है'—इस प्रकार माननेवाले आसुर मनुष्य होते हैं ॥ ११ ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥१२॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥१४॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

वे (आसुर मानव) सैकड़ों आशाकी फाँसियोंसे बँधे हुए काम-क्रोधके परायण होकर विषय-भोगोंके लिये अन्यायपूर्वक धनादि पदार्थोंके संचयकी चेष्टा किया करते हैं ॥ १२ ॥ (वे सोचा करते हैं—) मैंने आज यह प्राप्त कर लिया और अब इस मनोरथको प्राप्त कर लूँगा। मेरे पास यह इतना धन है और यह (धन) फिर मेरा हो जायगा ॥ १३ ॥ वह शत्रु तो मेरेद्वारा मार डाला गया और उन दूसरे शत्रुओंको भी मैं मार डालूँगा। मैं ईश्वर हूँ, ऐश्वर्यका भोगनेवाला हूँ; मैं सिद्ध (सफलजीवन), बलवान् और सुखी हूँ ॥१४॥ मैं बड़ा धनी और कुटुम्बवाला (जन-नेता) हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है ? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और आमोद-प्रमोद करूँगा। इस प्रकार अज्ञानसे मोहित रहनेवाले तथा अनेक प्रकारसे भ्रमित चित्तवाले मोहरूप जालसे समावृत और विषयभोगोंमें आसक्त आसुर-मानव घोर अपवित्र नरकमें गिरते हैं ॥ १५-१६ ॥

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

वे अपने-आपको ही श्रेष्ठ माननेवाले घमंडी मानव धन और मानके मदसे युक्त होकर केवल नाममात्रके यज्ञोंद्वारा दम्भसे शास्त्रविधिरहित यज्ञक्रिया करते हैं ॥ १७ ॥ वे अहंकार, बल, घमंड, कामना और क्रोधादिके परायण और दूसरोंकी निन्दा करनेवाले मनुष्य अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामी ईश्वरसे द्वेष करनेवाले होते हैं ॥ १८ ॥ उन (मुझसे) द्वेष करनेवाले पापाचारी और निर्दय नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार

आसुरी योनियोंमें ही पटकता हूँ ॥ १९ ॥ अर्जुन ! वे मूढ़लोग मुझको न पाकर जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी और नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं (घोर नरकोंमें पड़ते हैं) ॥ २० ॥

शास्त्रविरुद्ध आसुरी आचरणोंके त्याग और शास्त्रानुकूल दैवी आचरणोंके सम्पादनके लिये प्रेरणा

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥२१॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका पतन करनेवाले (उसको अधोगतिमें ले जानेवाले) हैं । अतएव इन तीनोंका त्याग कर देना चाहिये ॥ २१ ॥ कुन्तीपुत्र अर्जुन ! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है, इससे वह परम गतिको जाता है (मुझको प्राप्त होता है) ॥ २२ ॥ जो मनुष्य शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न सुखको और न परम गतिको ही ॥ २३ ॥ अतएव तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी अवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है । ऐसा जानकर तुझे शास्त्रविधिके अनुसार नियत कर्म ही करना चाहिये ॥ २४ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'दैवासुरसम्पद्विभागयोग' नामक षोडश अध्याय (महाभारत भीष्मपर्व अध्याय ४०) ।

श्रीमद्भगवद्गीता सप्तदश अध्याय

त्रिविध श्रद्धाका और शास्त्रविपरीत घोर तप करनेवालोंका वर्णन; आहार, यज्ञ, तप और दानके पृथक्-पृथक् भेद तथा ॐ, तत्, सत्के प्रयोगकी व्याख्या

शास्त्रविधिरहित श्रद्धाके विषयमें अर्जुनका प्रश्न

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

अर्जुनने पूछा—श्रीकृष्ण ! जो शास्त्रविधिको त्यागकर श्रद्धासे युक्त हुए पुरुष देवादिका पूजन करते हैं, उनकी स्थिति फिर कौन-सी है ? सात्त्विकी, राजसी अथवा तामसी ? ॥ १ ॥

त्रिविध श्रद्धा

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् बोले—मनुष्योंकी (वह शास्त्रीय संस्कारोंसे रहित) केवल स्वभावसे उत्पन्न श्रद्धा सात्त्विकी और राजसी तथा तामसी ऐसे तीनों प्रकारकी होती है। उनको तू मुझसे सुन ॥ २ ॥ भारत ! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप हुआ करती है। यह पुरुष श्रद्धामय है; जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है ॥ ३ ॥

त्रिविध पूजा

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

सात्त्विक पुरुष देवताओंको पूजते हैं, राजस यक्ष-राक्षसोंको तथा दूसरे तामस लोग प्रेत और भूतगणोंको पूजते हैं ॥ ४ ॥

आसुरी घोर तप

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

जो मनुष्य शास्त्रविधिसे विपरीत केवल मनःकल्पित घोर तप तपते हैं, वे दम्भ और अहंकारसे युक्त एवं कामना, आसक्ति और बलसमन्वित पुरुष शरीररूपसे स्थित भूतसमुदायको और अन्तःकरणमें स्थित मुझ परमात्माको भी कृश करनेवाले (क्लेश पहुँचानेवाले) हैं। उन अज्ञानियोंको तू असुर स्वभाववाले जान ॥ ५-६॥

त्रिविध आहार

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥
आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

आहार भी सबको अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार तीन प्रकारका प्रिय होता है । (वैसे ही) यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकारके होते हैं । उनके इस पृथक्-पृथक् भेदको तू मुझसे सुन ॥ ७ ॥ आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय लगनेवाले आहार (भोजन करनेके पदार्थ) सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं ॥ ८ ॥ कड़वे, खट्टे, नमकीन, बहुत गरम, तीखे, रूखे, जलन उत्पन्न करनेवाले और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार (भोजन करनेके पदार्थ) राजस पुरुषको प्रिय होते हैं ॥ ९ ॥ जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट (जूँठा) तथा अपवित्र है वह भोजन तामस मनुष्यको प्रिय होता है ॥ १० ॥

त्रिविध यज्ञ

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥
अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

फल न चाहनेवाले पुरुषोंद्वारा 'यज्ञ करना ही कर्तव्य है'—इस प्रकार मनका समाधान करके, जो शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक है ॥ ११ ॥ भरतश्रेष्ठ ! फलको दृष्टिमें रखकर और केवल दम्भाचरणके लिये जो यज्ञ किया जाता है, उस यज्ञको तू राजस जान ॥ १२ ॥ शास्त्रविधिसे हीन, अन्नदानसे रहित, बिना मन्त्रोंके, बिना दक्षिणाके और बिना श्रद्धाके किये जानेवाले यज्ञको तामस यज्ञ कहते हैं ॥ १३ ॥

त्रिविध भेदसे शारीरिक, वाङ्मय और मानसिक तप

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥१६॥
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥
मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत् तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन; पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है ॥ १४ ॥ उद्वेग न करनेवाले, सत्य, प्रिय और हितकारक वाक्य तथा वेद-शास्त्रोंके पठनका एवं भगवान्के नाम-जप-कीर्तनका अभ्यास,—वह वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है ॥ १५॥ मनकी प्रसन्नता (निर्मलता), सौम्यभाव, व्यर्थ-चिन्तारहित भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी पूर्ण पवित्रता—इस प्रकार यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है ॥ १६ ॥ फलको न चाहनेवाले युक्त पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे किये हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं ॥ १७॥ जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये तथा अन्य किसी स्वार्थके लिये स्वभावसे या दम्भसे किया जाता है वह अनिश्चित एवं क्षणिक फलवाला तप यहाँ राजस कहा गया है ॥ १८ ॥ जो तप मूढ़तायुक्त हठसे, मन, वाणी और शरीरको पीड़ा देकर अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है ॥ १९ ॥

त्रिविध दान

दातव्यमिति यद् दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद् दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद् दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥
अदेशकाले यद् दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत् तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

'देना ही कर्तव्य है'—ऐसे मानकर जो दान देश, काल और पात्रके प्राप्त होनेपर उपकार न करनेवालेके प्रति दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है ॥ २० ॥ किंतु जो दान क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युपकारके प्रयोजनसे अथवा फिर फलके उद्देश्यसे दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है ॥ २१ ॥ जो दान बिना सत्कारके और तिरस्कारपूर्वक अयोग्य देश-कालमें अपात्रके प्रति दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है ॥ २२ ॥

ॐ, तत्, सत्के प्रयोगकी व्याख्या

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥
तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह ॥२८॥

'ॐ, तत्, सत्—ऐसे तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम बतलाया गया है; उसी ब्रह्मसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण, वेद तथा यज्ञादि रचे गये हैं ॥ २३ ॥ अतएव वेदमन्त्रोंका उच्चारण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्माके नामका उच्चारण करके ही आरम्भ हुआ करती हैं ॥ २४ ॥ 'तत्' अर्थात् 'तत्' नामसे कहे जानेवाले परमात्माका ही यह सब है—इस भावसे फलको न चाहकर नाना प्रकारकी यज्ञ, तपरूप क्रियाएँ तथा दानरूप क्रियाएँ मोक्षकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा की

जाती हैं ॥ २५ ॥ सत्—इस प्रकार यह परमात्माका नाम सत्यभावमें और श्रेष्ठ भावमें प्रयोग किया जाता है तथा पार्थ! उत्तम कर्ममें भी 'सत्' शब्दका प्रयोग होता है ॥ २६ ॥ यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी 'सत्' इस नामसे कही जाती है और उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत्—ऐसा कहा जाता है ॥ २७ ॥ अर्जुन! अश्रद्धासे किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ शुभ कर्म होता है, वह सब 'असत्'—इस प्रकार कहा जाता है, वह न तो मरनेके बाद ही और न इस लोकमें ही लाभदायक होता है ॥ २८ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'श्रद्धात्रयविभागयोग' नामक सप्तदश अध्याय (महाभारत भीष्मपर्व अध्याय ४१)।

श्रीमद्भगवद्गीता अष्टादश अध्याय

त्यागका, सांख्य-सिद्धान्तका, फलसहित वर्णधर्मका, साधनसहित पराभक्तिका, भक्तिसहित निष्कामकर्मयोगका, शरणागतिका तथा गीताके माहात्म्यका वर्णन

संन्यास और त्यागके सम्बन्धमें अर्जुनका प्रश्न

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक् केशिनिषूदन ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—महाबाहो! अन्तर्यामिन्! मैं संन्यास और त्यागके तत्त्वको पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

त्याग-तत्त्व और त्रिविध त्याग

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥ ४ ॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात् तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥
दुःखमित्येव यत् कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥
कार्यमित्येव यत् कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥
न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—कितने ही पण्डितजन तो काम्यकर्मोंके त्यागको संन्यास समझते हैं और दूसरे विचारकुशल पुरुष सब कर्मोंके फल-त्यागको त्याग कहते हैं ॥ २ ॥ कई एक विद्वान् कहते हैं कि कर्ममात्र दोषके सदृश त्याज्य हैं और दूसरे विद्वान् यह कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याज्य नहीं हैं ॥ ३ ॥ भरतकुल-पुरुषसिंह अर्जुन! (संन्यास और त्याग—इन दोनोंमेंसे पहले) उस त्यागके विषयमें तू मेरा निश्चय सुन; त्याग (सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे) तीन प्रकारका कहा गया है ॥ ४ ॥

यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करने योग्य नहीं है; बल्कि वह तो अवश्य कर्त्तव्य है; क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही कर्म मनीषी पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं ॥ ५ ॥ इसलिये पार्थ ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सभी कर्त्तव्यकर्मोंको आसक्ति और फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये; यह मेरा निश्चित उत्तम मत है ॥ ६ ॥ (निषिद्ध और काम्यकर्मोंका तो स्वरूपसे त्याग करना उचित ही है) परंतु नियत कर्मका स्वरूपसे त्याग उचित नहीं है। अतः मोहवश उसका त्याग कर देना तामस त्याग कहा गया है ॥ ७ ॥ 'कर्म सब दुःखरूप ही है'—ऐसा समझकर यदि कोई शारीरिक क्लेशके भयसे कर्त्तव्य-कर्मोंका त्याग कर दे, तो वह ऐसा राजस त्याग करके (यथार्थ) फलको किसी भी प्रकार नहीं पाता ॥ ८ ॥ अर्जुन ! शास्त्रविहित कर्म करना कर्तव्य है—इसी भावसे आसक्ति और फलका त्याग करके जो कर्म किया जाता है—वही सात्त्विक त्याग माना गया है ॥ ९ ॥ जो मनुष्य अकुशल कर्मसे द्वेष नहीं करता और कुशल कर्ममें आसक्त नहीं होता, वह सत्त्वगुणसे युक्त पुरुष संशयरहित, मेधावी और सच्चा त्यागी है ॥ १० ॥ क्योंकि शरीरधारी किसी भी मनुष्यके द्वारा सब कर्मोंका पूर्णतया त्याग किया जाना सम्भव नहीं है; इसलिये जो कर्मफलका त्यागी है, वही (यथार्थ) त्यागी है, यह कहा जाता है ॥ ११ ॥ कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंको अच्छा-बुरा और मिला हुआ—ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् मिलता है; किंतु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले पुरुषोंको कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं मिलता ॥ १२ ॥

सांख्य-सिद्धान्तानुसार कार्य और कर्ताका स्वरूप

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥
ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

महाबाहो ! कर्मोंका अन्त करनेका उपाय बतलानेवाले सांख्यशास्त्रमें कहे गये सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके ये पाँच हेतु तू मुझसे सुन ॥ १३ ॥ इस विषयमें (कर्मोंकी सिद्धिमें) 'अधिष्ठान' (शरीर), 'कर्ता' (कर्तृत्वाभिमानी प्रकृतिस्थ पुरुष जीवात्मा) भिन्न-भिन्न प्रकारके 'करण' (इन्द्रियाँ), नाना प्रकारकी पृथक्-पृथक् चेष्टाएँ और वैसे ही पाँचवाँ हेतु 'दैव' है ॥१४॥ मनुष्य मन, वाणी और शरीरके द्वारा शास्त्रके अनुकूल अथवा विपरीत (शास्त्रविरुद्ध) जो कुछ भी कर्म करता है, उसके ये पाँच ही हेतु हैं ॥ १५॥ ऐसा होनेपर भी जो मनुष्य अशुद्ध-बुद्धि होनेके कारण इस विषयमें (कर्मोंके होनेमें) केवल शुद्ध-स्वरूप आत्माको कर्ता समझता है, वह मलिन बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थ नहीं समझता ॥ १६ ॥ जिसके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ'—ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि (सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें) कहीं लिप्त नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न बन्धनको ही प्राप्त होता है ॥ १७ ॥ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—यह तीन प्रकारकी कर्मप्रेरणा है और कर्ता, करण तथा क्रिया—यह तीन प्रकारका कर्मसंग्रह है ॥१८॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

गुणोंकी संख्या करनेवाले शास्त्रमें ज्ञान, कर्म तथा कर्ता गुणोंके भेदसे तीन-तीन प्रकारके ही कहे गये हैं, उनको भी तू मुझसे भलीभाँति सुन ॥ १९ ॥

त्रिविध ज्ञान

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत् तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तू सात्त्विक जान ॥ २० ॥ जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके नाना भावोंको अलग-अलग जानता है, उस ज्ञानको तू राजस जान ॥ २१ ॥ और जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीरमें ही सम्पूर्णके सदृश आसक्त है (जिस विपरीत ज्ञानके द्वारा मनुष्य एक क्षणभङ्गुर अनित्य विनाशी शरीरको ही आत्मा मानकर उसमें पूर्णरूपसे आसक्त रहता है) तथा जो हेतुसे रहित, तात्त्विक अर्थसे रहित और तुच्छ है, वह तामस कहा गया है ॥ २२ ॥

त्रिविध कर्म

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत् तत् सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद् राजसमुदाहृतम् ॥२४॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत् तत् तामसमुच्यते ॥२५॥

जो शास्त्रविहित कर्म कर्तापनके अभिमानसे रहित, बिना राग-द्वेषके तथा फल न चाहनेवाले पुरुषके द्वारा किया गया हो, वह सात्त्विक कहलाता है ॥ २३ ॥ परंतु जो कर्म बहुत प्रयोगसे युक्त होता है और भोगोंको चाहनेवाले अथवा अहंकारयुक्त पुरुषके द्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है ॥ २४ ॥ जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यको न विचारकर केवल मोह—अज्ञानसे आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहलाता है ॥ २५ ॥

त्रिविध कर्ता

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥२६॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥
अयुक्तःप्राकृतःस्तब्धःशठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

जो कर्ता आसक्तिरहित, अहंकारके वचन न बोलनेवाला, धैर्य और उत्साहसे युक्त तथा कार्यकी सिद्धि और असिद्धिमें हर्ष-शोकादि विकारोंसे रहित होता है, वह सात्त्विक कहलाता है ॥ २६ ॥ जो कर्ता आसक्तिसे युक्त, कर्मोंके फलको चाहनेवाला, लोभी, दूसरोंको कष्ट पहुँचानेके स्वभाववाला, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोकादिसे युक्त है, वह राजस कहा जाता है ॥ २७ ॥ जो कर्ता अयुक्त, शिक्षारहित, घमंडी, धूर्त, दूसरोंकी जीविकाका नाश करनेवाला, शोक करनेवाला, आलसी और दीर्घसूत्री है, वह तामस कहलाता है ॥ २८ ॥

त्रिविध बुद्धि

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥३०॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

धनंजय! अब तू बुद्धिके और धृतिके भी गुणोंके अनुसार तीन प्रकारके भेद मेरेद्वारा विभागपूर्वक कहे हुए सुन ॥ २९ ॥ पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति, कर्तव्य और अकर्तव्य, भय और अभय तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थरूपसे जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है ॥ ३० ॥ पार्थ! जिस बुद्धिके द्वारा मनुष्य धर्म और अधर्मको तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको भी ठीक-ठीक नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है ॥ ३१ ॥ पार्थ! जो तमोगुणसे घिरी हुई बुद्धि अधर्मको भी 'यह धर्म है' ऐसा मान लेती है तथा इसी प्रकार अन्य सब पदार्थोंको भी (हानिको लाभ, अनित्यको नित्य, अपवित्रको पवित्र आदि रूपसे) विपरीत मानती है, वह बुद्धि तामसी है ॥ ३२ ॥

त्रिविध धृति

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥३३॥
यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

पार्थ! जिस अव्यभिचारिणी धृतिसे मनुष्य ध्यान-योगके द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है ॥ ३३ ॥ पृथापुत्र अर्जुन! फलकी इच्छावाला मनुष्य जिस धृतिके द्वारा अत्यन्त आसक्तिपूर्वक धर्म, अर्थ और कामोंको धारण करता है, वह धृति राजसी है ॥ ३४ ॥ पार्थ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धृतिके द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता, विषाद और मदको नहीं छोड़ता (उन्हें धारण किये रहता है), वह धृति तामसी है ॥ ३५ ॥

त्रिविध सुख

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥
यत् तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत् तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत् सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत् तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

भरतश्रेष्ठ! अब तीन प्रकारके सुखको भी तू मुझसे सुन। जिस सुखमें साधक पुरुष भगवान्के भजन, ध्यान और सेवादिके अभ्याससे रमण करता है और जिससे दुःखोंके अन्तको प्राप्त हो जाता है—ऐसा सुख आरम्भकालमें यद्यपि विषके तुल्य प्रतीत होता है, परंतु परिणाममें अमृत-तुल्य है; अतएव वह आत्म-बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला सुख सात्त्विक कहा गया है ॥ ३६-३७ ॥ जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह पहले—भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य होता है, वह सुख राजस कहा गया है ॥ ३८ ॥ जो सुख आरम्भमें—भोगकालमें तथा परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न सुख तामस कहा गया है ॥३९॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

पृथ्वीमें, आकाशमें अथवा देवताओंमें तथा इनके सिवा और कहीं भी ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो ॥४०॥

फलसहित वर्णधर्मका वर्णन

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

परंतप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्म स्वभावसे उत्पन्न गुणोंद्वारा विभक्त किये गये हैं ॥ ४१ ॥ अन्तःकरण-निग्रह, इन्द्रियोंका दमन, धर्मपालनके लिये कष्ट-सहनरूप तप, बाहर-भीतरकी शुद्धि, क्षमा, मन-इन्द्रिय-शरीरकी सरलता, वेद-शास्त्र-ईश्वर-परलोक आदिमें श्रद्धारूप आस्तिकता, वेद-शास्त्रोंका अध्ययन-अध्यापन और परमात्माके तत्त्वका अनुभव—ये सब ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४२ ॥ शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता और युद्धमें पीठ न दिखाना, दान और स्वामिभाव—ये सब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४३ ॥ खेती, गोरक्षण और वाणिज्य—ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं तथा सेवा करना शूद्रका स्वाभाविक कर्म है ॥ ४४ ॥ अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य (भगवत्प्राप्तिरूप) परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है । अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तू सुन ॥ ४५ ॥ जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंके द्वारा पूजा करके मनुष्य (भगवत्प्राप्तिरूप) सिद्धिको प्राप्त हो जाता है ॥ ४६ ॥ सुचारु रूपसे आचरण किये हुए पर-धर्मकी अपेक्षा गुणरहित भी स्वधर्म श्रेष्ठ है; क्योंकि स्वभाव-नियत स्वधर्मरूप कर्मका आचरण करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता ॥ ४७ ॥ अतएव कुन्तीपुत्र ! दोषयुक्त होनेपर भी सहज कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धूएँसे अग्निकी भाँति सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे युक्त हैं ॥ ४८ ॥

नैष्कर्म्य-सिद्धि

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥
सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

सर्वत्र आसक्तिसे रहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित और जीते हुए अन्तःकरणवाला पुरुष सांख्ययोगके द्वारा उस परम नैष्कर्म्य-रूप सिद्धिको प्राप्त होता है ॥४९॥ जो कि ज्ञानयोगकी परानिष्ठा है, उस सिद्धिको जिस प्रकारसे प्राप्त होकर मनुष्य ब्रह्मको प्राप्त होता है, उस प्रकारको कुन्तीपुत्र ! तू संक्षेपमें ही मुझसे समझ ॥ ५० ॥

ज्ञानकी परानिष्ठा या पराभक्तिके साधन, ब्रह्मप्राप्त पुरुषके परा (प्रेमा) भक्तिके द्वारा भगवान्‌को पूर्णरूपसे जानकर उनमें प्रवेशका वर्णन

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

विशद बुद्धिसे युक्त तथा सादा, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धृतिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला तथा अहंकार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला, ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्तिका (ब्रह्ममें अभिन्न भावसे स्थित होनेका) पात्र होता है ॥५१—५३॥ फिर वह ब्रह्मभूत (ब्रह्मको प्राप्त—सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्न भावसे स्थित) आनन्दस्वरूप योगी न तो किसी बातका शोक करता है और न कुछ आकाङ्क्षा ही करता है । ऐसा समस्त भूत-प्राणियोंमें सम-भावापन्न (अपने समेत सबमें सर्वत्र अभिन्न समभावसे ब्रह्मकी अनुभूति करनेवाला) योगी मेरी (पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णकी) 'पराभक्ति'को प्राप्त होता है ॥५४॥ उस पराभक्तिके द्वारा वह मुझ पुरुषोत्तम श्रीकृष्णको, मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा, तत्त्वसे जान लेता है तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझ (भगवान्) में प्रविष्ट हो जाता है* ॥ ५५ ॥

समर्पण-भावयुक्त पूर्ण शरणागतिके लिये आदेश, गीताके महान् उपदेशका उपसंहार

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि ।
अथ चेत् त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥
यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

---

* 'अहं' और 'मम' पदोंके वाच्य भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मसे अभिन्न तो हैं ही, वे 'ब्रह्मकी प्रतिष्ठा' भी हैं । ब्रह्म उन्हीं अनन्त-अचिन्त्य-अनिर्वचनीय परस्पर-विरोधी-गुण-धर्मा-श्रय-स्वरूप, 'क्षर जगत्' से अतीत और 'अक्षरब्रह्म' से उ… भगवान् पुरुषोत्तमका ही एक निराकार, निर्विकार, नि… निर्विशेष स्वरूप है । इस ब्रह्मका तत्त्वसे साक्षात्कार हो… प्रकृतिस्थ जीव प्रकृतिके संयोगसे वियुक्त, मायासे एवं प्र… जन्य गुणोंके बन्धनसे विमुक्त होकर समस्त भूतोंमें सदा … व्याप्त ब्रह्मको सम देखता है । वह ब्रह्मज्ञानी शोक … आकाङ्क्षासे रहित कृतकृत्य—जीवन्मुक्त हो जाता है । … इतनेसे ही वह भगवान्के—'वे जो जैसे जितने हैं'—(… यश्चास्मि') उस स्वरूपको तत्त्वसे ठीक-ठीक नहीं जान … इस समग्र-स्वरूप पुरुषोत्तमका पूरा ज्ञान होता है— … भक्ति'—प्रेमाभक्तिसे । इस ज्ञानके होते ही वह उनकी … प्रवेश कर जाता है—'विशते तदनन्तरम्' । ये समग्र … पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं ।

भगवान् पहले कह आये हैं—'……सिद्धानां … वेत्ति तत्त्वतः (७ । ३)'—ब्रह्मज्ञानी सिद्धोंमें कोई … समग्र पुरुषोत्तमको तत्त्वसे ठीक-ठीक जानता है । … और 'ज्ञेय' (ब्रह्म) को जानकर मेरा भक्त मेरे … (पुरुषोत्तम-तत्त्व-) को प्राप्त होता है (१३ । १८) … ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ ।' (१४ । २७) । इन सब वचनों … यही स्पष्ट संकेत मिलता है ।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

मेरा आश्रय लेकर पुरुष सब कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है ॥ ५६ ॥ मनसे सब कर्मोंको मुझमें निक्षेप करके तथा बुद्धियोगका अवलम्बन करके तू मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो जा ॥ ५७ ॥ (उपर्युक्त प्रकारसे) मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपासे समस्त कठिनाइयोंसे अनायास ही पार हो जायगा और यदि अहंकारके कारण मेरी बात नहीं सुनेगा, तो नष्ट हो जायगा ॥ ५८ ॥ जो तू अहंकारका आश्रय लेकर यह मान रहा है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' सो तेरा यह निश्चय मिथ्या है; तेरी प्रकृति ही तुझे युद्धमें लगा देगी ॥ ५९ ॥ कुन्तीपुत्र ! जिस (युद्धरूप) कर्मको तू मोहके कारण करना नहीं चाहता, उसको अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बँधा हुआ विवश होकर करेगा ॥६०॥ अर्जुन ! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है ॥ ६१ ॥ भारत ! तू सर्वभावसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा । उस परमात्माकी कृपासे तू परम शान्तिको तथा शाश्वत स्थानको प्राप्त होगा ॥ ६२ ॥ इस प्रकार यह गुह्यसे भी गुह्य ज्ञान मैंने तुझसे कह दिया । अब तू इस रहस्ययुक्त ज्ञानको पूर्णतया भलीभाँति विचारकर जैसे चाहता है वैसे कर ॥ ६३ ॥

सर्वगुह्यतमं भूयः* शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

* 'भूयः' से यह भाव समझना चाहिये—राजविद्या राजगुह्यरूप नवम अध्यायके अन्तमें (गीता ९ । ३४ में) और पंद्रहवें अध्यायके अन्तमें (१५ । १७—२० में) संक्षेपसे जो कह आये हैं, उसीको पुनः वहाँ विशदरूपमें कहते हैं ।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

(अब) तू सर्वगुह्यतम (सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय) मेरे परम श्रेष्ठ वचनको फिर भी सुन । तू मेरा दृढ इष्ट—अतिशय प्रिय है, अतएव तेरे ही (अथवा तेरे ही-जैसे प्रेमी भक्तोंके) हितके लिये मैं तुझसे यह परम वचन कह रहा हूँ—॥ ६४ ॥ अर्जुन ! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर । ऐसा करनेसे तू मुझको ही प्राप्त होगा—यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है ॥६५॥ सब धर्मोंको त्यागकर तू केवल एक मुझ परम पुरुषोत्तम परमेश्वर श्रीकृष्णकी ही शरणमें आ जा । मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर ॥ ६६ ॥

इस सर्वगुह्यतम रहस्यको केवल भक्तोंमें ही प्रकट करना चाहिये

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥
य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

यह (उपर्युक्त सर्वगुह्यतम तत्त्व) किसी भी कालमें तप-रहितको, अभक्तको, सुनना न चाहनेवालेको और मुझ (श्रीकृष्ण-) में असूया (दोषदृष्टि) रखनेवालेको कभी नहीं बताना चाहिये ॥ ६७ ॥ जो पुरुष मुझ भगवान् श्रीकृष्णमें पराभक्ति करके इस परम गुह्य (सर्वगुह्यतम) तत्त्वको (केवल) मेरे भक्तोंमें (सर्वसाधारणमें नहीं) कहेगा, वह निश्चय ही मुझ पुरुषोत्तम भगवान् (श्रीकृष्ण-) को ही प्राप्त होगा, इसमें कोई संदेह नहीं है । उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई होगा भी नहीं ॥ ६८-६९ ॥

गीता-शास्त्रकी महिमा

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् ७१

जो पुरुष इस हम दोनोंके संवादरूप धर्ममय गीता-शास्त्रका अध्ययन करेगा—पढ़ेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है ॥ ७० ॥ जो मनुष्य श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित होकर इस गीता-शास्त्रका श्रवण भी करेगा, वह भी पापोंसे मुक्त होकर पुण्य करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होगा ॥ ७१ ॥

मोहनाशके सम्बन्धमें अर्जुनसे भगवान्‌का प्रश्न और अर्जुनकी स्वीकृति

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥७२॥

पार्थ ! क्या इस (मेरे उपदेश) को तूने एकाग्र चित्तसे सुना और धनंजय ! उसे सुनकर क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया ? ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

अर्जुन बोले—अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है, अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपके वचनोंका पालन करूँगा *॥ ७३ ॥

संजयका महान् हर्ष

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् कथयतः स्वयम् ७५
राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

संजय बोले—इस प्रकार मैंने श्रीवासुदेवके और महात्मा अर्जुनके इस अद्भुत रहस्ययुक्त, रोमाञ्चकारक संवादको सुना ॥७४॥ श्रीव्यासजीकी कृपासे दिव्य दृष्टि पाकर मैंने इस परम गोपनीय योगको अर्जुनके प्रति कहते हुए स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णसे प्रत्यक्ष सुना है ॥ ७५ ॥ राजन् ! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस रहस्ययुक्त, कल्याणकारक और अद्भुत संवादको पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ॥७६॥ हे राजन् ! श्रीहरिके उस समयके उस अत्यन्त विलक्षण रूप-सौन्दर्यका भी पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्तमें महान् आश्चर्य होता है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा

---

* अर्जुनके द्वारा इस श्लोकमें शरणागतिकी स्वीकृति तथा प्रकारान्तरसे शरणागतिके स्वरूपका उल्लेख है । अर्जुन कहते हैं—'मेरे मोहका नाश हो गया, मैं जो अहंकारवश कह रहा था कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'—यह मोह था, अब मुझे स्मरण हो आया कि मैं तो आप यन्त्रीके हाथका यन्त्र हूँ, आपकी स्वच्छन्द इच्छाके अनुसार चलनेवाला । पर यह मोह-नाश तथा स्मृतिकी प्राप्ति मेरे पुरुषार्थ या किसी साधन-विशेषसे नहीं हुई । यह तो केवल आप शरणागतवत्सलकी कृपासे हुई है और इस कृपाकी भी मैंने अपने साधनसे उपलब्धि नहीं की । अच्युत ! आप अपने शरणागतवत्सल विरदसे कभी च्युत नहीं होते; अतः स्वाभाविक ही कृपा करते हैं । अब मैं अपने यन्त्ररूपी स्वरूपमें स्थित हो गया हूँ । मेरे सारे शंका-संदेह नष्ट हो गये हैं । अतः आप जो कुछ मुझसे कहेंगे बिना ननु नचके वही करूँगा ।'

हूँ ॥ ७७ ॥ राजन् ! जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है ॥ ७८ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता—'मोक्षसंन्यासयोग' नामक अष्टादश अध्याय (महाभारत भीष्मपर्व अध्याय ४२)।

अर्जुनके प्रेमके कारण श्रीकृष्णका भीष्म, द्रोण एवं कौरवोंका वध करनेके लिये स्वयं उद्यत होना

युद्धमें भीष्मका प्रचण्ड वेग बढ़ रहा था। कौरव-पक्षके अनेक महारथियोंने अर्जुनको घेर लिया था। इसी समय सात्यकि उनकी सहायताके लिये आ पहुँचे। युधिष्ठिरकी सेनाके हाथी, घोड़े, रथ और ध्वजसमूह तितर-बितर हो गये थे। सैनिकोंको भागते देख सात्यकिने उनसे कहा—'क्षत्रियो! कहाँ जा रहे हो, ठहरो; अपनी प्रतिज्ञा न छोड़ो, वीरधर्मका पालन करो।' यह देख श्रीकृष्णने सात्यकिकी प्रशंसा करते हुए कहा—

ये यान्ति ते यान्तु शिनिप्रवीर
येऽपि स्थिताः सात्वत तेऽपि यान्तु।
भीष्मं रथात् पश्य निपात्यमानं
द्रोणं च संख्ये सगणं मयाद्य ॥

(महाभारत भीष्म० ५९ । ८४)

शिनिवंशके प्रमुख वीर ! सात्वतरत्न ! जो भाग रहे हैं, वे भाग जायँ। जो खड़े हैं, वे भी चले जायँ। (मैं इन लोगोंका भरोसा नहीं करता।) तुम देखो, मैं अभी संग्रामभूमिमें सहायकगणोंके साथ भीष्म और द्रोणाचार्यको रथसे मार गिराता हूँ।

न मे रथी सात्वत कौरवाणां
क्रुद्धस्य मुच्येत रणेऽद्य कश्चित्।
तस्मादहं गृह्य रथाङ्गमुग्रं
प्राणं हरिष्यामि महाव्रतस्य ॥

(महाभारत भीष्म० ५९ । ८५)

सात्वतवीर ! आज कौरव-सेनाका कोई भी रथी क्रोधमें भरे हुए मुझ कृष्णके हाथसे जीवित नहीं छूट सकता। मैं अपना भयंकर चक्र लेकर महान् व्रतधारी भीष्मके प्राण हर लूँगा।

निहत्य भीष्मं सगणं तथाऽऽजौ
द्रोणं च शैनेय रथप्रवीरौ।
प्रीतिं करिष्यामि धनंजयस्य
राज्ञश्च भीमस्य तथाश्विनोश्च ॥
निहत्य सर्वान् धृतराष्ट्रपुत्रां-
स्तत्पक्षिणो ये च नरेन्द्रमुख्याः।
राज्येन राजानमजातशत्रुं
सम्पादयिष्याम्यहमद्य हृष्टः ॥

(महाभारत भीष्म० ५९ । ८६-८७)

सात्यके ! सहायकगणोंसहित भीष्म और द्रोण—इन दोनों वीर महारथियोंको युद्धमें मारकर मैं अर्जुन, राजा युधिष्ठिर, भीमसेन तथा नकुल-सहदेवको प्रसन्न करूँगा। धृतराष्ट्रके सभी पुत्रों तथा उसके पक्षमें आये हुए सभी श्रेष्ठ नरेशोंको मारकर मैं प्रसन्नतापूर्वक आज अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरको राज्यसे सम्पन्न कर दूँगा।

ऐसा कहकर भगवान्‌ने सुदर्शन चक्रका स्मरण किया। चिन्तन करते ही चक्र उनके हाथमें आ गया। वे रथसे कूद

पड़े और भीष्मकी ओर इस प्रकार झपटे, मानो कौरवोंका प्रलय कर देना चाहते हों । भीष्मने उनका अभिनन्दन करते हुए कहा—'प्रभो ! आइये । मुझे रथसे मार गिराइये । इससे तीनों लोकोंमें मेरा गौरव बढ़ जायगा और परम कल्याण होगा।' यह देख अर्जुनने रथसे उतरकर बड़ी कठिनाईसे उन्हें रोका और स्वयं शत्रुओंके संहारकी प्रतिज्ञा करके उन्हें शान्त किया।

भगवान् श्रीकृष्णके युधिष्ठिरके प्रति उद्गार

भीष्मजीकी बाण-वर्षासे पाण्डव-सेना पीड़ित हो गयी थी। वे नौ दिनोंसे विपक्षी वीरोंका संहार कर रहे थे। नवाँ दिन समाप्त हो गया। उभय पक्षकी सेनाएँ युद्ध छोड़कर विश्रामके लिये शिविरमें चली गयीं। रातमें पाण्डव-पक्षके प्रमुख योद्धा गुप्त मन्त्रणाके लिये एक साथ बैठे। उस समय युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'प्रभो ! भीष्म हमारी सेनाका घोर संहार कर रहे हैं। हम उनकी ओर देख नहीं पाते। उनको जीतना कठिन है। हम बुद्धिकी दुर्बलतासे युद्धमें फँस गये। मेरे कारण द्रौपदी तथा मेरे बन्धुओंको भारी कष्ट उठाना पड़ रहा है। आज हमारे लिये जीवनरक्षा भी दुर्लभ दीखती है। अब हमें स्वधर्मके अनुकूल कोई और कार्य करनेकी सलाह दीजिये।' करुणासे प्रेरित होकर कहे हुए युधिष्ठिरके ये वचन सुनकर श्रीकृष्णने युधिष्ठिरको सान्त्वना देते हुए कहा—

धर्मपुत्र विषादं त्वं मा कृथाः सत्यसङ्गर ।
यस्य ते भ्रातरः शूरा दुर्जयाः शत्रुसूदनाः ॥
अर्जुनो भीमसेनश्च वाय्वग्निसमतेजसौ ।
माद्रीपुत्रौ च विक्रान्तौ त्रिदशानामिवेश्वरौ ॥
मां वा नियुङ्क्ष्व सौहार्दाद् योत्स्ये भीष्मेण पाण्डव
त्वत्प्रयुक्तो महाराज किं न कुर्यां महाहवे ॥
हनिष्यामि रणे भीष्ममाहूय पुरुषर्षभम् ।
पश्यतां धार्तराष्ट्राणां यदि नेच्छति फाल्गुनः ॥
यदि भीष्मे हते वीरे जयं पश्यसि पाण्डव ।
हन्तास्म्येकरथेनाद्य कुरुवृद्धं पितामहम् ॥
पश्य मे विक्रमं राजन् महेन्द्रस्येव संयुगे ।
विमुञ्चन्तं महास्त्राणि पातयिष्यामि तं रथात् ॥
(महाभारत भीष्म० १०७ । २६—३१)

धर्मपुत्र ! सत्यप्रतिज्ञ कुन्तीकुमार ! विषाद न कीजिये, आपके भाई बड़े ही शूरवीर, दुर्जय तथा शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ हैं। अर्जुन और भीमसेन वायु तथा अग्निके समान तेजस्वी हैं। माद्रीकुमार नकुल और सहदेव भी पराक्रममें दो इन्द्रोंके समान हैं। पाण्डुनन्दन ! महाराज ! आप सौहार्दवश मुझे ही आज्ञा दीजिये। मैं भीष्मके साथ युद्ध करूँगा। आपकी आज्ञा मिल जानेपर मैं इस महासमरमें क्या नहीं कर सकता ? यदि अर्जुन भीष्मको मारना नहीं चाहते हैं, तो मैं युद्धमें पुरुषप्रवर भीष्मको ललकारकर धृतराष्ट्रपुत्रोंके देखते-देखते मार डालूँगा। पाण्डुनन्दन ! यदि भीष्मके मारे जानेपर ही आपको अपनी विजय दिखायी दे रही है, तो मैं एकमात्र रथकी सहायतासे आज कुरुकुल-वृद्ध पितामह भीष्मको मार डालूँगा। राजन् ! कल युद्धमें इन्द्रके समान मेरा पराक्रम देखिये। मैं बड़े-बड़े अस्त्रोंका प्रहार करनेवाले भीष्मको रथसे मार गिराऊँगा।

यः शत्रुः पाण्डुपुत्राणां मच्छत्रुः स न संशयः ।
मदर्था भवदीया ये ये मदीयास्तवैव ते ॥
तव भ्राता मम सखा सम्बन्धी शिष्य एव च ।
मांसान्युत्कृत्य दास्यामि फाल्गुनार्थे महीपते ॥
एष चापि नरव्याघ्रो मत्कृते जीवितं त्यजेत् ।
एष नः समयस्तात तारयेम परस्परम् ॥
स मां नियुङ्क्ष्व राजेन्द्र यथा योद्धा भवाम्यहम् ।
प्रतिज्ञातमुपप्लव्ये यत् तत् पार्थेन पूर्वतः ॥
घातयिष्यामि गाङ्गेयमिति लोकस्य संनिधौ ।
परिरक्ष्यमिदं तावद् वचः पार्थस्य धीमतः ॥
अनुज्ञातं तु पार्थेन मया कार्यं न संशयः ।
अथवा फाल्गुनस्यैष भारः परिमितो रणे ।
स हनिष्यति संग्रामे भीष्मं परपुरञ्जयम् ।

अशक्यमपि कुर्याद्धि रणे पार्थः समुद्यतः ॥
त्रिदशान् वा समुद्युक्तान् सहितान् दैत्यदानवैः ।
निहन्यादर्जुनः संख्ये किमु भीष्मं नराधिप ॥
विपरीतो महावीर्यो गतसत्त्वोऽल्पजीवनः ।
भीष्मः शान्तनवो नूनं कर्तव्यं नावबुध्यते ॥
(महाभारत भीष्म० १०७ । ३२—४०)

जो पाण्डवोंका शत्रु है, वह मेरा भी शत्रु है, इसमें संदेह नहीं है । जो आपके सुहृद् हैं, वे मेरे हैं और जो मेरे सुहृद् हैं, वे आपके ही हैं । राजन् ! आपके भाई अर्जुन मेरे सखा, सम्बन्धी और शिष्य हैं । मैं अर्जुनके लिये अपना मांस भी काटकर दे दूँगा । ये पुरुषसिंह अर्जुन भी मेरे लिये अपने प्राणोंतकका परित्याग कर सकते हैं । तात ! हमलोगोंमें यह प्रतिज्ञा हो चुकी है कि हम एक दूसरेको संकटसे उबारेंगे । राजेन्द्र ! आप मुझे युद्धके काममें नियुक्त कीजिये । मैं आपका योद्धा बनूँगा । युद्धके पहले उपप्लव्यनगरमें सब लोगोंके सामने अर्जुनने जो यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं गङ्गानन्दन भीष्मका वध करूँगा, बुद्धिमान् पार्थके उस वचनको सत्य करना मेरे लिये आवश्यक है । अर्जुनने जिस बातके लिये प्रतिज्ञा की हो, उसकी पूर्ति करना मेरा कर्तव्य है, इसमें संशय नहीं है अथवा रणक्षेत्रमें अर्जुनके लिये यह बहुत थोड़ा भार है । वे शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले भीष्मको युद्धमें अवश्य मार डालेंगे । कुन्तीपुत्र अर्जुन उद्यत हो जायँ तो युद्धमें असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं । नरेश्वर ! दैत्यों और दानवोंसहित सम्पूर्ण देवताओंको भी अर्जुन युद्धमें मार सकते हैं; फिर भीष्मको मारना कौन बड़ी बात है ! महापराक्रमी शान्तनुनन्दन भीष्म तो हमारे विपरीत पक्षका आश्रय लेनेवाले और बलहीन हैं । इनके जीवनके दिन अब बहुत थोड़े रह गये हैं; तथापि यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि वे अपने कर्तव्यको नहीं समझ रहे हैं ।

भीष्मके गिर जानेपर श्रीकृष्णका युधिष्ठिरको बधाई देना

कुरुकुलपितामह भीष्म युद्धमें गिराये जाकर बाणशय्यापर सो रहे थे । उनका सिर लटक रहा था, उन्होंने शय्याके अनुरूप तकिया माँगा । दुर्योधन आदि रूईभरे तकिये देने लगे । पितामहने अस्वीकार कर दिया और अर्जुनकी ओर देखा । अर्जुनने उनके मस्तकपर दो बाण मारे, जो मस्तक छेदकर धरतीपर जा टिके और मस्तक सीधा हो गया ।

तदनन्तर शिविरमें हर्षपूर्वक बैठे हुए पाण्डवोंके पास जाकर श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—

दिष्ट्या जयसि कौरव्य दिष्ट्या भीष्मो निपातितः ॥
अवध्यो मानुषैरेव सत्यसंधो महारथः ।
अथवा दैवतैः सार्धं सर्वशास्त्रस्य पारगः ॥
त्वां च चक्षुर्हणं प्राप्य दग्धो घोरेण चक्षुषा ।
(महाभारत भीष्म० १२० । ६६—६७½)

कुरुनन्दन ! सौभाग्यकी बात है कि तुम जीत रहे हो । यह भी भाग्यकी ही बात है कि भीष्म रथसे गिरा दिये गये । ये सत्यप्रतिज्ञ महारथी भीष्म सम्पूर्ण शास्त्रोंके पारङ्गत विद्वान् थे । इन्हें मनुष्य तथा सम्पूर्ण देवता मिलकर भी मार नहीं सकते थे । आप दृष्टिपातमात्रसे ही दूसरोंको भस्म करनेमें समर्थ हैं । आपके पास पहुँचकर भीष्म आपकी घोर दृष्टिसे ही नष्ट हो गये हैं।

उनके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने भगवान्

श्रीकृष्णको इस प्रकार उत्तर दिया—'श्रीकृष्ण ! आप हमारे आश्रय हैं तथा आप ही भक्तोंको अभय-दान करनेवाले हैं। आपके ही कृपा-प्रसादसे विजय होती है और आपके ही रोषसे पराजय प्राप्त होती है।' युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर जनार्दन श्रीकृष्णने मुसकराते हुए कहा—'नृपश्रेष्ठ ! आपका कथन सर्वथा युक्तिसंगत है।'

अभिमन्यु-मरणसे संतप्त हो रोती हुई सुभद्राको सान्त्वना देना

अर्जुन और श्रीकृष्ण संशप्तकोंके साथ युद्धमें रत थे। इधर अर्जुनको दूर गया जान आचार्य द्रोणने चक्रव्यूहकी रचना की। इस व्यूहका भेदन अर्जुन ही कर सकते थे। उनके न होनेसे पाण्डव बड़ी चिन्तामें पड़ गये थे। व्यूहके द्वाररक्षक स्वयं आचार्य द्रोण थे। वे पाण्डव-सेनाका संहार कर रहे थे और उस पक्षके किसी भी योद्धाको व्यूहके भीतर घुसने नहीं देते थे। तब युधिष्ठिरने अभिमन्युपर व्यूहभेदन-का भार रक्खा। अभिमन्युने बताया कि 'मैं व्यूहका भेदन तो कर सकता हूँ, किंतु वहाँ संकटमें पड़ जानेपर बाहर नहीं निकल सकता।' तब युधिष्ठिर और भीमसेनने आश्वासन दिया, 'तुम द्वार बनाकर भीतर घुसो, फिर हमलोग तुम्हारे साथ रहकर शत्रुओंका संहार करेंगे।' अभिमन्यु बड़ा बलवान्, पराक्रमी और उत्साही था। उसने व्यूह-भेदनका भार अपने ऊपर ले लिया और द्रोणकी सेनापर धावा किया। कौरवोंकी चतुरङ्गिणी सेनाका संहार करता हुआ वह अचिन्त्य-पराक्रमी वीर व्यूहका द्वार तोड़कर भीतर घुस गया। फिर तो बहुत-से कौरव-योद्धा उसपर टूट पड़े, परंतु वे आगमें कूदनेवाले पतिङ्गोंकी भाँति नष्ट हो गये। अभिमन्युने कौरव-सेनामें तहलका मचा दिया। उसने बड़े-बड़े योद्धाओंको धराशायी किया। रथियों, घुड़सवारों और गजारोहियोंको मार गिराया। अश्मकके पुत्रको यमलोक पहुँचा दिया। शल्यको बाणोंकी मारसे मूर्छित कर दिया। कौरवसेना उसके डरसे इधर-उधर भागने लगी। शल्यके भाई मारे गये। द्रोणाचार्य-की रथसेना पलायन करने लगी। आचार्यने अभिमन्युके बल-विक्रमकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। दुर्योधनके आदेशसे दुःशासनने अर्जुनकुमारपर आक्रमण किया। कर्णने भी दुःशासनका साथ दिया। परंतु दोनोंकी एक न चली। दुःशासन मूर्छित होकर गिर पड़ा। सारथि उसे रणभूमिसे दूर हटा ले गया। कर्णके भी प्राण संकटमें पड़ गये। अभिमन्युने कर्णके भाईको मौतके घाट उतार दिया और असंख्य कौरव-सेनाका संहार कर डाला। वहाँ सब ओर भगदड़ मच गयी। अभिमन्युके पीछे जानेवाले पाण्डव वीरोंको जयद्रथने वरदानके प्रभावसे रोक लिया था। अभिमन्यु अकेला ही लड़ता रहा। उसने वसातीय आदि अनेक योद्धाओंको कालके गालमें डाल दिया। उसके हाथसे सत्यश्रवा मारे गये। क्षत्रियोंके बड़े-बड़े दल धूलमें मिल गये। रुक्मरथ और उसके मित्रोंका विनाश हो गया, सैकड़ों राजकुमार मौतके मुँहमें चले गये तथा दुर्योधनको भी पीठ दिखानी पड़ी।

अर्जुनके उस वीर पुत्रने दुर्योधनकुमार लक्ष्मणको यम-लोक भेज दिया। तब द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, बृहद्बल और कृतवर्मा—इन छः महारथियोंने अभिमन्युको घेर लिया; परंतु सबको मुँहकी खानी पड़ी। इन्हें पराजित करके अभिमन्युने जयद्रथकी सेनापर धावा किया। इतनेमें ही क्राथपुत्र और कलिङ्गों तथा निषादोंने उसे घेर लिया। इन सबके साथ जूझते हुए उस वीरने क्राथपुत्रके मुकुटमण्डित मस्तकको अपने बाणोंसे काट गिराया। फिर पूर्वोक्त छः महारथियोंके साथ घोर युद्ध करके उसने वृन्दारकों, दस हजार अन्य राजाओं तथा कोशलनरेश बृहद्बलका भी संहार कर डाला। साथ ही अश्वकेतु, भोज तथा कर्ण-सचिवोंको रणक्षेत्रमें सुला दिया, कालकेयों, वसातियों और केकयरथियोंको यमलोकका अतिथि बना दिया। अन्तमें छः महारथियोंने उसे रथ और धनुषसे हीन कर दिया। फिर तो वह पैदल ही गदासे लड़ने लगा। दुःशासनके पुत्र और अभिमन्युमें गदा-युद्ध होने लगा। दोनों दोनोंके प्रहारसे मूर्च्छित होकर गिर पड़े। अन्तमें पहले दुःशासनका पुत्र उठा और अभिमन्यु अभी उठ ही रहा था कि उसके मस्तकपर उसने गदाकी करारी चोट दे दी। इस तरह वह वीरगतिको प्राप्त हुआ। पाण्डवों-को बड़ा दुःख हुआ। राजा युधिष्ठिर फूट-फूटकर रोने लगे। व्यासजीने उन्हें समझा-बुझाकर शान्त किया। अर्जुन अपने पुत्रके मारे जानेका समाचार सुनकर शोकसे व्याकुल हो गये। उन्होंने रोषसे भरकर जयद्रथको सूर्यास्तसे पहले ही मार डालनेकी प्रतिज्ञा कर ली। इधर इन्द्रकुमार महाबाहु अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'माधव ! आप पुत्रवधू उत्तरा-सहित अपनी बहिन सुभद्राको धीरज बँधाइये। उत्तरा और

उसकी सखियोंका शोक दूर कीजिये। प्रभो! शान्तिपूर्ण, सत्य और युक्तियुक्त वचनोंद्वारा इन सबको आश्वासन दीजिये।' तब भगवान् श्रीकृष्ण अत्यन्त उदार मनसे अर्जुनके शिविरमें गये और पुत्रशोकसे पीड़ित हुई अपनी दुखिया बहिनको आश्वासन देने लगे—

वासुदेव उवाच

मा शोकं कुरु वार्ष्णेयि कुमारं प्रति सस्नुषा।
सर्वेषां प्राणिनां भीरु निष्ठैषा कालनिर्मिता॥
कुले जातस्य धीरस्य क्षत्रियस्य विशेषतः।
सदृशं मरणं ह्येतत् तव पुत्रस्य मा शुचः॥
दिष्ट्या महारथो धीरः पितुस्तुल्यपराक्रमः।
क्षात्रेण विधिना प्राप्तो वीराभिलषितां गतिम्॥
जित्वा सुबहुशः शत्रून् प्रेषयित्वा च मृत्यवे।
गतः पुण्यकृतां लोकान् सर्वकामदुहोऽक्षयान्॥
तपसा ब्रह्मचर्येण श्रुतेन प्रज्ञयापि च।
सन्तो यां गतिमिच्छन्ति तां प्राप्तस्तव पुत्रकः॥

(महाभारत द्रोण० ७७। १२—१६)

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—वृष्णिनन्दिनी! तुम और पुत्रवधू उत्तरा कुमार अभिमन्युके लिये शोक न करो। भीरु! काल एक दिन सभी प्राणियोंकी ऐसी ही अवस्था कर देता है। तुम्हारा पुत्र उत्तम कुलमें उत्पन्न धीर-वीर और विशेषतः क्षत्रिय था। यह मृत्यु उसके योग्य ही हुई है। इसलिये शोक न करो। यह सौभाग्यकी बात है कि पिताके तुल्य पराक्रमी धीर महारथी अभिमन्यु क्षत्रियोचित कर्तव्यका पालन करके उस उत्तम गतिको प्राप्त हुआ है, जिसकी वीर पुरुष अभिलाषा करते हैं। वह बहुत-से शत्रुओंको जीतकर और बहुतोंको मृत्युके लोकमें भेजकर पुण्यात्माओंको प्राप्त होनेवाले उन अक्षय लोकोंमें गया है, जो सम्पूर्ण कामनाओंके पूर्ण करनेवाले हैं। तपस्या, ब्रह्मचर्य, शास्त्रज्ञान और सद्बुद्धिके द्वारा साधुपुरुष जिस गतिको पाना चाहते हैं, वही गति तुम्हारे पुत्रको भी प्राप्त हुई है।

वीरसूर्वीरपत्नी त्वं वीरजा वीरबान्धवा।
मा शुचस्तनयं भद्रे गतः स परमां गतिम्॥
प्राप्स्यते चाप्यसौ पापः सैन्धवो बालघातकः।
अस्यावलेपस्य फलं ससुहृद्गणबान्धवः॥
व्युष्टायां तु वरारोहे रजन्यां पापकर्मकृत्।
न हि मोक्ष्यति पार्थात् स प्रविष्टोऽप्यमरावतीम्॥
श्वः शिरः श्रोष्यसे तस्य सैन्धवस्य रणे हृतम्।
समन्तपञ्चकाद् बाह्यं विशोका भव मा रुदः॥
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य गतः शूरः सतां गतिम्।
यां गतिं प्राप्नुयामेह ये चान्ये शस्त्रजीविनः॥

(महाभारत द्रोण० ७७। १७—२१)

सुभद्रे! तुम वीरमाता, वीरपत्नी, वीरकन्या और वीर भाइयोंकी बहिन हो। तुम पुत्रके लिये शोक न करो। वह उत्तम गतिको प्राप्त हुआ है। वरारोहे! बालककी हत्या करनेवाला वह पापकर्मा पापी सिंधुराज जयद्रथ रात बीतनेपर प्रातःकाल होते ही अपने सुहृदों और बन्धु-बान्धवोंसहित इस अपराधका फल पायेगा। वह अमरावतीपुरीमें जाकर छिप जाय तो भी अर्जुनके हाथसे उसका छुटकारा नहीं होगा। तुम कल ही सुनोगी कि रणक्षेत्रमें जयद्रथका

मस्तक काट लिया गया है और वह समन्तपञ्चक क्षेत्रसे बाहर जा गिरा है । अतः शोक त्याग दो और रोना बंद करो । शूरवीर अभिमन्युने क्षत्रिय-धर्मको आगे रखकर सत्पुरुषोंकी गति पायी है, जिसे हमलोग और इस संसारके दूसरे शस्त्रधारी क्षत्रिय भी पाना चाहते हैं ।

व्यूढोरस्को महाबाहुरनिवर्ती रथप्रणुत् ।
गतस्तव वरारोहे पुत्रः स्वर्गं ज्वरं जहि ॥
अनुयातश्च पितरं मातृपक्षं च वीर्यवान् ।
सहस्रशो रिपून् हत्वा हतः शूरो महारथः ॥
आश्वासय स्नुषां राज्ञि मा शुचः क्षत्रिये भृशम् ।
श्वः प्रियं सुमहच्छ्रुत्वा विशोका भव नन्दिनि ॥
यत् पार्थेन प्रतिज्ञातं तत् तथा न तदन्यथा ।
चिकीर्षितं हि ते भर्तुर्न भवेज्जातु निष्फलम् ॥
यदि च मनुजपन्नगाः पिशाचा
रजनिचराः पतगाः सुरासुराश्च ।
रणगतमभियान्ति सिन्धुराजं
न स भविता सह तैरपि प्रभाते ॥
(महाभारत द्रोण० ७७ । २२—२६)

सुन्दरी ! चौड़ी छाती और विशाल भुजाओंसे सुशोभित, युद्धसे पीछे न हटनेवाला तथा शत्रुपक्षके रथियोंपर विजय पानेवाला तुम्हारा पुत्र स्वर्गलोकमें गया है । तुम चिन्ता छोड़ो । बलवान्, शूरवीर और महारथी अभिमन्यु पितृकुल तथा मातृकुलकी मर्यादाका अनुसरण करते हुए सहस्रों शत्रुओंको मारकर मरा है । रानी बहिन ! अधिक चिन्ता छोड़ो और बहूको धीरज बँधाओ । अपने कुलको आनन्दित करनेवाली क्षत्रिय-कन्ये ! कल अत्यन्त प्रिय समाचार सुनकर शोकरहित हो जाओ । अर्जुनने जिस बातके लिये प्रतिज्ञा कर ली है, वह उसी रूपमें पूर्ण होगी । उसे कोई पलट नहीं सकता । तुम्हारे स्वामी जो कुछ करना चाहते हैं, वह कभी निष्फल नहीं होता । यदि मनुष्य, नाग, पिशाच, निशाचर, पक्षी, देवता और असुर भी रणक्षेत्रमें आये हुए सिंधुराज जयद्रथकी सहायताके लिये आ जायँ तो भी वह कल उन सहायकोंके साथ ही जीवनसे हाथ धो बैठेगा ।

वीरगतिको प्राप्त अभिमन्युके पराक्रमकी प्रशंसा करके सुभद्रा आदिको पुनः आश्वासन देना

महात्मा केशवका उपर्युक्त कथन सुनकर पुत्रशोकसे व्याकुल सुभद्रा पुनः विलाप करने लगी । उत्तरासहित विलाप करती हुई दीन-दुखी एवं शोकसे दुर्बल सुभद्राके पास उस समय द्रौपदी भी आ पहुँची । राजन् ! वे सब-की-सब अत्यन्त दुखी हो रोती और विलाप करती हुई पगली-सी हो गयीं एवं मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ीं । तब कमल-नयन भगवान् श्रीकृष्ण अत्यन्त दुखी हो उन सबको होशमें लानेके लिये उपचार करने लगे । उन्होंने अपनी दुःखिनी बहिन सुभद्रापर जल छिड़ककर नाना प्रकारके हितकर वचन कहते हुए उसे आश्वासन दिया । पुत्रशोकसे मर्माहत हो वह रोती हुई काँप रही थी और अचेत-सी हो गयी थी । उस अवस्थामें भगवान्ने उससे कहा—

सुभद्रे मा शुचः पुत्रं पाञ्चाल्याश्वासयोत्तराम् ।
गतोऽभिमन्युः प्रथितां गतिं क्षत्रियपुङ्गवः ॥
ये चान्येऽपि कुले सन्ति पुरुषा नो वरानने ।
सर्वे ते तां गतिं यान्तु ह्यभिमन्योर्यशस्विनः ॥
कुर्याम तद् वयं कर्म क्रियासु सुहृदश्च नः ।
कृतवान् यादृगद्यैकस्तव पुत्रो महारथः ॥
(महाभारत द्रोण० ७८ । ४०—४२)

सुभद्रे ! तुम पुत्रके लिये शोक न करो । द्रुपद-कुमारी ! तुम उत्तराको धीरज बँधाओ । वह क्षत्रिय-शिरोमणि सर्वश्रेष्ठ गतिको प्राप्त हुआ है । सुमुखि ! हमारी इच्छा तो यह है कि हमारे कुलमें और जितने पुरुष हैं, वे सभी यशस्वी अभिमन्युकी ही

प्राप्त करें। तुम्हारे महारथी पुत्रने अकेले ही आज जैसा पराक्रम किया है, उसे हम और हमारे सुहृद् भी कार्यरूपमें परिणत करें।

इस प्रकार अपनी बहिन सुभद्रा, उत्तरा तथा द्रौपदीको आश्वासन देकर शत्रुदमन महाबाहु श्रीकृष्ण पुनः अर्जुनके ही पास चले आये।

अर्जुनकी सफलताके लिये श्रीकृष्णके दारुकके प्रति उत्साहभरे वचन

श्रीकृष्णने अर्जुनकी विजयके लिये रात्रिमें उनसे भगवान् शिवका पूजन करवाया। जागते हुए पाण्डव-सैनिक अर्जुनके लिये शुभाशंसा करने लगे। भगवान् श्रीकृष्ण अपने शिविरमें आकर सोये और रात्रिके मध्यकालमें ही जाग उठे। अर्जुनकी जयद्रथवध-विषयक प्रतिज्ञाको स्मरण करके अर्जुनके प्रेममें उन्मत्त-से हुए सारथि दारुकको पास बुलाकर उससे बड़े उत्साहके साथ कहने लगे—

इन्द्र भी जिसे नहीं मार सकते, सूर्यास्तसे पूर्व अर्जुन उस जयद्रथको मेरे उद्योगसे मार देंगे

अर्जुनेन प्रतिज्ञातमार्तेन हतबन्धुना ॥
जयद्रथं वधिष्यामि श्वोभूत इति दारुक।
तत्तु दुर्योधनः श्रुत्वा मन्त्रिभिर्मन्त्रयिष्यति ॥
यथा जयद्रथं पार्थो न हन्यादिति संयुगे।
अक्षौहिण्यो हि ताः सर्वा रक्षिष्यन्ति जयद्रथम् ॥
द्रोणश्च सह पुत्रेण सर्वास्त्रविधिपारगः।
एको वीरः सहस्राक्षो दैत्यदानवदर्पहा ॥
सोऽपि तं नोत्सहेताजौ हन्तुं द्रोणेन रक्षितम्।
सोऽहं श्वस्तत् करिष्यामि यथा कुन्तीसुतोऽर्जुनः॥
अप्राप्तेऽस्तं दिनकरे हनिष्यति जयद्रथम्।

(महाभारत द्रोण० ७९। २१—२५½)

दारुक! अपने पुत्र अभिमन्युके मारे जानेसे शोकार्त होकर अर्जुनने यह प्रतिज्ञा कर ली है कि मैं कल जयद्रथका वध कर डालूँगा। यह सब सुनकर दुर्योधन अपने मन्त्रियोंके साथ ऐसी मन्त्रणा करेगा, जिससे अर्जुन समरभूमिमें जयद्रथको मार न सकें। वे सारी अक्षौहिणी सेनाएँ जयद्रथकी रक्षा करेंगी तथा सम्पूर्ण अस्त्र-विधिके पारंगत विद्वान् द्रोणाचार्य भी अपने पुत्र अश्वत्थामाके साथ उसकी रक्षामें रहेंगे। त्रिलोकीके एकमात्र वीर हैं सहस्रनेत्रधारी इन्द्र, जो दैत्यों और दानवोंके भी दर्पका दलन करनेवाले हैं; परंतु वे भी द्रोणाचार्यसे सुरक्षित जयद्रथको युद्धमें मार नहीं सकते। अतः मैं कल वह उद्योग करूँगा, जिससे कुन्तीपुत्र अर्जुन सूर्यदेवके अस्त होनेसे पहले जयद्रथको मार डालेंगे।

अर्जुनके विना मैं दो घड़ी भी नहीं रह सकता

न हि दारा न मित्राणि ज्ञातयो न च बान्धवाः ॥
कश्चिदन्यः प्रियतरः कुन्तीपुत्रान्ममार्जुनात्।
अनर्जुनमिमं लोकं मुहूर्तमपि दारुक ॥
उदीक्षितुं न शक्तोऽहं भविता न च तत् तथा।
अहं विजित्य तान् सर्वान् सहसा सहयद्विपान् ॥
अर्जुनार्थे हनिष्यामि सकर्णान् ससुयोधनान्।
श्वो निरीक्षन्तु मे वीर्यं त्रयो लोका महाहवे ॥
धनंजयार्थे समरे पराक्रान्तस्य दारुक।
श्वो नरेन्द्रसहस्राणि राजपुत्रशतानि च ॥
साश्वद्विपरथान्याजौ विद्रविष्यामि दारुक।

(महाभारत द्रोण० ७९। २६—३०½)

मुझे स्त्री, मित्र, कुटुम्बीजन, भाई-बन्धु तथा दूसरा कोई भी कुन्तीपुत्र अर्जुनसे अधिक प्रिय नहीं है। दारुक! मैं अर्जुनसे रहित इस संसारको दो घड़ी भी नहीं देख सकता। ऐसा हो ही नहीं सकता (कि मेरे रहते अर्जुनका कोई अनिष्ट हो।) मैं अर्जुनके लिये हाथी, घोड़े, कर्ण और दुर्योधनसहित उन समस्त शत्रुओंको जीतकर सहसा उनका संहार कर डालूँगा। दारुक! कलके महासमरमें तीनों लोक

धनंजयके लिये युद्धमें पराक्रम प्रकट करते हुए मेरे बल और प्रभावको देखें । दारुक ! कल युद्धमें मैं सहस्रों राजाओं तथा सैकड़ों राजकुमारोंको उनके घोड़े, हाथी एवं रथोंसहित मृत्युके मुखमें पहुँचा दूँगा ।

मैं अपने चक्रसे सबको चूर-चूर कर दूँगा

श्वस्तां चक्रप्रमथितां द्रक्ष्यसे नृपवाहिनीम् ॥
मया क्रुद्धेन समरे पाण्डवार्थे निपातिताम् ।
श्वः सदेवाः सगन्धर्वाः पिशाचोरगराक्षसाः ॥
ज्ञास्यन्ति लोकाः सर्वे मां सुहृदं सव्यसाचिनः ।
यस्तं द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्तं चानु स मामनु ॥
इति संकल्प्यतां बुद्ध्या शरीरार्द्धं ममार्जुनः ।
यथा त्वं मे प्रभातायामस्यां निशि रथोत्तमम् ॥
कल्पयित्वा यथाशास्त्रमादाय व्रज संयतः ।
गदां कौमोदकीं दिव्यां शक्तिं चक्रं धनुः शरान् ॥
आरोप्य वै रथे सूत सर्वोपकरणानि च ।
स्थानं च कल्पयित्वाथ रथोपस्थे ध्वजस्य मे ॥
वैनतेयस्य वीरस्य समरे रथशोभिनः ।

(महाभारत द्रोण० ७९ । ३१—३६½)

तुम कल देखोगे कि मैंने समराङ्गणमें कुपित होकर पाण्डुपुत्र अर्जुनके लिये सारी राजसेनाको चक्रसे चूर-चूर करके धरतीपर मार गिराया है । कल देवता, गन्धर्व, पिशाच, नाग तथा राक्षस आदि समस्त लोक यह अच्छी तरह जान लेंगे कि मैं सव्यसाची अर्जुनका हितैषी मित्र हूँ । जो अर्जुनसे द्वेष करता है, वह मुझसे द्वेष करता है और जो अर्जुनका अनुगामी है, वह मेरा अनुगामी है, तुम अपनी बुद्धिसे यह निश्चय कर लो कि अर्जुन मेरा आधा शरीर है । कल प्रातः-काल तुम शास्त्र-विधिके अनुसार मेरे उत्तम रथको सुसज्जित करके सावधानीके साथ लेकर युद्धस्थलमें चलना । सूत ! कौमोदकी गदा, दिव्य शक्ति, चक्र, धनुष, बाण तथा अन्य सब आवश्यक सामग्रियोंको रथपर रखकर उसके पिछले भागमें समराङ्गणमें रथकी शोभा पानेवाले वीर विनतानन्दन गरुड़के चिह्नवाले ध्वजके लिये भी स्थान बना लेना ।

दारुक ! तुम मेरा रथ सजाकर लाना

छत्रं जाम्बूनदैर्जालैरर्कज्वलनसप्रभैः ॥
विश्वकर्मकृतैर्दिव्यैरश्वानपि विभूषितान् ।
बलाहकं मेघपुष्पं शैब्यं सुग्रीवमेव च ॥
युक्तान् वाजिवरान् यत्तः कवची तिष्ठ दारुक ।
पाञ्चजन्यस्य निर्घोषमार्षभेणैव पूरितम् ॥
श्रुत्वा च भैरवं नादमुपेयास्त्वं जवेन माम् ।
एकाह्नाहममर्षं च सर्वदुःखानि चैव ह ॥
भ्रातुः पैतृष्वसेयस्य व्यपनेष्यामि दारुक ।
सर्वोपायैर्यतिष्यामि यथा बीभत्सुराहवे ॥
पश्यतां धार्तराष्ट्राणां हनिष्यति जयद्रथम् ।
यस्य यस्य च बीभत्सुर्वधे यत्नं करिष्यति ।
आशंसे सारथे तत्र भवितास्य ध्रुवो जयः ॥

(महाभारत द्रोण० ७९ । ३७-४२)

दारुक ! साथ ही उसमें छत्र लगाकर अग्नि और सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाले तथा विश्वकर्माके बनाये हुए दिव्य सुवर्णमय जालोंसे विभूषित मेरे चारों श्रेष्ठ घोड़ों—बलाहक, मेघपुष्प, शैब्य तथा सुग्रीवको जोत लेना और स्वयं भी कवच धारण करके तैयार रहना । पाञ्चजन्य शङ्खका ऋषभ स्वरसे बजाया हुआ शब्द और भयंकर कोलाहल सुनते ही तुम बड़े वेगसे मेरे पास पहुँच जाना । दारुक ! मैं अपनी बुआके पुत्र भाई अर्जुनके सारे दुःख और अमर्षको एक ही दिनमें दूर कर दूँगा । सभी उपायोंसे ऐसा प्रयत्न करूँगा, जिससे अर्जुन युद्धमें धृतराष्ट्रपुत्रोंके देखते देखते जयद्रथको मार डालें । सारथे ! कल अर्जुन जिस-जिस वीरके वधका प्रयत्न करेंगे, मैं आशा करता हूँ, वहाँ-वहाँ उनकी निश्चय ही विजय होगी ।

दारुक बोला—पुरुषसिंह ! आप जिनके सारथि बने हुए हैं, उनकी विजय तो निश्चित है ही । भला, उनकी पराजय कैसे हो सकती है ? आपने मुझे जो आज्ञा दी है, उसका मैं यथावत् पालन करूँगा ।

अर्जुनका स्वप्न तथा भगवान् श्रीकृष्णका युधिष्ठिरको जयद्रथ-वधके लिये पूर्ण आश्वासन

इधर अचिन्त्य-पराक्रमी कुन्तीपुत्र अर्जुन अपनी प्रतिज्ञाकी रक्षाके लिये भगवान् शिवके मन्त्रका चिन्तन करते-करते निद्राके वशीभूत हो गये । स्वप्नावस्थामें उनके पास भगवान् श्रीकृष्ण आये और पूछने लगे—'अर्जुन ! तुम किस चिन्तामें निमग्न हो ?' स्वप्नमें ही अर्जुनने उत्तर दिया—'केशव ! मैंने अपने पुत्रके घातक जयद्रथको मारनेकी प्रतिज्ञा की है; किंतु धृतराष्ट्र-पक्षके सभी महारथी मेरी प्रतिज्ञा भङ्ग करनेके लिये निश्चय ही सिन्धुराजको सबसे पीछे खड़ा करेंगे, समस्त सेनाओं और उन महारथियोंसे घिरा होनेपर जयद्रथ कैसे मेरी दृष्टिमें आ सकेगा ?' यह सुनकर श्रीकृष्ण अर्जुनको भगवान् शिवके समीप एक पर्वतके शिखरपर ले गये । भगवान् वृषभध्वज वहाँ तपस्या कर रहे थे और ब्रह्मवादी महर्षिगण दिव्य स्तोत्र पढ़कर उनके गीत गा रहे थे । अर्जुन-सहित श्रीकृष्णने पृथ्वीपर मस्तक टेककर भगवान् शिवको प्रणाम किया । दोनोंने ही उनकी स्तुति की । इससे भगवान् शंकर प्रसन्न हो गये । अर्जुनने मन-ही-मन श्रीकृष्ण और शिवकी पूजा करके भगवान् शंकरसे कहा—'प्रभो ! मैं आपसे दिव्यास्त्र प्राप्त करना चाहता हूँ ।' भगवान् शंकरने उन दोनोंका स्वागत किया और अर्जुनको पाशुपतास्त्र दिया । उसे पाकर अर्जुन बड़े संतुष्ट हुए और पुनः श्रीकृष्णके साथ अपने शिविरमें लौट आये । इस स्वप्न-दर्शनके पश्चात् वह रात्रि व्यतीत हो गयी । प्रातःकाल पाण्डव-शिविरमें राजा युधिष्ठिर सूतों और मागधोंके द्वारा की हुई स्तुति तथा विविध वाद्योंकी ध्वनि सुनकर जाग उठे । उन्होंने स्नान और नित्यकर्मसे निवृत्त हो ब्राह्मणोंको दान दिया और वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो सिंहासनपर बैठकर वहाँ पधारे हुए भगवान् श्रीकृष्णका पूजन किया । तत्पश्चात् अर्जुनकी की हुई प्रतिज्ञाको सफल बनानेके लिये उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना की । उस समय भगवान्ने उन्हें सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा—

वासुदेव उवाच

सामरेष्वपि लोकेषु सर्वेषु न तथाविधः ।
शरासनधरः कश्चिद् यथा पार्थो धनंजयः ॥
वीर्यवानस्त्रसम्पन्नः पराक्रान्तो महाबलः ।
युद्धशौण्डः सदामर्षी तेजसा परमो नृणाम् ॥
स युवा वृषभस्कन्धो दीर्घबाहुर्महाबलः ।
सिंहर्षभगतिः श्रीमान् द्विषतस्ते हनिष्यति ॥
अहं च तत् करिष्यामि यथा कुन्तीसुतोऽर्जुनः ।
धार्तराष्ट्रस्य सैन्यानि धक्ष्यत्यग्निरिवेन्धनम् ॥

(महाभारत द्रोण० ८३ । २१—२४)

श्रीकृष्ण बोले—राजन् ! देवताओंसहित सम्पूर्ण लोकोंमें कोई भी ऐसा धनुर्धर नहीं है, जैसे आपके भाई कुन्तीकुमार धनंजय हैं । वे शक्तिशाली, अस्त्रज्ञान-सम्पन्न, पराक्रमी, महाबली, युद्धकुशल, सदा अमर्षशील और मनुष्योंमें परम तेजस्वी हैं । अर्जुनके कंधे वृषभके समान सुपुष्ट हैं, उनकी भुजाएँ विशाल हैं, चाल भी श्रेष्ठ सिंहके सदृश है । वे महान् बलवान्, युवक और श्रीसम्पन्न हैं । अतः आपके शत्रुओंको अवश्य मार डालेंगे । मैं भी वही करूँगा, जिससे कुन्तीपुत्र अर्जुन दुर्योधनकी सारी सेनाओंको उसी प्रकार जला डालेंगे, जैसे आग ईंधनको जलाती है ।

अद्य तं पापकर्माणं क्षुद्रं सौभद्रघातिनम् ।
अपुनर्दर्शनं मार्गमिषुभिः क्षेप्स्यतेऽर्जुनः ॥
तस्याद्य गृध्राः श्येनाश्च चण्डगोमायवस्तथा ।
भक्षयिष्यन्ति मांसानि ये चान्ये पुरुषादकाः ॥
यद्यस्य देवा गोप्तारः सेन्द्राः सर्वे तथाप्यसौ ।
राजधानीं यमस्याद्य हतः प्राप्स्यति संकुले ॥
निहत्य सैन्धवं जिष्णुरद्य त्वामुपयास्यति ।
विशोको विज्वरो राजन् भव भूतिपुरस्कृतः ॥

(महाभारत द्रोण० ८३ । २५-२८)

आज सुभद्राकुमार अभिमन्युकी हत्या करनेवाले

उस नीच पापी जयद्रथको अर्जुन अपने बाणोंद्वारा उस मार्गपर डाल देंगे, जहाँ जानेपर उस जीवका पुनः इस लोकमें दर्शन नहीं होता । आज गीध, बाज, क्रोधमें भरे हुए गीदड़ तथा अन्य नरभक्षी जीव-जन्तु जयद्रथ-का मांस खायेंगे । यदि इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी उसकी रक्षाके लिये आ जायँ, तो भी वह आज संग्राममें मारा जाकर यमराजकी राजधानीमें अवश्य जा पहुँचेगा । राजन् ! आज विजयशील अर्जुन जयद्रथको मारकर ही आपके पास आयेंगे । आप ऐश्वर्यसे सम्पन्न रहकर शोक और चिन्ताको त्याग दीजिये ।

श्रीकृष्ण और अर्जुनकी रणयात्रा, उनका महारथियोंसे युद्ध, बहुत-से विपक्षी वीरों और सैनिकोंका उनके द्वारा संहार, रणभूमिमें अश्वोंकी परिचर्या तथा दुर्योधनको सामने देख श्रीकृष्णका दुर्योधनके बल तथा उसके असदाचरणका बखान करते हुए अर्जुनको उसके वधके लिये ओजपूर्ण शब्दोंमें उत्साहित करना

तदनन्तर अर्जुन राजा युधिष्ठिरका दर्शन करनेकी इच्छासे उनके शिविरमें आये । ड्योढ़ीमें प्रवेश करके उन्होंने राजाको प्रणाम किया । फिर युधिष्ठिरने उठकर उन्हें प्रेमपूर्वक हृदयसे लगाया और आशीर्वाद देते हुए मुस्कराकर कहा—'अर्जुन ! आज संग्राममें तुम्हें अवश्य विजय प्राप्त होगी; क्योंकि तुम्हारे मुखकी कान्तिसे यही सूचित होता है और भगवान् श्रीकृष्ण आज अधिक प्रसन्न हैं, इसलिये ऐसा होना अवश्यम्भावी है ।' इसके बाद अर्जुनने अपना स्वप्न सुनाया । उसे सुनकर सबको बड़ा विस्मय हुआ और सबने भगवान् शंकरको प्रणाम करके कहा—'यह बहुत अच्छा हुआ, बहुत अच्छा हुआ ।'

तत्पश्चात् युधिष्ठिरकी आज्ञा ले उन्हें प्रणाम करके समस्त सुहृदोंसहित सात्यकि, श्रीकृष्ण और अर्जुन—सहर्ष शिविरसे बाहर निकले । श्रीकृष्णने सारथिकी भाँति रथ सुसज्जित करके अर्जुनको सूचना दी कि रथ तैयार है । तब नरश्रेष्ठ अर्जुनने सोनेके कवच और किरीट धारण करके धनुष-बाण लेकर उस रथकी परिक्रमा की । उस समय ब्राह्मणोंने उन्हें विजय-सूचक आशीर्वाद दिया । फिर वे रथपर आरूढ़ हुए । उनके बैठनेके बाद सात्यकि और श्रीकृष्ण भी उसी रथपर आरूढ़ हो गये । श्रीकृष्णने घोड़ोंकी रास हाथमें ले ली । रणवाद्य बज उठे । माङ्गलिक स्तुतियाँ होने लगीं । रथ आगे बढ़ा । शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु बहने लगी । विजय-सूचक शुभ शकुन प्रकट होने लगे । अर्जुनने सात्यकिको युधिष्ठिरकी रक्षाके लिये भेज दिया और स्वयं जयद्रथसे युद्ध करनेके लिये अग्रसर हुए । इधर द्रोणाचार्यने कौरव-सेनाको चक्र-शकटव्यूह-में व्यवस्थित किया । कौरव-सेनाके सामने अपशकुन होने लगे ।

अर्जुनको रणभूमिमें प्रवेश करते देख दुर्मर्षणने उनका सामना करनेके लिये उत्साह प्रकट किया । प्रतापी अर्जुनने शत्रुसेनाके सम्मुख जितनी दूरसे बाण मारा जा सके, उतनी ही दूरीपर अपने रथको खड़ा करके शङ्ख बजाया । साथ ही श्रीकृष्णका पाञ्चजन्य भी हुंकार कर उठा । फिर तो अर्जुन और दुर्मर्षणमें युद्ध आरम्भ हो गया । अर्जुनने उसकी गज-सेनाका संहार करके समस्त सैनिकोंको मार भगाया । अपनी सेनाको भागती देख दुःशासन कुपित हो युद्धके लिये अर्जुनके सामने आया । परंतु अर्जुनके बाणोंसे क्षत-विक्षत हो उसे सेनासहित भागनेको विवश होना पड़ा । फिर अर्जुनसे द्रोणा-चार्यका सामना हुआ । अर्जुनने आचार्यसे व्यूहके भीतर प्रवेश करनेकी आज्ञा माँगी । आचार्यने हँसकर कहा—'अर्जुन ! मुझे परास्त किये बिना जयद्रथको जीतना असम्भव है ।' फिर तो गुरु और शिष्यमें घोर युद्ध छिड़ गया । द्रोणने अर्जुन और श्रीकृष्णको अपने बाणोंसे घायल कर दिया । अर्जुनने भी आचार्यकी सेनाका संहार कर डाला । इस तरह गुरु-शिष्यका युद्ध उत्तरोत्तर उग्र रूप धारण करने लगा । तब श्रीकृष्णकी प्रेरणासे कालात्यय होता देख अर्जुन द्रोणाचार्यको छोड़कर आगे बढ़ गये । आचार्यने व्यङ्ग किया, 'तुम तो शत्रुको पराजित किये बिना कभी नहीं लौटते थे । आज क्या बात है ?' अर्जुनने उत्तर दिया—'आप मेरे गुरु हैं, शत्रु नहीं । आपको कौन परास्त कर सकता है ?'

ऐसा कहकर अर्जुनने कौरव-सेनापर धावा किया । आचार्य द्रोण और कृतवर्माके साथ जूझते हुए अर्जुन कौरव-सेनाके व्यूहमें प्रविष्ट हो गये । उस समय वरुण-पुत्र राजा श्रुतायुधने अर्जुनपर आक्रमण किया । अर्जुनके बाणोंसे उनके घोड़े और

सारथि मारे गये। तब उन्होंने बदला लेनेकी नीयतसे अर्जुनके सारथिपर भी गदा चलायी; परंतु उस गदाने लौटकर श्रुतायुधको ही मौतके घाट उतार दिया। जो युद्ध न करता हो, उसपर चलायी जानेपर वह गदा अपने प्रयोक्ताको ही मार डालती थी। यह उस गदाके लिये वरुणका दिया हुआ प्रभाव था। श्रुतायुधके मारे जानेपर काम्बोजराज सुदर्शन अर्जुनका सामना करनेके लिये आया; परंतु अर्जुनने उसे बात-की-बातमें यमलोक पहुँचा दिया। तदनन्तर उनके हाथसे श्रुतायु, अच्युतायु, नियतायु, दीर्घायु, म्लेच्छ सैनिक और अम्बष्ठ आदि मारे गये। यह देख दुर्योधनने द्रोणाचार्यको उपालम्भ दिया। आचार्यने उसके शरीरमें दिव्य कवच बाँधकर उसीको अर्जुनके साथ युद्ध करनेके लिये भेजा। उधर अर्जुनने तीव्र गतिसे कौरव-सेनामें घुसकर विन्द और अनुविन्दको कालके गालमें डाल दिया। तदनन्तर घोड़ोंको थका हुआ जान अर्जुन रथसे उतर गये। उन्होंने बाणोंका घेरा बनाकर शत्रुओंको सब ओरसे बहुत दूरीपर ही रोक दिया और पृथ्वीपर बाण मारकर अगाध जलसे भरा हुआ एक सरोवर प्रकट कर दिया। साथ ही बाणोंका एक घर भी बना दिया। श्रीकृष्णने घोड़े खोल दिये और उन्हें टहलाया। अपने हाथसे उनके शरीरमें धँसे हुए बाण निकाले। कुशलतापूर्वक घावोंकी चिकित्सा की। उनका श्रम एवं कष्ट मिटाया और पानी पिलाकर उन्हें अच्छी तरह नहलाया। फिर घास और दाना खिलाया। जब उनकी सारी थकावट दूर हो गयी तो पुनः उन्हें रथमें जोत दिया। इसके बाद उस रथपर आरूढ़ हो अर्जुनसहित श्रीकृष्ण रणक्षेत्रमें आगे बढ़े। उन्हें देखकर कौरव-सैनिक निराश हो गये। श्रीकृष्ण और अर्जुनने देखा कि अब जयद्रथ अधिक दूर नहीं है। इससे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। वे उसकी ओर बढ़ चले। इतनेमें ही दुर्योधन उनकी राह रोककर खड़ा हो गया, यह देख भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे यों समयोचित बात कही—

वासुदेव उवाच

दुर्योधनमतिक्रान्तमेतं पश्य धनंजय।
अत्यद्भुतमिमं मन्ये नास्त्यस्य सदृशो रथः॥
दूरपाती महेष्वासः कृतास्त्रो युद्धदुर्मदः।
दृढास्त्रश्चित्रयोधी च धार्तराष्ट्रो महाबलः॥
अत्यन्तसुखसंवृद्धो मानितश्च महारथः।
कृती च सततं पार्थ नित्यं द्वेष्टि च बान्धवान्॥
तेन युद्धमहं मन्ये प्राप्तकालं तवानघ।
अत्र वो द्यूतमायत्तं विजयायेतराय वा॥
अत्र क्रोधविषं पार्थ विमुञ्च चिरसम्भृतम्।
एष मूलमनर्थानां पाण्डवानां महारथः॥
सोऽयं प्राप्तस्तवाक्षेपं पश्य साफल्यमात्मनः।
कथं हि राजा राज्यार्थी त्वया गच्छेत संयुगम्॥
दिष्ट्या त्विदानीं सम्प्राप्त एष ते बाणगोचरम्।
यथायं जीवितं जह्यात् तथा कुरु धनंजय॥
ऐश्वर्यमदसम्मूढो नैष दुःखमुपेयिवान्।
न च ते संयुगे वीर्यं जानाति पुरुषर्षभ॥
त्वां हि लोकास्त्रयः पार्थ ससुरासुरमानुषाः।
नोत्सहन्ते रणे जेतुं किमुतैकः सुयोधनः॥

(महाभारत द्रोण० १०२। १—९)

श्रीकृष्ण बोले—धनंजय! सबको लाँघकर सामने आये हुए इस दुर्योधनको देखो। मैं तो इसे अत्यन्त अद्भुत योद्धा मानता हूँ। इसके समान दूसरा कोई रथी नहीं है। यह महाबली धृतराष्ट्रपुत्र दूरतकके लक्ष्यको मार गिरानेवाला, महान् धनुर्धर, अस्त्र-विद्यामें निपुण और युद्धमें दुर्मद है। इसके अस्त्र-शस्त्र अत्यन्त सुदृढ़ हैं तथा यह विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाला है। कुन्तीकुमार! महारथी दुर्योधन अत्यन्त सुखसे पला हुआ सम्मानित और विद्वान् है। यह तुम-जैसे बन्धु-बान्धवोंसे नित्य-निरन्तर द्वेष रखता है। निष्पाप अर्जुन! मैं समझता हूँ, इस समय इसीके साथ युद्ध करनेका अवसर प्राप्त हुआ है। यहाँ तुमलोगोंके अधीन जो

रणद्यूत होनेवाला है, वही विजय अथवा पराजयका कारण होगा । पार्थ ! तुम बहुत दिनोंसे सँजोकर रक्खे हुए अपने क्रोधरूपी विषको इसके ऊपर छोड़ो । महारथी दुर्योधन ही पाण्डवोंके सारे अनर्थोंकी जड़ है । आज यह तुम्हारे बाणोंके मार्गमें आ पहुँचा है । इसे तुम अपनी सफलता समझो, अन्यथा राज्यकी अभिलाषा रखनेवाला राजा दुर्योधन तुम्हारे साथ युद्ध-भूमिमें कैसे उतर सकता था ? । धनंजय ! सौभाग्यवश यह दुर्योधन इस समय तुम्हारे बाणोंके पथमें आ गया है । तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे यह अपने प्राणोंको त्याग दे । पुरुषरत्न ! ऐश्वर्यके घमंडमें चूर रहनेवाले इस दुर्योधनने कभी कष्ट नहीं उठाया है । यह युद्धमें तुम्हारे बल-पराक्रमको नहीं जानता है । पार्थ ! देवता, असुर और मनुष्योंसहित तीनों लोक भी रणक्षेत्रमें तुम्हें जीत नहीं सकते । फिर अकेले दुर्योधनकी तो औकात ही क्या है ?

स दिष्ट्या समनुप्राप्तस्तव पार्थ रथान्तिकम् ।
जह्येनं त्वं महाबाहो यथा वृत्रं पुरंदरः ॥
एष ह्यनर्थे सततं पराक्रान्तस्तवानघ ।
निकृत्या धर्मराजं च द्यूते वञ्चितवानयम् ॥
बहूनि सुनृशंसानि कृतान्येतेन मानद ।
युष्मासु पापमतिना अपापेष्वेव नित्यदा ॥
तमनार्यं सदा क्रुद्धं पुरुषं कामचारिणम् ।
आर्यां युद्धे मतिं कृत्वा जहि पार्थाविचारयन् ॥
निकृत्या राज्यहरणं वनवासं च पाण्डव ।
परिक्लेशं च कृष्णाया हृदि कृत्वा पराक्रमम् ॥
दिष्ट्यैष तव बाणानां गोचरे परिवर्तते ।
प्रतिघाताय कार्यस्य दिष्ट्या च यततेऽग्रतः ॥
दिष्ट्या जानाति संग्रामे योद्धव्यं हि त्वया सह ।
दिष्ट्या च सफलाः पार्थ सर्वे कामा ह्यकामिताः ॥
तस्माज्जहि रणे पार्थ धार्तराष्ट्रं कुलाधमम् ।
यथेन्द्रेण हतः पूर्वं जम्भो देवासुरे मृधे ॥

(महाभारत द्रोण० १०२ । १०—१७)

कुन्तीकुमार ! सौभाग्यकी बात है कि यह तुम्हारे रथके निकट आ पहुँचा है । महाबाहो ! जैसे इन्द्रने वृत्रासुरको मारा था, उसी प्रकार तुम भी इस दुर्योधनको मार डालो । अनघ ! यह सदा तुम्हारा अनर्थ करनेमें ही पराक्रम दिखाता आया है । इसने धर्मराज युधिष्ठिरको जूएमें छल-कपटसे ठग लिया है । मानद ! तुमलोग कभी इसकी बुराई नहीं करते थे, तो भी इस पापबुद्धि दुर्योधनने सदा तुमलोगोंके साथ बहुत-से क्रूरतापूर्ण बर्ताव किये हैं । पार्थ ! तुम युद्धमें श्रेष्ठ बुद्धिका आश्रय ले बिना किसी सोच-विचारके, सदा क्रोधमें भरे रहनेवाले इस स्वेच्छाचारी दुष्ट पुरुषको मार डालो । पाण्डुनन्दन ! दुर्योधनने छलसे तुमलोगोंका राज्य छीन लिया है, तुम्हें जो वनवासका कष्ट भोगना पड़ा है तथा द्रौपदीको जो दुःख और अपमान उठाना पड़ा है—इन सब बातोंको मन-ही-मन याद करके पराक्रम करो । सौभाग्यसे ही यह दुर्योधन तुम्हारे बाणोंकी पहुँचके भीतर चक्कर लगा रहा है । यह सौभाग्यकी बात है कि यह तुम्हारे कार्यमें बाधा डालनेके लिये सामने आकर प्रयत्नशील हो रहा है । पार्थ ! भाग्यवश समराङ्गणमें तुम्हारे साथ युद्ध करना यह अपना कर्तव्य समझता है और भाग्यसे ही न चाहनेपर भी तुम्हारे सारे मनोरथ सफल हो रहे हैं । कुन्तीकुमार ! जैसे पूर्वकालमें इन्द्रने देवासुर-संग्राममें जम्भका वध किया था, उसी प्रकार तुम रणक्षेत्रमें कुलकलङ्क धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधनको मार डालो ।

अस्मिन् हते त्वया सैन्यमनाथं भिद्यतामिदम् ।
वैरस्यास्यास्त्ववभृथो मूलं छिन्धि दुरात्मनाम् ॥

(महाभारत द्रोण० १०२ । १८)

इसके मारे जानेपर अनाथ हुई इस कौरव-सेनाका संहार करो, दुरात्माओंकी जड़ काट डालो, जिससे इस वैररूपी यज्ञका अन्त होकर अवभृथ-स्नानका अवसर प्राप्त हो ।

—

अर्जुनके बाणोंको व्यर्थ होते देख भगवान्‌का उन्हें उत्तेजित करना, तदनन्तर अर्जुनके बाणोंकी मारसे व्याकुल होकर दुर्योधनका भाग जाना

तब अर्जुनने शानपर चढ़ाकर तेज किये हुए विचित्र पंखवाले चौदह बाणोंद्वारा तुरंत दुर्योधनको घायल किया; परंतु उनके वे बाण कवचपर जाकर फिसल गये। उन्हें निष्फल हुआ देख अर्जुनने पुनः चौदह तीखे बाण चलाये, परंतु वे भी कवचसे फिसल गये। अर्जुनके चलाये हुए उन अट्ठाईस बाणोंको निष्फल हुआ देख शत्रु-वीरोंका संहार करनेवाले श्रीकृष्णने उनसे इस प्रकार कहा—

अदृष्टपूर्वं पश्यामि शिलानामिव सर्पणम्।
त्वया सम्प्रेषिताः पार्थ नार्थं कुर्वन्ति पत्रिणः॥
कच्चिद् गाण्डीवजः प्राणस्तथैव भरतर्षभ।
मुष्टिश्च ते यथापूर्वं भुजयोश्च बलं तव॥
न वा कच्चिदयं कालः प्राप्तः स्यादद्य पश्चिमः।
तव चैवास्य शत्रोश्च तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः॥
विस्मयो मे महान् पार्थ तव दृष्ट्वा शरानिमान्।
व्यर्थान् निपतितान् संख्ये दुर्योधनरथं प्रति॥
वज्राशनिसमा घोराः परकायावभेदिनः।
शराः कुर्वन्ति ते नार्थं पार्थ काद्य विडम्बना॥

(महाभारत द्रोण० १०३। ६—१०)

पार्थ! आज तो मैं प्रस्तरखण्डोंके चलनेके समान ऐसी बात देख रहा हूँ, जिसे पहले कभी नहीं देखा था। तुम्हारे चलाये हुए बाण तो कोई काम नहीं कर रहे हैं। भरतश्रेष्ठ! तुम्हारे गाण्डीव धनुषकी शक्ति पहले-जैसी ही है न? तुम्हारी मुट्ठी एवं बाहुबल भी पूर्ववत् हैं न? आज तुम्हारी और तुम्हारे इस शत्रुकी अन्तिम भेंटका समय नहीं आया है क्या? मैं जो पूछता हूँ, उसका उत्तर दो। कुन्तीनन्दन! आज युद्धस्थलमें दुर्योधनके रथके पास निष्फल होकर गिरे हुए तुम्हारे इन बाणोंको देखकर मुझे महान् आश्चर्य हो रहा है। पार्थ! वज्र और अशनिके समान भयंकर तथा शत्रुओंके शरीरको विदीर्ण कर देनेवाले तुम्हारे वे बाण आज कुछ काम नहीं कर रहे हैं, यह कैसी विडम्बना है?

अर्जुन बोले—श्रीकृष्ण! मेरा तो यह विश्वास है कि दुर्योधनको द्रोणाचार्यने अभेद्य कवच बाँधकर उसमें यह अद्भुत शक्ति स्थापित कर दी है। यह कवचधारणा मेरे अस्त्रोंके लिये अभेद्य है। जनार्दन! अब आप मेरी भुजाओं और धनुषका बल देखिये। मैं कवचसे सुरक्षित होनेपर भी दुर्योधनको पराजित कर दूँगा।

यों कहकर अर्जुनने अच्छी तरह छोड़े हुए कालोपम तीखे बाणोंद्वारा दुर्योधनके चारों घोड़ों और दोनों पृष्ठ-रक्षकोंको मार डाला। उसके धनुष और दस्तानेको भी काट दिया और रथको टूक-टूक करना आरम्भ किया। उस समय पार्थने रथहीन हुए दुर्योधनकी दोनों हथेलियोंमें दो पैने बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी। उपायको जाननेवाले कुन्तीकुमारने अपने बाणोंद्वारा दुर्योधनके नखोंके मांसमें प्रहार किया। तब वह वेदनासे व्याकुल हो युद्धभूमिसे भाग चला।

अर्जुनद्वारा जयद्रथका और कर्णद्वारा घटोत्कचका वध; घटोत्कचके मारे जानेपर श्रीकृष्णकी प्रसन्नता और इसका कारण

अर्जुनके बाणोंसे पीड़ित हुए दुर्योधनको विपत्तिमें पड़ा देख बहुत-से श्रेष्ठ धनुर्धर योद्धा उसकी रक्षाके लिये आ पहुँचे। उन सबने अर्जुनको चारों ओरसे घेर लिया और भारी बाण-वर्षाद्वारा उनके रथको आच्छादित कर दिया। इसी समय श्रीकृष्णकी प्रेरणासे अर्जुनने बड़े जोरसे गाण्डीव धनुषका टङ्कार करते हुए बाणवर्षा आरम्भ की और भगवान् केशवने पाञ्चजन्य शङ्ख फूँका। उस शङ्खनाद और धनुषके टङ्कारसे उद्विग्न हो समस्त कौरव-सैनिक धराशायी हो गये। तदनन्तर जयद्रथकी रक्षामें नियुक्त कौरव महारथियोंके साथ अर्जुनका घोर युद्ध आरम्भ हुआ। एक ओर नौ महारथी थे और दूसरी ओर अकेले अर्जुन। उधर युधिष्ठिरने अर्जुनका समाचार लानेके लिये पहले

सात्यकिको और फिर भीमसेनको उनके पास भेजा। वे दोनों वीर कौरवसेनाका संहार करते और बहुत-से वीरोंको मौतके घाट उतारते हुए बारी-बारीसे अर्जुनके निकट आ पहुँचे। भीमसेनने द्रोणाचार्यके रथको उठाकर कई बार दूर फेंक दिया था और वीरमानी कर्णको भी भागनेके लिये विवश करके धृतराष्ट्रके बहुतसे पुत्रोंको यमलोक भेज दिया था। सात्यकिके आगमनकी सूचना पाकर अर्जुनको युधिष्ठिरकी चिन्ता हुई। इधर भूरिश्रवाने सात्यकिपर आक्रमण किया। सात्यकि असंख्य वीरोंसे युद्ध कर चुके थे; अतः थके हुए थे। भूरिश्रवा उनपर हावी हो गया। वह तलवारसे उनका सिर काटना ही चाहता था कि अर्जुनने दूरसे एक बाण मारकर तलवारसहित उसकी दाहिनी भुजा काट गिरायी। भूरिश्रवाने इसे अन्याय कह आमरण अनशन आरम्भ कर दिया। इतनेमें ही उसके द्वारा अपमानित सात्यकिने तलवारसे उसका मस्तक काट डाला। तदनन्तर अर्जुनने जयद्रथपर धावा किया। दुर्योधनकी प्रेरणासे उसकी सहायताके लिये आये हुए कर्णको भी परास्त करके अर्जुनने कौरव-योद्धाओंके साथ घोर युद्ध किया। उस समय उनका अद्भुत पराक्रम देखने ही योग्य था।

इसी बीच भगवान् श्रीकृष्णने सूर्यको अस्ताचलके निकट जाते देख अपनी योगशक्तिसे अन्धकारकी सृष्टि की, इससे सूर्यदेव छिप गये। जयद्रथ बार-बार मस्तक ऊँचा करके सूर्यकी ओर देखने लगा। इसी समय श्रीकृष्णकी प्रेरणासे अर्जुनने भयानक पराक्रम प्रकट करके जयद्रथके रक्षकोंको मार भगाया, फिर श्रीकृष्णकी सम्मतिके अनुसार एक दिव्य बाणको अभिमन्त्रित करके उसकी ओर चलाया। वह बाण जयद्रथका मस्तक काटकर बाज पक्षीके समान उसे आकाशमें ले उड़ा। समन्तपञ्चक-क्षेत्रसे बाहर जयद्रथके पिता राजा वृद्धक्षत्र संध्योपासना कर रहे थे। अर्जुनके बाणने जयद्रथके मस्तकको उन्हींकी गोदमें डाल दिया। वे जप समाप्त करके जब उठने लगे तो वह मस्तक उनकी गोदसे पृथ्वीपर जा गिरा। उसके गिरते ही राजा वृद्धक्षत्रके मस्तकके भी सौ टुकड़े हो गये। इतनेमें अन्धकार दूर हो गया और सूर्यदेव अस्ताचलको जाते दिखलायी दिये। सूर्यास्तसे पहले ही जयद्रथका वध हो गया और अर्जुनकी प्रतिज्ञा पूर्ण हो गयी। जयद्रथको मारा गया देख कृपाचार्य अर्जुनपर क्रोधपूर्वक बाणवर्षा करने लगे, किंतु अर्जुनके बाणोंकी मार खाकर वे तत्काल अचेत हो गये। इससे अर्जुनको खेद हुआ। फिर कर्ण और सात्यकिमें युद्ध होने लगा तथा कर्णको पराजित होना पड़ा।

सूर्यास्त होनेपर युद्ध समाप्त हुआ। युधिष्ठिरने श्रीकृष्ण, अर्जुन, भीम एवं सात्यकिका सानन्द अभिनन्दन किया। दुर्योधनने द्रोणाचार्यपर आक्षेप किये। आचार्यने दुर्योधनको फटकारा और रातमें ही युद्धके लिये प्रस्थान किया। उभय पक्षमें भीषण युद्ध आरम्भ हो गया। दोनों ओरके अच्छे-अच्छे वीर धराशायी होने लगे। पाण्डवोंकी ओरसे घटोत्कचने भारी पराक्रम दिखाया। उसने कौरवसेनाका भीषण संहार आरम्भ किया। उसके हाथसे जटासुरका पुत्र अलम्बुष मारा गया। उसने मायामय युद्ध करके शत्रुसेनाको घोर संकटमें डाल दिया और अन्तमें वह भी इन्द्रकी दी हुई शक्तिसे कर्णके द्वारा मारा गया। मरते-मरते भी उसने अपने विशाल शरीरसे एक अक्षौहिणी कौरव-सेनाको कुचल डाला। उसकी मृत्युसे पाण्डवोंमें हाहाकार मच गया, परंतु भगवान् श्रीकृष्ण हर्षसे भरकर नाचने लगे। अर्जुनको भगवान्‌का यह बर्ताव असामयिक लगा और उन्होंने इसका कारण पूछा।

इन्द्रकी दी हुई शक्ति घटोत्कचपर छोड़ दी गयी इससे अर्जुन सुरक्षित हो गये

श्रीवासुदेव उवाच

अतिहर्षमिमं प्राप्तं शृणु मे त्वं धनंजय।
अतीव मनसः सद्यः प्रसादकरमुत्तमम्॥
शक्तिं घटोत्कचेनेमां व्यंसयित्वा महाद्युते।
कर्णं निहतमेवाजौ विद्धि सद्यो धनंजय॥
शक्तिहस्तं पुनः कर्णं को लोकेऽस्ति पुमानिह।
य एनमभितस्तिष्ठेत् कार्तिकेयमिवाहवे॥
दिष्ट्यापनीतकवचो दिष्ट्यापहृतकुण्डलः।
दिष्ट्या सा व्यंसिता शक्तिरमोघास्य घटोत्कचे॥
यदि हि स्यात् सकवचस्तथैव स्यात् सकुण्डलः।
सामरानपि लोकांस्त्रीनेकः कर्णो जयेद् रणे॥
वासवो वा कुबेरो वा वरुणो वा जलेश्वरः।
यमो वा नोत्सहेत् कर्णं रणे प्रतिसमासितुम्॥
गाण्डीवमुद्यम्य भवांश्चक्रं चाहं सुदर्शनम्।
न शक्तौ स्वो रणे जेतुं तथायुक्तं नरर्षभम्॥

त्वद्धितार्थं तु शक्रेण मायापहृतकुण्डलः ।
विहीनकवचश्चायं कृतः परपुरंजयः ॥
उत्कृत्य कवचं यस्मात् कुण्डले विमले च ते ।
प्रादाच्छक्राय कर्णो वै तेन वैकर्तनः स्मृतः ॥
(महाभारत द्रोण० १८० । ११–१९)

तब भगवान् श्रीकृष्णने कहा—धनंजय ! आज वास्तवमें मुझे यह अत्यन्त हर्षका अवसर प्राप्त हुआ है, इसका क्या कारण है, यह तुम मुझसे सुनो । मेरे मनको तत्काल अत्यन्त प्रसन्नता प्रदान करनेवाला वह उत्तम कारण इस प्रकार है । महातेजस्वी धनंजय ! इन्द्रकी दी हुई शक्तिको घटोत्कचके द्वारा कर्णके हाथसे दूर कराकर अब तुम युद्धमें कर्णको शीघ्र मरा हुआ ही समझो । इस संसारमें कौन ऐसा पुरुष है जो युद्धस्थलमें कार्तिकेयके समान शक्तिशाली कर्णके सामने खड़ा हो सके । सौभाग्यकी बात है कि कर्णका दिव्य कवच उतर गया; सौभाग्यसे ही उसके कुण्डल छीने गये तथा सौभाग्यसे ही उसकी वह अमोघशक्ति घटोत्कचपर गिरकर उसके हाथसे निकल गयी । यदि कर्ण कवच और कुण्डलोंसे सम्पन्न होता, तो वह अकेला ही रणभूमिमें देवताओंसहित तीनों लोकोंको जीत सकता था । उस अवस्थामें इन्द्र, कुबेर, जलेश्वर वरुण अथवा यमराज भी रणभूमिमें कर्णका सामना नहीं कर सकते थे । तुम गाण्डीव उठाकर और मैं सुदर्शन चक्र लेकर दोनों एक साथ जाते तो भी समराङ्गणमें कवच-कुण्डलोंसे युक्त नरश्रेष्ठ कर्णको नहीं जीत सकते थे । तुम्हारे हितके लिये इन्द्रने शत्रु-नगरीपर विजय पानेवाले कर्णके दोनों कुण्डल मायासे हर लिये और उसे कवचसे भी वञ्चित कर दिया । कर्णने कवच तथा उन निर्मल कुण्डलोंको स्वयं ही अपने शरीरसे कतरकर इन्द्रको दे दिया था; इसीलिये उसका नाम 'वैकर्तन' हुआ ।

कर्णके महान् गुणोंकी तथा उनके महान् पराक्रमकी प्रशंसा

आशीविष इव क्रुद्धो जृम्भितो मन्त्रतेजसा ।
तथाद्य भाति कर्णो मे शान्तज्वाल इवानलः ॥
यदाप्रभृति कर्णाय शक्तिर्दत्ता महात्मना ।
वासवेन महाबाहो क्षिप्ता यासौ घटोत्कचे ॥
कुण्डलाभ्यां निमायाथ दिव्येन कवचेन च ।
तां प्राप्यामन्यत वृषः सततं त्वां हतं रणे ॥
एवंगतोऽपि शक्योऽयं हन्तुं नान्येन केनचित् ।
ऋते त्वां पुरुषव्याघ्र शपे सत्येन चानघ ॥
ब्रह्मण्यः सत्यवादी च तपस्वी नियतव्रतः ।
रिपुष्वपि दयावांश्च तस्मात् कर्णो वृषः स्मृतः ॥
युद्धशौण्डो महाबाहुर्नित्योद्यतशरासनः ।
केसरीव वने नर्दन् मातङ्ग इव यूथपान् ॥
विमदान् रथशार्दूलान् कुरुते रणमूर्धनि ।
मध्यं गत इवादित्यो यो न शक्यो निरीक्षितुम् ॥
त्वदीयैः पुरुषव्याघ्र योधमुख्यैर्महात्मभिः ।
शरजालसहस्रांशुः शरदीव दिवाकरः ॥
तपान्ते जलदो यद्वच्छरधाराः क्षरन् मुहुः ।
दिव्यास्त्रजलदः कर्णः पर्जन्य इव वृष्टिमान् ॥
(महाभारत द्रोण० १८० । २०–२८)

जैसे क्रोधमें भरे हुए सर्पको मन्त्रके तेजसे स्तब्ध कर दिया जाय तथा प्रज्वलित आगकी ज्वालाको बुझा दिया जाय, शक्तिसे वञ्चित हुआ कर्ण भी आज मुझे वैसा ही प्रतीत होता है । महाबाहो ! जबसे महात्मा इन्द्रने कर्णको उसके दिव्य कवच और कुण्डलोंके बदलेमें अपनी शक्ति दी थी, जिसे आज उसने घटोत्कचपर चला दिया है, इस शक्तिको पाकर धर्मात्मा कर्ण सदा तुम्हें रणभूमिमें मारा गया ही मानता था । पुरुषसिंह ! आज ऐसी अवस्थामें आकर भी कर्ण तुम्हारे सिवा किसी दूसरे योद्धासे नहीं मारा जा सकता । अनघ ! मैं सत्यकी शपथ खाकर यह बात कहता हूँ । कर्ण ब्राह्मण-भक्त, सत्यवादी, तपस्वी, नियम और व्रतका पालक तथा शत्रुओंपर भी दया करनेवाला है; इसीलिये उसे वृष (धर्मात्मा) कहा गया है । महाबाहु कर्ण युद्धमें कुशल है । उसका धनुष सदा उठा ही रहता है ।

वनमें दहाड़नेवाले सिंहके समान वह सदा गर्जता रहता है। जैसे मतवाला हाथी कितने ही यूथपतियोंको मद-रहित कर देता है, उसी प्रकार कर्ण युद्धके मुहानेपर सिंहके समान पराक्रमी महारथियोंका भी घमंड चूर कर देता है। पुरुषसिंह ! तुम्हारे महामनस्वी श्रेष्ठ योद्धा दोपहरके तपते हुए सूर्यकी भाँति कर्णकी ओर देख भी नहीं सकते। जैसे शरद् ऋतुके निर्मल आकाशमें सूर्य अपनी सहस्रों किरणें बिखेरता है, उसी प्रकार कर्ण युद्धमें अपने बाणोंका जाल-सा बिछा देता है।

त्रिदशैरपि चास्वद्भिः शरवर्षं समन्ततः।
अशक्यस्तदयं जेतुं स्रवद्भिर्मांसशोणितम् ॥
कवचेन विहीनश्च कुण्डलाभ्यां च पाण्डव।
सोऽद्य मानुषतां प्राप्तो विमुक्तः शक्रदत्तया ॥

(महाभारत द्रोण० १८० । २९-३०)

जैसे वर्षाकालमें बरसनेवाला मेघ पानीकी धारा गिराता है, उसी प्रकार दिव्यास्त्ररूपी जल प्रदान करने-वाला कर्णरूपी मेघ बारंबार बाणधाराकी वर्षा करता रहता है। चारों ओर बाणोंकी वृष्टि करके शत्रुओंके शरीरोंसे रक्त और मांस बहानेवाले देवता भी कर्णको परास्त नहीं कर सकते। पाण्डुनन्दन ! कर्ण कवच और कुण्डलसे हीन तथा इन्द्रकी दी हुई शक्तिसे शून्य होकर अब साधारण मनुष्यके समान हो गया है।

तुम्हारे (अर्जुनके) हितके लिये ही जरासंध, शिशुपाल, एकलव्य, हिडिम्ब, किर्मीर, बक और घटोत्कच आदिको विविध उपायोंसे मारा और मरवाया गया था। वास्तवमें धर्मका लोप करनेवाले सभी मेरे द्वारा वध्य हैं

जरासंधश्चेदिराजो महात्मा
महाबाहुश्चैकलव्यो निषादः ॥
एकैकशो निहताः सर्व एते
योगैस्तैस्तैस्त्वद्धितार्थं मयैव।
अथापरे निहता राक्षसेन्द्रा
हिडिम्बकिर्मीरबकप्रधानाः।
अलायुधः परचक्रावमर्दी
घटोत्कचश्चोग्रकर्मा तरस्वी ॥

(महाभारत द्रोण० १८० । ३२-३३)

मगधराज जरासंध, महामनस्वी चेदिराज शिशुपाल और निषादजातीय महाबाहु एकलव्य—इन सबको मैंने ही तुम्हारे हितके लिये विभिन्न उपायोंद्वारा एक-एक करके मार डाला है। इनके सिवा हिडिम्ब, किर्मीर और बक आदि दूसरे-दूसरे राक्षसराज, शत्रुदलका संहार करनेवाला अलायुध और भयंकर कर्म करनेवाला वेगशाली घटोत्कच भी तुम्हारे हितके लिये ही मारे और मरवाये गये हैं।

जरासंधश्चेदिराजो नैषादिश्च महाबलः।
यदि स्युर्न हताः पूर्वमिदानीं स्युर्भयंकराः ॥
दुर्योधनस्तानवश्यं वृणुयाद् रथसत्तमान्।
तेऽस्मासु नित्यविद्विष्टाः संश्रयेयुश्च कौरवान् ॥
ते हि वीरा महेष्वासाः कृतास्त्रा दृढयोधिनः।
धार्तराष्ट्रीं चमूं कृत्स्नां रक्षेयुरमरा इव ॥
सूतपुत्रो जरासंधश्चेदिराजो निषादजः।
सुयोधनं समाश्रित्य जयेयुः पृथिवीमिमाम् ॥
योगैरपि हता यैस्ते तन्मे शृणु धनंजय।
अजय्या हि विना योगैर्मृधे ते दैवतैरपि ॥

(महाभारत द्रोण० १८१ । २—६)

अर्जुन ! जरासंध, शिशुपाल और महाबली एकलव्य यदि ये पहले ही मारे न गये होते तो इस समय बड़े भयंकर सिद्ध होते। दुर्योधन उन श्रेष्ठ रथियोंसे अपनी सहायता-के लिये अवश्य प्रार्थना करता और वे हमसे सर्वदा द्वेष रखनेके कारण निश्चय ही कौरवोंका पक्ष लेते। वे वीर, महाधनुर्धर, अस्त्रविद्याके ज्ञाता तथा दृढ़तापूर्वक युद्ध

करनेवाले थे; अतः दुर्योधनकी सारी सेनाकी देवताओं-के समान रक्षा कर सकते थे। सूतपुत्र कर्ण, जरासंध, चेदिराज शिशुपाल और निषादनन्दन एकलव्य—ये चारों मिलकर यदि दुर्योधनका पक्ष लेते तो इस पृथ्वीको अवश्य ही जीत लेते। धनंजय! वे जिन उपायोंसे मारे गये हैं, उन्हें बतलाता हूँ, मुझसे सुनो! बिना उपाय किये तो उन्हें युद्धमें देवता भी नहीं जीत सकते थे।

एकैको हि पृथक् तेषां समस्तां सुरवाहिनीम्।
योधयेत् समरे पार्थ लोकपालाभिरक्षिताम्॥
जरासंधो हि रुषितो रौहिणेयप्रधर्षितः।
अस्मद्वधार्थं चिक्षेप गदां वै सर्वघातिनीम्॥
सीमन्तमिव कुर्वाणा नभसः पावकप्रभा।
अदृश्यतापतन्ती सा शक्रमुक्ता यथाशनिः॥
तामापतन्तीं दृष्ट्वैव गदां रोहिणिनन्दनः।
प्रतिघातार्थमस्त्रं वै स्थूणाकर्णमवासृजत्॥
अस्त्रवेगप्रतिहता सा गदा प्रापतद् भुवि।
दारयन्ती धरां देवीं कम्पयन्तीव पर्वतान्॥
(महाभारत द्रोण० १८१। ७—११)

कुन्तीनन्दन! उनमेंसे अलग-अलग एक-एक वीर ऐसा था, जो लोकपालोंसे सुरक्षित समस्त देवसेनाके साथ समराङ्गणमें अकेला ही युद्ध कर सकता था। एक समयकी बात है। रोहिणीनन्दन बलरामजीने युद्धमें जरासंधको पछाड़ दिया था। इससे कुपित होकर जरासंधने हमलोगोंके वधके लिये अपनी सर्वघातिनी गदाका प्रहार किया। अग्निके समान प्रज्वलित वह गदा इन्द्रके चलाये हुए वज्रकी भाँति आकाशमें सीमन्त-रेखा-सी बनाती हुई वहाँ गिरती दिखायी दी। वहाँ गिरती हुई उस गदाको देखते ही उसके प्रतिघात (निवारण) के लिये रोहिणीनन्दन बलरामजीने स्थूणाकर्ण नामक अस्त्रका प्रयोग किया। उस अस्त्रके वेगसे प्रतिहत होकर वह गदा पृथ्वीदेवीको विदीर्ण करती और पर्वतोंको कँपाती हुई-सी भूतलपर गिर पड़ी।

विनाभूतः स गदया जरासंधो महामृधे।
निहतो भीमसेनेन पश्यतस्ते धनंजय॥
यदि हि स्याद् गदापाणिर्जरासंधः प्रतापवान्।
सेन्द्रा देवा न तं हन्तुं रणे शक्ता नरोत्तम॥
(महाभारत द्रोण० १८१। १५-१६)

धनंजय! उस महासमरमें जरासंध बिना गदाके हो गया था; इसीलिये तुम्हारे देखते-देखते भीमसेनने उसे मार डाला। नरश्रेष्ठ! यदि प्रतापी जरासंधके हाथमें वह गदा होती, तो इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी उसे युद्धमें मार नहीं सकते थे।

त्वद्धितार्थं च नैषादिरङ्गुष्ठेन वियोजितः।
द्रोणेनाचार्यकं कृत्वा छद्मना सत्यविक्रमः॥
स तु बद्धाङ्गुलित्राणो नैषादिर्दृढविक्रमः।
अतिमानी वनचरो बभौ राम इवापरः॥
त्वद्धितार्थं तु स मया हतः संग्राममूर्धनि।
चेदिराजश्च विक्रान्तः प्रत्यक्षं निहतस्तव॥
स चाप्यशक्यः संग्रामे जेतुं सर्वसुरासुरैः।
वधार्थं तस्य जातोऽहमन्येषां च सुरद्विषाम्॥
त्वत्सहायो नरव्याघ्र लोकानां हितकाम्यया।
हिडिम्बबककिर्मीरा भीमसेनेन पातिताः॥
रावणेन समप्राणा ब्रह्मयज्ञविनाशनाः।
हतस्तथैव मायावी हैडिम्बेनाप्यलायुधः॥
हैडिम्बश्चाप्युपायेन शक्त्या कर्णेन घातितः।
यदि ह्येनं नाहनिष्यत् कर्णः शक्त्या महामृधे॥
मया वध्योऽभविष्यत् स भैमसेनिर्घटोत्कचः।
मया न निहतः पूर्वमेष युष्मत्प्रियेप्सया॥
एष हि ब्राह्मणद्वेषी यज्ञद्वेषी च राक्षसः।
धर्मस्य लोप्ता पापात्मा तस्मादेष निपातितः॥
व्यंसिता चाप्युपायेन शक्रदत्ता मयानघ।
ये हि धर्मस्य लोप्तारो वध्यास्ते मम पाण्डव॥
(महाभारत द्रोण० १८१। १७-१८, २१—२८)

तुम्हारे हितके लिये ही द्रोणाचार्यने सत्य-पराक्रमी एकलव्यका आचार्यत्व करके छलपूर्वक उसका अँगूठा कटवा दिया था। सुदृढ़ पराक्रमसे सम्पन्न अत्यन्त अभिमानी एकलव्य जब हाथोंमें दस्ताने पहनकर वनमें विचरता, उस समय दूसरे परशुरामके समान जान पड़ता था। तुम्हारे हितके लिये मैंने ही युद्धके मुहानेपर उसे मार डाला था। पराक्रमी चेदिराज शिशुपाल तो तुम्हारी आँखोंके सामने ही मारा गया था। वह भी संग्राममें सम्पूर्ण देवताओं और असुरोंद्वारा जीता नहीं जा सकता था। नरव्याघ्र! मैं सम्पूर्ण लोकों-के हितके लिये और शिशुपाल एवं अन्य देवद्रोहियोंका वध करनेके लिये ही तुम्हारे साथ इस जगत्में अवतीर्ण हुआ हूँ। हिडिम्ब, बक और किर्मीर—ये सब रावणके समान बलवान् थे और ब्राह्मणों तथा यज्ञोंका विनाश किया करते थे। इन तीनोंको भीमसेनने मार गिराया है। मायावी अलायुध घटोत्कचके हाथसे मारा गया है और घटोत्कचको भी मैंने ही युक्ति लगाकर कर्णकी चलायी हुई शक्तिसे मरवा दिया है। यदि महासमरमें कर्ण अपनी शक्तिद्वारा भीमसेनपुत्र घटोत्कचको नहीं मारता तो एक दिन मुझे उसका वध करना पड़ता। (भीमसेनका पुत्र होनेपर भी वह पापात्मा था। मेरी प्रीति वास्तवमें धर्मसे ही है।) तुमलोगोंका प्रिय करनेकी इच्छासे ही मैंने इसे पहले नहीं मारा था। यह ब्राह्मणों और यज्ञोंसे द्वेष रखनेवाला तथा धर्मका लोप करनेवाला पापात्मा राक्षस था; इसीलिये इसे मरवा दिया है।

निष्पाप पाण्डुनन्दन! इसी उपायसे मैंने इन्द्रकी दी हुई शक्ति भी कर्णके हाथसे दूर कर दी है। धर्मका लोप करनेवाले सभी प्राणी मेरे वध्य हैं।

जहाँ ज्ञान, सत्य, मन-इन्द्रियका दमन, शौच, धर्म, लज्जा, श्री, धृति और क्षमा है, वहाँ मैं (भगवान्) सुखपूर्वक रहता हूँ

धर्मसंस्थापनार्थं हि प्रतिज्ञैषा ममाव्यया।
ब्रह्म सत्यं दमः शौचं धर्मो ह्रीः श्रीर्धृतिः क्षमा ॥
यत्र तत्र रमे नित्यमहं सत्येन ते शपे।
न विषादस्त्वया कार्यः कर्णं वैकर्तनं प्रति ॥
उपदेक्ष्याम्युपायं ते येन तं प्रसहिष्यसि।
सुयोधनं चापि रणे हनिष्यति वृकोदरः ॥
तस्यापि च वधोपायं वक्ष्यामि तव पाण्डव।
वर्धते तुमुलस्त्वेष शब्दः परचमूं प्रति ॥
विद्रवन्ति च सैन्यानि त्वदीयानि दिशो दश।
लब्धलक्ष्या हि कौरव्या विधमन्ति चमूं तव।
दहत्येष च वः सैन्यं द्रोणः प्रहरतां वरः ॥

(महाभारत द्रोण० १८१। २९—३३)

धर्मकी स्थापनाके लिये ही मैंने यह अटल प्रतिज्ञा कर रक्खी है। मैं तुमसे सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि जहाँ वेद, सत्य, दम, शौच, धर्म, लज्जा, श्री, धृति और क्षमाका निवास है, वहीं मैं सदा सुखपूर्वक रहता हूँ। तुम्हें वैकर्तन कर्णके विषयमें चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है। मैं तुम्हें ऐसा उपाय बताऊँगा, जिससे तुम उसका सामना कर सकोगे। पाण्डुनन्दन! युद्धमें दुर्योधनका भी वध भीमसेन करेंगे। उसके वधका उपाय भी मैं तुम्हें बताऊँगा। शत्रुओंकी सेनामें यह भयंकर गर्जनाका शब्द बढ़ता जा रहा है और तुम्हारे सैनिक दसों दिशाओंमें भाग रहे हैं। कौरवोंका निशाना अचूक हो रहा है। वे तुम्हारी सेनाका विनाश कर रहे हैं। इधर ये योद्धाओंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य तुम्हारे सैनिकोंको दग्ध किये देते हैं।

कर्णने अर्जुनपर शक्ति क्यों नहीं छोड़ी, इसके उत्तरमें श्रीकृष्णका सात्यकिसे रहस्ययुक्त कथन

तदनन्तर महारथी सात्यकिने महाबाहु श्रीकृष्णसे कर्णके विषयमें इस प्रकार प्रश्न किया—

'प्रभो ! कर्णको उस शक्तिके प्रभावपर विश्वास तो था ही। वह अमित पराक्रम कर दिखानेवाली दिव्य शक्ति उसके हाथमें मौजूद भी थी तथापि सूतपुत्रने अर्जुनपर उसका प्रयोग कैसे नहीं किया ?'

प्यारे अर्जुनको बचानेके लिये मैं ही कर्णको मोहित करके शक्ति नहीं छोड़ने देता था

श्रीवासुदेव उवाच

दुःशासनश्च कर्णश्च शकुनिश्च ससैन्धवः ।
सततं मन्त्रयन्ति स्म दुर्योधनपुरोगमाः ॥
कर्ण कर्ण महेष्वास रणेऽमितपराक्रम ।
नान्यस्य शक्तिरेषा ते मोक्तव्या जयतां वर ॥
ऋते महारथात् कर्ण कुन्तीपुत्राद् धनंजयात् ।
स हि तेषामतियशा देवानामिव वासवः ॥
तस्मिन् विनिहते पार्थे पाण्डवाः सृञ्जयैः सह ।
भविष्यन्ति गतात्मानः सुरा इव निरग्नयः ॥
तथेति च प्रतिज्ञातं कर्णेन शिनिपुङ्गव ।
हृदि नित्यं च कर्णस्य वधो गाण्डीवधन्वनः ॥
अहमेव तु राधेयं मोहयामि युधां वर ।
ततो नावासृजच्छक्तिं पाण्डवे श्वेतवाहने ॥

(महाभारत द्रोण० १८२ । ३५—४०)

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—सात्यके! दुःशासन, कर्ण, शकुनि और जयद्रथ—ये दुर्योधनको आगे रखकर सदा गुप्त मन्त्रणा करते और कर्णको यह सलाह देते थे कि 'रणभूमिमें अनन्त पराक्रम प्रकट करनेवाले, विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ महाधनुर्धर कर्ण ! तुम कुन्तीपुत्र महारथी अर्जुनको छोड़कर दूसरे किसीपर इस शक्तिको न छोड़ना; क्योंकि देवताओंमें इन्द्रके समान उन पाण्डवोंमें अर्जुन ही सबसे अधिक यशस्वी हैं। अर्जुनके मारे जानेपर सृंजयोंसहित पाण्डव मुखस्वरूप अग्निसे हीन देवताओंके समान मृतप्राय हो जायँगे ।' शिनिप्रवर ! कर्णने वैसा ही करनेकी उनके सामने प्रतिज्ञा भी की थी। कर्णके हृदयमें नित्य-निरन्तर गाण्डीवधारी अर्जुनके वधका संकल्प उठता रहता था । योद्धाओंमें श्रेष्ठ सात्यके ! परंतु मैं ही राधापुत्र कर्णको युद्धमें जब-जब, कर्ण अर्जुनके सामने पड़ता, तब-तब अपनी शक्तिसे मोहित किये रहता था; इसीलिये श्वेतवाहन अर्जुनपर उसने वह शक्ति नहीं छोड़ी ।

अर्जुनके समान मुझे कोई प्रिय नहीं है । अर्जुनकी प्राणरक्षाकी चिन्तामें मुझे रातों नींद नहीं आती थी

फाल्गुनस्य हि सा मृत्युरिति चिन्तयतोऽनिशम् ।
न निद्रा न च मे हर्षो मनसोऽस्ति युधां वर ॥
घटोत्कचे व्यंसितां तु दृष्ट्वा तां शिनिपुङ्गव ।

मृत्योरास्यान्तरान्मुक्तं पश्याम्यद्य धनंजयम् ॥
न पिता न च मे माता न यूयं भ्रातरस्तथा ।
न च प्राणास्तथा रक्ष्या यथा बीभत्सुराहवे ॥
त्रैलोक्यराज्याद् यत् किंचिद् भवेदन्यत् सुदुर्लभम् ।
नेच्छेयं सात्वताहं तद् विना पार्थं धनंजयम् ॥
अतः प्रहर्षः सुमहान् युयुधानाद्य मेऽभवत् ।
मृतं प्रत्यागतमिव दृष्ट्वा पार्थं धनंजयम् ॥
अतश्च प्रहितो युद्धे मया कर्णाय राक्षसः ।
न ह्यन्यः समरे रात्रौ शक्तः कर्णं प्रबाधितुम् ॥

(महाभारत द्रोण० १८२ । ४१—४६)

वीरवर ! वह शक्ति अर्जुनके लिये मृत्युस्वरूप है, इस चिन्तामें निरन्तर डूबे रहनेके कारण न तो मुझे नींद आती थी और न मेरे मनमें कभी हर्षका उदय होता था । शिनिवंशशिरोमणे ! वह शक्ति घटोत्कचपर छोड़ दी गयी, यह देखकर आज मैं यह समझता हूँ कि अर्जुन मृत्युके मुखसे निकल आये हैं । मुझे युद्धमें अर्जुनकी रक्षा जितनी आवश्यक प्रतीत होती है, उतनी पिता, माता, तुम-जैसे भाइयों तथा अपने प्राणोंकी रक्षा भी नहीं प्रतीत होती । सात्यके ! तीनों लोकोंके राज्यसे भी बढ़कर यदि कोई अत्यन्त दुर्लभ वस्तु हो तो उसे भी मैं कुन्तीनन्दन अर्जुनके बिना नहीं पाना चाहता । युयुधान ! इसीलिये जैसे कोई मरकर लौट आया हो, उसी प्रकार कुन्तीपुत्र अर्जुनको (उस प्राणघातिनी शक्तिसे बचा) देखकर आज मुझे बड़ा भारी हर्ष हुआ था । इसी उद्देश्यसे मैंने युद्धमें कर्णका सामना करनेके लिये उस राक्षसको भेजा था । उसके सिवा दूसरा कोई रात्रिके समय समराङ्गणमें कर्णको पीड़ित नहीं कर सकता था ।

द्रोणाचार्यके वधसे कुपित हुए अश्वत्थामाद्वारा नारायणास्त्रका प्रयोग तथा उससे रक्षाके लिये श्रीकृष्णका पाण्डव-सैनिकोंको अस्त्र-शस्त्र त्याग देनेका आदेश

घटोत्कचके मारे जानेसे युधिष्ठिरको बड़ा दुःख हुआ । श्रीकृष्णने उन्हें समझाया, तथापि युधिष्ठिर कर्णसे युद्ध करनेके लिये स्वयं चल पड़े । मार्गमें व्यासजीने उनको दर्शन दिया और बताया कि 'कर्णके द्वारा घटोत्कचके मारे जानेसे अर्जुनके प्राणोंकी रक्षा हुई है । अतः तुम्हें रोषमें आकर कोई काम नहीं करना चाहिये । आजके पाँचवें दिन यह सारी पृथ्वी तुम्हारी हो जायगी ।' इतना कहकर व्यासजी अन्तर्धान हो गये । उनके ऐसा कहनेपर युधिष्ठिर स्वयं कर्णका वध करनेके विचारसे हट गये । उस अँधेरी रातमें दोनों ओरके सैनिक निद्रासे व्याकुल हो रहे थे । अर्जुनने उन सबको सम्बोधित करके कहा—'योद्धाओ ! थोड़ी देर सोकर विश्राम कर लो । फिर चन्द्रोदयके बाद युद्ध आरम्भ कर देना ।' ऐसा ही हुआ । चन्द्रोदयके बाद पुनः युद्धकी तैयारी हो गयी । दुर्योधनने द्रोणाचार्यको सोते ही समय शत्रुओंपर आक्रमण न करनेकी भूलके कारण उपालम्भ दिया । उत्तरमें आचार्यने भी अनेक व्यङ्गपूर्ण बातें कहीं । फिर पाण्डवोंने द्रोणाचार्यपर आक्रमण किया । पाण्डव-पक्षके विराट, द्रुपद एवं द्रुपदके पौत्र उनके हाथसे मारे गये । धृष्टद्युम्नने द्रोणाचार्यके वधकी प्रतिज्ञा की और दोनों दलोंमें घमासान युद्ध आरम्भ हो गया । नकुलने दुर्योधनको पराजित किया । दुःशासन और सहदेवमें, कर्ण और भीमसेनमें तथा द्रोणाचार्य और अर्जुनमें घोर युद्ध हुआ। धृष्टद्युम्नने दुःशासनको हराकर द्रोणाचार्यपर धावा बोल दिया । दुर्योधन और सात्यकि एक दूसरेसे जूझने लगे । कर्ण और भीमसेनमें संग्राम छिड़ गया तथा अर्जुनने कौरव-सेनापर वेगपूर्वक आक्रमण किया । द्रोणाचार्यके द्वारा पाञ्चालोंके संहारका क्रूरतापूर्ण कर्म सम्पादित होने लगा । ऋषियोंने द्रोणको अस्त्र त्यागनेकी आज्ञा दी । इसी बीचमें अश्वत्थामाकी मृत्युका (मिथ्या) समाचार सुनकर द्रोणाचार्य जीवनसे निराश हो गये। वे अस्त्र त्यागकर योगधारणाके द्वारा ब्रह्मलोकको चले गये । उसी अवस्थामें धृष्टद्युम्नने उनका मस्तक काट लिया । फिर तो कौरव-सैनिक एवं सेनापति भागने लगे । अश्वत्थामाके इस भगदड़का कारण पूछनेपर कृपाचार्यने उसे द्रोणवधका वृत्तान्त सुनाया । फिर तो कुपित हुए अश्वत्थामाने पाण्डव-सेनापर नारायणास्त्रका प्रयोग किया । उसके प्रभावसे बचनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने उस समय पाण्डव-योद्धाओंको सम्बोधित करके कहा—

दिव्य नारायणास्त्रकी महिमा

शीघ्रं न्यस्यत शस्त्राणि वाहेभ्यश्चावरोहत।
एष योगोऽत्र विहितः प्रतिघेधे महात्मना॥
द्विपाश्वस्यन्दनेभ्यश्च क्षितिं सर्वेऽवरोहत।
एवमेतन्न वो हन्यादस्त्रं भूमौ निरायुधान्॥
यथा यथा हि युध्यन्ते योधा ह्यस्त्रमिदं प्रति।
तथा तथा भवन्त्येते कौरवा बलवत्तराः॥
निक्षेप्स्यन्ति च शस्त्राणि वाहनेभ्योऽवरुह्य ये।
(येऽञ्जलिं कुर्वते वीरा नमन्ति च विवाहनाः।)
तान् नैतदस्त्रं संग्रामे निहनिष्यति मानवान्॥
ये त्वेतत् प्रतियोत्स्यन्ति मनसापीह केचन।
निहनिष्यति तान् सर्वान् रसातलगतानपि॥

(महाभारत द्रोण० १९९। ३८—४२)

योद्धाओ! अपने अस्त्र-शस्त्र शीघ्र नीचे डाल दो और सवारियोंसे उतर जाओ। परमात्मा नारायणने इस अस्त्रके निवारणके लिये यही उपाय निश्चित किया है। तुम सब लोग हाथी, घोड़े और रथोंसे उतरकर पृथ्वीपर आ जाओ। इस प्रकार भूमिपर निहत्थे खड़े हुए तुमलोगोंको यह अस्त्र नहीं मार सकेगा। हमारे योद्धा जैसे-जैसे इस अस्त्रके विरुद्ध युद्ध करते हैं, वैसे-ही-वैसे ये कौरव अत्यन्त प्रबल होते जा रहे हैं। जो लोग अपने वाहनोंसे उतरकर हथियार नीचे डाल देंगे और जो वीर वाहनरहित हो इसके सामने हाथ जोड़कर नमस्कार करेंगे, उन मनुष्योंको संग्रामभूमिमें यह अस्त्र नहीं मारेगा। जो कोई मनसे भी इस अस्त्रका सामना करेंगे, वे रसातलमें चले गये हों तो भी यह अस्त्र वहाँ पहुँचकर उन सबको मार डालेगा।'

श्रीकृष्णके आदेशानुसार सबने ऐसा ही किया और इससे वे समस्त पाण्डव-सैनिक उस भीषण अमोघ अस्त्रके प्रकोपसे बच गये।

युधिष्ठिरका वध करनेके लिये उद्यत हुए अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णका बलाक व्याध और कौशिक मुनिकी कथा सुनाते हुए धर्मका तत्त्व बताकर समझाना

द्रोणवधके पश्चात् कर्णको कौरव-सेनाका सेनापति बनाया गया। उसके सेनापतित्वमें कौरव-सेना युद्धके लिये प्रस्थित हुई। दोनों ओरकी सेनाओंमें घोर युद्ध होनेके पश्चात् भीमसेनने क्षेमधूर्तिका और सात्यकिने विन्द-अनुविन्दका वध किया। द्रौपदीपुत्र श्रुतकर्मा और प्रतिविन्ध्यके हाथोंसे क्रमशः चित्रसेन एवं चित्र मारे गये। इससे कौरव-सेनामें भगदड़ मच गयी। यह देख अश्वत्थामाने आक्रमण किया; किंतु अर्जुनके द्वारा उसे पराजित होना पड़ा तथा दण्डधार और दण्ड आदि मारे गये। उभयपक्षके अनेक प्रमुख वीर मारे गये। रातमें कर्ण और दुर्योधनकी बातचीत हुई। कर्णको अच्छे सारथिकी आवश्यकता थी। दुर्योधनके अनुरोधसे शल्यने किंचित् ननु नचके साथ कर्णका सारथ्य स्वीकार कर लिया। रणक्षेत्रमें जानेपर शल्य युधिष्ठिरको दिये हुए वचनके अनुसार कर्णको अनुत्साहित और तिरस्कृत करने लगे। किसी तरह उन दोनोंका विवाद शान्त हुआ। फिर दोनों ओरकी सेनाओंमें घोर युद्ध छिड़ गया। कर्णने नकुल और सहदेवसहित युधिष्ठिरको पराजित कर दिया। उसके बाणोंसे पीड़ित हो युधिष्ठिर अपनी छावनीमें आकर विश्राम करने लगे। उनके घायल होनेका समाचार सुन भीमसेनपर युद्धका भार छोड़कर श्रीकृष्ण और अर्जुन युधिष्ठिरको देखनेके लिये शिविरमें आये। युधिष्ठिरने भ्रमसे कर्णको मारा गया जान उन दोनोंका स्वागत किया और कर्णवधका वृत्तान्त पूछा। तब उन्होंने बताया कि अभी कर्ण मारा नहीं गया है। युधिष्ठिर घायल और मर्माहत-से थे, अतः यह सुनकर उनको बड़ा क्षोभ हुआ और उन्होंने आवेशमें अर्जुनसे कहा—'तुम्हें अपना गाण्डीव धनुष किसी औरके हाथमें दे देना चाहिये।' यह सुनकर अर्जुन तलवार निकालकर उनका वध करनेको तैयार हो गये। श्रीकृष्णने जब उनसे क्रोधका कारण पूछा, तब अर्जुनने अपनी प्रतिज्ञा सुनायी—'जो मुझसे यह कह दे कि 'तुम अपना गाण्डीव धनुष दूसरेको दे दो, उसका सिर काट लूँगा—यह मेरा गुप्त व्रत है'। यह सुनकर श्रीकृष्णने उन्हें धिक्कारा और इस प्रकार कहा—

धर्मपालनके उद्देश्यसे विवेकरहित विचार करनेके लिये अर्जुनको श्रीकृष्णकी फटकार

श्रीकृष्ण उवाच

इदानीं पार्थ जानामि न वृद्धाः सेवितास्त्वया ।
काले न पुरुषव्याघ्र संरम्भं यद् भवानगात् ॥
न हि धर्मविभागज्ञः कुर्यादेवं धनंजय ।
यथा त्वं पाण्डवाद्येह धर्मभीरुरपण्डितः ॥
अकार्याणां क्रियाणां च संयोगं यः करोति वै ।
कार्याणामक्रियाणां च स पार्थ पुरुषाधमः ॥
अनुसृत्य तु ये धर्मं कथयेयुरुपस्थिताः ।
समासविस्तरविदां न तेषां वेत्सि निश्चयम् ॥
अनिश्चयज्ञो हि नरः कार्याकार्यविनिश्चये ।
अवशो मुह्यते पार्थ यथा त्वं मूढ एव तु ॥
न हि कार्यमकार्यं वा सुखं ज्ञातुं कथंचन ।
श्रुतेन ज्ञायते सर्वं तच्च त्वं नावबुध्यसे ॥
अविज्ञानाद् भवान् यच्च धर्मं रक्षति धर्मवित् ।
प्राणिनां त्वं वधं पार्थ धार्मिको नावबुध्यसे ॥
प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान् मतो मम ।
अनृतां वा वदेद् वाचं न तु हिंस्यात् कथंचन ॥
स कथं भ्रातरं ज्येष्ठं राजानं धर्मकोविदम् ।
हन्याद् भवान् नरश्रेष्ठ प्राकृतोऽन्यः पुमानिव ॥
अयुध्यमानस्य वधस्तथाशत्रोश्च मानद ।
पराङ्मुखस्य द्रवतः शरणं चापि गच्छतः ॥
कृताञ्जलेः प्रपन्नस्य प्रमत्तस्य तथैव च ।
न वधः पूज्यते सद्भिस्तच्च सर्वं गुरौ तव ॥

(महाभारत कर्ण० ६९ । १६–२६)

श्रीकृष्णने कहा—पार्थ ! इस समय मैं समझता हूँ कि तुमने वृद्ध पुरुषोंकी सेवा नहीं की है । पुरुषसिंह ! इसीलिये तुम्हें बिना अवसरके ही क्रोध आ गया है । पाण्डुपुत्र धनंजय ! जो धर्मके विभागको जाननेवाला है, वह कभी ऐसा नहीं कर सकता, जैसा कि यहाँ आज तुम करना चाहते हो । वास्तवमें तुम धर्मभीरु होनेके साथ ही बुद्धिहीन भी हो । पार्थ ! जो करने योग्य होनेपर भी असाध्य हों तथा जो साध्य होनेपर भी निषिद्ध हों—ऐसे कर्मोंसे जो सम्बन्ध जोड़ता है, वह पुरुषोंमें अधम माना गया है । जो स्वयं धर्मका अनुसरण एवं आचरण करके शिष्योंद्वारा उपासित होकर उन्हें धर्मका उपदेश देते हैं; धर्मके संक्षेप एवं विस्तारको जाननेवाले उन गुरुजनोंका इस विषयमें क्या निर्णय है, इसे तुम नहीं जानते । पार्थ ! उस निर्णयको न जाननेवाला मनुष्य कर्तव्य और अकर्तव्यके निश्चयमें तुम्हारे ही समान असमर्थ, विवेकशून्य एवं मोहित हो जाता है । कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान किसी तरह भी अनायास ही नहीं हो जाता है । वह सब शास्त्रसे जाना जाता है और शास्त्रका तुम्हें पता ही नहीं है । कुन्तीनन्दन ! तुम अज्ञानवश अपनेको धर्मज्ञ मानकर जो धर्मकी रक्षा करने चले हो, उसमें प्राणिहिंसाका पाप है, यह बात तुम्हारे-जैसे धार्मिककी समझमें नहीं आती है । तात ! मेरे विचारसे प्राणियोंकी हिंसा न करना ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है । किसीकी प्राण-रक्षाके लिये झूठ बोलना पड़े तो बोल दे, किंतु उसकी हिंसा किसी तरह न होने दे । नरश्रेष्ठ ! तुम दूसरे गँवार मनुष्यके समान अपने बड़े भाई धर्मज्ञ नरेशका वध कैसे करोगे ?

मानद ! जो युद्ध न करता हो, शत्रुता न रखता हो, संग्रामसे विमुख होकर भागा जा रहा हो, शरणमें आता हो, हाथ जोड़कर आश्रयमें आ पड़ा हो तथा असावधान हो, ऐसे मनुष्यका वध करना श्रेष्ठ पुरुष अच्छा नहीं समझते हैं। तुम्हारे बड़े भाईमें उपर्युक्त सभी बातें हैं।

सत्यसे बढ़कर कुछ भी नहीं है, पर सत्यका पालन विवेकपूर्वक होना चाहिये

त्वया चैवं व्रतं पार्थ बालेनेव कृतं पुरा।
तस्मादधर्मसंयुक्तं मौर्ख्यात् कर्म व्यवस्यसि ॥
स गुरुं पार्थ कस्मात् त्वं हन्तुकामोऽभिधावसि।
असम्प्रधार्य धर्माणां गतिं सूक्ष्मां दुरत्ययाम् ॥
इदं धर्मरहस्यं च तव वक्ष्यामि पाण्डव।
यद् ब्रूयात् तव भीष्मो हि पाण्डवो वा युधिष्ठिरः॥
विदुरो वा तथा क्षत्ता कुन्ती वापि यशस्विनी।
तत् ते वक्ष्यामि तत्त्वेन निबोधैतद् धनंजय ॥
सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्यते परम्।
तत्त्वेनैव सुदुर्ज्ञेयं पश्य सत्यमनुष्ठितम् ॥
किमाश्चर्यं कृतप्रज्ञः पुरुषोऽपि सुदारुणः।
सुमहत् प्राप्नुयात् पुण्यं बलाकोऽन्धवधादिव ॥
किमाश्चर्यं पुनर्मूढो धर्मकामो ह्यपण्डितः।
सुमहत् प्राप्नुयात् पापमापगास्विव कौशिकः ॥
(महाभारत कर्ण० ६९। २७—३१, ३६-३७)

पार्थ ! तुमने नासमझ बालकके समान पहले कोई प्रतिज्ञा कर ली थी, इसीलिये तुम मूर्खतावश अधर्मयुक्त कार्य करनेको तैयार हो गये हो। कुन्तीकुमार ! बताओ तो तुम धर्मके सूक्ष्म एवं दुर्बोध स्वरूपका अच्छी तरह विचार किये बिना ही अपने ज्येष्ठ भ्राताका वध करनेके लिये कैसे दौड़ पड़े ? पाण्डुनन्दन ! मैं तुम्हें यह धर्मका रहस्य बता रहा हूँ। धनंजय ! पितामह भीष्म, पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर, विदुरजी अथवा यशस्विनी कुन्तीदेवी—ये लोग तुम्हें धर्मके जिस तत्त्वका उपदेश कर सकते हैं, उसीको मैं ठीक-ठीक बता रहा हूँ। इसे ध्यान देकर सुनो। सत्य बोलना उत्तम है। सत्यसे बढ़कर दूसरा कुछ नहीं है; परंतु यह समझ लो कि सत्पुरुषोंद्वारा आचरणमें लाये हुए सत्यके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान अत्यन्त कठिन होता है। जिसकी बुद्धि शुद्ध (निष्काम) है, वह पुरुष यदि अत्यन्त कठोर होकर भी, जैसे अंधे पशुको मार देनेसे बलाक नामक व्याध पुण्यका भागी हुआ था, उसी प्रकार महान् पुण्य प्राप्त कर ले तो क्या आश्चर्य है ? इसी तरह जो धर्मकी इच्छा तो रखता है, पर है मूर्ख और अज्ञानी, वह नदियोंके संगमपर बसे हुए कौशिक मुनिकी भाँति यदि अज्ञानपूर्वक धर्म करके भी महान् पापका भागी हो जाय तो क्या आश्चर्य है ?

अर्जुन उवाच

आचक्ष्व भगवन्नेतद् यथा विन्द्याम्यहं तथा।
बलाकस्यानुसम्बन्धं नदीनां कौशिकस्य च ॥
(महाभारत कर्ण० ६९। ३८)

अर्जुन बोले—भगवन् ! बलाक नामक व्याध और नदियोंके संगमपर रहनेवाले कौशिक मुनिकी कथा कहिये, जिससे मैं इस विषयको अच्छी तरह समझ सकूँ।

व्याधने हिंसक प्राणीको मारकर भी स्वर्ग प्राप्त किया

वासुदेव उवाच

पुरा व्याधोऽभवत् कश्चिद् बलाको नाम भारत।
यात्रार्थं पुत्रदारस्य मृगान् हन्ति न कामतः ॥
वृद्धौ च मातापितरौ बिभर्त्यन्यांश्च संश्रितान्।
स्वधर्मनिरतो नित्यं सत्यवागनसूयकः ॥
स कदाचिन्मृगं लिप्सुर्नाभ्यविन्दन्मृगं क्वचित्।
अपः पिबन्तं ददृशे श्वापदं घ्राणचक्षुषम् ॥
अदृष्टपूर्वमपि तत् सत्त्वं तेन हतं तदा।
अन्धे हते ततो व्योम्नः पुष्पवर्षं पपात च ॥
अप्सरोगीतवादित्रैर्नादितं च मनोरमम्।
विमानमगमत् स्वर्गान्मृगव्याधनिनीषया ॥
तद् भूतं सर्वभूतानामभावाय किलार्जुन।

तपस्तप्त्वा वरं प्राप्तं कृतमन्धं स्वयम्भुवा ॥
तद्धत्वा सर्वभूतानामभावकृतनिश्चयम् ।
ततो बलाकः स्वरगादेवं धर्मः सुदुर्विदः ॥
(महाभारत कर्ण० ६९ । ३९—४५)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—भारत ! प्राचीन कालमें बलाक नामसे प्रसिद्ध एक व्याध रहता था, जो अपनी स्त्री और पुत्रोंकी जीवन-रक्षाके लिये ही हिंसक पशुओंको मारा करता था, कामनावश नहीं। वह बूढ़े माता-पिता तथा अन्य आश्रित जनोंका पालन-पोषण किया करता था। सदा अपने धर्ममें लगा रहता, सत्य बोलता और किसीकी निन्दा नहीं करता था। एक दिन वह पशुको मार लानेके लिये वनमें गया; किंतु कहीं किसी हिंसक पशुको न पा सका। इतनेमें ही उसे पानी पीता हुआ हिंसक जानवर दिखायी दिया, जो अंधा था; नाकसे सूँघकर ही आँखका काम निकाला करता था। यद्यपि वैसे जानवरको व्याधने पहले कभी नहीं देखा था, तो भी उस समय उसने मार डाला। उस अंधे पशुके मारे जाते ही आकाशसे व्याधपर फूलोंकी वर्षा होने लगी। साथ ही उस हिंसक पशुओंको मारनेवाले व्याधको ले जानेके लिये स्वर्गसे एक सुन्दर विमान उतर आया, जो अप्सराओंके गीतों और वाद्योंकी मधुर ध्वनिसे मुखरित होनेके कारण बड़ा मनोरम जान पड़ता था। अर्जुन ! लोग कहते हैं कि उस जन्तुने पूर्वजन्ममें तप करके सम्पूर्ण प्राणियोंका संहार कर डालनेके लिये वर प्राप्त किया था; इसीलिये ब्रह्माजीने उसे अंधा बना दिया था। इस प्रकार समस्त प्राणियोंका अन्त कर देनेके लिये निश्चयसे युक्त उस जन्तुको मारकर बलाक स्वर्गलोकमें चला गया; अतः धर्मका स्वरूप अत्यन्त दुर्ज्ञेय है।

सत्यवादी कौशिकको (हिंसाजनक) सत्य बोलनेपर भी नरक भोगना पड़ा

कौशिकोऽप्यभवद् विप्रस्तपस्वी नो बहुश्रुतः ।
नदीनां संगमे ग्रामाददूरात् स किलावसत् ॥
सत्यं मया सदा वाच्यमिति तस्याभवद् व्रतम् ।
सत्यवादीति विख्यातः स तदाऽऽसीद् धनंजय ॥
अथ दस्युभयात् केचित् तदा तद् वनमाविशन् ।
तत्रापि दस्यवः क्रुद्धास्तानमार्गन्त यत्नतः ॥
अथ कौशिकमभ्येत्य प्राहुस्ते सत्यवादिनम् ।
कतमेन पथा याता भगवन् बहवो जनाः ॥
सत्येन पृष्टः प्रब्रूहि यदि तान् वेत्थ शंस नः ।
स पृष्टः कौशिकः सत्यं वचनं तानुवाच ह ॥
बहुवृक्षलतागुल्ममेतद् वनमुपाश्रिताः ।
इति तान् ख्यापयामास तेभ्यस्तत्त्वं स कौशिकः ॥
ततस्ते तान् समासाद्य क्रूरा जघ्नुरिति श्रुतिः ।
तेनाधर्मेण महता वाग्दुरुक्तेन कौशिकः ॥
गतः स कष्टं नरकं सूक्ष्मधर्मेष्वकोविदः ।
(महाभारत कर्ण० ६९ । ४६—५२½)

इसी तरह कौशिक नामका एक तपस्वी ब्राह्मण था, जो बहुत पढ़ा-लिखा या शास्त्रज्ञ नहीं था। वह गाँवके पास ही नदियोंके संगमपर निवास करता था। धनंजय ! उसने यह नियम ले लिया था कि मैं सदा सत्य ही बोलूँगा। इसलिये उन दिनों वह सत्यवादीके नामसे विख्यात हो गया था। एक दिनकी बात है, कुछ लोग लुटेरोंके भयसे छिपनेके लिये उस वनमें घुस गये; परंतु वे लुटेरे कुपित हो वहाँ भी उन लोगोंका यत्नपूर्वक अनुसंधान करने लगे। उन्होंने सत्यवादी कौशिक मुनिके पास जाकर पूछा—'भगवन् ! बहुत-से लोग जो इधर ही आये हैं, किस रास्तेसे गये हैं ! मैं सत्यकी साक्षीसे पूछता हूँ। यदि आप उन्हें जानते हों तो बताइये।' उनके इस प्रकार पूछनेपर कौशिक मुनिने उन्हें सच्ची बात बता दी—'इस वनमें जहाँ बहुत-से वृक्ष, लताएँ और झाड़ियाँ हैं, वहीं वे गये हैं।' इस प्रकार कौशिकने उन दस्युओंको यथार्थ बात बता दी। तब उन निर्दयी डाकुओंने उन सबका पता पाकर उन्हें मार डाला,
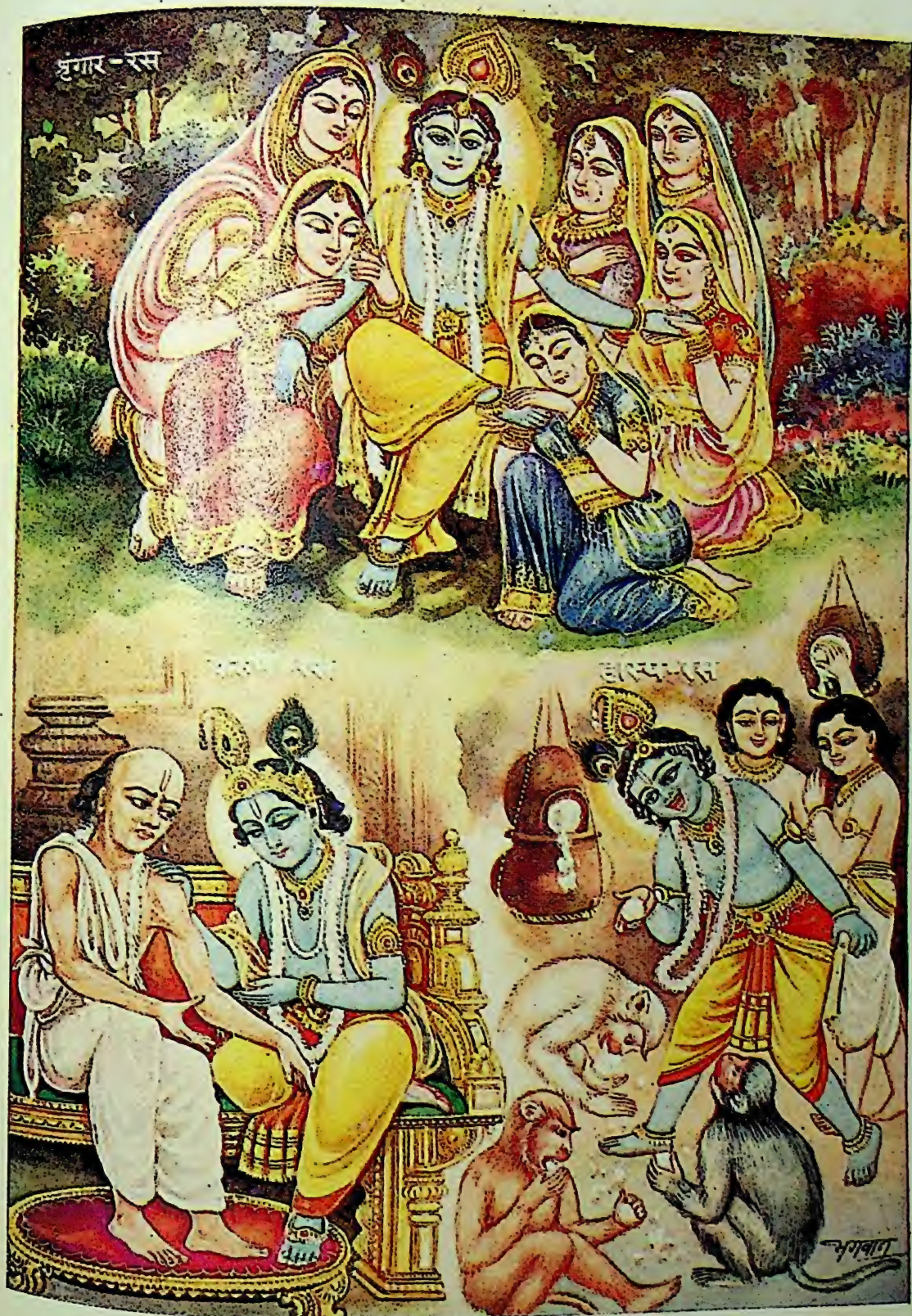
(३) श्रीकृष्णलीलाके नौ रसमें—शृंगार, करुण, हास्य

[गोपी-प्रेम, सुदामा-सत्कार, वानर-भोजन]
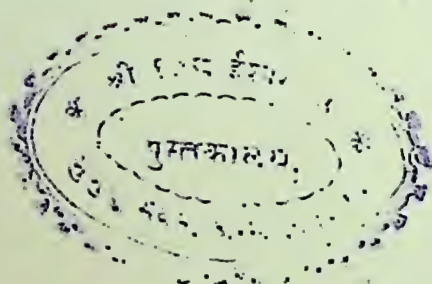
ऐसा सुना गया है। इस तरह वाणीका दुरुपयोग करनेसे कौशिकको महान् पाप लगा, जिससे उसे नरकका कष्ट भोगना पड़ा; क्योंकि वह धर्मके सूक्ष्म स्वरूपको समझनेमें कुशल नहीं था।

धर्मका मर्म अनुभवी वृद्धोंसे जानकर विवेकपूर्वक धर्मपालन करना चाहिये

यथा चाल्पश्रुतो मूढो धर्माणामविभागवित् ॥
वृद्धानपृष्ट्वा संदेहं महच्छ्वभ्रमिवार्हति ।
तत्र ते लक्षणोद्देशः कश्चिदेवं भविष्यति ॥
दुष्करं परमं ज्ञानं तर्केणानुव्यवस्यति ।
श्रुतेर्धर्म इति ह्येके वदन्ति बहवो जनाः ॥
तत् ते न प्रत्यसूयामि न च सर्वं विधीयते ।
प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ॥
(महाभारत कर्ण० ६९। ५३—५६)

जिसे शास्त्रोंका बहुत थोड़ा ज्ञान है, जो विवेक-शून्य होनेके कारण धर्मोंके विभागको ठीक-ठीक नहीं जानता, वह मनुष्य यदि वृद्ध (अनुभवी) पुरुषोंसे अपने संदेह नहीं पूछता तो अनुचित कर्म कर बैठनेके कारण महान् नरकके सदृश कष्ट भोगने योग्य हो जाता है। धर्मा-धर्मके निर्णयके लिये तुम्हें संक्षेपसे कोई संकेत बताना पड़ेगा, जो इस प्रकार होगा। कुछ लोग परम ज्ञानरूप दुष्कर धर्मको तर्कके द्वारा जाननेका प्रयत्न करते हैं; परंतु एक श्रेणीके बहुसंख्यक मनुष्य ऐसा कहते हैं कि धर्मका ज्ञान वेदोंसे होता है; किंतु मैं तुम्हारे निकट इन दोनों मतोंके ऊपर कोई दोषारोपण नहीं करता; परंतु केवल वेदोंके द्वारा सभी धर्म-कर्मोंका विधान नहीं होता; इसीलिये धर्मज्ञ महर्षियोंने समस्त प्राणियोंके अभ्युदय और निःश्रेयसके लिये उत्तम धर्मका प्रतिपादन किया है।

किसी भी जीवकी हिंसा न की जाय, यही धर्म है

यत् स्यादहिंसासंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ।
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ॥

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।
यत् स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥
(महाभारत कर्ण० ६९। ५७-५८)

(उस उत्तम धर्मका) सिद्धान्त यह है कि जिस कार्यमें हिंसा न हो, वही धर्म है। महर्षियोंने प्राणियों-की हिंसा न होने देनेके लिये ही उत्तम धर्मका प्रवचन किया है। धर्म ही प्रजाको धारण करता है और धारण करनेके कारण ही उसे धर्म कहते हैं। इसलिये जो धारण—प्राणरक्षासे युक्त हो—जिसमें किसी भी जीवकी हिंसा न की जाती हो, वही धर्म है। ऐसा ही धर्म-शास्त्रोंका सिद्धान्त है।

किस-किस परिस्थितिमें असत्य बोला जा सकता है

येऽन्यायेन जिहीर्षन्तो धर्ममिच्छन्ति कर्हिचित्।
अकूजनेन मोक्षं वा नानुकूजेत् कथंचन ॥
अवश्यं कूजितव्ये वा शङ्केरन्नप्यकूजतः ।
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं तत् सत्यमविचारितम् ॥
यः कार्येभ्यो व्रतं कृत्वा तस्य नानोपपादयेत् ।
न तत्फलमवाप्नोति एवमाहुर्मनीषिणः ॥
प्राणात्यये विवाहे वा सर्वज्ञातिवधात्यये ।
नर्मण्यभिप्रवृत्ते वा न च प्रोक्तं मृषा भवेत् ॥
अधर्मं नात्र पश्यन्ति धर्मतत्त्वार्थदर्शिनः ।
यः स्तेनैः सह सम्बन्धान्मुच्यते शपथैरपि ॥
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं तत् सत्यमविचारितम् ।
न च तेभ्यो धनं देयं शक्ये सति कथंचन ॥
पापेभ्यो हि धनं दत्तं दातारमपि पीडयेत् ।
तस्माद् धर्मार्थमनृतमुक्त्वा नानृतभाग् भवेत् ॥
एष ते लक्षणोद्देशो मयोद्दिष्टो यथाविधि ।
यथाधर्मं यथाबुद्धि मयाद्य वै हितार्थिना ॥
एतच्छ्रुत्वा ब्रूहि पार्थ यदि वध्यो युधिष्ठिरः ।
(महाभारत कर्ण० ६९। ५९—६६½)

जो लोग अन्यायपूर्वक दूसरोंके धन आदिका अपहरण कर लेना चाहते हैं, वे कभी अपने स्वार्थकी सिद्धिके

लिये दूसरोंसे सत्यभाषण-रूप धर्मका पालन कराना चाहते हों तो वहाँ उनके समक्ष मौन रहकर उनसे पिण्ड छुड़ानेकी चेष्टा करे, किसी तरह कुछ बोले ही नहीं; किंतु यदि बोलना अनिवार्य हो जाय अथवा न बोलनेसे लुटेरोंको संदेह होने लगे, तो वहाँ असत्य बोलना ही ठीक है। ऐसे अवसरपर उस असत्यको ही बिना विचारे सत्य समझो। जो मनुष्य किसी कार्यके लिये प्रतिज्ञा करके उसका प्रकारान्तरसे उपादान करता है, वह दम्भी होनेके कारण उसका फल नहीं पाता; ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है। प्राणसंकट-कालमें, विवाहमें, समस्त कुटुम्बियोंके प्राणान्तका समय उपस्थित होनेपर तथा हँसी-परिहास आरम्भ होनेपर यदि असत्य बोला जाय तो वह असत्य नहीं माना जाता। धर्मके तत्त्वको जाननेवाले विद्वान् उक्त अवसरोंपर मिथ्या बोलनेमें पाप नहीं समझते। यदि झूठी शपथ खानेपर लुटेरोंके साथ बन्धनमें पड़नेसे छुटकारा पाया जा सके, तो वहाँ असत्य बोलना ही ठीक है। जहाँतक वश चले, किसी तरह उन लुटेरोंको धन नहीं देना चाहिये; क्योंकि पापियोंको दिया हुआ धन दाताको भी दुःख देता है। अतः धर्मके लिये झूठ बोलनेपर मनुष्य असत्यभाषणके दोषका भागी नहीं होता। अर्जुन! मैं तुम्हारा हित चाहता हूँ, इसीलिये आज मैंने अपनी बुद्धि और धर्मके अनुसार संक्षेपसे तुम्हारे लिये यह विधिपूर्वक धर्माधर्मके निर्णयका संकेत बताया है। यह सुनकर अब तुम्हीं बताओ, क्या अब भी राजा युधिष्ठिर तुम्हारे वध्य हैं ?

इसपर दुखीहृदय अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—"श्रीकृष्ण! आप तो यह जानते ही हैं कि मेरा व्रत क्या है ? मनुष्योंमेंसे जो कोई भी मुझसे यह कह दे कि 'पार्थ! तुम अपना गाण्डीव धनुष किसी दूसरे ऐसे पुरुषको दे दो, जो अस्त्रोंके ज्ञान अथवा बलमें तुमसे बढ़कर हो तो केशव! मैं उसे बलपूर्वक मार डालूँ।' इसी प्रकार भीमसेनको कोई 'मूँछ-दाढ़ीरहित' कह दे तो वे उसे मार डालेंगे। वृष्णिवीर! राजा युधिष्ठिरने आपके सामने ही बारंबार मुझसे अब कहा है कि 'तुम अपना धनुष दूसरेको दे दो'। केशव! यदि मैं युधिष्ठिरको मार डालूँ, तो फिर इस जीव-जगत्में थोड़ी देर भी मैं स्वयं जीवित नहीं रह सकता। किसी तरह (प्रतिज्ञा-भङ्गके) पापसे चाहे छूट जाऊँ, परंतु राजा युधिष्ठिरके वधका चिन्तन करके जी नहीं सकता। निश्चय ही इस समय मैं किंकर्तव्यविमूढ़ होकर पराक्रम-शून्य और अचेत-सा हो रहा हूँ। धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण! संसारके लोगोंकी समझमें जिससे मेरी प्रतिज्ञा भी सच्ची हो जाय और जिससे पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर और मैं दोनों जीवित भी रह सकें—ऐसी कोई सलाह आप मुझे देनेकी कृपा करें"। इसपर श्रीकृष्णने ऐसा धर्म-सङ्गत उपाय बतलाया जिससे दोनों ही कार्य सफल हो जाते हैं।

गुरुजनोंका वाणीसे अपमान करना ही उनका वध करना है

वासुदेव उवाच

राजा श्रान्तो विक्षतो दुःखितश्च
कर्णेन संख्ये निशितैर्बाणसंघैः।
यश्चानिशं सूतपुत्रेण वीर
शरैर्भृशं ताडितोऽयुध्यमानः॥
अतस्त्वमेतेन सरोषमुक्तो
दुःखान्वितेनेदमयुक्तरूपम्।
अकोपितो ह्येष यदि स्म संख्ये
कर्णं न हन्यादिति चाब्रवीत् सः॥
जानाति तं पाण्डव एष चापि
पापं लोके कर्णमसह्यमन्यैः।
ततस्त्वमुक्तो भृशरोषितेन
राज्ञा समक्षं परुषाणि पार्थ॥
नित्योद्युक्ते सततं चाप्रसह्ये
कर्णे द्यूतं ह्यद्य रणे निबद्धम्।
तस्मिन् हते कुरवो निर्जिताः स्यु-
रेवं बुद्धिः पार्थिवे धर्मपुत्रे॥
ततो वधं नार्हति धर्मपुत्र-
स्त्वया प्रतिज्ञार्जुन पालनीया।
जीवन्नयं येन मृतो भवेद्धि
तन्मे निबोधेह तवानुरूपम्॥

यदा मानं लभते माननार्ह-
स्तदा स वै जीवति जीवलोके।
यदावमानं लभते महान्तं
तदा जीवन्मृत इत्युच्यते सः॥
सम्मानितः पार्थिवोऽयं सदैव
त्वया च भीमेन तथा यमाभ्याम्।
वृद्धैश्च लोके पुरुषैश्च शूरै-
स्तस्यापमानं कलया प्रयुङ्क्ष्व॥
(महाभारत कर्ण० ६९। ७६—८२)

श्रीकृष्णने कहा—वीर! राजा युधिष्ठिर थक गये हैं। कर्णने युद्धस्थलमें अपने तीखे बाणोंके द्वारा इन्हें क्षत-विक्षत कर दिया है, इसलिये इस समय ये बहुत दुखी हैं। इतना ही नहीं, जब ये युद्ध नहीं कर रहे थे, उस समय भी सूतपुत्रने इनके ऊपर लगातार बाणोंकी वर्षा करके इन्हें अत्यन्त घायल कर दिया था। अतएव दुखी होनेके कारण इन्होंने तुम्हारे प्रति रोषपूर्वक ये अनुचित बातें कही हैं। इन्होंने यह भी सोचा है कि यदि अर्जुनको क्रोध न दिलाया गया तो ये युद्धमें कर्णको नहीं मार सकेंगे, इस कारणसे भी वैसी बातें कह दी हैं। ये पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिर जानते हैं कि संसारमें पापी कर्णका सामना करना तुम्हारे सिवा दूसरोंके लिये असम्भव है। पार्थ! इसीलिये अत्यन्त रोषमें भरे हुए राजाने मेरे सामने तुम्हें कटु वचन सुनाये हैं। कर्ण नित्य-निरन्तर युद्धके लिये उद्यत और शत्रुओंके लिये असह्य है। आज रणभूमिमें हार-जीतका जूआ कर्णपर ही अवलम्बित है। कर्णके मारे जानेपर अन्य कौरव शीघ्र ही परास्त हो सकते हैं। धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरके मनमें ऐसा ही विचार काम कर रहा था।

अर्जुन! इसलिये धर्मपुत्र युधिष्ठिर वधके योग्य नहीं हैं। इधर तुम्हें अपनी प्रतिज्ञाका पालन भी करना है। अतः जिस उपायसे ये जीवित रहते हुए भी मरेके समान हो जायँ, वही तुम्हारे अनुरूप होगा। उसे बताता हूँ, सुनो। इस जीव-जगत्‌में माननीय पुरुष जबतक सम्मान पाता है, तभीतक वह वास्तवमें जीवित है। जब वह महान् अपमान पाने लगता है, तब वह जीते-जी मरा हुआ कहलाता है। तुमने, भीमसेनने, नकुल-सहदेवने तथा अन्य वृद्ध पुरुषों एवं शूरवीरोंने जगत्‌में राजा युधिष्ठिरका सदा सम्मान किया है; किंतु इस समय तुम उनका थोड़ा-सा अपमान कर दो।

त्वमित्यत्रभवन्तं हि ब्रूहि पार्थ युधिष्ठिरम्।
त्वमित्युक्तो हि निहतो गुरुर्भवति भारत॥
एवमाचर कौन्तेय धर्मराजे युधिष्ठिरे।
अधर्मयुक्तं संयोगं कुरुष्वैनं कुरूद्वह॥
अथर्वाङ्गिरसी ह्येषा श्रुतीनामुत्तमा श्रुतिः।
अविचार्यैव कार्यैषा श्रेयस्कामैर्नरैः सदा॥
अवधेन वधः प्रोक्तो यद् गुरुस्त्वमिति प्रभुः।
तद् ब्रूहि त्वं यन्मयोक्तं धर्मराजस्य धर्मवित्॥
वधं ह्ययं पाण्डव धर्मराज-
स्त्वत्तोऽयुक्तं वेत्स्यते चैवमेषः।
ततोऽस्य पादावभिवाद्य पश्चात्
समं ब्रूयाः सान्त्वयित्वा च पार्थम्॥
भ्राता प्राज्ञस्तव कोपं न जातु
कुर्याद् राजा धर्ममवेक्ष्य चापि।
मुक्तोऽनृताद् भ्रातृवधाच्च पार्थ
हृष्टः कर्णं त्वं जहि सूतपुत्रम्॥
(महाभारत कर्ण० ६९। ८३—८८)

पार्थ! तुम युधिष्ठिरको सदा 'आप' कहते आये हो, आज उन्हें 'तू' कह दो। भारत! यदि किसी गुरुजनको 'तू' कह दिया जाय, तो यह साधुपुरुषोंकी दृष्टिमें उसका वध ही हो जाता है। कुन्तीनन्दन! तुम धर्मराज युधिष्ठिरके प्रति ऐसा ही बर्ताव करो। कुरुश्रेष्ठ! उनके लिये इस समय अधर्मयुक्त वाक्यका प्रयोग करो। जिसके देवता अथर्वा और अङ्गिरा हैं, ऐसी एक श्रुति है, जो सब श्रुतियोंमें उत्तम

है । अपनी भलाई चाहनेवाले मनुष्योंको सदा बिना विचारे ही इस श्रुतिके अनुसार बर्ताव करना चाहिये । उस श्रुतिका भाव यह है—'गुरुको तू कह देना उसे बिना मारे ही मार डालना है ।' तुम धर्मज्ञ हो तो भी जैसा मैंने बताया है, उसके अनुसार धर्मराजके लिये 'तू' शब्दका प्रयोग करो । पाण्डुनन्दन ! तुम्हारे द्वारा किये गये इस अनुचित शब्दके प्रयोगको सुनकर ये धर्मराज अपना वध हुआ ही समझेंगे । इसके बाद तुम इनके चरणोंमें प्रणाम करके इन्हें सान्त्वना देते हुए क्षमा माँग लेना और इनके प्रति न्यायोचित वचन बोलना । कुन्तीनन्दन ! तुम्हारे भाई राजा युधिष्ठिर समझदार हैं । ये धर्मका ख्याल करके भी तुमपर कभी क्रोध नहीं करेंगे । इस प्रकार तुम मिथ्याभाषण और भ्रातृवधके पापसे मुक्त हो जाओगे । इधर तुम्हारी प्रतिज्ञा भी पूरी हो जायगी और धर्मराज भी सुरक्षित रह जायेंगे । फिर तुम बड़े हर्षके साथ सूतपुत्र कर्णका वध करना ।

भगवान् श्रीकृष्णका अर्जुनको प्रतिज्ञा-भङ्ग, भ्रातृवध तथा आत्मघातसे बचाना और युधिष्ठिरको सान्त्वना देकर संतुष्ट करना

अर्जुनने युधिष्ठिरके प्रति तिरस्कारयुक्त वचन कहकर उनके वधविषयक प्रतिज्ञाको तो पूर्ण कर लिया; किंतु (धर्मराज ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिरका अपमान करनेके कारण) अब अपनेको पापात्मा मानकर वे आत्महत्याके लिये तैयार हो गये । तब श्रीकृष्णने उनसे कहा—

अपने मुखसे अपना गुणगान करना आत्महत्या है

राजानमेनं त्वमितीदमुक्त्वा
किं कश्मलं प्राविशः पार्थ घोरम् ।
त्वं चात्मानं हन्तुमिच्छस्यरिघ्न
नेदं सद्भिः सेवितं वै किरीटिन् ॥
धर्मात्मानं भ्रातरं ज्येष्ठमद्य
खड्गेन चैनं यदि हन्या नृवीर ।
धर्माद् भीतस्तत् कथं नाम ते स्यात्
किं चोत्तरं वाकरिष्यस्त्वमेव ॥
सूक्ष्मो धर्मो दुर्विदश्चापि पार्थ
विशेषतोऽज्ञैः प्रोच्यमानं निबोध ।
हत्वाऽऽत्मानमात्मना प्राप्नुयास्त्वं
वधाद् भ्रातुर्नरकं चातिघोरम् ॥
ब्रवीहि वाचाद्य गुणानिहात्मन-
स्तथा हतात्मा भवितासि पार्थ ।

(महाभारत कर्ण० ७० । २६—२८)

पार्थ ! राजा युधिष्ठिरको 'तू' ऐसा कहकर तुम इतने घोर दुःखमें क्यों डूब गये ? शत्रुसूदन ! क्या तुम आत्मघात करना चाहते हो ? किरीटधारी वीर ! साधुपुरुषोंने कभी ऐसा कार्य नहीं किया है । नरवीर ! यदि आज धर्मसे डरकर तुमने अपने बड़े भाई इन धर्मात्मा युधिष्ठिरको तलवारसे मार डाला होता तो तुम्हारी कैसी दशा होती और इसके बाद तुम क्या करते ! कुन्तीनन्दन ! धर्मका स्वरूप सूक्ष्म है । उसको जानना या समझना बहुत कठिन है । विशेषतः अज्ञानी पुरुषोंके लिये तो उसका जानना और भी कठिन है । अब मैं जो कुछ कहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो । भाईका वध करनेसे जिस अत्यन्त घोर नरककी प्राप्ति होती है, उससे भी भयानक नरक तुम्हें स्वयं ही अपनी हत्या करनेसे प्राप्त हो सकता है । अतः पार्थ ! अब तुम यहाँ अपनी ही वाणीद्वारा अपने गुणोंका वर्णन करो । ऐसा करनेसे यह मान लिया जायगा कि तुमने अपने ही हाथों अपना वध कर लिया । (अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करना—अपने गुणोंका बखान करना आत्महत्या करना है ।)

तब अर्जुनने अपने पापका प्रायश्चित्त करने तथा अपनेको आत्महत्याके दोषसे बचानेके लिये अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करके मानो अपना ही वध कर लिया। इसी समय राजा युधिष्ठिर दुखी हो वनमें जानेको उद्यत हो गये। उन्हें अर्जुनद्वारा कही गयी तिरस्कारपूर्ण बातें असह्य प्रतीत हुईं। तब भगवान् श्रीकृष्णने उनके चरणोंमें प्रणाम करके इस प्रकार कहा—

क्षुब्धहृदय युधिष्ठिरसे भगवान् श्रीकृष्णकी करबद्ध प्रार्थना

राजन् विदितमेतद् वै यथा गाण्डीवधन्वनः।
प्रतिज्ञा सत्यसंधस्य गाण्डीवं प्रति विश्रुता॥
ब्रूयाद् य एवं गाण्डीवमन्यस्मै देयमित्युत।
वध्योऽस्य स पुमाँल्लोके त्वया चोक्तोऽयमीदृशम्॥
ततः सत्यां प्रतिज्ञां तां पार्थेन प्रतिरक्षता।
मच्छन्दादवमानोऽयं कृतस्तव महीपते॥
गुरूणामवमानो हि वध इत्यभिधीयते।
तस्मात् त्वं वै महाबाहो मम पार्थस्य चोभयोः॥
व्यतिक्रममिमं राजन् सत्यसंरक्षणं प्रति।
शरणं त्वां महाराज प्रपन्नौ स्व उभावपि॥
क्षन्तुमर्हसि मे राजन् प्रणतस्याभियाचतः।
राधेयस्याद्य पापस्य भूमिः पास्यति शोणितम्॥
सत्यं ते प्रतिजानामि हतं विद्ध्यद्य सूतजम्।
यस्येच्छसि वधं तस्य गतमप्यस्य जीवितम्॥

(महाभारत कर्ण० ७० । ४९—५५)

राजन्! आपको तो यह विदित ही है कि गाण्डीवधारी सत्यप्रतिज्ञ अर्जुनने गाण्डीव धनुषके विषयमें कैसी प्रतिज्ञा कर रक्खी है? उनकी वह प्रतिज्ञा प्रसिद्ध है। जो अर्जुनसे यह कह दे कि 'तुम्हें अपना गाण्डीव धनुष दूसरेको दे देना चाहिये' वह मनुष्य इस जगत्में उनका वध्य है। आपने आज अर्जुनसे ऐसी ही बात कह दी है। अतः भूपाल! अर्जुनने अपनी उस सच्ची प्रतिज्ञाकी रक्षा करते हुए मेरी आज्ञासे आपका यह अपमान किया; क्योंकि गुरुजनोंका अपमान ही उनका वध कहा जाता है। इसलिये महाबाहो! राजन्! मेरे और अर्जुन दोनोंके सत्यकी रक्षाके लिये किये गये इस अपराधको आप क्षमा करें। महाराज! हम दोनों आपकी शरणमें आये हैं और मैं चरणोंमें गिरकर आपसे क्षमायाचना करता हूँ; आप मेरे अपराधको क्षमा करें। आज पृथ्वी पापी राधापुत्र कर्णके रक्तका पान करेगी। मैं आपसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ; समझ लीजिये कि अब सूतपुत्र कर्ण मार दिया गया। आप जिसका वध चाहते हैं, उसका जीवन समाप्त हो गया।

भगवान् श्रीकृष्णका यह वचन सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने अपने चरणोंमें पड़े हुए हृषीकेशको वेगपूर्वक उठाकर फिर दोनों हाथ जोड़कर यह बात कही—'गोविन्द! आप जैसा कहते हैं, वह ठीक है। वास्तवमें मुझसे यह नियमका उल्लङ्घन हो गया है। माधव! आपने अनुनयद्वारा मुझे संतुष्ट कर दिया और संकटके समुद्रमें डूबनेसे बचा लिया। अच्युत! आज आपके द्वारा हमलोग घोर विपत्तिसे बच गये। (भगवान् न समझाते तो आज इन दोनोंके आवेशपूर्ण अविवेकसे भीषण अनर्थ हो जाता।)

अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णका उपदेश

धर्मराजके मुखसे यह प्रेमपूर्ण वचन सुनकर यदुकुलको आनन्दित करनेवाले धर्मात्मा गोविन्द अर्जुनसे कुछ कहने लगे। अर्जुनने श्रीकृष्णके कहनेसे युधिष्ठिरके प्रति जो तिरस्कारपूर्ण वचन कह दिये थे, इसके कारण वे मन-ही-मन ऐसे उदास हो गये थे, मानो कोई पाप कर बैठे हों। उनकी यह अवस्था देख भगवान् श्रीकृष्ण हँसते हुए-से उन पाण्डुकुमारसे बोले—

धर्मराजको प्रसन्न करके कर्णका वध करनेके लिये अर्जुनको आदेश

कथं नाम भवेदेतद् यदि त्वं पार्थ धर्मजम्॥
असिना तीक्ष्णधारेण हन्या धर्मे व्यवस्थितम्।
त्वमित्युक्त्वाथ राजानमेवं कश्मलमाविशः॥
हत्वा तु नृपतिं पार्थ अकरिष्यः किमुत्तरम्।

एवं हि दुर्विदो धर्मो मन्दप्रज्ञैर्विशेषतः ॥
स भवान् धर्मभीरुत्वाद् ध्रुवमैष्यन्महत्तमः ।
नरकं घोररूपं च भ्रातुर्ज्येष्ठस्य वै वधात् ॥
स त्वं धर्मभृतां श्रेष्ठं राजानं धर्मसंहितम् ।
प्रसादय कुरुश्रेष्ठमेतदत्र मतं मम ॥
प्रसाद्य भक्त्या राजानं प्रीते चैव युधिष्ठिरे ।
प्रयावस्त्वरितौ योद्धुं सूतपुत्ररथं प्रति ॥
हत्वा तु समरे कर्णं त्वमद्य निशितैः शरैः ।
विपुलां प्रीतिमाधत्स्व धर्मपुत्रस्य मानद ॥
एतदत्र महाबाहो प्राप्तकालं मतं मम ।
एवं कृते कृतं चैव तव कार्यं भविष्यति ॥

(महाभारत कर्ण० ७१ । ३-१०)

पार्थ ! तुम तो राजाके प्रति केवल 'तू' कह देनेमात्रसे ही इस प्रकार शोकमें डूब गये हो । फिर यदि धर्ममें स्थित रहनेवाले धर्मकुमार युधिष्ठिरको तीखी धारवाले तलवारसे मार डालते, तब तुम्हारी दशा कैसी हो जाती ? कुन्तीनन्दन ! तुम राजाका वध करनेके पश्चात् क्या करते ? इस तरह धर्मका स्वरूप सभीके लिये दुर्विज्ञेय है । विशेषतः उन लोगोंके लिये, जिनकी बुद्धि मन्द है, उसके सूक्ष्म स्वरूपको समझना अत्यन्त कठिन है । अतः तुम धर्मभीरु होनेके कारण अपने ज्येष्ठ भाईके वधसे निश्चय ही घोर नरकरूप महान् अन्धकार (दुःख-) में डूब जाते । इसलिये इस विषयमें मेरा विचार यह है कि तुम धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ धर्मपरायण कुरुश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरको प्रसन्न करो । राजा युधिष्ठिरको भक्तिभावसे प्रसन्न कर लो । जब वे प्रसन्न हो जायँ, तब हमलोग तुरंत ही युद्धके लिये सूतपुत्रके रथपर चढ़ाई करेंगे । मानद ! आज तुम तीखे बाणोंसे समरभूमिमें कर्णका वध करके धर्मपुत्र युधिष्ठिरके हृदयमें अत्यन्त हर्षोल्लास भर दो । महाबाहो ! मुझे तो इस समय यहाँ यही करना उचित जान पड़ता है । ऐसा कर लेनेपर तुम्हारा सारा कार्य सम्पन्न हो जायगा ।

श्रीकृष्णका अर्जुनको प्रोत्साहन देना

युद्धके लिये प्रस्थान करनेपर कुन्तीकुमार अर्जुनके शरीरमें बड़े जोरसे पसीना छूटने लगा तथा मन-ही-मन भारी चिन्ता होने लगी कि 'यह सब कैसे होगा ?' रथमें बैठकर चलते समय गाण्डीवधारी अर्जुनको यों चिन्तामग्न देख भगवान् श्रीकृष्णने उनसे इस प्रकार कहा ।

अर्जुनके बल-वीर्यकी प्रशंसा करके उन्हें प्रोत्साहित करना

वासुदेव उवाच

गाण्डीवधन्वन् संग्रामे ये त्वया धनुषा जिताः ॥
न तेषां मानुषो जेता त्वदन्य इह विद्यते ।
दृष्टा हि बहवः शूराः शक्रतुल्यपराक्रमाः ॥
त्वां प्राप्य समरे शूरं ते गताः परमां गतिम् ।
को हि द्रोणं च भीष्मं च भगदत्तं च मारिष ॥
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ काम्बोजं च सुदक्षिणम् ।
श्रुतायुषं महावीर्यमच्युतायुषमेव च ।
प्रत्युद्गम्य भवेत् क्षेमी यो न स्यात् त्वमिव प्रभो ॥
तव ह्यस्त्राणि दिव्यानि लाघवं बलमेव च ।
असम्मोहश्च युद्धेषु विज्ञानस्य च संततिः ॥
वेधः पातश्च लक्ष्येषु योगश्चैव तथार्जुन ।
भवान् देवान् सगन्धर्वान् हन्यात् सह चराचरान् ॥
पृथिव्यां तु रणे पार्थ न योद्धा त्वत्समः पुमान् ।
धनुर्ग्राहा हि ये केचित् क्षत्रिया युद्धदुर्मदाः ॥
आ देवात् त्वत्समं तेषां न पश्यामि शृणोमि च ।
ब्रह्मणा च प्रजाः सृष्टा गाण्डीवं च महद् धनुः ॥
येन त्वं युध्यसे पार्थ तस्मान्नास्ति त्वया समः ।
अवश्यं तु मया वाच्यं यत् पथ्यं तव पाण्डव ॥
मावमंस्था महाबाहो कर्णमाहवशोभिनम् ।
कर्णो हि बलवान् दृप्तः कृतास्त्रश्च महारथः ॥

कृती च चित्रयोधी च देशकालस्य कोविदः ।
बहुनात्र किमुक्तेन संक्षेपाच्छृणु पाण्डव ॥
(महाभारत कर्ण० ७२ । १७—२७)

श्रीकृष्ण बोले—गाण्डीवधारी अर्जुन ! तुमने अपने धनुषसे जिन-जिन वीरोंपर विजय पायी है, उन्हें जीतनेवाला इस संसारमें तुम्हारे सिवा दूसरा कोई मनुष्य नहीं है। मैंने देखा है, इन्द्रके समान पराक्रमी बहुत-से शूर-वीर समराङ्गणमें तुम शौर्यसम्पन्न वीरके पास आकर परम गतिको प्राप्त हो गये। प्रभो ! आर्य ! जो तुम्हारे-जैसा वीर न हो, ऐसा कौन पुरुष द्रोणाचार्य, भीष्म, भगदत्त, अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, काम्बोज-राज सुदक्षिण, महापराक्रमी श्रुतायु तथा अच्युतायुका सामना करके सकुशल रह सकता था ? तुम्हारे पास दिव्य अस्त्र हैं; तुममें फुर्ती है, बल है, युद्धके समय तुम्हें घबराहट नहीं होती। तुम्हें अस्त्र-शस्त्रोंका विस्तृत ज्ञान है तथा लक्ष्यको वेधने तथा गिरानेकी कला ज्ञात है। अर्जुन ! लक्ष्यको वेधते समय तुम्हारा चित्त एकाग्र रहता है। गन्धर्वोंसहित सम्पूर्ण देवताओं तथा चराचर प्राणियोंको तुम एक साथ मार सकते हो। कुन्तीकुमार ! इस भूमण्डलपर दूसरा कोई पुरुष तुम्हारे समान योद्धा नहीं है। यहाँसे देवलोकतक धनुष धारण करनेवाले जो कोई भी रणदुर्मद क्षत्रिय हैं, उनमेंसे किसीको भी मैं न तो तुम्हारे समान देखता हूँ और न सुनता ही हूँ। पार्थ ! ब्रह्माजीने सम्पूर्ण प्रजाकी सृष्टि की है और उन्होंने ही उस विशाल धनुष गाण्डीवकी भी रचना की है, जिसके द्वारा तुम युद्ध करते हो; अतः तुम्हारी समानता करनेवाला कोई नहीं है। पाण्डुनन्दन ! तो भी, जो बात तुम्हारे लिये हितकर हो, उसे बता देना मैं आवश्यक समझता हूँ। महाबाहो ! संग्राममें शोभा पानेवाले कर्णकी अवहेलना न करना; क्योंकि कर्ण बलवान्, अभिमानी, अस्त्रविद्याका विद्वान्, महारथी, युद्धकुशल, विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाला तथा देश-कालको समझनेवाला है। पाण्डुनन्दन ! इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ, संक्षेपसे ही सुन लो।

कर्णके महान् बल-वीर्यका वर्णन करके उसका वध करनेके लिये अर्जुनको प्रोत्साहित करना

त्वत्समं त्वद्विशिष्टं वा कर्णं मन्ये महारथम् ।
परमं यत्नमास्थाय त्वया वध्यो महाहवे ॥
तेजसा वह्निसदृशो वायुवेगसमो जवे ।
अन्तकप्रतिमः क्रोधे सिंहसंहननो बली ॥
अष्टरत्निर्महाबाहुर्व्यूढोरस्कः सुदुर्जयः ।
अभिमानी च शूरश्च प्रवीरः प्रियदर्शनः ॥
सर्वयोधगुणैर्युक्तो मित्राणामभयंकरः ।
सततं पाण्डवद्वेषी धार्तराष्ट्रहिते रतः ॥
सर्वैरवध्यो राधेयो देवैरपि सवासवैः ।
ऋते त्वामिति मे बुद्धिस्तदद्य जहि सूतजम् ॥
देवैरपि हि संयत्तैर्बिभ्रद्भिर्मांसशोणितम् ।
अशक्यः स रथो जेतुं सर्वैरपि युयुत्सुभिः ॥
दुरात्मानं पापवृत्तं नृशंसं
दुष्टप्रज्ञं पाण्डवेयेषु नित्यम् ।
हीनस्वार्थं पाण्डवेयैर्विरोधे
हत्वा कर्णं निश्चितार्थो भवाद्य ॥
तं सूतपुत्रं रथिनां वरिष्ठं
निष्कालिकं कालवशं नयाद्य ।
तं सूतपुत्रं रथिनां वरिष्ठं
हत्वा प्रीतिं धर्मराजे कुरुष्व ॥
जानामि ते पार्थ वीर्यं यथावद्
दुर्वारणीयं च सुरासुरैश्च ।
सदावजानाति हि पाण्डुपुत्रा-
नसौ दर्पात् सूतपुत्रो दुरात्मा ॥
आत्मानं मन्यते वीरं येन पापः सुयोधनः ।
तमद्य मूलं पापानां जहि सौतिं धनंजय ॥
खड्गजिह्वं धनुरास्यं शरदंष्ट्रं तरस्विनम् ।

इमं पुरुषशार्दूलं जहि कर्णं धनंजय ॥
अहं त्वामनुजानामि वीर्येण च बलेन च ।
जहि कर्णं रणे शूर मातङ्गमिव केसरी ॥
यस्य वीर्येण वीर्यं ते धार्तराष्ट्रोऽवमन्यते ।
तमद्य पार्थ संग्रामे कर्णं वैकर्तनं जहि ॥

(महाभारत कर्ण० ७२ । २८—४०)

मैं महारथी कर्णको तुम्हारे समान या तुमसे भी बढ़कर मानता हूँ । अतः महासमरमें महान् प्रयत्न करके तुम्हें उसका वध करना होगा । कर्ण तेजमें अग्निके सदृश, वेगमें वायुके समान, क्रोधमें यमराजके तुल्य, सुदृढ़ शरीरमें सिंहके सदृश तथा बलवान् है । उसके शरीरकी ऊँचाई आठ रत्नि (एक सौ अड़सठ अंगुल) है । उसकी भुजाएँ बड़ी-बड़ी और छाती चौड़ी हैं । उसे जीतना अत्यन्त कठिन है । वह अभिमानी, शौर्यसम्पन्न, प्रमुख वीर और प्रियदर्शन (सुन्दर) है । उसमें योद्धाओंके सभी गुण हैं । वह अपने मित्रोंको अभय देनेवाला है तथा दुर्योधनके हितमें तत्पर रहकर पाण्डवोंसे सदा द्वेष रखता है । मेरा तो ऐसा विचार है कि राधापुत्र कर्ण तुम्हें छोड़कर इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंके लिये भी अवध्य है; अतः तुम आज सूतपुत्रका वध करो । समस्त देवता भी यदि रक्त-मांसयुक्त शरीरको धारण करके युद्धकी अभिलाषा लेकर विजयके लिये प्रयत्नशील हो रणभूमिमें आ जायँ तो उनके लिये रथसहित कर्णको जीतना असम्भव है । अतः आज तुम दुरात्मा, पापाचारी, क्रूर, पाण्डवोंके प्रति सदा दुर्भावना रखनेवाले और किसी स्वार्थके बिना ही पाण्डव-विरोधमें तत्पर हुए कर्णका वध करके सफलमनोरथ हो जाओ । रथियोंमें श्रेष्ठ सूतपुत्र अपनेको कालके वशमें नहीं समझता है । तुम उसे आज ही कालके अधीन कर दो । रथियोंमें श्रेष्ठ सूतपुत्र कर्णको मारकर धर्मराज युधिष्ठिरको प्रसन्न करो । पार्थ ! मैं तुम्हारे उस बल-पराक्रमको अच्छी तरह जानता हूँ, जिसका निवारण करना देवताओं और असुरोंके लिये भी कठिन है । दुरात्मा सूतपुत्र कर्ण घमंडमें आकर सदा पाण्डवोंका अपमान करता है । धनंजय ! जिसके साथ होनेसे पापी दुर्योधन अपनेको वीर मानता है, वह सूतपुत्र कर्ण ही सारे पापोंकी जड़ है; अतः आज तुम उसे मार डालो । अर्जुन ! कर्ण पुरुषोंमें सिंहके समान है, तलवार ही उसकी जिह्वा है, धनुष ही उसका फैला हुआ मुख है, बाण उसकी दाढ़ें हैं; वह अत्यन्त वेगशाली और अभिमानी है । तुम उसका वध करो । जैसे सिंह मतवाले हाथीको मार डालता है, उसी प्रकार तुम भी अपने बल और पराक्रमसे रणभूमिमें शूरवीर कर्णको मार डालो । इसके लिये मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ । पार्थ ! जिसके बलसे दुर्योधन तुम्हारे बल-पराक्रमकी अवहेलना करता है, उस वैकर्तन कर्णको आज तुम युद्धमें मार डालो ।

तदनन्तर कर्णका वध करनेके लिये कृतसंकल्प होकर जाते हुए अर्जुनसे अप्रमेय-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने कौरव-पक्षीय भीष्म-द्रोण आदिके विपुल पराक्रमका वर्णन करते हुए अर्जुनके शौर्य-वीर्य-शक्ति-बल तथा विजयी स्वभावकी प्रशंसा करके एवं दुर्योधन-कर्ण आदिके अन्यायपूर्ण आचरणोंकी याद दिलाकर अर्जुनको उत्तेजित करते हुए पुनः इस प्रकार कहा—

सुवर्णपुङ्खा नाराचाः शत्रुघ्ना वैद्युतप्रभाः ॥
त्वयास्तास्तस्य वर्माणि भित्त्वा पास्यन्ति शोणितम् ।
उग्रास्त्वद्भुजनिर्मुक्ता मर्म भित्त्वा महाशराः ॥
अद्य कर्णं महावेगाः प्रेषयन्तु यमक्षयम् ।
अद्य हाहाकृता दीना विषण्णास्त्वच्छरार्दिताः ॥
प्रपतन्तं रथात् कर्णं पश्यन्तु वसुधाधिपाः ।
अद्य शोणितसम्मग्नं शयानं पतितं भुवि ॥
अपविद्धायुधं कर्णं दीनाः पश्यन्तु बान्धवाः ।
हस्तिकक्षो महानस्य भल्लेनोन्मथितस्त्वया ।
प्रकम्पमानः पततु भूमावाधिरथेर्ध्वजः ॥
त्वया शरशतैश्छिन्नं रथं हेमविभूषितम् ।
हतयोधाश्वमुत्सृज्य भीतः शल्यः पलायताम् ॥

त्वं चेत् कर्णसुतं पार्थ सूतपुत्रस्य पश्यतः ।
प्रतिज्ञावारणार्थाय निहनिष्यसि सायकैः ॥
हतं कर्णस्तु तं दृष्ट्वा प्रियं पुत्रं दुरात्मवान् ।
स्मरतां द्रोणभीष्माभ्यां वचः क्षत्तुश्च मानद ॥
ततः सुयोधनो दृष्ट्वा हतमाधिरथिं त्वया ।
निराशो जीविते त्वद्य राज्ये चैव भवत्वरिः ॥

(महाभारत कर्ण० ७३ । ९३—१०१)

बिजलीकी-सी प्रभा और सोनेके पङ्ख धारण करने-वाले तुम्हारे चलाये हुए शत्रुनाशक नाराच कवच छेदकर कर्णका रक्त पान करेंगे । आज तुम्हारे हाथोंसे छूटे हुए महान् वेगशाली, भयंकर एवं विशाल बाण कर्णका मर्मस्थल विदीर्ण करके उसे यमलोक भेज दें । आज तुम्हारे बाणोंसे पीड़ित हुए भूमिपाल दीन और विषाद-युक्त होकर हाहाकार मचाते हुए कर्णको रथसे नीचे गिरता देखें । आज कर्ण रक्तमें डूबकर पृथ्वीपर पड़ा सो रहा हो और उसके आयुध इधर-उधर फेंके पड़े हों । इस अवस्थामें उसके बन्धु-बान्धव दीन-दुखी होकर उसे देखें । आज हाथीके रस्सेके चिह्नसे युक्त अधिरथ-पुत्र कर्णका विशाल ध्वज तुम्हारे भल्लसे कटकर काँपता हुआ इस पृथ्वीपर गिर पड़े । आज राजा शल्य भी तुम्हारे सैकड़ों बाणोंसे छिन्न-भिन्न उस सुवर्णविभूषित रथको, जिसके रथी और घोड़े मार डाले गये हों, छोड़कर भयभीत हो भाग जायँ । माननीय पुरुषोंको मान देनेवाले पार्थ ! यदि तुम सूतपुत्र कर्णके देखते-देखते अपनी प्रतिज्ञाकी पूर्तिके लिये उसके पुत्र वृषसेनको बाणोंद्वारा मार डालो तो अपने प्रिय पुत्रको मारा गया देख वह दुरात्मा कर्ण द्रोणाचार्य, भीष्म और विदुरजीकी कही हुई बातोंको याद करे । तत्पश्चात् आज तुम्हारे द्वारा अधिरथपुत्र कर्णको मारा गया देख तुम्हारा शत्रु दुर्योधन अपने जीवन और राज्य दोनोंसे निराश हो जाय ।

एते द्रवन्ति पञ्चाला वध्यमानाः शितैः शरैः ।
कर्णेन भरतश्रेष्ठ पाण्डवानुज्जिहीर्षवः ॥
पञ्चालान् द्रौपदेयांश्च धृष्टद्युम्नशिखण्डिनौ ।
धृष्टद्युम्नतनूजांश्च शतानीकं च नाकुलिम् ॥
नकुलं सहदेवं च दुर्मुखं जनमेजयम् ।
सुधर्माणं सात्यकिं च विद्धि कर्णवशं गतान् ॥
अभ्याहतानां कर्णेन पञ्चालानामसौ रणे ।
श्रूयते निनदो घोरस्त्वद्बन्धूनां परंतप ॥
न त्वेव भीताः पञ्चालाः कथंचित् स्युः पराङ्मुखाः
न हि मृत्युं महेष्वासा गणयन्ति महारणे ॥
य एकः पाण्डवीं सेनां शरौघैः समवेष्टयत् ।
तं समासाद्य पञ्चाला भीष्मं नासन् पराङ्मुखाः ॥
ते कथं कर्णमासाद्य विद्रवेयुर्महारथाः ।

(महाभारत कर्ण० ७३ । १०२—१०७½)

भरतश्रेष्ठ ! कर्णके तीखे बाणोंकी मार खाते हुए भी ये पाञ्चालवीर पाण्डव-सैनिकोंका उद्धार करनेकी इच्छासे (कर्णकी ओर ही) दौड़े जा रहे हैं । अर्जुन ! तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि पाञ्चाल योद्धा, द्रौपदीके पुत्र, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, धृष्टद्युम्नके पुत्रगण, नकुलकुमार शतानीक, नकुल-सहदेव, दुर्मुख, जनमेजय, सुधर्मा और सात्यकि—ये सब-के-सब कर्णके वशमें पड़ गये हैं । शत्रुओंको संताप देनेवाले अर्जुन ! देखो, कर्णके द्वारा घायल हुए तुम्हारे बान्धव पाञ्चालोंका वह घोर आर्तनाद रणभूमिमें स्पष्ट सुनायी दे रहा है । पाञ्चाल योद्धा किसी तरह भयभीत होकर युद्धसे विमुख नहीं हो सकते । वे महाधनुर्धर वीर महासमरमें मृत्युको कुछ नहीं गिनते हैं । जो सारी पाण्डवसेनाको अकेले ही अपने बाणसमूहों-द्वारा लपेट लेते थे, उन भीष्मजीका सामना करके भी पाञ्चाल योद्धा कभी युद्धसे मुँह मोड़कर नहीं भागे । वे ही महारथी वीर कर्णको सामने पाकर कैसे भाग सकते हैं ?

तेषामापततां शूरः पञ्चालानां तरस्विनाम् ।
आदत्तासूञ्छरैः कर्णः पतङ्गानामिवानलः ॥
एते द्रवन्ति पञ्चाला द्राव्यन्ते योधिभिर्ध्रुवम् ।

कर्णेन भरतश्रेष्ठ पश्य पश्य तथाकृतान् ॥
तांस्तथाभिमुखान् वीरान् मित्रार्थे त्यक्तजीवितान्
क्षयं नयति राधेयः पञ्चालाञ्छतशो रणे ॥
तद् भारत महेष्वासानगाधे मज्जतोऽप्लवे।
कर्णार्णवे प्लवो भूत्वा पञ्चालांस्त्रातुमर्हसि ॥
अस्त्रं हि रामात् कर्णेन भार्गवादृषिसत्तमात्।
यदुपात्तं महाघोरं तस्य रूपमुदीर्यते ॥
तापनं सर्वसैन्यानां घोररूपं सुदारुणम्।
समावृत्य महासेनां ज्वलन्तं स्वेन तेजसा ॥
एते चरन्ति संग्रामे कर्णचापच्युताः शराः।
भ्रमराणामिव व्रातास्तापयन्ति स्म तावकान् ॥
एते द्रवन्ति पञ्चाला दिक्षु सर्वासु भारत।
कर्णास्त्रं समरे प्राप्य दुर्निवार्यमनात्मभिः ॥
(महाभारत कर्ण० ७३। ११२—११९)

(परंतु) जैसे आग अपने पास आये हुए पतङ्गोंके प्राण ले लेती है, उसी प्रकार शूरवीर कर्ण बाणोंद्वारा अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले वेगशाली पाञ्चालोंके प्राण ले रहा है। भरतश्रेष्ठ ! देखो, ये पाञ्चाल योद्धा दौड़ रहे हैं। निश्चय ही कर्ण और दूसरे-दूसरे योद्धा उन्हें दौड़ा रहे हैं। देखो, वे कैसी बुरी अवस्थामें पड़ गये हैं। जो अपने मित्रके लिये प्राणोंका मोह छोड़कर शत्रुके सामने खड़े होकर जूझ रहे हैं, उन सैकड़ों पाञ्चाल वीरोंको कर्ण रणभूमिमें नष्ट कर रहा है। भारत ! कर्णरूपी अगाध महासागरमें महाधनुर्धर पाञ्चाल बिना नावके डूब रहे हैं। तुम नौका बनकर उनका उद्धार करो। कर्णने मुनिश्रेष्ठ भृगुनन्दन परशुरामजीसे जो महाघोर अस्त्र प्राप्त किया है, उसीका रूप इस समय प्रकट हो रहा है। यह अत्यन्त भयंकर एवं घोर भार्गवास्त्र पाण्डवोंकी विशाल सेनाको आच्छादित करके अपने तेजसे प्रज्वलित हो सम्पूर्ण सैनिकोंको संतप्त कर रहा है। ये संग्राममें कर्णके धनुषसे छूटे हुए बाण भ्रमरोंके समूहोंकी भाँति चलते और तुम्हारे योद्धाओंको संतप्त करते हैं। भरतनन्दन ! जिन्होंने अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें नहीं कर रक्खा है, उनके लिये कर्णके अस्त्रको रोकना अत्यन्त कठिन है। समराङ्गणमें इसकी चोट खाकर ये पाञ्चाल-सैनिक सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग रहे हैं।

एष भीमो दृढक्रोधो वृतः पार्थ समन्ततः।
सृञ्जयैर्योधयन् कर्णं पीड्यते निशितैः शरैः ॥
पाण्डवान् सृञ्जयांश्चैव पञ्चालांश्चैव भारत।
हन्यादुपेक्षितः कर्णो रोगो देहमिवागतः ॥
नान्यं त्वत्तो हि पश्यामि योधं यौधिष्ठिरे बले।
यः समासाद्य राधेयं स्वस्तिमानाव्रजेद् गृहम् ॥
तमद्य निशितैर्बाणैर्विनिहत्य नरर्षभ।
यथाप्रतिज्ञं पार्थ त्वं कृत्वा कीर्तिमवाप्नुहि ॥
त्वं हि शक्तो रणे जेतुं सकर्णानपि कौरवान्।
नान्यो युधि युधां श्रेष्ठ सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥
एतत् कृत्वा महत् कर्म हत्वा कर्णं महारथम्।
कृतार्थः सफलः पार्थ सुखी भव नरोत्तम ॥
(महाभारत कर्ण० ७३। १२०—१२५)

पार्थ ! दृढ़तापूर्वक क्रोधको धारण करनेवाले ये भीमसेन सब ओरसे सृञ्जयोंद्वारा घिरकर कर्णके साथ युद्ध करते हुए उसके पैने बाणोंसे पीड़ित हो रहे हैं। भारत! जैसे प्राप्त हुए रोगकी चिकित्सा न की गयी तो वह शरीरको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार यदि कर्णकी उपेक्षा की गयी तो वह पाण्डवों, सृञ्जयों और पाञ्चालोंका भी नाश कर सकता है। युधिष्ठिरकी सेनामें मैं तुम्हारे सिवा दूसरे किसी योद्धाको ऐसा नहीं देखता, जो राधापुत्र कर्णका सामना करके कुशलपूर्वक घर लौट सके। नरश्रेष्ठ ! पार्थ ! आज तुम अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार तीखे बाणोंसे कर्णका वध करके उज्ज्वल कीर्ति प्राप्त करो। योद्धाओंमें श्रेष्ठ ! केवल तुम्हीं संग्राममें कर्णसहित सम्पूर्ण कौरवोंको जीत सकते हो, दूसरा कोई नहीं; यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ। पुरुषोत्तम पार्थ ! अतः महारथी कर्णको मारकर यह महान् कार्य सम्पन्न करनेके पश्चात् तुम कृतकृत्य, सफलमनोरथ एवं सुखी हो जाओ।

धर्मकी दुहाई देनेवाले कर्णको उसके अधार्मिक कृत्य बताकर श्रीकृष्णका फटकारना

कर्ण और अर्जुनमें घोर युद्ध होने लगा। दोनों एक दूसरेके अस्त्रोंको काटने और विजय पानेका प्रयत्न करने लगे। अर्जुनने कौरव-सेनाका भीषण संहार आरम्भ किया। अश्वत्थामाने दुर्योधनके समक्ष संधिका प्रस्ताव रक्खा, किंतु दुर्योधनने नहीं माना। कर्ण और अर्जुनके युद्धकी भयंकरता बढ़ती गयी। कौरव योद्धा भागने लगे। कर्णने एक अति भयानक अमोघ महानागास्त्र नामक सर्पमुख बाण मारा, जो अर्जुनके कण्ठतक पहुँच जाता तो अर्जुनकी प्राणरक्षा शायद ही हो पाती। परंतु उसे देखते ही श्रीकृष्णने अपने रथको दबा दिया। घोड़े घुटनोंके बल बैठ गये और रथ नीचा हो गया। वह बाण, अर्जुनके कण्ठमें न लगकर उनके मुकुटको गिराता हुआ व्यर्थ हो गया। अर्जुन बच गये। तदनन्तर कर्णके रथका पहिया धरतीमें धँस गया। अब वह उतरकर उसे निकालने लगा। इसी समय भगवान्‌के आदेशसे अर्जुनको बाण चलाते देख कर्णने धर्मकी दुहाई दी और कहा—'मैं जबतक रथपर बैठ न जाऊँ तबतक तुम अपना हाथ रोके रहो, यही वीरोंका धर्म है। वीरलोग निहत्थेपर बाण नहीं मारते।'

कर्णको उसके कुकर्मोंकी याद दिलाकर भगवान्‌का उसे हतप्रभ करना

तमब्रवीद् वासुदेवो रथस्थो
राधेय दिष्ट्या स्मरसीह धर्मम्।
प्रायेण नीचा व्यसनेषु मग्ना
निन्दन्ति दैवं कुकृतं न तु स्वम्॥
यद् द्रौपदीमेकवस्त्रां सभाया-
मानाययेस्त्वं च सुयोधनश्च।
दुःशासनः शकुनिः सौबलश्च
न ते कर्ण प्रत्यभात्तत्र धर्मः॥
यदा सभायां राजानमनक्षज्ञं युधिष्ठिरम्।
अजैषीच्छकुनिर्ज्ञानात् क्व ते धर्मस्तदा गतः॥
वनवासे व्यतीते च कर्ण वर्षे त्रयोदशे।
न प्रयच्छसि यद् राज्यं क्व ते धर्मस्तदा गतः॥
यद् भीमसेनं सर्पैश्च विषयुक्तैश्च भोजनैः।
आचरत् त्वन्मते राजा क्व ते धर्मस्तदा गतः॥
यद् वारणावते पार्थान् सुप्ताञ्जतुगृहे तदा।

आदीपयस्त्वं राधेय क्व ते धर्मस्तदा गतः ॥
यदा रजस्वलां कृष्णां दुःशासनवशे स्थिताम् ।
सभायां प्राहसः कर्ण क्व ते धर्मस्तदा गतः ॥
यदनार्यैः पुरा कृष्णां क्लिश्यमानामनागसम् ।
उपप्रेक्षसि राधेय क्व ते धर्मस्तदा गतः ॥
विनष्टाः पाण्डवाः कृष्णे शाश्वतं नरकं गताः ।
पतिमन्यं वृणीष्वेति वदंस्त्वं गजगामिनीम् ॥
उपप्रेक्षसि राधेय क्व ते धर्मस्तदा गतः ।
राज्यलुब्धः पुनः कर्ण समाव्ययसि पाण्डवान् ।
यदा शकुनिमाश्रित्य क्व ते धर्मस्तदा गतः ॥
यदाभिमन्युं बहवो युद्धे जघ्नुर्महारथाः ।
परिवार्य रणे बालं क्व ते धर्मस्तदा गतः ॥
यद्येष धर्मस्तत्र न विद्यते हि
किं सर्वथा तालुविशोषणेन ।
अद्येह धर्म्याणि विधत्स्व सूत
तथापि जीवन्न विमोक्ष्यसे हि ॥
नलो ह्यक्षैर्निर्जितः पुष्करेण
पुनर्यशो राज्यमवाप वीर्यात् ।
प्राप्तास्तथा पाण्डवा बाहुवीर्यात्
सर्वैः समेताः परिवृत्तलोभाः ॥
निहत्य शत्रून् समरे प्रवृद्धान्
ससोमका राज्यमवाप्नुयुस्ते ।
तथा गता धार्तराष्ट्रा विनाशं
धर्माभिगुप्तैः सततं नृसिंहैः ॥

(महाभारत कर्ण० ९१ । १—१४)

तब रथपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णने कर्णसे कहा—राधानन्दन ! सौभाग्यकी बात है कि अब यहाँ तुम्हें धर्मकी याद आ रही है । प्रायः यह देखनेमें आता है कि नीच मनुष्य विपत्तिमें पड़नेपर दैवकी ही निन्दा करते हैं; अपने किये हुए कुकर्मोंकी नहीं । कर्ण ! जब तुमने तथा दुर्योधन, दुःशासन और सुबलपुत्र शकुनिने एक वस्त्र धारण करनेवाली रजस्वला द्रौपदीको सभामें बुलवाया था, उस समय तुम्हारे मनमें धर्मका विचार नहीं उठा था ? जब कौरवसभामें जूएके खेलका ज्ञान न रखनेवाले राजा युधिष्ठिरको शकुनिने जान-बूझकर छलपूर्वक हराया था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ? कर्ण ! वनवासका तेरहवाँ वर्ष बीत जानेपर भी जब तुमने पाण्डवोंका राज्य उन्हें वापस नहीं दिया था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ? जब राजा दुर्योधनने तुम्हारी ही सलाह लेकर भीमसेनको जहर मिलाया हुआ अन्न खिलाया और उन्हें सर्पोंसे डँसवाया, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ गया था ? राधानन्दन ! उन दिनों वारणावत नगरमें लाक्षाभवनके भीतर सोये हुए कुन्ती-कुमारोंको जब तुमने जलानेका प्रयत्न कराया था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ?

कर्ण ! भरी सभामें दुःशासनके वशमें पड़ी हुई रजस्वला द्रौपदीको लक्ष्य करके जब तुमने उपहास किया था, तब तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ! राधानन्दन ! पहले नीच कौरवोंद्वारा क्लेश पाती हुई निरपराध द्रौपदीको जब तुम निकटसे देख रहे थे, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ गया था ! (याद है न, तुमने द्रौपदीसे कहा था) 'कृष्णे ! पाण्डव नष्ट हो गये, सदाके लिये नरकमें पड़ गये । अब तू किसी दूसरे पतिका वरण कर ले ।' जब तुम ऐसी बात कहते हुए गजगामिनी द्रौपदीको निकटसे आँखें फाड़-फाड़कर देख रहे थे, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ? कर्ण ! फिर राज्यके लोभमें पड़कर तुमने शकुनिकी सलाहके अनुसार जब पाण्डवोंको दुबारा जूएके लिये बुलवाया, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ! जब युद्धमें तुम बहुत-से महारथियोंने मिलकर बालक अभिमन्युको चारों ओरसे घेरकर मार डाला था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ! यदि उस

अवसरोंपर यह धर्म नहीं था तो आज भी यहाँ सर्वथा धर्मकी दुहाई देकर तालु सुखानेसे क्या लाभ ? सूत ! अब यहाँ धर्मके कितने ही कार्य क्यों न कर डालो, तथापि जीते-जी तुम्हारा छुटकारा नहीं हो सकता। पुष्करने राजा नलको जूएमें जीत लिया था; किंतु उन्होंने अपने ही पराक्रमसे पुनः अपने राज्य और यश दोनोंको प्राप्त कर लिया। इसी प्रकार लोभशून्य पाण्डव भी अपनी भुजाओंके बलसे सम्पूर्ण सगे-सम्बन्धियोंके साथ रहकर समराङ्गणमें बढ़े-चढ़े शत्रुओंका संहार करके फिर अपना राज्य प्राप्त करेंगे। निश्चय ही ये सोमकोंके साथ अपने राज्यपर अधिकार कर लेंगे। पुरुषसिंह पाण्डव सदैव अपने धर्मसे सुरक्षित हैं; अतः इनके द्वारा अवश्य धृतराष्ट्रके पुत्रोंका नाश हो जायगा।

उस समय भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर कर्णने लज्जासे अपना सिर झुका लिया, उससे कुछ भी उत्तर देते नहीं बना।

श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनसे पाण्डव-पक्षकी विजय एवं सफलताका कथन

कर्ण और शल्य भी मारे गये। धृतराष्ट्रके शेष तेरह पुत्रोंमेंसे ग्यारह और मारे डाले गये। केवल दुर्योधन और सुदर्शन दो ही शेष रह गये थे। ऐसे समयमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—

अर्जुनको उत्साहित करना

शत्रवो हतभूयिष्ठा ज्ञातयः परिपालिताः।
गृहीत्वा संजयं चासौ निवृत्तः शिनिपुङ्गवः॥
परिश्रान्तश्च नकुलः सहदेवश्च भारत।
योधयित्वा रणे पापान् धार्तराष्ट्रान् सहानुगान्॥
दुर्योधनमभित्यज्य त्रय एते व्यवस्थिताः।
कृपश्च कृतवर्मा च द्रौणिश्चैव महारथः॥
असौ तिष्ठति पाञ्चाल्यः श्रिया परमया युतः।
दुर्योधनबलं हत्वा सह सर्वैः प्रभद्रकैः॥
असौ दुर्योधनः पार्थ वाजिमध्ये व्यवस्थितः।
छत्रेण ध्रियमाणेन प्रेक्षमाणो मुहुर्मुहुः॥
प्रतिव्यूह्य बलं सर्वं रणमध्ये व्यवस्थितः।
एनं हत्वा शितैर्बाणैः कृतकृत्यो भविष्यसि॥
गजानीकं हतं दृष्ट्वा त्वां च प्राप्तमरिंदम।
यावन्न विद्रवन्त्येते तावज्जहि सुयोधनम्॥
यातु कश्चित्तु पाञ्चाल्यं क्षिप्रमागम्यतामिति।
परिश्रान्तबलस्तात नैष मुच्येत किल्बिषी॥
हत्वा तव बलं सर्वं संग्रामे धृतराष्ट्रजः।
जितान् पाण्डुसुतान् मत्वा रूपं धारयते महत्॥
निहतं स्वबलं दृष्ट्वा पीडितं चापि पाण्डवैः।
ध्रुवमेष्यति संग्रामे वधायैवात्मनो नृपः॥

(महाभारत शल्य० २७। ३—१२)

भरतनन्दन ! शत्रुओंके अधिकांश योद्धा मारे गये और अपने कुटुम्बीजनोंकी रक्षा हुई। उधर देखो, वे शिनिप्रवर सात्यकि संजयको कैद करके उसे साथ लिये लौटे आ रहे हैं। रणभूमिमें सेवकोंसहित धृतराष्ट्रके पापी पुत्रोंसे युद्ध करके दोनों भाई नकुल और सहदेव भी बहुत थक गये हैं। उधर कृपाचार्य, कृतवर्मा और महारथी अश्वत्थामा—ये तीनों युद्धभूमिमें दुर्योधनको छोड़कर कहीं अन्यत्र स्थित हैं। इधर सम्पूर्ण प्रभद्रकों-सहित दुर्योधनकी सेनाका संहार करके पाञ्चाल राजकुमार धृष्टद्युम्न अपनी सुन्दर कान्तिसे सुशोभित हो रहे हैं। पार्थ ! वह रहा दुर्योधन, जो छत्र धारण किये घुड़-सवारोंके बीचमें खड़ा है और बारंबार इधर ही देख रहा है। वह अपनी सारी सेनाका व्यूह बनाकर युद्धभूमिमें खड़ा है। तुम इसे पैने बाणोंसे मारकर कृतकृत्य हो जाओगे। शत्रुदमन ! गजसेनाका वध और तुम्हारा आगमन हुआ देख ये कौरव-योद्धा जबतक भाग नहीं जाते, तभीतक दुर्योधनको मार डालो। अपने दलका कोई पुरुष पाञ्चालराज धृष्टद्युम्नके पास जाय और कहे

कि 'आप शीघ्रतापूर्वक चलें।' तात ! यह पापात्मा दुर्योधन अब बच नहीं सकता; क्योंकि इसकी सारी सेना थक गयी है। दुर्योधन समझता है कि संग्राम-भूमिमें तुम्हारी सारी सेनाका संहार करके पाण्डवोंको पराजित कर दूँगा। इसीलिये वह अत्यन्त उग्ररूप धारण कर रहा है; परंतु अपनी सेनाको पाण्डवोंद्वारा पीड़ित एवं मारी गयी देख राजा दुर्योधन निश्चय ही अपने विनाशके लिये ही युद्धस्थलमें पदार्पण करेगा।

द्वैत-सरोवरके तटपर युधिष्ठिर और श्रीकृष्णकी बातचीत

समस्त सैनिकोंके मारे जानेपर जब दुर्योधन असहाय हो गया, तब भागकर द्वैत-सरोवरमें जा छिपा। पाण्डव उसे खोजते हुए वहाँ जा पहुँचे। तब युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'प्रभो ! देखिये तो सही, दुर्योधनने जलके भीतर इस मायाका कैसा प्रयोग किया है। यह पानीको रोककर सो रहा है। इसे यहाँ मनुष्यसे किसी प्रकारका भय नहीं है; क्योंकि यह इस दैवी मायाका प्रयोग करके जलके भीतर निवास करता है। माधव ! यद्यपि यह छल-कपटकी विद्यामें बड़ा चतुर है, तथापि कपट करके मेरे हाथसे जीवित नहीं छूट सकता। यदि समराङ्गणमें साक्षात् वज्रधारी इन्द्र इसकी सहायता करें तो भी युद्धमें इसे सब लोग मरा हुआ ही देखेंगे।'

मायावी शत्रुको मायाके द्वारा मारना चाहिये

वासुदेव उवाच

मायाविन इमां मायां मायया जहि भारत ॥
मायावी मायया वध्यः सत्यमेतद् युधिष्ठिर ।
क्रियाभ्युपायैर्बहुभिर्मायामप्सु प्रयोज्य च ॥
जहि त्वं भरतश्रेष्ठ मायात्मानं सुयोधनम् ।

(महाभारत शल्य० ३१। ६—७½)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—भारत ! मायावी दुर्योधनकी इस मायाको आप मायाद्वारा ही नष्ट कर डालिये। युधिष्ठिर ! मायावीका वध मायासे ही करना चाहिये, यह सच्ची नीति है। भरतश्रेष्ठ ! आप बहुत-से रचनात्मक उपायोंद्वारा जलमें मायाका प्रयोग करके मायामय दुर्योधनका वध कीजिये।

क्रियात्मक उपायोंसे शत्रुवधके उदाहरण

क्रियाभ्युपायैरिन्द्रेण निहता दैत्यदानवाः ॥
क्रियाभ्युपायैर्बहुभिर्बलिर्बद्धो महात्मना ।
क्रियाभ्युपायैर्बहुभिर्हिरण्याक्षो महासुरः ॥
हिरण्यकशिपुश्चैव क्रिययैव निषूदितौ ।
वृत्रश्च निहतो राजन् क्रिययैव न संशयः ॥
तथा पौलस्त्यतनयो रावणो नाम राक्षसः ।
रामेण निहतो राजन् सानुबन्धः सहानुगः ॥
क्रियया योगमास्थाय तथा त्वमपि विक्रम ।
क्रियाभ्युपायैर्निहतौ मया राजन् पुरातनौ ॥
तारकश्च महादैत्यो विप्रचित्तिश्च वीर्यवान् ।
वातापिरिल्वलश्चैव त्रिशिराश्च तथा विभो ॥
सुन्दोपसुन्दावसुरौ क्रिययैव निषूदितौ ।
क्रियाभ्युपायैरिन्द्रेण त्रिदिवं भुज्यते विभो ॥
क्रिया बलवती राजन् नान्यत् किंचिद् युधिष्ठिर ।
दैत्याश्च दानवाश्चैव राक्षसाः पार्थिवास्तथा ॥
क्रियाभ्युपायैर्निहताः क्रियां तस्मात् समाचर ।

(महाभारत शल्य० ३१। ८-१५½)

रचनात्मक उपायोंसे ही इन्द्रने बहुत-से दैत्य और दानवोंका संहार किया था। नाना प्रकारके रचनात्मक उपायोंसे ही महात्मा श्रीहरिने बलिको बाँधा और बहुसंख्यक रचनात्मक उपायोंसे ही उन्होंने महान् असुर हिरण्याक्षका वध किया था। क्रियात्मक प्रयत्नके द्वारा ही भगवान्ने हिरण्यकशिपुको भी मारा था। राजन् ! वृत्रासुरका वध भी क्रियात्मक उपायसे ही हुआ था, इसमें संशय नहीं है। राजन् ! पुलस्त्यकुमार विश्रवाका पुत्र रावण नामक राक्षस श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा क्रियात्मक उपाय और युक्ति-कौशलके सहारे ही सम्बन्धियों और सेवकोंसहित

मारा गया। उसी प्रकार आप भी पराक्रम प्रकट करें। नरेश्वर! पूर्वकालके महादैत्य तारक और पराक्रमी विप्रचित्तिको मैंने क्रियात्मक उपायोंसे ही मारा था। प्रभो! वातापि, इल्वल, त्रिशिरा तथा सुन्द-उपसुन्द नामक असुर भी कार्य-कौशलसे ही मारे गये हैं। क्रियात्मक उपायोंसे ही इन्द्र स्वर्गका राज्य भोगते हैं। राजन्! कार्य-कौशल ही बलवान् है, दूसरी कोई वस्तु नहीं। युधिष्ठिर! दैत्य, दानव, राक्षस तथा बहुत-से भूपाल क्रियात्मक उपायोंसे ही मारे गये हैं; अतः आप भी क्रियात्मक उपायका ही आश्रय लें।

क्रोधमें भरे हुए बलरामको श्रीकृष्णका समझाना

दुर्योधन और भीमसेनमें भयंकर गदायुद्ध हो रहा था; उस समय तीर्थयात्राके प्रसंगसे बलरामजी भी वहाँ आ गये थे। भीमसेनने अपनी पूर्व प्रतिज्ञाकी पूर्तिके लिये दुर्योधनकी जाँघोंपर गदासे चोट की। इससे उसकी जाँघें टूट गयीं। दुर्योधन धरतीपर गिर पड़ा। इसके बाद भीमसेनने रोषवश उसके सिरपर लात मारी। यह देख बलरामजी कुपित हो भीमसेनको मारनेके लिये झपटे। उस समय भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें पकड़ लिया और शान्त करते हुए कहा—

छः प्रकारकी उन्नतिका वर्णन करते हुए बलरामजीको समझाना

आत्मवृद्धिर्मित्रवृद्धिर्मित्रमित्रोदयस्तथा ॥
विपरीतं द्विपत्स्वेतत् षड्विधा वृद्धिरात्मनः।
आत्मन्यपि च मित्रे च विपरीतं यदा भवेत् ॥
तदा विद्यान्मनोग्लानिमाशु शान्तिकरो भवेत्।
अस्माकं सहजं मित्रं पाण्डवाः शुद्धपौरुषाः ॥
स्वकाः पितृष्वसुः पुत्रास्ते परैर्निकृता भृशम्।
प्रतिज्ञापालनं धर्मः क्षत्रियस्येह वेद्म्यहम् ॥
सुयोधनस्य गदया भङ्क्तास्म्यूरू महाहवे।
इति पूर्वं प्रतिज्ञातं भीमेन हि सभातले ॥
मैत्रेयेणाभिशप्तश्च पूर्वमेव महर्षिणा।
ऊरू ते भेत्स्यते भीमो गदयेति परंतप ॥
अतो दोषं न पश्यामि मा क्रुद्ध्यस्व प्रलम्बहन्।
यौनैः स्वैः सुखहार्दैश्च सम्बन्धः सह पाण्डवैः ॥
तेषां वृद्ध्या हि वृद्धिर्नो मा क्रुधः पुरुषर्षभ।

(महाभारत शल्य० ६० । १३—१९½)

भैया! अपनी उन्नति छः प्रकारकी होती है—अपनी वृद्धि, मित्रकी वृद्धि और मित्रके मित्रकी वृद्धि। तथा शत्रुपक्षमें इसके विपरीत स्थिति अर्थात् शत्रुकी हानि, शत्रुके मित्रकी हानि तथा शत्रुके मित्रके मित्रकी हानि। अपनी और अपने मित्रकी यदि इसके विपरीत परिस्थिति हो तो मन-ही-मन ग्लानिका अनुभव करना चाहिये और मित्रोंकी उस हानिके निवारणके लिये शीघ्र प्रयत्नशील होना चाहिये। शुद्ध पुरुषार्थका आश्रय लेनेवाले पाण्डव हमारे सहज मित्र हैं। बुआके पुत्र होनेके कारण सर्वथा अपने हैं। शत्रुओंने इनके साथ बहुत छल-कपट किया था। मैं समझता हूँ कि इस जगत्में अपनी प्रतिज्ञाका पालन करना क्षत्रियके लिये धर्म ही है। पहले सभामें भीमसेनने यह प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं महायुद्धमें अपनी गदासे दुर्योधनकी दोनों जाँघें तोड़ डालूँगा'। शत्रुओंको संताप देनेवाले बलरामजी! महर्षि मैत्रेयने भी दुर्योधनको पहलेसे ही यह शाप दे रखा था कि 'भीमसेन अपनी गदासे तेरी दोनों जाँघें तोड़ डालेंगे'। अतः प्रलम्बहन्ता बलभद्रजी! मैं

इसमें भीमसेनका कोई दोष नहीं देखता; इसलिये आप क्रोध न कीजिये। हमारा पाण्डवोंके साथ यौन-सम्बन्ध तो है ही, परस्पर सुख देनेवाले सौहार्दसे भी हमलोग बँधे हुए हैं। पुरुषप्रवर! इन पाण्डवोंकी वृद्धिसे हमारी भी वृद्धि है; अतः आप क्रोध न करें।

अरोषणो हि धर्मात्मा सततं धर्मवत्सलः।
भवान् प्रख्यायते लोके तस्मात् संशाम्य मा क्रुधः॥
प्राप्तं कलियुगं विद्धि प्रतिज्ञां पाण्डवस्य च।
आनृण्यं यातु वैरस्य प्रतिज्ञायाश्च पाण्डवः॥
(गतः पुरुषशार्दूलो हत्वा नैकृतिकं रणे।
अधर्मो विद्यते नात्र यद् भीमो हतवान् रिपुम्॥
युद्ध्यन्तं समरे वीरं कुरुवृष्णियशस्करम्।
अनेन कर्णः संदिष्टः पृष्ठतो धनुराच्छिनत्॥
ततः संछिन्नधन्वानं विरथं पौरुषे स्थितम्।
व्यायुधीकृत्य हतवान् सौभद्रमपलायिनम्॥
जन्मप्रभृतिलुब्धश्च पापश्चैव दुरात्मवान्।
निहतो भीमसेनेन दुर्बुद्धिः कुलपांसनः॥
प्रतिज्ञां भीमसेनस्य त्रयोदशसमार्जिताम्।
किमर्थं नाभिजानाति युद्ध्यमानोऽपि विश्रुताम्॥
ऊर्ध्वमुत्क्रम्य वेगेन जिघांसन्तं वृकोदरः।
बभञ्ज गदया चोरू न स्थाने न च मण्डले॥)

(महाभारत शल्य० ६०। २४—२५ एवं दाक्षिणात्य पाठ)

भैया! आप संसारमें क्रोधरहित, धर्मात्मा और निरन्तर धर्मपर अनुग्रह रखनेवाले सत्पुरुषके रूपमें विख्यात हैं; अतः शान्त हो जाइये; क्रोध न कीजिये। समझ लीजिये कि कलियुग आ गया। पाण्डुपुत्र भीमसेनकी प्रतिज्ञापर भी ध्यान दीजिये। आज पाण्डुकुमार भीम वैर और प्रतिज्ञाके ऋणसे मुक्त हो जायँ। पुरुषसिंह भीम रणभूमिमें कपटी दुर्योधनको मारकर चले गये। उन्होंने जो अपने शत्रुका वध किया है, इसमें कोई अधर्म नहीं है। इसी दुर्योधनने कर्णको आज्ञा दी थी, जिससे उसने कुरु और वृष्णि दोनों कुलोंके सुयशकी वृद्धि करनेवाले, युद्धपरायण, वीर अभिमन्युके धनुषको समराङ्गणमें पीछेसे आकर काट दिया था। इस प्रकार धनुष कट जाने और रथसे हीन हो जानेपर भी जो पुरुषार्थमें ही तत्पर था, रणभूमिमें पीठ न दिखानेवाले उस सुभद्राकुमार अभिमन्युको इसने निहत्था करके मार डाला था। यह दुरात्मा, दुर्बुद्धि एवं पापी दुर्योधन जन्मसे ही लोभी तथा कुरुकुलका कलंक रहा है, जो भीमसेनके हाथसे मारा गया है। भीमसेनकी प्रतिज्ञा तेरह वर्षोंसे चल रही थी और सर्वत्र प्रसिद्ध हो चुकी थी। युद्ध करते समय दुर्योधनने उसे याद क्यों नहीं रक्खा? यह वेगसे ऊपर उछलकर भीमसेनको मार डालना चाहता था। उस अवस्थामें भीमने अपनी गदासे इसकी दोनों जाँघें तोड़ डाली थीं। उस समय न तो यह किसी स्थानमें था और न मण्डलमें ही।

श्रीकृष्णके द्वारा समझाये जानेपर भी बलरामजीने भीमसेनके कार्यका समर्थन नहीं किया, विरोध ही किया। पर वे रथपर सवार होकर द्वारकाकी ओर चल दिये।

श्रीकृष्णके द्वारा दुर्योधनके आक्षेपोंका उत्तर

दुर्योधनके गिर जानेपर पाण्डवपक्षके वीर दुर्योधनपर कटाक्ष करते हुए भीमसेनकी स्तुति करने लगे। उस समय भगवान् श्रीकृष्णने उन सबसे कहा—

सत्पुरुषोंकी सलाह न मानकर पाप करनेवाला पहले ही मर चुका

न न्याय्यं निहतं शत्रुं भूयो हन्तुं नराधिपाः॥
असकृद् वाग्भिरुग्राभिर्निहतो ह्येष मन्दधीः।
तदैवैष हतः पापो यदैव निरपत्रपः॥
लुब्धः पापसहायश्च सुहृदां शासनातिगः।
बहुशो विदुरद्रोणकृपगाङ्गेयसृंजयैः॥
पाण्डुभ्यः प्रार्थ्यमानोऽपि पित्र्यमंशं न दत्तवान्।
नैष योग्योऽद्य मित्रं वा शत्रुर्वा पुरुषाधमः॥

किमनेनातिभुग्नेन वाग्भिः काष्ठसधर्मणा ।
रथेष्वारोहत क्षिप्रं गच्छामो वसुधाधिपाः ॥
दिष्ट्या हतोऽयं पापात्मा सामात्यज्ञातिबान्धवः।
(महाभारत शल्य० ६१ । १८—२२½)

नरेश्वरो ! मरे हुए शत्रुको पुनः मारना उचित नहीं है । तुमलोगोंने इस मन्दबुद्धि दुर्योधनको बारंबार कठोर वचनोंद्वारा घायल किया है । यह निर्लज्ज पापी तो उसी समय मर चुका था, जब लोभमें फँसा और पापियोंको अपना सहायक बनाकर सुहृदोंके शासनसे दूर रहने लगा । विदुर, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, भीष्म तथा सृंजयोंके बारंबार प्रार्थना करनेपर भी इसने पाण्डवोंको उनका पैतृक भाग नहीं दिया । यह नराधम अब किसी योग्य नहीं है । न यह किसीका मित्र है और न शत्रु । राजाओ ! यह तो सूखे काठके समान कठोर है ।इसे कटु वचनोंद्वारा अधिक झुकानेकी चेष्टा करनेसे क्या लाभ ? अब शीघ्र अपने रथोंपर बैठो । हम सब लोग छावनीकी ओर चलें । सौभाग्यसे यह पापात्मा अपने मन्त्री, कुटुम्ब और भाई-बन्धुओंसहित मार डाला गया ।

यह सुनकर दुर्योधनने श्रीकृष्ण तथा अर्जुन आदिपर बहुत-से आक्षेप किये । तब उन सबका उत्तर देते हुए श्रीकृष्णने कहा—

पापी और उसके साथी अपने पापसे ही मारे जाते हैं

हतस्त्वमसि गान्धारे सभ्रातृसुतबान्धवः ॥
सगणः ससुहृच्चैव पापं मार्गमनुष्ठितः ।
तवैव दुष्कृतैर्वीरौ भीष्मद्रोणौ निपातितौ ॥
कर्णश्च निहतः संख्ये तव शीलानुवर्तकः ।
याच्यमानं मया मूढ पित्र्यमंशं न दित्ससि ॥
पाण्डवेभ्यः स्वराज्यं च लोभाच्छकुनिनिश्चयात् ।
(महाभारत शल्य० ६१ । ३९—४१½)

गान्धारीनन्दन ! तुमने पापके रास्तेपर पैर रक्खा था। इसीलिये तुम भाई, पुत्र, बान्धव, सेवक और सुहृद्गणोंसहित मारे गये हो । वीर भीष्म और द्रोणाचार्य तुम्हारे दुष्कर्मोंसे ही मारे गये हैं । कर्ण भी तुम्हारे स्वभावका ही अनुसरण करनेवाला था; इसलिये युद्धमें मारा गया । ओ मूर्ख ! तुम शकुनिकी सलाह मानकर मेरे माँगनेपर भी पाण्डवोंको उनकी पैतृक सम्पत्ति, उनका अपना राज्य लोभवश नहीं देना चाहते थे ।

विषं ते भीमसेनाय दत्तं सर्वे च पाण्डवाः ॥
प्रदीपिता जतुगृहे मात्रा सह सुदुर्मते ।
सभायां याज्ञसेनी च कृष्टा द्यूते रजस्वला ॥
तदैव तावद् दुष्टात्मन् वध्यस्त्वं निरपत्रप ।
अनक्षज्ञं च धर्मज्ञं सौबलेनाक्षवेदिना ॥
निकृत्या यत् पराजैषीस्तस्मादसि हतो रणे ।
जयद्रथेन पापेन यत् कृष्णा क्लेशिता वने ॥
यातेषु मृगयां चैव तृणबिन्दोरथाश्रमम् ।
अभिमन्युश्च यद् बाल एको बहुभिराहवे ॥
त्वद्दोषैर्निहतः पाप तस्मादसि हतो रणे ।
(कुर्वाणं कर्म समरे पाण्डवानर्थकाङ्क्षिणम् ।
यच्छिखण्ड्यवधीद् भीष्मं मित्रार्थे न व्यतिक्रमः॥
स्वधर्मं पृष्ठतः कृत्वा आचार्यस्त्वत्प्रियेप्सया ।
पार्षतेन हतः संख्ये वर्तमानोऽसतां पथि ॥
प्रतिज्ञामात्मनः सत्यां चिकीर्षन् समरे रिपुम् ।
हतवान् सात्वतो विद्वान् सौमदत्तिं महारथम् ॥
अर्जुनः समरे राजन् युध्यमानः कदाचन ।
निन्दितं पुरुषव्याघ्रः करोति न कथंचन ॥
(महाभारत शल्य० ६१ । ४२—४६½, दाक्षिणात्य पाठ)

सुदुर्मते ! तुमने जब भीमसेनको विष दिया, समस्त पाण्डवोंको उनकी माताके साथ लाक्षागृहमें जला डालनेका प्रयत्न किया और निर्लज्ज ! दुष्टात्मन् ! द्यूतक्रीडाके समय भरी सभामें रजस्वला द्रौपदीको जब तुमलोग घसीट लाये, तभी तुम वधके योग्य हो गये थे । तुमने द्यूतक्रीडाके जानकार सुबलपुत्र शकुनिके द्वारा उस कलाको न जाननेवाले धर्मज्ञ युधिष्ठिरको, जो छलसे

पराजित किया था, उसी पापसे तुम रणभूमिमें मारे गये हो। जब पाण्डव शिकारके लिये तृणबिन्दुके आश्रमपर चले गये थे, उस समय पापी जयद्रथने वनके भीतर द्रौपदीको जो क्लेश पहुँचाया और पापात्मन्! तुम्हारे ही अपराधसे बहुत-से योद्धाओंने मिलकर युद्धस्थलमें जो अकेले बालक अभिमन्युका वध किया था, इन्हीं सब कारणोंसे आज तुम भी रणभूमिमें मारे गये हो। भीष्म पाण्डवोंके अनर्थकी इच्छा रखकर समरभूमिमें पराक्रम प्रकट कर रहे थे। उस समय अपने मित्रोंके हितके लिये शिखण्डीने जो उनका वध किया है, वह कोई दोष या अपराधकी बात नहीं है। आचार्य द्रोण तुम्हारा प्रिय करनेकी इच्छासे अपने धर्मको पीछे करके असाधु पुरुषोंके मार्गपर चल रहे थे; अतः युद्धस्थलमें धृष्टद्युम्नने उनका वध किया है। विद्वान् सात्वतवंशी सात्यकिने अपनी सच्ची प्रतिज्ञाका पालन करनेकी इच्छासे समराङ्गण-में अपने शत्रु महारथी भूरिश्रवाका वध किया था। राजन्! समरभूमिमें युद्ध करते हुए पुरुषसिंह अर्जुन कभी किसी प्रकार भी कोई निन्दित कार्य नहीं करते हैं।

लब्ध्वापि बहुशश्छिद्रं वीरवृत्तमनुस्मरन्।
न जघान रणे कर्णं मैवं वोचः सुदुर्मते ॥
देवानां मतमाज्ञाय तेषां प्रियहितेप्सया।
नार्जुनस्य महानागं मया व्यंसितमस्त्रजम् ॥
त्वं च भीष्मश्च कर्णश्च द्रोणो द्रौणिस्तथा कृपः।
विराटनगरे तस्य आनृशंस्याच्च जीविताः ॥
स्मर पार्थस्य विक्रान्तं गन्धर्वेषु कृतं तदा।
अधर्मः कोऽत्र गान्धारे पाण्डवैर्यत् कृतं त्वयि ॥
स्वबाहुबलमास्थाय स्वधर्मेण परंतपाः।
जितवन्तो रणं वीरा पापोऽसि निधनं गतः ॥)
यान्यकार्याणि चास्माकं कृतानीति प्रभाषसे ॥
वैगुण्येन तवात्यर्थं सर्वं हि तदनुष्ठितम्।
बृहस्पतेरुशनसो नोपदेशः श्रुतस्त्वया ॥
वृद्धा नोपासिताश्चैव हितं वाक्यं न ते श्रुतम्।
लोभेनातिबलेन त्वं तृष्णया च वशीकृतः ॥
कृतवानस्यकार्याणि विपाकस्तस्य भुज्यताम्।
(महाभारत शल्य० ६१। दाक्षिणात्य पाठ, ४७—४९½)

दुर्मते! अर्जुनने वीरोचित सदाचारका विचार करके बहुत-से छिद्र (प्रहार करनेके अवसर) पाकर भी युद्धमें कर्णका वध नहीं किया है; अतः तुम उनके विषयमें ऐसी बात न कहो। देवताओंका मत जानकर उनका प्रिय और हित करनेकी इच्छासे मैंने अर्जुनपर महानागास्त्रका प्रहार नहीं होने दिया; उसे विफल कर दिया। तुम, भीष्म, कर्ण, द्रोण, अश्वत्थामा तथा कृपाचार्य विराटनगरमें अर्जुनकी दयालुतासे ही जीवित बच गये। याद करो, अर्जुनके उस पराक्रमको, जो उन्होंने तुम्हारे लिये उन दिनों गन्धर्वोंपर प्रकट किया था। गान्धारी-नन्दन! पाण्डवोंने यहाँ तुम्हारे साथ जो बर्ताव किया है, उसमें कौन-सा अधर्म है? शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर पाण्डवोंने अपने बाहुबलका आश्रय लेकर क्षत्रिय-धर्मके अनुसार विजय पायी है। तुम पापी हो, इसीलिये मारे गये हो। तुम जिन्हें हमारे किये हुए अनुचित कार्य बता रहे हो, वे सब तुम्हारे महान् दोषसे ही किये गये हैं। तुमने बृहस्पति और शुक्राचार्यके नीति-सम्बन्धी उपदेशको नहीं सुना है, बड़े-बूढ़ोंकी उपासना नहीं की है और उनके हितकर वचन भी नहीं सुने हैं। तुमने अत्यन्त प्रबल लोभ और तृष्णाके वशीभूत होकर न करने योग्य कार्य किये हैं; अतः उनका परिणाम अब तुम्हीं भोगो।

श्रीकृष्णका पाण्डवोंको समझाना

दुर्योधन आदिके इस प्रकार कौशलसे मारे जानेके कारण पाण्डवोंको दीनचित्त एवं चिन्तामग्न देख मेघ और दुन्दुभिके समान गम्भीर घोष करनेवाले श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा—

महान् शत्रुको कूटनीतिका प्रयोग करके माया-कौशल-द्वारा वध करना योग्य है

नैष शक्योऽतिशीघ्रास्त्रस्ते च सर्वे महारथाः ।
ऋजुयुद्धेन विक्रान्ता हन्तुं युष्माभिराहवे ॥
नैष शक्यः कदाचित् तु हन्तुं धर्मेण पार्थिवः ।
ते वा भीष्ममुखाः सर्वे महेष्वासा महारथाः ॥
मयानेकैरुपायैस्तु मायायोगेन चासकृत् ।
हतास्ते सर्व एवाजौ भवतां हितमिच्छता ॥
यदि नैवंविधं जातु कुर्यां जिह्ममहं रणे ।
कुतो वो विजयो भूयः कुतो राज्यं कुतो धनम् ॥
ते हि सर्वे महात्मानश्चत्वारोऽतिरथा भुवि ।
न शक्या धर्मतो हन्तुं लोकपालैरपि स्वयम् ॥
तथैवायं गदापाणिर्धार्तराष्ट्रो गतक्लमः ।
न शक्यो धर्मतो हन्तुं कालेनापीह दण्डिना ॥
न च वो हृदि कर्तव्यं यदयं घातितो रिपुः ।
मिथ्यावध्यास्तथोपायैर्बहवः शत्रवोऽधिकाः ॥

(महाभारत शल्य० ६१ । ६१—६७)

यह दुर्योधन अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेवाला था; अतः इसे कोई जीत नहीं सकता था और वे भीष्म, द्रोण आदि महारथी भी बड़े पराक्रमी थे । उन्हें विना माया-कौशलके धर्मानुकूल सरलतापूर्वक युद्धके द्वारा आपलोग नहीं मार सकते थे । यह राजा दुर्योधन अथवा वे भीष्म आदि सभी महाधनुर्धर महारथी कभी सरल धर्मयुद्धके द्वारा नहीं मारे जा सकते थे । आपलोगोंका हित चाहते हुए मैंने ही बार-बार मायाका प्रयोग करके अनेक उपायोंके द्वारा युद्धस्थलमें उन सबका वध किया । यदि कदाचित् युद्धमें मैं इस प्रकार माया-कौशलपूर्ण कार्य नहीं करता तो फिर आपको विजय कैसे प्राप्त होती, राज्य कैसे हाथमें आता और धन कैसे मिल सकता था ? भीष्म, द्रोण, कर्ण और भूरिश्रवा— ये चारों महामना इस भूतलपर अतिरथीके रूपमें विख्यात थे । साक्षात् लोकपाल भी धर्मयुद्ध करके उन सबको नहीं मार सकते थे । यह गदाधारी धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन भी युद्धसे थकता नहीं था; इसे दण्डधारी काल भी धर्मानुकूल युद्धके द्वारा नहीं मार सकता था । इस प्रकार जो यह शत्रु मारा गया है, इसके लिये तुम्हें अपने मनमें विचार नहीं करना चाहिये । बहुतेरे अधिक शक्तिशाली शत्रु नाना प्रकारके उपायों और कूटनीतिके प्रयोगोंद्वारा मारनेके योग्य होते हैं ।

पूर्वमें देवताओंने भी ऐसा ही किया था

पूर्वैरनुगतो मार्गो देवैरसुरघातिभिः ।
सद्भिश्चानुगतः पन्थाः स सर्वैरनुगम्यते ॥
कृतकृत्याश्च सायाह्ने निवासं रोचयामहे ।
साश्वनागरथाः सर्वे विश्रमामो नराधिपाः ॥

(महाभारत शल्य० ६१ । ६८-६९)

असुरोंका विनाश करनेवाले पूर्ववर्ती देवताओंने इस मार्गका आश्रय लिया है । श्रेष्ठ पुरुष जिस मार्गसे चले हैं, उसका सभी लोग अनुसरण करते हैं । अब हम-लोगोंका कार्य पूरा हो गया; अतः सायंकालके समय विश्राम करनेकी इच्छा हो रही है । राजाओ ! हम सब लोग घोड़े, हाथी एवं रथसहित विश्राम करें ।

भगवान् श्रीकृष्णका यह वचन सुनकर उस समय पाण्डवोंसहित समस्त पाञ्चाल अत्यन्त प्रसन्न हुए और सिंह-समुदायके समान दहाड़ने लगे ।

अर्जुनके रथके दग्ध होनेका कारण बताना तथा युधिष्ठिरको बधाई देना

तदनन्तर पाण्डव कौरव-शिविरमें गये। कुरुराजके शिविरमें पहुँचकर रथियोंमें श्रेष्ठ पाण्डव अपने रथोंसे नीचे उतरे। भरतश्रेष्ठ! तत्पश्चात् सदा अर्जुनके प्रिय एवं हितमें तत्पर रहनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने गाण्डीवधारी अर्जुनसे कहा—'भरतवंशशिरोमणे! तुम गाण्डीव धनुषको और इन दोनों बाणोंसे भरे हुए अक्षय तरकसोंको उतार लो। फिर स्वयं भी उतर जाओ। इसके बाद मैं उतरूँगा। अनघ! ऐसा करनेमें ही तुम्हारी भलाई है।' वीर पाण्डुपुत्र अर्जुनने भगवान्के आज्ञानुसार वह सब वैसे ही किया। तदनन्तर परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्ण घोड़ोंकी बागडोर छोड़कर गाण्डीवधारी अर्जुनके रथसे स्वयं भी उतर पड़े। समस्त प्राणियोंके ईश्वर परमात्मा श्रीकृष्णके उतरते ही गाण्डीवधारी अर्जुनका ध्वजस्वरूप दिव्य वानर उस रथसे अन्तर्धान हो गया। इसके बाद अर्जुनका वह विशाल रथ, जो द्रोण और कर्णके दिव्यास्त्रोंद्वारा दग्धप्राय हो गया था, तुरंत ही आगसे प्रज्वलित हो उठा और घोड़ोंसहित भस्म होकर भूमिपर गिर पड़ा। उस रथको भस्मीभूत हुआ देख समस्त पाण्डव आश्चर्यचकित हो उठे और अर्जुनने भी हाथ जोड़कर भगवान्के चरणोंमें बारंबार प्रणाम करके प्रेमपूर्वक पूछा—'गोविन्द! यह रथ अकस्मात् कैसे जल गया? यह कैसी महान् आश्चर्यकी बात हो गयी? महाबाहो! यदि आप सुनने योग्य समझें, तो इसका रहस्य मुझे बतावें'।

रथ आदि पहले ही दग्ध हो चुके थे

वासुदेव उवाच

अस्त्रैर्बहुविधैर्दग्धः पूर्वमेवायमर्जुन।
मदधिष्ठितत्वात् समरे न विशीर्णः परंतप॥
इदानीं तु विशीर्णोऽयं दग्धो ब्रह्मास्त्रतेजसा।
मया विमुक्तः कौन्तेय त्वय्यद्य कृतकर्मणि॥
दिष्ट्या जयसि कौन्तेय दिष्ट्या ते शत्रवो जिताः।
दिष्ट्या गाण्डीवधन्वा च भीमसेनश्च पाण्डवः॥
त्वं चापि कुशली राजन् माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ।
मुक्ता वीरक्षयादस्मात् संग्रामान्निहतद्विषः॥

(महाभारत शल्य० ६२। १८-१९, २१-२२)

श्रीकृष्णने कहा—शत्रुओंको संताप देनेवाले अर्जुन! यह रथ नानाप्रकारके अस्त्रोंद्वारा पहले ही दग्ध हो चुका था; परंतु मेरे बैठे रहनेके कारण समराङ्गणमें भस्म होकर गिर न सका। कुन्तीनन्दन! आज जब तुम अपना अभीष्ट कार्य पूर्ण कर चुके हो, तब मैंने इसे छोड़ दिया है; इसलिये पहलेसे ही ब्रह्मास्त्रके तेजसे दग्ध हुआ यह रथ इस समय बिखरकर गिर पड़ा है। कुन्तीनन्दन! सौभाग्यसे आपकी विजय हुई और सारे शत्रु परास्त हो गये। राजन्! गाण्डीवधारी अर्जुन, पाण्डुकुमार भीमसेन, आप और माद्रीपुत्र पाण्डुनन्दन नकुल-सहदेव—ये सब-के-सब सकुशल हैं तथा जहाँ वीरोंका विनाश हुआ और तुम्हारे सारे शत्रु कालके गालमें चले गये, उस घोर संग्रामसे तुमलोग जीवित बच गये, यह बड़े सौभाग्यकी बात है।

क्षिप्रमुत्तरकालानि कुरु कार्याणि भारत।
उपायातमुपप्लव्यं सह गाण्डीवधन्वना॥
आनीय मधुपर्कं मां यत् पुरा त्वमवोचथाः।
एष भ्राता सखा चैव तव कृष्ण धनंजयः॥

रक्षितव्यो महाबाहो सर्वास्वापत्स्विति प्रभो ।
तव चैवं ब्रुवाणस्य तथेत्येवाहमब्रुवम् ॥
स सव्यसाची गुप्तस्ते विजयी च जनेश्वर ।
भ्रातृभिः सह राजेन्द्र शूरः सत्यपराक्रमः ॥
मुक्तो वीरक्षयादस्मात् संग्रामाल्लोमहर्षणात् ।
(महाभारत शल्य० ६२ । २३—२६½)

भरतनन्दन ! अब आगे समयानुसार जो कार्य प्राप्त हो उसे शीघ्र कर डालिये । पहले गाण्डीवधारी अर्जुनके साथ जब मैं उपप्लव्य नगरमें आया था, उस समय मेरे लिये मधुपर्क अर्पित करके आपने मुझसे यह बात कही थी कि 'श्रीकृष्ण ! यह अर्जुन तुम्हारा भाई और सखा है । प्रभो ! महाबाहो ! तुम्हें इसकी सब आपत्तियोंसे रक्षा करनी चाहिये ।' आपने जब ऐसा कहा, तब मैंने 'तथास्तु' कहकर वह आज्ञा स्वीकार कर ली थी । जनेश्वर ! राजेन्द्र ! आपका वह शूरवीर, सत्यपराक्रमी भाई सव्यसाची अर्जुन मेरे द्वारा सुरक्षित रहकर विजयी हुआ है तथा वीरोंका विनाश करनेवाले इस रोमाञ्चकारी संग्रामसे भाइयोंसहित जीवित बच गया है ।

महाराज ! श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरके शरीरमें रोमाञ्च हो आया । वे उनसे इस प्रकार बोले—'शत्रुमर्दन श्रीकृष्ण ! द्रोणाचार्य और कर्णने जिस ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया था, उसे आपके सिवा दूसरा कौन सह सकता था ? साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी उसका आघात नहीं सह सकते थे। आपकी ही कृपासे संशप्तकगण परास्त हुए हैं । कुन्तीकुमार अर्जुनने उस महासमरमें जो कभी पीठ नहीं दिखायी है, वह भी आपके ही अनुग्रहका फल है । उपप्लव्य नगरमें महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायनने मुझसे कहा था कि 'जहाँ धर्म है, वहाँ श्रीकृष्ण हैं और जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है ।'

श्रीकृष्णका हस्तिनापुर जाकर धृतराष्ट्र और गान्धारीको समझाकर उनका क्षोभ शान्त करना

दुर्योधनके मारे जानेकी बात सुनकर 'तपस्विनी गान्धारी देवी पाण्डवोंको अपनी शापाग्निसे जला देंगी,' यह भय युधिष्ठिरके सामने मूर्तिमान् हो उठा । उन्होंने श्रीकृष्णको हस्तिनापुर भेजा । वहाँ जाकर श्रीकृष्णने धृतराष्ट्र और गान्धारीके समक्ष इस प्रकार कहा—

न तेऽस्त्यविदितं किंचिद् वृद्धस्य तव भारत ।
कालस्य च यथावृत्तं तत् ते सुविदितं प्रभो ॥
यतितं पाण्डवैः सर्वैस्तव चित्तानुरोधिभिः ।
कथं कुलक्षयो न स्यात् तथा क्षत्रस्य भारत ॥
भ्रातृभिः समयं कृत्वा क्षान्तवान् धर्मवत्सलः ।
द्यूतच्छलजितैः शुद्धैर्वनवासो ह्युपागतः ॥
(महाभारत शल्य० ६३ । ४०—४२)

भारत ! आप वृद्ध पुरुष हैं; अतः कालके द्वारा जो कुछ भी संघटित हुआ और हो रहा है, वह कुछ भी आपसे अज्ञात नहीं है । प्रभो ! आपको सब कुछ अच्छी तरह विदित है । भारत ! समस्त पाण्डव सदासे ही आपकी इच्छाके अनुसार बर्ताव करनेवाले हैं । उन्होंने बहुत प्रयत्न किया कि किसी तरह हमारे कुलका तथा क्षत्रियसमूहका विनाश न हो । धर्मवत्सल युधिष्ठिरने अपने भाइयोंके साथ नियत समयकी प्रतीक्षा करते हुए सारा कष्ट चुपचाप सहन किया था । पाण्डव शुद्ध भावसे आपके पास आये थे तो भी उन्हें कपटपूर्वक जूएमें हराकर वनवास दिया गया ।

अज्ञातवासचर्या च नानावेषसमावृतैः ।
अन्ये च बहवः क्लेशात् त्वशक्तैरिव सर्वदा ॥
मया च स्वयमागम्य युद्धकाल उपस्थिते ।
सर्वलोकस्य सांनिध्ये ग्रामास्त्वं पञ्च याचितः ॥
त्वया कालोपसृष्टेन लोभतो नापवर्जिताः ।
तवापराधान्नृपते सर्वं क्षत्रं क्षयं गतम् ॥
भीष्मेण सोमदत्तेन बाह्लीकेन कृपेण च ।
द्रोणेन च सपुत्रेण विदुरेण च धीमता ॥

याचितस्त्वं शमं नित्यं न च तत् कृतवानसि ।
कालोपहतचित्ता हि सर्वे मुह्यन्ति भारत ॥
यथा मूढो भवान् पूर्वमस्मिन्नर्थे समुद्यते ।
किमन्यत् कालयोगाद्धि दिष्टमेव परायणम् ॥
मा च दोषान् महाप्राज्ञ पाण्डवेषु निवेशय ।
अल्पोऽप्यतिक्रमो नास्ति पाण्डवानां महात्मनाम्॥
धर्मतो न्यायतश्चैव स्नेहतश्च परंतप ।
एतद् सर्वं तु विज्ञाय ह्यात्मदोषकृतं फलम् ॥
असूयां पाण्डुपुत्रेषु न भवान् कर्तुमर्हति ।

(महाभारत शल्य० ६३ । ४३—५०½)

पाण्डवोंने नाना प्रकारके वेषोंमें अपनेको छिपाकर अज्ञातवासका कष्ट भोगा । इसके सिवा और भी बहुत-से क्लेश उन्हें असमर्थ पुरुषोंके समान सदा सहन करने पड़े हैं । जब युद्धका अवसर उपस्थित हुआ, उस समय मैंने स्वयं आकर शान्ति स्थापित करनेके लिये सब लोगोंके सामने आपसे केवल पाँच गाँव माँगे थे; परंतु कालसे प्रेरित हो आपने लोभवश वे पाँच गाँव भी नहीं दिये । नरेश्वर ! आपके अपराधसे समस्त क्षत्रियोंका विनाश हो गया । भीष्म, सोमदत्त, बाह्लीक, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और बुद्धिमान् विदुरजीने भी सदा आपसे शान्तिके लिये याचना की थी; परंतु आपने वह कार्य नहीं किया । भारत ! जिनका चित्त कालके प्रभावसे दूषित हो जाता है, वे सब लोग मोहमें पड़ जाते हैं । जैसे कि पहले युद्धकी तैयारीके समय आपकी भी बुद्धि मोहित हो गयी थी । इसे कालयोगके सिवा और क्या कहा जा सकता है ? भाग्य ही सबसे बड़ा आश्रय है । महाप्राज्ञ ! आप पाण्डवोंपर दोषारोपण न कीजियेगा । परंतप ! धर्म, न्याय और स्नेहकी दृष्टिसे महात्मा पाण्डवोंका इसमें थोड़ा-सा भी अपराध नहीं है । यह सब अपने ही अपराधोंका फल है, ऐसा जानकर आपको पाण्डवोंके प्रति दोषदृष्टि नहीं करनी चाहिये ।

कुलं वंशश्च पिण्डाश्च यच्च पुत्रकृतं फलम् ॥
गान्धार्यास्तव वै नाथ पाण्डवेषु प्रतिष्ठितम् ।
त्वं चैव कुरुशार्दूल गान्धारी च यशस्विनी ॥
मा शुचो नरशार्दूल पाण्डवान् प्रति किल्बिषम् ।
एतत् सर्वमनुध्याय आत्मनश्च व्यतिक्रमम् ॥
शिवेन पाण्डवान् पाहि नमस्ते भरतर्षभ ।
जानासि च महाबाहो धर्मराजस्य या त्वयि ॥
भक्तिर्भरतशार्दूल स्नेहश्चापि स्वभावतः ।
एतच्च कदनं कृत्वा शत्रूणामपकारिणाम् ॥
दह्यते स दिवा रात्रौ न च शर्माधिगच्छति ।
त्वां चैव नरशार्दूल गान्धारीं च यशस्विनीम् ॥
स शोचन् नरशार्दूलः शान्तिं नैवाधिगच्छति ।
ह्रिया च परयाऽऽविष्टो भवन्तं नाधिगच्छति ॥
पुत्रशोकाभिसंतप्तं बुद्धिव्याकुलितेन्द्रियम् ।

(महाभारत शल्य० ६३ । ५१—५७½)

अब तो आपका कुल और वंश पाण्डवोंसे ही चलनेवाला है । नाथ ! आपको और गान्धारीदेवीको पिण्डा-पानी तथा पुत्रसे प्राप्त होनेवाला सारा फल पाण्डवोंसे ही मिलनेवाला है । उन्हींपर यह सब कुछ अवलम्बित है । कुरुप्रवर ! पुरुषसिंह ! आप और यशस्वी गान्धारीदेवी कभी पाण्डवोंकी बुराई करनेकी बात न सोचें । भरत-श्रेष्ठ ! इन सब बातोंका तथा अपने अपराधोंका चिन्तन करके आप पाण्डवोंके प्रति कल्याण-भावना रखते हुए उनकी रक्षा करें । आपको नमस्कार है ! महाबाहो ! भरतवंशके सिंह ! आप जानते हैं कि धर्मराज युधिष्ठिरके मनमें आपके प्रति कितनी भक्ति और कितना स्वाभाविक स्नेह है ? अपने अपराधी शत्रुओंका ही यह संहार करके वे दिन-रात शोककी आगमें जल रहे हैं, कभी चैन नहीं पाते हैं । पुरुषसिंह ! आप और यशस्विनी गान्धारी-देवीके लिये निरन्तर शोक करते हुए नरश्रेष्ठ युधिष्ठिरको शान्ति नहीं मिल रही है । आप पुत्रशोकसे सर्वथा संतप्त हैं । आपकी बुद्धि और इन्द्रियाँ शोकसे व्याकुल हैं ।

ऐसी दशामें वे अत्यन्त लज्जित होनेके कारण आपके सामने नहीं आ रहे हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण राजा धृतराष्ट्रसे इस प्रकार शोकनाशक, सान्त्वनाप्रद, शान्तिदायक तथा पाण्डवोंके प्रति आत्मीयता एवं सहानुभूतिका उदय करनेवाली बातें कहकर फिर शोकसे दुर्बल हुई गान्धारीदेवीसे यह उत्तम वचन बोले—

सौबलेयि निबोध त्वं यत् त्वां वक्ष्यामि तच्छृणु ॥
त्वत्समा नास्ति लोकेऽस्मिन्नद्य सीमन्तिनी शुभे।
जानासि च यथा राज्ञि सभायां मम संनिधौ ॥
धर्मार्थसहितं वाक्यमुभयोः पक्षयोर्हितम्।
उक्तवत्यसि कल्याणि न च ते तनयैः कृतम् ॥
दुर्योधनस्त्वया चोक्तो जयार्थी परुषं वचः।
शृणु मूढ वचो मह्यं यतो धर्मस्ततो जयः ॥
तदिदं समनुप्राप्तं तव वाक्यं नृपात्मजे।
एवं विदित्वा कल्याणि मा स्म शोके मनः कृथाः॥
पाण्डवानां विनाशाय मा ते बुद्धिः कदाचन।
शक्ता चासि महाभागे पृथिवीं सचराचराम् ॥
चक्षुषा क्रोधदीप्तेन निर्दग्धुं तपसो बलात्।

(महाभारत शल्य० ६३। ५९—६४½)

सुबलनन्दिनि! मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो और समझो। शुभे! इस संसारमें तुम्हारी-जैसी तपोबलसम्पन्ना स्त्री दूसरी कोई नहीं है। रानी! तुम्हें याद होगा, उस दिन सभामें मेरे सामने ही तुमने दोनों पक्षोंका हित करनेवाला धर्म और अर्थ-युक्त वचन कहा था; किंतु कल्याणि! तुम्हारे पुत्रोंने उसे नहीं माना। तुमने विजयकी अभिलाषा रखनेवाले दुर्योधनको सम्बोधित करके उससे बड़ी रुखाईके साथ कहा था—'ओ मूढ़! मेरी बात सुन ले, जहाँ धर्म होता है, उसी पक्षकी जीत होती है।' कल्याणमयी राजकुमारी! तुम्हारी वही बात आज सत्य हुई है, ऐसा समझकर तुम मनमें शोक न करो। पाण्डवोंके विनाशका विचार तुम्हारे मनमें कभी नहीं आना चाहिये। महाभागे! तुम अपनी तपस्याके बलसे क्रोधभरी दृष्टिद्वारा चराचर प्राणियोंसहित समूची पृथ्वीको भस्म कर डालनेकी शक्ति रखती हो।

भगवान् श्रीकृष्णकी यह बात सुनकर गान्धारीने कहा—'महाबाहु केशव! तुम जैसा कहते हो, वह बिल्कुल ठीक है। अबतक मेरे मनमें बड़ी व्यथाएँ थीं और उन व्यथाओंकी आगसे दग्ध होनेके कारण मेरी बुद्धि विचलित हो गयी थी (अतः मैं पाण्डवोंके अनिष्टकी बात सोचने लगी थी); परंतु जनार्दन! इस समय तुम्हारी बात सुनकर मेरी बुद्धि स्थिर हो गयी है—क्रोधका आवेश उतर गया है। मनुष्योंमें श्रेष्ठ केशव! ये राजा अन्धे और बूढ़े हैं तथा इनके सभी पुत्र मारे गये हैं। अब समस्त वीर पाण्डवोंके साथ तुम्हीं इनके आश्रयदाता हो'। इतनी बात कहकर पुत्रशोकसे संतप्त हुई गान्धारीदेवी अपने मुखको आँचलसे ढककर फूट-फूटकर रोने लगीं। तब महाबाहु भगवान् केशवने शोकसे दुर्बल हुई गान्धारीको कितने ही कारण बताकर युक्तियुक्त वचनोंद्वारा आश्वासन दिया—धीरज बँधाया।

श्रीकृष्णके द्वारा अश्वत्थामाको शाप

दुर्योधनके मारे जानेपर अश्वत्थामा रातमें उससे मिला और पाञ्चालोंके वधकी प्रतिज्ञा करके कृपाचार्य और कृतवर्मा-के साथ वनमें कुछ कालतक ठहरा। फिर उसने शिविर-रक्षक शंकरजीकी आराधना करके उन्हें संतुष्ट किया और उनकी आज्ञा ले पाण्डवोंके शिविरमें पैर रक्खा। वहाँ सब वीर सोये हुए थे। पाण्डव बाहर थे। अश्वत्थामाने सोते समय ही बारी-बारीसे आक्रमण करके धृष्टद्युम्न आदि पाञ्चालों तथा द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंका संहार कर डाला। जो योद्धा शिविरसे बाहर भागे, वे कृपाचार्य और कृतवर्मा-द्वारा मारे गये। यह दारुण समाचार सुनकर पाण्डव द्रौपदीके साथ दुःखमग्न हो विलाप करने लगे। द्रौपदीकी प्रेरणासे भीमसेनने अश्वत्थामाका पीछा किया। श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर और अर्जुन भी उनकी रक्षाके लिये पीछे-पीछे गये। उन्हें आते देख अश्वत्थामाने सींकके बाणद्वारा ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया। बदलेमें अर्जुनने भी उसका प्रयोग किया। इसी समय वेदव्यास और नारदजी वहाँ आ गये। व्यासजी-

की आज्ञासे अर्जुनने अपने अस्त्रको समेट लिया; परंतु अश्वत्थामाने उसे पाण्डवोंकी संततिपर चलाया। उस समय श्रीकृष्णने कहा—

अमोघः परमास्त्रस्य पातस्तस्य भविष्यति।
स तु गर्भो मृतो जातो दीर्घमायुरवाप्स्यति॥
त्वां तु कापुरुषं पापं विदुः सर्वे मनीषिणः।
असकृत्पापकर्माणं बालजीवितघातकम्॥
तस्मात्त्वमस्य पापस्य कर्मणः फलमाप्नुहि।
त्रीणि वर्षसहस्राणि चरिष्यसि महीमिमाम्॥
अप्राप्नुवन् क्वचित् काञ्चित् संविदं जातु केनचित्
निर्जनानसहायस्त्वं देशान् प्रविचरिष्यसि॥
भवित्री न हि ते क्षुद्र जनमध्येषु संस्थितिः।
पूयशोणितगन्धी च दुर्गकान्तारसंश्रयः॥
विचरिष्यसि पापात्मन् सर्वव्याधिसमन्वितः।

(महाभारत सौप्तिक० १६। ८—१२½)

श्रीभगवान् बोले—द्रोणकुमार! उस दिव्य अस्त्रका प्रहार तो अमोघ ही होगा। अतः उत्तराका वह गर्भ मरा हुआ ही पैदा होगा; परंतु फिर उसे लंबी आयु प्राप्त हो जायगी। तुझे अवश्य सभी मनीषी पुरुष कायर, पापी, बारंबार पापकर्म करनेवाला और बालहत्यारा समझते हैं। इसलिये तू इस पाप-कर्मका फल प्राप्त कर ले। आजसे तीन हजार वर्षोंतक तू इस पृथ्वीपर भटकता फिरेगा। तुझे कभी, कहीं और किसीके साथ भी बातचीत करनेका सुख नहीं मिल सकेगा। तू अकेला ही निर्जन स्थानोंमें भटकता रहेगा। ओ नीच! तू जन-समुदायमें नहीं ठहर सकेगा। तेरे शरीरसे पीब और लोहूकी दुर्गन्ध निकलती रहेगी; अतः तुझे दुर्गम स्थानोंका ही आश्रय लेना पड़ेगा। पापात्मन्! तू सभी रोगोंसे पीड़ित होकर इधर-उधर मारा-मारा फिरेगा।

वयं प्राप्य परिक्षित् तु वेदव्रतमवाप्य च॥
कृपाच्छारद्वताच्छूरः सर्वास्त्राण्युपपत्स्यते।
विदित्वा परमास्त्राणि क्षत्रधर्मव्रते स्थितः॥
षष्टिं वर्षाणि धर्मात्मा वसुधां पालयिष्यति।
इतश्चोर्ध्वं महाबाहुः कुरुराजो भविष्यति॥
परिक्षिन्नाम नृपतिर्मिषतस्ते सुदुर्मते।
अहं तं जीवयिष्यामि दग्धं शस्त्राग्नितेजसा।
पश्य मे तपसो वीर्यं सत्यस्य च नराधम॥

(महाभारत सौप्तिक० १६। १३—१६)

(उत्तरापुत्र) परिक्षित् दीर्घ आयु प्राप्त करके ब्रह्मचर्यका पालन एवं वेदाध्ययन-व्रत धारण करेगा और वह शूरवीर बालक शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यसे ही सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करेगा। इस प्रकार उत्तम अस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करके क्षत्रिय-धर्ममें स्थित हो वह साठ वर्षोंतक इस पृथ्वीका पालन करेगा। दुर्मते! तेरे देखते-देखते ही महाबाहु कुरुराज परिक्षित् ही इस भूमण्डलका सम्राट् होगा। नराधम! तेरी शस्त्राग्निके तेजसे दग्ध हुए उस बालकको मैं जीवित कर दूँगा। उस समय तू मेरे तप और सत्यका प्रभाव देख लेना।

व्यासजीने भी इस कथनका अनुमोदन किया। अश्वत्थामा अपने मस्तककी मणि देकर वनको चला गया।

श्रीकृष्णद्वारा भीष्मका चिन्तन एवं उनकी प्रशंसा

राज्य-प्राप्तिके पश्चात् युधिष्ठिरने समस्त गुरुजनोंका यथोचित समादर किया। इसके बाद वे भगवान् श्रीकृष्णके पास आये और कृतज्ञता ज्ञापनपूर्वक उनकी स्तुति करने लगे। उस समय भगवान् श्रीकृष्ण ध्यानमग्न हो काष्ठकी भाँति अविचल-भावसे बैठे थे। उन्होंने युधिष्ठिरकी बातका कोई उत्तर नहीं दिया। थोड़ी देर बाद जब वे ध्यानसे विरत हुए, तब युधिष्ठिरके पूछनेपर इस प्रकार बोले—
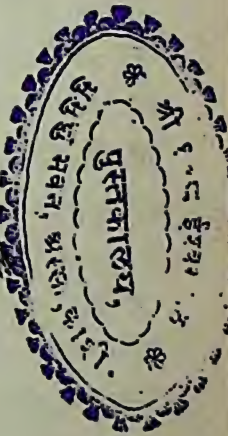
भीष्म मेरा ध्यान कर रहे हैं, इसलिये मैं भी मनसे उनके पास चला गया था

वासुदेव उवाच

शरतल्पगतो भीष्मः शाम्यन्निव हुताशनः ।
मां ध्याति पुरुषव्याघ्रस्ततो मे तद्गतं मनः ॥
यस्य ज्यातलनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
न सेहे देवराजोऽपि तमस्मि मनसा गतः ॥
येनाभिजित्य तरसा समस्तं राजमण्डलम् ।
ऊढास्तिस्रस्तु ताः कन्यास्तमस्मि मनसा गतः ॥
त्रयोविंशतिरात्रं यो योधयामास भार्गवम् ।
न च रामेण निस्तीर्णस्तमस्मि मनसा गतः ॥
एकीकृत्येन्द्रियग्रामं मनः संयम्य मेधया ।

शरणं मामुपागच्छत् ततो मे तद्गतं मनः ॥
यं गङ्गा गर्भविधिना धारयामास पार्थिव ।
वसिष्ठशिक्षितं तात तमस्मि मनसा गतः ॥
(महाभारत शान्ति० राज० ४६ । ११—१६)

श्रीकृष्णने कहा—राजन् ! बाणशय्यापर पड़े हुए पुरुषसिंह भीष्म, जो इस समय बुझती हुई आगके समान हो रहे हैं, मेरा ध्यान कर रहे हैं; इसलिये मेरा मन भी उन्हींमें लगा हुआ है । बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान जिनके धनुषकी टंकारको देवराज इन्द्र भी नहीं सह सके थे, उन्हीं भीष्मके चिन्तनमें मेरा मन लगा हुआ है । जिन्होंने काशीपुरीमें समस्त राजाओंके समुदायको वेगपूर्वक परास्त करके काशिराजकी तीनों कन्याओंका अपहरण किया था, उन्हीं भीष्मके पास मेरा मन चला गया है । जो लगातार तेईस दिनोंतक भृगुनन्दन परशुरामजीके साथ युद्ध करते रहे, तो भी परशुरामजी जिन्हें परास्त न कर सके, उन्हीं भीष्मके पास मैं मनके द्वारा पहुँच गया था । वे भीष्मजी अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको एकाग्र कर बुद्धिके द्वारा मनका संयम करके मेरी शरणमें आ गये थे; इसीलिये मेरा मन भी उन्हींमें जा लगा था । तात ! भूपाल ! जिन्हें गङ्गादेवीने विधिपूर्वक अपने गर्भमें धारण किया था और जिन्हें महर्षि वसिष्ठके द्वारा वेदोंकी शिक्षा प्राप्त हुई थी, उन्हीं भीष्मजीके पास मैं मन-ही-मन पहुँच गया था ।

दिव्यास्त्राणि महातेजा यो धारयति बुद्धिमान् ।
साङ्गांश्च चतुरो वेदांस्तमस्मि मनसा गतः ॥
रामस्य दयितं शिष्यं जामदग्न्यस्य पाण्डव ।
आधारं सर्वविद्यानां तमस्मि मनसा गतः ॥
स हि भूतं भविष्यच्च भवच्च भरतर्षभ ।
वेत्ति धर्मविदां श्रेष्ठं तमस्मि मनसा गतः ॥
तस्मिन् हि पुरुषव्याघ्रे कर्मभिः स्वैर्दिवं गते ।
भविष्यति मही पार्थ नष्टचन्द्रेव शर्वरी ॥
तद् युधिष्ठिर गाङ्गेयं भीष्मं भीमपराक्रमम् ।
अभिगम्योपसंगृह्य पृच्छ यत् ते मनोगतम् ॥
चातुर्विद्यं चातुर्होत्रं चातुराश्रम्यमेव च ।
राजधर्मांश्च निखिलान् पृच्छैनं पृथिवीपते ॥
तस्मिन्नस्तमिते भीष्मे कौरवाणां धुरंधरे ।
ज्ञानान्यस्तं गमिष्यन्ति तस्मात् त्वां चोदयाम्यहम्॥
(महाभारत शान्ति० राज० ४६ । १७—२१)

जो महातेजस्वी बुद्धिमान् भीष्म दिव्यास्त्रों तथा अङ्गोंसहित चारों वेदोंको धारण करते हैं, उन्हींके चिन्तनमें मेरा मन लगा हुआ था । पाण्डुकुमार ! जो जमदग्निनन्दन परशुरामजीके प्रिय शिष्य तथा सम्पूर्ण विद्याओंके आधार हैं, उन्हीं भीष्मजीका मैं मन-ही-मन चिन्तन करता था । भरतश्रेष्ठ ! वे भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंकी बातें जानते हैं । धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ उन्हीं भीष्मका मैं मन-ही-मन चिन्तन करने लगा था । पार्थ ! जब पुरुषसिंह भीष्म अपने कर्मोंके अनुसार स्वर्गलोकमें चले जायँगे, उस समय यह पृथ्वी अमावास्याकी रात्रिके समान श्रीहीन हो जायगी । अतः महाराज युधिष्ठिर ! आप भयानक पराक्रमी गङ्गानन्दन भीष्मके पास चलकर उनके चरणोंमें प्रणाम कीजिये और आपके मनमें जो संदेह हो उसे पूछिये । पृथ्वीनाथ ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों विद्याओंको, होता, उद्गाता, ब्रह्मा और अध्वर्युसे सम्बन्ध रखनेवाले यज्ञादि कर्मोंको, चारों आश्रमोंके धर्मोंको तथा सम्पूर्ण राजधर्मोंको उनसे पूछिये । कौरववंशका भार सँभालनेवाले भीष्मरूपी सूर्य जब अस्त हो जायँगे, उस समय सब प्रकारके ज्ञानोंका प्रकाश नष्ट हो जायगा; इसलिये मैं आपको वहाँ चलनेके लिये कहता हूँ ।

भगवान्‌की अनुमति पाकर युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णके साथ भीष्मजीका दर्शन करनेके लिये उद्यत हो गये ।

उधर भीष्मजी भीष्मस्तवराज पढ़कर भगवान् श्रीकृष्णका स्तवन कर रहे थे। इधर श्रीकृष्ण युधिष्ठिर आदिको साथ लेकर विशाल रथोंद्वारा कुरुक्षेत्रकी ओर बढ़े। मार्गमें 'राम-ह्रद' नामसे प्रसिद्ध पाँच सरोवर प्राप्त हुए, जिन्हें देखकर परशुरामजीकी चर्चा छिड़ गयी और युधिष्ठिरके भगवान् श्रीकृष्णसे पूछनेपर पहले परशुरामजीने इक्कीस बार यह पृथ्वी क्षत्रियोंसे सूनी कर दी थी—इसका कारण आदि बताया। धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरसे वार्तालाप करते हुए यदुकुलतिलक महात्मा श्रीकृष्ण उस रथके द्वारा भगवान् सूर्यके समान सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रकाश फैलाते हुए शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ते चले गये। युधिष्ठिर और श्रीकृष्ण उस स्थानपर जा पहुँचे, जहाँ प्रभावशाली गङ्गानन्दन भीष्म बाणशय्यापर सोये हुए थे। उन्होंने देखा कि भीष्मजी शरशय्यापर सो रहे हैं और अपनी किरणोंसे घिरे हुए सायंकालिक सूर्यके समान प्रकाशित होते हैं। जैसे देवता इन्द्रकी उपासना करते हैं, उसी प्रकार बहुत-से महर्षि ओघवती नदीके तटपर परम धर्ममय स्थानमें उनके पास बैठे हुए थे। श्रीकृष्ण, धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर, अन्य चारों पाण्डव तथा कृपाचार्य आदि सब लोग दूरसे ही उन्हें देखकर अपने-अपने रथसे उतर गये और चञ्चल मनको काबूमें करके सम्पूर्ण इन्द्रियोंको एकाग्र कर वहाँ बैठे हुए महामुनियोंकी सेवामें उपस्थित हुए। श्रीकृष्ण, सात्यकि तथा अन्य राजाओंने व्यास आदि महर्षियोंको प्रणाम करके गङ्गानन्दन भीष्मको मस्तक झुकाया। तदनन्तर वे सभी यदुवंशी और कौरव नरश्रेष्ठ बूढ़े गङ्गानन्दन भीष्मजीका दर्शन करके उन्हें चारों ओरसे घेरकर बैठ गये। इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने मन-ही-मन कुछ दुखी हो बुझती हुई आगके समान दिखायी देनेवाले गङ्गानन्दन भीष्मको सुनाकर इस प्रकार कहा—

कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि प्रसन्नानि यथा पुरा।
कच्चिन्न व्याकुला चैव बुद्धिस्ते वदतां वर॥
शराभिघातदुःखात् ते कच्चिद् गात्रं न दूयते।
मानसादपि दुःखाद्धि शारीरं बलवत्तरम्॥

(महाभारत शान्ति॰ राज॰ ५०। १३-१४)

वक्ताओंमें श्रेष्ठ भीष्मजी! क्या आपकी सारी ज्ञानेन्द्रियाँ पहलेकी भाँति प्रसन्न हैं? आपकी बुद्धि व्याकुल तो नहीं हुई है? आपको बाणोंकी चोट सहनेका जो कष्ट उठाना पड़ा है, उससे आपके शरीरमें विशेष पीड़ा तो नहीं हो रही है? क्योंकि मानसिक दुःखसे शारीरिक दुःख अधिक प्रबल होता है—उसे सहना कठिन हो जाता है।

वरदानात् पितुः कामं छन्दमृत्युरसि प्रभो।
शान्तनोर्धर्मनित्यस्य न त्वेतन्मम कारणम्॥
सुसूक्ष्मोऽपि तु देहे वै शल्यो जनयते रुजम्।
किं पुनः शरसंघातैश्चितस्य तव पार्थिव॥
कामं नैतत् तवाख्येयं प्राणिनां प्रभवाप्ययौ।
उपदेष्टुं भवाञ्शक्तो देवानामपि भारत॥
यच्च भूतं भविष्यं च भवच्च पुरुषर्षभ।
सर्वं तज्ज्ञानवृद्धस्य तव भीष्म प्रतिष्ठितम्॥
संहारश्चैव भूतानां धर्मस्य च फलोदयः।
विदितस्ते महाप्राज्ञ त्वं हि धर्ममयो निधिः॥
त्वां हि राज्ये स्थितं स्फीते समग्राङ्गमरोगिणम्।
स्त्रीसहस्रैः परिवृतं पश्यामीवोर्ध्वरेतसम्॥
ऋते शान्तनवाद् भीष्मात् त्रिषु लोकेषु पार्थिव।
सत्यधर्मान्महावीर्याच्छूराद् धर्मैकतत्परात्॥
मृत्युमावार्य तपसा शरसंस्तरशायिनः।
निसर्गप्रभवं किंचिन्न च तातानुशुश्रुम॥

(महाभारत शान्ति॰ राज॰ ५०। १५—२२)

प्रभो! आपने निरन्तर धर्ममें तत्पर रहनेवाले पिता शान्तनुके वरदानसे मृत्युको अपने अधीन कर लिया है। जब आपकी इच्छा हो तभी मृत्यु हो सकती

है, अन्यथा नहीं । यह आपके पिताके वरदानका ही प्रभाव है, मेरा नहीं । राजन् ! यदि शरीरमें कोई महीन-से-महीन भी काँटा गड़ जाय तो वह भारी वेदना पैदा करता है; फिर जो बाणोंके समूहसे चुन दिया गया है, उस आपके शरीरकी पीड़ाके विषयमें तो कहना ही क्या है ? भरतनन्दन ! अवश्य ही आपके सामने यह कहना उचित न होगा कि 'सभी प्राणियोंके जन्म और मरण प्रारब्धके अनुसार नियत हैं । अतः आपको दैवका विधान समझकर अपने मनमें कोई दुःख नहीं मानना चाहिये ।' आपको कोई क्या उपदेश देगा ? आप तो देवताओंको भी उपदेश देनेमें समर्थ हैं । पुरुषप्रवर भीष्म ! आप ज्ञानमें सबसे बढ़े-चढ़े हैं । आपकी बुद्धिमें भूत, भविष्य और वर्तमान सब कुछ प्रतिष्ठित है । महामते ! प्राणियोंका संहार कब होता है ? धर्मका क्या फल है ? और उसका उदय कब होता है ? ये सारी बातें आपको ज्ञात हैं; क्योंकि आप धर्मके प्रचुर भण्डार हैं । आप एक समृद्धिशाली राज्यके अधिकारी थे; आपके सम्पूर्ण अङ्ग ठीक थे, किसी अङ्गमें कोई न्यूनता नहीं थी; आपको कोई रोग भी नहीं था और आप हजारों स्त्रियोंके बीचमें रहते थे; तो भी मैं आपको ऊर्ध्वरेता (अखण्ड ब्रह्मचर्यसे सम्पन्न) ही देखता हूँ । तात ! पृथ्वीनाथ ! मैंने तीनों लोकोंमें सत्यवादी, एकमात्र धर्ममें तत्पर, शूरवीर, महापराक्रमी तथा बाणशय्यापर शयन करनेवाले आप शान्तनुनन्दन भीष्मके सिवा दूसरे किसी ऐसे प्राणीको ऐसा नहीं सुना है, जिसने शरीरके लिये स्वभावसिद्ध मृत्युको अपनी तपस्यासे रोक दिया हो।

सत्ये तपसि दाने च यज्ञाधिकरणे तथा ।
धनुर्वेदे च वेदे च नीत्यां चैवानुरक्षणे ॥
अनृशंसं शुचिं दान्तं सर्वभूतहिते रतम् ।
महारथं त्वत्सदृशं न कंचिदनुशुश्रुम ॥
त्वं हि देवान् सगन्धर्वानसुरान् यक्षराक्षसान् ।
शक्तस्त्वेकरथेनैव विजेतुं नात्र संशयः ॥
स त्वं भीष्म महाबाहो वसूनां वासवोपमः ।
नित्यं विप्रैः समाख्यातो नवमोऽनवमो गुणैः ॥
अहं च त्वाभिजानामि यस्त्वं पुरुषसत्तम ।
त्रिदशेष्वपि विख्यातस्त्वं शक्त्या पुरुषोत्तमः ॥
मनुष्येषु मनुष्येन्द्र न दृष्टो न च मे श्रुतः ।
भवतो वा गुणैर्युक्तः पृथिव्यां पुरुषः क्वचित् ॥
त्वं हि सर्वगुणै राजन् देवानप्यतिरिच्यसे ।
तपसा हि भवाञ्छक्तः स्रष्टुं लोकांश्चराचरान् ॥
किं पुनश्चात्मनो लोकानुत्तमानुत्तमैर्गुणैः ।
तदस्य तप्यमानस्य ज्ञातीनां संक्षयेन वै ॥
ज्येष्ठस्य पाण्डुपुत्रस्य शोकं भीष्म व्यपानुद ।

(महाभारत शान्ति० राज० ५० । २३—३०½)

सत्य, तप, दान और यज्ञके अनुष्ठानमें, वेद, धनुर्वेद तथा नीतिशास्त्रके ज्ञानमें, प्रजाके पालनमें कोमलतापूर्ण बर्ताव, बाहर-भीतरकी शुद्धि, मन और इन्द्रियोंके संयम तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके हितसाधनमें आपके समान मैंने दूसरे किसी महारथीको नहीं सुना है। आप सम्पूर्ण देवता, गन्धर्व, असुर, यक्ष और राक्षसों-को एकमात्र रथके द्वारा ही जीत सकते थे, इसमें संशय नहीं है। महाबाहो भीष्म ! आप वसुओंमें वासव (इन्द्र-) के समान हैं । ब्राह्मणोंने सदा आपको आठ वसुओंके अंशसे उत्पन्न नवम वसु बताया है । आपके समान गुणोंमें कोई नहीं है । पुरुषप्रवर ! आप कैसे हैं और क्या हैं, यह मैं जानता हूँ । आप पुरुषोंमें उत्तम और अपनी शक्तिके लिये देवताओंमें भी विख्यात हैं । नरेन्द्र ! मनुष्योंमें आपके समान गुणोंसे युक्त पुरुष इस पृथ्वीपर न तो मैंने कहीं देखा है और न सुना ही है । राजन् ! आप अपने सम्पूर्ण गुणोंके द्वारा तो देवताओंसे भी बढ़कर हैं तथा तपस्याके द्वारा चराचर लोकोंकी भी सृष्टि कर सकते हैं । फिर अपने लिये उत्तम गुणसम्पन्न लोकोंकी सृष्टि करना आपके

लिये कौन बड़ी बात है ? अतः भीष्मजी ! आपसे यह निवेदन है कि ये ज्येष्ठ पाण्डव अपने कुटुम्बीजनोंके वधसे बहुत संतप्त हो रहे हैं। आप इनका शोक दूर करें।

ये हि धर्माः समाख्याताश्चातुर्वर्ण्यस्य भारत ॥
चातुराश्रम्यसंयुक्ताः सर्वे ते विदितास्तव ।
चातुर्विद्ये च ये प्रोक्ताश्चातुर्होत्रे च भारत ॥
योगे सांख्ये च नियता ये च धर्माः सनातनाः ।
चातुर्वर्ण्यस्य यश्चोक्तो धर्मो न स्म विरुध्यते ॥
सेव्यमानः सवैयाख्यो गाङ्गेय विदितस्तव ।
प्रतिलोमप्रसूतानां वर्णानां चैव यः स्मृतः ॥
देशजातिकुलानां च जानीषे धर्मलक्षणम् ।
वेदोक्तो यश्च शिष्टोक्तः सदैव विदितस्तव ॥
इतिहासपुराणार्थाः कात्स्न्येन विदितास्तव ।
धर्मशास्त्रं च सकलं नित्यं मनसि ते स्थितम् ॥
ये च केचन लोकेऽस्मिन्नर्थाः संशयकारकाः ।
तेषां छेत्ता नास्ति लोके त्वदन्यः पुरुषर्षभ ॥
स पाण्डवेयस्य मनःसमुत्थितं
नरेन्द्र शोकं व्यपकर्ष मेधया ।
भवद्विधा ह्युत्तमबुद्धिविस्तरा
विमुह्यमानस्य नरस्य शान्तये ॥

(महाभारत शान्ति० राज० ५० । ३१—३८)

भारत ! शास्त्रोंमें चारों वर्णों और आश्रमोंके लिये जो-जो धर्म बताये गये हैं, वे सब आपको विदित हैं। चारों विद्याओंमें जिन धर्मोंका प्रतिपादन किया गया है तथा चारों होताओंके जो कर्तव्य बताये गये हैं, वे भी आपको ज्ञात हैं। गङ्गानन्दन ! योग और सांख्यमें जो सनातन धर्म नियत हैं तथा चारों वर्णोंके लिये जो अविरोधी धर्म बताया गया है, जिसका सभी लोग सेवन करते हैं, वह सब आपको व्याख्यासहित ज्ञात है। विलोम-क्रमसे उत्पन्न हुए वर्णसंकरोंका जो धर्म है, उससे भी आप अपरिचित नहीं हैं। देश, जाति और कुलके धर्मोंका क्या लक्षण है, उसे आप अच्छी तरह जानते हैं। वेदोंमें प्रतिपादित तथा शिष्ट पुरुषोंद्वारा कथित धर्मोंको भी आप सदासे ही जानते हैं। इतिहास और पुराणोंके अर्थ आपको पूर्णरूपसे ज्ञात हैं। सारा धर्मशास्त्र सदा आपके मनमें स्थित है। पुरुषप्रवर ! संसारमें जो कोई भी संदेहग्रस्त विषय हैं, उनका समाधान करनेवाला आपके सिवा दूसरा कोई नहीं है। नरेन्द्र ! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके हृदयमें जो शोक उमड़ आया है, उसे आप अपनी बुद्धिके द्वारा दूर कीजिये। आप-जैसे उत्तम बुद्धिके विस्तारवाले पुरुष ही मोहग्रस्त मनुष्यके शोक-संतापको दूर करके उसे शान्ति दे सकते हैं।

भीष्मपर भगवान्की कृपा और उन्हें युधिष्ठिरके प्रति धर्मोपदेश करनेकी आज्ञा

परम बुद्धिमान् वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका वचन सुनकर भीष्मजीने अपना मुँह कुछ ऊपर उठाया और हाथ जोड़कर स्तुति की और कहा—'पुरुषप्रवर ! आपने मेरे सम्बन्धमें जो बात कही है, उससे मैं तीनों लोकोंमें व्याप्त हुए आपके दिव्य भावोंका साक्षात्कार कर रहा हूँ। गोविन्द ! आपका जो सनातन रूप है, उसे भी मैं देख रहा हूँ। आपने ही अत्यन्त तेजस्वी वायुका रूप धारण करके ऊपरके सातों लोकोंको व्याप्त कर रक्खा है।

'स्वर्गलोक आपके मस्तकसे और वसुन्धरा-देवी आपके पैरोंसे व्याप्त हैं। दिशाएँ आपकी भुजाएँ हैं। सूर्य नेत्र हैं और शुक्राचार्य आपके वीर्यमें प्रतिष्ठित हैं। आपका श्रीविग्रह तीसीके फूलकी भाँति श्याम है। उसपर पीताम्बर शोभा दे रहा है, वह कभी अपनी महिमासे च्युत नहीं होता। उसे देखकर हम अनुमान करते हैं कि बिजलीसहित मेघ शोभा पा रहा है। मैं आपकी शरणमें आया हुआ आपका भक्त हूँ और अभीष्ट गतिको प्राप्त करना चाहता

हूँ। कमलनयन ! सुरश्रेष्ठ ! मेरे लिये जो कल्याणकारी उपाय हो, उसीका संकल्प कीजिये।'

भगवान् श्रीकृष्णमें पराभक्तिके कारण ही भगवान्ने अपने स्वरूपके उन्हें दिव्य-दर्शन कराये हैं

वासुदेव उवाच

यतः खलु परा भक्तिर्मयि ते पुरुषर्षभ।
ततो मया वपुर्दिव्यं त्वयि राजन् प्रदर्शितम्॥
न ह्यभक्ताय राजेन्द्र भक्तायानृजवे न च।
दर्शयाम्यहमात्मानं न चाशान्ताय भारत॥
भवांस्तु मम भक्तश्च नित्यं चार्जवमास्थितः।
दमे तपसि सत्ये च दाने च निरतः शुचिः॥
अर्हस्त्वं भीष्म मां द्रष्टुं तपसा स्वेन पार्थिव।
तव ह्युपस्थिता लोका येभ्यो नावर्तते पुनः॥
पञ्चाशतं षट् च कुरुप्रवीर
शेषं दिनानां तव जीवितस्य।
ततः शुभैः कर्मफलोदयैस्त्वं
समेष्यसे भीष्म विमुच्य देहम्॥
एते हि देवा वसवो विमाना-
न्यास्थाय सर्वे ज्वलिताग्निकल्पाः।
अन्तर्हितास्त्वां प्रतिपालयन्ति
काष्ठां प्रपद्यन्तमुदक्पतङ्गम्॥
व्यावर्तमाने भगवत्युदीचीं
सूर्ये दिशं कालवशात् प्रपन्ने।
गन्तासि लोकान् पुरुषप्रवीर
नावर्तते यानुपलभ्य विद्वान्॥
अमुं च लोकं त्वयि भीष्म याते
ज्ञानानि नङ्क्ष्यन्त्यखिलेन वीर।
अतस्तु सर्वे त्वयि संनिकर्षं
समागता धर्मविवेचनाय॥
तज्ज्ञातिशोकोपहतश्रुताय
सत्याभिसंधाय युधिष्ठिराय।
प्रब्रूहि धर्मार्थसमाधियुक्तं
सत्यं वचोऽस्यापनुदाशु शोकम्॥
(महाभारत शान्ति० राज० ५१। १०—१८)

श्रीकृष्ण बोले—राजन् ! पुरुषप्रवर ! मुझमें आपकी पराभक्ति है। इसीलिये मैंने आपको अपने दिव्य स्वरूपका दर्शन कराया है। भारत ! राजेन्द्र ! जो मेरा भक्त नहीं है अथवा भक्त होनेपर भी सरल स्वभावका नहीं है, जिसके मनमें शान्ति नहीं है, उसे मैं अपने स्वरूपका दर्शन नहीं कराता। आप मेरे भक्त तो हैं ही, आपका स्वभाव भी सरल है। आप इन्द्रिय-संयम, तपस्या, सत्य और दानमें तत्पर रहनेवाले तथा परम पवित्र हैं। भूपाल ! आप अपने तपोबलसे ही मेरा दर्शन करनेके योग्य हैं। आपके लिये वे दिव्य लोक प्रस्तुत हैं, जहाँसे फिर इस लोकमें वापस नहीं आना पड़ता। कुरुवीर भीष्म ! अब आपके जीवनके कुल छप्पन दिन शेष हैं। तदनन्तर आप इस शरीरका त्याग करके अपने शुभ कर्मोंके फलस्वरूप उत्तम लोकोंमें जायँगे। देखिये, ये प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी देवता और वसु विमानोंमें बैठकर आकाशमें अदृश्यरूपसे रहते हुए सूर्य उत्तरायण होने और आपके आनेकी बाट जोहते हैं। पुरुषोंमें प्रमुख वीर ! जब भगवान् सूर्य कालवश दक्षिणायनसे लौटते हुए उत्तर दिशाके मार्गपर लौटेंगे, उस समय आप उन्हीं लोकोंमें जाइयेगा, जहाँ जाकर ज्ञानी पुरुष फिर इस संसारमें नहीं लौटते हैं। वीर भीष्म ! जब आप परलोकमें चले जाइयेगा, उस समय सारे ज्ञान लुप्त हो जायँगे; अतः ये सब लोग आपके पास धर्मका विवेचन करानेके लिये आये हैं। ये सत्यपरायण युधिष्ठिर बन्धुजनोंके शोकसे अपना सारा शास्त्रज्ञान खो बैठे हैं; अतः आप इन्हें धर्म, अर्थ और योगसे युक्त यथार्थ बातें सुनाकर शीघ्र ही इनका शोक दूर कीजिये।

भीष्मका अपनी असमर्थता प्रकट करना और भगवान्‌का उन्हें वर देना

भगवान् श्रीकृष्णके ये धर्म और अर्थसे युक्त हितकर वचन सुनकर शान्तनुनन्दन भीष्मने दोनों हाथ जोड़कर कहा—'लोकनाथ ! महाबाहो ! शिव ! नारायण ! अच्युत ! आपका यह वचन सुनकर मैं आनन्दके समुद्रमें निमग्न हो गया हूँ। भला, मैं आपके समीप क्या कह सकूँगा, जब कि वाणीका सारा विषय आपकी वेदमयी वाणीमें प्रतिष्ठित है ? देव ! लोकमें कहीं भी जो कुछ कर्तव्य किया जाता है, वह सब आप बुद्धिमान् परमेश्वरसे ही प्रकट हुआ है। मधुसूदन ! इन बाणोंके गड़नेसे जो जलन हो रही है, उसके कारण मेरे मनमें बड़ी व्यथा है। सारा शरीर पीड़ाके मारे शिथिल हो गया है और बुद्धि कुछ काम नहीं दे रही है। गोविन्द ! ये बाण विष और अग्निके समान मुझे निरन्तर पीड़ा दे रहे हैं; अतः मुझमें कुछ भी कहनेकी शक्ति नहीं रह गयी है। मेरा बल शरीरको छोड़ता-सा जान पड़ता है। ये प्राण निकलनेको उतावले हो रहे हैं। मेरे मर्मस्थानोंमें बड़ी पीड़ा हो रही है; अतः मेरा चित्त भ्रान्त हो गया है। दुर्बलताके कारण मेरी जीभ तालूमें सट जाती है; ऐसी दशामें मैं कैसे बोल सकता हूँ ? दशार्हकुलकी वृद्धि करनेवाले प्रभो ! आप मुझपर पूर्णरूपसे प्रसन्न हो जाइये। महाबाहो ! क्षमा कीजिये। मैं बोल नहीं सकता। आपके निकट प्रवचन करनेमें बृहस्पतिजी भी शिथिल हो सकते हैं, फिर मेरी क्या बिसात है। मधुसूदन ! मुझे न तो दिशाओंका ज्ञान है और न आकाश एवं पृथ्वीका ही भान हो रहा है। केवल आपके प्रभावसे ही जी रहा हूँ। इसलिये आप स्वयं ही, जिसमें धर्मराजका हित हो, वह बात शीघ्र बताइये; क्योंकि आप शास्त्रोंके भी शास्त्र हैं। श्रीकृष्ण ! आप जगत्‌के कर्ता और सनातन पुरुष हैं। आपके रहते हुए मेरे-जैसा कोई भी मनुष्य कैसे उपदेश कर सकता है ? क्या गुरुके रहते हुए शिष्य उपदेश देनेका अधिकारी है ?'

भीष्मके प्रति श्रीकृष्णका वरदान

वासुदेव उवाच

उपपन्नमिदं वाक्यं कौरवाणां धुरंधरे।
महावीर्ये महासत्त्वे स्थिरे सर्वार्थदर्शिनि॥
यच्च मामात्थ गाङ्गेय बाणघातरुजं प्रति।
गृहाणात्र वरं भीष्म मत्प्रसादकृतं प्रभो॥
न ते ग्लानिर्न ते मूर्छा न दाहो न च ते रुजा।
प्रभविष्यन्ति गाङ्गेय क्षुत्पिपासे न चाप्युत॥
ज्ञानानि च समग्राणि प्रतिभास्यन्ति तेऽनघ।
न च ते क्वचिदासक्तिर्बुद्धेः प्रादुर्भविष्यति॥
सत्त्वस्थं च मनो नित्यं तव भीष्म भविष्यति।
रजस्तमोभ्यां रहितं घनैर्मुक्त इवोडुराट्॥
यद् यच्च धर्मसंयुक्तमर्थयुक्तमथापि च।
चिन्तयिष्यसि तत्राग्र्या बुद्धिस्तव भविष्यति॥
इमं च राजशार्दूल भूतग्रामं चतुर्विधम्।
चक्षुर्दिव्यं समाश्रित्य द्रक्ष्यस्यमितविक्रम॥
संसरन्तं प्रजाजालं संयुक्तो ज्ञानचक्षुषा।
भीष्म द्रक्ष्यसि तत्त्वेन जले मीन इवामले॥

(महाभारत शान्ति० राज० ५२। १४—२१)

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—भीष्मजी ! आप कुरुकुलका भार वहन करनेवाले, महापराक्रमी, परम धैर्यवान्, स्थिर तथा सर्वार्थदर्शी हैं; आपका यह कथन सर्वथा युक्तिसंगत है। गङ्गानन्दन भीष्म ! प्रभो ! बाणोंके आघातसे होनेवाली पीड़ाके विषयमें जो आपने कहा है, उसके लिये आप मेरी प्रसन्नतासे दिये हुए इस 'वर'को ग्रहण करें। गङ्गाकुमार ! अब आपको न ग्लानि होगी न मूर्छा, न दाह होगा न रोग। भूख और प्यासका कष्ट भी नहीं रहेगा। अनघ ! आपके अन्तःकरणमें सम्पूर्णज्ञान प्रकाशित हो उठेंगे। आपकी बुद्धि किसी भी विषयमें कुण्ठित नहीं होगी। भीष्म ! आपका मन मेघके आवरणसे मुक्त हुए चन्द्रमाकी भाँति रजोगुण और तमोगुणसे रहित होकर सदा सत्त्वगुणमें स्थित रहेगा। आप जिस-जिस धर्मयुक्त या अर्थयुक्त विषयका चिन्तन करेंगे, उसमें आपकी बुद्धि सफलतापूर्वक आगे बढ़ती जायगी। अमितपराक्रमी नृपश्रेष्ठ ! आप दिव्य दृष्टि

पाकर स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज और जरायुज—इन चारों प्रकारके प्राणियोंको देख सकेंगे। भीष्म ! ज्ञान-दृष्टिसे सम्पन्न होकर आप संसारबन्धनमें पड़नेवाले सम्पूर्ण जीवसमुदायको उसी तरह यथार्थरूपसे देख सकेंगे, जैसे मत्स्य निर्मल जलमें सब कुछ देखता रहता है।

इसके बाद शारीरिक एवं मानसिक स्वस्थता प्राप्त करके भीष्मजीने युधिष्ठिर आदिको ज्ञानका विशद उपदेश किया।

भगवान् श्रीकृष्णका अर्जुनको अपने प्रभावका वर्णन करते हुए अपने कुछ नामोंकी व्युत्पत्ति एवं माहात्म्य बताना

एक समय अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—

भगवन् भूतभव्येश सर्वभूतसृगव्यय।
लोकधाम जगन्नाथ लोकानामभयप्रद॥
यानि नामानि ते देव कीर्तितानि महर्षिभिः।
वेदेषु सपुराणेषु यानि गुह्यानि कर्मभिः॥
तेषां निरुक्तं त्वत्तोऽहं श्रोतुमिच्छामि केशव।
न ह्यन्यो वर्णयेन्नाम्नां निरुक्तं त्वामृते प्रभो॥

(महाभारत शान्ति० मोक्ष० ३४१।५-७)

भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालोंके स्वामी, सम्पूर्ण भूतोंके स्रष्टा, अविनाशी, जगदाधार तथा सम्पूर्ण लोकोंको अभय देनेवाले जगन्नाथ, भगवन्, नारायणदेव ! महर्षियोंने आपके जो-जो नाम कहे हैं तथा पुराणों और वेदोंमें कर्मानुसार जो-जो गोपनीय नाम पढ़े गये हैं, उन सबकी व्याख्या मैं आपके मुँहसे सुनना चाहता हूँ। प्रभो ! केशव ! आपके सिवा दूसरा कोई उन नामोंकी व्युत्पत्ति नहीं बता सकता।

भगवान्‌का प्रभाव और महिमा

श्रीभगवानुवाच

ऋग्वेदे सयजुर्वेदे तथैवाथर्वसामसु।
पुराणे सोपनिषदे तथैव ज्यौतिषेऽर्जुन॥
सांख्ये च योगशास्त्रे च आयुर्वेदे तथैव च।
बहूनि मम नामानि कीर्तितानि महर्षिभिः॥
गौणानि तत्र नामानि कर्मजानि च कानिचित्।
निरुक्तं कर्मजानां त्वं शृणुष्व प्रयतोऽनघ॥
कथ्यमानं मया तात त्वं हि मेऽर्धं स्मृतः पुरा।
नमोऽतियशसे तस्मै देहिनां परमात्मने॥
नारायणाय विश्वाय निर्गुणाय गुणात्मने।
यस्य प्रसादजो ब्रह्मा रुद्रश्च क्रोधसम्भवः॥
योऽसौ योनिर्हि सर्वस्य स्थावरस्य चरस्य च।
अष्टादशगुणं यत् तत् सत्त्वं सत्त्ववतां वर॥
प्रकृतिः सा परा मह्यं रोदसी योगधारिणी।
ऋता सत्यामराजय्या लोकानामात्मसंज्ञिता॥
तस्मात् सर्वाः प्रवर्तन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः।
तपो यज्ञश्च यष्टा च पुराणः पुरुषो विराट्॥
अनिरुद्ध इति प्रोक्तो लोकानां प्रभवाप्ययः।

(महाभारत शान्ति० मोक्ष० ३४१।८-१५½)

श्रीभगवान्‌ने कहा—अर्जुन ! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, उपनिषद्, पुराण, ज्यौतिष, सांख्यशास्त्र, योगशास्त्र तथा आयुर्वेदमें महर्षियोंने मेरे बहुत-से नाम कहे हैं। उनमें कुछ नाम तो गुणोंके अनुसार हैं और कुछ कर्मोंसे हुए हैं। निष्पाप अर्जुन ! तुम पहले एकाग्रचित्त होकर मेरे कर्मजनित नामोंकी व्याख्या सुनो। तात ! मैं तुमसे उन नामोंकी व्युत्पत्ति बताता हूँ; क्योंकि पूर्वकालसे ही तुम मेरे आधे शरीर माने गये हो। जो समस्त देहधारियोंके उत्कृष्ट आत्मा हैं, उन महायशस्वी, निर्गुण-सगुणरूप विश्वात्मा भगवान् नारायणदेवको नमस्कार है। जिनके प्रसादसे ब्रह्मा और क्रोधसे रुद्र प्रकट हुए हैं, वे श्रीहरि ही सम्पूर्ण चराचर जगत्‌की उत्पत्तिके कारण हैं। बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! अठारह गुणोंवाला जो सत्त्व है अर्थात् आदिपुरुष है, वही मेरी परा प्रकृति है। पृथ्वी और आकाशकी आत्मस्वरूपा वह योगबलसे समस्त लोकोंको धारण करनेवाली है। वही ऋता (कर्मफलभूत

गतिस्वरूपा), सत्या (त्रिकालाबाधित ब्रह्मरूपा) अमर, अजेय तथा सम्पूर्ण लोकोंकी आत्मा है। उसीसे सृष्टि और प्रलय आदि सम्पूर्ण विकार प्रकट होते हैं। वही तप, यज्ञ और यजमान है, वही पुरातन विराट् पुरुष है, उसे ही अनिरुद्ध कहा गया है। उसीसे लोकोंकी सृष्टि और प्रलय होते हैं।

रुद्रको नारायणस्वरूप जानकर उनकी पूजा करनी चाहिये

ब्राह्मे रात्रिक्षये प्राप्ते तस्य ह्यमिततेजसः ॥
प्रसादात् प्रादुरभवत् पद्मं पद्मनिभेक्षण ।
ततो ब्रह्मा समभवत् स तस्यैव प्रसादजः ॥
अह्नः क्षये ललाटाच्च सुतो देवस्य वै तथा ।
क्रोधाविष्टस्य संजज्ञे रुद्रः संहारकारकः ॥
एतौ द्वौ विबुधश्रेष्ठौ प्रसादक्रोधजावुभौ ।
तदादेशितपन्थानौ सृष्टिसंहारकारकौ ॥
निमित्तमात्रं तावत्र सर्वप्राणिवरप्रदौ ।
कपर्दी जटिलो मुण्डः श्मशानगृहसेवकः ॥
उग्रव्रतचरो रुद्रो योगी परमदारुणः ।
दक्षक्रतुहरश्चैव भगनेत्रहरस्तथा ॥
नारायणात्मको ज्ञेयः पाण्डवेय युगे युगे ।
तस्मिन् हि पूज्यमाने वै देवदेवे महेश्वरे ॥
सम्पूजितो भवेत् पार्थ देवो नारायणः प्रभुः ।
अहमात्मा हि लोकानां विश्वेषां पाण्डुनन्दन ॥
तस्मादात्मानमेवाग्रे रुद्रं सम्पूजयाम्यहम् ।
यद्यहं नार्चयेयं वै ईशानं वरदं शिवम् ॥
आत्मानं नार्चयेत् कश्चिदिति मे भावितात्मनः ।
मया प्रमाणं हि कृतं लोकः समनुवर्तते ॥
प्रमाणानि हि पूज्यानि ततस्तं पूजयाम्यहम् ।
यस्तं वेत्ति स मां वेत्ति योऽनु तं स हि मामनु ॥

(महाभारत शान्ति० मोक्ष० ३४१ । १६—२६)

जब प्रलयकी रात व्यतीत हुई थी, उस समय उन अमित तेजस्वी अनिरुद्धकी कृपासे एक कमल प्रकट हुआ। कमलनयन अर्जुन ! उसी कमलसे ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ। वे ब्रह्मा भगवान् अनिरुद्धके प्रसादसे ही उत्पन्न हुए हैं। ब्रह्माका दिन बीतनेपर क्रोधके आवेशमें आये हुए उस देवके ललाटसे उनके पुत्ररूपमें संहारकारी रुद्र प्रकट हुए। ये दोनों श्रेष्ठ देवता—ब्रह्मा और रुद्र भगवान्‌के प्रसाद और क्रोधसे प्रकट हुए हैं तथा उन्हींके बताये हुए मार्गका आश्रय ले सृष्टि और संहारका कार्य पूर्ण करते हैं। समस्त प्राणियोंको वर देनेवाले वे दोनों देवता सृष्टि और प्रलयके निमित्तमात्र हैं। (वास्तवमें तो वह सब कुछ भगवान्‌की इच्छासे ही होता है।) इनमेंसे संहारकारी रुद्रके कपर्दी (जटाजूटधारी), जटिल, मुण्ड, श्मशानगृहका सेवन करनेवाले, उग्र व्रतका आचरण करनेवाले, रुद्र, योगी, परम दारुण, दक्षयज्ञ-विध्वंसक तथा भगनेत्रहारी आदि अनेक नाम हैं। पाण्डुनन्दन ! इन भगवान् रुद्रको नारायणस्वरूप ही जानना चाहिये। पार्थ ! प्रत्येक युगमें उन देवाधिदेव महेश्वरकी पूजा करनेसे सर्वसमर्थ भगवान् नारायणकी ही पूजा होती है। पाण्डुकुमार ! मैं सम्पूर्ण जगत्‌का आत्मा हूँ। इसलिये मैं पहले अपने आत्मारूप रुद्रकी ही पूजा करता हूँ। यदि मैं वरदाता भगवान् शिवकी पूजा न करूँ तो दूसरा कोई भी उन आत्मरूप शंकरका पूजन नहीं करेगा, ऐसी मेरी धारणा है। मेरे किये हुए कार्यको प्रमाण या आदर्श मानकर सब लोग उसका अनुसरण करते हैं। जिनकी पूजनीयता वेद-शास्त्रोंद्वारा प्रमाणित है, उन्हीं देवताओंकी पूजा करनी चाहिये। ऐसा सोचकर ही मैं रुद्रदेवकी पूजा करता हूँ। जो रुद्रको जानता है, वह मुझे जानता है; जो उनका अनुगामी है, वह मेरा भी अनुगामी है।

मेरे आत्मस्वरूप होनेके कारण मैंने रुद्रकी आराधना की

रुद्रो नारायणश्चैव सत्त्वमेकं द्विधाकृतम् ।
लोके चरति कौन्तेय व्यक्तिस्थं सर्वकर्मसु ॥

न हि मे केनचिद् देयो वरः पाण्डवनन्दन।
इति संचिन्त्य मनसा पुराणं रुद्रमीश्वरम्॥
पुत्रार्थमाराधितवानहमात्मानमात्मना।
न हि विष्णुः प्रणमति कस्मैचिद् विबुधाय च॥
ऋते आत्मानमेवेति ततो रुद्रं भजाम्यहम्।
सब्रह्मकाः सरुद्राश्च सेन्द्रा देवाः सहर्षिभिः॥
अर्चयन्ति सुरश्रेष्ठं देवं नारायणं हरिम्।
भविष्यतां वर्ततां च भूतानां चैव भारत॥
सर्वेषामग्रणीर्विष्णुः सेव्यः पूज्यश्च नित्यशः।
नमस्व हव्यदं विष्णुं तथा शरणदं नम॥
वरदं नमस्व कौन्तेय हव्यकव्यभुजं नम।
चतुर्विधा मम जना भक्ता एव हि मे श्रुतम्॥
तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवताः।
अहमेव गतिस्तेषां निराशीः कर्मकारिणाम्॥
ये च शिष्टास्त्रयो भक्ताः फलकामा हि ते मताः।
सर्वे च्यवनधर्मास्ते प्रतिबुद्धस्तु श्रेष्ठभाक्॥
ब्रह्माणं शितिकण्ठं च याश्चान्या देवताः स्मृताः।
प्रबुद्धचर्याः सेवन्तो मामेवैष्यन्ति यत् परम्॥
भक्तं प्रति विशेषस्ते एष पार्थानुकीर्तितः।
त्वं चैवाहं च कौन्तेय नरनारायणौ स्मृतौ॥
भारावतरणार्थं तु प्रविष्टौ मानुषीं तनुम्।

(महाभारत शान्ति० मोक्ष० ३४१। २७—३७½)

कुन्तीनन्दन! रुद्र और नारायण दोनों एक ही स्वरूप हैं, जो दो स्वरूप धारण करके भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंमें स्थित हो संसारमें यज्ञ आदि सब कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। पाण्डवोंको आनन्दित करनेवाले अर्जुन! मुझे दूसरा कोई वर नहीं दे सकता; यही सोचकर मैंने पुत्र-प्राप्तिके लिये स्वयं ही अपने आत्मस्वरूप पुराणपुरुष जगदीश्वर रुद्रकी आराधना की थी। विष्णु अपने आत्मस्वरूप रुद्रके सिवा किसी दूसरे देवताको प्रणाम नहीं करते; इसलिये मैं रुद्रका भजन करता हूँ। ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र तथा ऋषियोंसहित सम्पूर्ण देवता सुरश्रेष्ठ नारायणदेव श्रीहरिकी अर्चना करते हैं। भरतनन्दन! भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंमें होनेवाले समस्त पुरुषोंके भगवान् विष्णु ही अग्रगण्य हैं; अतः सबको सदा उन्हींकी सेवा-पूजा करनी चाहिये। कुन्तीकुमार! तुम हव्यदाता विष्णुको नमस्कार करो, शरणदाता श्रीहरिको शीश झुकाओ, वरदाता विष्णुकी वन्दना करो तथा हव्यकव्य-भोक्ता भगवान्को प्रणाम करो। तुमने मुझसे सुना है कि आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ये चार प्रकारके मनुष्य मेरे भक्त हैं। इनमें जो एकान्ततः मेरा ही भजन करते हैं, दूसरे देवताओंको अपना आराध्य नहीं मानते, वे सबसे श्रेष्ठ हैं। निष्कामभावसे समस्त कर्म करनेवाले उन भक्तोंकी परमगति मैं ही हूँ। जो शेष तीन प्रकारके भक्त हैं, वे फलकी इच्छा रखनेवाले माने गये हैं। अतः वे सभी नीचे गिरनेवाले होते हैं—पुण्यभोगके अनन्तर स्वर्गादि लोकोंसे च्युत हो जाते हैं, परंतु ज्ञानी भक्त सर्वश्रेष्ठ फल (भगवत्प्राप्ति) का भागी होता है। ज्ञानी भक्त ब्रह्मा, शिव तथा दूसरे देवताओंकी निष्कामभावसे सेवा करते हुए भी अन्तमें मुझ परमात्माको ही प्राप्त होते हैं। पार्थ! यह मैंने तुमसे भक्तोंका अन्तर बतलाया है। कुन्तीनन्दन! तुम और मैं दोनों ही नर-नारायण नामक ऋषि हैं और पृथ्वीका भार उतारनेके लिये हमने मानव-शरीरमें प्रवेश किया है।

नारायण, वासुदेव, विष्णु, दामोदर और पृश्निगर्भ नामोंकी व्युत्पत्ति

जानाम्यध्यात्मयोगांश्च योऽहं यस्माच्च भारत॥
निवृत्तिलक्षणो धर्मस्तथाऽऽभ्युदयिकोऽपि च।
नराणामयनं ख्यातमहमेकः सनातनः॥
आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
अयनं मम तत् पूर्वमतो नारायणो ह्यहम्॥
छादयामि जगद् विश्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः।
सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम्॥

गतिश्च सर्वभूतानां प्रजनश्चापि भारत ।
व्याप्ता मे रोदसी पार्थ कान्तिश्चाभ्यधिका मम ॥
अधिभूतानि चान्तेषु तदिच्छंश्चास्मि भारत ।
क्रमणाच्चाप्यहं पार्थ विष्णुरित्यभिसंज्ञितः ॥
दमात् सिद्धिं परीप्सन्तो मां जनाः कामयन्ति ह ।
दिवं चोर्वीं च मध्यं च तस्माद् दामोदरो ह्यहम् ॥
पृश्निरित्युच्यते चान्नं वेद आपोऽमृतं तथा ।
ममैतानि सदा गर्भः पृश्निगर्भस्ततो ह्यहम् ॥

(महाभारत शान्ति० मोक्ष० ३४१ । ३८—४५)

भारत ! मैं अध्यात्मयोगोंको जानता हूँ तथा मैं कौन हूँ और कहाँसे आया हूँ—इस बातका भी मुझे ज्ञान है । लौकिक अभ्युदयका साधक प्रवृत्तिधर्म और निःश्रेयस प्रदान करनेवाला निवृत्तिधर्म भी मुझसे अज्ञात नहीं है । एकमात्र मैं सनातन पुरुष ही सम्पूर्ण मनुष्यों-का सुविख्यात आश्रयभूत नारायण हूँ । नरसे उत्पन्न होनेके कारण जलको 'नार' कहा गया है । वह नार (जल) पहले मेरा अयन (निवासस्थान) था; इसलिये ही मैं 'नारायण' कहलाता हूँ । (जो सबमें व्याप्त हो अथवा जो किसीका निवासस्थान हो, उसे 'वासु' कहते हैं ।) मैं ही सूर्यरूप धारण करके अपनी किरणोंसे सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त करता हूँ तथा मैं ही सम्पूर्ण प्राणियोंका वासस्थान हूँ; इसलिये मेरा नाम 'वासुदेव' है । भारत ! मैं सम्पूर्ण प्राणियोंकी गति और उत्पत्तिका स्थान हूँ । पार्थ ! मैंने आकाश और पृथ्वीको व्याप्त कर रक्खा है । मेरी कान्ति सबसे बढ़कर है । भरतनन्दन ! समस्त प्राणी अन्तकालमें जिस ब्रह्मको पानेकी इच्छा करते हैं, वह भी मैं ही हूँ । कुन्तीकुमार ! मैं सबका अतिक्रमण करके स्थित हूँ । इन सभी कारणोंसे मेरा नाम 'विष्णु' हुआ है । मनुष्य दम (इन्द्रियसंयम-) के द्वारा सिद्धि पानेकी इच्छा करते हुए मुझे पाना चाहते हैं तथा दमके द्वारा ही वे पृथ्वी, स्वर्ग एवं मध्यवर्ती लोकोंमें ऊँची स्थिति पानेकी अभिलाषा करते हैं, इसलिये मैं 'दामोदर' कहलाता हूँ (दम एव दामः तेन उदीर्यति—उन्नतिं प्राप्नोति यस्मात् स दामोदरः—यह दामोदर शब्दकी व्युत्पत्ति है) । अन्न, वेद, जल और अमृतको 'पृश्नि' कहते हैं । ये सदा मेरे गर्भमें रहते हैं; इसलिये मेरा नाम 'पृश्निगर्भ' है ।

केशव नामकी व्युत्पत्ति

ऋषयः प्राहुरेवं मां त्रितं कूपनिपातितम् ।
पृश्निगर्भ त्रितं पाहीत्येकतद्वितपातितम् ॥
ततः स ब्रह्मणः पुत्र आद्यो ह्यृषिवरस्त्रितः ।
उत्ततारोदपानाद् वै पृश्निगर्भानुकीर्तनात् ॥
सूर्यस्य तपतो लोकानग्नेः सोमस्य चाप्युत ।
अंशवो यत् प्रकाशन्ते ममैते केशसंज्ञिताः ॥
सर्वज्ञाः केशवं तस्मान्मामाहुर्द्विजसत्तमाः ।
एवं हि वरदं नाम केशवेति ममार्जुन ।
देवानामथ सर्वेषामृषीणां च महात्मनाम् ॥
अग्निः सोमेन संयुक्त एकयोनित्वमागतः ।
अग्नीषोममयं तस्माज्जगत् कृत्स्नं चराचरम् ॥

अपि हि पुराणे भवति एकयोन्यात्मकावग्नीषोमौ देवाश्चाग्निमुखा इति एकयोनित्वाच्च परस्परमर्हन्तो लोकान् धारयन्त इति ॥

(महाभारत शान्ति० मोक्ष० ३४१ । ४६–५१)

जब त्रितमुनि अपने भाइयोंद्वारा कुएँमें गिरा दिये गये, उस समय ऋषियोंने मुझसे इस प्रकार प्रार्थना की—'पृश्निगर्भ ! आप एकत और द्वितके गिराये हुए त्रितको डूबनेसे बचाइये ।' उस समय मेरे पृश्निगर्भ नामका बारंबार कीर्तन करनेसे ब्रह्माजीके आदिपुत्र ऋषिप्रवर त्रित उस कुएँसे बाहर हो गये । जगत्‌को तपानेवाले सूर्यकी तथा अग्नि और चन्द्रमाकी जो किरणें प्रकाशित होती हैं, वे सब मेरा 'केश' कहलाती हैं । उस केशसे युक्त होनेके कारण सर्वज्ञ द्विजश्रेष्ठ मुझे 'केशव'

कहते हैं। अर्जुन! इस प्रकार मेरा 'केशव' नाम सम्पूण देवताओं और महात्मा ऋषियोंके लिये वरदायक है। अग्नि सोमके साथ संयुक्त हो एक योनिको प्राप्त हुए, इसलिये सम्पूर्ण चराचर जगत् अग्नि-सोममय है। पुराणमें यह कहा गया है कि अग्नि और सोम एकयोनि हैं तथा सम्पूर्ण देवताओंके मुख अग्नि हैं। एकयोनि होनेके कारण ये एक-दूसरेको आनन्द प्रदान करते और समस्त लोकोंको धारण करते हैं।

श्रीकृष्णद्वारा भगवान् शिवकी महिमाका वर्णन

एक समय मुनियोंद्वारा वर्णित महादेवजीके अद्भुत चरित्र सुनकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको बड़ा विस्मय हुआ। फिर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णने धर्मनिधि युधिष्ठिरसे उसी प्रकार कहा जैसे श्रीविष्णु देवराज इन्द्रसे कोई बात कहा करते हैं।

उपमन्युके द्वारा की हुई भगवान् शिवकी महिमाका श्रीकृष्णके द्वारा वर्णन

वासुदेव उवाच

उपमन्युर्मयि प्राह तपन्निव दिवाकरः ॥
अशुभैः पापकर्माणो ये नराः कलुषीकृताः।
ईशानं न प्रपद्यन्ते तमोराजसवृत्तयः ॥
ईश्वरं सम्प्रपद्यन्ते द्विजा भावितभावनाः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि यो भक्तः परमेश्वरे ॥
सदृशोऽरण्यवासीनां मुनीनां भावितात्मनाम्।
ब्रह्मत्वं केशवत्वं वा शक्रत्वं वा सुरैः सह ॥
त्रैलोक्यस्याधिपत्यं वा तुष्टो रुद्रः प्रयच्छति।
मनसाऽपि शिवं तात ये प्रपद्यन्ति मानवाः ॥
विधूय सर्वपापानि देवैः सह वसन्ति ते।
भित्त्वा भित्त्वा च कूलानि हुत्वा सर्वमिदं जगत् ॥
यजेद् देवं विरूपाक्षं न स पापेन लिप्यते।
सर्वलक्षणहीनोऽपि युक्तो वा सर्वपातकैः ॥
सर्वं तुदति तत्पापं भावयञ्छिवमात्मना।
कीटपक्षिपतङ्गानां तिरश्चामपि केशव ॥
महादेवप्रपन्नानां न भयं विद्यते क्वचित्।
एवमेव महादेवं भक्ता ये मानवा भुवि ॥
न ते संसारवशगा इति मे निश्चिता मतिः।
ततः कृष्णोऽब्रवीद् वाक्यं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥

(महाभारत अनुशासन० दान० १८। ६१—७०)

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—राजन्! सूर्यके समान तपते हुए-से तेजस्वी उपमन्युने मेरे समीप कहा था कि 'जो पापकर्मी मनुष्य अपने अशुभ आचरणोंसे कलुषित हो गये हैं, वे तमोगुणी या रजोगुणी वृत्तिके लोग भगवान् शिवकी शरण नहीं लेते। जिनका अन्तःकरण पवित्र है, वे ही द्विज महादेवजीकी शरण लेते हैं। जो परमेश्वर शिवका भक्त है, वह सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी पवित्र अन्तःकरणवाले वनवासी मुनियोंके समान है। भगवान् रुद्र संतुष्ट हो जायँ तो वे ब्रह्मपद, विष्णुपद, देवताओंसहित देवेन्द्रपद अथवा तीनों लोकोंका आधिपत्य भी प्रदान कर सकते हैं। तात! जो मनुष्य मनसे भी भगवान् शिवकी शरण लेते हैं, वे सब पापोंका नाश करके देवताओंके साथ निवास करते हैं। बारंबार तालाबके तटभूमिको खोद-खोदकर उन्हें चौपट कर देनेवाला और इस सारे जगत्को जलती आगमें झोंक देनेवाला पुरुष भी यदि महादेवजीकी आराधना करता है, तो वह पापसे लिप्त नहीं होता। समस्त लक्षणोंसे हीन अथवा सब पापोंसे युक्त मनुष्य भी यदि अपने हृदयसे भगवान् शिवका ध्यान करता है, तो वह अपने सारे पापोंको नष्ट कर देता है। केशव! कीट, पतंग, पक्षी तथा पशु भी यदि महादेवजीकी शरणमें आ जायँ तो उन्हें भी कहीं किसीका भय नहीं प्राप्त होता।

इसी प्रकार इस भूतलपर जो मानव महादेवजीके भक्त हैं, वे संसारके अधीन नहीं होते—यह मेरा निश्चित विचार है।' तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं भी धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा—

स्वयं श्रीकृष्णके द्वारा भगवान् शिवकी महिमाका कथन

श्रीभगवानुवाच

आदित्यचन्द्रावनिलानलौ च
द्यौर्भूमिरापो वसवोऽथ विश्वे।
धातार्यमा शुक्रबृहस्पती च
रुद्राः ससाध्या वरुणोऽथ गोपः॥
ब्रह्मा शक्रो मारुतो ब्रह्म सत्यं
वेदा यज्ञा दक्षिणा वेदवाहाः।
सोमो यष्टा यच्च हव्यं हविश्च
रक्षा दीक्षा संयमा ये च केचित्॥
स्वाहा वौषट् ब्राह्मणाः सौरभेयी
धर्मं चाग्र्यं कालचक्रं बलं च।
यशो दमो बुद्धिमतां स्थितिश्च
शुभाशुभं ये मुनयश्च सप्त॥
अग्र्या बुद्धिर्मनसा दर्शने च
स्पर्शश्चाग्र्यः कर्मणां या च सिद्धिः।
गणा देवानामूष्मपाः सोमपाश्च
लेखाः सुयामास्तुषिता ब्रह्मकायाः॥
आभासुरा गन्धपा धूमपाश्च
वाचा विरुद्धाश्च मनोविरुद्धाः।
शुद्धाश्च निर्माणरताश्च देवाः
स्पर्शाशना दर्शपा आज्यपाश्च॥
चिन्त्यद्योता ये च देवेषु मुख्या
ये चाप्यन्ये देवताश्चाजमीढ।
सुपर्णगन्धर्वपिशाचदानवा
यक्षास्तथा चारणपन्नगाश्च॥
स्थूलं सूक्ष्मं मृदु चाप्यसूक्ष्मं
दुःखं सुखं दुःखमनन्तरं च।
सांख्यं योगं तत्पराणां परं च
शर्वाज्जातं विद्धि यत् कीर्तितं मे॥

(महाभारत अनुशासन० दान० १८। ७१—७७)

श्रीकृष्ण बोले—अजमीढवंशी धर्मराज! जो सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, स्वर्ग, भूमि, जल, वसु, विश्वेदेव, धाता, अर्यमा, शुक्र, बृहस्पति, रुद्रगण, साध्यगण, राजा वरुण, ब्रह्मा, इन्द्र, वायुदेव, ॐकार, सत्य, वेद, यज्ञ, दक्षिणा, वेदपाठी ब्राह्मण, सोमरस, यजमान, हवनीय हविष्य, रक्षा, दीक्षा, सब प्रकारके संयम, स्वाहा, वौषट्, ब्राह्मणगण, गौ, श्रेष्ठ धर्म, कालचक्र, बल, यश, दम, बुद्धिमानोंकी स्थिति, शुभाशुभ कर्म, सप्तर्षि, श्रेष्ठ बुद्धि, मन, दर्शन, श्रेष्ठ स्पर्श, कर्मोंकी सिद्धि, ऊष्मप, सोमप, लेख, याम तथा तुषित आदि देवगण, ब्राह्मण-शरीर, दीप्तिशाली गन्धप, धूमप ऋषि, वाग्विरुद्ध और मनोविरुद्ध भाव, शुद्धभाव, निर्माण-कार्यमें तत्पर रहनेवाले देवता, स्पर्शमात्रसे भोजन करनेवाले, दर्शनमात्रसे पेय रसका पान करनेवाले तथा घृत पीनेवाले हैं; जिनके संकल्प करनेमात्रसे अभीष्ट वस्तु नेत्रोंके समक्ष प्रकाशित होने लगती है, ऐसे जो देवताओंमें मुख्य गण हैं, जो दूसरे-दूसरे देवता हैं; जो सुपर्ण, गन्धर्व, पिशाच, दानव, यक्ष, चारण तथा नाग हैं, जो स्थूल, सूक्ष्म, कोमल, असूक्ष्म, सुख, इस लोकके दुःख, परलोकके दुःख, सांख्य, योग एवं पुरुषार्थोंमें श्रेष्ठ मोक्षरूप परम पुरुषार्थ बताया गया है; इन सबको तुम महादेवजीसे ही उत्पन्न हुआ समझो।

तत्सम्भूता भूतकृतो वरेण्याः
सर्वे देवा भुवनस्यास्य गोपाः।
आविश्येमां धरणीं येऽभ्यरक्षन्
पुरातनीं तस्य देवस्य सृष्टिम्॥

विचिन्वन्तस्तपसा तत्स्थवीयः
किंचित् तत्त्वं प्राणहेतोर्नतोऽस्मि ।
ददातु देवः स वरानिहेष्टा-
नभिष्टुतो नः प्रभुरव्ययः सदा ॥
इमं स्तवं संनियतेन्द्रियश्च
भूत्वा शुचिर्यः पुरुषः पठेत ।
अभग्नयोगो नियतो मासमेकं
सम्प्राप्नुयादश्वमेधे फलं यत् ॥
वेदान् कृत्स्नान् ब्राह्मणः प्राप्नुयात् तु
जयेन्नृपः पार्थ महीं च कृत्स्नाम् ।
वैश्यो लाभं प्राप्नुयान्नैपुणं च
शूद्रो गतिं प्रेत्य तथा सुखं च ॥
स्तवराजमिमं कृत्वा रुद्राय दधिरे मनः ।
सर्वदोषापहं पुण्यं पवित्रं च यशस्विनः ॥
यावन्त्यस्य शरीरेषु रोमकूपाणि भारत ।
तावन्त्यब्दसहस्राणि स्वर्गे वसति मानवः ॥

(महाभारत अनुशासन० दान० १८ । ७८—८३)

जो इस भूतलमें प्रवेश करके महादेवजीकी पूर्वकृत सृष्टिकी रक्षा करते हैं, जो समस्त जगत्के रक्षक, विभिन्न प्राणियोंकी सृष्टि करनेवाले और श्रेष्ठ हैं, वे सम्पूर्ण देवता भगवान् शिवसे ही प्रकट हुए हैं । ऋषि-मुनि तपस्याद्वारा जिसका अन्वेषण करते हैं, उस सदा स्थिर रहनेवाले अनिर्वचनीय परम सूक्ष्म तत्त्वस्वरूप सदाशिवको मैं जीवन-रक्षाके लिये नमस्कार करता हूँ । जिन अविनाशी प्रभुकी मेरेद्वारा सदा ही स्तुति की गयी है, वे महादेव यहाँ मुझे अभीष्ट वरदान दें । जो पुरुष इन्द्रियोंको वशमें करके पवित्र होकर इस स्तोत्रका पाठ करेगा और नियमपूर्वक एक मासतक अखण्डरूपसे इस पाठको चलाता रहेगा, वह अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त कर लेगा । कुन्तीनन्दन ! ब्राह्मण इसके पाठसे सम्पूर्ण वेदोंके स्वाध्यायका फल पाता है । क्षत्रिय समस्त पृथ्वीपर विजय प्राप्त कर लेता है । वैश्य व्यापारकुशलता एवं महान् लाभका भागी होता है और शूद्र इहलोकमें सुख तथा परलोकमें सद्गति पाता है । जो लोग सम्पूर्ण दोषोंका नाश करनेवाले इस पुण्यजनक पवित्र स्तवराजका पाठ करके भगवान् रुद्रके चिन्तनमें मन लगाते हैं, वे यशस्वी होते हैं । भरतनन्दन ! मनुष्यके शरीरमें जितने रोमकूप होते हैं, इस स्तोत्रका पाठ करनेवाला मनुष्य उतने ही हजार वर्षोंतक स्वर्गमें निवास करता है ।

ऋषियोंके पूछनेपर श्रीकृष्णका उन्हें अपने मुखसे प्रकट हुए तेजका रहस्य बताना

एक समयकी बात है, धर्मात्मा भगवान् श्रीकृष्ण बारह वर्षोंमें समाप्त होनेवाले व्रतकी दीक्षा लेकर (एक पर्वतके ऊपर) कठोर तपस्या कर रहे थे । उस समय उनका दर्शन करनेके लिये नारद और पर्वत—ये दोनों ऋषि वहाँ पधारे । इनके सिवा श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास, जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ धौम्य, देवल, काश्यप, हस्तिकाश्यप तथा अन्य साधु-महर्षि जो दीक्षा और इन्द्रियसंयमसे सम्पन्न थे, अपने देवोपम, तपस्वी एवं सिद्ध शिष्योंके साथ वहाँ आये । देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने बड़ी प्रसन्नताके साथ देवोचित उपचारोंसे उन महर्षियोंका अपने कुलके अनुरूप आतिथ्य-सत्कार किया । तत्पश्चात् व्रतचर्यारूपी ईंधनसे प्रज्वलित हुआ भगवान् नारायणका तेज अद्भुतकर्मा श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे निकलकर अग्निरूपमें प्रकट हो वृक्ष, लता, झाड़ी, पक्षी, मृगसमुदाय, हिंसक जन्तु तथा सर्पोंसहित उस पर्वतको जलाने लगा । बड़ी-बड़ी लपटोंवाली उस आगने समस्त पर्वतशिखरको दग्ध करके भगवान्

विष्णु (श्रीकृष्ण) के समीप आकर जैसे शिष्य गुरुके चरण छूता है, उसी प्रकार उनके दोनों चरणोंका स्पर्श किया और उन्हींमें वह विलीन हो गयी। तदनन्तर शत्रुसूदन श्रीकृष्णने उस पर्वतको दग्ध हुआ देखकर अपनी सौम्य दृष्टि डाली और उसे पुनः प्रकृतावस्थामें पहुँचा दिया—पहलेकी भाँति हरा-भरा कर दिया। वह पर्वत फिर पहलेकी ही भाँति खिली हुई लताओं और वृक्षोंसे सुशोभित होने लगा। वहाँ पक्षी चहचहाने लगे। वहाँ हिंसक पशु और सर्प आदि जीव-जन्तु जी उठे। इस अद्भुत और अचिन्त्य घटनाको देखकर ऋषियोंका समुदाय विस्मित और रोमाञ्चित हो उठा। उन सबके नेत्रोंमें आनन्दके आँसू भर आये। उन्होंने कहा—'मधुसूदन! आपके मुखसे अग्निका प्रादुर्भाव हमारे लिये इस प्रकार विस्मयजनक हुआ है। हम संशयमें पड़ गये हैं। कल्याणमय श्रीकृष्ण! आप ही इसका कारण बताकर हमारे संदेह और विस्मयका निवारण कर सकते हैं।'

वासुदेव उवाच

एतद् वै वैष्णवं तेजो मम वक्त्राद् विनिःसृतम्।
कृष्णवर्त्मा युगान्ताभो येनायं मथितो गिरिः॥
ऋषयश्चार्तिमापन्ना जितक्रोधा जितेन्द्रियाः।
भवन्तो व्यथिताश्चासन् देवकल्पास्तपोधनाः॥
व्रतचर्यापरीतस्य तपस्विव्रतसेवया।
मम वह्निः समुद्भूतो न वै व्यथितुमर्हथ॥
व्रतं चर्तुमिहायातस्त्वहं गिरिमिमं शुभम्।
पुत्रं चात्मसमं वीर्ये तपसा लब्धुमागतः॥
ततो ममात्मा यो देहे सोऽग्निर्भूत्वा विनिःसृतः।
गतश्च वरदं द्रष्टुं सर्वलोकपितामहम्॥
तेन चात्मानुशिष्टो मे पुत्रत्वे मुनिसत्तमाः।
तेजसोऽर्धेन पुत्रस्ते भवितेति वृषध्वजः॥

(महाभारत अनुशासन० दान० १३९। ३०-३५)

श्रीकृष्ण बोले—मुनिवरो! मेरे मुखसे यह मेरा वैष्णव तेज प्रकट हुआ था; जिसने प्रलयकालकी अग्निके समान रूप धारण करके इस पर्वतको दग्ध कर डाला था। उसी तेजसे आप-जैसे तपस्याके धनी, देवोपम शक्तिशाली, क्रोधविजयी और जितेन्द्रिय ऋषि भी पीड़ित और व्यथित हो गये थे। मैं व्रतचर्यामें लगा हुआ था, तपस्वी जनोंके उस व्रतका सेवन करनेसे मेरा तेज ही अग्निरूपमें प्रकट हुआ था। अतः आपलोग उससे व्यथित न हों। मैं तपस्याद्वारा अपने ही समान वीर्यवान् पुत्र पानेकी इच्छासे व्रत करनेके लिये इस मङ्गलकारी पर्वतपर आया हूँ। मेरे शरीरमें स्थित प्राण ही अग्निके रूपमें बाहर निकलकर सबको वर देनेवाले सर्वलोक-पितामह ब्रह्माजीका दर्शन करनेके लिये उनके लोकमें गया था। मुनिवरो! उन ब्रह्माजीने मेरे प्राणको यह संदेश देकर भेजा है कि 'साक्षात् भगवान् शंकर अपने तेजके आधे भागसे आपके पुत्र होंगे।'

सोऽयं वह्निरुपागम्य पादमूले ममान्तिकम्।
शिष्यवत् परिचर्यार्थं शान्तः प्रकृतिमागतः॥
एतदेव रहस्यं वः पद्मनाभस्य धीमतः।
मया प्रोक्तं समासेन न भीः कार्या तपोधनाः॥
सर्वत्र गतिरव्यग्रा भवतां दीर्घदर्शनात्।
तपस्विव्रतसंदीप्ता ज्ञानविज्ञानशोभिताः॥
यच्छ्रुतं यच्च वो दृष्टं दिवि वा यदि वा भुवि।
आश्चर्यं परमं किंचित् तद् भवन्तो ब्रुवन्तु मे॥

(महाभारत अनुशासन० दान० १३९। ३६-३९)

वही यह अग्निरूपी प्राण मेरे पास लौटकर आया है और निकट पहुँचनेपर शिष्यकी भाँति परिचर्या करनेके

लिये उसने मेरे चरणोंमें प्रणाम किया है। इसके बाद शान्त होकर वह अपनी पूर्वावस्थाको प्राप्त हो गया है। तपोधनो! यह मैंने आपलोगोंके निकट बुद्धिमान् भगवान् विष्णुका गुप्त रहस्य संक्षेपसे बताया है। आपलोगोंको भय नहीं मानना चाहिये। आपलोगोंकी गति सर्वत्र है, उसका कहीं भी प्रतिरोध नहीं है; क्योंकि आपलोग दूरदर्शी हैं। तपस्वी जनोंके योग्य व्रतका आचरण करनेसे आपलोग देदीप्यमान हो रहे हैं तथा ज्ञान और विज्ञान आपकी शोभा बढ़ा रहे हैं। इसलिये मेरी प्रार्थना है कि यदि आपलोगोंने इस पृथ्वीपर या स्वर्गमें कोई महान् आश्चर्यकी बात देखी या सुनी हो तो उसको मुझे बतलाइये।

तस्यामृतनिकाशस्य वाङ्मधोरस्ति मे स्पृहा।
भवद्भिः कथितस्येह तपोवननिवासिभिः॥
यद्यप्यहमदृष्टं वो दिव्यमद्भुतदर्शनम्।
दिवि वा भुवि वा किंचित् पश्याम्यमरदर्शनाः॥
प्रकृतिः सा मम परा न क्वचित् प्रतिहन्यते।
न चात्मगतमैश्वर्यमाश्चर्यं प्रतिभाति मे॥
श्रद्धेयः कथितो ह्यर्थः सज्जनश्रवणं गतः।
चिरं तिष्ठति मेदिन्यां शैले लेख्यामिवार्पितम्॥
तदहं सज्जनमुखान्निःसृतं तत्समागमे।
कथयिष्याम्यहमहो बुद्धिदीपकरं नृणाम्॥

(महाभारत अनुशासन० दान० १३९। ४०—४४)

आपलोग तपोवनमें निवास करनेवाले हैं। इस जगत्में आपके द्वारा कथित अमृतके समान मधुर वचन सुननेकी इच्छा मुझे सदा बनी रहती है। महर्षियो! आपका दर्शन देवताओंके समान दिव्य है। यद्यपि द्युलोक अथवा पृथिवीमें जो दिव्य एवं अद्भुत दिखायी देनेवाली वस्तु है, जिसे आपलोगोंने भी नहीं देखा है, वह सब मैं प्रत्यक्ष देखता हूँ। सर्वज्ञता मेरा उत्तम स्वभाव है। वह कहीं भी प्रतिहत नहीं होता तथा मुझमें जो ऐश्वर्य है, वह मुझे आश्चर्यरूप नहीं जान पड़ता तथापि सत्पुरुषोंके कानोंमें पड़ा हुआ कथित विषय विश्वासके योग्य होता है और वह पत्थरपर खिंची हुई लकीरकी भाँति इस पृथ्वीपर बहुत दिनोंतक स्थित रहता है। अतः मैं आप साधु-संतोंके मुखसे निकले हुए वचनको मनुष्योंकी बुद्धिका उद्दीपक (प्रकाशक) मानकर उसे सत्पुरुषोंके समाजमें कहूँगा।

यह सुनकर भगवान् श्रीकृष्णके समीप बैठे हुए सभी ऋषियोंको बड़ा विस्मय हुआ। वे कमलदलके समान खिले हुए नेत्रोंसे उनकी ओर देखने लगे।

भीष्मको देहत्यागकी अनुमति देना

अट्ठावन दिनोंतक बाणशय्यापर शयन करनेके पश्चात् भीष्मजीने देह त्याग करनेका विचार किया। उस समय सभी भरतवंशी उनकी सेवामें उपस्थित थे। भीष्मने धृतराष्ट्रसे पाण्डवोंपर पुत्रोचित स्नेह रखकर अपने पुत्रशोकको भुला देनेके लिये कहा। फिर भगवान् श्रीकृष्णसे बोले—'श्रीकृष्ण! अब आप आज्ञा दीजिये। मैं इस शरीरका परित्याग करूँगा। आपकी आज्ञा मिलनेपर मुझे परम गतिकी प्राप्ति होगी।' तब भगवान् श्रीकृष्णने कहा—

भीष्मकी पितृभक्ति

अनुजानामि भीष्म त्वां वसून् प्राप्नुहि पार्थिव।
न तेऽस्ति वृजिनं किंचिदिहलोके महाद्युते॥
पितृभक्तोऽसि राजर्षे मार्कण्डेय इवापरः।
तेन मृत्युस्तव वशे स्थितो भृत्य इवानतः॥

(महाभारत अनुशासन० दान० १६७। ४६-४७)

पृथ्वीपालक महातेजस्वी भीष्मजी! मैं आपको (सहर्ष) आज्ञा देता हूँ। आप वसुलोकको जाइये। इस लोकमें आपके द्वारा अणुमात्र भी पाप नहीं हुआ है। राजर्षे! आप मार्कण्डेयके समान पितृभक्त हैं; इसलिये मृत्यु विनीत दासीके समान आपके वशमें हो गयी है।

पुत्रशोकसे व्याकुल गङ्गाजीको आश्वासन देना

भीष्मजीका दाहसंस्कार करनेके पश्चात् पाण्डव उन्हें गङ्गाजीके जलमें उतरकर जलाञ्जलि देने लगे। इसी समय गङ्गाजीने दिव्य रूपसे प्रकट होकर भीष्मजीके लिये करुण विलाप किया और कहा—'हाय ! इस पृथ्वीपर बलमें जिसकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है, उसीको शिखण्डीके हाथसे मारा गया सुनकर आज मेरी छाती क्यों नहीं फट जाती!' उस समय भगवान् श्रीकृष्णने महानदी गङ्गाजीको आश्वासन देते हुए कहा—

वसुस्वरूपको प्राप्त महान् वीर भीष्मके लिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये

समाश्वसिहि भद्रे त्वं मा शुचः शुभदर्शने ॥
गतः स परमं लोकं तव पुत्रो न संशयः ।
वसुरेष महातेजाः शापदोषेण शोभने ॥
मानुषत्वमनुप्राप्तो नैनं शोचितुमर्हसि ।
स एष क्षत्रधर्मेण अयुध्यत रणाजिरे ॥
धनंजयेन निहतो नैष देवि शिखण्डिना ।
भीष्मं हि कुरुशार्दूलमुद्यतेषुं महारणे ॥
न शक्तः संयुगे हन्तुं साक्षादपि शतक्रतुः ।
स्वच्छन्दतस्तव सुतो गतः स्वर्गं शुभानने ॥
न शक्ता विनिहन्तुं हि रणे तं सर्वदेवताः ।
तस्मान्मा त्वं सरिच्छ्रेष्ठे शोचस्व कुरुनन्दनम् ॥
वसूनेष गतो देवि पुत्रस्ते विज्वरा भव ।

(महाभारत अनुशासन० दान० १६८ । ३०—३५½)

भद्रे ! धैर्य धारण करो । शुभदर्शने ! शोक न करो। तुम्हारे पुत्र भीष्म अत्यन्त उत्तम लोकमें गये हैं, इसमें संशय नहीं है। शोभने ! ये महातेजस्वी वसु थे, वशिष्ठजीके शाप-दोषसे इन्हें मनुष्ययोनिमें आना पड़ा था। अतः इनके लिये शोक नहीं करना चाहिये।

देवि ! इन्होंने समराङ्गणमें क्षत्रियधर्मके अनुसार युद्ध किया था। ये अर्जुनके हाथसे मारे गये हैं, शिखण्डीके हाथसे नहीं। शुभानने ! तुम्हारे पुत्र कुरुश्रेष्ठ भीष्म जब हाथमें धनुष-बाण लिये रहते, उस समय साक्षात् इन्द्र भी उन्हें युद्धमें मार नहीं सकते थे। ये तो अपनी इच्छासे ही शरीर त्यागकर स्वर्गलोकमें गये हैं। सरिताओंमें श्रेष्ठ देवि ! सम्पूर्ण देवता मिलकर भी युद्धमें उन्हें मारनेकी शक्ति नहीं रखते थे। इसलिये तुम कुरुनन्दन भीष्मजीके लिये शोक मत करो। ये तुम्हारे पुत्र भीष्म वसुओंके स्वरूपको प्राप्त हुए हैं। अतः इनके लिये चिन्तारहित हो जाओ।

भगवान् श्रीकृष्णके इस प्रकार समझानेपर नदियोंमें श्रेष्ठ गङ्गाजी शोक त्यागकर अपने जलमें उतर गयीं।

शोकमग्न युधिष्ठिरको सान्त्वना देना

युद्धमें मारे गये स्वजनोंका स्मरण करके युधिष्ठिर शोकमें डूब गये। वे विलाप करने लगे और राज्य छोड़कर वनमें जानेको उद्यत हो गये। धृतराष्ट्रने उन्हें समझाते हुए कहा—'नरेश्वर ! हम दोनों बूढ़े माता-पिता दुःखसे व्याकुल हैं; हमारी ओर देखो। हमें देखते हुए तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये।' धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर युधिष्ठिर चुप हो गये। तब भगवान् श्रीकृष्णने कहा—

मरे हुए प्राणियोंके लिये शोक करनेपर उनको बड़ा संताप होता है

अतीव मनसा शोकः क्रियमाणो जनाधिप ।
संतापयति चैतस्य पूर्वप्रेतान् पितामहान् ॥
यजस्व विविधैर्यज्ञैर्बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः ।
देवांस्तर्पय सोमेन स्वधया च पितॄनपि ॥
अतिथीनन्नपानेन कामैरन्यैरकिंचनान् ।
विदितं वेदितव्यं ते कर्तव्यमपि ते कृतम् ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० २ । २—४)

जनेश्वर ! यदि मनुष्य मरे हुए प्राणीके लिये अपने मनमें अधिक शोक करता है, तो उसका वह शोक उसके पहलेके मरे हुए पितामहोंको भारी संतापमें डाल देता है। इसलिये आप बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान कीजिये और सोमरसके द्वारा देवताओं तथा स्वधाद्वारा पितरोंको तृप्त कीजिये। अतिथियोंको अन्न और जल देकर तथा अकिंचन मनुष्योंको दूसरी-दूसरी मनचाही वस्तुएँ देकर संतुष्ट कीजिये। आपने जाननेयोग्य तत्त्वको जान लिया है, करने योग्य कार्यको भी पूर्ण कर लिया है।

पूर्वज शूरवीरोंका अनुसरण करके राजकार्य सँभालिये

श्रुताश्च राजधर्मास्ते भीष्माद् भागीरथीसुतात् ।
कृष्णद्वैपायनाच्चैव नारदाद् विदुरात् तथा ॥
नेमामर्हसि मूढानां वृत्तिं त्वमनुवर्तितुम् ।
पितृपैतामहं वृत्तमास्थाय धुरमुद्वह ॥
युक्तं हि यशसा क्षात्रं स्वर्गं प्राप्तुमसंशयम् ।
न हि कश्चिद्धि शूराणां निहतोऽत्र पराङ्मुखः ॥
त्यज शोकं महाराज भवितव्यं हि तत्तथा ।
न शक्यास्ते पुनर्द्रष्टुं त्वया येऽस्मिन् रणे हताः ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० २ । ५—८)

आपने गङ्गानन्दन भीष्मसे राजधर्मोंका वर्णन सुना हैं, श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास, देवर्षि नारद और विदुरजीसे कर्तव्यका उपदेश श्रवण किया है। अतः आपको मूढ़ पुरुषोंके इस बर्तावका अनुसरण नहीं करना चाहिये। पिता-पितामहोंके बर्तावका आश्रय लेकर राजकार्यका भार सँभालिये। इस युद्धमें वीरोचित सुयशसे युक्त हुआ सारा क्षत्रियसमुदाय स्वर्गलोक पानेका अधिकारी है; क्योंकि इन शूरवीरोंमेंसे कोई भी युद्धमें पीठ दिखाकर नहीं मारा गया है। महाराज! शोक त्याग दीजिये; क्योंकि जो कुछ हुआ है, वैसी ही होनहार थी। इस युद्धमें जो लोग मारे गये हैं, उन्हें आप फिर नहीं देख सकते।

श्रीकृष्णका प्रद्युम्नको ब्राह्मणोंकी महिमा बताते हुए दुर्वासाके चरित्रका वर्णन करना और यह सारा प्रसंग युधिष्ठिरको सुनाना

एक समय युधिष्ठिरने पूछा—मधुसूदन ! ब्राह्मणकी पूजा करनेसे क्या फल मिलता है ? इसका आप ही वर्णन कीजिये; क्योंकि आप इस विषयको अच्छी तरह जानते हैं और मेरे पितामह भी आपको इस विषयका ज्ञाता मानते हैं।

वासुदेव उवाच

शृणुष्वावहितो राजन् द्विजानां भरतर्षभ ।
यथा तत्त्वेन वदतो गुणान् वै कुरुसत्तम ॥

(महाभारत अनुशासन० दान० १५९ । २)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—कुरुकुलतिलक ! भरत-भूषण नरेश ! मैं ब्राह्मणोंके गुणोंका यथार्थरूपसे वर्णन करता हूँ, आप ध्यान देकर सुनिये ।

ब्राह्मण-महिमाके सम्बन्धमें प्रद्युम्नका प्रश्न

द्वारवत्यां समासीनं पुरा मां कुरुनन्दन ।
प्रद्युम्नः परिपप्रच्छ ब्राह्मणैः परिकोपितः ॥
किं फलं ब्राह्मणेष्वस्ति पूजायां मधुसूदन ।
ईश्वरत्वं कुतस्तेषामिहैव च परत्र च ॥
सदा द्विजातीन् सम्पूज्य किं फलं तत्र मानद ।
एतद् ब्रूहि स्फुटं सर्वं सुमहान् संशयोऽत्र मे ॥

(महाभारत अनुशासन० दान० १५९ । ३—५)

कुरुनन्दन ! पहलेकी बात है, एक दिन ब्राह्मणोंने मेरे पुत्र प्रद्युम्नको कुपित कर दिया । उस समय मैं द्वारकामें ही था । प्रद्युम्नने मुझसे आकर पूछा—

'मधुसूदन ! ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे क्या फल होता है ? इहलोक और परलोकमें वे क्यों ईश्वरतुल्य माने जाते हैं ? मानद ! सदा ब्राह्मणोंकी पूजा करके मनुष्य क्या फल पाता है ? यह सब मुझे स्पष्टरूपसे बताइये; क्योंकि इस विषयमें मुझे महान् संदेह है ।'

ब्राह्मण-महिमा

इत्युक्ते वचने तस्मिन् प्रद्युम्नेन तथा त्वहम् ।
प्रत्यब्रुवं महाराज यत् तच्छृणु समाहितः ॥
व्युष्टिं ब्राह्मणपूजायां रौक्मिणेय निबोध मे ।
एते हि सोमराजान ईश्वराः सुखदुःखयोः ॥
अस्मिँल्लोके रौक्मिणेय तथामुष्मिंश्च पुत्रक ।
ब्राह्मणप्रमुखं सौम्यं न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥
ब्राह्मणप्रतिपूजायामायुः कीर्तिर्यशो बलम् ।
लोका लोकेश्वराश्चैव सर्वे ब्राह्मणपूजकाः ॥
त्रिवर्गे चापवर्गे च यशःश्रीरोगशान्तिषु ।
देवतापितृपूजासु संतोष्याश्चैव नो द्विजाः ॥
तत्कथं वै नाद्रियेयमीश्वरोऽस्मीति पुत्रक ।
मा ते मन्युर्महाबाहो भवत्वत्र द्विजान् प्रति ॥
ब्राह्मणा हि महद्भूतमस्मिँल्लोके परत्र च ।
भस्म कुर्युर्जगदिदं क्रुद्धाः प्रत्यक्षदर्शिनः ॥
अन्यानपि सृजेयुश्च लोकाँल्लोकेश्वरांस्तथा ।
कथं तेषु न वर्तेरन् सम्यग् ज्ञानात् सुतेजसः ॥

(महाभारत अनुशासन० दान० १५९ । ६—१३)

महाराज ! प्रद्युम्नके ऐसा कहनेपर मैंने उसको जो उत्तर दिया था, उसे ध्यान देकर सुनिये । रुक्मिणीनन्दन ! ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे क्या फल मिलता है, यह मैं बता रहा हूँ, तुम उसे सुनो । बेटा ! ब्राह्मणोंके राजा सोम (चन्द्रमा) हैं । अतः ये इस लोक और परलोकमें भी सुख-दुःख देनेमें समर्थ होते हैं । ब्राह्मणोंमें शान्तभावकी प्रधानता होती है । इस विषयमें मुझे कोई विचार नहीं करना है । ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे आयु, कीर्ति, यश और बलकी प्राप्ति होती है । समस्त लोक और लोकेश्वर ब्राह्मणोंके पूजक हैं । धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धिके लिये, मोक्षकी प्राप्तिके लिये और यश, लक्ष्मी तथा आरोग्यकी उपलब्धिके लिये एवं देवता और पितरोंकी पूजाके समय हमें ब्राह्मणोंको पूर्ण संतुष्ट करना चाहिये । बेटा ! ऐसी दशामें मैं ब्राह्मणोंका आदर कैसे नहीं करूँ ? महाबाहो ! मैं ईश्वर (सब कुछ करनेमें समर्थ) हूँ—ऐसा मानकर तुम्हें ब्राह्मणोंके प्रति क्रोध नहीं करना चाहिये । ब्राह्मण इस लोक और परलोकमें भी महान् माने गये हैं । वे सब कुछ प्रत्यक्ष देखते हैं और यदि क्रोधमें भर जायँ तो इस जगत्को भस्म कर सकते हैं । दूसरे-दूसरे लोक और लोकपालोंकी वे सृष्टि कर सकते हैं । अतः तेजस्वी पुरुष ब्राह्मणोंके महत्त्वको अच्छी तरह जानकर भी उनके साथ सद्बर्ताव क्यों न करेंगे ?

दुर्वासाका यथेच्छाचार

अवसन्मद्गृहे तात ब्राह्मणो हरिपिङ्गलः ।
चीरवासा बिल्वदण्डी दीर्घश्मश्रुः कृशो महान् ॥

दीर्घेभ्यश्च मनुष्येभ्यः प्रमाणादधिको भुवि ।
स स्वैरं चरते लोकान् ये दिव्या ये च मानुषाः ॥
इमां गाथां गायमानश्चत्वरेषु सभासु च ।
दुर्वाससं वासयेत् को ब्राह्मणं सत्कृतं गृहे ॥
रोषणः सर्वभूतानां सूक्ष्मेऽप्यपकृते कृते ।
परिभाषां च मे श्रुत्वा को नु दद्यात् प्रतिश्रयम् ॥
यो मां कश्चिद् वासयीत न स मां कोपयेदिति ।
यस्मान्नाद्रियते कश्चित् ततोऽहं समवासयम् ॥
स सम्भुङ्क्ते सहस्राणां बहूनामन्नमेकदा ।
एकदा सोऽल्पकं भुङ्क्ते न चैवेति पुनर्गृहान् ॥
अकस्माच्च प्रहसति तथाकस्मात् प्ररोदिति ।
न चास्य वयसा तुल्यः पृथिव्यामभवत् तदा ॥
अथ स्वावसथं गत्वा स शय्यास्तरणानि च ।
कन्याश्चालंकृता दग्ध्वा ततो व्यपगतः पुनः ॥
अथ मामब्रवीद् भूयः स मुनिः संशितव्रतः ।
कृष्ण पायसमिच्छामि भोक्तुमित्येव सत्वरः ॥
(महाभारत अनुशासन० दान० १५९ । १४—२२)

तात ! पहलेकी बात है, मेरे घरमें एक हरित-पिङ्गल वर्णवाले ब्राह्मणने निवास किया था। वे चिथड़े पहिनते और बेलका डंडा हाथमें लिये रहते थे। उनकी मूँछें और दाढ़ें बढ़ी हुई थीं। वे देखनेमें दुबले-पतले और ऊँचे कदके थे। इस भूतलपर जो बड़े-से-बड़े मनुष्य हैं, उन सबसे वे अधिक लंबे थे और दिव्य तथा मानव लोकोंमें इच्छानुसार विचरण करते थे। वे ब्राह्मण देवता जिस समय यहाँ पधारे थे, उस समय धर्मशालाओंमें और चौराहोंपर यह गाथा गाते फिरते थे कि 'कौन मुझ दुर्वासा ब्राह्मणको अपने घरमें सत्कारपूर्वक ठहरायेगा। यदि मेरा थोड़ा-सा भी अपराध बन जाय, तो मैं समस्त प्राणियोंपर अत्यन्त कुपित हो उठता हूँ। मेरे इस भाषणको सुनकर कौन मेरे लिये ठहरनेका स्थान देगा ? जो कोई मुझे अपने घरमें ठहराये, वह मुझे क्रोध न दिलाये। इस बातके लिये उसे सतत सावधान रहना होगा।' बेटा ! जब कोई भी उनका आदर न कर सका, तब मैंने उन्हें अपने घरमें ठहराया। वे कभी तो एक ही समय इतना अन्न भोजन कर लेते थे, जितनेसे कई हजार मनुष्य तृप्त हो सकते थे और कभी बहुत थोड़ा अन्न खाते तथा घरसे निकल जाते थे। उस दिन फिर घरको नहीं लौटते थे। वे अकस्मात् जोर-जोरसे हँसने लगते और अचानक फूट-फूटकर रो पड़ते थे। उस समय इस पृथ्वीपर उनका समवयस्क कोई नहीं था। एक दिन अपने ठहरनेके स्थानपर जाकर वहाँ बिछी हुई शय्याओं, बिछौनों और वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हुई कन्याओंको उन्होंने जलाकर भस्म कर दिया और स्वयं वहाँसे खिसक गये। फिर तुरंत ही मेरे पास आकर वे कठोर व्रतका पालन करनेवाले मुनि मुझसे इस प्रकार बोले—'कृष्ण ! मैं शीघ्र ही खीर खाना चाहता हूँ'।

मेरे क्रोधकी परीक्षाके लिये रुक्मिणीपर अत्याचार

तदैव तु मया तस्य चित्तज्ञेन गृहे जनः ।
सर्वाण्यन्नानि पानानि भक्ष्याश्चोच्चावचास्तथा ॥
भवन्तु सत्कृतानीह पूर्वमेव प्रचोदितः ।
ततोऽहं ज्वलमानं वै पायसं प्रत्यवेदयम् ॥
तं भुक्त्वैव स तु क्षिप्रं ततो वचनमब्रवीत् ।
क्षिप्रमङ्गानि लिम्पस्व पायसेनेति स स्म ह ॥
अविमृश्यैव च ततः कृतवानस्मि तत् तथा ।
तेनोच्छिष्टेन गात्राणि शिरश्चैवाभ्यमृक्षयम् ॥
स ददर्श तदाभ्याशे मातरं ते शुभाननाम् ।
तामपि स्मयमानां स पायसेनाभ्यलेपयत् ॥
मुनिः पायसदिग्धाङ्गीं रथे तूर्णमयोजयत् ।
तमारुह्य रथं चैव निर्ययौ स गृहान्मम ॥
अग्निवर्णो ज्वलन् धीमान् स द्विजो रथधुर्यवत् ।
प्रतोदेनातुदद् बालां रुक्मिणीं मम पश्यतः ॥
न च मे स्तोकमप्यासीद् दुःखमीर्ष्याकृतं तदा ।
तथा स राजमार्गेण महता निर्ययौ बहिः ॥
(महाभारत अनुशासन० दान० १५९ । २३—३०)

मैं उनके मनकी बात जानता था, इसलिये घरके लोगोंको पहलेसे ही आज्ञा दे दी थी कि सब प्रकारके उत्तम, मध्यम अन्नपान और भक्ष्य-भोज्य पदार्थ आदर-पूर्वक तैयार किये जायँ। मेरे कथनानुसार सभी चीजें तैयार थीं ही, अतः मैंने मुनिको गरमागरम खीर निवेदन की। उसको थोड़ा-सा ही खाकर वे तुरंत मुझसे बोले—'कृष्ण! इस खीरको शीघ्र ही अपने सारे अङ्गोंमें पोत लो'। मैंने बिना विचारे ही उनकी इस आज्ञाका पालन किया। वही जूठी खीर मैंने अपने सिरपर तथा अन्य सारे अङ्गोंमें पोत ली। इतनेहीमें उन्होंने देखा कि तुम्हारी सुमुखी माता पास ही खड़ी-खड़ी मुसकरा रही हैं। मुनिकी आज्ञा पाकर मैंने मुसकराती हुई तुम्हारी माताके अङ्गोंमें भी खीर पोत दी। जिसके सारे अङ्गोंमें खीर लिपटी हुई थी, उस महारानी रुक्मिणीको मुनिने तुरंत रथमें जोत दिया और उसी रथपर बैठकर वे मेरे घरसे निकले। वे बुद्धिमान् ब्राह्मण दुर्वासा अपने तेजसे अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे। उन्होंने मेरे देखते-देखते जैसे रथके घोड़ोंपर कोड़े चलाये जाते हैं, उसी प्रकार भोली-भाली रुक्मिणीको भी चाबुकसे चोट पहुँचाना आरम्भ किया। उस समय मेरे मनमें थोड़ा-सा भी ईर्ष्याजनित दुःख नहीं हुआ। इसी अवस्थामें वे महलसे बाहर आकर विशाल राजमार्गसे चलने लगे।

मुझे क्रोध न आनेपर दुर्वासाका प्रसन्न होकर वरदान देना

तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं दाशार्हा जातमन्यवः।
तत्राजल्पन् मिथः केचिद् समाभाष्य परस्परम्॥
ब्राह्मणा एव जायेरन् नान्यो वर्णः कथंचन।
को ह्येनं रथमास्थाय जीवेदन्यः पुमानिह॥
आशीविषविषं तीक्ष्णं ततस्तीक्ष्णतरो द्विजः।
ब्रह्माशीविषदग्धस्य नास्ति कश्चिच्चिकित्सकः॥
तस्मिन् व्रजति दुर्धर्षे प्रास्खलद् रुक्मिणी पथि।
तन्नामर्षयत श्रीमांस्ततस्तूर्णमचोदयत्॥
ततः परमसंक्रुद्धो रथात् प्रस्कन्द्य स द्विजः।
पदातिरुत्पथेनैव प्राद्रवद् दक्षिणामुखः॥
तमुत्पथेन धावन्तमन्वधावं द्विजोत्तमम्।
तथैव पायसादिग्धः प्रसीद भगवन्निति॥

(महाभारत अनुशासन० दान० १५९। ३१-३६)

यह महान् आश्चर्यकी बात देखकर दशार्हवंशी यादवोंको बड़ा क्रोध हुआ। उनमेंसे कुछ लोग वहाँ आपसमें इस प्रकार बातें करने लगे—'भाइयो! इस संसारमें ब्राह्मण ही पैदा हों, दूसरा कोई वर्ण किसी तरह पैदा न हो। अन्यथा यहाँ इन बाबाजीके सिवा और कौन पुरुष इस रथपर बैठकर जीवित रह सकता था? कहते हैं—विषैले साँपोंका विष बड़ा तीखा होता है, परंतु ब्राह्मण उससे भी अधिक तीक्ष्ण होता है। जो ब्राह्मणरूपी विषधर सर्पसे जलाया गया हो, उसके लिये इस संसारमें कोई चिकित्सक नहीं है।' उन दुर्धर्ष दुर्वासाके इस प्रकार रथसे यात्रा करते समय बेचारी रुक्मिणी रास्तेमें लड़खड़ाकर गिर पड़ी; परंतु श्रीमान् दुर्वासा मुनि इस बातको सहन न कर सके। उन्होंने तुरंत उसे चाबुकसे हाँकना शुरू किया। जब वह बारंबार लड़खड़ाने लगी, तब वे और भी कुपित हो उठे और रथसे कूदकर बिना रास्तेके ही दक्षिण दिशाकी ओर पैदल ही भागने लगे। इस प्रकार बिना रास्तेके ही दौड़ते हुए विप्रवर दुर्वासाके पीछे-पीछे मैं उसी तरह सारे शरीरमें खीर लपेटे दौड़ने लगा और बोला—

'भगवन्! प्रसन्न होइये'।

ततो विलोक्य तेजस्वी ब्राह्मणो मामुवाच ह ।
जितः क्रोधस्त्वया कृष्ण प्रकृत्यैव महाभुज ॥
न तेऽपराधमिह वै दृष्टवानस्मि सुव्रत ।
प्रीतोऽस्मि तव गोविन्द वृणु कामान् यथेप्सितान् ॥
प्रसन्नस्य च मे तात पश्य व्युष्टिं यथाविधि ।
यावदेव मनुष्याणामन्ने भावो भविष्यति ॥
यथैवान्ने तथा तेषां त्वयि भावो भविष्यति ।
यावच्च पुण्या लोकेषु त्वयि कीर्तिर्भविष्यति ॥
त्रिषु लोकेषु तावच्च वैशिष्ट्यं प्रतिपत्स्यसे ।
सुप्रियः सर्वलोकस्य भविष्यसि जनार्दन ॥
यत्ते भिन्नं च दग्धं च यच्च किंचिद् विनाशितम् ।
सर्वं तथैव द्रष्टासि विशिष्टं वा जनार्दन ॥
यावदेतत् प्रलिप्तं ते गात्रेषु मधुसूदन ।
अतो मृत्युभयं नास्ति यावदिच्छसि चाच्युत ॥
न तु पादतले लिप्ते कस्मात्ते पुत्रकाद्य वै ।
नैतन्मे प्रियमित्येवं स मां प्रीतोऽब्रवीत् तदा ॥
इत्युक्तोऽहं शरीरं स्वं ददर्श श्रीसमायुतम् ।

(महाभारत अनुशासन० दान० १५९ । ३७—४४½)

तब वे तेजस्वी ब्राह्मण मेरी ओर देखकर बोले—'महाबाहु श्रीकृष्ण ! तुमने स्वभावसे ही क्रोधको जीत लिया है। (सर्वसमर्थ होकर भी तुम मेरे इतने दुर्व्यवहार करनेपर भी क्षमाशील, विनम्र और परम शान्त रहे ।) उत्तम व्रतधारी गोविन्द ! मैंने यहाँ तुम्हारा कोई भी अपराध नहीं देखा है । अतः तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, तुम मुझसे मनोवाञ्छित कामनाएँ माँग लो । तात ! मेरे प्रसन्न होनेका जो भावी फल है, उसे विधिपूर्वक सुनो । जबतक देवताओं और मनुष्योंका अन्नमें प्रेम रहेगा, तबतक जैसा अन्नके प्रति उनका भाव या आकर्षण होगा, वैसा ही तुम्हारे प्रति भी बना रहेगा । तीनों लोकोंमें जबतक तुम्हारी पुण्यकीर्ति रहेगी, तबतक त्रिभुवनमें तुम प्रधान बने रहोगे । जनार्दन ! तुम सब लोगोंके परम प्रिय होओगे । जनार्दन ! तुम्हारी जो-जो वस्तु मैंने तोड़ी-फोड़ी, जलायी या नष्ट कर दी है, वह सब तुम्हें पूर्ववत् या पहलेसे भी अच्छी अवस्थामें सुरक्षित दिखायी देगी । मधुसूदन ! तुमने अपने सारे अङ्गोंमें जहाँतक खीर लगायी है, वहाँतकके अङ्गोंमें चोट लगनेसे तुम्हें मृत्युका भय नहीं रहेगा । अच्युत ! तुम जबतक चाहोगे, यहाँ अमर बने रहोगे । परंतु यह खीर तुमने अपने पैरोंके तलवोंमें नहीं लगायी है। तात ! तुमने ऐसा क्यों किया ? तुम्हारा यह कार्य मुझे प्रिय नहीं लगा ।' इस प्रकार जब उन्होंने मुझसे प्रसन्नतापूर्वक कहा, तब मैंने अपने शरीरको अद्भुत कान्तिसे सम्पन्न देखा ।

रुक्मिणीको वरदान

रुक्मिणीं चाब्रवीत् प्रीतः सर्वस्त्रीणां वरं यशः ॥
कीर्तिं चानुत्तमां लोके समवाप्स्यसि शोभने ।
न त्वां जरा वा रोगो वा वैवर्ण्यं चापि भामिनि ॥
स्प्रक्ष्यन्ति पुण्यगन्धा च कृष्णमाराधयिष्यसि ।
षोडशानां सहस्राणां वधूनां केशवस्य ह ॥
वरिष्ठा च सलोक्या च केशवस्य भविष्यसि ।

(महाभारत अनुशासन० दान० १५९ । ४५—४७½)

फिर मुनिने रुक्मिणीसे भी प्रसन्नतापूर्वक कहा—'शोभने ! तुम सम्पूर्ण स्त्रियोंमें उत्तम यश और लोकमें सर्वोत्तम कीर्ति प्राप्त करोगी । भामिनि ! तुम्हें बुढ़ापा या रोग अथवा कान्तिहीनता आदि दोष नहीं छू सकेंगे । तुम पवित्र सुगन्धसे सुवासित होकर श्रीकृष्णकी आराधना करोगी । श्रीकृष्णकी जो सोलह हजार रानियाँ हैं, उन सबमें तुम श्रेष्ठ और पतिके सालोक्यकी अधिकारिणी होओगी ।'

दुर्वासाकी प्रसन्नता और ब्राह्मण-महिमा

तव मातरमित्युक्त्वा ततो मां पुनरब्रवीत् ॥
प्रस्थितः सुमहातेजा दुर्वासाग्निरिव ज्वलन् ।
एषैव ते बुद्धिरस्तु ब्राह्मणान् प्रति केशव ॥

इत्युक्त्वा स तदा पुत्र तत्रैवान्तरधीयत।
तस्मिन्नन्तर्हिते चाहमुपांशुव्रतमाचरम्॥
यत्किंचिद् ब्राह्मणो ब्रूयात् सर्वं कुर्यामिति प्रभो।
एतद् व्रतमहं कृत्वा मात्रा ते सह पुत्रक॥
ततः परमहृष्टात्मा प्राविशं गृहमेव च।
प्रविष्टमात्रश्च गृहे सर्वं पश्यामि तन्नवम्॥
यद् भिन्नं यच्च वै दग्धं तेन विप्रेण पुत्रक।
ततोऽहं विस्मयं प्राप्तः सर्वं दृष्ट्वा नवं दृढम्॥
अपूजयं च मनसा रौक्मिणेय सदा द्विजान्।
इत्यहं रौक्मिणेयस्य पृच्छतो भरतर्षभ॥
माहात्म्यं द्विजमुख्यस्य सर्वमाख्यातवांस्तदा।
तथा त्वमपि कौन्तेय ब्राह्मणान् सततं प्रभो॥
पूजयस्व महाभागान् वाग्भिर्दानैश्च नित्यदा।
एवं व्युष्टिमहं प्राप्तो ब्राह्मणस्य प्रसादजाम्।
यच्च मामाह भीष्मोऽयं तत्सत्यं भरतर्षभ॥

(महाभारत अनुशासन० दान० १५९। ४८—५६)

प्रद्युम्न! तुम्हारी मातासे ऐसा कहकर वे अग्निके समान प्रज्वलित होनेवाले महातेजस्वी दुर्वासा यहाँसे प्रस्थित होते समय फिर मुझसे बोले—'केशव! ब्राह्मणोंके प्रति तुम्हारी सदा ऐसी ही बुद्धि बनी रहे।' प्रभावशाली पुत्र (प्रद्युम्न)! ऐसा कहकर वे वहीं अन्तर्धान हो गये। उनके अदृश्य हो जानेपर मैंने अस्पष्ट वाणीमें धीरेसे यह व्रत लिया कि 'आजसे कोई ब्राह्मण मुझसे जो कुछ कहेगा, वह सब मैं पूर्ण करूँगा।' बेटा! ऐसी प्रतिज्ञा करके परम प्रसन्नचित्त होकर मैंने तुम्हारी माताके साथ घरमें प्रवेश किया। पुत्र! घरमें प्रवेश करके मैं देखता हूँ, तो उन ब्राह्मणने जो कुछ तोड़-फोड़ या जला दिया था, वह सब नूतनरूपसे प्रस्तुत दिखायी दिया। रुक्मिणीनन्दन! वे सारी वस्तुएँ नूतन और सुदृढ़ रूपमें उपलब्ध हैं, यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ और मैंने मन-ही-मन द्विजोंकी सदा ही पूजा की। भरतभूषण! रुक्मिणी-कुमार प्रद्युम्नके पूछनेपर इस तरह मैंने उनसे विप्रवर दुर्वासाका सारा माहात्म्य कहा था। प्रभो! कुन्तीनन्दन! इसी प्रकार आप भी सदा मीठे वचन बोलकर और नाना प्रकारके दान देकर महाभाग ब्राह्मणोंकी सर्वदा पूजा करते रहें। भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार ब्राह्मणके प्रसादसे मुझे उत्तम फल प्राप्त हुआ। ये भीष्मजी मेरे विषयमें जो कुछ कहते हैं, वह सब सत्य है।

श्रीकृष्णद्वारा भगवान् शंकरकी शक्ति तथा माहात्म्यका वर्णन

युधिष्ठिरने पूछा—मधुसूदन! उस समय दुर्वासाके प्रसादसे इहलोकमें आपको जो विज्ञान प्राप्त हुआ, जिनकी जैसे उपासना की उसे विस्तारपूर्वक मुझे बताइये। बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण! उन महात्माके महान् सौभाग्यको और उनके नामोंको मैं यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ। वह सब विस्तारपूर्वक बताइये।

वासुदेव उवाच

हन्त ते कीर्तयिष्यामि नमस्कृत्य कपर्दिने।
यदवाप्तं मया राजञ्छ्रेयो यच्चार्जितं यशः॥
प्रयतः प्रातरुत्थाय यदधीये विशाम्पते।
प्राञ्जलिः शतरुद्रीयं तन्मे निगदतः शृणु॥
प्रजापतिस्तत् ससृजे तपसोऽन्ते महातपाः।
शंकरस्त्वसृजत् तात प्रजाः स्थावरजङ्गमाः॥
नास्ति किंचित्परं भूतं महादेवाद् विशाम्पते।
इह त्रिष्वपि लोकेषु भूतानां प्रभवो हि सः॥
न चैवोत्सहते स्थातुं कश्चिदग्रे महात्मनः।
न हि भूतं समं तेन त्रिषु लोकेषु विद्यते॥
गन्धेनापि हि संग्रामे तस्य क्रुद्धस्य शत्रवः।
विसंज्ञा हतभूयिष्ठा वेपन्ते च पतन्ति च॥
घोरं च निनदं तस्य पर्जन्यनिनदोपमम्।
श्रुत्वा विशीर्येद्धृदयं देवानामपि संयुगे॥

यांश्च घोरेण रूपेण पश्येत् क्रुद्धः पिनाकधृत्।
न सुरा नासुरा लोके न गन्धर्वा न पन्नगाः॥
कुपिते सुखमेधन्ते तस्मिन्नपि गुहागताः।

(महाभारत अनुशासन० दान० १६०। ३-१०½)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजन्! मैं जटाजूटधारी भगवान् शंकरको नमस्कार करके प्रसन्नतापूर्वक यह बता रहा हूँ कि मैंने कौन-सा श्रेय प्राप्त किया और किस यशका उपार्जन किया। प्रजानाथ! मैं प्रतिदिन प्रातः-काल उठकर मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए हाथ जोड़कर जिस शतरुद्रियका जप एवं पाठ करता हूँ, उसे बता रहा हूँ; सुनो। तात! महातपस्वी प्रजापतिने तपस्याके अन्तमें उस शतरुद्रियकी रचना की और शंकरजीने समस्त चराचर प्राणियोंकी सृष्टि की। प्रजानाथ! तीनों लोकोंमें महादेवजीसे बढ़कर दूसरा कोई श्रेष्ठ देवता नहीं है; क्योंकि वे समस्त भूतोंकी उत्पत्तिके कारण हैं। उन महात्मा शंकरके सामने कोई भी खड़ा होनेका साहस नहीं कर सकता। तीनों लोकोंमें कोई भी प्राणी उनकी समता करनेवाला नहीं है। संग्राममें जब वे कुपित होते हैं, उस समय उनकी गन्धसे भी सारे शत्रु अचेत और मृतप्राय होकर थर-थर काँपने एवं गिरने लगते हैं। संग्राममें मेघगर्जनाके समान गम्भीर उनका घोर सिंहनाद सुनकर देवताओंका भी हृदय विदीर्ण हो सकता है। पिनाकधारी रुद्र कुपित होकर जिन्हें भयंकररूपसे देख लें, उनके भी हृदयके टुकड़े-टुकड़े हो जायँ। संसारमें भगवान् शंकरके कुपित हो जानेपर देवता, असुर, गन्धर्व और नाग यदि भागकर गुफामें छिप जायँ, तो भी सुखसे नहीं रह सकते।

प्रजापतेश्च दक्षस्य यजतो वितते क्रतौ॥
विव्याध कुपितो यज्ञं निर्भयस्तु भवस्तदा।
धनुषा बाणमुत्सृज्य सघोषं विननाद च॥
ते न शर्म कुतः शान्तिं विषादं लेभिरे सुराः।
विद्धे च सहसा यज्ञे कुपिते च महेश्वरे॥
तेन ज्यातलघोषेण सर्वे लोकाः समाकुलाः।
बभूवुरवशाः पार्थ विषेदुश्च सुरासुराः॥
आपश्चुक्षुभिरे चैव चकम्पे च वसुन्धरा।
व्यद्रवन् गिरयश्चापि द्यौः पफाल च सर्वशः॥
अन्धेन तमसा लोकाः प्रावृता न चकाशिरे।
प्रणष्टा ज्योतिषां भाश्च सह सूर्येण भारत॥
भृशं भीतास्ततः शान्तिं चक्रुः स्वस्त्ययनानि च।
ऋषयः सर्वभूतानामात्मनश्च हितैषिणः॥
ततः सोऽभ्यद्रवद् देवान् रुद्रो रौद्रपराक्रमः।
भगस्य नयने क्रुद्धः प्रहारेण व्यशातयत्॥
पूषणं चाभिदुद्राव पादेन च रुषान्वितः।
पुरोडाशं भक्षयतो दशनान् वै व्यशातयत्॥
ततः प्रणेमुर्देवास्ते वेपमानाः स्म शंकरम्।
पुनश्च संदधे रुद्रो दीप्तं सुनिशितं शरम्॥
रुद्रस्य विक्रमं दृष्ट्वा भीता देवाः सहर्षिभिः।
ततः प्रसादयामासुः शर्वं ते विबुधोत्तमाः॥
जेपुश्च शतरुद्रीयं देवाः कृत्वाञ्जलिं तदा।
संस्तूयमानस्त्रिदशैः प्रससाद महेश्वरः॥

(महाभारत अनुशासन० दान० १६०। ११—२२)

प्रजापति दक्ष जब यज्ञ कर रहे थे, उस समय उनका यज्ञ आरम्भ होनेपर कुपित हुए भगवान् शंकरने निर्भय होकर उनके यज्ञको अपने बाणोंसे बींध डाला और धनुषसे बाण छोड़कर गम्भीर स्वरमें सिंहनाद किया। इससे देवता बेचैन हो गये, फिर उन्हें शान्ति कैसे मिले। जब यज्ञ सहसा बाणोंसे विंध गया और महेश्वर कुपित हो गये, तब बेचारे देवता विषादमें डूब गये। पार्थ! उनके धनुषकी प्रत्यञ्चाके शब्दसे समस्त लोक व्याकुल और विवश हो उठे और सभी देवता एवं असुर विषादमें मग्न हो गये। समुद्र आदिका जल क्षुब्ध हो उठा, पृथ्वी काँपने लगी, पर्वत पिघलने लगे और आकाश सब ओरसे फटने-सा लगा। समस्त लोक घोर

अन्धकारसे आवृत होनेके कारण प्रकाशित नहीं होते थे। भारत ! ग्रहों और नक्षत्रोंका प्रकाश सूर्यके साथ ही नष्ट (अदृश्य) हो गया। सम्पूर्ण भूतोंका और अपना भी हित चाहनेवाले ऋषि अत्यन्त भयभीत हो शान्ति एवं स्वस्तिवाचन आदि कर्म करने लगे। तदनन्तर भयानक पराक्रमी रुद्र देवताओंकी ओर दौड़े। उन्होंने क्रोधपूर्वक प्रहार करके भगदेवताके नेत्र नष्ट कर दिये। फिर उन्होंने रोषमें भरकर पैदल ही पूषादेवताका पीछा किया और पुरोडाश भक्षण करनेवाले उनके दाँतोंको तोड़ डाला। तब सब देवता काँपते हुए वहाँ भगवान् शंकरको प्रणाम करने लगे। इधर रुद्रदेवने पुनः एक प्रज्वलित एवं तीखे बाणका संधान किया। रुद्रका पराक्रम देखकर ऋषियोंसहित सम्पूर्ण देवता थर्रा उठे। फिर उन श्रेष्ठ देवताओंने भगवान् शिवको प्रसन्न किया। उस समय देवतालोग हाथ जोड़कर शतरुद्रियका जप करने लगे। देवताओंके द्वारा अपनी स्तुति की जानेपर महेश्वर प्रसन्न हो गये।

रुद्रस्य भागं यज्ञे च विशिष्टं ते त्वकल्पयन्।
भयेन त्रिदशा राजञ्छरणं च प्रपेदिरे॥
तेन चैव हि तुष्टेन स यज्ञः संधितोऽभवत्।
यद् यच्चापहृतं तत्र तत्तथैवान्वजीवयत्॥
असुराणां पुराण्यासंस्त्रीणि वीर्यवतां दिवि।
आयसं राजतं चैव सौवर्णमपि चापरम्॥
नाशकत् तानि मघवा जेतुं सर्वायुधैरपि।
अथ सर्वेऽमरा रुद्रं जग्मुः शरणमर्दिताः॥
तत ऊचुर्महात्मानो देवाः सर्वे समागताः।
रुद्र रौद्रा भविष्यन्ति पशवः सर्वकर्मसु॥
जहि दैत्यान् सह पुरैर्लोकांस्त्रायस्व मानद।

(महाभारत अनुशासन० दान० १६०। २३-२७½)

राजन् ! देवतालोग भयके मारे भगवान् शंकरकी शरणमें गये। उन्होंने यज्ञमें रुद्रके लिये विशिष्ट भागकी कल्पना की। (यज्ञावशिष्ट सारी सामग्री रुद्रके अधिकारमें दे दी।) भगवान् शंकरके संतुष्ट होनेपर वह यज्ञ पुनः पूर्ण हुआ। उसमें जिस-जिस वस्तुको नष्ट किया गया था, उन सबको उन्होंने पुनः पूर्ववत् जीवित कर दिया। पूर्वकालमें बलवान् असुरोंके तीन पुर (विमान) थे; जो आकाशमें विचरते रहते थे। उनमेंसे एक लोहेका, दूसरा चाँदीका और तीसरा सोनेका बना हुआ था। इन्द्र अपने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंका प्रयोग करके भी उन पुरोंपर विजय न पा सके। तब पीड़ित हुए समस्त देवता रुद्रदेवकी शरणमें गये। तदनन्तर वहाँ पधारे हुए सम्पूर्ण महामना देवताओंने रुद्रदेवसे कहा—'भगवन् रुद्र ! पशुतुल्य असुर हमारे समस्त कर्मोंके लिये भयंकर हो गये हैं और भविष्यमें भी ये हमें भय देते रहेंगे। अतः मानद ! हमारी प्रार्थना है कि आप तीनों पुरोंसहित समस्त दैत्योंका नाश और लोकोंकी रक्षा करें'।

भगवान् शिवका तीनों पुरोंको जलाकर बालकरूप बन जाना

स तथोक्तस्तथेत्युक्त्वा कृत्वा विष्णुं शरोत्तमम्॥
शल्यमग्निं तथा कृत्वा पुङ्खं वैवस्वतं यमम्।
वेदान् कृत्वा धनुः सर्वान् ज्यां च सावित्रिमुत्तमाम्॥
ब्रह्माणं सारथिं कृत्वा विनियुज्य च सर्वशः।
त्रिपर्वणा त्रिशल्येन तेन तानि बिभेद सः॥
शरेणादित्यवर्णेन कालाग्निसमतेजसा।
तेऽसुराः सपुरास्तत्र दग्धा रुद्रेण भारत॥
तं चैवाङ्कगतं दृष्ट्वा बालं पञ्चशिखं पुनः।
उमा जिज्ञासमाना वै कोऽयमित्यब्रवीत् तदा॥
असूयतश्च शक्रस्य वज्रेण प्रहरिष्यतः।
स वज्रं स्तम्भयामास तं बाहुं परिघोपमम्॥
न सम्बुबुधिरे चैव देवास्तं भुवनेश्वरम्।
सप्रजापतयः सर्वे तस्मिन् मुमुहुरीश्वरे॥
ततो ध्यात्वा च भगवान् ब्रह्मा तममितौजसम्।
अयं श्रेष्ठ इति ज्ञात्वा ववन्दे तमुमापतिम्॥

ततः प्रसादयामासुरुमां रुद्रं च ते सुराः ।
बभूव स तदा बाहुर्बलहन्तुर्यथा पुरा ॥
स चापि ब्राह्मणो भूत्वा दुर्वासा नाम वीर्यवान् ।
द्वारवत्यां मम गृहे चिरं कालमुपावसत् ॥
विप्रकारान् प्रयुङ्क्ते स सुबहून् मम वेश्मनि ।
तानुदारतया चाहं चक्षमे चातिदुःसहान् ॥
(महाभारत अनुशासन० दान० १६०। २८—३८)

उनके ऐसा कहनेपर भगवान् शिवने 'तथास्तु' कहकर उनकी बात मान ली और भगवान् विष्णुको उत्तम बाण, अग्निको उस बाणका शल्य, वैवस्वत यमको पङ्ख, समस्त वेदोंको धनुष, गायत्रीको उत्तम प्रत्यञ्चा और ब्रह्माको सारथि बनाकर सबको यथावत् रूपसे अपने-अपने कार्योंमें नियुक्त करके तीन पर्व और तीन शल्य-वाले उस बाणके द्वारा उन तीनों पुरोंको विदीर्ण कर डाला। भारत ! वह बाण सूर्यके समान कान्तिमान् और प्रलयाग्निके समान तेजस्वी था। उसके द्वारा रुद्र-देवने उन तीनों पुरोंसहित वहाँके समस्त असुरोंको जलाकर भस्म कर दिया। फिर वे पाँच शिखावाले बालकके रूपमें प्रकट हुए और उमादेवी उन्हें अङ्कमें लेकर देवताओंसे पूछने लगीं—'पहचानो, ये कौन हैं ?' उस समय इन्द्रको बड़ी ईर्ष्या हुई। वे वज्रसे उस बालकपर प्रहार करना ही चाहते थे कि उसने परिघके समान मोटी उनकी उस बाँहको वज्रसहित स्तम्भित कर दिया। समस्त देवता और प्रजापति उन भुवनेश्वर महादेवजीको न पहचान सके। सबको उन ईश्वरके विषयमें मोह छा गया। तब भगवान् ब्रह्माने ध्यान करके उन अमित तेजस्वी उमापतिको पहचान लिया और 'ये ही सबसे श्रेष्ठ देवता हैं'—ऐसा जानकर उन्होंने उनकी वन्दना की। तत्पश्चात् उन देवताओंने उमादेवी और भगवान् रुद्रको प्रसन्न किया। तब इन्द्रकी वह बाँह पूर्ववत् हो गयी। वे ही पराक्रमी महादेव दुर्वासा नामक ब्राह्मण बनकर द्वारकापुरीमें मेरे घरके भीतर दीर्घकालतक टिके रहे। उन्होंने मेरे महलमें मेरे विरुद्ध बहुत-से अपराध किये। वे सभी अत्यन्त दुःसह थे, तो भी मैंने उदारतापूर्वक क्षमा किया।

भगवान् शिव सर्वरूप हैं

स वै रुद्रः स च शिवः सोऽग्निः सर्वः स सर्वजित्।
स चैवेन्द्रश्च वायुश्च सोऽश्विनौ स च विद्युतः ॥
स चन्द्रमाः स चेशानः स सूर्यो वरुणश्च सः ।
स कालः सोऽन्तको मृत्युः स यमो रात्र्यहानि च ॥
मासार्धमासा ऋतवः संध्ये संवत्सरश्च सः ।
स धाता स विधाता च विश्वकर्मा स सर्ववित् ॥
नक्षत्राणि ग्रहाश्चैव दिशोऽथ प्रदिशस्तथा ।
विश्वमूर्तिरमेयात्मा भगवान् परमद्युतिः ॥
एकधा च द्विधा चैव बहुधा च स एव हि ।
शतधा सहस्रधा चैव तथा शतसहस्रधा ॥
ईदृशः स महादेवो भूयश्च भगवानतः ।
न हि शक्या गुणा वक्तुमपि वर्षशतैरपि ॥
(महाभारत अनुशासन० दान० १६० । ३९—४४)

वे ही रुद्र हैं, वे ही शिव हैं, वे ही अग्नि हैं, वे ही सर्वस्वरूप और सर्वविजयी हैं। वे ही इन्द्र और वायु हैं, वे ही अश्विनीकुमार और विद्युत् हैं। वे ही चन्द्रमा, वे ही ईशान, वे ही सूर्य, वे ही वरुण, वे ही काल, वे ही अन्तक, वे ही मृत्यु, वे ही यम तथा वे ही रात और दिन हैं। मास, पक्ष, ऋतु, संध्या और संवत्सर भी वे ही हैं। वे ही धाता, विधाता, विश्वकर्मा और सर्वज्ञ हैं। नक्षत्र, ग्रह, दिशा, विदिशा भी वे ही हैं। वे ही विश्वरूप, अप्रमेयात्मा, षड्विध ऐश्वर्यसे युक्त एवं परम तेजस्वी हैं। उनके एक, दो, अनेक, सौ, हजार और लाखों रूप हैं। भगवान् महादेव ऐसे प्रभावशाली हैं, बल्कि इससे भी बढ़कर हैं। सैकड़ों वर्षोंमें भी उनके गुणोंका वर्णन नहीं किया जा सकता।

भगवान् शंकरके माहात्म्यका वर्णन

महादेवजीके दो रूप—'घोर' और 'शिव' एवं उनके विभिन्न स्वरूप-भेद

वासुदेव उवाच

युधिष्ठिर महाबाहो महाभाग्यं महात्मनः ।
रुद्राय बहुरूपाय बहुनाम्ने निबोध मे ॥
वदन्त्यग्निं महादेवं तथा स्थाणुं महेश्वरम् ।
एकाक्षं त्र्यम्बकं चैव विश्वरूपं शिवं तथा ॥
द्वे तनू तस्य देवस्य वेदज्ञा ब्राह्मणा विदुः ।
घोरामन्यां शिवामन्यां ते तनू बहुधा पुनः ॥
उग्रा घोरा तनुर्यास्य सोऽग्निर्विद्युत् स भास्करः ।
शिवा सौम्या च या त्वस्य धर्मस्त्वापोऽथ चन्द्रमाः ॥
आत्मनोऽर्धं तु तस्याग्निः सोमोऽर्धं पुनरुच्यते ।
ब्रह्मचर्यं चरत्येका शिवा चास्य तनुस्तथा ॥
यास्य घोरतमा मूर्तिर्जगत् संहरते तथा ।

(महाभारत अनुशासन० दान० १६१ । १—५½)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—महाबाहु युधिष्ठिर ! अब मैं अनेक नाम और रूप धारण करनेवाले महात्मा भगवान् रुद्रका माहात्म्य बतला रहा हूँ, सुनिये । विद्वान् पुरुष इन महादेवजीको अग्नि, स्थाणु, महेश्वर, एकाक्ष, त्र्यम्बक, विश्वरूप और शिव आदि अनेक नामोंसे पुकारते हैं । वेदमें उनके दो रूप बताये गये हैं, जिन्हें वेदवेत्ता ब्राह्मण जानते हैं । उनका एक स्वरूप तो 'घोर' है और दूसरा 'शिव' । इन दोनोंके भी अनेक भेद हैं । इनकी जो घोर मूर्ति है, वह भय उपजानेवाली है । उसके अग्नि, विद्युत् और सूर्य आदि अनेक रूप हैं । इससे भिन्न जो शिव नामवाली मूर्ति है, वह परम शान्त एवं मङ्गलमयी है । उसके धर्म, जल और चन्द्रमा आदि कई रूप हैं । महादेवजीके आधे शरीरको 'अग्नि' और आधेको 'सोम' कहते हैं । उनकी शिवमूर्ति ब्रह्मचर्यका पालन करती है और जो अत्यन्त घोर मूर्ति है, वह जगत्‌का संहार करती है ।

महेश्वर आदि महादेवजीके विविध नामोंकी व्युत्पत्ति

ईश्वरत्वान्महत्त्वाच्च महेश्वर इति स्मृतः ॥
यन्निर्दहति यत्तीक्ष्णो यदुग्रो यत् प्रतापवान् ।
मांसशोणितमज्जादो यत् ततो रुद्र उच्यते ॥
देवानां सुमहान् यच्च यच्चास्य विषयो महान् ।
यच्च विश्वं महत् पाति महादेवस्ततः स्मृतः ॥
धूम्ररूपं च यत्तस्य धूर्जटीत्यत उच्यते ।
समेधयति यन्नित्यं सर्वान् वै सर्वकर्मभिः ॥
मनुष्याञ्छिवमन्विच्छंस्तस्मादेष शिवः स्मृतः ।
दहत्यूर्ध्वं स्थितो यच्च प्राणान् नृणां स्थिरश्च यत्॥
स्थिरलिंगश्च यन्नित्यं तस्मात् स्थाणुरिति स्मृतः ।
यदस्य बहुधा रूपं भूतं भव्यं भवत्तथा ॥
स्थावरं जङ्गमं चव बहुरूपस्ततः स्मृतः ।
विश्वे देवाश्च यत्तस्मिन् विश्वरूपस्ततः स्मृतः ॥
सहस्राक्षोऽयुताक्षो वा सर्वतोऽक्षिमयोऽपि वा ।
चक्षुषः प्रभवेत् तेजो नास्त्यन्तोऽथास्य चक्षुषाम्॥
सर्वथा यत् पशून् पाति तैश्च यद् रमते सह ।
तेषामधिपतिर्यच्च तस्मात् पशुपतिः स्मृतः ॥

(महाभारत अनुशासन० दान० १६१ । ६—१४)

उनमें महत्त्व और ईश्वरत्व होनेके कारण वे 'महेश्वर' कहलाते हैं । वे जो सबको दग्ध करते हैं, अत्यन्त तीक्ष्ण हैं, उग्र और प्रतापी हैं; प्रलयाग्निरूपसे मांस, रक्त और मज्जाको भी अपना ग्रास बना लेते हैं, इसलिये 'रुद्र' कहलाते हैं । वे देवताओंमें महान् हैं, उनका विषय भी महान् है तथा वे महान् विश्वकी रक्षा करते हैं, इसलिये 'महादेव' कहलाते हैं । अथवा उनकी जटाका रूप धूम्र वर्णका है, इसलिये उन्हें 'धूर्जटि' कहते हैं । सब प्रकारके कर्मोंद्वारा सब लोगोंकी उन्नति करते हैं और सबका कल्याण चाहते हैं, इसलिये इनका नाम 'शिव' है । ये ऊर्ध्वभागमें स्थित होकर देहधारियोंके प्राणोंका

नाश करते हैं, सदा स्थिर रहते हैं और जिनका लिङ्ग-विग्रह सदा स्थिर रहता है, इसलिये ये 'स्थाणु' कहलाते हैं। भूत, भविष्य और वर्तमानकालमें स्थावर और जङ्गमोंके आकारमें उनके अनेक रूप प्रकट होते हैं, इसलिये वे 'बहुरूप' कहे गये हैं। समस्त देवता उनमें निवास करते हैं; इसलिये वे 'विश्वरूप' कहे गये हैं। उनके नेत्रसे तेज प्रकट होता है तथा उनके नेत्रोंका अन्त नहीं है। इसलिये वे 'सहस्राक्ष', 'अयुताक्ष' और 'सर्वतोऽक्षिमय' कहलाते हैं। वे सब प्रकारसे पशुओंका पालन करते हैं, उनके साथ रहनेमें सुख मानते हैं तथा पशुओंके अधिपति हैं, इसलिये वे 'पशुपति' कहलाते हैं।

शिवलिङ्ग-पूजनका माहात्म्य

नित्येन ब्रह्मचर्येण लिङ्गमस्य यदा स्थितम्।
महयत्यस्य लोकश्च प्रियं ह्येतन्महात्मनः॥
विग्रहं पूजयेद् यो वै लिङ्गं वापि महात्मनः।
लिङ्गं पूजयिता नित्यं महतीं श्रियमश्नुते॥
ऋषयश्चापि देवाश्च गन्धर्वाप्सरसस्तथा।
लिङ्गमेवार्चयन्ति स्म यत् तदूर्ध्वं समास्थितम्॥
पूज्यमाने ततस्तस्मिन् मोदते स महेश्वरः।
सुखं ददाति प्रीतात्मा भक्तानां भक्तवत्सलः॥
एष एव श्मशानेषु देवो वसति निर्दहन्।
यजन्ते ते जनास्तत्र वीरस्थाननिषेविणः॥
विषयस्थः शरीरेषु स मृत्युः प्राणिनामिह।
स च वायुः शरीरेषु प्राणापानशरीरिणाम्॥
तस्य घोराणि रूपाणि दीप्तानि च बहूनि च।
लोके यान्यस्य पूज्यन्ते विप्रास्तानि विदुर्बुधाः॥
नामधेयानि देवेषु बहून्यस्य यथार्थवत्।
निरुच्यन्ते महत्त्वाच्च विभुत्वात् कर्मभिस्तथा॥
वेदे चास्य विदुर्विप्राः शतरुद्रीयमुत्तमम्।
व्यासेनोक्तं च यच्चापि उपस्थानं महात्मनः॥
(महाभारत अनुशासन० दान० १६१। १५-२३)

मनुष्य यदि ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए प्रतिदिन स्थिर शिवलिङ्गकी पूजा करता है तो इससे महात्मा शंकरको बड़ी प्रसन्नता होती है। जो महात्मा शंकरके श्रीविग्रह अथवा लिङ्गकी पूजा करता है, वह लिङ्गपूजक सदा बहुत बड़ी सम्पत्तिका भागी होता है। ऋषि, देवता, गन्धर्व और अप्सराएँ ऊर्ध्वलोकमें स्थित शिवलिङ्गकी ही पूजा करती हैं। इस प्रकार शिवलिङ्गकी पूजा होनेपर भक्तवत्सल भगवान् महेश्वर बड़े प्रसन्न होते हैं और प्रसन्नचित्त होकर वे भक्तोंको सुख देते हैं। ये ही भगवान् शंकर अग्निरूपसे शवको दग्ध करते हुए श्मशानभूमिमें निवास करते हैं। जो लोग वहाँ उनकी पूजा करते हैं, उन्हें वीरोंको प्राप्त होनेवाले उत्तम लोक प्राप्त होते हैं। वे प्राणियोंके शरीरोंमें रहनेवाले और उनके मृत्युरूप हैं तथा वे ही प्राण-अपान आदि वायुके रूपसे देहके भीतर निवास करते हैं। उनके बहुत-से भयंकर एवं उद्दीप्त रूप हैं, जिनकी जगत्में पूजा होती है। विद्वान् ब्राह्मण ही उन सब रूपोंको जानते हैं। उनकी महत्ता, व्यापकता तथा दिव्य कर्मोंके अनुसार देवताओंमें उनके बहुत-से यथार्थ नाम प्रचलित हैं। वेदके शतरुद्रिय प्रकरणमें उनके सैकड़ों उत्तम नाम हैं, जिन्हें वेदवेत्ता ब्राह्मण जानते हैं। महर्षि व्यासने भी उन महात्मा शिवका उपस्थान (स्तवन) बताया है।

महादेवजी ही शुभाशुभ फलके दाता हैं

प्रदाता सर्वलोकानां विश्वं चाप्युच्यते महत्।
ज्येष्ठभूतं वदन्त्येनं ब्राह्मणा ऋषयोऽपरे॥
प्रथमो ह्येष देवानां मुखादग्निमजीजनत्।
ग्रहैर्बहुविधैः प्राणान् संरुद्धानुत्सृजत्यपि॥
विमुञ्चति न पुण्यात्मा शरण्यः शरणागतान्।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं वित्तं कामांश्च पुष्कलान्॥
स ददाति मनुष्येभ्यः स एवाक्षिपते पुनः।
शक्रादिषु च देवेषु तस्यैश्वर्यमिहोच्यते॥

स एव व्यापृतो नित्यं त्रैलोक्यस्य शुभाशुभे ।
ऐश्वर्याच्चैव कामानामीश्वरः पुनरुच्यते ॥
महेश्वरश्च लोकानां महतामीश्वरश्च सः ।
बहुभिर्विविधै रूपैर्विश्वं व्याप्तमिदं जगत् ।
तस्य देवस्य यद् वक्त्रं समुद्रे वडवामुखम् ॥
(महाभारत अनुशासन० दान० १६१ । २४–२९)

वे सम्पूर्ण लोकोंको उनकी अभीष्ट वस्तु देनेवाले हैं। यह महान् विश्व उन्हींका स्वरूप बताया गया है। ब्राह्मण और ऋषि उन्हें सबसे ज्येष्ठ कहते हैं। वे देवताओंमें प्रधान हैं। उन्होंने अपने मुखसे अग्निको उत्पन्न किया है। वे नाना प्रकारकी ग्रह-बाधाओंसे ग्रस्त प्राणियोंको दुःखसे छुटकारा दिलाते हैं। पुण्यात्मा और शरणागतवत्सल तो वे इतने हैं कि शरणमें आये हुए किसी भी प्राणीका त्याग नहीं करते। वे ही मनुष्योंको आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य, धन और सम्पूर्ण कामनाएँ प्रदान करते हैं और वे ही पुनः उन्हें छीन लेते हैं। इन्द्र आदि देवताओंके पास उन्हींका दिया हुआ ऐश्वर्य बताया जाता है। तीनों लोकोंके शुभाशुभ कर्मोंका फल देनेके लिये वे ही सदा तत्पर रहते हैं। समस्त कामनाओंके अधीश्वर होनेके कारण उन्हें 'ईश्वर'-कहते हैं और महान् लोकोंके ईश्वर होनेके कारण उनका नाम 'महेश्वर' हुआ है। उन्होंने नाना प्रकारके बहुसंख्यक रूपोंद्वारा इस सम्पूर्ण लोकको व्याप्त कर रक्खा है। उन महादेवजीका जो मुख है, वही समुद्रमें वडवानल है।

श्रीकृष्णका युधिष्ठिरको इन्द्रद्वारा शरीरस्थ वृत्रासुरका संहार करनेका इतिहास सुनाकर अन्तःशत्रुको मारनेके लिये समझाना

वेदव्यासजीने संवर्त और मरुत्तका उपाख्यान सुनाकर युधिष्ठिरके शोकको दूर करनेका प्रयत्न किया। तत्पश्चात् महातेजस्वी भगवान् श्रीकृष्ण फिर कुछ कहनेको उद्यत हुए।

वासुदेव उवाच

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम् ।
एतावान् ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ॥
नैव ते निष्ठितं कर्म नैव ते शत्रवो जिताः ।
कथं शत्रुं शरीरस्थमात्मनो नावबुध्यसे ॥
अत्र ते वर्णयिष्यामि यथाधर्मं यथाश्रुतम् ।
इन्द्रस्य सह वृत्रेण यथा युद्धमवर्तत ॥
वृत्रेण पृथिवी व्याप्ता पुरा किल नराधिप ।
दृष्ट्वा स पृथिवीं व्याप्तां गन्धस्य विषये हृते ॥
धराहरणदुर्गन्धो विषयः समपद्यत ।
शतक्रतुश्चुकोपाथ गन्धस्य विषये हृते ॥
वृत्रस्य स ततः क्रुद्धो घोरं वज्रमवासृजत् ।
स वध्यमानो वज्रेण सुभृशं भूरितेजसा ॥
विवेश सहसा तोयं जग्राह विषयं ततः ।
अप्सु वृत्रगृहीतासु रसे च विषये हृते ॥
शतक्रतुरतिक्रुद्धस्तत्र वज्रमवासृजत् ।
स वध्यमानो वज्रेण तस्मिन्नमिततेजसा ॥
विवेश सहसा ज्योतिर्जग्राह विषयं ततः ।
व्याप्ते ज्योतिषि वृत्रेण रूपेऽथ विषये हृते ॥
शतक्रतुरतिक्रुद्धस्तत्र वज्रमवासृजत् ।
स वध्यमानो वज्रेण तस्मिन्नमिततेजसा ॥
विवेश सहसा वायुं जग्राह विषयं ततः ।
व्याप्ते वायौ तु वृत्रेण स्पर्शेऽथ विषये हृते ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० ११ । ४—१४)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—धर्मराज! कुटिलता मृत्युका स्थान है और सरलता ब्रह्मकी प्राप्तिका साधन है। इस बातको ठीक-ठीक समझ लेना ही ज्ञानका विषय है। इसके विपरीत जो कुछ कहा जाता है, वह प्रलाप है। भला वह किसीका क्या उपकार करेगा? आपने अपने कर्तव्यकर्मको पूरा नहीं किया। आपने अभीतक शत्रुओंपर विजय भी नहीं पायी। आपका शत्रु तो आपके शरीरके भीतर ही बैठा हुआ है। आप अपने उस शत्रुको क्यों नहीं पहचानते हैं? यहाँ मैं आपके समक्ष धर्मके अनुसार एक वृत्तान्त जैसा सुन रक्खा है, वैसा ही बता रहा हूँ। पूर्वकालमें वृत्रासुरके साथ इन्द्रका जैसा युद्ध हुआ था, वही प्रसङ्ग सुना रहा हूँ। नरेश्वर! कहते हैं, प्राचीन कालमें वृत्रासुरने समूची पृथ्वीपर अधिकार जमा लिया था। इन्द्रने देखा, वृत्रासुरने पृथ्वीपर अधिकार कर लिया और गन्धके विषयका भी अपहरण कर लिया और इस प्रकार पृथ्वीका अपहरण करनेसे सब ओर दुर्गन्धका प्रसार हो गया है। तब गन्धके विषयका अपहरण होनेसे शतक्रतु इन्द्रको बड़ा क्रोध हुआ। तत्पश्चात् उन्होंने कुपित हो वृत्रासुरके ऊपर घोर वज्रका प्रहार किया। महातेजस्वी वज्रसे अत्यन्त आहत हो वह असुर सहसा जलमें जा घुसा और उसके विषयभूत रसको ग्रहण करने लगा। जब जलपर भी वृत्रासुरका अधिकार तथा रसरूपी विषयका अपहरण हो गया। तब अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए इन्द्रने वहाँ भी उसपर वज्रका प्रहार किया। जलमें अमित तेजस्वी वज्रकी मार खाकर वृत्रासुर सहसा तेजस्तत्त्वमें घुस गया और उसके विषयको ग्रहण करने लगा। वृत्रासुरके द्वारा तेजपर भी अधिकार कर लिया गया और उसके रूप नामक विषयका अपहरण हो गया, यह जानकर शतक्रतुके क्रोधकी सीमा न रह गयी। उन्होंने वहाँ भी वृत्रासुरपर वज्रका प्रहार किया। उस तेजमें स्थित हुआ वृत्रासुर अमित तेजस्वी वज्रके प्रहारसे पीड़ित हो सहसा वायुमें समा गया और उसके स्पर्श नामक विषयको ग्रहण करने लगा। जब वृत्रासुरने वायुको भी व्याप्त करके उसके स्पर्श नामक विषयका अपहरण कर लिया।

शतक्रतुरतिक्रुद्धस्तत्र वज्रमवासृजत्।
स वध्यमानो वज्रेण तस्मिन्नमिततेजसा॥
आकाशमभिदुद्राव जग्राह विषयं ततः।
आकाशे वृत्रभूतेऽथ शब्दे च विषये हृते॥
शतक्रतुरभिक्रुद्धस्तत्र वज्रमवासृजत्।
स वध्यमानो वज्रेण तस्मिन्नमिततेजसा॥
विवेश सहसा शक्रं जग्राह विषयं ततः।
तस्य वृत्रगृहीतस्य मोहः समभवन्महान्॥
रथन्तरेण तं तात वसिष्ठः प्रत्यबोधयत्।
ततो वृत्रं शरीरस्थं जघान भरतर्षभ।
शतक्रतुरदृश्येन वज्रेणेतीह नः श्रुतम्॥
इदं धर्म्यं रहस्यं वै शक्रेणोक्तं महर्षिषु।
ऋषिभिश्च मम प्रोक्तं तन्निबोध जनाधिप॥

(महाभारत आश्वमेधिक० ११। १५—२०)

तब शतक्रतुने अत्यन्त कुपित होकर वहाँ उसके ऊपर अपना वज्र छोड़ दिया। वायुके भीतर अमित तेजस्वी वज्रसे पीड़ित हो वृत्रासुर भागकर आकाशमें जा छिपा और उसके विषयको ग्रहण करने लगा। जब आकाश वृत्रासुरमय हो गया और उसके शब्दरूपी विषयका अपहरण होने लगा, तब शतक्रतु इन्द्रको बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने वहाँ भी उसपर वज्रका प्रहार किया। आकाशके भीतर अमित तेजस्वी वज्रसे पीड़ित हो वृत्रासुर सहसा इन्द्रमें समा गया और उनके विषयको ग्रहण करने लगा। तात! वृत्रासुरसे गृहीत होनेपर इन्द्रके मनपर महान् मोह छा गया। तब महर्षि वशिष्ठने रथन्तर सामके द्वारा उन्हें सचेत किया। भरतश्रेष्ठ! तत्पश्चात् शतक्रतुने अपने शरीरके भीतर स्थित हुए वृत्रासुरको अदृश्य वज्रके द्वारा मार डाला,

ऐसा हमने सुना है। जनेश्वर ! यह धर्मसम्मत रहस्य इन्द्रने महर्षियोंको बताया और महर्षियोंने मुझसे कहा। वही रहस्य मैंने आपको सुनाया है। आप इसे अच्छी तरह समझें।

भगवान् श्रीकृष्णका युधिष्ठिरको मनपर विजय करनेके लिये उपदेश

मानसिक और शारीरिक रोग

वासुदेव उवाच

द्विविधो जायते व्याधिः शारीरो मानसस्तथा।
परस्परं तयोर्जन्म निर्द्वन्द्वं नोपपद्यते॥
शरीरे जायते व्याधिः शारीरः स निगद्यते।
मानसे जायते व्याधिर्मानसस्तु निगद्यते॥
शीतोष्णे चैव वायुश्च गुणा राजन् शरीरजाः।
तेषां गुणानां साम्यं चेत् तदाहुः स्वस्थलक्षणम्॥
उष्णेन बाध्यते शीतं शीतेनोष्णं च बाध्यते।
सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रय आत्मगुणाः स्मृताः॥
तेषां गुणानां साम्यं चेत् तदाहुः स्वस्थलक्षणम्।
तेषामन्यतमोत्सेके विधानमुपदिश्यते॥
हर्षेण बाध्यते शोको हर्षः शोकेन बाध्यते।
कश्चिद् दुःखे वर्तमानः सुखस्य स्मर्तुमिच्छति।
कश्चित् सुखे वर्तमानो दुःखस्य स्मर्तुमिच्छति॥

(महाभारत आश्वमेधिक० १२। १—६)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—कुन्तीनन्दन ! दो प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं—एक शारीरिक, दूसरा मानसिक। इन दोनोंका जन्म एक दूसरेके सहयोगसे होता है। दोनोंके पारस्परिक सहयोगके बिना इनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। शरीरमें जो रोग उत्पन्न होता है, उसे शारीरिक रोग कहते हैं और मनमें जो व्याधि होती है, वह मानसिक रोग कहलाती है। राजन् ! शीत, उष्ण और वायु—ये तीन शरीरके गुण हैं। यदि शरीरमें इन तीनों गुणोंकी समानता हो तो यह स्वस्थ पुरुषका लक्षण है। उष्ण शीतका निवारण करता और शीत उष्णका निवारण करता है। सत्त्व, रज और तम—ये तीन अन्तःकरणके गुण माने गये हैं। इन गुणोंकी समानता हो तो यह मानसिक स्वास्थ्यका लक्षण है। इनमेंसे किसी एककी वृद्धि होनेपर उसके निवारणका उपाय बताया जाता है। हर्षसे शोक बाधित होता है और शोकसे हर्ष। कोई दुःखमें पड़कर सुखकी याद करना चाहता है और कोई सुखी होकर दुःखकी याद करना चाहता है।

मनके साथ युद्ध करके विजय प्राप्त कीजिये

यच्च ते द्रोणभीष्माभ्यां युद्धमासीदरिंदम।
मनसैकेन योद्धव्यं तत् ते युद्धमुपस्थितम्॥
तस्मादभ्युपगन्तव्यं युद्धाय भरतर्षभ।
परमव्यक्तरूपस्य पारं युक्त्या स्वकर्मभिः॥
यत्र नैव शरैः कार्यं न भृत्यैर्न च बन्धुभिः।
आत्मनैकेन योद्धव्यं तत् ते युद्धमुपस्थितम्॥
तस्मिन्ननिर्जिते युद्धे कामवस्थां गमिष्यसि।

एतज्ज्ञात्वा तु कौन्तेय कृतकृत्यो भविष्यसि ॥
एतां बुद्धिं विनिश्चित्य भूतानामागतिं गतिम्।
पितृपैतामहे वृत्ते शाधि राज्यं यथोचितम् ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० १२। १२—१६)

शत्रुदमन ! द्रोणाचार्य और भीष्मके साथ जो युद्ध हुआ था, वही युद्ध आपके सामने उपस्थित है। इस समय आपको अकेले अपने मनके साथ युद्ध करना होगा। भरतभूषण ! अतः उस युद्धके लिये आपको तैयार हो जाना चाहिये। अपने कर्तव्यका पालन करते हुए योगके द्वारा मनको वशीभूत करके आप मायासे परे परब्रह्मको प्राप्त कीजिये। मनके साथ होनेवाले इस युद्धमें न तो बाणोंका काम है और न सेवकों तथा बन्धु-बान्धवोंका ही। इस समय इसमें आपको अकेले ही युद्ध करना है और वह युद्ध सामने उपस्थित है। यदि इस युद्धमें आप मनको न जीत सके तो पता नहीं आपकी क्या दशा होगी? कुन्तीनन्दन ! इस बातको अच्छी तरह समझ लेनेपर आप कृतकृत्य हो जायँगे। समस्त प्राणियोंका यों ही आवागमन होता रहता है। बुद्धिसे ऐसा निश्चय करके आप अपने बाप-दादोंके बर्तावका पालन करते हुए उचित रीतिसे राज्यका शासन कीजिये।

श्रीकृष्णके द्वारा ममताके त्यागके महत्त्व तथा कामगीताका वर्णन और युधिष्ठिरको यज्ञके लिये प्रेरित करना

ममता मृत्यु है और उसका त्याग ही सनातन अमृतत्व है

वासुदेव उवाच

न बाह्यं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति भारत।
शारीरं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति वा न वा ॥
बाह्यद्रव्यविमुक्तस्य शारीरेषु च गृद्ध्यतः।
यो धर्मो यत् सुखं चैव द्विषतामस्तु तत् तथा ॥
द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥
ब्रह्ममृत्यू ततो राजन्नात्मन्येव व्यवस्थितौ।
अदृश्यमानौ भूतानि योधयेतामसंशयम् ॥
अविनाशोऽस्य सत्त्वस्य नियतो यदि भारत।
भित्त्वा शरीरं भूतानामहिंसां प्रतिपद्यते ॥
लब्ध्वा हि पृथिवीं कृत्स्नां सहस्थावरजङ्गमाम्।
ममत्वं यस्य नैव स्यात् किं तया स करिष्यति ॥
अथवा वसतः पार्थ वने वन्येन जीवतः।
ममता यस्य द्रव्येषु मृत्योरास्ये स वर्तते ॥
बाह्यान्तराणां शत्रूणां स्वभावं पश्य भारत।
यन्न पश्यति तद् भूतं मुच्यते स महाभयात् ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० १३। १—८)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—भारत ! केवल राज्य आदि बाह्य पदार्थोंका त्याग करनेसे ही सिद्धि नहीं प्राप्त होती। शारीरिक द्रव्यका त्याग करके भी सिद्धि प्राप्त होती है अथवा नहीं भी होती है। बाह्य पदार्थोंसे अलग होकर भी जो शारीरिक सुखविलासमें आसक्त है, उसे जिस धर्म और सुखकी प्राप्ति होती है, वह आपके साथ द्वेष करनेवालोंको ही प्राप्त हो। 'मम' (मेरा) ये दो अक्षर ही मृत्युरूप हैं और 'न मम' (मेरा नहीं है) यह तीन अक्षरोंका पद सनातन ब्रह्मकी प्राप्तिका कारण है। ममता मृत्यु है और उसका त्याग सनातन अमृतत्व है। राजन् ! इस प्रकार मृत्यु और अमृत—दोनों अपने भीतर ही स्थित हैं। ये दोनों अदृश्य रहकर प्राणियोंको लड़ाते हैं अर्थात् किसीको अपना मानना और किसीको अपना न मानना यह भाव ही युद्धका कारण है, इसमें संशय नहीं।

भरतनन्दन ! यदि इस जगत्‌की सत्ताका विनाश न होना ही निश्चित हो, तब तो प्राणियोंके शरीरका भेदन करके भी मनुष्य अहिंसाका ही फल प्राप्त करेगा। चराचर प्राणियोंसहित समूची पृथ्वीको पाकर भी जिसकी उसमें ममता नहीं होती, वह उसको लेकर क्या करेगा अर्थात् उस सम्पत्तिसे उसका कोई अनर्थ नहीं हो सकता। किंतु कुन्तीनन्दन ! जो वनमें रहकर जंगली फल-फूलोंसे ही जीवन-निर्वाह करता है, उसकी भी यदि द्रव्योंमें ममता है तो वह मौतके मुखमें ही विद्यमान है। भारत ! बाहरी और भीतरी शत्रुओंके स्वभावको देखिये-समझिये (ये मायामय होनेके कारण मिथ्या हैं, ऐसा निश्चय कीजिये)। जो मायिक पदार्थोंको ममत्वकी दृष्टिसे नहीं देखता, वह महान् भयसे छुटकारा पा जाता है।

कामनाओंका निग्रह ही धर्म है और मोक्षका मूल है

कामात्मानं न प्रशंसन्ति लोके
नेहाकामा काचिदस्ति प्रवृत्तिः।
सर्वे कामा मनसोऽङ्गप्रभूता
यान् पण्डितः संहरते विचिन्त्य ॥
भूयो भूयो जन्मनोऽभ्यासयोगाद्
योगी योगं सारमार्गं विचिन्त्य।
दानं च वेदाध्ययनं तपश्च
काम्यानि कर्माणि च वैदिकानि॥
व्रतं यज्ञान् नियमान् ध्यानयोगान्
कामेन यो नारभते विदित्वा।
यद् यच्चायं कामयते स धर्मो
न यो धर्मो नियमस्तस्य मूलम् ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० १३। ९—११)

जिसका मन कामनाओंमें आसक्त है, उसकी संसारके लोग प्रशंसा नहीं करते हैं। कोई भी प्रवृत्ति बिना कामनाके नहीं होती और समस्त कामनाएँ मनसे ही प्रकट होती हैं। विद्वान् पुरुष कामनाओंको दुःखका कारण मानकर उनका परित्याग कर देते हैं। योगी पुरुष अनेक जन्मोंके अभ्याससे योगको ही मोक्षका मार्ग निश्चित करके कामनाओंका नाश कर डालता है। जो इस बातको जानता है—वह दान, वेदाध्ययन, तप, वेदोक्त कर्म, व्रत, यज्ञ, नियम और ध्यान-योगादिका कामनापूर्वक अनुष्ठान नहीं करता तथा जिस कर्मसे वह कुछ कामना रखता है, वह धर्म नहीं है। वास्तवमें कामनाओंका निग्रह ही धर्म है और वही मोक्षका मूल है।

कामगीता

अत्र गाथाः कामगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः।
शृणु संकीर्त्यमानास्ता अखिलेन युधिष्ठिर।
नाहं शक्योऽनुपायेन हन्तुं भूतेन केनचित् ॥
यो मां प्रयतते हन्तुं ज्ञात्वा प्रहरणे बलम्।
तस्य तस्मिन् प्रहरणे पुनः प्रादुर्भवाम्यहम् ॥
यो मां प्रयतते हन्तुं यज्ञैर्विविधदक्षिणैः।
जङ्गमेष्विव धर्मात्मा पुनः प्रादुर्भवाम्यहम् ॥
यो मां प्रयतते नित्यं वेदैर्वेदान्तसाधनैः।
स्थावरेष्विव भूतात्मा तस्य प्रादुर्भवाम्यहम् ॥
यो मां प्रयतते हन्तुं धृत्या सत्यपराक्रमः।
भावो भवामि तस्याहं स च मां नावबुध्यते ॥
यो मां प्रयतते हन्तुं तपसा संशितव्रतः।
ततस्तपसि तस्याथ पुनः प्रादुर्भवाम्यहम् ॥
यो मां प्रयतते हन्तुं मोक्षमास्थाय पण्डितः।
तस्य मोक्षरतिस्थस्य नृत्यामि च हसामि च।
अवध्यः सर्वभूतानामहमेकः सनातनः ॥
तस्मात्त्वमपि तं कामं यज्ञैर्विविधदक्षिणैः।
धर्मे कुरु महाराज तत्र ते स भविष्यति ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० १३। १२–१९)

युधिष्ठिर ! इस विषयमें प्राचीन बातोंके जानकार

विद्वान् एक पुरातन गाथाका वर्णन किया करते हैं, जो 'कामगीता' कहलाती है। उसे मैं आपको सुनाता हूँ, सुनिये। कामका कहना है कि कोई भी प्राणी वास्तविक उपाय (निर्ममता और योगाभ्यास) का आश्रय लिये बिना मेरा नाश नहीं कर सकता है। जो मनुष्य अपनेमें अस्त्रबलकी अधिकताका अनुभव करके मुझे नष्ट करनेका प्रयत्न करता है, उसके उस अस्त्रबलमें मैं अभिमानरूपसे पुनः प्रकट हो जाता हूँ। जो नाना प्रकारकी दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा मुझे मारनेका यत्न करता है, उसके चित्तमें मैं उसी प्रकार उत्पन्न होता हूँ, जैसे उत्तम जङ्गम योनियोंमें धर्मात्मा। जो वेद और वेदान्तके स्वाध्यायरूप साधनोंके द्वारा मुझे मिटा देनेका सदा प्रयास करता है, उसके मनमें मैं स्थावर प्राणियोंमें जीवात्माकी भाँति प्रकट होता हूँ। जो सत्यपराक्रमी पुरुष धैर्यके बलसे मुझे नष्ट करनेकी चेष्टा करता है, उसके मानसिक भावोंके साथ मैं इतना घुल-मिल जाता हूँ कि वह मुझे पहचान ही नहीं पाता। जो कठोर व्रतका पालन करनेवाला मनुष्य तपस्याके द्वारा मेरे अस्तित्वको मिटा डालनेका प्रयास करता है, उसकी तपस्यामें ही मैं प्रकट हो जाता हूँ। जो विद्वान् पुरुष मोक्षका सहारा लेकर मेरे विनाशका प्रयत्न करता है, उसकी जो मोक्षविषयक आसक्ति है, उसीसे वह बँधा हुआ है। यह विचारकर मुझे उसपर हँसी आती है और मैं प्रसन्नतासे नाचने लगता हूँ। एकमात्र मैं ही समस्त प्राणियोंके लिये अवध्य एवं सदा रहनेवाला हूँ। अतः महाराज! आप भी नाना प्रकारकी दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा अपनी उस कामनाको धर्ममें लगा दीजिये। वहाँ आपकी वह कामना सफल होगी।

भगवान् श्रीकृष्णका अर्जुनसे द्वारका जानेका प्रस्ताव करना

जब पाण्डवोंने राष्ट्रपर विजय पा ली और सर्वत्र शान्ति स्थापित हो गयी, तब भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे दोनों मित्र आनन्दमग्न हो विचित्र-विचित्र वनोंमें और पर्वतोंके सुरम्य शिखरोंपर विचरने लगे। पवित्र तीर्थों, छोटे तालाबों और नदियोंके तटोंपर विचरण करते हुए वे दोनों नन्दन-वनमें विहार करनेवाले अश्विनीकुमारोंके समान हर्षका अनुभव करते थे। फिर इन्द्रप्रस्थमें लौटकर महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन मयनिर्मित रमणीय सभामें प्रवेश करके आनन्दपूर्वक मनोविनोद करने लगे। कुन्तीकुमार अर्जुन पुत्रशोकसे संतप्त थे। सहस्रों भाई-बन्धुओंके मारे जानेका भी उनके मनमें बड़ा दुःख था। वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने अनेक प्रकारकी कथाएँ सुनाकर उस समय पार्थके चित्तको शान्त किया। बातचीतके अन्तमें गोविन्दने गुडाकेश अर्जुनको अपनी मधुर वाणीद्वारा सान्त्वना प्रदान करते हुए उनसे यह युक्तियुक्त बात कही।

अर्जुन आदिके साथ रहनेमें सुख होनेपर भी, श्रीकृष्णका पिताजी आदिके दर्शनार्थ द्वारका जानेकी इच्छा प्रकट करना

वासुदेव उवाच

विजितेयं धरा कृत्स्ना सव्यसाचिन् परंतप।
त्वद् बाहुबलमाश्रित्य राज्ञा धर्मसुतेन ह ॥
असपत्नां महीं भुङ्क्ते धर्मराजो युधिष्ठिरः।
भीमसेनानुभावेन यमयोश्च नरोत्तम ॥
धर्मेण राज्ञा धर्मज्ञ प्राप्तं राज्यमकण्टकम्।
धर्मेण निहतः संख्ये स च राजा सुयोधनः ॥
अधर्मरुचयो लुब्धाः सदा चाप्रियवादिनः।
धार्तराष्ट्रा दुरात्मानः सानुबन्धा निपातिताः ॥
प्रशान्तामखिलां पार्थ पृथिवीं पृथिवीपतिः।
भुङ्क्ते धर्मसुतो राजा त्वया गुप्तः कुरूद्वह ॥
रमे चाहं त्वया सार्धमरण्येष्वपि पाण्डव।

किमु यत्र जनोऽयं वै पृथा चामित्रकर्षण ॥
यत्र धर्मसुतो राजा यत्र भीमो महाबलः ।
यत्र माद्रवतीपुत्रौ रतिस्तत्र परा मम ॥
तथैव स्वर्गकल्पेषु सभोद्देशेषु कौरव ।
रमणीयेषु पुण्येषु सहितस्य त्वयानघ ॥
कालो महांस्त्वतीतो मे शूरसूनुमपश्यतः ।
बलदेवं च कौरव्य तथान्यान् वृष्णिपुङ्गवान् ॥
सोऽहं गन्तुमभीप्सामि पुरीं द्वारवतीं प्रति ।
रोचतां गमनं मह्यं तवापि पुरुषर्षभ ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० १५ । १२—२१)

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुन ! धर्मपुत्र युधिष्ठिरने तुम्हारे बाहुबलका सहारा लेकर इस समूची पृथ्वीपर विजय प्राप्त कर ली । नरश्रेष्ठ ! भीमसेन तथा नकुल-सहदेवके प्रभावसे धर्मराज युधिष्ठिर इस पृथ्वीका निष्कण्टक राज्य भोग रहे हैं । धर्मज्ञ ! राजा युधिष्ठिरने यह निष्कण्टक राज्य धर्मके बलसे ही प्राप्त किया है । धर्मसे ही राजा दुर्योधन युद्धमें मारा गया है । धृतराष्ट्रके पुत्र अधर्ममें रुचि रखनेवाले, लोभी, कटुवादी और दुरात्मा थे । इसलिये अपने सगे-सम्बन्धियोंसहित मार गिराये गये । कुरुकुलतिलक कुन्तीकुमार ! धर्मपुत्र पृथ्वीपति राजा युधिष्ठिर आज तुमसे सुरक्षित होकर सर्वथा शान्त हुई समूची पृथ्वीका राज्य भोगते हैं । शत्रुसूदन पाण्डुकुमार ! तुम्हारे साथ रहनेपर निर्जन वनमें भी मुझे सुख और आनन्द मिल सकता है । फिर जहाँ इतने लोग और मेरी बुआ कुन्ती हों, वहाँकी तो बात ही क्या है ? जहाँ धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर हों, महाबली भीमसेन और माद्रीकुमार नकुल-सहदेव हों, वहाँ मुझे परम आनन्द प्राप्त हो सकता है । निष्पाप कुरुनन्दन ! इस सभाभवनके रमणीय एवं पवित्र स्थान स्वर्गके समान सुखद हैं । यहाँ तुम्हारे साथ रहते हुए बहुत दिन बीत गये । इतने दिनोंतक मैं अपने पिता शूरसेनकुमार वसुदेवजीका दर्शन न कर सका । भैया बलदेव तथा अन्यान्य वृष्णिवंशके श्रेष्ठ पुरुषोंके भी दर्शनसे वञ्चित रहा । अतः अब मैं द्वारकापुरीको जाना चाहता हूँ । पुरुषप्रवर ! तुम्हें भी मेरे इस यात्रासम्बन्धी प्रस्तावको सहर्ष स्वीकार करना चाहिये ।

युधिष्ठिरके प्रति पूज्यभाव होनेसे श्रीकृष्णद्वारा अर्जुनसे यह कहना कि युधिष्ठिरसे तुम ही पूछ दो, मैं प्राण-संकटमें भी उनका दिल दुखाना नहीं चाहता

उक्तो बहुविधं राजा तत्र तत्र युधिष्ठिरः ।
सह भीष्मेण यद् युक्तमस्माभिः शोककारिते ॥
शिष्टो युधिष्ठिरोऽस्माभिः शास्ता सन्नपि पाण्डवः ।
तेन तत् तु वचः सम्यग् गृहीतं सुमहात्मना ॥
धर्मपुत्रे हि धर्मज्ञे कृतज्ञे सत्यवादिनि ।
सत्यं धर्मो मतिश्चाग्र्या स्थितिश्च सततं स्थिरा ॥
तत्र गत्वा महात्मानं यदि ते रोचतेऽर्जुन ।
अस्मद् गमनसंयुक्तं वचो ब्रूहि जनाधिपम् ॥
न हि तस्याप्रियं कुर्यां प्राणत्यागेऽप्युपस्थिते ।
कुतो गन्तुं महाबाहो पुरीं द्वारावतीं प्रति ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० १५ । २२—२६)

शोकावस्थामें मनुष्यका दुःख दूर करनेके लिये उसे जो कुछ उपदेश देना उचित है, वह भीष्म-सहित हमलोगोंने विभिन्न स्थानोंमें राजा युधिष्ठिरको दिया है । उन्हें अनेक प्रकारसे समझाया है । यद्यपि पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर हमारे शासक और शिक्षक हैं, तो भी हमलोगोंने उनको शिक्षा दी है और उन श्रेष्ठ महात्माने हमारी उन सभी बातोंको भलीभाँति स्वीकार किया है । धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर धर्मज्ञ, कृतज्ञ और सत्यवादी हैं । उनमें सत्य, धर्म, उत्तम बुद्धि तथा ऊँची स्थिति आदि गुण सदा स्थिरभावसे रहते हैं । अर्जुन ! यदि तुम उचित समझो तो महात्मा राजा युधिष्ठिरके पास चलकर उनके समक्ष मेरे द्वारका

जानेका प्रस्ताव उपस्थित करो। महाबाहो! मेरे प्राणोंपर संकट आ जाय, तब भी मैं धर्मराजका अप्रिय नहीं कर सकता; फिर द्वारका जानेके लिये उनका दिल दुखाऊँ, यह तो हो ही कैसे सकता है?

भगवान् श्रीकृष्णकी अर्जुनके प्रति प्रीति तथा युधिष्ठिरके प्रति अगाध स्नेहपूर्ण सर्वसमर्पण-भाव

सर्वं त्विदमहं पार्थ त्वत्प्रीतिहितकाम्यया।
ब्रवीमि सत्यं कौरव्य न मिथ्यैतत् कथंचन॥
प्रयोजनं च निर्वृत्तमिह वासे ममार्जुन।
धार्तराष्ट्रो हतो राजा सबलः सपदानुगः॥
पृथिवी च वशे तात धर्मपुत्रस्य धीमतः।
स्थिता समुद्रवलया सशैलवनकानना॥
चिता रत्नैर्बहुविधैः कुरुराजस्य पाण्डव।
धर्मेण राजा धर्मज्ञः पातु सर्वां वसुन्धराम्॥
उपास्यमानो बहुभिः सिद्धैश्चापि महात्मभिः।
स्तूयमानश्च सततं वन्दिभिर्भरतर्षभ॥
तं मया सह गत्वाद्य राजानं कुरु वर्धनम्।
आपृच्छ कुरुशार्दूल गमनं द्वारकां प्रति॥
इदं शरीरं वसु यच्च मे गृहे
निवेदितं पार्थ सदा युधिष्ठिरे।
प्रियश्च मान्यश्च हि मे युधिष्ठिरः
सदा कुरूणामधिपो महामतिः॥
प्रयोजनं चापि निवासकारणे
न विद्यते मे त्वदृते नृपात्मज।
स्थिता हि पृथ्वी तव पार्थ शासने
गुरोः सुवृत्तस्य युधिष्ठिरस्य च॥
इतीदमुक्तः स तदा महात्मना
जनार्दनेनामितविक्रमोऽर्जुनः।
तथेति दुःखादिव वाक्यमैरय-
ज्जनार्दनं सम्प्रतिपूज्य पार्थिव॥
(महाभारत आश्वमेधिक० १५। २७—३५)

कुरुनन्दन! कुन्तीकुमार! मैं सच्ची बात बता रहा हूँ, मैंने जो कुछ किया या कहा है, वह सब तुम्हारी प्रसन्नताके लिये और तुम्हारे ही हितकी दृष्टिसे किया है। यह किसी तरह मिथ्या नहीं है। अर्जुन! यहाँ मेरे रहनेका जो प्रयोजन था, वह पूरा हो गया है। धृतराष्ट्रका पुत्र राजा दुर्योधन अपनी सेना और सेवकोंके साथ मारा गया। तात! पाण्डुनन्दन! नाना प्रकारके रत्नोंके संचयसे सम्पन्न, समुद्रसे घिरी हुई, पर्वत, वन और काननोंसहित यह सारी पृथ्वी भी बुद्धिमान् धर्मपुत्र कुरुराज युधिष्ठिरके अधीन हो गयी। भरतश्रेष्ठ! बहुत-से सिद्ध महात्माओंके संगसे सुशोभित तथा वन्दीजनोंके द्वारा सदा ही प्रशंसित होते हुए धर्मज्ञ राजा युधिष्ठिर अब धर्मपूर्वक सारी पृथ्वीका पालन करें। कुरुश्रेष्ठ! अब तुम मेरे साथ चलकर राजाको बधाई दो और मेरे द्वारका जानेके विषयमें उनसे पूछकर आज्ञा दिला दो। पार्थ! मेरे घरमें जो कुछ धन-सम्पत्ति है, वह और मेरा यह शरीर सदा धर्मराज युधिष्ठिरकी सेवामें समर्पित है। परम बुद्धिमान् कुरुराज युधिष्ठिर सर्वदा मेरे प्रिय और माननीय हैं। राजकुमार! अब तुम्हारे साथ मन बहलानेके सिवा यहाँ मेरे रहनेका और कोई प्रयोजन नहीं रह गया है। पार्थ! यह सारी पृथ्वी तुम्हारे और सदाचारी गुरु युधिष्ठिरके शासनमें पूर्णतः स्थित है। पृथ्वीनाथ! उस समय महात्मा भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर अमित पराक्रमी अर्जुनने उनकी बातका आदर करते हुए बड़े दुःखके साथ 'तथास्तु' कहकर उनके जानेका प्रस्ताव स्वीकार किया।

(संक्षिप्त अनुगीता)

अर्जुनका श्रीकृष्णसे गीताका विषय पूछना और श्रीकृष्णका अर्जुनसे सिद्ध, महर्षि एवं काश्यपका संवाद सुनना

अर्जुनका श्रीकृष्णसे पुनः ज्ञानोपदेश सुनानेके लिये निवेदन

जनमेजय उवाच

सभायां वसतोस्तत्र निहत्यारीन् महात्मनोः ।
केशवार्जुनयोः का नु कथा समभवद् द्विज ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० १६ । १)

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! शत्रुओंका नाश करके जब महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन सभाभवनमें रहने लगे, उन दिनों उन दोनोंमें क्या-क्या बातचीत हुई ?

वैशम्पायन उवाच

कृष्णेन सहितः पार्थः स्वं राज्यं प्राप्य केवलम् ।
तस्यां सभायां दिव्यायां विजहार मुदा युतः ॥
तत्र कंचित् सभोद्देशं स्वर्गोद्देशसमं नृप ।
यदृच्छया तौ मुदितौ जग्मतुः स्वजनावृतौ ॥
ततः प्रतीतः कृष्णेन सहितः पाण्डवोऽर्जुनः ।
निरीक्ष्य तां सभां रम्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥
विदितं मे महाबाहो संग्रामे समुपस्थिते ।
माहात्म्यं देवकीमातस्तच्च ते रूपमैश्वरम् ॥
यत् तद् भगवता प्रोक्तं पुरा केशव सौहृदात् ।
तत् सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे भ्रष्टचेतसः ॥
मम कौतूहलं त्वस्ति तेष्वर्थेषु पुनः पुनः ।
भवांस्तु द्वारकां गन्ता नचिरादिव माधव ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० १६ । २–७)

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! श्रीकृष्णके सहित अर्जुनने जब केवल अपने राज्यपर पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया, तब वे उस दिव्य सभाभवनमें आनन्दपूर्वक रहने लगे। नरेश्वर ! एक दिन वहाँ स्वजनोंसे घिरे हुए वे दोनों मित्र स्वेच्छासे घूमते-घामते सभामण्डपके एक ऐसे भागमें पहुँचे, जो स्वर्गके समान सुन्दर था। पाण्डुनन्दन अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके साथ रहकर बहुत प्रसन्न थे। उन्होंने एक बार उस रमणीय सभाकी ओर दृष्टि डालकर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'महाबाहो ! देवकीनन्दन ! जब संग्रामका समय उपस्थित था, उस समय मुझे आपके माहात्म्यका ज्ञान और ईश्वरीय स्वरूपका दर्शन हुआ था। किंतु केशव ! आपने सौहार्दवश पहले मुझे जो ज्ञानका उपदेश दिया था, मेरा वह सब ज्ञान इस समय विचलितचित्त हो जानेके कारण नष्ट हो गया (भूल गया) है। माधव ! उन विषयोंको सुननेके लिये मेरे मनमें बारंबार उत्कण्ठा होती है। इधर आप जल्दी ही द्वारका जानेवाले हैं; अतः पुनः वह सब विषय मुझे सुना दीजिये।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु तं कृष्णः फाल्गुनं प्रत्यभाषत ।
परिष्वज्य महातेजा वचनं वदतां वरः ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० १६ । ८)

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! अर्जुनके ऐसा कहनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें गलेसे लगाकर इस प्रकार उत्तर दिया।

भगवान्‌के द्वारा गुह्य ज्ञान भूल जानेके लिये अर्जुनको उलाहना देते हुए एक प्राचीन इतिहास सुनाना आरम्भ किया जाना

वासुदेव उवाच

श्रावितस्त्वं मया गुह्यं* ज्ञापितश्च सनातनम् ।
धर्मं स्वरूपिणं पार्थ सर्वलोकांश्च शाश्वतान् ॥
अबुद्ध्या नाग्रहीर्यस्त्वं तन्मे सुमहदप्रियम् ।
न च साद्य पुनर्भूयः स्मृतिर्मे सम्भविष्यति ॥

---

* श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने महान् श्रेष्ठ वचन ('परमं वचः') के रूपमें—सर्वधर्म-त्याग करके शरणागतिका जो 'सर्वगुह्यतम' उपदेश अर्जुनके प्रति दिया था, उसे अर्जुन नहीं भूले। वे तो उस 'गुह्य' ज्ञानको भूल-से गये थे। इसीसे यहाँ 'गुह्य' शब्द आया है।

नूनमश्रद्दधानोऽसि दुर्मेधा ह्यसि पाण्डव ।
न च शक्यं पुनर्वक्तुमशेषेण धनंजय ॥
स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने ।
न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः ॥
परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया ।
इतिहासं तु वक्ष्यामि तस्मिन्नर्थे पुरातनम् ॥
यथा तां बुद्धिमास्थाय गतिमग्र्यां गमिष्यसि ।
शृणु धर्मभृतां श्रेष्ठ गदितं सर्वमेव मे ॥
आगच्छद् ब्राह्मणः कश्चित् स्वर्गलोकादरिंदम ।
ब्रह्मलोकाच्च दुर्धर्षः सोऽस्माभिः पूजितोऽभवत् ॥
अस्माभिः परिपृष्टश्च यदाह भरतर्षभ ।
दिव्येन विधिना पार्थ तच्छृणुष्वाविचारयन् ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० १६ । ९–१६)

श्रीकृष्ण बोले—अर्जुन ! उस समय मैंने तुम्हें गोपनीय (गुह्य) ज्ञानका श्रवण कराया था, अपने स्वरूप-भूत सनातनधर्मका परिचय दिया था और (शुक्ल-कृष्ण गतिका निरूपण करते हुए) सम्पूर्ण लोकोंका भी वर्णन किया था; किंतु तुमने जो अपनी नासमझीके कारण उस उपदेशको याद नहीं रक्खा, यह मुझे बहुत अप्रिय है । उन बातोंका अब पूरा-पूरा स्मरण होना सम्भव नहीं जान पड़ता । पाण्डुनन्दन ! निश्चय ही तुम श्रद्धाहीन हो और तुम्हारी बुद्धि ठीक नहीं जान पड़ती है । धनंजय ! अब मैं उस उपदेशको ज्यों-का-त्यों नहीं कह सकता; क्योंकि वह धर्म ब्रह्मपदकी प्राप्ति करानेके लिये पर्याप्त था, वह सारा-का-सारा धर्म उसी रूपमें फिर दुहरा देना अब मेरे वशकी बात भी नहीं है । उस समय योगयुक्त होकर मैंने ब्रह्मतत्त्वका वर्णन किया था । अब उस विषयका ज्ञान करानेके लिये मैं एक प्राचीन इतिहासका वर्णन करता हूँ । जिससे तुम उस समत्वबुद्धिका आश्रय लेकर उत्तम गति प्राप्त कर लोगे । धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! अब तुम मेरी सारी बातें ध्यान देकर सुनो । शत्रुदमन ! एक दिनकी बात है, एक दुर्धर्ष ब्राह्मण ब्रह्मलोकसे उतरकर स्वर्गलोकमें होते हुए मेरे यहाँ आये । मैंने उनकी विधिवत् पूजा की और मोक्षधर्मके विषयमें प्रश्न किया । भरतश्रेष्ठ ! मेरे प्रश्नका उन्होंने सुन्दर विधिसे उत्तर दिया । पार्थ ! वही मैं तुम्हें बतला रहा हूँ । कोई अन्यथा विचार न करके इसे ध्यान देकर सुनो ।

ब्राह्मण उवाच

मोक्षधर्मं समाश्रित्य कृष्ण यन्मामपृच्छथाः ।
भूतानामनुकम्पार्थं यन्मोहच्छेदनं विभो ॥
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि यथावन्मधुसूदन ।
शृणुष्वावहितो भूत्वा गदतो मम माधव ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० १६ । १७-१८)

ब्राह्मणने कहा—श्रीकृष्ण ! मधुसूदन ! तुमने सब प्राणियोंपर कृपा करके उनके मोहका नाश करनेके लिये जो यह मोक्ष-धर्मसे सम्बन्ध रखनेवाला प्रश्न किया है, उसका मैं यथावत् उत्तर दे रहा हूँ । प्रभो ! माधव ! सावधान होकर मेरी बात श्रवण करो ।

ब्राह्मणके द्वारा काश्यप और सिद्धके संवादका प्रारम्भ

कश्चिद् विप्रस्तपोयुक्तः काश्यपो धर्मवित्तमः ।
आससाद द्विजं कंचिद् धर्माणामागतागमम् ॥
गतागते सुबहुशो ज्ञानविज्ञानपारगम् ।
लोकतत्त्वार्थकुशलं ज्ञातारं सुखदुःखयोः ॥
जातीमरणतत्त्वज्ञं कोविदं पापपुण्ययोः ।
द्रष्टारमुच्चनीचानां कर्मभिर्देहिनां गतिम् ॥
चरन्तं मुक्तवत्सिद्धं प्रशान्तं संयतेन्द्रियम् ।
दीप्यमानं श्रिया ब्राह्म्या क्रममाणं च सर्वशः ॥
अन्तर्धानगतिज्ञं च श्रुत्वा तत्त्वेन काश्यपः ।
तथैवान्तर्हितैः सिद्धैर्यान्तं चक्रधरैः सह ॥
सम्भाषमाणमेकान्ते समासीनं च तैः सह ।
यदृच्छया च गच्छन्तमसक्तं पवनं यथा ॥
तं समासाद्य मेधावी स तदा द्विजसत्तमः ।

चरणौ धर्मकामोऽस्य तपस्वी सुसमाहितः ।
प्रतिपेदे यथान्यायं दृष्ट्वा तन्महदद्भुतम् ॥
विस्मितश्चाद्भुतं दृष्ट्वा काश्यपस्तद् द्विजोत्तमम् ।
परिचारेण महता गुरुं तं पर्यतोषयत् ॥
उपपन्नं च तत्सर्वं श्रुतचारित्रसंयुतम् ।
भावेनातोषयच्चैनं गुरुवृत्त्या परंतपः ॥
तस्मै तुष्टः स शिष्याय प्रसन्नो वाक्यमब्रवीत् ।
सिद्धिं परामभिप्रेक्ष्य शृणु मत्तो जनार्दन ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० १६ । १९—२८)

प्राचीन समयमें काश्यप नामके एक धर्मज्ञ और तपस्वी ब्राह्मण किसी सिद्ध महर्षिके पास गये, जो धर्मके विषयमें शास्त्रके सम्पूर्ण रहस्योंको जाननेवाले, भूत और भविष्यके ज्ञान-विज्ञानमें प्रवीण, लोक-तत्त्वके ज्ञानमें कुशल, सुख-दुःखके रहस्यको समझनेवाले, जन्म-मृत्युके तत्त्वज्ञ, पाप-पुण्यके ज्ञाता और ऊँच-नीच प्राणियोंको कर्मानुसार प्राप्त होनेवाली गतिके प्रत्यक्ष द्रष्टा थे । वे मुक्तकी भाँति विचरनेवाले, सिद्ध, शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान, सर्वत्र घूमनेवाले और अन्तर्धान-विद्याके ज्ञाता थे । अदृश्य रहनेवाले चक्रधारी सिद्धोंके साथ वे विचरते, बातचीत करते और उन्हींके साथ एकान्तमें बैठते थे । जैसे वायु कहीं आसक्त न होकर सर्वत्र प्रवाहित होती है, उसी तरह वे सर्वत्र अनासक्त भावसे स्वच्छन्दतापूर्वक विचरा करते थे । महर्षि काश्यप उनकी उपर्युक्त महिमा सुनकर ही उनके पास गये थे । निकट जाकर उन मेधावी, तपस्वी, धर्माभिलाषी और एकाग्रचित्त महर्षिने न्यायानुसार उन सिद्ध महात्माके चरणोंमें प्रणाम किया । वे ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ और बड़े अद्भुत संत थे । उनमें सब प्रकारकी योग्यता थी । वे शास्त्रके ज्ञाता और सच्चरित्र थे । उनका दर्शन करके काश्यपको बड़ा विस्मय हुआ । वे उन्हें गुरु मानकर उनकी सेवामें लग गये और अपनी शुश्रूषा, गुरुभक्ति तथा श्रद्धाभावके द्वारा उन्होंनें उन सिद्ध महात्माको संतुष्ट कर लिया । जनार्दन ! अपने शिष्य काश्यपके ऊपर प्रसन्न होकर उन सिद्ध महर्षिने परासिद्धिके सम्बन्धमें विचार करके जो उपदेश किया, उसे बताता हूँ, सुनो ।

सिद्धके द्वारा अपने भोगे हुए सांसारिक दुःखोंका वर्णन

सिद्ध उवाच

विविधैः कर्मभिस्तात पुण्ययोगैश्च केवलैः ।
गच्छन्तीह गतिं मर्त्या देवलोके च संस्थितिम् ॥
न क्वचित् सुखमत्यन्तं न क्वचिच्छाश्वती स्थितिः ।
स्थानाच्च महतो भ्रंशो दुःखलब्धात् पुनः पुनः ॥
अशुभा गतयः प्राप्ताः कष्टा मे पापसेवनात् ।
काममन्युपरीतेन तृष्णया मोहितेन च ॥
पुनः पुनश्च मरणं जन्म चैव पुनः पुनः ।
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः ॥
मातरो विविधा दृष्टाः पितरश्च पृथग्विधाः ।
सुखानि च विचित्राणि दुःखानि च मयानघ ॥
प्रियैर्विवासो बहुशः संवासश्चाप्रियैः सह ।
धननाशश्च सम्प्राप्तो लब्ध्वा दुःखेन तद् धनम् ॥
अवमानाः सुकष्टाश्च राजतः स्वजनात् तथा ।
शारीरा मानसा वापि वेदना भृशदारुणाः ॥
प्राप्ता विमाननाश्चोग्रा वधबन्धाश्च दारुणाः ।
पतनं निरये चैव यातनाश्च यमक्षये ॥
जरा रोगाश्च सततं व्यसनानि च भूरिशः ।
लोकेऽस्मिन्ननुभूतानि द्वन्द्वजानि भृशं मया ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० १६ । २९—३७)

सिद्धने कहा—तात काश्यप ! मनुष्य नाना प्रकारके शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करके केवल पुण्यके संयोगसे इस लोकमें उत्तम फल और देवलोकमें स्थान प्राप्त करते हैं । जीवको कहीं भी अत्यन्त सुख नहीं मिलता । किसी भी लोकमें वह सदा नहीं रहने पाता । तपस्या आदिके द्वारा कितने ही कष्ट सहकर बड़े-से-बड़े स्थानको क्यों

न प्राप्त किया जाय, वहाँसे भी बार-बार नीचे आना ही पड़ता है। मैंने काम-क्रोधसे युक्त और तृष्णासे मोहित होकर अनेकों बार पाप किये हैं और उनके सेवनके फलस्वरूप घोर कष्ट देनेवाली अशुभ गतियोंको भोगा है। बार-बार जन्म और बार-बार मृत्युका क्लेश उठाया है। तरह-तरहके आहार ग्रहण किये और अनेक स्तनोंका दूध पीया है। अनघ! बहुत-से पिता और भाँति-भाँतिकी माताएँ देखी हैं। विचित्र-विचित्र सुख-दुःखोंका अनुभव किया है। कितनी ही बार मुझसे प्रियजनोंका वियोग और अप्रिय जनोंका संयोग हुआ है। जिस धनको मैंने बहुत कष्ट सहकर कमाया था, वह मेरे देखते-देखते नष्ट हो गया है। राजा और स्वजनोंकी ओरसे मुझे कई बार बड़े-बड़े कष्ट और अपमान उठाने पड़े हैं। तन और मनकी अत्यन्त भयंकर वेदनाएँ सहनी पड़ी हैं। मैंने अनेक बार घोर अपमान, प्राणदण्ड और कड़ी कैदकी सजाएँ भोगी हैं। मुझे नरकमें गिरना और यमलोकमें मिलनेवाली यातनाओंको सहना पड़ा है। इस लोकमें जन्म लेकर मैंने बार-बार बुढ़ापा, रोग, व्यसन और राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंके प्रचुर दुःख सदा ही भोगे हैं।

दुःखोंसे घबराकर वैराग्य होनेपर सिद्धिकी प्राप्ति

ततः कदाचिन्निर्वेदान्निराकाराश्रितेन च ।
लोकतन्त्रं परित्यक्तं दुःखार्तेन भृशं मया ॥
लोकेऽस्मिन्ननुभूयाहमिमं मार्गमनुष्ठितः ।
ततः सिद्धिरियं प्राप्ता प्रसादादात्मनो मया ॥
नाहं पुनरिहागन्ता लोकानालोकयाम्यहम् ।
आसिद्धेराप्रजासर्गादात्मनोऽपि गतीः शुभाः ॥
उपलब्धा द्विजश्रेष्ठ तथेयं सिद्धिरुत्तमा ।
इतः परं गमिष्यामि ततः परतरं पुनः ॥
ब्रह्मणः पदमव्यक्तं मा तेऽभूदत्र संशयः ।
नाहं पुनरिहागन्ता मर्त्यलोकं परंतप ॥
प्रीतोऽस्मि ते महाप्राज्ञ ब्रूहि किं करवाणि ते ।
यदीप्सुरुपपन्नस्त्वं तस्य कालोऽयमागतः ॥
अभिजाने च तदहं यदर्थं मामुपागतः ।
अचिरात् तु गमिष्यामि तेनाहं त्वामचूचुदम् ॥
भृशं प्रीतोऽस्मि भवतश्चारित्रेण विचक्षण ।
परिपृच्छस्व कुशलं भाषेयं यत् तवेप्सितम् ॥
बहु मन्ये च ते बुद्धिं भृशं सम्पूजयामि च ।
येनाहं भवता बुद्धो मेधावी ह्यसि काश्यप ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० १६ । ३८—४६)

इस प्रकार बारंबार क्लेश उठानेसे एक दिन मेरे मनमें बड़ा खेद हुआ और मैंने दुःखोंसे घबराकर निराकार परमात्माकी शरण ली तथा समस्त लोकव्यवहारका परित्याग कर दिया। इस लोकमें अनुभवके पश्चात् मैंने इस मार्गका अवलम्बन किया है और अब परमात्माकी कृपासे मुझे यह उत्तम सिद्धि प्राप्त हुई है। अब मैं पुनः इस संसारमें नहीं आऊँगा। जबतक यह सृष्टि स्थित रहेगी और जबतक मेरी मुक्ति नहीं हो जायगी, तबतक मैं अपनी और दूसरे प्राणियोंकी शुभगतिका अवलोकन करूँगा। द्विजश्रेष्ठ! इस प्रकार मुझे यह उत्तम सिद्धि मिली है। इसके बाद मैं उत्तम लोकमें जाऊँगा। फिर उससे भी परम उत्कृष्ट सत्यलोकमें जा पहुँचूँगा और क्रमशः अव्यक्त ब्रह्मपद (मोक्ष-) को प्राप्त कर लूँगा। इसमें तुम्हें संशय नहीं करना चाहिये। काम-क्रोध आदि शत्रुओंको संताप देनेवाले काश्यप! अब मैं पुनः इस मर्त्यलोकमें नहीं आऊँगा। महाप्राज्ञ! मैं तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हूँ। बोलो, तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ! तुम जिस वस्तुको पानेकी इच्छासे मेरे पास आये हो, उसके प्राप्त होनेका यह समय आ गया है। तुम्हारे आनेका उद्देश्य क्या है, इसे मैं जानता हूँ और शीघ्र ही यहाँसे चला जाऊँगा। इसीलिये मैंने स्वयं तुम्हें प्रश्न करनेके लिये प्रेरित किया है। विद्वन्! तुम्हारे उत्तम आचरणसे मुझे बड़ा संतोष है। तुम अपने कल्याणकी

गौ-दानी श्रीकृष्ण

ध्यानपरायण श्रीकृष्ण

जगद्गुरु श्रीकृष्ण

गीतावक्ता श्रीकृष्ण

(२) श्रीकृष्णकी द्वारका-लीलाके चार प्रसंग

[५ से ८]
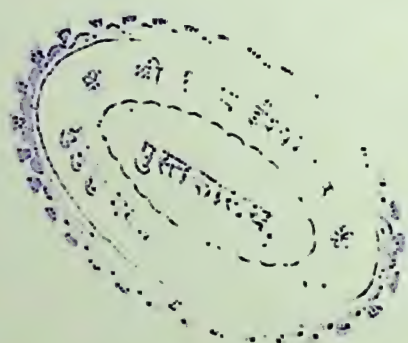
बात पूछो ! मैं तुम्हारे अभीष्ट प्रश्नका उत्तर दूँगा। काश्यप ! मैं तुम्हारी बुद्धिकी सराहना करता और उसे बहुत आदर देता हूँ। तुमने मुझे पहचान लिया है। इसीसे कहता हूँ कि तुम बड़े बुद्धिमान् हो।

सत्कर्मोंका, संसार-सागरसे पार होनेके उपायका तथा मुक्तके स्वरूप एवं मुक्तिके साधनका वर्णन

तदनन्तर काश्यपके प्रश्नके उत्तरमें सिद्धने जीवकी विविध गतियों आदिका वर्णन करनेके अनन्तर फिर कहा—

जीवको सुखी बनानेवाले सत्कर्मरूपी सनातनधर्मके लक्षण

तत्र कर्म प्रवक्ष्यामि सुखी भवति येन वै।
आवर्तमानो जातीषु यथान्योन्यासु सत्तम ॥
दानं व्रतं ब्रह्मचर्यं यथोक्तं ब्रह्मधारणम्।
दमः प्रशान्तता चैव भूतानां चानुकम्पनम् ॥
संयमश्चानृशंस्यं च परस्वादानवर्जनम्।
व्यलीकानामकरणं भूतानां मनसा भुवि ॥
मातापित्रोश्च शुश्रूषा देवतातिथिपूजनम्।
गुरुपूजा घृणा शौचं नित्यमिन्द्रियसंयमः ॥
प्रवर्तनं शुभानां च तत् सतां वृत्तमुच्यते।
ततो धर्मः प्रभवति यः प्रजाः पाति शाश्वतीः ॥
एवं सत्सु सदा पश्येत् तत्राप्येषा ध्रुवा स्थितिः।
आचारो धर्ममाचष्टे यस्मिन् शान्ता व्यवस्थिताः ॥
तेषु तत् कर्म निक्षिप्तं यः स धर्मः सनातनः।
यस्तं समभिपद्येत न स दुर्गतिमाप्नुयात् ॥
अतो नियम्यते लोकः प्रच्यवन् धर्मवर्त्मसु।
यश्च योगी च मुक्तश्च स एतेभ्यो विशिष्यते ॥
वर्तमानस्य धर्मेण शुभं यत्र यथा तथा।
संसारतारणं ह्यस्य कालेन महता भवेत् ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० १८। १४—२२)

साधुशिरोमणे ! इस प्रकार भिन्न-भिन्न योनियोंमें भ्रमण करनेवाला जीव जिनके अनुष्ठानसे सुखी होता है, उन कर्मोंका वर्णन सुनो। दान, व्रत, ब्रह्मचर्य, शास्त्रोक्त रीतिसे वेदाध्ययन, इन्द्रियनिग्रह, शान्ति, समस्त प्राणियोंपर दया, चित्तका संयम, कोमलता, दूसरोंके धन लेनेकी इच्छाका त्याग, संसारके प्राणियोंका मनसे भी अहित न करना, माता-पिताकी सेवा, देवता, अतिथि और गुरुओंकी पूजा, दया, पवित्रता, इन्द्रियोंको सदा नियन्त्रणमें रखना तथा शुभ कर्मोंका प्रचार करना—यह सब श्रेष्ठ पुरुषोंका बर्ताव कहलाता है। इनके अनुष्ठानसे धर्म होता है, जो सदा प्रजावर्गकी रक्षा करता है। सत्पुरुषोंमें सदा ही इस प्रकारका धार्मिक आचरण देखा जाता है। उन्हींमें धर्मकी अटल स्थिति होती है। सदाचार ही धर्मका परिचय देता है। शान्तचित्त महात्मा पुरुष सदाचारमें ही स्थित रहते हैं। उन्हींमें पूर्वोक्त दान आदि कर्मोंकी स्थिति है। वे ही कर्म सनातनधर्मके नामसे प्रसिद्ध हैं। जो उस सनातन धर्मका आश्रय लेता है, उसे कभी दुर्गति नहीं भोगनी पड़ती। इसीलिये धर्ममार्गसे भ्रष्ट होनेवाले लोगोंका नियन्त्रण किया जाता है। जो योगी और मुक्त है, वह अन्य धर्मात्माओंकी अपेक्षा श्रेष्ठ होता है। जो धर्मके अनुसार बर्ताव करता है, वह जहाँ जिस अवस्थामें भी हो, वहाँ उसी स्थितिमें उसको अपने कर्मानुसार उत्तम फलकी प्राप्ति होती है और वह धीरे-धीरे अधिक काल बीतनेपर संसार-सागरसे तर जाता है।

संसार-सागरसे तरनेका उपाय

सुखदुःखे यथा सम्यगनित्ये यः प्रपश्यति।
कायं चामेध्यसंघातं विनाशं कर्मसंहितम् ॥
यच्च किंचित्सुखं तच्च दुःखं सर्वमिति स्मरन्।
संसारसागरं घोरं तरिष्यति सुदुस्तरम् ॥
जातीमरणरोगैश्च समाविष्टः प्रधानवित्।
चेतनावत्सु चैतन्यं समं भूतेषु पश्यति ॥

निर्विद्यते ततः कृत्स्नं मार्गमाणः परं पदम् ।
तस्योपदेशं वक्ष्यामि याथातथ्येन सत्तम ॥
शाश्वतस्याव्ययस्याथ यदस्य ज्ञानमुत्तमम् ।
प्रोच्यमानं मया विप्र निबोधेदमशेषतः ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० १८ । ३१—३५)

जो मनुष्य सुख और दुःख दोनोंको अनित्य समझता है, शरीरको अपवित्र वस्तुओंका समूह समझता है और मृत्युको कर्मका फल समझता है तथा सुखके रूपमें प्रतीत होनेवाला जो कुछ भी है वह सब दुःख-ही-दुःख है—ऐसा मानता है, वह घोर एवं दुस्तर संसार-सागरसे पार हो जायगा । जन्म, मृत्यु एवं रोगोंसे घिरा हुआ जो पुरुष प्रधान तत्त्व (प्रकृति-) को जानता है और समस्त चेतन प्राणियोंमें चैतन्यको समानरूपसे व्याप्त देखता है, वह पूर्ण परमपदके अनुसंधानमें संलग्न हो जगत्‌के भोगोंसे विरक्त हो जाता है । साधुशिरोमणे ! उस वैराग्यवान् पुरुषके लिये जो हितकर उपदेश है, उसका मैं यथार्थरूपसे वर्णन करूँगा । उसके लिये जो सनातन अविनाशी परमात्माका उत्तम ज्ञान अभीष्ट है, उसका मैं वर्णन करता हूँ। विप्रवर ! तुम सारी बातोंको ध्यान देकर सुनो ।

सिद्ध ब्राह्मणने कहा—काश्यप ! जो मनुष्य (स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंमेंसे क्रमशः) पूर्व-पूर्वका अभिमान त्यागकर कुछ भी चिन्तन नहीं करता और मौनभावसे रहकर सबके एकमात्र अधिष्ठान—परब्रह्म परमात्मामें लीन रहता है, वही संसार-बन्धनसे मुक्त होता है ।

बन्धनसे कौन मुक्त होता है ?

सर्वमित्रः सर्वसहः शमे रक्तो जितेन्द्रियः ।
व्यपेतभयमन्युश्च आत्मवान् मुच्यते नरः ॥
आत्मवत् सर्वभूतेषु यश्चरेन्नियतः शुचिः ।
अमानी निरभीमानः सर्वतो मुक्त एव सः ॥
जीवितं मरणं चोभे सुखदुःखे तथैव च ।
लाभालाभे प्रियद्वेष्ये यः समः स च मुच्यते ॥
न कस्यचित् स्पृहयते नावजानाति किंचन ।
निर्द्वन्द्वो वीतरागात्मा सर्वथा मुक्त एव सः ॥
अनमित्रश्च निर्बन्धुरनपत्यश्च यः क्वचित् ।
त्यक्तधर्मार्थकामश्च निराकाङ्क्षी च मुच्यते ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० १९ । २—६)

जो सबका मित्र, सब कुछ सहनेवाला, मनोनिग्रहमें तत्पर, जितेन्द्रिय, भय और क्रोधसे रहित तथा आत्मवान् है, वह मनुष्य बन्धनसे मुक्त हो जाता है । जो नियम-परायण और पवित्र रहकर सब प्राणियोंके प्रति अपने-जैसा बर्ताव करता है, जिसके भीतर सम्मान पानेकी इच्छा नहीं है तथा जो अभिमानसे दूर रहता है, वह सर्वथा मुक्त ही है । जो जीवन-मरण, सुख-दुःख, लाभ-हानि तथा प्रिय-अप्रिय आदि द्वन्द्वोंको समभावसे देखता है, वह मुक्त हो जाता है । जो किसीके द्रव्यका लोभ नहीं रखता, किसीकी अवहेलना नहीं करता; जिसके मनपर द्वन्द्वोंका प्रभाव नहीं पड़ता और जिसके चित्तकी आसक्ति दूर हो गयी है, वह सर्वथा मुक्त ही है । जो किसीको अपना मित्र, बन्धु या संतान नहीं मानता, जिसने सकाम धर्म, अर्थ और कामका त्याग कर दिया है तथा जो सब प्रकारकी आकाङ्क्षाओंसे रहित है, वह मुक्त हो जाता है ।

नैव धर्मी न चाधर्मी पूर्वोपचितहायकः ।
धातुक्षयप्रशान्तात्मा निर्द्वन्द्वः स विमुच्यते ॥
अकर्मवान् विकाङ्क्षश्च पश्येज्जगदशाश्वतम् ।
अश्वत्थसदृशं नित्यं जन्ममृत्युजरायुतम् ॥
वैराग्यबुद्धिः सततमात्मदोषव्यपेक्षकः ।
आत्मबन्धविनिर्मोक्षं स करोत्यचिरादिव ॥
अगन्धमरसस्पर्शमशब्दमपरिग्रहम् ।
अरूपमनभिज्ञेयं दृष्ट्वाऽऽत्मानं विमुच्यते ॥
पञ्चभूतगुणैर्हीनममूर्तिमदहेतुकम् ।
अगुणं गुणभोक्तारं यः पश्यति स मुच्यते ॥

विहाय सर्वसंकल्पान् बुद्ध्या शारीरमानसान् ।
शनैर्निर्वाणमाप्नोति निरिन्धन इवानलः ॥
सर्वसंस्कारनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।
तपसा इन्द्रियग्रामं यश्चरेन्मुक्त एव सः ॥
विमुक्तः सर्वसंस्कारैस्ततो ब्रह्म सनातनम् ।
परमाप्नोति संशान्तमचलं नित्यमक्षरम् ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० १९ । ७—१४)

जिसकी न धर्ममें आसक्ति है न अधर्ममें, जो पूर्व-संचित कर्मोंको त्याग चुका है, वासनाओंका क्षय हो जानेसे जिसका चित्त शान्त हो गया है तथा जो सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे रहित है, वह मुक्त हो जाता है। जो किसी भी कर्मका कर्ता नहीं बनता, जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, जो इस जगत्को अश्वत्थके समान अनित्य—कलतक न टिक सकनेवाला समझता है तथा जो सदा इसे जन्म, मृत्यु और जरासे युक्त जानता है, जिसकी बुद्धि वैराग्यमें लगी रहती है और जो निरन्तर अपने दोषोंपर दृष्टि रखता है, वह शीघ्र ही अपने बन्धन-का नाश कर देता है। जो आत्माको गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, परिग्रह, रूपसे रहित तथा अज्ञेय मानता है, वह मुक्त हो जाता है। जिसकी दृष्टिमें आत्मा पाञ्चभौतिक गुणोंसे हीन, निराकार, कारणरहित तथा निर्गुण होते हुए भी (मायाके सम्बन्धसे) गुणोंका भोक्ता है, वह मुक्त हो जाता है। जो बुद्धिसे विचार करके शारीरिक और मानसिक सब संकल्पोंका त्याग कर देता है, वह बिना ईंधनकी आगके समान धीरे-धीरे शान्तिको प्राप्त हो जाता है। जो सब प्रकारके संस्कारोंसे रहित, द्वन्द्व और परिग्रहसे रहित हो गया है तथा जो तपस्याके द्वारा इन्द्रिय-समूहको अपने वशमें करके (अनासक्त) भावसे विचरता है, वह मुक्त ही है। जो सब प्रकारके संस्कारोंसे मुक्त होता है, वह मनुष्य शान्त, अचल, नित्य, अविनाशी एवं सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

योगसाधनके द्वारा आत्मसाक्षात्कार

अतः परं प्रवक्ष्यामि योगशास्त्रमनुत्तमम् ।
युञ्जन्तः सिद्धमात्मानं यथा पश्यन्ति योगिनः ॥
तस्योपदेशं वक्ष्यामि यथावत् तन्निबोध मे ।
यैर्द्वारैश्चारयन्नित्यं पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥
इन्द्रियाणि तु संहृत्य मन आत्मनि धारयेत् ।
तीव्रं तप्त्वा तपः पूर्वं मोक्षयोगं समाचरेत् ॥
तपस्वी सततं युक्तो योगशास्त्रमथाचरेत् ।
मनीषी मनसा विप्रः पश्यन्नात्मानमात्मनि ॥
स चेच्छक्नोत्ययं साधुर्योक्तुमात्मानमात्मनि ।
तत एकान्तशीलः स पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥
संयतः सततं युक्त आत्मवान् विजितेन्द्रियः ।
तथा य आत्मनाऽऽत्मानं सम्प्रयुक्तः प्रपश्यति ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० १९ । १५—२०)

अब मैं उस परम उत्तम योगशास्त्रका वर्णन करूँगा, जिसके अनुसार योग-साधन करनेवाले योगी पुरुष अपने आत्माका साक्षात्कार कर लेते हैं। मैं उसका यथावत् उपदेश करता हूँ। मनोनिग्रहके जिन उपायों-द्वारा चित्तको इस शरीरके भीतर ही वशीभूत एवं अन्तर्मुख करके योगी अपने नित्य आत्माका दर्शन करता है, उन्हें मुझसे श्रवण करो। इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे हटाकर मनमें और मनको आत्मामें स्थापित करे। इस प्रकार पहले तीव्र तपस्या करके फिर मोक्षोपयोगी उपायका अवलम्बन करना चाहिये। मनीषी ब्राह्मणको चाहिये कि वह सदा तपस्यामें प्रवृत्त एवं यत्नशील होकर योगशास्त्रोक्त उपायका अनुष्ठान करे। इससे वह मनके द्वारा अन्तःकरणमें आत्माका साक्षात्कार करता है। एकान्तमें रहनेवाला साधक पुरुष यदि अपने मनको आत्मामें लगाये रखनेमें सफल हो जाता है, तो वह अवश्य ही अपनेमें आत्माका दर्शन करता है। जो साधक सदा संयमपरायण, योगयुक्त, मनको वशमें करनेवाला और जितेन्द्रिय है, वही आत्मासे प्रेरित

होकर बुद्धिके द्वारा उसका साक्षात्कार कर सकता है ।

मनको आत्मामें लीन करनेवाले योगीको अक्षय आनन्दकी प्राप्ति

यथा हि पुरुषः स्वप्ने दृष्ट्वा पश्यत्यसाविति ।
तथा रूपमिवात्मानं साधु युक्तः प्रपश्यति ॥
इषीकां च यथा मुञ्जात् कश्चिन्निष्कृष्य दर्शयेत् ।
योगी निष्कृष्य चात्मानं तथा पश्यति देहतः ॥
मुञ्जं शरीरमित्याहुरिषीकामात्मनि श्रिताम् ।
एतन्निदर्शनं प्रोक्तं योगविद्भिरनुत्तमम् ॥
यदा हि युक्तमात्मानं सम्यक् पश्यति देहभृत् ।
न तस्येहेश्वरः कश्चित् त्रैलोक्यस्यापि यः प्रभुः ॥
अन्यान्याश्चैव तनवो यथेष्टं प्रतिपद्यते ।
विनिवृत्य जरां मृत्युं न शोचति न हृष्यति ॥
देवानामपि देवत्वं युक्तः कारयते वशी ।
ब्रह्म चाव्ययमाप्नोति हित्वा देहमशाश्वतम् ॥
विनश्यत्सु च भूतेषु न भयं तस्य जायते ।
क्लिश्यमानेषु भूतेषु न स क्लिश्यति केनचित् ॥
दुःखशोकमयैर्घोरैः सङ्गस्नेहसमुद्भवैः ।
न विचाल्यति युक्तात्मा निःस्पृहः शान्तमानसः ॥
नैनं शस्त्राणि विध्यन्ते न मृत्युश्चास्य विद्यते ।
नातः सुखतरं किंचिल्लोके क्वचन दृश्यते ॥
सम्यग्युक्त्वा स आत्मानमात्मन्येव प्रतिष्ठते ।
विनिवृत्तजरादुःखः सुखं स्वपिति चापि सः ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० १९ । २१—३०)

जैसे मनुष्य सपनेमें किसी अपरिचित पुरुषको देखकर जब पुनः उसे जाग्रत् अवस्थामें देखता है, तब तुरंत पहचान लेता है कि 'यह वही है' उसी प्रकार साधनपरायण योगी समाधि-अवस्थामें आत्माको जिस रूपमें देखता है, उसी रूपमें उसके बाद भी देखता रहता है । जैसे कोई मनुष्य मूँजसे सींकको अलग करके दिखा दे, वैसे ही योगी पुरुष आत्माको इस देहसे पृथक् करके देखता है । यहाँ शरीरको मूँज कहा गया है और आत्माको सींक । योगवेत्ताओंने देह और आत्माके पार्थक्यको समझनेके लिये यह बहुत उत्तम दृष्टान्त दिया है । देहधारी जीव जब योगके द्वारा आत्माका यथार्थरूपसे दर्शन कर लेता है, उस समय उसके ऊपर त्रिभुवनके अधीश्वरका भी आधिपत्य नहीं रहता । वह योगी अपनी इच्छाके अनुसार विभिन्न प्रकारके शरीर धारण कर सकता है; बुढ़ापा और मृत्युको भी भगा देता है, वह न कभी शोक करता है न हर्ष । अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला योगी पुरुष देवताओंका भी देवता हो सकता है । वह इस अनित्य शरीरका त्याग करके अविनाशी ब्रह्मको प्राप्त होता है । सम्पूर्ण प्राणियोंका विनाश होनेपर भी उसे भय नहीं होता । सबके क्लेश उठानेपर भी उसको किसीसे क्लेश नहीं पहुँचता । शान्तचित्त एवं निःस्पृह योगी आसक्ति और स्नेहसे प्राप्त होनेवाले भयंकर दुःख-शोक तथा भयसे विचलित नहीं होता । उसे शस्त्र नहीं बींध सकते, मृत्यु उसके पास नहीं पहुँच पाती तथा संसारमें उससे बढ़कर सुखी कहीं कोई नहीं दिखायी देता । वह मनको आत्मामें लीन करके उसीमें स्थित हो जाता है तथा बुढ़ापेके दुःखोंसे छुटकारा पाकर सुखसे सोता—अक्षय आनन्दका अनुभव करता है ।

केवल परमात्माका चिन्तन करनेपर बुद्धिके सहयोगसे आत्म-साक्षात्कार

यथा स्वकोष्ठे प्रक्षिप्य भाण्डं भाण्डमना भवेत् ॥
तथा स्वकाये प्रक्षिप्य मनो द्वारैरनिश्चलैः ।
आत्मानं तत्र मार्गेत प्रमादं परिवर्जयेत् ॥
एवं सततमुद्युक्तः प्रीतात्मा नचिरादिव ।
आसादयति तद् ब्रह्म यद् दृष्ट्वा स्यात् प्रधानवित् ॥
न त्वसौ चक्षुषा ग्राह्यो न च सर्वैरपीन्द्रियैः ।
मनसैव प्रदीपेन महानात्मा प्रदृश्यते ॥
सर्वतःपाणिपादान्तः सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः ।
सर्वतःश्रुतिमाँल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥
जीवो निष्क्रान्तमात्मानं शरीरात् सम्प्रपश्यति ।

स तमुत्सृज्य देहे स्वं धारयन् ब्रह्म केवलम् ॥
आत्मानमालोकयति मनसा प्रहसन्निव ।
तदेवमाश्रयं कृत्वा मोक्षं याति ततो मयि ॥
इदं सर्वरहस्यं ते मया प्रोक्तं द्विजोत्तम ।
आपृच्छे साधयिष्यामि गच्छ विप्र यथासुखम् ॥
इत्युक्तः स तदा कृष्ण मया शिष्यो महातपाः ।
अगच्छत यथाकामं ब्राह्मणः संशितव्रतः ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० १९ । ४५—५३)

जैसे घरका सामान अपने कोठेमें डालकर भी मनुष्य उन्हींके चिन्तनमें मन लगाये रहता है, उसी प्रकार इन्द्रियरूपी चञ्चल द्वारोंसे विचरनेवाले मनको अपनी कायामें ही स्थापित करके वहीं आत्माका अनुसंधान करे और प्रमादको त्याग दे । इस प्रकार सदा ध्यानके लिये प्रयत्न करनेवाले पुरुषका चित्त शीघ्र ही प्रसन्न हो जाता है और वह उस परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है, जिसका साक्षात्कार करके मनुष्य प्रकृति एवं उसके विकारोंको स्वतः जान लेता है । उस ब्रह्मका इन चर्मचक्षुओंसे दर्शन नहीं हो सकता, सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे भी उसको ग्रहण नहीं किया जा सकता; केवल बुद्धिरूपी दीपककी सहायतासे ही उस महान् आत्माका दर्शन होता है । वह सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र और सिरवाला तथा सब ओर कानवाला है; क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है । तत्त्वज्ञ जीव अपने-आपको शरीरसे पृथक् देखता है । वह शरीरके भीतर रहकर भी उसका त्याग करके—उसकी पृथक्ताका अनुभव करके अपने स्वरूपभूत केवल परब्रह्म परमात्माका चिन्तन करता हुआ बुद्धिके सहयोगसे आत्माका साक्षात्कार करता है । उस समय वह यह सोचकर हँसता-सा रहता है कि अहो ! मृगतृष्णामें प्रतीत होनेवाले जलकी भाँति मुझमें ही प्रतीत होनेवाले इस संसारने मुझे अबतक व्यर्थ ही भ्रममें डाल रक्खा था । जो इस प्रकार परमात्माका दर्शन करता है, वह उसीका आश्रय लेकर अन्तमें मुझमें ही मुक्त हो जाता है (अर्थात् अपने-आपमें ही परमात्माका अनुभव करने लगता है) । द्विजश्रेष्ठ ! यह सारा रहस्य मैंने तुम्हें बता दिया । अब मैं जानेकी अनुमति चाहता हूँ । विप्रवर ! तुम भी सुखपूर्वक अपने स्थानको लौट जाओ । श्रीकृष्ण ! मेरे इस प्रकार कहनेपर वह कठोर व्रतका पालन करनेवाला मेरा महातपस्वी शिष्य ब्राह्मण काश्यप इच्छानुसार अपने अभीष्ट स्थानको चला गया ।

वासुदेव उवाच

इत्युक्त्वा स तदा वाक्यं मां पार्थ द्विजसत्तमः ।
मोक्षधर्माश्रितः सम्यक् तत्रैवान्तरधीयत ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० १९ । ५४)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—अर्जुन ! मोक्षधर्मका आश्रय लेनेवाले वे सिद्ध महात्मा श्रेष्ठ ब्राह्मण मुझसे यह प्रसङ्ग सुनाकर वहीं अन्तर्धान हो गये ।

ब्राह्मणगीता—एक ब्राह्मणका अपनी पत्नीसे ज्ञानयज्ञका उपदेश करना

इसी ज्ञानयज्ञके विषयमें पति-पत्नीके संवादका आरम्भ

वासुदेव उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
दम्पत्योः पार्थ संवादो योऽभवद् भरतर्षभ ॥
ब्राह्मणी ब्राह्मणं कंचिज्ज्ञानविज्ञानपारगम् ।
दृष्ट्वा विविक्त आसीनं भार्या भर्तारमब्रवीत् ॥
कं नु लोकं गमिष्यामि त्वामहं पतिमाश्रिता ।
न्यस्तकर्माणमासीनं कीनाशमविचक्षणम् ॥
भार्याः पतिकृताँल्लोकानाप्नुवन्तीति नः श्रुतम् ।
त्वामहं पतिमासाद्य कां गमिष्यामि वै गतिम् ॥

एवमुक्तः स शान्तात्मा तामुवाच हसन्निव ।
सुभगे नाभ्यसूयामि वाक्यस्यास्य तवानघे ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० २० । १—५)

श्रीकृष्ण कहते हैं—भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! इसी विषयमें पति-पत्नीके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है । एक ब्राह्मण, जो ज्ञान-विज्ञानके पारगामी विद्वान् थे, एकान्त स्थानमें बैठे हुए थे । यह देखकर उनकी पत्नी ब्राह्मणी अपने उन पति-देवके पास जाकर बोली—'प्राणनाथ ! मैंने सुना है कि स्त्रियाँ पतिके कर्मानुसार प्राप्त हुए लोकोंको जाती हैं; किंतु आप तो कर्म छोड़कर बैठे हैं और मेरे प्रति कठोरताका बर्ताव करते हैं । आपको इस बातका पता नहीं है कि मैं अनन्यभावसे आपके ही आश्रित हूँ । ऐसी दशामें आप-जैसे पतिका आश्रय लेकर मैं किस लोकमें जाऊँगी ? आपको पतिरूपमें पाकर मेरी क्या गति होगी ?' पत्नीके ऐसा कहनेपर वे शान्तचित्तवाले ब्राह्मण-देवता हँसते हुए-से बोले—'सौभाग्यशालिनि ! तुम पापसे सदा दूर रहती हो; अतः तुम्हारे इस कथनके लिये मैं बुरा नहीं मानता ।'

तदनन्तर ब्राह्मणने अपनी पत्नी ब्राह्मणीसे ज्ञानयोग, दस होताओंसे सम्पन्न होनेवाले यज्ञ, मन और वाणीकी श्रेष्ठता, मन, बुद्धि और इन्द्रियरूप सप्त होताओंका तथा मन-इन्द्रियके संवादका वर्णन किया । फिर प्राण, अपान आदिका संवाद तथा ब्रह्माजीके द्वारा सबकी श्रेष्ठताका वर्णन, देवर्षि नारद और देवमातका संवाद एवं उदानके उत्कृष्टरूपका वर्णन, तत्पश्चात् चातुर्होत्रका वर्णन करके अन्तर्यामीकी प्रधानता बतलाना आरम्भ किया—

हृदयमें विराजमान परमात्मा ही शासक,
बन्धु, गुरु और सब कुछ है

ब्राह्मण उवाच

एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता
यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
तेनैव युक्तः प्रवणादिवोदकं
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा वहामि ॥
एको गुरुर्नास्ति ततो द्वितीयो
यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
तेनानुशिष्टा गुरुणा सदैव
पराभूता दानवाः सर्व एव ॥
एको बन्धुर्नास्ति ततो द्वितीयो
यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
तेनानुशिष्टा बान्धवा बन्धुमन्तः
सप्तर्षयश्चैव दिवि प्रभान्ति ॥
एकः श्रोता नास्ति ततो द्वितीयो
यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
तस्मिन् गुरौ गुरुवासं निरुष्य
शक्रो गतः सर्वलोकामरत्वम् ॥
एको द्वेष्टा नास्ति ततो द्वितीयो
यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
तेनानुशिष्टा गुरुणा सदैव
लोके द्विष्टाः पन्नगाः सर्व एव ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० २६ । १—५)

ब्राह्मणने कहा—प्रिये ! जगत्का शासक एक ही है, दूसरा नहीं । जो हृदयके भीतर विराजमान है, उस परमात्माको ही मैं सबका शासक बतला रहा हूँ । जैसे पानी ढालू स्थानसे नीचेकी ओर प्रवाहित होता है, वैसे ही उस—परमात्माकी प्रेरणासे मैं जिस तरहके कार्यमें नियुक्त होता हूँ, उसीका पालन करता रहता हूँ । एक ही गुरु है दूसरा नहीं । जो हृदयमें स्थित है, उस परमात्माको ही मैं गुरु बतला रहा हूँ, उसी गुरुके अनुशासनसे समस्त दानव हार गये हैं । एक ही बन्धु है, उससे भिन्न दूसरा कोई बन्धु नहीं है । जो हृदयमें स्थित है, उस परमात्माको ही मैं बन्धु कहता हूँ । उसीके उपदेशसे बान्धवगण बन्धुमान् होते हैं और सप्तर्षि लोग आकाशमें प्रकाशित होते हैं । एक ही

श्रोता है, दूसरा नहीं। जो हृदयमें स्थित परमात्मा है, उसीको मैं श्रोता कहता हूँ। इन्द्रने उसीको गुरु मानकर गुरुकुलवासका नियम पूरा किया अर्थात् शिष्य-भावसे वे उस अन्तर्यामीकी ही शरणमें गये। इससे उन्हें सम्पूर्ण लोकोंका साम्राज्य और अमरत्व प्राप्त हुआ। एक ही शत्रु है, दूसरा नहीं। जो हृदयमें स्थित है। उस परमात्माको ही मैं गुरु बतला रहा हूँ। उसी गुरुकी प्रेरणासे जगत्के सारे साँप सदा द्वेषभावसे युक्त रहते हैं।

पापाचारी और शुभाचारी

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
प्रजापतौ पन्नगानां देवर्षीणां च संविदम्॥
देवर्षयश्च नागाश्चाप्यसुराश्च प्रजापतिम्।
पर्यपृच्छन्नुपासीनाः श्रेयो नः प्रोच्यतामिति॥
तेषां प्रोवाच भगवाञ्छ्रेयः समनुपृच्छताम्।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ते श्रुत्वा प्राद्रवन् दिशः॥
तेषां प्रद्रवमाणानामुपदेशार्थमात्मनः।
सर्पाणां दंशने भावः प्रवृत्तः पूर्वमेव तु॥
असुराणां प्रवृत्तस्तु दम्भभावः स्वभावजः।
दानं देवा व्यवसिता दममेव महर्षयः॥
एकं शास्तारमासाद्य शब्देनैकेन संस्कृताः।
नाना व्यवसिताः सर्वे सर्पदेवर्षिदानवाः॥
शृणोत्ययं प्रोच्यमानं गृह्णाति च यथातथम्।
पृच्छतस्तदतो भूयो गुरुरन्यो न विद्यते॥
तस्य चानुमते कर्म ततः पश्चात् प्रवर्तते।
गुरुर्बोद्धा च श्रोता च द्वेष्टा च हृदि निःसृतः॥
पापेन विचरँल्लोके पापचारी भवत्ययम्।
शुभेन विचरँल्लोके शुभचारी भवत्युत॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० २६। ६—१४)

पूर्वकालमें सर्पों, देवताओं और ऋषियोंकी प्रजापतिके साथ जो बातचीत हुई थी, उस प्राचीन इतिहासके जानकार लोग उस विषयमें उदाहरण दिया करते हैं। एक बार देवता, ऋषि, नाग और असुरोंने प्रजापतिके पास बैठकर पूछा—'भगवन्! हमारे कल्याणका क्या उपाय है? यह बताइये'। कल्याणकी बात पूछनेवाले उन महानुभावोंका प्रश्न सुनकर भगवान् प्रजापति ब्रह्माजीने एकाक्षर ब्रह्म—ॐकारका उच्चारण किया। उनका प्रणवनाद सुनकर सब लोग अपनी-अपनी दिशा (अपने-अपने स्थान) की ओर भाग चले। फिर उन्होंने उस उपदेशके अर्थपर विचार किया, तब सबसे पहले सर्पोंके मनमें दूसरोंके डँसनेका भाव पैदा हुआ। असुरोंमें स्वाभाविक दम्भका आविर्भाव हुआ तथा देवताओंने दानको और महर्षियोंने दमको ही अपनानेका निश्चय किया। इस प्रकार सर्प, देवता, ऋषि और दानव—ये सब एक ही उपदेशक गुरुके पास गये थे और एक ही शब्दके उपदेशसे उनकी बुद्धिका संस्कार हुआ तो भी उनके मनमें भिन्न-भिन्न प्रकारके भाव उत्पन्न हो गये। श्रोता गुरुके कहे हुए उपदेशको सुनता है और उसको जैसे-तैसे (भिन्न-भिन्न रूपमें) ग्रहण करता है। अतः प्रश्न पूछनेवाले शिष्यके लिये अपने अन्तर्यामीसे बढ़कर दूसरा कोई गुरु नहीं है। पहले वह कर्मका अनुमोदन करता है, उसके बाद जीवकी उस कर्ममें प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार हृदयमें प्रकट होनेवाला परमात्मा ही गुरु, ज्ञानी, श्रोता और द्वेष्टा है। संसारमें जो पाप करते हुए विचरता है वह पापाचारी और जो शुभ कर्मोंका आचरण करता है वह शुभाचारी कहलाता है।

ब्रह्मचारी कौन है?

कामचारी तु कामेन य इन्द्रियसुखे रतः।
ब्रह्मचारी सदैवैष य इन्द्रियजये रतः॥
अपेतव्रतकर्मा तु केवलं ब्रह्मणि स्थितः।
ब्रह्मभूतश्चरँल्लोके ब्रह्मचारी भवत्ययम्॥
ब्रह्मैव समिधस्तस्य ब्रह्माग्निर्ब्रह्मसम्भवः।
आपो ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म स ब्रह्मणि समाहितः॥
एतदेवेदृशं सूक्ष्मं ब्रह्मचर्यं विदुर्बुधाः।
विदित्वा चान्वपद्यन्त क्षेत्रज्ञेनानुदर्शिताः॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० २६। १५—१८)

इसी तरह कामनाओंके द्वारा इन्द्रियसुखमें परायण मनुष्य 'कामचारी' और इन्द्रियसंयममें प्रवृत्त रहनेवाला पुरुष सदा ही 'ब्रह्मचारी' है । जो व्रत और कर्मोंका त्याग करके केवल ब्रह्ममें स्थित है, वह ब्रह्मस्वरूप होकर संसारमें विचरता रहता है, वही मुख्य ब्रह्मचारी है । ब्रह्म ही उसकी समिधा है, ब्रह्म ही अग्नि है, ब्रह्मसे ही वह उत्पन्न हुआ है, ब्रह्म ही उसका जल और ब्रह्म ही गुरु है । उसकी चित्तवृत्तियाँ सदा ब्रह्ममें ही लीन रहती हैं । विद्वानोंने इसीको सूक्ष्म ब्रह्मचर्य बतलाया है। तत्त्वदर्शीका उपदेश पाकर प्रबुद्ध हुए आत्मज्ञानी पुरुष इस ब्रह्मचर्यके स्वरूपको जानकर सदा उसका पालन करते रहते हैं ।

राजा अम्बरीषकी गायी हुई आध्यात्मिक स्वराज्यविषयक गाथा

इसके पश्चात् ब्राह्मणने अध्यात्मविषयक महान् वनका वर्णन करनेके बाद कहा—

तीनों गुण शत्रु हैं

ब्राह्मण उवाच

त्रयो वै रिपवो लोके नवधा गुणतः स्मृताः ।
प्रहर्षः प्रीतिरानन्दस्त्रयस्ते सात्त्विका गुणाः ॥
तृष्णा क्रोधोऽभिसंरम्भो राजसास्ते गुणाः स्मृताः।
श्रमस्तन्द्रा च मोहश्च त्रयस्ते तामसा गुणाः ॥
एतान् निकृत्य धृतिमान् बाणसंघैरतन्द्रितः ।
जेतुं परानुत्सहते प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ॥
अत्र गाथाः कीर्तयन्ति पुराकल्पविदो जनाः ।
अम्बरीषेण या गीता राज्ञा पूर्वं प्रशाम्यता ॥
समुदीर्णेषु दोषेषु बाध्यमानेषु साधुषु ।
जग्राह तरसा राज्यमम्बरीषो महायशाः ॥
स निगृह्यात्मनो दोषान् साधून् समभिपूज्य च ।
जगाम महतीं सिद्धिं गाथाश्चेमा जगाद ह ॥
भूयिष्ठं विजिता दोषा निहताः सर्वशत्रवः ।
एको दोषो वरिष्ठश्च वध्यः स न हतो मया ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३१ । १—७)

ब्राह्मणने कहा—देवि ! संसारमें सत्त्व, रज और तम—ये तीन मेरे शत्रु हैं । ये वृत्तियोंके भेदसे नौ प्रकारके माने गये हैं । हर्ष, प्रीति और आनन्द—ये तीन सात्त्विक गुण हैं; तृष्णा, क्रोध और द्वेषभाव—ये तीन राजस गुण हैं और थकावट, तन्द्रा तथा मोह—ये तीन तामस गुण हैं । शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, आलस्यहीन और धैर्यवान् पुरुष शम-दम आदि बाण-समूहोंके द्वारा इन पूर्वोक्त गुणोंका उच्छेद करके दूसरोंको जीतनेका उत्साह करते हैं । इस विषयमें पूर्वकालकी बातोंके जानकार लोग एक गाथा सुनाया करते हैं । पहले कभी शान्तिपरायण महाराज अम्बरीषने इस गाथाका गान किया था । कहते हैं—जब दोषोंका बल बढ़ा और अच्छे गुण दबने लगे, उस समय महायशस्वी महाराज अम्बरीषने बलपूर्वक राज्यकी बागडोर अपने हाथमें ली। उन्होंने अपने दोषोंको दबाया और उत्तम गुणोंका आदर किया । इससे उन्हें बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त हुई और उन्होंने यह गाथा गायी—मैंने बहुत-से दोषोंपर विजय पायी और समस्त शत्रुओंका नाश कर डाला; किंतु एक सबसे बड़ा दोष रह गया है । यद्यपि वह नष्ट कर देने योग्य है तो भी अबतक मैं नाश न कर सका।

लोभ प्रधान दोष है

यत्प्रयुक्तो जन्तुरयं वैतृष्ण्यं नाधिगच्छति ।
तृष्णार्त इह निम्नानि धावमानो न बुध्यते ॥
अकार्यमपि येनेह प्रयुक्तः सेवते नरः ।
तं लोभमसिभिस्तीक्ष्णैर्निकृत्य सुखमेधते ॥
लोभाद्धि जायते तृष्णा ततश्चिन्ता प्रवर्तते ।
स लिप्स्यमानो लभते भूयिष्ठं राजसान् गुणान् ।
तदवाप्तौ तु लभते भूयिष्ठं तामसान् गुणान् ॥

स तैर्गुणैः संहतदेहबन्धनः
पुनः पुनर्जायति कर्म चेहते ।
जन्मक्षये भिन्नविकीर्णदेहो
मृत्युं पुनर्गच्छति जन्मनैव ॥
तस्मादेतं सम्यगवेक्ष्य लोभं
निगृह्य धृत्याऽऽत्मनि राज्यमिच्छेत् ।
एतद् राज्यं नान्यदस्तीह राज्य-
मात्मैव राजा विदितो यथावत् ॥
इति राज्ञाम्बरीषेण गाथा गीता यशस्विना ।
अधिराज्यं पुरस्कृत्य लोभमेकं निकृन्तता ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३१ । ८—१३)

उसीकी प्रेरणासे इस प्राणीको वैराग्य नहीं होता । तृष्णाके वशमें पड़ा हुआ मनुष्य संसारमें नीच कर्मोंकी ओर दौड़ता है, सचेत नहीं होता । उससे प्रेरित होकर वह यहाँ नहीं करनेयोग्य काम भी कर डालता है । उस दोषका नाम है 'लोभ' । उसे ज्ञानरूपी तलवारसे काटकर मनुष्य सुखी होता है । लोभसे तृष्णा और तृष्णासे चिन्ता पैदा होती है । लोभी मनुष्य पहले बहुत-से राजस गुणोंको पाता है और उनकी प्राप्ति हो जानेपर उसमें तामसिक गुण भी अधिक मात्रामें आ जाते हैं । उन गुणोंके द्वारा देह-बन्धनमें जकड़कर वह बारंबार जन्म लेता और तरह-तरहके कर्म करता रहता है । फिर जीवनका अन्त समय आनेपर उसके देहके तत्त्व विलग-विलग होकर बिखर जाते हैं और वह मृत्युको प्राप्त हो जाता है । इसके बाद फिर जन्म-मृत्युके बन्धनमें पड़ता है । इसलिये इस लोभके स्वरूपको अच्छी तरह समझकर इसे धैर्यपूर्वक दबाने और आत्मराज्यपर अधिकार पानेकी इच्छा करनी चाहिये । यही वास्तविक 'स्वराज्य' है । यहाँ दूसरा कोई राज्य नहीं है । आत्माका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर वही राजा है । इस प्रकार यशस्वी अम्बरीषने आत्मराज्यको आगे रखकर एकमात्र प्रबल शत्रु लोभका उच्छेद करते हुए उपर्युक्त गाथाका गान किया था ।

ब्राह्मणरूपधारी धर्म और जनकका ममत्वत्यागविषयक संवाद

जनक और अपराधी ब्राह्मणके रूपमें धर्मके प्रश्नोत्तर

ब्राह्मण उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ब्राह्मणस्य च संवादं जनकस्य च भाविनि ॥
ब्राह्मणं जनको राजा सन्नं कस्मिंश्चिदागसि ।
विषये मे न वस्तव्यमिति शिष्ट्यर्थमब्रवीत् ॥
इत्युक्तः प्रत्युवाचाथ ब्राह्मणो राजसत्तमम् ।
आचक्ष्व विषयं राजन् यावांस्तव वशे स्थितः ॥
सोऽन्यस्य विषये राज्ञो वस्तुमिच्छाम्यहं विभो ।
वचस्ते कर्तुमिच्छामि यथाशास्त्रं महीपते ॥
इत्युक्तस्तु तदा राजा ब्राह्मणेन यशस्विना ।
मुहुरुष्णं विनिःश्वस्य न किंचित् प्रत्यभाषत ॥
तमासीनं ध्यायमानं राजानममितौजसम् ।
कश्मलं सहसागच्छद् भानुमन्तमिव ग्रहः ॥
समाश्वास्य ततो राजा विगते कश्मले तदा ।
ततो मुहूर्तादिव तं ब्राह्मणं वाक्यमब्रवीत् ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३२ । १—७)

ब्राह्मणने कहा—भामिनि ! इसी प्रसंगमें एक ब्राह्मण और राजा जनकके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है । एक समय राजा जनकने किसी अपराधमें पकड़े हुए ब्राह्मणको दण्ड देते हुए कहा—'ब्रह्मन् ! आप मेरे देशसे बाहर चले जाइये ।' यह सुनकर ब्राह्मणने उस श्रेष्ठ राजाको उत्तर दिया—'महाराज ! आपके अधिकारमें जितना देश है, उसकी सीमा बताइये । सामर्थ्यशाली नरेश ! इस बातको जानकर मैं दूसरे राजाके राज्यमें निवास करना चाहता हूँ और शास्त्रके अनुसार आपकी आज्ञाका पालन करना

चाहता हूँ ।' उस यशस्वी ब्राह्मणके ऐसा कहनेपर राजा जनक बार-बार गरम उच्छ्वास लेने लगे, कुछ उत्तर न दे सके । वे अमित तेजस्वी राजा जनक बैठे हुए विचार कर रहे थे, उस समय उनको उसी प्रकार मोहने सहसा घेर लिया जैसे राहु-ग्रह सूर्यको घेर लेता है । जब राजा जनक विश्राम कर चुके और उनके मोहका नाश हो गया, तब थोड़ी देर चुप रहनेके बाद वे ब्राह्मणसे बोले ।

मेरा कुछ नहीं और सब कुछ मेरा है

जनक उवाच

पितृपैतामहे राज्ये वश्ये जनपदे सति ।
विषयं नाधिगच्छामि विचिन्वन् पृथिवीमहम् ॥
नाधिगच्छं यदा पृथ्व्यां मिथिला मार्गिता मया ।
नाध्यगच्छं यदा तस्यां स्वप्रजा मार्गिता मया ॥
नाध्यगच्छं तदा तस्यां तदा मे कश्मलोऽभवत् ।
ततो मे कश्मलस्यान्ते मतिः पुनरुपस्थिता ॥
तदा न विषयं मन्ये सर्वो वा विषयो मम ।
आत्मापि चायं न मम सर्वा वा पृथिवी मम ॥
यथा मम तथान्येषामिति मन्ये द्विजोत्तम ।
उष्यतां यावदुत्साहो भुज्यतां यावदुष्यते ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३२ । ८—१२)

जनकने कहा—ब्रह्मन् ! यद्यपि बाप-दादोंके समयसे ही मिथिला-प्रान्तके राज्यपर मेरा अधिकार है तथापि जब मैं विचारदृष्टिसे देखता हूँ तो सारी पृथ्वीमें खोजनेपर भी कहीं मुझे अपना देश नहीं दिखायी देता । जब पृथ्वीपर अपने राज्यका पता न पा सका तो मैंने मिथिलामें खोज की । जब वहाँसे भी निराशा हुई तो अपनी प्रजापर अपने अधिकारका पता लगाया, किंतु उनपर भी अपने अधिकारका निश्चय न हुआ, तब मुझे मोह हो गया । फिर विचारके द्वारा उस मोहका नाश होनेपर मैं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि कहीं भी मेरा राज्य नहीं है अथवा सर्वत्र मेरा ही राज्य है । एक दृष्टिसे यह शरीर भी मेरा नहीं है और दूसरी दृष्टिसे यह सारी पृथ्वी ही मेरी है । यह जिस तरह मेरी है, उसी तरह दूसरोंकी भी है—ऐसा मैं मानता हूँ । इसलिये द्विजोत्तम ! अब आपकी जहाँ इच्छा हो, रहिये एवं जहाँ रहें, उसी स्थानका उपभोग कीजिये ।

ब्राह्मणका प्रश्न

ब्राह्मण उवाच

पितृपैतामहे राज्ये वश्ये जनपदे सति ।
ब्रूहि कां मतिमास्थाय ममत्वं वर्जितं त्वया ॥
कां वै बुद्धिं समाश्रित्य सर्वो वै विषयस्तव ।
नावैषि विषयं येन सर्वो वा विषयस्तव ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३२ । १३-१४)

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! जब बाप-दादोंके समयसे ही मिथिला-प्रान्तके राज्यपर आपका अधिकार है, तब बताइये, किस बुद्धिका आश्रय लेकर आपने इसके प्रति अपनी ममताको त्याग दिया है । किस बुद्धिका आश्रय लेकर आप सर्वत्र अपना ही राज्य मानते हैं और किस तरह कहीं भी अपना राज्य नहीं समझते एवं किस तरह सारी पृथ्वीको ही अपना देश समझते हैं ?

मैं (जनक) इन्द्रियोंका तथा मनके किसी विषयका अपने लिये अनुभव नहीं करता

जनक उवाच

अन्तवन्त इहावस्था विदिताः सर्वकर्मसु ।
नाध्यगच्छमहं तस्मान्ममेदमिति यद् भवेत् ॥
कस्येदमिति कस्य स्वमिति वेदवचस्तथा ।
नाध्यगच्छमहं बुद्ध्या ममेदमिति यद् भवेत् ॥
एतां बुद्धिं समाश्रित्य ममत्वं वर्जितं मया ।
शृणु बुद्धिं च यां ज्ञात्वा सर्वत्र विषयो मम ॥
नाहमात्मार्थमिच्छामि गन्धान् घ्राणगतानपि ।
तस्मान्मे निर्जिता भूमिर्वशे तिष्ठति नित्यदा ॥

नाहमात्मार्थमिच्छामि रसानास्येऽपि वर्ततः।
आपो मे निर्जितास्तस्माद् वशे तिष्ठन्ति नित्यदा॥
नाहमात्मार्थमिच्छामि रूपं ज्योतिश्च चक्षुषः।
तस्मान्मे निर्जितं ज्योतिर्वशे तिष्ठति नित्यदा॥
नाहमात्मार्थमिच्छामि स्पर्शांस्त्वचि गताश्च ये।
तस्मान्मे निर्जितो वायुर्वशे तिष्ठति नित्यदा॥
नाहमात्मार्थमिच्छामि शब्दान् श्रोत्रगतानपि।
तस्मान्मे निर्जिताः शब्दा वशे तिष्ठन्ति नित्यदा॥
नाहमात्मार्थमिच्छामि मनो नित्यं मनोऽन्तरे।
मनो मे निर्जितं तस्माद् वशे तिष्ठति नित्यदा॥
देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च भूतेभ्योऽतिथिभिः सह।
इत्यर्थं सर्व एवेति समारम्भा भवन्ति वै॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३२। १५—२४)

जनकने कहा—ब्रह्मन्! इस संसारमें कर्मोंके अनुसार प्राप्त होनेवाली सभी अवस्थाएँ आदि-अन्तवाली हैं; यह बात मुझे अच्छी तरह माल्लम है। इसलिये मुझे ऐसी कोई वस्तु नहीं प्रतीत होती, जो मेरी हो सके। वेद भी कहता है—यह वस्तु किसकी है? यह किसका धन है?* (अर्थात् किसीका नहीं है।) इसलिये जब मैं अपनी बुद्धिसे विचार करता हूँ, तब कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जान पड़ती, जिसे अपनी कह सकें। इसी बुद्धिका आश्रय लेकर मैंने मिथिलाके राज्यसे अपना ममत्व हटा लिया है। अब जिस बुद्धिका आश्रय लेकर मैं सर्वत्र अपना ही राज्य समझता हूँ, उसको सुनो। मैं अपनी नासिकामें पहुँची हुई सुगन्धको भी अपने सुखके लिये नहीं ग्रहण करना चाहता। इसलिये मैंने पृथ्वीको जीत लिया है और वह सदा ही मेरे वशमें रहती है। मुखमें पड़े हुए रसोंका भी मैं अपनी तृप्तिके लिये नहीं आस्वादन करना चाहता, इसलिये जलतत्त्व-पर भी मैं विजय पा चुका हूँ और वह सदा मेरे अधीन रहता है। मैं नेत्रके विषयभूत रूप और ज्योतिका अपने सुखके लिये अनुभव नहीं करना चाहता, इसलिये मैंने तेजको जीत लिया है और वह सदा मेरे अधीन रहता है तथा मैं त्वचाके संसर्गसे प्राप्त हुए स्पर्शजनित सुखोंको अपने लिये नहीं चाहता, अतः मेरेद्वारा जीता हुआ वायु सदा मेरे वशमें रहता है। मैं कानोंमें पड़े हुए शब्दोंको भी अपने सुखके लिये नहीं ग्रहण करना चाहता; इसलिये वे मेरेद्वारा जीते हुए शब्द सदा मेरे अधीन रहते हैं। मैं मनमें आये हुए मन्तव्य विषयोंका भी अपने सुखके लिये अनुभव करना नहीं चाहता, इसलिये मेरेद्वारा जीता हुआ मन सदा मेरे वशमें रहता है। मेरे समस्त कार्योंका आरम्भ देवता, पितर, भूत और अतिथियोंके निमित्त होता है।

ततः प्रहस्य जनकं ब्राह्मणः पुनरब्रवीत्।
त्वज्जिज्ञासार्थमद्येह विद्धि मां धर्ममागतम्॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३२। २५)

जनककी ये बातें सुनकर वह ब्राह्मण हँसा और फिर कहने लगा—'महाराज! आपको माल्लम होना चाहिये कि मैं धर्म हूँ और आपकी परीक्षा लेनेके लिये ब्राह्मणका रूप धारण करके यहाँ आया हूँ।

त्वमस्य ब्रह्मलाभस्य दुर्वारस्यानिवर्तिनः।
सत्त्वनेमिनिरुद्धस्य चक्रस्यैकः प्रवर्तकः॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३२। २६)

'अब मुझे निश्चय हो गया कि संसारमें सत्त्वगुणरूप नेमिसे घिरे हुए और कभी पीछेकी ओर न लौटनेवाले इस ब्रह्मप्राप्तिरूप दुर्निवार चक्रका संचालन करनेवाले एकमात्र आप ही हैं'।

* मा गृधः कस्य स्विद्धनम्। (ईशावास्योपनिषद् १)

ब्राह्मणका पत्नीके प्रति अपने ज्ञाननिष्ठ स्वरूपका परिचय देना

ब्राह्मण उवाच

नाहं तथा भीरु चरामि लोके
यथा त्वं मां तर्जयसे स्वबुद्ध्या ।
विप्रोऽस्मि मुक्तोऽस्मि वने चरोऽस्मि
गृहस्थधर्मा व्रतवांस्तथास्मि ॥
नाहमस्मि यथा मां त्वं पश्यसे च शुभाशुभे ।
मया व्याप्तमिदं सर्वं यत् किंचित् जगतीगतम् ॥
ये केचित् जन्तवो लोके जङ्गमाः स्थावराश्च ह ।
तेषां मामन्तकं विद्धि दारूणामिव पावकम् ॥
राज्यं पृथिव्यां सर्वस्यामथवापि त्रिविष्टपे ।
तथा बुद्धिरियं वेत्ति बुद्धिरेव धनं मम ॥
एकः पन्था ब्राह्मणानां येन गच्छन्ति तद्विदः ।
गृहेषु वनवासेषु गुरुवासेषु भिक्षुषु ॥
लिङ्गैर्बहुभिरव्यग्रैरेका बुद्धिरुपास्यते ।
नानालिङ्गाश्रमस्थानां येषां बुद्धिः शमात्मिका ॥
ते भावमेकमायान्ति सरितः सागरं यथा ।
बुद्ध्यायं गम्यते मार्गः शरीरेण न गम्यते ।
आद्यन्तवन्ति कर्माणि शरीरं कर्मबन्धनम् ॥
तस्मात् ते सुभगे नास्ति परलोककृतं भयम् ।
तद्भावभावनिरता ममैवात्मानमेष्यसि ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३३ । १—८)

ब्राह्मणने कहा—भीरु ! तुम अपनी बुद्धिसे मुझे जैसा समझकर फटकार रही हो, मैं वैसा नहीं हूँ । मैं इस लोकमें देहाभिमानियोंकी तरह आचरण नहीं करता । तुम मुझे पाप-पुण्यमें आसक्त देखती हो; किंतु वास्तवमें मैं ऐसा नहीं हूँ । मैं ब्राह्मण, जीवन्मुक्त महात्मा, वानप्रस्थ, गृहस्थ और ब्रह्मचारी सब कुछ हूँ । इस भूतलपर जो कुछ दिखायी देता है, वह सब मेरेद्वारा व्याप्त है । संसारमें जो कोई भी स्थावर-जङ्गम प्राणी हैं, उन सबका विनाश करनेवाला मृत्यु उसी प्रकार मुझे समझो, जिस प्रकार कि लकड़ियोंका विनाश करनेवाला अग्नि है । सम्पूर्ण पृथ्वी तथा स्वर्गपर जो राज्य है, उसे यह बुद्धि जानती है; अतः बुद्धि ही मेरा धन है । ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रममें स्थित ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण जिस मार्गसे चलते हैं, उन ब्राह्मणोंका वह मार्ग एक ही है; क्योंकि वे लोग बहुत-से व्याकुलतारहित चिह्नोंको धारण करके भी एक बुद्धिका ही आश्रय लेते हैं । भिन्न-भिन्न आश्रमोंमें रहते हुए भी जिनकी बुद्धि शान्तिके साधनमें लगी हुई है, वे अन्तमें एकमात्र सत्स्वरूप ब्रह्मको उसी प्रकार प्राप्त होते हैं, जिस प्रकार सब नदियाँ समुद्रको प्राप्त होती हैं । यह मार्ग बुद्धिगम्य है, शरीरके द्वारा इसे नहीं प्राप्त किया जा सकता । सभी कर्म आदि और अन्तवाले हैं तथा शरीर कर्मका हेतु है । इसलिये देवि ! तुम्हें परलोकके लिये तनिक भी भय नहीं करना चाहिये । तुम परमात्मभावकी भावनामें रत रहकर अन्तमें मेरे ही स्वरूपको प्राप्त हो जाओगी ।

भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा ब्राह्मण, ब्राह्मणी और क्षेत्रज्ञका रहस्य बतलाते हुए ब्राह्मणगीताका उपसंहार

ब्राह्मण्युवाच

यदिदं ब्राह्मणो लिङ्गं क्षेत्रज्ञ इति संज्ञितम् ।
ग्रहीतुं येन यच्छक्यं लक्षणं तस्य तत् क्व नु ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३४ । ४)

ब्राह्मणीने पूछा—नाथ ! 'क्षेत्रज्ञ'नामसे प्रसिद्ध शरीरान्तर्वर्ती जीवात्माको जो ब्रह्मका स्वरूप बताया जाता है, यह बात कैसे सम्भव है ? क्योंकि जीवात्मा ब्रह्मके नियन्त्रणमें रहता है और जो जिसके नियन्त्रणमें रहता

है, वह उसका स्वरूप हो, ऐसा कभी नहीं देखा गया।

ब्राह्मण उवाच

अलिङ्गो निर्गुणश्चैव कारणं नास्य लक्ष्यते।
उपायमेव वक्ष्यामि येन गृह्येत वा न वा॥
सम्यगुपायो दृष्टश्च भ्रमरैरिव लक्ष्यते।
कर्मबुद्धिरबुद्धित्वाज्ज्ञानलिङ्गैरिवाश्रितम्॥
इदं कार्यमिदं नेति न मोक्षेषूपदिश्यते।
पश्यतः शृण्वतो बुद्धिरात्मनो येषु जायते॥
यावन्त इह शक्येरंस्तावन्तोंऽशान् प्रकल्पयेत्।
अव्यक्तान् व्यक्तरूपांश्च शतशोऽथ सहस्रशः॥
सर्वान्नानार्थयुक्तांश्च सर्वान् प्रत्यक्षहेतुकान्।
यतः परं न विद्येत ततोऽभ्यासे भविष्यति॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३४। ५—९)

ब्राह्मणने कहा—देवि! क्षेत्रज्ञ वास्तवमें देह-सम्बन्धसे रहित और निर्गुण है; क्योंकि उसके सगुण और साकार होनेका कोई कारण नहीं दिखायी देता। अतः मैं वह उपाय बताता हूँ, जिससे वह ग्रहण किया जा सकता है अथवा नहीं भी किया जा सकता। उस क्षेत्रज्ञका साक्षात्कार करनेके लिये पूर्ण उपाय देखा गया है। वह यह है कि उसे देखनेकी क्रियाका त्याग कर देनेसे भौंरोंके द्वारा गन्धकी भाँति वह अपने आप जाना जाता है; किंतु कर्मविषयक बुद्धि वास्तवमें बुद्धि न होनेके कारण ज्ञानके सदृश प्रतीत होती है तो भी वह ज्ञान नहीं है। (अतः क्रियाद्वारा उसका साक्षात्कार नहीं हो सकता।) यह कर्तव्य है, यह कर्तव्य नहीं है—यह बात मोक्षके साधनोंमें नहीं कही जाती। जिन साधनोंमें देखने और सुननेवालेकी बुद्धि आत्माके स्वरूपमें निश्चित होती है, वही यथार्थ साधन है। यहाँ जितनी कल्पनाएँ की जा सकती हैं, उतने ही सैकड़ों और हजारों अव्यक्त और व्यक्तरूप अंशोंकी कल्पना कर लें। वे सभी प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाले पदार्थ वास्तविक अर्थयुक्त नहीं हो सकते। जिससे पर कुछ भी नहीं है, उसका साक्षात्कार तो 'नेति-नेति' अर्थात् यह भी नहीं, यह भी नहीं—इस अभ्यासके अन्तमें ही होगा।

श्रीभगवानुवाच

ततस्तु तस्या ब्राह्मण्या मतिः क्षेत्रज्ञसंक्षये।
क्षेत्रज्ञानेन परतः क्षेत्रज्ञेभ्यः प्रवर्तते॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३४। १०)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—पार्थ! उसके बाद उस ब्राह्मणीकी बुद्धि, जो क्षेत्रज्ञके संशयसे युक्त थी, क्षेत्रके ज्ञानसे अतीत क्षेत्रज्ञोंसे युक्त हुई।

अर्जुन उवाच

क नु सा ब्राह्मणी कृष्ण क चासौ ब्राह्मणर्षभः।
याभ्यां सिद्धिरियं प्राप्ता तावुभौ वद मेऽच्युत॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३४। ११)

अर्जुनने पूछा—श्रीकृष्ण! वह ब्राह्मणी कौन थी और वह श्रेष्ठ ब्राह्मण कौन था? अच्युत! जिन दोनोंके द्वारा यह सिद्धि प्राप्त की गयी, उन दोनोंका परिचय मुझे बताइये?

श्रीभगवानुवाच

मनो मे ब्राह्मणं विद्धि बुद्धिं मे विद्धि ब्राह्मणीम्।
क्षेत्रज्ञ इति यश्चोक्तः सोऽहमेव धनंजय॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३४। १२)

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—अर्जुन! मेरे मनको तो तुम ब्राह्मण समझो और मेरी बुद्धिको ब्राह्मणी तथा जिसको क्षेत्रज्ञ कहा गया है, वह मैं ही हूँ।

श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनसे मोक्ष-धर्मका वर्णन—गुरु और शिष्यके संवादमें ब्रह्मा और महर्षियोंके प्रश्नोत्तर

अर्जुन उवाच

ब्रह्म यत्परमं ज्ञेयं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ।
भवतो हि प्रसादेन सूक्ष्मे मे रमते मतिः ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३५ । १)

अर्जुन बोले—भगवन् ! इस समय आपकी कृपासे सूक्ष्म विषयके श्रवणमें मेरी बुद्धि लग रही है; अतः जानने-योग्य परब्रह्मके स्वरूपकी व्याख्या कीजिये ।

वासुदेव उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
संवादं मोक्षसंयुक्तं शिष्यस्य गुरुणा सह ॥
कश्चिद् ब्राह्मणमासीनमाचार्यं संशितव्रतम् ।
शिष्यः प्रपच्छ मेधावी किंस्विच्छ्रेयः परंतप ॥
भगवन्तं प्रपन्नोऽहं निःश्रेयसपरायणः ।
याचे त्वां शिरसा विप्र यद् ब्रूयां ब्रूहि तन्मम ॥
तमेवंवादिनं पार्थ शिष्यं गुरुरुवाच ह ।
सर्वं तु ते प्रवक्ष्यामि यत्र वै संशयो द्विज ॥
इत्युक्तः स कुरुश्रेष्ठ गुरुणा गुरुवत्सलः ।
प्राञ्जलिः परिपप्रच्छ यत्तच्छृणु महामते ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३५ । २—६)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—अर्जुन ! इस विषयको लेकर गुरु और शिष्यमें जो मोक्षविषयक संवाद हुआ था, वह प्राचीन इतिहास बतलाया जा रहा है । एक दिन उत्तम व्रतका पालन करनेवाले एक ब्रह्मवेत्ता आचार्य अपने आसनपर विराजमान थे । परंतप ! उस समय किसी बुद्धिमान् शिष्यने उनके पास जाकर निवेदन किया—'भगवन्! मैं कल्याणमार्गमें प्रवृत्त होकर आपकी शरणमें आया हूँ और आपके चरणोंमें मस्तक झुकाकर याचना करता हूँ कि मैं जो कुछ पूछूँ, उसका उत्तर दीजिये । मैं जानना चाहता हूँ कि श्रेय क्या है ?' पार्थ ! इस प्रकार कहनेवाले उस शिष्यसे गुरु बोले—'विप्र ! तुम्हारा जिस विषयमें संशय है, वह सब मैं तुम्हें बताऊँगा' । महाबुद्धिमान् कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! गुरुके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर उस गुरुके प्यारे शिष्यने हाथ जोड़कर जो कुछ पूछा, उसे सुनो ।

शिष्यके प्रश्न

शिष्य उवाच

कुतश्चाहं कुतश्च त्वं तत्सत्यं ब्रूहि यत्परम् ।
कुतो जातानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ॥
केन जीवन्ति भूतानि तेषामायुश्च किं परम् ।
किं सत्यं किं तपो विप्र के गुणाः सद्भिरीरिताः ॥
के पन्थानः शिवाश्च स्युः किं सुखं किं च दुष्कृतम् ।
एतान् मे भगवन् प्रश्नान् याथातथ्येन सुव्रत ॥
वक्तुमर्हसि विप्रर्षे यथावदिह तत्त्वतः ।
त्वदन्यः कश्चन प्रश्नानेतान् वक्तुमिहार्हति ॥
ब्रूहि धर्मविदां श्रेष्ठ परं कौतूहलं मम ।
मोक्षधर्मार्थकुशलो भवाँल्लोकेषु गीयते ॥
सर्वसंशयसंच्छेत्ता त्वदन्यो न च विद्यते ।
संसारभीरवश्चैव मोक्षकामास्तथा वयम् ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३५ । ७—१२)

शिष्य बोला—विप्रवर ! मैं कहाँसे आया हूँ और आप कहाँसे आये हैं ? जगत्के चराचर जीव कहाँसे उत्पन्न हुए हैं ? जो परमतत्त्व है, उसे आप यथार्थरूपसे बताइये । विप्रवर ! सम्पूर्ण जीव किससे जीवन धारण करते हैं ? उनकी अधिक-से-अधिक आयु कितनी है ? सत्य और तप क्या है ? सत्पुरुषोंने किन गुणोंकी प्रशंसा की है ? कौन-कौन-से मार्ग कल्याण करनेवाले हैं ? सर्वोत्तम सुख क्या है ? और पाप किसे कहते हैं ? श्रेष्ठ व्रतका आचरण करनेवाले गुरुदेव ! मेरे इन प्रश्नोंका आप यथार्थरूपसे उत्तर देनेमें समर्थ हैं । धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ विप्रर्षे ! यह सब जाननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है । इस विषयमें इन प्रश्नोंका तत्त्वतः यथार्थ उत्तर देनेमें

आपके अतिरिक्त दूसरा कोई समर्थ नहीं है। अतः आप ही बतलाइये; क्योंकि संसारमें मोक्षधर्मोंके तत्त्वके ज्ञानमें आप कुशल बताये गये हैं। हम संसारसे भयभीत और मोक्षके इच्छुक हैं। आपके सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं, जो सब प्रकारकी शङ्काओंका निवारण कर सके।

वासुदेव उवाच

तस्मै सम्प्रतिपन्नाय यथावत् परिपृच्छते।
शिष्याय गुणयुक्ताय शान्ताय प्रियवर्तिने॥
छायाभूताय दान्ताय यतते ब्रह्मचारिणे।
तान् प्रश्नानब्रवीत् पार्थ मेधावी स धृतव्रतः।
गुरुः कुरुकुलश्रेष्ठ सम्यक् सर्वानरिंदम॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३५। १३—१४)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—कुरुकुलश्रेष्ठ शत्रुदमन अर्जुन! वह शिष्य सब प्रकारसे गुरुकी शरणमें आया था, यथोचित रीतिसे प्रश्न करता था, गुणवान् और शान्त था, छायाकी भाँति साथ रहकर गुरुका प्रिय करता था तथा जितेन्द्रिय, संयमी और ब्रह्मचारी था। उसके पूछनेपर मेधावी एवं व्रतधारी गुरुने पूर्वोक्त सभी प्रश्नोंका ठीक-ठीक उत्तर दे दिया।

कामना और अभिमानका त्यागी इस लोकमें रहता हुआ ही ब्रह्मभावकी प्राप्तिके योग्य हो जाता है

गुरुरुवाच

ब्रह्मणोक्तमिदं सर्वमृषिप्रवरसेवितम्।
वेदविद्यां समाश्रित्य तत्त्वभूतार्थभावनम्॥
ज्ञानं त्वेव परं विद्मः संन्यासं तप उत्तमम्।
यस्तु वेद निराबाधं ज्ञानतत्त्वं विनिश्चयात्।
सर्वभूतस्थमात्मानं स सर्वगतिरिष्यते॥
यो विद्वान् सहसंवासं विवासं चैव पश्यति।
तथैवैकत्वनानात्वे स दुःखात् परिमुच्यते॥
यो न कामयते किंचिन्न किंचिदभिमन्यते।
इहलोकस्थ एवैष ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
प्रधानगुणतत्त्वज्ञः सर्वभूतविधानवित्।
निर्ममो निरहङ्कारो मुच्यते नात्र संशयः॥
अव्यक्तबीजप्रभवो बुद्धिस्कन्धमयो महान्।
महाहङ्कारविटप इन्द्रियाङ्कुरकोटरः॥
महाभूतविशेषश्च विशेषप्रतिशाखवान्।
सदापर्णः सदापुष्पः सदा शुभफलोदयः॥
आजीवः सर्वभूतानां ब्रह्मबीजः सनातनः।
एतज्ज्ञात्वा च तत्त्वानि ज्ञानेन परमासिना॥
छित्त्वा चामरतां प्राप्य जहाति मृत्युजन्मनी।
भूतभव्यभविष्यादि धर्मकामार्थनिश्चयम्।
सिद्धसंघपरिज्ञातं पुराकल्पं सनातनम्॥
प्रवक्ष्येऽहं महाप्राज्ञ पदमुत्तममद्य ते।
बुद्ध्वा यदिह संसिद्धा भवन्तीह मनीषिणः॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३५। १५—२४)

गुरु बोले—बेटा! ब्रह्माजीने वेद-विद्याका आश्रय लेकर तुम्हारे पूछे हुए इन सभी प्रश्नोंका उत्तर पहलेसे ही दे रक्खा है तथा प्रधान-प्रधान ऋषियोंने उसका सदा ही सेवन किया है। उन प्रश्नोंके उत्तरमें परमार्थविषयक विचार किया गया है। हम ज्ञानको ही परब्रह्म और संन्यासको उत्तम तप जानते हैं। जो अबाधित ज्ञान-तत्त्वको निश्चयपूर्वक जानकर अपनेको सब प्राणियोंके भीतर स्थित देखता है, वह सर्वगति (सर्वव्यापक) माना जाता है। जो विद्वान् संयोग और वियोगको तथा वैसे ही एकत्व और नानात्वको एक साथ तत्त्वतः जानता है, वह दुःखसे मुक्त हो जाता है। जो किसी वस्तुकी कामना नहीं करता तथा जिसके मनमें किसी बातका अभिमान नहीं होता, वह इस लोकमें रहता हुआ ही ब्रह्मभावकी प्राप्तिके योग्य हो जाता है। जो माया और सत्त्वादि गुणोंके तत्त्वको जानता है; जिसे सब भूतोंके विधानका ज्ञान है और जो ममता तथा अहंकारसे रहित हो गया है, वह मुक्त हो जाता है—इसमें संदेह नहीं है। यह देह एक वृक्षके समान है। अज्ञान इसका

मूल अङ्कुर (जड) है, बुद्धि स्कन्ध (तना) है, अहंकार शाखा है, इन्द्रियाँ खोखले हैं, पञ्च महाभूत उसके विशेष अवयव हैं और उन भूतोंके विशेष भेद उसकी टहनियाँ हैं। इसमें सदा ही संकल्परूपी पत्ते उगते और कर्मरूपी फूल खिलते रहते हैं। शुभाशुभ कर्मोंसे प्राप्त होनेवाले सुख-दुःखादि ही उसमें सदा लगे रहनेवाले फल हैं। इस प्रकार ब्रह्मरूपी बीजसे प्रकट होकर प्रवाहरूपसे सदा मौजूद रहनेवाला देहरूपी वृक्ष समस्त प्राणियोंके जीवनका आधार है। जो इसके तत्त्वको भलीभाँति जानकर ज्ञानरूपी उत्तम तलवारसे इसे काट डालता है, वह अमरत्वको प्राप्त होकर जन्म-मृत्युके बन्धनसे छुटकारा पा जाता है। महाप्राज्ञ! जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्य आदिके तथा धर्म, अर्थ और कामके स्वरूपका निश्चय किया गया है, जिसको सिद्धोंके समुदायने भलीभाँति जाना है, जिसका पूर्वकालमें निर्णय किया गया था और बुद्धिमान् पुरुष जिसे जानकर सिद्ध हो जाते हैं, उस परम उत्तम सनातन ज्ञानका अब मैं तुमसे वर्णन करता हूँ।

ऋषियों और ब्रह्माजीका संवाद, ऋषियोंके प्रश्न

उपगम्यर्षयः पूर्वं जिज्ञासन्तः परस्परम्।
प्रजापतिभरद्वाजौ गौतमो भार्गवस्तथा॥
वसिष्ठः कश्यपश्चैव विश्वामित्रोऽत्रिरेव च।
मार्गान् सर्वान् परिक्रम्य परिश्रान्ताः स्वकर्मभिः॥
ऋषिमाङ्गिरसं वृद्धं पुरस्कृत्य तु ते द्विजाः।
ददृशुर्ब्रह्मभवने ब्रह्माणं वीतकल्मषम्॥
तं प्रणम्य महात्मानं सुखासीनं महर्षयः।
पप्रच्छुर्विनयोपेता नैःश्रेयसमिदं परम्॥
कथं कर्म क्रियात् साधु कथं मुच्येत किल्बिषात्।
के नो मार्गाः शिवाश्च स्युः किं सत्यं किं च दुष्कृतम्॥
कौ चोभौ कर्मणां मार्गौ प्राप्नुयुर्दक्षिणोत्तरौ।
प्रलयं चापवर्गं च भूतानां प्रभवाप्ययौ॥
इत्युक्तः स मुनिश्रेष्ठैर्यदाह प्रपितामहः।
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि शृणु शिष्य यथागमम्॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३५। २५—३१)

पहलेकी बात है, प्रजापति दक्ष, भरद्वाज, गौतम, भृगुनन्दन शुक्र, वसिष्ठ, कश्यप, विश्वामित्र और अत्रि आदि महर्षि अपने कर्मोंद्वारा समस्त मार्गोंमें भटकते-भटकते जब बहुत थक गये, तब एकत्रित हो आपसमें जिज्ञासा करते हुए परम वृद्ध अङ्गिरा मुनिको आगे करके ब्रह्मलोकमें गये और वहाँ सुखपूर्वक बैठे हुए पाप-रहित महात्मा ब्रह्माजीका दर्शन करके उन महर्षि ब्राह्मणोंने विनयपूर्वक उन्हें प्रणाम किया। फिर तुम्हारी ही तरह अपने परम कल्याणके विषयमें पूछा—'श्रेष्ठ कर्म किस प्रकार करना चाहिये? मनुष्य पापसे किस प्रकार छूटता है? कौन-से मार्ग हमारे लिये कल्याण-कारक हैं? सत्य क्या है? और पाप क्या है? तथा कर्मोंके वे दो मार्ग कौन-से हैं, जिनसे मनुष्य दक्षिणा-यन और उत्तरायण गतिको प्राप्त होते हैं? प्रलय और मोक्ष क्या हैं? एवं प्राणियोंके जन्म और मरण क्या हैं?' शिष्य! उन मुनिश्रेष्ठ महर्षियोंके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर उन प्रपितामह ब्रह्माजीने जो कुछ कहा वह मैं तुम्हें शास्त्रानुसार पूर्णतया बताऊँगा; उसे सुनो।

ब्रह्माजीका उत्तर—परमपदरूप मार्गके सुननेके लिये प्रेरणा

ब्रह्मोवाच

सत्याद् भूतानि जातानि स्थावराणि चराणि च।
तपसा तानि जीवन्ति इति तद् वित्त सुव्रताः॥
स्वां योनिं समतिक्रम्य वर्तन्ते स्वेन कर्मणा।
सत्यं हि गुणसंयुक्तं नियतं पञ्चलक्षणम्॥
ब्रह्म सत्यं तपः सत्यं सत्यं चैव प्रजापतिः।
सत्याद् भूतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत्॥
तस्मात् सत्यमया विप्रा नित्यं योगपरायणाः।
अतीतक्रोधसंतापा नियता धर्मसेविनः॥

अन्योन्यनियतान् वैद्यान् धर्मसेतुप्रवर्तकान् ।
तानहं सम्प्रवक्ष्यामि शाश्वताँल्लोकभावनान् ॥
चातुर्विद्यं तथा वर्णांश्चातुराश्रमिकान् पृथक् ।
धर्ममेकं चतुष्पादं नित्यमाहुर्मनीषिणः ॥
पन्थानं वः प्रवक्ष्यामि शिवं क्षेमकरं द्विजाः ।
नियतं ब्रह्मभावाय गतं पूर्वं मनीषिभिः ॥
गदन्तस्तं मयाद्येह पन्थानं दुर्विदं परम् ।
निबोधत महाभागा निखिलेन परं पदम् ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३५ । ३२—३९)

ब्रह्माजीने कहा—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षियो ! ऐसा जानो कि चराचर जीव सत्यस्वरूप परमात्मासे उत्पन्न हुए हैं और तपरूप कर्मसे जीवन धारण करते हैं । वे अपने कारणस्वरूप ब्रह्मको भूलकर अपने कर्मोंके अनुसार आवागमनके चक्रमें घूमते हैं; क्योंकि गुणोंसे युक्त हुआ सत्य ही पाँच लक्षणोंवाला निश्चित किया गया है । ब्रह्म सत्य है, तप सत्य है और प्रजापति भी सत्य है । सत्यसे ही सम्पूर्ण भूतोंका जन्म हुआ है । यह भौतिक जगत् सत्यरूप ही है । इसलिये सदा योगमें लगे रहनेवाले, क्रोध और संतापसे दूर रहनेवाले तथा नियमोंका पालन करनेवाले धर्मसेवी ब्राह्मण सत्यका आश्रय लेते हैं । जो परस्पर एक दूसरेको नियमके अंदर रखनेवाले, धर्म-मर्यादाके प्रवर्तक और विद्वान् हैं, उन ब्राह्मणोंके प्रति मैं लोक-कल्याणकारी सनातन धर्मोंका उपदेश करूँगा । वैसे ही प्रत्येक वर्ण और आश्रमके लिये पृथक्-पृथक् चार विद्याओंका वर्णन करूँगा । मनीषी विद्वान् चार चरणोंवाले एक धर्मको नित्य बतलाते हैं । द्विजवरो ! पूर्व कालमें मनीषी पुरुष जिसका सहारा ले चुके हैं और जो ब्रह्मभावकी प्राप्तिका सुनिश्चित साधन है, उस परम मङ्गलकारी कल्याणमय मार्गका तुमलोगोंके प्रति उपदेश करता हूँ; उसे ध्यान देकर सुनो । सौभाग्यशाली प्रवक्तागण ! उस अत्यन्त दुर्विज्ञेय मार्गको जो कि पूर्णतया परमपद-स्वरूप है, यहाँ अब मुझसे सुनो ।

तत्त्वों, गुणों और देवताओंको यथार्थरूपसे जाननेवाला बन्धनसे मुक्त हो जाता है

ब्रह्मचारिकमेवाहुराश्रमं प्रथमं पदम् ।
गार्हस्थ्यं तु द्वितीयं स्याद् वानप्रस्थमतः परम् ।
ततः परं तु विज्ञेयमध्यात्मं परमं पदम् ॥
ज्योतिराकाशमादित्यो वायुरिन्द्रः प्रजापतिः ।
नोपैति यावदध्यात्मं तावदेतान् न पश्यति ॥
तस्योपायं प्रवक्ष्यामि पुरस्तात् तं निबोधत ।
फलमूलानिलभुजां मुनीनां वसतां वने ॥
वानप्रस्थं द्विजातीनां त्रयाणामुपदिश्यते ।
सर्वेषामेव वर्णानां गार्हस्थ्यं तद् विधीयते ॥
श्रद्धालक्षणमित्येवं धर्मं धीराः प्रचक्षते ।
इत्येते देवयाना वः पन्थानः परिकीर्तिताः ।
सद्भिरध्यासिता धीरैः कर्मभिर्धर्मसेतवः ॥
एतेषां पृथगध्यास्ते यो धर्मं संशितव्रतः ।
कालात् पश्यति भूतानां सदैव प्रभवाप्ययौ ॥
अतस्तत्त्वानि वक्ष्यामि याथातथ्येन हेतुना ।
विषयस्थानि सर्वाणि वर्तमानानि भागशः ॥
महानात्मा तथाव्यक्तमहंकारस्तथैव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च महाभूतानि पञ्च च ॥
विशेषाः पञ्चभूतानामिति सर्गः सनातनः ।
चतुर्विंशतिरेका च तत्त्वसंख्या प्रकीर्तिता ॥
तत्त्वानामथ यो वेद सर्वेषां प्रभवाप्ययौ ।
स धीरः सर्वभूतेषु न मोहमधिगच्छति ॥
तत्त्वानि यो वेदयते यथातथं
गुणांश्च सर्वानखिलांश्च देवताः ।
विधूतपाप्मा प्रविमुच्य बन्धनं
स सर्वलोकानमलान् समश्नुते ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३५ । ४०—५०)

आश्रमोंमें ब्रह्मचर्यको प्रथम आश्रम बताया गया है। गार्हस्थ्य दूसरा और वानप्रस्थ तीसरा आश्रम है। उसके बाद संन्यास आश्रम है। इसमें आत्मज्ञानकी प्रधानता होती है, अतः इसे परमपद-स्वरूप समझना चाहिये। जबतक अध्यात्मज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक मनुष्य इन ज्योति, आकाश, वायु, सूर्य, इन्द्र और प्रजापति आदिके यथार्थ तत्त्वको नहीं जानता (आत्मज्ञान होनेपर इनका यथार्थ ज्ञान हो जाता है)। अतः पहले उस आत्मज्ञानका उपाय बतलाता हूँ; सब लोग सुनिये। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीन द्विजातियोंके लिये वानप्रस्थ आश्रमका विधान है। वनमें रहकर मुनिवृत्तिका सेवन करते हुए फल-मूल और वायुके आहारपर जीवन-निर्वाह करनेसे वानप्रस्थ-धर्मका पालन होता है। गृहस्थ आश्रमका विधान सभी वर्णोंके लिये है। विद्वानोंने श्रद्धाको ही धर्मका मुख्य लक्षण बतलाया है। इस प्रकार आपलोगोंके प्रति देवयान मार्गोंका वर्णन किया गया है। धैर्यवान् संत-महात्मा अपने कर्मोंसे धर्ममर्यादाका पालन करते हैं। जो मनुष्य उत्तम व्रतका आश्रय लेकर उपर्युक्त धर्मोंमेंसे किसीका भी दृढ़तापूर्वक पालन करते हैं, वे कालक्रमसे सम्पूर्ण प्राणियोंके जन्म और मरणको सदा ही प्रत्यक्ष देखते हैं। अब मैं यथार्थ युक्तिके द्वारा पदार्थोंमें विभागपूर्वक रहनेवाले सम्पूर्ण तत्त्वोंका वर्णन करता हूँ। अव्यक्त प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, दस इन्द्रियाँ, एक मन, पञ्च महाभूत और उनके शब्द आदि विशेष गुण—यह चौबीस तत्त्वोंका सनातन सर्ग है। इनके अतिरिक्त एक जीवात्मा—इस प्रकार तत्त्वोंकी संख्या पचीस बतलायी गयी है। जो इन सब तत्त्वोंकी उत्पत्ति और लयको ठीक-ठीक जानता है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें धीर है और वह कभी मोहमें नहीं पड़ता। जो सम्पूर्ण तत्त्वों, गुणों तथा समस्त देवताओंको यथार्थरूपसे जानता है, उसके पाप धुल जाते हैं और वह बन्धनसे मुक्त होकर सम्पूर्ण दिव्य लोकोंके सुखका अनुभव करता है।

ब्रह्माजीके द्वारा तमोगुणका, उसके कार्यका और फलका वर्णन

ब्रह्मोवाच

तदव्यक्तमनुद्रिक्तं सर्वव्यापि ध्रुवं स्थिरम्।
नवद्वारं पुरं विद्यात् त्रिगुणं पञ्चधातुकम्॥
एकादशपरिक्षेपं मनोव्याकरणात्मकम्।
बुद्धिस्वामिकमित्येतत् परमेकादशं भवेत्॥
त्रीणि स्रोतांसि यान्यस्मिन्नाप्यायन्ते पुनः पुनः।
प्रनाड्यस्तिस्र एवैताः प्रवर्तन्ते गुणात्मिकाः॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३६। १—३)

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो! जब तीनों गुणोंकी साम्यावस्था होती है, उस समय उनका नाम अव्यक्त प्रकृति होता है। अव्यक्त समस्त प्राकृत कार्योंमें व्यापक, अविनाशी और स्थिर है। उपर्युक्त तीन गुणोंमें जब विषमता आती है, तब वे पञ्चभूतका रूप धारण करते हैं और उनसे नौ द्वारवाले नगर (शरीर-) का निर्माण होता है, ऐसा जानो। इस पुरमें जीवात्माको विषयोंकी ओर प्रेरित करनेवाली मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ हैं। इनकी अभिव्यक्ति मनके द्वारा हुई है। बुद्धि इस नगरकी स्वामिनी है, ग्यारहवाँ मन है, जो दसों इन्द्रियोंसे श्रेष्ठ है। इसमें जो तीन स्रोत (चित्तरूपी नदीके प्रवाह) हैं, वे उन तीन गुणमयी नाडियोंके द्वारा बारंबार भरे जाते एवं प्रवाहित होते हैं।

सत्त्व, रज, तम—तीनों प्रतिद्वन्द्वी गुणोंका परस्पर सम्बन्ध

तमो रजस्तथा सत्त्वं गुणानेतान् प्रचक्षते।
अन्योन्यमिथुनाः सर्वे तथान्योन्यानुजीविनः॥
अन्योन्यापाश्रयाश्चापि तथान्योन्यानुवर्तिनः।
अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च त्रिगुणाः पञ्चधातवः॥
तमसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः।

रजसश्चापि सत्त्वं स्यात् सत्त्वस्य मिथुनं तमः ॥
नियम्यते तमो यत्र रजस्तत्र प्रवर्तते ।
नियम्यते रजो यत्र सत्त्वं तत्र प्रवर्तते ॥
नैशात्मकं तमो विद्यात् त्रिगुणं मोहसंज्ञितम् ।
अधर्मलक्षणं चैव नियतं पापकर्मसु ।
तामसं रूपमेतत् तु दृश्यते चापि सङ्गतम् ॥
प्रकृत्यात्मकमेवाहू रजः पर्यायकारकम् ।
प्रवृत्तं सर्वभूतेषु दृश्यमुत्पत्तिलक्षणम् ॥
प्रकाशं सर्वभूतेषु लाघवं श्रद्दधानता ।
सात्त्विकं रूपमेवं तु लाघवं साधुसम्मितम् ॥
एतेषां गुणतत्त्वानि वक्ष्यन्ते तत्त्वहेतुभिः ।
समासव्यासयुक्तानि तत्त्वतस्तानि बोधत ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३६ । ४—११)

सत्त्व, रज और तम—इन तीनोंको गुण कहते हैं । ये परस्पर एक-दूसरेके प्रतिद्वन्द्वी, एक-दूसरेके आश्रित, एक-दूसरेके सहारे टिकनेवाले, एक-दूसरेका अनुसरण करनेवाले और परस्पर मिश्रित रहनेवाले हैं । पाँचों महाभूत त्रिगुणात्मक हैं । तमोगुणका प्रतिद्वन्द्वी है सत्त्वगुण और सत्त्वगुणका प्रतिद्वन्द्वी रजोगुण है । इसी प्रकार रजोगुणका प्रतिद्वन्द्वी सत्त्वगुण है और सत्त्वगुणका प्रतिद्वन्द्वी तमोगुण है । जहाँ तमोगुणको रोका जाता है, वहाँ रजोगुण बढ़ता है और जहाँ रजोगुणको दबाया जाता है, वहाँ सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है । तमको अन्धकाररूप और त्रिगुणमय समझना चाहिये । उसका दूसरा नाम मोह है । वह अधर्मको लक्षित करानेवाला और पाप करनेवाले लोगोंमें निश्चित रूपसे विद्यमान रहनेवाला है । तमोगुणका यह स्वरूप दूसरे गुणोंसे मिश्रित भी दिखायी देता है । रजोगुणको प्रकृतिरूप बतलाया गया है । यह सृष्टिकी उत्पत्तिका कारण है । सम्पूर्ण भूतोंमें इसकी प्रवृत्ति देखी जाती है । यह दृश्य जगत् उसीका स्वरूप है । उत्पत्ति या प्रवृत्ति ही उसका लक्षण है । सब भूतोंमें प्रकाश, लघुता (गर्वहीनता) और श्रद्धा—यह सत्त्वगुणका रूप है । गर्वहीनताकी श्रेष्ठ पुरुषोंने प्रशंसा की है । अब मैं तात्त्विक युक्तियोंद्वारा संक्षेप और विस्तारके साथ इन तीनों गुणोंके कार्योंका यथार्थ वर्णन करता हूँ, इन्हें ध्यान देकर सुनो ।

तमोगुणके लक्षण और कार्य

सम्मोहोऽज्ञानमत्यागः कर्मणामविनिर्णयः ।
स्वप्नः स्तम्भो भयं लोभः स्वतः सुकृतदूषणम् ॥
अस्मृतिश्चाविपाकश्च नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
निर्विशेषत्वमन्धत्वं जघन्यगुणवृत्तिता ॥
अकृते कृतमानित्वमज्ञाने ज्ञानमानिता ।
अमैत्री विकृताभावो ह्यश्रद्धा मूढभावना ॥
अनार्जवमसंज्ञत्वं कर्म पापमचेतना ।
गुरुत्वं सन्नभावत्वमवशित्वमवाग्गतिः ॥
सर्व एते गुणा वृत्तास्तामसाः सम्प्रकीर्तिताः ।
ये चान्ये विहिता भावा लोकेऽस्मिन् भावसंज्ञिताः ॥
तत्र तत्र नियम्यन्ते सर्वे ते तामसा गुणाः ।
परिवादकथा नित्यं देवब्राह्मणवैदिकी ॥
अत्यागश्चाभिमानश्च मोहो मन्युस्तथाक्षमा ।
मत्सरश्चैव भूतेषु तामसं वृत्तमिष्यते ॥
वृथारम्भा हि ये केचिद् वृथा दानानि यानि च ।
वृथा भक्षणमित्येतत् तामसं वृत्तमिष्यते ॥
अतिवादोऽतितिक्षा च मात्सर्यमभिमानिता ।
अश्रद्दधानता चैव तामसं वृत्तमिष्यते ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३६ । १२—२०)

मोह, अज्ञान, त्यागका अभाव, कर्मोंका निर्णय न कर सकना, निद्रा, गर्व, भय, लोभ, स्वयं शुभ कर्मोंमें दोष देखना, स्मरणशक्तिका अभाव, परिणाम न सोचना, नास्तिकता, दुश्चरित्रता, निर्विशेषता (अच्छे-बुरेके विवेकका अभाव), इन्द्रियोंकी शिथिलता, हिंसा आदि निन्दनीय दोषोंमें प्रवृत्त होना, अकार्यको कार्य और अज्ञानको ज्ञान

समझना, शत्रुता, काममें मन न लगाना, अश्रद्धा, मूर्खतापूर्ण विचार, कुटिलता, नासमझी, पाप करना, अज्ञान, आलस्य आदिके कारण देहका भारी होना, भावभक्तिका न होना, अजितेन्द्रियता और नीच कर्मोंमें अनुराग—ये सभी दुर्गुण तमोगुणके कार्य बतलाये गये हैं। इनके सिवा और भी जो-जो बातें इस लोकमें निषिद्ध मानी गयी हैं, वे सब तमोगुणी ही हैं। देवता, ब्राह्मण और वेदकी सदा निन्दा करना, दान न देना, अभिमान, मोह, क्रोध, असहनशीलता और प्राणियोंके प्रति मात्सर्य—ये सब तामस बर्ताव हैं। (विधि और श्रद्धासे रहित) व्यर्थ कार्योंका आरम्भ करना, (देश-काल-पात्रका विचार न करके अश्रद्धा और अवहेलनापूर्वक) व्यर्थ दान देना तथा (देवता और अतिथिको दिये बिना) व्यर्थ भोजन करना भी तामसिक कार्य है। अतिवाद, अक्षमा, मत्सरता, अभिमान और अश्रद्धाको भी तमोगुणका बर्ताव माना गया है।

तमोगुणी मनुष्योंके लक्षण और परिणाम

एवंविधाश्च ये केचिल्लोकेऽस्मिन् पापकर्मिणः।
मनुष्या भिन्नमर्यादास्ते सर्वे तामसाः स्मृताः॥
तेषां योनीः प्रवक्ष्यामि नियताः पापकर्मिणाम्।
अवाङ्निरयभावा ये तिर्यङ्निरयगामिनः॥
स्थावराणि च भूतानि पशवो वाहनानि च।
क्रव्यादा दन्दशूकाश्च कृमिकीटविहंगमाः॥
अण्डजा जन्तवश्चैव सर्वे चापि चतुष्पदाः।
उन्मत्ता बधिरा मूका ये चान्ये पापरोगिणः॥
मग्नास्तमसि दुर्वृत्ताः स्वकर्मकृतलक्षणाः।
अर्वाक्स्रोतस इत्येते मग्नास्तमसि तामसाः॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३६। २१—२५)

संसारमें ऐसे बर्तावाले और धर्मकी मर्यादा भङ्ग करनेवाले जो भी पापी मनुष्य हैं, वे सब तमोगुणी माने गये हैं। ऐसे पापी मनुष्योंके लिये दूसरे जन्ममें जो योनियाँ निश्चित की हुई हैं, उनका परिचय दे रहा हूँ। उनमेंसे कुछ तो नीचे नरकोंमें ढकेले जाते हैं और कुछ तिर्यक् योनियोंमें जन्म ग्रहण करते हैं। स्थावर (वृक्ष-पर्वत आदि) जीव, पशु, वाहन, राक्षस, सर्प, कीड़े-मकोड़े, पक्षी, अण्डज प्राणी, चौपाये, पागल, बहरे, गूँगे तथा अन्य जितने पापमय रोगवाले (कोढ़ी आदि) मनुष्य हैं, वे सब तमोगुणमें डूबे हुए हैं। अपने कर्मोंके अनुसार लक्षणोंवाले ये दुराचारी जीव सदा दुःखमें निमग्न रहते हैं। उनकी चित्तवृत्तियोंका प्रवाह निम्न दशाकी ओर होता है, इसलिये उन्हें 'अर्वाक्स्रोता' कहते हैं। वे तमोगुणमें निमग्न रहनेवाले सभी प्राणी तामसी हैं।

तेषामुत्कर्षमुद्रेकं वक्ष्याम्यहमतः परम्।
यथा ते सुकृताँल्लोकाँल्लभन्ते पुण्यकर्मिणः॥
अन्यथा प्रतिपन्नास्तु विवृद्धा ये च कर्मणः।
स्वकर्मनिरतानां च ब्राह्मणानां शुभैषिणाम्॥
संस्कारेणोर्ध्वमायान्ति यतमानाः सलोकताम्।
स्वर्गं गच्छन्ति देवानामित्येषा वैदिकी श्रुतिः॥
अन्यथा प्रतिपन्नास्ते विबुद्धाः स्वेषु कर्मसु।
पुनरावृत्तिधर्माणस्ते भवन्तीह मानुषाः॥
पापयोनिं समापन्नाश्चाण्डाला मूकचूचुकाः।
वर्णान् पर्यायशश्चापि प्राप्नुवन्त्युत्तरोत्तरम्॥
शूद्रयोनिमतिक्रम्य ये चान्ये तामसा गुणाः।
स्रोतोमध्ये समागम्य वर्तन्ते तामसे गुणे॥
अभिष्वङ्गस्तु कामेषु महामोह इति स्मृतः।
ऋषयो मुनयो देवा मुह्यन्त्यत्र सुखेप्सवः॥
तमो मोहो महामोहस्तामिस्रः क्रोधसंज्ञितः।
मरणं त्वन्धतामिस्रस्तामिस्रः क्रोध उच्यते॥
वर्णतो गुणतश्चैव योनितश्चैव तत्त्वतः।
सर्वमेतत्तमो विप्राः कीर्तितं वो यथाविधि॥
को न्वेतद् बुध्यते साधु को न्वेतत् साधु पश्यति।
अतत्त्वे तत्त्वदर्शी यस्तमसस्तत्त्वलक्षणम्॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३६। २६—३५)

इसके पश्चात् मैं यह वर्णन करूँगा कि उन तामसी योनियोंमें गये हुए प्राणियोंका उत्थान और समृद्धि किस प्रकार होती है तथा वे पुण्यकर्मा होकर किस प्रकार श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होते हैं। जो विपरीत योनियोंको प्राप्त प्राणी हैं, उनके (पापकर्मोंका भोग पूरा हो जानेपर) जब पूर्वकृत पुण्यकर्मोंका उदय होता है, तब वे शुभ-कर्मोंके संस्कारोंके प्रभावसे स्वकर्मनिष्ठ कल्याणकामी ब्राह्मणोंकी समानताको प्राप्त होते हैं अर्थात् उनके कुलमें उत्पन्न होते हैं और वहाँ पुनः यत्नशील होकर ऊपर उठते हैं एवं देवताओंके स्वर्गलोकमें चले जाते हैं—यह वेदकी श्रुति है। वे पुनरावृत्तिशील सकाम धर्मका आचरण करनेवाले मनुष्य देवभावको प्राप्त हो जानेके अनन्तर जब वहाँसे दूसरी योनिमें जाते हैं तब यहाँ (मृत्युलोकमें) मनुष्य होते हैं। उनमेंसे कोई-कोई (बचे हुए पापकर्मका फल भोगनेके लिये) पुनः पापयोनिसे युक्त चाण्डाल, गूँगे और अटककर बोलनेवाले होते हैं और प्रायः जन्म-जन्मान्तरमें उत्तरोत्तर उच्च वर्णको प्राप्त होते हैं। कोई शूद्रयोनिसे आगे बढ़कर भी तामस गुणोंसे युक्त हो जाते हैं और उसके प्रवाहमें पड़कर तमोगुणमें ही प्रवृत्त रहते हैं। यह जो भोगोंमें आसक्त हो जाना है, यही 'महामोह' बताया गया है। इस मोहमें पड़कर भोगोंका सुख चाहनेवाले ऋषि, मुनि और देवगण भी मोहित हो जाते हैं (फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है !)। तम (अविद्या), मोह (अस्मिता), महामोह (राग), क्रोध नामवाला तामिस्र और मृत्युरूप अन्धतामिस्र—यह पाँच प्रकारकी तामसी प्रकृति बतलायी गयी है। क्रोधको ही तामिस्र कहते हैं। विप्रवरो ! वर्ण, गुण, योनि और तत्त्वके अनुसार मैंने आपसे तमोगुणका पूरा-पूरा यथावत् वर्णन किया। जो अतत्त्वमें तत्त्व-दृष्टि रखनेवाला है, ऐसा कौन-सा मनुष्य इस विषयको अच्छी तरह देख और समझ सकता है ? यह विपरीत दृष्टि ही तमोगुणकी यथार्थ पहचान है।

तमोगुणा बहुविधाः प्रकीर्तिता
यथावदुक्तं च तमः परावरम्।
नरो हि यो वेद गुणानिमान् सदा
स तामसैः सर्वगुणैः प्रमुच्यते ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३६। ३६)

इस प्रकार तमोगुणके स्वरूप और उसके कार्यभूत नाना प्रकारके गुणोंका यथावत् वर्णन किया गया तथा तमोगुणसे प्राप्त होनेवाली ऊँची-नीची योनियाँ भी बतला दी गयीं। जो मनुष्य इन गुणोंको ठीक-ठीक जानता है, वह सम्पूर्ण तामसिक गुणोंसे सदा मुक्त रहता है।

रजोगुणके कार्यका वर्णन और उसके जाननेका फल

रजोगुणके लक्षण और कार्य

ब्रह्मोवाच

रजोऽहं वः प्रवक्ष्यामि याथातथ्येन सत्तमाः।
निबोधत महाभागा गुणवृत्तं च राजसम् ॥
संतापो रूपमायासः सुखदुःखे हिमातपौ।
ऐश्वर्यं विग्रहः संधिर्हेतुवादोऽरतिः क्षमा ॥
बलं शौर्यं मदो रोषो व्यायामकलहावपि।
ईर्ष्येप्सा पिशुनं युद्धं ममत्वं परिपालनम् ॥
वधबन्धपरिक्लेशाः क्रयो विक्रय एव च।
निकृन्त छिन्धि भिन्धीति परमर्मावकर्तनम् ॥
उग्रं दारुणमाक्रोशः परच्छिद्रानुशासनम्।
लोकचिन्तानुचिन्ता च मत्सरः परिभावनः ॥
मृषा वादो मृषा दानं विकल्पः परिभाषणम्।
निन्दा स्तुतिः प्रशंसा च प्रस्तावः पारधर्षणम् ॥
परिचर्यानुशुश्रूषा सेवा तृष्णा व्यपाश्रयः।
व्यूहो नयः प्रमादश्च परिवादः परिग्रहः ॥

संस्कारा ये च लोकेषु प्रवर्तन्ते पृथक् पृथक् ।
नृषु नारीषु भूतेषु द्रव्येषु शरणेषु च ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३७ । १—८)

ब्रह्माजीने कहा—महाभाग्यशाली श्रेष्ठ महर्षियो ! अब मैं तुमलोगोंसे रजोगुणके स्वरूप और उसके कार्य-भूत गुणोंका यथार्थ वर्णन करूँगा । ध्यान देकर सुनो । संताप, रूप, आयास, सुख-दुःख, सर्दी-गरमी, ऐश्वर्य, विग्रह, संधि, हेतुवाद, मनका प्रसन्न न रहना, सहन-शक्ति, बल, शूरता, मद, रोष, व्यायाम, कलह, ईर्ष्या, इच्छा, चुगली खाना, युद्ध करना, ममता, कुटुम्बका पालन, वध, बन्धन, क्लेश, क्रय-विक्रय, छेदन-भेदन और विदारणका प्रयत्न, दूसरोंके मर्मको विदीर्ण कर डालनेकी चेष्टा, उग्रता, निष्ठुरता, चिल्लाना, दूसरोंके छिद्र बताना, लौकिक बातोंकी चिन्ता करना, पश्चात्ताप, मत्सरता, नाना प्रकारके सांसारिक भावोंसे भावित होना, असत्य-भाषण, मिथ्या दान, संशयपूर्ण विचार, तिरस्कारपूर्वक बोलना, निन्दा, स्तुति, प्रशंसा, प्रताप, बलात्कार, स्वार्थबुद्धिसे रोगीकी परिचर्या और बड़ोंकी शुश्रूषा एवं सेवावृत्ति, तृष्णा, दूसरोंके आश्रित रहना, व्यवहार-कुशलता, नीति, प्रमाद (अपव्यय), परिवाद और परिग्रह—ये सभी रजोगुणके कार्य हैं । संसारमें जो स्त्री, पुरुष, भूत, द्रव्य और गृह आदिमें पृथक्-पृथक् संस्कार होते हैं, वे भी रजोगुणकी ही प्रेरणाके फल हैं ।

रजोगुणी मनुष्योंके लक्षण और परिणाम

संतापोऽप्रत्ययश्चैव व्रतानि नियमाश्च ये ।
आशीर्युक्तानि कर्माणि पौर्तानि विविधानि च ॥
स्वाहाकारो नमस्कारः स्वधाकारो वषट्क्रिया ।
याजनाध्यापने चोभे यजनाध्ययने अपि ॥
दानं प्रतिग्रहश्चैव प्रायश्चित्तानि मङ्गलम् ।
इदं मे स्यादिदं मे स्यात् स्नेहो गुणसमुद्भवः ॥
अभिद्रोहस्तथा माया निकृतिर्मान एव च ।
स्तैन्यं हिंसा जुगुप्सा च परितापः प्रजागरः ॥
दम्भो दर्पोऽथ रागश्च भक्तिः प्रीतिः प्रमोदनम् ।
द्यूतं च जनवादश्च सम्बन्धाः स्त्रीकृताश्च ये ॥
नृत्यवादित्रगीतानां प्रसङ्गा ये च केचन ।
सर्वं एते गुणा विप्रा राजसाः सम्प्रकीर्तिताः ॥
भूतभव्यभविष्याणां भावानां भुवि भावनाः ।
त्रिवर्गनिरता नित्यं धर्मोऽर्थः काम इत्यपि ॥
कामवृत्ताः प्रमोदन्ते सर्वकामसमृद्धिभिः ।
अर्वाक्स्रोतस इत्येते मनुष्या रजसावृताः ॥
अस्मिँल्लोके प्रमोदन्ते जायमानाः पुनः पुनः ।
प्रेत्य भाविकमीहन्ते ऐहलौकिकमेव च ।
ददति प्रतिगृह्णन्ति तर्पयन्त्यथ जुह्वति ॥
रजोगुणा वो बहुधानुकीर्तिता
यथावदुक्तं गुणवृत्तमेव च ।
नरोऽपि यो वेद गुणानिमान् सदा
स राजसैः सर्वगुणैर्विमुच्यते ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३७ । ९—१८)

संताप, अविश्वास, सकाम भावसे व्रत-नियमोंका पालन, काम्य कर्म, नाना प्रकारके पूर्त (वापी, कूप-तड़ाग आदि पुण्य) कर्म, स्वाहाकार, नमस्कार, स्वधाकार, वषट्कार, याजन, अध्यापन, यजन, अध्ययन, दान, प्रतिग्रह, प्रायश्चित्त और मङ्गलजनक कर्म भी राजस माने गये हैं । 'मुझे यह वस्तु मिल जाय' इस प्रकार जो विषयोंको पानेके लिये आसक्तिमूलक उत्कण्ठा होती है, उसका कारण रजोगुण ही है । विप्रगण ! द्रोह, माया, शठता, मान, चोरी, हिंसा, घृणा, परिताप, जागरण, दम्भ, दर्प, राग, सकाम भक्ति, विषय-प्रेम, प्रमोद, द्यूतक्रीड़ा, लोगोंके साथ विवाद करना, स्त्रियोंके लिये सम्बन्ध बढ़ाना, नाच-बाजे और गानमें आसक्त होना—ये सब राजस गुण कहे गये हैं । जो इस पृथ्वीपर भूत, वर्तमान और भविष्य पदार्थोंकी चिन्ता करते हैं, धर्म, अर्थ और कामरूप त्रिवर्गके सेवन

लगे रहते हैं, मनमाना बर्ताव करते हैं और सब प्रकारके भोगोंकी समृद्धिसे आनन्द मानते हैं, वे मनुष्य रजोगुणसे आवृत हैं, उन्हें 'अर्वाक्स्रोता' कहते हैं। ऐसे लोग इस लोकमें बार-बार जन्म लेकर विषयजनित आनन्दमें मग्न रहते हैं और इहलोक तथा परलोकमें सुख पानेका प्रयत्न किया करते हैं। अतः वे सकाम भावसे दान देते हैं, प्रतिग्रह लेते हैं तथा तर्पण और यज्ञ करते हैं। मुनिवरो ! इस प्रकार मैंने तुमलोगोंसे नाना प्रकारके राजस गुणों और तदनुकूल बर्तावोंका यथावत् वर्णन किया। जो मनुष्य इन गुणोंको जानता है, वह सदा इन समस्त राजस गुणोंके बन्धनोंसे दूर रहता है।

सत्त्वगुणके कार्यका वर्णन और उसके जाननेका फल

सत्त्वगुणके लक्षण और कार्य

ब्रह्मोवाच

अतः परं प्रवक्ष्यामि तृतीयं गुणमुत्तमम्।
सर्वभूतहितं लोके सतां धर्ममनिन्दितम्॥
आनन्दः प्रीतिरुद्रेकः प्राकाश्यं सुखमेव च।
अकार्पण्यमसंरम्भः संतोषः श्रद्दधानता॥
क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम्।
अक्रोधश्चानसूया च शौचं दाक्ष्यं पराक्रमः॥
मुधा ज्ञानं मुधा वृत्तं मुधा सेवा मुधा श्रमः।
एवं यो युक्तधर्मः स्यात् सोऽमुत्रात्यन्तमश्नुते॥
निर्ममो निरहङ्कारो निराशीः सर्वतः समः।
अकामभूत इत्येव सतां धर्मः सनातनः॥
विश्रम्भो ह्रीस्तितिक्षा च त्यागशौचमतन्द्रिता।
आनृशंस्यमसम्मोहो दया भूतेष्वपैशुनम्॥
हर्षस्तुष्टिर्विस्मयश्च विनयः साधुवृत्तिता।
शान्तिकर्मणि शुद्धिश्च शुभा बुद्धिर्विमोचनम्॥
उपेक्षा ब्रह्मचर्यं च परित्यागश्च सर्वशः।
निर्ममत्वमनाशीष्ट्वमपरिक्षतधर्मता॥
मुधा दानं मुधा यज्ञो मुधाऽधीतं मुधा व्रतम्।
मुधा प्रतिग्रहश्चैव मुधा धर्मो मुधा तपः॥
एवंवृत्तास्तु ये केचिल्लोकेऽस्मिन् सत्त्वसंश्रयाः।
ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्थास्ते धीराः साधुदर्शिनः॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३८। १—१०)

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो ! अब मैं तीसरे उत्तम गुण (सत्त्वगुण-) का वर्णन करूँगा, जो जगत्में सम्पूर्ण प्राणियोंका हितकारी और श्रेष्ठ पुरुषोंका प्रशंसनीय धर्म है। आनन्द, प्रसन्नता, उन्नति, प्रकाश, सुख, कृपणताका अभाव, निर्भयता, संतोष, श्रद्धा, क्षमा, धैर्य, अहिंसा, समता, सत्य, सरलता, क्रोधका अभाव, किसीके दोष न देखना, पवित्रता, चतुरता और पराक्रम —ये सत्त्वगुणके कार्य हैं। नाना प्रकारकी सांसारिक जानकारी, सकाम व्यवहार, सेवा और श्रम व्यर्थ है—ऐसा समझकर जो कल्याणके साधनमें लग जाता है, वह परलोकमें अक्षय सुखका भागी होता है। ममता, अहंकार और आशासे रहित होकर सर्वत्र समदृष्टि रखना और सर्वथा निष्काम हो जाना ही श्रेष्ठ पुरुषोंका सनातन धर्म है। विश्वास, लज्जा, तितिक्षा, त्याग, पवित्रता, आलस्यरहित होना, कोमलता, मोहका अभाव, प्राणियोंपर दया करना, चुगली न खाना, हर्ष, संतोष, गर्वहीनता, विनय, सद्बर्ताव, शान्तिकर्ममें शुद्धभावसे प्रवृत्ति, उत्तम बुद्धि, आसक्तिसे छूटना, जगत्के भोगोंसे उदासीनता, ब्रह्मचर्य, सब प्रकारका त्याग, निर्ममता, फलकी कामना न करना तथा धर्मका निरन्तर पालन करते रहना—ये सब सत्त्वगुणके कार्य हैं। सकाम दान, यज्ञ, अध्ययन, व्रत, परिग्रह, धर्म और तप—ये सब व्यर्थ हैं—ऐसा समझकर जो उपर्युक्त बर्तावका पालन करते हुए इस जगत्में सत्यका आश्रय लेते हैं और वेदकी उत्पत्तिके स्थानभूत परब्रह्म परमात्मामें निष्ठा रखते हैं, वे ब्राह्मण ही धीर और साधुदर्शी माने गये हैं।

हित्वा सर्वाणि पापानि निःशोका ह्यथ मानवाः।
दिवं प्राप्य तु ते धीराः कुर्वते वै ततस्तनूः ॥
ईशित्वं च वशित्वं च लघुत्वं मनसश्च ते ।
विकुर्वते महात्मानो देवास्त्रिदिवगा इव ॥
ऊर्ध्वस्रोतस इत्येते देवा वैकारिकाः स्मृताः ।
विकुर्वन्तः प्रकृत्या वै दिवं प्राप्तास्ततस्ततः ॥
यद् यदिच्छन्ति तत् सर्वं भजन्ते विभजन्ति च
इत्येतत् सात्त्विकं वृत्तं कथितं वो द्विजर्षभाः ।
एतद् विज्ञाय लभते विधिवद् यद् यदिच्छति ॥
प्रकीर्तिताः सत्त्वगुणा विशेषतो
यथावदुक्तं गुणवृत्तमेव च ।
नरस्तु यो वेद गुणानिमान् सदा
गुणान् स भुङ्क्ते न गुणैः स युज्यते॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३८ । ११—१५)

वे धीर मनुष्य सब पापोंका त्याग करके शोकसे रहित हो जाते हैं और स्वर्गलोकमें जाकर वहाँके भोग भोगनेके लिये अनेक शरीर धारण कर लेते हैं । सत्त्व-सम्पन्न महात्मा स्वर्गवासी देवताओंकी भाँति ईशित्व, वशित्व और लघिमा आदि मानसिक सिद्धियोंको प्राप्त करते हैं । वे ऊर्ध्वस्रोता और वैकारिक देवता माने गये हैं । (योगबलसे) स्वर्गको प्राप्त होनेपर उनका चित्त उन-उन भोगजनित संस्कारोंसे विकृत होता है । उस समय वे जो-जो चाहते हैं, उस-उस वस्तुको पाते और बाँटते हैं । श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! इस प्रकार मैंने तुमलोगोंसे सत्त्वगुणके कार्योंका वर्णन किया । जो इस विषयको अच्छी तरह जानता है, वह जिस-जिस वस्तुकी इच्छा करता है, उसीको पा लेता है । यह सत्त्वगुणका विशेषरूपसे वर्णन किया गया तथा सत्त्वगुणका कार्य भी बताया गया । जो मनुष्य इन गुणोंको जानता है, वह सदा गुणोंको भोगता है, किंतु उनसे बँधता नहीं।

सत्त्व आदि गुणोंका और प्रकृतिके नामोंका वर्णन

तीनों गुणोंकी अविच्छिन्नता

ब्रह्मोवाच

नैव शक्या गुणा वक्तुं पृथक्त्वेनैव सर्वशः ।
अविच्छिन्नानि दृश्यन्ते रजः सत्त्वं तमस्तथा ॥
अन्योन्यमथ रज्यन्ते ह्यन्योन्यं चार्थजीविनः ।
अन्योन्यमाश्रयाः सर्वे तथान्योन्यानुवर्तिनः ॥
यावत्सत्त्वं रजस्तावद् वर्तते नात्र संशयः ।
यावत्तमश्च सत्त्वं च रजस्तावदिहोच्यते ॥
संहत्य कुर्वते यात्रां सहिताः संघचारिणः ।
संघातवृत्तयो ह्येते वर्तन्ते हेत्वहेतुभिः ॥
उद्रेकव्यतिरिक्तानां तेषामन्योन्यवर्तिनाम् ।
वक्ष्यते तद् यथा न्यूनं व्यतिरिक्तं च सर्वशः॥
व्यतिरिक्तं तमो यत्र तिर्यग् भावगतं भवेत् ।
अल्पं तत्र रजो ज्ञेयं सत्त्वमल्पतरं तथा ॥
उद्रिक्तं च रजो यत्र मध्यस्रोतोगतं भवेत् ।
अल्पं तत्र तमो ज्ञेयं सत्त्वमल्पतरं तथा ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३९ । १—७)

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो ! सत्त्व, रज और तम—इन गुणोंका सर्वथा पृथक्‌रूपसे वर्णन करना असम्भव है; क्योंकि ये तीनों गुण अविच्छिन्न (मिले हुए) देखे जाते हैं । वे सभी परस्पर रँगे हुए, एक दूसरेसे अनुप्राणित, अन्योन्याश्रित तथा एक दूसरेका अनुसरण करनेवाले हैं । इसमें संदेह नहीं कि इस जगत्में जब-तक सत्त्वगुण रहता है, तबतक रजोगुण भी रहता है एवं जबतक तमोगुण रहता है, तबतक सत्त्वगुण और रजोगुणकी भी सत्ता रहती है, ऐसा कहते हैं ।

ये गुण किसी निमित्तसे अथवा बिना निमित्तके भी सदा साथ रहते हैं, साथ-ही-साथ विचरते हैं, समूह बनाकर यात्रा करते हैं और संघात (शरीर) में मौजूद

रहते हैं। ऐसा होनेपर भी कहीं तो इन उन्नति और अवनतिके स्वभाववाले तथा एक दूसरेका अनुसरण करनेवाले गुणोंमेंसे किसीकी न्यूनता देखी जाती है और कहीं अधिकता। सो किस प्रकार? यह बताया जाता है। तिर्यक् योनियोंमें जहाँ तमोगुणकी अधिकता होती है, वहाँ थोड़ा रजोगुण और बहुत थोड़ा सत्त्वगुण समझना चाहिये। मध्यस्रोता अर्थात् मनुष्ययोनिमें, जहाँ रजोगुणकी मात्रा अधिक होती है, वहाँ थोड़ा तमोगुण और बहुत थोड़ा सत्त्वगुण समझना चाहिये।

गुणोंके अनुसार गति तथा प्रकृतिके नामोंका वर्णन

उद्रिक्तं च यदा सत्त्वमूर्ध्वस्रोतोगतं भवेत्।
अल्पं तत्र तमो ज्ञेयं रजश्चाल्पतरं तथा॥
सत्त्वं वैकारिकी योनिरिन्द्रियाणां प्रकाशिका।
न हि सत्त्वात् परो धर्मः कश्चिदन्यो विधीयते॥
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणसंयुक्ता यान्त्यधस्तामसा जनाः॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३९। ८—१०)

इसी प्रकार ऊर्ध्वस्रोता यानी देवयोनियोंमें जहाँ सत्त्व-गुणकी वृद्धि होती है वहाँ तमोगुण अल्प और रजोगुण अल्पतर जानना चाहिये। सत्त्वगुण इन्द्रियोंकी उत्पत्तिका कारण है, उसे वैकारिक हेतु मानते हैं। वह इन्द्रियों और उनके विषयोंको प्रकाशित करनेवाला है। सत्त्व-गुणसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं बताया गया है। सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं और तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद एवं आलस्य आदिमें स्थित हुए तामस मनुष्य अधोगतिको प्राप्त होते—नीच योनियों अथवा नरकोंमें पड़ते हैं।

प्रकृतिके नाम

पर्यायेण प्रवर्तन्ते तत्र तत्र तथा तथा।
यत्किंचिदिह लोकेऽस्मिन् सर्वमेते त्रयो गुणाः॥
त्रयो गुणाः प्रवर्तन्ते ह्यव्यक्ता नित्यमेव तु।
सत्त्वं रजस्तमश्चैव गुणसर्गः सनातनः॥
तमो व्यक्तं शिवं धाम रजो योनिः सनातनः।
प्रकृतिर्विकारः प्रलयः प्रधानं प्रभवाप्ययौ॥
अनुद्रिक्तमनूनं वाप्यकम्पमचलं ध्रुवम्।
सदसच्चैव तत् सर्वमव्यक्तं त्रिगुणं स्मृतम्।
ज्ञेयानि नामधेयानि नरैरध्यात्मचिन्तकैः॥
अव्यक्तनामानि गुणांश्च तत्त्वतो
यो वेद सर्वाणि गतीश्च केवलाः।
विमुक्तदेहः प्रविभागतत्त्ववित्
स मुच्यते सर्वगुणैर्निरामयः॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ३९। २१–२५)

इस जगत्में जो कोई भी वस्तु भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे उपलब्ध होती है, वह सब त्रिगुणमय है। सर्वत्र तीनों गुणोंकी ही सत्ता है। ये तीनों अव्यक्त और प्रवाहरूपसे नित्य भी हैं। सत्त्व, रज और तम—इन गुणोंकी सृष्टि सनातन है। प्रकृतिको तम, व्यक्त, शिव, धाम, रज, योनि, सनातन, प्रकृति, विकार, प्रलय, प्रधान, प्रभव, अप्यय, अनुद्रिक्त, अनून, अकम्प, अचल, ध्रुव, सत्, असत्, अव्यक्त और त्रिगुणरूप कहते हैं। अध्यात्मतत्त्वका चिन्तन करनेवाले लोगोंको इन नामोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। जो मनुष्य प्रकृतिके इन नामों, सत्त्वादि गुणों और सम्पूर्ण विशुद्ध गतियोंको ठीक-ठीक जानता है, वह गुणविभागके तत्त्वका ज्ञाता है। उसके ऊपर सांसारिक दुःखोंका प्रभाव नहीं पड़ता। वह देह-त्यागके पश्चात् सम्पूर्ण गुणोंके बन्धनसे छुटकारा पा जाता है।

महत्तत्त्वके नाम और परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके साधन

ब्रह्मोवाच

अव्यक्तात् पूर्वमुत्पन्नो महानात्मा महामतिः ।
आदिर्गुणानां सर्वेषां प्रथमः सर्ग उच्यते ॥
महानात्मा मतिर्विष्णुर्जिष्णुः शम्भुश्च वीर्यवान् ।
बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च तथा ख्यातिर्धृतिः स्मृतिः
पर्यायवाचकैः शब्दैर्महानात्मा विभाव्यते ।
तं जानन् ब्राह्मणो विद्वान् प्रमोहं नाधिगच्छति ॥
सर्वतःपाणिपादश्च सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः ।
सर्वतःश्रुतिमाँल्लोके सर्वं व्याप्य स तिष्ठति ॥
महाप्रभावः पुरुषः सर्वस्य हृदि निश्रितः ।
अणिमा लघिमा प्राप्तिरीशानो ज्योतिरव्ययः ॥
तत्र बुद्धिविदो लोकाः सद्भावनिरताश्च ये ।
ध्यानिनो नित्ययोगाश्च सत्यसंधा जितेन्द्रियाः ॥
ज्ञानवन्तश्च ये केचिदलुब्धा जितमन्यवः ।
प्रसन्नमनसो धीरा निर्ममा निरहंकृताः ॥
विमुक्ताः सर्व एवैते महत्त्वमुपयान्त्युत ।
आत्मनो महतो वेद यः पुण्यां गतिमुत्तमाम् ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ४० । १—८)

ब्रह्माजी बोले—महर्षिगण ! पहले अव्यक्त प्रकृतिसे महान् आत्मस्वरूप महाबुद्धितत्त्व उत्पन्न हुआ । यही सब गुणोंका आदितत्त्व और प्रथम सर्ग कहा जाता है । महान् आत्मा, मति, विष्णु, जिष्णु, शम्भु, वीर्यवान्, बुद्धि, प्रज्ञा, उपलब्धि, ख्याति, धृति, स्मृति—इन पर्याय-वाची नामोंसे महान् आत्माकी पहचान होती है । उसके तत्त्वको जाननेवाला विद्वान् ब्राह्मण कभी मोहमें नहीं पड़ता । परमात्मा सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है; क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है । सबके हृदयमें विराजमान परम पुरुष परमात्माका प्रभाव बहुत बड़ा है । अणिमा, लघिमा और प्राप्ति आदि सिद्धियाँ उसीके स्वरूप हैं । वह सबका शासन करनेवाला, ज्योतिर्मय और अविनाशी है । संसारमें जो कोई भी मनुष्य बुद्धिमान्, सद्भाव-परायण, ध्यानी, नित्य योगी, सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय, ज्ञानवान्, लोभहीन, क्रोधको जीतनेवाले, प्रसन्नचित्त, धीर तथा ममता और अहंकारसे रहित हैं, वे सब मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त होते हैं । जो सर्वश्रेष्ठ परमात्मा-की महिमाको जानता है, उसे पुण्यदायक उत्तम गति मिलती है ।

अहंकारात् प्रसूतानि महाभूतानि पञ्च वै ।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥
तेषु भूतानि युज्यन्ते महाभूतेषु पञ्चसु ।
ते शब्दस्पर्शरूपेषु रसगन्धक्रियासु च ॥
महाभूतविनाशान्ते प्रलये प्रत्युपस्थिते ।
सर्वप्राणभृतां धीरा महदुत्पद्यते भयम् ॥
स धीरः सर्वलोकेषु न मोहमधिगच्छति ।
विष्णुरेवादिसर्गेषु स्वयम्भूर्भवति प्रभुः ॥
एवं हि यो वेद गुहाशयं प्रभुं
परं पुराणं पुरुषं विश्वरूपम् ।
हिरण्मयं बुद्धिमतां परां गतिं
स बुद्धिमान् बुद्धिमतीत्य तिष्ठति ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ४० । ९—१३)

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और पाँचवाँ तेज—ये पाँचों महाभूत अहंकारसे उत्पन्न होते हैं । उन पाँचों महाभूतों तथा उनके कार्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदिसे सम्पूर्ण प्राणी युक्त हैं । धैर्यशाली महर्षियो ! जब पञ्चमहाभूतोंके विनाशके समय प्रलयकाल उपस्थित होता है, उस समय समस्त प्राणियोंको महान् भयका सामना करना पड़ता है । किंतु सम्पूर्ण लोगोंमें जो आत्मज्ञानी धीर पुरुष है, वह उस समय भी मोहित नहीं होता । आदि-सर्गमें सर्व समर्थ स्वयम्भू विष्णु ही स्वयं अपनी इच्छासे प्रकट होते

हैं। जो इस प्रकार बुद्धिरूपी गुहामें स्थित, विश्वरूप, पुराणपुरुष, हिरण्मय देव और ज्ञानियोंकी परम गतिरूप परम प्रभुको जानता है, वह बुद्धिमान् बुद्धिकी सीमाके पार पहुँच जाता है।

अहंकारकी उत्पत्ति और उसके स्वरूपका वर्णन

ब्रह्मोवाच

य उत्पन्नो महान् पूर्वमहंकारः स उच्यते।
अहमित्येव सम्भूतो द्वितीयः सर्ग उच्यते॥
अहंकारश्च भूतादिर्वैकारिक इति स्मृतः।
तेजसश्चेतना धातुः प्रजासर्गः प्रजापतिः॥
देवानां प्रभवो देवो मनसश्च त्रिलोककृत्।
अहमित्येव तत्सर्वमभिमन्ता स उच्यते॥
अध्यात्मज्ञानतृप्तानां मुनीनां भावितात्मनाम्।
स्वाध्यायक्रतुसिद्धानामेष लोकः सनातनः॥
अहंकारेणाहरतो गुणानिमान्
भूतादिरेवं सृजते स भूतकृत्।
वैकारिकः सर्वमिदं विचेष्टते
स्वतेजसा रञ्जयते जगत् तथा॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ४१। १—५)

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो! जो पहले महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ था, वही अहंकार कहा जाता है। जब वह अहंरूपमें प्रादुर्भूत होता है, तब वह दूसरा सर्ग कहलाता है। यह अहंकार भूतादि विकारोंका कारण है, इसलिये वैकारिक माना गया है। यह रजोगुणका स्वरूप है, इसलिये तैजस है। इसका आधार चेतन आत्मा है। सारी प्रजाकी सृष्टि इसीसे होती है, इसलिये इसको प्रजापति कहते हैं। यह श्रोत्रादि इन्द्रियरूप देवोंका और मनका उत्पत्तिस्थान एवं स्वयं भी देवस्वरूप है, इसलिये इसे त्रिलोकीका कर्त्ता माना गया है। यह सम्पूर्ण जगत् अहंकारस्वरूप है, इसलिये यह अभिमन्ता कहा जाता है। जो अध्यात्मज्ञानमें तृप्त, आत्माका चिन्तन करनेवाले और स्वाध्यायरूपी यज्ञमें सिद्ध हैं, उन मुनिजनोंको यह सनातन लोक प्राप्त होता है। समस्त भूतोंका आदि और सबको उत्पन्न करनेवाला वह अहंकारका आधारभूत जीवात्मा अहंकारके द्वारा सम्पूर्ण गुणोंकी रचना करता है और उनका उपभोग करता है। यह जो कुछ भी चेष्टाशील जगत् है, वह विकारोंके कारणरूप अहंकारका ही स्वरूप है। वह अहंकार ही अपने तेजसे सारे जगत्को रजोमय (भोगोंका इच्छुक) बनाता है।

देहरूपी कालचक्रका तथा गृहस्थ और ब्राह्मणके धर्मका कथन

तदनन्तर ब्रह्माजीने अहंकारसे पञ्चमहाभूत तथा इन्द्रियोंकी सृष्टि, अध्यात्म-अधिभूत-अधिदैवत एवं निवृत्तिमार्ग, चराचर प्राणियोंके अधिपति तथा धर्मादिके लक्षण, विषयानुभूतिके साधन, क्षेत्रज्ञकी विलक्षणता एवं पदार्थमात्रके आदि-अन्तका वर्णन करके ज्ञानकी नित्यताका प्रतिपादन किया। इसके बाद वे बोले—

देहरूपी काल-चक्रका स्वरूप

ब्रह्मोवाच

बुद्धिसारं मनःस्तम्भमिन्द्रियग्रामबन्धनम्।
महाभूतपरिस्कन्धं निवेशपरिवेशनम्॥
जराशोकसमाविष्टं व्याधिव्यसनसम्भवम्।
देशकालविचारीदं श्रमव्यायामनिःस्वनम्॥
अहोरात्रपरिक्षेपं शीतोष्णपरिमण्डलम्।
सुखदुःखान्तसंश्लेषं क्षुत्पिपासावकीलकम्॥
छायातपविलेखं च निमेषोन्मेषविह्वलम्।
घोरमोहजलाकीर्णं वर्तमानमचेतनम्॥
मासार्धमासगणितं विषमं लोकसंचरम्।
तमोनियमपङ्कं च रजोवेगप्रवर्तकम्॥

महाहंकारदीप्तं च गुणसंजातवर्तनम् ।
अरतिग्रहणानीकं शोकसंहारवर्तनम् ॥
क्रियाकारणसंयुक्तं रागविस्तारमायतम् ।
लोभेप्सापरिविक्षोभं विचित्राज्ञानसम्भवम् ॥
भयमोहपरीवारं भूतसम्मोहकारकम् ।
आनन्दप्रीतिचारं च कामक्रोधपरिग्रहम् ॥
महदादिविशेषान्तमसक्तं प्रभवाव्ययम् ।
मनोजवं मनःकान्तं कालचक्रं प्रवर्तते ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ४५ । १—९)

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो ! मनके समान वेगवाला (देहरूपी) मनोरम कालचक्र निरन्तर चल रहा है । यह महत्तत्त्वसे लेकर स्थूल भूतोंतक चौबीस तत्त्वोंसे बना हुआ है । इसकी गति कहीं भी नहीं रुकती । यह संसार-बन्धनका अनिवार्य कारण है । बुढ़ापा और शोक इसे घेरे हुए हैं । यह रोग और दुर्व्यसनोंकी उत्पत्तिका स्थान है । यह देश और कालके अनुसार विचरण करता रहता है । बुद्धि इस कालचक्रका सार, मन खम्भा और इन्द्रियसमुदाय बन्धन हैं । पञ्चमहाभूत इसका तना है । अज्ञान ही इसका आवरण है । श्रम तथा व्यायाम इसके शब्द हैं । रात और दिन इस चक्रका संचालन करते हैं । सर्दी और गरमी इसका घेरा है । सुख और दुःख इसकी सन्धियाँ (जोड़) हैं । भूख और प्यास इसके कीलक तथा धूप और छाया इसकी रेखा हैं । आँखोंके खोलने और मीचनेसे इसकी व्याकुलता (चञ्चलता) प्रकट होती है । घोर मोहरूपी जल (शोकाश्रु) से यह व्याप्त रहता है । यह सदा ही गतिशील और अचेतन है । मास और पक्ष आदिके द्वारा इसकी आयुकी गणना की जाती है । यह कभी भी एक-सी अवस्थामें नहीं रहता । ऊपर-नीचे और मध्यवर्ती लोकोंमें सदा चक्कर लगाता रहता है । तमोगुणके वशमें होनेपर इसकी पापपङ्कमें प्रवृत्ति होती है और रजोगुणका वेग इसे भिन्न-भिन्न कर्मोंमें लगाया करता है । यह महान् दर्पसे उद्दीप्त रहता है । तीनों गुणोंके अनुसार इसकी प्रवृत्ति देखी जाती है । मानसिक चिन्ता ही इस चक्रकी वन्धनपट्टिका है । यह सदा शोक और मृत्युके वशीभूत रहनेवाला तथा क्रिया और कारणसे युक्त है । आसक्ति ही उसका दीर्घ-विस्तार (लंबाई-चौड़ाई) है । लोभ और तृष्णा ही इस चक्रको ऊँचे-नीचे स्थानोंमें गिरानेके हेतु हैं । अद्भुत अज्ञान (माया) इसकी उत्पत्तिका कारण है । भय और मोह इसे सब ओरसे घेरे हुए हैं । यह प्राणियोंको मोहमें डालनेवाला, आनन्द और प्रीतिके लिये विचरनेवाला तथा काम और क्रोधका संग्रह करनेवाला है ।

कालचक्रको अच्छी तरह जाननेवाला परमगतिको प्राप्त हो जाता है

एतद् द्वन्द्वसमायुक्तं कालचक्रमचेतनम् ।
विसृजेत् संक्षिपेच्चापि बोधयेत् सामरं जगत् ॥
कालचक्रप्रवृत्तिं च निवृत्तिं चैव तत्त्वतः ।
यस्तु वेद नरो नित्यं न स भूतेषु मुह्यति ॥
विमुक्तः सर्वसंस्कारैः सर्वद्वन्द्वविवर्जितः ।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ४५ । १०—१२)

यह राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे युक्त जड देहरूपी कालचक्र ही देवताओंसहित सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि और संहारका कारण है । तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका भी यही साधन है । जो मनुष्य इस देहमय कालचक्रकी प्रवृत्ति और निवृत्तिको सदा अच्छी तरह जानता है, वह कभी मोहमें नहीं पड़ता । वह सम्पूर्ण वासनाओं, सब प्रकारके द्वन्द्वों और समस्त पापोंसे मुक्त होकर परमगतिको प्राप्त होता है ।

गृहस्थके धर्म

गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।
चत्वार आश्रमाः प्रोक्ताः सर्वे गार्हस्थ्यमूलकाः ॥
यः कश्चिदिह लोकेऽस्मिन्नागमः परिकीर्तितः ।

तस्मात्तगमनं श्रेयः कीर्तिरेषा सनातनी ॥
संस्कारैः संस्कृतः पूर्वं यथावच्चरितव्रतः ।
जातौ गुणविशिष्टायां समावर्तेत तत्त्ववित् ॥
स्वदारनिरतो नित्यं शिष्टाचारो जितेन्द्रियः ।
पञ्चभिश्च महायज्ञैः श्रद्दधानो यजेदिह ॥
देवतातिथिशिष्टाशी निरतो वेदकर्मसु ।
इज्याप्रदानयुक्तश्च यथाशक्ति यथासुखम् ॥
न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो मुनिः ।
न च वागङ्गचपल इति शिष्टस्य गोचरः ॥
नित्यं यज्ञोपवीती स्याच्छुक्लवासाः शुचिव्रतः ।
नियतो यमदानाभ्यां सदा शिष्टैश्च संविशेत् ॥
जितशिश्नोदरो मैत्रः शिष्टाचारसमन्वितः ।
वैणवीं धारयेद् यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ४५ । १३—२०)

ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम शास्त्रोंमें बताये गये हैं । गृहस्थ आश्रम ही इन सबका मूल है । इस संसारमें जो कोई भी विधि-निषेधरूप शास्त्र कहा गया है, उसमें पारङ्गत विद्वान् होना गृहस्थ द्विजोंके लिये उत्तम बात है । इसीसे सनातन यशकी प्राप्ति होती है । पहले सब प्रकारके संस्कारोंसे सम्पन्न होकर वेदोक्त विधिसे अध्ययन करते हुए ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करना चाहिये । तत्पश्चात् तत्त्ववेत्ताको उचित है कि वह समावर्तनसंस्कार करके उत्तम गुणोंसे युक्त कुलमें विवाह करे । अपनी ही स्त्रीपर प्रेम रखना, सदा सत्पुरुषोंके आचारका पालन करना और जितेन्द्रिय होना गृहस्थके लिये परम आवश्यक है । इस आश्रममें उसे श्रद्धापूर्वक पञ्चमहायज्ञोंके द्वारा देवता आदिका यजन करना चाहिये । गृहस्थको उचित है कि वह देवता और अतिथिको भोजन करानेके बाद बचे हुए अन्नका स्वयं आहार करे । वेदोक्त कर्मोंके अनुष्ठानमें संलग्न रहे । अपनी शक्तिके अनुसार प्रसन्नतापूर्वक यज्ञ करे और दान दे । मननशील गृहस्थको चाहिये कि हाथ, पैर, नेत्र, वाणी तथा शरीरके द्वारा होनेवाली चपलताका परित्याग करे अर्थात् इनके द्वारा कोई अनुचित कार्य न होने दे । यही सत्पुरुषोंका वर्ताव (शिष्टाचार) है । सदा यज्ञोपवीत धारण किये रहे, स्वच्छ वस्त्र पहने, उत्तम व्रतका पालन करे, शौच-संतोष आदि नियमों और सत्य-अहिंसा आदि यमोंके पालनपूर्वक यथाशक्ति दान करता रहे तथा सदा शिष्ट पुरुषोंके साथ निवास करे । शिष्टाचारका पालन करते हुए जिह्वा और उपस्थको काबूमें रक्खे । सबके साथ मित्रताका बर्ताव करे । बाँसकी छड़ी और जलसे भरा हुआ कमण्डलु सदा साथ रक्खे ।

ब्राह्मणके धर्म

अधीत्याध्यापनं कुर्यात् तथा यजनयाजने ।
दानं प्रतिग्रहं वापि षड्गुणां वृत्तिमाचरेत् ॥
त्रीणि कर्माणि जानीत ब्राह्मणानां तु जीविका ।
याजनाध्यापने चोभे शुद्धाच्चापि प्रतिग्रहः ॥
अथ शेषाणि चान्यानि त्रीणि कर्माणि यानि तु ।
दानमध्ययनं यज्ञो धर्मयुक्तानि तानि तु ॥
तेष्वप्रमादं कुर्वीत त्रिषु कर्मसु धर्मवित् ।
दान्तो मैत्रः क्षमायुक्तः सर्वभूतसमो मुनिः ॥
सर्वमेतद् यथाशक्ति विप्रो निर्वर्तयन् शुचिः ।
एवं युक्तो जयेत् स्वर्गं गृहस्थः संशितव्रतः ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ४५ । २१—२५)

ब्राह्मणको अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन और दान तथा प्रतिग्रह—इन छः वृत्तियोंका आश्रय लेना चाहिये । इनमेंसे तीन कर्म—याजन (यज्ञ कराना), अध्यापन (पढ़ाना) और श्रेष्ठ पुरुषोंसे दान लेना—ये ब्राह्मणकी जीविकाके साधन हैं । शेष तीन कर्म—दान, अध्ययन तथा यज्ञानुष्ठान करना—ये धर्मोपार्जनके लिये हैं । धर्मज्ञ ब्राह्मणको इनके पालनमें कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये । इन्द्रियसंयमी, मित्रभावसे युक्त, क्षमावान्, सब प्राणियोंके प्रति समानभाव रखनेवाला,

मननशील, उत्तम व्रतका पालन करनेवाला और पवित्रतासे रहनेवाला गृहस्थ ब्राह्मण सदा सावधान रहकर अपनी शक्तिके अनुसार यदि उपर्युक्त नियमोंका पालन करता है तो वह स्वर्गलोकको जीत लेता है।

ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासीके धर्मका वर्णन

ब्रह्मचारीके धर्म

ब्रह्मोवाच

एवमेतेन मार्गेण पूर्वोक्तेन यथाविधि।
अधीतवान् यथाशक्ति तथैव ब्रह्मचर्यवान्॥
स्वधर्मनिरतो विद्वान् सर्वेन्द्रिययतो मुनिः।
गुरोः प्रियहिते युक्तः सत्यधर्मपरः शुचिः॥
गुरुणा समनुज्ञातो भुञ्जीतान्नमकुत्सयन्।
हविष्यभैक्ष्यभुक् चापि स्थानासनविहारवान्॥
द्विकालमग्निं जुह्वानः शुचिर्भूत्वा समाहितः।
धारयीत सदा दण्डं बैल्वं पालाशमेव वा॥
क्षौमं कार्पासिकं चापि मृगाजिनमथापि वा।
सर्वं काषायरक्तं वा वासो वापि द्विजस्य ह॥
मेखला च भवेन्मौञ्जी जटी नित्योदकस्तथा।
यज्ञोपवीती स्वाध्यायी अलुब्धो नियतव्रतः॥
पूताभिश्च तथैवाद्भिः सदा दैवततर्पणम्।
भावेन नियतः कुर्वन् ब्रह्मचारी प्रशस्यते॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ४६। १—७)

ब्रह्माजीने कहा—महर्षिगण! इस प्रकार इस पूर्वोक्त मार्गके अनुसार गृहस्थको यथावत् आचरण करना चाहिये एवं यथाशक्ति अध्ययन करते हुए ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह अपने धर्ममें तत्पर रहे, विद्वान् बने, सम्पूर्ण इन्द्रियोंको अपने अधीन रखे, मुनिव्रतका पालन करे, गुरुका प्रिय और हित करनेमें लगा रहे, सत्य बोले तथा धर्मपरायण एवं पवित्र रहे। गुरुकी आज्ञा लेकर भोजन करे। भोजनके समय अन्नकी निन्दा न करे। भिक्षाके अन्नको हविष्य मानकर ग्रहण करे। एक स्थानपर रहे। एक आसनसे बैठे और नियत समयमें भ्रमण करे। पवित्र और एकाग्रचित्त होकर दोनों समय अग्निमें हवन करे। सदा बेल या पलाशका दण्ड लिये रहे। रेशमी अथवा सूती वस्त्र या मृगचर्म धारण करे। अथवा ब्राह्मणके लिये सारा वस्त्र गेरुए रंगका होना चाहिये। ब्रह्मचारी मूँजकी मेखला पहने, जटा धारण करे, प्रतिदिन स्नान करे, यज्ञोपवीत पहने, वेदके स्वाध्यायमें लगा रहे तथा लोभहीन होकर नियमपूर्वक व्रतका पालन करे। जो ब्रह्मचारी सदा नियमपरायण होकर श्रद्धाके साथ शुद्ध जलसे नित्य देवताओंका तर्पण करता है, उसकी सर्वत्र प्रशंसा होती है।

वानप्रस्थके धर्म

एवं युक्तो जयेल्लोकान् वानप्रस्थो जितेन्द्रियः।
न संसरति जातीषु परमं स्थानमाश्रितः॥
संस्कृतः सर्वसंस्कारैस्तथैव ब्रह्मचर्यवान्।
ग्रामान्निष्क्रम्य चारण्ये मुनिः प्रव्रजितो वसेत्॥
चर्मवल्कलसंवासी सायं प्रातरुपस्पृशेत्।
अरण्यगोचरो नित्यं न ग्रामं प्रविशेत् पुनः॥
अर्चयन्नतिथीन् काले दद्याच्चापि प्रतिश्रयम्।
फलपत्रावरैर्मूलैः श्यामाकेन च वर्तयन्॥
प्रवृत्तमुदकं वायुं सर्वं वानेयमाश्रयेत्।
प्राश्नीयादानुपूर्व्येण यथादीक्षमतन्द्रितः॥
समूलफलभिक्षाभिरर्चेदतिथिमागतम्।
यद् भक्ष्यं स्यात् ततो दद्याद् भिक्षां नित्यमतन्द्रितः॥
देवतातिथिपूर्वं च सदा प्राश्नीत वाग्यतः।
अस्पर्धितमनाश्चैव लघ्वाशी देवताश्रयः॥
दान्तो मैत्रः क्षमायुक्तः केशान् श्मश्रु च धारयन्।
जुह्वन् स्वाध्यायशीलश्च सत्यधर्मपरायणः॥
शुचिदेहः सदा दक्षो वननित्यः समाहितः।
एवं युक्तो जयेत् स्वर्गं वानप्रस्थो जितेन्द्रियः॥

गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ वा पुनः।
य इच्छेन्मोक्षमास्थातुमुत्तमां वृत्तिमाश्रयेत् ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ४६। ८—१७)

इसी प्रकार आगे बतलाये जानेवाले उत्तम गुणोंसे युक्त जितेन्द्रिय वानप्रस्थी पुरुष भी उत्तम लोकोंपर विजय पाता है। वह उत्तम स्थानको पाकर फिर इस संसारमें जन्म धारण नहीं करता। वानप्रस्थ मुनिको सब प्रकारके संस्कारोंके द्वारा शुद्ध होकर ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए घरकी ममता त्यागकर गाँवसे बाहर निकलकर वनमें निवास करना चाहिये। वह मृगचर्म अथवा वल्कल-वस्त्र पहने। प्रातः और सायंकालके समय स्नान करे। सदा वनमें ही रहे। गाँवमें फिर कभी प्रवेश न करे। अतिथिको आश्रय दे और समयपर उनका सत्कार करे। जंगली फल, मूल, पत्ता अथवा सावाँ खाकर जीवन-निर्वाह करे। बहते हुए जल, वायु आदि सब वनकी वस्तुओंका ही सेवन करे। अपने व्रतके अनुसार सदा सावधान रहकर क्रमशः उपर्युक्त वस्तुओंका आहार करे। यदि कोई अतिथि आ जाय तो फल-मूलकी भिक्षा देकर उसका सत्कार करे। कभी आलस्य न करे। जो कुछ भोजन अपने पास उपस्थित हो, उसीमेंसे अतिथिको भिक्षा दे। नित्यप्रति पहले देवता और अतिथियोंको भोजन दे। उसके बाद मौन होकर स्वयं अन्न ग्रहण करे। मनमें किसीके साथ स्पर्धा न रक्खे, हल्का भोजन करे, देवताओंका सहारा ले। इन्द्रियोंका संयम करे, सबके साथ मित्रताका बर्ताव करे। क्षमाशील बने और दाढ़ी-मूँछ तथा सिरके बालोंको धारण किये रहे। समयपर अग्निहोत्र और वेदोंका स्वाध्याय करे तथा सत्य-धर्मका पालन करे। शरीरको सदा पवित्र रक्खे। धर्म-पालनमें कुशलता प्राप्त करे। सदा वनमें रहकर चित्तको एकाग्र किये रहे। इस प्रकार उत्तम धर्मोंका पालन करनेवाला जितेन्द्रिय वानप्रस्थी स्वर्गपर विजय पाता है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ कोई भी क्यों न हो, जो मोक्ष पाना चाहता हो, उसे उत्तम वृत्तिका आश्रय लेना चाहिये।

संन्यासीके धर्म

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा नैष्कर्म्यमाचरेत्।
सर्वभूतसुखो मैत्रः सर्वेन्द्रिययतो मुनिः ॥
अयाचितमसंक्लृप्तमुपपन्नं यदृच्छया।
कृत्वा प्राह्णे चरेद् भैक्ष्यं विधूमे भुक्तवज्जने ॥
वृत्ते शरावसम्पाते भैक्ष्यं लिप्सेत मोक्षवित्।
लाभेन च न हृष्येत नालाभे विमना भवेत् ॥
न चातिभिक्षां भिक्षेत केवलं प्राणयात्रिकः।
यात्रार्थी कालमाकाङ्क्षंश्चरेद् भैक्ष्यं समाहितः।
लाभं साधारणं नेच्छेन्न भुञ्जीताभिपूजितः ॥
अभिपूजितलाभाद्धि विजुगुप्सेत भिक्षुकः।
भुक्तान्यन्नानि तिक्तानि कषायकटुकानि च ॥
नास्वादयीत भुञ्जानो रसांश्च मधुरांस्तथा।
यात्रामात्रं च भुञ्जीत केवलं प्राणधारणम् ॥
असंरोधेन भूतानां वृत्तिं लिप्सेत मोक्षवित्।
न चान्यमन्नं लिप्सेत भिक्षमाणः कथंचन ॥
न संनिकाशयेद् धर्मं विविक्ते चारजाश्चरेत्।
शून्यागारमरण्यं वा वृक्षमूलं नदीं तथा ॥
प्रतिश्रयार्थं सेवेत पार्वतीं वा पुनर्गुहाम्।
ग्रामैकरात्रिको ग्रीष्मे वर्षास्वेकत्र वा वसेत् ॥
अध्वा सूर्येण निर्दिष्टः कीटवच्च चरेन्महीम्।
दयार्थं चैव भूतानां समीक्ष्य पृथिवीं चरेत् ॥
संचयांश्च न कुर्वीत स्नेहवासं च वर्जयेत्।
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ४६। १८—२७½)

(वानप्रस्थकी अवधि पूरी करके) सम्पूर्ण भूतोंको अभय-दान देकर कर्म-त्यागरूप संन्यास-धर्मका पालन करे। सब प्राणियोंके सुखमें सुख माने। सबके साथ मित्रता रक्खे। समस्त इन्द्रियोंका संयम और मुनि-वृत्तिका पालन करे। बिना याचना किये, बिना संकल्पके दैवात् जो अन्न प्राप्त हो जाय, उस भिक्षासे ही जीवन-निर्वाह

करे। प्रातःकालका नित्यकर्म करनेके बाद जब गृहस्थोंके यहाँ रसोई-घरसे धुआँ निकलना बंद हो जाय, घरके सब लोग खा-पी चुकें और बर्तन धो-माजकर रख दिये गये हों, उस समय मोक्षधर्मके ज्ञाता संन्यासीको भिक्षा लेनेकी इच्छा करनी चाहिये। भिक्षा मिल जानेपर हर्ष और न मिलनेपर विषाद न करे। (लोभवश) बहुत अधिक भिक्षाका संग्रह न करे। जितनेसे प्राण-यात्राका निर्वाह हो, उतनी ही भिक्षा लेनी चाहिये। संन्यासी जीवन-निर्वाहके ही लिये भिक्षा माँगे। उचित समयतक उसके मिलनेकी बाट देखे। चित्तको एकाग्र किये रहे। साधारण वस्तुओंकी प्राप्तिकी भी इच्छा न करे। जहाँ अधिक सम्मान होता हो, वहाँ भोजन न करे। मान-प्रतिष्ठाके लाभसे संन्यासीको घृणा करनी चाहिये। वह खाये हुए तिक्त, कसैले तथा कड़वे अन्न-का स्वाद न ले। भोजन करते समय मधुर रसका भी आस्वादन न करे। केवल जीवन-निर्वाहके उद्देश्यसे प्राण-धारण मात्रके लिये उपयोगी अन्नका आहार करे। मोक्षके तत्त्वको जाननेवाला संन्यासी दूसरे प्राणियोंकी जीविकामें बाधा पहुँचाये बिना ही यदि भिक्षा मिल जाती हो, तभी उसे स्वीकार करे। भिक्षा माँगते समय दाताके द्वारा दिये जानेवाले अन्नके सिवा दूसरा अन्न लेनेकी कदापि इच्छा न करे। उसे अपने धर्मका प्रदर्शन नहीं करना चाहिये। रजोगुणसे रहित होकर निर्जन स्थानमें विचरते रहना चाहिये। रातको सोनेके लिये सूने घर, जंगल, वृक्षकी जड़, नदीके किनारे अथवा पर्वतकी गुफाका आश्रय लेना चाहिये। ग्रीष्मकालमें गाँवमें एक रातसे अधिक नहीं रहना चाहिये, किंतु वर्षाकालमें किसी एक ही स्थानपर रहना उचित है। जबतक सूर्यका प्रकाश रहे, तभीतक संन्यासीके लिये रास्ता चलना उचित है। वह कीड़ेकी तरह धीरे-धीरे समूची पृथ्वीपर विचरता रहे और यात्राके समय जीवोंपर दया करके पृथ्वीको अच्छी तरह देख-भालकर आगे पाँव रक्खे। किसी प्रकारका संग्रह न करे और कहीं भी आसक्ति-पूर्वक निवास न करे।

पूताभिरद्भिर्नित्यं वै कार्यं कुर्वीत मोक्षवित् ॥
उपस्पृशेदुद्धृताभिरद्भिश्च पुरुषः सदा।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च सत्यमार्जवमेव च ॥
अक्रोधश्चानसूया च दमो नित्यमपैशुनम्।
अष्टस्वेतेषु युक्तः स्याद् व्रतेषु नियतेन्द्रियः ॥
अपापमशठं वृत्तमजिह्मं नित्यमाचरेत्।
जोषयेत सदा भोज्यं ग्रासमागतमस्पृहः ॥
यात्रामात्रं च भुञ्जीत केवलं प्राणयात्रिकम्।
धर्मलब्धमथाश्नीयान्न काममनुवर्तयेत् ॥
ग्रासादाच्छादनादन्यन्न गृह्णीयात् कथंचन।
यावदाहारयेत् तावत् प्रतिगृह्णीत नाधिकम् ॥
परेभ्यो न प्रतिग्राह्यं न च देयं कदाचन।
दैन्यभावाच्च भूतानां संविभज्य सदा बुधः ॥
नाददीत परस्वानि न गृह्णीयादयाचितः।
न किंचिद् विषयं भुक्त्वा स्पृहयेत् तस्य वै पुनः ॥
मृदमापस्तथान्नानि पत्रपुष्पफलानि च।
असंवृतानि गृह्णीयात् प्रवृत्तानि च कार्यवान् ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ४६ । २८—३६)

मोक्ष-धर्मके ज्ञाता संन्यासीको उचित है कि सदा पवित्र जलसे काम ले। प्रतिदिन तुरंत निकाले हुए जलसे स्नान करे (बहुत पहलेके भरे हुए जलसे नहीं)। अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, सरलता, क्रोधका अभाव, दोष-दृष्टिका त्याग, इन्द्रियसंयम और चुगली न खाना—इन आठ व्रतोंका सदा सावधानीके साथ पालन करे। इन्द्रियोंको वशमें रक्खे। उसे सदा पाप, शठता और कुटिलतासे रहित होकर बर्ताव करना चाहिये। नित्यप्रति जो अन्न अपने-आप प्राप्त हो जाय, उसको ग्रहण करना चाहिये, किंतु उसके लिये भी मनमें इच्छा नहीं रखनी चाहिये। प्राणयात्राका निर्वाह करनेके लिये

जितना अन्न आवश्यक है, उतना ही ग्रहण करे। धर्मतः प्राप्त हुए अन्नका ही आहार करे। मनमाना भोजन न करे। खानेके लिये अन्न और शरीर ढकनेके लिये वस्त्रके सिवा और किसी वस्तुका संग्रह न करे। भिक्षा भी, जितनी भोजनके लिये आवश्यक हो, उतनी ही ग्रहण करे, उससे अधिक नहीं। बुद्धिमान् संन्यासीको चाहिये कि दूसरोंके लिये भिक्षा न माँगे तथा सब प्राणियोंके लिये दयाभावसे संविभागपूर्वक कभी कुछ देनेकी इच्छा भी न करे। दूसरोंके अधिकारका अपहरण न करे। बिना प्रार्थनाके किसीकी कोई वस्तु स्वीकार न करे। किसी अच्छी वस्तुका उपभोग करके फिर उसके लिये लालायित न रहे। मिट्टी, जल, अन्न, पत्र, पुष्प और फल—ये वस्तुएँ यदि किसीके अधिकारमें न हों तो आवश्यकता पड़नेपर क्रियाशील संन्यासी इन्हें काममें ला सकता है।

न शिल्पजीविकां जीवेद्धिरण्यं नोत कामयेत्।
न द्वेष्टा नोपदेष्टा च भवेच्च निरुपस्कृतः॥
श्रद्धापूतानि भुञ्जीत निमित्तानि च वर्जयेत्।
सुधावृत्तिरसक्तश्च सर्वभूतैरसंविदम्॥
आशीर्युक्तानि सर्वाणि हिंसायुक्तानि यानि च।
लोकसंग्रहधर्मं च नैव कुर्यान्न कारयेत्॥
सर्वभावानतिक्रम्य लघुमात्रः परिव्रजेत्।
समः सर्वेषु भूतेषु स्थावरेषु चरेषु च॥
परं नोद्वेजयेत् कञ्चिन्न च कस्यचिदुद्विजेत्।
विश्वास्यः सर्वभूतानामग्र्यो मोक्षविदुच्यते॥
अनागतं च न ध्यायेन्नातीतमनुचिन्तयेत्।
वर्तमानमुपेक्षेत कालाकाङ्क्षी समाहितः॥
न चक्षुषा न मनसा न वाचा दूषयेत् क्वचित्।
न प्रत्यक्षं परोक्षं वा किंचिद् दुष्टं समाचरेत्॥
इन्द्रियाण्युपसंहृत्य कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
क्षीणेन्द्रियमनोबुद्धिर्निरीहः सर्वतत्त्ववित्॥
निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वाहाकार एव च।
निर्ममो निरहंकारो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥
निराशीर्निर्गुणः शान्तो निरासक्तो निराश्रयः।
आत्मसङ्गी च तत्त्वज्ञो मुच्यते नात्र संशयः॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ४६। ३७—४६)

वह शिल्पकारी करके जीविका न चलावे, सुवर्णकी इच्छा न करे। किसीसे द्वेष न करे और उपदेशक न बने तथा संग्रहरहित रहे। श्रद्धासे प्राप्त हुए पवित्र अन्नका आहार करे। मनमें कोई निमित्त न रक्खे। सबके साथ अमृतके समान मधुर बर्ताव करे, पर कहीं भी आसक्त न हो और किसी भी प्राणीके साथ परिचय न बढ़ावे। जितने भी कामना और हिंसासे युक्त कर्म हैं, उन सबका एवं लौकिक कर्मोंका न स्वयं अनुष्ठान करे और न दूसरोंसे करावे। सब प्रकारके पदार्थोंकी आसक्तिका उल्लङ्घन करके थोड़ेमें संतुष्ट हो सब ओर विचरता रहे। स्थावर और जङ्गम सभी प्राणियोंके प्रति समान भाव रक्खे। किसी दूसरे प्राणीको उद्वेगमें न डाले और स्वयं भी किसीसे उद्विग्न न हो। जो सब प्राणियोंका विश्वासपात्र बन जाता है, वह सबसे श्रेष्ठ और मोक्ष-धर्मका ज्ञाता कहलाता है। संन्यासीको उचित है कि भविष्यके लिये विचार न करे, बीती हुई घटनाका चिन्तन न करे और वर्तमानकी भी उपेक्षा कर दे। केवल कालकी प्रतीक्षा करता हुआ चित्तवृत्तियोंका समाधान करता रहे। नेत्रसे, मनसे और वाणीसे कहीं भी दोषदृष्टि न करे। सबके सामने या दूसरोंकी आँख बचाकर कोई बुराई न करे। जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको सब ओरसे समेट लेता है, उसी प्रकार इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे हटा ले। इन्द्रिय, मन और बुद्धिको दुर्बल करके निश्चेष्ट हो जाय। सम्पूर्ण तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करे। द्वन्द्वोंसे प्रभावित न हो, किसीके सामने माथा न टेके। स्वाहाकार (अग्निहोत्र आदि) का परित्याग करे। ममता और अहंकारसे रहित हो जाय, योगक्षेमकी चिन्ता न करे। मनपर विजय प्राप्त करे। जो निष्काम, निर्गुण, शान्त,

अनासक्त, निराश्रय, आत्मपरायण और तत्त्वका ज्ञाता होता है वह मुक्त हो जाता है। इसमें संशय नहीं है।

तत्त्ववेत्ताको परमात्माकी प्राप्ति

अपादपाणिपृष्ठं तदशिरस्कमनूदरम्।
प्रहीणगुणकर्माणं केवलं विमलं स्थिरम्॥
अगन्धमरसस्पर्शमरूपाशब्दमेव च।
अनुगम्यमनासक्तममांसमपि चैव यत्॥
निश्चिन्तमव्ययं दिव्यं कूटस्थमपि सर्वदा।
सर्वभूतस्थमात्मानं ये पश्यन्ति न ते मृताः॥
न तत्र क्रमते बुद्धिर्नेन्द्रियाणि न देवताः।
वेदा यज्ञाश्च लोकाश्च न तपो न व्रतानि च॥
यत्र ज्ञानवतां प्राप्तिरलिङ्गग्रहणा स्मृता।
तस्मादलिङ्गधर्मज्ञो धर्मतत्त्वमुपाचरेत्॥
गूढधर्माश्रितो विद्वान् विज्ञानचरितं चरेत्।
अमूढो मूढरूपेण चरेद् धर्ममदूषयन्॥
यथैनमवमन्येरन् परे सततमेव हि।
तथावृत्तश्चरेच्छान्तः सतां धर्मानकुत्सयन्॥
य एवं वृत्तसम्पन्नः स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते।
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ४६। ४७—५३½)

जो मनुष्य आत्माको हाथ, पैर, पीठ, मस्तक और उदर आदि अङ्गोंसे रहित, गुण-कर्मोंसे हीन, केवल, निर्मल, स्थिर, रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्दसे रहित, ज्ञेय, अनासक्त, हाड़-मांसके शरीरसे रहित, निश्चिन्त, अविनाशी, दिव्य और सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित सदा एकरस रहनेवाला जानते हैं, उनकी कभी मृत्यु नहीं होती। उस आत्मतत्त्वतक बुद्धि, इन्द्रिय और देवताओं-की भी पहुँच नहीं होती। जहाँ केवल ज्ञानवान् महात्माओंकी ही गति है; वहाँ वेद, यज्ञ, लोक, तप और व्रतका भी प्रवेश नहीं होता; क्योंकि वह बाह्य चिह्नसे रहित मानी गयी है। इसलिये बाह्य चिह्नोंसे रहित धर्मको जानकर उसका यथार्थरूपसे पालन करना चाहिये। गुह्य धर्ममें स्थित विद्वान् पुरुषको उचित है कि वह विज्ञानके अनुरूप आचरण करे। मूढ़ न होकर भी मूढ़के समान बर्ताव करें, किंतु अपने किसी व्यवहारसे धर्मको कलङ्कित न करे। जिस कामके करनेसे समाजके दूसरे लोग अनादर करें, वैसा ही काम शान्त रहकर सदा करता रहे, किंतु सत्पुरुषोंके धर्मकी निन्दा न करे। जो इस प्रकारके बर्तावसे सम्पन्न है, वह श्रेष्ठ मुनि क़हलाता है।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च महाभूतानि पञ्च च॥
मनो बुद्धिरहंकारमव्यक्तं पुरुषं तथा।
एतत् सर्वं प्रसंख्याय यथावत् तत्त्वनिश्चयात्॥
ततः स्वर्गमवाप्नोति विमुक्तः सर्वबन्धनैः।
एतावदन्तवेलायां परिसंख्याय तत्त्ववित्॥
ध्यायेदेकान्तमास्थाय मुच्यतेऽथ निराश्रयः।
निर्मुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो वायुराकाशगो यथा॥
क्षीणकोशो निरातङ्कस्तथेदं प्राप्नुयात् परम्॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ४६। ५४—५८)

जो मनुष्य इन्द्रिय, उनके विषय, पञ्चमहाभूत, मन, बुद्धि, अहंकार, प्रकृति और पुरुष—इन सबका विचार करके इनके तत्त्वका यथावत् निश्चय कर लेता है, वह सम्पूर्ण बन्धनोंसे मुक्त होकर स्वर्गको प्राप्त कर लेता है। जो तत्त्ववेत्ता अन्त समयमें इन तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करके एकान्तमें बैठकर परमात्मा-का ध्यान करता है, वह आकाशमें विचरनेवाले वायुकी भाँति सब प्रकारकी आसक्तियोंसे छूटकर पञ्चकोशोंसे रहित, निर्भय तथा निराश्रय होकर मुक्त एवं परमात्मा-को प्राप्त हो जाता है।

मुक्तिके साधनोंका, देहरूपी वृक्षका तथा ज्ञानखड्गसे उसे काटनेका वर्णन

संन्यासीको तपस्याके द्वारा परमेश्वरकी प्राप्ति

ब्रह्मोवाच

संन्यासं तप इत्याहुर्वृद्धा निश्चितवादिनः ।
ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ज्ञानं ब्रह्म परं विदुः ॥
अतिदूरात्मकं ब्रह्म वेदविद्याव्यपाश्रयम् ।
निर्द्वन्द्वं निर्गुणं नित्यमचिन्त्यगुणमुत्तमम् ॥
ज्ञानेन तपसा चैव धीराः पश्यन्ति तत् परम् ।
निर्णिक्तमनसः पूता व्युत्क्रान्तरजसोऽमलाः ॥
तपसा क्षेममध्वानं गच्छन्ति परमेश्वरम् ।
संन्यासनिरता नित्यं ये च ब्रह्मविदो जनाः ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ४७ । १—४)

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो ! निश्चित बात कहनेवाले और वेदोंके कारणरूप परमात्मामें स्थित वृद्ध ब्राह्मण संन्यासको तप कहते हैं और ज्ञानको ही परब्रह्मका स्वरूप मानते हैं । वह वेदविद्याका आधार ब्रह्म (अज्ञानियोंके लिये) अत्यन्त दूर है । वह निर्द्वन्द्व, निर्गुण, नित्य, अचिन्त्य गुणोंसे युक्त और सर्वश्रेष्ठ है । धीर पुरुष ज्ञान और तपस्याके द्वारा उस परमात्माका साक्षात्कार करते हैं । जिनके मनकी मैल धुल गयी है, जो परम पवित्र हैं, जिन्होंने रजोगुणको त्याग दिया है, जिनका अन्तःकरण निर्मल है, जो नित्य संन्यासपरायण तथा ब्रह्मके ज्ञाता हैं, वे पुरुष तपस्याके द्वारा कल्याणमय पथका आश्रय लेकर परमेश्वरको प्राप्त होते हैं ।

तपः प्रदीप इत्याहुराचारो धर्मसाधकः ।
ज्ञानं वै परमं विद्यात् संन्यासं तप उत्तमम् ॥
यस्तु वेद निराधारं ज्ञानं तत्त्वविनिश्चयात् ।
सर्वभूतस्थमात्मानं स सर्वगतिरिष्यते ॥
यो विद्वान् सहवासं च विवासं चैव पश्यति ।
तथैवैकत्वनानात्वे स दुःखात् प्रतिमुच्यते ॥
यो न कामयते किंचिन्न किंचिदवमन्यते ।
इहलोकस्थ एवैष ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
प्रधानगुणतत्त्वज्ञः सर्वभूतप्रधानवित् ।
निर्ममो निरहंकारो मुच्यते नात्र संशयः ॥
निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ।
निर्गुणं नित्यमद्वन्द्वं प्रशमेनैव गच्छति ॥
हित्वा गुणमयं सर्वं कर्म जन्तुः शुभाशुभम् ।
उभे सत्यानृते हित्वा मुच्यते नात्र संशयः ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ४७ । ५—११)

ज्ञानी पुरुषोंका कहना है कि तपस्या (परमात्मतत्त्वको प्रकाशित करनेवाला) दीपक है, आचार धर्मका साधक है, ज्ञान परब्रह्मका स्वरूप है और संन्यास ही उत्तम तप है । जो तत्त्वका पूर्ण निश्चय करके ज्ञानस्वरूप, निराधार और सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर रहनेवाले आत्माको जान लेता है, वह सर्वव्यापक हो जाता है । जो विद्वान् संयोगको भी वियोगके रूपमें ही देखता है तथा वैसे ही नानात्वमें एकत्व देखता है, वह दुःखसे सर्वथा मुक्त हो जाता है । जो किसी वस्तुकी कामना तथा किसीकी अवहेलना नहीं करता, वह इस लोकमें रहकर भी ब्रह्मस्वरूप होनेमें समर्थ हो जाता है । जो सब भूतोंमें प्रधान—प्रकृतिको तथा उसके गुण एवं तत्त्वको भलीभाँति जानकर ममता और अहंकारसे रहित हो जाता है, उसके मुक्त होनेमें संदेह नहीं है । जो द्वन्द्वोंसे रहित, नमस्कारकी इच्छा न रखनेवाला और स्वधाकार (पितृ-कार्य) न करनेवाला संन्यासी है, वह अतिशय शान्तिके द्वारा ही निर्गुण, द्वन्द्वातीत, नित्यतत्त्वको प्राप्त कर लेता है । शुभ और अशुभ समस्त त्रिगुणात्मक कर्मोंका तथा सत्य और असत्य—इन दोनोंका भी त्याग करके संन्यासी मुक्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ।

देह-वृक्ष

अव्यक्तयोनिप्रभवो बुद्धिस्कन्धमयो महान्।
महाहंकारविटप इन्द्रियाङ्कुरकोटरः॥
महाभूतविशालश्च विशेषयति शाखिनः।
सदापत्रः सदापुष्पः शुभाशुभफलोदयः॥
आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः।
एनं छित्त्वा च भित्त्वा च तत्त्वज्ञानासिना बुधः॥
हित्वा सङ्गमयान् पाशान् मृत्युजन्मजरोदयान्।
निर्ममो निरहङ्कारो मुच्यते नात्र संशयः॥
द्वाविमौ पक्षिणौ नित्यौ संक्षेपौ चाप्यचेतनौ।
एताभ्यां तु परो योऽन्यश्चेतनावान् स उच्यते॥
अचेतनः सत्त्वसंख्याविमुक्तः
सत्त्वात् परं चेतयतेऽन्तरात्मा।
स क्षेत्रवित् सर्वसंख्यातबुद्धि-
र्गुणातिगो मुच्यते सर्वपापैः॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ४७। १२—१७)

यह देह एक वृक्षके समान है। अज्ञान इसका मूल (जड़) है, बुद्धि स्कन्ध (तना) है, अहंकार शाखा है, इन्द्रियाँ अङ्कुर और खोखले हैं तथा पञ्चभूत इसको विशाल बनानेवाले हैं और इस वृक्षकी शोभा बढ़ाते हैं। इसमें सदा ही संकल्परूपी पत्ते उगते और कर्मरूपी फूल खिलते रहते हैं। शुभाशुभ कर्मोंसे प्राप्त होनेवाले सुख-दुःखादि ही इसमें सदा लगे रहनेवाले फल हैं। इस प्रकार ब्रह्मरूपी बीजसे प्रकट होकर प्रवाह-रूपसे सदा मौजूद रहनेवाला यह देहरूपी वृक्ष समस्त प्राणियोंके जीवनका आधार है। बुद्धिमान् पुरुष तत्त्वज्ञानरूपी खड्गसे इस वृक्षको छिन्न-भिन्न कर जब जन्म-मृत्यु और जरावस्थाके चक्करमें डालनेवाले आसक्तिरूप बन्धनोंको तोड़ डालता है तथा ममता और अहंकारसे रहित हो जाता है, उस समय उसे अवश्य मुक्ति प्राप्त होती है, इसमें संशय नहीं है। इस वृक्षपर रहनेवाले (मन-बुद्धिरूप) दो पक्षी हैं, जो नित्य क्रियाशील होनेपर भी अचेतन हैं। इन दोनोंसे श्रेष्ठ अन्य (आत्मा) है। वह ज्ञानसम्पन्न कहा जाता है। संख्यासे रहित जो सत्त्व अर्थात् मूलप्रकृति है, वह अचेतन है। उससे भिन्न जो जीवात्मा है, उसे अन्तर्यामी परमात्मा ज्ञानसम्पन्न करता है। वही क्षेत्रको जाननेवाला जब सम्पूर्ण तत्त्वोंको जान लेता है, तब गुणातीत होकर सब पापोंसे छूट जाता है।

आत्मा और परमात्माके स्वरूपका विवेचन

अन्तकालके थोड़ेसे ध्यानसे अक्षयगतिकी प्राप्ति

ब्रह्मोवाच

केचिद् ब्रह्ममयं वृक्षं केचिद् ब्रह्मवनं महत्।
केचित्तु ब्रह्म चाव्यक्तं केचित् परमनामयम्।
मन्यन्ते सर्वमप्येतदव्यक्तप्रभवाव्ययम्॥
उच्छ्वासमात्रमपि चेद् योऽन्तकाले समो भवेत्।
आत्मानमुपसङ्गम्य सोऽमृतत्वाय कल्पते॥
निमेषमात्रमपि चेत् संयम्यात्मानमात्मनि।
गच्छत्यात्मप्रसादेन विदुषां प्राप्तिमव्ययाम्॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ४८। १—३)

ब्रह्माजीने कहा—महर्षिगण! इस अव्यक्त, उत्पत्ति-शील, अविनाशी सम्पूर्ण वृक्षको कोई ब्रह्मस्वरूप मानते हैं और कोई महान् ब्रह्मवन मानते हैं। कितने ही इसे अव्यक्त ब्रह्म और कितने ही परम अनामय मानते हैं। जो मनुष्य अन्तकालमें आत्माका ध्यान करके साँस लेनेमें जितनी देर लगती है, उतनी देर भी समभावमें स्थित होता है, वह अमृतत्व (मोक्ष) प्राप्त करनेका अधिकारी हो जाता है। जो एक निमेष भी अपने मनको आत्मामें एकाग्र कर लेता है, वह अन्तः-करणकी प्रसन्नताको पाकर विद्वानोंको प्राप्त होनेवाली अक्षय गतिको पा जाता है।

सत्त्व और क्षेत्रज्ञका एकत्व और नानात्व

प्राणायामैरथ प्राणान् संयम्य स पुनः पुनः।
दशद्वादशभिर्वापि चतुर्विंशात् परं ततः॥
एवं पूर्वं प्रसन्नात्मा लभते यद् यदिच्छति।
अव्यक्तात् सत्त्वमुद्रिक्तममृतत्वाय कल्पते॥
सत्त्वात् परतरं नान्यत् प्रशंसन्तीह तद्विदः।
अनुमानाद् विजानीमः पुरुषं सत्त्वसंश्रयम्।
न शक्यमन्यथा गन्तुं पुरुषं द्विजसत्तमाः॥
क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम्।
ज्ञानं त्यागोऽथ संन्यासः सात्त्विकं वृत्तमिष्यते॥
एतेनैवानुमानेन मन्यन्ते वै मनीषिणः।
सत्त्वं च पुरुषश्चैव तत्र नास्ति विचारणा॥
आहुरेके च विद्वांसो ये ज्ञानपरिनिष्ठिताः।
क्षेत्रज्ञसत्त्वयोरैक्यमित्येतन्नोपपद्यते॥
पृथग्भूतं ततः सत्त्वमित्येतदविचारितम्।
पृथग्भावश्च विज्ञेयः सहजश्चापि तत्त्वतः॥
तथैवैकत्वनानात्वमिष्यते विदुषां नयः।
मशकोदुम्बरे चैक्यं पृथक्त्वमपि दृश्यते॥
मत्स्यो यथान्यः स्यादप्सु सम्प्रयोगस्तथा तयोः।
सम्बन्धस्तोयबिन्दूनां पर्णे कोकनदस्य च॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ४८। ४—१२)

दस अथवा बारह प्राणायामोंके द्वारा पुनः-पुनः प्राणोंका संयम करनेवाला पुरुष भी चौबीस तत्त्वोंसे परे पचीसवें तत्त्व परमात्माको प्राप्त होता है। इस प्रकार जो पहले अपने अन्तःकरणको शुद्ध कर लेता है, वह जो-जो चाहता है, उसी-उसी वस्तुको पा जाता है। अव्यक्तसे उत्कृष्ट जो सत्त्वस्वरूप आत्मा है, वह अमर होनेमें समर्थ है। अतः सत्त्वस्वरूप आत्माके महत्त्वको जाननेवाले विद्वान् इस जगत्में सत्त्वसे बढ़कर और किसी वस्तुकी प्रशंसा नहीं करते। द्विजवरो! हम अनुमान-प्रमाणके द्वारा इस बातको अच्छी तरह जानते हैं कि अन्तर्यामी परमात्मा सत्त्वस्वरूप आत्मामें स्थित हैं। इस तत्त्वको समझे बिना परम पुरुषको प्राप्त करना सम्भव नहीं है। क्षमा, धैर्य, अहिंसा, समता, सत्य, सरलता, ज्ञान, त्याग तथा संन्यास—ये सात्त्विक बर्ताव बताये गये हैं। मनीषी पुरुष इसी अनुमानसे उस सत्त्वस्वरूप आत्माका और परमात्माका मनन करते हैं। इसमें कोई विचारणीय बात नहीं है। ज्ञानमें भलीभाँति स्थित कितने ही विद्वान् कहते हैं कि क्षेत्रज्ञ और सत्त्वकी एकता युक्तिसङ्गत नहीं है। उनका कहना है कि उस क्षेत्रज्ञसे सत्त्व पृथक् है; क्योंकि यह सत्त्व अविचारसिद्ध है। ये दोनों एक साथ रहनेवाले होनेपर भी तत्त्वतः अलग-अलग हैं—ऐसा समझना चाहिये। इसी प्रकार दूसरे विद्वानोंका निर्णय दोनोंके एकत्व और नानात्वको स्वीकार करता है; क्योंकि मशक और उदुम्बरकी एकता और पृथक्ता देखी जाती है। जैसे जलसे मछली भिन्न है तो भी मछली और जल—दोनोंका संयोग देखा जाता है एवं जलकी बूँदोंका कमलके पत्तेसे सम्बन्ध देखा जाता है।

गुरुरुवाच

इत्युक्तवन्तस्ते विप्रास्तदा लोकपितामहम्।
पुनः संशयमापन्नाः पप्रच्छुर्मुनिसत्तमाः॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ४८। १३)

गुरुने कहा—इस प्रकार कहनेपर उन मुनिश्रेष्ठ ब्राह्मणोंने पुनः संशयमें पड़कर उस समय लोकपितामह ब्रह्माजीसे पूछा।

धर्मका निर्णय जाननेके लिये ऋषियोंका प्रश्न

ऋषय ऊचुः

को वा स्विदिह धर्माणामनुष्ठेयतमो मतः ।
व्याहतामिव पश्यामो धर्मस्य विविधां गतिम् ॥
ऊर्ध्वं देहाद् वदन्त्येके नैतदस्तीति चापरे ।
केचित् संशयितं सर्वं निःसंशयमथापरे ॥
अनित्यं नित्यमित्येके नास्त्यस्तीत्यपि चापरे ।
एकरूपं द्विधेत्येके व्यामिश्रमिति चापरे ॥
मन्यन्ते ब्राह्मणा एव ब्रह्मज्ञास्तत्त्वदर्शिनः ।
एकमेके पृथक् चान्ये बहुत्वमिति चापरे ॥
देशकालावुभौ केचिन्नैतदस्तीति चापरे ।
जटाजिनधराश्चान्ये मुण्डाः केचिदसंवृताः ॥
अस्नानं केचिदिच्छन्ति स्नानमप्यपरे जनाः ।
मन्यन्ते ब्राह्मणा देवा ब्रह्मज्ञास्तत्त्वदर्शिनः ॥
आहारं केचिदिच्छन्ति केचिच्चानशने रताः ।
कर्म केचित् प्रशंसन्ति प्रशान्तिं चापरे जनाः ॥
केचिन्मोक्षं प्रशंसन्ति केचिद् भोगान् पृथग्विधान्
धनानि केचिदिच्छन्ति निर्धनत्वमथापरे ।
उपास्यसाधनं त्वेके नैतदस्तीति चापरे ॥
अहिंसानिरताश्चान्ये केचिद्धिंसापरायणाः ।
पुण्येन यशसा चान्ये नैतदस्तीति चापरे ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ४९ । १—९)

ऋषियोंने पूछा—ब्रह्मन् ! इस जगत्‌में समस्त धर्मोंमें कौन-सा धर्म अनुष्ठान करनेके लिये सर्वोत्तम माना गया है, यह कहिये; क्योंकि हमें धर्मके विभिन्न मार्ग एक-दूसरेसे आहत हुए-से प्रतीत होते हैं। कोई तो कहते हैं कि देहका नाश होनेके बाद धर्मका फल मिलेगा। दूसरे कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। कितने ही लोग सब धर्मोंको संशययुक्त बताते हैं और दूसरे संशयरहित कहते हैं। कोई कहते हैं कि धर्म अनित्य है और कोई उसे नित्य कहते हैं। दूसरे कहते हैं कि धर्म नामकी कोई वस्तु है ही नहीं। कोई कहते हैं कि अवश्य है। कोई कहते हैं कि एक ही धर्म दो प्रकारका है तथा कुछ लोग कहते हैं कि धर्म मिश्रित है। वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता तत्त्वदर्शी ब्राह्मणलोग यह मानते हैं कि एक ब्रह्म ही है। अन्य कितने ही कहते हैं कि जीव और ईश्वर अलग-अलग हैं और दूसरे लोग सबकी सत्ता भिन्न और बहुत प्रकारसे मानते हैं। कितने ही लोग देश और कालकी सत्ता मानते हैं। दूसरे लोग कहते हैं कि इनकी सत्ता नहीं है। कोई जटा और मृगचर्म धारण करनेवाले हैं, कोई सिर मुँडाते हैं और कोई दिगम्बर रहते हैं। कितने ही मनुष्य स्नान नहीं करना चाहते और दूसरे लोग जो शास्त्रज्ञ तत्त्वदर्शी ब्राह्मणदेवता हैं, वे स्नानको ही श्रेष्ठ मानते हैं। कई लोग भोजन करना अच्छा मानते हैं और कई भोजन न करनेमें अभिरत रहते हैं। कई कर्म करनेकी प्रशंसा करते हैं और दूसरे लोग परमशान्तिकी प्रशंसा करते हैं। कितने ही मोक्षकी प्रशंसा करते हैं और कितने ही नाना प्रकारके भोगोंकी प्रशंसा करते हैं। कुछ लोग बहुत-सा धन चाहते हैं और दूसरे निर्धनताको पसंद करते हैं। कितने ही मनुष्य अपने उपास्य इष्टदेवकी प्राप्तिकी साधना करते हैं और दूसरे कितने ही ऐसा कहते हैं कि 'यह नहीं है'। अन्य कई लोग अहिंसाधर्मका पालन करनेमें रुचि रखते हैं और कई लोग हिंसाके परायण हैं। दूसरे कई पुण्य और यशसे सम्पन्न हैं। इनसे भिन्न दूसरे कहते हैं कि 'यह सब कुछ नहीं है'।

सद्भावनिरताश्चान्ये केचित् संशयिते स्थिताः ।
दुःखादन्ये सुखादन्ये ध्यानमित्यपरे जनाः ॥
यज्ञमित्यपरे विप्राः प्रदानमिति चापरे ।
तपस्त्वन्ये प्रशंसन्ति स्वाध्यायमपरे जनाः ॥
ज्ञानं संन्यासमित्येके स्वभावं भूतचिन्तकाः ।
सर्वमेके प्रशंसन्ति न सर्वमिति चापरे ॥

एवं व्युत्थापिते धर्मे बहुधा विप्रबोधिते ।
निश्चयं नाधिगच्छामः सम्मूढाः सुरसत्तम ॥
इदं श्रेय इदं श्रेय इत्येवं व्युत्थितो जनः ।
यो हि यस्मिन् रतो धर्मे स तं पूजयते सदा ॥
तेन नोऽविहिता प्रज्ञा मनश्च बहुलीकृतम् ।
एतदाख्यातुमिच्छामः श्रेयः किमिति सत्तम ॥
अतः परं तु यद् गुह्यं तद् भवान् वक्तुमर्हति ।
सत्त्वक्षेत्रज्ञयोश्चापि सम्बन्धः केन हेतुना ॥
एवमुक्तः स तैर्विप्रैर्भगवाँल्लोकभावनः ।
तेभ्यः शशंस धर्मात्मा याथातथ्येन बुद्धिमान् ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ४९ । १०—१७)

अन्य कितने ही सद्भावमें रुचि रखते हैं । कितने ही लोग संशयमें पड़े रहते हैं । कितने ही साधक कष्ट सहन करते हुए ध्यान करते हैं और दूसरे कई सुखपूर्वक ध्यान करते हैं । अन्य ब्राह्मण यज्ञको श्रेष्ठ बताते हैं और दूसरे दानकी प्रशंसा करते हैं । अन्य कई तपकी प्रशंसा करते हैं तथा दूसरे स्वाध्यायकी प्रशंसा करते हैं । कई लोग कहते हैं कि ज्ञान ही संन्यास है । भौतिक विचार-वाले मनुष्य स्वभावकी प्रशंसा करते हैं । कितने ही सभीकी प्रशंसा करते हैं और दूसरे सबकी प्रशंसा नहीं करते । सुरश्रेष्ठ ब्रह्मन्! इस प्रकार धर्मकी व्यवस्था अनेक ढंगसे परस्पर विरुद्ध बतलायी जानेके कारण हम-लोग धर्मके विषयमें मोहित हो रहे हैं; अतः किसी निश्चयपर नहीं पहुँच पाते । 'यही कल्याण-मार्ग है, यही कल्याण-मार्ग है'—इस प्रकारकी बातें सुनकर मनुष्य-समुदाय विचलित हो गया है । जो जिस धर्ममें रत है, वह उसीका सदा आदर करता है । इस कारण हमलोगोंकी बुद्धि विचलित हो गयी है और मन भी बहुत-से संकल्प-विकल्पोंमें पड़कर चञ्चल हो गया है । श्रेष्ठ ब्रह्मन्! हम यह जानना चाहते हैं कि वास्तविक कल्याणका मार्ग क्या है ? इसलिये जो परम गुह्य तत्त्व है, वह आपको हमें बतलाना चाहिये । साथ ही यह भी बतलाइये कि बुद्धि और क्षेत्रज्ञका सम्बन्ध किस कारणसे हुआ है । लोकोंकी सृष्टि करनेवाले धर्मात्मा बुद्धिमान् भगवान् ब्रह्माजी उन ऋषियोंकी यह बात सुनकर उनसे उनके प्रश्नोंका यथार्थ रूपसे उत्तर देने लगे ।

सत्त्व और पुरुषकी भिन्नता, बुद्धिमान्‌की प्रशंसा, पञ्चभूतोंके गुणोंका विस्तार और परमात्माकी श्रेष्ठताका वर्णन

अहिंसा सर्वोत्तम कर्त्तव्य है

ब्रह्मोवाच

हन्त वः सम्प्रवक्ष्यामि यन्मां पृच्छथ सत्तमाः ।
गुरुणा शिष्यमासाद्य यदुक्तं तन्निबोधत ॥
समस्तमिह तच्छ्रुत्वा सम्यगेवावधार्यताम् ।
अहिंसा सर्वभूतानामेतत् कृत्यतमं मतम् ॥
एतत् पदमनुद्विग्नं वरिष्ठं धर्मलक्षणम् ।
ज्ञानं निःश्रेय इत्याहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः ॥
तस्माज्ज्ञानेन शुद्धेन मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ।
हिंसापराश्च ये केचिद् ये च नास्तिकवृत्तयः ।
लोभमोहसमायुक्तास्ते वै निरयगामिनः ॥
आशीर्युक्तानि कर्माणि कुर्वते ये त्वतन्द्रिताः ।
तेऽस्मिँल्लोके प्रमोदन्ते जायमानाः पुनः पुनः ॥
कुर्वते ये तु कर्माणि श्रद्दधाना विपश्चितः ।
अनाशीर्योगसंयुक्तास्ते धीराः साधुदर्शिनः ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ५० । १—६)

ब्रह्माजी बोले—श्रेष्ठ महर्षियो ! तुमलोगोंने जो विषय पूछा है, उसे अब मैं कहूँगा । गुरुने सुयोग्य

शिष्यको पाकर जो उपदेश दिया है, उसे तुमलोग सुनो। उस विषयको यहाँ पूर्णतया सुनकर अच्छी प्रकार धारण करो। सब प्राणियोंकी अहिंसा ही सर्वोत्तम कर्त्तव्य है—ऐसा माना गया है। यह साधन उद्वेग-रहित, सर्वश्रेष्ठ और धर्मको लक्षित करानेवाला है। निश्चयको साक्षात् करनेवाले वृद्ध लोग कहते हैं कि 'ज्ञान ही परम कल्याणका साधन है।' इसलिये परम शुद्ध ज्ञानके द्वारा ही मनुष्य सब पापोंसे छूट जाता है। जो लोग प्राणियोंकी हिंसा करते हैं, नास्तिकवृत्तिका आश्रय लेते हैं और लोभ तथा मोहमें फँसे हुए हैं, उन्हें नरकमें गिरना पड़ता है। जो लोग सावधान होकर सकाम कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, वे बार-बार इस लोकमें जन्म ग्रहण करके सुखी होते हैं। जो विद्वान् समत्वयोगमें स्थित हो श्रद्धाके साथ कर्तव्यकर्मोंका अनुष्ठान करते हैं और उनके फलमें आसक्त नहीं होते वे धीर और उत्तम दृष्टिवाले माने गये हैं।

सत्त्व और क्षेत्रज्ञकी भिन्नता

अतः परं प्रवक्ष्यामि सत्त्वक्षेत्रज्ञयोर्यथा।
संयोगो विप्रयोगश्च तन्निबोधत सत्तमाः॥
विषयो विषयित्वं च सम्बन्धोऽयमिहोच्यते।
विषयी पुरुषो नित्यं सत्त्वं च विषयः स्मृतः॥
व्याख्यातं पूर्वकल्पेन मशकोदुम्बरं यथा।
भुज्यमानं न जानीते नित्यं सत्त्वमचेतनम्।
यस्त्वेवं तं विजानीते यो भुङ्क्ते यश्च भुज्यते॥
नित्यं द्वन्द्वसमायुक्तं सत्त्वमाहुर्मनीषिणः।
निर्द्वन्द्वो निष्कलो नित्यः क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः॥
समं संज्ञानुगश्चैव स सर्वत्र व्यवस्थितः।
उपभुङ्क्ते सदा सत्त्वमपः पुष्करपर्णवत्॥
सर्वैरपि गुणैर्विद्वान् व्यतिषक्तो न लिप्यते।
जलबिन्दुर्यथा लोलः पद्मिनीपत्रसंस्थितः॥
एवमेवाप्यसंयुक्तः पुरुषः स्यान्न संशयः।
द्रव्यमात्रमभूत् सत्त्वं पुरुषस्येति निश्चयः॥
यथा द्रव्यं च कर्ता च संयोगोऽप्यनयोस्तथा।
यथा प्रदीपमादाय कश्चित् तमसि गच्छति।
तथा सत्त्वप्रदीपेन गच्छन्ति परमैषिणः॥
यावद् द्रव्यं गुणस्तावत् प्रदीपः सम्प्रकाशते।
क्षीणे द्रव्ये गुणे ज्योतिरन्तर्धानाय गच्छति॥
व्यक्तः सत्त्वगुणस्त्वेवं पुरुषोऽव्यक्त इष्यते।
एतद् विप्रा विजानीत हन्त भूयो ब्रवीमि वः॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ५०। ७—१६)

श्रेष्ठ महर्षियो! अब मैं यह बता रहा हूँ कि सत्त्व और क्षेत्रज्ञका परस्पर संयोग और वियोग कैसे होता है? इस विषयको ध्यान देकर सुनो। इन दोनोंमें यहाँ यह विषय-विषयिभाव सम्बन्ध माना गया है। इनमें पुरुष तो सदा विषयी और सत्त्व विषय माना जाता है। इससे पूर्वके अध्यायमें मच्छर और गूलरके उदाहरणसे यह बात बतायी जा चुकी है कि भोगा जानेवाला अचेतन सत्त्व नित्य-स्वरूप क्षेत्रज्ञको नहीं जानता; किंतु जो क्षेत्रज्ञ है वह इस प्रकार जानता है कि जो भोगता है वह आत्मा है और जो भोगा जाता है वह सत्त्व है। मनीषी पुरुष सत्त्वको द्वन्द्वयुक्त कहते हैं और क्षेत्रज्ञ निर्द्वन्द्व, निष्कल, नित्य और निर्गुणस्वरूप है। वह क्षेत्रज्ञ समभावसे सर्वत्र भलीभाँति स्थित हुआ ज्ञानका अनुसरण करता है। जैसे कमलका पत्ता निर्लिप्त रहकर जलको धारण करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ सदा सत्त्वका उपभोग करता है। जैसे कमलके पत्तेपर पड़ी हुई जलकी चञ्चल बूँद उसे भिगो नहीं पाती, उसी प्रकार विद्वान् पुरुष समस्त गुणोंसे सम्बन्ध रखते हुए भी किसी-से लिप्त नहीं होता। अतः क्षेत्रज्ञ पुरुष वास्तविकमें असङ्ग है, इसमें संदेह नहीं है। यह निश्चित बात है कि पुरुषके भोगनेयोग्य द्रव्यमात्रकी संज्ञा सत्त्व है तथा जैसे द्रव्य और कर्ताका सम्बन्ध है, वैसे ही इन दोनों-का सम्बन्ध है। जैसे कोई मनुष्य दीपक लेकर

अन्धकारमें चलता है, वैसे ही परम तत्त्वको चाहनेवाले ...ज्ञानरूप दीपकके प्रकाशमें साधनमार्गपर चलते हैं। जबतक दीपकमें द्रव्य और गुण रहते हैं, तभीतक वह प्रकाश फैलाता है। द्रव्य और गुणका क्षय हो जानेपर ज्योति भी अन्तर्धान हो जाती है। इस प्रकार ...गुण तो व्यक्त है और पुरुष अव्यक्त माना गया है। ब्रह्मर्षियो! इस तत्त्वको समझो। अब मैं तुमलोगों-से आगेकी बात बताता हूँ।

शीघ्रगामी रथपर सवार पुरुषके लक्ष्य-स्थानपर पहुँचनेकी भाँति ज्ञानियोंको परमगतिकी प्राप्ति

सहस्रेणापि दुर्मेधा न बुद्धिमधिगच्छति।
चतुर्थेनाप्यथांशेन बुद्धिमान् सुखमेधते॥
एवं धर्मस्य विज्ञेयं संसाधनमुपायतः।
उपायज्ञो हि मेधावी सुखमत्यन्तमश्नुते॥
यथाध्वानमपाथेयः प्रपन्नो मनुजः क्वचित्।
क्लेशेन याति महता विनश्येदन्तरापि च॥
तथा कर्मसु विज्ञेयं फलं भवति वा न वा।
पुरुषस्यात्मनिःश्रेयः शुभाशुभनिदर्शनम्॥
यथा च दीर्घमध्वानं पद्भ्यामेव प्रपद्यते।
अदृष्टपूर्वं सहसा तत्त्वदर्शनवर्जितः॥
तमेव च यथाध्वानं रथेनेहाशुगामिना।
गच्छत्यश्वप्रयुक्तेन तथा बुद्धिमतां गतिः॥
ऊर्ध्वं पर्वतमारुह्य नान्ववेक्षेत भूतलम्।
रथेन रथिनं पश्य क्लिश्यमानमचेतनम्॥
यावद् रथपथस्तावद् रथेन स तु गच्छति।
क्षीणे रथपदे विद्वान् रथमुत्सृज्य गच्छति॥
एवं गच्छति मेधावी तत्त्वयोगविधानवित्।
परिज्ञाय गुणज्ञश्च उत्तरादुत्तरोत्तरम्॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ५०। १७—२५)

जिसकी बुद्धि अच्छी नहीं है, उसे हजार ...प्रयत्न करनेपर भी ज्ञान नहीं होता और जो बुद्धिमान् है, वह चौथाई प्रयत्नसे भी ज्ञान पाकर सुखका अनुभव करता है। ऐसा विचारकर किसी उपायसे धर्मके साधनका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये; क्योंकि उपायको जाननेवाला मेधावी पुरुष अत्यन्त सुखका भागी होता है। जैसे कोई मनुष्य यदि राह-खर्चका प्रबन्ध किये बिना ही यात्रा करता है, तो उसे मार्गमें बहुत क्लेश उठाना पड़ता है अथवा वह बीचहीमें मर भी सकता है; ऐसे ही (पूर्वजन्मोंके पुण्योंसे हीन पुरुष) योगमार्गके साधनमें लगनेपर योगसिद्धिरूप फल कठिनतासे पाता है अथवा नहीं भी पाता। पुरुष-का अपना कल्याणसाधन ही उसके पूर्वजन्मके शुभाशुभ संस्कारोंको बतानेवाला है। जैसे पहले न देखे हुए दूरके रास्तेपर जब मनुष्य सहसा पैदल ही चल पड़ता है (तो वह अपने गन्तव्य स्थानपर नहीं पहुँच पाता,) यही दशा तत्त्वज्ञानसे रहित अज्ञानी पुरुषकी होती है। किंतु उसी मार्गपर घोड़े जुते हुए शीघ्रगामी रथके द्वारा यात्रा करनेवाला पुरुष जिस प्रकार शीघ्र ही अपने लक्ष्य-स्थानपर पहुँच जाता है तथा वह ऊँचे पर्वतपर चढ़कर नीचे पृथ्वीकी ओर नहीं देखता, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुषोंकी गति होती है। देखो, रथके द्वारा जानेवाला भी मूर्ख मनुष्य ऊँचे पर्वतके पास पहुँचकर कष्ट पाता रहता है; किंतु बुद्धिमान् मनुष्य जहाँतक रथ जानेका मार्ग है वहाँतक रथसे जाता है और जब रथका रास्ता समाप्त हो जाता है तब वह उसे छोड़कर पैदल यात्रा करता है। इसी प्रकार तत्त्व और योगविधिको जाननेवाला बुद्धिमान् एवं गुणज्ञ पुरुष अच्छी तरह समझ-बूझकर उत्तरोत्तर आगे बढ़ता जाता है।

सुन्दर नौकाके द्वारा शीघ्र समुद्र पार होनेकी भाँति ज्ञान-नौकासे भवसागरसे पार हो सकता है

यथार्णवं महाघोरमप्लवः सम्प्रगाहते।
बाहुभ्यामेव सम्मोहाद् वधं वाञ्छत्यसंशयम्॥
नावा चापि यथा प्राज्ञो विभागज्ञः खरित्रया।

अश्रान्तः सलिले गच्छेच्छीघ्रं संतरते ह्रदम् ॥
तीर्णो गच्छेत् परं पारं नावमुत्सृज्य निर्ममः ।
व्याख्यातं पूर्वकल्पेन यथा रथपदातिनोः ॥
स्नेहात् सम्मोहमापन्नो नावि दाशो यथा तथा ।
ममत्वेनाभिभूतः संस्तत्रैव परिवर्तते ॥
नावं न शक्यमारुह्य स्थले विपरिवर्तितुम् ।
तथैव रथमारुह्य नाप्सु चर्या विधीयते ॥
एवं कर्म कृतं चित्रं विषयस्थं पृथक् पृथक् ।
यथा कर्म कृतं लोके तथैतानुपपद्यते ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ५० । २६—३१)

जैसे कोई पुरुष मोहवश विना नावके ही भयंकर समुद्रमें प्रवेश करता है और दोनों भुजाओंसे ही तैरकर उसके पार होनेका भरोसा रखता है तो निश्चय ही वह अपनी मौत बुलाना चाहता है (उसी प्रकार ज्ञान-नौकाका सहारा लिये विना मनुष्य भवसागरसे पार नहीं हो सकता) । जिस तरह जलमार्गके विभागको जाननेवाला बुद्धिमान् पुरुष सुन्दर डाँडवाली नावके द्वारा अनायास ही जलपर यात्रा करके शीघ्र समुद्रसे तर जाता है एवं पार पहुँच जानेपर नाव-की ममता छोड़कर चल देता है; (उसी प्रकार संसार-सागरसे पार हो जानेपर बुद्धिमान् पुरुष पहलेकी साधन-सामग्रीकी ममता छोड़ देता है ।) यह बात रथपर चलनेवाले और पैदल चलनेवालेके दृष्टान्तसे पहले भी कही जा चुकी है; परंतु स्नेहवश मोहको प्राप्त हुआ मनुष्य ममतासे आबद्ध होकर नावपर सदा बैठे रहने-वाले मल्लाहकी भाँति वहीं चक्कर काटता रहता है । नौकापर चढ़कर जिस प्रकार स्थलपर विचरण करना सम्भव नहीं है तथा रथपर चढ़कर जलमें विचरण करना सम्भव नहीं बताया गया है, इसी प्रकार किये हुए विचित्र कर्म अलग-अलग स्थानपर पहुँचानेवाले हैं । संसारमें जिनके द्वारा जैसा कर्म किया गया है, उन्हें वैसा ही फल प्राप्त होता है ।

प्रधान—अव्यक्तसे उत्पन्न पञ्चमहाभूत और उनके गुण

यन्नैव गन्धिनो रस्यं न रूपस्पर्शशब्दवत् ।
मन्यन्ते मुनयो बुद्ध्या तत् प्रधानं प्रचक्षते ॥
तत्र प्रधानमव्यक्तमव्यक्तस्य गुणो महान् ।
महत्प्रधानभूतस्य गुणोऽहंकार एव च ॥
अहंकारात् तु सम्भूतो महाभूतकृतो गुणः ।
पृथक्त्वेन हि भूतानां विषया वै गुणाः स्मृताः ॥
बीजधर्मं तथाव्यक्तं प्रसवात्मकमेव च ।
बीजधर्मा महानात्मा प्रसवश्चेति नः श्रुतम् ॥
बीजधर्मस्त्वहंकारः प्रसवश्च पुनः पुनः ।
बीजप्रसवधर्माणि महाभूतानि पञ्च वै ॥
बीजधर्मिण इत्याहुः प्रसवं च प्रकुर्वते ।
विशेषाः पञ्चभूतानां तेषां चित्तं विशेषणम् ॥
तत्रैकगुणमाकाशं द्विगुणो वायुरुच्यते ।
त्रिगुणं ज्योतिरित्याहुरापश्चापि चतुर्गुणाः ॥
पृथ्वी पञ्चगुणा ज्ञेया चरस्थावरसंकुला ।
सर्वभूतकरी देवी शुभाशुभनिदर्शिनी ॥
शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
एते पञ्च गुणा भूमेर्विज्ञेया द्विजसत्तमाः ॥
पार्थिवश्च सदा गन्धो गन्धश्च बहुधा स्मृतः ।
तस्य गन्धस्य वक्ष्यामि विस्तरेण बहून् गुणान् ॥
इष्टश्चानिष्टगन्धश्च मधुरोऽम्लः कटुस्तथा ।
निर्हारी संहतः स्निग्धो रूक्षो विशद एव च ॥
एवं दशविधो ज्ञेयः पार्थिवो गन्ध इत्युत ।
शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं द्रवश्चापां गुणाः स्मृताः ॥
रसज्ञानं तु वक्ष्यामि रसस्तु बहुधा स्मृतः ।
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ५० । ३२—४३½)

जो गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्दसे युक्त नहीं है तथा मुनिलोग बुद्धिके द्वारा जिसका मनन करते हैं, वह 'प्रधान' कहलाता है । प्रधानका दूसरा नाम अव्यक्त है । अव्यक्तका कार्य महत्तत्त्व है और प्रकृतिसे उत्पन्न महत्तत्त्व-का कार्य अहंकार है । अहंकारसे पञ्च महाभूतोंको

प्रकट करनेवाले गुणकी उत्पत्ति हुई है। पञ्च महाभूतोंके कार्य हैं—रूप, रस आदि विषय। वे पृथक्-पृथक् गुणोंके नामसे प्रसिद्ध हैं। अव्यक्त प्रकृति कारणरूपा भी है और कार्यरूपा भी। इसी प्रकार महत्तत्त्वके भी कारण और कार्य दोनों ही स्वरूप सुने गये हैं। अहंकार भी कारणरूप तो है ही, कार्यरूपमें भी बारंबार परिणत होता रहता है। पञ्च महाभूतों (पञ्चतन्मात्राओं) में भी कारणत्व और कार्यत्व दोनों धर्म हैं। वे शब्दादि विषयोंको उत्पन्न करते हैं, इसलिये ऐसा कहा जाता है कि वे बीजधर्मी हैं। उन पाँचों भूतोंके विशेष कार्य शब्द आदि विषय हैं। उन विषयोंका प्रवर्तक चित्त है। पञ्चमहाभूतोंमेंसे आकाशमें एक ही गुण माना गया है। वायुके दो गुण बतलाये जाते हैं। तेज तीन गुणोंसे युक्त कहा गया है। जलके चार गुण हैं। पृथ्वीके पाँच गुण समझने चाहिये। वह देवी स्थावर-जंगम प्राणियोंसे भरी हुई, समस्त जीवोंको जन्म देनेवाली तथा शुभ और अशुभका निर्देश करनेवाली है। विप्रवरो! शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पाँचवाँ गन्ध—ये ही पृथ्वीके पाँच गुण जानने चाहिये। इनमें भी गन्ध उसका खास गुण है। गन्ध अनेकों प्रकारकी मानी गयी है। मैं उस गन्धके गुणोंका विस्तारके साथ वर्णन करूँगा। इष्ट (सुगन्ध), अनिष्ट (दुर्गन्ध), मधुर, अम्ल, कटु, निर्हारी (दूरतक फैलनेवाली), मिश्रित, स्निग्ध, रूक्ष और विशद—पार्थिव गन्धके दस भेद समझने चाहिये। शब्द, स्पर्श, रूप, रस—ये जलके चार गुण माने गये हैं (इनमें रस ही जलका मुख्य गुण है)। अब मैं रस-विज्ञानका वर्णन करता हूँ। रसके बहुत-से भेद बताये गये हैं।

सम्पूर्ण भूतोंकी श्रेष्ठता और न्यूनताके ज्ञाता एवं सबको आत्मभावसे देखनेवालोंको परमात्माकी प्राप्ति

मधुरोऽम्लः कटुस्तिक्तः कषायो लवणस्तथा ॥

एवं षड्विधविस्तारो रसो वारिमयः स्मृतः।
शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं त्रिगुणं ज्योतिरुच्यते ॥
ज्योतिषश्च गुणो रूपं रूपं च बहुधा स्मृतम्।
शुक्लं कृष्णं तथा रक्तं नीलं पीतारुणं तथा ॥
ह्रस्वं दीर्घं कृशं स्थूलं चतुरस्रं तु वृत्तवत्।
एवं द्वादशविस्तारं तेजसो रूपमुच्यते ॥
विज्ञेयं ब्राह्मणैर्वृद्धैर्धर्मज्ञैः सत्यवादिभिः।
शब्दस्पर्शौ च विज्ञेयौ द्विगुणो वायुरुच्यते ॥
वायोश्चापि गुणः स्पर्शः स्पर्शश्च बहुधा स्मृतः।
रूक्षः शीतस्तथैवोष्णः स्निग्धो विशद एव च ॥
कठिनश्चिक्कणः श्लक्ष्णः पिच्छिलो दारुणो मृदुः।
एवं द्वादशविस्तारो वायव्यो गुण उच्यते ॥
विधिवद् ब्राह्मणैः सिद्धैर्धर्मज्ञैस्तत्त्वदर्शिभिः।
तत्रैकगुणमाकाशं शब्द इत्येव च स्मृतः ॥
तस्य शब्दस्य वक्ष्यामि विस्तरेण बहून् गुणान्।
षड्जर्षभः स गान्धारो मध्यमः पञ्चमस्तथा ॥
अतः परं तु विज्ञेयो निषादो धैवतस्तथा।
इष्टश्चानिष्टशब्दश्च संहतः प्रविभागवान् ॥
एवं दशविधो ज्ञेयः शब्द आकाशसम्भवः।
आकाशमुत्तमं भूतमहंकारस्ततः परः ॥
अहंकारात् परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा ततः परः।
तस्मात् तु परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ॥
परापरज्ञो भूतानां विधिज्ञः सर्वकर्मणाम्।
सर्वभूतात्मभूतात्मा गच्छत्यात्मानमव्ययम् ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ५० । ४४—५६)

मीठा, खट्टा, कड़ुआ, तीता, कसैला और नमकीन—इस प्रकार छः भेदोंमें जलमय रसका विस्तार बताया गया है। शब्द, स्पर्श और रूप—ये तेजके तीन गुण कहे गये हैं। इनमें रूप ही तेजका मुख्य गुण है। रूपके भी कई भेद माने गये हैं। शुक्ल, कृष्ण, रक्त, नील, पीत, अरुण, छोटा,

बड़ा, मोटा, दुबला, चौकोना और गोल—इस प्रकार तैजस रूपका बारह प्रकारसे विस्तार सत्यवादी धर्मज्ञ वृद्ध ब्राह्मणोंके द्वारा जानने योग्य कहा जाता है। शब्द और स्पर्श—ये वायुके दो गुण जानने योग्य कहे जाते हैं। इनमें भी स्पर्श ही वायुका प्रधान गुण है। स्पर्श भी कई प्रकारका माना गया है। रूखा, ठंढा, गरम, स्निग्ध, विशद, कठिन, चिकना, श्लक्ष्ण (हल्का), भारी, पिच्छिल, कठोर और कोमल—इन बारह प्रकारोंसे वायुके गुण स्पर्शका विस्तार तत्त्वदर्शी धर्मज्ञ सिद्ध ब्राह्मणोंद्वारा विधिवत् बतलाया गया है। आकाशका शब्दमात्र एक ही गुण माना गया है। उस शब्दके बहुत-से गुण हैं। उनका विस्तारके साथ वर्णन करता हूँ। षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, निषाद, धैवत, इष्ट (प्रिय), अनिष्ट (अप्रिय) और संहत (श्लिष्ट)—इस प्रकार विभागवाले आकाशजनित शब्दके दस भेद हैं। आकाश सब भूतोंमें श्रेष्ठ है। उससे श्रेष्ठ अहंकार, अहंकारसे श्रेष्ठ बुद्धि, उस बुद्धिसे श्रेष्ठ आत्मा, उससे श्रेष्ठ अव्यक्त प्रकृति और प्रकृतिसे श्रेष्ठ पुरुष है। जो मनुष्य सम्पूर्ण भूतोंकी श्रेष्ठता और न्यूनताका ज्ञाता, समस्त कर्मोंकी विधिका जानकार और सब प्राणियोंको आत्मभावसे देखनेवाला है, वह अविनाशी परमात्माको प्राप्त होता है।

तपस्याका प्रभाव, आत्माका स्वरूप और उसके ज्ञानकी महिमा तथा अनुगीताका उपसंहार

ब्रह्मवन

ब्रह्मोवाच

भूतानामथ पञ्चानां यथैषामीश्वरं मनः।
नियमे च विसर्गे च भूतात्मा मन एव च॥
अधिष्ठाता मनो नित्यं भूतानां महतां तथा।
बुद्धिरैश्वर्यमाचष्टे क्षेत्रज्ञश्च स उच्यते॥
इन्द्रियाणि मनो युङ्क्ते सदश्वानिव सारथिः।
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः क्षेत्रज्ञे युज्यते सदा॥
महदश्वसमायुक्तं बुद्धिसंयमनं रथम्।
समारुह्य स भूतात्मा समन्तात् परिधावति॥
इन्द्रियग्रामसंयुक्तो मनःसारथिरेव च।
बुद्धिसंयमनो नित्यं महान् ब्रह्ममयो रथः॥
एवं यो वेत्ति विद्वान् वै सदा ब्रह्ममयं रथम्।
स धीरः सर्वभूतेषु न मोहमधिगच्छति॥
अव्यक्तादि विशेषान्तं सहस्थावरजङ्गमम्।
सूर्यचन्द्रप्रभालोकं ग्रहनक्षत्रमण्डितम्॥
नदीपर्वतजालैश्च सर्वतः परिभूषितम्।
विविधाभिस्तथा चाद्भिः सततं समलंकृतम्॥
आजीवं सर्वभूतानां सर्वप्राणभृतां गतिः।
एतद् ब्रह्मवनं नित्यं तस्मिंश्चरति क्षेत्रवित्॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ५१। १—९)

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो! जिस प्रकार इन पाँचों महाभूतोंकी उत्पत्ति और नियमन करनेमें मन समर्थ है, उसी प्रकार स्थितिकालमें भी मन ही भूतोंका आत्मा है। उन पञ्चमहाभूतोंका नित्य आधार भी मन ही है। बुद्धि जिसके ऐश्वर्यको प्रकाशित करती है, वह क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। जैसे सारथि अच्छे घोड़ोंको अपने काबूमें रखता है, उसी प्रकार मन सम्पूर्ण इन्द्रियोंपर शासन करता है। इन्द्रिय, मन और बुद्धि—ये सदा क्षेत्रज्ञके साथ संयुक्त रहते हैं। जिसमें इन्द्रियरूपी घोड़े जुते हुए हैं, जिसका बुद्धिरूपी सारथिके द्वारा नियन्त्रण हो रहा है, उस देहरूपी रथपर सवार होकर वह भूतात्मा चारों ओर दौड़ लगाता रहता है। ब्रह्ममय रथ सदा रहनेवाला और महान् है, इन्द्रियाँ उसके घोड़े, मन सारथि और बुद्धि चाबुक है। इस प्रकार जो विद्वान् इस ब्रह्ममय रथकी सदा जानकारी रखता है, वह समस्त

प्राणियोंमें धीर है और कभी मोहमें नहीं पड़ता। यह जगत् एक ब्रह्मवन है। अव्यक्त प्रकृति इसका आदि है। पाँच महाभूत, दस इन्द्रियाँ और एक मन—इन सोलह विशेषोंतक इसका विस्तार है। यह चराचर प्राणियोंसे भरा हुआ है। सूर्य और चन्द्रमा आदिके प्रकाशसे प्रकाशित है। ग्रह और नक्षत्रोंसे सुशोभित है। नदियों और पर्वतोंके समूहसे सब ओर विभूषित है। नाना प्रकारके जलसे सदा ही अलंकृत है। यही सम्पूर्ण भूतोंका जीवन और सम्पूर्ण प्राणियोंकी गति है। इस ब्रह्मवनमें क्षेत्रज्ञ विचरण करता है।

जो पञ्चभूतोंसे छूट जाता है, उसे परम गतिकी प्राप्ति होती है

लोकेऽस्मिन् यानि सत्त्वानि त्रसानि स्थावराणि च।
तान्येवाग्रे प्रलीयन्ते पश्चाद् भूतकृता गुणाः।
गुणेभ्यः पञ्चभूतानि एष भूतसमुच्छ्रयः॥
देवा मनुष्या गन्धर्वाः पिशाचासुरराक्षसाः।
सर्वे स्वभावतः सृष्टा न क्रियाभ्यो न कारणात्॥
एते विश्वसृजो विप्रा जायन्तीह पुनः पुनः।
तेभ्यः प्रसूतास्तेष्वेव महाभूतेषु पञ्चसु।
प्रलीयन्ते यथाकालमूर्मयः सागरे यथा॥
विश्वसृग्भ्यस्तु भूतेभ्यो महाभूतास्तु सर्वशः।
भूतेभ्यश्चापि पञ्चभ्यो मुक्तो गच्छेत् परां गतिम्।

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ५१। १०—१३)

इस लोकमें जो स्थावर-जङ्गम प्राणी हैं, वे ही पहले प्रकृतिमें विलीन होते हैं, उसके बाद पाँच भूतोंके कार्य लीन होते हैं और कार्यरूप गुणोंके बाद पाँच भूत लीन होते हैं। इस प्रकार यह भूतसमुदाय प्रकृतिमें लीन होता है। देवता, मनुष्य, गन्धर्व, पिशाच, असुर, राक्षस सभी स्वभावसे रचे गये हैं; किसी क्रियासे या कारणसे इनकी रचना नहीं हुई है। विश्वकी सृष्टि करनेवाले ये मरीचि आदि ब्राह्मण समुद्रकी लहरोंके समान वारंबार पञ्चमहाभूतोंसे उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न हुए वे फिर समयानुसार उन्हींमें लीन हो जाते हैं। इस विश्वकी रचना करनेवाले प्राणियोंसे पञ्च महाभूत सब प्रकार पर है। जो इन पञ्च महाभूतोंसे छूट जाता है वह परम गतिको प्राप्त होता है।

तपस्याकी महिमा

प्रजापतिरिदं सर्वं मनसैवासृजत् प्रभुः।
तथैव देवानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे॥
तपसश्चानुपूर्व्येण फलमूलाशिनस्तथा।
त्रैलोक्यं तपसा सिद्धाः पश्यन्तीह समाहिताः॥
औषधान्यगदादीनि नानाविद्याश्च सर्वशः।
तपसैव प्रसिद्ध्यन्ति तपोमूलं हि साधनम्॥
यद्दुरापं दुराम्नायं दुराधर्षं दुरन्वयम्।
तत् सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥
सुरापो ब्रह्महा स्तेयी भ्रूणहा गुरुतल्पगः।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यते किल्बिषात् ततः॥
मनुष्याः पितरो देवाः पशवो मृगपक्षिणः।
यानि चान्यानि भूतानि त्रसानि स्थावराणि च॥
तपःपरायणा नित्यं सिद्ध्यन्ते तपसा सदा।
तथैव तपसा देवा महामाया दिवं गताः॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ५१। १४—२०)

शक्तिसम्पन्न प्रजापतिने अपने मनके ही द्वारा सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि की है तथा ऋषि भी तपस्यासे ही देवत्वको प्राप्त हुए हैं। फल-मूलका भोजन करनेवाले सिद्ध महात्मा यहाँ तपस्याके प्रभावसे ही चित्तको एकाग्र करके तीनों लोकोंकी बातोंको क्रमशः प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। आरोग्यकी साधनभूत ओषधियाँ और नाना प्रकारकी विद्याएँ तपसे ही सिद्ध होती हैं। सारे साधनोंकी जड़ तपस्या ही है। जिसको पाना, जिसका अभ्यास करना, जिसे दबाना और जिसकी संगति लगाना नितान्त कठिन है, वह तपस्याके द्वारा साध्य हो जाता है; क्योंकि तपका प्रभाव

दुर्लङ्घ्य है । शराबी, ब्रह्महत्यारा, चोर, गर्भ नष्ट करनेवाला और गुरुपत्नीकी शय्यापर सोनेवाला महापापी भी भलीभाँति तपस्या करके ही उस महान् पापसे छुटकारा पा सकता है । मनुष्य, पितर, देवता, पशु, मृग, पक्षी तथा अन्य जितने चराचर प्राणी हैं, वे सब नित्य तपस्यामें संलग्न होकर ही सदा सिद्धि प्राप्त करते हैं । तपस्याके बलसे ही महामायावी देवता स्वर्गमें निवास करते हैं ।

पुरुष ज्ञानमय है, कर्ममय नहीं

आशीर्युक्तानि कर्माणि कुर्वते ये त्वतन्द्रिताः ।
अहंकारसमायुक्तास्ते सकाशे प्रजापतेः ॥
ध्यानयोगेन शुद्धेन निर्ममा निरहंकृताः ।
आप्नुवन्ति महात्मानो महान्तं लोकमुत्तमम् ॥
ध्यानयोगमुपागम्य प्रसन्नमतयः सदा ।
सुखोपचयमव्यक्तं प्रविशन्त्यात्मवित्तमाः ॥
ध्यानयोगादुपागम्य निर्ममा निरहंकृताः ।
अव्यक्तं प्रविशन्तीह महतां लोकमुत्तमम् ॥
अव्यक्तादेव सम्भूतः समसंज्ञां गतः पुनः ।
तमोरजोभ्यां निर्मुक्तः सत्त्वमास्थाय केवलम् ॥
निर्मुक्तः सर्वपापेभ्यः सर्वं सृजति निष्कलम् ।
क्षेत्रज्ञ इति तं विद्याद् यस्तं वेद स वेदवित् ॥
चित्तं चित्तादुपागम्य मुनिरासीत संयतः ।
यच्चित्तं तन्मयो वश्यं गुह्यमेतत् सनातनम् ॥
अव्यक्तादिविशेषान्तमविद्यालक्षणं स्मृतम् ।
निबोधत तथा हीदं गुणैर्लक्षणमित्युत ॥
द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् ।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥
कर्म केचित् प्रशंसन्ति मन्दबुद्धिरता नराः ।
ये तु वृद्धा महात्मानो न प्रशंसन्ति कर्म ते ॥
कर्मणा जायते जन्तुर्मूर्तिमान् षोडशात्मकः ।
पुरुषं ग्रसतेऽविद्या तद् ग्राह्यममृताशिनाम् ॥
तस्मात् कर्मसु निःस्नेहा ये केचित् पारदर्शिनः ।
विद्यामयोऽयं पुरुषो न तु कर्ममयः स्मृतः ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ५१ । २१—३२)

जो लोग आलस्य त्यागकर अहंकारसे युक्त हो सकाम कर्मका अनुष्ठान करते हैं, वे प्रजापतिके लोकमें जाते हैं । जो अहंता-ममतासे रहित हैं, वे महात्मा विशुद्ध ध्यानयोगके द्वारा महान् उत्तम लोकको प्राप्त करते हैं । जो ध्यानयोगका आश्रय लेकर सदा प्रसन्नचित्त रहते हैं, वे आत्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ पुरुष सुखकी राशिभूत अव्यक्त परमात्मामें प्रवेश करते हैं । किंतु जो ध्यानयोगसे पीछे लौटकर अर्थात् ध्यानमें असफल होकर ममता और अहंकारसे रहित जीवन व्यतीत करता है, वह निष्काम पुरुष भी महापुरुषोंके उत्तम अव्यक्त लोकमें लीन होता है । फिर स्वयं भी उसकी समताको प्राप्त होकर अव्यक्तसे ही प्रकट होता है और केवल सत्त्वका आश्रय लेकर तमोगुण एवं रजोगुणके बन्धनसे छुटकारा पा जाता है । जो सब पापोंसे मुक्त रहकर सबकी सृष्टि करता है, उस अखण्ड आत्माको क्षेत्रज्ञ समझना चाहिये । जो मनुष्य उसका ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वही वेदवेत्ता है । मुनिको उचित है कि चिन्तनके द्वारा चेतना (सम्यग्ज्ञान) पाकर मन और इन्द्रियोंको एकाग्र करके परमात्माके ध्यानमें स्थित हो जाय; क्योंकि जिसका चित्त जिसमें लगा होता है, वह निश्चय ही उसका स्वरूप हो जाता है—यह सनातन गोपनीय रहस्य है । अव्यक्तसे लेकर सोलह विशेषोंतक सभी अविद्याके लक्षण बताये गये हैं । ऐसा समझना चाहिये कि यह गुणोंका ही विस्तार है । दो अक्षरका पद 'मम' (यह 'मेरा' है—ऐसा भाव) मृत्युरूप है और तीन अक्षरका पद 'न मम' (यह 'मेरा नहीं है'—ऐसा भाव) सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति करानेवाला है । कुछ मन्द-बुद्धियुक्त पुरुष (स्वर्गादि फल प्रदान करनेवाले) काम्य कर्मोंकी प्रशंसा करते हैं, किंतु वृद्ध महात्माजन

उन कर्मोंको उत्तम नहीं बतलाते; क्योंकि सकाम कर्मके अनुष्ठानसे जीवको सोलह विकारोंसे निर्मित स्थूल शरीर धारण करके जन्म लेना पड़ता है और वह सदा अविद्याका ग्रास बना रहता है। इतना ही नहीं, कर्मठ पुरुष देवताओंके भी उपभोगका विषय होता है। इसलिये जो कोई पारदर्शी विद्वान् होते हैं, वे कर्मोंमें आसक्त नहीं होते; क्योंकि यह पुरुष (आत्मा) ज्ञानमय है, कर्ममय नहीं।

ज्ञानी पुरुष ही परमगतिको प्राप्त करता है

य एवममृतं नित्यमग्राह्यं शश्वदक्षरम्।
वश्यात्मानमसंश्लिष्टं यो वेद न मृतो भवेत्॥
अपूर्वमकृतं नित्यं य एनमविचारिणम्।
य एवं विन्देदात्मानमग्राह्यममृताशनम्॥
अग्राह्योऽमृतो भवति स एभिः कारणैर्ध्रुवः।
आयोज्य सर्वसंस्कारान् संयम्यात्मानमात्मनि।
स तद् ब्रह्म शुभं वेत्ति यस्माद् भूयो न विद्यते॥
प्रसादे चैव सत्त्वस्य प्रसादं समवाप्नुयात्।
लक्षणं हि प्रसादस्य यथा स्यात् स्वप्नदर्शनम्॥
गतिरेषा तु मुक्तानां ये ज्ञानपरिनिष्ठिताः।
प्रवृत्तयश्च याः सर्वाः पश्यन्ति परिणामजाः॥
एषा गतिर्विरक्तानामेष धर्मः सनातनः।
एषा ज्ञानवतां प्राप्तिरेतद् वृत्तमनिन्दितम्॥
समेन सर्वभूतेषु निःस्पृहेण निराशिषा।
शक्या गतिरियं गन्तुं सर्वत्र समदर्शिना॥
एतद् वः सर्वमाख्यातं मया विप्रर्षिसत्तमाः।
एवमाचरत क्षिप्रं ततः सिद्धिमवाप्स्यथ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ५१। ३३—४०)

जो इस प्रकार चेतन आत्माको अमृतस्वरूप, नित्य, इन्द्रियातीत, सनातन, अक्षर, जितात्मा एवं असङ्ग समझता है, वह कभी मृत्युके बन्धनमें नहीं पड़ता। जिसकी दृष्टिमें आत्मा अपूर्व (अनादि), अकृत (अजन्मा), नित्य, अचल, अग्राह्य और अमृताशी है, वह इन गुणोंका चिन्तन करनेसे स्वयं भी अग्राह्य (इन्द्रियातीत), निश्चल एवं अमृतस्वरूप हो जाता है। जो चित्तको शुद्ध करनेवाले सम्पूर्ण संस्कारोंका सम्पादन करके मनको आत्माके ध्यानमें लगा देता है, वही उस कल्याणमय ब्रह्मको प्राप्त करता है, जिससे बड़ा कोई नहीं है। सम्पूर्ण अन्तःकरणके स्वच्छ हो जानेपर साधकको शुद्ध प्रसन्नता प्राप्त होती है। जैसे स्वप्नसे जगे हुए मनुष्यके लिये स्वप्न शान्त हो जाता है, उसी प्रकार चित्तशुद्धिका लक्षण है। ज्ञाननिष्ठ जीवन्मुक्त महात्माओंकी यही परम गति है; क्योंकि वे उन समस्त प्रवृत्तियोंको शुभाशुभ फल देनेवाली समझते हैं। यही विरक्त पुरुषोंकी गति है, यही सनातन धर्म है, यही ज्ञानियोंका प्राप्तव्य स्थान है और यही अनिन्दित सदाचार है। जो सम्पूर्ण भूतोंमें समानभाव रखता है, लोभ और कामनासे रहित है तथा जिसकी सर्वत्र समान दृष्टि रहती है, वह ज्ञानी पुरुष ही इस परम गतिको प्राप्त कर सकता है। ब्रह्मर्षियो! यह सब विषय मैंने विस्तारके साथ तुमलोगोंको बता दिया। इसीके अनुसार आचरण करो। इससे तुम्हें शीघ्र ही परम सिद्धि प्राप्त होगी।

गुरुरुवाच

इत्युक्तास्ते तु मुनयो गुरुणा ब्रह्मणा तथा।
कृतवन्तो महात्मानस्ततो लोकमवाप्नुवन्॥
त्वमप्येतन्महाभाग मयोक्तं ब्रह्मणो वचः।
सम्यगाचर शुद्धात्मंस्ततः सिद्धिमवाप्स्यसि॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ५१। ४१-४२)

गुरुने कहा—बेटा! ब्रह्माजीके इस प्रकार उपदेश देनेपर उन महात्मा मुनियोंने इसीके अनुसार आचरण किया। इससे उन्हें उत्तम लोककी प्राप्ति हुई। महाभाग! तुम्हारा चित्त शुद्ध है, इसलिये तुम भी मेरे बताये हुए

ब्रह्माजीके उत्तम उपदेशका भलीभाँति पालन करो। इससे तुम्हें भी सिद्धि प्राप्त होगी।

वासुदेव उवाच

इत्युक्तः स तदा शिष्यो गुरुणा धर्ममुत्तमम्।
चकार सर्वं कौन्तेय ततो मोक्षमवाप्तवान्॥
कृतकृत्यश्च स तदा शिष्यः कुरुकुलोद्वह।
तत् पदं समनुप्राप्तो यत्र गत्वा न शोचति॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ५१। ४३-४४)

श्रीकृष्णने कहा—अर्जुन! गुरुदेवके ऐसा कहनेपर उस शिष्यनें समस्त उत्तम धर्मोंका पालन किया। इससे वह संसार-बन्धनसे मुक्त हो गया। कुरुकुलनन्दन! उस समय कृतार्थ होकर उस शिष्यने वह ब्रह्मपद प्राप्त किया, जहाँ जाकर शोक नहीं करना पड़ता।

अर्जुन उवाच

को न्वसौ ब्राह्मणः कृष्ण कश्च शिष्यो जनार्दन।
श्रोतव्यं चेन्मयैतद् वै तत्त्वमाचक्ष्व मे विभो॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ५१। ४५)

अर्जुनने पूछा—जनार्दन श्रीकृष्ण! वे ब्रह्मनिष्ठ गुरु कौन थे और शिष्य कौन थे? यदि मेरे सुनने योग्य हो तो ठीक-ठीक बतानेकी कृपा कीजिये।

गुरु और शिष्यका रहस्य तथा उपदेशके अन्तमें अर्जुनके प्रति भगवान्‌का द्वारका जानेके लिये कथन

वासुदेव उवाच

अहं गुरुर्महाबाहो मनः शिष्यं च विद्धि मे।
त्वत् प्रीत्या गुह्यमेतच्च कथितं ते धनंजय॥
मयि चेदस्ति ते प्रीतिर्नित्यं कुरुकुलोद्वह।
अध्यात्ममेतच्छ्रुत्वा त्वं सम्यगाचर सुव्रत॥
ततस्त्वं सम्यगाचीर्णे धर्मेऽस्मिन्नरिकर्षण।
सर्वपापविनिर्मुक्तो मोक्षं प्राप्स्यसि केवलम्॥
पूर्वमप्येतदेवोक्तं युद्धकाल उपस्थिते।
मया तव महाबाहो तस्मादत्र मनः कुरु॥
मया तु भरतश्रेष्ठ चिरदृष्टः पिता प्रभुः।
तमहं द्रष्टुमिच्छामि सम्मते तव फाल्गुन॥

(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ५१। ४६—५०)

श्रीकृष्णने कहा—महाबाहो! मैं ही गुरु हूँ और मेरे मनको ही शिष्य समझो। धनंजय! तुम्हारे स्नेह-वश मैंने इस गोपनीय रहस्यका वर्णन किया है। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले कुरुकुलनन्दन! यदि मुझपर तुम्हारा प्रेम हो तो इस अध्यात्मज्ञानको सुनकर तुम नित्य इसका यथावत् पालन करो। शत्रुदमन! इस धर्मका पूर्णतया आचरण करनेपर तुम समस्त पापोंसे छूटकर विशुद्ध मोक्षको प्राप्त कर लोगे। महाबाहो! पहले भी मैंने युद्धकाल उपस्थित होनेपर यही उपदेश तुमको सुनाया था। इसलिये तुम इसमें मन लगाओ। भरतश्रेष्ठ अर्जुन! अब मैं पिताजीका दर्शन करना चाहता हूँ। उन्हें देखे बहुत दिन हो गये। यदि तुम्हारी राय हो तो मैं उनके दर्शनके लिये द्वारका जाऊँ।

(संक्षिप्त अनुगीता समाप्त)

भगवान् श्रीकृष्णकी बात सुनकर अर्जुनने कहा—'श्रीकृष्ण! अब हमलोग यहाँसे हस्तिनापुरको चलें। वहाँ धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरसे मिलकर और उनकी आज्ञा लेकर आप अपनी पुरीको पधारें।'

श्रीकृष्णकी द्वारकायात्रा तथा मार्गमें कुपित हुए उत्तङ्कको अपना प्रभाव समझाकर शान्त करना

तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन इन्द्रप्रस्थसे हस्तिनापुरको पधारे। मार्गमें अर्जुनने भगवान्‌की बड़ी स्तुति की। फिर परस्पर प्रेमालाप करते हुए वे दोनों मित्र नगरमें पहुँचकर राजभवनके भीतर धृतराष्ट्र, विदुर तथा युधिष्ठिरसे मिले। उन्होंने भीमसेन आदिसे भी यथायोग्य मिलकर अन्तःपुरमें प्रवेश किया और गान्धारी एवं कुन्तीके चरणस्पर्श

किये । रातमें श्रीकृष्ण अर्जुनके महलमें ठहरे और सवेरे संध्या-वन्दनके पश्चात् राजा युधिष्ठिरसे मिले । उस समय अर्जुनने कहा—'महाराज ! भगवान् श्रीकृष्णको यहाँ रहते बहुत दिन हो गये । अब ये आपकी आज्ञा लेकर अपने पिताजीका दर्शन करना चाहते हैं । अतः आप इन्हें विदा दें ।' युधिष्ठिरने अश्वमेध यज्ञके समय पुनः पधारनेका अनुरोध करके श्रीकृष्णको द्वारका जानेकी आज्ञा दे दी । तत्पश्चात् वे रनिवासमें कुन्ती आदिसे मिलकर विदुरजीके पास आये और उन सबसे बिदा ले अपने दिव्य रथद्वारा हस्तिनापुरसे बाहर निकले । उस समय युधिष्ठिर और कुन्तीकी आज्ञासे उन्होंने सुभद्राको भी साथ ले लिया था । सात्यकि भी उसी रथपर आरूढ़ हो भगवान्‌के साथ द्वारकाको गये । मार्गमें उन्हें अनेक प्रकारके शुभ शकुन दिखायी दिये । मरुभूमिके समतल प्रदेशमें पहुँचकर महाबाहु श्रीकृष्णने मुनिवर उत्तङ्कका दर्शन किया । उन्होंने मुनिकी पूजा की और मुनिने भी भगवान्‌का यथोचित सत्कार किया । तदनन्तर दोनोंने परस्पर कुशल-समाचार पूछे । मुनिको यह सम्भावना थी कि श्रीकृष्ण कौरवों तथा पाण्डवोंमें मेल कराकर उन्हें सुख-समृद्धिसे सम्पन्न छोड़कर आ रहे हैं । परंतु इस विषयमें जिज्ञासा करनेपर जब उन्हें महाभारत युद्धका भयानक समाचार सुननेको मिला, तब वे क्रोधसे जल उठे और रोषसे आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगे ।

उन्होंने कहा—'श्रीकृष्ण ! कौरव तुम्हारे प्रिय सम्बन्धी थे और तुम उनकी रक्षा करनेमें पूर्ण समर्थ थे, तो भी तुमने उनकी रक्षा नहीं की । उन्हें जबरदस्ती पकड़कर रोक नहीं लिया और शक्तिशाली होते हुए भी मिथ्याचारका आश्रय लिया । कौरव आपसमें लड़कर नष्ट होते रहे और तुमने देखकर भी उनकी उपेक्षा कर दी; इसलिये मैं तुम्हें शाप दूँगा ।'

मुझे शाप देनेपर आपका तप नष्ट हो जायगा, जो मैं नहीं करना चाहता

वासुदेव उवाच

शृणु मे विस्तरेणेदं यद् वक्ष्ये भृगुनन्दन ।
गृहाणानुनयं चापि तपस्वी ह्यसि भार्गव ॥
श्रुत्वा च मे तदध्यात्मं मुञ्चेथाः शापमद्य वै ।
न च मां तपसाल्पेन शक्तोऽभिभवितुं पुमान् ॥
न च ते तपसो नाशमिच्छामि तपतां वर ।
तपस्ते सुमहद्दीप्तं गुरवश्चापि तोषिताः ॥
कौमारं ब्रह्मचर्यं ते जानामि द्विजसत्तम ।
दुःखार्जितस्य तपसस्तस्मान्नेच्छामि ते व्ययम् ॥

(महाभारत आश्वमेधिक० ५३ । २३—२६)

तब भगवान् श्रीकृष्णने कहा—भृगुनन्दन ! मैं जो कुछ कहता हूँ, उसे विस्तारपूर्वक सुनिये । भार्गव ! आप तपस्वी हैं, इसलिये मेरी अनुनय-विनय स्वीकार कीजिये । मैं आपको अध्यात्मतत्त्व सुना रहा हूँ । उसे सुननेके पश्चात् यदि आपकी इच्छा हो तो आज मुझे शाप दीजियेगा । तपस्वी पुरुषोंमें श्रेष्ठ महर्षे ! आप यह याद रखिये कि कोई भी पुरुष थोड़ी-सी तपस्याके बलपर मेरा तिरस्कार नहीं कर सकता । मैं नहीं चाहता कि आपकी तपस्या नष्ट हो जाय । आपका तप और तेज बहुत बढ़ा हुआ है । आपने गुरुजनोंको भी सेवासे संतुष्ट किया है । द्विजश्रेष्ठ ! आपने बाल्यावस्थासे ही ब्रह्मचर्यका पालन किया है । ये सारी बातें मुझे अच्छी तरह ज्ञात हैं । इसलिये अत्यन्त कष्ट सहकर संचित किये हुए आपके तपका मैं नाश कराना नहीं चाहता हूँ ।

भगवान् श्रीकृष्णका उत्तङ्कसे अपने प्रभाव एवं महत्त्वका वर्णन करना तथा दुर्योधनके अपराधको कौरवोंके विनाशका कारण बतलाना

उत्तङ्कने कहा—केशव ! जनार्दन ! तुम यथार्थरूपसे उत्तम अध्यात्मतत्त्वका वर्णन करो । उसे सुनकर मैं तुम्हारे कल्याणके लिये आशीर्वाद दूँगा अथवा शाप प्रदान करूँगा ।

सब कुछ मेरा ही स्वरूप है

वासुदेव उवाच

तमो रजश्च सत्त्वं च विद्धि भावान् मदाश्रयान् ।

तथा रुद्रान् वसून् वापि विद्धि मत्प्रभवान् द्विज॥
मयि सर्वाणि भूतानि सर्वभूतेषु चाप्यहम्।
स्थित इत्यभिजानीहि मा तेऽभूदत्र संशयः॥
तथा दैत्यगणान् सर्वान् यक्षगन्धर्वराक्षसान्।
नागानप्सरसश्चैव विद्धि मत्प्रभवान् द्विज॥
सदसच्चैव यत् प्राहुरव्यक्तं व्यक्तमेव च।
अक्षरं च क्षरं चैव सर्वमेतन्मदात्मकम्॥
ये चाश्रमेषु वै धर्माश्चतुर्धा विदिता मुने।
वैदिकानि च सर्वाणि विद्धि सर्वं मदात्मकम्॥
असच्च सदसच्चैव यद् विश्वं सदसत् परम्।
मत्तः परतरं नास्ति देवदेवात् सनातनात्॥
ओङ्कारप्रमुखान् वेदान् विद्धि मां त्वं भृगूद्वह।
यूपं सोमं चरुं होमं त्रिदशाप्यायनं मखे॥
होतारमपि हव्यं च विद्धि मां भृगुनन्दन।
अध्वर्युः कल्पकश्चापि हविः परमसंस्कृतम्॥
(महाभारत आश्वमेधिक० ५४। २—९)

श्रीकृष्णने कहा—ब्रह्मर्षे! आपको यह विदित होना चाहिये कि तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण—ये सभी भाव मेरे ही आश्रित हैं। रुद्रों और वसुओंको भी आप मुझसे ही उत्पन्न जानिये। सम्पूर्ण भूत मुझमें हैं और सम्पूर्ण भूतोंमें मैं स्थित हूँ। इस बातको आप अच्छी तरह समझ लें। इसमें आपको संशय नहीं होना चाहिये। विप्रवर! सम्पूर्ण दैत्यगण, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, नाग और अप्सराओंको मुझसे ही उत्पन्न जानिये। विद्वान्‌लोग जिसे सत्-असत्, व्यक्त-अव्यक्त और क्षर-अक्षर कहते हैं, वह सब मेरा ही स्वरूप है। मुने! चारों आश्रमोंमें जो चार प्रकारके धर्म प्रसिद्ध हैं तथा जो सम्पूर्ण वेदोक्त कर्म हैं, उन सबको मेरा स्वरूप ही समझिये। असत्, सदसत् तथा उससे भी परे जो अव्यक्त जगत् है, वह भी मुझ सनातन देवाधि-देवसे पृथक् नहीं है। भृगुश्रेष्ठ! ॐकारसे आरम्भ होनेवाले चारों वेद मुझे ही समझिये। यज्ञमें यूप, सोम, चरु, देवताओंको तृप्त करनेवाला होम, होता और हवन-सामग्री भी मुझे ही जानिये। भृगुनन्दन! अध्वर्यु, कल्पक और अच्छी प्रकार संस्कार किया हुआ हविष्य—ये सब मेरे ही स्वरूप हैं।

सब मेरा ही स्तवन करते हैं और मैं धर्मरक्षाके लिये अवतार लेता हूँ

उद्गाता चापि मां स्तौति गीतघोषैर्महाध्वरे।
प्रायश्चित्तेषु मां ब्रह्मञ्शान्तिमङ्गलवाचकाः॥
स्तुवन्ति विश्वकर्माणं सततं द्विजसत्तम।
मम विद्धि सुतं धर्ममग्रजं द्विजसत्तम॥
मानसं दयितं विप्र सर्वभूतदयात्मकम्।
तत्राहं वर्तमानैश्च निवृत्तैश्चैव मानवैः॥
बह्वीः संसरमाणो वै योनीर्वर्तामि सत्तम।
धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च॥
तैस्तैर्वेषैश्च रूपैश्च त्रिषु लोकेषु भार्गव।
अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रोऽथ प्रभवाप्ययः॥
भूतग्रामस्य सर्वस्य स्रष्टा संहार एव च।
अधर्मे वर्तमानानां सर्वेषामहमच्युतः॥

धर्मस्य सेतुं बध्नामि चलिते चलिते युगे।
तास्ता योनीः प्रविश्याहं प्रजानां हितकाम्यया॥
यदा त्वहं देवयोनौ वर्तामि भृगुनन्दन।
तदाहं देववत् सर्वमाचरामि न संशयः॥
यदा गन्धर्वयोनौ वा वर्तामि भृगुनन्दन।
तदा गन्धर्ववत् सर्वमाचरामि न संशयः॥
नागयोनौ यदा चैव तदा वर्तामि नागवत्।
यक्षराक्षसयोन्योस्तु यथावद् विचराम्यहम्॥
(महाभारत आश्वमेधिक० ५४। १०—१९)

बड़े-बड़े यज्ञोंमें उद्गाता उच्च स्वरसे सामगान करके मेरी ही स्तुति करते हैं। ब्रह्मन्! प्रायश्चित्त-कर्ममें शान्तिपाठ तथा मङ्गलपाठ करनेवाले ब्राह्मण सदा मुझ विश्वकर्माका ही स्तवन करते हैं। द्विजश्रेष्ठ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करना रूप जो धर्म है, वह मेरा परम-प्रिय ज्येष्ठ पुत्र है। मेरे मनसे उसका प्रादुर्भाव हुआ है। भार्गव! उस धर्ममें प्रवृत्त होकर जो पाप-कर्मोंसे निवृत्त हो गये हैं ऐसे मनुष्योंके साथ मैं सदा निवास करता हूँ। साधुशिरोमणे! मैं धर्मकी रक्षा और स्थापना-के लिये तीनों लोकोंमें बहुत-सी योनियोंमें अवतार धारण करके उन-उन रूपों और वेषोंद्वारा तदनुरूप बर्ताव करता हूँ। मैं ही विष्णु, मैं ही ब्रह्मा और मैं ही इन्द्र हूँ। सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयका कारण भी मैं ही हूँ। समस्त प्राणिसमुदायकी सृष्टि और संहार भी मेरे ही द्वारा होते हैं। अधर्ममें लगे हुए सभी मनुष्योंको दण्ड देनेवाला और अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाला ईश्वर मैं ही हूँ। जब-जब युगका परिवर्तन होता है, तब-तब मैं प्रजाकी भलाईके लिये भिन्न-भिन्न योनियोंमें प्रविष्ट होकर धर्ममर्यादाकी स्थापना करता हूँ। भृगुनन्दन! जब मैं देवयोनिमें अवतार लेता हूँ, तब देवताओंकी ही भाँति सारे आचार-विचारका पालन करता हूँ, इसमें संशय नहीं है। भृगुकुलको आनन्द प्रदान करनेवाले महर्षे! जब मैं गन्धर्व-योनिमें प्रकट होता हूँ, तब मेरे सारे आचार-विचार गन्धर्वोंके ही समान होते हैं; इसमें संदेह नहीं है। जब मैं नाग-योनिमें जन्म ग्रहण करता हूँ, तब नागोंकी तरह बर्ताव करता हूँ। यक्षों और राक्षसोंकी योनियोंमें प्रकट होनेपर उन्हींके आचार-विचारका यथावत् रूपसे पालन करता हूँ।

वर्तमान मानव अवतारमें कौरवोंने मेरी बात नहीं मानी, इसीसे सब युद्धमें मरकर स्वर्गको चले गये

मानुष्ये वर्तमाने तु कृपणं याचिता मया।
न च ते जातसम्मोहा वचोऽगृह्णन्त मे हितम्॥
भयं च महदुद्दिश्य त्रासिताः कुरवो मया।
क्रुद्धेन भूत्वा तु पुनर्यथावदनुदर्शिताः॥
तेऽधर्मेणेह संयुक्ताः परीताः कालधर्मणा।
धर्मेण निहता युद्धे गताः स्वर्गं न संशयः॥
लोकेषु पाण्डवाश्चैव गताः ख्यातिं द्विजोत्तम।
एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि॥
(महाभारत आश्वमेधिक० ५४। २०—२३)

इस समय मैं मनुष्ययोनिमें अवतीर्ण हुआ हूँ, इस-लिये कौरवोंपर अपनी ईश्वरीय शक्तिका प्रयोग न करके पहले मैंने दीनतापूर्वक ही संधिके लिये प्रार्थना की थी; परंतु उन्होंने मोहग्रस्त होनेके कारण मेरी हितकर बात नहीं मानी। इसके बाद क्रोधमें भरकर मैंने कौरवोंको बड़े-बड़े भय दिखाये और उन्हें बहुत डराया-धमकाया तथा यथार्थरूपसे युद्धका भावी परिणाम भी उन्हें दिखाया; परंतु वे तो अधर्मसे युक्त एवं कालसे ग्रस्त थे। अतः मेरी बात माननेको राजी न हुए। फिर क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्धमें मारे गये। इसमें संदेह नहीं कि वे सब-के-सब स्वर्गलोकमें गये हैं। द्विजश्रेष्ठ! पाण्डव अपने धर्माचरणके कारण समस्त लोकोंमें विख्यात हुए हैं। आपने जो कुछ पूछा था, उसके अनुसार मैंने यह सारा प्रसङ्ग कह सुनाया।

उत्तराके मरे हुए बालकको नवजीवन-दान

पाण्डवोंके अश्वमेधयज्ञमें सम्मिलित होनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण वृष्णिवंशियोंको साथ लेकर हस्तिनापुरमें आये। सबसे आगे बलदेवजी थे। श्रीकृष्णके साथ प्रद्युम्न, सात्यकि, चारुदेष्ण, साम्ब, गद, कृतवर्मा, सारण, निशठ और उल्मुख आदि भी थे। सुभद्रा भी उन सबके साथ आयी थी। उन दिनों पाण्डव लोग धनके लिये हिमालयमें गये थे और वहाँसे लौट रहे थे। इसी बीचमें उत्तराके गर्भसे एक बालक उत्पन्न हुआ, जो मरा हुआ था। इस समाचारसे सबको बड़ा दुःख हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण सात्यकिके साथ अन्तःपुरमें गये। वहाँ उन्होंने देखा बुआ कुन्ती 'वासुदेव दौड़ो, दौड़ो' की पुकार मचाती हुई उन्हींके पास भागी आ रही थी। उनके पीछे द्रौपदी, सुभद्रा तथा अन्य बन्धु-बान्धवोंकी स्त्रियाँ भी थीं। वे सब-की-सब करुणस्वरसे बिलख-बिलखकर रो रही थीं। कुन्तीने कहा—'यदुवीर! यह जो तुम्हारे भानजे अभिमन्युका बालक है, अश्वत्थामाके अस्त्रसे मरा हुआ ही उत्पन्न हुआ है। प्रभो! केशव! इसे जीवन-दान दो। पहले तुमने यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं उत्तराके मरे हुए बालकको जीवित कर दूँगा। वही यह बालक है। इसे जीवन-दान देकर उत्तरा, सुभद्रा, द्रौपदी तथा अपनी इस बुआके भी प्राणोंकी रक्षा करो। मेरे तथा पाण्डवोंके प्राण इस बालकके ही अधीन हैं। मेरे पति पाण्डु तथा ससुर विचित्रवीर्यके पिण्डका भी यही सहारा है। इस कुलकी भलाईके लिये हम सब लोग तुम्हारे पैरों पड़कर भीख माँगती हैं कि इस बालकको जिला दो।' ऐसा कहकर कुन्ती आदि सभी स्त्रियाँ दुःखसे आर्त हो पृथ्वीपर गिर पड़ीं।

तदनन्तर सुभद्रा अपने भाई श्रीकृष्णकी ओर देख फूट-फूटकर रोने लगी और आर्त होकर बोली—'भैया! द्रोणपुत्रने भीमसेनको मारनेके लिये जो सींकका बाण उठाया था, वह उत्तरापर, अर्जुनपर और मुझपर गिरा। अश्वत्थामाने आज पाण्डवोंका सर्वस्व लूट लिया। यदि आज यह बालक जीवित नहीं हुआ तो सुभद्राको भी मरी हुई ही समझो। तुम त्रिलोकीको नूतन जीवन देनेमें समर्थ हो। फिर अपने भानजेके प्यारे पुत्रको जिलाना तुम्हारे लिये कौन बड़ी बात है! मुझे अपनी बहिन समझकर या जिसका जवान बेटा मारा गया है, ऐसी अभागिनी माँ समझकर अथवा शरणमें आयी हुई एक दयनीय अबला जानकर मुझपर दया करो।'

श्रीकृष्णने उच्चस्वरसे कहा—'बहिन! रो मत। तेरी इच्छा पूर्ण होगी।' यह कहकर वे सूतिकागारकी ओर चले। द्रौपदीने पहले ही जाकर विराट्पुत्रीको सूचित किया—'बेटी! तुम्हारे श्वशुर-तुल्य भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ आ रहे हैं।' उत्तराने आँसुओंको रोककर रोना बंद कर दिया और अपने सारे अङ्गोंको वस्त्रोंसे ढक लिया। भगवान्को निकट आया देख वह तपस्विनी बाला विलाप करती हुई गद्गद कण्ठसे बोली—'प्रभो! मैं आपके चरणोंमें मस्तक रखकर इस बालकके प्राणोंकी भीख माँगती हूँ। यदि यह जीवित नहीं हुआ, तो मैं भी अपने प्राण त्याग दूँगी।'

इतना कहकर तपस्विनी उत्तरा उन्मादिनी-सी होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी। उसकी ऐसी अवस्था देख भरतवंशकी सारी स्त्रियाँ फूट-फूटकर रोने लगीं। पाण्डवोंका वह भवन दो घड़ीतक आर्तनादसे गूँजता रहा।

उत्तराका महान् विलाप सुनकर पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने आचमन करके अश्वत्थामाके चलाये हुए ब्रह्मास्त्रको शान्त कर दिया। फिर सम्पूर्ण जगत्को सुनाते हुए इस प्रकार कहा—

श्रीकृष्णका अपनी प्रतिज्ञाके सत्य होनेका निश्चय बतलाते हुए अपने विशिष्ट सहज गुणोंका वर्णन करना

न ब्रवीम्युत्तरे मिथ्या सत्यमेतद् भविष्यति।
एष संजीवयाम्येनं पश्यतां सर्वदेहिनाम्॥

नोक्तपूर्वं मया मिथ्या स्वैरेष्वपि कदाचन।
न च युद्धात् परावृत्तस्तथा संजीवतामयम्॥
यथा मे दयितो धर्मो ब्राह्मणश्च विशेषतः।
अभिमन्योः सुतो जातो मृतो जीवत्वयं तथा॥
यथाहं नाभिजानामि विजये तु कदाचन।
विरोधं तेन सत्येन मृतो जीवत्वयं शिशुः॥
यथा सत्यं च धर्मश्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ।
तथा मृतः शिशुरयं जीवतादभिमन्युजः॥
यथा कंसश्च केशी च धर्मेण निहतौ मया।
तेन सत्येन बालोऽयं पुनः संजीवतामयम्॥
इत्युक्तो वासुदेवेन स बालो भरतर्षभ।
शनैः शनैर्महाराज प्रास्पन्दत सचेतनः॥

(महाभारत आश्वमेधिक० ६९। १८—२४)

'बेटी उत्तरा! मैं झूठ नहीं बोलता। मैंने जो प्रतिज्ञा की है, वह सत्य होकर ही रहेगी। देखो, मैं समस्त देहधारियोंके देखते-देखते अभी इस बालकको जिलाये देता हूँ। मैंने खेल-कूदमें भी कभी मिथ्या-भाषण नहीं किया है और युद्धमें कभी पीठ नहीं दिखायी है। इस शक्तिके प्रभावसे अभिमन्युका यह बालक जीवित हो जाय। यदि धर्म और ब्राह्मण मुझे विशेष प्रिय हों तो अभिमन्युका यह पुत्र, जो पैदा होते ही मर गया था; फिर जीवित हो जाय। मैंने कभी अर्जुनसे विरोध किया हो, इसका स्मरण नहीं है; इस सत्यके प्रभावसे यह मरा हुआ बालक अभी जीवित हो जाय। यदि मुझमें सत्य और धर्मकी निरन्तर स्थिति बनी रहती हो तो अभिमन्यु-का यह मरा हुआ बालक जी उठे। यदि मैंने कंस और केशीका धर्मके अनुसार वध किया है, तो इस सत्यके प्रभावसे यह बालक फिर जीवित हो जाय।'

भरतश्रेष्ठ! महाराज! भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर उस बालकमें चेतना आ गयी। वह धीरे-धीरे अङ्ग-संचालन करने लगा और सब ओर आनन्द छा गया।

[महाभारत आश्वमेधिकपर्व—दाक्षिणात्य पाठसे—वैष्णवधर्मके चुने हुए कुछ उपदेश]

युधिष्ठिरका वैष्णव-धर्मविषयक प्रश्न और भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा धर्म एवं अपनी महिमाका वर्णन

अश्वमेध-यज्ञके बाद जब धर्मराज युधिष्ठिरने अवभृथ-स्नान कर लिया, तब भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करके इस प्रकार पूछना आरम्भ किया—'भक्तवत्सल! मैं सच्चे भक्तिभावसे आपके चरणोंकी शरणमें आया हूँ। भगवन्! यदि आप मुझे अपना प्रेमी या भक्त समझते हैं और यदि मैं आपके अनुग्रहका अधिकारी होऊँ तो मुझसे वैष्णव-धर्मोंका वर्णन कीजिये। मैं उनके सम्पूर्ण रहस्योंको यथार्थ रूपसे जानना चाहता हूँ।'

धर्मपुत्र युधिष्ठिरके इस प्रकार प्रश्न करनेपर सम्पूर्ण धर्मोंको जाननेवाले भगवान् श्रीकृष्ण अत्यन्त प्रसन्न होकर उनसे धर्मके सूक्ष्म विषयोंका वर्णन करने लगे।

धर्मकी महिमा और धर्मका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा

एवं ते यस्य कौन्तेय यत्नो धर्मेषु सुव्रत।
तस्य ते दुर्लभो लोके न कश्चिदपि विद्यते॥
धर्मः श्रुतो वा दृष्टो वा कथितो वा कृतोऽपि वा।
अनुमोदितो वा राजेन्द्र नयतीन्द्रपदं नरम्॥
धर्मः पिता च माता च धर्मो नाथः सुहृत् तथा।
धर्मो भ्राता सखा चैव धर्मः स्वामी परंतप॥
धर्मादर्थश्च कामश्च धर्माद् भोगाः सुखानि च।
धर्मादैश्वर्यमेवाग्र्यं धर्मात् स्वर्गगतिः परा॥
धर्मोऽयं सेवितः शुद्धस्त्रायते महतो भयात्।
धर्माद् द्विजत्वं देवत्वं धर्मः पावयते नरम्॥
यदा च क्षीयते पापं कालेन पुरुषस्य तु।
तदा संजायते बुद्धिर्धर्मं कर्तुं युधिष्ठिर॥
जन्मान्तरसहस्रैस्तु मनुष्यत्वं हि दुर्लभम्।
तद् गत्वापीह यो धर्मं न करोति स वञ्चितः॥
कुत्सिता ये दरिद्राश्च विरूपा व्याधितास्तथा।

परद्वेष्याश्च मूर्खाश्च न तैर्धर्मः कृतः पुरा ॥
ये च दीर्घायुषः शूराः पण्डिता भोगिनस्तथा ।
नीरोगा रूपसम्पन्नास्तैर्धर्मः सुकृतः पुरा ॥
एवं धर्मः कृतः शुद्धो नयते गतिमुत्तमाम् ।
अधर्मं सेवते यस्तु तिर्यग्योन्यां पतत्यसौ ॥
इदं रहस्यं कौन्तेय शृणु धर्ममनुत्तमम् ।
कथयिष्ये परं धर्मं तव भक्तस्य पाण्डव ॥
इष्टस्त्वमसि मेऽत्यर्थं प्रपन्नश्चापि मां सदा ।
परमार्थमपि ब्रूयां किं पुनर्धर्मसंहिताम् ॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले कुन्तीनन्दन ! तुम धर्मके लिये इतना उद्योग करते हो, इसलिये तुम्हें संसारमें कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है। राजेन्द्र ! सुना हुआ, देखा हुआ, कहा हुआ, पालन किया हुआ और अनुमोदन किया हुआ धर्म मनुष्यको इन्द्र-पदपर पहुँचा देता है। परंतप ! धर्म ही जीवका माता-पिता, रक्षक, सुहृद्, भ्राता, सखा और स्वामी है। अर्थ, काम, भोग, सुख, उत्तम ऐश्वर्य और सर्वोत्तम स्वर्गकी प्राप्ति भी धर्मसे ही होती है। यदि इस विशुद्ध धर्मका सेवन किया जाय तो वह महान् भयसे रक्षा करता है। धर्मसे ही मनुष्यको ब्राह्मणत्व और देवत्वकी प्राप्ति होती है। धर्म ही मनुष्यको पवित्र करता है। युधिष्ठिर ! जब काल-क्रमसे मनुष्यका पाप नष्ट हो जाता है, तभी उसकी बुद्धि धर्माचरणमें लगती है। हजारों योनियोंमें भटकनेके बाद भी मनुष्ययोनिका मिलना कठिन होता है। ऐसे दुर्लभ मनुष्य-जन्मको पाकर भी जो धर्मका अनुष्ठान नहीं करता, वह महान् लाभसे वञ्चित रह जाता है। आज जो लोग निन्दित, दरिद्र, कुरूप, रोगी, दूसरोंके द्वेषपात्र और मूर्ख देखे जाते हैं, उन्होंने पूर्वजन्ममें धर्मका अनुष्ठान नहीं किया है। किंतु जो दीर्घजीवी, शूर वीर, पण्डित, भोग-सामग्रीसे सम्पन्न, नीरोग और रूपवान् हैं, उनके द्वारा पूर्वजन्ममें निश्चय ही धर्मका सम्पादन हुआ है। इस प्रकार शुद्धभावसे किया हुआ धर्मका अनुष्ठान उत्तम गतिकी प्राप्ति कराता है। परंतु जो अधर्मका सेवन करते हैं, उन्हें पशु-पक्षी आदि तिर्यक्-योनियोंमें गिरना पड़ता है। कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ! अब मैं तुम्हें एक रहस्यकी बात बताता हूँ, सुनो। पाण्डुनन्दन ! मैं तुम भक्तसे परम धर्मका वर्णन अवश्य करूँगा। तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो और सदा मेरी शरणमें स्थित रहते हो। तुम्हारे पूछनेपर मैं परम गोपनीय आत्मतत्त्वका भी वर्णन कर सकता हूँ, फिर धर्मसंहिताके लिये तो कहना ही क्या है ?

अवतारका हेतु तथा भक्तिकी महिमाका वर्णन

इदं मे मानुषं जन्म कृतमात्मनि मायया ।
धर्मसंस्थापनार्थाय दुष्टानां नाशनाय च ॥
मानुष्यं भावमापन्नं ये मां गृह्णन्त्यवज्ञया ।
संसारान्तर्हि ते मूढास्तिर्यग्योनिष्वनेकशः ॥
ये च मां सर्वभूतस्थं पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषा ।
मद्भक्तांस्तान् सदा युक्तान् मत्समीपं नयाम्यहम् ॥
मद्भक्ता न विनश्यन्ति मद्भक्ता वीतकल्मषाः ।
मद्भक्तानां तु मानुष्ये सफलं जन्म पाण्डव ॥
अपि पापेष्वभिरता मद्भक्ताः पाण्डुनन्दन ।
मुच्यन्ते पातकैः सर्वैः पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
जन्मान्तरसहस्रेषु तपसा भावितात्मनाम् ।
भक्तिरुत्पद्यते तात मनुष्याणां न संशयः ॥
यच्च रूपं परं गुह्यं कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।
न दृश्यते तथा देवैर्मद्भक्तैर्दृश्यते यथा ॥
अपरं यच्च मे रूपं प्रादुर्भावेषु दृश्यते ।
तदर्चयन्ति सर्वार्थैः सर्वभूतानि पाण्डव ॥
कल्पकोटिसहस्रेषु व्यतीतेष्वागतेषु च ।
दर्शयामीह तद् रूपं यच्च पश्यन्ति मे सुराः ॥
स्थित्युत्पत्त्यव्ययकरं यो मां ज्ञात्वा प्रपद्यते ।
अनुगृह्णाम्यहं तं वै संसारान्मोचयामि च ॥

इस समय धर्मकी स्थापना और दुष्टोंका विनाश

करनेके लिये मैंने अपनी मायासे मानव-रूपमें अवतार धारण किया है। जो लोग मुझे केवल मनुष्य-शरीरमें ही समझकर मेरी ऐसी अवहेलना करते हैं, वे मूर्ख हैं और संसारके भीतर बारंबार तिर्यक् योनियोंमें भटकते रहते हैं। इसके विपरीत जो ज्ञानदृष्टिसे मुझे सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित देखते हैं, वे सदा मुझमें मन लगाये रहनेवाले मेरे भक्त हैं। ऐसे भक्तोंको मैं परम धाममें अपने पास बुला लेता हूँ। पाण्डुपुत्र! मेरे भक्तोंका नाश नहीं होता। वे निष्पाप होते हैं। मनुष्योंमें उन्हींका जन्म सफल है, जो मेरे भक्त हैं। पाण्डुनन्दन! पापोंमें अभिरत रहनेवाले मनुष्य भी यदि मेरे भक्त हो जायँ तो वे सारे पापोंसे वैसे ही मुक्त हो जाते हैं, जैसे जलसे कमलका पत्ता निर्लिप्त रहता है। हजारों जन्मोंतक तपस्या करनेसे जब मनुष्योंका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब उसमें निःसंदेह भक्तिका उदय होता है। मेरा जो अत्यन्त गोपनीय, कूटस्थ, अचल और अविनाशी परस्वरूप है, उसका मेरे भक्तोंको जैसा अनुभव होता है, वैसा देवताओंको भी नहीं होता। पाण्डव! मेरा जो अपरस्वरूप है, वह अवतार लेनेपर दृष्टिगोचर होता है। संसारके समस्त जीव सब प्रकारके पदार्थोंसे उसकी पूजा करते हैं। हजारों और करोड़ों कल्प आकर चले गये, पर जिस वैष्णवरूपको देवगण देखते हैं, उसी रूपसे मैं भक्तोंको दर्शन देता हूँ। जो मनुष्य मुझे जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहारका कारण समझकर मेरी शरण लेता है, उसके ऊपर कृपा करके मैं उसे संसार-बन्धनसे मुक्त कर देता हूँ।

भगवान्‌के द्वारा अपने सर्वव्यापी रूपका वर्णन

अहमादिर्हि देवानां सृष्टा ब्रह्मादयो मया।
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य जगत् सर्वं सृजाम्यहम्॥
तमोमूलोऽहमव्यक्तो रजोमध्ये प्रतिष्ठितः।
ऊर्ध्वं सत्त्वं विना लोभं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यतः॥
मूर्धानं मे विद्धि दिवं चन्द्रादित्यौ च लोचने।
गावोऽग्निर्ब्राह्मणो वक्त्रं मारुतः श्वसनं च मे॥
दिशो मे बाहवश्चाष्टौ नक्षत्राणि च भूषणम्।
अन्तरिक्षमुरो विद्धि सर्वभूतावकाशकम्।
मार्गो मेघानिलाभ्यां तु यन्ममोदरमव्ययम्॥
पृथिवीमण्डलं यद् वै द्वीपार्णववनैर्युतम्।
सर्वसंधारणोपेतं पादौ मम युधिष्ठिर॥
स्थितो ह्येकगुणः खेऽहं द्विगुणश्चासि मारुते।
त्रिगुणोऽग्नौ स्थितोऽहं वै सलिले च चतुर्गुणः॥
शब्दाद्या ये गुणाः पञ्च महाभूतेषु पञ्चसु।
तन्मात्रासंस्थितः सोऽहं पृथिव्यां पञ्चधा स्थितः॥
अहं सहस्रशीर्षस्तु सहस्रवदनेक्षणः।
सहस्रबाहूदरधृक् सहस्रोरु सहस्रपात्॥
धृत्वोर्वीं सर्वतः सम्यगत्यतिष्ठं दशाङ्गुलम्।
सर्वभूतात्मभूतस्थः सर्वव्यापी ततोऽस्म्यहम्॥

मैं ही देवताओंका आदि हूँ। ब्रह्मा आदि देवताओंकी मैंने ही सृष्टि की है। मैं ही अपनी प्रकृतिका आश्रय लेकर सम्पूर्ण संसारकी सृष्टि करता हूँ। मैं अव्यक्त परमेश्वर ही तमोगुणका आधार, रजोगुणके भीतर स्थित और उत्कृष्ट सत्त्वगुणमें भी व्याप्त हूँ। मुझे लोभ नहीं है। ब्रह्मासे लेकर छोटे-से कीड़ेतक सबमें मैं व्याप्त हो रहा हूँ। द्युलोकको मेरा मस्तक समझो। सूर्य और चन्द्रमा मेरी आँखें हैं। गौ, अग्नि और ब्राह्मण—मेरे मुख हैं और वायु मेरी साँस है। आठ दिशाएँ मेरी बाहें, नक्षत्र मेरे आभूषण और सम्पूर्ण भूतोंको अवकाश देनेवाला अन्तरिक्ष मेरा वक्षःस्थल है। बादलों और हवाके चलनेका जो मार्ग है, उसे मेरा अविनाशी उदर समझो। युधिष्ठिर! द्वीप, समुद्र और जंगलोंसे भरा हुआ यह सबको धारण करनेवाला भूमण्डल मेरे दोनों पैरोंके स्थानमें है। आकाशमें मैं एक गुणवाला हूँ, वायुमें दो गुणवाला हूँ, अग्निमें तीन गुणवाला हूँ और जलमें चार गुणवाला हूँ। पृथ्वीमें पाँच गुणोंसे स्थित हूँ। वही मैं तन्मात्रारूप पञ्चमहाभूतोंमें शब्दादि पाँच गुणोंसे स्थित हूँ। मेरे हजारों मस्तक, हजारों मुख, हजारों नेत्र, हजारों भुजाएँ, हजारों उदर,

हजारों ऊरु और हजारों पैर हैं। मैं पृथ्वीको सब ओरसे धारण करके नाभिसे दस अंगुल ऊँचे सबके हृदयमें विराजमान हूँ। सम्पूर्ण प्राणियोंमें मैं आत्मारूपसे स्थित हूँ, इसलिये सर्वव्यापी कहलाता हूँ।

भगवान्‌के द्वारा ही सृष्टि-संहार-लीला होती है

अचिन्त्योऽहमनन्तोऽहमजरोऽहमजो ह्यहम्।
अनाद्योऽहमवध्योऽहमप्रमेयोऽहमव्ययः॥
निर्गुणोऽहं निगूढात्मा निर्द्वन्द्वो निर्ममो नृप।
निष्कलो निर्विकारोऽहं निदानममृतस्य तु॥
सुधा चाहं स्वधा चाहं स्वाहा चाहं नराधिप।
तेजसा तपसा चाहं भूतग्रामं चतुर्विधम्॥
स्नेहपाशैर्गुणैर्बद्ध्वा धारयाम्यात्ममायया।
चातुराश्रमधर्मोऽहं चातुर्होत्रफलाशनः।
चतुर्मूर्तिश्चतुर्यज्ञश्चतुराश्रमभावनः॥
संहृत्याहं जगत् सर्वं कृत्वा वै गर्भमात्मनः।
शयामि दिव्ययोगेन प्रलयेषु युधिष्ठिर॥
सहस्रयुगपर्यन्तां ब्राह्मीं रात्रिं महार्णवे।
स्थित्वा सृजामि भूतानि जङ्गमानि स्थिराणि च॥
कल्पे कल्पे च भूतानि संहरामि सृजामि च।
न च मां तानि जानन्ति मायया मोहितानि मे॥
मम चैवान्धकारस्य मार्गितव्यस्य नित्यशः।
प्रशान्तस्येव दीपस्य गतिर्नैवोपलभ्यते॥

राजन्! मैं अचिन्त्य, अनन्त, अजर, अजन्मा, अनादि, अवध्य, अप्रमेय, अव्यय, निर्गुण, गुह्यस्वरूप, निर्द्वन्द्व, निर्मम, निष्कल, निर्विकार और मोक्षका आदि कारण हूँ। नरेश्वर! सुधा, स्वधा और स्वाहा भी मैं ही हूँ। मैंने ही अपने तेज और तपसे चार प्रकारके प्राणिसमुदाय-को स्नेहपाश-रूप रज्जुसे बाँधकर अपनी मायासे धारण कर रक्खा है। मैं चारों आश्रमोंका धर्म, चार प्रकारके होताओंसे सम्पन्न होनेवाले यज्ञका फल भोगनेवाला चतुर्व्यूह, चतुर्यज्ञ और चारों आश्रमोंको प्रकट करनेवाला हूँ। युधिष्ठिर! प्रलयकालमें समस्त जगत्‌का संहार करके उसे अपने उदरमें स्थापित कर दिव्य योगका आश्रय ले मैं एकार्णवके जलमें शयन करता हूँ। एक हजार युगोंतक रहनेवाली ब्रह्माकी रात पूर्ण होनेतक महार्णवमें शयन करनेके पश्चात् स्थावर-जङ्गम प्राणियोंकी सृष्टि करता हूँ। प्रत्येक कल्पमें मेरेद्वारा जीवोंकी सृष्टि और संहारकी लीला होती है; किंतु मेरी मायासे मोहित होनेके कारण वे जीव मुझे नहीं जान पाते। प्रलयकालमें जब दीपकके शान्त होनेकी भाँति समस्त व्यक्त सृष्टि लुप्त हो जाती है, तब खोज करने योग्य मुझ अदृश्य-स्वरूपकी गतिका उनको पता नहीं लगता।

सब कुछ भगवान् ही है

न तदस्ति क्वचिद् राजन् यत्राहं न प्रतिष्ठितः।
न च तद् विद्यते भूतं मयि यन्न प्रतिष्ठितम्॥
यावन्मात्रं भवेद् भूतं स्थूलं सूक्ष्ममिदं जगत्।
जीवभूतो ह्यहं तस्मिंस्तावन्मात्रं प्रतिष्ठितः॥
किं चात्र बहुनोक्तेन सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।
यद् भूतं यद् भविष्यच्च तत् सर्वमहमेव तु॥
मया सृष्टानि भूतानि मन्मयानि च भारत।
मामेव न विजानन्ति मायया मोहितानि वै॥
एवं सर्वं जगदिदं सदेवासुरमानुषम्।
मत्तः प्रभवते राजन् मय्येव प्रविलीयते॥

राजन्! कहीं कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जिसमें मेरा निवास न हो तथा कोई ऐसा जीव नहीं है, जो मुझमें स्थित न हो। जो कुछ भी स्थूल-सूक्ष्मरूप यह जगत् हो चुका है और होनेवाला है, उन सबमें उसी प्रकार मैं ही जीवरूपसे स्थित हूँ। अधिक कहनेसे क्या लाभ; मैं तुमसे यह सच्ची बात बता रहा हूँ कि भूत और भविष्य जो कुछ है, वह सब मैं ही हूँ। भरतनन्दन! सम्पूर्ण भूत मुझसे ही उत्पन्न होते हैं और मेरे ही स्वरूप हैं। फिर भी मेरी मायासे मोहित रहते हैं, इसलिये मुझे नहीं जान पाते। राजन्! इस प्रकार देवता, असुर और मनुष्योंसहित समस्त संसारका मुझसे ही जन्म और मुझमें ही लय होता है।

चारों वर्णोंके कर्म और उनके फलोंका वर्णन तथा धर्मकी वृद्धि और पापके क्षय होनेका उपाय

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने सम्पूर्ण जगत्को अपनेसे उत्पन्न बतलाकर धर्मनन्दन युधिष्ठिरसे पवित्र धर्मोंका वर्णन आरम्भ किया।

धर्म तथा उसका फल सुननेके लिये भगवान्का आदेश

शृणु पाण्डव तत्त्वेन पवित्रं पापनाशनम्।
कथ्यमानं मया पुण्यं धर्मशास्त्रफलं महत्॥
यः शृणोति शुचिर्भूत्वा एकचित्तस्तपोयुतः।
स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं धर्म्यं ज्ञेयं युधिष्ठिर॥
श्रद्दधानस्य तस्येह यत् पापं पूर्वसंचितम्।
विनश्यत्याशु तत् सर्वं मद्भक्तस्य विशेषतः॥

पाण्डुनन्दन! मेरेद्वारा कहे हुए धर्मशास्त्रका पुण्यमय, पापनाशक, पवित्र और महान् फल यथार्थरूपसे सुनो। युधिष्ठिर! जो मनुष्य पवित्र और एकाग्रचित्त होकर तपस्यामें संलग्न हो स्वर्ग, यश और आयु प्रदान करनेवाले जाननेयोग्य धर्मका श्रवण करता है, उस श्रद्धालु पुरुषके—विशेषतः मेरे भक्तके पूर्वसंचित जितने पाप होते हैं, वे सब तत्काल नष्ट हो जाते हैं।

युधिष्ठिरने पूछा—देवेश्वर! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रकी पृथक्-पृथक् कैसी गति होती है?

ब्राह्मणके धर्म

श्रीभगवानुवाच

शृणु वर्णक्रमेणैव धर्मं धर्मभृतां वर।
नास्ति किंचिन्नरश्रेष्ठ ब्राह्मणस्य तु दुष्कृतम्॥
शिखायज्ञोपवीता ये संध्यां ये चाप्युपासते।
यैश्च पूर्णाहुतिः प्राप्ता विधिवज्जुह्वते च ये॥
वैश्वदेवं च ये चक्रुः पूजयन्त्यतिथींश्च ये।
नित्यं स्वाध्यायशीलाश्च जपयज्ञपराश्च ये॥
सायं प्रातर्हुताशाश्च शूद्रभोजनवर्जिताः।
दम्भानृतविमुक्ताश्च स्वदारनिरताश्च ये।
पञ्चयज्ञपरा ये च येऽग्निहोत्रमुपासते॥
दहन्ति दुष्कृतं येषां हूयमानास्त्रयोऽग्नयः।
नष्टदुष्कृतकर्माणो ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते॥

श्रीभगवान्ने कहा—नरश्रेष्ठ धर्मराज! ब्राह्मणादि वर्णोंके क्रमसे धर्मका वर्णन सुनो। ब्राह्मणके लिये कुछ भी दुष्कर नहीं है। जो ब्राह्मण शिखा और यज्ञोपवीत धारण करते हैं, संध्योपासना करते हैं, पूर्णाहुति देते हैं, विधिवत् अग्निहोत्र करते हैं, बलिवैश्वदेव और अतिथियोंका पूजन करते हैं, नित्य स्वाध्यायमें लगे रहते हैं तथा जपयज्ञके परायण हैं; जो प्रातःकाल और सायंकाल होम करनेके बाद ही अन्न ग्रहण करते हैं, शूद्रका अन्न नहीं खाते हैं, दम्भ और मिथ्या-भाषणसे दूर रहते हैं, अपनी ही स्त्रीसे प्रेम रखते हैं तथा पञ्चयज्ञ और अग्निहोत्र करते रहते हैं; जिनके सब पापोंको हवन की जानेवाली तीनों अग्नियाँ भस्म कर देती हैं, वे ब्राह्मण पापरहित होकर ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं।

क्षत्रियके धर्म

क्षत्रियोऽपि स्थितो राज्ये स्वधर्मपरिपालकः।
सम्यक् प्रजा पालयिता षड्भागनिरतः सदा॥
यज्ञदानरतो धीरः स्वदारनिरतः सदा।
शास्त्रानुसारी तत्त्वज्ञः प्रजाकार्यपरायणः॥
विप्रेभ्यः कामदो नित्यं भृत्यानां भरणे रतः।
सत्यसंधः शुचिर्नित्यं लोभदम्भविवर्जितः।
क्षत्रियोऽप्युत्तमां याति गतिं देवनिषेविताम्॥

क्षत्रियोंमें भी जो राज्यसिंहासनपर आसीन होनेके बाद अपने धर्मका पालन और प्रजाकी भलीभाँति रक्षा करता है, लगानके रूपमें प्रजाकी आमदनीका छठा भाग लेकर सदा उतनेसे ही संतोष करता है, यज्ञ और दान करता रहता है, धैर्य रखता है, अपनी स्त्रीसे संतुष्ट रहता है, शास्त्रके अनुसार चलता है,

तत्त्वको जानता है और प्रजाकी भलाईके कार्यमें संलग्न रहता है तथा ब्राह्मणोंकी इच्छा पूर्ण करता है, पोष्यवर्गके पालनमें तत्पर रहता है, प्रतिज्ञाको सत्य करके दिखाता है, सदा पवित्र रहता है एवं लोभ और दम्भको त्याग देता है, उस क्षत्रियको भी देवताओं-द्वारा सेवित उत्तम गतिकी प्राप्ति होती है।

वैश्यके धर्म

कृषिगोपालनिरतो धर्मान्वेषणतत्परः ।
दानधर्मेऽपि निरतो विप्रशुश्रूषकस्तथा ॥
सत्यसंधः शुचिर्नित्यं लोभदम्भविवर्जितः ।
ऋजुः स्वदारनिरतो हिंसाद्रोहविवर्जितः ॥
वणिग्धर्मान्न मुञ्चन् वै देवब्राह्मणपूजकः ।
वैश्यः स्वर्गतिमाप्नोति पूज्यमानोऽप्सरोगणैः ॥

जो वैश्य कृषि और गोपालनमें लगा रहता है, धर्मका अनुसंधान किया करता है; दान, धर्म और ब्राह्मणोंकी सेवामें संलग्न रहता है तथा सत्यप्रतिज्ञ, नित्य पवित्र, लोभ और दम्भसे रहित, सरल, अपनी ही स्त्रीसे प्रेम रखनेवाला और हिंसा-द्रोहसे दूर रहनेवाला है, जो कभी भी वैश्यधर्मका त्याग नहीं करता और देवता तथा ब्राह्मणोंकी पूजामें लगा रहता है, वह अप्सराओंसे सम्मानित होकर स्वर्गलोकमें गमन करता है।

शूद्रके धर्म

त्रयाणामपि वर्णानां शुश्रूषानिरतः सदा ।
विशेषतस्तु विप्राणां दासवद् यस्तु तिष्ठति ॥
अयाचितप्रदाता च सत्यशौचसमन्वितः ।
गुरुदेवार्चनरतः परदारविवर्जितः ॥
परपीडामकृत्वैव भृत्यवर्गं बिभर्ति यः ।
शूद्रोऽपि स्वर्गमाप्नोति जीवानामभयप्रदः ॥

शूद्रोंमेंसे जो सदा तीनों वर्णोंकी सेवा करता और विशेषतः ब्राह्मणोंकी सेवामें दासकी भाँति खड़ा रहता है; जो विना माँगे ही दान देता है, सत्य और शौचका पालन करता है, गुरु और देवताओंकी पूजामें प्रेम रखता है, परस्त्रीके संसर्गसे दूर रहता है, दूसरोंको कष्ट न पहुँचाकर अपने कुटुम्बका पालन-पोषण करता है और सब जीवोंको अभय-दान कर देता है, उस शूद्रको भी स्वर्गकी प्राप्ति होती है।

अपने जातिगत धर्मका निष्काम भावसे आचरण करनेपर मुक्ति प्राप्त होती है

एवं धर्मात् परं नास्ति महत्संसारमोक्षणम् ।
न च धर्मात्परं किंचित् पापकर्मव्यपोहनम् ॥
तस्माद् धर्मः सदा कार्यो मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम् ।
न हि धर्मानुरक्तानां लोके किंचन दुर्लभम् ॥
स्वयम्भूविहितो धर्मो यो यस्येह नरेश्वर ।
स तेन क्षपयेत् पापं सम्यगाचरितेन च ॥
सहजं यद् भवेत् कर्म न तत् त्याज्यं हि केनचित् ।
स एव तस्य धर्मो हि तेन सिद्धिं स गच्छति ॥
विगुणोऽपि स्वधर्मस्तु पापकर्म व्यपोहति ।
एवमेव तु धर्मोऽपि क्षीयते पापवर्धनात् ॥

इस प्रकार धर्मसे बढ़कर दूसरा कोई साधन नहीं है। वही निष्काम भावसे आचरण करनेपर संसार-बन्धनसे मुक्ति दिलाता है। धर्मसे बढ़कर पाप-नाशका और कोई उपाय नहीं है। इसलिये इस दुर्लभ मनुष्य-जीवनको पाकर सदा धर्मका पालन करते रहना चाहिये। धर्मानुरागी पुरुषोंके लिये संसारमें कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है। नरेश्वर! ब्रह्माजीने इस जगत्‌में जिस वर्णके लिये जैसे धर्मका विधान किया है, वह वैसे ही धर्मका भलीभाँति आचरण करके अपने पापोंको नष्ट कर सकता है। मनुष्यका जो जातिगत कर्म हो, उसका किसीको त्याग नहीं करना चाहिये। वही उसके लिये धर्म होता है और उसीका निष्काम भावसे आचरण करनेपर मनुष्यको सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त हो जाती है। अपना धर्म गुणरहित होनेपर

भी पापको नष्ट करता है। इसी प्रकार यदि मनुष्यके पापकी वृद्धि होती है तो वह उसके धर्मको क्षीण कर डालता है।

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! देवदेवेश्वर! शुभ और अशुभकी वृद्धि और ह्रास—क्रमसे किस प्रकार होते हैं? इसे सुननेकी मेरी बड़ी उत्कण्ठा है।

अधिक पाप-पुण्यसे थोड़े पुण्य-पापका नाश होता है

श्रीभगवानुवाच

शृणु पार्थिव तत्सर्वं धर्मसूक्ष्मं सनातनम्।
दुर्विज्ञेयतमं नित्यं यत्र मग्ना महाजनाः॥
यथैव शीतमुदकमुष्णेन बहुना वृतम्।
भवेत्तु तत्क्षणादुष्णं शीतत्वं च विनश्यति॥
यथोष्णं वा भवेदल्पं शीतेन बहुना वृतम्।
शीतलं च भवेत् सर्वमुष्णत्वं च विनश्यति॥
एवं च यद् भवेद् भूरि सुकृतं वापि दुष्कृतम्।
तदल्पं क्षपयेच्छीघ्रं नात्र कार्या विचारणा॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन्! तुमने जो धर्मका तत्त्व पूछा है, वह सूक्ष्म, सनातन, अत्यन्त दुर्विज्ञेय और नित्य है, बड़े-बड़े लोग भी उसमें मग्न हो जाते हैं, वह सब तुम सुनो। जिस प्रकार थोड़ेसे ठंढे जलको बहुत गरम जलमें मिला दिया जाता है तो वह तत्क्षण गरम हो जाता है और उसका ठंढापन नष्ट हो जाता है। जब थोड़ा-सा गरम जल बहुत शीतल जलमें मिला दिया जाता है, तब वह सब-का-सब शीतल हो जाता है और उसकी उष्णता नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार जो पुण्य या पाप बहुत अधिक होता है, वह थोड़े पाप-पुण्यको शीघ्र ही नष्ट कर देता है, इसमें कोई संशय नहीं है।

पाप-पुण्य छिपानेपर बढ़ते हैं और प्रकट करनेपर घटते हैं

समत्वे सति राजेन्द्र तयोः सुकृतपापयोः।
गूहितस्य भवेद् वृद्धिः कीर्तितस्य भवेत् क्षयः॥
ख्यापनेनानुतापेन प्रायः पापं विनश्यति।
तथा कृतस्तु राजेन्द्र धर्मो नश्यति मानद॥
तावुभौ गूहितौ सम्यग् वृद्धिं यातो न संशयः।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन न पापं गूहयेद् बुधः॥
तस्मादेतत् प्रयत्नेन कीर्तयेत् क्षयकारणात्।
तस्मात् संकीर्तयेत् पापं नित्यं धर्मं च गूहयेत्॥

राजेन्द्र! जब वे पुण्य-पाप दोनों समान होते हैं, तब जिसको गुप्त रक्खा जाता है, उसकी वृद्धि होती है और जिसका वर्णन कर दिया जाता है, उसका क्षय हो जाता है। सम्मान देनेवाले नरेश्वर! पापको दूसरोंसे कहने और उसके लिये पश्चात्ताप करनेसे प्रायः उसका नाश हो जाता है। इसी प्रकार धर्म भी अपने मुँहसे दूसरोंके सम्मुख प्रकट करनेपर नष्ट होता है। छिपानेपर निःसंदेह ये दोनों ही अधिक बढ़ते हैं। इसलिये समझदार मनुष्यको चाहिये कि सर्वथा उद्योग करके अपने पापको प्रकट कर दे, उसे छिपानेकी कोशिश न करे। पापका कीर्तन पापके नाशका कारण होता है, इसलिये सदा-सर्वदा पापको प्रकट करना और धर्मको गुप्त रखना चाहिये।

व्यर्थ जन्म, व्यर्थ दान और व्यर्थ जीवनका वर्णन, सात्त्विक, राजस, तामस दानोंके लक्षण और फल, दानके योग्य पात्र और भक्तोंकी श्रेष्ठता

धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर इस प्रकार भगवान् अच्युतके वचन सुनकर फिर भी श्रीहरिसे अन्य धर्म पूछने लगे—'पुरुषोत्तम! कितने जन्म व्यर्थ समझे जाते हैं? कितने प्रकारके दान निष्फल होते हैं? और किन-किन मनुष्योंका जीवन निरर्थक माना गया है? पुरुषोत्तम! जनार्दन! मनुष्य किस अवस्थामें दिये हुए दानके फलका इस लोकमें अनुभव करता है? केशव! गर्भमें स्थित हुआ मनुष्य किस दानका फल भोगता है? श्रीकृष्ण! बाल, युवा और वृद्ध अवस्थाओं-

में मनुष्य किस-किस दानका फल भोगता है ? भगवन् ! सात्त्विक, राजस और तामस दान कैसे होते हैं ? प्रभो ! उनसे किसकी तृप्ति होती है ? उत्तम दानका स्वरूप क्या है ? और उससे मनुष्योंको किस फलकी प्राप्ति होती है ? कौन-सा दान ऊर्ध्वगतिको ले जाता है ? कौन-सा मध्यम गतिको और कौन-सा नीच गतिको ले जाता है ? देवाधिदेव ! यह सब मुझे बतानेकी कृपा कीजिये । मधुसूदन ! मैं इस विषयको जानना चाहता हूँ और इसे सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है; क्योंकि आपके वचन सत्य और पुण्यमय हैं ।'

चौदह जन्म व्यर्थ, पचपन दान निष्फल और छः जीवन निरर्थक होते हैं

श्रीभगवानुवाच

शृणु राजन् यथान्यायं वचनं तथ्यमुत्तमम् ।
कथ्यमानं मया पुण्यं सर्वपापप्रणाशनम् ॥
वृथा च दश जन्मानि चत्वारि च नराधिप ।
वृथा दानानि पञ्चाशत्पञ्चैव च यथाक्रमम् ॥
वृथा च जीवितं येषां ते च षट् परिकीर्तिताः ।
अनुक्रमेण वक्ष्यामि तानि सर्वाणि पार्थिव ॥

श्रीभगवान्ने कहा—राजन् ! मैं तुम्हें न्यायके अनुसार यथार्थ एवं उत्तम उपदेश सुनाता हूँ; ध्यान देकर सुनो । यह विषय परम पवित्र और सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाला है । नरेश्वर ! चौदह जन्म व्यर्थ समझे जाते हैं । क्रमशः पचपन प्रकारके दान निष्फल होते हैं और जिन-जिन मनुष्योंका जीवन निरर्थक होता है, उनकी संख्या छः बतलायी गयी है । भूपाल ! इन सबका मैं क्रमशः वर्णन करूँगा ।

चौदह जन्म व्यर्थ

धर्मघ्नानां वृथा जन्म लुब्धानां पापिनां तथा ।
वृथा पाकं च येऽश्नन्ति परदाररताश्च ये ।
पाकभेदकरा ये च ये च स्युः सत्यवर्जिताः ॥
मृष्टमश्नाति यश्चैकः क्लिश्यमानैस्तु बान्धवैः ।
पितरं मातरं चैव उपाध्यायं गुरुं तथा ।
मातुलं मातुलानीं च यो निहन्याच्छपेत वा ॥
ब्राह्मणश्चैव यो भूत्वा संध्योपासनवर्जितः ।
निःस्वाहो निःस्वधश्चैव शूद्राणामन्नभुग् द्विजः ॥
मम वा शंकरस्याथ ब्रह्मणो वा युधिष्ठिर ।
अथवा ब्राह्मणानां तु ये न भक्ता नराधमाः ।
वृथा जन्मान्यथैतेषां पापिनां विद्धि पाण्डव ॥

जो धर्मका नाश करनेवाले, लोभी, पापी, बलिवैश्वदेव किये बिना भोजन करनेवाले, परस्त्रीगामी, भोजनमें भेद करनेवाले और असत्यभाषी हैं—उनका जन्म वृथा है । पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर ! जो बन्धु-बान्धवोंको क्लेश देकर अकेले ही मिठाई खानेवाले हैं, जो माता-पिता, अध्यापक-गुरु और मामा-मामीको मारते या गाली देते हैं, जो ब्राह्मण होकर भी संध्योपासनसे रहित हैं, जो अग्निहोत्रका त्याग करनेवाले हैं, जो श्राद्ध-तर्पणसे दूर रहनेवाले हैं, जो ब्राह्मण होकर शूद्रका अन्न खानेवाले हैं तथा जो मेरे, शंकरजीके, ब्रह्माजीके अथवा ब्राह्मणोंके भक्त नहीं हैं—ये चौदह प्रकारके मनुष्य अधम होते हैं । इन्हीं पापियोंके जन्मको व्यर्थ समझना चाहिये ।

पचपन दान निष्फल

अश्रद्धयापि यद् दत्तमवमानेन वापि यत् ।
दम्भार्थमपि यद् दत्तं यत् पाखण्डिहितं नृप ॥
शूद्राचाराय यद् दत्तं यद् दत्त्वा चानुकीर्तितम् ।
रोषयुक्ते च यद् दत्तं यद् दत्तमनुशोचितम् ॥
दम्भार्जितं च यद् दत्तं यच्च वाप्यनृतार्जितम् ।
ब्राह्मणस्वं च यद् दत्तं चौर्येणाप्यर्जितं च यत् ॥
अभिशस्ताहृतं यत्तु यद् दत्तं पतिते द्विजे ।
निर्ब्रह्माभिहृतं यत्तु यद् दत्तं सर्वयाचकैः ॥
व्रात्यैस्तु यद्धृतं दानमारूढपतितैश्च यत् ।
यद् दत्तं स्वैरिणीभर्तुः श्वशुराननुवर्तिने ॥
यद् ग्रामयाचकहृतं यत् कृतघ्नहृतं तथा ।
उपपातकिने दत्तं वेदविक्रयिणे च यत् ॥
स्त्रीजिताय च यद् दत्तं यद् दत्तं राजसेविने ।

गणकाय च यद् दत्तं यच्च कारणिकाय च ॥
वृषलीपतये दत्तं यद् दत्तं शस्त्रजीविने ।
भृतकाय च यद् दत्तं व्यालग्राहिहृतं च यत् ॥
पुरोहिताय यद् दत्तं चिकित्सकहृतं च यत् ।
यद् वणिक्कर्मिणे दत्तं क्षुद्रमन्त्रोपजीविने ॥
यच्छूद्रजीविने दत्तं यच्च देवलकाय च ।
देवद्रव्याशिने दत्तं यद् दत्तं चित्रकर्मिणे ॥
रंगोपजीविने दत्तं यच्च मांसोपजीविने ।
सेवकाय च यद् दत्तं यद् दत्तं ब्राह्मणब्रुवे ॥
अदेशिने च यद् दत्तं दत्तं वार्धुषिकाय च ।
यदनाचारिणे दत्तं यत्तु दत्तमनग्नये ॥
असंध्योपासिने दत्तं यच्छूद्रग्रामवासिने ।
यन्मिथ्यालिङ्गिने दत्तं दत्तं सर्वाशिने च यत् ॥
नास्तिकाय च यद् दत्तं धर्मविक्रयिणे च यत् ।
वराकाय च यद् दत्तं यद् दत्तं कूटसाक्षिणे ॥
ग्रामकूटाय यद् दत्तं दानं पार्थिवपुङ्गव ।
वृथा भवति तत्सर्वं नात्र कार्या विचारणा ॥
विप्रनामधरा एते लोलुपा ब्राह्मणाधमाः ।
नात्मानं तारयन्त्येते न दातारं युधिष्ठिर ॥
एतेभ्यो दत्तमात्राणि दानानि सुबहून्यपि ।
वृथा भवन्ति राजेन्द्र भस्मन्याज्याहुतिर्यथा ॥
एतेषु यत् फलं किंचिद् भविष्यति कथंचन ।
राक्षसाश्च पिशाचाश्च तद् विलुम्पन्ति हर्षिताः ॥
वृथा ह्येतानि दत्तानि कथितानि समासतः ।

राजन्! जो दान अश्रद्धा या अपमानके साथ दिया जाता है, जिसे दिखावेके लिये दिया जाता है, जो पाखण्डीको प्राप्त हुआ है, जो शूद्रके समान आचरण-वाले पुरुषको दिया जाता है, जिसे देकर अपने ही मुँहसे बारंबार बखान किया गया है, जिसे रोषपूर्वक दिया गया है तथा जिसको देकर पीछेसे उसके लिये शोक किया जाता है; जो दम्भसे उपार्जित अन्नका, झूठ बोलकर लाये हुए अन्नका, ब्राह्मणके धनका, चोरी करके लाये हुए द्रव्यका तथा कलंकी पुरुषके घरसे लाये हुए धनका दान किया गया है, जो पतित ब्राह्मणको दिया गया है, जो दान वेदविहीन पुरुषोंको और सबके यहाँ याचना करनेवालोंको दिया जाता है तथा जो संस्कारहीन पतितोंको तथा एक बार संन्यास लेकर फिर गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करनेवाले पुरुषोंको दिया जाता है, जो दान वेश्यागामीको और ससुरालमें रहकर गुजारा करनेवाले ब्राह्मणको दिया गया है, जिस दानको समूचे गाँवसे याचना करनेवाले और कृतघ्नने ग्रहण किया है एवं जो दान उपपातकीको, वेद बेचनेवालेको, स्त्रीके वशमें रहनेवालेको, राजसेवकको, ज्योतिषीको, तान्त्रिकको, शूद्रजातिकी स्त्रीके साथ सम्बन्ध रखनेवालेको, अस्त्र-शस्त्रसे जीविका चलानेवालेको, नौकरी करनेवालेको, साँप पकड़नेवालेको और पुरोहिती करनेवालेको दिया जाता है तथा जिस दानको वैद्यने ग्रहण किया है; राजश्रेष्ठ! जो दान बनियेका काम करनेवालेको, क्षुद्र मन्त्र जपकर जीविका चलानेवालेको, शूद्रके यहाँ गुजारा करनेवालेको, वेतन लेकर मन्दिरमें पूजा करनेवालेको, देवोत्तर सम्पत्तिको खा जानेवालेको, तस्वीर बनानेका काम करनेवालेको, रंगभूमिमें नाच-कूदकर जीविका चलानेवालेको, मांस बेचकर जीवननिर्वाह करनेवालेको, सेवकका काम करनेवालेको, ब्राह्मणोचित आचारसे हीन होकर भी अपनेको ब्राह्मण बतानेवालेको, उपदेश देनेकी शक्तिसे रहितको, ब्याजखोरको, अनाचारीको, अग्निहोत्र न करनेवालेको, संध्योपासनसे अलग रहनेवालेको, शूद्रके गाँवमें निवास करनेवालेको, झूठे वेष धारण करनेवालेको, सबके साथ और सब कुछ खानेवालेको, नास्तिकको, धर्मविक्रेताको, नीच वृत्तिवालेको, झूठी गवाही देनेवालेको तथा कूटनीतिका आश्रय लेकर गाँवके लोगोंमें लड़ाई-झगड़ा करानेवाले ब्राह्मणको दिया जाता है, वह सब निष्फल होता है, इसमें कोई विचारणीय बात नहीं है।

युधिष्ठिर! ये सब विषयलोलुप, विप्रनामधारी

ब्राह्मणाधम हैं। ये न तो अपना उद्धार कर सकते हैं और न दाताका ही। राजेन्द्र ! उपर्युक्त ब्राह्मणोंको दिये हुए दान बहुत हों, तो भी राखमें डाली हुई घीकी आहुतिके समान व्यर्थ हो जाते हैं। उन्हें दिये गये दानका जो कुछ फल होनेवाला होता है, उसे राक्षस और पिशाच प्रसन्नताके साथ लूट ले जाते हैं। युधिष्ठिर ! ये सब वृथा दान संक्षेपमें बताये गये।

छः जीवन निरर्थक

जीवितं तु तथा ह्येषां तच्छृणुष्व युधिष्ठिर ॥
ये मां न प्रतिपद्यन्ते शंकरं वा नराधमाः ।
ब्राह्मणान् वा महीदेवान् वृथा जीवन्ति ते नराः ॥
हेतुशास्त्रेषु ये सक्ताः कुदृष्टिपथमाश्रिताः ।
देवान् निन्दन्त्यनाचारा वृथा जीवन्ति ते नराः ॥
कुशलैः कृतशास्त्राणि पठित्वा ये नराधमाः ।
विप्रान् निन्दन्ति यज्ञांश्च वृथा जीवन्ति ते नराः ॥
ये दुर्गां वा कुमारं वा वायुमग्निं जलं रविम् ।
पितरं मातरं चैव गुरुमिन्द्रं निशाकरम् ।
मूढा निन्दन्त्यनाचारा वृथा जीवन्ति ते नराः ॥
विद्यमाने धने यस्तु दानधर्मविवर्जितः ।
मृष्टमश्नाति यश्चैको वृथा जीवति सोऽपि च ॥
वृथा जीवितमाख्यातं दानकालं ब्रवीमि ते ॥

अब जिन-जिन मनुष्योंका जीवन व्यर्थ है, उनका परिचय दे रहा हूँ; सुनो। जो नराधम मेरी, भगवान् शंकरकी अथवा भूमण्डलके देवता ब्राह्मणोंकी शरण नहीं लेते, वे मनुष्य व्यर्थ ही जीते हैं। जिनकी कोरे तर्कशास्त्रमें ही आसक्ति है, जो नास्तिक-पथका अवलम्बन करते हैं, जिन्होंने आचार त्याग दिया है तथा जो देवताओंकी निन्दा करते हैं, वे मनुष्य व्यर्थ ही जी रहे हैं। जो नराधम नास्तिकोंके शास्त्र पढ़कर ब्राह्मण और यज्ञोंकी निन्दा करते हैं, वे व्यर्थ ही जीवन धारण करते हैं। जो मूढ़ दुर्गा, स्वामी कार्तिकेय, वायु, अग्नि, जल, सूर्य, माता-पिता, गुरु, इन्द्र तथा चन्द्रमाकी निन्दा करते और आचारका पालन नहीं करते, वे मनुष्य भी निरर्थक ही जीवन व्यतीत करते हैं। जो धन होनेपर भी दान और धर्म नहीं करता तथा दूसरोंको न देकर अकेले ही मिठाई खाया करता है, वह भी व्यर्थ ही जीता है। इस प्रकार व्यर्थ जीवनकी बात बतायी गयी, अब दानका समय बताता हूँ।

किस दानका फल किस समय मिलता है ?

तमोनिविष्टचित्तेन दत्तं दानं तु यद् भवेत् ।
तदस्य फलमश्नाति नरो गर्भगतो नृप ॥
ईर्ष्यामत्सरसंयुक्तो दम्भार्थं चार्थकारणात् ।
ददाति दानं यो मर्त्यो बालभावे तदश्नुते ॥
भोक्तुं भोगमशक्तस्तु व्याधिभिः पीडितो भृशम् ।
ददाति दानं यो मर्त्यो वृद्धभावे तदश्नुते ॥
श्रद्धायुक्तः शुचिः स्नातः प्रसन्नेन्द्रियमानसः ।
ददाति दानं यो मर्त्यो यौवने स तदश्नुते ॥
स्वयं नीत्वा तु यद् दानं भक्त्या पात्रे प्रदीयते ।
तत्सार्वकालिकं विद्धि दानमामरणान्तिकम् ॥

राजन् ! तमोगुणमें आविष्ट हुए चित्तवाले मनुष्यके द्वारा जो दान दिया जाता है, उसका फल मनुष्य गर्भावस्थामें भोगता है। ईर्ष्या और मत्सरतासे युक्त मनुष्य अर्थलोभसे और दम्भपूर्वक जिस दानको देता है, उसका फल वह बाल्यावस्थामें भोगता है। भोगोंको भोगनेमें आसक्त, अत्यन्त व्याधिसे पीड़ित मनुष्य जिस दानको देता है, उसके फलका उपभोग वह वृद्धावस्थामें करता है। जो मनुष्य स्नान करके पवित्र हो मन और इन्द्रियोंको प्रसन्न रखकर श्रद्धाके साथ दान करता है, उसके फलको वह यौवनावस्थामें भोगता है। जो स्वयं देने योग्य वस्तु ले जाकर भक्तिपूर्वक सत्पात्रको दान करता है, उसको मरणपर्यन्त हर समय उस दानका फल प्राप्त होता है; ऐसा समझो।

सात्त्विक, राजस, तामस दान

राजसं सात्त्विकं चापि तामसं च युधिष्ठिर ।
दानं दानफलं चैव गतिं च त्रिविधां शृणु ॥
दानं दातव्यमित्येव मतिं कृत्वा द्विजाय वै ।
उपकारवियुक्ताय यद् दत्तं तद्धि सात्त्विकम् ॥
श्रोत्रियाय दरिद्राय बहुभृत्याय पाण्डव ।
दीयते यत् प्रहृष्टेन तत् सात्त्विकमुदाहृतम् ॥
वेदाक्षरविहीनाय यत्तु पूर्वोपकारिणे ।
समृद्धाय च यद् दत्तं तद् दानं राजसं स्मृतम् ॥
सम्बन्धिने च यद् दत्तं प्रमत्ताय च पाण्डव ।
फलार्थिभिरपात्राय तद् दानं राजसं स्मृतम् ॥

युधिष्ठिर ! दान और उसका फल सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे तीन-तीन प्रकारका होता है तथा उसकी गति भी तीन प्रकारकी होती है, इसे सुनो । दान देना कर्तव्य है—ऐसा समझकर अपना उपकार न करनेवाले ब्राह्मणको जो दान दिया जाता है, वही सात्त्विक है । पाण्डुनन्दन ! जिसका कुटुम्ब बहुत बड़ा हो तथा जो दरिद्र और वेदका विद्वान् हो, ऐसे ब्राह्मणको प्रसन्नतापूर्वक जो कुछ दिया जाता है, वह भी सात्त्विक कहा जाता है । परंतु जो वेदका एक अक्षर भी नहीं जानता, जिसके घरमें काफी सम्पत्ति मौजूद है तथा जो पहले कभी अपना उपकार कर चुका है, ऐसे ब्राह्मणको दिया हुआ दान राजस माना गया है । पाण्डव ! अपने सम्बन्धी और प्रमादीको दिया हुआ, फलकी इच्छा रखनेवाले मनुष्योंके द्वारा दिया हुआ तथा अपात्रको दिया हुआ दान भी राजस ही है ।

वैश्वदेवविहीनाय दानमश्रोत्रियाय च ।
दीयते तस्करायापि तद् दानं तामसं स्मृतम् ॥
सरोषमवधूतं च क्लेशयुक्तमवज्ञया ।
सेवकाय च यद् दत्तं तत् तामसमुदाहृतम् ॥
देवा पितृगणाश्चैव मुनयश्चाग्नयस्तथा ।
सात्त्विकं दानमश्नन्ति तुष्यन्ति च नरेश्वर ॥
दानवा दैत्यसंघाश्च ग्रहा यक्षाः सराक्षसाः ।
राजसं दानमश्नन्ति वर्जितं पितृदैवतैः ॥
पिशाचाः प्रेतसंघाश्च कश्मला ये मलीमसाः ।
तामसं दानमश्नन्ति गतिं च त्रिविधां शृणु ॥

जो ब्राह्मण बलिवैश्वदेव नहीं करता, वेदका ज्ञान नहीं रखता तथा चोरी किया करता है, उसको दिया हुआ दान तामस है । क्रोध, तिरस्कार, क्लेश और अवहेलनापूर्वक तथा सेवकको दिया हुआ दान भी तामस ही बतलाया गया है । नरेश्वर ! सात्त्विक दानको देवता, पितर, मुनि और अग्नि ग्रहण करते हैं तथा उससे इन्हें बड़ा संतोष होता है । राजस दानका दानव, दैत्य, ग्रह, यक्ष और राक्षस उपभोग करते हैं, पितर और देवता नहीं करते । तामस दानका फल पापी और मलिन कर्म करनेवाले प्रेत एवं पिशाच भोगते हैं । अब त्रिविध गतिका वर्णन सुनो ।

किस दानका क्या फल होता है ?

सात्त्विकानां तु दानानामुत्तमं फलमश्नुते ।
मध्यमं राजसानां तु तामसानां तु पश्चिमम् ॥
अभिगम्योपनीतानां दानानां फलमुत्तमम् ।
मध्यमं तु समाहूय जघन्यं याचते फलम् ॥
अयाचितप्रदाता यः स याति गतिमुत्तमाम् ।
समाहूय तु यो दद्यान्मध्यमां स गतिं व्रजेत् ।
याचितो यश्च वै दद्याज्जघन्यां स गतिं व्रजेत् ॥
उत्तमा दैविकी ज्ञेया मध्यमा मानुषी गतिः ।
गतिर्जघन्या तिर्यक्षु गतिरेषा त्रिधा स्मृता ॥
पात्रभूतेषु विप्रेषु संश्रितेष्वाहिताग्निषु ।
यत्तु निक्षिप्यते दानमक्षय्यं सम्प्रकीर्तितम् ॥

सात्त्विक दानोंका फल उत्तम, राजस दानोंका मध्यम और तामस दानोंका फल अधम होता है । जो दान सामने जाकर दिया जाता है, उसका फल

उत्तम होता है; जो दान पात्रको बुलाकर दिया जाता है, उसका फल मध्यम होता है; और जो याचना करनेवालेको दिया जाता है, उसका फल जघन्य होता है। जो याचना न करनेवालेको देता है, वह उत्तम गतिको प्राप्त करता है; जो बुलाकर देता है, वह मध्यम गतिको जाता है; और जो याचना करनेवालेको देता है, वह नीची गति पाता है। दैवीगतिको उत्तम समझना चाहिये। मानुषी गति मध्यम है और तिर्यक् योनियाँ नीच गति हैं—यों इनका तीन प्रकार माना गया है। दानके उत्तम पात्र अग्निहोत्री ब्राह्मणोंको जो दान दिया जाता है, वह अक्षय बतलाया गया है।

किसको दान देना चाहिये ?

श्रोत्रियाणां दरिद्राणां भरणं कुरु पार्थिव।
समृद्धानां द्विजातीनां कुर्यास्तेषां तु रक्षणम्॥
दरिद्रान् वित्तहीनांश्च प्रदानैः सुष्ठु पूजय।
आतुरस्यौषधैः कार्यं नीरुजस्य किमौषधैः॥
पापं प्रतिगृहीतारं प्रदातुरुपगच्छति।
प्रतिग्रहीतुर्यत् पुण्यं प्रदातारमुपैति तत्।
तस्माद् दानं सदा कार्यं परत्र हितमिच्छता॥
वेदविद्यावदातेषु सदा शूद्रान्नवर्जिषु।
प्रयत्नेन विधातव्यो महादानमयो निधिः॥
येषां दाराः प्रतीक्ष्यन्ते सहस्रस्येव लम्भनम्।
भुक्तशेषस्य भक्तस्य तान् निमन्त्रय पाण्डव॥
आमन्त्र्य तु निराशानि न कर्तव्यानि भारत।
कुलानि क्षुदरिद्राणि तेषामाशा हता भवेत्॥

अतः भूपाल! जो वेदके विद्वान् होते हुए दरिद्र हों, उनके भरण-पोषणका तुम स्वयं प्रबन्ध करो और सम्पत्तिशाली द्विजोंकी रक्षा करते रहो। धनहीन दरिद्र ब्राह्मणोंको दान देकर उनकी भलीभाँति पूजा करो; क्योंकि रोगीको ही ओषधिकी आवश्यकता है, नीरोगको ओषधिसे क्या प्रयोजन? दाताका पाप दानके साथ ही दान लेनेवालेके पास चला जाता है और उसका पुण्य दाताको प्राप्त हो जाता है, अतः परलोकमें अपना हित चाहनेवाले पुरुषको सदा दान करते रहना चाहिये। जो वेद-विद्या पढ़कर अत्यन्त शुद्ध आचार-विचारसे रहते हों और शूद्रोंका अन्न कभी नहीं ग्रहण करते हों; ऐसे विद्वानोंको प्रयत्नपूर्वक बड़े-बड़े दानोंका भण्डार बनाना चाहिये। पाण्डुनन्दन! जिनकी स्त्रियाँ अपने पतिके भोजनसे बचे हुए अन्नको हजारों गुना लाभ समझकर उसके मिलनेकी प्रतीक्षा किया करती हैं, ऐसे ब्राह्मणोंको तुम भोजनके लिये निमन्त्रित करना। भारत! दरिद्रकुलके ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करके उन्हें निराश न लौटाना; अन्यथा उनकी आशा मारी जायगी।

भक्तोंकी श्रेष्ठता

मद्भक्ता ये नरश्रेष्ठ मद्गता मत्परायणाः।
मद्याजिनो मन्नियमास्तान् प्रयत्नेन पूजयेत्॥
तेषां तु पावनायाहं नित्यमेव युधिष्ठिर।
उभे संध्येऽधितिष्ठामि ह्यस्कन्नं तद् व्रतं मम॥
तस्मादष्टाक्षरं मन्त्रं मद्भक्तैर्वीतकल्मषैः।
संध्याकाले तु जप्तव्यं सततं चात्मशुद्धये॥
अन्येषामपि विप्राणां किल्बिषं हि विनश्यति।
उभे संध्येऽप्युपासीत तस्माद् विप्रो विशुद्धये॥

नरश्रेष्ठ! जो मेरे भक्त हों, मेरेमें मन लगानेवाले हों, मेरी शरणमें हों, मेरा पूजन करते हों और नियमपूर्वक मुझमें ही लगे रहते हों, उनका यत्नपूर्वक पूजन करना चाहिये। युधिष्ठिर! अपने उन भक्तोंको पवित्र करनेके लिये मैं प्रतिदिन दोनों समय संध्यामें व्याप्त रहता हूँ। मेरा यह नियम कभी खण्डित नहीं होता। इसलिये मेरे निष्पाप भक्तजनोंको चाहिये कि वे आत्मशुद्धिके लिये संध्याके समय निरन्तर अष्टाक्षर मन्त्र (ॐ नमो नारायणाय) का जप करते रहें। संध्या

और अष्टाक्षर-मन्त्रका जप करनेसे दूसरे ब्राह्मणोंके भी पाप नष्ट हो जाते हैं, अतः चित्तशुद्धिके लिये प्रत्येक ब्राह्मणको दोनों कालकी संध्या करनी चाहिये।

ब्राह्मणोंके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये ? ब्राह्मण-महिमाका वर्णन

दैवे श्राद्धेऽपि विप्रः स नियोक्तव्योऽजुगुप्सया।
जुगुप्सितस्तु यः श्राद्धं दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥
भारतं मानवो धर्मो वेदाः साङ्गाश्चिकित्सितम्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥
न ब्राह्मणान् परीक्षेत दैवे कर्मणि धर्मवित्।
महान् भवेत् परीवादो ब्राह्मणानां परीक्षणे ॥
श्वत्वं प्राप्नोति निन्दित्वा परीवादात् खरो भवेत्।
कृमिर्भवत्यभिभवात् कीटो भवति मत्सरात् ॥

जो ब्राह्मण इस प्रकार संध्योपासन और जप करता हो, उसे देवकार्य और श्राद्धमें नियुक्त करना चाहिये। उसकी निन्दा कदापि नहीं करनी चाहिये; क्योंकि निन्दा करनेपर ब्राह्मण उस श्राद्धको उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जैसे आग ईंधनको जला डालती है। महाभारत, मनुस्मृति, अङ्गोंसहित चारों वेद और आयुर्वेदशास्त्र—ये चारों सिद्ध उपदेश देनेवाले हैं; अतः तर्कद्वारा इनका खण्डन नहीं करना चाहिये। धर्मको जाननेवाले पुरुषको देवसम्बन्धी कार्यमें ब्राह्मणोंकी परीक्षा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि ब्राह्मणोंकी परीक्षा करनेसे यजमानकी बड़ी निन्दा होती है। ब्राह्मणोंकी निन्दा करनेवाला मनुष्य कुत्तेकी योनिमें जन्म लेता है। उसपर दोषारोपण करनेसे गदहा होता है और उसका तिरस्कार करनेसे कृमि होता है तथा उसके साथ द्वेष करनेसे वह कीड़ेकी योनिमें जन्म पाता है।

यस्यास्येन समश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः।
कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः ॥
उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वयं वस्ते ददाति च।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः।
तस्मात् ते नावमन्तव्या मद्भक्ता हि द्विजाः सदा॥
आरण्यकोपनिषदि ये तु पश्यन्ति मां द्विजाः।
निगूढं निष्कलावस्थं तान् प्रयत्नेन पूजय ॥
स्वगृहे वा प्रवासे वा दिवारात्रमथापि वा।
श्रद्धया ब्राह्मणाः पूज्या मद्भक्ता ये च पाण्डव ॥
नास्ति विप्रसमं दैवं नास्ति विप्रसमो गुरुः।
नास्ति विप्रात् परो बन्धुर्नास्ति विप्रात् परो निधिः ॥
नास्ति विप्रात् परं तीर्थं न पुण्यं ब्राह्मणात् परम्।
न पवित्रं परं विप्रान्न द्विजात् पावनं परम्।
नास्ति विप्रात् परो धर्मो नास्ति विप्रात् परा गतिः॥

जिसके मुखसे स्वर्गवासी देवगण हविष्यका और पितर कव्यका भक्षण करते हैं, उससे बढ़कर कौन प्राणी हो सकता है? ब्राह्मण जन्मसे ही धर्मकी सनातन मूर्ति है। वह धर्मके ही लिये उत्पन्न हुआ है और वह ब्रह्मभावको प्राप्त होनेमें समर्थ है। ब्राह्मण अपना ही खाता, अपना ही पहनता और अपना ही देता है। दूसरे मनुष्य ब्राह्मणकी दयासे ही भोजन पाते हैं। अतः ब्राह्मणोंका कभी अपमान नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे सदा ही मुझमें भक्ति रखनेवाले होते हैं। जो ब्राह्मण आरण्यक तथा उपनिषद्में वर्णित मेरे गूढ़ और निष्कल स्वरूपका ज्ञान रखते हैं, उनका यत्नपूर्वक पूजन करना चाहिये। पाण्डुनन्दन! घरपर या विदेशमें, दिनमें या रातमें मेरे भक्त ब्राह्मणोंकी निरन्तर श्रद्धाके साथ पूजा करते रहना चाहिये। ब्राह्मणके समान कोई देवता नहीं है, ब्राह्मणके समान कोई गुरु नहीं है, ब्राह्मणसे बढ़कर बन्धु नहीं है और ब्राह्मणसे बढ़कर कोई खजाना नहीं है। कोई तीर्थ और पुण्य भी ब्राह्मणसे श्रेष्ठ नहीं है। ब्राह्मणसे बढ़कर पवित्र कोई नहीं है और ब्राह्मणसे बढ़कर पवित्र करनेवाला कोई नहीं है। ब्राह्मणसे श्रेष्ठ कोई धर्म नहीं और ब्राह्मणसे उत्तम कोई गति नहीं है।

पापकर्मसमाक्षिप्तं पतन्तं नरके नरम्।
त्रायते पात्रमप्येकं पात्रभूते तु तद् द्विजे॥
बालाहिताग्नयो ये च शान्ताः शूद्रान्नवर्जिताः।
मामर्चयन्ति मद्भक्तास्तेभ्यो दत्तमिहाक्षयम्॥
प्रदानैः पूजितो विप्रो वन्दितो वापि संस्कृतः।
सम्भावितो वा दृष्टो वा मद्भक्तो दिवमुन्नयेत्॥
ये पठन्ति नमस्यन्ति ध्यायन्ति पुरुषास्तु माम्।
स तान् दृष्ट्वा च स्पृष्ट्वा च नरः पापैः प्रमुच्यते॥
मद्भक्ता मद्गतप्राणा मद्गीता मत्परायणाः।
बीजयोनिविशुद्धा ये श्रोत्रियाः संयतेन्द्रियाः।
शूद्रान्नविरता नित्यं ते पुनन्तीह दर्शनात्॥
स्वयं नीत्वा विशेषेण दानं तेषां गृहेष्वथ।
निवापयेत्तु यद्भक्त्या तद् दानं कोटिसम्मितम्॥
जाग्रतः स्वपतो वापि प्रवासेषु गृहेष्वथ।
हृदये न प्रणश्यामि यस्य विप्रस्य भावतः॥
स पूजितो वा दृष्टो वा स्पृष्टो वापि द्विजोत्तमः।
सम्भाषितो वा राजेन्द्र पुनात्येवं नरं सदा॥
एवं सर्वास्ववस्थासु सर्वदानानि पाण्डव।
मद्भक्तेभ्यः प्रदत्तानि स्वर्गमार्गप्रदानि वै॥

पापकर्मके कारण नरकमें गिरते हुए मनुष्यका एक सुपात्र ब्राह्मण भी उद्धार कर सकता है। सुपात्र ब्राह्मणोंमें भी जो बाल्यकालसे ही अग्निहोत्र करनेवाले, शूद्रका अन्न त्याग देनेवाले तथा शान्त और मेरे भक्त हैं एवं सदा मेरी पूजा किया करते हैं, उनको दिया हुआ दान अक्षय होता है। मेरे भक्त ब्राह्मणको दान देकर उसकी पूजा करने, सिर झुकाने, सत्कार करने, बातचीत करने अथवा दर्शन करनेसे वह मनुष्यको दिव्यलोकमें पहुँचा देता है। जो लोग मेरे गुण और लीलाओंका पाठ करते हैं तथा मुझे नमस्कार करते और मेरा ध्यान करते हैं, उनका दर्शन और स्पर्श करनेवाला मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। जो मेरे भक्त हैं, जिनके प्राण मुझमें ही लगे हुए हैं, जो मेरी महिमाका गान करते हैं और मेरी शरणमें पड़े रहते हैं, जिनकी उत्पत्ति शुद्ध रज और वीर्यसे हुई है, जो वेदके विद्वान्, जितेन्द्रिय तथा सदा शूद्रान्नसे बचे रहनेवाले हैं, वे दर्शनमात्रसे पवित्र कर देते हैं। ऐसे लोगोंके घरपर स्वयं उपस्थित होकर भक्तिपूर्वक विशेषरूपसे दान देना चाहिये। वह दान साधारण दानकी अपेक्षा करोड़गुना फल देनेवाला माना गया है। राजेन्द्र! जागते अथवा सोते समय, परदेशमें अथवा घर रहते समय जिस ब्राह्मणके हृदयसे उसकी भक्ति-भावनाके कारण मैं कभी दूर नहीं होता, ऐसा वह श्रेष्ठ ब्राह्मण पूजन, दर्शन, स्पर्श अथवा सम्भाषण करने मात्रसे मनुष्यको सदा पवित्र कर देता है। पाण्डव! इस प्रकार सब अवस्थाओंमें मेरे भक्तोंको दिये हुए सब प्रकारके दान स्वर्गमार्ग प्रदान करनेवाले होते हैं।

ब्रह्मचर्य तथा गायत्रीकी महिमा, अतिथि-सत्कारकी अनिवार्य आवश्यकता और उसका महान् फल, अतिथि-सत्कार न करनेका दुष्परिणाम

इस प्रकार सात्त्विक, राजस और तामस दान, उसकी विभिन्न गति एवं पृथक्-पृथक् फलका वर्णन करके धर्मराज युधिष्ठिरके पूछनेपर भगवान् श्रीकृष्णने बीज और योनिकी शुद्धिका रहस्य बतलाया। तदनन्तर ब्रह्मचर्यकी तथा गायत्रीकी महत्ताका प्रतिपादन करनेके लिये उन्होंने कहा—

ब्रह्मचर्य और गायत्रीकी महिमा

श्रीभगवानुवाच

आत्मा हि शुक्रमुद्दिष्टं दैवतं परमं महत्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन निरुन्ध्याच्छुक्रमात्मनः॥

आयुस्तेजो बलं वीर्यं प्रज्ञा श्रीश्च महद् यशः ।
पुण्यं च मत्प्रियत्वं च लभते ब्रह्मचर्यया ॥
अविप्लुतब्रह्मचर्यैर्गृहस्थाश्रममाश्रितैः ।
पञ्चयज्ञपरैर्धर्मः स्थाप्यते पृथिवीतले ॥
सायं प्रातस्तु ये संध्यां सम्यङ्नित्यमुपासते ।
नावं वेदमयीं कृत्वा तरन्ते तारयन्ति च ॥
यो जपेत् पावनीं देवीं गायत्रीं वेदमातरम् ।
न सीदेत् प्रतिगृह्णानः पृथिवीं च ससागराम् ॥
ये चास्य दुःस्थिताः केचिद् ग्रहाः सूर्यादयो दिवि ।
ते चास्य सौम्या जायन्ते शिवाः शुभकरास्तथा ॥
यत्र यत्र स्थिताश्चैव दारुणाः पिशिताशनाः ।
घोररूपा महाकाया धर्षयन्ति न तं द्विजम् ॥
पुनन्तीह पृथिव्यां च चीर्णवेदव्रता नराः ।
चतुर्णामपि वेदानां सा हि राजन् गरीयसी ॥
अचीर्णव्रतवेदा ये विकर्मफलमाश्रिताः ।
ब्राह्मणा नाममात्रेण तेऽपि पूज्या युधिष्ठिर ।
किं पुनर्यस्तु संध्ये द्वे नित्यमेवोपतिष्ठते ॥
शीलमध्ययनं दानं शौचं मार्दवमार्जवम् ।
तस्माद् वेदाद् विशिष्टानि मनुराह प्रजापतिः ॥
भूर्भुवः स्वरिति ब्रह्म यो वेदनिरतो द्विजः ।
स्वदारनिरतो दान्तः स विद्वान् स च भूसुरः ॥
संध्यामुपासते ये वै नित्यमेव द्विजोत्तमाः ।
ते यान्ति नरशार्दूल ब्रह्मलोकं न संशयः ॥
सावित्रीमात्रसारोऽपि वरो विप्रः सुयन्त्रितः ।
नायन्त्रितश्चतुर्वेदी सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥
सावित्रीं चैव वेदांश्च तुलयातोलयन् पुरा ।
सदेवर्षिगणाश्चैव सर्वे ब्रह्मपुरःसराः ।
चतुर्णामपि वेदानां सा हि राजन् गरीयसी ॥
यथा विकसिते पुष्पे मधु गृह्णन्ति षट्पदाः ।
एवं गृहीता सावित्री सर्ववेदे च पाण्डव ॥
तस्मात् तु सर्ववेदानां सावित्री प्राण उच्यते ।
निर्जीवा हीतरे वेदा विना सावित्रिया नृप ॥
नायन्त्रितश्चतुर्वेदी शीलभ्रष्टः स कुत्सितः ।
शीलवृत्तसमायुक्तः सावित्रीपाठको वरः ॥
सहस्रपरमां देवीं शतमध्यां शतावराम् ।
सावित्रीं जप कौन्तेय सर्वपापप्रणाशिनीम् ॥

वीर्यको आत्मा बताया गया है । वह सबसे श्रेष्ठ देवता है । इसलिये सब प्रकारका प्रयत्न करके अपने वीर्यकी रक्षा करनी चाहिये । मनुष्य ब्रह्मचर्यके पालनसे आयु, तेज, बल, वीर्य, बुद्धि, लक्ष्मी, महान् यश, पुण्य और मेरे प्रेमको प्राप्त करता है । जो गृहस्थ-आश्रममें स्थित होकर अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए पञ्चयज्ञोंके अनुष्ठानमें तत्पर रहते हैं, वे पृथ्वीतल-पर धर्मकी स्थापना करते हैं । जो प्रतिदिन प्रातःकाल और संध्याके समय विधिवत् संध्योपासना करते हैं, वे वेदमयी नौकाका सहारा लेकर इस संसार-समुद्रसे स्वयं भी तर जाते हैं और दूसरोंको भी तार देते हैं । जो ब्राह्मण सबको पवित्र बनानेवाली वेदमाता गायत्रीदेवीका जप करता है, वह समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका दान लेनेपर भी प्रतिग्रहके दोषसे दुखी नहीं होता । सूर्य आदि ग्रहोंमेंसे जो उसके लिये अशुभ स्थानमें रहकर अनिष्ट-कारक होते हैं, वे भी गायत्री-जपके प्रभावसे शान्त, शुभ और कल्याणकारी फल देनेवाले हो जाते हैं । जहाँ कहीं क्रूर कर्म करनेवाले भयंकर विशालकाय पिशाच रहते हैं, वहाँ जानेपर भी वे उस ब्राह्मणका अनिष्ट नहीं कर सकते । वैदिक व्रतोंका आचरण करने-वाले पुरुष पृथ्वीपर दूसरोंको पवित्र करनेवाले होते हैं । राजन् ! चारों वेदोंमें वह गायत्री श्रेष्ठ है । युधिष्ठिर ! जो ब्राह्मण न तो ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं और न वेदाध्ययन करते हैं, जो बुरे फलवाले कर्मोंका आश्रय लेते हैं, वे नाममात्रके ब्राह्मण भी गायत्रीके जपसे पूज्य हो जाते हैं । फिर जो ब्राह्मण प्रातः-सायं दोनों समय संध्या-वन्दन करते हैं, उनके लिये तो कहना ही क्या है ! प्रजापति मनुका कहना है कि—'शील,

स्वाध्याय, दान, शौच, कोमलता और सरलता—ये सद्गुण ब्राह्मणके लिये वेदसे भी बढ़कर हैं। जो ब्राह्मण 'भूर्भुवः स्वः' इन व्याहृतियोंके साथ गायत्रीका जप करता है, वेदके स्वाध्यायमें संलग्न रहता है और अपनी ही स्त्रीसे प्रेम करता है, वही जितेन्द्रिय, वही विद्वान् और वही इस भूमण्डलका देवता है। पुरुषसिंह ! जो श्रेष्ठ ब्राह्मण प्रतिदिन संध्योपासन करते हैं, वे निःसंदेह ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं। केवल गायत्रीमात्र जाननेवाला ब्राह्मण भी यदि नियमसे रहता है तो वह श्रेष्ठ है; किंतु जो चारों वेदोंका विद्वान् होनेपर भी सबका अन्न खाता है, सब कुछ बेचता है और नियमोंका पालन नहीं करता, वह उत्तम नहीं माना जाता। राजन् ! पूर्वकालमें देवता और ऋषियोंने ब्रह्माजीके सामने गायत्री-मन्त्र और चारों वेदोंको तराजूपर रखकर तौला था। उस समय गायत्रीका पलड़ा ही चारों वेदोंसे भारी साबित हुआ। पाण्डव ! जैसे भ्रमर खिले हुए फूलोंसे उनके सारभूत मधुको ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण वेदोंसे उनके सारभूत गायत्रीका ग्रहण किया गया है। इसलिये गायत्री सम्पूर्ण वेदोंका प्राण कहलाती है। नरेश्वर ! गायत्रीके बिना सभी वेद निर्जीव हैं। नियम और सदाचारसे भ्रष्ट ब्राह्मण चारों वेदोंका विद्वान् हो तो भी वह निन्दाका ही पात्र है, किंतु शील और सदाचारसे युक्त ब्राह्मण यदि केवल गायत्रीका जप करता हो तो भी वह श्रेष्ठ माना जाता है। प्रतिदिन एक हजार गायत्रीमन्त्रका जप करना उत्तम है, सौ मन्त्रका जप करना मध्यम और दस मन्त्रका जप करना कनिष्ठ माना गया है। कुन्तीनन्दन ! गायत्री सब पापोंको नष्ट करनेवाली हैं; इसलिये तुम सदा उसका जप करते रहो।

इसके पश्चात् युधिष्ठिरके पूछनेपर भगवान् श्रीकृष्णने ब्राह्मण-महिमा, यमपुरीके भयंकर मार्ग, मार्गकी पीड़ाएँ, दारुण यमयातना, विविध कर्मोंके पृथक् पृथक् फल, विविध प्रकारके दानोंके पृथक्-पृथक् फल तथा अन्नदानकी महिमाका प्रतिपादन किया। तदनन्तर पुण्यमय धर्मोंका वर्णन करके वे बोले—

अभ्यागत तथा अतिथियोंके सत्कारकी आवश्यकता और महिमा

श्रीभगवानुवाच

अभ्यागतो ज्ञातपूर्वो ह्यज्ञातोऽतिथिरुच्यते।
तयोः पूजां द्विजः कुर्यादिति पौराणिकी श्रुतिः॥
पादाभ्यङ्गान्नपानैस्तु योऽतिथिं पूजयेन्नरः।
पूजितस्तेन राजेन्द्र भवामीह न संशयः॥
शीघ्रं पापाद् विनिर्मुक्तो मया चानुग्रहीकृतः।
विमानेनेन्दुकल्पेन मम लोकं स गच्छति॥
अभ्यागतं श्रान्तमनुव्रजन्ति
देवाश्च सर्वे पितरोऽग्नयश्च।
तस्मिन् द्विजे पूजिते पूजिताः स्यु-
र्गते निराशाः पितरो व्रजन्ति॥
अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते।
पितरस्तस्य नाश्नन्ति दशवर्षाणि पञ्च च॥
निर्वासयति यो विप्रं देशकालागतं गृहात्।
पतितस्तत्क्षणादेव जायते नात्र संशयः॥
चाण्डालोऽप्यतिथिः प्राप्तो देशकालेऽन्नकाङ्क्षया।
अभ्युद्गम्यो गृहस्थेन पूजनीयश्च सर्वदा॥
मोघं ध्रुवं प्रोर्णयति मोघमस्य तु पच्यते।
मोघमन्नं सदाश्नाति योऽतिथिं न च पूजयेत्॥
साङ्गोपाङ्गांस्तु यो वेदान् पठतीह दिने दिने।
न चातिथिं पूजयति वृथा भवति स द्विजः॥
पाकयज्ञमहायज्ञैः सोमसंस्थाभिरेव च।
ये यजन्ति न चार्चन्ति गृहेष्वतिथिमागतम्॥
तेषां यशोऽभिकामानां दत्तमिष्टं च यद् भवेत्।
वृथा भवति तत् सर्वमाशया हि तया हतम्॥

पहलेका परिचित मनुष्य यदि घरपर आये तो उसे 'अभ्यागत' कहते हैं और अपरिचित पुरुष

'अतिथि' कहलाता है। द्विजोंको इन दोनोंकी ही पूजा करनी चाहिये। यह पञ्चम वेद—पुराणकी श्रुति है। राजेन्द्र! जो मनुष्य अतिथिके चरणोंमें तेल मलकर, उसे भोजन कराकर और पानी पिलाकर उसकी पूजा करता है, उसके द्वारा मेरी भी पूजा हो जाती है—इसमें संशय नहीं है। वह मनुष्य तुरंत सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है और मेरी कृपासे चन्द्रमाके समान उज्ज्वल विमानपर आरूढ़ होकर मेरे परमधामको पधारता है। थका हुआ अभ्यागत जब घरपर आता है, तब उसके पीछे-पीछे समस्त देवता, पितर और अग्नि भी पदार्पण करते हैं। यदि उस अभ्यागत द्विजकी पूजा हुई तो उसके साथ उन देवता आदिकी भी पूजा हो जाती है और उसके निराश लौटनेपर वे देवता, पितर आदि भी हताश होकर लौट जाते हैं। जिसके घरसे अतिथिको निराश होकर लौटना पड़ता है, उसके पितर पंद्रह वर्षोंतक भोजन नहीं करते। जो देश-कालके अनुसार घरपर आये हुए ब्राह्मणको वहाँसे बाहर निकाल देता है, वह तत्काल पतित हो जाता है—इसमें संदेह नहीं है। यदि देश-कालके अनुसार अन्नकी इच्छासे चाण्डाल भी अतिथिके रूपमें आ जाय तो गृहस्थ पुरुषको सदा उसका सत्कार करना चाहिये। जो अतिथिका सत्कार नहीं करता, उसका ऊनी वस्त्र ओढ़ना, अपने लिये रसोई बनाना और भोजन करना—सब कुछ निश्चय ही व्यर्थ है। जो प्रतिदिन साङ्गोपाङ्ग वेदोंका स्वाध्याय करता है, किंतु अतिथिकी पूजा नहीं करता, उस द्विजका जीवन व्यर्थ है। जो लोग पाक-यज्ञ, पञ्चमहायज्ञ तथा सोमयाग आदिके द्वारा यजन करते हैं, परंतु घरपर आये हुए अतिथिका सत्कार नहीं करते, वे यशकी इच्छासे जो कुछ दान या यज्ञ करते हैं, वह सब व्यर्थ हो जाता है। अतिथिकी मारी गयी आशा मनुष्यके समस्त शुभ कर्मोंका नाश कर देती है।

देशं कालं च पात्रं च स्वशक्तिं च निरीक्ष्य च।
अल्पं समं महद् वापि कुर्यादातिथ्यमात्मवान्॥
सुमुखः सुप्रसन्नात्मा धीमानतिथिमागतम्।
स्वागतेनासनेनाद्भिरन्नाद्येन च पूजयेत्॥
हितः प्रियो वा द्वेष्यो वा मूर्खः पण्डित एव वा।
प्राप्तो यो वैश्वदेवान्ते सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः॥
क्षुत्पिपासाश्रमार्ताय देशकालागताय च।
सत्कृत्यान्नं प्रदातव्यं यज्ञस्य फलमिच्छता॥
यथाश्रद्धं तु यः कुर्यान्मनुष्येषु प्रजायते।
महाधनपतिः श्रीमान् वेदवेदाङ्गपारगः।
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो भोगवान् ब्राह्मणो भवेत्॥
सर्वातिथ्यं तु यः कुर्याद् वर्षमेकमकल्मषः।
धर्मार्जितधनो भूत्वा पाकभेदविवर्जितः॥
सर्वातिथ्यं तु यः कुर्याद् यथाश्रद्धं नरेश्वर।
अकालनियमेनापि सत्यवादी जितेन्द्रियः॥
सत्यसंधो जितक्रोधः शाखाधर्मविवर्जितः।
अधर्मभीरुर्धर्मिष्ठो मायामात्सर्यवर्जितः॥
श्रद्दधानः शुचिर्नित्यं पाकभेदविवर्जितः।
स विमानेन दिव्येन दिव्यरूपी महायशाः॥
पुरंदरपुरं याति गीयमानोऽप्सरोगणैः।
मन्वन्तरं तु तत्रैव क्रीडित्वा देवपूजितः।
मानुष्यलोकमागम्य भोगवान् ब्राह्मणो भवेत्॥

इसलिये श्रद्धालु होकर देश, काल, पात्र और अपनी शक्तिका विचार करके अल्प, मध्यम अथवा महान् रूपमें अतिथि-सत्कार अवश्य करना चाहिये। जब अतिथि अपने द्वारपर आवे, तब बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह प्रसन्नचित्त होकर हँसते हुए मुखसे अतिथिका स्वागत करे तथा बैठनेको आसन और चरण धोनेके लिये जल देकर अन्न-पान आदिके द्वारा उसकी पूजा करे। अपना हितैषी, प्रेमपात्र, द्वेषी, मूर्ख अथवा पण्डित—जो कोई भी बलिवैश्वदेवके बाद आ जाय, वह स्वर्गतक

पहुँचानेवाला अतिथि है। जो यज्ञका फल पाना चाहता हो, वह भूख-प्यास और परिश्रमसे दुखी तथा देश-कालके अनुसार प्राप्त हुए अतिथिको सत्कारपूर्वक अन्न प्रदान करे। जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक अतिथि-सत्कार करता है, वह मनुष्योंमें महान् धनवान्, श्रीमान्, वेद-वेदाङ्गका पारदर्शी, सम्पूर्ण शास्त्रोंके अर्थ और तत्त्वका ज्ञाता एवं भोगसम्पन्न ब्राह्मण होता है। जो मनुष्य धर्मपूर्वक धन-का उपार्जन करके भोजनमें भेद न रखते हुए एक वर्ष-तक सबका अतिथि-सत्कार करता है, उसके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। नरेश्वर! जो सत्यवादी जितेन्द्रिय पुरुष समयका नियम न रखकर सभी अतिथियोंकी श्रद्धा-पूर्वक सेवा करता है, जो सत्यप्रतिज्ञ है, जिसने क्रोधको जीत लिया है, जो शाखाधर्मसे रहित, अधर्मसे डरने-वाला और धर्मात्मा है, जो माया और मत्सरतासे रहित है, जो भोजनमें भेदभाव नहीं करता तथा जो नित्य पवित्र और श्रद्धासम्पन्न रहता है, वह दिव्य विमानके द्वारा इन्द्रलोकमें जाता है। वहाँ वह दिव्य-रूपधारी और महायशस्वी होता है। अप्सराएँ उनके यशका गान करती हैं। वह एक मन्वन्तरतक वहीं देवताओंसे पूजित होता है और क्रीड़ा करता रहता है। उसके बाद मनुष्यलोकमें आकर भोगसम्पन्न ब्राह्मण होता है।

भूमि-दान और उत्तम ब्राह्मणकी महिमा तथा भगवान्‌के प्रिय पुष्प और वर्णगत वृषलोंका वर्णन

भूमि-दानका महत्त्व

श्रीभगवानुवाच

अतः परं प्रवक्ष्यामि भूमिदानमनुत्तमम्॥
यः प्रयच्छति विप्राय भूमिं रम्यां सदक्षिणाम्।
श्रोत्रियाय दरिद्राय साग्निहोत्राय पाण्डव॥
स सर्वकामतृप्तात्मा सर्वरत्नविभूषितः।
सर्वपापविनिर्मुक्तो दीप्यमानोऽर्कवत् तदा॥
बालसूर्यप्रकाशेन विचित्रध्वजशोभिना।
याति यानेन दिव्येन मम लोकं महायशाः॥
न हि भूमिप्रदानाद् वै दानमन्यद् विशिष्यते।
न चापि भूमिहरणात् पापमन्यद् विशिष्यते॥
दानान्यन्यानि हीयन्ते कालेन कुरुपुङ्गव।
भूमिदानस्य पुण्यस्य क्षयो नैवोपपद्यते॥
सुवर्णमणिरत्नानि धनानि च वसूनि च।
सर्वदानानि वै राजन् ददाति वसुधां ददत्॥
सागरान् सरितः शैलान् समानि विषमाणि च।
सर्वगन्धरसांश्चैव ददाति वसुधां ददत्॥
ओषधीः फलसम्पन्ना नानापुष्पसमन्विताः।
कमलोत्पलषण्डांश्च ददाति वसुधां ददत्॥
अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैर्ये यजन्ते सदक्षिणैः।
न तत् फलं लभन्ते ते भूमिदानस्य यत् फलम्॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—पाण्डुनन्दन! अब मैं सबसे उत्तम भूमि-दानका वर्णन करता हूँ। जो मनुष्य रमणीय भूमिका दक्षिणाके साथ श्रोत्रिय अग्निहोत्री दरिद्र ब्राह्मण-को दान देता है, वह उस समय सभी भोगोंसे तृप्त, सम्पूर्ण रत्नोंसे विभूषित एवं सब पापोंसे मुक्त हो सूर्यके समान देदीप्यमान होता है। वह महायशस्वी पुरुष प्रातःकालीन सूर्यके समान प्रकाशित, विचित्र ध्वजाओंसे सुशोभित दिव्य विमानके द्वारा मेरे लोकमें जाता है; क्योंकि भूमिदानसे बढ़कर दूसरा कोई दान नहीं है और भूमि छीन लेनेसे बढ़कर कोई पाप नहीं है। कुरुश्रेष्ठ! दूसरे दानोंके पुण्य समय पाकर क्षीण हो जाते हैं, किंतु भूमि-दानके पुण्यका कभी भी क्षय नहीं होता। राजन्! पृथ्वीका दान करनेवाला मानो सुवर्ण, मणि, रत्न, धन और लक्ष्मी आदि समस्त पदार्थोंका दान करता है। भूमि-दान करनेवाला मनुष्य मानो समस्त समुद्रोंको, सरिताओंको, पर्वतोंको, सम-विषम प्रदेशोंको,

सम्पूर्ण गन्ध और रसोंको देता है। पृथ्वीका दान करनेवाला मनुष्य मानो नाना प्रकारके पुष्पों और फलोंसे युक्त वृक्षोंका तथा कमल और उत्पलोंके समूहोंका दान करता है। जो लोग दक्षिणासे युक्त अग्निष्टोम आदि यज्ञोंके द्वारा देवताओंका यजन करते हैं, वे भी उस फलको नहीं पाते, जो भूमि-दानका फल है।

यथा बीजानि रोहन्ति जलसिक्तानि भूपते।
तथा कामाः प्ररोहन्ति भूमिदस्य दिने दिने॥
यथा तेजस्तु सूर्यस्य तमः सर्वं व्यपोहति।
तथा पापं नरस्येह भूमिदानं व्यपोहति॥
आश्रुत्य भूमिदानं तु दत्त्वा यो वा हरेत् पुनः।
स बद्धो वारुणैः पाशैः क्षिप्यते पूयशोणिते॥
स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धराम्।
न तस्य नरकाद् घोराद् विद्यते निष्कृतिः क्वचित्
एवं दत्ता मही राजन् प्रहृष्टेनान्तरात्मना।
सर्वान् कामानवाप्नोति मनसा चिन्तितानि च॥
बहुभिर्वसुधा दत्ता दीयते च नराधिपैः।
यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम्॥

भूपाल! जिस प्रकार जलसे सींचे हुए बीज अङ्कुरित होते हैं, वैसे ही भूमिदाताके मनोरथ प्रतिदिन पूर्ण होते रहते हैं। जैसे सूर्यका तेज समस्त अन्धकारको दूर कर देता है, उसी प्रकार यहाँ भूमि-दान मनुष्यके सम्पूर्ण पापोंका नाश कर डालता है। कुरुश्रेष्ठ! जो भूमि-दानकी प्रतिज्ञा करके नहीं देता अथवा देकर फिर छीन लेता है, उसे वरुणके पाशसे बाँधकर पीब और रक्तसे भरे हुए नरक-कुण्डमें डाला जाता है। जो अपने या दूसरेकी दी हुई भूमिका अपहरण करता है, उसके लिये नरकसे उद्धार पानेका कोई उपाय नहीं है। राजन्! इस प्रकार प्रसन्नचित्त होकर मनुष्य यदि पृथ्वीका दान करे तो वह सम्पूर्ण मनोवाञ्छित कामनाओंको प्राप्त करता है। बहुत-से राजाओंने इस पृथ्वीको दानमें दिया है और बहुत-से अभी दे रहे हैं। यह भूमि जब जिसके अधिकारमें रहती है, उस समय वही उसे दानमें देता है और उसके फलका भागी होता है।

पूज्य ब्राह्मणके लक्षण

यच्च वेदमयं पात्रं यच्च पात्रं तपोमयम्।
असंकीर्णं च यत् पात्रं तत् पात्रं तारयिष्यति॥
नित्यस्वाध्यायनिरतास्त्वसंकीर्णेन्द्रियाश्च ये।
पञ्चयज्ञपरा नित्यं पूजितास्तारयन्ति ते॥
ये क्षान्तिदान्ताः श्रुतिपूर्णकर्णा
जितेन्द्रियाः प्राणिवधे निवृत्ताः।
प्रतिग्रहे संकुचिता गृहस्था-
स्ते ब्राह्मणास्तारयितुं समर्थाः॥
नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती
नित्यस्वाध्यायी वृषलान्नवर्जी।
ऋतौ गच्छन् विधिवच्चापि जुह्वन्
स ब्राह्मणस्तारयितुं समर्थः॥
ब्राह्मणो यस्तु मद्भक्तो मद्यागी मत्परायणः।
मयि संन्यस्तकर्मा च स विप्रस्तारयेद् ध्रुवम्॥
द्वादशाक्षरतत्त्वज्ञश्चतुर्व्यूहविभागवित्।
अच्छिद्रपञ्चकालज्ञः स विप्रस्तारयिष्यति॥

जो वेदसम्पन्न पात्र है, जो तपोमय पात्र है और जो किसीका भी भोजन न करनेवाला पात्र है, वह पवित्र पात्र दाताका उद्धार कर देता है। जो ब्राह्मण नित्य स्वाध्यायमें संलग्न रहते हैं, जिनकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, जो सदा ही पञ्च महायज्ञ करनेमें तत्पर रहते हैं, वे पूजा करनेवालेका उद्धार कर देते हैं। जो क्षमाशील, संयतचित्त और जितेन्द्रिय हैं, जिनके कान वेदवाणीसे भरे हुए हैं, जो प्राणियोंकी हत्यासे निवृत्त हो चुके हैं और जिनको दान लेनेमें संकोच होता है, ऐसे गृहस्थ ब्राह्मण दाताका उद्धार करनेमें समर्थ हैं। जो प्रतिदिन तर्पण करनेवाला, सदा यज्ञोपवीत धारण किये रहनेवाला, नित्यप्रति स्वाध्यायपरायण, शूद्रका

अन्न न खानेवाला, ऋतुकालमें ही अपनी स्त्रीसे समागम करनेवाला और विधिपूर्वक अग्निहोत्र करनेवाला हो, वह ब्राह्मण दूसरोंको तारनेमें समर्थ होता है। जो ब्राह्मण मेरा भक्त, मुझमें अनुराग रखनेवाला, मेरे भजनमें परायण और मुझे ही कर्मफलोंको अर्पण करनेवाला है, वह ब्राह्मण अवश्य संसार-समुद्रसे तार सकता है। जो द्वादशाक्षर मन्त्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) का तत्त्वज्ञ है, जो चतुर्व्यूहके विभागको जाननेवाला है एवं जो दोषरहित रहकर पाँचों समयकी उपासनाओंका ज्ञाता है; वह ब्राह्मण दूसरोंका भी उद्धार कर देता है।

कौनसे पुष्प भगवान्‌को प्रिय हैं

श्रीभगवानुवाच

शृणुष्वावहितो राजन् पुष्पाणि प्रियकृन्ति मे।
कुमुदं करवीरं च चणकं चम्पकं तथा॥
मल्लिकाजातिपुष्पं च नन्द्यावर्तं च नन्दिकम्।
पलाशपुष्पपत्राणि दूर्वाभृङ्गकमेव च॥
वनमाला च राजेन्द्र मत्प्रियाणि विशेषतः।
सर्वेषामपि पुष्पाणां सहस्रगुणमुत्पलम्॥
तस्मात् पद्मं तथा राजन् पद्मात् तु शतपत्रकम्।
तस्मात् सहस्रपत्रं तु पुण्डरीकं ततः परम्॥
पुण्डरीकसहस्रात् तु तुलसी गुणतोऽधिका।
वकपुष्पं ततस्तस्मात् सौवर्णं तु ततोऽधिकम्॥
सौवर्णात् तु प्रसूनाच्च मत्प्रियं नास्ति पाण्डव।
पुष्पाभावे तुलस्यास्तु पत्रैर्मामर्चयेत् पुनः।
पत्रालाभे तु शाखाभिः शाखालाभे शिफालवैः॥
शिफाभावे मृदा तत्र भक्तिमानर्चयेत माम्।

श्रीभगवान् बोले—राजन्! जो फूल मुझे बहुत प्रिय हैं, उनके नाम बताता हूँ, सावधान होकर सुनो। राजेन्द्र! कुमुद, करवीर, चणक, चम्पा, मालती, जातिपुष्प, नन्द्यावर्त, नन्दिक, पलाशके फूल और पत्ते, दूर्वा, भृङ्गक और वनमाला----ये फूल मुझे विशेष प्रिय हैं। सब प्रकारके फूलोंसे हजारगुना अच्छा उत्पल माना गया है। राजन्! उत्पलसे बढ़कर पद्म, पद्मसे शतदल, शतदलसे सहस्रदल, सहस्रदलसे पुण्डरीक और हजार पुण्डरीकसे बढ़कर तुलसीका गुण माना गया है। पाण्डुनन्दन! तुलसीसे श्रेष्ठ है वकपुष्प और उससे भी उत्तम है सौवर्ण। सौवर्णके फूलसे बढ़कर दूसरा कोई भी फूल मुझे प्रिय नहीं है। फूल न मिलनेपर तुलसीके पत्तोंसे, पत्तोंके न मिलनेपर उसकी शाखाओंसे और शाखाओंके न मिलनेपर तुलसीकी जड़के टुकड़ोंसे मेरी पूजा करे। यदि वह भी न मिल सके तो जहाँ तुलसीका वृक्ष रहा हो, वहाँकी मिट्टीसे ही भक्तिपूर्वक मेरा पूजन करे।

कौनसे पुष्प भगवान्‌की पूजामें वर्जित हैं

वर्जनीयानि पुष्पाणि शृणु राजन् समाहितः॥
किंकिणीं मुनिपुष्पं च धुर्धूरं पाटलं तथा॥
तथातिमुक्तकं चैव पुन्नागं नक्तमालिकम्।
यौधिकं क्षीरिकापुष्पं निर्गुण्डी लांगुली जपाः॥
कर्णिकारं तथाशोकं शाल्मलीपुष्पमेव च।
ककुभाः कोविदाराश्च वैभीतकमथापि च॥
कुरण्टकप्रसूनं च कल्पकं कालकं तथा।
अङ्कोलं गिरिकर्णी च नीलान्येव च सर्वशः।
एकपर्णानि चान्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत्॥
अर्कपुष्पाणि वर्ज्यानि अर्कपत्रस्थितानि च।
व्याघ्रताः पिचुमन्दानि सर्वाण्येव विवर्जयेत्॥
अन्यैस्तु शुक्लपत्रैस्तु गन्धवद्भिर्नराधिप।
अवर्ज्यैस्तैर्यथालाभं मद्भक्तो मां समर्चयेत्॥

राजन्! अब त्यागने योग्य फूलोंके नाम बता रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो। किङ्किणी, मुनिपुष्प, धुर्धूर, पाटल, अतिमुक्तक, पुन्नाग, नक्तमालिक, यौधिक, क्षीरिकापुष्प, निर्गुण्डी, लाङ्गुली, जपा, कर्णिकार, अशोक, सेमलका फूल, ककुभ, कोविदार, वैभीतक, कुरण्टक, कल्पक, कालक,

अंकोल, गिरिकर्णी, नीले रंगके फूल तथा एक पंखड़ीवाले फूल—इन सबका सब प्रकारसे त्याग कर देना चाहिये। आक (मदार-) के फूल तथा आकके पत्तेपर रखे हुए फूल भी वर्जित हैं। नीमके फूलोंका भी परित्याग कर देना चाहिये। नराधिप ! इनके अतिरिक्त जिनका निषेध नहीं किया गया है, ऐसे सफेद पंखड़ियोंवाले सुगन्धित पुष्प जितने मिल सकें, उनके द्वारा भक्त पुरुषको मेरी पूजा करनी चाहिये।

किस वर्णमें कितने और कौन-कौनसे वृषल हैं ?

कामः क्रोधश्च लोभश्च मोहश्च मद एव च।
महामोहश्च इत्येते देहे षड् वृषलाः स्मृताः॥
गर्वः स्तम्भो ह्यहंकार ईर्ष्या च द्रोह एव च।
पारुष्यं क्रूरता चैव सप्तैते क्षत्रियाः स्मृताः॥
तीक्ष्णता निकृतिर्माया शाठ्यं दम्भो ह्यनार्जवम्।
पैशुन्यमनृतं चैव वैश्यास्त्वष्टौ प्रकीर्तिताः॥
तृष्णा बुभुक्षा निद्रा च ह्यालस्यं चाघृणादयः।
आधिश्चापि विषादश्च प्रमादो हीनसत्त्वता॥
भयं विक्लवता जाड्यं पापकं मन्युरेव च।
आशा चाश्रद्दधानत्वमनवस्थाप्ययन्त्रणम्॥
आशौचं मलिनत्वं च शूद्रा ह्येते प्रकीर्तिताः।
यस्मिन्नेते न दृश्यन्ते स वै ब्राह्मण उच्यते॥
तस्मात् तु सात्त्विको भूत्वा शुचिः क्रोधविवर्जितः।
मामर्चयेत् तु सततं मत्प्रियत्वं यदीच्छति॥
अलोलजिह्वः समुपस्थितो धृतिं
निधाय चक्षुर्युगमात्रमेव तत्।
मनश्च वाचं च निगृह्य चञ्चलं
भयान्निवृत्तो मम भक्त उच्यते॥
ईदृशाध्यात्मिनो ये तु ब्राह्मणा नियतेन्द्रियाः।
तेषां श्राद्धेषु तृप्यन्ति तेन तृप्ताः पितामहाः॥
धर्मो जयति नाधर्मः सत्यं जयति नानृतम्।
क्षमा जयति न क्रोधः क्षमावान् ब्राह्मणो भवेत्॥

काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और महामोह—ये छः वृषल ब्राह्मणके शरीरमें स्थित बताये गये हैं। गर्व, स्तम्भ (जडता), अहंकार, ईर्ष्या, द्रोह, पारुष्य (कठोर बोलना) और क्रूरता—ये सात क्षत्रिय-शरीरमें रहनेवाले वृषल हैं। तीक्ष्णता, कपट, माया, शठता, दम्भ, सरलताका अभाव, चुगली और असत्य-भाषण—ये आठ वैश्य-शरीरके वृषल हैं। तृष्णा, खानेकी इच्छा, निद्रा, आलस्य, निर्दयता, क्रूरता, मानसिक चिन्ता, विषाद, प्रमाद, अधीरता, भय, घबराहट, जडता, पाप, क्रोध, आशा, अश्रद्धा, अनवस्था, निरङ्कुशता, अपवित्रता और मलिनता—ये इक्कीस वृषल शूद्रके शरीरमें रहनेवाले बताये गये हैं। ये सभी वृषल जिसके भीतर न दिखायी दें, वही वास्तवमें ब्राह्मण कहलाता है। अतः ब्राह्मण यदि मेरा प्रिय होना चाहे, तो सात्त्विक, पवित्र और क्रोधहीन होकर सदा मेरी पूजा करता रहे। जिसकी जिह्वा चञ्चल नहीं है, जो धैर्य धारण किये रहता है और चार हाथ आगेतक दृष्टि रखते हुए चलता है, जिसने अपने चञ्चल मन और वाणीको वशमें करके भयसे छुटकारा पा लिया है, वह मेरा भक्त कहलाता है। ऐसे अध्यात्मज्ञानसे युक्त जितेन्द्रिय ब्राह्मण जिनके यहाँ श्राद्धमें तृप्तिपूर्वक भोजन करते हैं, उनके पितर उस भोजनसे पूर्ण तृप्त होते हैं। धर्मकी जय होती है, अधर्मकी नहीं; सत्यकी विजय होती है, असत्यकी नहीं तथा क्षमाकी जीत होती है, क्रोधकी नहीं। इसलिये ब्राह्मणको क्षमाशील होना चाहिये।

कपिला गौके दानसे परम लाभ

तैस्तैर्गुणैः कामदुघा च भूत्वा
नरं प्रदातारमुपैति सा गौः।
स्वकर्मभिश्चाप्यनुबध्यमानं
तीव्रान्धकारे नरके पतन्तम्।
महार्णवे नौरिव वायुनीता
दत्ता हि गौस्तारयते मनुष्यम्॥

यथौषधं मन्त्रकृतं नरस्य
प्रयुक्तमात्रं विनिहन्ति रोगान्।
तथैव दत्ता कपिला सुपात्रे
पापं नरस्याशु निहन्ति सर्वम्॥
यथा त्वचं वै भुजगो विहाय
पुनर्नवं रूपमुपैति पुण्यम्।
तथैव मुक्तः पुरुषः स्वपापै-
र्विरज्यते वै कपिलाप्रदानात्॥
यथान्धकारं भवने विलग्नं
दीप्तो हि निर्यातयति प्रदीपः।
तथा नरः पापमपि प्रलीनं
निष्क्रामयेद् वै कपिलाप्रदानात्॥
यस्याहिताग्नेरतिथिप्रियस्य
शूद्रान्नदूरस्य जितेन्द्रियस्य।
सत्यव्रतस्याध्ययनान्वितस्य
दत्ता हि गौस्तारयते परत्र॥

दानमें दी हुई गौ अपने विभिन्न गुणोंद्वारा कामधेनु बनकर परलोकमें दाताके पास पहुँचती है। वह अपने कर्मोंसे बँधकर घोर अन्धकार-पूर्ण नरकमें गिरते हुए मनुष्यका उसी प्रकार उद्धार कर देती है, जैसे वायुके सहारेसे चलती हुई नाव मनुष्यको महासागरमें डूबनेसे बचाती है। जैसे मन्त्रके साथ दी हुई ओषधि प्रयोग करते ही मनुष्यके रोगोंका नाश कर देती है, उसी प्रकार सुपात्रको दी हुई कपिला गौ मनुष्यके सब पापोंको तत्काल नष्ट कर डालती है। जैसे साँप केंचुल छोड़कर नये स्वरूपको धारण करता है, वैसे ही पुरुष कपिला गौके दानसे पाप-मुक्त होकर अत्यन्त शोभाको प्राप्त होता है। जैसे प्रज्वलित दीपक घरमें फैले हुए अन्धकारको दूर कर देता है, उसी प्रकार मनुष्य कपिला गौका दान करके अपने भीतर छिपे हुए पापको भी निकाल देता है। जो प्रतिदिन अग्निहोत्र करनेवाला, अतिथिका प्रेमी, शूद्रके अन्नसे दूर रहनेवाला, जितेन्द्रिय, सत्यवादी तथा स्वाध्यायपरायण हो, उसे दी हुई गौ परलोकमें दाताका अवश्य उद्धार करती है।

कपिला गौके शरीरमें देवता निवास करते हैं

यदा च दीयते राजन् कपिला ह्यग्निहोत्रिणे।
तदा च शृङ्गयोस्तस्या विष्णुरिन्द्रश्च तिष्ठतः॥
चन्द्रवज्रधरौ चापि तिष्ठतः शृङ्गमूलयोः।
शृङ्गमध्ये तथा ब्रह्मा ललाटे गोवृषध्वजः॥
कर्णयोरश्विनौ देवौ चक्षुषी शशिभास्करौ।
दन्तेषु मरुतो देवा जिह्वायां वाक् सरस्वती॥
रोमकूपेषु मुनयश्चर्मण्येव प्रजापतिः।
निःश्वासेषु स्थिता वेदाः सषडङ्गपदक्रमाः॥
नासापुटे स्थिता गन्धाः पुष्पाणि सुरभीणि च।
अधरे वसवः सर्वे मुखे चाग्निः प्रतिष्ठितः॥
साध्या देवाः स्थिताः कक्षे ग्रीवायां पार्वती स्थिता।
पृष्ठे च नक्षत्रगणाः ककुद्देशे नभःस्थलम्॥
अपाने सर्वतीर्थानि गोमूत्रे जाह्नवी स्वयम्।
अष्टैश्वर्यमयी लक्ष्मीर्गोमये वसते तदा॥
नासिकायां सदा देवी ज्येष्ठा वसति भामिनी।
श्रोणीतटस्थाः पितरो रमा लाङ्गूलमाश्रिता॥
पार्श्वयोरुभयोः सर्वे विश्वेदेवाः प्रतिष्ठिताः।
तिष्ठत्युरसि तासां तु प्रीतः शक्तिधरो गुहः॥
जानुजङ्घोरुदेशेषु पञ्च तिष्ठन्ति वायवः।
खुरमध्येषु गन्धर्वाः खुराग्रेषु च पन्नगाः॥
चत्वारः सागराः पूर्णास्तस्या एव पयोधराः।
रतिर्मेधा क्षमा स्वाहा श्रद्धा शान्तिर्धृतिः स्मृतिः॥
कीर्तिर्दीप्तिः क्रिया कान्तिस्तुष्टिः पुष्टिश्च संततिः।
दिशश्च प्रदिशश्चैव सेवन्ते कपिलां सदा॥
देवाः पितृगणाश्चापि गन्धर्वाप्सरसां गणाः।
लोका द्वीपार्णवाश्चैव गङ्गाद्याः सरितस्तथा॥
देवाः पितृगणाश्चापि वेदाः साङ्गाः सहाध्वरैः।
वेदोक्तैर्विविधैर्मन्त्रैः स्तुवन्ति हृषितास्तथा॥

विद्याधराश्च ये सिद्धा भूतास्तारागणास्तथा।
पुष्पवृष्टिं च वर्षन्ति प्रनृत्यन्ति च हर्षिताः॥

जिस समय अग्निहोत्री ब्राह्मणको कपिला गौ दानमें दी जाती है, उस समय उसके सींगोंके ऊपरी भागमें विष्णु और इन्द्र निवास करते हैं। सींगोंकी जड़में चन्द्रमा और वज्रधारी इन्द्र रहते हैं। सींगोंके बीचमें ब्रह्मा तथा ललाटमें भगवान् शंकरका निवास होता है। दोनों कानोंमें अश्विनीकुमार, नेत्रोंमें चन्द्रमा और सूर्य, दाँतोंमें मरुद्‌गण, जिह्वामें सरस्वती, रोमकूपोंमें मुनि, चमड़ेमें प्रजापति एवं श्वासोंमें षडङ्ग, पद और क्रमसहित चारों वेदोंका निवास है। नासिका-छिद्रोंमें गन्ध और सुगन्धित पुष्प, नीचेके ओठमें सब वसुगण तथा मुखमें अग्नि निवास करते हैं। कक्षमें साध्य-देवता, गरदनमें पार्वती, पीठपर नक्षत्रगण, ककुद्के स्थानमें आकाश, अपानमें सारे तीर्थ, मूत्रमें साक्षात् गङ्गाजी तथा गोबरमें आठ ऐश्वर्योंसे सम्पन्न लक्ष्मीजी रहती हैं। नासिकामें परम सुन्दरी ज्येष्ठादेवी, नितम्बोंमें पितर एवं पूँछमें भगवती रमा रहती हैं। दोनों पसलियोंमें सब विश्वेदेव स्थित हैं और छातीमें प्रसन्न-चित्त शक्तिधारी कार्तिकेय रहते हैं। घुटनों और ऊरुओंमें पाँच वायु रहते हैं। खुरोंके मध्यमें गन्धर्व और खुरोंके अग्रभागमें सर्प निवास करते हैं। जलसे परिपूर्ण चारों समुद्र उसके चारों स्तन हैं। रति, मेधा, क्षमा, स्वाहा, श्रद्धा, शान्ति, धृति, स्मृति, कीर्ति, दीप्ति, क्रिया, कान्ति, तुष्टि, पुष्टि, संतति, दिशा और प्रदिशा आदि देवियाँ सदा कपिला गौका सेवन किया करती हैं। देवता, पितर, गन्धर्व, अप्सराएँ, लोक, द्वीप, समुद्र, गङ्गा आदि नदियाँ तथा अङ्गों और पदोंसहित सम्पूर्ण वेद नाना प्रकारके मन्त्रोंसे कपिला गौकी प्रसन्नतापूर्वक स्तुति किया करते हैं। विद्याधर, सिद्ध, भूतगण और तारागण—ये कपिला गौको देखकर फूलों-की वर्षा करते और हर्षसे भरकर नाचने लगते हैं।

नरकमें कौन जाते हैं?

निरयं ये च गच्छन्ति तच्छृणुष्व युधिष्ठिर॥
परदारापहर्तारः परदाराभिमर्शकाः।
परदारप्रयोक्तारस्ते वै निरयगामिनः॥
सूचकाः संधिभेत्तारः परद्रव्योपजीविनः।
वर्णाश्रमाणां ये वाह्याः पाखण्डाश्चैव पापिनः।
उपासते च तानेव ते सर्वे नरकालयाः॥
क्षान्तान् दान्तान् कृशान् प्राज्ञान् दीर्घकालं सहोषितान्
त्यजन्ति कृतकृत्या ये ते वै निरयगामिनः॥
बालानामपि वृद्धानां श्रान्तानां चापि ये नराः।
अदत्त्वाश्नन्ति मृष्टान्नं ते वै निरयगामिनः॥
एते पूर्वर्षिभिः प्रोक्ता नरा निरयगामिनः।

युधिष्ठिर! अब नरकमें जानेवाले पुरुषोंका वर्णन सुनो। जो परायी स्त्रीका अपहरण करते हैं, परस्त्रीके साथ व्यभिचार करते हैं और दूसरोंकी स्त्रियोंको दूसरे पुरुषोंसे मिलाया करते हैं, वे भी नरकमें पड़ते हैं। चुगलखोर, सुलहकी शर्त तोड़नेवाले, पराये धनसे जीविका चलानेवाले, वर्ण और आश्रमसे विरुद्ध आचरण करनेवाले, पाखण्डी, पापाचारी तथा जो उनकी सेवा करते हैं, वे सब नरकगामी होते हैं। जो मनुष्य चिर-कालतक अपने साथ रहे हुए सहनशील, जितेन्द्रिय, दुर्बल और बुद्धिमान् मनुष्योंको भी काम निकल जानेपर त्याग देते हैं, वे नरकगामी होते हैं। जो बच्चों, बूढ़ों तथा थके हुए मनुष्योंको कुछ न देकर अकेले ही मिठाई खाते हैं, उन्हें भी नरकमें गिरना पड़ता है। प्राचीन कालके ऋषियोंने इस प्रकार नरकगामी मनुष्योंका वर्णन किया है।

स्वर्गमें कौन जाते हैं?

ये स्वर्गं समनुप्राप्तास्तान् शृणुष्व युधिष्ठिर॥
दानेन तपसा चैव सत्येन च दमेन च।
ये धर्ममनुवर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः॥

शुश्रूषयाप्युपाध्यायाच्छ्रुतमादाय पाण्डव ।
ये प्रतिग्रहनिस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥
मधुमांसासवेभ्यस्तु निवृत्ता व्रतिनस्तु ये ।
परदारनिवृत्ता ये ते नराः स्वर्गगामिनः ॥
मातरं पितरं चैव शुश्रूषन्ति च ये नराः ।
भ्रातृणामपि सस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥
ये तु भोजनकाले तु निर्याताश्चातिथिप्रियाः ।
द्वाररोधं न कुर्वन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥
वैवाहिकं तु कन्यानां दरिद्राणां च ये नराः ।
कारयन्ति च कुर्वन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥
रसानामथ बीजानामोषधीनां तथैव च ।
दातारः श्रद्धयोपेतास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥
क्षेमाक्षेमं च मार्गेषु समानि विषमाणि च ।
अर्थिनां ये च वक्ष्यन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः॥
पर्वद्वये चतुर्दश्यामष्टम्यां संध्ययोर्द्वयोः ।
आर्द्रायां जन्मनक्षत्रे विषुवे श्रवणेऽथवा ।
ये ग्राम्यधर्मविरतास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

युधिष्ठिर ! अब स्वर्गमें जानेवालोंका वर्णन सुनो । जो दान, तपस्या, सत्य-भाषण और इन्द्रिय-संयमके द्वारा निरन्तर धर्माचरणमें लगे रहते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं । पाण्डुनन्दन ! जो उपाध्यायकी सेवा करके उनसे वेद पढ़ते तथा प्रतिग्रहमें आसक्ति नहीं रखते, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं । जो मधु, मांस, आसव (मदिरा-) से निवृत्त होकर उत्तम व्रतका पालन करते हैं और परस्त्रीके संसर्गसे बचे रहते हैं, वे मनुष्य स्वर्गको जाते हैं । जो मनुष्य माता-पिताकी सेवा करते हैं तथा भाइयोंके प्रति स्नेह रखते हैं, वे मनुष्य स्वर्गको जाते हैं । जो भोजनके समय घरसे बाहर निकलकर अतिथि-सेवा करते हैं, अतिथियोंसे प्रेम रखते हैं और उनके लिये कभी अपना दरवाजा बंद नहीं करते; वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं । जो दरिद्र मनुष्योंकी कन्याओंका धनियोंसे विवाह करा देते हैं अथवा स्वयं धनी होते हुए भी दरिद्रकी कन्यासे विवाह करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं । जो श्रद्धापूर्वक रस, बीज और ओषधियोंका दान करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं । जो मार्गमें जिज्ञासा करनेवाले पथिकोंको अच्छे-बुरे, सुखदायक और दुःखदायक मार्गका ठीक-ठीक परिचय दे देते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं । जो अमावास्या, पूर्णिमा, चतुर्दशी, अष्टमी—इन तिथियोंमें दोनों संध्याओंके समय, आर्द्रा नक्षत्रमें, जन्म-नक्षत्रमें, विषुव योगमें और श्रवण नक्षत्रमें, स्त्री-समागमसे बचे रहते हैं, वे मनुष्य भी स्वर्गमें जाते हैं ।

ब्रह्महत्याके समान पापोंका और धर्मकी श्रेष्ठताका वर्णन

ब्रह्महत्याके समान पाप

श्रीभगवानुवाच

ब्राह्मणं स्वयमाहूय भिक्षार्थं वृत्तिकर्शितम् ।
ब्रूयान्नास्तीति यः पश्चात् तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥
मध्यस्थस्येह विप्रस्य योऽनूचानस्य भारत ।
वृत्तिं हरति दुर्बुद्धिस्तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥
आश्रमे वाऽऽलये वापि ग्रामे वा नगरेऽपि वा ।
अग्निं यः प्रक्षिपेत् क्रुद्धस्तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥
गोकुलस्य तृषार्तस्य जलान्ते वसुधाधिप ।
उत्पादयति यो विघ्नं तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥
यः प्रवृत्तां श्रुतिं सम्यक्छास्त्रं वा मुनिभिः कृतम् ।
दूषयत्यनभिज्ञाय तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥
चक्षुषा वापि हीनस्य पङ्गोर्वापि जडस्य वा ।
हरेद् वै यस्तु सर्वस्वं तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥
गुरुं त्वंकृत्य हुंकृत्य अतिक्रम्य च शासनम् ।
वर्तते यस्तु मूढात्मा तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥

यावत्सारो भवेद् दीनस्तन्नाशे यस्य दुःस्थितिः।
तत् सर्वस्वं हरेद् यो वै तमाहुर्ब्रह्मघातकम्॥

श्रीभगवान्ने कहा—राजन्! जो जीविकारहित ब्राह्मणको स्वयं ही भिक्षा देनेके लिये बुलाकर पीछे इनकार कर जाता है, उसे ब्रह्महत्यारा कहते हैं। भरतनन्दन! जो दुष्ट बुद्धिवाला पुरुष मध्यस्थ और ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणकी जीविका छीन लेता है, उसे भी ब्रह्मघाती ही कहते हैं। जो क्रोधमें भरकर किसी आश्रम, घर, गाँव अथवा नगरमें आग लगा देता है, उसे भी ब्रह्मघाती कहते हैं। पृथ्वीनाथ! प्याससे तड़पते हुए गोसमुदायको जो पानीके निकट पहुँचनेमें बाधा डालता है, उसे भी ब्रह्मघाती कहते हैं। जो परम्परागत वैदिक श्रुतियों और ऋषिप्रणीत सच्छास्त्रोंपर बिना समझे-बूझे दोषारोपण करता है, उसे भी ब्रह्महत्यारा कहते हैं। जो अन्धे, पङ्गु और गूँगे मनुष्यका सर्वस्व हरण कर लेता है, उसे भी ब्रह्मघाती कहते हैं। जो मूर्खतावश गुरुको 'तू' कहकर पुकारता है, हुङ्कारके द्वारा उनका तिरस्कार करता है तथा उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके मनमाना बर्ताव करता है, उसे भी ब्रह्मघाती कहते हैं। जो दीन मनुष्य किञ्चित् प्राप्त वस्तुओंको ही अपने लिये सार-सर्वस्व समझता है और उनके नाशसे जिसकी दुर्दशा हो जाती है, ऐसे मनुष्यका जो पुरुष सर्वस्व छीन लेता है, उसे भी ब्रह्मघाती कहते हैं।

धर्मका संग्रह करना चाहिये

अनृतं न वदेद् विद्वांस्तपस्तप्त्वा न विस्मयेत्।
नार्तोऽप्यभिभवेद् विप्रान् न दत्त्वा परिकीर्तयेत्॥
यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात्।
आयुर्विप्रावमानेन दानं तु परिकीर्तनात्॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रमीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेकश्चाप्नोति दुष्कृतम्॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुवर्तते॥
अनागतानि कार्याणि कर्तुं गणयते मनः।
शरीरकं समुद्दिश्य स्मयते नूनमन्तकः॥
तस्माद् धर्मसहायस्तु धर्मं संचिनुयात् सदा।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम्॥
येषां तडागानि बहूदकानि
सभाश्च कूपाश्च शुभाः प्रपाश्च।
अन्नप्रदानं मधुरा च वाणी
यमस्य ते निर्विषया भवन्ति॥

विद्वान् पुरुष कभी झूठ न बोले, तपस्या करके उसपर गर्व न करे, कष्टमें पड़ जानेपर भी ब्राह्मणोंका अनादर न करे तथा दान देकर उसका बखान न करे। झूठ बोलनेसे यज्ञका क्षय होता है, गर्व करनेसे तपस्याका क्षय होता है, ब्राह्मणके अपमानसे आयुका और अपने मुँहसे बखान करनेपर दानका नाश हो जाता है। जीव अकेले जन्म लेता है, अकेले मरता है तथा अकेले ही पुण्यका फल भोगता है और अकेले ही पापका फल भोगता है। बन्धु-बान्धव मनुष्यके मरे हुए शरीरको काठ और मिट्टीके ढेलेके समान पृथ्वीपर डालकर मुँह फेरकर चल देते हैं। उस समय केवल धर्म ही जीवके पीछे-पीछे जाता है। मनुष्यका मन भविष्यके कार्योंको करनेका हिसाब लगाया करता है, किंतु काल उसके नाशवान् शरीरको लक्ष्य करके मुसकराता रहता है; इसलिये धर्मको ही सहायक मान-कर सदा उसीके संग्रहमें लगे रहना चाहिये; क्योंकि धर्मकी सहायतासे मनुष्य दुस्तर नरकके पार हो जाता है। जिन्होंने अधिक जलसे भरे हुए अनेकों सरोवर, धर्मशालाएँ, कुएँ और सुन्दर पौंसले बनवाये हैं तथा जो सदा अन्नका दान करते हैं और मीठी वाणी बोलते हैं, उनपर यमराजका जोर नहीं चलता।

धर्म और शौचके लक्षण

शृणु राजन् समासेन धर्मशौचविधिक्रमम् ।
अहिंसा शौचमक्रोधमानृशंस्यं दमः शमः ।
आर्जवं चैव राजेन्द्र निश्चितं धर्मलक्षणम् ॥
ब्रह्मचर्यं तपः क्षान्तिर्मधुमांसस्य वर्जनम् ।
मर्यादायां स्थितिश्चैव शमः शौचस्य लक्षणम् ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—राजन् ! तुम धर्म और शौचकी विधिका क्रम संक्षेपसे सुनो । राजेन्द्र ! अहिंसा, शौच, क्रोधका अभाव, क्रूरताका अभाव, दम, शम और सरलता—ये धर्मके निश्चित लक्षण हैं । ब्रह्मचर्य, तपस्या, क्षमा, मधु-मांसका त्याग, धर्ममर्यादाके भीतर रहना और मनको वशमें रखना—ये सब शौच (पवित्रता-) के लक्षण हैं ।

पञ्चतिथियोंके—विशेषरूपसे द्वादशीके उपवासकी विधि और महिमा

श्रीभगवानुवाच

शृणु राजन् मया पूर्वं यथा गीतं तु नारदे ।
तथा ते कथयिष्यामि मद्भक्ताय युधिष्ठिर ॥
यस्तु भक्त्या शुचिर्भूत्वा पञ्चम्यां मे नराधिप ।
उपवासव्रतं कुर्यात् त्रिकालं चार्चयंस्तु माम् ।
सर्वक्रतुफलं लब्ध्वा मम लोके महीयते ॥
पर्वद्वयं च द्वादश्यौ श्रवणं च नराधिप ।
मत्पञ्चमीति विख्याता मत्प्रिया च विशेषतः ॥
तस्मात् तु ब्राह्मणश्रेष्ठैर्मन्निवेशितबुद्धिभिः ।
उपवासस्तु कर्तव्यो मत्प्रियार्थं विशेषतः ॥
द्वादश्यामेव वा कुर्यादुपवासमशक्नुवन् ।
तेनाहं परमां प्रीतिं यास्यामि नरपुङ्गव ॥

श्रीभगवान् बोले—महाराज युधिष्ठिर ! तुम मेरे भक्त हो । जैसे पूर्वमें मैंने नारदसे कहा था, वैसे ही तुम्हें बतलाता हूँ, सुनो । नरेश ! जो पुरुष स्नान आदिसे पवित्र होकर मेरी पञ्चमीके दिन भक्तिपूर्वक उपवास करता है तथा तीनों समय मेरी पूजामें संलग्न रहता है, वह सम्पूर्ण यज्ञोंका फल पाकर मेरे परम धाममें प्रतिष्ठित होता है । नरेश्वर ! अमावास्या और पूर्णिमा—ये दोनों पर्व, दोनों पक्षकी द्वादशी तथा श्रवण नक्षत्र—ये पाँच तिथियाँ मेरी पञ्चमी कहलाती हैं । ये मुझे विशेष प्रिय हैं । अतः श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको उचित है कि वे मेरा विशेष प्रिय करनेके लिये मुझमें चित्त लगाकर इन तिथियोंमें उपवास करें । नरश्रेष्ठ ! जो सबमें उपवास न कर सके, वह केवल द्वादशीको ही उपवास करे; इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है ।

स्थावर और जंगम तीर्थ—क्षमा सबसे बड़ा तीर्थ

व्रतस्य पारणं तीर्थमार्जवं तीर्थमुच्यते ।
देवशुश्रूषणं तीर्थं गुरुशुश्रूषणं तथा ॥
पितृशुश्रूषणं तीर्थं मातृशुश्रूषणं तथा ।
दाराणां तोषणं तीर्थं गार्हस्थ्यं तीर्थमुच्यते ॥
आतिथेयः परं तीर्थं ब्रह्मतीर्थं सनातनम् ।
ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं त्रेताग्निस्तीर्थमुच्यते ॥
मूलं धर्मं तु विज्ञाय मनस्तत्रावधार्यताम् ।
गच्छ तीर्थानि कौन्तेय धर्मो धर्मेण वर्धते ॥
द्विविधं तीर्थमित्याहुः स्थावरं जङ्गमं तथा ।
स्थावराज्जङ्गमं तीर्थं ततो ज्ञानपरिग्रहः ॥
कर्मणापि विशुद्धस्य पुरुषस्येह भारत ।
हृदये सर्वतीर्थानि तीर्थभूतः स उच्यते ॥
गुरुतीर्थं परं ज्ञानमतस्तीर्थं न विद्यते ।
ज्ञानतीर्थं परं तीर्थं ब्रह्मतीर्थं सनातनम् ॥

व्रतका पारण, सरलता, देवताओंकी सेवा और गुरुशुश्रूषा—ये सब तीर्थ कहे जाते हैं । माता-पिताकी सेवा, स्त्रियोंको संतुष्ट रखना और गृहस्थ-धर्मका पालन करना—ये सब तीर्थ कहे गये हैं । अतिथि-सेवामें लगे रहना परम तीर्थ है । वेदका अध्ययन सनातन तीर्थ है । ब्रह्मचर्यका

पालन करना परम तीर्थ है। आहवनीयादि तीन प्रकारकी अग्नियाँ—ये तीर्थ कहे जाते हैं। कुन्तीनन्दन! इन सबका मूल है 'धर्म'। ऐसा जानकर इनमें मन लगाओ तथा तीर्थोंमें जाओ; क्योंकि धर्म करनेसे धर्मकी वृद्धि होती है। दो प्रकारके तीर्थ बताये जाते हैं—स्थावर और जङ्गम। स्थावर-तीर्थसे जङ्गम-तीर्थ श्रेष्ठ है; क्योंकि उससे ज्ञानकी प्राप्ति होती है। भारत! इस लोकमें पुण्यकर्मके अनुष्ठानसे विशुद्ध हुए पुरुषके हृदयमें सब तीर्थ वास करते हैं; इसलिये वह तीर्थस्वरूप कहलाता है। गुरुरूपी तीर्थसे परमात्माका ज्ञान प्राप्त होता है, इसलिये उससे बढ़कर कोई तीर्थ नहीं है। ज्ञानतीर्थ सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है और ब्रह्मतीर्थ सनातन है।

श्रीभगवानुवाच

पावनं सर्वतीर्थानां सत्यं गायन्ति सामगाः।
सत्यस्य वचनं तीर्थमहिंसा तीर्थमुच्यते॥
तपस्तीर्थं दया तीर्थं शीलं तीर्थं युधिष्ठिर।
अल्पसंतोषकं तीर्थं नारी तीर्थं पतिव्रता॥
संतुष्टो ब्राह्मणस्तीर्थं ज्ञानं वा तीर्थमुच्यते।
मद्भक्ताः सततं तीर्थं शंकरस्य विशेषतः॥
यतयस्तीर्थमित्येवं विद्वांसस्तीर्थमुच्यते।
शरण्यपुरुषस्तीर्थमभयं तीर्थमुच्यते॥
क्षमा तु परमं तीर्थं सर्वतीर्थेषु पाण्डव।
क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम्॥
मानितोऽमानितो वापि पूजितोऽपूजितोऽपि वा।
आक्रुष्टस्तर्जितो वापि क्षमावांस्तीर्थमुच्यते॥
क्षमा यशः क्षमा दानं क्षमा यज्ञः क्षमा दमः।
क्षमाहिंसा क्षमा धर्मः क्षमा चेन्द्रियनिग्रहः॥
क्षमा दया क्षमा यज्ञः क्षमयैव धृतं जगत्।
क्षमावान् ब्राह्मणो देवः क्षमावान् ब्राह्मणो वरः॥
क्षमावान् प्राप्नुयात् स्वर्गं क्षमावानाप्नुयाद् यशः।
क्षमावान् प्राप्नुयान्मोक्षं तस्मात् साधुः स उच्यते॥
आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्थ-
मात्मा तीर्थं सर्वतीर्थप्रधानम्।
आत्मा यज्ञः सततं मन्यते वै
स्वर्गो मोक्षः सर्वमात्मन्यधीनम्॥
आचारनैर्मल्यमुपागतेन
सत्यक्षमानिस्तुलशीतलेन।
ज्ञानाम्बुना स्नाति हि नित्यमेवं
किं तस्य भूयः सलिलेन तीर्थम्॥

श्रीभगवान्ने कहा—राजन्! सामवेदका गायन करनेवाले विद्वान् कहते हैं कि सत्य सब तीर्थोंको पवित्र करनेवाला है। सत्य बोलना और किसी जीवकी हिंसा न करना—ये तीर्थ कहलाते हैं। युधिष्ठिर! तप, दया, शील, थोड़ेमें संतोष करना—ये सद्गुण भी तीर्थरूपमें ही हैं तथा पतिव्रता नारी भी तीर्थ है। संतोषी ब्राह्मण और ज्ञानको भी तीर्थ कहते हैं। मेरे भक्त सदैव तीर्थरूप हैं और शंकरके भक्त विशेषतया तीर्थ हैं। संन्यासी और विद्वान् भी तीर्थ कहे जाते हैं। दूसरोंको शरण देनेवाले पुरुष भी तीर्थ हैं। जीवोंको अभय-दान देना भी तीर्थ ही कहलाता है।

पाण्डुनन्दन! समस्त तीर्थोंमें भी क्षमा सबसे बड़ा तीर्थ है। क्षमाशील मनुष्योंको इस लोक और परलोकमें भी सुख मिलता है। कोई मान करे या अपमान, पूजा करे या तिरस्कार अथवा गाली दे या डाँट बतावे—इन सभी परिस्थितियोंमें जो क्षमाशील बना रहता है, वह तीर्थ कहलाता है। क्षमा ही यश, दान, यज्ञ और मनोनिग्रह है। अहिंसा, धर्म और इन्द्रियोंका संयम क्षमाके ही स्वरूप हैं। क्षमा ही दया और क्षमा ही यज्ञ है। क्षमासे ही सारा जगत् टिका हुआ है; अतः जो ब्राह्मण क्षमावान् है, वह देवता कहलाता है। वही सबसे श्रेष्ठ है। क्षमाशील मनुष्यको स्वर्ग, यश और मोक्षकी प्राप्ति होती है; इसलिये क्षमावान् पुरुष साधु कहलाता है। राजन्!

आत्मारूप नदी परम पावन तीर्थ है, यह सब तीर्थोंमें प्रधान है। आत्माको सदा यज्ञरूप माना गया है। स्वर्ग, मोक्ष—सब आत्माके ही अधीन हैं। जो सदाचारके पालनसे अत्यन्त निर्मल हो गया है तथा सत्य और क्षमाके द्वारा जिसमें अतुलनीय शीतलता आ गयी है—ऐसे ज्ञानरूपी जलमें निरन्तर स्नान करनेवाले पुरुषको केवल पानीसे भरे हुए तीर्थकी क्या आवश्यकता है?

पाँच प्रकारकी शुद्धि

मनश्शौचं कर्मशौचं कुलशौचं च भारत।
शरीरशौचं वाक्छौचं शौचं पञ्चविधं स्मृतम् ॥
पञ्चस्वेतेषु शौचेषु हृदि शौचं विशिष्यते।
हृदयस्य च शौचेन स्वर्गं गच्छन्ति मानवाः ॥

मनःशुद्धि, क्रियाशुद्धि, कुलशुद्धि, शरीरशुद्धि और वाक्-शुद्धि—इस तरह पाँच प्रकारकी शुद्धि बतायी गयी है। इन पाँचों शुद्धियोंमें हृदयकी शुद्धि सबसे बढ़कर है। हृदयकी ही शुद्धिसे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं।

भगवान्‌की भक्ति और आराधनाके सभी अधिकारी

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥
यान्युक्तानि मया सम्यग् विद्यास्थानानि भारत।
उत्पन्नानि पवित्राणि भुवनार्थं तथैव च ॥
तस्मात् तानि न शूद्रस्य स्पृष्टव्यानि युधिष्ठिर।
मद्भक्तान् शूद्रसामान्यादवमन्यन्ति ये नराः।
नरकेष्वेव तिष्ठन्ति वर्षकोटिं नराधमाः ॥
चण्डालमपि मद्भक्तं नावमन्येत बुद्धिमान्।
अवमानात् पतन्त्येव नरके रौरवे नराः ॥
मम भक्तस्य भक्तेषु प्रीतिरभ्यधिका मम।
तस्मान्मद्भक्तभक्ताश्च पूजनीया विशेषतः ॥
कीटपक्षिमृगाणां च मयि संन्यस्तचेतसाम्।
ऊर्ध्वामेव गतिं विद्धि किं पुनर्ज्ञानिनां नृणाम् ॥
पत्रं वाप्यथवा पुष्पं फलं वाप्यप एव वा।
ददाति मम शूद्रो यच्छिरसा धारयामि तत् ॥
वेदोक्तेनैव मार्गेण सर्वभूतहृदि स्थितम्।
मामर्चयन्ति ये विप्रा मत्सायुज्यं व्रजन्ति ते ॥
मद्भक्तानां हितायैव प्रादुर्भावः कृतो मया।
प्रादुर्भावकृता काचिदर्चनीया युधिष्ठिर ॥
आसामन्यतमां मूर्तिं यो मद्भक्त्या समर्चति।
तेनैव परितुष्टोऽहं भविष्यामि न संशयः ॥
मृदा च मणिरत्नैश्च ताम्रेण रजतेन च।
कृत्वा प्रतिकृतिं कुर्यादर्चनां काञ्चनेन वा।
पुण्यं दशगुणं विद्यादेतेषामुत्तरोत्तरम् ॥
जयकामो भवेद् राजा विद्याकामो द्विजोत्तमः।
वैश्यो वा धनकामस्तु शूद्रः सुखफलप्रियः।
सर्वकामाः स्त्रियो वापि सर्वान् कामानवाप्नुयुः ॥

चार वेद, छः अङ्ग, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण—ये चौदह विद्याएँ हैं। भरतनन्दन! मैंने जो विद्याके चौदह पवित्र स्थान पूर्णतया बताये हैं, वे तीनों लोकोंके कल्याणके लिये प्रकट हुए हैं। अतः शूद्रको इनका स्पर्श नहीं करना चाहिये। जो मनुष्य मेरे भक्तोंका शूद्रजातिमें जन्म होनेके कारण अपमान करते हैं, वे नराधम करोड़ों वर्षतक नरकोंमें निवास करते हैं। अतः चाण्डाल भी यदि मेरा भक्त हो तो बुद्धिमान् पुरुषको उसका अपमान नहीं करना चाहिये। अपमान करनेसे मनुष्यको रौरव नरकमें गिरना पड़ता है। जो मनुष्य मेरे भक्तोंके भक्त होते हैं, उनपर मेरा विशेष प्रेम होता

है, इसलिये मेरे भक्तके भक्तोंका विशेष सत्कार करना चाहिये। मुझमें चित्त लगानेपर कीड़े, पक्षी और पशु भी ऊर्ध्वगतिको ही प्राप्त होते हैं; फिर ज्ञानी मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ? मेरा भक्त शूद्र भी यदि पत्र, पुष्प, फल अथवा जल ही अर्पण करे तो मैं उसे सिरपर धारण करता हूँ। जो ब्राह्मण सम्पूर्ण भूतोंके हृदयमें विराजमान मुझ परमेश्वरका वेदोक्त रीतिसे पूजन करते हैं, वे मेरे सायुज्यको प्राप्त होते हैं। युधिष्ठिर ! मैं अपने भक्तोंका हित करनेके लिये ही अवतार धारण करता हूँ; अतः मेरे प्रत्येक अवतार-विग्रहका पूजन करना चाहिये। जो मनुष्य मेरे अवतार-विग्रहोंमेंसे किसी एककी भी भक्तिभावसे आराधना करता है, उसके ऊपर मैं निःसंदेह प्रसन्न होता हूँ। मिट्टी, ताँबा, चाँदी, स्वर्ण अथवा मणि एवं रत्नोंकी मेरी प्रतिमा बनवाकर उसकी पूजा करनी चाहिये। इनमें उत्तरोत्तर मूर्तियोंकी पूजासे दसगुना अधिक पुण्य समझना चाहिये। यदि ब्राह्मणको विद्याकी, क्षत्रियको युद्धमें विजयकी, वैश्यको धनकी, शूद्रको सुखस्वरूप फलकी तथा स्त्रियोंको सब प्रकारकी कामना हो, तो ये सब मेरी आराधनासे अपने सभी मनोरथोंको प्राप्त कर सकते हैं।

भगवान्के उपदेशका उपसंहार और द्वारका-गमन

शूद्रके द्वारा भक्तिपूर्वक दिये हुए पदार्थ भगवान् सिर चढ़ाते हैं

द्विजशुश्रूषणं धर्मः शूद्राणां भक्तितो मयि।
द्विजशुश्रूषया शूद्रः परं श्रेयोऽधिगच्छति।
द्विजशुश्रूषणादन्यन्नास्ति शूद्रस्य निष्कृतिः॥
स्रष्टा पितामहः शूद्रमभिभूतं तु तामसैः।
द्विजशुश्रूषणं धर्मं शूद्राणां तु प्रयुक्तवान्।
नश्यन्ति तामसा भावाः शूद्रस्य द्विजभक्तितः॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतं मूर्ध्ना गृह्णामि शूद्रतः॥
अग्रजो वापि यः कश्चित् सर्वपापसमन्वितः।
यदि मां सततं ध्यायेत् सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

शूद्र मुझमें भक्ति रखते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी सेवा करे—यही उनका परम धर्म है। द्विजोंकी सेवासे ही शूद्र परम कल्याणके भागी होते हैं। इसके सिवा उनके उद्धारका दूसरा कोई उपाय नहीं है। ब्रह्माजीने शूद्रोंको तामस गुणोंसे युक्त उत्पन्न करके उनके लिये द्विजोंकी सेवारूप धर्मका उपदेश किया। द्विजोंकी भक्तिसे शूद्रके तामस भाव नष्ट हो जाते हैं। पर शूद्र भी यदि भक्तिपूर्वक मुझे पत्र, पुष्प, फल अथवा जल अर्पण करता है, तो मैं उसके भक्तिपूर्वक दिये हुए उपहारको सादर शीश चढ़ाता हूँ। सम्पूर्ण पापोंसे युक्त होनेपर भी यदि कोई ब्राह्मण सदा मेरा ध्यान करता रहता है, तो वह अपने सम्पूर्ण पापोंसे छुटकारा पा जाता है।

भक्तकी महिमा

विद्याविनयसम्पन्ना ब्राह्मणा वेदपारगाः।
मयि भक्तिं न कुर्वन्ति चाण्डालसदृशा हि ते॥
वृथा दानं वृथा तप्तं वृथा चेष्टं वृथा हुतम्।
वृथाऽऽतिथ्यं च तत् तस्य यो न भक्तो मम द्विजः॥

स्थावरे जङ्गमे वापि सर्वभूतेषु पाण्डव।
समत्वेन यदा कुर्यान्मद्भक्तो मित्रशत्रुषु॥
आनृशंस्यमहिंसा च यथा सत्यं तथाऽऽर्जवम्।
अद्रोहश्चैव भूतानां मद्व्रतानां व्रतं नृप॥
नम इत्येव यो ब्रूयान्मद्भक्तं श्रद्धयान्वितः।
तस्याक्षयाऽभवँल्लोकाः श्वपाकस्यापि पार्थिव॥
किं पुनर्ये यजन्ते मां सदारं विधिपूर्वकम्।
मद्भक्ता मद्गतप्राणाः कथयन्तश्च मां सदा॥
बहुवर्षसहस्राणि तपस्तपति यो नरः।
नासौ पदमवाप्नोति मद्भक्तैर्यदवाप्यते॥
मामेव तस्माद् राजेन्द्र ध्यायन् नित्यमतन्द्रितः।
अवाप्स्यसि ततः सिद्धिं द्रक्ष्यस्येव परं पदम्॥

विद्या और विनयसे सम्पन्न तथा वेदोंके पारंगत विद्वान् होनेपर भी जो ब्राह्मण मुझमें भक्ति नहीं करते, वे चाण्डालके समान हैं। जो द्विज मेरा भक्त नहीं है, उसके दान, तप, यज्ञ, होम और अतिथि-सत्कार—ये सब व्यर्थ हैं। पाण्डुनन्दन! जब मनुष्य समस्त स्थावर-जङ्गम प्राणियोंमें एवं मित्र और शत्रुमें समान दृष्टि कर लेता है, उस समय वह मेरा सच्चा भक्त होता है। राजन्! क्रूरताका अभाव, अहिंसा, सत्य, सरलता तथा किसी भी प्राणीसे द्रोह न करना—यह मेरे भक्तोंका व्रत है। पृथ्वीनाथ! जो मनुष्य मेरे भक्तको श्रद्धापूर्वक नमस्कार करता है, वह चाण्डाल ही क्यों न हो, उसे अक्षय लोकोंकी प्राप्ति होती है। फिर जो साक्षात् मेरे भक्त हैं, जिनके प्राण मुझमें ही लगे रहते हैं, तथा जो सदा मेरे ही नाम और गुणोंका कीर्तन करते रहते हैं, वे यदि लक्ष्मीसहित मेरी विधिवत् पूजा करते हैं, तो उनकी सद्गतिके विषयमें क्या कहना है? अनेकों हजार वर्षोंतक तपस्या करनेवाला मनुष्य भी उस पदको प्राप्त नहीं होता, जो मेरे भक्तोंको अनायास ही मिल जाता है। इसलिये राजेन्द्र! तुम सदा सजग रहकर निरन्तर मेरा ही ध्यान करते रहो, इससे तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी और तुम निश्चय ही परम पदका साक्षात्कार कर सकोगे।

ऋग्वेदेनैव होता च यजुषाध्वर्युरेव च।
सामवेदेन चोद्गाता पुण्येनाभिष्टुवन्ति माम्॥
अथर्वशिरसा चैव नित्यमाथर्वणा द्विजाः।
स्तुवन्ति सततं ये मां ते वै भागवताः स्मृताः॥
वेदाधीनाः सदा यज्ञा यज्ञाधीनास्तु देवताः।
देवता ब्राह्मणाधीनास्तस्माद् विप्रास्तु देवताः॥
अनाश्रित्योच्छ्रयं नास्ति मुख्यमाश्रयमाश्रयेत्।
रुद्रं समाश्रिता देवा रुद्रो ब्रह्माणमाश्रितः॥
ब्रह्मा मामाश्रितो राजन् नाहं कंचिदुपाश्रितः।
ममाश्रयो न कश्चित् तु सर्वेषामाश्रयो ह्यहम्॥
एवमेतन्मया प्रोक्तं रहस्यमिदमुत्तमम्।
धर्मप्रियस्य ते नित्यं राजन्नेवं समाचर॥

जो होता बनकर ऋग्वेदके द्वारा, अध्वर्यु होकर यजुर्वेदके द्वारा, उद्गाता बनकर परम पवित्र सामवेदके द्वारा मेरा स्तवन करते हैं तथा अथर्ववेदीय द्विजोंके रूपमें जो अथर्ववेदके द्वारा सदा मेरी स्तुति किया करते हैं, वे भगवद्भक्त माने गये हैं। यज्ञ सदा वेदोंके अधीन हैं और देवता यज्ञों तथा ब्राह्मणोंके अधीन होते हैं, इसलिये ब्राह्मण देवता हैं। किसीका सहारा लिये बिना कोई ऊँचे नहीं चढ़ सकता, अतः सबको किसी प्रधान आश्रयका सहारा लेना चाहिये। देवतालोग भगवान् रुद्रके आश्रयमें रहते हैं, रुद्र ब्रह्माजीके आश्रित हैं।

ब्रह्माजी मेरे आश्रयमें रहते हैं, किंतु मैं किसीके आश्रित नहीं हूँ। राजन्! मेरा आश्रय कोई नहीं है। मैं ही सबका आश्रय हूँ। राजन्! इस प्रकार ये उत्तम रहस्यकी बातें मैंने तुम्हें बतायी हैं; क्योंकि तुम धर्मके प्रेमी हो। अब तुम इस उपदेशके ही अनुसार सदा आचरण करो।

साक्षात् विष्णुस्वरूप जगद्‌गुरु भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे भागवत-धर्मोंका श्रवण करके इस अद्भुत प्रसंगपर विचार करते हुए ऋषि और पाण्डवलोग बहुत प्रसन्न हुए और सबने भगवान्‌को प्रणाम किया। धर्मनन्दन युधिष्ठिरने तो बारंबार गोविन्दका पूजन किया। देवता, ब्रह्मर्षि, सिद्ध, गन्धर्व, अप्सराएँ, ऋषि, महात्मा, गुह्यक, सर्प, महात्मा, बालखिल्य, तत्त्वदर्शी योगी तथा पञ्चयाम उपासना करनेवाले भगवद्भक्त पुरुष, जो अत्यन्त उत्कण्ठित होकर उपदेश सुननेके लिये पधारे थे; इस परम पवित्र वैष्णव-धर्मका उपदेश सुनकर तत्क्षण निष्पाप एवं पवित्र हो गये। सबमें भगवद्भक्ति उमड़ आयी। फिर उन सबने भगवान्‌के चरणोंमें मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और उनके उपदेशकी प्रशंसा की। फिर 'भगवन्! अब हम द्वारकामें पुनः आप जगद्‌गुरुका दर्शन करेंगे', यों कहकर सब ऋषि प्रसन्नचित्त हो देवताओंके साथ अपने-अपने स्थानको चले गये। राजन्! उन सबके चले जानेपर केशिनिषूदन भगवान् श्रीकृष्णने सात्यकिसहित दारुकको याद किया। सारथि दारुक पास ही बैठा था, उसने निवेदन किया—'भगवन्! रथ तैयार है, पधारिये।' यह सुनकर पाण्डवोंका मुँह उदास हो गया।' उन्होंने हाथ जोड़कर सिरसे लगाया और वे आँसूभरे नेत्रोंसे पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी ओर एकटक देखने लगे, किंतु अत्यन्त दुखी होनेके कारण उस समय कुछ बोल न सके। देवेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण भी उनकी दशा देखकर दुखी-से हो गये और उन्होंने कुन्ती, धृतराष्ट्र, गान्धारी, विदुर, द्रौपदी, महर्षि व्यास और अन्यान्य ऋषियों एवं मन्त्रियोंसे बिदा लेकर सुभद्रा तथा पुत्रसहित उत्तराकी पीठपर हाथ फेरा और आशीर्वाद देकर वे उस राजभवनसे बाहर निकल आये और रथपर सवार हो गये। उस रथमें शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामवाले चार घोड़े जुते हुए थे तथा बुद्धिमान् गरुड़का ध्वज फहरा रहा था। उस समय कुरुदेशके राजा युधिष्ठिर भी प्रेमवश भगवान्‌के पीछे-पीछे स्वयं भी रथपर जा बैठे और तुरंत ही श्रेष्ठ दारुकको सारथिके स्थानसे हटाकर उन्होंने घोड़ोंकी बागडोर अपने हाथमें ले ली। फिर अर्जुन भी रथपर आरूढ़ हो स्वर्णदण्डयुक्त विशाल चँवर हाथमें लेकर दाहिनी ओरसे भगवान्‌के मस्तकपर हवा करने लगे। इसी प्रकार महाबली भीमसेन भी रथपर जा चढ़े और भगवान्‌के ऊपर छत्र लगाये खड़े हो गये। वह छत्र सौ कमानियोंसे युक्त तथा दिव्य मालाओंसे सुशोभित था। उसका डंडा वैदूर्य मणिका बना हुआ था तथा सोनेकी झालरें उसकी शोभा बढ़ा रही थीं। भीमसेनने शार्ङ्गधनुषधारी श्रीकृष्णके उस छत्रको शीघ्र ही धारण कर लिया। नकुल और सहदेव भी अपने हाथोंमें सफेद चँवर लिये शीघ्र रथपर सवार हो गये और भगवान् जनार्दनके ऊपर डुलाने लगे। इस प्रकार युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवने हर्षपूर्वक श्रीकृष्णका अनुसरण किया और कहने लगे—'आप मत जाइये'। तीन योजन (चौबीस मील) तक चले आनेके बाद भगवान् श्रीकृष्णने अपने चरणोंमें पड़े हुए पाण्डवोंको गलेसे लगाकर बिदा किया और स्वयं द्वारकाको चले गये। इस प्रकार भगवान् गोविन्दको प्रणाम करके जब पाण्डव घर लौटे, उस दिनसे सदा धर्ममें तत्पर रहकर कपिला आदि गौओंका दान करने लगे। वे सब पाण्डव भगवान् श्रीकृष्णके वचनोंको बारंबार याद करके और उनको हृदयमें धारण करके मन-ही-मन उनकी सराहना करते थे। धर्मात्मा युधिष्ठिर ध्यानद्वारा भगवान्‌को अपने हृदयमें विराजमान करके उन्हींके भजनमें लग गये, उन्हींका स्मरण करने लगे और योगयुक्त होकर भगवान्‌का यजन करते हुए उन्हींके परायण हो गये।

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

संक्षिप्त लीला-प्रसङ्गसहित

श्रीकृष्णवचनामृत

[हरिवंशपुराण]

श्रीकृष्णका गोपोंसे अपनेको आत्मीय बन्धु माननेका अनुरोध

श्रीकृष्णके द्वारा व्रजमें इन्द्रपूजा बंद हुई और उसके स्थानमें गोवर्धन-पूजाका श्रीगणेश हुआ। इससे इन्द्रको बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने संवर्तक मेघोंद्वारा भयानक वृष्टि कराकर गौओं तथा गोपोंको कष्टमें डाल दिया। तब श्रीकृष्णने गोवर्धन पर्वतको छत्रकी भाँति हाथपर उठा लिया और सम्पूर्ण गोप एवं गो-मण्डलकी रक्षा की। इससे विस्मित होकर देवराज इन्द्र वहाँ आये। उन्होंने श्रीकृष्णकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और उनका 'गोविन्द' पदपर अभिषेक किया। जब वे चले गये, तब गोपोंने श्रीकृष्णके अलौकिक चरित्रपर विचार करके सशङ्क हो उनसे पूछा—'आप कौन हैं?' तब श्रीकृष्णने मुस्कराकर उत्तर दिया—

कोई दूसरा बलवान् मानकर मेरा अपमान मत कीजिये, अपने घरका ही मानिये

मन्यन्ते मां यथा सर्वे भवन्तो भीमविक्रमम्।
तथाहं नावमन्तव्यः स्वजातीयोऽस्मि बान्धवः॥
यदि त्ववश्यं श्रोतव्यं कालः सम्प्रति पाल्यताम्।
ततो भवन्तः श्रोष्यन्ति मां च द्रक्ष्यन्ति तत्त्वतः॥
यद्ययं भवतां श्लाघ्यो बान्धवो देवसप्रभः।
परिज्ञानेन किं कार्यं यद्येषोऽनुग्रहो मम॥

(हरिवंश० विष्णु० २०। ११—१३)

आप सब लोग मुझे जैसा भयानक पराक्रमी समझ रहे हैं, वैसा मानकर मेरा अनादर न करें। मैं तो आपलोगोंका सजातीय भाई-बन्धु ही हूँ। यदि मेरे विषयमें आपलोगोंको यथार्थ बात अवश्य ही सुननी है तो इसके लिये उपयुक्त समयकी प्रतीक्षा करें; फिर आप मेरे विषयमें सुनेंगे और मैं वास्तवमें कैसा हूँ, यह देख और समझ सकेंगे। यदि देवोपम कान्तिसे युक्त यह बालक आपलोगोंका स्पृहणीय भाई-बन्धु है, तो इसके विषयमें विशेष छानबीन करनेकी क्या आवश्यकता है! यदि आप मौन ही रहें तो यह मेरे ऊपर आपका महान् अनुग्रह होगा।

मल्लयुद्धके नियम, मल्लोंके आचार तथा चाणूरके अत्याचारके विषयमें श्रीकृष्णके उद्गार

कंसके भेजनेसे अक्रूरजी व्रजमें गये और वसुदेव-देवकी-की दयनीय दशा बताकर श्रीकृष्ण और बलरामको मथुरा ले आये। मथुरामें प्रवेश करके बलराम आदिके साथ श्रीकृष्ण-ने नगरकी शोभा देखी। उद्दण्डतापूर्ण बर्ताव करनेवाले रजकको मारा, भक्त मालीको वरदान दिया, अङ्गराग अर्पण करनेवाली कुब्जापर कृपा की तथा कंसके विशाल धनुषको तोड़ डाला। दूसरे दिन श्रीकृष्ण और बलराम रंगशालाके द्वारपर गये। वहाँ कंसके आदेशसे जब महावतने कुवलयापीड नामक हाथीको उन्हें कुचल डालनेके लिये आगे बढ़ाया तब श्रीकृष्णने हाथी, महावत और उसके पादरक्षकोंको मौतके घाट उतार दिया। तदनन्तर वे दोनों भाई कंसकी रंगशालामें पहुँचे। वहाँ राजाकी ओरसे यह आदेश हुआ कि श्रीकृष्ण चाणूरके साथ मल्लयुद्ध करें। पर्वताकार दैत्य चाणूरके साथ सुकुमार बालक श्रीकृष्णको लड़ाया जाय, यह नागरिकोंको अच्छा न लगा। उनका विरोधी स्वर उग्र हो उठा। तब श्रीकृष्ण खड़े होकर बोले—

मलयुद्ध (पहलवानोंकी कुश्ती-) के नियम

अहं बालो महानन्ध्रो वपुषा पर्वतोपमः ।
युद्धं ममानेन सह रोचते बाहुशालिना ॥
युद्धव्यतिक्रमः कश्चिन्न भविष्यति मत्कृतः ।
न ह्यहं बाहुयोधानां दूषयिष्यामि यन्मतम् ॥
योऽयं करीषधर्मश्च तोयधर्मश्च रंगजः ।
कषायस्य च संसर्गः समयो ह्येष कल्पितः ॥
संयमः स्थिरता शौर्यं व्यायामः सत्क्रिया बलम्
रंगे च नियता सिद्धिरेतद् युद्धविदां मतम् ॥
अवैरमेवं यदयं सवैरं कर्तुमुद्यतः ।
अत्र वै निग्रहः कार्यस्तोषयिष्याम्यहं जगत् ॥
करूषेषु प्रसूतोऽयं चाणूरो नाम नामतः ।
बाहुयोधी शरीरेण कर्मभिश्चात्र चिन्त्यताम् ॥
एतेन बहवो मल्ला निपातानन्तरं हताः ।
रंगप्रतापकामेन मल्लमार्गश्च दूषितः ॥
शस्त्रसिद्धिस्तु योधानां संग्रामे शस्त्रयोधिनाम् ।
रंगसिद्धिस्तु मल्लानां प्रतिमल्लनिपातजा ॥
रणे विजयमानस्य कीर्तिर्भवति शाश्वती ।
हतस्यापि रणे शस्त्रैर्नाकपृष्ठं विधीयते ॥
रणे ह्युभयतः सिद्धिर्हतस्येह घ्नतोऽपि वा ।
सा हि प्राणान्तिकी यात्रा महद्भिः साधुपूजिता ॥
अयं तु मार्गो बलतः क्रियातश्च विनिःसृतः ।
मृतस्य रंगे क्व स्वर्गो जयतो वा कुतो रतिः ॥

(हरिवंश० विष्णु० ३० । १९—२९)

'मैं बालक हूँ और यह महामल्ल अन्ध्र शरीरसे पर्वत-जैसा दिखायी देता है तथापि इस बाहुशाली वीरके साथ मेरा युद्ध हो, यह मुझे पसंद है । मेरी ओरसे युद्धसम्बन्धी नियमका कोई उल्लङ्घन नहीं होगा । बाहुयुद्ध करनेवाले योद्धाओंका जो मत है, उसे मैं कलंकित नहीं करूँगा । गोबरके चूर्णको उबटनके समान शरीरमें मलना, जलसे धोना और गेरूके रंगका लेपन करना रंगस्थल (अखाड़ेमें उतरनेवालों) का धर्म है, यह मल्लोंका बनाया हुआ आचार है । संयम (एक दूसरेको पीछे हटाना), स्थिरता (अपने स्थानसे न हटना), शौर्य, व्यायाम (स्थिर रहते हुए भी हाथ-पैर चलाना), सत्क्रिया (सद्वर्ताव—मर्मस्थानोंमें चोट न पहुँचाना), असद् व्यवहारसे बचते हुए भी अधिक-से-अधिक बल प्रकट करना—इन छः साधनोंके द्वारा रंगभूमिमें विजयरूप सिद्धिका प्राप्त होना निश्चित है; यह मल्लयुद्धके विद्वानोंका मत है । यह (चाणूर अथवा कंस) इस वैररहित युद्धको भी वैरयुक्त कर देनेपर तुला हुआ है, अतः यहाँ इसका निग्रह करना आवश्यक है । ऐसा करके मैं सम्पूर्ण जगत्को संतुष्ट करूँगा । यह चाणूर नामक बाहुयोधी मल्ल (पहलवान) करूष देशमें उत्पन्न हुआ है । इसके शरीर और कर्मसे जो घटनाएँ घटित हुई हैं, उनपर भी आपलोग विचार कर लें । इसने रंगभूमिमें अपना प्रताप प्रकट करने या दबदबा जमानेकी इच्छासे बहुतेरे पहलवानोंको भूमिपर गिरानेके बाद मार डाला और इस प्रकार मल्ल-मार्गको कलंकित किया है । शस्त्रद्वारा युद्ध करनेवाले योद्धाओंके लिये संग्राममें शत्रुको विदीर्ण कर देना ही सिद्धि है; परंतु मल्लोंको प्रतिद्वन्द्वी मल्लको गिरा देने मात्रसे ही रंगस्थलमें विजयरूप सिद्धि प्राप्त हो जाती है । शस्त्रयुद्धमें विजय पानेवालेको अक्षय कीर्ति प्राप्त होती है । यदि वह रणक्षेत्रमें शस्त्रोंद्वारा मारा गया, तो भी उसे स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है । शस्त्रयुद्धमें मारे जाने-वालेको तथा मारनेवाले—दोनोंको ही सिद्धि प्राप्त होती है; क्योंकि वह प्राणान्तक यात्रा है, जिसकी महान् पुरुषोंने भलीभाँति पूजा (प्रशंसा) की है । परंतु यह मल्लयुद्धका मार्ग शारीरिक बल और दाँव-पेंचके कौशलसे प्रकट हुआ है । अखाड़ेमें मरनेवालेको कहाँ स्वर्ग मिलता है ? अथवा जीतनेवालेको कहाँका सुख प्राप्त होता है ?

कंसकी विधवा रानियोंके दुःखसे पश्चात्ताप और शोक प्रकट करते हुए श्रीकृष्णके द्वारा कंसवधके औचित्यका प्रतिपादन

भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामने चाणूर आदि मल्लोंका कचूमर निकालकर पितापर आक्षेप करनेवाले कंसका विध्वंस कर डाला। कंस संसारके लिये कण्टक हो रहा था, उसका नाश करके बलराम और श्यामने पिता वसुदेव और माता देवकीके चरणोंमें प्रणाम किया। उस समय देवकी आनन्दातिरेकसे निर्गत स्तनोंकी दुग्धधारासे उनका अभिषेक करने लगीं। फिर दोनों भाई प्रसन्नतापूर्वक पिताके घर गये। इधर कंसकी रानियाँ तथा उसकी माता कुररीकी भाँति विलाप करने लगीं। उनके करुण विलापको सुनकर श्रीकृष्णका हृदय द्रवित हो गया, उनका मुख मलिन हो गया और वे उस समय यादव-समाजमें अपनी निन्दा करते हुए बोले—

कंस-रानियोंके प्रति सहानुभूति

अहो मयातिबाल्येन रोषाद् दोषानुवर्तिना।
वैधव्यं स्त्रीसहस्राणां कंसस्यास्य वधे कृतम् ॥
कारुण्यं खलु नारीषु प्राकृतस्यापि जायते।
एवमार्तं रुदन्तीषु मया भर्तरि पातिते ॥
परिदेवितमात्रेण शोकः खलु विधीयते।
कृतान्तस्यानभिज्ञानां स्त्रीणां कारुण्यसम्भवः ॥

(हरिवंश० विष्णु० ३२ । ४—६)

अहो ! मैंने मोहसे रोषवश दोषका ही अनुसरण किया जो इस कंसका वध करके हजारों स्त्रियोंको विधवा बना दिया है। साधारण मनुष्योंको भी स्त्रियोंपर दया हो आती है, परंतु मेरेद्वारा अपने पतिके मारे जानेपर जो इस प्रकार आर्त होकर रो रही हैं, उन रानियोंके प्रति केवल पश्चात्ताप प्रकट करके मैं अपना शोक प्रकाशित कर रहा हूँ। इन भोली-भाली स्त्रियोंके विलापको सुनकर तो यमराजके हृदयमें भी करुणाका संचार हो सकता है।

पापात्मा कंसका वध ही श्रेयस्कर था

कंसस्य हि वधः श्रेयान् प्रागेवाभिमतो मम।
सतामुद्वेजनीयस्य पापेष्वभिरतस्य च ॥
लोके पतितवृत्तस्य पुरुषस्याल्पमेधसः।
अक्लिष्टं मरणं श्रेयो न विद्विष्टस्य जीवितम् ॥
कंसः पापपरश्चैव साधूनामप्यसम्मतः।
धिक्छब्दपतितश्चैव जीविते चास्य का दया ॥
स्वर्गे तपोभृतां वासः फलं पुण्यस्य कर्मणः।
इहापि यशसा युक्तः स्वर्गस्थैरवधार्यते ॥
यदि स्युर्निर्वृता लोकाः स्युश्च धर्मपराः प्रजाः।
नरा धर्मप्रवृत्ताश्च न राज्ञामनयः स्पृशेत् ॥
निग्रहे दुष्टवृत्तीनां कृतान्तः कुरुते फलम्।
इष्टधर्मेषु लोकेषु कर्तव्यं पारलौकिकम् ॥
अतीव देवा रक्षन्ति नरं धर्मपरायणम्।
कर्तारः सुलभा लोके दुष्कृतस्य हि कर्मणः ॥
हतः सोऽयं मया कंसः साध्वेतदवगम्यताम्।
मूलच्छेदः कृतस्तस्य विपरीतस्य कर्मणः ॥
तदेष सान्त्व्यतां सर्वः शोकार्तः प्रमदाजनः।
पौराश्च पुर्यां श्रेण्यश्च सान्त्व्यन्तां सर्व एव हि ॥

(हरिवंश० विष्णु० ३२ । ७—१५)

मैंने तो पहलेसे ही यह निश्चय कर लिया था कि कंसका वध ही श्रेष्ठ है। जो सदा पापोंमें तत्पर रहनेके कारण साधु पुरुषोंकी दृष्टिमें भी उद्वेजनीय (उद्वेगमें डालने योग्य) हो गया हो, संसारमें सदाचारसे गिर गया हो तथा सब लोग जिससे विद्वेष रखने लगे हों, ऐसे मन्द-बुद्धि पुरुषका मर जाना ही श्रेयस्कर है। वही उसे क्लेशसे छुटकारा दिलानेवाला है; जीवित रहना नहीं। कंस सदा पापोंमें ही लगा रहता था; साधु पुरुष भी (उसे दुष्ट समझकर) उसका आदर नहीं करते थे तथा वह सबका धिक्कार पाकर पतित हो गया था; अतः उसके जीवनपर क्या दया हो सकती है ? तपस्वी पुरुषोंको जो स्वर्गलोकमें निवास प्राप्त होता है, वह उनके पुण्यकर्मका ही फल है।

पुण्यात्मा पुरुष इस जगत्‌में भी यशस्वी होता है और स्वर्गवासी देवता भी उसे सादर ग्रहण करते हैं। यदि सब लोग संतुष्ट हों; सारी प्रजा धर्ममें तत्पर रहे और मनुष्योंकी केवल धर्ममें ही प्रवृत्ति हो तो राजाओंको अन्याय छू भी नहीं सकता। यदि राजा इस लोकमें दुष्ट-वृत्तिवाले पुरुषोंका दमन करे तो परलोकमें धर्मराज उसे उसका फल देते हैं। सम्पूर्ण लोकोंको धर्म (उसके फलस्वरूप सुखकी प्राप्ति) ही अभीष्ट है, इसलिये उनमें रहनेवाले पुरुषोंको परलोकमें सुख देनेवाले पुण्यकर्मोंका ही अनुष्ठान करना चाहिये। देवता धर्मपरायण मनुष्यकी विशेषरूपसे रक्षा करते हैं; क्योंकि लोकमें अधिकतर पापकर्म करनेवाले ही सुलभ होते हैं। अतः मैंने जो इस कंसका वध किया है, इसे आपलोग ठीक समझें; क्योंकि ऐसा करके मैंने उसके पाप कर्मका मूलोच्छेद कर डाला है। इसलिये इन समस्त शोकाकुल नारियोंको आपलोग सान्त्वना प्रदान करें और मथुरापुरीके नागरिकों एवं शिल्पियों तथा व्यवसायियोंको भी समझा-बुझाकर धीरज बँधावें।

रागद्वेषरहित निष्काम कर्मका प्रत्यक्ष उदाहरण—'कंसका वध लोकहितके लिये किया गया, राज्य-लोभसे नहीं'—यह कहकर श्रीकृष्णने उग्रसेनको ही राज्यसिंहासनपर बैठाया

जब श्रीकृष्ण इस प्रकार कह रहे थे, उसी समय राजा उग्रसेन अपना मुँह नीचे किये कुछ यादवोंको साथ ले उस घरमें प्रविष्ट हुए। वे मन-ही-मन अपने पुत्र कंसके अपराध-से डरे हुए थे। उन्होंने उस यादव-सभामें कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णसे आँसूभरी दीन गद्गद तथा लड़खड़ाती हुई वाणीमें इस प्रकार कहा—

'श्रीकृष्ण! तुमने मेरे पुत्रसे उसके अपराधका बदला ले लिया, अपने उस शत्रुको क्रोधपूर्वक यमलोक पहुँचा दिया, धर्मके अनुसार कीर्ति प्राप्त कर ली और भूमण्डलमें अपने नामका डंका पीट दिया। सत्पुरुषोंके हृदयमें अपनी महत्ता स्थापित कर दी और शत्रुओंको भयभीत कर दिया, यदुवंश-की जड़ जमा दी और सुहृदोंको अपने ऊपर गर्व करनेका अवसर दिया। सामन्त राजाओंमें तुम्हारा प्रताप प्रकाशित हो गया, मित्रगण तुम्हें अपनायेंगे और भूमण्डलके राजा तुम्हारा आश्रय लेंगे। प्रकृतियाँ (प्रजा, मन्त्री आदि) तुम्हारा अनुसरण करेंगी, ब्राह्मणलोग तुम्हारी स्तुति करेंगे—तुम्हारे गुण गायेंगे और संधि-विग्रहके कार्योंमें प्रमुखरूपसे भाग लेनेवाले मन्त्री तुम्हें प्रणाम करेंगे।

'श्रीकृष्ण! हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंसे भरी हुई कंसकी यह अक्षय सेना ग्रहण करो। श्रीकृष्ण! जो कुछ भी धन, धान्य, रत्न और वस्त्र आदि कंसके अधिकारमें थे, उन सबको तुम्हारे आदमी सँभाल लें। स्त्रियाँ, सुवर्ण, वाहन तथा अन्य जो कुछ भी धन, रत्न आदि हैं, उनपर भी वे अधिकार कर लें। यदुवंशियोंके शत्रुओंका संहार करने-वाले यदुनन्दन श्रीकृष्ण! जब इस प्रकार अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिरूप योग सम्पन्न हो गया, विग्रहकी समाप्ति हो गयी और इस पृथ्वीपर तुम्हारा पूर्णरूपसे अधिकार हो गया, तब हम सभी यादवोंकी गति और अगति एकमात्र तुम्हीं हो। वीर! हम दीनजन तुम्हारे सामने जो कुछ कह रहे हैं—हमारी यह प्रार्थना स्वीकार करो। गोविन्द! यह पापकर्मा कंस तुम्हारे कोपसे दग्ध हो गया। हम चाहते हैं कि तुम्हारी ही कृपासे अब इसका प्रेतकार्य सम्पन्न कर दिया जाय। उस मरे हुए नरेशका और्ध्वदैहिक संस्कार पूर्ण करके मैं अपनी पत्नी और पुत्र-वधुओंको साथ ले वनमें मृगोंके साथ विचरूँगा। श्रीकृष्ण! कहते हैं कि मरे हुए मनुष्यका प्रेत-संस्कारमात्र कर देनेसे उसके बान्धवोंका कर्तव्य पूरा हो जाता है और फिर वे उसके लौकिक ऋणसे उऋण हो जाते हैं। अतः मैं चिता-स्थानपर विधिपूर्वक कंसका अन्तिम अग्नि-संस्कार करके उसको जलाञ्जलि मात्र देकर उसके ऋणसे उऋण हो जाऊँ, यही मेरी इच्छा है। श्रीकृष्ण! यही तुमसे मेरा निवेदन है। इस विषयमें मुझपर अपना स्नेहभाव प्रकट करो। सुना है, चितापर अन्तिम संस्कार कर देनेसे बेचारा मृतक प्राणी उत्तम गति प्राप्त कर लेता है।'

उग्रसेनका यह वचन सुनकर श्रीकृष्णको बड़ा खेद तथा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सान्त्वनापूर्वक उग्रसेनको समझाते हुए उनकी बातका इस प्रकार उत्तर दिया—

कंसका राजोचित सत्कार किया जायगा

कालयुक्तमिदं तात तवैतद् यत् प्रभाषितम् ।
सदृशं राजशार्दूल वृत्तस्य च कुलस्य च ॥
यत् त्वमेवंविधं ब्रूषे गतेऽर्थे दुरतिक्रमे ।
प्राप्स्यते नृपसत्कारं कंसः प्रेतगतोऽपि सन् ॥

(हरिवंश० विष्णु० ३२ । ३२-३३)

नानाजी ! आपने यह जो कुछ कहा है, वह सब इस समयके अनुरूप है । राजसिंह ! आपकी बात आपके उत्तम आचार-विचार और श्रेष्ठ कुलके अनुरूप है । जो बात बीत गयी, वह वैसी ही होनेवाली थी । दैवके उस विधानको लाँघना किसीके लिये भी दुष्कर था; फिर भी उससे प्रभावित होकर जो आप ऐसी बातें कह रहे हैं (इससे मुझे दुःख हुआ) । कंस मर जानेपर भी मेरे द्वारा राजोचित सत्कार प्राप्त करेगा (इस बातके लिये मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ) ।

काल-कर्मवश ही सबकी मृत्यु होती है

कुले महति ते जन्म वेदान् विदितवानसि ।
कथं न ज्ञायते तात नियतिर्दुरतिक्रमा ॥
स्थावराणां च भूतानां जङ्गमानां च पार्थिव ।
पूर्वजन्मकृतं कर्म कालेन परिपच्यते ॥
श्रुतवन्तोऽर्थवन्तश्च दातारः प्रियदर्शनाः ।
ब्रह्मण्या नयसम्पन्ना दीनानुग्रहकारिणः ॥
लोकपालसमास्तात महेन्द्रसमविक्रमाः ।
क्षितिपालाः कृतान्तेन नीयन्ते नृपसत्तम ॥
धार्मिकाः सर्वभावज्ञाः प्रजापालनतत्पराः ।
क्षत्रधर्मपरा दान्ताः कालेन निधनं गताः ॥
स्वयमात्मकृतं कर्म शुभं वा यदि वाशुभम् ।
प्राप्ते काले तु तत्कर्म दृश्यते सर्वदेहिनाम् ॥
एषा ह्यन्तर्हिता माया दुर्विज्ञेया सुरैरपि ।
यथायं मुह्यते लोको ह्यत्र कर्मैव कारणम् ॥
कालेनाभिहतः कंसः पूर्वकर्मप्रचोदितः ।
न ह्यहं कारणं तत्र कालः कर्म च कारणम् ॥
सूर्यसोममयं तात कृत्स्नं स्थावरजङ्गमम् ।
कालेन निधनं गत्वा कालेनैव च जायते ॥
स कालः सर्वभूतानां निग्रहानुग्रहे रतः ।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि कालस्य वशगानि वै ॥

(हरिवंश० विष्णु० ३२ । ३४—४३)

तात ! आपका महान् कुलमें जन्म हुआ है । आपने वेदोंका ज्ञान प्राप्त किया है, फिर आप कैसे नहीं समझ पा रहे हैं कि नियति (दैवके विधान-) का उल्लङ्घन करना बहुत ही कठिन है । पृथ्वीनाथ ! स्थावर और जङ्गम सभी प्राणियोंके पूर्वजन्मोंमें किये हुए कर्म समयसे परिपक्व होते (और उन्हें शुभाशुभ फलकी प्राप्ति कराते) हैं । तात ! नृपश्रेष्ठ ! जो वेद-शास्त्रोंके विद्वान्, धनवान्, दाता, प्रियदर्शन (सुन्दर), ब्राह्मणभक्त, नीतिसम्पन्न, दीनोंपर अनुग्रह करनेवाले, लोकपालोंके समान यशस्वी और महेन्द्रतुल्य पराक्रमी राजा हैं, उन्हें भी काल उठा ले जाता है । जो धर्मात्मा, सम्पूर्ण भावोंके ज्ञाता, प्रजापालनमें तत्पर, क्षत्रियधर्म-परायण तथा जितेन्द्रिय थे, वे भी कालके गालमें चले गये । स्वयं अपना किया हुआ जो शुभ या अशुभ कर्म है, वही समय आनेपर समस्त देहधारियोंके समक्ष सुख-दुःखके रूपमें दिखायी देता है । यह भगवान्‌की अदृश्य रूपसे रहनेवाली माया ही है, जिससे यह जगत् मोहित हो जाता है, उसके स्वरूपको जानना देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन है । वास्तवमें सुख और दुःखकी प्राप्तिमें कर्म ही कारण है (मनुष्य जो चिन्तित और व्यथित होता है, यह मायाजनित मोह ही है) । कंस अपने पूर्वकर्मोंसे प्रेरित होकर ही कालके द्वारा मारा गया है । मैं उसमें कारण नहीं हूँ, काल और कर्म ही कारण हैं । तात ! सारा चराचर जगत् सूर्य और सोममय (अग्नीषोमात्मक) है । वह कालसे मृत्युको प्राप्त होकर फिर कालसे ही जन्म ग्रहण करता है ।

काल ही समस्त प्राणियोंके निग्रह और अनुग्रहमें तत्पर है, इसलिये सम्पूर्ण भूत कालके ही अधीन हैं।

कालसे परे मोक्षरूपा गति है

स्वदोषेणैव दग्धस्य सूनोस्तत्र नराधिप।
नाहं वै कारणं तत्र कालस्तत्र च कारणम्॥
अथवाहं भविष्यामि कारणं नात्र संशयः।
परायणपरः कालः किं करिष्यत्यकारणः॥
कालस्तु बलवान् राजन् दुर्विज्ञेया हि सा गतिः।
परावरविशेषज्ञा यां यान्ति समदर्शिनः॥
गतिः कालस्य सा येन सर्वं कालस्य गोचरम्।
ब्रवीमि यदहं तात तदनुष्ठीयतां वचः॥

(हरिवंश० विष्णु० ३२। ४४—४७)

नरेश्वर! आपका पुत्र अपने ही दोषोंसे दग्ध हुआ है। उसकी मृत्युका कारण मैं नहीं, काल है। अथवा मैं इसमें निमित्तकारण हो सकता हूँ, इसमें संशय नहीं है; क्योंकि दूसरे निमित्तोंका सहारा लेनेवाला काल अकेला ही क्या करेगा? राजन्! काल सबसे अधिक बलवान् है। कालसे परे जो मोक्षरूपा गति है, वह दुर्विज्ञेय है, उसे पर और अपर (पुरुष और प्रकृति-) के अन्तरको जाननेवाले समदर्शी पुरुष ही प्राप्त होते हैं। वही कालकी परम गति है, जिससे सब कुछ कालके अधीन प्रतीत होता है। नानाजी! अब मैं जो कुछ कहता हूँ, मेरे बताये हुए उस कार्यको आप करें।

कंस-वध लोकहितार्थ किया गया है, राज्य-लोभसे नहीं, राज्यसिंहासनपर आप ही विराजेंगे

न हि राज्येन मे कार्यं नाप्यहं नृप काङ्क्षितः॥
न चापि राज्यलुब्धेन मया कंसो निपातितः।
किं तु लोकहितार्थाय कीर्त्यर्थं च सुतस्तव।
व्यङ्गभूतः कुलस्यास्य सानुजो विनिपातितः॥
अहं स एव गोमध्ये गोपैः सह वनेचरः।
प्रीतिमान् विचरिष्यामि कामचारी यथा गजः॥
एतावत् शतशोऽप्येवं सत्येनैतद् ब्रवीमि ते।
न मे कार्यं नृपत्वेन विज्ञाप्यं क्रियतामिदम्॥
भवान् राजास्तु मान्यो मे यदूनामग्रणीः प्रभुः।
विजयायाभिषिच्यस्व स्वराज्ये नृपसत्तम॥
यदि ते मत्प्रियं कार्यं यदि वा नास्ति ते व्यथा।
मया निसृष्टं राज्यं स्वं चिराय प्रतिगृह्यताम्॥

(हरिवंश० विष्णु० ३२। ४८—५३)

नरेश्वर! मुझे राज्यसे कोई प्रयोजन नहीं है। न तो मैं राज्यका अभिलाषी हूँ और न राज्यके लोभसे मैंने कंसको मारा ही है। मैंने तो केवल लोकहितके लिये और कीर्तिके लिये भाईसहित आपके पुत्रको मार गिराया है, जो इस कुलका विकृत* (सड़ा हुआ) अङ्ग था। मैं वही वनेचर होकर गोपोंके साथ गौओंके बीच प्रसन्नतापूर्वक विचरूँगा, जैसे इच्छानुसार विचरनेवाला हाथी वनमें स्वच्छन्द घूमता है। मैं सत्यकी शपथ खाकर इन बातोंको सौ-सौ बार दुहराकर आपसे कहता हूँ, मुझे राज्यसे कोई काम नहीं। आप इसका विज्ञापन कर दीजिये। आप यदुवंशियोंके अग्रगण्य स्वामी तथा मेरे लिये भी माननीय हैं। अतः आप ही राजा हों। नृपश्रेष्ठ! आप अपने राज्यपर अपना अभिषेक कराइये; आपकी विजय हो। यदि आपको मेरा प्रिय कार्य करना हो अथवा यदि आपके मनमें मेरी ओरसे कोई व्यथा न हो तो मेरे द्वारा लौटाये गये इस राज्यको दीर्घकालके लिये ग्रहण करें।

श्रीकृष्णकी यह बात सुनकर उग्रसेनने कोई उत्तर नहीं दिया। वे लज्जित होकर सिर झुकाये चुपचाप खड़े रह गये। उस समय धर्मके ज्ञाता गोविन्दने आदरपूर्वक राजा उग्रसेनको यादवोंके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया। सिरपर मुकुट बाँधे महातेजस्वी श्रीमान् राजा उग्रसेनने श्रीकृष्णके साथ रहकर कंसका समुचित अन्त्येष्टि-संस्कार किया। फिर श्रीकृष्णके आदेशसे समस्त मुख्य-मुख्य यादवोंने मथुरापुरीके राजमार्गपर राजा उग्रसेनका अनुसरण किया। इस प्रकार करके भगवान् श्रीकृष्णने अपने राग-द्वेषरहित निर्लिप्त निष्काम कर्मका प्रत्यक्ष उदाहरण उपस्थित किया।

* जैसे शरीरके किसी सड़े अङ्गपर शस्त्रक्रिया (ऑपरेशन) करके उसको दोषमुक्त किया जाता है, वैसे ही समाज-शरीरके विकृत अंशपर शस्त्रक्रिया (पापात्माका वध) करके भगवान् समाजको दोषमुक्त करते हैं।

जरासंध आदिको परास्त करके श्रीकृष्ण-बलरामका चेदिराजके साथ करवीर (कोल्हा) पुर जाना, वहाँ युद्धके लिये आये हुए शृगालका वध करना और शरणागता पटरानी पद्मावतीपर कृपा करके श्रीकृष्णका उसके पुत्रको उसके राज्यपर अभिषिक्त करनेकी आज्ञा देना

जरासंधने अपनी सेनाको गोमंतपर्वतपर आक्रमण करनेकी आज्ञा दी । फिर चेदिराज दमघोषकी सम्मतिसे उस पर्वतपर चारों ओरसे आग लगा दी गयी । सारा पर्वत धायँ-धायँ करके जलने लगा । यह देख बलराम और श्रीकृष्ण उस पर्वतसे कूदकर राजाओंकी सेनामें आ पहुँचे । उन दोनोंने जरासंध और उसकी सेनाओंके साथ घोर युद्ध आरम्भ करके भयानक संहार मचाया । उस संग्राममें पराक्रमी राजा दरद मारा गया और जरासंध पराजित होकर भाग गया । तब चेदिराज दमघोषने यदुकुलके साथ अपना सम्बन्ध जनाते हुए श्रीकृष्णके साथ मैत्री बढ़ानेकी इच्छा व्यक्त की । श्रीकृष्णने उनके मनोभावका अभिनन्दन किया । फिर चेदिराजकी प्रेरणासे वे दोनों भाई करवीरपुर (कोल्हापुर) गये। वहाँके राजाका नाम शृगाल था, उसे लोग वासुदेव भी कहते थे। उसने श्रीकृष्णपर आक्रमण कर दिया, तब श्रीकृष्णने अपने सुदर्शन चक्रसे उस मिथ्या वासुदेवका मुकुटमण्डित मस्तक काट डाला । राजाके मारे जानेसे करवीरपुरमें हाहाकार मच गया । रानियाँ करुण-विलाप करने लगीं । वहाँकी पटरानी पद्मावती अपने पुत्रको लेकर श्रीकृष्णके पास आयी और उसके पालनके लिये प्रार्थना करने लगी । श्रीकृष्ण उसके ऊपर प्रसन्न हो गये और इस प्रकार बोले—

राजपत्नि गतो रोषः सहानेन दुरात्मना ।
प्रकृतिस्था वयं जाता देवि सैषोऽस्मि बान्धवः ॥
रोषो मे विगतः साध्वि तव वाक्यैरकल्मषैः ।
योऽयं पुत्रः शृगालस्य ममाप्येष न संशयः ॥
अभयं चाभिषेकं च ददाम्यस्मै सुखाय वै ।
आहूयन्तां प्रकृतयः पुरोधा मन्त्रिणस्तथा ॥
पितृपैतामहे राज्ये तव पुत्रोऽभिषिच्यताम् ।

(हरिवंश० विष्णु० ४४ । ५४—५६½)

राजरानी ! मेरा रोष तो इस दुरात्माके मारे जानेके साथ ही दूर हो गया । देखें ! अब हमलोग स्वाभाविक स्थितिमें हैं । मैं आपका वही भाई-बन्धु हूँ । साध्वी रानी ! आपके इन निर्दोष वचनोंसे मेरा सारा क्रोध दूर हो गया । राजा शृगालका जो यह पुत्र है, यह मेरे लिये भी पुत्रके ही समान है; इसमें संशय नहीं है। मैं इसके सुखके लिये इसे अभय देनेके साथ ही इसका राज्याभिषेक भी कर दूँगा । आप समस्त प्रकृतियों तथा मन्त्री और पुरोहितोंको भी बुलवाइये, जिससे आपके इस पुत्रको इसके बाप-दादोंके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया जाय ।

यह श्रीकृष्णके अगणित रागद्वेषरहित निष्काम कर्मका एक दूसरा उदाहरण है ।

रुक्मिणी-स्वयंवरके अवसरपर श्रीकृष्णका कुण्डिनपुरमें गमन, क्रथ और कैशिकद्वारा उनका सत्कार तथा राजेन्द्रपदपर अभिषेक, राजेन्द्रका अपराधी राजाओंको क्षमादान देना

एक समय जगत्‌में होनेवाली विशेष घटनाओंकी सूचना देनेवाले कुछ लोग यादवोंकी सभामें आये और उन्होंने यह बताया कि 'भोजपुत्र रुक्मीका निमन्त्रण पाकर अनेक जनपदोंके राजा बड़ी उतावलीके साथ कुण्डिनपुरमें जा रहे हैं। आजसे तीसरे दिन वहाँ त्रिभुवनसुन्दरी रुक्मिणीका स्वयंवर होगा ।' यह समाचार सुनकर श्रीकृष्णको ऐसा लगा, जैसे उनके हृदयमें किसीने काँटा-सा चुभो दिया हो । वे यदुवंशियोंकी सेना साथ ले शीघ्र ही रथसे चल दिये और संध्याकी लाली प्रकट होनेसे पहले ही भीष्मकके नगरमें जा पहुँचे। वहाँ जो स्वयंवरका विशाल रंगस्थल बना था, उसे देखकर श्रीकृष्णने अन्यान्य राजाओंको संत्रस्त करने तथा अपना प्रभाव दिखानेके लिये विनतानन्दन गरुड़का चिन्तन किया। वे तत्काल आ पहुँचे । उनका पंख-संचालन वायुको भी उद्भ्रान्त कर देनेवाला था । उनके पंखकी हवा लगनेसे वहाँके

सारे मनुष्य काँप उठे और औंधे होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। श्रीकृष्णने गरुड़का स्वागत किया और उन्हें साथ ले वे यादवों-सहित महात्मा कैशिककी राजधानीमें गये। भगवान्‌के पदार्पण-से कैशिकको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे अर्घ्य आदिसे उनका सत्कार करके उन्हें नगरमें ले गये। कैशिकने श्रीकृष्णके लिये पहलेसे ही एक दिव्य भवनका निर्माण करा रक्खा था; अतः भगवान् अपनी सेनाके साथ उसीमें ठहरे। राजा कैशिकने बड़े ही सम्मानके साथ स्नेहपूर्ण हृदयसे श्रीकृष्णका पूजन किया। उनके आगमनका समाचार पाकर जरासंध आदि राजाओंको बड़ी चिन्ता हुई। जरासंध, सुवीति, दन्त-वक्त्र और शाल्वके भाषण हुए। किसीने युद्धकी सम्भावना बतायी और किसीने इस आशङ्काको निर्मूल सिद्ध किया। भीष्मकने अपने पुत्रको श्रीकृष्णका द्वेषी बताकर भगवान्‌के प्रभावका वर्णन किया और उन्हें प्रसन्न करनेका ही निश्चय प्रकट किया। क्रथ और कैशिकने यह सोचकर कि श्रीकृष्ण राजाओंके समाजमें पधारनेपर आसन्न संकटका अनुभव न करें, इसके लिये उन्हें राजेन्द्रपदपर अभिषिक्त करनेका विचार किया और अपना सारा राज्य उनके चरणोंमें अर्पित कर दिया। इसी समय इन्द्रलोकसे देवदूत आया और बोला—'जिसपर दूसरे लोग बैठ चुके हैं, ऐसा सिंहासन श्रीकृष्णके लिये देना उचित न होगा। इनके लिये साक्षात् विश्वकर्माका बनाया हुआ, सम्पूर्ण रत्नोंसे विभूषित जाम्बूनदमय यह दिव्य सिंहासन देवराज इन्द्रने सेवामें भेजा है। इसीपर गोविन्दका राजेन्द्रके पदपर अभिषेक हो। ये रहे आठ अक्षय कलश, जो निधियोंके अंशसे उत्पन्न हुए हैं। ये कुबेरके दिव्य कलश हैं। इन्हींसे भगवान्‌का अभिषेक होगा।' यह कहकर देवदूत चला गया।

तदनन्तर कुण्डिननगरमें पधारे हुए अधिकांश नरेश श्रीकृष्णके उस दिव्य अभिषेकमें सम्मिलित हुए। इन्द्रके भेजे हुए दिव्य सिंहासनपर श्रीकृष्णकी बड़ी शोभा हुई। दिव्य कलशोंद्वारा उनका अभिषेक हुआ। देवताओंकी दुन्दुभियाँ बजने लगीं। आकाशमें खड़े हुए इन्द्र आदि देवता इस महान् उत्सवका आनन्द लेने लगे। सब राजाओंने भगवान्‌का पूजन किया; फिर वे अपने आसनोंपर सुखपूर्वक बैठे। उस समय कैशिकने श्रीकृष्णसे कहा—'प्रभो! अबतक सब राजा अज्ञानवश आपकी महिमाको नहीं जानते थे। इस-लिये इनके द्वारा आपके प्रति अपराध बन गये हैं। अतः इन अपराधियोंको आप क्षमा प्रदान करें।' इसपर श्रीकृष्णने कहा—'मुझमें वैर टिकता ही नहीं। मुझे तो क्षमा ही प्रिय लगती है, आप सब लोग वैरभाव भूल जायँ।'

श्रीकृष्ण उवाच

न मे वैरं प्रवसति एकाहमपि कैशिक।
विशेषेण नरेन्द्राणां क्षत्रधर्मेऽवतिष्ठताम्॥
योद्धव्यमिति धर्मेण अधर्मे तु पराङ्मुखे।
तेषां किं हेतुना कोपः कर्तव्यस्त्ववनीश्वराः॥
यद्गतं तदतिक्रान्तं ये मृतास्ते दिवं गताः।
एष धर्मो नृलोकेऽस्मिन् जायन्ते च म्रियन्ति च॥
तस्मादशोच्यं भवतां मृतार्थे च नराधिपाः।
क्षन्तव्यं रोचतेऽस्माकं वीतवैरा भवन्तु ते॥

(हरिवंश० विष्णु० ५०। ८६—८९)

श्रीकृष्ण बोले—कैशिक! मेरे मनमें एक दिनके लिये भी वैर नहीं रहता। (मैं सदा ही निर्वैर हूँ।) विशेषतः क्षत्रिय-धर्ममें स्थिर रहनेवाले नरेशोंपर, जो युद्धको धर्म समझकर उसमें प्रवृत्त होते और अधर्मसे मुँह मोड़े रहते हैं, क्रोध किया ही जाय किसलिये? भूमिपालो! जो बीत गया, वह गया; जो लोग मर गये, वे स्वर्गमें चले गये। इस मनुष्य-लोकका यह स्वाभाविक धर्म (नियम) है कि यहाँ प्राणी जन्म लेते और मरते रहते हैं। अतः नरेश्वरो! जो लोग मर गये या मारे गये, उनके लिये आपलोगोंको शोक नहीं करना चाहिये। हमें तो क्षमा ही अच्छी लगती है। अतः वे सब राजा आजसे वैरभावका त्याग करके निर्वैर हो जायँ।

उन नरेशोंसे ऐसा कहकर उन्हें आश्वासन दे महातेजस्वी भगवान् मधुसूदन कैशिकके मुँहकी ओर देखकर चुप हो गये।

'रुक्मिणी मानुषी नहीं, साक्षात् लक्ष्मी है, वह मेरी है; उसे स्वयंवरमें ले जाना अनुचित है'—इसका प्रतिपादन

राजाओंको क्षमादान देकर श्रीकृष्ण चुप हो गये । तब भीष्मकने रुक्मिणी-स्वयंवरको अपने पुत्रकी दुर्नीति बताकर क्षमा माँगी, इसपर भगवान्ने भीष्मकको उत्तरदायी बतलाकर उपालम्भ दिया । भगवान्के उपालम्भयुक्त वचन सुनकर भीष्मकने मधुर वाणीद्वारा उन्हें शान्त करते हुए कहा—'प्रभो ! मुझपर प्रसन्न होइये, मेरी रक्षा कीजिये । मैं अज्ञान-रूपी अन्धकारसे आवृत हूँ, आप मुझे ज्ञानरूपी नेत्र प्रदान करें । आपकी शरणमें आ जानेके कारण अब मुझे किसी प्रकारका भय नहीं सता रहा है । मैंने जो कार्य सोचा है, उसे सुननेकी कृपा करें । स्वयंवरमें आये हुए राजाओंको मैं अपनी कन्या नहीं देना चाहता । आप मुझपर कृपा करें, क्रोध न करें ।' यह सुनकर भगवान् बोले—

लक्ष्मीजी ही रुक्मिणी हैं

वचनेन किमुक्तेन त्वया राजन् महामते ।
स्वकन्यां दास्यते नेति कोऽत्र नेता तवानघ ॥
मा देहीति न चाख्येयं ददस्वेति न मे वचः ।
रुक्मिण्या दिव्यमूर्तित्वं सम्बन्धे कारणं मम ॥
मेरुकूटे पुरा देवैः कृतमंशावतारणम् ।
तदा निसृष्टा श्रीः पूर्वं गच्छ त्वं पतिना सह ॥
मानुष्ये कुण्डिनगरे भीष्मकस्याङ्गनोदरे ।
जायस्व विपुलश्रोणि प्रत्यवेक्ष्य च वासवम् ॥

(हरिवंश० विष्णु० ५१ । २६—२९)

महामते नरेश्वर ! आप केवल बातें बनाते हैं । इससे क्या होगा ? अनघ ! आप अपनी कन्या किसीको देंगे या नहीं—इस विषयमें आपको रोकनेवाला कौन है ? 'आप दूसरेको कन्या न दीजिये, मुझे ही दीजिये'—यह दोनों प्रकारकी बातें मुझे नहीं कहनी चाहिये । रुक्मिणी दिव्यरूपधारिणी देवी है । उसकी वह दिव्यता ही उसके साथ मेरे भावी सम्बन्धमें कारण है । पूर्वकालमें मेरु पर्वतके शिखरपर एकत्र हुए देवताओंने अपने-अपने अंशको भूतलपर उतारा था । उस समय ब्रह्माजीने लक्ष्मीसे कहा—'देवि ! तुम भी अपने पतिके साथ जाओ और मनुष्यलोकमें कुण्डिनपुरके भीतर राजा भीष्मककी रानीके गर्भसे जन्म लो । विपुलश्रोणि ! इन्द्रपर कृपा करके तुम्हें ऐसा करना चाहिये ।'

रुक्मिणीका स्वयंवर उचित नहीं है

तेनाहं वः प्रवक्ष्यामि राजन्न कृतकं वचः ।
श्रुत्वा स्वयं विनिश्चित्य यद् युक्तं तत् करिष्यति ॥
रुक्मिणी नाम ते कन्या न सा प्राकृतमानुषी ।
श्रीरेषा ब्रह्मवाक्येन जाता केनापि हेतुना ॥
न च सा मनुजेन्द्राणां स्वयंवरविधिक्षमा ।
एका त्वेकाय दातव्या इति धर्मो व्यवस्थितः ॥
न च तां शक्यसे राजँल्लक्ष्मीं दातुं स्वयंवरे ।
सदृशं वरमालोक्य दातुमर्हसि धर्मतः ॥

(हरिवंश० विष्णु० ५१ । ३०—३३)

राजन् ! इसीलिये मैं आपसे स्वाभाविक बात कह रहा हूँ, इसमें कहीं कृत्रिमता या बनावट नहीं है । इस बातको सुनकर आपकी कन्या रुक्मिणी स्वयं ही अपने कर्तव्यका निश्चय करके जो उचित समझेगी, वह करेगी । क्योंकि वह साधारण स्त्री नहीं है, साक्षात् लक्ष्मी है और किसी कारणवश ब्रह्माजीके कहनेसे यहाँ प्रकट हुई है । वह नरेन्द्रोंके सामने स्वयंवर-विधिका पालन करने योग्य नहीं है । एक कन्याको एक ही वरके हाथमें देना चाहिये । यही सिद्धान्तभूत सुस्थिर धर्म है । राजन् ! आप उस लक्ष्मीको स्वयंवरमें नहीं दे सकते । किसी योग्य वरको देखकर धर्मपूर्वक उसके हाथमें उसका दान कर देना ही आपके लिये उचित है । *मैं सौम्यरूपमें ही आया हूँ और मैंने क्षमा कर दी है*

अतोऽर्थं वैनतेयोऽयं विघ्नकारणहेतुना ।
आगतः कुण्डिनगरे देवराजेन चोदितः ॥

अहं चैवागतो राज्ञां द्रष्टुकामो महोत्सवम्।
तां च कन्यां वरारोहां पद्मेन रहितां श्रियम्॥
क्षन्तव्यमिति यत् प्रोक्तं त्वया राजन् ममाग्रतः।
युक्तिपूर्वमहं मन्ये कलुषाय न पार्थिव॥
पूर्वमेव मयाऽऽख्यातं येनास्मि विषये तव।
आगतः सौम्यरूपेण तेनैव क्षान्तवान् विभो॥
(हरिवंश० विष्णु० ५१। ३४—३७)

इसीलिये देवराज इन्द्रसे प्रेरित होकर यह विनतानन्दन गरुड़ इस स्वयंवरमें विघ्न डालनेके हेतु कुण्डिनपुरमें पधारे हैं। मैं राजाओंके इस महान् उत्सवको तथा बिना कमलकी लक्ष्मीरूपा इस परम सुन्दरी राजकन्याको देखनेकी इच्छासे यहाँ आया था। राजन्! पृथ्वीनाथ! आपने जो मेरे सामने यह बात कही कि मेरा अपराध क्षमा करना चाहिये, सो ठीक है। मैं इसे युक्तिसंगत मानता हूँ। इसमें दुर्भावका कोई कारण नहीं है। विभो! इस विषयमें तो मैं पहले ही कह चुका हूँ कि आपके राज्यमें सौम्यरूपसे आया हूँ (विरोधीरूपसे नहीं)। इसीसे आपको समझ लेना चाहिये कि मैंने क्षमा कर दिया है।

क्षमा सब दोषोंको हर लेती है

क्षान्तेषु गुणबाहुल्यं दोषापहरणं क्षमा।
कथमस्मद्विधे राजन् कलुषो वसते हृदि॥
कुलजे सत्त्वसम्पन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि।
भवादृशे कथं राजन् कलुषो भुवि वर्तते॥
क्षान्तोऽयमिति मन्तव्यं मम सेनासहागतम्।
न चाहं सेनया सार्द्धं यास्यामि रिपुवाहिनीम्॥
अक्षान्तश्चारिसेनायां यास्यामि द्विजवाहने।
स्थितः सोमार्कसंकाशान्यायुधानि करैर्वहन्॥
(हरिवंश० विष्णु० ५१। ३८—४१)

राजन्! क्षमाशील पुरुषोंमें बहुत-से गुण प्रकट होते हैं। क्षमा सब दोषोंको हर लेनेवाली है। मुझ-जैसे पुरुषके हृदयमें दुर्भाव कैसे रह सकता है? नरेश्वर! आप भी कुलीन, सत्त्वगुण-सम्पन्न, धर्मज्ञ और सत्यवादी हैं। इस भूतलपर आप-जैसे पुरुषके हृदयमें कलुषभाव कैसे टिक सकता है? मैं सेनाके साथ यहाँ आया हूँ, इसलिये आपको यही मानना चाहिये कि ये क्षमाशील हैं; क्योंकि मैं शत्रुओंकी सेनामें अपनी सेना साथ लेकर नहीं जाता हूँ। जब मैं असहिष्णु होकर शत्रु-सेनापर आक्रमण करता हूँ तब गरुड़पर बैठता हूँ और अपने हाथोंमें चन्द्रमा तथा सूर्यके समान चमकीले अस्त्र-शस्त्र धारण करता हूँ।

राजा क्रथ और कैशिककी प्रशंसा

मान्योऽस्माकं त्वया राजन् वयसा च पिता समः।
पालयस्व पुरीं सम्यक् क्षत्रेषु पितृवद् वस॥
कलुषो नाम राजेन्द्र वसेत् कापुरुषेषु वै।
शूरेषु शुद्धभावेषु कलुषो वसते कथम्॥
जानीध्वमेषा मे वृत्तिः पुत्रेषु पितृवद् वयम्।
इमावपि च राजानौ विदर्भनगराधिपौ॥
आतिथ्यकरणेऽस्माकं स्वराज्यं ददतावुभौ।
तेन दानफलेनास्य दशपूर्वा दिवं गताः॥
(हरिवंश० विष्णु० ५१। ४२—४५)

राजन्! मेरे लिये पिता सबसे अधिक आदरणीय हैं, जो अवस्थामें आपके ही तुल्य हैं (अतः आप भी मेरे लिये पिताके ही तुल्य हैं)। आप अपनी पुरीका भलीभाँति पालन कीजिये और क्षत्रियोंमें पिताके समान आदरणीय बनकर रहिये। राजेन्द्र! दुर्भाव तो कायरोंमें रहा करता है, विशुद्ध भाववाले शूरवीरोंमें कलुषित भाव कैसे रह सकता है? मेरी यह वृत्ति सर्वथा कलुषभावसे रहित है, इस बातको आपलोग अच्छी तरह जान लें। हम पुत्रोंपर पिताके तुल्य ही स्नेह रखते हैं, ये दोनों विदर्भनगरके अधिपति राजा क्रथ और कैशिक भी ऐसे ही स्वभावके हैं। इन दोनोंने हमलोगोंका

आतिथ्य-सत्कार करते समय मुझे अपना सारा राज्य ही समर्पित कर दिया । उस दानके फलसे इनके दस पीढ़ी पहलेके पूर्वज स्वर्गलोकमें चले गये हैं ।

इन दोनों नरेशोंको परमानन्द-पदकी और इनके दस पीढ़ीतक सभी नरेशोंको देवलोककी प्राप्ति होगी

भविष्याश्चैव राजानः पुत्रपौत्रा दशावराः ।
तेऽपि तत्रैव यास्यन्ति देवलोकं नराधिपाः ॥
अनयोः सुचिरं कालं भुक्त्वा राज्यमकण्टकम् ।
यदाभिलाषो मोक्षस्य यास्येते निर्वृतिं सुखम् ॥
नरेन्द्राश्च महाभागा येऽभिषेचितुमागताः ।
कालेन तेऽपि यास्यन्ति देवलोकं त्रिविष्टपम् ॥
स्वस्ति वोऽस्तु गमिष्यामि वैनतेयसहायवान् ।
नगरीं मथुरां रम्यां भोजराजेन पालिताम् ॥

(हरिवंश० विष्णु० ५१ । ४६—४९)

भविष्यमें भी इनके दस पीढ़ीतक जो पुत्र-पौत्र आदि राजा होंगे, वे सभी नरेश उक्त दानके फलसे उसी देवलोकमें जायँगे । इन दोनोंको चिरकालतक अकण्टक राज्य भोग लेनेके पश्चात् जब मोक्षकी अभिलाषा होगी, तब ये सुख स्वरूप परमानन्द-पदको प्राप्त कर लेंगे । जो महाभाग नरेश मेरा अभिषेक करनेके लिये आये थे, वे भी समयानुसार देवताओंके निवासभूत स्वर्गलोकमें चले जायँगे । आपलोगोंका कल्याण हो, अब मैं गरुड़के साथ भोजराज उग्रसेनद्वारा पालित रमणीय मथुरापुरीको जाऊँगा ।

उग्रसेनके देनेपर भी मथुराका राज्य न लेकर उन्हींको लौटाना

'राजेन्द्र' पदपर अभिषिक्त होनेके पश्चात् मथुरामें लौटनेपर श्रीकृष्णका बड़े समारोहके साथ स्वागत हुआ । लोग स्तुति करते हुए कहने लगे—'इस भूतलपर या जगत्में अन्य नरेशोंके लिये कभी इन्द्रलोकसे सिंहासन आया हो, स्वर्गसे सभाभवन उतरा हो और आकाशसे दिव्य कलश प्रकट हुए हों; ऐसा न तो किसीने देखा था और न कभी सुननेमें ही आया था । इस अद्भुत एवं असम्भव बातको आपने ही सम्भव किया है ।' उग्रसेनने सारा राज्य और धन श्रीकृष्णको सौंपकर उन्हें सिंहासनपर आसीन होनेके लिये कहा । उस समय श्रीकृष्ण बोले—

मैं राज्य या धनकी आकांक्षा नहीं रखता

न चाहं मथुराकाङ्क्षी न मया वित्तकाङ्क्षया ॥
घातितस्तव पुत्रोऽयं कालेन निधनं गतः ।
यजस्व विविधान् यज्ञान् ददस्व विपुलं धनम् ॥
जयस्व रिपुसैन्यानि मम बाहुबलाश्रयात् ।
त्यजस्व मनसस्तापं कंसनाशोद्भवं भयम् ॥
नयस्व वित्तनिचयं मया दत्तं पुनस्तव ।

(हरिवंश० विष्णु० ५५ । ८१—८३½)

महाराज ! मैं मथुराका राज्य नहीं चाहता । मैंने धनकी अभिलाषासे आपके पुत्रका वध नहीं किया है । यह कालसे ही मृत्युको प्राप्त हुआ है । राजन् ! आप नाना प्रकारके यज्ञ कीजिये, प्रचुर धनका दान दीजिये और मेरे बाहुबलका आश्रय लेकर शत्रुओंकी सेनाओंपर विजय पाइये । आप मानसिक संतापको त्याग दीजिये । कंस-वधजनित भयको मनसे निकाल दीजिये तथा मेरी दी हुई इस धनराशिको पुनः अपने ही भवनमें ले जाइये ।

भगवान् श्रीकृष्णका अर्जुनको अपने महान् प्रभाव तथा यथार्थ दिव्य स्वरूपका परिचय देना

एक समयकी बात है, अर्जुन द्वारकामें श्रीकृष्णके पास बैठे थे, इतनेमें एक ब्राह्मणने आकर 'त्राहि-त्राहि' की पुकार लगायी । भयका कारण पूछनेपर उसने बताया—'भगवन् ! जब मेरे पुत्र उत्पन्न होता है, तब तत्काल ही

काल उसे हर लेता है। इस प्रकार मेरे तीन पुत्र नष्ट हो गये। चौथा पुत्र होनेवाला है। आज ही ब्राह्मणीके प्रसवका समय है। आप कृपया उसकी रक्षा कीजिये।' भगवान् श्रीकृष्णको यज्ञमें दीक्षित देख अर्जुनने स्वयं ही उसकी रक्षाका भार लिया; पर वे सफल न हो सके। ब्राह्मणने उनका तिरस्कार किया। अर्जुन यम आदिके लोकोंमें भी जब ब्राह्मण-बालकको न पा सके तो अग्निमें जल जानेको उद्यत हो गये। उस समय श्रीकृष्णने उन्हें रोका और अपने साथ उत्तर दिशाकी ओर ले गये। पर्वत, नदी, समुद्र, सात कुलाचल, सात द्वीप और सागर तथा पर्वताकार अन्धकारको लाँघकर श्रीकृष्ण रथसे उतरे और एक पुरुषाकार तेजोमण्डलमें घुस गये। वहाँसे ब्राह्मण-बालकोंको लेकर निकले और सबके साथ द्वारका लौट आये। ब्राह्मण अपने पुत्रोंको पाकर संतुष्ट हो गया। वहाँसे आने-जानेमें आधे दिनका भी समय नहीं लगा। अर्जुनने उस यात्राकी रहस्यभरी बातें पूछीं। तब भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा—

वह घनीभूत सनातन तेज मेरा ही स्वरूप है

मद्दर्शनार्थं ते बाला हृतास्तेन महात्मना।
विप्रार्थमेष्यते कृष्णो नागच्छेदन्यथेति ह॥
ब्रह्म तेजोमयं दिव्यं महद् यद् दृष्टवानसि।
अहं स भरतश्रेष्ठ मत्तेजस्तत् सनातनम्॥
प्रकृतिः सा मम परा व्यक्ताव्यक्ता सनातनी।
यां प्रविश्य भवन्तीह मुक्ता योगविदुत्तमाः॥
सा सांख्यानां गतिः पार्थ योगिनां च तपस्विनाम्।
तत् पदं परमं ब्रह्म सर्वं विभजते जगत्॥
समुद्रः स्तब्धतोयोऽहमहं स्तम्भयिता जलम्।
अहं ते पर्वताः सप्त ये दृष्टा विविधास्त्वया॥
पङ्कभूतं हि तिमिरं दृष्टवानसि यद्धि तत्॥
अहं तमो घनीभूतमहमेव च पाटकः।
अहं च कालो भूतानां धर्मश्चाहं सनातनः॥
चन्द्रादित्यौ महाशैलाः सरितश्च सरांसि च।
चतस्रश्च दिशः सर्वा ममैवात्मा चतुर्विधः॥
चातुर्वर्ण्यं मत्प्रसूतं चातुराश्रम्यमेव च।
चातुर्विध्यस्य कर्ताहमिति बुध्यस्व भारत॥

(हरिवंश० विष्णु० ११४। ८—१६)

अर्जुन! उन महात्मा तेजस्वी पुरुषने मुझे देखनेके लिये ही उन बालकोंका अपहरण किया था। वे जानते थे कि ब्राह्मणके कार्यके लिये ही श्रीकृष्ण आयेंगे, अन्यथा नहीं। भरतश्रेष्ठ! तुमने जिस दिव्य तेजोमय महद् ब्रह्मका दर्शन किया था, वह मैं ही हूँ। वह मेरा सनातन तेज है। वह मेरी व्यक्ताव्यक्तस्वरूपा सनातन परा प्रकृति है, जिसमें प्रवेश करके योगवेत्ताओंमें उत्तम पुरुष मुक्त हो जाते हैं। पार्थ! वही सांख्य-योगियों, कर्मयोगियों तथा तपस्वी पुरुषोंकी गति है। वही परब्रह्मपद है, जो सम्पूर्ण जगत्का विभाजन करता है—चेतनसे जडको पृथक् करता है। भारत! वह जो घनीभूत तेज था, उसे मेरा ही स्वरूप समझो! जिसके जलका स्तम्भन किया गया था, वह समुद्र मैं ही हूँ और जलका स्तम्भन करनेवाला भी मैं ही हूँ। वे सात पर्वत, जिनको तुमने नाना रूपोंमें देखा था, मैं ही हूँ और कीचड़के रूपमें जो अन्धकार दृष्टिगोचर हुआ था, वह भी मैं ही हूँ। मैं ही घनीभूत अन्धकार और मैं ही उसे विदीर्ण करनेवाला हूँ। मैं ही समस्त भूतोंका काल और मैं ही उनका सनातन धर्म हूँ। चन्द्रमा, सूर्य, बड़े-बड़े पर्वत, सरिताएँ और सरोवर भी मैं ही हूँ। ये जो चारों दिशाएँ हैं, वे सब-की-सब मेरा ही चतुर्विध रूप हैं। भारत! चारों वर्ण तथा चारों आश्रम मुझसे ही प्रकट हुए हैं। जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—इन चार प्रकारके प्राणियोंकी सृष्टि करनेवाला मैं ही हूँ; इस बातको तुम अच्छी तरह जान लो।

सब कुछ मेरा ही स्वरूप है, सबका मैं ही आत्मा हूँ

ब्रह्म च ब्राह्मणाश्चैव तपः सत्यं च भारत।
उग्रं बृहत्तमं चैव मत्तस्तद् विद्धि पाण्डव॥

प्रियस्तेऽहं महाबाहो प्रियो मेऽसि धनंजय ।
तेन ते कथयिष्यामि नान्यथा वक्तुमुत्सहे ॥
अहं यजूंषि सामानि ऋचश्चाथर्वणानि च ।
ऋषयो देवता यज्ञा मत्तेजो भरतर्षभ ॥
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ।
चन्द्रादित्यावहोरात्रं पक्षा मासास्तथर्तवः ।
मुहूर्ताश्च कलाश्चैव क्षणाः संवत्सरास्तथा ॥
मन्त्राश्च विविधाः पार्थ यानि शास्त्राणि कानिचित्
विद्याश्च वेदितव्यं च मत्तः प्रादुर्भवन्ति हि ॥
मन्मयं विद्धि कौन्तेय क्षयं सृष्टिं च भारत ।
सच्चासच्च ममैवात्मा सदसच्चैव यत्परम् ॥
(हरिवंश० विष्णु० ११४ । १८—२३)

पाण्डुनन्दन भारत ! ब्रह्म, ब्राह्मण, तप, सत्य, उग्र (संसार-बन्धन) और बृहत्तम (कैवल्य)—ये सब मुझसे ही प्रकट होते हैं, ऐसा समझो । महाबाहु धनंजय ! मैं तुम्हें प्रिय हूँ और तुम मुझे । इसीलिये मैं तुमसे इस रहस्यका वर्णन करता हूँ, अन्यथा कदापि नहीं कह सकता । भरतश्रेष्ठ ! मैं ही यजुर्वेद, सामवेद, ऋग्वेद और अथर्ववेद हूँ । ऋषि, देवता और यज्ञ मेरे ही तेज हैं । पार्थ ! पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, तेज, चन्द्रमा, सूर्य, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु, मुहूर्त, कला, क्षण, संवत्सर, नाना प्रकारके मन्त्र, जो कोई भी शास्त्र, विद्या और वेदितव्य हैं ये सब मुझसे ही प्रकट होते हैं । कुन्तीनन्दन भारत ! सृष्टि और संहारको भी मेरा ही स्वरूप समझो । सत्, असत्, सदसत् तथा उससे भी विलक्षण जो तत्त्व है, वह सब मेरा ही आत्मा है ।

[विष्णुपुराण]

भगवान् शिवके साथ अपनी अभिन्नता बताकर बाणासुरको अभय देना

पार्वतीजीके अनुग्रहसे बाणासुरकी कन्या ऊषाको स्वप्नमें श्रीकृष्णपौत्र अनिरुद्धका दर्शन हुआ । उसने अपनी सखी चित्रलेखाद्वारा सोते समय अनिरुद्धको अपने अन्तःपुरमें बुलवा लिया । बाणासुरको जब इसका पता लगा तो उसने अनिरुद्धको कैद करना चाहा । परंतु अनिरुद्धने उसे सेना-सहित पराजित कर दिया । तब उसने मन्त्रीकी सलाहसे मायायुद्धमें नागास्त्रद्वारा अनिरुद्धको बाँध लिया । अनिरुद्ध बाणासुरके यहाँ बद्ध हैं—यह समाचार मिलनेपर बलराम और प्रद्युम्नको साथ ले श्रीकृष्ण बाणासुरकी राजधानी शोणितपुरमें गये । नगरमें प्रवेश करते ही प्रमथोंके साथ युद्ध हुआ । उनके नष्ट होनेपर त्रिशिरा माहेश्वर-ज्वरने आक्रमण किया, किंतु वैष्णव-ज्वरसे वह भी परास्त हो गया । तदनन्तर क्रमशः अग्नि, दानवसेना, भगवान् शंकर और कार्तिकेय भी बाणासुरकी सहायताके लिये युद्धके मैदानमें उतरे; किंतु सबको पराजित होना पड़ा । फिर बाणासुरके साथ युद्धमें श्रीकृष्णने चक्र उठाया और उसकी दोको छोड़कर शेष सारी भुजाएँ काट डालीं । अब वे उसके प्राण लेना ही चाहते थे कि भगवान् शंकरने आकर रोक दिया और उनकी स्तुति करके बाणासुरको जीवनदान देनेके लिये प्रार्थना की । तब भगवान् श्रीकृष्णने कहा—

श्रीकृष्णमें और शंकरमें भेद देखनेवाले अविद्यासे मोहित हैं

श्रीभगवानुवाच

युष्मद्दत्तवरो बाणो जीवतामेष शंकर ।
त्वद्वाक्यगौरवादेतन्मया चक्रं निवर्तितम् ॥
त्वया यदभयं दत्तं तद्दत्तमखिलं मया ।
मत्तोऽविभिन्नमात्मानं द्रष्टुमर्हसि शंकर ॥
योऽहं स त्वं जगच्चेदं सदेवासुरमानुषम् ।
मत्तो नान्यदशेषं यत्तत्त्वं ज्ञातुमिहार्हसि ॥
अविद्यामोहितात्मानः पुरुषा भिन्नदर्शिनः ।
वदन्ति भेदं पश्यन्ति चावयोरन्तरं हर ॥
प्रसन्नोऽहं गमिष्यामि त्वं गच्छ वृषभध्वज ॥
(श्रीविष्णुपुराण ५ । ३३ । ४६—५०)

श्रीभगवान् बोले—हे शंकरजी ! यदि आपने इसे

वर दिया है तो यह बाणासुर जीवित रहे । आपके वचनका मान रखनेके लिये मैं इस चक्रको रोके लेता हूँ । आपने जो अभय दिया है वह सब मैंने भी दे दिया । शंकर ! आप अपनेको मुझसे सर्वथा अभिन्न देखें । आप यह भली प्रकार समझ लें कि जो मैं हूँ सो आप हैं तथा यह सम्पूर्ण जगत्, देव, असुर और मनुष्य आदि कोई भी मुझसे भिन्न नहीं हैं । हर ! जिन लोगोंका चित्त अविद्यासे मोहित है, वे भिन्नदर्शी लोग ही हम दोनोंमें भेद देखते और बतलाते हैं । वृषभध्वज! मैं प्रसन्न हूँ, आप पधारिये, मैं भी अब जाऊँगा ।

श्रीकृष्णका इन्द्रको अर्जुनकी रक्षाका आश्वासन देना

श्रीकृष्णने गोवर्धन धारण करके जब व्रजको विनाशसे बचा लिया, तब इन्द्र दर्परहित हो एकान्तमें श्रीकृष्णके पास आये और उनका स्तवन करके उन्हें गोविन्द पदपर अभिषिक्त किया। इसके बाद अपने पुत्र अर्जुनकी सदा रक्षा करते रहनेका उनसे अनुरोध किया । तब भगवान् श्रीकृष्ण बोले—

जानामि भारते वंशे जातं पार्थं तवांशतः ।
तमहं पालयिष्यामि यावत् स्थास्यामि भूतले ॥
यावन्महीतले शक्र स्थास्याम्यहमरिंदम ।
न तावदर्जुनं कश्चिद्देवेन्द्र युधि जेष्यति ॥
कंसो नाम महाबाहुर्दैत्योऽरिष्टस्तथासुरः ।
केशी कुवलयापीडो नरकाद्यास्तथापरे ॥
हतेषु तेषु देवेन्द्र भविष्यति महाहवः ।
तत्र विद्धि सहस्राक्ष भारावतरणं कृतम् ॥
स त्वं गच्छ न संतापं पुत्रार्थे कर्तुमर्हसि ।
नार्जुनस्य रिपुः कश्चिन्ममाग्रे प्रभविष्यति ॥
अर्जुनार्थे त्वहं सर्वान् युधिष्ठिरपुरोगमान् ।
निवृत्ते भारते युद्धे कुन्त्यै दास्याम्यविक्षतान् ॥

(विष्णु० ५ । १२ । १९—२४)

भरतवंशमें पृथाके पुत्र अर्जुनने तुम्हारे अंशसे अवतार लिया है—यह मैं जानता हूँ । मैं जबतक पृथ्वीपर रहूँगा, उसकी रक्षा करूँगा । हे शत्रुसूदन देवेन्द्र ! जबतक मैं महीतलपर रहूँगा, तबतक अर्जुनको युद्धमें कोई भी न जीत सकेगा । हे देवेन्द्र ! विशाल भुजाओं-वाला कंस नामक दैत्य, अरिष्टासुर, केशी, कुवलयापीड और नरकासुर आदि अन्यान्य दैत्योंका नाश होनेपर यहाँ महाभारत युद्ध होगा । हे सहस्राक्ष ! उसी समय पृथिवीका भार उतरा हुआ समझना । अब तुम प्रसन्नता-पूर्वक जाओ । अपने पुत्र अर्जुनके लिये तुम किसी प्रकार-की चिन्ता मत करो । मेरे रहते हुए अर्जुनका कोई भी शत्रु सफल न हो सकेगा । अर्जुनके लिये ही मैं

महाभारतके अन्तमें युधिष्ठिर आदि समस्त पाण्डवोंको अक्षत शरीरसे कुन्तीको दूँगा ।

श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर देवराज इन्द्र उनको हृदयसे लगाकर ऐरावतपर आरूढ़ हो पुनः स्वर्गको चले गये ।

माता-पिताके प्रति भक्तिभाव

कंसवधके पश्चात् बलरामसहित भगवान् श्रीकृष्णने पिता वसुदेव और माता देवकीके पास जाकर नतमस्तक हो उनके चरण पकड़ लिये । वसुदेव और देवकीने उन दोनोंको उठाया और प्रणत-भावसे खड़े हो उनकी स्तुति की । माता-पिताको विज्ञान उत्पन्न हुआ देख भगवान्ने यदुवंशियोंको मोहित करनेके लिये अपनी वैष्णवी मायाका विस्तार किया और इस प्रकार कहा—

उवाच चाम्ब हे तात चिरादुत्कण्ठितेन मे ।
भवन्तौ कंसभीतेन दृष्टौ संकर्षणेन च ॥
कुर्वतां याति यः कालो मातापित्रोरपूजनम् ।
तत्खण्डमायुषो व्यर्थमसाधूनां हि जायते ॥
गुरुदेवद्विजातीनां मातापित्रोश्च पूजनम् ।
कुर्वतां सफलः कालो देहिनां तात जायते ॥
तत्क्षन्तव्यमिदं सर्वमतिक्रमकृतं पितः ।
कंसवीर्यप्रतापाभ्यामावयोः परवश्ययोः ॥

(विष्णु० ५ । २१ । २—५)

भगवान् बोले—माताजी ! पिताजी ! भैया बलरामजी और मैं बहुत दिनोंसे कंसके भयसे छिपे हुए आपके दर्शनोंके लिये उत्कण्ठित थे; सो आज आपके दर्शन हुए हैं । जो समय माता-पिताकी सेवा किये बिना बीतता है, वह असाधु पुरुषोंकी आयुका भाग व्यर्थ ही जाता है । हे तात ! गुरु, देव, ब्राह्मण और माता-पिताका पूजन करते रहनेसे देहधारियोंका जीवन सफल हो जाता है । अतः हे तात ! कंसके बल और प्रतापसे भीत हम परवशोंसे जो कुछ अपराध हुआ हो वह क्षमा करें ।

[जैमिनीयाश्वमेध]

स्वजनोंके प्रति कैसा विनयपूर्ण बर्ताव करना चाहिये; हस्तिनापुरमें पहुँचनेपर आचरणीय कर्तव्यका उपदेश

भगवान् श्रीकृष्ण महाराज युधिष्ठिरके अश्वमेध यज्ञमें आमन्त्रित होकर सपरिवार वहाँकी यात्रा कर रहे थे । जब वे हस्तिनापुरके मार्गमें यमुनातटपर पहुँचे, तब वहाँ सेनाका पड़ाव डालकर घरवालोंको पास बुला उन्हें इस प्रकार समझाने लगे—

माता देवकी, यशोदा और महारानी रुक्मिणीसे अनुरोध

देवकीं मातरं प्राह यशोदां रुक्मिणीमपि ॥
कार्या भवद्भिः कुन्त्याश्च परिचर्या दिने दिने ।
भगिनी वसुदेवस्य जननी चार्जुनस्य च ॥
अन्या वृद्धतमाः प्राप्ताः सेवनीयाः प्रयत्नतः ।
अनसूयारुन्धती च ऋषिभार्याश्च शोभनाः ॥

(जैमिनीयाश्वमेध० ११ । ९६—९८)

भगवान्ने पहले माता देवकी, यशोदा और महारानी रुक्मिणीसे कहा—'आपलोगोंको प्रतिदिन कुन्तीदेवीकी सेवा करनी चाहिये; क्योंकि वे हमारे पिता वसुदेवजीकी बहिन और अर्जुनकी माता हैं तथा अनसूया, अरुन्धती आदि कल्याणी ऋषिपत्नियाँ एवं और भी जो बड़ी-बूढ़ी नारियाँ वहाँ आयी हों, वे भी आपलोगोंके द्वारा सेवा करने योग्य हैं ।'

प्रद्युम्न आदि कुमारोंको उपदेश

प्रद्युम्नप्रमुखाः सर्वे शृण्वन्तु वचनं मम ॥
धर्मराजस्य च पुरे बहुलोकसमागमे ।
बहुवीरयुते रम्ये यज्ञोत्सवविनोदिते ।

गुरूणां च प्रकर्तव्यं भवद्भिः पूजनं तथा ॥
(जैमिनीयाश्वमेध० ११ । ९९-१००)

अब प्रद्युम्न आदि सब लोग मेरी बात सुनें—धर्मराज युधिष्ठिरका रमणीय नगर इन दिनों अश्वमेध-यज्ञके उत्सवसे आमोद-प्रमोदमय हो रहा है। वहाँ बहुत-से लोगोंका समागम होगा और बहुत-से शूरवीर भी पधारेंगे, अतः तुमलोगोंको वहाँ सभी गुरुजनोंका सब प्रकारसे आदर-सत्कार करना चाहिये।

अर्जुनके तेजकी प्रशंसा

तावत् तेजांसि वीराणां यावत् पार्थो न दृश्यते।
सर्वतीर्थानि गर्जन्ति तावत् पापप्रणाशने ॥
यावन्न सिंहगे जीवे दृश्यते गौतमी नदी।
(जैमिनीयाश्वमेध० ११ । १०१-१०१½)

अन्य वीरोंके तेज तभीतक प्रकाशित होते हैं, जबतक अर्जुनका दर्शन नहीं होता। (उनके सामने आते ही सभीके तेज शान्त हो जाते हैं, ठीक उसी तरह जैसे) पापनाश करनेके लिये दूसरे समस्त तीर्थ तभी तक गरजते हैं, जबतक कि बृहस्पतिके सिंह राशिमें स्थित होनेपर गौतमी (गोदावरी) नदीका दर्शन नहीं हो जाता।

स्वयं सादगीसे रहकर सबका सम्मान तथा सेवा करनेका उपदेश

प्रद्युम्नेन यथा राष्ट्रे स्थीयते राजलीलया ॥
तथात्र शक्यते नैव स्थातुं धर्मपुरेऽधुना।
न कदाचिद् भवान् प्राप्तः पुरे हि गजसाह्वये ॥
यत्र भीमो विद्यमानो महाबुद्धिः सदा शुचिः।
जननीं भवतां देवीं पार्षतीं भगिनीं मम ॥
सम्भावयतु यज्ञेऽस्मिन् भामया सहिताः शुभाः।
अयुतेनापि नारीणां सदा तिष्ठति सा वृता ॥
दीपहस्ता यज्ञकाले भावयन्तु च पार्षतीम्।
अहं तत्र गमिष्यामि प्रथमं धर्मनन्दनम् ॥
सत्कर्तुं स्वजनं तं तु यूयं गच्छत पृष्ठतः।
(जैमिनीयाश्वमेध० ११ । १०२—१०६½)

प्रद्युम्न अपने राज्यमें जिस तरह राजसी ठाट-बाटसे रहते हैं, उस प्रकार इस समय वहाँ धर्मराज युधिष्ठिरके हस्तिनापुरमें रहना उचित नहीं है; क्योंकि जहाँ महाबुद्धिमान् तथा सदा पवित्र आचरण करनेवाले भीमसेन रहते हैं, उस हस्तिनापुरमें तुम पहले कभी नहीं गये हो। तुम इस यज्ञमें पृषत-नन्दिनी द्रौपदीका सम्मान करना; क्योंकि वह देवी हमारी बहिन तथा तुमलोगोंकी माताके समान है। वह शुभलक्षणा द्रौपदी सदा दस हजार नारियोंसे घिरी रहती है। यज्ञके अवसरपर सत्यभामासहित सभी स्त्रियाँ हाथमें दीपक लेकर द्रौपदीका सम्मान करें। मैं अपने प्रेमी धर्मनन्दन युधिष्ठिरका सत्कार करनेके लिये पहले ही वहाँ पहुँच जाऊँगा। तुमलोग मेरे पीछे आना।

श्रीकृष्णद्वारा अर्जुनके समक्ष सुधन्वाके बल-पराक्रम एवं एकपत्नीव्रतकी प्रशंसा

युधिष्ठिरके अश्वमेधका अश्व भूतलपर विचरण करता हुआ चम्पापुरीमें पहुँचा। वहाँके राजा हंसध्वजने उसे पकड़ लिया। राजसैनिक अर्जुनकी सेनाका सामना करनेके लिये जा पहुँचे। उनका नायक था हंसध्वजका हरि-भक्त पुत्र सुधन्वा। सुधन्वाका अर्जुनके साथ युद्ध होने लगा। अर्जुनने तीन बाणोंसे सुधन्वाको मार डालनेकी प्रतिज्ञा की और सुधन्वाने उनके तीनों बाणोंको काट डालनेकी। सुधन्वाके बाणोंसे श्रीकृष्ण, अर्जुन तथा घोड़ोंसहित वह रथ कुम्हारके चाककी भाँति वेगपूर्वक घूमने लगा और चार सौ हाथ पीछे हट गया। यह देख भगवान् श्रीकृष्णने कहा—

श्रीकृष्ण उवाच

पश्य पाण्डव वीरस्य पौरुषं त्वं सुधन्वनः।
वृथा वधे प्रतिज्ञातं त्रिभिर्बाणैश्च तेऽर्जुन ॥
असम्मन्त्र्य मया सार्धं कृतं यत् साहसं पुनः।
जयद्रथवधे यानि कृच्छ्राणि तव चाभवन् ॥

विस्मृतानि कथं पार्थ न जानासि हिताहितम् ।
रथः पद्भ्यां मया रोषाद् विधृतोऽपि हि नीयते ॥
सुधन्वनः शरेणाद्य नल्वमात्रं परां दिशम् ।
एकपत्नीव्रतयुतः सुधन्वातीव दृश्यते ॥
न त्वया न मया तत् तु व्रतं कर्तुं प्रशक्यते ।
महत् कष्टं व्यवसितं युद्धेऽस्मिन् प्रतिभाति मे ॥

(जैमिनीयाश्वमेध० १९ । ४७–५१)

श्रीकृष्ण बोले—पाण्डुनन्दन ! तुम इस वीर सुधन्वाके बल-पौरुषकी ओर दृष्टिपात तो करो। अर्जुन ! तीन बाणोंद्वारा इसका वध करनेकी प्रतिज्ञा तुमने व्यर्थ ही की। मुझसे बिना ही परामर्श किये ऐसी कठिन प्रतिज्ञा करके तुमने पुनः दुःसाहसका काम किया है। जयद्रथ-वधके अवसरपर तुम्हें जो-जो कठिनाइयाँ उठानी पड़ी थीं, उन्हें तुम भूल कैसे गये ? पार्थ ! तुम्हें अपने हित-अहितका कुछ भी ज्ञान नहीं है। भला, जिस रथको मैंने क्रोधपूर्वक अपने दोनों पैरोंसे दबा रक्खा था, उसे भी सुधन्वाके बाणने आज चार सौ हाथ पीछे ढकेल दिया। उसके साथ तुम कैसे जीत सकते हो ? सुधन्वाका एकपत्नीव्रत अत्यन्त सुदृढ़ दीख रहा है। वैसे व्रतका पालन करनेमें तुम और मैं दोनों ही समर्थ नहीं हैं; अतः मुझे तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि इस युद्धमें निश्चय ही महान् कष्टकी प्राप्ति होगी।

प्रतिज्ञानुसार श्रीकृष्णभक्त सुधन्वाने अर्जुनके तीनों बाण काट दिये। तदनन्तर कटे हुए तीसरे बाणने ऊपर उठकर सुधन्वाका मस्तक काट दिया। यों दोनों भक्तोंके प्रणकी भगवान्ने रक्षा की।

पुण्यकर्मा सुरथकी प्रशंसा, पुण्यवान्की अजेयता

सुधन्वाके मारे जानेपर पिताकी आज्ञासे राजकुमार सुरथ युद्धके मैदानमें उतरा। वह बड़ा पुण्यात्मा और बलशाली था। उसके रोष और वेगको देख भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—

श्रीकृष्ण उवाच

द्वितीयां सृष्टिमारब्धुं वीक्ष्य चैनं रणे स्थितम् ।
पितामहस्य महती चिन्ता जायेत सर्वदा ॥
सुरथस्य बलं भूरि स्वल्पं तव धनंजय ।
त्वया मम मतं कार्यं कृतमस्ति पुरा सदा ॥
प्रद्युम्नप्रमुखा वीराः पातयन्तु महाहवे ।
उपायो विद्यते नास्य पातने पाण्डवर्षभ ॥
त्वदर्थं सुकृतं दत्तं सुधन्वा कृच्छ्रतो हतः ।
किंचिद् यस्य भवेत् पार्थ दुष्कृतं सुकृतं बहु ॥
विजये तस्य जायन्ते सिद्धयोऽत्र न संशयः ।
केवलं सुकृतं चास्य शरीरे परितिष्ठति ॥
यस्मिन् क्षणे न पुंसोऽत्र सुकृतं विद्यतेऽनघ ।
व्याघ्रतस्कर राजन्यसर्पाग्नीनां भयं भवेत् ॥
तस्मिन् क्षणे न संदेहः कुतः सुकृतकारिणाम् ।

(जैमिनीयाश्वमेध० २० । ३६–४१½)

श्रीकृष्ण बोले—अर्जुन ! इसे रणक्षेत्रमें उपस्थित हुआ देखकर ब्रह्माको सर्वदा दूसरी सृष्टि रचनेके लिये बड़ी भारी चिन्ता हो जाती है। धनंजय ! सुरथमें बहुत अधिक बल है और तुममें बहुत थोड़ा; अतः तुम पहले सदा जैसे मेरी बात मानते आये हो, उसी तरह इस समय भी तुम्हें मेरे मतके अनुसार ही कार्य करना चाहिये। पाण्डवश्रेष्ठ ! इस महायुद्धमें प्रद्युम्न आदि प्रमुख वीर ही उसे मार गिरावें। अन्यथा उसे मारनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है। मैंने तुम्हारे लिये अपना पुण्य प्रदान किया, जिसके बलसे तुमने बड़ी कठिनाईसे सुधन्वाको मारा है। पार्थ ! जिसमें पाप थोड़ा होता है और पुण्यकी मात्रा अधिक होती है, उसीपर विजय प्राप्त करनेमें सिद्धि मिलती है; परंतु इस सुरथके शरीरमें तो केवल पुण्य-ही-पुण्य विद्यमान है (अतः तुम इसे जीत नहीं सकते)। निष्पाप ! जिस समय इस

लोकमें मनुष्योंका पुण्य क्षीण हो जाता है, उसी समय उसे व्याघ्र, चोर, राजा, सर्प और अग्नि आदिसे भयकी प्राप्ति होती है; इसमें संशय नहीं है। परंतु पुण्यकर्त्ताओंको इनका भय कहाँ ?

तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके रथको लेकर रणभूमिसे तीन योजन दूर हट गये और प्रद्युम्न आदि वीर सुरथका सामना करने लगे। किंतु सुरथ सबको परास्त करके श्रीकृष्ण और अर्जुनके पास जा पहुँचा। दोनोंमें घोर युद्ध हुआ। सुरथने आश्चर्यजनक वीरता दिखायी; किंतु अन्तमें भगवदिच्छासे वह अर्जुनके हाथसे मारा गया। उसके मस्तकको नन्दीद्वारा मँगवाकर भगवान् शिवने अपनी मुण्डमालाका एक मनका बना लिया।

श्रीकृष्णका नित्य अखण्डित ब्रह्मचर्य और उसका प्रभाव

मणिपुरके राजा बभ्रुवाहनके द्वारा युद्धमें पिता अर्जुनका मस्तक काट लिया गया। उसकी माता चित्राङ्गदा तथा उलूपी विलाप करने लगीं। बभ्रुवाहन भी शोकसे संतप्त हो अग्निमें प्रवेश करनेको उद्यत हो गया। तब उलूपीने कहा—'नागराज शेषके पास संजीवक मणि है, उसे लाकर पार्थके शरीरसे स्पर्श कराया जाय तो ये अवश्य जीवित हो सकते हैं।' उलूपीने उस मणिको लानेके लिये पुण्डरीकको शेषनागके पास भेजा। शेष वह मणि देना चाहते थे, मगर अन्य नागोंने नहीं देने दिया। पुण्डरीक निराश लौट आये। तब बभ्रुवाहनने नागलोकपर आक्रमण किया और नागोंको पराजित करके वह मणि प्राप्त कर ली। मणि लेकर बभ्रुवाहन आ ही रहा था कि धृतराष्ट्र नागके पुत्र दुर्बुद्धिने अर्जुनका मस्तक चुरा लिया। इतनेमें श्रीकृष्ण, भीमसेन, कुन्ती, देवकी एवं यशोदा वहाँ आ पहुँचीं। बभ्रुवाहन उन सबको देखकर विलाप करने लगा। तदनन्तर शेषनागने श्रीकृष्णसे कहा—'आप क्यों चुप हैं ? आप तो असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं। अर्जुनका मस्तक मँगाइये और मणिके स्पर्शसे उन्हें जीवित कीजिये।' यह सुनकर श्रीकृष्ण बोले—

> शृण्वन्तु सर्वे वचनं मदीयं मन्त्रसंयुतम्।
> यद्यहं ब्रह्मचर्येण न भग्नो भूतले सदा॥
> तेन मे सुकृतेनाद्य पार्थस्यायातु तच्छिरः।
> यैर्नीतं ते पतन्त्वद्य भिन्नशीर्षा मयाज्ञया॥
> (जैमिनीयाश्वमेध० ४०। ११-१२)

यहाँ जितने लोग उपस्थित हैं, सभी मेरे इस मन्त्रयुक्त वचनको सुनें—यदि इस भूतलपर कभी मेरा ब्रह्मचर्यव्रत खण्डित न हुआ हो—यदि मैं सदा अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करता रहा होऊँ, तो मेरे उस पुण्यके प्रभावसे अर्जुनका वह मस्तक अभी यहाँ आ जाय और जो लोग उसे चुराकर ले गये हों, वे इसी क्षण धराशायी हो जायँ। मेरी आज्ञासे उनके सिरोंके टुकड़े-टुकड़े हो जायँ।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि भगवान्के मुखसे यह बात निकलते ही धृतराष्ट्र नागके दोनों पुत्र दुर्बुद्धि और दुःस्वभाव नष्ट हो गये और अर्जुनका मस्तक उसी क्षण मणिपुरमें आ गया। मणिके स्पर्शसे कर्णपुत्र वृषकेतु तथा कुन्तीपुत्र अर्जुन—दोनोंको नूतन जीवन प्राप्त हुआ।

श्रीकृष्णद्वारा भावी कलि-धर्मका निरूपण

धर्मराज युधिष्ठिरका अश्वमेध यज्ञ प्रायः पूर्ण हो चला था। ब्राह्मण-भोजन आदिका कार्य चल रहा था। राजा युधिष्ठिर ऋषि-मुनियों, ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा भगवान् श्रीकृष्णके साथ यज्ञमण्डपमें विराजमान थे। उसी समय परस्पर विवाद करते हुए दो ब्राह्मण विवादका निपटारा करानेके लिये राजसभामें आये और बोले 'महाराज! आप हम दोनोंके झगड़ेको उचित रीतिसे निपटा दीजिये।' राजा बोले—'ब्राह्मणो ! जहाँ बकदाल्भ्य, वसिष्ठ और अत्रि आदि धर्मज्ञ महर्षि बैठे हैं, वहाँ किसी विवादका निर्णय करना कौन बड़ी बात है, आपलोग अपना-अपना पक्ष उपस्थित कीजिये।'

एकने कहा—'राजन् ! इन्होंने अपना खेत मुझे जीवन-निर्वाहके लिये दिया था । जब मैंने उसे क्रमशः जुतवाया तो उसमेंसे खजाना निकल आया । शर्तके अनुसार इस खेतसे पैदा होनेवाले अन्नमात्रपर मेरा अधिकार है । मैं इस खजाने-को कभी नहीं ले सकता । निश्चय ही यह मेरा नहीं है । खजाना तो उस खेतके पूर्वस्वामीको ही पाना चाहिये, यही सोचकर मैंने उसे त्याग दिया है; परंतु ये महाशय उस खजानेको स्वयं तो लेते नहीं, मुझपर ही उसे ग्रहण करनेके लिये दबाव डाल रहे हैं ।'

यह सुनकर युधिष्ठिरने उन दूसरे ब्राह्मणसे कहा—'महामते ! आप क्यों इस ब्राह्मणको दबाते हैं ? जो द्रव्य पहले इन्हें नहीं दिया है, उसे स्वयं ही क्यों नहीं ले लेते ?' ब्राह्मणने उत्तर दिया—'धर्मनन्दन ! मैंने इनको यह खेत इस संकल्पके साथ दिया था कि इसमें जो कुछ उत्पन्न होगा उसपर इन ब्राह्मण देवताका ही अधिकार होगा, मेरा नहीं ।' यह सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण बोले—'ब्राह्मणो ! आप दोनों तीन महीने-तक निश्चिन्त होकर बैठे रहें, उसके बाद यहाँ पधारियेगा, फिर आपके विवादका तुरंत निपटारा हो जायगा ।' दोनों ब्राह्मण संतुष्ट होकर चले गये और नियत समयकी प्रतीक्षा करने लगे । तब राजाने जिज्ञासा की—'माधव ! इस समय सबके सामने ही आपने इस झगड़ेका फैसला क्यों नहीं कर दिया ?' श्रीकृष्ण बोले—

ऋषयः सन्ति राजानः सुखेन तव संनिधौ ।
यज्ञान्ते मुदिता लोका मध्ये वादकथा कथम् ॥
(जैमिनीयाश्वमेध० ६५ । ३७)

राजन् ! इस यज्ञान्तके अवसरपर जब कि ऋषिगण और राजालोग आपके संनिकट सुख-पूर्वक बैठे हैं और सभी लोग आनन्दमग्न हैं, इस बीचमें झगड़ेका प्रसङ्ग कैसे चलाया जाय ?

मासे तृतीये घोरस्तु भविष्यति कलिर्नृप ।
द्रव्यार्थं विवदन्तौ हि ताडयन्तौ परस्परम् ॥
मुष्टामुष्टि सम्प्रहारं केशाकेशि नखानखि ।
आगन्तारौ च ते पार्श्वे कलिना मथितौ नृप ॥
त्वं तद् धनं द्विधा कृत्वा ताभ्यां दास्यसि मे मतिः ।
भविष्यन्ति कलौ विप्रा आचारश्रुतिवर्जिताः ॥
राजानो धर्महीनाश्च पीडयिष्यन्ति ते प्रजाः ।
अधर्मवल्लभो लोको धर्मद्वेषी च मत्सरी ॥
द्यूतमद्यरता नित्यं सर्वे व्यसनिनः सदा ।
देवकार्ये पितॄणां वा साधुस्त्रीभरणे तथा ॥
ब्राह्मणार्थे धनं स्वल्पं दत्त्वा ते दुःखभाजिनः ।
भविष्यन्ति कलौ राजन् मुदिता गणिकागृहे ॥
नेष्यन्ति च धनं भूरि द्यूतादिव्यसनेष्वपि ।
जननीं जीर्णवस्त्रेण वेष्टयिष्यन्ति ते कलौ ॥
वेश्यां वा पुंश्चलीं वापि दुकूलैर्विविधैः स्वयम् ।
(जैमिनीयाश्वमेध० ६५ । ३८—४४½)

नरेश्वर ! आजसे तीसरे महीनेमें भयंकर कलियुगका प्रवेश होगा । उस समय कलिसे पीड़ित हुए ये दोनों ब्राह्मण इस द्रव्यके लिये विवाद करते हुए एक-दूसरेको मुक्कोंसे पीटते हुए और केशोंको खींचकर तथा नखोंसे बकोटकर परस्पर प्रहार करते हुए आपके पास आयेंगे। तब आप उस धनको दो भागोंमें विभक्त करके दोनों ब्राह्मणोंको देंगे—ऐसा मेरी बुद्धिमें आ रहा है ।

कलियुग आनेपर ब्राह्मणोंमें सदाचार नहीं रह जायगा । वे वेदोंसे हीन हो जायँगे । राजाओंमें धर्म-भावना नहीं रह जायगी । वे प्रजाओंको पीड़ा पहुँचाते रहेंगे । सारा संसार अधर्मका प्रेमी और धर्मसे द्वेष तथा ईर्ष्या करनेवाला हो जायगा । राजन् ! कलियुगमें सभी लोग नित्य द्यूत और मदिरासे प्रेम करनेवाले तथा सदा व्यसनपरायण होंगे । वे देवकार्य, पितृकार्य, पतिव्रता स्त्रियोंके भरण-पोषण और ब्राह्मणके लिये थोड़ा-सा ही धन देकर दुःखका अनुभव करेंगे; परंतु वे ही वेश्याओं-के घर तथा द्यूत आदि व्यसनोंमें हर्षपूर्वक बहुत-सा धन ले जायँगे । कलियुगमें वे लोग अपनी माताको तो फटे-पुराने वस्त्र पहननेको देंगे, परंतु वेश्याओं और व्यभिचारिणी स्त्रियोंको अपने हाथसे अनेक प्रकारके रेशमी वस्त्र पहनायेंगे ।

धत्तूरकस्य पुष्पाणि करवीरभवानि च ॥
सकण्टकानि पुष्पाणि नयिष्यन्ति शिवालये ।
वरपङ्कजजां मालां कर्पूरं चन्दनं तथा ॥
नेष्यन्ति कुमुदं चारु वेश्यास्त्रीकुलटागृहे ।
मातरं पितरं चैव त्यजन्ति हि जनाः कलौ ॥
स्त्रीसेवका भविष्यन्ति परिचारकवत् सदा ।
जननीं ताडयिष्यन्ति लालयिष्यन्ति स्वां स्त्रियम्॥
श्वश्रूश्वशुरयोश्चैव स्नुषाः कलियुगे नृप ।
वदिष्यन्त्यप्रियं वाक्यं हृदये शल्यकारकम् ॥
न विश्वासं करिष्यन्ति देवेषु ब्राह्मणेषु च ।
कर्मभ्रष्टा भविष्यन्ति चतुर्वर्णाः कलौ युगे ॥
स्वीयं कर्म परित्यज्य परकीयं प्रकुर्वते ।
(जैमिनीयाश्वमेध० ६५ । ४५—५०½)

लोग धतूरेके फूल तथा करवीरके वृक्षसे उत्पन्न हुए काँटेदार पुष्पोंको तो शिवालयमें ले जाकर शिव-पूजन करेंगे और उत्तम कमल-पुष्पोंकी बनी हुई माला, कपूर, चन्दन तथा सुन्दर कुमुद-पुष्प वेश्याओं एवं कुलटा स्त्रियोंके घर ले जायँगे। कलियुगमें लोग माता-पिताका परित्याग कर देंगे और नौकरकी तरह सदा स्त्रीकी सेवामें तत्पर रहेंगे। वे माताको तो पीटेंगे और अपनी पत्नीके साथ लाड़ लड़ायेंगे। जनेश्वर! कलियुग आनेपर बहुएँ सास-ससुरको ऐसे कटु वचन सुनायेंगी, जो हृदयमें काँटेकी तरह चुभेगा। कलियुगमें चारों वर्णोंके लोग कर्मभ्रष्ट हो जायँगे। वे देवताओं तथा ब्राह्मणोंके वचनोंपर विश्वास नहीं करेंगे और अपने (वर्णाश्रमानुकूल) कर्मका परित्याग करके दूसरेका कर्म करनेवाले होंगे।

[पद्मपुराण]

श्रीराधा-कृष्णके महत्त्वका, स्वरूपका, परात्परस्वरूप श्रीकृष्णकी महिमाका, श्रीवृन्दावन-मथुरा-माहात्म्यका, गोपियोंका और व्यासजीको भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन तथा उपदेश-लाभका संक्षिप्त वर्णन

एक दिन पार्वती देवी अपने पतिको प्रेमपूर्वक नमस्कार करके बोलीं—'प्रभो! वृन्दावनका माहात्म्य अथवा अद्भुत रहस्य क्या है, उसे मैं सुनना चाहती हूँ।'

वृन्दावन भगवान्का प्रियतम दिव्य प्रेमधाम है

महादेवजीने कहा—देवि! मैं यह बता चुका हूँ कि वृन्दावन ही भगवान्का सबसे प्रियतम धाम है। वह गुह्यसे भी गुह्य, उत्तम-से-उत्तम और दुर्लभसे भी दुर्लभ है। तीनों लोकोंमें अत्यन्त गुप्तस्थान है। बड़े-बड़े देवेश्वर भी उसकी पूजा करते हैं। ब्रह्मा आदि भी उसमें रहनेकी इच्छा करते हैं। वहाँ देवता और सिद्धोंका निवास है। योगीन्द्र और मुनीन्द्र आदि भी सदा उसके ध्यानमें तत्पर रहते हैं। श्रीवृन्दावन बहुत ही सुन्दर और पूर्णानन्दमय रसका आश्रय है। वहाँकी भूमि चिन्तामणि है और जल रससे भरा हुआ अमृत है। वहाँके पेड़ कल्पवृक्ष हैं, जिनके नीचे झुंड-की-झुंड कामधेनु गौएँ निवास करती हैं। वहाँकी प्रत्येक स्त्री लक्ष्मी और हरेक पुरुष विष्णु हैं; क्योंकि वे लक्ष्मी और विष्णुके दशांशसे प्रकट हुए हैं। उस वृन्दावनमें सदा श्याम-तेज विराजमान रहता है, जिसकी नित्य-निरन्तर किशोरावस्था (पंद्रह वर्षकी उम्र) बनी रहती है। वह आनन्दका मूर्तिमान् विग्रह है। उसमें संगीत, नृत्य और वार्तालाप आदिकी अद्भुत योग्यता है। उसके मुखपर सदा मन्द मुसकानकी छटा छायी रहती है। जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, जो प्रेमसे परिपूर्ण हैं, ऐसे वैष्णवजन ही उस वनका आश्रय लेते हैं। वह वन पूर्ण ब्रह्मानन्दमें निमग्न है। वहाँ ब्रह्मके ही स्वरूपकी स्फुरणा होती है। वास्तवमें वह वन ब्रह्मानन्दमय ही है। वहाँ प्रतिदिन पूर्ण चन्द्रमाका उदय होता है। सूर्यदेव अपनी मन्द रश्मियोंके द्वारा उस वनकी सेवा करते हैं। वहाँ दुःखका नाम भी

नहीं है। उसमें जाते ही सारे दुःखोंका नाश हो जाता है। वह जरा और मृत्युसे रहित स्थान है। वहाँ क्रोध और मत्सरताका प्रवेश नहीं है। भेद और अहंकारकी भी वहाँ पहुँच नहीं होती। वह पूर्ण, आनन्दमय अमृत-रससे भरा हुआ अखण्ड प्रेमसुखका समुद्र है, तीनों गुणोंसे परे है और महान् प्रेमधाम है। वहाँ प्रेमकी पूर्णरूपसे अभिव्यक्ति हुई है। जिस वृन्दावनके वृक्ष आदिने भी पुलकित होकर प्रेमजनित आनन्दके आँसू बरसाये हैं; वहाँके चेतन वैष्णवोंकी स्थितिके सम्बन्धमें क्या कहा जा सकता है?

भगवान् श्रीकृष्णकी चरण-रजका स्पर्श होनेके कारण वृन्दावन इस भूतलपर नित्य धामके नामसे प्रसिद्ध है। वह सहस्रदल-कमलका केन्द्रस्थान है। उसके स्पर्शमात्रसे यह पृथ्वी तीनों लोकोंमें धन्य समझी जाती है। भूमण्डलमें वृन्दावन गुह्यसे भी गुह्यतम, रमणीय, अविनाशी तथा परमानन्दसे परिपूर्ण स्थान है। वह गोविन्दका अक्षयधाम है। उसे भगवान्के स्वरूपसे भिन्न नहीं समझना चाहिये। वह अखण्ड ब्रह्मानन्दका आश्रय है। जहाँकी धूलिका स्पर्श होनेमात्रसे मोक्ष हो जाता है, उस वृन्दावनके माहात्म्यका किस प्रकार वर्णन किया जा सकता है। इसलिये देवि! तुम सम्पूर्ण चित्तसे अपने हृदयके भीतर उस वृन्दावनका चिन्तन करो तथा उसकी विहारस्थलियोंमें किशोरविग्रह श्रीकृष्णचन्द्रका ध्यान करती रहो। पहले बता आये हैं कि वृन्दावन सहस्रदल-कमलका केन्द्रस्थान है। कलिन्द-कन्या यमुना उस कमल-कर्णिकाकी प्रदक्षिणा किया करती हैं। उनका जल अनायास ही मुक्ति प्रदान करनेवाला और गहरा है। वह अपनी सुगन्धसे मनुष्योंका मन मोह लेता है। उस जलमें आनन्ददायिनी सुधासे मिश्रित घनीभूत मकरन्द (रस) की प्रतिष्ठा है। पद्म और उत्पल आदि नाना प्रकारके पुष्पोंसे यमुनाका स्वच्छ सलिल अनेक रंगका दिखायी देता है; अपनी चञ्चल तरङ्गोंके कारण वह जल अत्यन्त मनोहर एवं रमणीय प्रतीत होता है। (उस गुह्यतम पवित्रतम प्रियतम प्रेमधाम वृन्दावनके दर्शन श्रीराधा-कृष्णप्रेम-दृष्टि-सम्पन्न यथार्थ प्रेमी पुरुष ही कर पाते हैं, भौतिक दृष्टिवालोंको ठीक दर्शन नहीं होते।)

पार्वतीजीने पूछा—दयानिधे! भगवान् श्रीकृष्णका आश्चर्यमय सौन्दर्य और श्रीविग्रह कैसा है, मैं उसे सुनना चाहती हूँ; कृपया बतलाइये।

भगवान् श्रीकृष्णका अनिर्वचनीय अनन्त सौन्दर्यमय मङ्गल-विग्रह

महादेवजीने कहा—देवि! परम सुन्दर वृन्दावनके मध्यभागमें एक मनोहर भवनके भीतर अत्यन्त उज्ज्वल योगपीठ है। उसके ऊपर माणिक्यका बना हुआ सुन्दर सिंहासन है। सिंहासनके ऊपर अष्टदल कमल है, जिसकी कर्णिका अर्थात् मध्यभागमें सुखदायी आसन लगा हुआ है; वही भगवान् श्रीकृष्णका उत्तम स्थान है। उसकी महिमाका क्या वर्णन किया जाय? वहीं भगवान् गोविन्द विराजमान होते हैं। वैष्णववृन्द उनकी सेवामें लगा रहता है। भगवान्का व्रज, उनकी अवस्था और उनका रूप—ये सभी दिव्य हैं। श्रीकृष्ण ही वृन्दावनके अधीश्वर हैं, वे ही व्रजके राजा हैं। उनमें सदा षड्विध ऐश्वर्य विद्यमान रहते हैं। वे व्रजकी बालक-बालिकाओंके एकमात्र प्राण-वल्लभ हैं और किशोरावस्थाको पार करके यौवनमें पदार्पण कर रहे हैं। उनका शरीर अद्भुत है। वे सबके आदिकारण हैं, किंतु उनका आदि कोई भी नहीं है। वे नन्दगोपके प्रिय पुत्ररूपसे प्रकट हुए हैं; परंतु वास्तवमें अजन्मा एवं नित्य ब्रह्म हैं, जिन्हें वेदकी श्रुतियाँ सदा ही खोजती रहती हैं। उन्होंने गोपीजनोंका चित्त चुरा लिया है। वे ही परमधाम हैं। उनका स्वरूप सबसे उत्कृष्ट है। उनका श्रीविग्रह दो भुजाओंसे सुशोभित है। वे गोकुलके अधिपति हैं। ऐसे गोपीनन्दन श्रीकृष्णका इस प्रकार ध्यान करना चाहिये—

भगवान्की कान्ति अत्यन्त सुन्दर और अवस्था नूतन है। वे बड़े स्वच्छ दिखायी देते हैं। उनके शरीरकी आभा
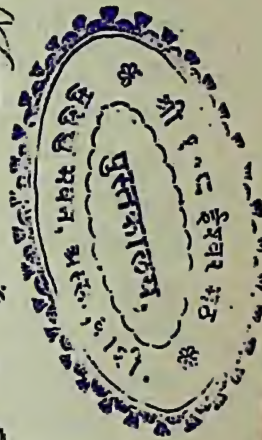
श्याम रंगकी है, जिसके कारण उनकी झाँकी बड़ी मनोहर जान पड़ती है । उनका विग्रह नूतन मेघमालाके समान अत्यन्त स्निग्ध है। वे कानोंमें मनोहर कुण्डल धारण किये हुए हैं। उनकी कान्ति खिले हुए नील कमलके समान जान पड़ती है। उनका स्पर्श सुखद है। वे सबको सुख पहुँचानेवाले हैं। वे अपनी साँवली छटासे मनको मोहे लेते हैं। उनके केश बहुत ही चिकने, काले और घुँघराले हैं। उनसे सब प्रकारकी सुगन्ध निकलती रहती है । केशोंके ऊपर ललाटके दक्षिणभागमें श्याम रंगकी चूड़ाके कारण वे अत्यन्त मनोहर जान पड़ते हैं । नाना रंगके आभूषण धारण करनेसे उनकी दीप्ति बड़ी उज्ज्वल दिखायी देती है । सुन्दर मोरपंख उनके मस्तककी शोभा बढ़ाता है । उनकी सज-धज बड़ी सुन्दर है। वे कभी तो मन्दार-पुष्पोंसे सुशोभित गोपुच्छके आकारकी बनी हुई चूड़ा धारण करते हैं, कभी मोरपङ्खके मुकुटसे अलंकृत होते हैं और कभी अनेकों मणि-माणिक्योंके बने हुए सुन्दर किरीटोंसे विभूषित होते हैं । चञ्चल अलकावली उनके मस्तककी शोभा बढ़ाती है। उनका मनोहर मुख करोड़ों चन्द्रमाओंके समान कान्तिमान् है । ललाटमें कस्तूरीका तिलक है, साथ ही सुन्दर गोरोचनकी बिंदी भी शोभा दे रही है। उनका शरीर इन्दीवरके समान स्निग्ध और नेत्र विकसित कमलदलकी भाँति विशाल हैं। वे कुछ-कुछ भौंहें नचाते हुए मन्द मुसकानके साथ तिरछी

चितवनसे देखा करते हैं । उनकी नासिकाका अग्रभाग रमणीय सौन्दर्यसे युक्त है, जिसके कारण वे अत्यन्त मनोहर जान पड़ते हैं । उन्होंने नासाग्रभागमें गजमोती धारण करके उसकी कान्तिसे त्रिभुवनका मन मोह लिया है । उनका नीचेका ओंठ सिन्दूरके समान लाल और चिकना है, जिससे उनकी मनोहरता और भी बढ़ गयी है । वे अपने कानोंमें नाना प्रकारके वर्णोंसे सुशोभित सुवर्णनिर्मित मकराकृत कुण्डल पहने हुए हैं । उन कुण्डलोंकी किरण पड़नेसे उनका सुन्दर कपोल दर्पणके समान शोभा पा रहा है । वे कानोंमें पहने हुए कमल, मन्दारपुष्प और मकराकार कुण्डलसे विभूषित हैं । उनके वक्षःस्थलपर कौस्तुभमणि और श्रीवत्सचिह्न शोभा पा रहे हैं । गलेमें मोतियोंका हार चमक रहा है । उनके विभिन्न अङ्गोंमें दिव्य माणिक्य तथा मनोहर सुवर्णमिश्रित आभूषण सुशोभित हैं । हाथोंमें कड़े, भुजाओंमें बाजूबन्द तथा कमरमें करधनी शोभा दे रही है । सुन्दर मञ्जीरकी सुषमासे चरणोंकी श्री बहुत बढ़ गयी है, जिससे भगवान्का श्रीविग्रह अत्यन्त शोभायमान दिखायी दे रहा है । उनके श्रीअङ्गोंमें कर्पूर, अगुरु, कस्तूरी और चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्य शोभा पा रहे हैं । गोरोचन आदिसे मिश्रित दिव्य अङ्गरागोंद्वारा विचित्र पत्र-भङ्गी (रंग-बिरंगे चित्र) आदिकी रचना की गयी है । कटिसे लेकर पैरोंके अग्रभागतक चिकने पीताम्बरसे शोभायमान है । भगवान्का नाभिकमल गम्भीर है, उसके नीचेकी रोमावलियोंतक माला लटक रही है । उनके दोनों घुटने सुन्दर गोलाकार हैं तथा कमलोंकी शोभा धारण करनेवाले चरण बड़े मनोहर जान पड़ते हैं । हाथ और पैरोंके तलुवे ध्वज, वज्र, अङ्कुश और कमलके चिह्नसे सुशोभित हैं तथा उनके ऊपर नखरूपी चन्द्रमाकी किरणावलियोंका प्रकाश पड़ रहा है । सनक-सनन्दन आदि योगीश्वर अपने हृदयमें भगवान्के इसी स्वरूपकी झाँकी करते हैं । उनकी त्रिभङ्गी छवि है । उनके श्रीअङ्ग इतने सुन्दर, इतने मनोहर हैं, मानो सृष्टिकी समस्त निर्माण-सामग्रीका सार निकालकर बनाये गये हों । जिस समय वे गर्दन मोड़कर खड़े होते हैं, उस समय उनका सौन्दर्य इतना बढ़ जाता है कि उसके सामने अनन्त कोटि कामदेव लज्जित होने लगते हैं । बायें कंधेपर झुका हुआ उनका सुन्दर कपोल बड़ा भला मालूम होता है । उनके सुवर्णमय कुण्डल जगमगाते रहते हैं । वे तिरछी चितवन और मन्द मुसकानसे सुशोभित होनेवाले करोड़ों कामदेवोंसे भी अधिक सुन्दर हैं । सिकोड़े हुए ओंठपर वंशी रखकर बजाते हैं और उसकी मीठी तानसे त्रिभुवनको मोहित करते हुए सबको प्रेम-सुधाके समुद्रमें निमग्न कर रहे हैं।

भगवान् श्रीकृष्णका गूढ़ रहस्य और महत्त्व

पार्वतीजीने पूछा—देवदेवेश्वर ! आपके उपदेशसे यह ज्ञात हुआ कि गोविन्द नामसे प्रसिद्ध भगवान् श्रीकृष्ण ही इस जगत्के परम कारण हैं । वे ही परमपद हैं, वृन्दावनके अधीश्वर हैं तथा नित्य परमात्मा हैं । प्रभो ! अब मैं यह सुनना चाहती हूँ कि श्रीकृष्णका गूढ रहस्य, माहात्म्य और सुन्दर ऐश्वर्य क्या है ? आप उसका वर्णन कीजिये ।

महादेवजीने कहा—देवि ! जिनके चन्द्र-तुल्य चरणनखोंकी किरणोंके माहात्म्यका भी अन्त नहीं है, उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाके सम्बन्धमें मैं कुछ बातें बता रहा हूँ, तुम आनन्दपूर्वक श्रवण करो । सृष्टि, पालन और संहारकी शक्तिसे युक्त, जो ब्रह्मा आदि देवता हैं, वे सब श्रीकृष्णके ही वैभव हैं । उनके रूपका जो करोड़वाँ अंश है, उसके भी करोड़ अंश करनेपर एक-एक अंशकलासे असंख्य कामदेवोंकी उत्पत्ति होती है, जो इस ब्रह्माण्डके भीतर व्याप्त होकर जगत्के जीवोंको मोहमें डालते रहते हैं । भगवान्के श्रीविग्रहकी शोभामयी कान्तिके कोटि-कोटि अंशसे चन्द्रमाका आविर्भाव हुआ है । श्रीकृष्णके प्रकाशके करोड़वें अंशसे जो किरणें निकलती हैं, वे ही अनेकों सूर्योंके रूपमें प्रकट होती हैं । उनके साक्षात् श्रीअङ्गसे जो रश्मियाँ प्रकट होती हैं, वे परमानन्दमय रसामृतसे परिपूर्ण हैं । परम आनन्द और परम चैतन्य ही उनका स्वरूप है । उन्हींसे इस विश्वके ज्योतिर्मय जीव जीवन धारण करते हैं, जो भगवान्के ही कोटि-कोटि अंश हैं । उनके युगल चरणारविन्दोंके नखरूपी चन्द्रकान्तमणिसे निकलनेवाली प्रभाको ही सबका कारण बताया गया है । वह कारण-तत्त्व वेदोंके लिये भी दुर्गम्य है । विश्वको विमुग्ध करनेवाले जो नानाप्रकारके सौरभ (सुगन्ध) हैं, वे सब भगवद्विग्रहकी दिव्य सुगन्धके अनन्तकोटि अंशमात्र हैं । भगवान्के स्पर्शसे ही पुष्पगन्ध आदि नाना सौरभोंका प्रादुर्भाव होता है । श्रीकृष्णकी प्रियतमा—उनकी प्राणवल्लभा श्रीराधा हैं, वे ही 'आद्या प्रकृति' कही गयी हैं।

दिव्य वृन्दावनमें श्रीराधा और कृष्णका, गोपाङ्गनाओंका तथा मन्दिरसे बाहर रहनेवाले श्रीकृष्णपार्षदोंका वर्णन

तदनन्तर पार्वतीजीके पूछनेपर महादेवजीने

कहा—देवि ! भगवान् श्रीकृष्ण श्रीराधाके साथ सुवर्णमय सिंहासनपर विराजमान हैं । उनका रूप और लावण्य वैसा ही है जैसा कि पहले बताया गया है । वे दिव्य वस्त्र, दिव्य आभूषण और दिव्य हारसे विभूषित हैं । उनकी त्रिभङ्गी छवि बड़ी मनोहर जान पड़ती है । उनका स्वरूप अत्यन्त स्निग्ध है । वे गोपियोंकी आँखोंके तारे हैं । उपर्युक्त सिंहासनसे पृथक् एक योगपीठ है । वह भी सोनेके सिंहासन-से आवृत है। उसके ऊपर ललिता आदि प्रधान-प्रधान सखियाँ, जो श्रीकृष्णको बहुत ही प्रिय हैं, विराजमान होती हैं। उनका प्रत्येक अङ्ग भगवन्मिलनकी उत्कण्ठा तथा रसावेशसे युक्त होता है । ये ललिता आदि सखियाँ प्रकृतिकी अंशभूता हैं । श्रीराधिका ही इनकी मूलप्रकृति हैं । श्रीराधा और श्रीकृष्ण पश्चिमाभिमुख विराजमान हैं, उनकी पश्चिम दिशामें ललितादेवी विद्यमान हैं, वायव्य कोणमें श्यामला नामवाली सखी हैं । उत्तरमें श्रीमती धन्या हैं । ईशानकोणमें श्रीहरिप्रियाजी विराज रही हैं । पूर्वमें विशाखा, अग्निकोणमें शैव्या, दक्षिणमें पद्मा तथा नैर्ऋत्यकोणमें भद्रा हैं । इसी क्रमसे ये आठों सखियाँ योगपीठपर विराजमान हैं । योगपीठ-की कर्णिकामें परम सुन्दरी चन्द्रावलीकी स्थिति है—वे भी श्रीकृष्णकी प्रिया हैं । उपर्युक्त आठ सखियाँ श्रीकृष्णको प्रिय लगनेवाली परम पवित्र आठ प्रधान प्रकृतियाँ हैं । वृन्दावनकी अधीश्वरी श्रीराधा तथा चन्द्रावली—दोनों ही भगवान्‌की प्रियतमा हैं । इन दोनोंके आगे चलनेवाली हजारों गोप-कन्याएँ हैं, जो गुण, लावण्य और सौन्दर्यमें एक समान हैं । उन सबके नेत्र विस्मयकारी गुणोंसे युक्त हैं । वे बड़ी मनोहर हैं। उनका वेश मनको मुग्ध करनेवाला है । वे सभी किशोर-अवस्था (प्रायः पंद्रह वर्षकी उम्र-) वाली हैं । उन सबकी कान्ति उज्ज्वल है । वे सब-की-सब श्याममय अमृतरसमें सदा निमग्न रहती हैं । उनके हृदयमें केवल श्रीकृष्णके ही भाव स्फुरित होते हैं । वे अपने कमलवत् नेत्रोंके द्वारा पूजित श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंमें अपना-अपना चित्त समर्पित कर चुकी हैं ।

श्रीराधा और चन्द्रावलीके दक्षिणभागमें श्रुतिकन्याएँ रहती हैं । [वेदकी श्रुतियाँ ही इन कन्याओंके रूपमें प्रकट हुई हैं ।] इनकी संख्या सहस्र अयुत (एक करोड़) है । इनकी मनोहर आकृति संसारको मोहित कर लेनेवाली है । इनके हृदयमें केवल श्रीकृष्णकी लालसा है । ये नाना प्रकारके मधुर स्वर और आलाप आदिके द्वारा त्रिभुवनको मुग्ध करनेकी शक्ति रखती हैं तथा प्रेमसे विह्वल होकर श्रीकृष्णके गूढ़ रहस्योंका गान किया करती हैं । इसी प्रकार श्रीराधा आदिके वामभागमें दिव्यवेषधारिणी देवकन्याएँ रहती हैं, जो रसातिरेकके कारण अत्यन्त उज्ज्वल प्रतीत होती हैं । वे भाँति-भाँतिकी प्रणय-चातुरीमें निपुण तथा दिव्य-भावसे परिपूर्ण हैं । उनका सौन्दर्य चरम सीमाको पहुँचा हुआ है । वे कटाक्षपूर्ण चितवनके कारण अत्यन्त मनोहर जान पड़ती हैं । उनके मनमें श्रीकृष्णके प्रति तनिक भी संकोच नहीं है । उनके अङ्गोंका स्पर्श प्राप्त करनेके लिये वे सदा उत्कण्ठित रहती हैं । उनका हृदय निरन्तर श्रीकृष्णके ही चिन्तनमें मग्न रहता है । वे भगवान्‌की ओर मन्द-मन्द मुसकाती हुई तिरछी चितवनसे निहारा करती हैं ।

तदनन्तर मन्दिरके बाहर गोपगण स्थित होते हैं। वे भगवान्‌के प्रिय सखा हैं । उन सबके वेष, अवस्था, बल, पौरुष, गुण, कर्म तथा वस्त्राभूषण आदि एक समान हैं । वे एक समान स्वरसे गाते हुए वेणु बजाया करते हैं । मन्दिरके पश्चिम द्वारपर श्रीदामा, उत्तरमें वसुदामा, पूर्वमें सुदामा तथा दक्षिण द्वारपर किङ्किणीका निवास है । उस स्थानसे पृथक् एक सुवर्णमय मन्दिरके भीतर सुवर्ण-वेदी बनी हुई है । उसके ऊपर सोनेके आभूषणोंसे विभूषित सुवर्णपीठ है, जिसके ऊपर अंशुभद्र आदि हजारों ग्वालबाल विराजते हैं । वे सब-के-सब एक समान सींग, वीणा, वेणु, बेंतकी छड़ी, किशोरावस्था, मनोहर वेष, सुन्दर आकार तथा मधुर स्वर धारण करते हैं । वे भगवान्‌के गुणोंका चिन्तन करते हुए उनका गान करते हैं तथा भगवत्-प्रेममय रससे विह्वल रहते हैं । ध्यानमें स्थिर होनेके कारण वे चित्र-लिखित-से जान पड़ते हैं । उनका रूप आश्चर्यजनक सौन्दर्यसे युक्त होता है । वे सदा आनन्दके आँसू बहाया करते हैं । उनके सम्पूर्ण अङ्गोंमें रोमाञ्च छाया रहता है तथा वे योगीश्वरोंकी भाँति सदा विस्मय-विमुग्ध रहते हैं । अपने थनोंसे दूध बहानेवाली असंख्य गौएँ उन्हें घेरे रहती हैं । वहाँसे बाहरके भागमें एक सोनेकी चहारदिवारी है, जो करोड़ों सूर्योंके समान देदीप्यमान दिखायी देती है । उसके चारों ओर बड़े-बड़े उद्यान हैं, जिनकी मनोहर सुगन्ध सब ओर फैली रहती है ।

नारदजीके द्वारा व्रजमें अवतीर्ण श्रीकृष्ण और श्रीराधाके दर्शन-स्तवन तथा गोपियोंके स्वरूपका परिचय

श्रीमहादेवजीने कहा—देवि ! एक समयकी बात

है, मुनिश्रेष्ठ नारद यह जानकर कि श्रीकृष्णका प्राकट्य हो चुका है, वीणा बजाते हुए नन्दजीके गोकुलमें पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने देखा महायोगमायाके स्वामी सर्वव्यापी भगवान् अच्युत बालकका स्वाँग धारण किये नन्दजीके घरमें कोमल बिछौनोंसे सम्पन्न सोनेके पलंगपर सो रहे हैं और गोपकन्याएँ बड़ी प्रसन्नताके साथ निरन्तर उनकी ओर निहार रही हैं। भगवान्‌का श्रीविग्रह अत्यन्त सुकुमार था। उनके काले-काले घुँघराले बाल सब ओर बिखरे हुए थे। किञ्चित्-किञ्चित् मुसकराहटके कारण उनके दो-एक दाँत दिखायी दे जाते थे। वे अपनी प्रभासे समूचे घरके भीतरी भागमें प्रकाश फैला रहे थे। नग्न शिशुके रूपमें भगवान्‌की झाँकी करके नारदजीको बड़ा हर्ष हुआ। वे भगवान्‌के प्रिय भक्त तो थे ही, गोपति नन्दजीसे बातचीत करके सब बातें बताने लगे—'नन्दरायजी! भगवान्‌के भक्तोंका जीवन अत्यन्त दुर्लभ होता है। आपके इस बालकका प्रभाव अनुपम है; इसे कोई नहीं जानता। शिव और ब्रह्मा आदि देवता भी इसके प्रति सनातन प्रेम चाहते हैं। इस बालकका चरित्र सबको हर्ष प्रदान करनेवाला होगा। भगवद्भक्त पुरुष इस बालककी लीलाओंका श्रवण, गायन और अभिनन्दन करते हैं। आपके पुत्रका प्रभाव अचिन्त्य है। जिनका इसके प्रति हार्दिक प्रेम होगा, वे संसार-समुद्रसे तर जायँगे। उन्हें इस जगत्‌की कोई बाधा नहीं सतायेगी; अतः नन्दजी! आप भी इस बालकके प्रति निरन्तर अनन्यभावसे प्रेम कीजिये।'

यों कहकर मुनिश्रेष्ठ नारदजी नन्दके घरसे निकले। नन्दने भी भगवद्बुद्धिसे उनका पूजन किया और प्रणाम करके उन्हें विदा दी। तदनन्तर वे महाभागवत मुनि मन-ही-मन सोचने लगे—'जब भगवान्‌का अवतार हो चुका है, तो उनकी परम प्रियतमा भगवती भी अवश्य अवतीर्ण हुई होंगी। वे भगवान्‌की क्रीड़ाके लिये गोपी-रूप धारण करके निश्चय ही कहीं प्रकट हुई होंगी, इसमें तनिक भी संदेहकी बात नहीं है; इसलिये अब मैं व्रजवासियोंके घर-घरमें घूमकर उनका पता लगाऊँगा।' ऐसा विचारकर मुनिवर नारदजी व्रजवासियोंके घर अतिथिरूपसे जाने और उनके द्वारा विष्णु-बुद्धिसे पूजित होने लगे। नन्दकुमार श्रीकृष्णमें समस्त गोप-गोपियोंका प्रगाढ़ प्रेम देखकर नारदजीने उन्हें मन-ही-मन प्रणाम किया।

तदनन्तर बुद्धिमान् नारदजी किसी श्रेष्ठ गोपके विशाल भवनमें गये। वह नन्दके सखा महात्मा भानुका घर था। वहाँ जानेपर भानुने नारदजीका विधिवत् सत्कार किया। तत्पश्चात् महामना नारदजीने पूछा—'साधो! तुम अपनी धर्मनिष्ठताके लिये इस भूमण्डलपर विख्यात हो। बताओ, क्या तुम्हें कोई योग्य पुत्र अथवा उत्तम लक्षणोंवाली कन्या है?' मुनिके ऐसा कहनेपर भानुने अपने पुत्रको लाकर दिखाया। उसे देखकर नारदजीने कहा—'तुम्हारा यह पुत्र बलराम और श्रीकृष्णका श्रेष्ठ सखा होगा तथा आलस्यरहित होकर सदा उन दोनोंके साथ विहार करेगा।'

श्रीनारदजीके द्वारा राधाजीका दर्शन और स्तवन

भानुने कहा—मुनिवर! मेरे एक पुत्री भी है, जो इस बालककी छोटी बहिन है। कृपया उसपर भी दृष्टिपात कीजिये।

यह सुनकर नारदजीके मनमें बड़ा कौतूहल हुआ। उन्होंने घरके भीतर प्रवेश करके देखा, भानुकी कन्या धरतीपर लोट रही है। नारदजीने उसे अपनी गोदमें उठा लिया। उस समय उनका चित्त अत्यधिक स्नेहके कारण विह्वल हो रहा था। महामुनि नारद भगवत्प्रेमके साक्षात् स्वरूप हैं। बालरूप श्रीकृष्णको देखकर उनकी जो अवस्था हुई थी, वही इस कन्याको भी देखकर हुई। उनका मन मुग्ध हो गया। वे एकमात्र रसके आश्रयभूत परमानन्दके समुद्रमें डूब गये। चार घड़ीतक नारदजी पत्थरकी भाँति निश्चेष्ट बैठे रहे। उसके बाद उन्हें चेत हुआ। फिर मुनीश्वरने धीरे-धीरे अपने दोनों नेत्र खोले और महान् आश्चर्यमें मग्न होकर वे चुपचाप स्थित हो गये। तत्पश्चात् वे महाबुद्धिमान् महर्षि मन-ही-मन इस प्रकार सोचने लगे—

'मैं सदा स्वच्छन्द विचरनेवाला हूँ, मैंने सभी लोकोंमें भ्रमण किया है; परंतु रूपमें इस बालिकाकी समानता करनेवाली स्त्री कहीं नहीं देखी है। मैंने महामायास्वरूपिणी गिरिराजकुमारी भगवती उमाको भी देखा है, किंतु वे भी इस बालिकाकी शोभाको कदापि नहीं पा सकतीं। लक्ष्मी, सरस्वती, कान्ति तथा विद्या आदि सुन्दरी स्त्रियाँ तो कभी इसके सौन्दर्यकी छायाका भी स्पर्श करती नहीं दिखायी देतीं; अतः इसके तत्त्वको समझनेकी किसी प्रकार शक्ति मुझमें नहीं है। यह भगवान्‌की प्रियतमा है, इसे प्रायः दूसरे लोग भी नहीं जानते। इसके दर्शनमात्रसे ही श्रीकृष्णके चरण-कमलोंमें मेरे प्रेमकी जैसी वृद्धि हुई

है, वैसी आजके पहले कभी नहीं हुई थी; अतः अब मैं एकान्तमें इस देवीकी स्तुति करूँगा। इसका रूप श्रीकृष्णको अत्यन्त आनन्द प्रदान करनेवाला होगा।'

ऐसा विचारकर मुनिने गोप-प्रवर भानुको कहीं भेज दिया और स्वयं एकान्तमें उस दिव्य रूपधारिणी बालिकाकी स्तुति करने लगे—'देवि! तुम महायोगमयी हो, मायाकी अधीश्वरी हो। तुम्हारा तेजःपुञ्ज महान् है। तुम्हारे दिव्याङ्ग मनको अत्यन्त मोहित करनेवाले हैं। तुम महान् माधुर्यकी वर्षा करनेवाली हो। तुम्हारा हृदय अत्यन्त अद्भुत रसानुभूति-जनित आनन्दसे शिथिल रहता है। मेरा कोई महान् सौभाग्य था, जिससे तुम मेरे नेत्रोंके समक्ष प्रकट हुई हो। देवि! तुम्हारी दृष्टि सदा आन्तरिक सुखमें निमग्न दिखायी देती है। तुम भीतर-ही-भीतर किसी महान् आनन्दसे परितृप्त जान पड़ती हो। तुम्हारा यह प्रसन्न, मधुर एवं शान्त मुखमण्डल तुम्हारे अन्तःकरणमें किसी परम आश्चर्यमय आनन्दके उद्रेककी सूचना दे रहा है। सृष्टि, स्थिति और संहार—तुम्हारे ही स्वरूप हैं, तुम्हीं इनका अधिष्ठान हो। तुम्हीं विशुद्ध सत्त्वमयी हो तथा तुम्हीं पराविद्यारूपिणी उत्तम शक्ति हो। तुम्हारा वैभव आश्चर्यमय है। ब्रह्मा और रुद्र आदिके लिये भी तुम्हारे तत्त्वका बोध होना कठिन है। बड़े-बड़े योगीश्वरोंके ध्यानमें भी तुम कभी नहीं आतीं। तुम्हीं सबकी अधीश्वरी हो। इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति—ये सब तुम्हारे अंश-मात्र हैं। मायासे बालकरूप धारण करनेवाले परमेश्वर महाविष्णुकी जो मायामयी अचिन्त्य विभूतियाँ हैं, वे सब तुम्हारी अंशभूता हैं। तुम आनन्द-रूपिणी शक्ति और सबकी ईश्वरी हो; इसमें संदेह नहीं है। निश्चय ही भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावनमें तुम्हारे ही साथ क्रीडा करते हैं। कुमारावस्थामें भी तुम अपने रूपसे विश्वको मोहित करनेकी शक्ति रखती हो। तुम्हारा जो स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको परम प्रिय है, मैं उसका दर्शन करना चाहता हूँ। महेश्वरि! मैं तुम्हारी शरणमें आया हूँ, चरणोंमें पड़ा हूँ। मुझपर दया करके इस समय अपना वह मनोहर रूप प्रकट करो, जिसे देखकर नन्दनन्दन श्रीकृष्ण भी मोहित हो जायँगे।'

यों कहकर देवर्षि नारदजी श्रीकृष्णका ध्यान करते हुए उनके गुणोंका गान करने लगे—'भक्तोंके चित्त चुराने-वाले श्रीकृष्ण! तुम्हारी जय हो, वृन्दावनके प्रेमी गोविन्द! तुम्हारी जय हो। बाँकी भौंहोंके कारण अत्यन्त सुन्दर, वंशी बजानेमें व्यग्र, मोरपंखका मुकुट धारण करनेवाले गोपी-मोहन! तुम्हारी जय हो, जय हो। अपने श्रीअङ्गोंमें कुङ्कुम लगाकर रत्नमय आभूषण धारण करनेवाले नन्दनन्दन! तुम्हारी जय हो, जय हो। अपने किशोर-स्वरूपसे प्रेमीजनोंका मन मोहनेवाले जगदीश्वर! वह दिन कब आयगा, जब कि मैं तुम्हारी ही कृपासे तुम्हें अभिनव तरुणावस्थाके कारण अङ्ग-अङ्गमें मनोहर शोभा धारण करनेवाली इस दिव्यरूपा बालिकाके साथ देखूँगा।'

नारदजी जब इस प्रकार कीर्तन कर रहे थे, उसी समय वह बालिका क्षणभरमें अत्यन्त मनोहर दिव्यरूप धारण करके पुनः उनके सामने प्रकट हुई। वह रूप चौदह वर्षकी अवस्थाके अनुरूप और सौन्दर्यकी चरम सीमाको पहुँचा हुआ था। तत्काल ही उसीके समान अवस्थावाली दूसरी व्रजबालाएँ भी दिव्य वस्त्र, आभूषण और मालाओंसे सुसज्जित हो वहाँ आ पहुँचीं तथा भानुकुमारीको सब ओरसे घेरकर खड़ी हो गयीं। यह देख मुनीश्वर नारदजी आश्चर्यसे मोहित हो गये। तब उन व्रजबालाओंने कृपापूर्वक अपनी सखीका चरणोदक लेकर मुनिके ऊपर छींटा दिया। ऐसा करनेसे जब वे होशमें आये तो बालिकाओंने कहा—'मुनिश्रेष्ठ! तुम बड़े भाग्यशाली हो। महान् योगेश्वरोंके भी ईश्वर हो। तुम्हींने पराभक्तिके साथ सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरिकी आराधना

की है। भक्तोंकी इच्छा पूर्ण करनेवाले भगवान्‌की उपासना वास्तवमें तुम्हारे ही द्वारा हुई है। यही कारण है कि ब्रह्मा और रुद्र आदि देवता, सिद्ध, मुनीश्वर तथा अन्य भगवद्भक्तोंके लिये भी जिसे देखना और जानना कठिन है, वही अपनी अद्भुत अवस्था और रूपसे सबको मोहित करनेवाली यह श्रीकृष्णकी प्रियतमा हमारी सखी आज तुम्हारे समक्ष प्रकट हुई है। निश्चय ही यह तुम्हारे किसी अचिन्त्य सौभाग्यका प्रभाव है। ब्रह्मर्षे ! धैर्य धारण करके शीघ्र ही उठो, खड़े हो जाओ और इस देवीकी प्रदक्षिणा करो; इसके चरणोंमें बारंबार मस्तक झुका लो। फिर समय नहीं मिलेगा। यह अभी इसी क्षण अन्तर्धान हो जायगी। अब इसके साथ तुम्हारी बातचीत किसी तरह नहीं हो सकेगी; किंतु वृन्दावनमें गोवर्धन पर्वतके निकट कुसुम-सरोवरके तटपर अपने सौरभसे सम्पूर्ण दिशाओंको सुवासित करनेवाली तथा हर समय पुष्पोंसे सुशोभित जो अशोक-लता है, उसीके नीचे आधी रातके समय तुम्हें हम सबके दर्शन होंगे।' व्रजबालाओंका चित्त स्नेहसे विह्वल हो रहा था। उनकी बातें सुनकर नारदजी नाना प्रकारके वेष-विन्याससे शोभा पानेवाली उस दिव्य बालाके चरणोंमें दो मुहूर्ततक पड़े रहे। तदनन्तर उन्होंने भानुको बुलाकर उस सर्व-शोभा-सम्पन्न कन्याके सम्बन्धमें इस प्रकार कहा—'गोपश्रेष्ठ ! तुम्हारी इस कन्याका स्वरूप और स्वभाव दिव्य है। देवता भी इसे अपने वशमें नहीं कर सकते। जो घर इसके चरण-चिह्नोंसे विभूषित होगा, वहाँ भगवान् नारायण सम्पूर्ण देवताओंके साथ निवास करेंगे और भगवती लक्ष्मी भी सब प्रकारकी सिद्धियोंके साथ वहाँ विद्यमान रहेंगी। अब तुम सम्पूर्ण आभूषणोंसे विभूषित इस सुन्दरी कन्याको परादेवीकी भाँति समझकर इसकी अपने घरमें यत्नपूर्वक रक्षा करो।'

श्रीनारदजीका और अशोकमालिनीका संवाद

ऐसा कहकर मुनि श्रीराधाका ही मन-ही-मन चिन्तन करते हुए गहन वनमें चले गये। अशोक-लताके नीचे बैठकर वे सखियोंके शुभागमनकी प्रतीक्षा करने लगे। आधी रातके समय बहुत-सी अद्भुत सुन्दरियाँ वहाँ प्रकट हुईं। सभी दिव्य वस्त्राभूषणोंसे विभूषित तथा युवती थीं। उनमें कुछ तो उनकी देखी हुई थीं और कुछ अनदेखी थीं। उन्हें देख मुनि हड़बड़ाकर उठे और उनके चरणोंमें दण्डकी भाँति लोट गये। वे सब-की-सब उन्हें घेरकर बैठ गयीं। इसी समय उस अशोकवनकी अधिदेवी अशोकमालिनी वहाँ आयी और बोली—'महामुने ! मैं यहाँ अशोककलिकामें वास करती हूँ। एक दिन वसन्तोत्सवमें प्रियाजीके साथ विहार करती हुई विचित्र वस्त्रधारिणी गोपबालाएँ मुझे मिलीं। मैंने अशोककी मालाओंद्वारा गोपवेषधारी श्यामसुन्दर तथा रमास्वरूपा उन गोपियोंका भक्तिभावसे पूजन किया। तबसे मैं इन सबके बीचमें रहती तथा गौओं, गोपों और गोपियोंका रहस्य जानती हूँ। तुम्हारे मनमें जो जिज्ञासा है, उसे भी मैं समझती हूँ। हम लोग किस पुण्यके प्रभावसे हरिप्रियाका दर्शन और समाराधन करती हैं ? यही प्रश्न तुम्हारे मनमें उठ रहा है; अतः मैं इन सबका परिचय देती हूँ। इनमें बहुत-सी गोपियाँ मुनिरूपा हैं। ये मानसरोवरके तटपर एक-एक कल्पतक तपस्या करके श्रीराधा और श्यामसुन्दरकी सेवाकी कामना मनमें लेकर गोपीभावको प्राप्त हुई हैं।' यों कहकर अशोकमालिनीने सुनन्दा, भद्रा, रङ्गवेणी, चित्रगन्धा, चित्रकला और लवंगा आदि बहुत-सी मुनिरूपिणी गोपियोंका परिचय दिया।

वेदव्यासजीके प्रति परात्पर भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा अपने स्वरूपका दर्शन कराना तथा अपने एवं मथुराके महत्त्वका वर्णन करना

एक समयकी बात है। राजा अम्बरीष बदरिकाश्रममें गये। वहाँ परम जितेन्द्रिय महर्षि वेदव्यास विराजमान थे। राजाने विष्णु-धर्मको जाननेकी इच्छासे महर्षिको प्रणाम करके उनका स्तवन करते हुए कहा—'भगवन् ! आप विषयोंसे विरक्त हैं। मैं आपको बारंबार नमस्कार करता हूँ। प्रभो ! जो परमपद, उद्वेगशून्य—शान्त है, जो सच्चिदानन्दस्वरूप और परब्रह्मके नामसे प्रसिद्ध है, जिसे 'परम आकाश' कहा गया है, जो इस भौतिक जड आकाशसे सर्वथा विलक्षण है, जहाँ किसी रोग-व्याधिका प्रवेश नहीं है तथा जिसका साक्षात्कार करके मुनिगण भवसागरसे पार हो जाते हैं, उस अव्यक्त परमात्मामें मेरे मनकी नित्य स्थिति कैसे हो ?'

वेदव्यासजी बोले—राजन् ! तुमने अत्यन्त गोपनीय प्रश्न किया है, जिस आत्मानन्दके विषयमें मैंने अपने पुत्र शुकदेवको भी कुछ नहीं बतलाया था, वही आज तुमको बता रहा हूँ; क्योंकि तुम भगवान्‌के प्रिय भक्त हो। पूर्वकालमें यह सारा विश्व-ब्रह्माण्ड जिसके रूपमें स्थित रहकर अव्यक्त और अविकारी स्वरूपसे प्रतिष्ठित था, उसी परमेश्वरके रहस्य-का वर्णन किया जाता है; सुनो। प्राचीन समयमें मैंने फल,

मूल, पत्र, जल, वायुका आहार करके कई हजार वर्षोंतक भारी तपस्या की। इससे भगवान् मुझपर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने ध्यानमें लगे रहनेवाले मुझ भक्तसे कहा—'महामते! तुम कौन-सा कार्य करना अथवा किस विषयको जानना चाहते हो? मैं प्रसन्न हूँ। तुम मुझसे कोई वर माँगो। संसारका बन्धन तभीतक रहता है, जबतक कि मेरा साक्षात्कार नहीं हो जाता; यह मैं तुमसे सच्ची बात बता रहा हूँ।' यह सुनकर मेरे शरीरमें रोमाञ्च हो आया। मैंने श्रीकृष्णसे कहा—'मधुसूदन! मैं आपके ही तत्त्वका यथार्थरूपसे साक्षात्कार करना चाहता हूँ। नाथ! जो इस जगत्का पालक और प्रकाशक है; उपनिषदोंमें जिसे सत्यस्वरूप परब्रह्म बतलाया गया है, आपका वही अद्भुत रूप मेरे समक्ष प्रकट हो; यही मेरी प्रार्थना है।'

श्रीभगवानुवाच

ब्रह्मणैवं पुरा पृष्टः प्रार्थितश्च यथा पुरा।
यदवोचमहं तस्मै तत्तुभ्यमपि कथ्यते॥
मामेके प्रकृतिं प्राहुः पुरुषं च तथेश्वरम्।
धर्ममेके धनं चैके मोक्षमेकेऽकुतोभयम्॥
शून्यमेके भावमेके शिवमेके सदाशिवम्।
अपरे वेदशिरसि स्थितमेकं सनातनम्॥
सद्भावं विक्रियाहीनं सच्चिदानन्दविग्रहम्।
पश्याद्य दर्शयिष्यामि स्वरूपं वेदगोपितम्॥
(पद्मपुराण पाताल० ७३। १५—१८)

श्रीभगवान्ने कहा—महर्षे! पूर्वकालमें ब्रह्माजीने मुझसे यही बात पूछी थी। उनके प्रार्थना करनेपर मैंने पहले उनसे जो कुछ जिस प्रकार बताया था, वह तुमसे भी कह रहा हूँ। [मेरे विषयमें लोगोंकी भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं।] कोई मुझे 'प्रकृति' कहते हैं, कोई 'पुरुष'। कोई 'ईश्वर' मानते हैं, कोई 'धर्म' या 'अर्थ'! किन्हीं-किन्हींके मतमें मैं सर्वथा 'भयरहित मोक्षस्वरूप' हूँ। कोई 'भाव (सत्तास्वरूप)' मानते हैं और कोई-कोई कल्याणमय 'सदाशिव' बतलाते हैं। इसी प्रकार दूसरे लोग मुझे वेदान्तप्रतिपादित 'अद्वितीय सनातन ब्रह्म' मानते हैं। किंतु वास्तवमें जो सत्तास्वरूप और निर्विकार है; जो दिव्य सच्चिदानन्द-विग्रह-रूप तथा वेदोंमें जिसका रहस्य छिपा हुआ है; अपना वह पारमार्थिक स्वरूप आज तुम्हारे सामने प्रकट करता हूँ; देखो।

व्यासजीको बालरूप श्रीकृष्णका दर्शन देकर अपना रहस्य बतलाना

राजन्! भगवान्के इतना कहते ही मुझे एक दिव्य बालकका दर्शन हुआ, जिसके शरीरकी कान्ति नील मेघके समान श्याम थी। वह गोपकन्याओं और ग्वाल-बालोंसे घिरकर हँस रहा था। वे भगवान् श्यामसुन्दर थे, जो पीत-वस्त्र धारण किये कदम्बकी जड़पर बैठे हुए थे। उनकी झाँकी अद्भुत थी। उनके साथ ही नूतन पल्लवोंसे अलंकृत 'वृन्दावन' नामवाला वन भी दृष्टिगोचर हुआ। इसके बाद मैंने नील-कमलकी आभा धारण करनेवाली कलिन्द-कन्या यमुनाके दर्शन किये। फिर गोवर्धन-पर्वतपर दृष्टि पड़ी, जिसे श्रीकृष्ण तथा बलरामने इन्द्रका घमंड चूर्ण करनेके लिये अपने हाथोंपर उठाया था। वह पर्वत गौओं तथा गोपोंको बहुत सुख देनेवाला है। गोपाल श्रीकृष्ण अबलाओंके साथ बैठकर बड़ी प्रसन्नताके साथ वेणु बजा रहे थे। उनके शरीरपर सब प्रकारके आभूषण शोभा पा रहे थे। उनका दर्शन करके मुझे बड़ा हर्ष हुआ। तब वृन्दावनमें विचरनेवाले भगवान्ने स्वयं मुझसे कहा—

यदिदं मे त्वया दृष्टं रूपं दिव्यं सनातनम्॥
निष्कलं निष्क्रियं शान्तं सच्चिदानन्दविग्रहम्।
पूर्णं पद्मपलाशाक्षं नातः परतरं मम॥
इदमेव वदन्त्येते वेदाः कारणकारणम्।
सत्यं नित्यं परानन्दं चिद्घनं शाश्वतं शिवम्॥

नित्यां मे मथुरां विद्धि वनं वृन्दावनं तथा ।
यमुनां गोपकन्याश्च तथा गोपालबालकाः ॥
ममावतारो नित्योऽयमत्र मा संशयं कृथाः ।
ममेष्टा हि सदा राधा सर्वज्ञोऽहं परात्परः ॥
सर्वकामश्च सर्वेशः सर्वानन्दः परात्परः ।
मयि सर्वमिदं विश्वं भाति मायाविजृम्भितम् ॥
(पद्मपुराण पाताल० ७३ । २४—२९)

मुने ! तुमने जो इस दिव्य सनातन रूपका दर्शन किया है, यही मेरा निष्कल, निष्क्रिय, शान्त और पूर्ण सच्चिदानन्दमय विग्रह है । इस कमललोचनस्वरूपसे बढ़कर दूसरा कोई उत्कृष्ट तत्त्व नहीं है । वेद इसी स्वरूपका वर्णन करते हैं । यही कारणोंका भी कारण है । यही सत्य, नित्य, परमानन्दस्वरूप, चिदानन्दघन, सनातन शिवतत्त्व है । तुम मेरी इस मथुरापुरीको नित्य समझो । यह वृन्दावन, यह यमुना, ये गोपकन्याएँ तथा ग्वाल-बाल सभी नित्य हैं । यहाँ जो मेरा अवतार हुआ है, यह भी नित्य है । इसमें संशय न करना । राधा मेरी सदाकी प्रियतमा हैं । मैं सर्वज्ञ, परात्पर, सर्वकाम, सर्वेश्वर तथा सर्वानन्दमय परमेश्वर हूँ । मुझमें ही यह सारा विश्व, जो मायाका विलासमात्र है; प्रतीत हो रहा है ।

तब मैंने जगत्के कारणोंके भी कारण भगवान्से कहा—नाथ ! ये गोपियाँ और ग्वाल कौन हैं ? तथा यह वृक्ष कैसा है ? तब वे बड़े प्रेमसे बोले—

गोपियों और ग्वालोंका, कदम्ब-पक्षीगण और गोवर्धनका रहस्यमय स्वरूप

गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेया ऋचो वै गोपकन्यकाः ॥
देवकन्याश्च राजेन्द्र तपोयुक्ता मुमुक्षवः ।
गोपाला मुनयः सर्वे वैकुण्ठानन्दमूर्तयः ॥
कल्पवृक्षः कदम्बोऽयं परानन्दैकभाजनम् ।
वनं नन्दनकाख्यं हि महापातकनाशनम् ॥
सिद्धाश्च साध्या गन्धर्वाः कोकिलाद्या न संशयः ।
× × × ×
अनादिर्हरिदासोऽयं भूधरो नात्र संशयः ।
(पद्मपुराण पाताल० ७३ । ३२—३५)

मुने ! गोपियाँ श्रुतियाँ हैं, वेदकी ऋचाएँ गोपकन्याओंके रूपमें अवतीर्ण हुई हैं, ऐसा जानना चाहिये। इसी तरह देवकन्याएँ भी गोपियोंके रूपमें उत्पन्न हुई हैं । तपस्यामें लगे हुए मुमुक्षु मुनि गोप-बालकोंके रूपमें प्रकट हुए हैं । वे सब-के-सब विष्णुस्वरूप एवं आनन्दमय विग्रह हैं । यह कदम्ब कल्पवृक्ष है, जो परमानन्दमय श्रीकृष्णका एकमात्र कृपाभाजन है । यह वृन्दावन वास्तवमें 'नन्दन' नामक कानन है, जो बड़े-बड़े पातकोंका नाश करनेवाला है । सिद्ध, साध्य और गन्धर्वगण यहाँ कोकिल आदि पक्षियोंके रूपमें प्रकट हैं तथा यह पर्वत अनादिकालसे मेरा भक्त है, इसमें संशय नहीं है ।

बाँसुरीका रहस्य

वेणुर्यः शृणु तं विप्र तत्रापि विदितं तथा ॥
द्विज आसीच्छान्तमनास्तपःशान्तिपरायणः ।
नाम्ना देवव्रतो दान्तः कर्मकाण्डविशारदः ॥
स वैष्णवजनव्रातमध्यवर्ती क्रियापरः ।
स कदाचन शुश्राव यज्ञेशोऽस्तीति भूपते ॥
तस्य गेहमथाभ्यागाद्द्विजो मद्व्रतनिश्चयः ।
स मद्भक्तः क्वचित् पूजां तुलसीदलवारिणा ॥
कृतवांस्तद्गृहे किञ्चित् फलं मूलं न्यवेदयत् ।
स्नानवारिफलं किञ्चित् तस्मै प्रीत्या ददौ सुधीः॥
अश्रद्धया स्मितं कृत्वा सोऽप्यगृह्णाद् द्विजन्मनः ।
तेन पापेन संजातं वेणुत्वमतिदारुणम् ॥
तेन पुण्येन तस्याथ मदीयप्रियतां गतः ।
अमुना सोऽपि राजेन्द्र केतुमानिव राजते ।
युगान्ते तद्विष्णुपरो भूत्वा ब्रह्म समाप्स्यति ॥
(पद्मपुराण पाताल० ७३ । ३६—४२)

ब्रह्मन् ! मेरी बाँसुरी क्या है, यह सुनो । तुम्हें भी इसके विषयमें विदित ही होगा । पूर्वकालमें देवव्रत नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण थे, जो शान्तचित्त, तपस्वी, शमपरायण, जितेन्द्रिय तथा कर्मकाण्डमें कुशल थे । वे वैष्णवसमुदायके बीचमें रहकर क्रियायोगमें तत्पर रहते थे । एक दिन उन्होंने सुना कि यज्ञेश्वर नामक ब्राह्मण अपने घरपर विद्यमान हैं । तब वे उनके घर गये । यज्ञेश्वर मेरे भक्त थे । उन्होंने भगवद्बुद्धिसे देवव्रतकी तुलसीदल-मिश्रित जलके द्वारा पूजा की और उन्हें कुछ फल-मूल अर्पित किये । बुद्धिमान् यज्ञेश्वरने बड़े प्रेमसे देवव्रतको भगवान्‌का चरणामृत तथा कुछ प्रसादस्वरूप फल दिया । किंतु देवव्रतने अश्रद्धापूर्वक मुस्कराकर ब्राह्मणसे वे सब वस्तुएँ ग्रहण कीं । उसी पापसे उन्हें अत्यन्त कठोर बाँसके रूपमें जन्म लेना पड़ा । परंतु उन्होंने स्वयं जो पुण्य किया था, उसके फलसे वे मेरे प्रेमपात्र हुए । यही कारण है कि वे पुण्यवानोंमें ध्वजके समान शोभा पाते हैं । युगान्तमें वे विष्णुपरायण होकर मुझ परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जायँगे ।

मथुरा-महिमा

अहो न जानन्ति नरा दुराशयाः
पुरीं मदीयां परमां सनातनीम् ।
सुरेन्द्रनागेन्द्रमुनीन्द्रसंस्तुतां
मनोरमां तां मथुरां पुरातनीम् ॥
काश्यादयो यद्यपि सन्ति पुर्य-
स्तासां तु मध्ये मथुरैव धन्या ।
यज्जन्ममौञ्जीव्रतमृत्युदाहै-
र्नृणां चतुर्धा विदधाति मुक्तिम् ॥
यदा विशुद्धास्तपआदिना जनाः
शुभाशया ध्यानधना निरन्तरम् ।
तदैव पश्यन्ति ममोत्तमां पुरीं
न चान्यथा कल्पशतैर्द्विजोत्तमाः ॥

मथुरावासिनो धन्या मान्या अपि दिवौकसाम् ।
अगण्यमहिमानस्ते सर्वे एव चतुर्भुजाः ॥
मथुरावासिनो ये तु दोषान् पश्यन्ति मानवाः ।
ते तु दोषं न पश्यन्ति जन्ममृत्युसहस्रजम् ॥
अधना अपि ते धन्या मथुरां ये स्मरन्ति ते ।
(पद्मपुराण पाताल० ७३ । ४३—४७½)

अहो ! कितने आश्चर्यकी बात है कि दूषित अन्तःकरणवाले मनुष्य मेरी इस सनातन, उत्कृष्ट, पुरातन एवं मनोरम पुरी मथुराको, जिसकी देवराज इन्द्र, नागराज अनन्त तथा बड़े-बड़े मुनीश्वर भी स्तुति करते हैं, नहीं जानते । यद्यपि काशी आदि अन्य पुरियाँ भी मोक्षदायिनी हैं, तथापि उन सबमें मथुरापुरी ही धन्य है; क्योंकि यह अपने क्षेत्रमें जन्म, उपनयन, मृत्यु और दाह-संस्कार—इन चारों ही कारणोंसे मनुष्योंको मोक्ष प्रदान करती है । जप, तप आदि साधनोंके द्वारा जब मनुष्योंके अन्तःकरण शुद्ध एवं शुभ संकल्पसे युक्त हो जाते हैं तथा वे निरन्तर ध्यानरूपी धनका संचय करने लगते हैं, तभी उन्हें मेरी उत्तम पुरी मथुराका दर्शन होता है, अन्यथा वे श्रेष्ठ द्विज हों तो भी सैकड़ों कल्पोंमें इस पुरीको नहीं देख पाते हैं । मथुरावासी धन्य हैं । वे देवताओंके भी माननीय हैं । उनकी महिमाकी गणना नहीं हो सकती । वे सब-के-सब चार भुजाधारी विष्णुस्वरूप हैं । जो मानव मथुरावासीके दोष देखते हैं, वे इस पापके कारण सहस्रों बार जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ते हैं । इस दोषकी ओर उनकी दृष्टि नहीं जाती है । जो निरन्तर मथुरापुरीका चिन्तन करते हैं, वे निर्धन होनेपर भी धन्य हैं ।

मथुराके भूतेश्वर महादेवका माहात्म्य

यत्र भूतेश्वरो देवो मोक्षदः पापिनामपि ॥
मम प्रियतमो नित्यं देवो भूतेश्वरः परः ।
यः कदापि मम प्रीत्यै न सन्त्यजति तां पुरीम् ॥

भूतेश्वरं यो न नमेन्न पूजये-
न्न वा स्मरेद् दुश्चरितो मनुष्यः ।
नैनां स पश्येन्मथुरां मदीयां
स्वयंप्रकाशां परदेवताख्याम् ॥
न कथं मयि भक्तिं स लभते पापपूरुषः ।
यो मदीयं परं भक्तं शिवं सम्पूजयेन्न हि ॥
मन्मायामोहितधियः प्रायस्ते मानवाधमाः ।
भूतेश्वरं न नमन्ति न स्मरन्ति स्तुवन्ति ये ॥
बालकोऽपि ध्रुवो यत्र ममाराधनतत्परः ।
प्राप स्थानं परं शुद्धं यन्न युक्तं पितामहैः ॥
तां पुरीं प्राप्य मथुरां मदीयां सुरदुर्लभाम् ।
खञ्जो भूत्वाऽन्धको वापि प्राणानेव परित्यजेत् ॥
वेदव्यास महाभाग मा कृथाः संशयं क्वचित् ।
रहस्यं वेदशिरसां यन्मया ते प्रकाशितम् ॥

(पद्मपुराण पाताल० ७३ । ४८—५५)

मथुरामें उन भगवान् भूतेश्वरका निवास है, जो पापियोंको भी मोक्ष प्रदान करनेवाले हैं। भगवान् भूतेश्वर मेरे नित्य प्रियतम एवं उत्कृष्ट देवता हैं; क्योंकि वे मेरी ही प्रसन्नताके लिये कभी मथुरापुरीका त्याग नहीं करते हैं। जो दुराचारी मनुष्य भूतेश्वरका नमन, पूजन अथवा स्मरण नहीं करता, वह मेरी स्वयंप्रकाशस्वरूपा परम देवता मथुरापुरीका दर्शन नहीं कर सकता। जो मेरे परम भक्त शिवका पूजन नहीं करता, उस पापात्मा पुरुषको किसी तरह मेरी भक्ति नहीं प्राप्त होती। जो भूतेश्वरका नमन, स्मरण और स्तवन नहीं करते हैं, वे प्रायः मनुष्योंमें अधम हैं और मेरी मायाने उनकी बुद्धिको मोहमें डाल दिया है। ध्रुवने बालक होनेपर भी जहाँ मेरी आराधना करके उस परम विशुद्ध स्थानको प्राप्त किया, जो उनके बाप-दादोंको भी नसीब नहीं हुआ था, वह मेरी मथुरापुरी देवताओंके लिये भी दुर्लभ है। वहाँ पहुँचकर मनुष्य लूला-लँगड़ा या अन्धा होकर भी अपने प्राणोंका परित्याग अवश्य करे। अर्थात् मृत्युपर्यन्त उस पुरीमें अवश्य निवास करे। महाभाग वेदव्यास! तुम इस विषयमें कभी संदेह न करना। यह उपनिषदोंका रहस्य है, जिसे मैंने तुम्हारे समक्ष प्रकाशित किया है।

अर्जुनको गोपीभावकी प्राप्ति तथा श्यामसुन्दरकी दिव्य रहस्य-लीलाके राज्यमें उनका प्रवेश

एक समय यमुनाजीके तटपर किसी वृक्षके नीचे भगवान् देवकीनन्दनके पार्षद अर्जुन बैठे थे। उन्होंने कथा-प्रसङ्गमें ही भगवान्से प्रश्न किया—

'दयासागर प्रभो! श्रीशिव तथा ब्रह्माजी आदिने भी आपके जिस रहस्यका दर्शन अथवा श्रवण न किया हो, उसीका मुझसे वर्णन कीजिये। पूर्वमें आपने कहा था कि 'गोप-कन्याएँ मेरी प्रेयसी हैं।' सो वे कितने प्रकारकी और कितनी हैं? उनके नाम क्या-क्या हैं? उनमेंसे कौन कहाँ रहती है? प्रभो! उनके कौन-कौन-से कर्म हैं? तथा उनकी अवस्था क्या है और वेष-भूषा कैसी है? भगवन्! उनमेंसे किन-किनके साथ आप किस नित्य स्थानपर, जहाँका आनन्द और वैभव भी नित्य है, एकान्त-विहार करते हैं? वह परम महान् शाश्वत स्थान कहाँ और कैसा है? यदि आपकी मुझपर पूर्ण कृपा हो तो यहाँ मेरे सभी प्रश्नोंका उत्तर दीजिये। पीड़ितोंकी पीड़ा हरनेवाले महाभाग! आपके जिन अज्ञात रहस्योंको मैं पूछना भूल गया होऊँ, उन सबका भी वर्णन कीजिये।'

अर्जुनके प्रश्नको सुनकर भगवान्‌ने कहा—

तत् स्थानं वल्लभास्ता मे विहारस्तादृशो मम ।
अपि प्राणसमानानां सत्यं पुंसामगोचरः ॥
कथिते द्रष्टुमुत्कण्ठा तव वत्स भविष्यति ।
ब्रह्मादीनामदृश्यं यत् किं तदन्यजनस्य वै ॥
तस्माद् विरम वत्सैतत् किं तु तेन विना तव ।

(पद्मपुराण पाताल० ७४ । १३—१४½)

वह स्थान, वे मेरी वल्लभाएँ और उनके साथका

मेरा विहार, यह मेरे प्राणप्रिय पुरुषोंके भी जाननेकी बात नहीं है। इसे तुम सच मानो। सखे! उसकी चर्चा कर देनेपर तुम्हें उसे देखनेकी उत्कण्ठा हो जायगी। जो रहस्य ब्रह्मा आदिके लिये भी द्रष्टव्य नहीं है, वह अन्यजनोंके लिये कैसा है; यह कहनेकी बात नहीं है। इसलिये भाई! उसके बिना तुम्हारा क्या बिगड़ता है? तुम उसे सुननेका आग्रह छोड़ दो।

भगवान्‌के ये दारुण वचन सुनकर अर्जुन दीनभावसे उनके युगल-चरणारविन्दोंपर दण्डकी भाँति गिर पड़े। तब भक्तवत्सल प्रभुने हँसकर अपनी दोनों भुजाओंसे उन्हें उठाया और बड़े प्रेमके साथ उनसे कहा—

तत् किं तत्कथनेनात्र द्रष्टव्यं चेत् त्वया हि यत्।
यस्यां सर्वं समुत्पन्नं यस्यामद्यापि तिष्ठति॥
लयमेष्यति तां देवीं श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरीम्।
आराध्य परया भक्त्या तस्यै स्वं च निवेदय।
तां विनैतत्पदं दातुं न शक्नोमि कदाचन॥
(पद्मपुराण पाताल० ७४। १७—१९)

यदि तुम उस स्थानको देखना ही चाहते हो तो यहाँ उसका वर्णन करनेसे क्या लाभ? जिस देवीसे समस्त ब्रह्माण्डका आविर्भाव हुआ है, वह अब भी जिसमें स्थित है और अन्तमें जिसमें लीन होगा, उसी श्रीमती भगवती त्रिपुरसुन्दरीकी अत्यन्त भक्तिपूर्वक आराधना करके उनको आत्मसमर्पण कर दो; क्योंकि उन देवीके बिना वह स्थान उपलब्ध करा देनेमें मैं भी कभी समर्थ नहीं हूँ।

भगवान्‌की बात सुनकर अर्जुनके नेत्र आनन्दसे भर आये और उनके आदेशानुसार वे श्रीमती त्रिपुरादेवीके पादुका-स्थानको गये। वहाँ जाकर उन्होंने चिन्तामणिकी बनी हुई वेदी देखी, जो विविध रत्नोंद्वारा निर्माण की हुई सीढ़ियोंसे अत्यन्त शोभित हो रही थी। उसपर कल्पवृक्ष देखा, जो फूलों और फलोंके भारसे झुका हुआ था। उसके किसलय सभी ऋतुओंमें कोमल रहनेवाले थे। मधु-विन्दुवर्षी वायु-कम्पित पल्लवोंसे वह वृक्ष अत्यन्त निर्मल प्रतीत होता था। उसपर शुक, कोकिल, सारिका तथा कपोत आदि रमणीय पक्षियोंका कलनाद हो रहा था। भ्रमर गुंजार कर रहे थे।

कल्पवृक्षके नीचे उन्होंने बड़ा ही अद्भुत, रत्ननिर्मित, दिव्य मन्दिर देखा, जो प्रभायुक्त मणियोंसे प्रकाशमान एवं मनोहर था। मन्दिरके भीतर एक रत्नजटित सुवर्णमय सिंहासन था, उसके ऊपर विराजमान प्रसन्नवदना भक्त-वत्सला वरदायिनी देवीका अर्जुनने साक्षात् दर्शन किया। देवीकी कान्ति बाल-रविके समान अरुण थी, वह भाँति-भाँतिके आभूषणोंसे भूषित थी, उसका अङ्ग अभिनव यौवनसे सम्पन्न था। उसकी चार भुजाएँ अङ्कुश, पाश, धनुष और बाणसे सुशोभित थीं। स्वरूप आनन्दमय तथा मनोहर था। ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव आदि देवताओंके मणिमय मुकुटोंकी किरणोंसे उसके चरणारविन्द प्रकाशित होते थे और अणिमा आदि आठों सिद्धियाँ उसे घेरे हुए थीं। देवीका दर्शन पाकर पार्थका हृदय भक्तिसे भर गया और 'मेरा नाम अर्जुन है'—ऐसा कहकर उन्होंने हाथ जोड़े हुए बारंबार प्रणाम किया, तत्पश्चात् वे एकान्तमें खड़े हो गये।

अर्जुनकी उपासना तथा उनपर दयानिधिका अनुग्रह जानकर भगवती कृपापूर्वक बोलीं—

'वत्स! तुमने किसी सुपात्रको किस दुर्लभ वस्तुका दान दिया है? अथवा यहाँ किस यज्ञद्वारा यजन तथा किस तपका अनुष्ठान किया है? पूर्वकालमें भगवच्चरणोंमें तुमने कैसी निर्मल भक्ति की है? एवं इस संसारमें कौन-सा अत्यन्त दुर्लभ शुभकर्म तुमसे हुआ है, जिससे शरणागतवत्सल भगवान्‌ने तुम्हें इस अत्यन्त गूढ़ रहस्यको जाननेका अधिकारी समझा है? पुत्र! विश्वरूप भगवान्‌ने तुमपर जैसा अनुग्रह किया है, वैसा भूतलवासी अन्य मनुष्योंपर, स्वर्गवासी देवताओंपर, तपस्वी, योगी तथा अखिल भक्तोंपर भी नहीं किया है; अतः तुम यहाँ आओ, मेरे कूलकुण्ड नामक सरोवरका आश्रय लो। देखो, यह निकटवर्तिनी देवी समस्त कामनाओंको देनेवाली है, तुम इसके साथ सरोवरपर जाओ और उसमें विधिवत् स्नान करके शीघ्र ही यहाँ लौट आओ।'

यह सुनकर पार्थने उसी समय जाकर सरोवरमें स्नान किया और वे तुरंत लौट आये। उन्हें स्नान करके आया देख देवीने उनसे न्यास और मुद्रा आदि कार्य कराया और उनके दाहिने कानमें तत्काल सिद्धिदायिनी परा बालाविद्याका उपदेश किया; साथ ही उस मन्त्रका अनुष्ठान, पूजन, लक्ष-संख्यक

जप तथा करवीर (कनैल) की लाख कलिकाओंद्वारा हवन आदिका यथोचित प्रयोग भी समझा दिया। तत्पश्चात् परमेश्वरी देवीने दया करके कहा—'वत्स! इसी विधिसे मेरी उपासना करो। इससे अनुग्रहवश जब मैं तुमपर प्रसन्न हो जाऊँगी तब तत्काल ही तुम्हारा श्रीकृष्णकी लीलामें प्रवेश करनेका अधिकार हो जायगा।'

यह सुनकर अर्जुनने इसी पद्धतिसे भगवतीकी आराधना आरम्भ कर दी और पूजन तथा जप करके देवीको प्रसन्न किया। तदनन्तर उन्होंने शुभ हवन तथा विधिपूर्वक स्नान करके अपनेको कृतार्थ माना और अपना मनोरथ प्रायः पूर्ण हुआ ही समझा।

इसी समय देवी वहाँ आयी और मुस्कुराती हुई बोली—'वत्स! इस समय तुम इस घरके अंदर जाओ।' इतना सुनते ही पार्थ आनन्दित हो बड़े वेगसे उठे और अनन्त उल्लाससे भरकर देवीको साष्टाङ्ग-प्रणाम किया। फिर भगवती-की आज्ञा पाकर उसकी सहचरीके साथ अर्जुन राधापतिके स्थानपर गये, जहाँ सिद्ध भी नहीं पहुँच सकते।

इसके बाद देवीकी सखीके उपदेशसे उन्होंने गोलोकसे ऊपर स्थित नित्यवृन्दावन-धामका दर्शन किया, जो वायुके धारण करनेपर भी स्थिर है। वह धाम नित्य, सत्य और सम्पूर्ण सुखोंका स्थान है; वहाँपर नित्य ही रास-महोत्सव हुआ करता है, वह पूर्ण प्रेमरसात्मक तथा परम गुह्य है।

सखीके कथनानुसार अपने दिव्य नेत्रोंसे उस रहस्यमय स्थानका दर्शन करके बढ़े हुए प्रेमोद्रेकसे अर्जुन विह्वल हो उठे और मोहवश मूर्छित होकर वहीं गिर पड़े। फिर कठिनतासे होशमें आनेपर सहचरीने अपनी दोनों भुजाओंसे उन्हें उठाया।

उसके आश्वासन देनेपर जब वे किसी तरह सुस्थिर हुए तो उससे पूछा—'बताओ, अब और कौन-सा तप मुझे करना चाहिये?'—इतना कहकर भगवल्लीला-दर्शनकी अत्यन्त उत्कण्ठासे वे कातर हो गये।

तब भगवतीकी सखी उन्हें हाथसे पकड़कर वहाँसे दक्षिण ओर एक उत्तम स्थानपर ले गयी और वहाँ जाकर कहा—

'पार्थ! तुम इस शुभद जलराशिमें स्नानार्थ प्रवेश करो। यह सहस्रदल कमलका आकर है, इसके चारों ओर चार घाट हैं। यह सरोवर जल-जन्तुओंसे व्याप्त है, इसके भीतर प्रवेश करनेपर तुम यहाँकी विशेष बातें देख सकोगे। यहाँसे दक्षिण-भागमें यह जो सरोवर है, इसका नाम मलय-निर्झर है, वहाँ मधूकके मधुर मकरन्दका पान हुआ करता है। यह सामने जो विकसित उद्यान है, यहाँ भगवान् गोविन्द वसन्त-ऋतुमें वसन्त-कुसुमोचित मदनोत्सव करते हैं। यहाँ दिन-रात भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति होती है। इसलिये इस सरोवरमें स्नान करके पूर्व-सरोवरके तटपर जाओ और उसके जलका आचमन करके अपना मनोरथ सिद्ध करो।'

उसकी बात सुनकर अर्जुनने ज्यों ही जलमें प्रवेशकर डुबकी लगायी, त्यों ही वह सहचरी अन्तर्धान हो गयी और उन्होंने जलसे निकलकर अपनेको सम्भ्रममें पड़ी हुई एकाकिनी सुन्दरी रमणीके रूपमें देखा।

गोपीवल्लभ गोविन्दकी मायासे वह सुन्दरी अपने प्रथम शरीरकी सब बातें भूल गयी और विस्मितभावसे किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जहाँ-की-तहाँ खड़ी रह गयी। इसी समय आकाशमें सहसा यह गम्भीर शब्द प्रकट हुआ—'सुन्दरि! तुम इसी मार्गसे पूर्वसरोवरके तटपर चली जाओ और वहाँके जलका आचमन करके अपना मनोरथ सफल करो। वरवर्णिनि! तुम खेद न करो। वहीं तुम्हारी सखियाँ हैं, वे तुम्हारे उत्तम मनोरथको पूर्ण करेंगी।'

इस दैवी वाणीको सुनकर वह पूर्व-सरोवरके तटपर गयी। उस पोखरेमें अनेकानेक अपूर्व स्रोत थे। वह विविध विहङ्गमोंसे भरा हुआ था। कैरव, कल्हार, कमल और इन्दीवर आदिके विकसित कुसुम उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। पद्मरागमणिके

बने हुए उसके सोपान और घाट बड़े सुन्दर मालूम होते थे। भाँति-भाँतिके कुसुमों तथा मञ्जुल निकुञ्ज, लता और वृक्षोंसे उसके चारों तट सुशोभित थे। वह किशोरी वहाँ आचमन करके क्षणभर खड़ी रही।

इसी समय काञ्ची तथा मञ्जीरकी मधुर ध्वनिसे मिश्रित किङ्किणीकी मधुर झनकार सुनायी देने लगी। फिर अद्भुत यौवन-सम्पन्न दिव्य वनिताओंका झुंड वहाँ आ पहुँचा। उनके आभूषण, रूप, भाषण, शरीर, विलास, विचित्र वचन, विचित्र हास और चितवन आदि सभी दिव्य थे। लावण्य अद्भुत एवं मधुर था। उसमें जगत्‌की समस्त मधुरिमा कूट-कूटकर भरी थी।

उस परम आश्चर्यप्रद वनितावृन्दको देखकर वह मन-ही-मन कुछ सोचने लगी और पैरके अँगूठेसे जमीन कुरेदती हुई सिर झुकाये खड़ी रही।

उन वनिताओंमेंसे एक प्रियमुदा नामकी मनस्विनी बाला उसके पास आयी और प्रेमपूर्वक मधुर वाणीमें बोली—'तुम कौन और किसकी कन्या हो? किसकी प्राणप्रिया हो? तुम्हारा जन्म कहाँ हुआ है, किसीके द्वारा तुम यहाँ लायी गयी हो या स्वयं ही चली आयी हो? चिन्ता करनेसे कोई लाभ नहीं, हमारे प्रश्नानुसार सब बातें बता दो। इस परमानन्दमय धाममें किसीको भी क्या दुःख हो सकता है?'

उनके इस तरह पूछनेपर उसने विनीतभावसे कहा—'मैं कौन हूँ? किसकी कन्या अथवा प्रेयसी हूँ? मुझे यहाँ कौन लाया अथवा मैं स्वयं चली आयी?'—इन सब बातोंको भगवतीजी ही जानें, मुझे कुछ भी मालूम नहीं है। फिर भी मैं कुछ कहती हूँ, यदि मेरी बातोंपर आपलोगोंको विश्वास हो तो उसे सुनें, यहाँसे दक्षिण ओर एक सरोवर है। मैं वहीं स्नान करने आयी और वहीं खड़ी रही। थोड़ी देरमें उत्कण्ठावश मैं चारों ओर निहारने लगी। इतनेमें मुझे अद्भुत आकाशवाणी सुन पड़ी—'सुन्दरि! तुम इसी मार्गसे पूर्व-सरोवरपर चली जाओ और उसके जलका आचमन करके अपना मनोरथ सिद्ध करो; वरवर्णिनि! खेद न करो; वहीं तुम्हारी सखियाँ हैं, वे तुम्हारे उत्तम मनोरथको पूर्ण करेंगी।' यही सुनकर मैं वहाँसे यहाँ चली आयी हूँ। यहाँ आनेपर मैंने आचमन करके नाना भाँतिकी मधुर ध्वनि सुनी। तत्पश्चात् आपलोगोंका शुभ दर्शन मिला। बस, मन-वाणी और शरीरसे इतना ही मुझे मालूम है। देवियो! मुझे इतना ही निवेदन करना था। अब आप भी बतावें कि आपलोग कौन हैं? किनकी कन्याएँ हैं, कहाँ आपकी जन्मभूमि है? और किनकी आपलोग वल्लभाएँ हैं?

यह सुनकर प्रियमुदाने कहा—'अच्छा मैं बतलाती हूँ, सुनो। शुभे! हमलोग वृन्दावनके कलानाथ गोविन्दकी प्राण-प्यारी सखियाँ तथा विहार-सहचरियाँ हैं। हम आत्मानन्दमयी व्रजबालाएँ ही यहाँ आयी हुई हैं। ये श्रुतिगण तथा मुनिगण भी व्रजवनिताके रूपमें यहाँ विद्यमान हैं। हमलोग गोपकन्याएँ हैं। पूर्वकालमें हममेंसे जो-जो राधापतिको अत्यन्त प्यारी थीं वे ही यहाँ उनके साथ नित्य-विहार करनेवाली उनकी क्रीडा-सहचरी हुई हैं। भामिनि! हमीं लोगोंके साथ तुम भी यहाँ विहार करोगी। सखी! पूर्व-सरोवरपर चलो, वहाँ तुम्हें विधिवत् स्नान कराकर मैं सिद्धिदायक मन्त्र दूँगी।'

इस प्रकार उसे ले आकर उसने विधिवत् स्नान कराया और वृन्दावन-चन्द्रकी प्रेयसीके उत्तम मन्त्रका दीक्षा-विधिके साथ उपदेश किया; पुरश्चरणकी विधि और ध्यान समझाकर होम एवं जपकी संख्या भी बतला दी।

सखियोंके लाये हुए कह्लार, करवीर, चम्पा तथा कमल आदि अनेकानेक सुगन्धित कुसुमों और पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय तथा धूप-दीप आदि उपचारोंसहित भाँति-भाँतिके दिव्य नैवेद्योंसे उसने देवीकी विधिवत् पूजा करके एक लाख मन्त्र-जप किया; फिर विधिपूर्वक हवन करके पृथ्वीपर साष्टाङ्ग प्रणाम किया। इसके बाद निर्निमेष-दृष्टिसे देखते हुए उसने देवीकी स्तुति की।

उसकी आराधनासे प्रसन्न होकर भगवती श्रीराधिका देवी वहाँपर प्रकट हुई। काञ्चन तथा चम्पाके समान उनकी कमनीय कान्ति थी। अङ्ग-अङ्गमें असीम सौन्दर्य, लावण्य और माधुर्यका दर्शन होता था; शरत्कालके कलङ्कहीन कलाधरके समान उनके मुखकी शोभा परम आनन्दमयी प्रतीत होती थी। उनकी स्नेहयुक्त मुग्ध मुस्कान त्रिभुवनको मोह लेनेवाली थी। वह भक्तवत्सला वरदायिनी देवी अपने शरीरकी कान्तिसे दसों दिशाओंको प्रकाशित करती हुई बोलीं—

'शुभे! मेरी सखियोंकी बातें सत्य हैं, अवश्य ही तुम मेरी प्यारी सखी हो। उठो, चलो। मैं तुम्हारी कामना पूर्ण करती हूँ।'

देवीके मुखसे मनोवाञ्छित वाणी सुनकर अर्जुनी पुलकित हो गयी और प्रेम-विह्वल हो नेत्रोंमें आँसू भरकर पुनः देवीके चरणोंपर गिर पड़ी ।

तब देवीने अपनी सखी प्रियंवदासे कहा—'तुम इसे हाथका अवलम्बन देकर आश्वासन देती हुई मेरे साथ ले आओ । प्रियंवदाने ऐसा ही किया । उत्तर-सरोवरके तटपर पहुँचकर विधिपूर्वक अर्जुनीको नहलाया गया । फिर संकल्प-पूर्वक विधिवत् पूजन कराकर हरिवल्लभा श्रीराधा देवीने गोकुलचन्द्र श्रीकृष्णके मन्त्रका उपदेश किया । वे गोविन्दके संकेतको जानती थीं; अतः अर्जुनीको उन्होंने अविचल भक्ति प्रदान की और मन्त्रराज मोहनका ध्यान भी बता दिया । वे बोलीं—'इस अनुष्ठानमें नील कमलके समान श्यामसुन्दर, अलौकिक अलंकारोंसे अलंकृत कोटि-कोटि कामदेवके सदृश सौन्दर्यशाली तथा रास-रसके लिये उत्सुक रसिकशेखर श्रीकृष्णचन्द्रका ध्यान करना चाहिये ।'*

यह सब बताकर श्रीराधाने पुनः प्रियंवदासे कहा—'जबतक इसका पुरश्चरण पूर्ण न हो जाय, तबतक तुम सखियों-के साथ सावधान होकर इसकी रक्षा करना ।' यह कहकर वे स्वयं तो श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंके निकट चली गयीं और प्यारी सखियोंके पास अपनी छाया रख दी ।

प्रियंवदाके आदेशसे यहाँ अर्जुनीने गोरोचन, कुङ्कुम और चन्दन आदि नाना मिश्रित द्रव्योंसे अष्टदल-कमलके आकारमें एक यन्त्र बनाया तथा उसमें अद्भुत मोहन-मन्त्रका न्यास किया । इसके बाद ऋतुसम्भव विविध पुष्प, चन्दन, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, मुखवास, वस्त्र, आभूषण और माला आदिसे वाहन तथा आयुधोंसहित भगवान् श्यामसुन्दर-की पूजा करके उनकी स्तुति तथा नमस्कार भी किया और मन-ही-मन उनका स्मरण करने लगी ।

तब भक्तिके वशीभूत हो भगवान् श्यामसुन्दरने मुसुकान-भरी दृष्टिसे संकेत करके राधासे कहा—'उस (अर्जुनी) को यहाँ शीघ्र बुलाओ ।' आज्ञा पाते ही देवीने अपनी सखी शारदाको भेजकर उसे तुरंत बुला लिया ।

वह रसिकशेखर श्रीकृष्णचन्द्रके सामने आते ही प्रेम-विह्वल हो पृथ्वीपर गिर पड़ी । उसे यहाँ सब कुछ अद्भुत दीखने लगा । उसके अङ्गोंमें स्वेद, पुलक और कम्प आदि सात्त्विक विकार प्रकट होने लगे । बड़ी कठिनाईसे किसी तरह उठकर जब उसने नेत्र खोले तो सबसे प्रथम वहाँका विचित्र मनोरम स्थान दीख पड़ा । उसके बाद कल्पवृक्षपर दृष्टि पड़ी, जिसके पत्ते मरकतमणिके समान नील और पल्लव मूँगेके समान लाल थे । तना कोमल और सुवर्णमय था । मूल स्फटिकके समान श्वेत था । वह वृक्ष मनोवाञ्छित सम्पदाको देनेवाला था । उसके नीचे रत्नमन्दिर था, उसमें एक रत्नमय सिंहासन रक्खा था । उसके ऊपर भी अष्टदल पद्म बना हुआ था । उसमें बायें-दायेंके क्रमसे शङ्ख और पद्मनिधि रक्खे गये थे । वहाँ चारों ओर जगह-जगह कामधेनु गौएँ विराज रही थीं । सब ओर नन्दन-वन था, जहाँ मन्द-मन्द मलय-समीरण बह रहा था । उस दिव्य वनमें सभी ऋतुओंके कुसुमोंकी दिव्य सुगन्ध छा रही थी, निरन्तर मधु-विन्दुकी वर्षासे वह उद्यान मनोहर मालूम होता था । उसका मध्यभाग मधुमत्त भ्रमरोंके झंकारसे सदा मुखरित होता रहता था । कोयल, कबूतर, सारिका, शुकी तथा अन्य विहङ्ग-वनिताओंका कलनाद वहाँ नित्य-निरन्तर गूँजा करता था । मतवाले मयूरोंके नृत्यसे व्याप्त होकर वह उपवन प्रेम-पीड़ाको बढ़ाता था ।

ऐसे रमणीय स्थानमें भगवान् श्रीकृष्ण विराजमान थे । उनकी अङ्ग-कान्ति श्याम मनोहर थी; अलकावली चिकनी, काली और घुँघराली थी; उससे आँवलेकी गन्ध आती थी । मत्तमयूरोंकी शिखासे उनकी चूड़ा बाँधी गयी थी । बायें कान-के पुष्पमय आभूषणपर भ्रमर बैठे थे, दर्पणके समान स्निग्ध कपोल चञ्चल अलकोंके प्रतिबिम्बसे शोभित हो रहे थे । उनके मस्तकमें सुन्दर तिलक लगा था । तिलके फूल और शुककी चोंचके समान उनकी मनोहर नासिका थी । बिम्बफलके सदृश सुन्दर एवं अरुण अधर शोभा पाते थे । वे अपनी मन्द मुसकानसे प्रेमियोंके हृदयमें प्रेमका उद्दीपन कर रहे थे । उनके गलेमें मनोहर वनमाला शोभा पाती थी और सहस्रों मधुमत्त मधुपोंसे व्याप्त पारिजातकी सुन्दर माला उनके दोनों स्थूल कंधोंपर शोभायमान थी । वक्षःस्थल मुक्ताहार तथा कौस्तुभमणिसे विभूषित था । उसमें श्रीवत्सका चिह्न प्रकाशित हो रहा था । आजानु-लम्बी भुजाएँ मनको मोह लेती थीं । नाभि गम्भीर और मध्यभाग सिंहकी कटिसे भी अधिक कृश एवं कमनीय था । वे अपने लावण्यसे कोटि-कोटि कन्दर्पोंको तिरस्कृत करते थे । मनोहर वेणुगीतसे

* नीलोत्पलदलश्यामं नानालंकारभूषितम् ।
कोटिकन्दर्पलावण्यं ध्यायेद् रासरसाकुलम् ॥
(पद्मपुराण पाताल० ७४ । १५४)

वे त्रिभुवनको सुखके समुद्रमें निमग्न तथा मोहित कर रहे थे। उनका प्रत्येक अङ्ग प्रेमावेशसे पूर्ण और रास-रससे अलस प्रतीत हो रहा था।

अनेकानेक किंकरियाँ उनके मुखकी ओर दृष्टि लगाये यथास्थान खड़ी रहकर उनके संकेतोंको देख रही थीं और यथावसर सेवाके लिये चमर, व्यजन, माला, गन्ध, चन्दन, ताम्बूल, दर्पण, पानपात्र तथा अन्य क्रीडोपयोगी विविध वस्तुएँ पृथक्-पृथक् रख रही थीं।

भगवान् श्यामसुन्दरके वामभागमें श्रीमती राधिकादेवी विराजमान थीं और हँस-हँसकर प्रसन्नतापूर्वक उन्हें पान दे रही थीं।

यह सब देखकर अर्जुनी प्रेमावेशसे विह्वल हो गयी। सर्वज्ञ हृषीकेशने उसके भावोंको समझ लिया और क्रीडावनमें ले जाकर उसकी इच्छाके अनुसार उसे सुख दिया। तदनन्तर शारदासे कहा—'इसे शीघ्र ले जाकर पश्चिम सरोवरमें नहलाओ।'

शारदा उसे वहाँ ले गयी और क्रीडासरमें स्नान करनेको कहा; परंतु उस सरोवरमें उतरते ही वह पुनः अर्जुन बन गयी। उसी समय वहाँ भगवान् श्रीकृष्णने प्रकट होकर जब अर्जुनको खिन्न तथा हताश देखा, तब प्रेमपूर्वक हाथसे स्पर्श करके उन्हें फिर पूर्ववत् कर दिया और कहा—

धनंजय त्वामाशंसे भवान् प्रियसखो मम।
त्वत्समो नास्ति मे कोऽपि रहोवेत्ता जगत्त्रये॥
यद्रहस्यं त्वया पृष्टमनुभूतं च तत् पुनः।
कथ्यते यदि तत् कस्मै शपसे मां तदार्जुन॥

(पद्मपुराण पाताल० ७४। १९६-१९७)

धनंजय! तुम मेरे प्रिय सखा हो। इसलिये मैं तुमसे इस विषयको प्रकाशित करता हूँ। तीनों लोकोंमें तुम्हारे सिवा दूसरा एक भी ऐसा नहीं है, जो मेरी इस रहस्यलीलाका ज्ञाता हो। अर्जुन! जो रहस्य आज तुमने मुझसे पूछा और फिर उसका अनुभव किया, इसे यदि तुम दूसरे किसीसे कहोगे तो मुझे गाली दोगे या अपमानित करोगे। तात्पर्य यह है कि यह बात तुम्हें दूसरे किसीके सामने प्रकट नहीं करनी चाहिये।
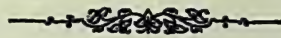
श्रीवृन्दावनका रहस्य, नारदजीको गोपीभावकी प्राप्ति तथा उनके द्वारा रहस्यलीला-रसका आस्वादन, श्रीशंकरके द्वारा राधाके नामों तथा श्रीकृष्णके स्वरूपका वर्णन

एक समय देवर्षि नारदने भगवान् शंकरसे वृन्दावनका रहस्य पूछा। भगवान् शंकरने स्वयं कुछ बतानेमें असमर्थता प्रकट करते हुए ब्रह्माजीको बुलाया और उनसे नारदजीकी जिज्ञासा शान्त करनेके लिये कहा। ब्रह्माजी नारदजीको लेकर गोलोकमें भगवान् श्रीकृष्णके पास गये। वहाँ ब्रह्माजीने भगवान्से वृन्दावनका तत्त्व पूछा।

श्रीभगवानुवाच

इदं वृन्दावनं रम्यं मम धामैव केवलम्।
यत्रेमे पशवः साक्षाद् वृक्षाः कीटा नरामराः॥
ये वसन्ति ममान्ते ते मृता यान्ति ममान्तिकम्।
अत्र या गोपपत्न्यश्च निवसन्ति ममालये॥
योगिन्यस्तास्तु एवं हि मम सेवापरायणाः।
पञ्चयोजनमेवं हि वनं मे देहरूपकम्॥
कालिन्दीयं सुषुम्नाख्या परमामृतवाहिनी।
यत्र देवाश्च भूतानि वर्तन्ते सूक्ष्मरूपतः॥
सर्वतो व्यापकश्चाहं न त्यक्ष्यामि वनं क्वचित्।
आविर्भावस्तिरोभावो भवेदत्र युगे युगे॥
तेजोमयमिदं स्थानमदृश्यं चर्मचक्षुषाम्।
रहस्यं मे प्रभावं च पश्य वृन्दावनं युगे।
ब्रह्मादीनां देवतानां न दृश्यं तत् कथञ्चन॥

(पद्मपुराण पाताल० ७५। ८—१३)

श्रीभगवान् बोले—नारद! भूतलपर जो यह रमणीय वृन्दावन है, वह केवल मेरा ही धाम है। यहाँ जो पशु, वृक्ष, कीट-पतङ्ग तथा मनुष्य-देवता आदि प्राणी मेरे निकट रहते हैं, ये मृत्युके पश्चात्—मेरे समीप (गोलोकधाममें) चले आते हैं। यहाँ जो गोपाङ्गनाएँ

मेरे धाममें निवास करती हैं, वे भी योगिनियाँ हैं और इस रूपमें यहाँ रहकर मेरी सेवामें संलग्न हैं। यह पाँच योजन लंबा-चौड़ा जो वन है, मेरा शरीररूप है। यहाँ परम अमृतकी धारा बहानेवाली जो यमुना है, वही मेरे इस देहकी सुषुम्ना नाडी है। इसमें सम्पूर्ण देवता और भूत सूक्ष्मरूपसे निवास करते हैं। मैं सर्वत्र व्यापक होकर भी कभी इस वनका त्याग नहीं करता हूँ। यहाँ युग-युग (कल्प-कल्प-) में मेरा आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है। यह वृन्दावन तेजोमय स्थान है। इसका यह तेजस्वी-रूप चर्मचक्षु (स्थूलदृष्टि-) वाले लोगोंको दृष्टिगोचर नहीं होता है। तुम द्वापर-युगमें मेरे रहस्य और प्रभावसे युक्त वृन्दावनको देखना। ब्रह्मादि देवताओंके लिये भी वह किसी प्रकार दृष्टिका विषय नहीं होता।

यह सुनकर नारदजी भगवान् श्रीकृष्ण और ब्रह्माजीको प्रणाम करके गोलोकसे नैमिषारण्यवर्ती मिश्रक तीर्थमें आये। वहाँ शौनक आदि मुनीश्वरोंने उनका आदर-सत्कार किया और पूछा—'ब्रह्मन्! आप इस समय कहाँसे पधारे हैं ?'

नारदजीने उत्तर दिया—मुनिवरो ! मैं गोलोकसे आया हूँ। वहाँ भगवान् श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे वृन्दावनका रहस्य सुनकर मैंने इधरकी यात्रा की है।

तदनन्तर मुनियोंने स्वयं भी उस रहस्यको जाननेकी इच्छा प्रकट की। तब वे बोले—'पूर्वकालमें मैंने पिताजीसे वृन्दावनके रहस्यके विषयमें जिज्ञासा की। मेरा प्रश्न सुनकर वे चुप हो गये। फिर कहने लगे—'बेटा ! मेरे स्वामी जो महाविष्णु हैं, उनके पास चलो। मैं भी तुम्हारे साथ वहाँ चलूँगा।' यों कहकर मुझे साथ ले पिताजी वैकुण्ठधाममें गये और महाविष्णुसे उन्होंने मेरी जिज्ञासा कह सुनायी। उसे सुनकर महाविष्णुने स्वयम्भूको आज्ञा दी—'ब्रह्मन्! तुम मेरी आज्ञासे नारद मुनिको साथ ले जाओ और अमृतसरोवरमें स्नान करनेके लिये प्रेरित करो।' महाविष्णुकी आज्ञासे पिताजी-ने मुझे उक्त सरोवरमें स्नान करनेका आदेश दिया। मैंने ज्यों ही अमृतसरोवरमें उतरकर गोता लगाया, त्यों ही उस

सरोवरके उस पार दिव्य युवतियोंके समीप अपनेको खड़ा पाया। तदनन्तर मेरा स्वरूप भी समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न सुन्दरी युवतीका हो गया। यह परिवर्तन देख मैं अत्यन्त आश्चर्यसे चकित हो गया। मुझे आती देख वहाँकी दिव्य सुन्दरियोंने पूछा—'तुम कौन हो ? कहाँसे आयी हो ? और क्या करना चाहती हो ? बताओ।' उनकी बातें बड़ी प्रिय लगती थीं। उन्हें सुनकर मैंने उत्तर दिया—'मैं कौन हूँ ? कहाँसे आया हूँ ? और कैसे मेरी आकृति स्त्रीके समान हो गयी ? इसका कुछ भी स्मरण नहीं है। मुझे सब कुछ स्वप्नके समान दिखायी देता है। अथवा क्या इस स्थानमें आकर मैं मुग्ध (बावला) हो गया हूँ।' मेरी बात सुनकर एक देवीने मधुर वाणीमें कहा—'इस पुरीका नाम वृन्दा है। यह श्रीकृष्णचन्द्रको सदा ही प्रिय है। मैं तुरीयातीता एवं निष्कला ललिता देवी हूँ।' यों कहकर करुणासे स्निग्ध हृदयवाली वे महादेवी मुझसे फिर बोलीं—'तुम मेरे साथ आओ।'

तदनन्तर श्रीकृष्ण-चरणोंकी सेवामें तत्पर रहनेवाली अन्य सब सुन्दरियाँ भी मुझसे कहने लगीं—'सखी ! तुम अवश्य इनके साथ जाओ।' उसी समय उन महादेवीने कृपापूर्वक मुझे महात्मा श्रीकृष्णचन्द्रके चतुर्दशाक्षर (क्लीं कृष्णाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा) मन्त्रका उपदेश दिया, उनके इस प्रकार उपदेश देते ही मैं उन्हींके समान रूप-लावण्यसे युक्त हो गया। फिर उन सबके साथ

मैं उस स्थानपर गया, जहाँ सच्चिदानन्द सनातन-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण विराजमान थे। युवतियोंके हृदयको आनन्द प्रदान करनेवाले वे भगवान् मुझे देखकर बारंबार कहने लगे—'प्रिये ! प्राणवल्लभे ! आओ और प्रेमपूर्वक मुझे हृदयसे लगा लो।' इस प्रकार वहाँ एक वर्षतक रहकर मैंने आनन्दका अनुभव किया। उस समय प्राणवल्लभ श्यामसुन्दरने देवी राधिकासे कहा—'यह मेरी प्रकृति है, जो वहाँ ब्रह्मलोकमें नारद-रूप धारण करके रहती थी। इसे रमणीय अमृत-सरोवरमें ले जाकर नहलाओ।' इसके बाद उन देवीने प्रियतमके पास ही मधुर वाणीमें मुझसे कहा—'मैं ललिता देवी हूँ, जिसे राधिका भी कहते हैं। मैं ही कामकलास्वरूप, नित्य वासुदेव हूँ। युवतीरूपमें भी मैं ही हूँ। सनातनी नारीके रूपमें मैं ललिता या राधिकादेवी हूँ तथा पुरुषके रूपमें मैं ही श्रीकृष्ण हूँ। नारद ! मुझमें और श्रीकृष्णमें अन्तर नहीं है। यह बात सर्वथा सत्य है, सत्य है। इस प्रकार जो मेरे तत्त्व, आचार, मन्त्र तथा उसके अनुष्ठानकी विधिको जानता है, वह सखी ललिताके समान मुझे प्रिय है। यह वृन्दावन नामक वन मेरा गोपनीय गृह है। किसी पशुबुद्धि प्राणीके निकट कभी और कहीं भी इस रहस्यको प्रकाशित नहीं करना चाहिये।'*

इतना कहकर श्रीराधिकादेवी मुझे अमृत-सरोवरके तटपर ले आयीं और वहाँ छोड़कर स्वयं पुनः श्रीकृष्ण भगवान्‌के चरणप्रान्तमें चली गयीं। मैं उस सरोवरमें गोता लगाते ही फिर नारद हो गया और हाथमें वीणा ले बड़े आनन्दसे बारंबार उस रहस्यका गान करने लगा। विष्णुपार्षद स्वयम्भूको नमस्कार करके मैं फिर उनके पास आ गया। स्वयम्भूने उस समय मुझे देखा, किंतु कुछ कहा नहीं। जो इस प्रसंगको पढ़ता और सुनता है, वह परमपदको प्राप्त होता है।

तदनन्तर श्रीपार्वतीके पूछनेपर भगवान् शंकरने भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधाके तत्त्व, स्वरूप आदिका वर्णन करते हुए श्रीराधिकाजीके निम्नलिखित ६५ नाम बताये—राधिका, चित्ररेखा, चन्द्रा, मदनसुन्दरी, प्रिया, मधुमती, शशिरेखा, हरिप्रिया, सुवर्णशोभा, सम्मोहा, प्रेमरोमाञ्चरञ्जिता, वैवर्ण्य-स्वेदसंयुक्ता, भावासक्ता, प्रियंवदा, सुवर्णमालिनी, शान्ता, सुरासरसिका, सर्वस्त्रीजीवना, दीनवत्सला, विमलाशया, निपीतपीयूषा, तप्तचामीकरप्रभा, सुदीर्घ-स्मितसंयुक्ता, प्रेमनदी, माया, मात्सर्यशालिनी, दाम-साम्राज्यजीवनस्वरूपिणी, सुरतोत्सवसंग्रामा, गौराङ्गी, नर्त्तनदीर्घा, वादनतत्परा, दैत्यानुरागनटना, मूर्च्छारोमाञ्च-विह्वला, हरेर्दक्षिणपार्श्वस्था, सर्वमन्त्रप्रिया, अनङ्गलोभ-माधुर्या, सलीलमन्दरगति, मञ्जुमुद्रितलोचना, प्रेमधारा, उज्ज्वला, आकीर्णा, दलिताञ्जनशोभना, कृष्णानुराग-रसिका, रासध्वनिसमुत्सुका, अहंकारसमायुक्ता, मदन-सुन्दरी, विविक्तरासरसिका, श्यामा, श्याममनोहरा, जितेन्द्रिया, जितक्रोधा, सुतप्तस्वर्णगौराङ्गी, लीलागमनसुन्दरी, वैचित्र्य-मधुराकृति, सुन्दरस्मितसंयुक्ता, मुखनिन्दितचन्द्रमा, मधुरालापचतुरा, जितेन्द्रिय-शिरोमणि, मधुमती, प्रेमरोदन-तत्परा, सम्मोहज्वररोमाञ्च-प्रेमधरासमन्विता, दानधूलि-विनोदा, रासध्वनिमहानटी, गोपालप्रेयसी, मधुपिङ्गललोचना, और कृष्णात्मा। फिर कहा 'ये राधिका ही शिवकुण्डमें शिवनन्दा, देविकातटमें नन्दिनी, द्वारकामें रुक्मिणी, वृन्दावनमें राधा, चित्रकूटमें सीता, विन्ध्याचलमें विन्ध्यवासिनी, वाराणसीमें विशालाक्षी और पुरुषोत्तममें विमला नामसे विराजित हैं। ये श्रीकृष्णानन्द-स्वरूपिणी देवी श्रीकृष्णसे अपृथक् हैं। भगवान् श्रीकृष्णका दिव्य शरीर मेद-मांस-अस्थि आदिके द्वारा निर्मित प्राकृत (तथा अनित्य) नहीं है। ये योगी परमेश्वर सबके आत्मा और नित्य विग्रह हैं।* ये श्रीकृष्ण नित्य द्विभुज हैं, चतुर्भुज नहीं हैं। अनुपम, अखण्ड, प्रेमरसानन्दके महान् समुद्र, समस्त स्त्रियोंके स्वामी, अति गुप्त किशोर-रूप श्रीकृष्णकी जय हो। जो अव्यय पुरुष एक-एक गोपीके बीचमें स्थित थे। उसी ध्यानगम्य भगवान्‌को रुचिभेदसे विभिन्न बुद्धिके मनुष्य

* अहं च ललिता देवी राधिका या च गीयते ॥
अहं च वासुदेवाख्यो नित्यं कामकलात्मकः।
सत्यं योषित्स्वरूपोऽहं योषिच्चाहं सनातनी ॥
अहं च ललिता देवी पुंरूपा कृष्णविग्रहा।
आवयोरन्तरं नास्ति सत्यं सत्यं हि नारद ॥
एवं यो वेत्ति मे तत्त्वं समयं च तथा मनुम्।
ससमाचारसंकेतं ललितावत् स मे प्रियः ॥
इदं वृन्दावनं नाम रहस्यं मम वै गृहम्।
न प्रकाश्यं कदा कुत्र वक्तव्यं न पशौ क्वचित् ॥
(पद्मपुराण पाताल० ७५ । ४४-४८)

* न तस्य प्राकृती मूर्तिर्मेदोमांसास्थिसम्भवा।
योगी चैवेश्वरश्चान्यः सर्वात्मा नित्यविग्रहः ॥
(पद्मपुराण पाताल० ७७ । ४३)

पृथक्-पृथक् रूपमें देखते हैं। जिनके नखचन्द्रकी कान्तिरूप ब्रह्मका देवतागण ध्यान करते हैं, उन त्रिगुणातीत वृन्दावनेश्वर भगवान्‌की मैं वन्दना करता हूँ।* वे गोविन्द वृन्दावनका कभी परित्याग नहीं करते। तब पार्वतीने कहा—'जबतक हृदयमें भोग और मोक्षकी पिशाचिनी इच्छा बनी हुई है तबतक भगवत्प्रेम-सुखका उदय कैसे हो सकता है?'† इसके उत्तरमें भगवान् शंकरने विस्तारपूर्वक वैष्णवधर्मका निरूपण किया।

श्रीहरिनामकीर्तनकी महिमा, नारद-शिव-संवादमें युगल-मन्त्रकी महिमा, भगवान्‌के ध्यान, मन्त्र, दीक्षाविधि आदिका वर्णन तथा भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा रुद्रदेवको अपने गोपनीय रहस्यका उपदेश

पार्वतीजीने पूछा—प्रभो! महादेव! विषयरूपी ग्राहसे भरे घोर कलिकालरूपी समुद्रके प्राप्त होनेपर स्त्री, पुत्र और धन आदिके लिये पीड़ित रहनेवाले मानव कैसे जीवन धारण करें? कैसे उनका कलिके भयसे निस्तार हो? यह कृपापूर्वक बताइये; क्योंकि आप कृपाके निधान हैं।

महादेवजी बोले—प्रिये! हरिनाम, हरिनाम केवल हरिनाम ही कलिके भयसे छुटकारा दिलानेवाला है। हरे राम, हरे कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण इत्यादि रूपसे जो मङ्गलमय भगवन्नाम-का नित्य कीर्तन करते रहते हैं, उन्हें कलिकाल कष्ट नहीं देता है। शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करते समय बीच-बीचमें भगवन्नामोंका स्मरण अवश्य करना चाहिये। जो कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण—इस प्रकार बार-बार उच्चारण करता है अथवा मेरे और तुम्हारे नामको विपरीत क्रमसे (गौरीशंकर, उमाशंकर इत्यादि रूपसे) जोड़कर उनका कीर्तन करता है, वह भी पापसे उसी प्रकार मुक्त हो जाता है, जैसे रूईके ढेरसे अग्नि। आदिमें 'जय' शब्द अथवा तुम्हारा नाम या 'श्री' शब्द जोड़कर जो मेरे मङ्गलमय नामका (जय शिव, गौरीशंकर, श्रीशिव इत्यादि रूपसे) उच्चारण करता है, वह भी पापसे मुक्त हो जाता है। दिन, रात तथा संध्या—सभी समयोंमें भगवन्नामका स्मरण करना चाहिये। दिन-रात श्रीराम और श्रीकृष्णका स्मरण करनेवाला पुरुष उनका प्रत्यक्ष दर्शन पाता है। जो सदा सब समय नाम-स्मरण करता है, वह अपवित्र हो या पवित्र, नाम-स्मरणमात्रसे तत्काल संसार-सागरसे मुक्ति पा जाता है। जो नामापराधसे युक्त है, उसके पापको नाम ही हर लेते हैं। कलियुगमें यज्ञ, व्रत, तप और दान—ये साङ्गो-पाङ्ग सम्पन्न नहीं हो पाते हैं। गङ्गास्नान और भगवन्नाम—ये दो ही साधन कलियुगमें अविनाशी माने गये हैं। कोई अपवित्र हो, पवित्र हो अथवा सब तरहकी अवस्थाओंको प्राप्त हो, जो कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण करता है; वह बाहर और भीतरसे परम पवित्र हो जाता है। मनुष्य भगवन्नामके स्मरणसे तथा उसके अर्थका चिन्तन करनेसे सर्वथा शुद्ध हो जाता है।‡

इतना कहकर महादेवजीने भगवच्चरणचिह्नोंके चिन्तनका माहात्म्य बताया और प्रत्येक मासमें भगवत्प्रीतिके लिये किये जानेवाले कृत्यका उपदेश दिया। तदनन्तर दोलोत्सवकी महत्ता बताकर जलमें शालग्राम-प्रतिमाके अर्चन, दमनारोपण,

---

* यन्नखेन्दुरुचिर्ब्रह्म ध्येयं ब्रह्मादिभिः सुरैः। गुणत्रयमतीतं तं वन्दे वृन्दावनेश्वरम्॥

† भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते। तावत् प्रेमसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

(पद्मपुराण पाताल० ७७। ६०, ६३)

‡ हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्। हरे राम हरे कृष्ण कृष्ण कृष्णेति मङ्गलम्॥
एवं वदन्ति ये नित्यं न हि तान् बाधते कलिः। अन्तरान्तरकर्माणि कृत्वा नामानि च स्मरेत्॥
कृष्णकृष्णेति कृष्णेति कृष्णेत्याह पुनः पुनः। मन्नाम चैव त्वन्नाम योजयित्वा व्यतिक्रमात्॥
सोऽपि पापात् प्रमुच्येत तूलराशेरिवानलः। जयाद्येतत्त्वया वाप्यथवा श्रीशब्दपूर्वकम्॥
तच्च मे मङ्गलं नाम जपन् पापात् प्रमुच्यते। दिवा निशि च संध्यायां सर्वकालेषु संस्मरेत्॥
अहर्निशं स्मरन्नाम कृष्णं पश्यति चक्षुषा। अशुचिर्वा शुचिर्वापि सर्वकालेषु सर्वदा॥
नामसंस्मरणादेव संसारान्मुच्यते क्षणात्। नामापराधयुक्तस्य नामापि च हरत्यघम्॥
यज्ञव्रततपोदानं साङ्गं नैव कलौ युगे। गङ्गास्नानं हरेर्नाम निरपायमिदं द्वयम्॥
अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा। यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥
नामसंस्मरणादेव तथा तस्यार्थचिन्तनात्। (पद्मपुराण पाताल० ८०। २—११½)

गन्धाष्टक-निवेदन तथा यात्राकालमें श्रीकृष्ण-विग्रहके दर्शनकी महिमा बतायी। सुगन्धमिश्रित जलसे भगवान्‌को स्नान कराने, उन्हें पुष्प-शय्यापर शयन कराने, वृन्दावनमें जाकर भगवान्‌के लिये विविध फलोंके अर्पण करने, विष्णुभक्तको भोजन कराने, भगवान्‌की सेवामें भाँति-भाँतिके नैवेद्य अर्पित करने तथा भगवान्‌के उद्देश्यसे परित्यक्त वस्तुको फिर कभी ग्रहण न करने-का उपदेश देकर कहा कि 'यदि श्रीकृष्णके रूप और गुणोंका वर्णन करनेवाले शास्त्र-समूहोंके बोधका अधिकार प्राप्त हो तो अन्य ग्रन्थोंके पठन-पाठनकी कोई आवश्यकता नहीं है। यदि भगवत्प्रेम, भगवद्भाव, भगवद्रस, भगवद्भक्ति, भगवद्विलास तथा भगवन्नामोच्चारणमें मन लगता हो तो संसारके भोग-विलाससे क्या प्रयोजन है ? हृदयसे व्रजबालकेन्द्र श्रीकृष्ण, वृन्दावनभूमि तथा यमुनाजलका सेवन करनेवाले मनुष्योंका शरीर यदि उन जगदीश्वरके चरणारविन्दोंकी धूलिसे मिश्रित एवं लिप्त होता रहे तो अगरु और चन्दन आदि लगाना व्यर्थ है।

तदनन्तर नारदजीके पूछनेपर भगवान् शिवने उन्हें मन्त्र-चिन्तामणिका उपदेश करते हुए कहा—'नारद ! मैं तुमसे परम उत्तम युगल-कृष्ण-मन्त्रका वर्णन करता हूँ। इसका नाम है—'मन्त्रचिन्तामणि'। इसके 'युगल' और 'द्वय'—ये पर्यायवाची शब्द हैं। इनमेंसे एक मन्त्र पाँच पदोंसे युक्त है और दूसरा दो पदोंसे। पहलेको 'पञ्चपदी विद्या' कहते हैं और दूसरेको 'द्वयपदी'। 'गोपीजन' 'वल्लभ' 'चरणान्' 'शरणं' 'प्रपद्ये' यह मन्त्र पाँच पदोंसे युक्त है। (पाँचों पदोंके मिलनेसे इसका स्वरूप ऐसा होता है—गोपीजनवल्लभचरणान् शरणं प्रपद्ये) इसे मन्त्रचिन्तामणि कहा गया है। इस महामन्त्रमें सोलह अक्षर हैं। दूसरा मन्त्र यों है—'नमो गोपीजन' इतना कहकर अन्तमें 'वल्लभाभ्याम्'का उच्चारण करे। यह पदद्वयात्मक मन्त्र दस अक्षरोंसे युक्त कहा गया है। जो श्रद्धासे अथवा बिना श्रद्धाके एक बार भी इस पञ्चपदी विद्याका जप कर लेता है, वह श्रीकृष्णप्रिया गोपियोंका सांनिध्य प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है।*

इस मन्त्रके लिये पुरश्चरणकी आवश्यकता नहीं है—यह स्वतः सिद्ध है। इसके लिये न्यासकी विधिका भी कोई क्रम नहीं है। इसकी सिद्धिके लिये किसी विशेष देश और कालका भी नियम नहीं है। अरि और मित्र आदिका शोधन भी अनावश्यक है। मुनीश्वर ! ब्राह्मणसे लेकर चाण्डालतक सभी मनुष्य इस मन्त्रके अधिकारी हैं। स्त्रियाँ और शूद्र आदि भी इसके उपयोगसे वञ्चित नहीं हैं। जड, मूक और पङ्गु आदिको भी इसके अधिकारियोंकी श्रेणीसे बहिष्कृत नहीं किया गया है। हूण, किरात, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, यवन, कङ्क और खस आदि पापयोनिके प्राणी, दम्भी, अहंकारी, पापाचारी, चुगलखोर, गोघाती, ब्रह्महत्यारे

---

* वक्ष्यामि युगलं तुभ्यं कृष्णमन्त्रमनुत्तमम्।
मन्त्रचिन्तामणिर्नाम युगलं द्वयमेव च॥
पर्याया अस्य मन्त्रस्य तथा पञ्चपदीति च।
गोपीजनपदं वल्लभान्तं तु चरणानिति॥
शरणं च प्रपद्ये च एष पञ्चपदात्मकः।
मन्त्रचिन्तामणिः प्रोक्तः षोडशार्णो महामनुः॥
नमो गोपीजनेत्युक्त्वा वल्लभाभ्यां वदेत्ततः।
पदद्वयात्मको मन्त्रो दशार्णः खलु कथ्यते॥
एतां पञ्चपदीं जप्त्वा श्रद्धयाश्रद्धया सकृत्।
कृष्णप्रियाणां सांनिध्यं गच्छत्येव न संशयः॥
(पद्मपुराण पाताल० ८१। १३-१७)

तथा श्रवण आदि साधनोंसे वञ्चित अन्य मनुष्य भी यदि सर्वेश्वरेश्वर श्रीकृष्णमें भक्तिभाव रखते हैं, तो वे सभी इस मन्त्रके अधिकारी हैं। यदि वे श्रीकृष्णभक्त नहीं हैं, तो उनका इस मन्त्रमें अधिकार नहीं है। श्रीकृष्णकी भक्तिसे शून्य होनेपर यज्ञकर्ता, दानी, सर्वतन्त्रसेवी, सत्यवादी, वेद-वेदाङ्गोंके पारंगत यति, ब्रह्मनिष्ठ, कुलीन, तपस्वी अथवा व्रतपरायण पुरुष भी इसके अधिकारी नहीं हो सकते। अतः जिसकी श्रीकृष्णमें भक्ति नहीं है—ऐसे कृतघ्न, मानी, श्रद्धाहीन, नास्तिक, सुननेकी इच्छा न रखनेवाले, गुरु-सेवा-पराङ्मुख तथा एक वर्षसे कम समयतक गुरु-सेवा करनेवाले मनुष्यको भी इसका उपदेश नहीं देना चाहिये। जो श्रीकृष्ण-का अनन्य भक्त है; दम्भ और लोभसे दूर रहता है तथा काम-क्रोधसे मुक्त है; ऐसे मनुष्यको यत्नपूर्वक इसका उपदेश करना चाहिये।

इस छन्दका मैं (शिव) ही ऋषि हूँ, गायत्री छन्द है और गोपीवल्लभ श्रीकृष्ण देवता कहे गये हैं। प्रिया श्रीराधासहित श्यामसुन्दर श्रीहरिकी दास्य-भक्ति प्राप्त करनेके लिये इस मन्त्रका विनियोग कहा गया है*। (विनियोग-वाक्य यों समझना चाहिये—ॐ अस्य श्रीमन्त्रचिन्तामणिनामयुगलमन्त्रस्य भगवान् शिव ऋषिर्गायत्री छन्दो वल्लवीकान्तो देवता सप्रियस्य हरेर्दास्ये विनियोगः) अचक्र आदि पदात्मक मन्त्रों-द्वारा पञ्चाङ्ग-न्यासकी कल्पना करे। अथवा मन्त्रके अपने ही बीजसे करन्यास एवं अङ्गन्यास करे। मन्त्रका प्रथम वर्ण जो गकार है, उसे मस्तकपर विन्दु (अनुस्वार) से विभूषित किया जाय तो 'गं' बनता है, यही इस मन्त्रका बीज है। 'नमः' इसकी शक्ति है। अन्तिम अक्षरोंद्वारा दशाङ्गन्यास करे। उन्हींसे पूजन भी करे। गन्ध, पुष्प आदिसे पूजन करना चाहिये। यदि इन सबका मिलना सम्भव न हो तो केवल जलमात्रसे भी पूजन किया जा सकता है। श्रीहरिके संतोषके लिये न्यासपूर्वक विधिके द्वारा ही इसके जपका अनुष्ठान करना चाहिये। इसीलिये अन्य विद्वान् इस मन्त्रके न्यास आदिका भी प्रतिपादन करते हैं। यद्यपि यह मन्त्र एक बार उच्चारण करनेसे ही कृतकृत्यता प्रदान कर देता है, तथापि नित्य जपके लिये दशविध न्यास अवश्य करे।

द्विजश्रेष्ठ! अब मैं इस मन्त्रका ध्यान बता रहा हूँ। भगवान् श्रीकृष्ण पीले रंगके रेशमी वस्त्रसे सुशोभित हैं। उनकी अङ्गकान्ति सजल जलधरके समान श्याम है। वे दो भुजाएँ धारण करते हैं। उनके गलेमें वनमाला शोभा पाती है। उन्होंने मोरपंखका मुकुट धारण कर रक्खा है। उनका मुख करोड़ों चन्द्रमाओंके समान मनोहर एवं आह्लाद-जनक है। उनके नेत्र प्रियाजीको एकटक दृष्टिसे देख रहे हैं। वे कानोंमें आभूषणके रूपमें कनेरके पुष्प धारण करते हैं। उनके भालदेशमें कुङ्कुमबिन्दुसे रचित मण्डलाकार तिलक शोभा पाता है। उस तिलकके उभय पार्श्वमें चन्दनसे ऊर्ध्व-पुण्ड्र किया गया है, जिससे उपर्युक्त तिलक बीचमें पड़ गया है। वे बालरविके समान अरुण कान्तिवाले कुण्डलोंसे अलंकृत हैं। उनके दर्पणसदृश निर्मल कपोल पसीनेकी बूँदोंसे विभूषित हैं। उनके नेत्र प्रियतमा श्रीराधाके मुखचन्द्र-की माधुर्य-सुधाके पानमें आसक्त हैं। लीलापूर्वक कटाक्षपातसे युक्त ऊँची भौंहें शोभा पाती हैं। उनकी नासिका भी ऊँची है और उसके अग्रभागमें मोतीकी बुलाक शोभा पा रही है। पके बिम्बफलके सदृश अधरोंपर दशनोंकी ज्योत्स्ना छिटक रही है। केयूर, अङ्गद तथा श्रेष्ठरत्नजटित मुद्रिकाओं-से उनकी बाँहें एवं हाथ सुशोभित हैं। वे बाँये हाथमें मुरली और दाहिनेमें कमल धारण करते हैं। उनके कटि-प्रदेशमें काञ्चीकी लड़ियाँ प्रकाशित हो रही हैं। दो नूपुर उनके युगल चरणारविन्दोंकी शोभा बढ़ाते हैं। वे अनुराग-लीलाके रसावेशसे चञ्चल जान पड़ते हैं। उनके नेत्र भी चञ्चल हैं। वे प्रिया श्रीराधाके साथ हँसते हुए उन्हें बारंबार हँसा रहे हैं। इस प्रकार वृन्दावनमें कल्पवृक्षके नीचे रत्नसिंहासनपर अपनी प्राणवल्लभाके साथ विराजमान श्रीकृष्णका चिन्तन करे।*

---

* ऋषिश्चैवाहमेतस्य गायत्रीच्छन्द उच्यते॥
देवता वल्लवीकान्तो मन्त्रस्य परिकीर्तितः।
सप्रियस्य हरेर्दास्ये विनियोग उदाहृतः॥
(पद्मपुराण पाताल० ८१। २७½-२९)

* अथ ध्यानं प्रवक्ष्यामि मन्त्रस्यास्य द्विजोत्तम।
पीताम्बरं घनश्यामं द्विभुजं वनमालिनम्॥
बर्हिबर्हकृतोत्तंसं शशिकोटिनिभाननम्।
घूर्णायमाननयनं कर्णिकारावतंसिनम्॥

तदनन्तर श्यामसुन्दरके वामभागमें विराजमान श्रीराधिकाका इस प्रकार ध्यान करे---उनके श्रीअङ्गोंपर नीले रंगकी साड़ी शोभा पा रही है। श्रीराधाकी अङ्गकान्ति तपाये हुए सुवर्णके समान उद्भासित हो रही है। मनोहर मन्द मुस्कानसे सुशोभित उनका मुखारविन्द रेशमी साड़ीके अञ्चलसे आधा ढका हुआ है। उनके नेत्र प्रियतमके मुख-चन्द्रकी शोभा निहारनेमें संलग्न हैं। प्रियाजीके चञ्चल नयन चकोरीके समान प्रियतमके मुखचन्द्रकी माधुर्य-सुधाका पान कर रहे हैं। वे अंगूठे और तर्जनीसे सुपारी और चूनेसे युक्त पानके बीड़े लेकर अपने प्राणवल्लभके मुखारविन्दमें अर्पित कर रही हैं। उनके उन्नत पीन पयोधर मोतियोंके हारसे प्रकाशित होकर बड़े सुन्दर जान पड़ते हैं। शरीरका मध्यभाग बहुत ही पतला और नितम्बभाग अत्यन्त स्थूल है। करधनीकी लड़ियाँ उनके कटिप्रदेशको अलंकृत कर रही हैं। वे कानोंमें रत्नमय ताटङ्क (कानपाशा) और भुजाओं एवं हाथोंमें केयूर (भुजबंद) तथा मुद्रिका (अंगूठी) धारण करती हैं। उनके चरणोंमें झनकारते हुए कड़े, पायजेब तथा रत्नोंके बने हुए बिछुए शोभा पाते हैं। उनके मोहक अङ्ग लावण्य-सिन्धुके सारतत्त्वसे निर्मित जान पड़ते हैं। सर्वाङ्गसुन्दरी श्रीराधा आनन्दरसमें निमग्न, प्रसन्न एवं नूतन यौवनसे सुशोभित हैं। विप्रवर! श्रीराधाकी सखियाँ भी उन्हींके समान अवस्था एवं गुणोंसे अलंकृत हैं। वे चँवर और व्यजन आदि लेकर स्वामिनीकी सेवामें तत्पर हैं। इस प्रकार उनकी भावना करनी चाहिये।*

नारद! अब मैं तुम्हें पूर्वोक्त मन्त्रका अर्थ बता रहा हूँ, सुनो। अपने अंशभूत माया आदि बहिरंग शक्तियोंद्वारा तथा नित्य आविर्भूत चैतन्य आदि अन्तरङ्ग-शक्तियोंद्वारा समस्त प्रपञ्चका गोपन (संरक्षण एवं समाच्छादन) करनेके कारण श्रीकृष्णवल्लभा श्रीराधिका गोपी कहलाती हैं। देवी राधिका परम देवता हैं। उन्हें कृष्णस्वरूप कहा गया है। वे ही सर्वलक्ष्मीस्वरूपा हैं। वे श्रीकृष्णके लिये आह्लाद-स्वरूपिणी हैं; इसलिये मनीषी पुरुष उन्हें भगवान्की ह्लादिनीशक्ति कहते हैं। उनकी कलाके करोड़वेंके करोड़वें अंशसे दुर्गा आदि त्रिगुणात्मिका शक्तियोंका प्रादुर्भाव हुआ है। श्रीराधा तो साक्षात् महालक्ष्मी हैं और भगवान् श्रीकृष्ण ही साक्षात् नारायण हैं। मुनिश्रेष्ठ! इन दोनोंमें थोड़ा-सा भी भेद नहीं है। श्रीराधा दुर्गा हैं और श्रीकृष्ण रुद्र। श्रीकृष्ण इन्द्र हैं और श्रीराधा शची। ये सावित्री हैं और श्रीहरि ब्रह्मा। श्रीराधा धूमोर्णा हैं और श्रीकृष्ण यम। नारद! अधिक क्या कहा जाय, श्रीराधा और श्रीकृष्णके बिना कुछ भी नहीं है। जड-चेतनमय समस्त संसार श्रीराधाकृष्णमय है। इस प्रकार सब कुछ उन्हीं दोनोंकी विभूति है, ऐसा समझो। उनकी विभूतियोंकी पृथक्-पृथक् गणना सौ करोड़ वर्षोंमें भी नहीं की जा सकती। तीनों लोकोंमें पृथ्वी श्रेष्ठ एवं सम्मान्य है। उसमें भी जम्बूद्वीप अन्य सब द्वीपोंसे श्रेष्ठ है। जम्बू-

अभितश्चन्दनेनाथ मध्ये कुङ्कुमबिन्दुना।
रचितं तिलकं भाले बिभ्रतं मण्डलाकृतिम्॥
तरुणादित्यसंकाशकुण्डलाभ्यां विराजितम्।
घर्माम्बुकणिकाराजद्दर्पणाभकपोलकम्॥
प्रियास्यन्यस्तनयनं लीलापाङ्गोन्नतभ्रुवम्।
अग्रभागन्यस्तमुक्ताविस्फुरत् प्रोच्चनासिकम्॥
दशनज्योत्स्नया राजत् पक्वबिम्बफलाधरम्।
केयूराङ्गदसद्रत्नमुद्रिकाभिर्लसत्करम्॥
बिभ्रतं मुरलीं वामे पाणौ पद्मं तथैव च।
काञ्चीदामस्फुरन्मध्यं नूपुराभ्यां लसत्पदम्॥
रतिकेलिरसावेशचपलं चपलेक्षणम्।
हसन्तं प्रियया सार्धं हासयन्तं च तां मुहुः॥
इत्थं कल्पतरोर्मूले रत्नसिंहासनोपरि।
वृन्दारण्ये स्मरेत् कृष्णं संस्थितं प्रियया सह॥
(पद्मपुराण पाताल० ८१। ३५--४३)

* वामपार्श्वे स्थितां तस्य राधिकां च स्मरेत्ततः।
नीलचैलकसंवीतां तप्तहेमसमप्रभाम्॥
पट्टाञ्चलेनावृतार्द्धसुस्मेराननपङ्कजाम्।
कान्तवक्त्रे न्यस्तनेत्रां चकोरीचञ्चलेक्षणाम्॥
अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां च निजकान्तमुखाम्बुजे।
अर्पयन्तीं पूगफलं पर्णचूर्णसमन्वितम्॥
मुक्ताहारस्फुरच्चारुपीनोन्नतपयोधराम्।
क्षीणमध्यां पृथुश्रोणीं किङ्किणीजालमण्डिताम्॥
रत्नताटङ्ककेयूरमुद्रावलयधारिणीम्।
रणत्कटकमञ्जीररत्नपादाङ्गुलीयकाम्॥
लावण्यसारमुग्धाङ्गीं सर्वावयवसुन्दरीम्।
आनन्दरससम्मग्नां प्रसन्नां नवयौवनाम्॥
सख्यश्च तस्या विप्रेन्द्र तत्समानवयोगुणाः।
तत्सेवनपरा भाव्याश्चामरव्यजनादिभिः॥
(पद्मपुराण पाताल० ८१। ४४--५०)

द्वीपमें भी भारतवर्ष और भारतमें भी मथुरापुरी सर्वश्रेष्ठ है। मथुरामण्डलमें वृन्दावन सर्वोत्तम है। वृन्दावनमें गोपियोंका समूह श्रेष्ठ है। गोपियोंमें भी राधाका सखीवर्ग और उनमें भी स्वयं श्रीराधिका सबसे श्रेष्ठ हैं। पृथ्वी आदिमेंसे जो वस्तु श्रीराधाके जितना अधिक निकट है, उतना ही वह उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। दूसरी कोई वस्तु यहाँ श्रेष्ठ नहीं बतायी गयी है। वे ही ये श्रीराधिका गोपी हैं। उनका सखीवर्ग ही उनका जन (गोपीजन) है। श्रीराधाके सखीवर्गके वल्लभ अर्थात् प्राणेश्वर हैं युगल-सरकार—'श्रीराधा और श्रीकृष्ण'। इन दोनोंके पैर ही 'चरण' हैं। 'शरण' शब्द यहाँ आश्रयके अर्थमें है। 'प्रपद्ये'का अर्थ है—प्राप्त होता हूँ। 'अहं' पदसे यहाँ अत्यन्त दुखी जीवोंको ग्रहण किया गया है। (तात्पर्य यह कि मैं अत्यन्त दुखी जीव गोपीजन-वल्लभके चरणोंकी शरण लेता हूँ।) मैं जो शरणमें आया हूँ, उस मुझ शरणागतका जो कुछ भी है, वह सब उन्हीं दोनोंके लिये है—उन्हींके उपयोगमें आनेके लिये है; उन्हींका भोग्य है। 'मैं' और 'मेरा' नामकी कोई वस्तु शेष नहीं है। विप्रवर! इस प्रकार संक्षेपसे मन्त्रका अर्थ बतलाया गया। युगलार्थ, न्यास, प्रपत्ति, शरणागति तथा आत्मार्पण—ये पाँच शब्द परस्पर पर्यायवाची हैं। उपासकको आलस्यरहित होकर सदा इसी भावका चिन्तन करना चाहिये।*

इस प्रकार श्रीराधा-कृष्णके मन्त्रका उपदेश देकर भगवान् शंकरने नारदजीको दीक्षाकी विधि यों बतायी। ब्रह्मलोक-पर्यन्त सम्पूर्ण जगत्‌को नश्वर जानकर उससे विरक्त हो मनुष्य बन्धनसे छूटने तथा उत्तम सुखकी प्राप्तिके उपायका विचार करे और आर्तभावसे श्रीगुरुकी शरण ले। जो शान्त, ईर्ष्या-रहित, श्रीकृष्णका अनन्यभक्त, दूसरे साधनका आश्रय न लेनेवाला, काम-लोभसे रहित, श्रीकृष्णरस-तत्त्वज्ञ, श्रीकृष्ण-मन्त्रज्ञोंमें श्रेष्ठ, श्रीकृष्ण मन्त्रका आश्रय लेनेवाला, सदाचारमें लगानेवाला, सम्प्रदायनिष्ठ, कृपालु, विरक्त एवं पवित्र हो, वह 'गुरु' कहलाता है*। जो गुरुका परम भक्त और संसार-बन्धनसे छूटनेका इच्छुक हो, वह 'शिष्य' है। प्रेमसे भगवान्‌का सेवन ही मोक्ष कहा गया है। शिष्य गुरुके चरणोंका आश्रय ले उनके समक्ष अपना सारा वृत्तान्त निवेदन करे। गुरु शरणागत शिष्यके संदेह दूरकर प्रसन्नतापूर्वक उसे

---

* अथ तुभ्यं प्रवक्ष्यामि मन्त्रार्थं शृणु नारद।
बहिरङ्गैः प्रपञ्चस्य स्वांशैर्मायादिशक्तिभिः॥
अन्तरङ्गैस्तथा नित्यं विभूतैस्तैश्चिदादिभिः।
गोपनादुच्यते गोपी राधिका कृष्णवल्लभा॥
देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।
सर्वलक्ष्मीस्वरूपा सा कृष्णाह्लादस्वरूपिणी॥
ततः सा प्रोच्यते विप्र ह्लादिनीति मनीषिभिः।
तत्कलाकोटिकोट्यंशादुर्गाद्यास्त्रिगुणात्मिकाः॥
सा तु साक्षान्महालक्ष्मीः कृष्णो नारायणः प्रभुः।
नैतयोर्विद्यते भेदः स्वल्पोऽपि मुनिसत्तम॥
इयं दुर्गा हरी रुद्रः कृष्णः शक्र इयं शची।
सावित्रीयं हरिर्ब्रह्मा धूमोर्णासौ यमो हरिः॥
बहुना किं मुनिश्रेष्ठ विना ताभ्यां न किञ्चन।
चिदचिल्लक्षणं सर्वं राधाकृष्णमयं जगत्॥
इत्थं सर्वं तयोरेव विभूतिं विद्धि नारद।
न शक्यते मया वक्तुं वर्षकोटिशतैरपि॥
त्रैलोक्ये पृथिवी मान्या जम्बूद्वीपं ततो वरम्।
तत्रापि भारतं वर्षं तत्रापि मथुरापुरी॥
तत्र वृन्दावनं नाम तत्र गोपीकदम्बकम्।
तत्र राधासखीवर्गस्तत्रापि राधिका वरा॥
सांनिध्याधिक्यतस्तस्या आधिक्यं स्याद् यथोत्तरम्।
पृथिवीप्रभृतीनां तु नान्यत् किंचिदिहोदितम्॥
सैषा हि राधिका गोपी जनस्तस्याः सखीगणः।
तस्याः सखीसमूहस्य वल्लभौ प्राणनायकौ॥
राधाकृष्णौ तयोः पादाः शरणं स्यादिहाश्रये।
प्रपद्ये गतवानस्मि जीवोऽहं भृशदुःखितः॥
सोऽहं यः शरणं प्राप्तो मम तस्य यदस्ति च।
सर्वं ताभ्यां तदर्थं हि तद्भोग्यं न ह्यहं मम॥
इत्यसौ कथितो विप्र मन्त्रस्यार्थः समासतः।
युगलार्थस्तथा न्यासः प्रपत्तिः शरणागतिः॥
आत्मार्पणमिमे पञ्च पर्यायास्ते मयोदिताः।
अयमेव चिन्तनीयो दिवानक्तमतन्द्रितैः॥
(पद्मपुराण पाताल० ८१। ५१—६६)

* शान्तो विमत्सरः कृष्णे भक्तोऽनन्यप्रयोजनः।
अनन्यसाधनः श्रीमान् कामलोभविवर्जितः॥
श्रीकृष्णरसतत्त्वज्ञः कृष्णमन्त्रविदां वरः।
कृष्णमन्त्राश्रयो नित्यं मन्त्रभक्तः सदा शुचिः॥
सद्धर्मशासको नित्यं सदाचारनियोजकः।
सम्प्रदायी कृपापूर्णो विरागी गुरुरुच्यते॥
(पद्मपुराण पाताल० ८२। ६—८)

पूर्वोक्त भगवन्मन्त्रका उपदेश दे। चन्दन अथवा मृत्तिकासे शिष्यकी बायीं-दायीं भुजाओंके मूलभागमें क्रमशः शङ्खका चिह्न अङ्कित करे। फिर भाल आदिमें ऊर्ध्वपुण्ड्र लगाकर शिष्यके दाहिने कानमें पूर्वोक्त दो मन्त्रोंमेंसे किसी एकका उपदेश दे। मन्त्रार्थको भी समझा दे। 'दास' शब्दसे युक्त नामकरण करे। फिर शिष्य वैष्णवोंको भोजन करावे तथा श्रीगुरुकी भी वस्त्रालङ्करणादिसे पूजा करे। वह गुरुको सर्वस्वसहित अपने शरीरको भी समर्पित कर दे और स्वयं अकिञ्चन होकर रहे। अङ्कन, ऊर्ध्वपुण्ड्र, मन्त्र-ग्रहण, नाम-धारण तथा याग—ये वैष्णवोंके पाँच संस्कार हैं। शङ्ख, चक्र आदिका चिह्न 'अङ्कन' कहलाता है। छिद्रयुक्त तिलकको 'पुण्ड्र' कहते हैं। 'दास' शब्दयुक्त (हरिदास, कृष्णदास आदि) नाम ग्रहण करना 'नाम-धारण' है। युगल-संज्ञक मन्त्रको ग्रहण करना 'मन्त्र-संस्कार' है। गुरु तथा वैष्णवोंकी पूजाको 'याग' कहते हैं।

प्रपन्न या शरणागत भक्तोंके धर्म इस प्रकार हैं। गुरुसे मन्त्र ले शिष्य उनमें भक्ति रखते हुए नित्य उनकी सेवा करे और सदा अपने ऊपर गुरुदेवकी कृपाकी भावना करे। वैष्णवोंमें इष्टदेवकी भावना करके उन्हें संतुष्ट रक्खे। उसे इहलोक या परलोकके सुखकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। इहलोकका सुख तो पूर्वकर्म (प्रारब्ध-) के अनुसार मिलता है और परलोकका सुख स्वयं श्रीकृष्ण सम्पादित करेंगे। ऐसा सोचकर वह लौकिक या पारलौकिक सुख-सुविधाओंके लिये कोई प्रयत्न न करे। सब कुछ छोड़कर परमात्मा श्रीकृष्णकी आराधनामें लग जाय। जैसे पतिव्रता स्त्री पतिके चिरकालतक परदेशमें रह जानेपर सदा उन्हींमें अनुराग रखती हुई एकमात्र उन्हींसे मिलनेके लिये उत्सुक रहती है; सदा उन्हींके गुणोंका विचार करती, उन्हींके गुण गाती और उन्हींके गुणोंको सुनती है, उसी प्रकार प्रपन्न भक्त केवल श्रीकृष्णके ही गुण, लीला आदिका स्मरण एवं कीर्तन आदि करे। दूसरे किसी देवताकी शरण न ले। अवैष्णवोंसे सम्पर्क न बढ़ावे। शिव और विष्णुकी निन्दा कदापि न सुने। जैसे चातक मेघके सिवा और किसीसे याचना नहीं करता, उसी प्रकार शरणागत भक्त केवल श्रीकृष्णसे ही उनकी प्राप्तिके लिये याचना करे। इष्टदेव, गुरु तथा वैष्णवोंके अनुकूल रहे। उनके प्रतिकूल कदापि न चले। भगवान्‌से सदा निम्नाङ्कित प्रार्थना करता रहे—

संसारसागरान्नाथौ मित्रपुत्रगृहाकुलात्।
गोप्तारौ मे युवामेव प्रपन्नभयभञ्जनौ॥
योऽहं ममास्ति यत्किञ्चिदिह लोके परत्र च।
तत् सर्वं भवतोरद्य चरणेषु समर्पितम्॥
अहमस्म्यपराधानामालयस्त्यक्तसाधनः।
अगतिश्च ततो नाथौ भवन्तावेव मे गतिः॥
तवास्मि राधिकाकान्त कर्मणा मनसा गिरा।
कृष्णकान्ते तवैवास्मि युवामेव गतिर्मम॥
शरणं वां प्रपन्नोऽस्मि करुणानिकराकरौ।
प्रसादं कुरुतां दास्यं मयि दुष्टेऽपराधिनि॥

(पद्मपुराण पाताल० ८२। ४२—४६)

हे नाथ! हे युगल सरकार! मित्र, पुत्र तथा गृह आदिकी चिन्तासे व्याप्त संसार-समुद्रसे आप ही दोनों मेरी रक्षा करनेमें समर्थ हैं; क्योंकि आप शरणागतभयभञ्जन हैं। जो मैं हूँ और इहलोक या परलोकमें जो कुछ भी मेरा है, वह सब आज मैंने आप दोनोंके चरणोंमें समर्पित कर दिया। प्रिया-प्रियतम! मैं अपराधोंका घर हूँ। मैंने सब साधनोंको त्याग दिया है। मुझे कोई सहारा देनेवाला नहीं है। अब आप ही दोनों मेरे अवलम्ब हैं। राधाकान्त! मैं मन, वाणी और क्रियाद्वारा आपहीका हूँ। कृष्णप्राणाधिके राधिके! मैं तुम्हारा ही हूँ। आप ही दोनों मेरी गति हैं। करुणासिन्धो! मैं आप दोनोंकी शरणमें आया हूँ। आप मुझ दुष्ट और अपराधीको कृपा-प्रसादके रूपमें अपनी दास्य-भक्ति प्रदान करें।

इस प्रकार इन पाँचों पद्योंका नित्य जप करता रहे। श्रीराधा-कृष्णके दास्यभावकी शीघ्र-प्राप्तिके लिये साधकको ऐसा अवश्य करना चाहिये।

यह शरणागतके बाह्य धर्म बताये गये हैं। अब उनके परम उत्तम आन्तरिक धर्मका वर्णन किया जाता है। श्रीकृष्णप्रिया राधाके सखीभावका आश्रय लेकर, यत्नपूर्वक आलस्य छोड़, दिन-रात उन दोनों प्रिया-प्रियतमकी सेवा करे। जो एक बार भी शरणागत होकर 'मैं आपका हूँ'—यह याचना करता है, उसे भगवान् अपना दास्य प्रदान करते हैं, इस विषयमें मुझे कोई संदेह नहीं है।

पूर्वकालकी बात है। मैं कैलास पर्वतके शिखरपर श्रेष्ठ मन्त्रका जप और नारायणका ध्यान करता हुआ एक गहन वनमें निवास करता था। भगवान् संतुष्ट हो मेरे सामने प्रकट हुए और बोले—'वर माँगो'। उनके इतना कहनेपर मैंने आँखें खोल दीं और

देखा, भगवान् अपनी प्राणप्यारी लक्ष्मीके साथ गरुड़की पीठपर विराजमान हैं। उस समय मैंने उन वरदायक कमलापतिको प्रणाम करके कहा—'कृपासिन्धो ! आपका जो रूप परमानन्ददायक, सम्पूर्ण आनन्दका आश्रय, नित्य साकार और सबसे श्रेष्ठ है, जिसे ज्ञानी पुरुष निर्गुण, निष्क्रिय एवं शान्त ब्रह्मके नामसे जानते हैं, उसे मैं अपने नेत्रोंद्वारा देखना चाहता हूँ। परमेश्वर ! मेरा यह मनोरथ पूर्ण कीजिये।'

भगवान्ने उत्तर दिया—तुम यमुनाके पश्चिम तटपर वृन्दावनमें जाओ। वहीं आज तुम्हें मनोवाञ्छित रूपका दर्शन होगा। यों कह भगवान् अदृश्य हो गये और मैं यमुनाके मङ्गलमय तटपर आया। वहाँ मुझे सर्वदेवेश्वरेश्वर श्रीकृष्णके दर्शन हुए। गोपवेष, कमनीय कान्ति तथा किशोर अवस्थासे सुशोभित मनोहर श्यामसुन्दर प्रियाजीके कंधेपर अपना बायाँ हाथ रखकर गोपाङ्गनाओंके बीचमें विराजमान हो स्वयं हँसते और प्रियाजीको हँसाते थे। उनकी अङ्गप्रभा सजल जलधरके समान श्याम थी। वे कल्याणमय गुणोंके आगार जान पड़ते थे। उस समय अमृतके समान मधुर वचन बोलनेवाले श्रीकृष्णने हँसकर मुझसे कहा—

निराकार, निर्गुण, सर्वव्यापी, निष्क्रिय और परात्पर स्वरूपका रहस्य

अहं ते दर्शनं यातो ज्ञात्वा रुद्र तवेप्सितम् ।
यदद्य मे त्वया दृष्टमिदं रूपमलौकिकम् ।
घनीभूतामलप्रेमसच्चिदानन्दविग्रहम् ॥
नीरूपं निर्गुणं व्यापि क्रियाहीनं परात्परम् ।
वदन्त्युपनिषत्संघा इदमेव ममानघ ॥
प्रकृत्युत्थगुणाभावादनन्तत्वात्तथेश्वर ।
असिद्धत्वान्मद्गुणानां निर्गुणं मां वदन्ति हि ॥
अदृश्यत्वान्ममैतस्य रूपस्य चर्मचक्षुषा ।
अरूपं मां वदन्त्येते वेदाः सर्वे महेश्वर ॥
व्यापकत्वाच्चिदंशेन ब्रह्मेति च विदुर्बुधाः ।
अकर्तृत्वात् प्रपञ्चस्य निष्क्रियं मां वदन्ति हि ॥
मायागुणैर्यतो मेंऽशाः कुर्वन्ति सर्जनादिकम् ।
न करोमि स्वयं किञ्चित् सृष्ट्यादिकमहं शिव ॥
अहमासां महादेव गोपीनां प्रेमविह्वलः ।
क्रियान्तरं न जानामि नात्मानमपि नारद ॥
विहराम्यनया नित्यमस्याः प्रेमवशीकृतः ।
इमां तु मत्प्रियां विद्धि राधिकां परदेवताम् ॥
अस्याश्च परितः पश्य सख्यः शतसहस्रशः ।
नित्याः सर्वा इमा रुद्र यथाहं नित्यविग्रहः ॥
गोपा गावो गोपिकाश्च सदा वृन्दावनं मम ।
सर्वमेतन्नित्यमेव चिदानन्दरसात्मकम् ॥
इदमानन्दकन्दाख्यं विद्धि वृन्दावनं मम ।
यस्मिन् प्रवेशमात्रेण न पुनः संसृतिं विशेत् ॥
मद्वनं प्राप्य यो मूढः पुनरन्यत्र गच्छति ।
स आत्महा महादेव सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥
वृन्दावनं परित्यज्य नैव गच्छाम्यहं क्वचित् ।
निवसाम्यनया सार्धमहमत्रैव सर्वदा ॥
इत्येवं सर्वमाख्यातं यत्ते रुद्र हृदि स्थितम् ।
कथयस्व ममेदानीं किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥

(पद्मपुराण पाताल० ८२ । ६५—७९)

रुद्र ! तुम्हारा मनोरथ जानकर मैं तुम्हारे दृष्टिपथमें आया हूँ। इस समय तुमने जो मेरा यह अलौकिक रूप देखा है, यह घनीभूत निर्मल प्रेम एवं सच्चिदानन्दस्वरूप है। अनघ ! मेरे इसी रूपको उपनिषदोंके समुदाय निराकार, निर्गुण, सर्वव्यापी, निष्क्रिय एवं परात्पर बताते हैं। मुझमें प्राकृत गुणोंका अभाव है, मुझमें अनन्त कल्याणमय गुण हैं तथा मेरे गुण मेरे स्वरूपसे पृथक् सिद्ध नहीं होते; इसलिये ज्ञानीजन मुझे 'निर्गुण' कहते हैं। महेश्वर ! मेरे रूपका चर्मचक्षुओंसे दर्शन नहीं हो सकता; इसीलिये ये सम्पूर्ण वेद मुझे रूपहीन या 'निराकार' कहते हैं। मैं चिन्मय अंशसे सर्वत्र व्यापक हूँ; इसलिये विद्वान् पुरुष मुझे 'ब्रह्म'के नामसे जानते हैं। मैं इस प्रपञ्चका कर्ता नहीं हूँ, इसीलिये महात्मा लोग मुझे 'निष्क्रिय' कहते हैं; क्योंकि मेरे अंशभूत ब्रह्मा आदि मायाजनित गुणोंद्वारा सृष्टि आदि कार्य करते हैं, स्वयं मैं सृष्टि आदि कोई कार्य नहीं करता हूँ। महादेव !

भगवान् शिवके प्रति श्रीकृष्णका स्वरूप-रहस्य-वर्णन

मैं इन गोपियोंके प्रेममें विह्वल रहता हूँ, इसलिये न तो दूसरी कोई क्रिया जानता हूँ और न अपनी ही सुध-बुध रखता हूँ। नित्यप्रति इन्हीं प्रियतमाके प्रेमके वशीभूत हो मैं इन्हींके साथ विहार करता हूँ। मेरी इन प्रियाको तुम राधिका समझो। ये परम देवता हैं। इनके चारों ओर इन लाखों सखियोंको देखो। रुद्र! ये सब-की-सब उसी तरह नित्य हैं, जैसे मेरा विग्रह नित्य है। गोप, गौएँ, गोपाङ्गनाएँ और मेरा वृन्दावनधाम—यह सब नित्य एवं चिदानन्द-रसरूप है। मेरे इस वृन्दावनको आनन्दकन्द समझो, जिसमें प्रवेश करनेमात्रसे जीव फिर इस संसार-बन्धनमें नहीं पड़ता। जो मूढ़ मेरे वनमें आकर फिर अन्यत्र जाता है, वह आत्महत्यारा ही है। यह मैंने सत्य, सत्य बताया है। मैं वृन्दावनको छोड़कर कहीं नहीं जाता हूँ। अपनी इन प्राणवल्लभाके साथ सदा यहीं निवास करता हूँ। रुद्र! तुम्हारे हृदयमें जो जिज्ञासा थी, उसके समाधानके लिये मैंने इस प्रकार सब कुछ बताया है। कहो, अब मुझसे और क्या सुनना चाहते हो?

तदनन्तर मैंने भगवान्‌से कहा—प्रभो! इस रूपमें आपकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? वह उपाय मुझे बताइये।

श्रीराधाजीकी शरणसे श्रीकृष्ण वशमें हो जाते हैं

ततो मामाह भगवान् साधु रुद्र त्वयोदितम्।
अतिगुह्यतमं ह्येतद् गोपनीयं प्रयत्नतः॥
सकृदावां प्रपन्नो य उपास्ते व्यक्तसाधनः।
गोपीभावेन देवेश स मामेति न चेतरः॥
सकृदावां प्रपन्नो वा मत्प्रियामेकिकां सुत।
सेवतेऽनन्यभावेन स मामेति न संशयः॥
यो मामेव प्रपन्नश्च मत्प्रियां न महेश्वर।
न कदापि स चाप्नोति मामेवं ते मयोदितम्॥
सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति वदेदपि।
साधनेन विनाप्येव मामाप्नोति न संशयः॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मत्प्रियां शरणं व्रजेत्।
आश्रित्य मत्प्रियां रुद्र मां वशीकर्तुमर्हसि॥
इदं रहस्यं परमं मया ते परिकीर्तितम्।
त्वयाप्येतन्महादेव गोपनीयं प्रयत्नतः॥
त्वमप्येनां समाश्रित्य राधिकां मम वल्लभाम्।
जपन् मे युगलं मन्त्रं सदा तिष्ठ मदालये॥

(पद्मपुराण पाताल० ८२। ८१—८८)

तब भगवान् श्रीकृष्ण मुझसे बोले—रुद्र! तुमने अच्छी बात पूछी है; परंतु यह विषय अत्यन्त गुह्यतम है। अतः प्रयत्नपूर्वक इसे गोपनीय रखना चाहिये। देवेश! जो उपासक दूसरे सारे साधनोंको छोड़कर एक बार भी हम दोनोंकी शरणमें आ जाता है और गोपीभावसे हमारी उपासना करने लगता है, वह मुझे प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है। महेश्वर! जो केवल मेरी ही शरण लेता है; मेरी प्रियाकी शरणमें नहीं जाता; वह कभी मुझे नहीं पाता। यह मैंने तुमसे सच्ची बात कही है। जो एक बार भी मेरी प्रियाकी शरण लेकर 'मैं तुम्हारा हूँ'—ऐसा कह देता है, वह बिना किसी साधनके भी मुझे प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है। अतः रुद्र! सर्वथा प्रयत्न करके मेरी प्रियाकी शरणमें जो आ जाता है, वह मेरी प्राणवल्लभाका सहारा ले मुझे वशमें कर लेता है। यह मैंने तुम्हें अत्यन्त रहस्यकी बात बतलायी है। महादेव! तुम्हें भी यत्नपूर्वक इसकी गोपनीयताकी रक्षा करनी चाहिये। अब तुम भी मेरी वल्लभा राधिकाकी शरण ले मेरे इस युगल-मन्त्रका जप करते हुए सदा मेरे निवास-स्थान वृन्दावनमें रहो।

ऐसा कहकर दयानिधान भगवान् श्रीकृष्ण मेरे दाहिने कानमें उत्तम मन्त्रका उपदेश दे पञ्चविधि-संस्कार करके वहीं मेरे देखते-देखते अपने परिकरोंसहित अदृश्य हो गये। तभीसे मैं निरन्तर वृन्दावनमें निवास करता हूँ।
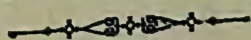
सत्यभामाके पूछनेपर भगवान् श्रीकृष्णका उन्हें उनके पूर्वजन्मके पुण्यमय जीवन-वृत्तान्तको बताना, कार्तिक-व्रतकी महिमा सुनाना और बिना दिये हुए पुण्य-पाप दूसरेको कैसे मिल जाते हैं, इस विषयका प्रतिपादन करना एवं धनेश्वरको पुण्यात्माओंके संसर्गसे पुण्यकी प्राप्तिका इतिहास सुनाना

एक समयकी बात है, देवर्षि नारद कल्पवृक्षके दिव्य पुष्प लेकर द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिये आये। श्रीकृष्णने स्वागतपूर्वक नारदजीका सत्कार करते हुए उन्हें पाद्य-अर्घ्य निवेदन करनेके पश्चात् बैठनेको आसन दिया। नारदजीने वे दिव्य पुष्प भगवान्‌को भेंट कर दिये। भगवान्‌ने अपनी सोलह हजार रानियोंमें उन फूलोंको बाँट दिया।

तदनन्तर एक दिन सत्यभामाने पूछा—'प्राणनाथ! मैंने पूर्वजन्ममें कौन-सा दान, तप अथवा व्रत किया था, जिससे मैं मर्त्यलोकमें जन्म लेकर भी मर्त्यभावसे ऊपर उठ गयी—आपकी अर्द्धाङ्गिनी हुई?'

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिये! एकाग्रचित्त होकर सुनो। तुम पूर्वजन्ममें जो कुछ थीं और जिस पुण्यकारक व्रतका तुमने अनुष्ठान किया था, वह सब मैं बताता हूँ। सत्ययुगके अन्तमें मायापुरी (हरद्वार) के भीतर अत्रिकुलमें उत्पन्न एक ब्राह्मण रहते थे, जो देवशर्मा नामसे प्रसिद्ध थे। वे वेद-वेदाङ्गोंके पारंगत विद्वान्, अतिथिसेवी, अग्निहोत्र-परायण और सूर्य-व्रतके पालनमें तत्पर रहनेवाले थे। प्रतिदिन सूर्यकी आराधना करनेके कारण वे साक्षात् दूसरे सूर्यकी भाँति तेजस्वी जान पड़ते थे। उनकी अवस्था अधिक हो चली थी। ब्राह्मणके कोई पुत्र नहीं था; केवल एक पुत्री थी, जिसका नाम गुणवती था। उन्होंने अपने चन्द्र नामक शिष्यके साथ उसका विवाह कर दिया। वे उस शिष्यको ही पुत्रकी भाँति मानते थे और वह जितेन्द्रिय शिष्य भी उन्हें पिताके ही तुल्य समझता था। एक दिन वे दोनों गुरु-शिष्य कुश और समिधा लानेके लिये गये और हिमालयके शाखाभूत पर्वतके वनमें इधर-उधर भ्रमण करने लगे; इतनेमें ही उन्होंने एक भयंकर राक्षसको अपनी ओर आते देखा। उनके सारे अङ्ग भयसे काँपने लगे। वे भागनेमें भी असमर्थ हो गये। तबतक उस कालरूपी राक्षसने उन दोनोंको मार डाला। उस क्षेत्रके प्रभावसे तथा स्वयं धर्मात्मा होनेके कारण उन दोनोंको मेरे पार्षदोंने वैकुण्ठधाममें पहुँचा दिया। उन्होंने जो जीवनभर सूर्यपूजन आदि किया था, उस कर्मसे मैं उनके ऊपर बहुत संतुष्ट था। सूर्य, शिव, गणेश, विष्णु तथा शक्तिके उपासक भी मुझे ही प्राप्त होते हैं। जैसे वर्षाका जल सब ओरसे समुद्रमें ही जाता है, उसी प्रकार इन पाँचोंके उपासक मेरे ही पास आते हैं। मैं एक ही हूँ तथापि लीलाके अनुसार भिन्न-भिन्न नाम धारण करके पाँच रूपोंमें प्रकट हुआ हूँ। ठीक उसी तरह, जैसे कोई देवदत्त नामक एक ही व्यक्ति पुत्र-पिता आदि भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारा जाता है*।

तदनन्तर गुणवतीने जब राक्षसके हाथसे उन दोनोंके मारे जानेका हाल सुना, तब वह पिता और पतिके वियोग-दुःखसे पीड़ित होकर करुण-स्वरमें विलाप करने लगी—'हा नाथ! हा तात! आप दोनों मुझे अकेली छोड़कर कहाँ चले गये? मैं अनाथ बालिका आपके बिना अब क्या करूँगी। अब कौन घरमें बैठी हुई मुझ कुशलहीन दुःखिनी स्त्रीका भोजन और वस्त्र आदिके द्वारा पालन करेगा?' इस प्रकार बारंबार करुणाजनक

* सौराश्च शैवा गाणेशा वैष्णवाः शक्तिपूजकाः।
मामेव प्राप्नुवन्तीह वर्षापः सागरं यथा॥
एकोऽहं पञ्चधा जातः क्रीडयन्नामभिः किल।
देवदत्तो यथा कश्चित् पुत्राद्याह्वाननामभिः॥
(पद्मपुराण उत्तर० ८८। ४३-४४)

विलाप करके वह बहुत देरके बाद चुप हुई। गुणवती शुभ कर्म करनेवाली थी। उसने घरका सारा सामान बेचकर अपनी शक्तिके अनुसार पिता और पतिका पारलौकिक कर्म किया। तत्पश्चात् वह उसी नगरमें निवास करने लगी; शान्तभावसे सत्य-शौच आदिके पालनमें तत्पर हो भगवान् विष्णुके भजनमें ही समय बिताने लगी। उसने अपने जीवनभर दो व्रतोंका विधि-पूर्वक पालन किया। एक तो एकादशीका उपवास और दूसरा कार्तिक मासका भलीभाँति सेवन। प्रिये! ये दो व्रत मुझे बहुत ही प्रिय हैं। ये पुण्य उत्पन्न करनेवाले, पुत्र और सम्पत्तिके दाता तथा भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाले हैं।

इस प्रकार गुणवती प्रतिवर्ष कार्तिकका व्रत किया करती थी। वह श्रीविष्णुकी परिचर्यामें नित्य-निरन्तर भक्तिपूर्वक मन लगाये रहती थी। एक समय जब कि जरावस्थासे उसके सारे अङ्ग दुर्बल हो गये थे और वह स्वयं भी ज्वरसे पीड़ित थी, किसी तरह धीरे-धीरे चलकर गङ्गाके तटपर स्नान करनेके लिये गयी। ज्यों ही उसने जलके भीतर पैर रक्खा, त्यों ही वह शीतसे पीड़ित हो काँपती हुई गिर पड़ी। उस घबराहटकी दशामें ही उसने देखा, आकाशसे विमान उतर रहा है, जो शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण करनेवाले श्रीविष्णुरूपधारी पार्षदों-से सुशोभित है और उसमें गरुड़चिह्नसे अङ्कित ध्वजा फहरा रही है। विमानके निकट आनेपर वह दिव्य रूप धारण करके उसपर बैठ गयी। उसके लिये चँवर डुलाया जाने लगा। मेरे पार्षद उसे वैकुण्ठ ले चले। विमानपर बैठी हुई गुणवती प्रज्वलित अग्निशिखाके समान तेजस्विनी जान पड़ती थी। कार्तिक-व्रतके पुण्यसे उसे मेरे निकट स्थान मिला।

तदनन्तर जब मैं ब्रह्मा आदि देवताओंकी प्रार्थनासे इस पृथ्वीपर आया, तब मेरे पार्षदगण भी मेरे साथ ही आये। भामिनि! समस्त यादव मेरे पार्षदगण ही हैं। वे मेरे समान गुणोंसे शोभा पानेवाले और मेरे प्रियतम हैं। जो तुम्हारे पिता देवशर्मा थे, वे ही अब सत्राजित् हुए हैं। शुभे! चन्द्रशर्मा ही अक्रूर हैं और तुम गुणवती हो। कार्तिक-व्रतके पुण्यसे तुमने मेरी प्रसन्नताको बहुत बढ़ाया है। पूर्व जन्ममें तुमने मेरे मन्दिरके द्वारपर जो तुलसीकी वाटिका लगा रक्खी थी, इसीसे तुम्हारे आँगनमें कल्पवृक्ष शोभा पा रहा है। पूर्वकालमें तुमने जो कार्तिकमें दीप-दान किया था, उसीके प्रभावसे तुम्हारे घरमें यह स्थिर लक्ष्मी प्राप्त हुई है तथा तुमने जो अपने व्रत आदि सब कर्मोंको पतिस्वरूप श्रीविष्णुकी सेवामें निवेदन किया था, इसीलिये तुम मेरी पत्नी हुई हो। मृत्युपर्यन्त तुमने जो कार्तिक-व्रतका अनुष्ठान किया है, उसके प्रभावसे तुम्हारा मुझसे कभी भी वियोग नहीं होगा। इस प्रकार जो मनुष्य कार्तिक मासमें व्रतपरायण होते हैं, वे मेरे समीप आते हैं, जिस प्रकार कि तुम मुझे प्रसन्नता देती हुई यहाँ आयी हो। केवल यज्ञ, दान, तप और व्रत करनेवाले मनुष्य कार्तिक-व्रतके पुण्यकी एक कला भी नहीं पा सकते।

इतना कहकर भगवान् श्रीकृष्णने पृथु-नारद-संवाद प्रस्तुत करके कलहाकी कथा सुनायी, जो पूर्वजन्मके पापके कारण प्रेतयोनिको प्राप्त होकर महान् कष्ट भोग रही थी। धर्मदत्त नामवाले एक धर्मनिष्ठ एवं भगवद्भक्त ब्राह्मणने अपने कार्तिक-व्रतका आधा पुण्य देकर उसे प्रेत-शरीरसे मुक्त कर दिया। फिर तो वह दिव्य रूप धारणकर लावण्यसे लक्ष्मीजीको लज्जित करती हुई वैकुण्ठधामको चली गयी।

यह सुनकर सत्यभामाने कहा—नाथ! आपने जो कथा सुनायी वह अत्यन्त आश्चर्यमें डालनेवाली है; क्योंकि कलहा दूसरेके किये हुए पुण्यसे ही मुक्ति पा गयी। इस कार्तिक मासका ऐसा प्रभाव है और यह आपको इतना प्रिय है कि इसमें किये हुए स्नान-दानसे कलहाके पतिद्रोह आदि पाप भी नष्ट हो गये। प्रभो! जो दूसरेका किया हुआ पुण्य है, वह उसके देनेसे तो मिल जाता है, किंतु बिना दिया हुआ पुण्य मनुष्य किस मार्गसे पा सकता है?

किस कारणसे पाप-पुण्यका कितना-कितना परस्पर मिलता है

श्रीकृष्ण उवाच

अदत्तान्यपि पुण्यानि पापानि च यथा नरैः ।
प्राप्यन्ते कर्मणा येन तद् यथावन्निशामय ॥
देशग्रामकुलानि स्युर्भागभाञ्जि कृतादिषु ।
कलौ तु केवलं कर्ता फलभुक् पुण्यपापयोः ॥
अकृतेऽपि हि संसर्गे व्यवस्थेयमुदाहृता ।
संसर्गात् पुण्यपापानि यथा यान्ति निबोध तत् ॥
एकत्रमैथुनाद् यानादेकपात्रस्थभोजनात् ।
फलार्धं प्राप्नुयान्मर्त्यो यथावत्पुण्यपापयोः ॥
अध्यापनाद् याजनाद् वाप्येकपङ्क्त्यशनादपि ।
तुर्यांशं पुण्यपापानां नित्यं प्राप्नोति मानवः ॥
एकासनादेकयानान्निःश्वासस्याङ्गसंगतः ।
षडंशफलभागी स्यान्नियतं पुण्यपापयोः ॥
स्पर्शनाद् भाषणाद् वापि परस्य स्तवनादपि ।
दशांशं पुण्यपापानां नित्यः प्राप्नोति मानवः ॥
दर्शनश्रवणाभ्यां च मनोध्यानात् तथैव च ।
परस्य पुण्यपापानां शतांशं प्राप्नुयान्नरः ॥
परस्य निन्दां पैशुन्यं धिक्कारं च करोति यः ।
तत्कृतं पातकं प्राप्य स्वपुण्यं प्रददाति सः ॥

(पद्मपुराण उत्तर० ११२ । ९—१७)

श्रीकृष्ण बोले—प्रिये ! बिना दिये हुए भी पुण्य और पाप मनुष्यको जिस कर्मसे प्राप्त होते हैं, उसे यथावत् रूपसे सुनो—सत्ययुग, त्रेता और द्वापर—इन तीन युगोंमें देश, ग्राम और कुल भी मनुष्यके शुभाशुभ कर्मोंके भागीदार होते हैं; परंतु कलियुगमें केवल कर्ता ही अपने पुण्य और पापके फलोंको भोगता है । यदि मनुष्य किसी पुण्यात्मा अथवा पापात्माके संसर्गमें न आवे, उस अवस्थामें उपर्युक्त व्यवस्था बतायी गयी है । एक-दूसरेके सम्पर्कमें आनेपर पुण्य और पाप जिस प्रकार संक्रमण करते हैं, उसे बताता हूँ । सुनो—एक-दूसरेसे शरीरके सट जाने, एक साथ घूमने-फिरने और एक पात्रमें भोजन कर लेनेपर मनुष्य दूसरेके पुण्य और पापका आधा फल बाँट लेता है । पढ़ानेसे, यज्ञ करानेसे अथवा एक पङ्क्तिमें बैठकर भोजन करनेसे सदा ही दूसरेके पुण्य और पापका एक चौथाई अंश मनुष्यको प्राप्त हो जाता है । एक आसनपर बैठने, एक सवारीपर यात्रा करने तथा एक-दूसरेके श्वासका शरीरसे स्पर्श होनेपर मनुष्य निश्चय ही पुण्य-पापके छठे अंशका भागीदार हो जाता है । दूसरेके स्पर्श-भाषण और स्तवनसे भी मानव उसके पुण्य-पापका दशांश पा लेता है । व्यक्ति-विशेषके दर्शन, श्रवण तथा मन-ही-मन चिन्तनसे भी मनुष्यको उसके पाप-पुण्यके सौवें अंशका भागी होना पड़ता है । जो दूसरेकी निन्दा करता, चुगली खाता और दूसरेको धिक्कारता है, वह उसके किये हुए पातकको स्वयं ग्रहण करके बदलेमें अपना किया हुआ पुण्य उसे दे डालता है ।

कुर्वतः पुण्यकर्माणि सेवां यः कुरुते नरः ।
पत्नीभृतकशिष्येभ्यो यदन्यः कोऽपि मानवः ॥
तस्य सेवानुरूपेण द्रव्यं किंचिन्न दीयते ।
सोऽपि सेवानुरूपेण तत्पुण्यफलभाग् भवेत् ॥
एकपङ्क्त्यश्नतां यस्तु लङ्घयेत् परिवेषणम् ।
तस्य पापषडंशं तु लभेद् वै परिवेषकः ॥
स्नानसंध्यादिकं कुर्वन् यः स्पृशेद् वा प्रभाषते ।
स पुण्यकर्मषष्ठांशं दद्यात् तस्मै सुनिश्चितम् ॥
धर्मोद्देशेन यो द्रव्यमपरं याचते नरः ।
तत्पुण्यकर्मजं तस्य धनदस्त्वाप्नुयात् फलम् ॥
अपहृत्य परद्रव्यं पुण्यकर्म करोति यः ।
कर्मकृत् पापभाक् तत्र धनिनस्तद्भवं फलम् ॥
नापनुद्य ऋणं यस्तु परस्य म्रियते नरः ।
धनी तत्पुण्यमाधत्ते स्वधनस्यानुरूपतः ॥
बुद्धिदस्त्वनुमन्ता च यश्चोपकरणप्रदः ।

वलकृच्चापि षष्ठांशं प्राप्नुयात् पुण्यपापयोः ॥
प्रजाभ्यः पुण्यपापानां राजा षष्ठांशमुद्धरेत् ।
शिष्याद् गुरुः स्त्रियो भर्त्ता पिता पुत्रात् तथैव च॥
स्वपतेरपि पुण्यस्य योषिदर्धमवाप्नुयात् ।
चित्तस्यानुव्रता शश्वद् वर्तते तुष्टिकारिणी ॥
परहस्तेन दानादिं कुर्वतः पुण्यकर्मणि ।
विना भृतकपुत्राभ्यां कर्त्ता षष्ठांशमुद्धरेत् ॥
वृत्तिदो वृत्तिसम्भोक्तुः पुण्यमष्टांशमुद्धरेत् ।
आत्मनो वा परस्यापि यदि सेवां न कारयेत् ॥
(पद्मपुराण उत्तर० ११२ । १८-२९)

पत्नी, नौकर अथवा शिष्यको छोड़कर यदि दूसरा कोई मनुष्य किसी पुण्यशील पुरुषकी सेवा करता है और उस सेवाके अनुरूप उसे कुछ द्रव्य नहीं दिया जाता है, तो वह सेवक भी सेवाके अनुसार सेव्यके पुण्यफलका भागीदार हो जाता है। एक पङ्क्तिमें भोजन करनेवाले मनुष्योंमेंसे किसी एकको लाँघकर यदि रसोई परोसी जाती है, तो वह परोसनेवाला मनुष्य उस लङ्घित पुरुषके पापका छठा अंश अवश्य भोगता है। जो स्नान-संध्या आदि करते समय भी दूसरेका स्पर्श करता अथवा दूसरेसे बोलता है, वह निश्चय ही अपने पुण्यकर्मका छठा अंश उसे दे डालता है। जो मनुष्य धर्मानुष्ठानके लिये दूसरेसे धनकी याचना करता है, उसके उस पुण्यकर्मके फलको वह धनदाता पुरुष अवश्य बाँट लेता है। जो दूसरेके धनका अपहरण करके उसके द्वारा पुण्यकर्मका अनुष्ठान करता है, वह कर्मकर्ता वहाँ पापका भागी होता है और उस पुण्यकर्मका फल उस धनीको मिल जाता है, जिसका कि धन चुराकर लाया गया है। जो मनुष्य दूसरेका ऋण चुकाये विना मर जाता है, उसके पुण्यको अपने धनके अनुसार वह धनी पुरुष ले लेता है। जो बुद्धि (सलाह) देता, अनुमोदन करता, सामग्री देकर देता तथा बल लगाकर सहयोग करता है, वह भी पुण्य और पापके छठे अंशका भागीदार हो जाता है। राजा प्रजाके, गुरु शिष्यके, पति पत्नीके तथा पिता पुत्रके पुण्य-पापका छठा अंश प्राप्त कर लेता है। जो पतिके मनके अनुकूल चलती और सदा उसे संतुष्ट रखती है, वह पत्नी अपने पतिके भी पुण्यका आधा भाग पा जाती है। पुण्यकर्ममें दूसरेके हाथसे दानादि करनेवाले पुरुषके उस पुण्यफलका छठा अंश उस सहयोगीको मिल जाता है, जो नौकर या पुत्र न हो। जीविकावृत्ति देनेवाला दाता यदि लेनेवालेसे अपनी या दूसरेकी सेवा न करावे तो वह उसके पुण्यका आठवाँ अंश अवश्य पा लेता है।

फिर भगवान् श्रीकृष्ण कहने लगे—पूर्वकालकी बात है। अवन्तीपुरीमें धनेश्वर नामक एक ब्राह्मण रहता था। वह ब्राह्मणोचित कर्मसे भ्रष्ट, पापपरायण और खोटी बुद्धिवाला था। रस, कम्बल और चमड़ा-आदि बेचकर तथा झूठ बोलकर वह जीविका चलाता था। उसका मन चोरी, वेश्यागमन, मदिरापान और जुए आदिमें सदा आसक्त रहता था। एक बार वह खरीद-विक्रीके कामसे देश-देशान्तरमें भ्रमण करता हुआ माहिष्मतीपुरीमें जा पहुँचा, जिसकी चहारदीवारीसे सटकर बहनेवाली पापनाशिनी नर्मदा सदा सुशोभित होती रहती है। वहाँ कार्तिकका व्रत करनेवाले बहुत-से मनुष्य अनेक गाँवोंसे स्नान करनेके लिये आये थे। धनेश्वरने उन सबको देखा। कितने ही ब्राह्मण स्नान करके यज्ञ तथा देवपूजनमें लगे थे। कुछ लोग पुराणोंका पाठ करते और कुछ लोग सुनते थे। कितने ही भक्त नाच, गान, दान और वाद्यके द्वारा भगवान् विष्णुकी स्तुतिमें संलग्न थे। धनेश्वर प्रतिदिन घूम-घूमकर वैष्णवोंके दर्शन, स्पर्श तथा उनसे वार्तालाप करता था। इससे उसे भगवान् श्रीविष्णुके नाम-गुण सुननेका शुभ अवसर प्राप्त होता था। इस प्रकार वह एक मासतक वहाँ सत्संगमें टिका रहा। कार्तिक-व्रतके उद्यापनमें भक्तपुरुषोंने जो श्रीहरिके समीप जागरण किया, उसको भी उसने देखा। उसके बाद पूर्णिमाको व्रत करनेवाले मनुष्योंने जो ब्राह्मणों और गौओंका पूजन आदि किया तथा दक्षिणा और भोजन आदि दिये, उन सबका भी उसने अवलोकन किया। तत्पश्चात् सूर्यास्तके समय श्रीशंकरजीकी प्रसन्नताके लिये जो दीपोत्सर्गकी विधि की गयी, उसपर भी धनेश्वरकी दृष्टि पड़ी। इसी तिथि-

को भगवान् शंकरने तीनों पुरोंका दाह किया था; इसीलिये भक्तपुरुष उस दिन दीपोत्सर्गका महान् उत्सव किया करते हैं।

धनेश्वर नर्मदाके तटपर नृत्य आदि देखता हुआ घूम रहा था। इतनेमें ही एक काले साँपने उसे काट लिया। वह व्याकुल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। उसे गिरा देख बहुत-से मनुष्योंने दयावश उसको चारों ओरसे घेर लिया और तुलसी-मिश्रित जलके द्वारा उसके मुखपर छींटे देना आरम्भ किया। देहत्यागके पश्चात् धनेश्वरको यमराजके दूतोंने बाँधा और क्रोधपूर्वक कोड़ोंसे पीटते हुए वे उसे संयमनीपुरीको ले गये। चित्रगुप्तने धनेश्वरको देखकर उसे बहुत फटकारा और उसने बचपनसे लेकर मृत्युपर्यन्त जितने दुष्कर्म किये थे, वे सब उन्होंने यमराजको बताये।

चित्रगुप्त बोले—प्रभो! बचपनसे लेकर मृत्युपर्यन्त इसका कोई पुण्य नहीं दिखायी देता। यह दुष्ट केवल पापका मूर्तिमान् स्वरूप दीख पड़ता है; अतः इसे कल्पभर नरकमें पकाया जाय।

यमराज बोले—प्रेतराज! केवल पापोंपर ही दृष्टि रखने-वाले इस दुष्टको मुद्गरोंसे पीटते हुए ले जाओ और तुरंत ही कुम्भीपाकमें डाल दो।

यमराजकी आज्ञा पाकर प्रेतराज पापी धनेश्वरको ले चला। मुद्गरोंकी मारसे उसका मस्तक विदीर्ण हो गया था। कुम्भीपाकमें तेलके खौलनेका खलखल शब्द हो रहा था। प्रेतराजने उसे तुरंत ही उसमें डाल दिया। वह ज्यों ही कुम्भीपाकमें गिरा, त्यों ही उसका तेल ठीक उसी तरह ठंढा हो गया, जैसे पूर्वकालमें भक्तप्रवर प्रह्लादको डालनेसे दैत्योंकी जलायी हुई आग बुझ गयी थी। यह महान् आश्चर्यकी बात देखकर प्रेतराजको बड़ा विस्मय हुआ। उसने बड़े वेगसे आकर यह सारा हाल यमराजको कह सुनाया। प्रेतराजकी कही हुई कौतूहलपूर्ण बात सुनकर यमने कहा—'आह! यह कैसी बात है?' फिर उसे साथ ले वे उस स्थानपर आये और उस घटनापर विचार करने लगे। इतनेमें ही देवर्षि नारद हँसते हुए बड़ी उतावलीके साथ वहाँ आये। यमराजने भलीभाँति उनका पूजन किया। उनसे मिलकर देवर्षि नारदजीने इस प्रकार कहा—'सूर्यनन्दन! यह नरक भोगनेके योग्य नहीं है; क्योंकि इसके द्वारा ऐसा कर्म बन गया है, जो नरकका नाश करनेवाला है।'

यः पुण्यकर्मणां कुर्याद् दर्शनस्पर्शभाषणम्।
तत्षडंशमवाप्नोति पुण्यस्य नियतं नरः॥
असंख्यातैस्तु संसर्गैः कृतवानेष यद्धरेः।
कार्तिकव्रतिभिर्मासं तस्मात् पुण्यांशभागयम्॥
परिचर्याकरस्तेषां सम्पूर्णव्रतपुण्यभाक्।
अतोऽस्योर्जव्रतोद्भूतपुण्यसंख्या न विद्यते॥
कार्त्तिकव्रतिनां पुंसां पातकानि महान्त्यपि।
नाशयत्येव सर्वाणि विष्णुः सद्भक्तवत्सलः॥
अन्ते च नार्मदैस्तोयैस्तुलसीमिश्रितैस्त्वयम्।
वैष्णवैः स्नापितो विष्णोर्नामसंश्रावितोऽपि च॥
तस्मान्निहतपापोऽयं सद्गतिं प्राप्तुमर्हति।
वैष्णवानुग्रही यस्मान्नरके नैव पच्यते॥
आर्द्रैः शुष्कैर्यथापापैर्निरये भोगसंनिधिः।
प्राप्यते सुकृतैस्तद्वत् स्वर्गभोगस्य संनिधिः॥
तस्मादकामपुण्यो हि यक्षयोनिस्थितस्त्वसौ।
विलोक्य नरकान् सर्वान् पापभोगमवाप्नुयात्॥

(पद्मपुराण उत्तर० ११३। २९—३६)

जो पुरुष पुण्य-कर्म करनेवाले लोगोंका दर्शन, स्पर्श और उनके साथ वार्तालाप करता है, वह उनके पुण्यका छठा अंश प्राप्त कर लेता है। यह तो एक मासतक श्रीहरिके कार्तिक-व्रतका अनुष्ठान करनेवाले असंख्य मनुष्योंके सम्पर्कमें रहा है; अतः उन सबके पुण्यांशका भागी हुआ है। उनकी सेवा करनेके कारण इसे सम्पूर्ण व्रतका पुण्य प्राप्त हुआ है; अतः इसके कार्तिक-व्रतसे उत्पन्न होनेवाले पुण्योंकी कोई गिनती नहीं है। कार्तिक-व्रत करनेवाले पुरुषोंके बड़े-से-बड़े पातकोंका भी भक्त-वत्सल श्रीविष्णु पूर्णतया नाश कर डालते हैं। इतना ही नहीं, अन्तकालमें वैष्णव पुरुषोंने तुलसीमिश्रित नर्मदाके जलसे इसको नहलाया है और श्रीविष्णुके नामका भी श्रवण कराया है। इसलिये (तुलसी तथा भगवन्नामके प्रभावसे) इसके सारे पाप नष्ट हो गये हैं। अब धनेश्वर उत्तम गति प्राप्त करनेका अधिकारी हो गया

है। यह वैष्णव पुरुषोंका कृपापात्र है; अतः इसे नरकमें न पकाओ। इसको अनिच्छासे पुण्य प्राप्त हुआ है; इसलिये यह यक्षयोनिमें रहे और सम्पूर्ण नरकोंके दर्शनमात्रसे अपने पापोंका भोग पूरा कर ले।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिये! यों कहकर देवर्षि नारदजी चले गये। फिर यमराज अपने सेवकके द्वारा उस ब्राह्मणको सम्पूर्ण नरकोंका दर्शन करानेके लिये वहाँसे ले गये।

शालग्राम-शिलाके विभिन्न स्वरूपोंका परिचय तथा उसकी और गोमती-चक्रकी महिमा

एक समय भगवान् शिवने श्रीकृष्णसे पूछा—भगवन्! आप कहाँ वास करते हैं? आपका आधार एवं आश्रय क्या है? देव! आप कैसे प्रसन्न होते हैं? यह सब मुझे बताइये।

किस चिह्नवाली शालग्राम-शिला भगवान्के कौनसे नामकी है

श्रीकृष्ण उवाच

निवसामि सदा शम्भो शालग्रामोद्भवेऽश्मनि।
तत्रैव रथचक्राङ्के यानि नामानि मे शृणु॥
द्वारदेशे समे चक्रे दृश्येते नान्तरं यदि।
वासुदेवः स विज्ञेयः शुक्लश्चैवातिशोभनः॥
प्रद्युम्नः सूर्यवक्त्रस्तु नीलदीप्तिस्तथैव च।
सुषिरं छिद्रबहुलं दीर्घाकारं तु तद्भवेत्॥
अनिरुद्धस्तु पीताभो वर्त्तुलश्चातिशोभनः।
रेखात्रयाङ्कितो द्वारि दृष्टपद्मेन चिह्नवत्॥
श्यामो नारायणो देवो नाभिचक्रे तथोन्नते।
दीर्घरेखासमोपेतो दक्षिणे सुषिरान्वितः॥
ऊर्ध्वं मुखं च जानीयात् सुन्दरं हरिरूपिणम्।
कामदं मोक्षदं चैव अर्थदं च विशेषतः॥
परमेष्ठी च शुक्लाभः पद्मचक्रसमन्वितः।
बिम्बाकृतिस्तथा पृष्ठे सुषिरं चाति पुष्कलम्॥
कृष्णवर्णस्तथा विष्णुर्मूले चक्रे सुशोभने।
द्वारोपरि तथा रेखा लक्ष्यते मध्यदेशतः॥
कपिलो नरसिंहश्च पृथुचक्रः सुशोभितः।
ब्रह्मचर्येण पूज्योऽसावन्यथा विघ्नदो भवेत्॥
वाराहः शक्तिलिङ्गस्तु चक्रे च विषमे स्मृते।
इन्द्रनीलनिभः स्थूलस्त्रिरेखो नाभितः शुभः॥
दीर्घा काञ्चनवर्णा या बिन्दुत्रयविभूषिता।
मत्स्याख्या सा शिला ज्ञेया भुक्तिमुक्तिफलप्रदा॥
कूर्मस्तस्योन्नतः पृष्ठे वर्तुलश्चक्रपूरितः।
हरितं वर्णमाधत्ते कौस्तुभेन तु चिह्नितः॥

(पद्मपुराण उत्तर० १२०। ५२—६३)

तब भगवान् श्रीकृष्ण बोले—शम्भो! मैं सदा शालग्राम-शिलामें निवास करता हूँ। रथ-चक्रसे चिह्नित शालग्राम-शिलामें मेरे जो-जो नाम हैं, उनका वर्णन सुनो। शिलाके द्वार-देशमें यदि दो समान चक्र दिखायी देते हों और उनमें अन्तर न हो तो उसे 'वासुदेव विग्रह' समझना चाहिये। वह शुक्ल एवं अत्यन्त शोभायमान होता है। यदि मुखभागमें सूर्यका चिह्न हो और नीली कान्ति हो, तो उस शालग्राम-शिलाको 'प्रद्युम्न' मानना चाहिये। उसमें बहुत-से छिद्र रहते हैं तथा एक छिद्र बड़ा होता है। यदि शिलाकी कान्ति पीली और आकृति गोल हो तो वह अत्यन्त सुन्दर 'अनिरुद्ध'का विग्रह है। उसके द्वार-देशमें तीन रेखाएँ होती हैं तथा प्रत्यक्ष दीखनेवाले कमलका उसमें चिह्न रहता है। यदि शिलाकी प्रभा श्याम हो, उसके उन्नत नाभिमण्डलमें तीन समान दीर्घ रेखाएँ हों और दाहिने भागमें छिद्र प्रतीत होता हो तो वह 'नारायण'की प्रतिमा है। जिस शिलामें ऊपरकी ओर मुख हो, उसे सुन्दर 'हरि'-रूप समझना चाहिये। वह काम, मोक्ष और विशेषतः अर्थ प्रदान करनेवाली है। जिसकी कान्ति श्वेत हो, जिसमें कमल और चक्रके चिह्न हों, जिसकी आकृति बिम्ब-फलके समान हो और पृष्ठभागमें बहुत बड़ा छिद्र हो, उसे 'परमेष्ठी' समझना

चाहिये। जिसका वर्ण श्याम हो, मूल भागमें दो चक्र शोभा पाते हों और द्वारके ऊपर मध्यदेशसे आयी हुई रेखा लक्षित होती हो, वह भगवान् 'विष्णु'का विग्रह है। जिसमें स्थूल चक्रका चिह्न शोभा पाता हो, वह 'कपिल' एवं 'नरसिंह'का विग्रह है। उसकी ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक पूजा करनी चाहिये; अन्यथा वह विघ्नदायक होता है। जिसमें शक्तिका चिह्न हो, दो विषम चक्र हों, जिसकी कान्ति इन्द्रनीलमणिके समान हो तथा जिसकी नाभिमें तीन स्थूल रेखाएँ हों, उसे भगवान् 'वाराह'का स्वरूप समझे। जो शालग्राम-शिला लम्बी, सुनहली कान्तिसे सुशोभित और तीन बिन्दुओंसे विभूषित हो, उसका नाम 'मत्स्यावतार' है। वह भोग और मोक्षरूप फल देनेवाली है। जो शिला पृष्ठभागमें ऊँची, वर्तुलाकार, चक्रसे पूरित, कौस्तुभके चिह्नसे अलंकृत और हरे रंगवाली हो, उसे 'कूर्मावतार' का विग्रह समझना चाहिये।

हयग्रीवो हयाकारो रेखापञ्चकभूषितः।
बहुबिन्दुसमाकीर्णः पृष्ठे नीलं च रूपकम् ॥
वैकुण्ठमविभिन्नाङ्गं चक्रमेकं तथा ध्वजम्।
द्वारोपरि तथा रेखा गुञ्जाकारा सुशोभना ॥
श्रीधरस्तु तथा देवश्चिह्नितो वनमालया।
कदम्बकुसुमाकारो रेखापञ्चकभूषितः ॥
वर्तुलश्चापि ह्रस्वश्च वामनः परिकीर्तितः।
अतसीकुसुमप्रख्यो बिन्दुना परिशोभितः ॥
सुदर्शनस्ततो देवः श्यामवर्णो महाद्युतिः।
वामपार्श्वे गदाचक्रे रेखा चैव तु दक्षिणे ॥
दामोदरस्तथा स्थूलो मध्ये चक्रं प्रतिष्ठितम्।
दूर्वाभं द्वारिसंकीर्णं पीतरेखं तथैव च ॥
नानावर्णो ह्यनन्तस्तु नानाभोगेन चिह्नितः।
अनेकमूर्तिको भिन्नः सर्वकामफलप्रदः ॥
विदिक्षु दिक्षु सर्वासु यस्योर्ध्वं दृश्यते मुखम्।
पुरुषोत्तमः स विज्ञेयो भुक्तिमुक्तिफलप्रदः ॥
दृश्यते शिखरे लिङ्गं शालग्रामशिलोद्भवम्।
तस्य योगेश्वरो देवो ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥
आरक्तः पद्मनाभस्तु पङ्कजं वक्त्रसंयुतम्।
तस्याभ्यर्चनतो नित्यं दरिद्रस्त्वीश्वरो भवेत् ॥
चक्राङ्कितं हिरण्याङ्गं रश्मिजालं विनिर्दिशेत्।
सुवर्णरेखाबहुलं स्फटिकद्युतिशोभितम् ॥

(पद्मपुराण उत्तर० १२० । ६४—७४)

जो शालग्राम-शिला घोड़ेके समान आकारवाली, पाँच रेखाओंसे विभूषित, अनेक बिन्दुओंसे व्याप्त तथा पृष्ठभागमें नील कान्तिसे युक्त हो, उसे 'हयग्रीवावतार' समझे। जिसके अङ्गमें भेदन (चित्र आदि) न हो, एक चक्र और ध्वज शोभा पाते हों तथा द्वारके ऊपर गुञ्जाके आकारकी सुन्दर रेखा हो, उसे 'वैकुण्ठ' समझना चाहिये। जिसमें वनमालाका चिह्न हो, जिसकी आकृति कदम्ब-पुष्पके समान गोल हो तथा पाँच रेखाएँ जिसकी शोभा बढ़ाती हों, वह शिला भगवान् 'श्रीधर'का स्वरूप है। जिसकी कान्ति तीसीके फूलकी भाँति श्यामोज्ज्वल हो, एक बिन्दु जिसकी शोभा बढ़ाता हो तथा जो गोलाकार और छोटा हो, उसे भगवान् 'वामन'का विग्रह बताया गया है। जिस शिलाका वर्ण श्याम हो, जिससे अत्यन्त दीप्ति प्रकट हो रही हो तथा जिसके वाम पार्श्वमें गदा और चक्रके चिह्न हों एवं दक्षिणभागमें रेखा शोभा पाती हो, वह 'सुदर्शन' देवका स्वरूप है। 'दामोदर'का स्वरूप स्थूल है। उसके मध्यभागमें दूर्वादलके समान श्याम चक्र प्रतिष्ठित है। वह चक्र द्वारतक फैला हुआ है तथा उसमें पीतवर्णकी रेखा सुशोभित है। भगवान् 'अनन्त'के अनेक वर्ण हैं। वे अनेक फलोंसे चिह्नित हैं। उनकी पृथक्-पृथक् अनेक मूर्तियाँ हैं तथा वे सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फलोंके दाता हैं। जिस शालग्रामशिलामें सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर ऊर्ध्वमुख दृष्टिगोचर होता हो, उसे 'पुरुषोत्तम'का स्वरूप समझना चाहिये। भगवान् 'पुरुषोत्तम' भोग और

मोक्षरूप फल प्रदान करनेवाले हैं। जिसके शिखाभागमें शालग्राम-शिला-सम्भूत लिङ्ग दृष्टिगोचर होता हो, उसे 'योगेश्वर-देव'का स्वरूप समझना चाहिये। भगवान् योगेश्वर ब्रह्महत्याका दोष दूर कर देते हैं। 'पद्मनाभ'का वर्ण कुछ-कुछ लाल होता है। उनके मुखसे सटा हुआ पङ्कज (कमल) का चिह्न होता है। पद्मनाभके नित्य पूजनेसे दरिद्र भी ईश्वर (ऐश्वर्यशाली) हो जाता है। जो चक्रसे चिह्नित, किरण-जालसे युक्त, बहुत-सी सुवर्ण-रेखाओंसे सुशोभित तथा स्फटिककी-सी कान्तिसे प्रकाशित है, उसे 'हिरण्याङ्ग' कहना चाहिये ?

कैसी शिला कैसा फल देती है ?

अतिस्निग्धा सिद्धिकरी कृष्णा कीर्तिं ददाति च।
पाण्डुरा पापदहनी पीता पुत्रफलप्रदा॥
नीला प्रयच्छते लक्ष्मीं रक्ता रोगप्रदायिनी।
रूक्षा उद्वेगजननी वक्रा दारिद्र्यभागिनी॥

(पद्मपुराण उत्तर० १२०। ७५-७६)

जो शालग्राम-शिला अत्यन्त चिकनी हो, वह सिद्धि प्रदान करनेवाली होती है। काले रंगकी शिला कीर्तिदायिनी होती है। पाण्डुर वर्णवाली शिला पाप-दाहिनी और पीत वर्णवाली शिला पुत्ररूप फल प्रदान करनेवाली होती है। नीले रंगकी शिला लक्ष्मी प्रदान करती है। लाल रंगवाली शालग्राम-शिला रोग-दायिनी होती है। रूखे वर्णवाली उद्वेगजनक तथा टेढ़ी-मेढ़ी शिला दरिद्रता देनेवाली होती है।

चक्रोंकी संख्याके अनुसार नाम तथा शालग्राम-शिलाका माहात्म्य

एकं सुदर्शनं ज्ञेयं लक्ष्मीनारायणं द्वयम्।
तृतीयं चाच्युतं विद्याच्चतुर्थं तु जनार्दनम्॥
पञ्चमं वासुदेवं च षष्ठं प्रद्युम्नमेव च।
संकर्षणं सप्तमं च अष्टमं पुरुषोत्तमम्॥
नवमं च नवव्यूहं दशमं तु तदात्मकम्।
एकादशं चानिरुद्धं द्वादशं द्वादशात्मकम्॥
अत ऊर्ध्वं तु चक्राणि दृश्यन्तेऽनन्तसंज्ञके।
खण्डिते त्रुटिते भग्ने शालग्रामे न दोपभाक्॥
इष्टा च यस्य या मूर्तिः स तां यत्नेन पूजयेत्।
स्कन्धे कृत्वा तु योऽध्वानं वहते शैलनायकम्॥
तस्य वश्यं भवेत् सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्।
शालग्रामशिला यत्र तत्र संनिहितो हरिः॥
तत्र दानं जपः स्नानं वाराणस्याः शताधिकम्।

(पद्मपुराण उत्तर० १२०। ७७—८२½)

जिस शालग्राम-शिलामें एक चक्रका चिह्न हो, उसे 'सुदर्शन' जानना चाहिये। दो चक्रका चिह्न हो तो 'लक्ष्मी-नारायण', तीसरा चक्र और हो तो 'अच्युत' तथा चौथा चक्र हो तो उसे 'जनार्दन' समझे। पाँचवाँ चक्र 'वासुदेव', छठा चक्र 'प्रद्युम्न', सातवाँ चक्र 'संकर्षण' और आठवाँ चक्र पुरुषोत्तमका स्वरूप है। नवाँ चक्र 'नव-व्यूह', दसवाँ चक्र 'दशात्मा', ग्यारहवाँ चक्र 'अनिरुद्ध' और बारहवाँ 'द्वादशात्मा'का प्रतीक है। इससे अधिक चक्र केवल 'अनन्त' संज्ञक शालग्राम-शिलामें देखे जाते हैं। शालग्राम-शिला खण्डित हो, टूटी-फूटी हो तो भी उसके सेवनसे दोषकी प्राप्ति नहीं होती है। जिस साधकके लिये जो मूर्ति इष्ट हो, वह उसीका यत्नपूर्वक पूजन करे। जो शालग्राम-शिलाको कंधेपर रखकर रास्ता चलता है, चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकी उसके वशमें हो जाती है। जहाँ शालग्राम-शिला विद्यमान हो, वहाँ साक्षात् श्रीहरि विद्यमान होते हैं। वहाँ किया हुआ दान, जप और स्नान काशीकी अपेक्षा सौ गुना अधिक फल देनेवाले हैं।

ब्रह्मचारिगृहस्थैश्च वानप्रस्थैश्च भिक्षुभिः॥
भोक्तव्यं विष्णुनैवेद्यं नात्र कार्या विचारणा।
तत्पूजने न मन्त्राश्च न जपो न च भावना॥
न स्तुतिर्नापि चाचारः शालग्रामशिलार्चने।

शालग्रामशिलाग्रे तु कृत्वा स्वस्तिकमादरात् ॥
कार्तिके तु विशेषेण पुनात्यासप्तमं कुलम् ।
अणुमात्रं तु यः कुर्यान्मण्डलं केशवाग्रतः ॥
मृदा धातुविकारैश्च कल्पकोटिं वसेद्दिवि ।
ये तु संवत्सरं पूर्णमग्निहोत्रमुपासते ॥
कार्तिके स्वस्तिकं कृत्वा सममेतन्न संशयः ।

(पद्मपुराण उत्तर० १२० । ८६—९०½)

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—सबको भगवान् शालग्रामके नैवेद्यका भक्षण करना चाहिये । इस विषयमें किसी प्रकारके सोच-विचारकी आवश्यकता नहीं है। शालग्रामशिलाके पूजनमें मन्त्र, जप, भावना, स्तुति अथवा विशेष प्रकारके आचारका बन्धन नहीं है । शालग्राम-शिलाके सम्मुख, विशेषतः कार्तिक मासमें आदरपूर्वक स्वस्तिकका चिह्न बनाकर मनुष्य अपनी सात पीढ़ियोंको पवित्र कर देता है । जो भगवान् केशवके समक्ष मिट्टी अथवा गेरू आदिसे छोटा-सा भी मण्डल (चौक) बनाता है, वह कोटि कल्पोंतक दिव्यलोकमें निवास करता है । जो लोग पूरे एक वर्षतक अग्निहोत्रकी उपासना करते हैं तथा जो कार्तिक मासमें भगवान्के समक्ष स्वस्तिकका निर्माण करता है, इन दोनोंको समान पुण्यफलकी प्राप्ति होती है, इसमें संशय नहीं है ।

[गरुडपुराण]

गरुडपुराणमें भगवान् श्रीकृष्णके विविध उपदेश

एक बार हरिवाहन श्रीगरुडजीको लोकावलोकन (विभिन्न लोकोंको देखने) की इच्छा हुई । फिर क्या था, वे हरिनामका मधुर संकीर्तन करते हुए सभी लोकोंमें घूमने लगे । वे पाताल, भूतल, स्वर्गादि सभी लोकोंमें घूम गये; पर उन्हें कहीं भी शान्ति नहीं दिखी । लोगोंको सर्वत्र अशान्त तथा दुखी देखकर वे वापस लौट आये । भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें वापस आया देखकर उनकी यात्राका वृत्तान्त पूछा । इसपर गरुडजीने सबका संक्षेपमें परिचय दिया और भारतवर्षकी विशेष महिमा बतलायी । किंतु यहाँके लघुजीवनकी आलोचना की और अल्पकालमें प्राणीका कल्याण किस प्रकार हो सकता है तथा उसके अन्तसमयमें उसे तथा दूसरोंको क्या करना चाहिये, इस सम्बन्धमें विशेष जिज्ञासा की ।

उनके इन्हीं प्रश्न-प्रतिप्रश्नोंके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्ण-ने उनसे इस धर्मखण्ड या गरुडपुराणके उत्तरखण्डको जो कुछ कहा, उसीमेंसे कुछ चुने हुए महत्त्वपूर्ण वचन यहाँ दिये जा रहे हैं ।

तृष्णा-त्यागमें ही कल्याण है

श्रीभगवानुवाच

इच्छति शती सहस्रं सहस्री लक्षमीहते ।
कर्तुं लक्षाधिपती राज्यं राज्येऽपि सकलचक्रवर्तित्वम् ॥
चक्रधरोऽपि सुरत्वं सुरत्वलाभे सकलसुरपतित्वम् ।
भवितुं सुरपतिरूर्ध्वगतित्वं तथापि न निवर्तते तृष्णा ॥

(गरुडपुराण उत्तर० २ । १४-१५)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—तृष्णाकी बात ही निराली है । शताधिपति सहस्राधिपति बनना चाहता है और सहस्राधीश लक्षाधीश । लक्षाधीशको राज्यकी कामना होती है और राज्य मिल जानेपर उसे सम्पूर्ण विश्वके चक्रवर्ती साम्राज्यकी अभिलाषा उदय होती है । चक्रवर्ती सम्राट् हो जानेपर वह देवता बनना चाहता है और देवत्व लाभ होनेपर इन्द्र । इन्द्र बन जानेपर भी उसे श्रेष्ठ पदोंकी लालसा बनी ही रहती है । कहाँतक कहा जाय, यह तृष्णा कभी निवृत्त नहीं होती । वास्तवमें जो इस तृष्णासे मुक्त हैं, वे ही सच्चे मुक्त हैं ।

धर्म ही मनुष्यके सदा साथ रहता है

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥*
(गरुडपुराण उत्तर० २ । २२-२३)

जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है एवं वह अपने पाप-पुण्य भी अकेला ही भोगता है । उसके मृत शरीरको मिट्टी-काष्ठके समान छोड़कर उसके सभी बान्धव वापस लौट आते हैं, केवल धर्म ही उसके साथ जाता है ।

श्रद्धाकी महिमा

धनेन धार्यते धर्मः श्रद्धायुक्तेन चेतसा ।
श्रद्धाविहीनो धर्मस्तु नेहामुत्र च वृद्धिभाक् ॥
धर्मात् संजायते ह्यर्थो धर्मात् कामोऽभिजायते ।
धर्म एवापवर्गाय तस्माद्धर्मं समाचरेत् ॥
श्रद्धया धार्यते धर्मो बहुभिर्नार्थराशिभिः ।
अकिंचना हि मुनयः श्रद्धावन्तो दिवंगताः ॥
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पक्षिन् प्रेत्य नेह न तत्फलम् ॥
(गरुडपुराण उत्तर० २ । २९—३२)

गरुड़ ! अत्यन्त श्रद्धायुक्त चित्तसे उपयोग करनेपर ही धनद्वारा धर्मकी प्राप्ति होती है । बिना श्रद्धाके किया गया धर्म इस लोक या परलोकमें कहीं भी फलीभूत नहीं होता । धर्मसे ही अर्थ एवं सुख-भोग प्राप्त होता है तथा धर्म ही मोक्षका कारण है अतः धर्मका आचरण करना चाहिये । श्रद्धासे ही धर्म धारण किया जा सकता है, बहुत-सी धन-राशिसे नहीं । जिनके पास कुछ न था— ऐसे ऋषि-गण भी श्रद्धा-सम्पन्न होनेके कारण स्वर्ग गये । बिना श्रद्धासे किये गये हवन, दान, तप तथा अन्य भी सभी कर्म असत् कहे जाते हैं । और गरुड़ ! उनका फल न यहाँ मिलता है, न परलोकमें ।

* ये श्लोक मनु० ४ । २४०-२४१; महा० अनु० १११ । ११, ब्रह्मपुराण २१७ । ४-५ आदि कई स्थलोंपर भी आते हैं ।

शरीर स्वस्थ रहते ही धर्माचरण कर लेना चाहिये

यावत् स्वास्थ्यं शरीरस्य तावद्धर्मं समाचरेत् ।
अस्वस्थः प्रेरितश्चान्यैर्न किंचित् कर्तुमुत्सहेत् ॥
यावत् स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत् क्षयो नायुषः ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
संदीप्ते भवने हि कूपखनने प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥
(गरुडपुराण उत्तर० ३ । १५,१८)

मनुष्यको चाहिये कि जबतक उसका शरीर स्वस्थ है, तभीतक धर्मका अनुष्ठान कर ले । अस्वस्थ हो जानेपर दूसरोंद्वारा प्रेरित किये जानेपर भी कुछ करनेका उत्साह नहीं होता । अतः जबतक शरीर स्वस्थ तथा नीरोग है, जबतक जरा—वृद्धावस्था दूर है, जबतक इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण नहीं हुई और जबतक आयु अवशेष है, तभीतक विद्वान् पुरुषको आत्मकल्याण, भगवत्प्राप्तिके लिये भारी प्रयत्न कर अपना काम बना लेना चाहिये, अन्यथा घरमें आग लग जानेपर—पूरे भवनके प्रज्वलित हो उठनेपर उसके बुझानेके लिये कुआँ खोदनेके प्रयत्नसे क्या लाभ ?

दान-धर्मकी महिमा

तस्मात् सर्वं प्रकुर्वीत चञ्चले जीविते सति ।
गृहीतदानपाथेयः सुखं याति महाध्वनि ॥
(गरुडपुराण उत्तर० ४ । ११)

जीवन क्षणभङ्गुर है । अतएव बड़ी सावधानीसे इन सत्-क्रियाओंका अनुष्ठान कर लेना चाहिये । दानरूपी पाथेयके सहारे प्राणी परलोकके महामार्गको सुखपूर्वक पार कर जाता है; अन्यथा पाथेयरहित व्यक्ति मार्गमें बड़ा क्लेश पाता है ।

भगवान्‌को प्रणाम करनेवालेको भय नहीं होता

अतसीपुष्पसंकाशं पीतवाससमच्युतम् ।
ये नमस्यन्ति गोविन्दं न तेषां विद्यते भयम् ॥
(गरुडपुराण उत्तर० ४ । ५१*)

* यह श्लोक महाभा० शान्तिपर्व० ४७ । ९० में भी है ।

अतसी (तीसी-) के पुष्पके समान कान्तिवाले, पीताम्बरधारी, गौओंके स्वामी भगवान् अच्युतको जो प्रणाम करते हैं, उन्हें कोई भी भय नहीं होता ।

देहकी अन्तिम शोचनीय अवस्थाएँ

त्रिधावस्थास्य देहस्य कृमिविड्भस्मरूपतः ।
को गर्वः क्रियते तार्क्ष्य क्षणविध्वंसिभिर्नरैः ॥

(गरुडपुराण उत्तर० ५ । २४)

गरुडजी इस शरीरकी बस, तीन प्रकारकी ही अवस्थाएँ हैं—कृमि, विष्ठा और भस्म । पृथ्वीमें गाड़ दिये जानेपर इसमें कीड़े पड़ जाते हैं, यह कृमिरूप हो जाता है । बाहर या जलमें फेंके जानेपर मगर, घड़ियाल, कौए, कुत्ते, सियार, गीध आदि जीव इसे खाकर विष्ठा कर डालते हैं तथा आगमें जला डालनेपर यह भस्म हो जाता है । ऐसे क्षणभङ्गुर शरीरपर मनुष्यके गर्वका क्या अर्थ है ?

× × ×

पापी प्राणीका पश्चात्ताप

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।
पुराकृतं कर्म सदैव भुज्यते
देहिन् क्वचिन्निस्तर यत्त्वया कृतम् ॥
मया न दत्तं न हुतं हुताशने
तपो न तप्तं हिमशैलगह्वरे ।
न सेवितं गाङ्गमहो महाजलं
देहिन् क्वचिन्निस्तर यत्त्वया कृतम् ॥
जलाशयो नैव कृतो हि निर्जले
मनुष्यहेतोः पशुपक्षिहेतवे ।
गोतृप्तिहेतोर्न कृतं हि गोचरं
देहिन् क्वचिन्निस्तर यत्त्वया कृतम् ॥
न नित्यदानं न गवाह्निकं कृतं
न वेददानं न च शास्त्रपुस्तकम् ।
पुरा न इष्टो न च सेवितोऽध्वा
देहिन् क्वचिन्निस्तर यत्त्वया कृतम् ॥
मया न भुङ्क्ते पतिसंगसौख्यं
वह्निप्रवेशो न कृतो मृते सति ।
तस्मिन्मृते तद् व्रतपालनं वा
देहिन् क्वचिन्निस्तर यत्त्वया कृतम् ॥
मासोपवासैर्न विशोषितं वपु-
श्चान्द्रायणैर्वा नियमैश्च संहतैः ।
नारीशरीरं बहुदुःखभाजनं
लब्धं मया पूर्वकृतैर्विकर्मभिः ॥

(गरुडपुराण उत्तर० ५ । ८५—९०)

(जीव अपने-आपसे कहता है—) ओ जीव ! सुख-दुःखका दाता वस्तुतः कोई नहीं है । दूसरा कोई सुख-दुःख देता है, यह समझना तो मूर्खतामात्र है । बस, अपने पूर्वके कर्मोंका फल ही सदा भोगना पड़ता है । अब तो तू अपने किये हुए कर्मोंको किसी प्रकार भोगकर निस्तार पा । अरे ! मैंने न तो कुछ दान किया, न कुछ अग्निमें हवन ही किया और न हिमालय पर्वतकी कन्दरामें तपस्या ही की । अहो ! मैंने गङ्गाजीके श्रेष्ठ जलका भी पान नहीं किया । अब तो जीव ! तू अपने कियेको भोग । किसी निर्जल स्थानमें मैंने कोई जलाशय नहीं बनाया, जिससे मनुष्य तथा पशु-पक्षियोंका हित होता । अरे, मैंने गौओंकी तृप्तिके लिये गोचरभूमि भी नहीं छोड़ी । रे जीव ! अब तू अपना किया भोग । न मैंने नित्य दान किया, न प्रतिदिन गोसेवा की, न वेद-दान किया, न दूसरे शास्त्रीय ग्रन्थोंका ही दान किया । पहले मैंने न कोई यज्ञ-याग किये और न कोई बाग-बगीचा लगाया और न तो कोई तीर्थयात्रा ही की । अब तो बस, जीव ! तू अपना किया भोग । (यदि मृतात्मा स्त्री है तो वह इस तरह पश्चात्ताप करती है) न तो मैंने पातिव्रत्यका पालन किया और न पतिके मर जानेपर उसके साथ

अग्निप्रवेश ही किया। यहाँतक कि पतिके मर जानेके बाद वैधव्य व्रतका पालन भी नहीं किया। रे जीव ! तू किये कर्मको स्वयं भोग। मैंने मासोपवास आदि व्रतोंद्वारा अपने शरीरको सुखाकर शुद्ध नहीं किया अथवा चान्द्रायण आदि कठिन व्रत-नियम भी नहीं पाले। इन्हीं कारणोंसे पूर्वजन्मोंके किये कुकर्मोंके फलस्वरूप बहुत दुःखभाक् (बहुत दुःखोंका भागी) यह स्त्री-शरीर मुझे मिला है।

धर्मात्मा व्यक्तिकी देवता भी पूजा करते हैं

स्वधर्मनिरतो यस्तु हरिभक्तिरतस्सदा।
विरक्त इन्द्रियार्थेभ्यः स मे पूज्यो न संशयः॥
तीर्थयात्रापरो नित्यं वृषोत्सर्गविशेषवित्।
सत्यदानपरो यस्तु स नमस्यो दिवौकसाम्॥

(गरुडपुराण [वेंकटेश्वर सं०] उत्तर० ७ । ४६-४७)

जो स्वधर्मकर्ममें निरत तथा भगवद्भक्तिमें लीन हैं, इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त हैं, वे हमारे भी पूज्य हैं; इसमें संदेह नहीं है। जो सदा तीर्थयात्रापरायण, वृषोत्सर्ग आदि विशिष्ट क्रियाओंके सम्पादन, सत्य-भाषण तथा दानादिमें लीन हैं, वे देवताओंके लिये भी नमस्कार्य है।

प्रमादसे मानव-जीवनरूप अमृतका गिर जाना

जातीशतेन लभते किल मानुषत्वं
तत्रापि दुर्लभतरं खग भो द्विजत्वम्।
यस्तन्न पालयति लालयतीन्द्रियाणि
तस्यामृतं क्षरति हस्तगतं प्रमादात्॥

(गरुडपुराण उत्तर० ९ । २२)

गरुड़ ! सैकड़ों योनियोंके बाद तो कहीं मनुष्य-शरीर मिलता है। उसमें भी द्विजका शरीर तो और भी दुर्लभ है। उसे भी प्राप्तकर जो इस शरीरका पालन न कर (इसे मेरी सेवामें न लगाकर) केवल इन्द्रियोंका सेवन करता है, उसके हाथसे तो मानो प्रमाद (लापरवाही-) के कारण अमृत गिरा जा रहा है।

माता-पिताके समान कोई देवता नहीं

पितृमातृसमं लोके नास्त्यन्यद् दैवतं परम्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन पूजयेत् पितरौ सदा॥
हितानामुपदेष्टा हि प्रत्यक्षं दैवतं पिता।
अन्या या देवता लोके न देहप्रभवा हि ताः॥
शरीरमेव जन्तूनां स्वर्गमोक्षैकसाधनम्।
शरीरं सम्पदो दाराः सुता लोकसनातनाः॥
यस्य प्रसादात् प्राप्यन्ते कोऽन्यः पूज्यतमस्ततः॥

(गरुडपुराण उत्तर० ११ । ३४—३७)

वस्तुतः माता-पिताके समान इस संसारमें कोई श्रेष्ठ देवता नहीं है। अतएव सभी प्रकारसे उनकी पूजा करनी चाहिये। पिता हितका उपदेश करनेवाला प्रत्यक्ष देवता है। संसारमें जो दूसरे देवी-देवता हैं, वे शरीरके प्रदान करनेवाले नहीं हैं। शरीर ही जीवके स्वर्ग तथा मोक्षका एकमात्र साधन है। जिनकी कृपासे शरीर, धन, स्त्री, पुत्र और सनातन लोक—सभी मिले हैं, उनसे बढ़कर पूज्यतम भला और कौन हो सकता है !

आत्मकल्याणमें विलम्ब नहीं करना चाहिये

चतुरशीतिलक्षेषु शरीरेषु शरीरिणाम्।
न मानुषं विनान्यत्र तत्त्वज्ञानं तु लभ्यते॥
अत्र जन्मसहस्राणां सहस्रैरपि कोटिभिः।
कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसंचयात्॥
सोपानभूतं मोक्षस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम्।
यस्तारयति नात्मानं तस्मात् पापतरोऽत्र कः॥
नरः प्राप्येतरज्जन्म लब्ध्वा चेन्द्रियसौष्ठवम्।
न वेत्त्यात्महितं यस्तु स भवेद्ब्रह्मघातकः॥
विना देहेन कस्यापि पुरुषार्थो न विद्यते।
रक्षणे यत्नमातिष्ठेज्जीवन् भद्राणि पश्यति॥
पुनर्ग्रामः पुनः क्षेत्रं पुनर्वित्तं पुनर्गृहम्।

पुनः शुभाशुभं कर्म न शरीरं पुनः पुनः ॥
तद् गोपितं स्याद्धर्मार्थं धर्मो ज्ञानार्थमेव च ।
ज्ञानं तु ध्यानयोगार्थमचिरात् प्रविमुच्यते ॥
आत्मैव यदि नात्मानमहितेभ्यो निवारयेत् ।
कोऽन्यो हितकरस्तस्मादात्मानं सुखयिष्यति ॥
इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः ।
गत्वा निरौषधं देशं व्याधिस्थः किं करिष्यति ॥
व्याघ्रीवास्ते जरा चायुर्याति भिन्नघटाम्बुवत् ।
निघ्नन्ति रिपुवद् रोगास्तस्माच्छ्रेयः समभ्यसेत् ॥
सम्पदः स्वप्नसंकाशाः यौवनं कुसुमोपमम् ।
तडिच्चपलमायुष्यं कस्य स्याज्ज्ञानतो धृतिः ॥
(गरुडपुराण [वेंक० सं०] उत्तर० ४९।१३–१९, २१–२४, २९)

चौरासी लाख शरीरोंमें मनुष्य-शरीर ही तत्त्वज्ञानका आश्रय है । इसे छोड़कर अन्य योनियोंमें तत्त्वज्ञान नहीं होता । हजारों तथा करोड़ों जन्मोंके बाद कभी भारतवर्षमें एक बार मनुष्य-जन्म मिलता है । मोक्षके सोपानभूत इस दुर्लभ मनुष्य-शरीरको पाकर भी जो अपना उद्धार नहीं करता, भला, उससे बढ़कर प्रमादी तथा पापी और कौन हो सकता है ? ऐसे दुर्लभ अवसरको प्राप्त कर जो आत्महितकी साधना नहीं करता, वह एक प्रकारका ब्रह्महत्यारा ही है । धर्मरक्षा तथा धर्माचरणके लिये मनुष्यको अपने शरीरकी भी रक्षा करनी चाहिये । बहुत दिन जीवन धारण करनेवाला प्राणी कभी-न-कभी कल्याणका सुअवसर प्राप्त ही कर लेता है । गाँव, घर, धन तथा खेती-बारी एवं शुभाशुभ कर्म तो बार-बार होते जाते रहते हैं; किंतु यह दुर्लभ मनुष्य-शरीर बार-बार नहीं मिलता । इस शरीरका एकमात्र वास्तविक लाभ धर्माचरणमें और धर्मका उपयोग भी ज्ञान-प्राप्तिमें है और यदि ज्ञान-ध्यान-योगादिकी ओर प्रवृत्ति हो सके, तो मनुष्य शीघ्र ही मुक्त हो जाता है । यह आत्मा यदि स्वयं ही अपने हितका सम्पादन नहीं करता, तो दूसरा इसका हित कौन करेगा ? जो मनुष्य यहीं नरक-जैसी व्याधिकी चिकित्सा नहीं कर लेता, वह फिर निरौषध देशमें जाकर क्या करेगा ? बुढ़ापा बाघिनकी तरह है । आयु फूटे घड़ेसे जल निकलनेकी तरह चली जा रही है । रोग शत्रुकी तरह प्रहार कर रहे हैं। अतः आत्मकल्याण करनेमें विलम्ब नहीं करना चाहिये। सम्पदाएँ स्वप्नके समान हैं, युवावस्था पुष्पकी तरह शीघ्र मुरझानेवाली है और आयु बिजलीकी तरह चमककर लुप्त होनेवाली है; यह जानकर कौन धीरज धारणकर स्थिर बैठा रह सकता है ?

असमय मृत्युके कारण

विधातृविहितो मृत्युः शीघ्रमादाय गच्छति ॥
मनुष्यः शतजीवी च पुरा वेदेन भाषितम् ।
विकर्मणः प्रभावेण शीघ्रं चापि विनश्यति ॥
वेदानभ्यसते नैव कुलाचारं न सेवते ।
आलस्यात् कर्मणां त्यागं कुरुते पापमाचरन् ॥
यत्र तत्र गृहेऽश्नाति परक्षेत्ररतो यदि ।
एतैरन्यैश्च बहुशो जायते ह्यायुषः क्षयः ॥
अश्रद्दधानमशुचिमजपं त्यक्तमङ्गलम् ।
तं नयति सुरासक्तं ब्राह्मणं यमशासनम् ॥
अरक्षितारं राजानं नित्यं धर्मविवर्जितम् ।
क्रूरं व्यसनिनं मूर्खं वेदवादबहिष्कृतम् ॥
प्रजापीडनकं पापं राजानं यमशासनम् ।
प्रापयन्त्यपमृत्युं वै युद्धे चैव पराङ्मुखम् ॥
स्वकर्माणि परित्यज्य निषिद्धं वैश्य आचरेत् ।
परकर्मरतो नित्यं यमलोकं स गच्छति ॥
शूद्रः करोति यत् किंचिद् यमेनालोक्यते सदा ।
(गरुडपुराण उत्तर० १३ । ४—११½)

गरुडजी ! विधातासे विहित मृत्यु प्राणीको तत्काल पकड़ ले जाती है । वेदने मनुष्यको शतायु कहा है; तथापि कुकर्मोंके प्रभावसे वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । वेदोंके अभ्यास न करनेसे, अपने कुलके आचारका

परित्याग कर देनेसे, आलस्यसे, सत्कर्मोंके परित्याग तथा असत्कर्मोंके आचरणसे मनुष्यकी असमयमें मृत्यु होती है। जो जिस किसीके घर खा लेता है, परस्त्रीमें आसक्त रहता है, उसकी इन महादोषोंसे आयुका नाश हो जाता है। अश्रद्धालु, शौचहीन (अपवित्र), नास्तिक, मङ्गलरहित, परद्रोहपरायण, असत्यवादी तथा मद्यपायी ब्राह्मणको यमराजकी आज्ञासे मृत्यु शीघ्र ही पकड़ ले जाती है। प्रजाकी रक्षा न करनेवाले राजाको,—जो धर्मसे सदा दूर रहता है, ऐसे क्रूर व्यसनी, मूर्ख, वेद-वादरहित, प्रजापीड़क राजाको भी मृत्यु यमराजकी आज्ञासे तत्काल पकड़ ले जाती है। युद्धमें पीठ दिखानेवाले राजाको भी मृत्यु शीघ्र ही यमपुर ले जाती है। जो वैश्य अपने कर्मोंको छोड़कर सदा परधर्ममें आसक्त होता है, वह अकालमें ही यमपुरीको प्राप्त होता है। शूद्र भी ब्राह्मणकी सेवाके अतिरिक्त जो कुछ करता है, उसे यमराज सदा देखते रहते हैं। वह किस क्षण काल-कवलित हो जायगा, कहा नहीं जा सकता।

धर्महीन दिन व्यर्थ जाता है

स्नानं दानं जपो होमः स्वाध्यायो देवतार्चनम् ॥
यस्मिन् दिने न सेव्यन्ते स वृथा दिवसो नृणाम् ।
यत् प्रातः संस्कृतं सायं नूनमन्नं विनश्यति ॥
तदीयरससम्पुष्टे काये का नाम नित्यता ।

(गरुडपुराण उत्तर० १३ । १३-१५)

जिस दिन स्नान, दान, होम, स्वाध्याय (वेद-पुराण-पाठ, स्तोत्र-मन्त्र-जप), देवपूजन—ये सब कर्म नहीं होते, मनुष्यका वह दिन व्यर्थ है। [इस अनित्य, अनिश्चित, निराधार तथा रससे बने अन्न-पिण्डमय शरीरके गुणोंको मैं बतलाता हूँ।] जो प्रातःकाल अन्न तैयार होता है, वह संध्यातक नष्ट हो जाता है। फिर उसीके रससे पुष्ट इस शरीरकी नित्यता कैसी ?

धर्मका श्रेष्ठ फल

भोज्ये भोजनशक्तिश्च रतिशक्तिर्वरस्त्रियः ।
विभवे दानशक्तिश्च नाल्पस्य तपसः फलम् ॥
दानाद् भोगमवाप्नोति सौख्यं तीर्थस्य सेवनात् ।
सुभाषणान्मृतो यस्तु स विद्वान् धर्मवित्तमः ॥
अदत्तदानाच्च भवेद्दरिद्री
दरिद्रभावाच्च करोति पापम् ।
पापप्रभावान्नरकं प्रयाति
पुनर्दरिद्रः पुनरेव पापी ॥

(गरुडपुराण उत्तर० १४ । १७-१९)

भोजन आदि भोग पदार्थोंके रहते हुए उनके भोजनकी शक्ति, रतिशक्ति तथा श्रेष्ठ स्त्रियाँ और ऐश्वर्य होनेपर दानकी शक्ति, उत्साह—ये सब अल्प नहीं—भारी तपस्याके फल हैं। दानसे भोगोंकी प्राप्ति होती है, तीर्थ-सेवनसे सुख होता है तथा मधुर-भाषी व्यक्ति जन्मान्तरमें विद्वान् एवं धर्मके रहस्यको जाननेवाला होता है। जो दान नहीं देता, वह दरिद्र होता है और दरिद्र होकर उसे विवश होकर पाप करना पड़ता है। पापोंके प्रभावसे वह नरकमें जाता है और नरकसे निकलनेपर फिर दरिद्र तथा पापी ही होता है। इस तरह वह भारी कुचक्रमें फँस जाता है।

पतिव्रताको सती होनेमें अग्निदेवता कोई क्लेश नहीं पहुँचाते, वह पतिको प्राप्त होती है

नारी भर्तारमासाद्य कुणपं दहते यदि ।
अग्निर्दहति गात्राणि ह्यात्मानं नैव पीडयेत् ॥
दह्यते धम्यमानानां धातूनां हि यथा मलम् ।
तथा नारी दहेद्देहं हुताशे ह्यमृतोपमे ॥
दिव्यादौ दिव्यदेहस्तु शुद्धो भवति पूरुषः ।
तप्ततैलेन लौहेन वह्निना नावदह्यते ॥
तथा सा पतिसंयुक्ता दह्यते न कदाचन ।
अन्तरात्मामृतस्तस्मिन्मृतेऽप्येकत्वमागतः ॥

× × ×

नारी सुतान्(लक्ष्मीयुतान्)परित्यज्य मातरं पितरं तथा।
मृतं पतिमनुव्रज्य सा चिरं सुखमेधते ॥
दिव्यवर्षप्रमाणेन तिस्रः कोट्योऽर्द्धकोटयः।
तावत् काले वसेत् स्वर्गे नक्षत्रैः सह सर्वदा ॥
तदन्ते चरते लोके कुले भवति योगिनाम्।
महाप्रीतिमवाप्नोति भर्त्रा सह पतिव्रता ॥

(गरुडपुराण उत्तर० १६। ४८–५१, ५३—५५)

पतिव्रता स्त्री यदि अपने पतिके साथ अपने शरीर-को जला डालती है, तो धर्मके प्रभावसे अग्नि यद्यपि उसके शरीरको जलाता हुआ-सा दीखता है, तथापि उसे कोई पीड़ा नहीं होती। (उसके लिये वह आग अमृतके समान सुखद तथा शीतल हो जाती है।) जिस प्रकार धातुको अग्निमें डाल देनेसे केवल उसका मल जल जाता है, उसी प्रकार पतिव्रता स्त्री अमृततुल्य अग्निमें अपने शरीरका ही दाह करती है। दिव्य घट, लौह, अग्नि, तैल आदिसे शपथोंके अवसरपर भी शुद्ध पुरुष जैसे तप्त तैल, तप्ताग्नि अथवा तपाये हुए लोहेके गोलोंसे नहीं जलता, ठीक उसी प्रकार सती स्त्री भी पतिके व्रतसे संयुक्त होनेके कारण तनिक भी जलनेका क्लेश नहीं पाती। अन्तरात्मा तो सदा अमर ही है। अतः बहिःशरीरके नाश हो जानेपर भी स्त्रीकी आत्माका तो उसके पतिकी आत्मासे सम्मिलन ही हो जाता है।

× × ×

जो स्त्री अपने धनादिसे सम्पन्न पुत्र, माता-पिता आदि सबके तथा समस्त सुखोंके मोहका परित्याग कर मृत पतिके साथ अनुगमन करती है, वह चिरकालतक सुख प्राप्त करती है। वह साढ़े तीन करोड़ दिव्य वर्षोंतक नक्षत्रोंके बीच स्वर्गमें निवास करती है। तत्पश्चात् वह उन लोकोंसे चलती है और इस लोकमें योगियोंके घर जन्म लेती है। फिर यहाँ भी वह पतिव्रता अपने पूर्व पतिको प्राप्तकर उसके साथ आत्यन्तिक प्रीतिको प्राप्त करती है।

पतिकी सेवा करनेसे स्त्री उसका आधा पुण्य प्राप्त करती है

यद् देवेभ्यो यत् पितृभ्योऽतिथिभ्यः
कुर्याद् भर्त्ताभ्यर्चनं सत्क्रियां च।
तस्याप्यर्धं केवलानन्यचित्ता
नारी भुङ्क्ते भर्तृशुश्रूषयैव ॥

(गरुडपुराण उत्तर० १६। ६०)

पुरुष देवता, पितर तथा अतिथिकी पूजा-आराधना आदि जो कुछ सत्कर्म करता है; उसका आधा फल स्त्रीको केवल अनन्य भावसे पतिसेवामात्रसे ही मिल जाता है।

राजाको सभी प्रजाके साथ भाईके समान व्यवहार करना चाहिये

वर्णानां चापि सर्वेषां राजा बन्धुरिहोच्यते।

(गरुडपुराण उत्तर० १७। ३१)

इस लोकमें राजा सभी वर्णोंका ही भाई कहा गया है।

तुलसी, कुश आदि कभी बासी नहीं होते

विप्रा मन्त्राः कुशा वह्निस्तुलसी च खगेश्वर।
नैते निर्माल्यतां यान्ति योज्यमानाः पुनः पुनः ॥

(गरुडपुराण उत्तर० १९। २०)

ब्राह्मण, मन्त्र, कुश, अग्नि तथा तुलसी—ये सब बार-बार प्रयुक्त किये जानेपर भी निर्माल्यताको नहीं प्राप्त होते—उच्छिष्ट अथवा हेय नहीं होते।

असार संसारके छः सार पदार्थ

विष्णुरेकादशी गङ्गा तुलसीविप्रधेनवः।
असारे दुर्गसंसारे षट्पदी मुक्तिदायिनी ॥

(गरुडपुराण उत्तर० १९। २३)

भगवान् विष्णु, एकादशी-व्रत, गङ्गानदी, तुलसी, ब्राह्मण और गौएँ—ये छः इस दुर्गम असार संसारमें मुक्ति देनेवाली वस्तुएँ हैं।

परार्थ किये गये दानधर्मकी महिमा

पितुः शतगुणं दत्तं सहस्रं मातुरुच्यते।
भगिन्या शतसाहस्रं सोदर्ये दत्तमक्षयम्॥
(गरुडपुराण उत्तर० २६। ३१)

मनुष्यको अपने लिये किये गये दानधर्मका जितना पुण्य होता है, उससे सौगुना अधिक पुण्य पिताके लिये करनेपर, हजारगुना माताके लिये, लाखगुना बहिनके लिये तथा सहोदर भाईके लिये दिया गया दान अनन्त हो जाता है।

तीन दानोंकी विशेष महिमा

अग्नेरपत्यं प्रथमं सुवर्णं
भूर्वैष्णवी सूर्यसुताश्च गावः।
लोकत्रयं तेन भवेत् प्रदत्तं
यः काञ्चनं गां च महीं प्रदद्यात्॥*
(गरुडपुराण उत्तर० ३१। ४)

अग्निका प्रथम पुत्र सोना, पृथ्वी भगवान् विष्णुकी पुत्री (पृथु अवतारमें) तथा गौएँ सूर्यदेवकी कन्याएँ हैं। अतः जो व्यक्ति सुवर्ण, गौ तथा भूमिका दान करता है, वह तीनों लोकोंके ही दान करनेका फल प्राप्त कर लेता है।

मुक्तिके श्रेष्ठ उपाय

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका।
पुरी द्वारावती ज्ञेयाः सप्तैता मोक्षदायिकाः॥
संन्यस्तमिति यो ब्रूयात् प्राणैः कण्ठगतैरपि।
मृतो विष्णुपुरं याति न पुनर्जायते क्षितौ॥
सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति॥
कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशः।
जलं भित्त्वा यथा पद्मं नरकादुद्धराम्यहम्॥
शालग्रामशिला यत्र यत्र द्वारावती शिला।
उभयोः संगमो यत्र मुक्तिस्तत्र न संशयः॥
रोपणात् पालनात् सेकाद् ध्यानस्पर्शनकीर्तनात्।
तुलसी दहते पापं नृणां जन्मार्जितं खग॥
ज्ञानह्रदे सत्यजले रागद्वेषमलापहे।
यः स्नातो मानसे तीर्थे न स लिप्येत पातकैः॥
न काष्ठे विद्यते देवो न शिलायां न मृत्सु च।
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद् भावं समाचरेत्॥
प्रातः प्रातः प्रपश्यन्ति नर्मदां मत्स्यघातिनः।
न ते शिवपुरीं यान्ति चित्तवृत्तिर्गरीयसी॥
ब्राह्मणार्थे च गुर्वर्थे स्त्रीणां बालवधेषु च।
प्राणत्यागपरो यस्तु स वै मोक्षमवाप्नुयात्॥
गवार्थे देशविध्वंसे देवतीर्थविपत्सु च।
आत्मानं सम्परित्यज्य स्वर्गवासं लभन्ति ते॥
जीवितं मरणं चैव द्वयं शिक्षेद्धि पण्डितः।
जीवितं दानभोगाभ्यां मरणं रणतीर्थयोः॥
हरिक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे भृगुक्षेत्रे तथैव च।
प्रभासे श्रीस्थले चैव अर्बुदे च त्रिपुष्करे॥
भूतेश्वरे मृतो यस्तु स्वर्गे वसति मानवः।
दशकूपसमा वापी दशवापीसमं सरः।
सरोभिर्दशभिस्तुल्या या प्रपा निर्जले वने॥
या प्रपा निर्जले देशे यद्दानं निर्धने द्विजे।
प्राणिनां यो दयां धत्ते स भवेन्नाकनायकः॥
दानं साधु दरिद्रस्य शून्यलिङ्गस्य पूजनम्।
अनाथप्रेतसंस्कारः कोटियज्ञफलप्रदः॥
(गरुडपुराण उत्तर० २८। ३—१२, १४, १६, १७, १९, १९½, ३४, ३५, ३८)

अयोध्या, मथुरा, हरिद्वार, काशी, काञ्ची, अवन्तिका (उज्जैनी) पुरी तथा द्वारका—ये सात पुरियाँ (तीर्थ) मोक्ष देनेवाली कही गयी हैं। प्राणके कण्ठमें आ जानेपर भी जो (ब्राह्मण) 'संन्यस्तम्'—मैंने संन्यास ले

* यह श्लोक महाभारत वनपर्व २००। १२८, अत्रिस्मृति ६। ६, वसिष्ठस्मृति २८। १६ तथा विष्णुधर्म० १०। १३ आदि स्थलोंपर भी मिलता है।

लिया—ऐसा कहता है, वह मरनेपर वैकुण्ठको चला जाता है और पृथ्वीपर पुनः जन्म नहीं लेता। जिसने एक बार भी 'हरि' इन दो अक्षरोंका उच्चारण कर लिया, उसने मानो मोक्षयात्राके लिये कमर कस ली। जो मुझे कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण—कहकर सदा स्मरण करता रहता है, उसे मैं ठीक उसी प्रकार उबार लेता हूँ, जैसे जलको चीरकर कमल बाहर निकल पड़ता है। जहाँ सभी दोषों तथा पापोंको नष्ट करनेवाली शालग्राम-शिला तथा द्वारकाकी गोमती (चन्द्रप्रतिमा) है, उसके संविधानमें मुक्ति निश्चय है। गरुड़जी! तुलसी (वृक्ष) रोपने, पालने, सींचने, नमस्कार करने, छूने तथा नाम लेनेसे भी मनुष्यके जन्म-जन्मोंके संचित पापको दूर कर डालती है। जो मानस-तीर्थके सत्यरूपी जलसे पूर्ण, रागद्वेषरूपी मलको दूर करनेवाले ज्ञान-सरोवरमें स्नान करता रहता है, वह पापोंसे कभी लिप्त नहीं होता। देवता न तो काष्ठमें हैं, न पत्थरमें और न मिट्टीमें ही। देवता तो भावमें बसते हैं, अतः सदा सद्भावकी वृद्धि करनी चाहिये। मछली मारनेवाले मछुए प्रतिदिन बड़े तड़के ही नर्मदाजीका दर्शन किया करते हैं; पर उन्हें शिवपुरीकी प्राप्ति नहीं होती, इसमें उनकी चित्तशुद्धिका अभाव ही कारण है। जो ब्राह्मण, गुरु, स्त्री तथा बालकोंकी रक्षामें अपना प्राण छोड़ देता है, वह सभी बन्धनोंसे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। गोरक्षा, देश-विध्वंस, देवता तथा तीर्थोंके ऊपर आपत्ति पड़नेपर अपना प्राणत्याग करनेवाला प्राणी स्वर्गमें वास करता है। बुद्धिमान् पुरुषको जीना तथा मरना दोनों ही सीखना चाहिये। जीना तो दान तथा भोगोंके साथ हो और मरना युद्धस्थल अथवा तीर्थमें हो। जो हरिद्वार, कुरुक्षेत्र, भृगुक्षेत्र, श्रीक्षेत्र, प्रभास, आबू, त्रिपुष्कर तथा भूतेश्वरमें प्राणत्याग करता है, वह मनुष्य स्वर्गमें वास करता है।

गरुड़जी! दस कुएँके समान एक बावली, दस बावलीके समान एक तालाब तथा दस तालाबके तुल्य एक निर्जन स्थानमें बनायी प्याऊ होती है। जो जलरहित देशमें प्याऊ बनाता, निर्धन ब्राह्मणको दान देता तथा प्राणियोंपर दया रखता है, वह स्वर्गका स्वामी होता है। सदाचारी गरीबको दान देने, शून्य (उपेक्षित) शिवलिङ्गकी पूजा करने तथा अनाथ प्रेतका संस्कार करनेसे करोड़ों यज्ञोंका फल होता है।

कर्मानुसार शुभाशुभ परिणाम

एवं प्रवर्तते चक्रं भूतग्रामे चतुर्विधे।
समुत्पत्तिर्विनाशश्च जायते तार्क्ष्य देहिनाम्।
ऊर्ध्वा गतिस्तु धर्मेण अधर्मेण ह्यधोगतिः॥
जायते सर्ववर्णानां स्वकर्माचरणात् खग।
देवत्वे मानुषत्वे च दानभोगादिकाः क्रियाः॥
यद् यद् दृश्यं वैनतेय तत् सर्वं कर्मजं फलम्।
कुकर्मविहितो घोरे कामक्रोधार्जितेऽशुभे॥
नरके पतितो भूयो यस्योत्तारो न विद्यते।

(गरुडपुराण उत्तर० ३४। ३२—३५)

कश्यपनन्दन! चार प्रकारके जीवसमूहोंमें यही चक्र चलता रहता है और उनकी उत्पत्ति तथा विनाश होता रहता है। गरुड़जी! सभी वर्णोंके अपने कर्मोंके आचरणसे श्रेष्ठ गति तथा अधर्म (धर्मत्याग) से अधोगति होती है। देवता तथा मनुष्य-योनिमें जो कुछ भी दान-भोगादि क्रियाएँ दीखती हैं, गरुड़जी! वह सब कर्मोंका ही परिणाम है। काम-क्रोधयुक्त अशुभ कर्मोंके (अर्जन) करनेपर मनुष्य ऐसे घोर नरकमें गिरता है, जहाँसे उद्धारकी सम्भावना ही नहीं होती।

भगवत्स्मरणकी महिमा

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः॥
विष्णुर्माता पिता विष्णुर्विष्णुः स्वजनबान्धवाः।

येषामेवं स्थिरा बुद्धिर्न तेषां दुर्गतिर्भवेत् ॥
मङ्गलं भगवान् विष्णुर्मङ्गलं गरुडध्वजः ।
मङ्गलं पुण्डरीकाक्षो मङ्गलायतनं हरिः ॥
हरिर्भागीरथी विप्रा विप्रा भागीरथी हरिः ।
भागीरथी हरिर्विप्राः सारमेतज्जगत्त्रये ॥
अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥
(गरुडपुराण उत्तर० ३५ । ४५—४९)

जिनके हृदयमें कमलदलके समान श्यामल भगवान् जनार्दन विराजते हैं, उन्हें निरन्तर लाभ एवं विजय है, उनका पराजय (उन्हें दुःख) कैसा ? भगवान् विष्णु ही माता, पिता, स्वजन तथा बान्धव हैं । इस प्रकार जिनकी निश्चयात्मिका बुद्धि हो गयी है, उनकी दुर्गति नहीं होती । भगवान् विष्णु कल्याणस्वरूप हैं, भगवान् गरुडध्वज मङ्गलमय हैं; कमलके तुल्य नेत्रोंवाले भगवान् पुण्डरीकाक्ष शुभरूप हैं । भगवान् श्रीहरि समस्त मङ्गलोंके आवास हैं । भगवान् श्रीहरि, भागीरथी गङ्गा और ब्राह्मण; ब्राह्मण, गङ्गा और श्रीहरि; गङ्गा श्रीहरि और ब्राह्मण—ये ही तीन तीनों लोकोंमें सार हैं । कोई अपवित्र हो या पवित्र या वह अत्यन्त पापपूर्ण अवस्थामें ही क्यों न चला गया हो, यदि वह कमलनेत्र भगवान्‌का स्मरण करता है, तो बाहर-भीतरसे पवित्र है ।

[आदिपुराण]

आदिपुराणमें भगवान् श्रीकृष्णके कुछ चुने हुए वचनामृत

भक्त संग्रही और कंजूस न हो

श्रीभगवानुवाच

संचयो न हि कर्त्तव्यो मद्भक्तैः कृपणैर्यथा ।
संचयस्य विनाशो हि जायते निश्चितो बुधैः ॥
यस्याहं च सदा दाता स कथं कृपणो भवेत् ।
यत्राहं तत्र किं नास्ति भक्तः किं कृपणायते ॥
यत्किञ्चिन्मम भक्तस्य तेन प्रीणाति मां सदा ।
दानैर्भोगैर्ममोक्तैश्च सफलं जीवितं नृणाम् ॥
(आदिपुराण २२ । १६—१८)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—मेरे भक्तोंको कृपणोंकी तरह अधिक संचय नहीं करना चाहिये । बुद्धिमानोंका सुनिश्चित मत है कि संचित वस्तुका एक-न-एक दिन विनाश अवश्य होता है । जिस भक्तके लिये मैं सर्वदा सब कुछ देनेको प्रस्तुत हूँ, उसे कृपण बननेकी क्या आवश्यकता है ? जहाँ मैं हूँ, वहाँ क्या नहीं है ? फिर मेरा भक्त कृपण कैसे हो सकता है ? मेरे भक्तके पास जो कुछ भी होता है, उस सभीके द्वारा वह सदा मेरी आराधना करता है । मनुष्यका जीवन दान, भोग और मेरी पूजासे सफल होता है ।

भक्त-महिमा-निरूपण

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥
मद्भक्तसदृशो लोके पिता माता गुरुर्न हि ।
न बन्धुर्नापरे चैव इति वेदविदो विदुः ॥
ये मत्कीर्तौ जनं सक्तं पृथक् कुर्वन्ति मानवाः ।
तथा मद् द्वेषिणो नित्यं पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥
शृणोमि स्वयशोगानं प्रेम्णा भक्तैरुदाहृतम् ।
कृतं गोपैश्च गोपीभिर्गानं त्यक्त्वा च कौतुकम् ॥
(आदिपुराण १९ । ३५; ३७—३९)

मैं न तो वैकुण्ठमें वास करता हूँ और न योगियोंके हृदयमें ही रहता हूँ । नारद ! मेरे भक्त जहाँ मेरा गुण-कीर्तन या स्मरण करते हैं, मैं वहीं रहता हूँ । मेरे भक्तके समान संसारमें माता, पिता, गुरु या बन्धु कोई भी हितकर नहीं है—ऐसा वेदवादियोंका

कथन है । जो मनुष्य मेरे कीर्तनमें लगे हुए व्यक्तिको कीर्तनसे अलग कर देता है, वह मेरा द्वेषी है और अपवित्र नरकमें गिरता है । मैं स्वयं अपने भक्त गोप-गोपियोंके द्वारा गाये गये गुण-गानको बड़े चावसे सुनता हूँ ।

भक्तिसे शीघ्र कर्मक्षय

नाभुक्तं क्षीयते कर्म जन्मान्तरशतैरपि ।
मद् भक्त्या तद् बहु स्वल्पं विपरीतमभक्तितः ॥
(आदिपुराण २० । ६९)

विना भोगके सौ जन्मोंतक भी कर्मोंका नाश नहीं होता है । परंतु मेरी भक्तिसे महान् कर्म-राशि भी शीघ्र समाप्त हो जाती है और मेरी भक्तिके विना थोड़े कर्म भी जल्दी नहीं क्षीण होते ।

भक्त-महिमा

भक्ता मह्यं प्रयच्छन्ति भक्ते भोगं ददाम्यति ।
पूर्वं निवेदितं भक्तैर्देहागारसुतादिकम् ॥
तेषां यत्किञ्चिदस्तीह धनं मे तन्न चान्यथा ।
व्रजे बालविनोदेन सर्वं गृह्णामि तद्वसु ॥
मोहशोकौ क्रोधलोभौ क्रूरत्वं मदमत्सरौ ।
न सन्ति मम भक्तानामतो मोदो व्रजौकसाम् ॥
(आदिपुराण २२ । ४३—४५)

भक्तलोग मुझे देते हैं और मैं उन्हें देता हूँ । भक्तगण पहले ही अपने शरीर, घरबार तथा पुत्र आदि मुझे समर्पण कर देते हैं । उनका जो कुछ भी धन आदि होता है, वह मेरा ही है । व्रजमें बाललीलाके प्रसङ्गमें मैं उनकी वस्तुएँ प्रत्यक्ष ही ग्रहण करता हूँ। मेरे भक्तोंको मोह-शोक क्रोध-लोभ, क्रूरता-मद तथा मत्सर आदि कुछ भी नहीं होते। इसीलिये व्रजवासियोंको अत्यन्त आनन्द रहता था ।

मुझे छोड़कर दूसरेकी आशा करनेवाला हानि उठाता है

अहो दुरत्यया माया लोकस्वार्थप्रणाशिनी ।
यया विमोहितं सर्वं जगद् भ्रमति नित्यशः ॥
हानिकाले परित्यज्य मां जनोऽन्यत्र गच्छति ।
तस्य त्रैकालिकी हानिर्जायते नात्र संशयः ॥
(आदिपुराण २८ । ८-९)

अहो ! लोगोंके समस्त श्रेयोंको नष्ट करनेवाली यह माया बड़ी दुस्तर है, जिससे मोहित होकर यह सारा संसार प्रतिदिन इधर-उधर भटकता रहता है । सांसारिक हानिके समय जो मुझे छोड़कर दूसरेकी आशा करता है, उसे तीनों कालोंमें हानि उठानी पड़ती है; इसमें कोई संशय नहीं है ।

भक्ति सबसे बड़ा लाभ है और वह सत्संगसे मिलती है

साधुसङ्गाद्धि विमला भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ।
भक्तिरेव परो लाभस्ततोऽन्यन्नास्ति किञ्चन ॥
(आदिपुराण २९ । ४४)

साधुपुरुषके संगसे मेरी नैष्ठिकी निर्मल भक्ति प्राप्त होती है । भक्ति ही संसारका सबसे बड़ा लाभ है। इससे बढ़कर अन्य कोई वस्तु नहीं है ।

भगवान्‌को छोड़कर अन्य पदार्थकी ओर दौड़ना मूर्खता है

मामेव यः परित्यज्य वस्तुनोऽर्थेऽभिधावति ।
विवेकरहितो मूर्खो दुःखमेवाभिपद्यते ॥
तस्य त्रैकालिकी हानिर्भवत्येवान्यथा न हि ।
(आदिपुराण २८ । १२-१३)

जो मुझे छोड़कर किसी दूसरी वस्तुके लिये दौड़ता है, वह विवेकरहित और मूर्ख है । उसे केवल दुःख ही हाथ लगता है। उसे तीनों कालमें हानि ही होती है, और कुछ भी नहीं मिलता ।

भगवान्‌के चिन्तन और स्पर्शकी महिमा

मदङ्गस्पर्शयोगेन किं भवेन्न हि भूतले ।
अन्तर्मनसि मां ये च चिन्तयेयुः सकृन्मुदा ॥
तेषां मुक्तिर्भवेदेव किं पुनर्मेऽङ्गसङ्गतः ।
अहं वै परमं ब्रह्म सर्वव्यापि सनातनम् ॥

यजनाद् ध्यानतो मह्यं सद्यो मुक्तिर्भवेद् ध्रुवम् ।
आत्माऽहं परमात्मा च अहं धर्मश्च शाश्वतः ॥
अहं सत्यमहं ज्ञानं शाश्वतोऽनन्तसौख्ययुक् ।
मच्चिन्तनान्मद्यजनान्मम साधनतस्तथा ॥
जपनाल्लपनात् सौम्य सर्वसिद्धिर्विनिश्चिता ।
मदङ्गस्पर्शयोगेन किं न सिद्धिर्भविष्यति ॥

(आदिपुराण १७ । ७१—७६)

(यद्यपि पूतना निश्चय ही पापकी मूर्ति थी, तथापि उसकी मुक्तिमें किसी प्रकारका संदेह नहीं करना चाहिये) क्योंकि जो मुझे अन्तर्मनसे एक बार भी प्रसन्नतापूर्वक चिन्तन कर लेते हैं, उनकी भी मुक्ति हो जाती है; फिर वह पूतना तो मेरे अङ्गोंका स्पर्श प्रत्यक्षरूपसे प्राप्त कर चुकी थी। मेरे अङ्गोंके संस्पर्शसे इस विश्वमें क्या सम्भव नहीं है ? मैं ही सर्वव्यापक सनातन परब्रह्म परमात्मा हूँ । मेरा ध्यान तथा मेरी आराधना करनेसे निश्चय ही मुक्ति हो जाती है । मैं ही आत्मा, परमात्मा तथा नित्यधर्म, सत्य, ज्ञान तथा शाश्वत, अनन्त सुख-स्वरूप हूँ । मेरे चिन्तन, यजन, साधन तथा जप-कीर्तनसे सारी सिद्धियाँ निश्चय ही प्राप्त हो जाती हैं । फिर भला मेरे अङ्गोंके स्पर्शसे कौन-सी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती ?

भगवान्‌को किसने खरीद लिया है ?

गीत्वा च मम नामानि नर्त्तयेन्मम संनिधौ ।
इदं ब्रवीमि ते सत्यं क्रीतोऽहं तेन चार्जुन ॥

(आदिपुराण, बंगला संस्करण)

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—जो मेरे नामोंका गान करता हुआ मेरे श्रीविग्रहके सामने अथवा मुझे अपने समीप मानकर नाचता है, मैं यह तुमसे सत्य कहता हूँ, अर्जुन ! मैं उसके द्वारा खरीद लिया गया हूँ ।

श्रीगोपीजनकी महिमा

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते ।
ताभ्यः परं न मे पार्थ ! निगूढप्रेमभाजनम् ॥
सहाया गुरवो शिष्या भुजिष्या बान्धवाःस्त्रियः ।
सत्यं वदामि ते पार्थ ! गोप्यः किं मे भवन्ति न ॥
मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम् ।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ ! नान्ये जानन्ति तत्त्वतः

(आदिपुराण, बंगला संस्करण)

अर्जुन ! गोपियाँ अपने अङ्गोंको मेरी सेवाके लिये ही सुरक्षित रखती हैं; उन गोपियोंके अतिरिक्त मेरा निगूढ़ प्रेमपात्र और कोई नहीं है । वे मेरी सहायिका हैं, गुरु हैं, शिष्या हैं, बन्धु हैं तथा प्रेयसी हैं । मैं तुमसे सत्य कहता हूँ—अर्जुन ! गोपियाँ मेरी क्या नहीं होतीं —वे सब कुछ हैं । पार्थ ! मेरी यथार्थ महिमा, मेरी पूजा (सेवा), मेरी श्रद्धा और मेरे मनकी बातको तत्त्वसे केवल गोपियाँ ही जानती हैं; अन्य कोई नहीं जानता ।

[भविष्यपुराण]

(भविष्यपुराणमें भगवान् श्रीकृष्णके विविध उपदेश)
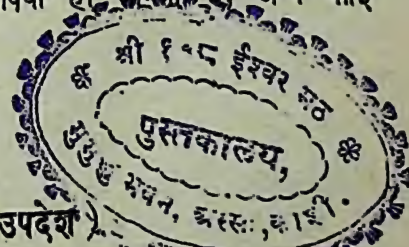
महाभारतका युद्ध समाप्त हो चुका था। महाराज धर्मराज युधिष्ठिर धर्मपूर्वक शासन कर रहे थे । इसी बीच एक बार उनसे मिलनेके लिये व्यास, माण्डव्य, मार्कण्डेय, शाण्डिल्य, गौतम, गालव, गार्ग्य, शातातप, भारद्वाज, भृगु, भागुरि आदि वेद-वेदाङ्ग-पारङ्गत मुनि महात्मागण पधारे । उन्हें आये देखकर युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने अर्घ्य, पाद्यादिद्वारा उनका स्वागत किया और बैठनेके लिये श्रेष्ठ आसन दिये । सभीके बैठ जानेपर युधिष्ठिरने बड़े विनयके साथ व्यासजीसे कहा कि 'मैंने भीष्मपितामहसे अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि सुने थे। अब आप मुझे कृपया विशिष्ट धर्मोंका उपदेश करें ।'

इसपर व्यासजीने कहा कि 'भगवान् केशिसूदन श्रीकृष्ण यहाँ हमारे बगलमें ही विराजमान हैं । भला, इनके रहते हुए किसकी जिह्वा बोलनेको प्रवृत्त हो सकती है ? ये ही संसारके कर्ता, हर्ता, पालक हैं तथा ये स्वयं जगत्स्वरूप भी हैं । ये

धर्मके प्रत्यक्ष द्रष्टा हैं । अतः तुम्हें जो कुछ भी पूछना हो इन्हींसे पूछो ।'

भगवान् व्यासदेवके ऐसा कहनेपर युधिष्ठिरजीने भगवान् श्रीकृष्णसे जो प्रश्न किये और भगवान् श्रीकृष्णने जो उनके उत्तर दिये, उन्हींमेंसे बहुत थोड़े-से चुने हुए भगवान्‌के वचन यहाँ दिये जाते हैं ।

व्रतोपवासकी महिमा

व्रतोपवासनियमप्लवेनोत्तीर्यते सुखम् ॥
दुर्लभं प्राप्य मानुष्यं विद्युत्पतनचञ्चलम् ।
तथाऽऽत्मानं समादध्यात् पश्यते न पुनर्यथा ॥
दानव्रतमयी कीर्तिर्यस्य स्यादिह देहिनः ।
परलोकेऽपि स तया ज्ञायते ज्ञातिवर्धनः ॥
ज्ञायते नेह नामुत्र व्रतस्वाध्यायवर्जितः ।
पुरुषः पुरुषव्याघ्र तस्माद् व्रतपरो भवेत् ॥

(भविष्यपुराण उत्तर० ७ । १-४)

श्रीकृष्ण बोले—व्रत, उपवास और नियमरूपी नौकाओंके सहारे गम्भीर भवसागरसे मनुष्य सुखसे पार उतर जाता है । विद्युत्के समान चञ्चल तथा दुर्लभ मनुष्य-शरीरको प्राप्तकर मनुष्यको अपनी ऐसी स्थिति बना लेनी चाहिये, जिसमें उसे पुनः भ्रष्ट न होना पड़े । दान और व्रतके सहारे ही मनुष्यका इस लोक तथा परलोकमें सुयश होता है तथा इसीसे वह मनुष्य-जातिका कल्याण करनेवाला समझा जाता है । व्रत-स्वाध्यायविहीन मनुष्यको यहाँ कोई भी नहीं जानता । परलोकमें भी उसकी गणना नहीं होती । इसलिये पुरुषसिंह युधिष्ठिर ! मनुष्यको व्रत-परायण होना चाहिये ।

धर्महीनके दिन व्यर्थ जाते हैं

संनिमज्ज्य जगदिदं विषये कामसागरे ।
जन्ममृत्युजराग्राहं न कश्चिदवबुध्यते ॥
ये यान्ति दिवसाः पुंसां धर्मकामार्थवर्जिताः ।
न ते पुनरिहायान्ति हरभक्ता नरा यथा ॥
स्नानं दानं तपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्पणम् ।
यस्मिन् दिने न क्रियते वृथा स दिवसो नृणाम् ॥
पुत्राणां दारगृहकसमासक्तं हि मानसम् ।
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥

(भविष्यपुराण उत्तर० ५३ । १२, १४-१६)

यह सारा जगत् विषयभोग और शरीररूपी समुद्रमें डूबकर, जन्म-मृत्यु-जरारूपी ग्राहका दास बन रहा है; किंतु कोई भी चेत नहीं करता । मनुष्यके जो दिन धर्म-काम और अर्थसे शून्य चले जाते हैं, वे फिर लौटकर उसी प्रकार वापस नहीं आते, जैसे भगवान् शंकरके भक्त मरकर वापस नहीं आते । जिस दिन स्नान-दान, तप-हवन, स्वाध्याय और पितरोंका तर्पण नहीं किया जाता, मनुष्योंका वह दिन व्यर्थ ही चला जाता है । जैसे भेड़िया भेड़को पकड़कर चल देता है, उसी प्रकार स्त्री, पुत्र, गृह आदिमें आसक्त मनवाले मनुष्यको मृत्यु पकड़ लेती है ।

भगवान्‌की माया—कालकी अनिवार्यता

श्रूयतां विष्णुमायैषा स्वप्नदृष्टधनोपमा ॥
सर्वेषामेव भूतानां परिणामोऽयमीदृशः ॥
पुरन्दरसहस्राणि चक्रवर्तिशतानि च ।
निर्वापितानि कालेन प्रदीप इव वायुना ॥
येऽपि शोषयितुं शक्ताः समुद्रं ग्राहसंकुलम् ।
कुर्युश्च करयुग्मेन चूर्णं मेरुं महीतले ॥
उद्धर्तुं धरणीसंज्ञां ग्रहीतुं चन्द्रभास्करौ ।
प्रविष्टास्ते तु कालेन कृतान्तवदनं तदा ॥
दुर्गस्त्रिकूटः परिखाः समुद्रा
रक्षांसि योधा धनदाच्च वित्तम् ।
मन्त्रश्च यस्यौशनसा प्रणीतः
स रावणो दैववशाद्विनष्टः ॥
संग्रामे गजतुरगसमाकुलेऽपि
वादादग्नौ वा गतविवरे महोदधौ वा ।
सर्वैर्वा सह वसतात्सुदीर्णकोपै-
र्नाभाव्यो भवति कदाचिदेव नाशः ॥

पातालमाविशतु यातु सुरेन्द्रलोक-
मारोहतु क्षितिधराधिपतिं सुमेरुम् ।
मन्त्रौषधिप्रहरणैश्च करोति रक्षां
यद्भावि तद्भवति नाथ विभावितोऽसि ॥
रोदिति कश्चिदथाश्रुधौता-
ननगुरुतरशोकविह्वलः ।
प्रविकटचरणवानपि
नृत्यति कश्चिद्धर्मादिविग्रहः ॥
गायति हृदयहारि सुखनिर्भर-
मायतविस्तृताधरोऽधिकम् ।
सार एष रंगोदरगत-
नटपटहाकाम एवायम् ॥
(भविष्यपुराण उत्तर० ३ । ८८—९७)

यह संसार भगवान् विष्णुकी माया ही है, जो स्वप्नमें देखे गये धनके समान झूठी है । मृत्यु तो सभी प्राणियोंकी गति है । जिस प्रकार वायु दीपकको बुझा डालता है, उसी प्रकार कालने हजारों इन्द्र और सैकड़ों चक्रवर्ती राजाओंको नष्ट कर डाला है । जो ग्राहोंसे भरे समुद्रको भी सुखा सकते थे, दोनों हाथोंसे ही पृथ्वीपर मेरुपर्वतको चूर्ण कर सकते थे, जो पृथ्वीको उठा सकते थे और सूर्य तथा चन्द्रमाको पकड़ सकते थे; वे भी कालके गालमें चले गये । जिसका त्रिकूट ही दुर्ग था, समुद्र जिसकी खाई थी, राक्षस जिसके योद्धा सिपाही थे और कुबेरका सारा वैभव जिसका धन था और शुक्राचार्यद्वारा निर्धारित जिसकी नीति थी; वह रावण भी तो दैवके वश होकर विनष्ट हो गया । चाहे कोई हाथी-घोड़ोंसे व्याप्त संग्राममें रहे या जल-अग्निसे शून्य बिल या समुद्रमें ही छिप जाय अथवा सब कुछसे ही अपनी रक्षा क्यों न करे, किंतु विनाश सबका अवश्यम्भावी है । कोई पातालमें प्रवेश करे या इन्द्रलोकमें जाय, कोई सुमेरुगिरिपर चढ़ जाय अथवा मन्त्र-ओषधियों और शस्त्रोंसे अपनी रक्षा करे; जो होना है, वह तो होकर रहेगा ही; यह निश्चय है । इस संसारमें कोई फूट-फूटकर गुरुतर शोकसे विह्वल होकर रोता है और कोई पैर पसारकर नाचता है । कोई धर्मपालन करता है और कोई सुखसे भरा ओठ फैलाकर हृदयहारी गीत गाता है । पर इस संसाररूपी नाट्यमञ्च-के सूत्रधारका इससे कोई तात्पर्य नहीं है ।

तीर्थका फल और उसका अधिकारी

यस्य हस्तौ च पादौ च वाङ्मनस्तु सुसंयते ।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥
अश्रद्दधानः पापात्मा नास्तिकोऽच्छिन्नसंशयः ।
हेतुनिष्ठाश्च पञ्चैते न तीर्थफलभागिनः ॥
(भविष्यपुराण उत्तर० १२२ । ७-८)

जिसके हाथ, पैर, मन और वाणी सुसंयत हैं तथा जिसकी विद्या, कीर्ति और तपस्या पूरी है; उसे ही तीर्थका फल मिलता है । श्रद्धारहित, पापी, संशयग्रस्त, नास्तिक और तार्किक—इन पाँच प्रकारके मनुष्योंको तीर्थका फल नहीं मिलता ।

उषःसमीपे यः स्नानं संध्यायामुदिते रवौ ।
प्राजापत्येन तत्तुल्यं महापातकनाशनम् ॥
प्रातरुत्थाय यो विप्रः प्रातःस्नायी सदा भवेत् ।
स सर्वपापनिर्मुक्तः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥
(भविष्यपुराण उत्तर० १२२ । ४-५)

उषाकालमें सूर्योदयके आसपास संध्याकालमें किया गया स्नान महान् पातकोंको नष्ट कर देता है । यह प्राजापत्य-व्रतके तुल्य कहा गया है । प्रातःकालमें उठकर जो ब्राह्मण सदा स्नान कर लेता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर परब्रह्मको प्राप्त होता है ।

स्नानं चतुर्विधं प्रोक्तं स्नानविद्भिर्युधिष्ठिर ।
वायव्यं वारुणं ब्राह्मं दिव्यं चेति पृथक् शृणु ॥
वायव्यं गोरजःस्नानं वारुणं सागरादिषु ।

ब्राह्मं ब्राह्मणमन्त्रोक्तं दिव्यं मेघाम्बुभास्करम् ।
सर्वेषामेव स्नानानां विशिष्टं तत्र वारुणम् ॥
(भविष्यपुराण उत्तर० १२२ । १०-११)

युधिष्ठिरजी ! स्नानके चार भेद हैं; ऐसा स्नान-तत्त्वके ज्ञाताओंका मत है । वे भेद हैं—वायव्य, वारुण, ब्राह्म और दिव्य । गायकी धूलिसे किये गये स्नानको वायव्य स्नान कहते हैं । समुद्रादिके स्नानको वारुण स्नान कहा जाता है । वैदिक मन्त्रोंद्वारा किये गये स्नानको ब्राह्म स्नान कहते हैं और जो सूर्यके रहते हुए धूपमें मेघके जलोंकी वर्षा होती रहती है, उसका स्नान दिव्य कहा गया है । इन सभी स्नानोंमें वारुण स्नानकी ही विशेष महिमा है ।

नैर्मल्यं भावशुद्धिश्च विना स्नानं न युज्यते ।
तस्मात् कायविशुद्ध्यर्थं स्नानमादौ विधीयते ॥
अनुद्धृतैरुद्धृतैर्वा जलैः स्नानं समाचरेत् ।
तीर्थं प्रकल्पयेद् विद्वान् मूलमन्त्रेण मन्त्रवित् ॥
नमो नारायणायेति मूलमन्त्र उदाहृतः ॥
(भविष्यपुराण उत्तर० १२३ । १–३)

स्नानके बिना चित्तकी निर्मलता और भावशुद्धि नहीं आती । अतएव शरीरकी शुद्धिके लिये सर्वप्रथम स्नान-का ही विधान है । नदी आदिमें जलमें प्रवेशकर और कूप आदिपर जलको बाहर निकालकर स्नान करना चाहिये । मन्त्रज्ञ विद्वान्को मूलमन्त्रसे तीर्थकी कल्पना करनी चाहिये । तीर्थ-निर्माणका मूलमन्त्र *'ॐ नमो-नारायणाय'* कहा गया है ।

गङ्गाकी महिमा

तिस्रः कोटयोऽर्द्धकोटी च तीर्थानां वायुरब्रवीत् ।
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च तानि सन्ति हि जाह्नवि ॥
नन्दिनीत्येव ते नाम देवेषु नलिनीति च ।
क्षमा पृथ्वी च विहगा विश्वकाया शिवा स्मृता ॥
विद्याधरा सुप्रसन्ना तथा लोकप्रसादिनी ।
क्षेम्या तथा जाह्नवी च शान्ता शान्तिप्रदायिनी ॥
एतानि पुण्यनामानि स्नानकाले प्रकीर्तयेत् ।
भवेत् संनिहिता तत्र गङ्गा त्रिपथगामिनी ॥
सप्तवाराभिजप्तेन करसंपुटयोजितम् ।
मूर्ध्नि कुर्याज्जलं भूप त्रिचतुःपञ्चसप्तधा ॥
(भविष्यपुराण उत्तर० १२३ । ६—१०)

"देवि जाह्नवी ! वायु देवताने साढ़े तीन करोड़ तीर्थोंका वर्णन किया है । उनमेंसे कुछ तो स्वर्गमें हैं, कुछ पृथ्वीमें और कुछ अन्तरिक्षमें । पर वे सारे तीर्थ तुम्हारे जलमें अन्तर्भूत हैं । देवि ! देवलोकमें तुम नन्दिनी और नलिनी नामसे पुकारी जाती हो । क्षमा, पृथ्वी, विहगा, विश्व-काया, शिवा, विद्याधरा, सुप्रसन्ना, लोकप्रसादिनी, क्षेम्या, जाह्नवी, शान्ता और शान्तिप्रदायिनी—ये भी तुम्हारे नाम हैं ।" इन पवित्र नामोंका स्नानके समय कीर्तन करना चाहिये । इससे त्रिपथगामिनी गङ्गा वहाँ तत्काल आ पहुँचती हैं । इस प्रकार दोनों हाथोंको जोड़कर सात बार जप करके तीन, चार, पाँच या सात बार स्नान करना चाहिये ।

मुमूर्षुके कर्तव्य

बन्धुपुत्रकलत्रेषु क्षेत्रधान्यधनादिषु ।
मित्रवर्गे च राजेन्द्र ममत्वं विनिवर्तयेत् ॥
मित्राण्यमित्रान् मध्यस्थान् परान् स्वांश्च पुनः पुनः ।
अत्यर्थमपकारेण नोपकारेण चिन्तयेत् ॥
ततश्च प्रयतः कुर्यादुत्सर्गं सर्वकर्मणाम् ।
शुभाशुभानां राजेन्द्र वाक्यं चेदमुदीरयेत् ॥
परित्यजाम्यहं भोगान् त्यजामि सुहृदोऽखिलान् ।
भोजनं हि मयोत्सृष्टमुत्सृष्टमनुलेपनम् ॥
स्रग् भूषणादिकं गेयं दानमासनमेव च ।
होमादयः पदार्था ये ये च नित्यक्रमागताः ॥
नैमित्तिकास्तथा काम्याः श्राद्धधर्मादयोज्झिताः ।
त्यक्ताश्चाश्रमिका धर्मा वर्णधर्मास्तथोज्झिताः ॥

पद्भ्यां कराभ्यां विहरन् कुर्वाणः कर्म चोद्वहन्।
न पापं कस्यचिन्न्याय्याः प्राणिनः सन्तु निर्भयाः
नभसि प्राणिनो ये च ये जले ये च भूतले।
क्षितेर्विवरगा ये च ये च पाषाणसम्पुटे॥
धान्यादिषु च वस्त्रेषु शयनेष्वासनेषु च।
ते स्वयं तु विबुध्यन्ते दत्तं तेभ्योऽभयं मया॥
न मेऽस्ति बान्धवः कश्चिद्विष्णुं मुक्त्वा जगद्गुरुम्।
मित्रपक्षे च मे विष्णुरधश्चोर्ध्वं तथा पुनः॥
पार्श्वतो मूर्ध्नि हृदये बाहुभ्यां चैव चक्षुषोः।
श्रोत्रादिषु च सर्वेषु मम विष्णुः प्रतिष्ठितः॥
इति सर्वं समुत्सृज्य धृत्वा सर्वेशमच्युतम्।
वासुदेवेत्यविरतं नाम देवस्य कीर्तयेत्॥

(भविष्यपुराण उत्तर० १२६। ६—१७)

राजेन्द्र! मुमूर्षु पुरुषको बन्धु-बान्धव, स्त्री-पुत्र, धन-धान्य, क्षेत्र और मित्रवर्ग आदिसे ममता हटा लेनी चाहिये। उसे मित्र, शत्रु और मध्यस्थ, अपना या पराया—इनके प्रति उपकार अथवा अपकारकी कोई भावना नहीं रखनी चाहिये। तत्पश्चात् वह सावधानीसे सारी शुभाशुभ क्रियाओंका परित्याग कर निम्नलिखित निश्चययुक्त विचार प्रकट करे—'मैं सभी भोगों और सभी मित्रोंको छोड़ रहा हूँ। मैंने भोजन, अनुलेपन, भूषण, माला, आसन, दान, गान आदि सबका परित्याग कर दिया है। अब नित्यक्रमसे आयी हुई हवन आदि क्रियाओं और नैमित्तिक श्राद्ध आदि कर्मोंका भी त्याग कर रहा हूँ। मैंने वर्ण तथा आश्रम-धर्म भी छोड़ दिये। मैं पैरोंसे चलते हुए और हाथोंसे कार्य करते हुए तथा शरीरको वहन करते हुए किसी भी प्राणीके प्रति अन्याय या पापकी भावना नहीं करूँगा। मुझसे सभी प्राणी निर्भय हो जायँ। आकाश, जल और भूतलपर जितने भी जीव हैं; जो जीव पृथ्वीके भीतर बिल आदिमें और पत्थरोंके बीचमें निवास करते हैं और जो अन्न, वस्त्र, आसन, शय्या आदिपर (अवलम्बित) रहते हैं, वे सभी जान लें, मैंने उन सबको अभयदान दे दिया है। अब जगद्गुरु विष्णुको छोड़कर मेरा कोई भी बान्धव नहीं है। विष्णु ही मेरे मित्र-पक्षमें हैं तथा वे ही मेरे ऊपर-नीचे, अगल-बगलमें भी हैं। वे ही मेरे सिर, हृदय, बाहुओं, नेत्रों तथा श्रोत्रों (कान) आदि सबमें स्थित हैं।' इस प्रकार सबको छोड़कर सर्वेश्वर अच्युतको ही एकमात्र ग्रहण कर सदा 'वासुदेव' नामका ही कीर्तन करता रहे।

ध्यानकी महिमा और प्रभेद

नात्र भूमिर्न च कुशा स्वास्तराश्च न कारणम्।
चित्तस्यालम्बनीभूतो विष्णुरेवात्र कारणम्॥
तिष्ठन् भुञ्जन् स्वपन् गच्छंस्तथा धावन्नितस्ततः।
उत्क्रान्तिकाले गोविन्दं संस्मरंस्तन्मयो भवेत्॥
यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥
तस्मात् प्रधानमत्रोक्तं वासुदेवस्य चिन्तनम्।
राज्योपभोगशयनासनवाहनेषु
स्त्रीगन्धमाल्यमणिवस्त्रविभूषणेषु।
इच्छाभिलाषमतिमात्रमुदेति मोहाद्-
ध्यानं तदाद्यमिति सम्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥
संछेदनैर्दहनताडनपीडनैश्च
गात्रप्रहारदमनैर्विनिकर्तनैश्च॥
यस्येह चेतसि हि याति न चानुकम्पा
ध्यानं तु रौद्रमिति तत् प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥
सूत्रार्थमार्गणमहाव्रतभावनाभि-
र्बन्धप्रमोक्षगतिरागतिहेतुचिन्ता।
पञ्चेन्द्रियाद्युपशमश्च शमश्च भूते-
र्ध्यानं तु धर्म्यमिति तत् प्रवदन्ति सन्तः॥
यस्येन्द्रियाणि विषयैर्न विवर्जितानि
संकल्पनात्मजविकल्पविकारयोगैः।
तत्त्वैकनिष्ठहृदयो निभृतान्तरात्मा
ध्यानं तु शुक्लमिति तत् प्रवदन्ति सिद्धाः॥

आद्ये तिर्यगधोगतिश्च नियतं ध्याने तु रौद्रे सदा
धर्म्ये देवगतिः शुभं फलमहो शुक्ले च जन्मक्षयः।
तस्माज्जन्मरुजापहे हिततरे संसारनिर्वाहिके
ध्याने शुक्लतरे रजःप्रमथने कुर्यात् प्रयत्नं बुधः॥

(भविष्यपुराण उत्तर० १२६। ३७—४७)

श्रीकृष्णने कहा—मुक्तिमें पृथ्वी, कुश और विस्तरे कारण नहीं बनते। चित्तके आलम्बनभूत भगवान् विष्णु ही मुख्य कारण हैं। उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते, चलते-फिरते तथा इधर-उधर दौड़ते रहनेपर भी मरण-समयमें भगवान् गोविन्दको याद करनेवाला प्राणी भगवत्-स्वरूप ही हो जाता है। कुन्तीपुत्र! मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भावको याद करता हुआ शरीर छोड़ता है, वह उसी-उसी भावको प्राप्त होता है और अन्तकालमें प्रायः उसी भावका स्मरण होता है, जिसका वह सदा स्मरण करता आया है। इसलिये भगवान्के चिन्तनकी ही यहाँ प्रधानता कही गयी है।

युधिष्ठिरजी! ध्यानके मुख्यतः आद्य, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल—ये चार भेद कहे गये हैं। उनमें राज्योपभोग, आसन, शयन-वाहन आदि पदार्थोंमें तथा चन्दन-माला, मणि, वस्त्र, विभूषण और स्त्री आदिमें रति, इच्छा और अभिलाषाकी तीव्रताके कारण जो मोहसे ध्यान लग जाता है, उसे पण्डितजन 'आद्य' या सामान्य ध्यान कहते हैं। जिसे काटने, जलाने, मारने, पीटने आदिमें भी मनमें दया नहीं आती, उसे 'रौद्र' ध्यान कहते हैं। शब्द, अर्थ आदिका अनुसंधान, व्रतकी भावना, बन्धन-मुक्ति, गमनागमन, तर्क, पञ्चेन्द्रियोंके उपशमनका प्रयत्न और शान्ति इन्हें संतोंने 'धर्म्य' ध्यान कहा है। जिसकी इन्द्रियाँ विषयोंसे कभी अभिभूत नहीं होतीं और संकल्प-विकल्पके संयोगसे जिसके मनमें विकृति नहीं होती, जिसका हृदय सदा एक तत्त्वमें ही परिनिष्ठित हो चुका है और जिसका अन्तःकरण आत्मानन्दसे परिव्याप्त है, उसे सिद्धलोग 'शुक्ल' ध्यान कहते हैं। आद्य ध्यान करनेवाला प्राणी तिर्यक् योनिमें जाता है, रौद्र ध्यानसे अधोगति होती है, सदा धार्मिक ध्यान करनेवालेको शुभ देवगति मिलती है और शुक्ल ध्यान करनेका फल जन्म-परम्पराका अन्त अर्थात् मोक्ष कहा गया है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह रोग, दुःख, जन्म और संसारको समाप्त करनेवाले तथा रजोगुणका नाश करनेवाले हितकारक शुक्ल ध्यानका ही प्रयत्न करे।

वृक्षारोपणकी महिमा

वरं भूमिरुहाः पञ्च न तु काष्ठरुहा दश।
पत्रैः पुष्पैः फलैर्मूलैः कुर्वन्ति पितृतर्पणम्॥
बहुभिर्मृतैः किञ्ज्ञातैः पुत्रैर्धर्मार्थवर्जितैः।
वरमेकः पथि तरुर्यत्र विश्रमते जनः॥
प्राणिनः प्रीणयन्ति स्म च्छायावल्कलपल्लवैः।
घनच्छदाः सुतरवः पुष्पैर्देवान् फलैः पितॄन्॥
पुष्पपत्रफलच्छायामूलवल्कलदारुभिः।
धन्या महीरुहा येषां विफलं यान्ति नार्थिनः॥
पुत्राः संवत्सरस्यान्ते श्राद्धं कुर्वन्ति वा न वा।
प्रत्यहं पादपाः पुष्टिं श्रेयोऽर्थं जनयन्ति हि॥
सदा स तीर्थी भवति सदा दानं प्रयच्छति।
सदा यज्ञं स यजते यो रोपयति पादपम्॥
अश्वत्थमेकं पिचुमन्दमेकं
न्यग्रोधमेकं दशचिञ्चिणीकान्।
कपित्थबिल्वामलकीत्रयं च
पञ्चाम्ररोपी नरकं न पश्येत्॥
पुष्पोपगन्धाढ्यफलोपगन्धं
यः पादपं ह्यर्पयते द्विजाय।
स स्त्रीसमृद्धं बहुरत्नपूर्णं
लभेद् विमानप्रतिमं गृहं वै॥
न खानिताः पुष्करिण्यो रोपिता न महीरुहाः।
मातुर्यौवनचौरेण तेन जातेन किं कृतम्॥
छायामन्यस्य कुर्वन्ति तिष्ठन्ति स्वयमातपे।
फलन्ति च परार्थेषु न स्वार्थेषु महाद्रुमाः॥

(भविष्यपुराण उत्तर० १२८। २—५, १०, १२, १४-१५)

श्रीकृष्णने कहा—युधिष्ठिरजी ! पहाड़पर स्थित दस वृक्षोंकी अपेक्षा पृथ्वीके पाँच वृक्ष ही भले हैं; क्योंकि वे अपने पत्र-पुष्प और मूल-फलोंसे पितरोंका तर्पण करते हैं। धर्म और अर्थसे वर्जित बहुतसे जन्म लेनेवाले तथा मरनेवाले पुत्रोंसे क्या लाभ ? रास्तेपर स्थित एक वृक्ष ही श्रेष्ठ है, जिसके नीचे अनेक यात्री विश्राम करते हैं। श्रेष्ठ वृक्ष अपनी छाया, छाल और पत्तोंके द्वारा हर प्रकारसे प्राणियोंको तृप्त तथा प्रसन्न करते हैं और वे अपने पुष्पोंसे देवताओंको और फलोंसे पितरोंको तृप्त करते हैं। पुष्प-पत्र, फल-मूल, छाया, छाल और लकड़ीसे संसारका उपकार करनेवाले ये वृक्ष धन्य हैं, जिनके यहाँसे याचक कभी निराश नहीं लौटते। पुत्र तो वर्षके अन्तमें कभी श्राद्ध करते या नहीं भी करते हैं; किंतु वृक्ष तो प्रति-दिन अर्थ, पुष्टि और श्रेयका सम्पादन करते हैं।

जो वृक्षोंको रोपता है, वह सदा तीर्थोंमें ही निवास करता है; सदा दान देता है और सदा यज्ञ करता है। एक पीपल, एक नीम, एक बड़, दस चिड़चिड़ा, तीन कैथ, तीन बेल, तीन आँवले और पाँच आम लगानेवाला मनुष्य कभी नरकका मुँह नहीं देखता। पुष्प, फल और गन्धसे संयुक्त वृक्षका दान करनेवाले मनुष्यको स्त्री, रत्न, धन-धान्यसे युक्त विमानके सदृश गृहकी प्राप्ति होती है। जिसने बावलियाँ नहीं खुदवायीं और वृक्ष भी नहीं लगवाये, अपनी माताकी जवानीका अपहरण करनेवाले उस कुपुत्रने जन्म लेकर किया ही क्या ? महावृक्ष दूसरेके लिये ही फलते हैं, दूसरोंपर ही छाया करते हैं; वे स्वयं तो धूपमें ही खड़े रहते हैं और अपना एक भी फल स्वयं नहीं खाते।

मनुष्यका पतन करनेवाले एक सौ अपराध

अनाश्रमित्वं प्रथमोऽनग्निता व्रतहीनता ॥
अदातृत्वमशौचं च निर्दयत्वं स्पृहालुता।
अक्षान्तिर्जनपीडा च मायित्वमप्यमङ्गलम् ॥
क्षतव्रतत्वं नास्तिक्यं वेदनिन्दा कठोरता।
असत्यता हिंसकत्वं स्तैन्यमिन्द्रियविप्लवः॥
मनसोऽनिग्रहश्चैव क्रोध ईर्ष्या च मत्सरः।
दम्भः शाठ्यं च धौर्त्यं च कटुकोक्तिः प्रमादता॥
भार्यामातृसुतादीनां त्यागश्चापूज्यपूजनम्।
श्राद्धहानिर्जपत्यागः पञ्चयज्ञविवर्जनम् ॥
संध्यातर्पणहोमानां हानिरग्नेः प्रणाशनम्।
अनृतौ मैथुनं पार्थ पर्वण्यपि च मैथुनम् ॥
पैशुन्यं परदारेषु दानं वेश्याभिगामिता।
अपात्रदानं चाल्पं च मूलिकाकुलिभक्षणम् ॥
अन्त्यजागमनं मातृत्यागः पितृविवर्जनम्।
पित्रोरभक्तिर्वादश्च पुराणस्मृतिवर्जनम् ॥
अभक्ष्यभोजनं चापि पतिद्रोहोऽविचारता।
कृषिकर्मक्रियावाहं भार्यासंग्रहकारिता ॥
इन्द्रियाजयमायित्वं विद्याविस्मरणं तथा।
शास्त्रत्यागः ऋणं चित्रकर्म चानङ्गधावनम् ॥
भार्यापुत्रसुतादीनां विक्रयः पशुमैथुनम्।
इन्धनार्थं द्रुमच्छेदो बिले वार्यादिपूरणम् ॥
तडागागमने वृत्तं विद्याविक्रयकारिता।
वृत्तिलोपो महीपाल याचकत्वं कुमित्रता ॥
स्त्रीवधो गोवधश्चैव पौरोहित्यं सुहृद् वधः।
भ्रूणहत्या परान्नं च शूद्रान्नस्य निषेवणम् ॥
शूद्रस्य चाग्निकर्मत्वमविधित्वं कुपुत्रता।
विद्वद्द्रुचो याचकत्वं हि वाचालत्वं प्रतिग्रहः ॥
श्रौतसंस्कारहीनत्वमार्तत्राणविवर्जनम्।
ब्रह्महत्या सुरापानं रुक्मस्तैन्यमतः परम् ॥
गुरुदाराभिगामित्वं संयोगश्चापि तैः सह।
अपराधशतं त्वेतत् कथितं ते मयानघ ॥
अन्येऽपि विविधाः सन्ति प्रोक्ताः प्राधान्यतस्त्वमी
नश्यन्ति तत्क्षणान्नूनं सत्येशस्यानुपूजनात् ॥

(भविष्यपुराण उत्तर० १४६। ६—२१½, २३½)

राजन् ! अब मैं सौ दोषोंको बतला रहा हूँ। किसी आश्रमको न स्वीकार करना (अनाश्रमित्व) सबसे पहला अपराध है। इसी प्रकार अग्निहोत्र न करना,

व्रतका परित्याग, कभी दान न देना, अशुद्ध रहना, निर्दयता, अनेक वस्तुओंकी इच्छा करना, क्षमाहीनता, जन-पीड़न, मायामय रूप-धारण, अमङ्गल कार्य करना, व्रतनाश, नास्तिकता, वेदकी निन्दा, कठोर स्वभावका होना, असत्यभाषण, हिंसा,चोरी, इन्द्रियपरायणता, मनका अनियन्त्रण, क्रोध, ईर्ष्या, मत्सर, दम्भ, शठता, धूर्तता, कटुवादिता, प्रमाद, माता-स्त्री-पुत्रादिका परित्याग, अपूज्योंकी पूजा, श्राद्ध-जपका परित्याग, पञ्चमहायज्ञत्याग, अग्निको बुझा देना, संध्या-तर्पण-हवनका त्याग, ऋतु-कालके अतिरिक्त स्त्रीसंसर्ग, पर्वकालमें स्त्री-संसर्ग, चुगली, परस्त्रीसम्बन्ध, वेश्या-गमन, अपात्रको दान, मूली-गाजर आदिका खाना, अन्त्यज-स्त्री-संग, माता-पिताका त्याग, माता-पितामें अश्रद्धा, उनसे वादविवाद करना, पुराण तथा धर्मशास्त्रोंमें अनास्था, अभक्ष्य-भक्षण, (स्त्रियोंके लिये) पतिद्रोह, बिना विचारे कार्य करना, अनेक स्त्रियोंका संग्रह, इन्द्रियोंपर विजय न पाना, माया रचना, विद्याकी विस्मृति, शास्त्रोंका परित्याग, ऋण लेना, चित्रकारिता और हाथ-पैरोंका न धोना, स्त्री-पुत्र-कन्या आदिका विक्रय, पशुगमन, इन्धनके लिये वृक्षोंका काटना, बिलमें पानी आदि भरना, तालाब आदिके रास्तोंको रूँधना, विद्या बेचना, वृत्तिका लोप, याचकता, कुमित्रता, स्त्रीहत्या, गोहत्या, पुरोहिती, मित्र-हत्या, भ्रूणहत्या, परान्नभक्षण, शूद्रान्नभक्षण, शूद्रार्थ याजन, विधिका त्याग, कुपुत्रता, विद्वानोंसे धन माँगना, अधिक बोलना और प्रतिग्रहण करना, वैदिक संस्कार-से हीन होना, शरणागत और दुखियोंकी रक्षा न करना, ब्रह्महत्या, मदिरा-पान, सुवर्णकी चोरी, गुरुतल्प-(शय्या) गमन और पापियोंका संसर्ग—ये सौ अपराध मैंने आपको बतलाये। और भी बहुत-से अपराध हैं, यहाँ तो प्रधान-प्रधान बतलाये हैं। इन अपराधोंसे सर्वथा बचना चाहिये। ये सभी अपराध भगवान् सत्यदेवकी विधिपूर्वक पूजा करनेसे नष्ट हो जाते हैं।*

कन्यादानकी महिमा

ब्रह्मदेयां तु यः कन्यामलंकृत्य प्रयच्छति।
सप्तपूर्वान् भविष्यांश्च स्वकुले सप्त मानवान् ॥
तेन कन्याप्रदानेन स तारयत्यसंशयम्।
लोकानाप्नोति च तथा दक्षस्यैव प्रजापतेः ॥
प्राजापत्येन विधिना आत्मानं च समुद्धरेत्।
महत्पुण्यमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ॥
भूगवाश्वप्रदानानि गजदानं तथैव च।
दत्त्वा तु वर्णहीनाय घोरे तमसि मज्जति ॥
शुल्केन दत्त्वा कन्यां च घोरं नरकमाप्नुयात् ॥
बहून्यब्दसहस्राणि तथा अशुचिभुङ्नरः।
सवर्णां च सवर्णेभ्यो दद्यात् कन्यां यथाविधि ॥
दत्त्वा चाधिकवर्णाय द्विगुणं निर्गुणं तथा।
द्विजपुत्रमनाथं वा संस्कुर्याद्यश्च कर्मभिः ॥
चूडोपनयनाद्यैश्च सोऽश्वमेधफलं लभेत्।
अनाथां कन्यकां दत्त्वा नाकलोके महीयते ॥
कन्यया सह दत्तं च सुवर्णं वह्निमूलकम्।
सकलं द्विगुणं तस्य फलमुक्तं पुरातनैः ॥
कन्यादानादवाप्नोति दक्षलोकं नरोत्तम।
विष्णुपूजासमं पुण्यं तत् कन्यापूजया भवेत् ॥
विमानमारुह्य मनोऽभिरामं
सुराङ्गनागीतविलासहृद्यम्।
प्राप्नोति लोकं त्रिदशोत्तमानां
कन्याप्रदानान्न विचारणेति ॥

(भविष्यपुराण उत्तर० १४८। १—११)

जो कन्याको अलंकृत कर उसे ब्राह्म-विधिसे प्रदान करता है, उसकी सात पहलेकी तथा सात पीछेकी पीढ़ियाँ तर जाती हैं; इसमें संदेह नहीं और वह स्वयं दक्ष प्रजापतिके लोकको प्राप्त होता है। प्राजापत्य विवाहकी विधिसे कन्यादान करनेवाला अपना उद्धार कर लेता है; वह महान् पुण्यको प्राप्त होता है और स्वर्गको जाता है। गौ, भूमि, घोड़े तथा हाथी आदिका दान निम्नवर्णको नहीं

---

* पूजाकी विधि भविष्यपुराण अ० १४६ श्लोक २२ से ६० तक देखिये।

करना चाहिये। ऐसा करनेवाला मनुष्य नरकगामी होता है। जो धन लेकर कन्याको बेचता है, वह घोर नरकमें जाता है और हजारों वर्षोंतक वह अपवित्र पदार्थोंका भक्षण करता है। सवर्णा कन्याको सवर्ण वरसे विधिपूर्वक विवाह करना चाहिये या अपनेसे उत्तम वरके साथ उसे दूना द्रव्य देकर अथवा कुछ भी न देकर ब्याह देना चाहिये। जो अनाथ द्विजाति-पुत्रका चूडाकर्म, यज्ञोपवीत आदि संस्कार कर्म कराता है, उसे अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है और जो उसे अनाथ कन्याका दान करता है, वह भी स्वर्गलोकको प्राप्त करता है। कन्यादानके साथ जो अग्निसे शुद्ध सुवर्ण आदिके आभूषण देता है, वह सब दुगुने पुण्यवाला हो जाता है—ऐसा प्राचीन आचार्योंका कथन है। नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर! कन्यादानसे मनुष्यको दक्षलोककी प्राप्ति होती है। कन्यादानके समय मनुष्य जो कन्याकी पूजा करता है, वह साक्षात् विष्णुपूजाके समान मानी गयी है। कन्या प्रदान करनेसे मनुष्य देवताओंके श्रेष्ठ लोकोंमें मनोहर विमानपर चढ़कर देवाङ्गनाओंके हृदयहारी विलासपूर्ण संगीतको सुनते हुए विहार करता है। इसमें कोई संदेहकी बात नहीं।

वृष-दानकी महिमा

दशधेनुसमोऽनड्वानेकश्चैव धुरंधरः।
दशधेनुप्रदानाद्धि स एवैको विशिष्यते॥
वोढा च चारुपृष्ठाङ्गो ह्यरोगः पाण्डुनन्दन।
युवा भद्रः सुशीलश्च सर्वदोषविवर्जितः॥
धुरंधरः स्थापयते एक एव कुलं महत्।
त्राता भवति संसारान्नात्र कार्या विचारणा॥
अलंकृत्य वृषं शान्तं पुण्येऽह्नि समुपस्थिते।
रौप्यलाङ्गूलसंयुक्तं ब्राह्मणाय निवेदयेत्॥
मन्त्रेणानेन राजेन्द्र तं शृणुष्व वदामि ते।
धर्मस्त्वं वृषरूपेण जगदानन्दकारक॥
अष्टमूर्तेरधिष्ठानमतः पाहि सनातन।
दत्त्वैवं दक्षिणायुक्तं प्रणिपत्य विसर्जयेत्॥
(भविष्यपुराण उत्तर० १५०। ५—१०)

धुराको धारण करनेवाला एक बैल दस गायोंके तुल्य माना गया है। पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर! नीरोग, युवा, सुशील, सर्वदोषरहित, सुन्दर पीठ तथा अङ्ग-प्रत्यङ्गसे परिपूर्ण बोझा ढोनेवाले बैलका महत्त्व दस गायोंसे भी अधिक है। धुराको धारण करनेवाला एक ही बैल सम्पूर्ण कुलकी रक्षा करता है और संसार-सागरसे भी रक्षा करता है—इसमें विचारनेकी कोई बात नहीं। पवित्र दिन आया देखकर शान्त बैलको अलंकृतकर और उसकी पूँछको चाँदीसे मँढ़ाकर इस मन्त्रसे ब्राह्मणको दान करना चाहिये—'जगत्‌को आनन्द देनेवाले धर्मदेवता! आप ही वृषरूपमें स्थित हैं। आप ही अष्टमूर्ति भगवान् शंकरजीके वाहन हैं। इसलिये हे सनातन धर्मके स्वरूप! आप मेरी रक्षा करें।' ऐसा कहकर प्रणामकर तथा दक्षिणायुक्त दान देकर विदा कर देना चाहिये।

कैसे ब्राह्मण दूसरोंको तारनेमें समर्थ होते हैं?

येषां सदा वै श्रुतिपूर्णकर्णा
जितेन्द्रियाः प्राणिवधे निवृत्ताः।
प्रतिग्रहे संकुचिता गृहस्था-
स्ते ब्राह्मणास्तारयितुं समर्थाः॥
(भविष्यपुराण उत्तर० १५०। १६)

जिनके कान वेदोंके श्रवणसे पवित्र हो चुके हैं, जिन्होंने इन्द्रियोंपर विजय पा ली है, जो प्राणि-हिंसासे सर्वथा दूर रहते हैं तथा जो दान लेनेमें संकोच करते हैं और गृहस्थाश्रममें निवास कर रहे हैं, वे ब्राह्मण दूसरोंको तारनेमें समर्थ हैं।

धनका सदुपयोग दानमें ही है

यस्य त्रिवर्गशून्यानि दिनान्यायान्ति यान्ति च।
स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति॥
यैर्न दत्तं न च हुतं न तीर्थे गमनं कृतम्।
हिरण्यमन्नमुदकं ब्राह्मणेभ्यो न चार्पितम्॥
दीना निरशना रूक्षाः कपालाङ्कितपाणयः।

ते दृश्यन्ते महाराज जायमानाः पुनः पुनः ॥
आयासशतलब्धस्य प्राणेभ्योऽपि गरीयसः ।
गतिरेकैव वित्तस्य दानमन्या विपत्तयः ॥
नोपभोगैः क्षयं यान्ति न प्रदानैः समृद्धयः ।
पूर्वार्जितानामन्यत्र सुकृतानां परिक्षयात् ॥

(भविष्यपुराण उत्तर० १५१ । ८—१२)

श्रीकृष्ण बोले—जिस पुरुषके सभी दिन धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्गसे रहित होकर आते और चले जाते हैं, वह मनुष्य लोहारकी भाथीके समान श्वास लेता हुआ भी जीवित नहीं है। जिन्होंने दान नहीं किया, हवन नहीं किया तथा तीर्थमें गमन नहीं किया और जिन्होंने ब्राह्मणोंको अन्न, जल, सुवर्ण आदि नहीं दिये वे बार-बार गरीब, भूखसे व्याकुल, रूखे और हाथमें खप्पर लिये इधर-उधर घूमते हुए देखे जाते हैं। सैकड़ों प्रकारके प्रयत्न एवं श्रमसे कमाये हुए तथा प्राणोंसे भी प्यारे धनका दान ही उसकी एकमात्र गति है। इस धनके अन्य प्रयोग तो विपत्तियाँ ही हैं। जबतक पहलेका पुण्य रहता है, तबतक भोग और दान करनेसे भी धन समाप्त नहीं होता। किंतु पुण्योंके क्षय होनेपर वह बिना दान-भोग किये हुए भी नष्ट हो जाता है।

तीन दान श्रेष्ठ—गोदानसे पाप-नाश

त्रीण्याहुरतिदानानि गावः पृथ्वी सरस्वती ।
आसप्तमं पुनन्त्येते दोहवाहनवेदनैः ॥
तरुणी रूपसम्पन्ना सुशीला च पयस्विनी ।
न्यायार्जिता सवत्सा च प्रदेया श्रोत्रियाय गौः ॥
सा दत्त्वैव हरेत्पापं श्रोत्रियायाहिताग्नये ।
अतिथिप्रियाय दान्ताय धेनुं दद्याद् गुणाधिके ॥
समभ्यर्च्य यथान्यायं पुष्पादिभिरनुक्रमात् ।
उदङ्मुखी प्राङ्मुखी वा गृष्टिं कृत्वा पयस्विनीम् ॥
गावो ममाग्रतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः ॥
गावो मे हृदये सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम् ।

(भविष्यपुराण उत्तर० १५१ । १८, २१, २३, २६, २९, ३०)

श्रीकृष्णने कहा—दानोंमें तीन दान अत्यन्त श्रेष्ठ हैं—गोदान, पृथ्वीदान और विद्यादान। ये दूहने, जोतने और जाननेसे सात कुलतक पवित्र कर देते हैं। रूपवती, तरुण, सुशीला, दूध देनेवाली, न्यायसे प्राप्त और बछड़ेवाली गौको श्रोत्रिय, आहिताग्नि, अतिथिप्रिय, इन्द्रियविजयी, बहुगुणसम्पन्न ब्राह्मणको दान देना चाहिये। इससे मनुष्यके पाप दूर हो जाते हैं। फूल आदिसे विधिपूर्वक गौकी पूजाकर पूर्व या उत्तरकी ओर मुख कर दान देना चाहिये। गौ मेरे आगे हों और गौ मेरी पीठकी ओर हों। गौएँ मेरे हृदयकी ओर हों तथा मैं (श्रीकृष्ण) गौओंके बीचमें ही निवास करता हूँ।

गृहस्थाश्रमकी प्रशंसा

न गार्हस्थ्यात्परो धर्मो नास्ति दानं गृहात् परम् ।
नानृतादधिकं पापं न पूज्यो ब्राह्मणात् परः ॥
यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः ॥
एवं गृहस्थमाश्रित्य वर्तयन्तीतराश्रमाः ।
धर्मश्चार्थश्च कामश्च मित्राणि प्रथितं यशः ॥
प्राप्तकामैर्नरैः पार्थ सदा सेव्यो गृहाश्रमः ।
न गृहेण विना धर्मो नार्थकामौ सुखं न च ॥
न लोकपङ्क्तिर्न यशः प्राप्यते त्रिदशैरपि ।
न तत्स्वर्गे नापवर्गे न तत् केनोपमीयते ॥
प्रसार्य पादौ यद्रात्रौ स्वगृहे स्वपतां सुखम् ।
दिनानि नास्य गण्यन्ते नैनमाहुर्महाशनम् ॥
अपि शाकं पचानस्य स्वगृहे परमं सुखम् ।
इति मत्वा महाराज कारयित्वा सुशोभनम् ॥
भवनं ब्राह्मणे देयं भव्यं भूतिमभीप्सता ।
कारयित्वा दृढस्तम्भं शुभपक्वेष्टकामयम् ॥

(भविष्यपुराण उत्तर० ३६८ । ३—१०)

गृहस्थाश्रमसे बढ़कर कोई धर्म नहीं है। गृहदानसे बढ़कर कोई दान नहीं है। झूठसे बढ़कर कोई पाप

नहीं है और ब्राह्मणसे बढ़कर कोई पूज्य नहीं है। जिस प्रकार माताका आश्रय लेकर सभी प्राणी पलते तथा जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार गृहस्थका आश्रय लेकर दूसरे आश्रम प्राण धारण करते हैं। इसमें धर्म, अर्थ, काम, विस्तृत यश एवं मित्रादिकी प्राप्ति होती है। इनकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंको गृहस्थाश्रमका आश्रय लेना चाहिये। घरके बिना धर्म, अर्थ, काम, सुख, यश और दूसरे प्रकारकी भी कोई लौकिक सफलता मनुष्यको तो क्या देवताओंको भी नहीं प्राप्त हो सकती। गृहजनित आनन्दकी कोई सीमा नहीं है। जहाँ पैर पसारकर आदमी घरमें सुखपूर्वक सोता है, वहाँ दिनोंकी कोई गिनती नहीं होती और रात्रियोंका भी पता नहीं चलता। घरमें रहकर सागपात खा करके जीवन बितानेवाले व्यक्तिको भी सुखका अनुभव होता है। ऐसा सोचकर, अपने कल्याणकी कामना करनेवाले व्यक्तिको दृढ़ खंभोंसे युक्त तथा उत्तम पक्की हुई ईंटोंवाला सुन्दर भवन बनवाकर ब्राह्मणको दान करना चाहिये।

स्त्री-प्रशंसा

चतुर्णामाश्रमाणां हि गृहस्थः श्रेष्ठ उच्यते।
गृहस्थाच्च गृहं श्रेष्ठं गृहाच्छ्रेष्ठा वराः स्त्रियः॥
पूर्णेन्दुबिम्बवदनाः पीनोन्नतपयोधराः।
तद् गृहं यत्र दृश्यन्ते योषितः शीलमण्डनाः॥
जामयो यत्र पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते विनङ्क्ष्यत्याशु तद् गृहम्॥
जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः।
तानि कृत्याहतानीव सद्यो यान्ति पराभवम्॥
अमृतस्येव कुण्डानि सुखानामिव राशयः।
रतेरिव निधानानि योषितः तेन निर्मिताः॥

(भविष्यपुराण उत्तर० १७१। २—६)

चारों आश्रमोंमें 'गृहस्थ' श्रेष्ठ कहा गया है। 'गृहस्थ'का मूल आधार श्रेष्ठ गृह ही है और गृहसे भी श्रेष्ठ गृहिणी (अर्थात् धर्मपत्नी और जननी) हैं। पूर्ण चन्द्रमाके समान मुँहवाली, धर्म एवं शीलसे मण्डित, दुग्धपूर्ण स्तनोंवाली सुन्दरी स्त्रियाँ जहाँ रहती हैं, वास्तवमें वही गृह है। जहाँ स्त्रियोंकी पूजा होती है, वहाँ देवता लोग रमण करते हैं और जहाँ इनकी पूजा नहीं होती, वह घर शीघ्र ही चौपट हो जाता है। स्त्रियाँ तिरस्कृत होकर जिन घरोंको शाप देती हैं, वे घर कृत्या राक्षसीके द्वारा हत होनेकी तरह दुर्दशाग्रस्त हो जाते हैं। स्त्रियाँ मानो अमृतका कुण्ड अथवा सुखकी राशि ही हैं। ब्रह्माने इन्हें सम्पूर्ण आनन्दके निधानके रूपमें ही रचा है।

प्रपा (जलशाला—प्याऊ) दान-विधि

अतीते फाल्गुने मासि प्राप्ते चैत्रे महोत्सवे।
पुण्येऽह्नि विप्रकथिते ग्रहचन्द्रबलान्विते॥
मण्डपं कारयेद् विद्वान् घनच्छायं मनोरमम्।
पुरस्य मध्ये पथि वा कान्तारे तोयवर्जिते॥
देवतायतने वाऽपि चैत्यवृक्षतलेऽपि वा।
सुशीतलं च रम्यं च विचित्रासनसंयुतम्॥
कारयेन्मण्डपं भव्यं शीतवातसहं दृढम्।
तन्मध्ये स्थापयेद् भक्त्या मणिकुम्भांश्च शोभनान्॥
अकालमूलान् करकान् वस्त्रैरावेष्टितानथ।
ब्राह्मणः शीलसम्पन्नो वृत्तिं दत्त्वा यथोचिताम्॥
पानीयपानेनाश्रान्तान् यः कारयति मानवान्॥

(भविष्यपुराण उत्तर० १७२। २—७)

फाल्गुन बीतनेके बाद चैत्र महीनेमें ब्राह्मणके द्वारा बताये हुए किसी पवित्र दिनको, जिस दिन ग्रह-नक्षत्र और चन्द्रमा बलयुक्त हों, एक घनी छायादार सुन्दर प्याऊ बनानी चाहिये। यह शीतल पर्णशाला नगरके बीचमें, रास्तेमें, जंगलमें, निर्जल स्थानमें, देवालयमें अथवा चौराहेपर चैत्य वृक्षके नीचे बनानी चाहिये। वह प्याऊ खूब ठंढी, सुन्दर, भाँति-भाँतिके आसनोंसे युक्त, उत्तम, सुदृढ़ और सर्दी-गरमीसे बचानेवाली होनी चाहिये।

मण्डपके बीचमें धातु या मिट्टीके वस्त्रसे लपेटे हुए सुन्दर घड़े तथा सुराहियाँ भी रखनी चाहिये। किसी उदार या शीलवान् ब्राह्मणको उचित वृत्ति देकर दानशालाका रक्षक नियुक्त कर देना चाहिये, जो थके हुए आदमियोंको शीतल जल पिलाकर सुखी कर सके।

अनेन विधिना यस्तु ग्रीष्मोष्मशोषनाशनम्।
पानीयमुत्तमं दद्यात् तस्य पुण्यफलं शृणु॥
सर्वतीर्थेषु यत्पुण्यं सर्वदानेषु यत्फलम्।
तत्पुण्यफलमाप्नोति सर्वदेवैः सुपूजितः॥
(भविष्यपुराण उत्तर० १७२। १३–१४)

इस प्रकार जो गर्मीमें ताप और पिपासाको मिटानेवाली उत्तम पर्णशाला निर्माण करता है उसके पुण्यका फल सुनिये। जो सभी तीर्थोंमें जानेका और सभी दानोंके देनेका फल है तथा सभी देवताओंकी पूजा करनेपर जो फल मिलता है, वह पर्णशाला निर्माण करनेवालेको मिलता है।

विद्यादान-महिमा

प्रातरुत्थाय यः शिष्यानध्यापयति यत्नतः।
वेदं शास्त्रं नृत्यगीतं कस्तेन सदृशः कृती॥
उपाध्यायस्य यो वृत्तिं दत्त्वाध्यापयते जनः।
किं न दत्तं भवेत्तेन धर्मकामार्थदर्शिना॥
छात्राणां भोजनाभ्यङ्गं वस्त्रभिक्षामथापि वा।
दत्त्वा प्राप्नोति पुरुषः सर्वकामान् न संशयः॥
विवेको जीवितं दीर्घं धर्मकामार्थसम्पदः।
सर्वं तेन भवेद् दत्तं छात्राणां पोषणे कृते॥
शास्त्रं शस्त्रकला शिल्पं यो यदिच्छेदुपार्जितुम्।
तस्योपकारकरणे पार्थ कार्यं सदा मनः॥
वाजपेयसहस्रस्य सम्यगिष्टस्य यत्फलम्।
तत्फलं समवाप्नोति विद्यादानान्न संशयः॥
शिवालये विष्णुगृहे सूर्यस्य भवनेऽथवा।
यः कारयति धर्मात्मा सदा पुस्तकवाचनम्॥
गोभूहिरण्यवासांसि शयनान्यासनानि च।
प्रत्यहं तेन दत्तानि भवन्ति भरतर्षभ॥
धर्माधर्मं न जानाति विद्यया रहितः पुमान्।
तस्मात् सदैव धर्मात्मा विद्यादानरतो भवेत्॥
त्रैलोक्यं चतुरो वर्णाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
ब्रह्माद्या देवताः सर्वा विद्यादाने प्रतिष्ठिताः॥
(भविष्यपुराण उत्तर० १७४। १६–२५)

जो प्रातःकाल उठकर शिष्योंको परिश्रमसे वेद, शास्त्र तथा नृत्य-संगीत आदि कला-कौशलकी शिक्षा देता है, उसके समान दूसरा सुकृती कौन है? जो उपाध्यायकी वृत्तिकी व्यवस्थाकर अध्यापन कार्य कराता है, उस धर्म, काम तथा अर्थके मर्मको समझनेवाले व्यक्तिद्वारा कौन-सा दान नहीं दिया गया अर्थात् उसने सब कुछ दे दिया। जो मनुष्य छात्रोंके भोजन, अभ्यङ्ग (तेल), वस्त्र और भिक्षा आदिकी व्यवस्था करता है, उसकी सारी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। छात्रोंके पोषण करनेपर विवेक (ज्ञान), दीर्घायु, धर्म, काम और सभी सम्पत्तियोंके देनेका फल मिल जाता है। जिस व्यक्तिकी शास्त्र-विद्या, शस्त्र-विद्या तथा शिल्पकला सीखनेकी इच्छा हो, उसकी सभी प्रकार सहायता करनी चाहिये। सुसम्पन्न एक हजार वाजपेय यज्ञोंके करनेका जो फल है, वह सब विद्या दान करनेवालेको भी मिलता है, इसमें कोई संदेह नहीं। जो धर्मात्मा शिवालय, विष्णु-मन्दिर अथवा सूर्यके मन्दिरमें बैठकर सदा सद्ग्रन्थोंका पठन-अध्ययन कराता है, उसे प्रतिदिन गौ, पृथ्वी, सुवर्ण, वस्त्र और आसन, शय्या आदि दान करनेका पूर्ण फल प्राप्त होता है। विद्याके बिना मनुष्य धर्माधर्मकी जानकारी नहीं प्राप्त कर सकते। इसलिये धर्मात्मा पुरुषको विद्यादानमें सदा तत्पर रहना चाहिये। तीनों लोक, चारों वर्ण, चारों आश्रम और ब्रह्मा आदि सभी देवता विद्यादानमें ही प्रतिष्ठित हैं।

अपने हाथसे किये गये सत्कर्मकी प्रशंसा

तावत् स बन्धुः स पिता यावज्जीवति भारत।
मृतो मृत इति ज्ञात्वा क्षणात् स्नेहो निवर्तते॥

तस्मात् स्वयं प्रदातव्यं शय्याभोज्यजलादिकम् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरिति संचिन्त्य चेतसि ॥
आत्मैव यो हि नात्मानं दानभोगैः समर्चयेत् ।
कोऽन्यो हिततरस्तस्मात् कः पश्चात् पूजयिष्यति॥
(भविष्यपुराण उत्तर० १८४ । ३–५)

तभीतक मनुष्य अपने परिवारवालोंका भाई-बन्धु और पिता बना रहता है, जबतक वह जीवित बना रहता है। मरनेपर उसे मृत समझकर सभी तत्काल अपना स्नेह खींच लेते हैं। इसलिये मनुष्यको स्वयं ही अपने लिये अन्न, जल और शय्या आदिका दान करना चाहिये। मनुष्य स्वयं ही अपना बन्धु है; इसे हृदयमें स्मरण रखना चाहिये। जो दान-धर्म और भोग आदिके द्वारा स्वयं अपना कल्याण नहीं करता तो फिर उसके मरनेके बाद उसके लिये दूसरा कोई क्या व्यवस्था कर सकता है ?

[गर्गसंहिता]

गर्गसंहितामें श्रीकृष्णके चुने हुए कुछ वचनामृत

संत ही मेरे सुखस्वरूपको जानते हैं

जानन्ति सन्तः समदर्शिनो ये
दान्ता महान्तः किल नैरपेक्षाः ।
ते नैरपेक्ष्यं परमं सुखं मे
ज्ञानेन्द्रियादीनि यथा रसादीन् ॥
(गर्गसंहिता वृन्दावन० १९ । २३)

जो समदर्शी, इन्द्रियविजयी, अपेक्षारहित महात्मा संत हैं, वे ही मेरे निरपेक्ष परम सुखको जानते हैं, जैसे रसादिका ज्ञान ज्ञानेन्द्रियोंको ही होता है।

श्रीराधाकृष्णका अभेद

ये राधिकायां मयि केशवे मनाग्
भेदं न पश्यन्ति हि दुग्धशौक्ल्यवत्।
त एव मे ब्रह्मपदं प्रयान्ति
तद्धैतुकस्फूर्जितभक्तिलक्षणाः ॥
ये राधिकायां मयि केशवे हरौ
कुर्वन्ति भेदं कुधियो जना भुवि ।
ते कालसूत्रं प्रप..न्ति दुःखिता
रम्भोरु यावत् किल चन्द्रभास्करौ ॥
(गर्गसंहिता वृन्दावन० १२ । ३२-३३)

श्रीभगवान्ने श्रीराधाजीसे कहा—जैसे दूध और उसकी उज्ज्वलतामें कोई भिन्नता नहीं है, वैसे ही जो लोग मुझ केशव तथा तुझ राधिकामें लेशमात्र भी भेद नहीं देखते, वे ही अहैतुकी भक्तिके लक्षणोंसे सम्पन्न होकर मेरे उस ब्रह्मपदको प्राप्त होते हैं। रम्भोरु ! इस जगत्में जो मूर्ख प्राणी तुझ राधिकामें तथा मुझ केशव श्रीहरिमें भेद करते हैं, वे जबतक सूर्य और चन्द्रमा विद्यमान हैं, तबतकके लिये कालसूत्र नरकमें गिरते हैं।

गिरिराज गोवर्धनकी पूजा-विधि

श्रीभगवानुवाच

आलिप्य गोमयेनापि गिरिराजभुवं बुधः ।
धृत्वाथ सर्वसम्भारं भक्तियुक्तो जितेन्द्रियः ॥
सहस्रशीर्षामन्त्रेणाद्रये स्नानं च कारयेत् ।
गङ्गाजलेन यमुनाजलेनापि द्विजैः सह ॥
शुक्लगोदुग्धधाराभिस्ततः पञ्चामृतैर्गिरिम् ।
स्नापयित्वा गन्धपुष्पैः पुनः कृष्णाजलेन वै ॥
वस्त्रं दिव्यं च नैवेद्यमासनं सर्वतोऽधिकम् ।
मालालंकारनिचयं दत्त्वा दीपावलिं पराम् ॥
ततः प्रदक्षिणां कुर्यान्नमस्कुर्यात्ततः परम् ।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा त्विदमेवमुदीरयेत् ॥

नमो वृन्दावनाङ्काय तुभ्यं गोलोकमौलिने ।
पूर्णब्रह्मातपत्राय नमो गोवर्धनाय च ॥
पुष्पाञ्जलिं ततः कुर्यान्नीराजनमतः परम् ।
घण्टाकांस्यमृदङ्गाद्यैर्वादित्रैर्मधुरस्वनैः ॥
वेदाहमेतं मन्त्रेण वर्षां लाजैः समाचरेत् ।
तत्समीपे चान्नकूटं कुर्याच्छ्रद्धासमन्वितः ॥
कचौलानां चतुःषष्टि पञ्चपंक्तिसमन्वितम् ।
तुलसीदलमिश्रैश्च श्रीगङ्गायमुनाजलैः ॥
षट्पञ्चाशत्तमैर्भोगैः कुर्यात् सेवां समाहितः ।
ततोऽग्नीन्ब्राह्मणान्पूज्य गाः सुरान्गन्धपुष्पकैः ॥
भोजयित्वा द्विजवरान् सौगन्धैर्मिष्टभोजनैः ।
अन्येभ्यश्च श्वपाकेभ्यो दद्याद्भोजनमुत्तमम् ॥
गोपीगोपालवृन्दैश्च गवां नृत्यं च कारयेत् ।
मङ्गलैर्जयशब्दैश्च कुर्याद् गोवर्धनोत्सवम् ॥

(गर्गसंहिता गिरिराज० १ । १५—२६)

श्रीभगवान्ने कहा—गिरिराजके नीचेकी जगहको गोबरसे पुतवा दे । फिर मनको काबूमें रखकर भक्तिपूर्वक सभी भेंट-सामग्री वहाँ स्थापित कर दे । 'सहस्रशीर्षा०' इस मन्त्रका उच्चारण करते हुए गङ्गा एवं यमुना-जलसे गिरिराजको नहलाना उचित है । सभी कार्योंमें ब्राह्मणकी सहायता ले । फिर गौके स्वच्छ दूधकी धारासे तथा बादमें पञ्चामृतसे गिरिवरको स्नान कराना चाहिये । यमुना-जलसे पुनः स्नान करवाकर चन्दन एवं फूल चढ़ावे । मनोरम वस्त्र पहनाकर नैवेद्य अर्पण करनेका विधान है । फिर उन्हें सर्वश्रेष्ठ आसन अर्पण करे । माला और तरह-तरहके आभूषणोंसे विभूषित करना चाहिये । तत्पश्चात् सुन्दर ढंगसे दीपकोंकी पंक्ति सजा दे । तदनन्तर परिक्रमा तथा इसके बाद नमस्कार करनेकी विधि है । फिर हाथ जोड़कर इस प्रकार स्तुति करना प्रारम्भ कर दे । 'जो वृन्दावनकी गोदमें विराजमान हैं, गोलोकके सिरमौर और परिपूर्णतम भगवान्के जो छत्र-स्वरूप हैं; उन आप गोवर्धनके लिये मेरा नमस्कार है ।' इसके बाद आरती करके तब पुष्पाञ्जलि देनी चाहिये । मीठे स्वरसे घण्टा, कांस्य एवं मृदङ्ग आदि भी बजावे । तदनन्तर 'वेदाहमेतं०' इस मन्त्रको पढ़ते हुए धानका लावा बरसाना चाहिये । फिर उनके पास अन्नकूट (भाँति-भाँतिके पक्वान्नोंका पहाड़) लगाकर श्रद्धाके साथ निवेदन करे । ऐसी पाँच पंक्तियाँ सजावे, जिनमें चौसठ-चौसठ कटोरियाँ हों । सबको गङ्गा-जलसे अथवा यमुना-जलसे भर दे । उसमें तुलसीदल भी मिले रहने चाहिये । फिर छप्पन प्रकारके भोग अर्पण करे । यही उत्तम पूजा है । इसके उपरान्त अग्नि और ब्राह्मणकी पूजा करके चन्दन एवं पुष्पोंसे गौ तथा देवताकी भी अर्चना करनी चाहिये । फिर, सुपात्र ब्राह्मणोंको जिमावे । भोज्यपदार्थ सुगन्धपूर्ण एवं मधुर होने चाहिये । इतर जो चाण्डाल प्रभृति हैं, उन्हें भी स्वादिष्ट भोजन देना उचित है । गोपी और गोपालगण एकत्रित होकर गौओंको नृत्य करावें । मङ्गलसूचक 'जय' शब्दकी ध्वनि करनी चाहिये । यही गोवर्धनके उत्सवका विधान है ।

यत्र गोवर्धनाभावस्तत्र पूजाविधिं शृणु ।
गोमयैर्वर्धनः कार्यस्तदाकारः परोन्नतः ॥
पुष्पव्यूहैर्लताजालैरीषिकाभिः समन्वितः ।
पूजनीयः सदा मर्त्यैर्गिरिर्गोवर्धनो भुवि ॥

× × × ×

गिरिराजमहापूजां वर्षे वर्षे करोति यः ।
इह सर्वसुखं भुक्त्वामुत्र मोक्षं प्रयाति सः ॥

(गर्गसंहिता गिरिराज० १ । २७-२८, ३२)

अब जहाँ गिरिराज नहीं हैं, वहाँ कैसे पूजा की जाती है, इसकी विधि सुनिये । गोबरका एक बहुत ऊँचा ढेर एकत्रित करे । वह गिरिराजके आकारका होना चाहिये । उसपर फूल, लता और काश (सींक) इत्यादि भी भलीभाँति सजा दे । इस प्रकार धरातलपर सजाकर मनुष्योंको गोवर्धनगिरिका पूजन करना चाहिये ।

× × × ×

जो पुरुष प्रतिवर्ष गिरिराजकी पूजा करता है, वह संसारमें सारे सुखोंको भोगकर अन्तमें सायुज्य पदको प्रयाण कर जाता है ।

श्रेष्ठ मित्रके लक्षण और अहैतुक प्रेममें एकत्वकी अनुभूति

श्रीभगवानुवाच

यो मित्रतां निष्कपटं करोति
निष्कारणो धन्यतमः स एव ।
विधाय मैत्रीं कपटं विदध्यात्
तं लम्पटं हेतुपटं नटं धिक् ॥
कर्मेन्द्रियाणीह यथा रसादीं-
स्तथा सकामा मुनयः सुखं यत् ।
मनाङ् न जानन्ति हि नैरपेक्ष्यं
गूढं परं निर्गुणलक्षणं तत् ॥
जानन्ति सन्तः समदर्शिनो ये
दान्ता महान्तः किल नैरपेक्षाः ।
ते नैरपेक्ष्यं परमं सुखं मे
ज्ञानेन्द्रियादीनि यथा रसादीन् ॥
सर्वं हि भावं मनसः परस्परं
न ह्येकतो भामिनि जायते ततः ।
प्रेमैव कर्तव्यमतो मयि स्वतः
प्रेम्णा समानं भुवि नास्ति किंचित् ॥
यथा हि भाण्डीरवने मनोरथो
बभूव राधे हि तथा भविष्यति ।
अहैतुकं प्रेम च सद्भिराश्रितं
तच्चापि सन्तः किल निर्गुणं विदुः ॥
ये राधिकायां त्वयि केशवे मयि
भेदं न कुर्वन्ति हि दुग्धशौक्ल्यवत् ।
त एव मे ब्रह्मपदं प्रयान्ति
तद्धयैतुकस्फूर्जितभक्तिलक्षणाः ॥

(गर्गसंहिता मथुरा० ४ । १९—२४)

श्रीभगवान्‌ने श्रीराधिकाजीसे कहा—जो किसी वस्तुकी कामना नहीं रखता और शुद्धान्तःकरण हो मित्रता स्थापित करता है, वही अनेकशः धन्यवादका पात्र है । जो मैत्री करके हृदयमें कपट रखता है, वह तो महाधूर्त है । उसने तो कार्यवश स्वाँग रच लिया है—ऐसे नट (मित्र) को धिक्कार है । मेरी प्रीतिसे जो आनन्द होता है, वह निर्गुण, निरपेक्ष, अचिन्त्य एवं परम उत्तम है । उस सुखको सकामी मुनि नहीं जान सकते, ठीक उसी प्रकार जैसे रस आदि गुणको कर्मेन्द्रियाँ नहीं जानतीं । जो उत्तम पुरुष कामनासे रहित हैं, जिनकी सबमें समान दृष्टि है तथा जो मन-पर नियन्त्रण रखनेवाले हैं, वे ही मेरे अपेक्षाशून्य श्रेष्ठ सुखको जानते हैं; जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियोंको रसका ज्ञान मालूम होता रहता है । भामिनि ! शुद्धान्तःकरणसे परस्पर सभी भावनाएँ बना लेनी चाहिये । किसी एक ओरसे भावना ठीक नहीं होती । अतः उचित है कि तुमलोग मुझमें प्रेम ही करो; क्योंकि प्रेमके समान संसारमें दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है । राधिके ! भाण्डीरवनमें जिस प्रकारकी कामना की गयी, वह वैसे-की-वैसे ही पूर्ण होगी; क्योंकि साधुपुरुषोंद्वारा किया हुआ प्रेम हेतुरहित होता है । अतः उससे जो सुख मिलता है, वह निर्गुण है, ऐसा महात्माओंका अनुभव है । जिस प्रकार दूध तथा शुक्लवर्णमें अभेद सम्बन्ध है, वैसे ही तुम राधिका और मैं केशव—इन दोनोंमें जो किसी तरहका अन्तर नहीं समझते, वे ही मेरे परम धामके अधिकारी होते हैं; क्योंकि उनके हृदयमें अहैतुक प्रेमके भाव उठते रहते हैं ।

सरस्वतीके स्तोत्रकी महिमा

देवर्षि नारदजीने सरस्वतीके जिस स्तोत्रके द्वारा संगीत-विद्या प्राप्त की, नारदकृत उस स्तोत्रका* वर्णन करके भगवान् श्रीकृष्णने राधाजीसे कहा—

स्तोत्रं जाड्यापहं दिव्यं प्रातरुत्थाय यः पठेत् ।

नारद उवाच

* नवार्कबिम्बद्युतिमुद्गलज्ज्वल-
साटङ्ककेयूरकिरीटकङ्कणान् ।
स्फुरत्क्वणन्नूपुररावरञ्जितां
नमामि कोटीन्दुमुखीं सरस्वतीम् ॥

नारदोक्तं सरस्वत्याः स विद्यावान् भवेदिह ॥
(गर्गसंहिता मथुरा० २१ । ४५)

यह भगवती सरस्वतीका जाड्यापह मक दिव्य स्तोत्र है । नारद मुनिने इसकी रचना की है । संसारमें जो मनुष्य प्रातःकाल इसका पाठ करेगा, उसे तत्काल विद्याकी प्राप्ति हो सकती है ।

भगवान् श्रीकृष्णका उद्धवद्वारा व्रजवासियोंको संदेश-प्रेषण

भगवान् श्रीकृष्णके व्रजसे मथुरा आ जाने तथा कंसवधके बाद वहीं रुक जानेपर व्रजवासी गोपवृन्द, गोपियाँ तथा नन्द-दम्पति आदि अत्यन्त दीन, दुखी और शोकविकल हो गये थे । भगवान्को जब यह पता लगा तब उनके हृदयमें भक्तवत्सलता उमड़ आयी और उन्होंने अपने प्रिय सखा उद्धवको बुलाया और उनसे इस प्रकार कहा—

उद्धवके द्वारा संदेश

नन्दबाबा, यशोदामैया, श्रीराधा, गोपीजन तथा सखाओंके प्रेमकी महिमाका वर्णन—

गच्छ शीघ्रं व्रजं हे सखे सुन्दरं
श्रीलताकुञ्जपुञ्जादिभिर्मण्डितम् ।
शैलकृष्णप्रभाचारुवृन्दावनं
गोपगोपीगणैर्गोकुलं संकुलम् ॥
एकपत्रं तु नन्दाय वै दीयतां
वा द्वितीयं यशोदाकरे चैव भोः ।
वा तृतीयं त्विदं राधिकायै सखे
तत्र गत्वा हि तन्मन्दिरं सुन्दरम् ॥
वा चतुर्थं सखिभ्यः शिशुभ्यः शुभं
कौशलं दीयतां पत्रमेवं पृथक् ।
गोपिकानां शतेभ्यश्च यूथेभ्य उन्-
मोहितानां च देयानि पत्राणि च ॥
मे पिता नन्दराजो घृणी मन्मना
मे च माता यशोदा स्मरत्याशु माम् ।
वाक्यवृन्दैः शुभैर्नीतिवित् त्वं तयो-
र्मे परां प्रीतिमाराद् द्वयोरावह ॥
मत्प्रिया राधिका मद्वियोगातुरा
मन्यते मां विना खं जगन्मोहतः ।
मद्वियोगाधिमासां मदुक्तैः पदै-
र्मोचय त्वं भवान् दक्षिणो वाक्पथे ॥
गोपबालाः सुदामादयो मत्प्रिया
मां सखायं विना तेऽपि मोहातुराः ।
देहि तेषां सुखं मित्रवत् श्रीव्रजे
स्वल्पकालेन तत्रागमिष्याम्यहम् ॥
गोपिका मद्वियोगाधिवेगातुरा
मन्मनस्काश्च मत्प्राप्तदेहासवः ।
या मदर्थे च संत्यक्तलोकाबला-
स्ताः कथं नात्र मन्त्रिन् बिभर्मि स्वतः ॥
ता असूंस्त्यक्तुमत्रोद्यता उद्धव
याभिरद्यापि कृच्छ्रैर्धृताश्चासवः ।
मद्वियोगाधिमासां मदुक्तैः पदै-
र्मोचय त्वं भवान् दक्षिणो वाक्पथे ॥
(गर्गसंहिता मथुरा० १३ । ४—११

वन्दे सदाहं कलहंसउद्धृते
चलत्पदे चञ्चलचञ्चुसम्पुटे ।
निर्धौतमुक्ताफलहारसंचयं
संधारयन्तीं सुभगां सरस्वतीम् ॥
वराभयं पुस्तकवल्लकीयुतं
परं दधानां विमले करद्वये ।
नमाम्यहं त्वां शुभदां सरस्वतीं
जगन्मयीं ब्रह्ममयीं मनोहराम् ॥
तरङ्गितक्षौमसिताम्बरे परे
देहि स्वरज्ञानमतीव मङ्गले ।
येनाद्वितीयो हि भवेयमक्षरे
सर्वोपरि स्यां परागमण्डले ॥
(गर्गसंहिता मथुरा० २१ । ४१—४४)

श्रीभगवान्‌ने उद्धवजीसे कहा—सखे ! व्रजका दृश्य बड़ा मनोहर है । सुन्दर लताएँ तथा गहन वन उसकी शोभा बढ़ा रहे हैं । गोवर्धन-गिरि एवं यमुना नदीसे वह कमनीय जान पड़ता है । वहाँ रमणीय वृन्दावन भी है । वह गोप और गोपियोंसे भरा-पूरा है । अतः तुम शीघ्र ही वहाँ जाओ । मित्र ! एक पत्र नन्दबाबाके लिये है । दूसरा तुम यशोदा मैयाके हाथमें देना । सखे ! यह तीसरा पत्र श्रीराधिकाके लिये है । इसे तुम उनके सुन्दर भवनमें जाकर उन्हें दे देना । यह चौथा पत्र मेरी सखी गोपियों और गोपशिशुओंको देकर मेरा कुशल-समाचार कहना । मुझमें आसक्त उन्मादिनी सैकड़ों गोपियोंके यूथ हैं । उन्हें भी अलग-अलग पत्र देना । मेरे पिता नन्दजी हैं । उनका मन मुझमें ही अटका रहता है । वे सदा स्नेह किया करते हैं । मेरी माता यशोदाजी हैं । वे मुझे सदा स्मरण करती रहती हैं । तुम नीतिके जानकार हो । अतः यद्यपि मैं दूर देशमें हूँ; फिर भी मेरे सुन्दर वाक्यों-द्वारा मेरा अनन्य प्रेम उनके सामने प्रकट करना । राधिकाजी मेरी प्राणप्यारी हैं । मेरे वियोगसे उनका मन छटपटाता रहता है । मेरे बिना सारा संसार उन्हें सूना प्रतीत हो रहा है । तुम वचन-चतुर हो—बातचीत करनेमें बड़े कुशल हो; अतः मेरे वचनोंद्वारा मेरे विरह-से पीड़िता श्रीराधाका दुःख दूर करना । श्रीदामा आदि गोप मेरे मित्र हैं और मैं उनका सखा हूँ । मेरे बिना वे भी मोहमें पड़कर अतिशय चिन्तित हैं । अतः तुम व्रजमें जाकर उन्हें मेरे ही समान सुख प्रदान करना । मैं भी थोड़े ही दिनोंमें वहाँ जाऊँगा । सखे ! मेरे वियोगकी विकट व्याधिसे गोपियाँ अत्यन्त आतुर हैं । उनका मन निरन्तर केवल मुझमें ही लगा रहता है; उनके प्राण तथा शरीर—सब मुझमें आ मिले हैं । मेरे लिये उन अबलाओंने लोक-लज्जाको ठुकरा दिया है; फिर मैं स्वयं उनकी देख-रेख कैसे न करूँ ? उद्धवजी ! आजतक बड़ी ही कठिनाईसे उन्होंने अपने प्राणोंको रोक रक्खा है; किंतु अब वे उन्हें छोड़ना ही चाहती हैं । तुम वार्तालापमें बड़े प्रवीण हो; अतः मैंने जो कुछ कहा है; ठीक वही, अपने वचनोंद्वारा उन्हें समझाकर मेरे वियोगसे उत्पन्न उनकी मर्म-पीड़ाको मिटाना ।

श्रीराधिकाको उपदेश

जब उद्धवजी लौटकर मथुरा आये तो उनके द्वारा व्रजके प्रेम तथा वहाँकी स्थिति सुनकर तथा बार-बार व्रजगमनके लिये आग्रह करनेपर भगवान्‌ने स्वयं व्रजयात्राका विचार किया । उन्होंने सारे राजकार्यका भार श्रीबलदेवजीको सँभला कर भक्त को दर्शन देनेके लिये उद्धवको साथ लेकर व्रजके लिये प्रस्थान किया । व्रज आनेपर उनका खूब स्वागत हुआ । संध्यासमय कदलीवनमें वे श्रीराधाजीसे मिले । उन्हें वहाँ अत्यन्त विरहाकुल देखकर उन्हें इस प्रकार उपदेश दिया—

मा शोकं कुरु राधे त्वं त्वत्प्रीत्याहं समागतः ॥
आवयोर्भेदरहितं तेजश्चैकं द्विधा जनैः ॥
यथा हि दुग्धधावल्ये तथाऽऽवां सर्वदा शुभे ।
यत्राहं त्वं सदा तत्र विश्लेषो नहि चावयोः ॥
पूर्णब्रह्म परं चाहं तटस्था त्वं जगत्प्रसूः ।
विश्लेष आवयोर्मध्ये मृषाज्ञानेन पश्य तत् ॥
यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा जलं सूक्ष्मरूपं तेजो व्याप्तं यथैधसि ॥
अन्तर्बहिर्यथा पृथ्वी पृथग्भूता वरानने ।
तथा विकाररहितोऽमलवत्त्रिगुणैरहम् ॥
तथा त्वं पश्य मद्भावं सदानन्दो भवेत्ततः ।

(गर्गसंहिता मथुरा० २० । १९—२२½)

श्रीभगवान् बोले—राधे ! तुम शोक मत करो । तुम्हारी ही प्रसन्नताके लिये मैं यहाँ आया हूँ । मुझमें और तुममें कोई भेद नहीं है—दोनों एक ही तेज हैं । साधारण मनुष्यको ही दो तरहका भान हुआ करता है । कल्याणी ! जिस प्रकार दुग्ध और धावल्यमें अभेद-सम्बन्ध है, वैसे ही हमलोगोंमें सदा ऐक्यभाव रहता है । जहाँ मैं रहता हूँ वहाँ तुम्हारा भी निवास-स्थान है । हम दोनोंमें कभी भी वियोग नहीं होता । मैं

पूर्णब्रह्म परमेश्वर हूँ और तुम जगज्जननी तटस्था मेरी ही प्रकृति हो। मेरे तथा तुम्हारे बीचमें भेदकी कल्पना मिथ्या है । देखो, यह अज्ञानसे ही भास रहा । वरानने ! जिस प्रकार आकाशमें स्थित महान् वायु सदा सर्वत्र वर्तमान है; जैसे जल सूक्ष्मरूपसे सभी जगह ओत-प्रोत रहता है; लकड़ीके कण-कणमें जैसे अग्नि व्याप्त है, भीतर और बाहर जैसे सब जगह पृथ्वीकी सत्ता रहती है, वैसे ही मैं भी त्रिगुण-विकाररहित अमल हूँ और सर्वत्र विद्यमान हूँ । इस प्रकार तुम मेरे भावको सर्वत्र देखो तो तुम्हें परमानन्दकी प्राप्ति होगी ।

नारदजीका भगवान्‌को संगीत सुनाना

एक बार सब लोकोंमें अबाध गतिसे विचरनेवाले नारद मुनि तुम्बुरुके साथ भगवान् श्रीकृष्णके निकुञ्जमें पधारे। उस प्रसंगका वर्णन करते हुए श्रीकृष्णने राधाजीसे कहा—

नारदजीके संगीतसे भगवान् श्रीकृष्णकी 'ब्रह्मद्रव'के रूपमें परिणति; उस ब्रह्मद्रव गङ्गाजीकी महिमाका वर्णन

कौ युवां कुत आयातौ किं कार्यं वदतं च नः ।
इत्थं सखीभिः सम्पृष्टावूचतुर्मुनितुंबुरू ॥
गायकौ कुशलौ रामा आवां वीणाकलध्वनिम् ।
परिपूर्णतमं साक्षाच्छ्रीकृष्णं राधिकापतिम् ॥
कलं परं श्रावयितुमागतौ वन्दिनां वरौ ।
कथनीयमिदं वाक्यं श्रीकृष्णाय महात्मने ॥
श्रुत्वा सख्यस्तथा मह्यं निवेद्याथ मदाज्ञया ।
आगत्याज्ञां ददुर्यातुं वन्दिभ्यां श्लक्ष्णया गिरा॥
मन्निकुञ्जाङ्गने भ्राजत् कोटचर्कज्योतिराकुले ।
क्वचित्कौस्तुभरत्नाढ्ये प्रचलच्चारुचामरे ॥
लोलन्मुक्ताफलच्छत्रे सखीकोटिसमन्विते ।
महापद्मस्थितं साक्षात् त्वया मां तावपश्यताम् ॥
नत्वा प्रदक्षिणीकृत्य तत्र स्थित्वा मदाज्ञया ।
स्तुत्वा मां मद्गुणान् वक्तुं तेनासावुपचक्रमे ॥
आतोद्यं विनदन् वीणां देवदत्तां स्वरामृतम् ॥
संतुष्टोऽहं शिरो धुन्वंस्तेन श्लाघ्यं च तत्स्वरम् ।
दत्त्वाऽऽत्मानं प्रेमपरो जलत्वं गतवानहम् ॥
यज्जलं मद्वपुर्जातं तद्वै ब्रह्मद्रवं विदुः ।
कोटिशः कोटिशोऽण्डानां राशयः संलुठन्ति हि॥
इन्द्रायणफलानीवोन्नते तस्मिन् जले शुभे ।
पृश्निगर्भमिदं राधे ब्रह्माण्डं मत्पदं स्फुटम् ॥
भित्त्वा तच्चागतं साक्षादस्मिन् मन्वन्तरे शुभे ।
तत् स्वर्धुनीं विदुः पूर्वे श्रीगङ्गां पापहारिणीम् ॥
दिवि मन्दाकिनी प्रोक्ता गङ्गा भागीरथी क्षितौ ।
अधो भोगवती प्रोक्ता त्रिधा त्रिपथगामिनी ॥
यत् स्नातुं गच्छतः पुंसः प्रणतस्य पदे पदे ।
राजसूयाश्वमेधानां फलमस्ति न दुर्लभम् ॥
गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति ॥
दृष्ट्वा जन्मशतं पापं पीत्वा जन्मशतद्वयम् ।
स्नात्वा जन्मसहस्रेण हन्ति गङ्गा कलौ युगे ॥
सफलं जन्म वै तेषां ये पश्यन्ति हि जाह्नवीम् ।
वृथा जन्म गतं तेषां ये न पश्यन्ति जाह्नवीम् ॥

(गर्गसंहिता मथुरा० २२ । १३—२९)

भगवान् बोले—राधाजी ! जब नारद और तुम्बुरु निकुञ्जमें आये,उस समय वहाँ बहुत-सी सखियाँ थीं।उन्होंने उनसे पूछा—'तुम कौन हो ? कहाँसे आये हो और तुम्हें कौन-सा कार्य है ? यह बताओ।' तब नारद और तुम्बुरु दोनों कहने लगे—'देवियो ! हम दोनों कुशल गायक हैं । वन्दीजनोंमें हमारी प्रधानता है । हमारी वीणासे मधुर ध्वनि निकलती है । राधिकावल्लभ भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् पूर्णब्रह्म परमेश्वर हैं। उन्हें संगीत सुनानेके लिये हम यहाँ आये हैं। तुमलोगोंको उचित

है कि हमारी यह बात श्रीकृष्णचन्द्रके सामने निवेदन कर दो।' उन वन्दियोंकी बात सुनकर सखियाँ आयीं और उन्होंने मुझसे निवेदन किया तब मैंने उन्हें आज्ञा दी। अतः उन्होंने बाहर जाकर मीठी वाणीसे निकुञ्जमें जानेके लिये उनसे कहा। मेरे निकुञ्जके प्राङ्गणमें कोटि सूर्यके समान ज्योति फैल रही थी। कौस्तुभमणि एवं रत्न जड़े हुए थे। साथ ही सुन्दर चँवर झला जा रहा था। बहुत बड़ी संख्यामें वहाँ सखियाँ मौजूद थीं। ऐसा छत्र ताना गया था, जिसमें मोतियोंकी झालर लटक रही थी। वहाँ एक बड़ा विशाल कमल था। उसीपर मैं विराजमान था। साथमें तुम भी थीं। वहीं उन लोगोंने मेरी झाँकी की; फिर मुझे प्रणाम किया और मेरी प्रदक्षिणा की। तदनन्तर मेरी आज्ञासे वे वहाँ ही बैठ गये। फिर मेरी स्तुति करके उन्होंने मेरा गुणानुवाद गाना आरम्भ कर दिया। नारदमुनिने तुम्बुरुको साथमें ले लिया। भगवान्की दी हुई वीणा उठायी और उसके तार चढ़ाये। फिर अमृतके सदृश मीठे स्वरवाला अद्वितीय संगीत प्रारम्भ हो गया। वह स्वर बहुत ही सराहनीय था, अतः उसे सुनकर मेरा सर्वाङ्ग पुलकित हो गया। साथ ही मेरा मस्तक झूमने लगा। फिर तो प्रेमके वशीभूत होकर मैं अपनापन भूलकर जलमय हो गया। मेरा शरीर जो जलके रूपमें परिणत हुआ, उसे लोग 'ब्रह्मद्रव' मानते हैं। कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंके समूह उसमें गोता लगाते रहते हैं। राधिके! यह 'पृश्निगर्भ' नामक ब्रह्माण्ड है। इसकी भी उत्पत्ति मेरे चरणोंसे हुई है। यह भी उसी श्रेष्ठ जलमें इन्द्रायणफलके समान लुढ़कता है। कल्याणी! पूर्व समयकी बात है; वही जल इस मन्वन्तरमें ब्रह्माण्डका भेदन करके आया। लोग इसे स्वर्धुनी 'गङ्गा' कहते हैं। यह पापोंका विनाश करनेवाली है। इस त्रिपथगामिनी गङ्गाके तीन भेद हैं। इसे स्वर्गमें 'मन्दाकिनी' कहा जाता है, पृथ्वीपर लोग इसे 'भागीरथी' कहते हैं और पातालमें यह 'भोगवती'के नामसे प्रसिद्ध है। इसमें स्नान करनेके लिये जाते हुए प्रणत मनुष्यको पग-पगपर अश्वमेध तथा राजसूय-यज्ञ-फलकी प्राप्ति सुलभ हो जाती है। जो पुरुष सौ योजन दूरसे भी 'गङ्गा-गङ्गा' नामका उच्चारण करता है, उसकी सम्पूर्ण पापोंसे मुक्ति हो जाती है और वह विष्णुलोकका अधिकारी बन जाता है। कलियुगमें गङ्गाका दर्शन करनेसे सौ जन्मके, पान करनेसे दो सौ जन्मके और अवगाहन करनेसे हजार जन्मोंके पापका नाश होता है। जिन्होंने गङ्गाके दर्शन कर लिये, उनका जन्म सफल हो गया। परंतु जिन्हें गङ्गाजीके दर्शन नहीं हुए, उनका जन्म लेना व्यर्थ ही है।

श्रीराधिकाका विचित्र प्रेम

एक बार सूर्यग्रहणके अवसरपर श्रीराधाजी गोपीसमूहके साथ कदलीवनसे प्रभासक्षेत्रके सिद्धाश्रम-तीर्थमें गयीं। वहाँ द्वारकावासियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्ण भी पधारे हुए थे। वहाँ श्रीरुक्मिणी आदि भगवान्की पटरानियोंने श्रीराधाजीको नहाते देख श्रीकृष्णसे उनका परिचय पूछा। भगवान्ने बतलाया कि 'ये कीर्तिनन्दिनी, व्रजेश्वरी श्रीराधाजी हैं'। तत्पश्चात् वे श्रीराधाजीको अपने निवासस्थानपर ले गयीं। रुक्मिणीजीने उनकी अनेक प्रकारसे पूजा की और अन्तमें उनके सोनेके समय भगवान् श्रीकृष्णके आग्रहसे दूध पीनेको दे आयीं। फिर वापस आकर श्रीकृष्णके पैर दाबने लगीं। पैर दाबते समय उन्हें भगवान्के पैरोंमें ताजे फफोले पड़े दीख पड़े। जब उन्होंने उन फफोलोंका कारण पूछा, तो भगवान् उनसे इस प्रकार कहने लगे—

श्रीराधिकाया हृदयारविन्दे
पादारविन्दं हि विराजते मे।
अहर्निशं प्रश्रयपाशबद्धं
लवं लवार्धं न चलत्यतीव॥
अद्योष्णदुग्धप्रतिपानतोऽङ्घ्रा-
वुच्छालकास्ते मम प्रोच्छलन्ति।
मन्दोष्णमेवं हि न दत्तमस्यै
युष्माभिरुष्णं तु पयः प्रदत्तम्॥

(गर्गसंहिता द्वारका० १७। ३५-३६)

श्रीराधिकाके कमलरूपी हृदयमें मेरे चरणकमल अहर्निश विराजमान रहते हैं । उन्होंने प्रेममयी रस्सी-द्वारा उन्हें अच्छी तरह बाँध रक्खा है । अतः एक क्षण अथवा आधे क्षणके लिये भी ये कहीं इधर-उधर नहीं हो सकते । आज उन्होंने अत्यन्त उष्ण दूध पी लिया है । इसीसे मेरे पैरमें छाले पड़ गये । तुमने उन्हें बहुत गरम दूध पिला दिया । इन्हें थोड़ा ही गरम दूध देना चाहिये था; किंतु ऐसा नहीं हुआ ।

पटरानियाँ श्रीराधाजीके प्रेमकी यह स्थिति देखकर चकित रह गयीं ।

नारदजी मोहित हो गये

भगवान् श्रीकृष्णद्वारा सोलह हजार रानियोंके परिग्रहकी बात सुनकर नारदजीको बड़ा कौतूहल हुआ । वे द्वारकामें उनके प्रत्येक घरमें जाकर उनकी पत्नियोंकी स्थिति देखने लगे; पर उन्होंने सभी घरोंमें श्रीकृष्णको देखा और अत्यन्त चकित होकर उनसे इसका रहस्य पूछा । तब भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—

किं करिष्यसि विप्रेन्द्र वृथा भ्रमसि मोहितः ।
गेहे गेहे स्वपत्नीनां मया त्वं तु विलोकितः ॥
मया धृतानि रूपाणि त्वद्भयादपिसत्तम ।
नाहं दास्ये दमं तुभ्यं विप्रत्वात् प्रार्थयाम्यहम् ॥
सर्वेषां चैव देवोऽहं मम देवाश्च ब्राह्मणाः ।
ये द्रुह्यन्ति द्विजान् मूढाः सन्ति ते मम शत्रवः ॥
ये पूजयन्ति विप्रांश्च मम भावेन भूजनाः ।
ते भुञ्जन्ति सुखं चात्र ह्यन्ते यास्यन्ति तत्पदम् ॥
मायया मम पुर्यां त्वं मोहितश्चापि मा खिदः ।
सर्वे मुह्यन्ति देवर्षे ब्रह्मरुद्रादयः सुराः ॥

(गर्गसंहिता अश्वमेध० ५५ । ५०–५४)

‘द्विजराज ! मैंने आपको अपनी स्त्रियोंके प्रत्येक घरमें देखा है । आप मोहमें पड़कर व्यर्थमें घूम रहे हैं । इससे आप क्या लाभ उठायेंगे ? देवर्षे ! मुझे आपका डर था; अतएव मैंने बहुत-से रूप धारण कर लिये । आप ब्राह्मण हैं इससे मैं आपको दण्ड नहीं दे सकता, अतः प्रार्थना करता हूँ; मैं सबका देवता हूँ, और मेरे देवता ब्राह्मण हैं । जो अविवेकीजन ब्राह्मणोंसे द्वेष रखते हैं, वे मेरे शत्रु हैं । जो मनुष्य मेरी भावनासे ब्राह्मणोंकी पूजा करते हैं, उन्हें संसारमें सुखकी उपलब्धि होती है और अन्तमें वे मेरे धामके अधिकारी होते हैं । देवर्षे ! आप मेरी पुरीमें आकर मायासे मोहित हो गये थे । ब्रह्मा तथा रुद्र आदि सभी देवताओंका ज्ञान भी यहाँ कुण्ठित हो जाता है; अतः आपको खेद नहीं करना चाहिये ।

[योगवासिष्ठ]

योगवासिष्ठके अनुसार अर्जुनोपाख्यानमें अर्जुनके प्रति भगवान् श्रीकृष्णके उपदेश

आत्माका शुद्ध स्वरूप

अनन्तमव्यक्तमनादिमध्य-
मात्मानमालोकय संविदात्मन् ।
संविद्वपुः स्फारमलब्धदोष-
मजोऽसि नित्योऽसि निरामयोऽसि ॥

(योगवासिष्ठ ६ । ५२ । ३९)

अर्जुन ! तुम ज्ञानस्वरूप आत्मा हो । इस आत्माका आदि, मध्य और अन्त नहीं है । इसका कोई स्थूल रूप भी नहीं है । तुम विशुद्ध आत्मस्वरूप ही हो । तुम अपरिच्छिन्न (अतः सर्वथा निर्दोष) चैतन्यस्वरूप, नित्य, नीरोग तथा अज्ञान एवं उसके कार्योंसे सर्वथा असंस्पृष्ट हो ।

अहंकार महान् विष है

अहन्त्वविषचूर्णेन येषां कायो न मारितः।
कुर्वन्तोऽपि हरन्तोऽपि न च ते निर्विषूचिकाः॥
(योगवासिष्ठ ६ । २ । ५३ । १०)

जिनका शरीर अहंकाररूपी विषसे नष्ट नहीं हुआ, वे सब प्रकारके कार्योंको करते तथा उनका फल भोगते हुए भी सभी राग-रोगादि दोषोंसे मुक्त तथा स्वस्थ हैं।

ममतारूपी मलके परित्यागमें ही कल्याण है

न क्वचिद्राजते कायो ममतामेध्यदूषितः।
प्राज्ञोऽप्यतिबहुज्ञोऽपि दुःशील इव मानुषः॥
(योगवासिष्ठ ६ । २ । ५३ । ११)

जैसे अत्यन्त बुद्धिमान् तथा विशेषज्ञ व्यक्ति भी दुष्ट-स्वभावका होनेसे शोभा नहीं पाता, उसी प्रकार ममतारूपी मलमें लिपटा हुआ प्राणी भी कहीं शोभा नहीं पाता।

सर्वत्र ईश्वरकी भावना करो

ईश्वरार्पितसर्वार्थ ईश्वरात्मा निरामयः।
ईश्वरः सर्वभूतात्मा भव भूपितभूतलः॥
(योगवासिष्ठ ६ । २ । ५३ । १८)

अपने सम्पूर्ण स्वार्थोंको ईश्वरमें अर्पितकर अपने आपको ईश्वरकी भावनासे भावित करते हुए चिन्ता तथा शोकसे सर्वथा मुक्त बन जाओ। तुम समस्त प्राणियोंकी आत्मा बनकर संसारके भूषण-स्वरूप बन जाओ।

[ब्रह्मवैवर्तपुराण]

वसुदेव-देवकीको पूर्व तपकी याद दिलाकर उन्हें मोक्ष-लाभके लिये वर देना और अपनेको व्रजमें पहुँचानेकी प्रेरणा प्रदान करना

कंसके कारागारमें भाद्रपद मासकी अष्टमी तिथिको जब रातके सात मुहूर्त निकल गये और आठवाँ उपस्थित हुआ, तब आधी रातके समय सर्वोत्कृष्ट शुभ लग्न आया। उस लग्नपर केवल शुभ ग्रहोंकी दृष्टि थी। अशुभ ग्रहोंकी नहीं थी। रोहिणी नक्षत्र और अष्टमी तिथिके संयोगसे जयन्ती नामक योग सम्पन्न हो गया था। जब अर्द्ध चन्द्रमाका उदय हुआ, उस समय लग्नकी ओर देख-देखकर भयभीत हुए सूर्य आदि सभी ग्रह आकाशमें अपनी गतिके क्रमको लाँघकर मीन लग्नमें जा पहुँचे। शुभ और अशुभ सभी ग्रह वहाँ एकत्र हो गये। मेघ वर्षा करने लगे। शीतल हवा चलने लगी। पृथ्वी अत्यन्त प्रसन्न थी। दसों दिशाएँ स्वच्छ हो गयी थीं। ऋषि, मनु, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, देवता और देवियाँ—सभी प्रसन्न थे। अग्निहोत्रकी अग्नियाँ प्रसन्नतापूर्वक प्रज्वलित हो उठीं। स्वर्गमें दुन्दुभियों और आनकोंकी मनोहर ध्वनि होने लगी। खिले हुए पारिजातके पुष्पोंकी झड़ी लग गयी। पृथ्वी नारीका रूप धारण करके स्वयं सूतिकागारमें गयी। वहाँ जय-जयकार, शङ्खनाद तथा हरिकीर्तनका शब्द गूँज रहा था। इसी समय सती देवकी वहाँ गिर पड़ीं। उनके पेटसे वायु निकल गयी और वहीं भगवान् श्रीकृष्ण दिव्य रूप धारण करके देवकीके हृदयकमलके कोशसे प्रकट हो गये।

श्रीकृष्णका शरीर अत्यन्त कमनीय और परम मनोहर था। दो भुजाएँ थीं। हाथमें मुरली शोभा पा रही थी। कानोंमें मकराकृति कुण्डल झलमला रहे थे। मुख मन्दहास्यकी छटासे प्रसन्न जान पड़ता था। वे भक्तोंपर कृपा करनेके लिये कातर-से दिखायी पड़ते थे। श्रेष्ठ मणि-रत्नोंके सार-तत्त्वसे निर्मित आभूषण उनके शरीरकी शोभा बढ़ा रहे थे। पीताम्बरसे सुशोभित श्रीविग्रहकी कान्ति नूतन जलधरके समान श्याम थी। चन्दन, अगुरु, कस्तूरी और कुङ्कुमके द्रवसे निर्मित अङ्गराग सब अङ्गोंमें लगा हुआ था। उनका मुख-चन्द्र शरत्पूर्णिमाके शशधरकी शुभ्र ज्योत्स्नाको तिरस्कृत कर रहा था। बिम्बफलके सदृश लाल अधरके कारण उसकी मनोहरता और बढ़ गयी थी। माथेपर मोरपंखके मुकुट तथा उत्तम रत्नमय किरीटसे श्रीहरिकी दिव्य ज्योति और भी जाज्वल्यमान हो उठी थी। टेढ़ी कमर, त्रिभङ्गी झाँकी, वनमालाका शृङ्गार, वक्षमें श्रीवत्सकी स्वर्णमयी रेखा और उसपर मनोहर कौस्तुभमणिकी भव्य प्रभा अद्भुत शोभा दे

रही थी। वे शान्तस्वरूप भगवान् श्रीहरि ब्रह्मा और महादेवजीके भी परम कान्त (प्राणवल्लभ) हैं। वसुदेव और देवकीने उन्हें अपने समक्ष देखा। उन्हें बड़ा विस्मय हुआ। वसुदेवजीने अपनी पत्नी देवकीके साथ अश्रुपूर्ण नयन, पुलकित शरीर तथा नतमस्तक हो हाथ जोड़ भक्तिभावसे उनकी स्तुति की।

वसुदेवजीकी बात सुनकर भक्तोंपर अनुग्रहके लिये कातर रहनेवाले प्रसन्नवदन श्रीहरिने स्वयं इस प्रकार कहा—

तपसां च फलेनैव पुत्रोऽहं तव साम्प्रतम्।
वरं वृणीष्व भद्रं ते भविष्यति न संशयः॥
पुरा तपस्विनां श्रेष्ठः सुतपास्त्वं प्रजापतिः।
पत्नी ते पृश्निनाम्नी च तपसाऽऽराधितस्त्वया॥
पुत्रो मत्सदृशस्तत्र दृष्ट्वा मां च वृतो वरः।
मया दत्तो वरस्तुभ्यं मत्समो भविता सुतः॥
दत्त्वा तुभ्यं वरं तात मनसाऽऽलोच्य चिन्तितम्।
मत्समो नास्ति भुवने पुत्रोऽहं तेन हेतुना॥
तपसां च प्रभावेण त्वमेव कश्यपः स्वयम्।
सुतपा देवमातेयमदितिश्च पतिव्रता॥
अधुना कश्यपांशस्त्वं वसुदेवः पिता मम।
देवकी देवमातेयमदितेरंशसम्भवा॥
त्वत्तोऽदित्यां वामनोऽहं पुत्रस्तेंऽशेन सम्भवः।
अधुना परिपूर्णोऽहं पुत्रस्ते तपसां फलात्॥
मां वा त्वं पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन वा पुनः।
मां प्राप्तोऽसि महाप्राज्ञ जीवन्मुक्तो भविष्यसि॥
यशोदाभवनं शीघ्रं मां गृहीत्वा व्रजं व्रज।
संस्थाप्य तत्र मां तात मायामादाय स्थापय॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ७। ९२—१००)

मैं तपस्याओंके फलसे ही इस समय तुम्हारा पुत्र हुआ हूँ। तुम इच्छानुसार वर माँगो। तुम्हारा कल्याण होगा, इसमें संशय नहीं। पूर्वकालमें तुम तपस्वी-जनोंमें श्रेष्ठ प्रजापति कश्यप थे और ये सुतपा माता अदिति तुम्हारे साथ थीं। तुमने अपनी इन तपस्विनी पत्नी अदितिके साथ तपस्याद्वारा मेरी आराधना की थी। वहाँ मुझे देखकर तुमने मेरे समान पुत्र होनेका वर माँगा और मैंने भी तुम्हें यह वर दिया कि मेरे समान पुत्रकी प्राप्ति होगी। तात! तुम्हें वर देकर मैंने मन-ही-मन विचार किया। फिर यह बात ध्यानमें आयी कि मेरे समान तो कोई त्रिभुवनमें है ही नहीं। इसलिये मैं स्वयं ही तुम्हारे पुत्रभावको प्राप्त हुआ। आप स्वयं कश्यपजी हैं और तपस्याके प्रभावसे इस समय मेरे पिता वसुदेव हुए हैं। ये उत्तम तपस्यावाली पतिव्रता देवमाता अदिति ही इस समय अपने अंशसे मेरी माता देवकीके रूपमें प्रकट हुई हैं। आप और माता अदितिसे ही मैं अंशतः वामनरूपमें अवतीर्ण हुआ था; किंतु इस समय आपके तपके फलसे मैं परिपूर्णतम परमात्मा ही पुत्ररूपमें प्रकट हुआ हूँ। महामते! तुम पुत्रभावसे या ब्रह्मभावसे जब मुझे पा गये हो तो अब निश्चय ही जीवन्मुक्त हो जाओगे। तात! अब तुम मुझे लेकर शीघ्र ही व्रजमें चलो और यशोदाके घरमें मुझे रखकर वहाँ उत्पन्न हुई मायाको ले आओ तथा यहाँ अपने पास उसे रख लो।

ऐसा कहकर श्रीहरि तुरंत वहाँ शिशुरूप हो गये।

नन्दबाबाका शिशु कृष्णको राधाकी गोदमें देना, तरुण श्रीकृष्णका प्राकट्य और उनके द्वारा श्रीराधाके साथ अपनी अभिन्नता, श्रीराधाकी श्रेष्ठता, श्रीराधा-कृष्णमें भेद-बुद्धिकी निन्दा तथा 'राधा' नामके उच्चारणकी महिमाका वर्णन

एक दिन नन्दजी श्रीकृष्णको साथ लेकर वृन्दावनमें गये और वहाँ भाण्डीर उपवनमें गौओंको चराने लगे। उस भू-भागमें स्वच्छ तथा स्वादिष्ट जलसे भरा हुआ एक सरोवर था। नन्दजीने गौओंको उसका जल पिलाया और स्वयं भी पीया। इसके बाद वे बालकको गोदमें लेकर एक वृक्षकी जड़के पास बैठ गये। मुने! इसी समय लीलासे

मानव-शरीर धारण करनेवाले श्रीकृष्णने अपनी योगमायाद्वारा अकस्मात् आकाशको मेघ-मालासे आच्छादित कर दिया। नन्दजीने देखा—आकाश बादलोंसे ढक गया है। वनका भीतरी भाग और भी श्यामल हो गया है। वर्षाके साथ जोर-जोरसे हवा चलने लगी है। बड़े जोरकी गड़गड़ाहट हो रही है। वज्रकी दारुण गर्जना सुनायी देती है। मूसलाधार पानी बरस रहा है और वृक्ष काँप रहे हैं। उनकी डालियाँ टूट-टूटकर गिर रही हैं। यह सब देखकर नन्दको बड़ा भय हुआ। वे सोचने लगे—'मैं गौओं तथा बछड़ोंको छोड़कर अपने घरको कैसे जाऊँगा और यदि घरको नहीं जाऊँगा तो इस बालकका क्या होगा।' नन्दजी इस प्रकार सोच ही रहे थे कि श्रीहरि उस समय जलकी वर्षाके भयसे रोने लगे। उन्होंने पिताके कण्ठको जोरसे पकड़ लिया। इसी समय राधा श्रीकृष्णके समीप आयीं। उनकी अङ्ग-कान्ति मनोहर चम्पाके फूलोंकी प्रभाको चुराये लेती थी। उनके एक हाथमें सहस्र दलोंसे युक्त उज्ज्वल क्रीडाकमल सुशोभित था और वे अपने श्रीमुखकी शोभा देखनेके लिये हाथमें रत्नमय दर्पण लिये हुए थीं।

उस निर्जन वनमें उन्हें देखकर नन्दजीको बड़ा विस्मय हुआ। वे करोड़ों चन्द्रमाओंकी प्रभासे सम्पन्न हो दसों दिशाओंको उद्भासित कर रही थीं। नन्दरायजीने उन्हें प्रणाम किया। उनके नेत्रोंसे अश्रु झरने लगे और मस्तक भक्ति-भावसे झुक गया। वे बोले—'देवि! गर्गजीके मुखसे तुम्हारे विषयमें सुनकर मैं यह जानता हूँ कि तुम श्रीहरिकी लक्ष्मीसे भी बढ़कर प्रेयसी हो। साथ ही यह भी जान चुका हूँ कि ये श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण महाविष्णुसे भी श्रेष्ठ, निर्गुण एवं अच्युत हैं; तथापि मानव होनेके कारण मैं भगवान् विष्णुकी मायासे मोहित हूँ। भद्रे! अपने इन प्राणनाथको ग्रहण करो और जहाँ तुम्हारी मौज हो, चली जाओ। अपना मनोरथ पूर्ण कर लेनेके पश्चात् मेरा यह पुत्र मुझे लौटा देना।' यों कहकर नन्दने भयसे रोते हुए बालकको राधाके हाथमें दे दिया। राधाने बालकको ले लिया और मुखसे मधुर हास प्रकट किया। वे नन्दसे बोलीं—'बाबा! यह रहस्य दूसरे किसीपर प्रकट न हो, इसके लिये यत्नशील रहना।'

ऐसा कह श्रीकृष्णको दोनों बाँहोंसे सानन्द गोदमें लेकर श्रीराधा अपनी रुचिके अनुसार वहाँसे दूर ले गयीं। उन्होंने रासमण्डलका स्मरण किया। इसी बीचमें राधाने योगमाया-निर्मित उत्तम रत्नमय मण्डप देखा, जो सैकड़ों रत्नमय कलशोंसे सुशोभित था। उसके भीतर चन्दन, अगुरु, कस्तूरी और केसरके द्रवसे युक्त मालती-मालाओंके समूहसे पुष्पशय्या प्रस्तुत की गयी थी। वहाँ नाना प्रकारकी भोग-सामग्री संचित थी। दीवारोंमें दिव्य दर्पण लगे हुए थे। श्रेष्ठ मणियों, मुक्ताओं और माणिक्योंकी मालाओंके जालसे उस मण्डपको सजाया गया था। देवी राधा उस मण्डपको देखकर प्रसन्नतापूर्वक उसके भीतर चली गयीं। वहाँ उन्होंने कर्पूर आदिसे युक्त ताम्बूल तथा रत्नमय कलशमें रक्खा हुआ स्वच्छ, शीतल एवं मनोहर जल देखा। नारद! वहाँ सुधा और मधुसे भरे हुए अनेक रत्नमय कलश शोभा पा रहे थे। उस भवनके भीतर पुष्पमयी शय्यापर एक किशोर अवस्थावाले श्यामसुन्दर कमनीय पुरुष सो रहे थे, जो अत्यन्त मनोहर थे। राधाने देखा मेरी गोदमें बालक नहीं है और उधर वे नूतन यौवनशाली पुरुष दृष्टिगोचर हो रहे हैं। यह देखकर सर्वस्मृतिस्वरूपा होनेपर भी राधाको बड़ा विस्मय हुआ। रासेश्वरी उस परम मनोहर रूपको देखकर मोहित हो गयीं। वे प्रेम और प्रसन्नताके साथ अपने लोचन-चकोरोंद्वारा उनके मुख-चन्द्रकी सुधाका पान करने लगीं। उनकी पलकें नहीं गिरती थीं। मनमें प्रेमविहारकी लालसा जाग उठी। उस समय राधाका सर्वाङ्ग पुलकित हो उठा। वे मन्द-मन्द मुस्कराती हुई प्रेम-वेदनासे व्यथित हो उठीं। तब तिरछी चितवनसे अपनी ओर देखती हुई, मुस्कराते मुखारविन्दवाली श्रीराधासे वहाँ श्रीहरिने इस प्रकार कहा—

त्वं मे प्राणाधिका राधे प्रेयसी च वरानने ॥
यथा त्वं च तथाहं च भेदो हि नावयोर्ध्रुवम्।
यथा क्षीरे च धावल्यं यथाग्नौ दाहिका सति ॥
यथा पृथिव्यां गन्धश्च तथाहं त्वयि संततम्।
विना मृदा घटं कर्तुं विना स्वर्णेन कुण्डलम् ॥
कुलालः स्वर्णकारश्च न हि शक्तः कदाचन।
तथा त्वया विना सृष्टिमहं कर्तुं न च क्षमः ॥
सृष्टेराधारभूता त्वं बीजरूपोऽहमच्युतः।
त्वं मे शोभा स्वरूपासि देहस्य भूषणं यथा।
कृष्णं वदन्ति मां लोकास्त्वयैव रहितं यदा ॥
श्रीकृष्णं च तदा तेऽपि त्वयैव सहितं परम्।

त्वं च श्रीस्त्वं च सम्पत्तिस्त्वमाधारस्वरूपिणी ॥
सर्वशक्तिस्वरूपासि सर्वरूपोऽहमक्षरः ।
यदा तेजःस्वरूपोऽहं तेजोरूपासि त्वं तदा ॥
न शरीरी यदाहं च तदा त्वमशरीरिणी ।
सर्वबीजस्वरूपोऽहं सदा योगेन सुन्दरि ॥
त्वं च शक्तिस्वरूपा च सर्वस्त्रीरूपधारिणी ।
ममाङ्गांशस्वरूपा त्वं मूलप्रकृतिरीश्वरी ॥
शक्त्या बुद्ध्या च ज्ञानेन मया तुल्या वरानने ।
आवयोर्भेदबुद्धिं च यः करोति नराधमः ॥
तस्य वासः कालसूत्रे यावच्चन्द्रदिवाकरौ ।
पूर्वान् सप्त परान् सप्त पुरुषान् पातयत्यधः ॥
कोटिजन्मार्जितं पुण्यं तस्य नश्यति निश्चितम् ।
अज्ञानादावयोर्निन्दां ये कुर्वन्ति नराधमाः ॥
पच्यन्ते नरके घोरे यावच्चन्द्रदिवाकरौ ।

(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० १५ । ५७—६९½)

सुमुखि राधे ! तुम मेरे लिये प्राणोंसे भी बढ़कर प्रियतमा हो । जैसी तुम हो, वैसा मैं हूँ; निश्चय ही हम दोनोंमें भेद नहीं है । जैसे दूधमें धवलता, अग्निमें दाहिकाशक्ति और पृथ्वीमें गन्ध होती है; इसी प्रकार तुममें मैं व्याप्त हूँ । जैसे कुम्हार मिट्टीके बिना घड़ा नहीं बना सकता तथा जैसे स्वर्णकार सुवर्णके बिना कदापि कुण्डल नहीं तैयार कर सकता; उसी प्रकार मैं तुम्हारे बिना सृष्टि करनेमें समर्थ नहीं हो सकता । तुम सृष्टिकी आधारभूता हो और मैं अच्युत बीजरूप हूँ । साध्वि ! जैसे आभूषण शरीरकी शोभाका हेतु है, उसी प्रकार तुम मेरी शोभा हो । जब मैं तुमसे अलग रहता हूँ, तब लोग मुझे कृष्ण (काला-कलूटा) कहते हैं और जब तुम साथ हो जाती हो तो वे ही लोग मुझे श्रीकृष्ण (शोभाशाली श्रीकृष्ण-)की संज्ञा देते हैं । तुम्हीं श्री हो, तुम्हीं सम्पत्ति हो और तुम्हीं आधारस्वरूपिणी हो । तुम सर्वशक्तिस्वरूपा हो और मैं अविनाशी सर्वरूप हूँ । जब मैं तेजःस्वरूप होता हूँ, तब तुम तेजोरूपिणी होती हो । जब मैं शरीररहित होता हूँ, तब तुम भी अशरीरिणी हो जाती हो । सुन्दरि ! मैं तुम्हारे संयोग-से ही सदा सर्वबीजस्वरूप होता हूँ । तुम शक्तिस्वरूपा तथा सम्पूर्ण स्त्रियोंका स्वरूप धारण करनेवाली हो । मेरा अङ्ग और अंश ही तुम्हारा स्वरूप है । तुम मूल-प्रकृति ईश्वरी हो । वरानने ! शक्ति, बुद्धि और ज्ञानमें तुम मेरे ही तुल्य हो । जो नराधम हम दोनोंमें भेद-बुद्धि करता है, उसका कालसूत्र नामक नरकमें तबतक निवास होता है, जबतक जगत्‌में चन्द्रमा और सूर्य विद्यमान हैं । वह अपने पहले और बादकी सात-सात पीढ़ियोंको नरकमें गिरा देता है । उसका करोड़ों जन्मोंका पुण्य निश्चय ही नष्ट हो जाता है । जो नराधम अज्ञानवश हम दोनोंकी निन्दा करते हैं, वे जबतक चन्द्रमा और सूर्यकी सत्ता है, तबतक घोर नरकमें पकाये जाते हैं ।

राशब्दं कुर्वतस्त्रस्तो ददामि भक्तिमुत्तमाम् ॥
धाशब्दं कुर्वतः पश्चाद्यामि श्रवणलोभतः ।
ये सेवन्ते च दत्त्वा मामुपचारांश्च षोडश ॥
यावज्जीवनपर्यन्तं या प्रीतिर्जायते मम ।
सा प्रीतिर्मम जायेत राधाशब्दात्ततोऽधिका ।
प्रिया न मे तथा राधे राधावक्ता ततोऽधिकः ॥
ब्रह्मानन्तः शिवो धर्मो नरनारायणावृषी ।
कपिलश्च गणेशश्च कार्तिकेयश्च मत्प्रियः ॥
लक्ष्मीः सरस्वती दुर्गा सावित्री प्रकृतिस्तथा ।
मम प्रियाश्च देवाश्च तास्तथापि न तत्समाः ॥
ते सर्वे प्राणतुल्या मे त्वं मे प्राणाधिका सती ।
भिन्नस्थानस्थितास्ते च त्वं च वक्षःस्थले स्थिता ॥
या मे चतुर्भुजा मूर्तिर्बिभर्ति वक्षसि प्रियाम् ।
सोऽहं कृष्णस्वरूपस्त्वां विभर्मि स्वयं सदा ॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० १५ । ७०—७६)

'रा' शब्दका उच्चारण करनेवाले मनुष्यको मैं

भयभीत-सा होकर उत्तम भक्ति प्रदान करता हूँ और 'धा' शब्दका उच्चारण करनेवालेके पीछे-पीछे इस लोभसे डोलता-फिरता हूँ कि पुनः 'राधा' शब्दका श्रवण हो जाय। जो जीवनपर्यन्त सोलह उपचार अर्पण करके मेरी सेवा करते हैं, उनपर मेरी जो प्रीति होती है, वही प्रीति 'राधा' शब्दके उच्चारणसे होती है। बल्कि उससे भी अधिक प्रीति 'राधा' नामके उच्चारणसे होती है। राधे! मुझे तुम उतनी प्रिया नहीं हो, जितना तुम्हारा नाम लेनेवाला प्रिय है। 'राधा' नामका उच्चारण करनेवाला पुरुष मुझे राधासे भी अधिक प्रिय है। ब्रह्मा, अनन्त, शिव, धर्म, नर-नारायण ऋषि, कपिल, गणेश और कार्तिकेय भी मेरे प्रिय हैं। लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा, सावित्री, प्रकृति—ये देवियाँ तथा देवता भी मुझे प्रिय हैं; तथापि वे 'राधा' नामका उच्चारण करनेवाले प्राणियोंके समान प्रिय नहीं हैं। उपर्युक्त सब देवता मेरे लिये प्राणके समान हैं; परंतु सती राधे! तुम तो मेरे लिये प्राणोंसे भी बढ़कर हो। वे सब लोग भिन्न-भिन्न स्थानोंमें स्थित हैं; किंतु तुम तो मेरे वक्षःस्थलमें विराजमान हो। जो मेरी चतुर्भुज मूर्ति अपनी प्रियाको वक्षःस्थलमें धारण करती है, वही मैं श्रीकृष्ण-स्वरूप होकर सदा स्वयं तुम्हारा भार वहन करता हूँ।

गोवर्धनकी महिमा तथा गो-माहात्म्य

व्रजमें नन्दरायजी इन्द्रयागकी तैयारी करा रहे थे। इसी बीच बलराम तथा ग्वालवालोंके साथ साक्षात् श्रीहरि शीघ्रतापूर्वक वहाँ आये। वह आयोजन देख श्रीकृष्णने नन्दबाबासे ब्राह्मणोंकी, गोवर्धन पर्वतकी तथा गौओंकी महत्ताका प्रतिपादन करते हुए नन्दबाबाको महेन्द्र-यागका त्याग करके गोवर्धन-पूजन करनेके लिये समझाया और गोवर्धन-महिमा तथा गौ-माहात्म्यका वर्णन करते हुए वे बोले—

गोवर्धनसमस्तात पुण्यवान्न महीतले॥
नित्यं ददाति गोभ्यो यो नवीनानि तृणानि च।
तीर्थस्थानेषु यत्पुण्यं यत्पुण्यं विप्रभोजने॥
सर्वव्रतोपवासेषु सर्वेष्वेव तपःसु च।
यत्पुण्यं च महादाने यत्पुण्यं हरिसेवने॥
भुवः पर्यटने यत्तु सर्ववाक्येषु यद्भवेत्।
यत्पुण्यं सर्वयज्ञेषु दीक्षायां च लभेन्नरः।
तत्पुण्यं लभते प्राज्ञो गोभ्यो दत्त्वा तृणानि च॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० २१। ८६—८९)

पिताजी! इस भूतलपर गोवर्धनके समान पुण्यवान् दूसरा कोई नहीं है; क्योंकि वे नित्यप्रति गौओंको नयी-नयी घास देते हैं। तीर्थ-स्थानोंमें जाकर स्नान-दानसे जो पुण्य प्राप्त होता है, ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे जिस पुण्यकी प्राप्ति होती है, सम्पूर्ण व्रत-उपवास, सब तपस्या, महादान तथा श्रीहरिकी आराधना करनेपर जो पुण्य सुलभ होता है; सम्पूर्ण पृथ्वीकी परिक्रमा, सम्पूर्ण वेद-वाक्योंके स्वाध्याय तथा समस्त यज्ञोंकी दीक्षा ग्रहण करनेपर मनुष्य जिस पुण्यको पाता है; वही पुण्य बुद्धिमान् मानव गौओंको घास देकर पा लेता है।

भुक्तवन्तीं तृणं यश्च गां वारयति कामतः।
ब्रह्महत्या भवेत्तस्य प्रायश्चित्ताद्विशुध्यति॥
सर्वे देवा गवामङ्गे तीर्थानि तत्पदेषु च।
तद्गुह्येषु स्वयं लक्ष्मीस्तिष्ठत्येव सदा पितः॥
गोष्पदाक्तमृदा यो हि तिलकं कुरुते नरः।
तीर्थस्नातो भवेत् सद्यो जयस्तस्य पदे पदे॥
गावस्तिष्ठन्ति यत्रैव तत्तीर्थं परिकीर्तितम्।
प्राणांस्त्यक्त्वा नरस्तत्र सद्यो मुक्तो भवेद् ध्रुवम्॥
ब्राह्मणानां गवामङ्गं यो हन्ति मानवाधमः।
ब्रह्महत्यासमं पापं भवेत् तस्य न संशयः॥
नारायणांशान् विप्रांश्च गाश्च ये घ्नन्ति मानवाः।

कालसूत्रं च ते यान्ति यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० २१ । ९०—९५)

जो घास चरती हुई गायको स्वेच्छापूर्वक चरनेसे रोकता है, उसे ब्रह्महत्याका पाप लगता है तथा वह प्रायश्चित्त करनेपर ही शुद्ध होता है । पिताजी ! सब देवता गौओंके अङ्गोंमें, सम्पूर्ण तीर्थ गौओंके पैरोंमें तथा स्वयं लक्ष्मी उनके गुह्य स्थानों (मल-मूत्रके स्थानों-) में सदा वास करती हैं । जो मनुष्य गायके पद-चिह्नसे युक्त मिट्टीद्वारा तिलक करता है, उसे तत्काल तीर्थ-स्नानका फल मिलता है और पग-पगपर उसकी विजय होती है । गौएँ जहाँ भी रहती हैं, उस स्थानको तीर्थ कहा गया है । वहाँ प्राणोंका त्याग करके मनुष्य तत्काल मुक्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है । जो नराधम ब्राह्मणों तथा गौओंके शरीरपर प्रहार करता है; निःसंदेह उसे ब्रह्महत्याके समान पाप लगता है । जो नारायणके अंशभूत ब्राह्मणों तथा गौओंका वध करते हैं, वे मनुष्य जबतक चन्द्रमा और सूर्यकी सत्ता है, तबतकके लिये 'कालसूत्र'नामक नरकमें जाते हैं ।

गौरीव्रतकी समाप्तिपर श्रीकृष्णका प्रेयसी गोपियोंको अभीष्ट वरदान

श्रीराधा तथा गोपियोंने श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिये एक मास-तक गौरी-व्रत एवं श्रीपार्वतीजीकी आराधना करके उनसे इच्छा-नुसार वर प्राप्त किया। व्रतकी समाप्ति होनेपर श्रीकृष्ण राधिकाके सामने उपस्थित हो गये । राधाने किशोर-अवस्थावाले श्याम-सुन्दर श्रीकृष्णको देखा । उनके श्रीअङ्गोंपर पीताम्बर शोभा पा रहा था । वे नाना प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित थे । घुटनोंतक लटकती हुई मालती-माला एवं वनमाला उनकी शोभा बढ़ा रही थी । उनका प्रसन्नमुख मन्दहास्यसे शोभायमान था । आकृति बड़ी मनोहर थी । उन्होंने विनोदके लिये एक हाथमें मुरली और दूसरे हाथमें लीला-कमल ले रक्खा था । वे करोड़ों कन्दर्पोंकी लावण्य-लीलाके मनोहर धाम थे ।

श्यामसुन्दरके उस मनोहर रूपको देखकर राधाने वेग-पूर्वक आगे बढ़कर उन्हें प्रणाम किया । उन्हें अच्छी तरह देखकर प्रेमके वशीभूत हो वे सुध-बुध खो बैठीं । प्रियतमके मुखारविन्दकी बाँकी चितवनसे देखते-देखते उनके अधरोंपर मुस्कराहट दौड़ गयी और उन्होंने लज्जावश अञ्चलसे अपना मुख ढँक लिया । उनकी बारंबार ऐसी अवस्था हुई । श्रीराधाको देखकर श्याम-सुन्दरके मुख और नेत्र प्रसन्नतासे खिल उठे । समस्त गोपिकाओंके सामने खड़े हुए वे भगवान् श्रीराधासे बोले—'प्राणाधिके राधिके ! तुम मनोवाञ्छित वर माँगो । हे गोप-किशोरियो ! तुम सब लोग भी अपनी इच्छाके अनुसार वर माँगो ।'

राधिका बोलीं—प्रभो ! मेरा चित्तरूपी चञ्चरीक आपके चरण-कमलोंमें सदा रमता रहे । जैसे मधुप कमलमें स्थित हो उसके मकरन्दका पान करता है; वैसे ही मेरा मनरूपी भ्रमर भी आपके चरणारविन्दोंमें स्थित हो भक्तिरसका निरन्तर आस्वादन करता रहे । आप जन्म-जन्ममें मेरे प्राणनाथ हों और अपने चरण-कमलोंकी परम दुर्लभ भक्ति मुझे दें । मेरा चित्त सोते-जागते, दिन-रात आपके स्वरूप तथा गुणोंके चिन्तनमें सतत निमग्न रहे, यही मेरी मनोवाञ्छा है* ।

गोपियाँ बोलीं—प्राणबन्धो ! आप जन्म-जन्ममें हमारे प्राणनाथ हों और श्रीराधाकी भाँति हम सबको भी सदा अपने साथ रक्खें ।

---

*त्वत्पादाब्जे मन्मनोऽलिः सततं भ्रमतु प्रभो ! ।
पातुं भक्तिरसं पद्मे मधुपश्च यथा मधु ॥
मदीयप्राणनाथस्त्वं भव जन्मनि जन्मनि ।
त्वदीयचरणाम्भोजे देहि भक्तिं सुदुर्लभाम् ॥
तव स्मृतौ गुणे चित्तं स्वप्ने ज्ञाने दिवानिशम् ।
भवेन्निमग्नं सततमेतन्मम मनीषितम् ॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० २७ । २३०—२३२

गोपियोंका यह वचन सुनकर प्रसन्न मुखवाले श्रीमान् यशोदानन्दनने कहा—'तथास्तु' (ऐसा ही हो)। तत्पश्चात् उन जगदीश्वरने श्रीराधिकाको प्रेमपूर्वक सहस्रदलोंसे युक्त क्रीडा-कमल तथा मालतीकी मनोहर माला दी। साथ ही अन्य गोपियोंको भी उन गोपीवल्लभने हँसकर प्रसादस्वरूप पुष्प तथा मालाएँ भेंट कीं। तदनन्तर वे बड़े प्रेमसे बोले—

त्रिषु मासेष्वतीतेषु यूयं क्रीडां मया सह।
रासमण्डलरम्ये च वृन्दारण्ये करिष्यथ॥
यथाहं च तथा यूयं नाहं भेदः श्रुतौ श्रुतः।
प्राणोऽहं चैव युष्माकं यूयं प्राणा मम प्रभो॥
व्रतं वो लोकरक्षार्थं न हि स्वार्थमिदं प्रियाः।
सहागताश्च गोलोकाद्गमनं च मया सह॥
गच्छत स्वालयं शीघ्रं वोऽहं जन्मनि जन्मनि।
प्राणेभ्योऽपि गरीयस्यो यूयं मे नात्र संशयः॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० २७। २३७–२४०)

व्रजदेवियो! तीन मास व्यतीत होनेपर वृन्दावनके सुरम्य रासमण्डलमें तुम सब लोग मेरे साथ रासक्रीड़ा करोगी। जैसा मैं हूँ, वैसी ही तुम हो। हममें-तुममें भेद नहीं है। मैं तुम्हारे प्राण हूँ और तुम भी मेरे लिये प्राणस्वरूपा हो। प्यारी गोपियो! तुमलोगोंका यह व्रत लोकरक्षाके लिये है, स्वार्थ-सिद्धिके लिये नहीं; क्योंकि तुमलोग गोलोकसे मेरे साथ आयी हो और फिर मेरे साथ ही तुम्हें वहाँ चलना है। (तुम मेरी नित्य-सिद्धा प्रेयसी हो। तुमने साधन करके मुझे पाया है, ऐसी बात नहीं है।) अब शीघ्र अपने घर जाओ। मैं जन्म-जन्ममें तुम्हारा ही हूँ। तुम मेरे लिये प्राणोंसे भी बढ़कर हो; इसमें संशय नहीं है।

माता, पिता और विद्या-मन्त्रदाता गुरुका पोषण न करनेसे पापकी प्राप्ति

कंस-वधके पश्चात् सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण पिता-माता (वसुदेव-देवकी-) के निकट गये और उनकी बेड़ी-हथकड़ी काटकर उन्होंने माता और पिता दोनोंको बन्धनसे मुक्त किया। तत्पश्चात् उन देवेश्वरने दण्डकी भाँति पृथ्वीपर पड़कर माता-पिताको साष्टाङ्ग प्रणाम किया और भक्तिसे मस्तक झुकाकर उनकी स्तुति की।

श्रीभगवानुवाच

पितरं मातरं विद्यामन्त्रदं गुरुमेव च।
यो न पुष्णाति पुरुषो यावज्जीवं च सोऽशुचिः॥
सर्वेषामपि पूज्यानां पिता वन्द्यो महान् गुरुः।
पितुः शतगुणा माता गर्भधारणपोषणात्॥
माता च पृथिवीरूपा सर्वेभ्यश्च हितैषिणी।
नास्ति मातुः परो बन्धुः सर्वेषां जगतीतले॥
विद्यामन्त्रप्रदः सत्यं मातुः परतरो गुरुः।
न हि तस्मात्परः कोऽपि वन्द्यः पूज्यश्च वेदतः॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ७२। १०९—११२)

श्रीभगवान्ने कहा—जो पुरुष पिता और माताका तथा विद्यादाता एवं मन्त्रदाता गुरुका पोषण नहीं करता, वह जीवनभर पापसे शुद्ध नहीं होता। समस्त पूजनीयोंमें पिता वन्दनीय महान् गुरु हैं; परंतु माता गर्भमें धारण एवं पोषण करती है, इसलिये पितासे भी सौगुनी श्रेष्ठ है। माता पृथ्वीके समान क्षमाशीला और सबका समानरूपसे हित चाहनेवाली है; अतः भूतलपर सबके लिये मातासे बढ़कर बन्धु दूसरा कोई नहीं है। साथ ही यह भी सत्य है कि विद्यादाता और मन्त्रदाता गुरु मातासे भी बहुत बढ़-चढ़कर आदरके योग्य है। वेदके अनुसार गुरुसे बढ़कर वन्दनीय और पूजनीय दूसरा कोई नहीं है।

ऐसा कहकर श्रीकृष्ण और बलरामने माताको प्रणाम

किया । फिर माता-पिताने भी उन दोनोंको आदरपूर्वक गोदमें बैठाकर उन्हें उत्तम मिष्टान्न भोजन करवाया । नन्दजी तथा ग्वाल-बालोंको भी बड़े आदरसे खिलाया । बच्चोंका मङ्गल-कृत्य करवाया और उसके उपलक्ष्यमें भी बहुत-से ब्राह्मणोंको जिमाया एवं उस समय वसुदेवजीने प्रसन्नतापूर्वक ब्राह्मणोंको बहुत धन दान दिया ।

दुर्वासाको अपने परिपूर्णतम स्वरूपका उपदेश

एक समय विप्रवर दुर्वासा द्वारकामें गये । उनके साथ बहुत-से शिष्य भी थे । वहाँ मुनिने श्रीकृष्णको एक ही समय अनेक रानियोंके महलोंमें तथा राजसभामें भी विराजमान देखा । उनके इस अद्भुत वैभवको देख मुनिको बड़ा विस्मय हुआ । फिर वे रुक्मिणी देवीके महलमें श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगे । तब श्रीकृष्णने उन्हें वह ज्ञान बताया जो सत्य, हितकारक, पुरातन, वेदानुमोदित और सत्पुरुषोंको अभिमत है ।

श्रीभगवानुवाच

मा भैर्विप्र शिवांशस्त्वं किं न जानासि ज्ञानतः ।
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ॥
अहमात्मा च सर्वेषां शवाः सर्वे मया विना ।
प्राणिदेहान्मयि गते यान्त्येव सर्वशक्तयः ॥
जातावप्येक एवाहं व्यक्त एव पृथक् पृथक् ।
यो भुङ्क्ते तस्य तृप्तिः स्यान्नान्येषां च कदाचन ॥
पृथग्जीवादि सर्वेषां प्रतिमानं च प्राणिनाम् ।
परिपूर्णतमोऽहं च गोलोके रासमण्डले ॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ११२ । ५४—५७)

श्रीभगवान्‌ने कहा—विप्र ! तुम तो शिवके अंश हो; अतः डरो मत । क्या ज्ञानद्वारा तुम्हें यह नहीं ज्ञात है कि मैं सबका उत्पत्तिस्थान हूँ और सभी मुझसे उत्पन्न होते हैं ? मुने ! मैं ही सबका आत्मा हूँ । मेरे बिना सभी शवतुल्य हो जाते हैं । प्राणियोंके शरीरसे मेरे निकल जानेपर सभी शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं । अकेला मैं ही उत्पन्न होकर पृथक्-पृथक् रूपसे व्यक्त होता हूँ । जो भोजन करता है, उसीकी तृप्ति होती है; दूसरे कभी भी तृप्त नहीं होते । जीवादि समस्त प्राणियोंकी प्रतिमाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं । गोलोक-स्थित रासमण्डलमें परिपूर्णतम मैं ही हूँ ।

भगवान्‌का बलिके समक्ष बाणको न मारनेका आश्वासन

भगवान् श्रीकृष्ण जब बाणासुरका वध करनेको उद्यत-से हुए उस समय राजा बलिने आकर उनकी स्तुति की और बाणकी प्राणरक्षाके लिये अनुरोध किया । तब भगवान्‌ने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—

मा भैर्वत्स गृहं गच्छ सुतलं रक्षितं मया ।
मद्वरेण प्रसादेन त्वत्पुत्रोऽप्यजरामरः ॥
दर्पहानिं करिष्यामि तस्य मूर्खस्य दर्पिणः ।
प्रह्लादाय वरो दत्तो भक्ताय च तपस्विने ॥
ममावध्यश्च त्वद्वंशश्चेति प्रीतेन चेतसा ।
तव पुत्राय दास्यामि ज्ञानं मृत्युञ्जयं परम् ॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ११९ । ६१–६३)

वत्स ! डरो मत ! तुम मेरे द्वारा सुरक्षित अपने गृह सुतल लोकको जाओ । मेरे वरप्रसादसे तुम्हारा यह पुत्र भी अजर-अमर होगा । मैं इस मूर्ख अभिमानीके दर्पका ही विनाश करूँगा; क्योंकि मैंने प्रसन्न चित्तसे अपने तपस्वी भक्त प्रह्लादको ऐसा वर दे रक्खा है कि 'तुम्हारा वंश मेरेद्वारा अवध्य होगा ।' मैं तुम्हारे पुत्रको मृत्युञ्जय नामक परम ज्ञान प्रदान करूँगा ।

श्रीकृष्णका नन्दके प्रति अपने स्वरूप और प्रभावका वर्णन, श्रीराधाके महत्त्वका प्रतिपादन तथा उनके साथ अपने नित्य सम्बन्धका कथन और विभूतियोंका वर्णन

तदनन्तर शोकसे आतुर और पुत्रवियोगसे कातर हो फूट-फूटकर रोते हुए चेष्टाशून्य नन्दबाबाको श्रीकृष्ण और बलरामने आध्यात्मिक आदि दिव्य योगोंद्वारा सानन्द समझाते हुए कहा—

साधन-ज्ञान तथा भगवत्स्वरूपका निरूपण

श्रीभगवानुवाच

निबोध नन्द सानन्दं त्यज शोकं मुदं लभ ।
ज्ञानं गृहाण मद्दत्तं यद्दत्तं ब्रह्मणे पुरा ॥
यद्यद्दत्तं च शेषाय गणेशायेश्वराय च ।
दिनेशाय मुनीशाय योगीशाय च पुष्करे ॥
कः कस्य पुत्रः कस्तातः का माता कस्यचित्कुतः ।
आयान्ति यान्ति संसारं परं स्वकृतकर्मणा ॥
कर्मानुसाराज्जन्तुश्च जायते स्थानभेदतः ।
कर्मणा कोऽपि जन्तुश्च योगीन्द्राणां नृपस्त्रियाम्
द्विजपत्न्यां क्षत्रियायां वैश्यायां शूद्रयोनिषु ।
तिर्यग्योनिषु कश्चिच्च कश्चित्पश्वादियोनिषु ॥
ममैव मायया सर्वे सानन्दा विषयेषु च ।
देहत्यागे विषण्णाश्च विच्छेदे बान्धवस्य च ॥
प्रजाभूमिधनादीनां विच्छेदो मरणाधिकः ।
नित्यं भवति मूढश्च न च विद्वाञ्छुचा युतः ॥
मद्भक्तो भक्तियुक्तश्च मद्याजी विजितेन्द्रियः ।
मन्मन्त्रोपासकश्चैव मत्सेवानिरतः शुचिः ॥
मद्भयाद्वाति वातोऽयं रविर्भाति च नित्यशः ।
भाति चन्द्रो महेन्द्रश्च कालभेदे च वर्षति ॥
वह्निर्दहति मृत्युश्च चरत्येव हि जन्तुषु ।
बिभर्ति वृक्षः कालेन पुष्पाणि च फलानि च ॥
निराधारश्च वायुश्च वाय्वाधारश्च कच्छपः ।
शेषश्च कच्छपाधारः शेषाधाराश्च पर्वताः ॥
तदाधाराश्च पातालाः सप्त एव हि पङ्क्तितः ।
निश्चलं च जलं तस्माज्जलस्था च वसुन्धरा ॥
सप्तस्वर्गं धराधारं ज्योतिश्चक्रं ग्रहाश्रयम् ।
निराधारश्च वैकुण्ठो ब्रह्माण्डेभ्यः परो वरः ॥
तत्परश्चापि गोलोकः पञ्चाशत्कोटियोजनात् ।

(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ७३ । ३—१५½)

श्रीभगवान् बोले—बाबा ! प्रसन्नतापूर्वक मेरी बात सुनो । शोक छोड़ो और हर्षको हृदयमें स्थान दो । मैं जो ज्ञान देता हूँ, इसे ग्रहण करो। यह वही ज्ञान है, जिसे पूर्वकालमें मैंने पुष्करमें ब्रह्मा, शेष, गणेश, महेश (शिव), दिनेश (सूर्य), मुनीश और योगीशको प्रदान किया था । यहाँ कौन किसका पुत्र, कौन किसका पिता और कौन किसकी माता है ? यह पुत्र आदिका सम्बन्ध किस कारणसे है ? जीव अपने पूर्वकृत कर्मसे प्रेरित हो इस संसारमें आते और परलोकमें जाते हैं । कर्मके अनुसार ही उनका विभिन्न स्थानोंमें जन्म होता है । कोई जीव अपने शुभकर्मसे प्रेरित हो योगीन्द्रोंके कुलमें जन्म लेता है और कोई राज-रानियोंके पेटसे उत्पन्न होता है । कोई ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या अथवा शूद्राओंके गर्भसे जन्म ग्रहण करता है; किसी-किसीकी उत्पत्ति पशु-पक्षी आदि तिर्यक् योनियोंमें होती है । सब लोग मेरी ही मायासे विषयोंमें आनन्द लेते हैं और देहत्याग-कालमें विषाद करते हैं । बान्धवोंके साथ बिछोह होनेपर भी लोगोंको बड़ा कष्ट होता है । संतान, भूमि और धन आदिका विच्छेद मरणसे भी अधिक कष्टदायक प्रतीत होता है । मूढ़ मनुष्य ही सदा इस तरहके शोकसे ग्रस्त होता है; विद्वान् पुरुष नहीं । जो मेरा भक्त है, मेरे भजनमें लगा है, मेरा यजन करता है, इन्द्रियोंको वशमें रखता है, मेरे मन्त्रका उपासक है और निरन्तर मेरी सेवामें संलग्न रहता है; वह परम पवित्र माना गया है ।

मेरे भयसे ही यह वायु चलती है, सूर्य और चन्द्रमा प्रतिदिन प्रकाशित होते हैं, इन्द्र भिन्न-भिन्न समयोंमें वर्षा करते हैं, आग जलाती है और मृत्यु सब जीवोंमें विचरती है। मेरा भय मानकर ही वृक्ष समयानुसार पुष्प और फल धारण करता है। वायु बिना किसी आधारके चलती है। वायुके आधारपर कच्छप, कच्छपके आधारपर शेष और शेषके आधारपर पर्वत टिके हुए हैं। पङ्क्तिबद्ध विद्यमान सात पाताल पर्वतोंके सहारे स्थित हैं। पातालोंसे जल सुस्थिर है और जलके ऊपर पृथ्वी टिकी हुई है। पृथ्वी सात स्वर्गोंकी आधारभूमि है। ज्योतिश्चक्र अथवा नक्षत्रमण्डल ग्रहोंके आधारपर स्थित हैं; परंतु वैकुण्ठ बिना किसी आधारके ही प्रतिष्ठित है। वह समस्त ब्रह्माण्डोंसे परे तथा श्रेष्ठ है। उससे भी परे गोलोकधाम है। वह वैकुण्ठधामसे पचास करोड़ योजन ऊपर बिना आधारके ही स्थित है।

राधाका महत्त्व और श्रीकृष्णके साथ अभेद

रत्नसिंहासनस्था च गोपीलक्षैश्च सेविता।
कोटिपूर्णं शुशोभाढ्या श्वेतचम्पकसंनिभा ॥
अमूल्यरत्ननिर्माणभूषणैश्च विभूषिता।
अमूल्यरत्नवसना बिभ्रती रत्नदर्पणम् ॥
रत्नपद्मं च रुचिरं सव्यदक्षिणहस्ततः।
दाडिम्बकुसुमाकारं सिन्दूरं सुमनोहरम् ॥
सुशोभितं मृगमदैरिष्टैश्चन्दनबिन्दुभिः।
दधती कबरीभारं मालतीमाल्यमण्डितम् ॥
एवम्भूतं तत्र राधा गोपीभिः परिसेविता ॥
श्वेतचामरहस्ताभिस्तत्तुल्याभिश्च सर्वतः।
अमूल्यरत्ननिर्माणैर्भूषिताभिश्च भूषणैः ॥
मत्प्राणाधिष्ठातृदेवी देवीनां प्रवरा वरा।
तेन भारावतरणं करिष्यामि शुवः पितः ॥
तदा यास्यामि गोलोकं तया सार्धं सुनिश्चितम्।
त्वया यशोदया चापि गोपैर्गोपीभिरेव च ॥
वृषभानेन तत्पत्न्या कलावत्या च बान्धवैः।
एवं च नन्द सानन्दं यशोदां कथयिष्यसि ॥
त्यज शोकं महाभाग व्रजैः सार्धं व्रजं व्रज।
अहमात्मा च साक्षी च निर्लिप्तः सर्वजीविषु ॥
जीवो मत्प्रतिबिम्बश्च इत्येवं सर्वसम्मतम्।
प्रकृतिर्मद्विकारा च साप्यहं प्रकृतिः स्वयम् ॥
यथा दुग्धे च धावल्यं न तयोर्भेद एव च।
यथा जले तथा शैत्यं यथा वह्नौ च दाहिका ॥
यथाऽऽकाशे तथा शब्दो भूमौ गन्धो यथा नृप।
यथा शोभा च चन्द्रे च यथा दिनकरे प्रभा ॥
यथा जीवस्तथाऽऽत्मानं तथैव राधया सह।
त्यज त्वं गोपिकाबुद्धिं राधाया मयि पुत्रताम् ॥
अहं सर्वस्य प्रभवः सा च प्रकृतिरीश्वरी।

(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ७३ । ३६—१०½)

वहाँ (गोलोकमें) श्रीराधारानी रत्नमय सिंहासनपर विराजमान होती हैं। लाखों गोपियाँ उनकी सेवामें रहती हैं। वे करोड़ों पूर्ण चन्द्रमाओंकी शोभासे सम्पन्न हैं। श्वेत चम्पाके समान उनकी गौर कान्ति है। वे बहुमूल्य रत्नोंद्वारा निर्मित आभूषणोंसे विभूषित हैं। अमूल्य रत्नजटित वस्त्र पहने, बायें हाथमें रत्नमय दर्पण तथा दाहिनेमें सुन्दर रत्नमय कमल धारण करती हैं। उनके ललाटमें अनारके फूलकी भाँति लाल और अत्यन्त मनोहर सिन्दूर शोभित होता है। उसके साथ ही कस्तूरी और चन्दनके सुन्दर बिन्दु भी भालदेशका सौन्दर्य बढ़ाते हैं। वे सिरपर बालोंका चूड़ा धारण करती हैं, जो मालतीकी मालासे अलंकृत होता है। ऐसी राधा गोलोकमें गोपियोंद्वारा सेवित होती हैं। उनकी सेवामें रहनेवाली गोपियाँ भी उन्हींके समान हैं। वे हाथमें श्वेत चँवर लिये रहती हैं और बहुमूल्य रत्नोंद्वारा निर्मित आभूषणोंसे विभूषित होती हैं। समस्त देवियोंमें श्रेष्ठ वे राधा ही मेरे प्राणोंकी अधिष्ठात्री देवी हैं। पिताजी! मैं भूतलका भार उतारकर निश्चय ही

श्रीराधा, तुम, माता यशोदा, गोप, गोपीगण, वृषभानुजी, उनकी पत्नी कलावती तथा अन्य बान्धवजनोंके साथ गोलोकको चलूँगा। बाबा! यही बात तुम प्रसन्नतापूर्वक मैया यशोदासे भी कह देना। महाभाग! शोक छोड़ो और व्रजवासियोंके साथ व्रजको लौट जाओ। मैं सबका आत्मा और साक्षी हूँ। सम्पूर्ण जीवधारियोंके भीतर रहकर भी उनसे निर्लिप्त हूँ। जीव मेरा प्रतिबिम्ब है; यही सर्वसम्मत सिद्धान्त है। प्रकृति मेरा ही विकार है अर्थात् वह प्रकृति भी मैं ही हूँ। जैसे दूधमें धवलता होती है; दूध और धवलतामें कभी भेद नहीं होता। जैसे जलमें शीतलता, अग्निमें दाहिका-शक्ति, आकाशमें शब्द, भूमिमें गन्ध, चन्द्रमामें शोभा, सूर्यमें प्रभा और जीवमें आत्मा है; उसी प्रकार राधाके साथ मुझको अभिन्न समझो। तुम राधाको साधारण गोपी और मुझे अपना पुत्र न जानो। मैं सबका उत्पादक परमेश्वर हूँ और राधा ईश्वरी प्रकृति है।

तदनन्तर अपनी विभूतियोंका विस्तृत वर्णन करके श्रीकृष्णने कहा—

सबमें मेरा (भगवान्‌का) निवास

न वैष्णवात् परः प्राणी मन्मन्त्रोपासकश्च यः।
वृक्षेष्वङ्कुररूपोऽहमाकारः सर्ववस्तुषु॥
अहं च सर्वभूतेषु मयि सर्वे च संततम्।
यथा वृक्षे फलान्येव फलेषु चाङ्कुरस्तरोः॥
सर्वकारणरूपोऽहं न च मत्कारणं परम्।
सर्वेशोऽहं न मेऽपीशो ह्यहं कारणकारणम्॥
सर्वेषां सर्वबीजानां प्रवदन्ति मनीषिणः।
मन्मायामोहितजना मां न जानन्ति पापिनः॥
पापग्रस्तेन दुर्बुद्ध्या विधिना वञ्चितेन च।
स्वात्माहं सर्वजन्तूनां स्वात्माहं नादृतः स्वयम्॥
यत्राहं शक्तयस्तत्र क्षुत्पिपासादयस्तथा।
गते मयि तथा यान्ति नरदेहे यथानुगाः॥
हे व्रजेश नन्द तात ज्ञानं ज्ञात्वा व्रजं व्रज।
कथयस्व च तां राधां यशोदां ज्ञानमेव च॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ७३। ९३—९९)

वैष्णवसे बढ़कर दूसरा कोई प्राणी नहीं है। विशेषतः वह, जो मेरे मन्त्रकी उपासना करता है, सर्वश्रेष्ठ है। मैं वृक्षोंमें अङ्कुर तथा सम्पूर्ण वस्तुओंमें उनका आकार हूँ। समस्त भूतोंमें मेरा निवास है, मुझमें सारा जगत् फैला हुआ है। जैसे वृक्षमें फल और फलोंमें वृक्षका अङ्कुर है, उसी प्रकार मैं सबका कारणरूप हूँ; मेरा कारण दूसरा नहीं है। मैं सबका ईश्वर हूँ, मेरा ईश्वर दूसरा कोई नहीं है। मैं कारणका भी कारण हूँ। मनीषी पुरुष मुझे ही सबके समस्त बीजोंका परम कारण बताते हैं। मेरी मायासे मोहित हुए पापीजन मुझे नहीं जान पाते हैं। मैं सब जन्तुओंका आत्मा हूँ; परंतु दुर्बुद्धि और दुर्भाग्यसे वञ्चित पापग्रस्त जीव मुझ अपने आत्माका भी आदर नहीं करते। जहाँ मैं हूँ, उसी शरीरमें सब शक्तियाँ और भूख-प्यास आदि हैं; मेरे निकलते ही सब उसी तरह निकल जाते हैं, जैसे राजाके पीछे-पीछे उसके सेवक। व्रजराज नन्दजी! मेरे बाबा! इस ज्ञानको हृदयमें धारण करके व्रजको जाओ और राधा तथा यशोदा मैयाको इसका उपदेश दो।

इस ज्ञानको भलीभाँति समझकर नन्दजी अपने अनुगामी व्रजवासियोंके साथ व्रजको लौट गये।

साधन-ज्ञानका उपदेश

कुछ समय पश्चात् मैया यशोदाकी प्रेरणासे नन्दजी पुनः आये और भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगे। नन्दजीकी स्तुति सुनकर वे जगदीश्वर बहुत संतुष्ट हुए। नन्दबाबा विरह-ज्वरसे कातर हो गोकुलसे उनके पास आये थे। श्रीभगवान्‌ने उनसे इस प्रकार कहा—

भक्तका कभी अमङ्गल नहीं होता

गच्छ नन्द व्रजं नन्द त्यज शोकं भ्रमं भुवि।
शृणु सत्यं परं ज्ञानं शोकग्रन्थिनिकृन्तनम्॥
न नन्द मम भक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्।

नित्यं सुदर्शनं तांश्च परिरक्षति सर्वतः ॥
कथयस्व यशोदां च गोपीं गोपगणं व्रज ।
तैश्च सर्वैर्जनैः शोकं त्यज स्वमन्दिरं व्रज ॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ७४ । ४, २०, २३)

बाबा ! शोक और भ्रमको छोड़ो तथा व्रजको लौट जाओ । वहाँ जाकर सबको आनन्दित करो । मैं जो परम सत्य ज्ञान बता रहा हूँ, इसे सुनो । यह ज्ञान शोकग्रन्थिका उच्छेद करनेवाला है । तात ! मेरे भक्तोंका कहीं अमङ्गल नहीं होता । मेरा सुदर्शनचक्र प्रतिदिन उनकी सब ओरसे रक्षा करता है । मेरी यह बात यशोदा मैयासे, गोपियोंसे और गोपगणोंसे कहो । उन सबके साथ शोकको त्याग दो और अब अपने घरको जाओ ।

यों कह भगवान् श्रीकृष्ण यादवोंकी सभामें चुप हो गये । तब नन्दजीने पुनः उनसे पूछा—'गोविन्द ! मुझे ऐसा लौकिक ज्ञान बताओ, जिससे तुम्हारे चरणोंको प्राप्त कर सकूँ ।'

साधन-ज्ञान

श्रीभगवानुवाच

शृणु नन्द प्रवक्ष्यामि ज्ञानं च परमाद्भुतम् ।
सुगोपनीयं वेदेषु पुराणेषु च दुर्लभम् ॥
नित्यं च प्रातरुत्थाय रात्रिवासो विहाय च ।
अभीष्टदेवं हृत्पद्मे ब्रह्मरन्ध्रे गुरुं परम् ।
विचिन्त्य मनसा प्रातःकृत्यं कृत्वा सुनिश्चितम् ॥
स्नानं करोति सुप्राज्ञो निर्मलेषु जलेषु च ।
न संकल्पं च कुरुते भक्तः कर्मनिकृन्तनः ॥
स्नात्वा हरिं स्मरेत् संध्यां कृत्वा याति गृहं प्रति ।
प्रक्षाल्य पादौ प्रविशेन्निधाय धौतवाससी ॥
पूजयेत् परमात्मानं मामेव मुक्तिकारणम् ॥
शालग्रामे मणौ यन्त्रे प्रतिमायां जलेऽपि च ।
तथा च विप्रे गवि च गुरुष्वेव विशेषतः ॥
घटेऽष्टदलपद्मे च पात्रे चन्दननिर्मिते ।
आवाहनं च सर्वत्र शालग्रामे जले न च ॥
मन्त्रानुरूपध्यानेन ध्यात्वा मां पूजयेद् व्रती ।
षोडशोपचारद्रव्याणि दद्यान्मूलेन भक्तितः ॥
श्रीदामानं सुदामानं वसुदामानमेव च ।
वीरभानुं शूरभानुं गोपान् पञ्च प्रपूजयेत् ॥
सुनन्दनन्दकुमुदं पार्षदं मे सुदर्शनम् ।
लक्ष्मीं सरस्वतीं दुर्गां राधां गङ्गां वसुन्धराम् ॥
गुरुं च तुलसीं शम्भुं कार्तिकेयं विनायकम् ।
नवग्रहांश्च दिक्पालान् परितः पूजयेत् सुधीः ॥
देवषट्कं च सम्पूज्य सर्वादौ विघ्नविघ्नतः ।
गणेशं च दिनेशं च वह्निं विष्णुं शिवं शिवाम् ॥
श्रुतौ विनिर्मितान् देवान् मोक्षदान् कर्मकृन्तनान् ।
गणेशं विघ्ननाशाय सूर्यं व्याधिविनाशिने ॥
वह्निं शासिनिमित्तेन शान्तौ शुद्धौ भवेद् ध्रुवम् ।
विष्णुं मोक्षनिमित्तेन ज्ञानदानाय शंकरम् ॥
बुद्धिमुक्तिनिमित्तेन पार्वतीं पूजयेत् सुधीः ।
पुष्पाञ्जलित्रयं दत्त्वा स्वस्तोत्रं कवचं पठेत् ॥
गुरुं प्रणम्य सम्पूज्य तत्पश्चात् प्रणमेत् सुरम् ।
कृत्वाह्निकं च सम्पूज्य यथा सुखमुदीरितम् ॥
समाचरेत् स्वकर्मैतद्वेदोक्तं स्वात्मशुद्धये ।

(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ७५ । १, ४—१८½)

श्रीभगवान् बोले—नन्दबाबा ! सुनो; मैं तुम्हें वह परम अद्भुत साधन-ज्ञान प्रदान करता हूँ, जो वेदोंमें अत्यन्त गोपनीय और पुराणोंमें अत्यन्त दुर्लभ है । प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर रातमें पहने हुए कपड़ोंको त्याग दे और हृदयकमलमें इष्टदेवका तथा ब्रह्मरन्ध्रमें परम गुरुका चिन्तन करे । मन-ही-मन उनका चिन्तन करके प्रातःकालिक कृत्य पूर्ण करनेके पश्चात् बुद्धिमान् पुरुष निश्चय ही निर्मल जलमें स्नान करे । कर्मका उच्छेद करनेवाला भक्त कोई कामना या संकल्प नहीं करता । वह स्नान करके भगवान्का स्मरण करता और संध्या करके घरको लौट जाता है । दरवाजेपर दोनों पैर धोकर वह घरमें प्रवेश करे और धुले हुए दो वस्त्र (धोती-चादर) धारण करके मोक्षके कारणभूत मुझ परमात्माका ही

पूजन करे। शालग्राम, मणि, यन्त्र, प्रतिमा, जल, ब्राह्मण, गौ तथा गुरुमें सामान्यरूपसे मेरी स्थिति मानकर इनमें कहीं भी मेरी पूजा करनी चाहिये। कलशमें, अष्टदल कमलमें तथा चन्दननिर्मित पात्रमें भी मेरी पूजा की जा सकती है। पूजनके समय सर्वत्र मेरा आवाहन करे; परंतु शालग्राम-शिलामें और जलमें पूजा करनी हो तो आवाहन न करे। मन्त्रके अनुरूप ध्यानका श्लोक पढ़कर मेरा ध्यान करनेके पश्चात् व्रती पुरुष षोडशोपचारकी सामग्री क्रमशः अर्पित करे और भक्तिभावसे मूलमन्त्रद्वारा पूजा करे। मेरे साथ ही प्रथम आवरणमें श्रीदामा, सुदामा, वसुदामा, वीरभानु और शूरभानु—इन पाँच गोपोंका पूजन करे। तत्पश्चात् सुनन्द, नन्द, कुमुद और सुदर्शन—इन पार्षदोंका; लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा, राधा, गङ्गा और पृथ्वी—इन देवियोंका; गुरु, तुलसी, शिव, कार्तिकेय और विनायकका तथा नवग्रहों और दस दिक्पालोंका सब दिशाओंमें विद्वान् पुरुष पूजन करे। सबसे पहले विघ्न-निवारणके लिये गणेश, सूर्य, अग्नि, विष्णु, शिव और पार्वती—इन छः देवताओंका पूजन करना चाहिये। ये वेदोक्त देवता कर्मबन्धनको काटनेवाले और मोक्ष प्रदान करनेवाले हैं। विघ्नोंके नाशके लिये गणेशका, रोग-निवारणके लिये सूर्यका, अभीष्टकी प्राप्ति तथा अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये अग्निका, मोक्षके निमित्त विष्णुका, ज्ञानदानके लिये शिवका तथा बुद्धि और मुक्तिके लिये विद्वान् पुरुष पार्वतीका पूजन करे। तीन बार पुष्पाञ्जलि देकर उन-उन देवताओंके स्तोत्र और कवचका पाठ करे। गुरुका वन्दन और पूजन करनेके पश्चात् देवताको प्रणाम करे। नित्यकर्म करके देवपूजनके पश्चात् सुखपूर्वक यथाप्राप्त कार्य करनेका विधान है। यह नित्य कर्म वेदवर्णित है। इसका अनुष्ठान करनेवाले पुरुषकी आत्मशुद्धि होती है।

क्या-क्या न करे?

विष्ठां न पश्येत् प्राज्ञश्च व्याधिबीजस्वरूपिणीम्॥
मूत्रं च व्याधिबीजं च परं नरककारणम्।
लिङ्गयोनिं पापदुःखव्याधिदारिद्र्यदायिनीम्॥
उरोमुखं स्तनं स्त्रीणां कटाक्षं हास्यमेव वा।
विनाशबीजं रूपं च विपदां कारणं सदा॥
दिवाभोगं च स्वस्त्रीणां स्वलोपं परिवर्जयेत्।
रोगाणां कारणं चैव चक्षुषोः कर्णयोस्तथा॥
एकतारं च गगनं न पश्येत्तु रुजां भयात्।
देवान् दृष्ट्वा हरिं स्मृत्वा सप्तधा नारदं जपेत्॥
अस्तकाले रविं चन्द्रं न पश्येद् व्याधिकारणम्।
खण्डं समुदितं चन्द्रं न पश्येद् व्याधिकारणम्॥
जलस्थं च रविं चन्द्रं दृष्ट्वा शोकं लभेन्नरः।
बन्धुविच्छेदहेतुं च न पश्येत् परमैथुनम्॥
एकत्र शयनस्थानं भोजनं च गतिं तथा।
न कुर्यात् पापिना सार्धं सर्वं नाशस्य लक्षणम्॥
आलापाद्गात्रसंस्पर्शाच्छयनाश्रयभोजनात्।
संचरन्ति ध्रुवं पापास्तैलबिन्दुरिवाम्भसा॥
हिंस्रजन्तुसमीपं च न गच्छेद् दुःखकारणम्।
खलेन सार्धं मिलनं न कुर्याच्छोककारणम्॥
ब्राह्मणानां गवां चैव वैष्णवानां विशेषतः।
न कुर्याद्धिंसनं हानिं सर्वनाशस्य कारणम्॥
देवदेवलविप्राणां वैष्णवानां तथैव च।
वित्तं धनं च न हरेत् सर्वनाशस्य कारणम्॥
विप्राणां हिंसनं कृत्वा वंशहानिं लभेद् ध्रुवम्।
धनं लक्ष्मीं परित्यज्य भिक्षुकश्च भवेद्व्रजन्॥
देवं च ब्राह्मणं दृष्ट्वा न नमेद्यो लभेच्छुचम्।
न कुर्याद् गुरुभक्तिं यो लभते रौरवं शुचम्॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ७५। १९—३०½, ४१-४२)

बुद्धिमान् पुरुष मल-मूत्र, गुप्ताङ्ग, स्त्रियोंके अङ्ग, कटाक्ष और हास्य आदि न देखे; क्योंकि ये सब विनाशके बीज हैं। उनका रूप सदा ही विपत्तिका कारण है। दिनमें अपनी स्त्रीके साथ भी समागम न करे; क्योंकि दिनमें स्त्री-सहवास करनेसे रोगोंकी उत्पत्ति होती है; नेत्रों और कानोंमें पीड़ा होती है। जब

आकाशमें एक ही तारा उगा हो, उस समय उधर नहीं देखना चाहिये; अन्यथा रोगोंका भय प्राप्त होता है। यदि उस एक तारेको देख ले तो देवताओंका दर्शन और भगवान्का स्मरण करके सात बार नारदजीका नाम जपे। अस्तके समय सूर्य और चन्द्रमाको न देखे; क्योंकि उस समय उन्हें देखनेसे रोगोंकी उत्पत्ति होती है। कृष्णपक्षमें खण्डित चन्द्रमाके उदयकालमें उसे न देखे; अन्यथा रोग होता है। जलमें सूर्य और चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब देखनेसे मनुष्यको शोककी प्राप्ति होती है। पराया मैथुन देखनेसे भाईका वियोग होता है; इसलिये उसे न देखे। पापीके साथ एक जगह सोना, बैठना, भोजन करना और घूमना-फिरना निषिद्ध है; क्योंकि वह सब नाशका लक्षण है। किसीके साथ बात करने, शरीरको छूने, सोने, बैठने और भोजन करनेसे उन दोनोंके पाप एक दूसरेमें अवश्य संचरित होते हैं। ठीक उसी तरह जैसे तेलका बिन्दु पानीमें पड़नेसे फैल जाता है। हिंसक जन्तुके समीप न जाय; क्योंकि उसके पास जाना दुःखका कारण होता है। दुष्टके साथ मेल-जोल न बढ़ावे; क्योंकि वह शोकप्रद होता है। ब्राह्मणों, गौओं तथा विशेषतः वैष्णवोंकी हिंसा न करे। उनकी हिंसा सर्वनाशका कारण बन जाती है। देवता, देवपूजक, ब्राह्मण और वैष्णवोंके धनका अपहरण न करे; क्योंकि वह धन सर्वनाशका कारण होता है। ब्राह्मणोंकी हिंसा करनेसे अवश्य ही वंशकी हानि होती है। हिंसक मनुष्य धन और लक्ष्मीको खोकर भिखमंगा हो जाता है। देवता और ब्राह्मणको देखकर जो मस्तक नहीं झुकाता, वह शोकका भागी होता है। जो गुरुके प्रति भक्तिभाव नहीं रखता, उसे रौरव नरकका कष्ट भोगना पड़ता है।

नरकमें कौन जाते हैं ?

या स्त्री मूढा दुराचारा स्वपतिं हरिरूपिणम् ।
न पश्येत्तर्जनं कृत्वा कुम्भीपाके व्रजेद् ध्रुवम् ॥
वाक्तर्जनाद्भवेत्काको हिंसनात् सूकरो भवेत् ।
सर्पो भवति कोपेन दर्पेण गर्दभो भवेत् ।
कुक्कुरी च कुवाक्येनाप्यन्धश्च विषदर्शनात् ॥
पतिव्रता च वैकुण्ठं पत्या सह व्रजेद् ध्रुवम् ।
शिवं दुर्गां गणपतिं सूर्यं विप्रं च वैष्णवम् ॥
विष्णुं निन्दति यो मूढः स महारौरवं व्रजेत् ।
पितरं मातरं पुत्रं सतीं भार्यां गुरुं तथा ॥
अनाथां भगिनीं कन्यां विनिन्द्य नरकं व्रजेत् ।
विप्रभक्तिविहीनाश्च क्षत्रविट्शूद्रयोनिजाः ॥
हरिभक्तिविहीनाश्च पच्यन्ते नरके ध्रुवम् ।
पतिभक्तिविहीनाश्च युवत्यश्च नराधमाः ॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ७५ । ४३—४९)

जो दुराचारिणी मूढा स्त्री साक्षात् श्रीहरिस्वरूप अपने पतिकी ओर नहीं देखती, उलटे उसे डाँट बताती है; वह निश्चय ही कुम्भीपाकमें जाती है। वाणीद्वारा डाँट बतानेके कारण वह कौएकी योनिमें जन्म लेती है। हिंसा करनेसे सूअर होती है। क्रोध करनेसे सर्पिणी और दर्प दिखानेसे गर्दभी होती है। कुवाक्य बोलनेसे कुक्कुरी और विष देनेसे अन्धी होती है। पतिव्रता स्त्री निश्चय ही पतिके साथ वैकुण्ठधाममें जाती है। जो मूढ़ शिव, पार्वती, गणेश, सूर्य, ब्राह्मण, वैष्णव तथा विष्णुकी निन्दा करता है, वह महारौरव नामक नरकमें गिरता है। पिता, माता, पुत्र, सती पत्नी, गुरु, अनाथा स्त्री, बहिन और पुत्रीकी निन्दा करके मनुष्य नरकगामी होता है। जो क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ब्राह्मणोंके प्रति भक्तिभावसे रहित हैं और भगवद्भक्तिसे भी दूर हैं, वे निश्चय ही नरकमें पकाये जाते हैं। यही दशा पतिभक्तिसे शून्य नराधमा स्त्रियोंकी होती है।

जिनके दर्शनसे पुण्यलाभ होता है, उन वस्तुओं, मनुष्यों, देवताओं, स्थानों और अनुष्ठानों आदिका वर्णन

श्रीनन्दने कहा—सर्वेश्वर ! जिनके दर्शनसे पुण्य लाभ होता है, उन सबका परिचय दो । यह सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल है ।

किस-किसका दर्शन शुभ है ?

श्रीभगवानुवाच

सुब्राह्मणानां तीर्थानां वैष्णवानां च दर्शने ।
देवताप्रतिमादर्शी तीर्थस्नायी भवेन्नरः ॥
सूर्यस्य दर्शने भक्त्या सतीनां दर्शने तथा ।
संन्यासिनां यतीनां च तथैव ब्रह्मचारिणाम् ॥
भक्त्या गवां च वह्नीनां गुरूणां च विशेषतः ।
गजेन्द्राणां च सिंहानां श्वेताश्वानां तथैव च ॥
शुकानां च पिकानां च खञ्जनानां तथैव च ।
हंसानां च मयूराणां चापाणां शङ्खपक्षिणाम् ॥
वत्सप्रयुक्तधेनूनामश्वत्थानां तथैव च ।
पतिपुत्रवतीनां च नराणां तीर्थयायिनाम् ॥
प्रदीपानां सुवर्णानां मणीनां च विशेषतः ।
मुक्तानां हीरकाणां च माणिक्यानां महाशय ॥
तुलसीशुक्लपुष्पाणां दर्शनं पापनाशनम् ।
फलानि शुक्लधान्यानि घृतं दधि मधूनि च ॥
पूर्णकुम्भं च लाजांश्च राजेन्द्र दर्पणं जलम् ।
मालां च शुक्लपुष्पाणां दृष्ट्वा पुण्यं लभेन्नरः ॥
गोरोचनं च कर्पूरं रजतं च सरोवरम् ।
पुष्पोद्यानं पुष्पितं च दृष्ट्वा पुण्यं लभेन्नरः ॥
शुक्लपक्षस्य चन्द्रं च पीयूषं चन्दनं तथा ।
कस्तूरीं कुङ्कुमं दृष्ट्वा नन्द पुण्यं लभेन्नरः ॥
पताकामक्षयवटतरुं देवोत्थितं शुभम् ।
देवालयं देवखातं दृष्ट्वा पुण्यं लभेन्नरः ॥
देवाश्रितं देवघटं सुगन्धिपवनं तथा ।
शङ्खं च दुन्दुभिं दृष्ट्वा सद्यः पुण्यं लभेन्नरः ॥
शुक्तिं प्रवालं रजतं स्फटिकं कुशमूलकम् ।
गङ्गामृदं कुशं ताम्रं दृष्ट्वा पुण्यं लभेन्नरः ॥
पुराणपुस्तकं शुद्धं सबीजं विष्णुयन्त्रकम् ।
स्निग्धदूर्वाक्षतं रत्नं दृष्ट्वा पुण्यं लभेन्नरः ॥
तपस्विनां सिद्धमन्त्रं समुद्रं कृष्णसारकम् ।
यज्ञं महोत्सवं दृष्ट्वा स पुण्यं लभते नरः ॥
गोमूत्रं गोमयं दुग्धं गोधूलिं गोष्ठगोष्पदम् ।
पक्वसस्यान्वितं क्षेत्रं दृष्ट्वा पुण्यं लभेद् ध्रुवम् ॥
रुचिरां पद्मिनीं श्यामां न्यग्रोधपरिमण्डलाम् ।
सुवेषकां सुवसनां दिव्यभूषणभूषिताम् ॥
वेश्यां क्षेमकरीं गन्धं सुदूर्वाक्षततण्डुलम् ।
सिद्धान्नं परमान्नं च दृष्ट्वा पुण्यं लभेन्नरः ॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ७६ । २—१९)

श्रीभगवान् बोले—तात ! उत्तम ब्राह्मण, तीर्थ, वैष्णव, देवप्रतिमा, सूर्यदेव, सती स्त्री, संन्यासी, यति, ब्रह्मचारी, गौ, अग्नि, गुरु, गजराज, सिंह, श्वेत अश्व, शुक, कोकिल, खञ्जरीट, हंस, मोर, नीलकण्ठ, शङ्खपक्षी, बछड़ेसहित गाय, पीपल-वृक्ष, पति-पुत्रवाली नारी, तीर्थ-यात्री मनुष्य, प्रदीप, सुवर्ण, मणि, मोती, हीरा, माणिक्य, तुलसी, श्वेत पुष्प, फल, श्वेत धान्य, घी, दही, मधु, भरा हुआ घड़ा, लावा, दर्पण, जल, श्वेत पुष्पोंकी माला, गोरोचन, कपूर, चाँदी, तालाब, फूलोंसे भरी हुई वाटिका, शुक्लपक्षके चन्द्रमा, अमृत, चन्दन, कस्तूरी, कुङ्कुम, पताका, अक्षयवट, देववृक्ष, देवालय, देवसम्बन्धी जलाशय, देवताके आश्रित भक्त, देवघट, सुगन्धित वायु, शङ्ख, दुन्दुभि, सीपी, मूँगा, रजत, स्फटिकमणि, कुशकी जड़, गङ्गाजीकी मिट्टी, कुशा, ताँबा, पुराणकी पुस्तक, शुद्ध और बीजमन्त्रसहित विष्णुका यन्त्र, चिकनी दूब, अक्षत, रत्न, तपस्वी, सिद्धमन्त्र, समुद्र, कृष्णसार मृग, यज्ञ, महान् उत्सव, गोमूत्र, गोबर, गोदुग्ध, गोधूलि, गोशाला, गोखुर, पकी हुई खेतीसे भरा खेत, सुन्दर पद्मिनी, श्यामा, सुन्दर

स्त्री, क्षेमकरी, गन्ध, दूर्वा, अक्षत और तण्डुल, सिद्धान्न वेष-वस्त्र एवं दिव्य आभूषणोंसे विभूषित सौभाग्यवती और उत्तम अन्न—इन सबके दर्शनसे पुण्यलाभ होता है ।

श्रीकृष्णके द्वारा नन्दको आध्यात्मिक ज्ञानका उपदेश, बाईस प्रकारकी सिद्धि, सिद्ध मन्त्र तथा दुःस्वप्नजनित दोष-नाशके साधनोंका वर्णन

अध्यात्मज्ञान

श्रीभगवानुवाच

स्थिरो भव महाराज व्रजनाथ व्रजं व्रज ।
ज्ञानं लब्ध्वा सदानन्दः शोकमोहविवर्जितः ॥
जलबुद्बुदवत् सर्वं संसारं सचराचरम् ।
प्रभाते स्वप्नवन्मिथ्या मोहकारणमेव च ॥
मिथ्याकृत्रिमनिर्माणहेतुश्च पाञ्चभौतिकः ।
मायया सत्यबुद्ध्या च प्रतीतिं जायते नरः ॥
कामक्रोधलोभमोहैर्वेष्टितः सर्वकर्मसु ।
मायया मोहितः शश्वज्ज्ञानहीनश्च दुर्बलः ॥
निद्रातन्द्राक्षुत्पिपासाक्षमाश्रद्धादयादिभिः ।
लज्जा शान्तिर्धृतिः पुष्टिस्तुष्टिश्चाभिश्च वेष्टितः ॥
मनोबुद्धिचेतनाभिः प्राणज्ञानात्मभिः सह ।
संसक्तः सर्वदेवैश्च यथा वृक्षश्च वायसैः ॥
अहमात्मा च सर्वेशः सर्वज्ञानात्मकः स्मृतः ।
मनो ब्रह्मा च प्रकृतिर्बुद्धिरूपा सनातनी ॥
प्राणा विष्णुश्चेतना सा पद्मा तु चाधिदेवता ।
मयि स्थिते स्थिताः सर्वे गतास्तेऽपि गते मयि ॥
अस्माभिश्च विना देहः सद्यः पतति निश्चितम् ।
पाञ्चभूतो विलीनश्च पञ्चभूतेषु तत्क्षणम् ॥
नामसंकेतरूपं च निष्फलं मोहकारणम् ।
शोकश्चाज्ञानिनां तात ज्ञानिनां नास्ति किञ्चन ॥
निद्रादयः शक्तयश्च ताः सर्वाः प्रकृतेः कलाः ।
लोभादयो ह्यधर्मांशास्तथाहङ्कार पञ्चमः ॥
ते ब्रह्मविष्णुरुद्रांशा गुणाः सत्त्वादयस्त्रयः ।
ज्ञानात्मकः शिवो ज्योतिरहमात्मा च निर्गुणः ॥
सर्वदेहे प्रविष्टोऽहं न लिप्तः सर्वकर्मसु ।
जीवन्मुक्तश्च मद्भक्तो जन्ममृत्युजराहरः ॥
सर्वसिद्धेश्वरः श्रीमान् कीर्तिमान् पण्डितः कविः ।
चतुस्त्रिंशद्विधः सिद्धः सर्वकर्मोपहारकः ॥
तमुपैमि स्वयं सिद्धे भक्तस्त्वन्यश्च वाञ्छति ।

(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ७८।१६-२७, ३०-३१½)

श्रीभगवान्‌ने कहा—महाराज व्रजनाथ पिताजी ! सुस्थिर होओ और इस ज्ञानको पाकर शोक-मोहसे रहित एवं परमानन्दमें निमग्न हो अपने व्रजको पधारो । यह समस्त चराचर जगत् जलके बुलबुलेकी भाँति नश्वर है; प्रातःकालिक स्वप्नकी भाँति मिथ्या और मोहका ही कारण है । पाञ्चभौतिक शरीर एवं संसारके निर्माणका हेतु भी मिथ्या एवं अनित्य है । मायासे ही मनुष्य इसे सत्य मान रहा है । वह समस्त कर्मोंमें काम, क्रोध, लोभ और मोहसे वेष्टित है और मायासे सदा मोहित, ज्ञानहीन एवं दुर्बल है । निद्रा, तन्द्रा, क्षुधा, पिपासा, क्षमा, श्रद्धा, दया, लज्जा, शान्ति, धृति, पुष्टि और तुष्टि आदिसे भी वह आवृत है । जैसे वृक्ष कौए आदि पक्षियोंका आश्रय है, उसी प्रकार मन, बुद्धि, चेतना, प्राण, ज्ञान और आत्मासहित सम्पूर्ण देवता शरीरका आश्रय लेकर रहते हैं । मैं सर्वेश्वर ही पूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ । ब्रह्मा मन हैं, सनातनी प्रकृति बुद्धि हैं, प्राण विष्णु हैं तथा चेतना और उसकी अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी हैं । शरीरमें चेतन आत्मारूपसे मेरे रहनेसे ही सबकी स्थिति है । मेरे चले जानेपर वे भी सब-के-सब चले जाते हैं । हम सबके त्याग देनेपर शरीर तत्काल गिर जाता है;

इसमें संशय नहीं है। उसके पाँचों भूत उसी क्षण समष्टिगत पाँचों भूतोंमें विलीन हो जाते हैं। नाम केवल संकेत-रूप है। वह निष्फल और मोहका कारण है। पिताजी! अज्ञानियोंको ही शरीरके लिये शोक होता है; ज्ञानियोंको किञ्चिन्मात्र भी दुःख नहीं होता। निद्रा आदि जो शक्तियाँ हैं; वे सब प्रकृतिकी कलाएँ हैं। काम, क्रोध, लोभ और मोहके साथ जो पाँचवाँ अहंकार है; वे सब अधर्मके अंश हैं। सत्त्व आदि तीन गुण क्रमशः विष्णु, ब्रह्मा तथा रुद्रके अंश हैं। ज्योतिर्मय शिव ज्ञानस्वरूप हैं और मैं निर्गुण आत्मा हूँ। मैं समस्त शरीरोंमें व्याप्त हूँ; तथापि उनके द्वारा सम्पादित होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंसे निर्लिप्त हूँ। मेरा भक्त जीवन्मुक्त होता है तथा वह जन्म, मृत्यु और जराका निवारण करनेवाला है। भक्त सम्पूर्ण सिद्धोंका स्वामी, श्रीमान्, कीर्तिमान्, विद्वान्, कवि, चौंतीस प्रकारका सिद्ध और समस्त कर्मोंका निराकरण करनेवाला है। उस सिद्ध भक्तको मैं स्वयं प्राप्त होता हूँ; क्योंकि वह मेरे सिवा दूसरी किसी वस्तुकी इच्छा ही नहीं करता।

बाईस सिद्धियाँ और सिद्धमन्त्र

द्वाविंशतिविधं सिद्धे सिद्धिसाधनकारणम्॥
मन्मुखाच्छ्रूयतां नन्द सिद्धमन्त्रं गृहाण च।
अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा॥
ईशित्वं च वशित्वं च तथा कामावसायिता।
दूरश्रवणमेवेति परकायप्रवेशनम्॥
मनोयायित्वमेवेति सर्वज्ञत्वमभीप्सितम्।
वह्निस्तम्भं जलस्तम्भं चिरंजीवित्वमेव च॥
कायव्यूहं च वाक्सिद्धिं मृतानयनमीप्सितम्।
सृष्टीनां करणं चैव प्राणाकर्षणमेव च॥
ॐ सर्वेश्वरेश्वराय सर्वविघ्नविनाशिने
मधुसूदनाय स्वाहेति।
अयं मन्त्रो महागूढः सर्वेषां कल्पपादपः॥
अनेन योगिनः सिद्धा मुनीन्द्राश्च सुरास्तथा।
शतलक्षजपेनैव मन्त्रसिद्धिर्भवेत् सताम्॥
यदि नारायणक्षेत्रे हविष्यान्नरतो जपेत्।
गत्वा कुरु जपं तात काशिकां मणिकर्णिकाम्॥
शृणु नारायणक्षेत्रं जलाधस्तच्चतुष्टयम्।
अत्र नारायणः स्वामी नान्यः स्वामी कदाचन॥
ज्ञानं चात्र मृते लोके मूर्तिर्भवति तस्य वै।
व्रतं विनापि मन्त्रेण जीवन्मुक्तो न संशयः॥
व्रजं कुरु पवित्रं च व्रजनाथ व्रजं व्रज।

(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ७८। ३२—४१½)

पिताजी! सिद्धियोंका साधन करनेवाला सिद्ध उन सिद्धियोंके ही भेदसे बाईस प्रकारका होता है। मेरे मुखसे उसका परिचय सुनो और सिद्धमन्त्र ग्रहण करो। अणिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, महिमा, ईशित्व, वशित्व, कामावसायिता, दूर-श्रवण, परकायप्रवेश, मनोयायित्व, सर्वज्ञत्व, अभीष्टसिद्धि, अग्निस्तम्भ, जलस्तम्भ, चिरजीवित्व, वायुस्तम्भ, क्षुत्पिपासानिद्रास्तम्भन (भूख-प्यास तथा नींदका स्तम्भन), वाक्सिद्धि, इच्छानुसार मृत-प्राणीको बुला लेना, सृष्टिकरण और प्राणोंका आकर्षण—ये बाईस प्रकारकी सिद्धियाँ हैं। सिद्धमन्त्र इस प्रकार है—'**ॐ सर्वेश्वरेश्वराय सर्वविघ्नविनाशिने मधुसूदनाय स्वाहा**'। यह मन्त्र अत्यन्त गूढ है और सबकी मनोवाञ्छा पूर्ण करनेके लिये कल्पवृक्षके समान है। इस मन्त्रके जपसे योगी, मुनीन्द्र और देवता सिद्ध होते हैं। सत्पुरुषोंको एक लाख जप करनेसे ही यह मन्त्र सिद्ध हो जाता है। यदि नारायणक्षेत्रमें हविष्यान्नभोजी होकर इसका जप किया जाय तो शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है। तात! तुम काशीके मणिकर्णिका तीर्थमें जाकर इसका जप करो। मैं तुम्हें नारायणक्षेत्र बतलाता हूँ, सुनो। गङ्गाके जलप्रवाहसे चार हाथतककी भूमिको 'नारायणक्षेत्र' कहा है। उसके नारायण ही स्वामी हैं; दूसरा कोई

कदापि नहीं है। वहाँ मनुष्यकी मृत्यु होनेपर उसे ज्ञान एवं मुक्तिकी प्राप्ति होती है। वहाँ व्रतके बिना भी मन्त्र-जप करनेसे मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है; इसमें संशय नहीं है। व्रजनाथ! व्रजको जाओ और उसे पवित्र करो।

दुःस्वप्नजनित दोष-नाशके तथा विविध सिद्धियोंके साधन

रक्तचन्दनकाष्ठानि घृताक्तानि जुहोति यः।
गायत्र्याश्च सहस्रेण तेन शान्तिर्विधीयते ॥
सहस्रधा जपेद्यो हि भक्त्यैनं मधुसूदनम्।
निष्पापो हि भवेत्सोऽपि दुःस्वप्नः सुखवान् भवेत्॥
अच्युतं केशवं विष्णुं हरिं सत्यं जनार्दनम्।
हंसं नारायणं चैव ह्येतन्नामाष्टकं शुभम् ॥
शुचिः पूर्वमुखः प्राज्ञो दशकृत्वश्च यो जपेत्।
निष्पापोऽपि भवेत्सोऽपि दुःस्वप्नः शुभवान्भवेत्
विष्णुं नारायणं कृष्णं माधवं मधुसूदनम्।
हरिं नरहरिं रामं गोविन्दं दधिवामनम् ॥
भक्त्या चेमानि नामानि दश भद्राणि यो जपेत्।
शतकृत्वो भक्तियुक्तो जप्त्वा नीरोगतां व्रजेत् ॥
लक्षधा हि जपेद्यो हि बन्धनान्मुच्यते ध्रुवम्।
जप्त्वा च दशलक्षं च महावन्ध्या प्रसूयते।
हविष्याशी यतः शुद्धो दरिद्रो धनवान् भवेत् ॥
शतलक्षं च जप्त्वा च जीवन्मुक्तो भवेन्नरः।
शुद्धो नारायणक्षेत्रे सर्वसिद्धिं लभेन्नरः ॥
ओं नमः शिवं दुर्गां गणपतिं कार्तिकेयं दिनेश्वरम्।
धर्मं गङ्गां च तुलसीं राधां लक्ष्मीं सरस्वतीम् ॥
नामान्येतानि भद्राणि जले स्नात्वा च यो जपेत्।
वाञ्छितं च लभेत्सोऽपि दुःस्वप्नः शुभवान् भवेत्॥
ओं ह्रीं श्रीं क्लीं पूर्वदुर्गतिनाशिन्यै महामायायै स्वाहा
कल्पवृक्षो हि लोकानां मन्त्रः सप्तदशाक्षरः।
शुचिश्च दशधा जप्त्वा दुःस्वप्नः सुखवान् भवेत् ॥
शतलक्षजपेनैव मन्त्रसिद्धिर्भवेन्नृणाम्।
सिद्धमन्त्रस्तु लभते सर्वसिद्धिं च वाञ्छिताम् ॥
ॐ नमो मृत्युञ्जयायेति स्वाहान्तं लक्षधा जपेत्।
दृष्ट्वा च मरणं स्वप्ने शतायुश्च भवेन्नरः।
पूर्वोत्तरमुखो भूत्वा स्वप्नं प्राज्ञे प्रकाशयेत् ॥
काश्यपे दुर्गते नीचे देवब्राह्मणनिन्दके।
मूर्खे चैवानभिज्ञे च न च स्वप्नं प्रकाशयेत् ॥
अश्वत्थे गणके विप्रे पितृदेवासनेषु च।
आर्ये च वैष्णवे मित्रे दिवास्वप्नं प्रकाशयेत् ॥

(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ८२। ४२-५६)

फिर नन्दजीके पूछनेपर भगवान्‌ने कहा— जो लाल चन्दनकी लकड़ीको घीमें डुबोकर एक सहस्र गायत्री-मन्त्रद्वारा अग्निमें हवन करता है, उसका दुःस्वप्न-जनित दोष शान्त हो जाता है। जो भक्ति-पूर्वक इन मधुसूदनका एक हजार जप करता है, वह निष्पाप हो जाता है और उसका दुःस्वप्न भी सुखदायक हो जाता है। जो विद्वान् पवित्र हो पूर्वकी ओर मुख करके अच्युत, केशव, विष्णु, हरि, सत्य, जनार्दन, हंस, नारायण—इन आठ शुभ नामोंका दस बार जप करता है, उसका पाप नष्ट हो जाता है तथा दुःस्वप्न भी शुभकारक हो जाता है। जो भक्त भक्ति-पूर्वक विष्णु, नारायण, कृष्ण, माधव, मधुसूदन, हरि, नरहरि, राम, गोविन्द, दधिवामन—इन दस माङ्गलिक नामोंको जपता है, वह सौ बार जप करके नीरोग हो जाता है। जो एक लाख जप करता है, वह निश्चय ही बन्धनसे मुक्त हो जाता है। दस लाख जप करके महावन्ध्या पुत्रको जन्म देती है। शुद्ध एवं हविष्यका भोजन करके जपनेवाला दरिद्र इनके जपसे धनी हो जाता है। एक करोड़ जप करके मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है। नारायणक्षेत्रमें शुद्धतापूर्वक जप करनेवाले मनुष्यको सारी सिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं। जो जलमें स्नान करके 'ॐ नमः' के साथ शिव, दुर्गा, गणपति, कार्तिकेय, दिनेश्वर, धर्म, गङ्गा, तुलसी, राधा, लक्ष्मी, सरस्वती—इन मङ्गल-नामोंका जप करता है, उसका

मनोरथ सिद्ध हो जाता है और दुःस्वप्न भी शुभदायक हो जाता है। '**ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं पूर्वदुर्गतिनाशिन्यै महामायायै स्वाहा**'—यह सप्तदशाक्षर मन्त्र लोगोंके लिये कल्पवृक्षके समान है। इसका पवित्रतापूर्वक दस बार जप करनेसे दुःस्वप्न सुखदायक हो जाता है। एक करोड़ जप करनेसे मनुष्योंको मन्त्र सिद्ध हो जाता है और सिद्धमन्त्रवाला मनुष्य अपनी सारी अभीष्ट सिद्धियोंको पा लेता है। जो मनुष्य '**ॐ नमो मृत्युञ्जयाय स्वाहा**'—इस मन्त्रका एक लाख जप करता है, वह स्वप्नमें मरणको देखकर भी सौ वर्षकी आयुवाला हो जाता है। पूर्वोत्तरमुख होकर किसी विद्वान्से ही अपने स्वप्नको कहना चाहिये; किंतु जो शराबी, दुर्गति-प्राप्त, नीच, देवता और ब्राह्मणकी निन्दा करनेवाला, मूर्ख और (स्वप्नके शुभाशुभ फलका) अनभिज्ञ हो; उसके सामने स्वप्नको नहीं प्रकट करना चाहिये। पीपलका वृक्ष, ज्योतिषी, ब्राह्मण, पितृस्थान, देवस्थान, आर्यपुरुष, वैष्णव और मित्रके सामने दिनमें देखा हुआ स्वप्न प्रकाशित करना चाहिये।

भक्तमहिमा, ब्राह्मण आदि वर्ण, संन्यासी तथा विधवा और पतिव्रता नारियोंके धर्मका वर्णन

संध्यापूतः सदा विप्रः कुरुते मम सेवनम्।
नित्यं भुङ्क्ते मत्प्रसादमनिवेद्य कदाचन॥
अन्नं विष्ठा जलं मूत्रं यद्विष्णोरनिवेदितम्।
विष्णुप्रसादभोजी च जीवन्मुक्तश्च ब्राह्मणः॥
नित्यं तपस्यानिरतः शुचिः शान्तश्च शास्त्रवित्।
व्रततीर्थाश्रितो धर्मी नानाध्यापनसंयुतः॥
विष्णुमन्त्रं गृहीत्वा च कृत्वा च गुरुसेवनम्।
गृहीत्वा तदनुज्ञां च पश्चाद्भवति संगृही॥
दक्षिणां नित्यपूजानां गुरवे च निवेदयेत्।
गुरूणां पोषणं नित्यं कर्तव्यं नात्र संशयः॥
सर्वेषामपि वन्द्यानां पिता चैव महान् गुरुः।
पितुः शतगुणैर्माता मातुः शतगुणैः सुरः॥
मन्त्रदस्तन्त्रदश्चैव सुराणां च चतुर्गुणः।
नारायणश्च भगवान् गुरुः प्रत्यक्ष ईश्वरः॥
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुरेव स्वयं शिवः।
गुरौ च सर्वदेवाश्च तिष्ठन्ति सततं मुदा॥
गुरौ तुष्टे हरिस्तुष्टो यस्मिंस्तुष्टे च देवताः।
गुरुः पुत्रसमं स्नेहं शिष्येषु न करिष्यति।
लभते ब्रह्महत्यां च भुङ्क्ते कृत्वा च नाशिषम्॥
(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ८३। ६-१२, १४-१५)

श्रीभगवान्ने कहा—नन्दजी! ब्राह्मण सदा संध्या-वन्दनसे पवित्र होकर मेरी सेवा करता है और नित्य मेरे प्रसादको खाता है। वह मुझे निवेदन किये विना कभी भी नहीं खाता; क्योंकि जो विष्णुको अर्पित नहीं किया गया है, वह अन्न विष्ठा और जल मूत्रके समान माना जाता है। अतः विष्णुके प्रसादको खानेवाला ब्राह्मण जीवन्मुक्त हो जाता है। नित्य तपस्यामें संलग्न रहनेवाला, पवित्र, शमपरायण, शास्त्रज्ञ, व्रतों और तीर्थोंका सेवी, नाना प्रकारके अध्यापन-कार्यसे संयुक्त धर्मात्मा ब्राह्मण विष्णु-मन्त्रसे दीक्षित होकर गुरुकी सेवा करता है; तत्पश्चात् उनकी आज्ञा लेकर संग्रहवान् (गृहस्थ) बनता है। उसे गुरुको नित्य-पूजनकी दक्षिणा देनी चाहिये तथा निःसंदेह नित्य गुरुजनोंका पालन-पोषण करना चाहिये; क्योंकि समस्त वन्दनीयोंमें पिता ही महान् गुरु माना जाता है, परंतु पितासे सौगुनी माता, मातासे सौगुना अभीष्टदेव और अभीष्ट-देवसे चारगुना मन्त्र-तन्त्र प्रदान करनेवाला गुरु श्रेष्ठ है। गुरु प्रत्यक्ष रूपमें ऐश्वर्यशाली भगवान् नारायण हैं। गुरु ही ब्रह्मा, गुरु ही विष्णु और गुरु ही स्वयं शिव हैं। सभी देवता गुरुमें सदा हर्षपूर्वक निवास करते हैं।

जिसके संतुष्ट होनेपर सभी देवता संतुष्ट हो जाते हैं, वे श्रीहरि भी गुरुके प्रसन्न होनेपर प्रसन्न हो जाते हैं। गुरु यदि शिष्योंपर पुत्रके समान स्नेह नहीं करते, तो उन्हें ब्रह्महत्याका पाप लगता है और आशीर्वाद न देनेसे भी उन्हें वह फल भोगना पड़ता है।

विविध ज्ञानोपदेश

स्वधर्मनिरतो विप्रो ब्राह्मणश्च सदा शुचिः ।
विष्णुसेवी सदा विप्रस्तदन्योऽप्यशुचिः सदा ॥
ब्राह्मणो वृषवाहश्च शूद्राणां सूपकारकः ।
ब्राह्मणो देवलश्चैव संध्याहीनश्च दुर्बलः ॥
ब्राह्मणश्च दिवाशायी शूद्रश्राद्धान्नभोजनः ।
शूद्राणां शवदाही च ते च शूद्रसमा द्विजाः ॥
शालग्राममहायन्त्रं कृत्वा पूजां विधानतः ।
भुङ्क्ते नैवेद्यशेषं च तत्पादोदकमेव च ॥
हरेः पादोदकं पीत्वा तीर्थस्नायी भवेन्नरः ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति ॥
स स्नातः सर्वतीर्थेषु सर्वयज्ञेषु दीक्षितः ।
शालग्रामशिलातोयैर्योऽभिषेकं समाचरेत् ॥
गङ्गाजलाद्दशगुणं शालग्रामजलं व्रज ।
नित्यं भुङ्क्ते च यो विप्रो जीवन्मुक्तः सुरैः समः ॥
विप्राणां नित्यकृत्यं च विष्णोर्नैवेद्यभोजनम् ।
यत्नेन पूजनं तस्य तत्पादोदकसेवनम् ॥
नित्यं त्रिसंध्यं कुरुते भक्त्या च मम पूजनम् ।
एकादश्यां न भुङ्क्ते च मम वै जन्मवासरे ॥
शिवरात्रौ च हे तात श्रीरामनवमीदिने ।
न च भुङ्क्ते व्रती यो हि जीवन्मुक्तो हि स द्विजः ॥
पृथिव्यां यानि तीर्थानि तस्य पादे नतानि च ।
विप्रपादोदकं पीत्वा तीर्थस्नायी भवेन्नरः ॥
विप्रपादोदकक्लिन्ना यावत्तिष्ठति मेदिनी ।
तावत्पुष्करपात्रेषु पिबन्ति पितरो जलम् ॥
विष्णुप्रसादभोजी च पवित्रं कुरुते महीम् ।
तीर्थानि च नराश्चैव जीवन्मुक्तो हि स द्विजः ॥
विष्णुमन्त्रोपासकश्च स एव वैष्णवो द्विजः ।
ब्राह्मणो वैष्णवः प्राज्ञो न हि तस्मात्परः पुमान् ॥
जपेन्नारायणं क्षेत्रे पुरश्चरणपूर्वकम् ।
पुरुषाणां सहस्रं च लीलयाऽऽत्मानमुद्धरेत् ॥
ऐकान्तिको वैष्णवश्च पुंसां लक्षं समुद्धरेत् ।
क्रिया विष्णुपदे यस्य संकल्पाश्च बहिष्कृताः ॥
(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ८३ । १६—२८, ३२, ३७, ३९)

जो विप्र सदा अपने धर्ममें तत्पर, ब्रह्मज्ञ तथा सदा विष्णुकी सेवा करनेवाला है; वही पवित्र है। उसके अतिरिक्त अन्य विप्र सदा अपवित्र रहता है। जो ब्राह्मण होकर बैलोंको जोतता है, शूद्रोंकी रसोई बनाता है, देवमूर्तियोंपर चढ़े हुए द्रव्यसे जीवन-निर्वाह करता है, संध्या नहीं करता, उत्साहहीन है, दिनमें नींद लेता है, शूद्रके श्राद्धान्नको खाता है, शूद्रोंके मुर्दोंका दाह करता है; ऐसे सभी ब्राह्मण शूद्रके समान माने जाते हैं। जो विधिपूर्वक शालग्राम-महायन्त्रकी पूजा करके उनके अर्पित किये हुए नैवेद्यको खाता है तथा उनके चरणोदकको पीता है; वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है। उसे विष्णुलोककी प्राप्ति होती है; क्योंकि श्रीहरिका चरणोदक पीकर मनुष्य तीर्थस्नायी हो जाता है। जो शालग्राम-शिलाके जलसे अपनेको अभिषिक्त करता है, उसने सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नान कर लिया और समस्त यज्ञोंमें दीक्षा ग्रहण कर ली। व्रजेश्वर! शालग्राम-शिलाका जल गङ्गाजलसे दसगुना बढ़कर है। जो ब्राह्मण उसे नित्य पान करता है; वह जीवन्मुक्त एवं देवताओंके समान हो जाता है। जो ब्राह्मणोंका नित्यकर्म, विष्णुके निवेदित नैवेद्यका भोजन, उनका यत्नपूर्वक पूजन, उनके चरणोदकका सेवन, नित्य त्रिकाल-संध्या और भक्तिपूर्वक मेरा पूजन करता है; मेरे जन्मके दिन तथा एकादशीको भोजन नहीं करता; हे तात! जो व्रतपरायण होकर शिवरात्रि तथा श्रीरामनवमीके दिन आहार नहीं करता; वह ब्राह्मण जीवन्मुक्त है। भूतलपर

जितने तीर्थ हैं, वे सभी उस विप्रके चरणोंमें नतमस्तक होते हैं; अतः उस ब्राह्मणका चरणोदक पीकर मनुष्य तीर्थस्नायी हो जाता है। जबतक उस ब्राह्मणके चरणोदकसे पृथ्वी भीगी रहती है, तबतक उसके पितर कमल-पत्रके पात्रमें जल पीते हैं। केवल विष्णुके प्रसादको खानेवाला ब्राह्मण पृथ्वीको, तीर्थोंको और मनुष्योंको पवित्र कर देता है तथा स्वयं जीवन्मुक्त हो जाता है। जो ब्राह्मण विष्णुमन्त्रका उपासक है, वही वैष्णव है। उस वैष्णव-ब्राह्मणकी बुद्धि उत्कृष्ट होती है; अतः उससे बढ़कर पुरुष दूसरा नहीं है। जो किसी क्षेत्रमें जाकर पुरश्चरण-पूर्वक नारायणका जप करता है, वह अनायास ही अपने-आपका तथा अपनी एक हजार पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है। जिसके संकल्प तो बाहर होते हैं, परंतु क्रियाएँ विष्णुपदमें होती हैं; वह एकनिष्ठ वैष्णव अपने एक लाख पूर्वपुरुषोंका उद्धार कर देता है।

भक्त-महिमा तथा विविध उपदेश

द्विजाः सुरा मम प्राणा भक्तः प्राणात्परः प्रियः।
विश्वेषु प्रियपात्रेषु न मे भक्तात्परः प्रियः॥
विष्णुमन्त्रं न गृह्णीयाद्विष्णुभक्तिविहीनतः।
उदासीनाद्दुराचारान्न गृह्णीयान्मनुं सुधीः।
दैवाद्यदि च गृह्णीयाद्धनहीनो भवेद् ध्रुवम्॥
स्थानं सुसंस्कृतं कृत्वा पाकं निर्वृत्य पूजकः।
स्थाने परिष्कृते विप्रो दत्त्वा मह्यं च भक्तितः॥
तदा निवेद्य भुङ्क्ते च दत्त्वा विप्राय सादरम्।
अनिवेद्य च भुक्त्वा च सुरापीतिर्भवेद् द्विजः॥
चन्द्रसूर्योपरागे वै वाशौचे मृतजातयोः।
स्पृष्टेनाशुचिना सद्यः पाकभाण्डं परित्यजेत्॥
भ्रष्टद्रव्यं तथान्नं च धृत्वा धौते च वाससी।
पादप्रक्षालनं कृत्वा भुङ्क्ते स्थाने परिष्कृते॥
द्विर्भोजनं न कर्तव्यं स्थिते सूर्ये द्विजातिभिः।
निष्फलं तद्भवेत्कर्म भुक्त्वा च नरकं व्रजेत्॥
यात्रां युद्धं नदीतीरं पुनर्भोजनमैथुने।
वर्जयेच्छ्राद्धदिवसे हविष्याशी च संयमी॥
द्विजाय विष्णुभक्ताय पात्रं दद्याद् बुधाय च।
वृषलीपतये चैव न दद्याच्छूद्रयाजिने॥
संध्याहीनाय दुष्टाय वृषवाहाय यत्नतः।
शुक्रविक्रयिणे चैव देवलाय कदाचन॥
सर्वेभ्यः पातकी तात कन्याविक्रयकारकः।
मूल्यं गृहीत्वा यो दद्यात् स महारौरवं व्रजेत्॥
कन्यालोमप्रमाणान्तं वर्षं च पितृभिः सह।
कुम्भीपाके पच्यते च पुत्रश्चापि पुरोहितः॥
तस्मात्कन्यां सुपुत्राय दानं कुर्याद्विचक्षणः।
विप्रवैष्णवयोर्धर्मः कथितश्च व्रजेश्वर।
यदुक्तं च पुराणैश्च चतुर्भिः श्रुतिभिस्तथा॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ८३। ४०, ४५, ५२, ५५—६२, ६४—६७)

(भगवान् कहते हैं—)ब्राह्मण और देवता मेरे प्राण हैं, परंतु भक्त प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय है। समस्त लोकोंमें जितने प्रिय पात्र हैं, उनमें भक्तसे अधिक प्यारा मेरे लिये दूसरा कोई नहीं है। इसलिये विष्णु-भक्तिसे रहित पुरुषसे विष्णु-मन्त्रकी दीक्षा नहीं ग्रहण करनी चाहिये। उत्तम बुद्धिसम्पन्न पुरुषको चाहिये कि वह उदासीन एवं दुराचारी गुरुसे मन्त्रकी दीक्षा न ग्रहण करे। यदि दैववश ग्रहण कर लेता है तो वह निश्चय ही धनहीन हो जाता है। पूजक ब्राह्मण पहले स्थानको भलीभाँति संस्कृत करके तब भोजन तैयार करता है; फिर लिपे-पुते स्वच्छ स्थानपर भक्तिपूर्वक मुझे निवेदित करके तत्पश्चात् आदरपूर्वक ब्राह्मणको देकर तब स्वयं भोजन करता है। जो ब्राह्मण-को अर्पण न करके स्वयं खा जाता है, वह शराबीके समान माना जाता है। चन्द्रमा और सूर्यके ग्रहणके समय अथवा जननाशौच या मरणाशौचमें अपवित्र मनुष्यसे स्पर्श हो जानेपर भोजन-पात्र, भ्रष्ट-द्रव्य तथा

अन्नका तुरंत परित्याग कर देना चाहिये। फिर धुली हुई धोती और गमछा धारण करके पैर धोकर शुद्ध स्थानपर भोजन करना चाहिये। द्विजातियोंको चाहिये कि सूर्यके रहते अर्थात् दिनमें दो बार भोजन न करें; क्योंकि वैसा करनेसे वह कर्म निष्फल हो जाता है और भोक्ता नरकगामी होता है। हविष्यान्नका भोजन करनेवाले संयमीको उचित है कि वह श्राद्धके दिन यात्रा, युद्ध, नदी-तट, दुबारा भोजन और मैथुनका परित्याग कर दे। जो विष्णुभक्त एवं बुद्धिमान् हो, उसी ब्राह्मणको पात्रका दान देना चाहिये; किंतु जो शूद्राका पति, शूद्रका पुरोहित, संध्याहीन, दुष्ट, बैलोंको जोतनेवाला, शुक्र बेचनेवाला और देव-प्रतिमापर चढ़े हुए द्रव्यसे जीविका चलानेवाला हो; उसे यत्न करके कभी भी नहीं देना चाहिये। तात! कन्या बेचनेवाला सबसे बढ़कर पापी होता है। जो मूल्य लेकर कन्यादान करता है, वह महारौरव नामक नरकमें जाता है। फिर कन्याके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, उतने वर्षोंतक पितरोंसहित वह, उसका पुत्र और पुरोहित भी कुम्भीपाक नरकमें कष्ट भोगते हैं। इसलिये बुद्धिमान्‌को चाहिये कि योग्य वरको ही कन्या प्रदान करे। व्रजेश्वर! जो पुराणों तथा चारों वेदोंद्वारा वर्णित है, वह ब्राह्मणों तथा वैष्णवोंका धर्म मैंने कह दिया।

वैश्य और शूद्रके कर्तव्य

वैश्यानामपि वाणिज्यमीश्वरः कृषिपालने।
विप्रदेवार्चनं दानं तपस्याव्रतसेवनम्॥
विप्राणामर्चनं नित्यं शूद्रधर्मो विधीयते।
तत्कृषी तद्धनग्राही शूद्रश्चाण्डालतां व्रजेत्॥
गृध्रः कोटिसहस्राणि शतजन्मानि शूकरः।
श्वापदः शतजन्मानि शूद्रो विप्रधनापहः॥
यः शूद्रो ब्राह्मणीगामी मातृगामी स पातकी।
कुम्भीपाके पच्यते स यावद्वै ब्रह्मणः शतम्॥
कुम्भीपाके तप्ततैले भुक्तः सर्पैरहर्निशम्।
शब्दं च विकृताकारं कुरुते यमताडनात्॥
ततश्चाण्डालयोनिः स्यात् सप्तजन्मसु पातकी।
सप्तजन्मसु सर्पश्च जलौकाः सप्तजन्मसु॥
जन्मकोटिसहस्रं च विष्ठायां जायते कृमिः।
पुंश्चलीनां योनिकृमिः स भवेत्सप्तजन्मसु॥
गवां व्रणकृमिः स्याच्च पातकी सप्तजन्मसु।
योनौ योनौ भ्रमत्येवं न पुनर्जायते नरः॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ८३। ७४—८१)

वैश्योंका धर्म व्यापार, खेती करना, ब्राह्मणों और देवताओंका पूजन, दान, तपस्या और व्रतका पालन है। नित्य ब्राह्मणोंकी पूजा करना शूद्रका धर्म कहा गया है। ब्राह्मणको कष्ट देनेवाला तथा उसके धनपर अधिकार कर लेनेवाला शूद्र चाण्डालताको प्राप्त हो जाता है। विप्रके धनका अपहरण करनेवाला शूद्र असंख्य जन्मोंतक गीध, सौ जन्मोंतक सूअर और फिर सौ जन्मोंतक हिंसक पशुओंकी योनिमें जन्म लेता है। जो शूद्र ब्राह्मणी तथा अपनी माताके साथ व्यभिचार करता है; वह पापी जबतक सौ ब्रह्मा नहीं बीत जाते, तबतक कुम्भीपाकमें कष्ट भोगता है। वहाँ वह खौलते हुए तैलमें डुबाया जाता है; रात-दिन उसे साँप काटते रहते हैं; इस प्रकार यम-यातनासे दुखी होकर वह चीत्कार करता रहता है। तत्पश्चात् वह पापी सात जन्मोंतक चाण्डाल-योनिमें, सात जन्मोंतक सर्प-योनिमें और सात जन्मोंतक जल-जन्तुओंकी योनिमें उत्पन्न होता है। फिर वह असंख्य जन्मोंतक विष्ठाका कीड़ा तथा सात जन्मोंतक कुलटा स्त्रियोंकी योनिका कीट होता है। पुनः वह पापी सात जन्मोंतक गौओंके घावका कीड़ा होता है। इस प्रकार उसे अनेक योनिमें भ्रमण करते ही बीतता है; परंतु मनुष्यकी योनि नहीं मिलती।

संन्यासीका महत्त्व

संन्यासिनां च यो धर्मो मन्मुखाच्च निशामय।
दण्डग्रहणमात्रेण नरो नारायणो भवेत्॥

पूर्वकर्माणि दग्ध्वा च परकर्मनिकृन्तनम् ।
कुरुते चिन्तयेन्मां च ह्यायाति मम मन्दिरम् ॥
संन्यासिनः पदस्पर्शात्सद्यः पूता वसुन्धरा ।
सद्यः पुनन्ति तीर्थानि वैष्णवस्य यथा व्रज ॥
संन्यासिनश्च स्पर्शेन निष्पापो जायते नरः ।
संन्यासिनां भोजयित्वा चाश्वमेधफलं लभेत् ॥
नत्वा च कामतो दृष्ट्वा राजसूयफलं लभेत् ।
फलं संन्यासिनां तुल्यं यतीनां ब्रह्मचारिणाम् ॥
(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ८३ । ८२—८६)

अब संन्यासियोंका जो धर्म है, वह मेरे मुखसे श्रवण करो । मनुष्य दण्ड-ग्रहणमात्रसे नारायणस्वरूप हो जाता है । जो संन्यासी मेरा ध्यान करता है, वह अपने पूर्वकर्मोंको जलाकर वर्तमान-जन्मके कर्मोंका उच्छेद कर डालता है और अन्तमें उसे मेरे लोककी प्राप्ति होती है । व्रजराज ! जैसे वैष्णवके चरणस्पर्शसे तीर्थ तत्काल पवित्र हो जाते हैं, वैसे ही संन्यासीके पादस्पर्शसे पृथ्वी तुरंत पावन हो जाती है । मनुष्य संन्यासीका स्पर्श करनेसे पापरहित हो जाता है । संन्यासीको भोजन कराकर अश्वमेधयज्ञका फल तथा अकस्मात् संन्यासीको देखकर उसे नमस्कार करके राजसूय-यज्ञका फल पाता है । संन्यासी, यति और ब्रह्मचारी—इन सबके दर्शन-स्पर्शका फल एक-सा होता है ।

संन्यासीके कर्त्तव्य

संन्यासी याति सायाह्ने क्षुधितो गृहिणां गृहम् ।
सदन्नं वा कदन्नं वा तद्दत्तं नैव वर्जयेत् ॥
न याचते च मिष्टान्नं न कुर्यात्कोपमेव वा ।
न धनग्रहणं कुर्यादेकवासा निरीहितः ॥
शीतग्रीष्मे समानश्च लोभमोहविवर्जितः ।
तत्र स्थित्वैकरात्रं च प्रातरन्यत्स्थलं व्रजेत् ॥
यानमारोहणं कृत्वा गृहीत्वा गृहिणो धनम् ।
गृहं कृत्वा गृही रम्यात्स्वधर्मात्पतितो भवेत् ॥
कृत्वा च कृषिवाणिज्यं कुवृत्तिं कुरुते च यः ।
स संन्यासी हताचारः स्वधर्मात्पतितो भवेत् ॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ८३ । ८७—९१)

संन्यासीको चाहिये कि वह भूखसे व्याकुल होनेपर सायंकाल गृहस्थोंके घर जाय और वहाँ गृहस्थ उसे सदन्न अथवा कदन्न जो कुछ भी दे, उसका परित्याग न करे । न तो मिष्टान्नकी याचना करे, न क्रोध करे और न धन ग्रहण करे । एक वस्त्र धारण करे, इच्छारहित हो जाय, जाड़ा-गरमीमें एक-सा रहे और लोभ-मोहका परित्याग कर दे । इस प्रकार वहाँ एक रात ठहरकर प्रातःकाल दूसरे स्थानको चला जाय । जो संन्यासी सवारीपर चढ़ता है, गृहस्थका धन ग्रहण करता है और घर बनाकर स्वयं गृहस्थ हो जाता है; वह अपने रमणीय धर्मसे पतित हो जाता है । जो संन्यासी खेती और व्यापार करके कुकर्म करता है, उसका आचरण भ्रष्ट हो जाता है और वह अपने धर्मसे गिर जाता है ।

विधवाके कर्त्तव्य

ब्राह्मणी पतिहीना या भवेन्निष्कामिनी सदा ।
एकभुक्ता दिनान्ते सा हविष्यान्नरता सदा ॥
न धत्ते दिव्यवस्त्रं च गन्धद्रव्यं सुतैलकम् ।
स्रजं च चन्दनं चैव शङ्खसिन्दूरभूषणम् ॥
त्यक्त्वा मलिनवस्त्रा स्यान्नित्यं नारायणं स्मरेत् ।
नारायणस्य सेवां च कुरुते नित्यमेव च ॥
तन्नामोच्चारणं शश्वत्कुरुतेऽनन्यभक्तितः ।
पुत्रतुल्यं च पुरुषं सदा पश्यति धर्मतः ॥
मिष्टान्नं न च भुङ्क्ते सा न कुर्याद्विभवं व्रज ।
एकादश्यां न भोक्तव्यं कृष्णजन्माष्टमी दिने ॥
श्रीरामस्य नवम्यां तु शिवरात्रौ पवित्रया ।
अघोरायां च प्रेतायां चन्द्रसूर्योपरागयोः ॥
भ्रष्टं द्रव्यं परित्यज्य भुज्यते परमेव च ।
ताम्बूलं विधवास्त्रीणां यतीनां ब्रह्मचारिणाम् ॥

संन्यासिनां च गोमांससुरातुल्यं श्रुतौ श्रुतम् ।
रक्तशाकं मसूरं च जम्बीरं पर्णमेव च ॥
अलाबुर्वर्तुलाकारा वर्जनीया च तैरपि ।
पर्यङ्कशायिनी नारी विधवा पातयेत्पतिम् ॥
यानमारोहणं कृत्वा विधवा नरकं व्रजेत् ।
न कुर्यात्केशसंस्कारं गात्रसंस्कारमेव च ॥
केशवेणीजटारूपं तत्क्षौरं तीर्थकं विना ।
तैलाभ्यङ्गं न कुर्वीत नहि पश्यति दर्पणम् ॥
मुखं च परपुंसां च यात्रां नृत्यं महोत्सवम् ।
नर्तनं गायनं नैव सुवेषं पुरुषं शुभम् ॥
शृणुयाच्च सतां धर्मं सामवेदनिरूपितम् ।
(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ८३ । ९३—१०४½)

जो ब्राह्मणी विधवा हो जाय, उसे सदा कामना-रहित, दिनके अन्तमें एक बार भोजन करनेवाली और सदा हविष्यान्नपरायण होना चाहिये । उसे दिव्य माङ्गलिक वस्त्र नहीं धारण करना चाहिये; बल्कि सुगन्धित द्रव्य, सुवासित तेल, माला, चन्दन और चूड़ी-सिन्दूर-आभूषणका त्याग करके मलिन वस्त्र पहनना चाहिये । नित्य नारायणका स्मरण तथा नित्य नारायणकी सेवा करनी चाहिये । वह अनन्यभक्तिपूर्वक नारायणके नामोंका कीर्तन करती है और सदा धर्मानुसार पर-पुरुषको पुत्रके समान देखती है । व्रजेश्वर ! वह न तो मिष्टान्नका भोजन करती है और न भोग-विलासकी वस्तुओंका संग्रह करती है । उसे पवित्र रहकर एकादशी, कृष्ण-जन्माष्टमी, श्रीरामनवमी, शिवरात्रि, भाद्रपद-मासके कृष्ण-पक्षकी चतुर्दशी, नरक-चतुर्दशी तथा चन्द्रमा और सूर्यके ग्रहणके समय भोजन नहीं करना चाहिये । वह भ्रष्ट पदार्थोंका परित्याग करके उसके अतिरिक्त उत्तम पदार्थों-को खाती है । श्रुतियोंमें सुना गया है कि विधवा स्त्री, यति, ब्रह्मचारी और संन्यासियोंके लिये पान मदिराके समान है । इन सभी लोगोंको रक्तवर्णका शाक, मसूर, जँभीरी नीबू, पान और गोल लौकीका परित्याग कर देना चाहिये । विधवा नारी पलंगपर सोनेसे पतिको (स्वर्गसे) नीचे गिरा देती है और सवारीपर चढ़कर वह स्वयं नरकगामिनी होती है । उसे बाल और शरीर-का शृङ्गार नहीं करना चाहिये । जटारूपमें परिवर्तित हुई केश-वेणीको तीर्थमें गये बिना कटाना नहीं चाहिये और न शरीरमें तेल लगाना चाहिये । वह दर्पण, पर-पुरुषका मुख, यात्रा, नृत्य, महोत्सव, नाच-गान और सुन्दर वेषधारी रूपवान् पुरुषको नहीं देखती । उसे सामवेदमें निरूपण किये गये सत्पुरुषोंका धर्म श्रवण करना चाहिये ।

परमार्थके आचरणका वर्णन

परमार्थं परं चैव निबोध कथयामि ते ॥
अध्यापनमध्ययनं शिष्याणां परिपालनम् ।
गुरूणां सेवनं नित्यं द्विजदेवार्चनं तथा ॥
सिद्धान्तशास्त्रनैपुण्यं भावनं स्वात्मतोषणम् ।
व्याख्यानं परिशुद्धं च ग्रन्थाभ्यस्तं च संततम् ॥
व्यवस्था परिशुद्ध्यर्थं विचारो वेदसम्मतः ।
शास्त्रार्थाचरणं चैव कर्तव्यं स्वयमेव च ॥
देवाह्निकेषु नैपुण्यं वेदाचरणमीप्सितम् ।
वेदोक्तभक्षणं चैव पवित्राचरणं सदा ॥
(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ८३ । १०५—१०९)

अब मैं आपसे परमोत्कृष्ट परमार्थका वर्णन करता हूँ, सुनो । सदा अध्यापन, अध्ययन, शिष्योंका परिपालन, गुरुजनोंकी सेवा, नित्य देवता और ब्राह्मणका पूजन, सिद्धान्तशास्त्रमें निपुणताका उत्पादन, अपने-आपमें संतोष, सर्वथा शुद्ध व्याख्यान, निरन्तर ग्रन्थका अभ्यास, व्यवस्था-के सुधारके लिये वेदसम्मत विचार, स्वयं शास्त्रानुसार आचरण, देवकार्य और नित्यकर्मोंमें निपुणता, वेदानुसार अभीष्ट आचार-व्यवहार, वेदोक्त पदार्थोंका भोजन और पवित्र आचरण करना चाहिये ।

पतिव्रता सतीके कर्त्तव्य

पतिव्रतानां यो धर्मस्तं निबोध व्रजेश्वर।
नित्यं तु भर्तर्य्यौत्सुक्यात्तत्पादोदकमीप्सितम्॥
भक्तिभावेन सततं भोक्तव्यं तदनुज्ञया।
व्रतं तपस्यां देवार्चां परित्यज्य प्रयत्नतः॥
कुर्याच्चरणसेवां च स्तवनं परितोषणम्।
तदाज्ञारहितं कर्म न कुर्याद् वैरतः सती॥
नारायणात् परं कान्तं ध्यायते सततं सती।
परपुंसां मुखं चैव सुवेषपुरुषं परम्॥
यात्रां महोत्सवं नृत्यं नर्तनं गायनं व्रज।
परक्रीडां च सततं न हि पश्यति सुव्रता॥
यद्भक्ष्यं स्वामिनो नित्यं तदेवमपि योषिताम्।
न हि त्यजेत्तु तत्संगं क्षणमेव च सुव्रता॥
उत्तरे नोत्तरं दद्यात् स्वामिनश्च पतिव्रता।
क्षुधितं भोजयेत् कान्तं दद्यात् पानं च भोजनम्।
न वोधयेत्तं निद्रालुं प्रेरयेन्नैव कर्मसु॥
पुत्राणां च शतगुणं स्नेहं कुर्यात् पतिं सती।
पतिर्बन्धुर्गतिर्भर्ता दैवतं कुलयोषितः॥
शुभं दृष्ट्वा सुधातुल्यं कान्तं पश्यति सुन्दरी।
सस्मितं वदनं कृत्वा भक्तिभावेन यत्नतः॥
पुरुषाणां सहस्रं च सती स्त्री च समुद्धरेत्।
पतिः पतिव्रतानां च मुच्यते सर्वपातकात्॥
नास्ति तेषां कर्मभोगः सतीनां व्रततेजसा।
तया सार्धं च निष्कर्मी मोदते हरिमन्दिरे॥
(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ८३। ११०—१२१)

व्रजेश्वर! अब पतिव्रताओंका जो धर्म है, उसे श्रवण करो। पतिव्रताको चाहिये कि नित्य पतिके प्रति उत्सुकता रखकर उनका चरणोदक पान करे; सदा भक्तिभावपूर्वक उनकी आज्ञा लेकर भोजन करे। (पतिकी आज्ञा न हो तो) प्रयत्नपूर्वक व्रत, तपस्या और देवार्चनका परित्याग करके चरण-सेवा, स्तुति और सब प्रकारसे पतिकी संतुष्टि करे। सतीको पतिकी आज्ञाके विना या वैरभावसे कोई कर्म नहीं करना चाहिये। सती अपने पतिको सदा नारायणसे बढ़कर समझती है। व्रजनाथ! उत्तम व्रतपरायणा सती पर-पुरुषके मुख, सुन्दर-वेषधारी सौन्दर्यशाली पुरुष, यात्रा, महोत्सव, नाच, नाचनेवाले, गवैया और परपुरुषकी क्रीड़ाकी ओर कभी दृष्टि नहीं डालती। जो आहार पतियोंको प्रिय होता है, वही सदा पतिव्रताओंको भी मान्य होता है। पतिव्रता क्षणभर भी पतिसे वियुक्त नहीं होती। वह पतिसे उत्तर-प्रत्युत्तर नहीं करती। पतिव्रताको चाहिये कि पतिके भूखे होनेपर उसे भोजन कराये; भोजनके लिये उत्तम-उत्तम पदार्थ और पीनेके लिये शुद्ध जल दे; नींदसे माते हुए पतिको न जगावे और उसे काम करनेके लिये आज्ञा न दे। सतीको पतिके साथ पुत्रोंसे भी सौगुना अधिक प्रेम करना चाहिये; क्योंकि कुलाङ्गनाके लिये पति ही बन्धु, आश्रय, भरण-पोषण करनेवाला और देवता है। वह सुन्दरी अमृतके समान शुभकारक अपने पतिको देखकर बड़े यत्नसे भक्तिभावपूर्वक मुस्कराते हुए उसकी ओर निहारती है। सती नारी अपनी एक हजार पीढ़ियोंका उद्धार कर देती है। पतिव्रताओंके पति समस्त पापोंसे मुक्त हो जाते हैं; क्योंकि सतियोंके पातिव्रत्यके तेजसे उनका कर्मभोग समाप्त हो जाता है। इस प्रकार वे कर्मरहित होकर अपनी पतिव्रता पत्नीके साथ श्रीहरिके भवनमें आनन्द प्राप्त करते हैं।

पतिव्रता सतीकी महिमा

पृथिव्यां यानि तीर्थानि सतीपादेषु तान्यपि।
तेजश्च सर्वदेवानां मुनीनां च सतीषु च॥
तपस्विनां तपः सर्वं व्रतिनां यत्फलं व्रज।
दाने फलं यद् दातॄणां तत्सर्वं तासु संततम्॥
स्वयं नारायणः शम्भुर्विधाता जगतामपि।
सुराः सर्वे च मुनयो भीतास्ताभ्यां च संततम्॥
सतीनां पादरजसा सद्यःपूता वसुन्धरा।
पतिव्रतां नमस्कृत्य मुच्यते पातकान्नरः॥

त्रैलोक्यं भस्मसात्कर्तुं क्षणेनैव पतिव्रता ।
स्वतेजसा समर्था सा महापुण्यवती सदा ॥
सतीनां च पतिः साधुः पुत्रो निःशंक एव च ।
न हि तस्य भयं किञ्चिद् देवेभ्यश्च यमादपि ॥
शतजन्मपुण्यवतां गेहे जाता पतिव्रता ।
पतिव्रताप्रसूः पूता जीवन्मुक्तः पिता तथा ॥
(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ८३ । १२२—१२८)

व्रजेश ! पृथ्वीपर जितने तीर्थ हैं, वे सभी सतीके चरणोंमें निवास करते हैं । सम्पूर्ण देवताओं और मुनियोंका तेज सतियोंमें वर्तमान रहता है । तपस्वियोंकी सारी तपस्या तथा व्रतोपवाससे व्रतियोंको एवं दान देनेसे दाताओंको जो फल प्राप्त होता है, वह सारा-का-सारा सदा पतिव्रताओंमें विद्यमान रहता है । स्वयं नारायण, शम्भु, लोकोंके विधाता ब्रह्मा, सारे देवता और मुनि भी सदा पतिव्रताओंसे डरते रहते हैं । सतियोंकी चरण-धूलिके स्पर्शसे पृथ्वी तत्काल ही पावन हो जाती है । पतिव्रताको नमस्कार करके मनुष्य पापसे छूट जाता है । पतिव्रता अपने तेजसे क्षणभरमें ही त्रिलोकीको भस्मसात् कर डालनेमें समर्थ है; क्योंकि वह सदा महान् पुण्यसे सम्पन्न रहती है । सतियोंके पति और पुत्र साधु एवं निःशङ्क हो जाते हैं; क्योंकि उन्हें देवताओं तथा यमराजसे भी कुछ भय नहीं रह जाता । सौ जन्मोंतक पुण्य संग्रह करनेवाले पुण्यवानोंके घरमें पतिव्रता जन्म लेती है । पतिव्रताके पैदा होनेसे उसकी माता पावन हो जाती है तथा पिता जीवन्मुक्त हो जाते हैं ।

पतिव्रता सतीके आचरण

सती स्त्री प्रातरुत्थाय त्यक्त्वा च रात्रिवाससम् ।
भर्तारं च नमस्कृत्य करोति स्तवनं मुदा ॥
गृहकार्यं ततः कृत्वा स्नात्वा धौते च वाससी ।
गृहीत्वा शुक्लपुष्पं च भक्तितः पूजयेत् पतिम् ॥
स्नापयित्वा सुपूतेन जलेन निर्मलेन च ।
तस्मै दत्त्वा धौतवस्त्रं तत्पादौ क्षालयेन्मुदा ॥
आसने वासयित्वा च दत्त्वा भाले च चन्दनम् ।
सर्वाङ्गलेपनं कृत्वा दत्त्वा माल्यं गलेऽपि च ॥
सामवेदोक्तमन्त्रेण भोगद्रव्यैः सुधोपमैः ।
सम्पूज्य भक्तितः कान्तं स्तुत्वा च प्रणमेन्मुदा ॥
ॐ नमः कान्ताय शान्ताय सर्वदेवाश्रयाय स्वाहा ।
इत्यनेनव मन्त्रेण दत्त्वा पुष्पं च चन्दनम् ॥
पाद्यार्घ्यं धूपदीपौ च वस्त्रं नैवेद्यमुत्तमम् ।
जलं सुवासितं शुद्धं ताम्बूलं च सुवासितम् ॥
दत्त्वा स्तोत्रं पठेद् यद्यत्कृतं वै पाठ्यमेव च ।
(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ८३ । १२९—१३५½)

सती स्त्री प्रातःकाल उठकर रात्रिमें पहने हुए वस्त्रको छोड़कर पतिको नमस्कार करके हर्षपूर्वक स्तवन करती है । तत्पश्चात् गृहकार्य सम्पन्न करके नहाकर धुली हुई साड़ी और कंचुकी धारण करती है । फिर श्वेत पुष्प लेकर भक्तिपूर्वक पतिका पूजन करती है । पवित्र निर्मल जलसे स्नान कराकर उसे धौत वस्त्र देकर वह हर्षपूर्वक पतिका पाद-प्रक्षालन करती है । फिर आसनपर बिठाकर ललाटमें चन्दनका तिलक लगाकर, सर्वाङ्गमें (इत्र आदिका) अनुलेप करके गलेमें माला पहनाकर मन्त्रोच्चारणपूर्वक अमृतोपम भोग-पदार्थोंद्वारा भक्तिभावसहित भलीभाँति पूजन और स्तवन करके हर्षके साथ पतिके चरणोंमें नमस्कार करती है—**'ॐ नमः कान्ताय शान्ताय सर्वदेवाश्रयाय स्वाहा'**—इसी मन्त्रसे पुष्प, चन्दन, पाद्य, अर्घ्य, धूप, दीप, वस्त्र, उत्तम नैवेद्य, शुद्ध सुगन्धित जल और सुवासित ताम्बूल समर्पित करके स्तोत्र-पाठ करना चाहिये । जो-जो कर्म किया जाय, सभीमें इस मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये ।

पति-स्तोत्र

ॐ नमः कान्ताय भर्त्रे च शिरश्चन्द्रस्वरूपिणे ॥
नमः शान्ताय दान्ताय सर्वदेवाश्रयाय च ।
नमो ब्रह्मस्वरूपाय सतीप्राणपराय च ॥

नमस्याय च पूज्याय हृदाधाराय ते नमः ।
पञ्चप्राणाधिदेवाय चक्षुषस्तारकाय च ।
ज्ञानाधाराय पत्नीनां परमानन्दरूपिणे ॥
पतिर्ब्रह्मा पतिर्विष्णुः पतिरेव महेश्वरः ।
पतिश्च निर्गुणाधारो ब्रह्मरूप नमोऽस्तु ते ॥
क्षमस्व भगवन् दोषं ज्ञानाज्ञानकृतं च यत् ।
पत्नीबन्धो दयासिन्धो दासीदोषं क्षमस्व मे ॥
इदं स्तोत्रं महापुण्यं सृष्ट्यादौ पद्मया कृतम् ।
सरस्वत्या च धरया गङ्गया च पुरा व्रज ॥
सावित्र्या च कृतं पूर्वं ब्रह्मणे चापि नित्यशः ।
पार्वत्या च कृतं भक्त्या कैलासे शंकराय च ॥
मुनीनां च सुराणां च पत्नीभिश्च कृतं पुरा ।
पतिव्रतानां सर्वासां स्तोत्रमेतच्छुभावहम् ॥
पतिव्रता च स्तुत्वा च तीर्थस्नानफलं लभेत् ।
फलं च सर्वं तपसां व्रतानां च व्रजेश्वर ॥
इदं स्तुत्वा नमस्कृत्वा भुङ्क्ते सा तदनुज्ञया ।
उक्तः पतिव्रताधर्मो गृहिणां श्रूयतां व्रज ॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ८३।१३६–४३, ४६-४७)

ॐ चन्द्रशेखरस्वरूप प्रियतम पतिको नमस्कार है। आप शान्त, उदार और सम्पूर्ण देवताओंके आश्रय हैं; आपको प्रणाम है। सतीके प्राणाधार एवं ब्रह्मस्वरूप आपको अभिवादन है। आप नमस्कारके योग्य, पूजनीय, हृदयके आधार, पञ्च प्राणोंके अधिदेवता, आँखकी पुतली, ज्ञानाधार और पत्नियोंके लिये परमानन्दस्वरूप हैं; आपको नमस्कार है। पति ही ब्रह्मा, पति ही विष्णु, पति ही महेश्वर और पति ही निर्गुणाधार ब्रह्मरूप हैं; आपको मेरा प्रणाम स्वीकार हो। भगवन्! मुझसे जानमें अथवा अनजानमें जो कुछ दोष घटित हुआ है, उसे क्षमा कर दीजिये। पत्नीबन्धो! आप तो दयाके सागर हैं; अतः मुझ दासीका अपराध क्षमा कर दें। व्रजेश्वर! पूर्वकालमें सृष्टिके प्रारम्भमें लक्ष्मी, सरस्वती, पृथ्वी और गङ्गाने इस महान् पुण्यमय स्तोत्रका पाठ किया था। पूर्वकालमें सावित्रीने भी नित्यशः इस स्तोत्रद्वारा ब्रह्माका स्तवन किया था। कैलासपर पार्वतीने भक्तिपूर्वक शंकरके लिये इस स्तोत्रका पाठ किया था। प्राचीन कालमें मुनि-पत्नियों तथा देवाङ्गनाओंने भी इसके द्वारा स्तुति की थी। अतः सभी पतिव्रताओंके लिये यह स्तोत्र शुभदायक है। व्रजेश्वर! पतिव्रता इसके द्वारा स्तवन करके तीर्थ-स्नानका फल तथा सम्पूर्ण तपस्याओं और व्रतोंका फल पाती है। इस प्रकार स्तुति-नमस्कार करके पतिकी आज्ञासे वह भोजन करती है। व्रजराज! इस प्रकार मैंने पतिव्रताके धर्मका वर्णन कर दिया, अब गृहस्थोंका धर्म सुनिये।

गृहस्थ, गृहस्थ-पत्नी, पुत्र और शिष्यके धर्मका वर्णन, नारियों और भक्तोंके त्रिविध भेद, नन्दबाबासे व्रज लौटनेकी प्रार्थना

गृहस्थ और गृहस्थ-पत्नीके कर्त्तव्य

श्रीभगवानुवाच

द्विजदेवार्चनं चैव करोति सततं गृही ।
स्वधर्माचरणं चैव चातुर्वर्ण्यं च नित्यशः ॥
कुर्वन्ति गृहिणामाशां सर्वे देवादयस्तथा ।
विधायातिथिपूजां च गृहस्थश्च सदा शुचिः ॥
पितरः कर्मकाले चातिथिकाले च देवताः ।
सर्वे गृहस्थमायान्ति निपानमिव धेनवः ॥
समायाति प्रयत्नेन सायाह्ने क्षुधितोऽतिथिः ।
पूजां कृत्वाऽऽशिषं लब्ध्वा प्रयाति गृहिणो गृहात् ॥
अकृत्वातिथिपूजां च गृही भवति पातकी ।
त्रैलोक्यजनितं पापं लभते नात्र संशयः ॥
अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते ।
पितरस्तस्य देवाश्च वह्नयश्च तथैव च ॥

निराशाः प्रतिगच्छन्ति गृहिणोऽतिथयो गृहात्।
स्वात्मनः पातकं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥
तस्मात् कृत्वा सर्वसेवां देवादींश्च शुभाशयः ।
पोष्याणां भरणं कृत्वा पश्चाद् भुङ्क्ते स धर्मवित् ॥
यस्य माता गृहे नास्ति भार्या च पुंश्चली तथा ।
अरण्यं तेन गन्तव्यमरण्याद् दुःखदं गृहम् ॥
पतिं द्वेष्टि सदा दुष्टा विषतुल्यं च पश्यति ।
ददाति तस्मै नाहारं भर्त्सनं कुरुते सदा ॥
गृहिणीनां सदाचारं श्रूयतां तच्छ्रुतौ श्रुतम् ।
गृहिणी पतिभक्ता च देवब्राह्मणपूजिता ॥
सा शुद्धा प्रातरुत्थाय नमस्कृत्य पतिं सुरम् ।
प्राङ्गणे मङ्गलं दद्याद् गोमयेन जलेन च ॥
गृहकृत्यं च कृत्वा च स्नात्वाऽऽगत्य गृहं सती ।
सुरं विप्रं पतिं नत्वा पूजयेद् गृहदेवताम् ॥
गृहकृत्यं सुनिर्वृत्य भोजयित्वा पतिं सती ।
अतिथिं पूजयित्वा च स्वयं भुङ्क्ते सुखं सती ॥
(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ८४ । १—११, १४—१७)

श्रीभगवान् कहते हैं—नन्दजी ! गृहस्थ पुरुष सदा ब्राह्मणों और देवताओंका पूजन करता है तथा चारों वर्णोंके धर्मानुसार अपने वर्ण-धर्मके पालनमें तत्पर रहता है । इसीलिये देवता आदि सभी प्राणी गृहस्थोंकी आशा करते हैं । गृहस्थ अतिथिका आदर-सत्कार करके सदा पवित्र बना रहता है । (पिण्डदान आदि) कर्मके अवसरपर पितर और अतिथि-पूजनके समय सारे देवता उसी प्रकार गृहस्थके पास आते हैं, जैसे गौएँ पानीसे भरे हुए हौजके पास जाती हैं । भूखा अतिथि सायंकाल प्रयत्नपूर्वक गृहस्थके घर आता है और वहाँ आदर-सत्कार पाकर उसे आशीर्वाद देनेके पश्चात् उस गृहस्थके घरसे विदा होता है । अतिथिका पूजन न करनेसे गृहस्थ पापका भागी होता है और उसे त्रिलोकीमें उत्पन्न सारे पाप भोगने पड़ते हैं; इसमें तनिक भी संशय नहीं है । अतिथि जिसके घरसे निराश होकर लौट जाता है, उसके घरका उसके पितर, देवता और अग्नियाँ भी परित्याग कर देती हैं तथा वह अतिथि उसे अपना पाप देकर और उसका पुण्य लेकर चला जाता है । इसलिये उत्तम विचारसम्पन्न धर्मज्ञ गृहस्थ पहले देवता आदि सबकी सेवा करके फिर आश्रितवर्गका भरण-पोषण करनेके पश्चात् स्वयं भोजन करता है । जिसके घरमें माता नहीं है और पत्नी पुंश्चली है, उसे वनवासी हो जाना चाहिये; क्योंकि उसके लिये वह गृह वनसे भी बढ़कर दुःखदायक है । वह दुष्टा सदा पतिसे द्वेष करती है और उसे विषतुल्य समझती है । वह उसे भोजन तो देती नहीं, उलटे सदा डाँट-फटकार सुनाती रहती है ।

व्रजेश ! अब गृहस्थ-पत्नियोंका जो सदाचार श्रुतिमें वर्णित है, उसे श्रवण करो । गृहिणी नारी पतिपरायणा तथा देव-ब्राह्मणकी पूजा करनेवाली होती है । उस शुद्धाचारिणीको चाहिये कि प्रातःकाल उठकर देवता और पतिको नमस्कार करके आँगनमें गोबर और जलसे लीपकर मङ्गल-कार्य सम्पन्न करे । फिर गृह-कार्य करके स्नान करे और घरमें आकर देवता, ब्राह्मण और पतिको नमस्कार करके गृहदेवताकी पूजा करे । इस प्रकार सती नारी घरके सारे कार्योंसे निवृत्त होकर पतिको भोजन कराती है और अतिथि-सेवा करनेके पश्चात् स्वयं सुखपूर्वक भोजन करती है ।

पुत्रके कर्त्तव्य

पुत्रैश्च पूजितस्तातः शिष्यैश्च पूजितो गुरुः ।
आज्ञया कुरुते कर्म पुत्रः शिष्यश्च भृत्यवत् ॥
न कुर्यान्नरबुद्धिं च गुरौ पितरि संततम् ।
पिता माता गुरुर्भार्या शिष्यः पुत्रः सदाक्षमः ।
अनाथा भगिनी कन्या नित्यं पोष्या गुरुप्रिया ॥
एवं च कथितं तात सर्वेषां धर्ममुत्तमम् ।
(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ८४ । १८, २०, २२, २३½)

पुत्रोंको चाहिये कि वे पिताकी पूजा करें । यों ही

शिष्योंको गुरुका पूजन करना चाहिये। पुत्र और शिष्यको सेवककी भाँति उनके आज्ञानुसार सारा कार्य करना उचित है। पिता और गुरुमें कभी मनुष्य-बुद्धि नहीं करनी चाहिये। पिता, माता, गुरु, भार्या, शिष्य, स्वयं अपना निर्वाह करनेमें असमर्थ पुत्र, अनाथ बहिन, कन्या और गुरु-पत्नीका नित्य भरण-पोषण करना कर्तव्य है। तात! इस प्रकार मैंने सबके उत्तम धर्मका वर्णन कर दिया।

तीन प्रकारकी स्त्रियाँ

कृत्वा स्त्री त्रिविधा जातिर्ब्रह्मणा निर्मिता पुरा।
उत्तमा प्रथमा सा च मध्यमा चाधमा व्रज॥
उत्तमा पतिभक्ता सा किंचिद्धर्मसमन्विता।
प्राणान्तेऽपि न कुरुते तं जारमयशस्करम्॥
गुरुणा रक्षिता यत्नाज्जारं च न भजेद् भयात्।
सा कृत्रिमा मध्यमा च यथा किंचित् पतिं भजेत्॥
स्थानं नास्ति क्षणं नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नरः।
तेन हे नन्द तासां च सतीत्वमुपजायते॥
अधमा परमा दुष्टात्यन्तासद्वंशजा तथा।
अधर्मशीला दुःशीला दुर्मुखा कलहान्विता॥
पतिं भर्त्सयते नित्यं जारं च सेवते सदा।
दुःखं ददाति कान्ताय विषतुल्यं च पश्यति॥
जारद्वारमुपायेन हन्ति कान्तं मनोहरम्।
धर्मिष्ठं च वरिष्ठं च गरिष्ठं च महीतले॥
विद्युदाभा जले रेखा तस्याः प्रीतिस्तथैव च।
अधर्मयुक्ता सततं कपटं वक्ति निश्चितम्॥
व्रते तपसि धर्मे च न मनो गृहकर्मणि।
न गुरौ न च देवेषु जारे स्निग्धं च चञ्चलम्॥
स्त्रीजातित्रिविधानां च कथा च कथिता मया।
भक्तानां त्रिविधानां च लक्षणं श्रूयतामिति॥
(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ८४। २६-२७, २९—३२, ३९—४१)

ब्रह्माजीने स्त्री-जातिका निर्माण किया और उसे तीन भागोंमें विभक्त कर दिया। उनमें पहली उत्तमा, दूसरी मध्यमा और तीसरी अधमा कही जाती है। धर्मसम्पन्ना उत्तमा स्त्री पतिकी भक्त होती है। वह प्राणोंपर आ बीतनेपर भी अपकीर्ति पैदा करनेवाले जार पुरुषको नहीं स्वीकार करती। जो गुरुजनोंद्वारा यत्नपूर्वक रक्षित होनेके कारण भयवश जार पुरुषके पास नहीं जाती और अपने पतिको कुछ-कुछ मानती है, वह कृत्रिमा नारी मध्यमा कही जाती है। नन्दजी! ऐसी नारियोंका सतीत्व जहाँ स्थानाभाव है, समय नहीं मिलता है और प्रार्थना करनेवाला जार पुरुष नहीं है; वहीं स्थिर रह सकता है। अत्यन्त नीच कुलमें उत्पन्न हुई अधमा स्त्री परम दुष्टा, अधर्मपरायणा, दुष्ट स्वभाववाली, कटुवादिनी और झगड़ालू होती है। वह सदा उपपतिकी सेवा करती है और अपने पतिकी नित्य भर्त्सना करती रहती है, उसे दुःख देती है और विषतुल्य समझती है। उसका पति भले ही भूतलपर रूपवान्, धर्मात्मा, प्रशंसनीय और महापुरुष हो; परंतु वह उपाय करके उपपतिद्वारा उसे मरवा डालती है। उसकी प्रीति बिजलीकी चमक और जलपर खिंची हुई रेखाके समान क्षणभङ्गुर होती है। वह सदा अधर्ममें तत्पर रहकर निश्चित रूपसे कपटपूर्ण वचन ही बोलती है। उसका मन न तो व्रत, तपस्या, धर्म और गृहकार्यमें ही लगता है और न गुरु तथा देवताओंकी ओर ही झुकता है। नन्दजी! इस प्रकार तीन भेदोंवाली स्त्रीजातिकी कथा मैंने कह दी, अब तीन प्रकारके भक्तोंके लक्षण सुनिये।

तीन प्रकारके भक्त और उनकी महिमा

तृणशय्यारतो भक्तो मन्नामगुणकीर्तिषु।
मनो निवेशयेत्त्यक्त्वा संसारसुखकारणम्॥
ध्यायते मत्पदाब्जं च पूजयेद्भक्तिभावतः।
अहैतुकीं तस्य देवः संकल्परहितस्य च॥
सर्वसिद्धिं न वाञ्छन्ति तेऽणिमादिकमीप्सितम्।
ब्रह्मत्वममरत्वं वा सुरत्वं सुखकारणम्॥

दास्यं विना न हीच्छन्ति सालोक्यादिचतुष्टयम् ।
नैव निर्वाणमुक्तिं च सुधापानमभीप्सितम् ॥
वाञ्छन्ति निश्चलां भक्तिं मदीयामतुलामपि ।
स्त्रीपुंविभेदो नास्त्येव सर्वजीवेषु भिन्नता ॥
तेषां सिद्धेश्वराणां च प्रवराणां व्रजेश्वर ।
क्षुत्पिपासादिकं निद्रां लोभमोहादिकं रिपुम् ॥
त्यक्त्वा दिवानिशं मां च ध्यायन्ते च दिगम्बराः ।
स मद्भक्ततमो नन्द श्रूयतां मध्यमादिकम् ॥
नासक्तः कर्मसु गृही पूर्वप्राक्तनतः शुचिः ।
करोति सततं कर्म पूर्वकर्मनिकृन्तनम् ॥
न करोत्यपरं यत्नात् संकल्परहितः स च ।
सर्वं कृष्णस्य यत्किंचिन्नाहं कर्ता च कर्मणः ॥
कर्मणा मनसा वाचा सततं चिन्तयेदिति ।
न्यूनभक्तश्च तन्न्यूनः स च प्राकृतिकः श्रुतौ ॥
यमं वा यमदूतं वा स्वप्नेऽपि न च पश्यति ।
पुरुषाणां सहस्रं च पूर्वभक्तः समुद्धरेत् ॥
पुंसां शतं मध्यमश्च तच्चतुर्थं च प्राकृतः ।
भक्तश्च त्रिविधस्तात कथितश्च तवाज्ञया ॥

(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ८४ । ४२—५३)

तृणकी शय्याका प्रेमी भक्त सांसारिक सुखोंके कारणोंका त्याग करके अपने मनको मेरे नाम और गुणके कीर्तनमें लगाता है । वह मेरे चरणकमलका ध्यान करता है और भक्तिभावसहित उसका पूजन करता है । भगवान् उस निष्काम भक्तकी अहैतुकी पूजाको ग्रहण करते हैं । ऐसे भक्त अणिमा आदि सारी अभीष्ट सिद्धियोंकी तथा सुखके कारणभूत ब्रह्मत्व, अमरत्व अथवा देवत्वकी कामना नहीं करते । उन्हें हरिकी दासताके सिवा सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य आदि चारों मुक्तियोंकी अभिलाषा नहीं रहती और न वे निर्वाण-मुक्ति तथा अभीप्सित अमृत-पानकी ही स्पृहा करते हैं । उन्हें मेरी अतुलनीय निश्चल भक्तिकी ही लालसा रहती है । व्रजेश्वर ! उन श्रेष्ठ सिद्धेश्वरोंमें स्त्री-पुरुषका भेद नहीं रहता और न समस्त जीवोंमें भिन्नता रहती है । वे दिगम्बर (या वस्त्रोंमें सर्वथा अनासक्त) होकर भूख-प्यास आदि तथा निद्रा, लोभ, मोह आदि शत्रुओंका त्याग करके रात-दिन मेरे ध्यानमें निमग्न रहते हैं । नन्दजी ! यह मेरे सर्वश्रेष्ठ भक्तके लक्षण हैं ।

अब मध्यम आदि भक्तोंका लक्षण श्रवण करो । पूर्वजन्मोंके शुभ कर्मके प्रभावसे पवित्र हुआ गृहस्थ कर्मोंमें आसक्त न होकर सदा पूर्वकर्मका उच्छेदक कर्म ही करता है; वह यत्नपूर्वक कोई दूसरा कर्म नहीं करता; क्योंकि उसे किसी कर्मकी कामना ही नहीं रहती । वह मन, वाणी और कर्मसे सदा ऐसा चिन्तन करता रहता है कि जो कुछ कर्म है, वह सब श्रीकृष्णका है, मैं कर्मका कर्ता नहीं हूँ; ऐसा भक्त मध्यम श्रेणीका होता है । जो उससे भी नीची कोटिका है, वह शास्त्रमें प्राकृतिक अर्थात् अधम कहा गया है । उत्तम कोटिका भक्त अपने हजारों पूर्वपुरुषोंका उद्धार कर देता है । उसे स्वप्नमें भी यमराज अथवा यमदूतका दर्शन नहीं होता । मध्यम कोटिका भक्त अपनी सौ पीढ़ियोंका तथा प्राकृत भक्त पचीस पीढ़ियों-का उद्धारक होता है । तात ! इस प्रकार मैंने आपके आज्ञानुसार तीन प्रकारके भक्तोंका वर्णन कर दिया ।

नन्दबाबासे व्रज लौटनेके लिये निवेदन और क्षमा-प्रार्थना

गच्छ गच्छ गृहं गच्छ व्रजराज व्रजं व्रज ।
सर्वं तत्त्वं त्वया ज्ञातं दृष्टाश्च मुनयः सुराः ॥
श्रुतं मे धन्यमाख्यानं नानाख्यानं सुदुर्लभम् ।
यत्कृतं बालभावेन चापराधं च तत्क्षम ॥
यत्सुखं न कृतं तात पित्रोश्च नृपमन्दिरे ।
कृतं सुखं तत्परं च स्वर्गादपि सुदुर्लभम् ॥
मदीयं प्रियवाक्यं च प्रह्वत्वं विनयं भयम् ।

परिहासं बहुतरं यशोदां गोपिकागणम् ॥
बालकानां समूहं च राधां चापि विशेषतः ।
एकत्र च स्थितं तेषु बन्धुवर्गेषु कर्मणा ॥
इहैवापि सुखं भुक्त्वा गच्छ गोलोकमुत्तमम् ।
सार्धं यशोदया तात रोहिण्या गोपिकागणैः ॥
गोपानां बालकैः सार्धं वृषभानेन गोपकैः ।
राधामात्रा कलावत्या राधया सह यास्यसि ॥
त्यक्त्वा च पार्थिवं देहं दिव्यदेहं विधाय च ।
अयोनिसम्भवा राधा राधामाता कलावती ॥
यास्यत्येव हि तेनैव नित्यदेहेन निश्चितम् ।
पितॄणां मानसी कन्या धन्या मान्या कलावती॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ८९ । १—८, १२-१३)

मेरे प्रिय वचन, नम्रता, विनय, भय, बहुसंख्यक परिहास, यशोदा, गोपिकागण, बालसमूह और विशेषतया राधा—ये सभी एकत्र स्थित हैं । उन बन्धुवर्गोंके साथ कर्मानुसार यहीं सुख भोगकर उत्तम गोलोकको जाओ । तात ! यशोदा, रोहिणी, गोपिकागण, गोपबालक, वृषभानु, गोपसमूह, राधाकी माता कलावती और राधाके साथ आप पार्थिव देहको त्याग कर और दिव्य देह धारण करके गोलोक जायँगे । राधा और राधाकी माता कलावतीकी उत्पत्ति योनिसे नहीं हुई है; अतः वह निश्चय ही अपनी उसी नित्यदेहसे गोलोकमें जायगी । कलावती पितरोंकी मानसी कन्या है; अतः धन्य और माननीय है ।

व्रजराज ! अब आप व्रजको पधारिये । अब आपको सम्पूर्ण तत्त्वोंका ज्ञान हो गया । आपने मुनियों तथा देवताओंके दर्शन कर लिये और मेरेद्वारा अत्यन्त दुर्लभ नाना प्रकारके इतिहास और धन्य व्याख्यान भी सुन लिये । मैंने बाल-चपलतावश जो कुछ अपराध किया हो, उसे क्षमा कीजिये । तात ! जो सुख मैंने माता-पिताके राजमहलमें नहीं पाया, उससे बढ़कर तथा स्वर्गसे भी परम दुर्लभ सुख आपके यहाँ प्राप्त किया है ।

श्रीकृष्णका वचन सुनकर श्रीकृष्णभक्त व्रजेश्वर उन भक्तवत्सल जगदीश्वरसे पुनः बोले ।

नन्दने कहा—प्रभो ! श्रीकृष्ण ! चारों युगोंके जो-जो सनातन धर्म होते हैं, उनका तथा कलियुगकी समाप्तिमें कलिके जो-जो गुण-दोष होते हों और पृथ्वी, धर्म तथा प्राणियोंकी क्या गति होती है—इन सबका क्रमशः विस्तारपूर्वक मुझसे वर्णन कीजिये । नन्दकी बात सुनकर कमलनयन श्रीकृष्ण प्रसन्न हो गये; फिर उन्होंने मधुरताभरी विचित्र कथा कहनी आरम्भ की ।

श्रीकृष्णद्वारा चारों युगोंके धर्मादिका कथन और श्रीनन्दजीको विदा देते समय श्रीकृष्णके उद्गार

नन्दजीके प्रश्न करनेपर पुनः श्रीकृष्णने कहना आरम्भ किया—

सत्ययुगके धर्म और आचरण

श्रीकृष्ण उवाच

शृणु नन्द प्रवक्ष्यामि सानन्दं मानसं यथा ।
कथां रम्यां सुमधुरां पुराणेषु परिष्कृताम् ॥
परिपूर्णतमो धर्मो धार्मिकाश्च कृते युगे ।
परिपूर्णतमं सत्यं परिपूर्णतमा दया ॥
अतीव प्रज्ज्वलद्रूपा वेदाश्चत्वार एव च ।
वेदाङ्गाश्चापि विविधाश्चेतिहासाश्च संहिताः ॥
पुराणानि सुरम्याणि पञ्चरात्राणि पञ्च च ।
रुचिराणि सुभद्राणि धर्मशास्त्राणि यानि च ॥
विप्रा वेदविदः सर्वे पुण्यवन्तस्तपस्विनः ।
नारायणं ते ध्यायन्ते तन्मनस्का जपन्ति च ॥
ब्राह्मणा क्षत्रिया वैश्याश्चतुर्वर्णाश्च वैष्णवाः ।
शूद्रा ब्राह्मणभृत्याश्च सत्यधर्मपरायणाः ॥
राजानो धार्मिकाश्चैव प्रजापालनतत्पराः ।
गृह्णन्त्येव प्रजानां च षोडशांशकरान्नृपाः ॥

करशून्याश्च विप्राश्च पूज्याः स्वच्छन्दगामिनः ।
सततं सर्वशस्याढ्या रत्नाधारा वसुंधरा ॥
गुरुभक्ताश्च शिष्याश्च पितृभक्ताः सुतास्तथा ।
योषितः पतिभक्ताश्च पतिव्रतपरायणाः ॥
ऋतौ सम्भोगिनः सर्वे न स्त्रीलुब्धा न लम्पटाः ।
न भयं दस्युचौर्याणां न तत्र पारदारिकाः ॥
तरवः पूर्णफलिनः पूर्णक्षीराश्च धेनवः ।
बलवन्तो जनाः सर्वे दीर्घाः सौन्दर्यसंयुताः ॥
लक्षवर्षायुषः केचित् पुण्यवन्तो ह्यरोगिणः ।
यथा विप्रा विष्णुभक्तास्त्रिवर्णा विष्णुसेविनः ॥
जलपूर्णा नदा नद्यः सततं कंदरास्तथा ।
तीर्थपूताश्चतुर्वर्णास्तपःपूता द्विजातयः ॥
मनःपूताश्च निखिलाः खलहीनं जगत्त्रयम् ।
सत्कीर्तिपरिपूर्णं च यशस्यं मङ्गलान्वितम् ॥
पितरः सर्वकालेषु तिथिकालेषु देवताः ।
सर्वकालेष्वतिथयः पूजिताश्च गृहे गृहे ॥
त्रिवर्णा विप्रभक्ताश्च विप्रभोजनतत्पराः ।
ब्राह्मणस्य मुखं क्षेत्रमनूषरमकण्टकम् ॥
नारायणोत्कीर्तनेन हर्षयुक्तास्तदुत्सवे ।
न देवानां द्विजानां च विदुषां तत्र निन्दकाः ॥
नात्मप्रशंसकाः केचित् सर्वे परगुणोत्सुकाः ।
न शत्रवो जनानां च सर्वे सर्वहितैषिणः ॥
पुरुषा योषितश्चापि न हि मूर्खाश्च पण्डिताः ।
न दुःखिनो जनाः सर्वे सर्वेषां रत्नमन्दिरम् ॥
मणिमाणिक्यरत्नौघरत्नस्वर्णसमन्वितम् ।
न भिक्षुका न रोगार्ताः शोकहीनाश्च हर्षिताः ॥
न हि भूषणहीनाश्च नरा नार्यश्च केचन ।
न पापिनो न धूर्ताश्च न क्षुधार्ता न कुत्सिताः ॥
जराहीनाः प्राणिनश्च शश्वद्यौवनसंस्थिता ।
आधिव्याधिविहीनाश्च निर्विकाराश्च देहिनः ॥
यदुक्तो वै सत्ययुगे धर्मः सत्यं दयादिकम् ।
पादहीनश्च त्रेतायां सत्यार्द्धं द्वापरेऽपि च ॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ९० । १—२३)

श्रीकृष्णने कहा—बाबा नन्दजी! पुराणोंमें जैसी अत्यन्त मधुर रमणीय कथा कही गयी है, उसे कहता हूँ। आप प्रसन्न-मन होकर उसे श्रवण करें। सत्ययुगमें धर्म, सत्य और दया—ये अपने सभी अङ्गोंसे परिपूर्ण थे। प्रजा धार्मिक थी। चारों वेदों, वेदाङ्गों, विविध इतिहासों तथा संहिताओंका रूप अत्यन्त प्रकाशमान था। पाँचों रमणीय पञ्चरात्र तथा जितने पुराण और धर्मशास्त्र हैं, सभी रुचिर एवं मङ्गलकारक थे। सभी ब्राह्मण वेदवेत्ता, पुण्यवान् और तपस्वी थे। वे नारायणमें मनको तल्लीन करके उन्हींका ध्यान और जप करते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—चारों वर्ण विष्णुभक्त थे। शूद्र सत्यधर्ममें तत्पर तथा ब्राह्मणोंके सेवक थे। राजालोग धार्मिक तथा प्रजाओंके पालनमें तत्पर रहते थे। वे प्रजाओंकी आयका केवल सोलहवाँ भाग कर-रूपमें ग्रहण करते थे। ब्राह्मणोंसे कर नहीं लिया जाता था। वे पूज्य और स्वच्छन्दगामी थे। पृथ्वी सदा सभी अन्नोंसे सम्पन्न तथा रत्नोंकी भण्डार थी। शिष्य गुरुभक्त, पुत्र पितृभक्त और नारियाँ पतिभक्ता तथा पतिव्रत-परायणा थीं। सभी लोग ऋतुकालमें अपनी पत्नीके साथ सम्भोग करते थे। वे न तो स्त्रीके लोभी थे और न लम्पट थे। सत्ययुगमें न तो परायी स्त्रीसे मैथुन करनेवाले पुरुष थे और न लुटेरों तथा चोरोंका भय था। वृक्षोंमें पूर्णरूपसे फल लगते थे। गायें पूरा दूध देती थीं। सभी मनुष्य बलवान्, दीर्घायु (अथवा ऊँचे कदवाले) और सौन्दर्यशाली होते थे। किन्हीं-किन्हीं पुण्यवानोंकी नीरोगताके साथ-साथ लाखों वर्षोंकी आयु होती थी। जैसे ब्राह्मण विष्णुभक्त थे, उसी तरह क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये तीनों वर्ण भी विष्णुसेवी थे। नद तथा नदियाँ सदा जलसे भरी रहती थीं। कन्दराएँ तपस्वियोंसे परिपूर्ण

थीं। चारों वर्णोंके लोग तीर्थयात्रा करके अपनेको पवित्र करते थे। द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) तपस्यासे पावन थे। सभीका मन पवित्र था। तीनों लोक दुष्टोंसे हीन, उत्तम कीर्तिसे परिपूर्ण, यशस्कर तथा मङ्गलसम्पन्न थे। घर-घरमें सभी अवसरोंपर पितरोंकी, निर्दिष्ट तिथियोंमें देवताओंकी और सभी समय अतिथियोंकी पूजा होती थी। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—तीनों वर्ण ब्राह्मणोंकी सेवा करते थे और सदा उन्हें भोजन कराते रहते थे; क्योंकि ब्राह्मणका मुख ऊसररहित एवं अकण्टक क्षेत्र है। सभी लोग उत्सवके अवसरपर हर्षके साथ नारायणके नामोंका कीर्तन करते थे। उस समय कोई भी देवताओं, ब्राह्मणों तथा विद्वानोंकी निन्दा नहीं करता था। कोई भी अपने मुँह अपनी प्रशंसा नहीं करता था। सभी दूसरेके गुणोंके (कहने-सुननेके) लिये उत्सुक रहते थे। मनुष्योंके शत्रु नहीं होते थे, बल्कि सभी सबके हितैषी थे। पुरुष अथवा स्त्री कोई भी मूर्ख नहीं था; सभी पण्डित थे। सभी मनुष्य सुखी थे। सभीके रत्ननिर्मित महल थे, जो सदा मणि, माणिक्य, बहुत प्रकारके रत्न और स्वर्णसे भरे रहते थे। न कोई भिक्षुक था न रोगी; सभी शोकरहित और हर्षमग्न थे। पुरुष अथवा स्त्री—कोई भी आभूषणोंसे रहित नहीं था। न पापी थे न धूर्त; न क्षुधार्त न निन्दित। प्राणियोंको वृद्धावस्था नहीं आती थी; वे निरन्तर नवयुवक बने रहते थे। सभी देहधारी मानसिक तथा शारीरिक व्याधिसे रहित और निर्विकार थे। इस प्रकार सत्ययुगमें जो सत्य, दया आदि धर्म बतलाया गया है; वह त्रेतायुगमें एक पादसे हीन और द्वापरमें सत्ययुगका आधा रह जाता है।

कलियुगका स्वरूप और उसके आचरण

धर्मैकपाच्च प्रथमे कलेश्चापि कृशोऽबलः।
दुष्टानां दस्युचौराणामङ्कुरः प्रभवेद् व्रज॥
अधर्मनिरताः केचिद्भीताः संगोपिनस्तथा।
भीता गुप्ताश्च पुंश्चल्यो भीताश्च परदारिकाः॥

धर्मिष्ठानां भयं शश्वदधर्मिष्ठाश्च कम्पिताः।
स्वल्पधर्मरता भूपाः स्वल्पवेदरता द्विजाः॥
व्रतधर्मरताः केचित्सर्वे स्वच्छन्दगामिनः।
यावत्तिष्ठन्ति तीर्थानि यावत्तिष्ठन्ति साधवः॥
यावत्तिष्ठन्ति ग्रामाणां देवाः शास्त्राणि पूजनम्।
तावत्किंचित्तपः सत्यं स्वर्गधर्मांश एव च॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ९०। २४—२८)

कलिके प्रारम्भमें वही धर्म निर्बल और कृश हो जाता है तथा उसका एक ही पाद अवशिष्ट रह जाता है। व्रजेश्वर! उस समय दुष्टों, लुटेरों और चोरोंका अङ्कुर उत्पन्न होने लगता है। लोग अधर्मपरायण हो जाते हैं। उनमें कुछ लोग भयवश अपने पापोंपर परदा डाले रहते हैं। कुलटाएँ भयके मारे छिपकर पाप करती हैं और पर पुरुषोंकी रखेलें भी भयभीत होकर दुष्कर्म करती हैं। धर्मात्माओंको सदा भय लगा रहता है और पापी भी काँपते रहते हैं। राजाओंमें धर्म नाममात्रका रह जाता है और ब्राह्मणोंकी वेदनिष्ठा कम हो जाती है। उनमें कोई-कोई ही व्रत और धर्ममें तत्पर रहते हैं; प्रायः सभी मनमाना आचरण करने लगते हैं। जबतक तीर्थ वर्तमान हैं, जबतक सत्पुरुष स्थित हैं और जबतक ग्रामदेवता, शास्त्र तथा पूजा-पद्धति मौजूद है; तभीतक कुछ-कुछ तप, सत्य तथा स्वर्गदायक धर्मका अंश विद्यमान रहता है।

कलेर्दोषनिधेस्तात गुण एको महानपि।
मानसं च भवेत् पुण्यं सुकृतं न हि दुष्कृतम्॥
अधर्मः परिपूर्णश्च तदन्ते च कलौ पितः।
एकवर्णा भविष्यन्ति वर्णाश्चत्वार एव च॥
न मन्त्रपूतोद्वाहश्च न हि सत्यं न च क्षमा।
स्त्रीस्वीकाररतो नित्यं ग्राम्यधर्मप्रधानतः॥
न यज्ञसूत्रं तिलकं ब्राह्मणानां च नित्यशः।
संध्याशास्त्रविहीनाश्च विप्रवंशाः श्रुता अपि॥
सर्वैः सार्धं च सर्वेषां भक्षणं नियमच्युतम्।
अभक्ष्यभक्षा लोकाश्च चतुर्वर्णाश्च लम्पटाः॥

नारीषु न सती काचित्पुंश्चली च गृहे गृहे ।
करोति तर्जनं कान्तं भृत्यतुल्यं च कम्पितम् ॥
पुत्रेण भर्त्सितस्तातः शिष्येण भर्त्सितो गुरुः ।
प्रजाभिस्ताडितो भूपो भूपेन ताडिताः प्रजाः ॥
दस्युचोरैश्च दुष्टैश्च शिष्टाश्च परिपीडिताः ।
शस्यहीना च वसुधा क्षीरहीनाश्च धेनवः ॥
स्वल्पक्षीरे घृतं नास्ति नवनीतं च नित्यशः ।
सत्यहीना जनाः सर्वे नित्यं मिथ्या वदन्ति च ॥
शौचसंध्याशास्त्रहीना ब्राह्मणा वृषवाहकाः ।
सूपकाराश्च शूद्राणां शूद्राणां शवदाहकाः ॥
शूद्रस्त्रीनिरताः शश्वच्छूद्रा विप्रवधूरताः ।
खादन्ति यस्य विप्रस्य भक्ष्यं च परिपाचकाः ॥
मातुः परां तस्य पत्नीं शूद्रा गृह्णन्ति लम्पटाः ।
भृत्यश्च हत्वा राजानं स्वयं राजा भविष्यति ॥
सर्वे स्वच्छन्दनिरताः शिश्नोदरपरायणाः ।
वह्वरा व्याधियुक्ताश्च कुत्सिताश्च कुचैलकाः ॥
विक्षुण्णमन्त्रलिप्ताश्च मिथ्यामन्त्रप्रचारकाः ।
जातिहीनाश्च गुरवो वयोहीनाश्च निन्दकाः ॥
राजानश्चापि म्लेच्छाश्च यवना धर्मनिन्दकाः ।
सत्कीर्तिमपि साधूनां कुर्वन्त्युन्मूलनं मुदा ॥
पितृदेवद्विजातीनामतिथीनां च नित्यशः ।
पूजा नास्ति गुरूणां च पित्रोश्च पूजनं स्त्रियाः ॥

(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ९० । २९, ३४–३८, ४०–४५, ४७–५०)

बाबा! दोषके भण्डार-रूप इस कलियुगका एक महान् गुण भी है, इसमें मानसिक धर्म पुण्यकारक होता है, परंतु मानसिक पाप नहीं लगता । पिताजी ! कलियुगके अन्तमें अधर्म पूर्णरूपसे व्याप्त हो जायगा । उस समय चारों वर्ण मिलकर एक वर्ण हो जायँगे । न वेदमन्त्रोच्चारणसे पवित्र विवाह होगा और न सत्य तथा क्षमाका ही अस्तित्व रह जायगा। ग्राम्य-धर्मकी प्रधानतासे विवाह सदा स्त्रीकी स्वीकृतिपर ही निर्भर करेगा । ब्राह्मण सदा यज्ञोपवीत और तिलक नहीं धारण करेंगे। वे संध्या-वन्दन और शास्त्रोंसे हीन हो जायँगे । उनका वंश सुननेमात्रको रह जायगा । सब लोग अनियमित रूपसे सबके साथ बैठकर भोजन करेंगे । चारों वर्णोंके लोग अभक्ष्य-भक्षी और परस्त्री-गामी हो जायँगे । स्त्रियोंमें कोई पतिव्रता नहीं रह जायगी । घर-घरमें कुलटा ही दीख पड़ेंगी; वे अपने पतिको नौकरकी तरह डराती-धमकाती रहेंगी । पुत्र पिताकी और शिष्य गुरुकी भर्त्सना करेगा । प्रजाएँ राजाको और राजा प्रजाओंको पीड़ित करता रहेगा । दुष्ट, चोर और लुटेरे सत्पुरुषोंको खूब कष्ट देंगे । पृथ्वी अन्नसे हीन और गायें दूधरहित हो जायँगी । दूधके कम हो जानेपर घी और माखनका सर्वथा अभाव हो जायगा । सभी मनुष्य सत्यहीन हो जायँगे और वे सदा झूठ बोलेंगे । ब्राह्मण पवित्रता, संध्या-वन्दन और शास्त्रज्ञानसे हीन होकर बैलोंको जोतेंगे, शूद्रोंके रसोइयाका काम करेंगे, शूद्रोंके मुर्दे जलायेंगे और सदा शूद्रामें लवलीन रहेंगे । शूद्र ब्राह्मण-पत्नियोंसे प्रेम करेंगे । रसोइया तथा लम्पट शूद्र जिस ब्राह्मणका अन्न खायँगे, उसकी सुन्दरी पत्नीको हथिया लेंगे । नौकर राजाका वध करके स्वयं राजा बन बैठेंगे । सभी लोग स्वच्छन्दाचारी, शिश्नोदरपरायण, पेटू, रोगग्रस्त, कुत्सित, मैले-कुचैले, खण्डित मन्त्रोंसे युक्त और मिथ्या मन्त्रोंके प्रचारक होंगे । जातिहीन, अवस्थाहीन और निन्दक गुरु होंगे । धर्मकी निन्दा करनेवाले यवन और म्लेच्छ राजा होंगे; वे हर्षपूर्वक सत्पुरुषोंकी उत्तम कीर्तिको भी समूल नष्ट कर देंगे । लोग पितरों, देवताओं, द्विजातियों, अतिथियों, गुरुजनों और माता-पिताकी पूजा नहीं करेंगे; वे सदा स्त्रीकी ही आवभगतमें लगे रहेंगे ।

स्त्रीबन्धूनां गौरवं च स्त्रीणां च सततं पितः ।
चोरः सत्कुलजातिश्च ब्राह्मणो देवहारकः ॥
मानं वहन्ति लोभेन युगे धर्मेण कौतुकात् ।
देवायतनहीनं च जगत्सर्वं भयाकुलम् ॥

अराजकं च दुर्नीतं सततं कलिदोषतः ।
बुभुक्षिताः कुचैलाश्च दरिद्रा व्याधिनो नराः ॥
हिंस्रजन्तुभयाद्भीता जनाः सर्वे च पापिनः ॥
सर्वे च फललोभिष्ठाः पुंश्चल्यः कलहप्रियाः ।
रूपवत्यो न कामिन्यो नराश्चापि न रूपिणः ॥
नद्यो नदाः कन्दराश्च तडागाश्च सरोवराः ।
जलपद्मविहीनाश्च जलहीना घनास्तथा ॥
अपत्यहीना नार्यश्च कामुक्यो जारसंयुताः ।
अश्वत्थच्छेदिनः सर्वे वृक्षहीना वसुंधरा ॥
फलहीनाश्च तरवः शाखास्कन्धविहीनकाः ।
फलानि स्वादुहीनानि चान्नानि च जलानि च ॥
मानवाः कूटवक्तारो निर्दया धर्मवर्जिताः ।
तदंशे द्वादशादित्याः संहरिष्यन्ति मानवान् ॥
सर्वाञ्जन्तूंश्च तापेन बहुवृष्ट्या व्रजेश्वर ।
अवशिष्टा च पृथिवी कथामात्रावशेषिता ॥
कलौ गते च पृथिवी क्षेत्रं वर्षागते तथा ।
पुनः सत्यप्रवृत्तिश्च भविष्यति क्रमेण वै ॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ९०। ५१-५३, ५७-६४)

पिताजी ! स्त्रियोंके भाई-बन्धुओं तथा स्त्रियोंका ही सदा गौरव होगा। उत्तम कुलमें उत्पन्न लोग चोर और ब्राह्मण तथा देवताके द्रव्यका हरण करनेवाले होंगे। कलियुगमें लोग कौतुकवश लोभयुक्त धर्मसे मानको धारण करेंगे। सारा जगत् देव-मन्दिरोंसे शून्य तथा भयाकुल हो जायगा। कलिके दोषसे सदा दुर्नीतिके कारण अराजकता फैली रहेगी। मनुष्य भूखे, मैले-कुचैले, दरिद्र और रोगग्रस्त हो जायँगे। सभी मनुष्य पापपरायण तथा हिंसक जन्तुओंसे भयभीत रहेंगे। सभी फलके विशेष लोभी होंगे। कुलटाओंको कलह ही प्रिय लगेगा। न तो स्त्रियाँ ही यथार्थ सुन्दरी होंगी और न पुरुषोंमें ही सौन्दर्य रह जायगा। नदियों, नदों, कन्दराओं, तड़ागों और सरोवरोंमें जल तथा कमल नहीं रह जायगा और बादल जल-शून्य हो जायँगे। नारियाँ संतानहीन, कामुकी और जार पुरुषसे सम्बन्ध रखनेवाली होंगी। सभी लोग पीपल काटनेवाले होंगे। पृथ्वी वृक्षहीन हो जायगी। वृक्ष शाखा और स्कन्धसे रहित हो जायँगे और उनमें फल नहीं लगेंगे। फल, अन्न और जलका स्वाद नष्ट हो जायगा। मनुष्य कटुवादी, निर्दयी और धर्महीन हो जायँगे। व्रजेश्वर ! उसके बाद बारहों आदित्य प्रकट होकर ताप और बहुवृष्टिद्वारा मानवों तथा समस्त जन्तुओंका संहार कर डालेंगे। उस समय पृथ्वी और उसकी कथामात्र अवशिष्ट रह जायगी। जैसे वर्षाके बीत जानेपर क्षेत्र खाली हो जाता है, वैसे ही कलियुगके व्यतीत होनेपर पृथ्वी जीवोंसे रहित हो जायगी। तब पुनः क्रमशः सत्ययुगकी प्रवृत्ति होगी।

नन्दबाबाको मथुरासे विदा देते समय श्रीकृष्णके उद्गार

इत्येवं कथितं सर्वं गच्छ तात व्रजं सुखम् ।
अहं दुग्धमुखो बालः पुत्रस्ते कथयामि किम् ॥
नवनीतं घृतं दुग्धं दधि तक्रं परिष्कृतम् ।
स्वस्तिकं शुभकर्मार्हं मिष्टान्नं च सुधोपमम् ॥
मिष्टद्रव्यं च यत्किंचित् पितृदेवनिमित्तकम् ।
भुक्तं बलाच्च तत्सर्वं बालानां रोदनं बलम् ॥
तत् क्षमस्वापराधं मे बालदोषः पदे पदे ।
त्वं पिता तव पुत्रोऽहं यशोदा जननी मम ॥
मदीयं परिहासं च यशोदां रोहिणीं वद ।

कुमारास्याच्छ्रुतं सर्वं सोऽहमित्येवमीप्सितम् ॥
कीर्तयिष्यसि तत्सर्वं सर्वं गोकुलवासिनम् ।
कुतस्त्वं गोकुले वैश्यो नन्दो वैश्याधिपो नृपः ॥
वसुदेवसुतोऽहं च मथुरायामहो कुतः ॥
पित्रा मे कंसभीतेन त्वद्गृहे च समर्पितः ।
पितुः परः पिता त्वं च माता मातुः परापि वा ॥
मया दत्तेन ज्ञानेन पार्वत्या च व्रजेश्वर ।
त्यज मोहं महाभाग गच्छ तात सुखं गृहम् ॥
(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, श्रीकृष्णजन्म० ९०। ६५–७०, ७४–७६)

तात ! इस प्रकार मैंने चारों युगोंका सारा धर्म बतला दिया; अब आप सुखपूर्वक व्रजको लौट जाइये। मैं आपका दुधमुँहा शिशु पुत्र हूँ; भला, मैं (धर्मके विषयमें) क्या कह सकता हूँ। आपके यहाँ माखन, घी, दूध, दही, सुन्दर रूपसे बनाया हुआ मट्ठा, स्वस्तिकके आकारका पकवान, शुभकर्मोंके योग्य अमृतोपम मिष्टान्न तथा पितरों और देवोंके निमित्त जो कुछ मिठाइयाँ बनती थीं, वह सब मैं रोकर जबर्दस्ती खा जाता था; बालकोंका रोना ही उनका बल है। अतः मेरे अपराधको क्षमा कीजिये; बालक तो पग-पगपर अपराध करता है। आप मेरे बाबा हैं और मैं आपका पुत्र हूँ; यशोदा मेरी मैया हैं। अब आप व्रजमें जाकर अपने इस बच्चेके मुखसे सुने हुए मेरे सारे परिहासको यशोदा और रोहिणीसे कहिये; फिर तो सारे गोकुलवासी उस सबका कीर्तन करेंगे। अहो ! कहाँ तो गोकुलमें वैश्यकुलोत्पन्न वैश्यके अधिपति तथा गोकुलके राजा आप नन्द और कहाँ मथुरामें उत्पन्न हुआ मैं वसुदेवका पुत्र; किंतु कंससे डरे हुए मेरे पिता वसुदेवने मुझे आपके घर पहुँचाया; इसलिये आप मेरे पितासे बढ़कर पिता और यशोदा मेरी मातासे भी बढ़कर माता हैं। महाभाग व्रजेश्वर ! आपको मैंने तथा पार्वतीने ज्ञान प्रदान किया है; अतः तात ! उस ज्ञानके बलसे मोहका त्याग कर दीजिये और सुखपूर्वक घरको लौट जाइये।

श्रीराधा और श्रीकृष्णका पुनर्मिलन तथा श्रीकृष्णद्वारा अपने और श्रीराधाके रहस्यका उद्‌घाटन

एक समय सिद्धाश्रमसे नन्द आदि गोपोंको गोकुलमें भेजकर भगवान् श्रीकृष्ण राधिकाके स्थानको गये। वहाँ पहुँचकर श्रीकृष्णने सुन्दरी राधाको देखा। श्रीराधाजी नित्य तरुणावस्थामें रहती हैं। उनका मुखकमल प्रफुल्लित था। अङ्ग-अङ्ग दिव्य वस्त्रों और रत्नाभूषणोंसे विभूषित था। उनके गलेमें सुन्दर सुगन्धित पुष्पोंकी माला घुटनोंतक लटक रही थी। उनकी दिव्य सुन्दरता और सुषमा अखिल विश्वकी त्रिकाल सुन्दरताको भी लज्जित कर रही थी। उनके दाहिने हाथमें प्रस्फुटित कमल सुशोभित था। मोतियोंका हार उनकी शोभा बढ़ा रहा था। वे रत्ननिर्मित ऊँचे आसनपर विराजमान थीं। उस समय मुस्कराती हुई गोपियाँ उनकी सेवामें लगी हुई थीं। उधर प्राणवल्लभा श्रीराधाने भी दूरसे ही श्रीकृष्णको आते देखा। उन्हें देखकर वे तुरंत ही उठ खड़ी हुईं और परम भक्तिपूर्वक उन परमेश्वरको सादर प्रणाम करके उनकी स्तुति करने लगीं।
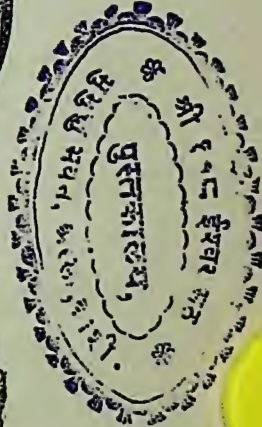
तत्पश्चात् वे प्रियतम श्रीकृष्णसे एकान्तमें मुस्कराती हुई मधुर वचन बोलीं—'नाथ ! जो स्वयं मङ्गलोंका भण्डार, सम्पूर्ण मङ्गलोंका कारण, मङ्गलरूप तथा मङ्गलोंका प्रदाता है, उसके विषयमें कुशल-मङ्गलका प्रश्न करना तो निरर्थक ही है; तथापि इस समय कुशल पूछना समयानुसार उचित है; क्योंकि लौकिक व्यवहार वेदोंसे भी बलवान् माना जाता है। इसलिये रुक्मिणीकान्त ! आप सकुशल तो हैं न ? सत्यभामाके प्राणपति ! इस समय सत्यभामा तो कुशलसे हैं न ? जिनकी आज्ञासे आपने लीलापूर्वक देवराज इन्द्रके साथ युद्ध किया था।

श्रीराधाकी मधुर व्यंग्ययुक्त वाणी सुनकर श्रीकृष्ण बड़े प्रसन्न हुए और राधाको बैठाकर उनके सामने विराज गये और कहने लगे—

श्रीकृष्ण उवाच

जात्याहं जगतां स्वामी किं रुक्मिण्यादि योषिताम्
कार्यकारणरूपोऽहं व्यक्तो राधे पृथक् पृथक् ॥
एकात्माहं च विश्वेषां जात्या ज्योतिर्मयः स्वयम्।
सर्वप्राणिषु व्यक्त्या चाप्याब्रह्मादितृणादिषु ॥
जात्याहं कृष्णरूपश्च परिपूर्णतमः स्वयम्।
गोलोके गोकुले रम्ये क्षेत्रे वृन्दावने वने ॥

द्विभुजो गोपवेषश्च स्वयं राधापतिः शिशुः।
गोपालैर्गोपिकाभिश्च सहितः कामधेनुभिः ॥
चतुर्भुजोऽहं वैकुण्ठे द्विधारूपः सनातनः।
लक्ष्मीसरस्वतीकान्तः सततं शान्तविग्रहः ॥
यन्मानसी सिन्धुकन्या मर्त्यलक्ष्मीपतिर्भुवि।
श्वेतद्वीपे च क्षीरोदे तत्रापि च चतुर्भुजः ॥
अहं नारायणर्षिश्च नरो धर्मः सनातनः।
धर्मवक्ता च धर्मिष्ठो धर्मवर्त्मप्रवर्तकः ॥
शान्तिर्लक्ष्मीस्वरूपा च धर्मिष्ठा च पतिव्रता।
अत्र तस्याः पतिरहं पुण्यक्षेत्रे च भारते ॥
सिद्धेशः सिद्धिदः साक्षात्कपिलोऽहं सतीपतिः।
नानारूपधरोऽहं च व्यक्तिभेदेन सुन्दरि ॥
अहं चतुर्भुजः शश्वद् द्वार्वत्यां रुक्मिणीपतिः।
अहं क्षीरोदशायी च सत्यभामागृहे शुभे ॥
अन्यासां मन्दिरेऽहं च कायव्यूहात् पृथक्पृथक्।
अहं नारायणर्षिश्च फाल्गुनस्यास्य सारथिः ॥
स नरर्षिर्धर्मपुत्रो मदंशो बलवान् भुवि।
तपसाराधितस्तेन सारथ्येऽहं च पुष्करे ॥
यथा त्वं राधिका देवी गोलोके गोकुले तथा।
वैकुण्ठे च महालक्ष्मीर्भवती च सरस्वती ॥
भवती मर्त्यलक्ष्मीश्च क्षीरोदशायिनः प्रिया।
धर्मपुत्रवधूस्त्वं च शान्तिर्लक्ष्मीस्वरूपिणी ॥
कपिलस्य प्रिया कान्ता भारते भारती सती।
त्वं सीता मिथिलायां च त्वच्छाया द्रौपदी सती ॥
द्वारवत्यां महालक्ष्मीर्भवती रुक्मिणी सती।
पञ्चानां पाण्डवानां च भवती कलया प्रिया ॥
रावणेन हृता त्वं च त्वं च रामस्य कामिनी।
नानारूपा यथा त्वं च छायया कलया सति ॥
नानारूपस्तथाहं च स्वांशेन कलया तथा।
परिपूर्णतमोऽहं च परमात्मा परात्परः ॥
इति ते कथितं सर्वमाध्यात्मिकमिदं सति।
राधे सर्वापराधं मे क्षमस्व परमेश्वरि ॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्णजन्म० १२४।८२-८३, ८५-१०१)

श्रीकृष्ण बोले—राधे ! मैं स्वभावसे ही सब लोकोंका स्वामी हूँ, फिर रुक्मिणी आदि महिलाओंकी तो बात ही क्या है। मैं कार्य-कारणरूपसे पृथक्-पृथक् व्यक्त होता हूँ। मैं स्वयं ज्योतिर्मय हूँ, समस्त विश्वोंका एकमात्र आत्मा हूँ और तृणसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियोंमें व्याप्त हूँ। गोलोकमें मैं स्वयं परिपूर्णतम श्रीकृष्णरूपसे वर्तमान रहता हूँ और रमणीय क्षेत्र गोकुलके 'वृन्दावन' नामक वनमें मैं ही राधापति हूँ। उस समय मैं द्विभुज होकर गोपवेषमें शिशुरूपसे क्रीडा करता हूँ। ग्वाले, गोपियाँ और गौएँ ही मेरी सहायक होती हैं। वैकुण्ठमें मैं चतुर्भुजरूपसे रहता हूँ; वहाँ मैं ही लक्ष्मी और सरस्वतीका प्रियतम हूँ और सदा शान्तरूपसे वास करता हूँ। इस प्रकार मैं सनातन परमेश्वर ही दो रूपोंमें विभक्त हूँ। भूतलपर, श्वेतद्वीप और क्षीरसागरमें मानसी, सिन्धुकन्या और मर्त्यलक्ष्मीके जो पति हैं, वह भी मैं ही हूँ और वहाँ भी मैं चतुर्भुजरूपसे ही रहता हूँ। मैं स्वयं नारायण ऋषि हूँ और धर्मवक्ता, धर्मिष्ठ तथा धर्म-मार्गके प्रवर्तक सनातन धर्म नर हैं। धर्मिष्ठा तथा पतिव्रता शान्ति लक्ष्मीस्वरूपा है और इस पुण्यक्षेत्र भारतवर्षमें मैं उसका पति हूँ। मैं ही सिद्धेश्वर, सिद्धियोंका दाता और साक्षात् कपिल हूँ। सुन्दरि ! इस प्रकार व्यक्तिभेदसे मैं नानारूप धारण करता हूँ। चतुर्भुजरूपधारी मैं ही सदा द्वारिकामें रुक्मिणीका स्वामी होता हूँ। क्षीरसागरमें शयन करनेवाला मैं ही सत्यभामाके शुभ भवनमें वास करता हूँ तथा अन्यान्य रानियोंके महलोंमें भी मैं ही पृथक्-पृथक् शरीर धारण करके क्रीड़ा करता हूँ। मैं नारायण ऋषि ही इस अर्जुनका सारथि हूँ। अर्जुन नर-ऋषि है, धर्मका पुत्र है, बलवान् है और मेरे अंशसे भूतलपर उत्पन्न हुआ है। उसने पुष्करक्षेत्रमें सारथि-कार्यके लिये तपस्याद्वारा मेरी आराधना की है।

राधे ! जैसे तुम गोलोकमें राधिकादेवी हो, उसी तरह गोकुलमें भी हो । तुम्हीं वैकुण्ठमें महालक्ष्मी और सरस्वती हो । क्षीरोदशायीकी प्रियतमा मर्त्यलक्ष्मी तुम्हीं हो । धर्मकी पुत्रवधू लक्ष्मीस्वरूपिणी शान्तिके रूपमें तुम्हीं वर्तमान हो । भारतवर्षमें कपिलकी प्यारी पत्नी सती भारती तुम्हारा ही नाम है । तुम्हीं मिथिलामें सीता नामसे विख्यात हो । सती द्रौपदी तुम्हारी ही छाया है । द्वारकामें महालक्ष्मीके अंशसे प्रकट हुई सती रुक्मिणीके रूपमें तुम्हीं वास करती हो । पाँचों पाण्डवोंकी पत्नी द्रौपदी तुम्हारी कला है । तुम्हीं रामकी पत्नी सीता हो; रावणने तुम्हारा ही अपहरण किया था । सति ! जैसे तुम अपनी छाया और कलासे नाना रूपोंमें प्रकट हो, वैसे ही मैं भी अपने अंश और कलासे अनेक रूपोंमें व्यक्त हूँ । मैं ही परिपूर्णतम परात्पर परमात्मा हूँ । सती राधे ! इस प्रकार मैंने तुमको यह सारा आध्यात्मिक रहस्य बता दिया है । अब परमेश्वरि ! तुम मेरे अपराधोंको क्षमा कर दो ।

भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य लीला और दिव्य वाणी

शुद्ध सच्चिदानन्द परात्पर परब्रह्म परमेश्वररूप ।
सर्वातीत-सर्वमय, निर्गुण-सगुण, व्यक्त-अव्यक्त अनूप ॥
नित्य अजन्मा, दिव्य जन्मधर, नित्य स्वतन्त्र, नित्य परतंत्र ।
सबके स्वयं एक यन्त्री नित, प्रेमीजन-करके नित यन्त्र ॥१॥

सहज विरोधी-गुणधर्माश्रय, करते लीला विविध विचित्र ।
करते प्रेमधर्मका पालन-संरक्षण बनकर अरि-मित्र ॥
रौद्र, वीर, बीभत्स, भयानक, करुण, हास्य, अद्भुत, शृङ्गार ।
शान्त और अन्यान्य रसोंके बनकर स्वयं रूप साकार ॥२॥

प्रकट हुए वसुदेव-देवकी-सुत हो, खलके कारागार ।
नन्द-यशोदाको सुख देने किया शिशुत्व सुखद स्वीकार ॥
ग्वाल-बालकोंके सँग वन-वन किया समुद स्वच्छन्द विहार ।
मधुर दिव्य रस गोपीजनका किया सभी विधि अङ्गीकार ॥३॥

सहज कृपावश किया कंसका मथुरामें जाकर संहार ।
सादर किया पिता-माताका बन्धनसे तुरंत उद्धार ॥
नन्द आदिको लौटाया फिर, कर उनका समुचित सत्कार ।
भेजा गोप-गोपियोंके प्रति अपना परम मधुरतम प्यार ॥४॥

सुन कृष्णाकी करुण प्रार्थना, वसनरूप बन रक्खी लाज ।
थक बैठा दुःशासन लज्जित, चकित रह गया सभी समाज ॥
मथुरा-द्वारावतिमें प्रभुने बरसाया आनन्द अपार ।
मधुर परम ऐश्वर्यमयी शुचि लीलाओंका कर विस्तार ॥५॥

रणक्षेत्रमें सखा पार्थका मोह मिटाया दे निज ज्ञान ।
सहज शरण दे, किया धन्य फिर देकर दिव्य प्रेमका दान ॥
अर्जुनके मिस अखिल विश्वको दिया दिव्य पावन उपदेश ।
उद्धवको फिर दिया विशद कल्याणपूर्ण अपना संदेश ॥६॥

ज्ञान, योग, वैराग्य, प्रेम, रति, सकल कामनारहित सुकर्म ।
सांख्य, त्याग, संन्यास, वर्ण-आश्रम शुचि मानवके सब धर्म ॥
इह-परलोक, पिता-सुत, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, धर्म-आचार ।
गो-ब्राह्मण अबला-अनाथ हित प्राणार्पण, मङ्गल व्यापार ॥७॥

सभी दिशाओंमें नित देता जन-जनको उज्ज्वलतम ज्ञान ।
हरता दुःख-शोक-भय-तम सब करता सुख-कल्याण-विधान ॥
पात्रापात्र-भेद कर विस्मृत, करता सदा सभीका त्राण ।
सभी देश, सब काल सभीका करता सदा परम कल्याण ॥८॥

भगवान् श्रीकृष्णके सार्वभौम कल्याणकारी वचनामृत

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च ।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः ॥
नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने ।
नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये ॥

श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, श्रीकृष्ण सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, सर्वमय-सर्वातीत, सर्वगुणमय-सर्वगुणातीत, महान्-अणु, अचिन्त्यानन्त परस्परविरोधीगुणधर्माश्रय, सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर सर्वान्तर्यामी साक्षात् भगवान् हैं। श्रीकृष्ण अजन्मा, अविनाशी, हानोपादानरहित, देहदेही-भेदशून्य नित्य-सत्य सच्चिदानन्दघन दिव्य विग्रह हैं और षोडशकला-सम्पूर्ण अवतार हैं । यह सब होते हुए भी वे ऐतिहासिक आदर्श महापुरुष हैं । महाभारत आदि इतिहासोंमें उनकी सच्ची जीवनघटनाओंको लेकर सर्वत्र उन्हींका गुणगान विविध प्रकारोंसे किया गया है । भगवान् श्रीकृष्ण सभी आदर्श गुणोंके आकर तथा मूल उद्गम हैं और जीवनके सभी क्षेत्रोंमें उनकी परम आदर्श-लीला और नित्य-सत्य उपदेशवाणी विद्यमान हैं । जो अनन्त कालतक सभी क्षेत्रोंके नर-नारियोंको उनके संघर्षमय जीवनमें निश्चित विजयदायिनी सफलता प्रदान करनेमें सहायता करती रहेगी, नित्य उज्ज्वल प्रकाश दिखाकर मार्गदर्शन करते रहेगी । संसारमें रहकर संसारसे पृथक् रहने, निरन्तर कर्मसंलग्न रहकर नैष्कर्म्य-सिद्धि प्राप्त करने, सब कुछ करते हुए भी कुछ न करने, अपने प्रत्येक कर्मके द्वारा मानव-सेवा करने और प्रत्येक क्रियाको भगवत्पूजन बनानेकी सिद्ध कला-कौशलकी शिक्षा देती रहेगी । वस्तुतः अखिल विश्वके अखिल प्राणियोंके लिये उनकी अपनी-अपनी विभिन्न समस्याओंको सुलझाकर यथार्थ मार्गपर अग्रसर होनेके सुअवसर और सौभाग्य प्रदान करनेमें भगवान् श्रीकृष्णकी आदर्श लीला और अमृतमयी वाणी ही एकमात्र परम अमोघ साधन है ।

भगवान् श्रीकृष्णके दिव्य वचनोंसे हमारे पुराण-इतिहास भरे पड़े हैं । जो लोग श्रीमद्भागवत और महाभारतके श्रीकृष्णको दो मानते हैं, वे सर्वथा भ्रममें हैं । महाभारतमें ही ऐसे विभिन्न प्रसङ्ग मिलते हैं, जिनसे दोनोंका सर्वथा एक होना सिद्ध है । उदाहरणके लिये यहाँ दो-एक उद्धरण दिये जा रहे हैं । महाभारतके द्रोणपर्वमें धृतराष्ट्र संजयसे कह रहे हैं—

शृणु दिव्यानि कर्माणि वासुदेवस्य संजय ।
कृतवान् यानि गोविन्दो यथा नान्यः पुमान् क्वचित् ॥
संवर्धता गोपकुले बालेनैव महात्मना ।
विख्यापितं बलं बाह्वोस्त्रिषु लोकेषु संजय ॥
उच्चैःश्रवस्तुल्यबलं वायुवेगसमं जवे ।
जघान हयराजं तं यमुनावनवासिनम् ॥
दानवं घोरकर्माणं गवां मृत्युमिवोत्थितम् ।
वृषरूपधरं बाल्ये भुजाभ्यां निजघान ह ॥

संजय ! वसुदेवकुमार भगवान् श्रीकृष्णके दिव्य कर्मोंका वर्णन सुनो । भगवान् गोविन्दने जो-जो कार्य किये हैं, वैसे दूसरा कोई पुरुष कभी नहीं कर सकता । संजय ! बाल्यावस्थामें जब कि वे गोकुलमें पल रहे थे; उन महात्मा श्रीकृष्णने अपनी भुजाओंके बल-पराक्रमको तीनों लोकोंमें विख्यात कर दिया था । यमुनाके तटवर्ती वनमें उच्चैःश्रवाके तुल्य बलवान् और वायुके समान वेगवान् अश्वराज केशी रहता था । उसे श्रीकृष्णने मार दिया था । इसी प्रकार एक घोर कर्म करनेवाला दानव वहाँ बैलका रूप धारण करके रहता था, जो गौओंके लिये मृत्यु बनकर ही प्रकट हुआ था । उसे भी श्रीकृष्णने बाल्यावस्थामें अपने हाथोंसे ही मार डाला था ।

द्रौपदीने चीर-हरणके समय अत्यन्त व्याकुल अवस्थामें भी श्रीकृष्णको 'गोपीजनप्रिय', 'व्रजनाथ' और 'गोविन्द' आदि नामोंसे पुकारा है ।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवतमें भी पाण्डवोंका प्रसङ्ग बार-बार आया है और श्रीकृष्णको बार-बार 'देवकीपुत्र' कहा गया है । इससे स्पष्ट सिद्ध है कि महाभारतकी बड़ी गम्भीर और श्रीमद्भागवतकी नटखट लीला करनेवाले श्रीकृष्ण दो नहीं, एक ही थे ।

पाश्चात्त्य विद्वान् प्रो० विण्टरनीजने कहा था कि 'पाण्डव-सखा श्रीकृष्ण, विष्णुके अवतार श्रीकृष्ण, हरिवंशके श्रीकृष्ण—तीनों रूप एक व्यक्तिके नहीं हो सकते ।' इसी भ्रान्त मतका दुर्भाग्यवश हमारे कुछ भारतीय विद्वान् भी समर्थन करने लगे । यह पाश्चात्त्य अन्धानुकरणका ही परिणाम है ।

इसी प्रकार श्रीकृष्ण काव्य-कल्पित या बहुत इधरके व्यक्ति हों, सो बात भी नहीं है; वे ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और

अबसे पाँच हजारसे अधिक वर्ष पूर्व यहाँ विद्यमान थे। भारतीय इतिहासका सूक्ष्म अनुसंधान करनेवाले राव बहादुर श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्यने सिद्ध किया था कि श्रीकृष्णका प्राकट्य चन्द्रगुप्तसे २८२० वर्ष पूर्व अर्थात् ईस्वी सन्से ३१४० वर्ष पूर्व हुआ था।

भारतीय आस्तिक जनताके लिये तथा भक्तोंके लिये तो इन बातोंका कोई भी मूल्य नहीं है। उनके लिये तो श्रीकृष्ण उनकी नित्य प्रत्यक्ष अनुभूति तथा परम दृढ़ सहज विश्वासके आधारपर साक्षात् भगवान् हैं और उनकी महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थोंमें वर्णित लीलाएँ सभी परम दिव्य और सत्य हैं। ऐसे सर्वेश्वर, योगेश्वर, सर्वजनमान्य भगवान् श्रीकृष्णने अपने जीवन-लीला-प्रसङ्गोंमें जिन महत्त्वपूर्ण वचनामृतोंकी धारा बहायी है, वह सर्वतोमुखी है और सार्वभौम है। उनकी दिव्य वाणी श्रीमद्भगवद्गीता तो सार्वभौम ग्रन्थ माना ही जाता है, उनकी अन्यान्य महती वचनसुधा भी अपने-अपने क्षेत्रमें सबके लिये परम उपादेय और सर्वजन-कल्याणकारिणी है। बड़े आनन्दका विषय है कि भगवान् श्रीकृष्णकी परम श्रेष्ठ वचन-सुधासे पूर्ण कल्याणका यह 'विशेषाङ्क' प्रकाशित हो रहा है। यहाँ नमूनेके तौरपर भगवान्‌की कुछ वचनावली नीचे दी जाती है। इससे अनुमान होगा कि पूरा विशेषाङ्कका अध्ययन कितना अधिक ज्ञानदायक, पथ-प्रदर्शक और उपयोगी होगा और जिन मूल ग्रन्थोंसे इन वचनोंका संक्षिप्त सङ्कलन किया गया है, वे तथा वैसे ही अन्यान्य श्रीकृष्णवचनसुधासम्पन्न ग्रन्थोंका पठन-पाठन कितना कल्याणकारी होगा। अब भगवान्‌के कुछ वचनामृतोंकी बानगी देखिये और इनसे लाभ उठाइये।

पण्डित (ज्ञानी) अनिवार्य व्यवहार-भेदवाले प्राणियोंमें भी समदर्शी होते हैं

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ५। १८)

वे ज्ञानीजन विद्या-विनयसम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं। (इनमें समान व्यवहार असम्भव है, पर वे सबमें एक परमात्माको समभावसे देखते हैं।)

ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः॥
नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहंकारा वियन्ति हि॥
विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥
(श्रीमद्भागवत ११। २९। १४-१६)

जो ब्राह्मण, चाण्डाल, चोर, ब्राह्मणभक्त, सूर्य, चिनगारी तथा कृपालु और क्रूरमें समदृष्टि रखता है, उसीको सच्चा पण्डित (ज्ञानी) समझना चाहिये। जब सभी नर-नारियोंमें निरन्तर मेरी (भगवान्‌की) ही भावना की जाती है, तब थोड़े ही समयमें उस पुरुषके चित्तसे स्पर्धा, ईर्ष्या, (दूसरेके प्रति) तिरस्कार और (अपनेमें) अहंकार आदि दोष दूर हो जाते हैं। अपने ही लोग यदि हँसी करें तो करने दे, उनकी परवा न करे। 'मैं अच्छा हूँ, वह बुरा है' ऐसी देह-दृष्टिको और लोक-लज्जाको छोड़ दे तथा कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधेको भी पृथ्वीपर गिरकर साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम करे।

पण्डित (ज्ञानी) कौन है ?

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ४। १९)

जिसके सम्पूर्ण (शास्त्रसम्मत) कर्म बिना कामना और संकल्पके होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा दग्ध हो गये हैं, उसको ज्ञानीजन पण्डित कहते हैं।

समदर्शी महात्माका व्यवहार

यस्य स्युर्वीतसंकल्पाः प्राणेन्द्रियमनोधियाम्।
वृत्तयः स विनिर्मुक्तो देहस्थोऽपि हि तद्‌गुणैः॥
यस्यात्मा हिंस्यते हिंस्रैर्येन किंचिद् यदृच्छया।
अर्च्यते वा क्वचित्तत्र न व्यतिक्रियते बुधः॥
न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा।
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ्मुनिः॥
(श्रीमद्भागवत ११। ११। १४-१६)

जिनके प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी समस्त चेष्टाएँ बिना संकल्पके होती हैं, वे देहमें स्थित रहकर भी उसके गुणोंसे मुक्त हैं। उन तत्त्वज्ञ मुक्त पुरुषोंके शरीरको चाहे हिंसकलोग पीड़ा पहुँचायें और चाहे कभी कोई

दैवयोगसे पूजा करने लगे—वे न तो किसीके सतानेसे दुखी होते हैं और न पूजा करनेसे सुखी। जो समदर्शी महात्मा गुण और दोषकी भेददृष्टिसे ऊपर उठ गये हैं, वे न तो अच्छे काम करनेवालेकी स्तुति करते हैं और न बुरे काम करनेवालेकी निन्दा; न वे किसीकी अच्छी बात सुनकर उसकी सराहना करते हैं और न बुरी बात सुनकर किसीको झिड़कते ही हैं।

ब्रह्मज्ञानी न हर्षित होता है, न उद्विग्न

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ५। २०)

जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं होता और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न नहीं होता, वह स्थिरबुद्धि, मोहरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष परब्रह्म (परमात्मा-) में स्थित है।

आत्मा और भगवान्‌को सर्वत्र देखनेवाला योगी श्रेष्ठ है

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ६। २९—३२)

सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें ऐक्य-भावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है। जो पुरुष सर्वत्र मुझ भगवान् वासुदेवको ही देखता है और सबको मुझ वासुदेवमें देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता। जो पुरुष मुझमें ऐक्य-भावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझे भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है। अर्जुन! जो योगी अपने सदृश सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें (अपने सदृश ही) सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।

ज्ञानी पुरुषकी अनुभूति

यदि स्म पश्यत्यसदिन्द्रियार्थं
नानानुमानेन विरुद्धमन्यत्।
न मन्यते वस्तुतया मनीषी
स्वाप्नं यथोत्थाय तिरोदधानम्॥

(श्रीमद्भागवत ११। २८। ३२)

यदि ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें इन्द्रियोंके विविध बाह्य विषय, जो कि असत् हैं, आते भी हैं तो वह उन्हें अपने आत्मासे भिन्न नहीं मानता; क्योंकि वे युक्तियों, प्रमाणों और स्वानुभूतिसे सिद्ध नहीं होते। जैसे नींद टूट जानेपर स्वप्नमें देखे हुए और जागनेपर तिरोहित हुए पदार्थोंको कोई सत्य नहीं मानता; वैसे ही ज्ञानी पुरुष भी अपनेसे भिन्न प्रतीयमान पदार्थोंको सत्य नहीं मानते।

एष स्वयंज्योतिरजोऽप्रमेयो
महानुभूतिः सकलानुभूतिः।
एकोऽद्वितीयो वचसां विरामे
येनेषिता वागसवश्चरन्ति॥

(श्रीमद्भागवत ११। २८। ३५)

उद्धवजी! आत्मा नित्य अपरोक्ष है; उसकी प्राप्ति नहीं करनी पड़ती। वह स्वयंप्रकाश है। उसमें अज्ञान आदि किसी प्रकारके विकार नहीं हैं। वह जन्मरहित है अर्थात् कभी किसी प्रकार भी वृत्तिमें आरूढ़ नहीं होता, इसलिये अप्रमेय है। ज्ञान आदिके द्वारा उसका संस्कार भी नहीं किया जा सकता। आत्मामें देश, काल और वस्तुकृत परिच्छेद न होनेके कारण अस्तित्व, वृद्धि, परिवर्तन, ह्रास और विनाश—उसका स्पर्श भी नहीं कर सकते। सबकी और सब प्रकारकी अनुभूतियाँ आत्मस्वरूप ही हैं। जब मन और वाणी आत्माको अपना अविषय समझकर निवृत्त हो जाते हैं तब वही सजातीय, विजातीय और स्वगतभेदसे शून्य एक अद्वितीय रह जाता है। व्यवहारदृष्टिसे उसके स्वरूपका वाणी और प्राण आदिके प्रवर्तकके रूपमें निरूपण किया जाता है।

ज्ञानाग्निसे सब कर्म भस्म हो जाते हैं

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ४। ३६-३७)

यदि तू सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है, तो भी तू ज्ञानरूप नौकाके द्वारा निश्चय ही समस्त पापोंसे भलीभाँति तर जायगा। अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको भस्ममय कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्ममय कर देती है।

भोगियोंकी रात्रि—मुनियोंका दिन

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥
(श्रीमद्भगवद्गीता २। ६९)

समस्त ज्ञानियोंके लिये जो रात्रिके समान है, उसमें नित्य-ज्ञानस्वरूप परमानन्दको प्राप्त वह संयमी (स्थितप्रज्ञ) जागता है और जिस नाशवान् संसारके प्रपञ्चमें सब प्राणी जागते हैं, परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले मुनिके लिये वह रात्रिके समान है।

उत्तम योगी कौन है?

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ६। ४७)

सब योगियोंमें जो श्रद्धावान् योगी मुझ (भगवान्) में लगे अन्तरात्मासे मुझ (भगवान्) को निरन्तर भजता है, वह मुझको अति उत्तम योगी मान्य है।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
(श्रीमद्भगवद्गीता १२। २)

मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ दिव्य साकार—सगुणस्वरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं।

महात्मा ही निरपेक्ष सुखको जानते हैं

जानन्ति सन्तः समदर्शिनो ये
दान्ता महान्तः किल नैरपेक्षाः।
ते नैरपेक्ष्यं परमं सुखं मे
ज्ञानेन्द्रियादीनि यथा रसादीन्॥
(गर्गसंहिता वृन्दावन० १९। २३)

जो समदर्शी, इन्द्रियविजयी, अपेक्षारहित महात्मा संत हैं, वे ही मेरे निरपेक्ष परम सुखको जानते हैं, जैसे रसादिका ज्ञान ज्ञानेन्द्रियोंको ही होता है।

शान्तिको कौन प्राप्त होता है?

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
(श्रीमद्भगवद्गीता २। ७१)

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर, स्पृहारहित, ममतारहित और अहंकाररहित होकर विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ५। २९)

मैं (भगवान्) सब यज्ञ-तपोंका भोक्ता हूँ, सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर हूँ और वही मैं समस्त भूत-प्राणियोंका सुहृद् हूँ। इस प्रकार तत्त्वसे मुझको जान लेनेपर मनुष्य शान्तिको प्राप्त होता है।

कृतकृत्य कौन है?

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ३। १७)

अवश्य ही जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही संतुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।

सुखपूर्वक बन्धनसे मुक्त कौन होता है?

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ५। ३)

महाबाहु अर्जुन! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न आकाङ्क्षा करता है, उसे सदा संन्यासी ही समझना चाहिये; क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

स्थितप्रज्ञ सम रहता है

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता २ । ५६)

दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंके लिये जो सर्वथा निःस्पृह रहता है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नहीं रहते हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है ।

कर्म करते हुए भी किसको बन्धन नहीं होता ?

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ४ । २२)

जो बिना इच्छाके अपने-आप प्राप्त हुई परिस्थितिमें सदा संतुष्ट रहता है, जिसमें मत्सरताका सर्वथा अभाव हो गया है, जो हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत हो गया है—सिद्धि और असिद्धिमें सम रहनेवाला ऐसा पुरुष कर्म करते हुए भी बँधता नहीं ।

कर्म करते हुए ही निष्पाप कौन रहता है ?

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ५ । १०)

जो पुरुष सब कर्मोंको ब्रह्ममें अर्पण करके और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह जलसे कमलके पत्तेकी भाँति पापसे लिप्त नहीं होता ।

आत्माकी अमरता

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता २ । २३–२५)

इस आत्माको शस्त्र नहीं काट सकते, इसको आग नहीं जला सकती, इसको जल नहीं गला सकता और वायु नहीं सुखा सकता; क्योंकि-यह आत्मा अच्छेद्य है; यह अदाह्य, अक्लेद्य और निःसंदेह अशोष्य है और यह नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है । यह आत्मा अव्यक्त है, अचिन्त्य है और विकाररहित कहा जाता है । इससे अर्जुन ! इस आत्माको उपर्युक्त प्रकारसे जानकर तू शोक करनेके योग्य नहीं है (तुझे शोक करना उचित नहीं है) ।

कैसे भक्त भगवान्‌को प्रिय हैं ?

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता १२ । १३—१९)

जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, सबका ही स्वार्थरहित मित्र और हेतुरहित दयालु, ममता और अहंकारसे रहित, दुःख-सुखोंकी प्राप्तिमें सम, क्षमाशील (अपराध करनेवालोंका भी कल्याण करनेवाला), योगी, निरन्तर संतुष्ट, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें रखनेवाला और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है, वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है । जिससे किसी जीवको उद्वेग नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवके द्वारा उद्वेगको प्राप्त नहीं होता; जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है, वह भक्त मुझको प्रिय है । जो पुरुष आकाङ्क्षासे रहित, बाहर-भीतरसे शुद्ध, दक्ष, उदासीन—पक्षपातसे रहित और व्यथाओंसे मुक्त है, वह (अपने लिये) सारे आरम्भोंका त्यागी मेरा भक्त मुझको प्रिय है । जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न आकाङ्क्षा करता है तथा जो शुभ-अशुभ (दोनों प्रकारके) सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागी है; वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है । जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें

सम है, सर्दी-गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है, आसक्तिसे रहित है, निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला है, मौन (मननशील) है, जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा संतुष्ट है और घरमें (रहनेके स्थानमें) ममता और आसक्तिरहित है; वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है ।

चार प्रकारके भक्त

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ७ । १६—१९)

अर्जुन ! सुकृती अर्थार्थी, आर्त्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं। इन (चारों-) में मुझ भगवान्के साथ सदा संयुक्त और विशुद्ध अहैतुक अनन्य प्रेमसम्पन्न ज्ञानी भक्त विशेषरूपसे अति उत्तम है । एकमात्र मुझ भगवान्को ही (परम श्रेय-स्वरूप परम श्रेष्ठ और परम प्रेय-स्वरूप परम प्रेष्ठ) जाननेवाला वह तत्त्वज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है । यह ज्ञानी भक्त ज्ञानकी परानिष्ठारूप पराभक्ति अथवा विशुद्ध प्रेमके द्वारा समग्र भगवान्का भजन करके ब्रह्मकी भी प्रतिष्ठारूप भगवान्के पुरुषोत्तम-स्वरूपको जान लेता है । भोगविमुख तथा भगवदभिमुख होकर भगवान्के लिये ही अपने-अपने भावानुसार भगवान्का भजन करनेवाले होनेके कारण ये सभी उदार हैं; परंतु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा आत्मा ही है—ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त परमोत्तम गतिस्वरूप मुझ भगवान्में ही अच्छी प्रकार स्थित है । बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें (पराभक्ति-परायण ज्ञानकी परानिष्ठाको प्राप्त) ज्ञानी भक्त मुझ भगवान्को इस प्रकार भजता है कि सब कुछ वासुदेव ही हैं । (इनमें परम श्रेयकी भावनावालेको विश्वरूप—सर्वत्र व्यापक वासुदेव—ब्रह्मका अनुभव होता है और परम प्रेमभाववाले ज्ञानी भक्तको, जहाँ उसके नेत्र जाते हैं, वहीं अपने परम प्रेष्ठ भगवान् वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण दिखायी देते हैं । ऐसे महात्मा जगत्का अभाव नहीं देखते—जगत्को सर्वत्र सर्वथा एकमात्र भगवान्से ही परिपूर्ण देखते हैं—सर्वत्र भगवान्को ही अभिव्यक्त पाते हैं ।) ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ।

भक्तका स्वरूप, महत्त्व और उसके प्रति भगवान्का प्रेम

अकिंचनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः ।
मया संतुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥
न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद् विनान्यत् ॥
न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः ।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥
निष्किंचना मय्यनुरक्तचेतसः
शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः ।
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत्
तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । १३, १४, १५, १७)

जिसने अपनी मानकर किसी भी वस्तुको नहीं रक्खा है और जो सब प्रकारके संग्रह-परिग्रहसे रहित—अकिञ्चन है, जो अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करके शान्त और समदर्शी हो गया है, जो मेरी प्राप्तिसे ही मेरे सांनिध्यका अनुभव करके ही सदा-सर्वदा पूर्ण संतोषका अनुभव करता है, उसके लिये आकाशका एक-एक कोना आनन्दसे भरा हुआ है ।

जिसने अपनेको मुझे सौंप दिया है, वह मुझे छोड़कर न तो ब्रह्माका पद चाहता है और न देवराज इन्द्रका । उसके मनमें न तो सार्वभौम सम्राट् बननेकी इच्छा होती है और न वह स्वर्गसे भी श्रेष्ठ रसातलका ही स्वामी होना चाहता है । वह योगकी बड़ी-बड़ी सिद्धियों और मोक्ष तककी अभिलाषा नहीं करता । उद्धव ! मुझे तुम्हारे-जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रियतम हैं, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, आत्मा शंकर, सगे भाई बलरामजी, स्वयं अर्धाङ्गिनी लक्ष्मीजी और मेरा अपना आत्मा भी नहीं है । ऐसा मेरा भक्त किसीकी अपेक्षा नहीं देखता, जगत्के चिन्तनसे सर्वथा उपरत होकर मेरे ही मनन-चिन्तनमें तल्लीन रहता है और राग-द्वेष न रखकर सबके प्रति समान दृष्टि रखता है, जो सब प्रकारके

संग्रह-परिग्रहसे रहित हैं—यहाँतक कि शरीर आदिमें भी अहंता-ममता नहीं रखते, जिनका चित्त मेरे ही प्रेमके रंगमें रँग गया है, जो संसारकी वासनाओंसे शान्त—उपरत हो चुके हैं और जो अपनी महत्ता-उदारताके कारण स्वभावसे ही समस्त प्राणियोंके प्रति दया और प्रेमका भाव रखते हैं, किसी प्रकारकी कामना जिनकी बुद्धिका स्पर्श नहीं कर पाती, उन्हें मेरे जिस परमानन्द-स्वरूपका अनुभव होता है, उसे और कोई नहीं जान सकता; क्योंकि वह परमानन्द तो केवल निरपेक्षतासे ही प्राप्त होता है ।

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥
धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता ।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । १४ । २०—२२)

उद्धव ! योग-साधन, ज्ञान-विज्ञान, धर्मानुष्ठान, जप-पाठ और तप-त्याग मुझे प्राप्त करानेमें उतने समर्थ नहीं हैं, जितनी दिनोंदिन बढ़नेवाली मेरी अनन्य प्रेममयी भक्ति । मैं संतोंका प्रियतम आत्मा हूँ, मैं अनन्य श्रद्धा और अनन्य भक्तिसे ही पकड़में आता हूँ । मुझे प्राप्त करनेका यह एक ही उपाय है । मेरी अनन्य भक्ति उन लोगोंको भी पवित्र—जातिदोषसे मुक्त कर देती है, जो जन्मसे ही चाण्डाल हैं । इसके विपरीत जो मेरी भक्तिसे वञ्चित हैं, उनके चित्तको सत्य और दयासे युक्त धर्म और तपस्यासे युक्त विद्या भी भलीभाँति पवित्र करनेमें असमर्थ है ।

भगवान् भक्तके पीछे-पीछे घूमा करते हैं

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । १४ । १६)

भक्तके पीछे-पीछे मैं निरन्तर यह सोचकर घूमा करता हूँ कि उसके चरणोंकी धूल उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ ।

भक्त त्रिभुवनको पवित्र करता है

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । १४ । २४)

जिसकी वाणी प्रेमसे गद्गद हो रही है, चित्त पिघलकर एक ओर बहता रहता है, एक क्षणके लिये भी रोनेका ताँता नहीं टूटता, परंतु जो कभी-कभी खिलखिलाकर हँसने भी लगता है । कहीं लाज छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने लगता है तो कहीं नाचने लगता है । मैया उद्धव ! मेरा वह भक्त न केवल अपनेको बल्कि सारे संसारको पवित्र कर देता है ।

भगवान्‌के गुण-श्रवणका फल

यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ
मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः ।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं
चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । १४ । २६)

उद्धवजी ! मेरी परम पावन लीला-कथाके श्रवण-कीर्तनसे ज्यों-ज्यों चित्तका मैल धुलता जाता है, त्यों-त्यों उसे सूक्ष्म वस्तुके—वास्तविक तत्त्वके दर्शन होने लगते हैं—जैसे अञ्जनके द्वारा नेत्रोंका दोष मिटनेपर उनमें सूक्ष्म वस्तुओंको देखनेकी शक्ति आने लगती है ।

भगवान्‌के कीर्तनका महत्त्व

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥
मद्भक्तसदृशो लोके पिता माता गुरुर्न हि ।
न बन्धुर्नापरे चैव इति वेदविदो विदुः ॥
ये मत्कीर्तौ जनं सक्तं पृथक् कुर्वन्ति मानवाः ।
तथा मद्द्वेषिणो नित्यं पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥
शृणोमि स्वयशोगानं प्रेम्णा भक्तैरुदाहृतम् ।
कृतं गोपैश्च गोपीभिर्गानं त्यक्त्वा च कौतुकम् ॥

(आदिपुराण १९ । ३५, ३७—३९)

मैं न तो वैकुण्ठमें वास करता हूँ और न योगियोंके हृदयमें ही रहता हूँ । नारद ! मेरे भक्त जहाँ मेरा गुण-कीर्तन या स्मरण करते हैं, मैं वहीं रहता हूँ । मेरे भक्तके समान संसारमें माता, पिता, गुरु या बन्धु कोई भी हितकर नहीं है—ऐसा वेदवादियोंका कथन है । जो मनुष्य मेरे कीर्तनमें लगे हुए व्यक्तिको कीर्तनसे अलग कर देते हैं,

वे मेरे द्वेषी हैं और अपवित्र नरकमें गिरते हैं। मैं स्वयं अपने भक्त गोप-गोपियोंके द्वारा गाये गये गुण-गानको बड़े चावसे सुनता हूँ।

भगवान् किसके द्वारा खरीदे गये ?

गीत्वा च मम नामानि नर्त्तयेन्मम संनिधौ।
इदं ब्रवीमि ते सत्यं क्रीतोऽहं तेन चार्जुन ॥

(आदिपुराण बंगला संस्करण)

जो मेरे नामोंका गान करता हुआ मेरे श्रीविग्रहके सामने अथवा मुझे अपने समीप मानकर नाचता है, मैं यह तुमसे सत्य कहता हूँ, अर्जुन ! मैं उसके द्वारा खरीद लिया गया हूँ।

भगवत्प्रेमसे आनन्द

कर्मेन्द्रियाणीह यथा रसादीं-
स्तथा सकामा मुनयः सुखं यत् ॥
मनाङ् न जानन्ति हि नैरपेक्ष्यं
गूढं परं निर्गुणलक्षणं तत्।
ये राधिकायां त्वयि केशवे मयि
भेदं न कुर्वन्ति हि दुग्धशौक्ल्यवत्।
त एव मे ब्रह्मपदं प्रयान्ति
तद्धैतुकस्फूर्जितभक्तिलक्षणाः ॥

(गर्गसंहिता मथुरा० ४। १९, २०½, २४)

मेरी प्रीतिसे जो आनन्द होता है, वह निर्गुण, निरपेक्ष, अचिन्त्य एवं परम उत्तम है। उस सुखको सकामी मुनि नहीं जान सकते, ठीक उसी प्रकार जैसे रस आदि गुणको कर्मेन्द्रियाँ नहीं जानतीं। जिस प्रकार दूध तथा शुक्लवर्णमें अभेद-सम्बन्ध है, वैसे ही तुम राधिका और मैं केशव—इन दोनोंमें जो किसी तरहका अन्तर नहीं समझते वे ही परम धामके अधिकारी होते हैं; क्योंकि उनके हृदयमें अहैतुक प्रेमके भाव उठते रहते हैं।

चाण्डाल भक्तकी भी महत्ता

मद्भक्तान् शूद्रसामान्यादवमन्यन्ति ये नराः।
नरकेष्वेव तिष्ठन्ति वर्षकोटिं नराधमाः ॥
चाण्डालमपि मद्भक्तं नावमन्येत बुद्धिमान्।
अवमानात् पतन्त्येव नरके रौरवे नराः ॥
मम भक्तस्य भक्तेषु प्रीतिरभ्यधिका मम।
तस्मान्मद्भक्तभक्ताश्च पूजनीया विशेषतः ॥

(महाभारत आश्व० दाक्षिणात्यपाठ)

जो मनुष्य मेरे भक्तोंका शूद्रजातिमें जन्म होनेके कारण अपमान करते हैं, वे नराधम करोड़ों वर्षोंतक नरकोंमें निवास करते हैं। अतः चाण्डाल भी यदि मेरा भक्त हो तो बुद्धिमान् पुरुषको उसका अपमान नहीं करना चाहिये। अपमान करनेसे मनुष्यको रौरव नरकमें गिरना पड़ता है। जो मनुष्य मेरे भक्तोंके भक्त होते हैं, उनपर मेरा विशेष प्रेम होता है। इसलिये मेरे भक्तके भक्तोंका विशेष सत्कार करना चाहिये।

शूद्रका भक्तिपूर्वक दिया हुआ पदार्थ भगवान् सिर चढ़ाते हैं

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतं मूर्ध्ना गृह्णामि शूद्रतः ॥

(महाभारत आश्व० दाक्षिणात्य पाठ)

शूद्र भी यदि भक्तिपूर्वक मुझे पत्र, पुष्प, फल अथवा जल अर्पण करता है, तो मैं उसके भक्तिपूर्वक दिये हुए उपहारको सादर सिर चढ़ाता हूँ।

भगवान् भक्तमें, भक्त भगवान्‌में

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ९। २९)

मैं सब भूतोंमें सम हूँ। न कोई मेरा द्वेषका पात्र है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूँ।

पाप करनेवाला भी अनन्य भजन करनेपर शाश्वत शान्ति पाता है

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ९। ३०-३१)

यदि कोई अतिशय दुराचारी भी मेरा अनन्य भक्त होकर मुझको भजता है, तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। कुन्तीपुत्र अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता (उसका अपनी स्थितिसे कभी पतन नहीं होता)।

भक्तिसे शीघ्र कर्मक्षय

नाभुक्तं क्षीयते कर्म जन्मान्तरशतैरपि।
मद्भक्त्या तद् बहु स्वल्पं विपरीतमभक्तितः ॥

(आदिपुराण २० । ६९)

बिना भोगके सौ जन्मोंतक भी कर्मोंका नाश नहीं होता है। परंतु मेरी भक्तिसे महान् कर्म-राशि भी शीघ्र समाप्त हो जाती है और मेरी भक्तिके बिना थोड़े कर्म भी जल्दी नहीं क्षीण होते।

भगवान्‌को छोड़कर दूसरी ओर दौड़नेवाला मूर्ख है

मामेव यः परित्यज्य वस्तुनोऽग्रेंऽभिधावति।
विवेकरहितो मूर्खो दुःखमेवाभिपद्यते ॥
तस्य त्रैकालिकी हानिर्भवत्येवान्यथा न हि।

(आदिपुराण २८ । १२-१३)

जो मुझे छोड़कर किसी दूसरी वस्तुके लिये दौड़ता है, वह विवेकरहित और मूर्ख है। उसे केवल दुःख ही हाथ लगता है। उसे तीनों कालमें ही हानि होती है, सुख नहीं मिलता।

भक्तिपूर्वक अर्पित पदार्थ भगवान् खाते हैं

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ९ । २६)

जो कोई भी भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल अर्पण करता है, उस शुद्ध-बुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं स्वयं प्रीति-सहित खाता हूँ।

सब भगवान्‌के अर्पण करनेवाला कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ९ । २७-२८)

अर्जुन ! तू जो कुछ करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर। (इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं) ऐसे संन्यास (समर्पण-) योगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।

भगवत्स्मरणकी महिमा

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः ॥
विष्णुर्माता पिता विष्णुर्विष्णुः स्वजनबान्धवः।
येषामेव स्थिरा बुद्धिर्न तेषां दुर्गतिर्भवेत् ॥
मङ्गलं भगवान् विष्णुर्मङ्गलं गरुडध्वजः।
मङ्गलं पुण्डरीकाक्षो मङ्गलायतनं हरिः ॥

(गरुडपुराण उत्तर० ३५ । ४५–४७)

जिनके हृदयमें कमल-दलके समान श्यामल भगवान् जनार्दन विराजते हैं, उन्हें निरन्तर लाभ एवं विजय है, उनकी पराजय (उन्हें दुःख) कैसी ? भगवान् विष्णु ही माता, पिता, स्वजन तथा बान्धव हैं—इस प्रकार जिनकी निश्चयात्मिका बुद्धि हो गयी है, उनकी दुर्गति नहीं होती। भगवान् विष्णु कल्याणस्वरूप हैं, भगवान् गरुडध्वज मङ्गलमय हैं; कमलके तुल्य नेत्रोंवाले भगवान् पुण्डरीकाक्ष शुभरूप हैं। भगवान् श्रीहरि समस्त मङ्गलोंके आवास हैं।

अनन्य चिन्तन करनेवालेका योगक्षेम भगवान् वहन करते हैं

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ९ । २२)

जो अनन्य प्रेमी भक्तजन निरन्तर चिन्तन करते हुए मुझे निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्ययुक्त (नित्य-निरन्तर मेरे भजन-परायण रहनेवाले) पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ (उनके लिये अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्त-के संरक्षणका सारा भार मैं ही वहन करता हूँ)।

अपने कर्मसे भगवान्‌की पूजा

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता १८ । ४६)

जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंके द्वारा पूजा करके मनुष्य (भगवत्प्राप्तिरूप) सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।

ध्यानका साधन

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्धया धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ६ । २४—२६)

संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषरूपसे त्यागकर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सभी ओरसे भलीभाँति रोककर, क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे। यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस-उस विषयसे हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही निरुद्ध करे।

भगवान् संसार-सागरसे तुरंत किसको तार देते हैं ?

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता १२ । ६-७)

जो भक्त सम्पूर्ण कर्मोंका मुझमें संन्यास (पूर्ण समर्पण) करके, मेरे परायण (मुझको ही अनन्यगति, अनन्य प्रियतम, अनन्य साध्य और अनन्य साधन माननेवाले) होकर, अनन्य भक्तियोगके द्वारा निरन्तर मेरा चिन्तन करते हुए मुझको ही भजते हैं; अर्जुन ! उन मुझमें आविष्टचित्त प्रेमी भक्तोंका मृत्युरूप संसार-सागरसे मैं शीघ्र ही समुद्धार (भलीभाँति पार) करनेवाला होता हूँ। (उन्हें अपने साधन-बलपर प्रयास करके—तैरकर संसार-समुद्र पार नहीं करना पड़ता। मैं अखिल-सौन्दर्य-माधुर्य-निधि स्वयं अपने साथ उन्हें सुखमय सुदृढ़ कृपापोतपर चढ़ाकर तुरंत ही पार उतार देता हूँ।)

सर्वगुह्यतम परम साधन—शरणागति

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता १८ । ६४—६६)

(अब) तू सर्वगुह्यतम (सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय) मेरे परम श्रेष्ठ वचनको फिर भी सुन। तू मेरा दृढ़ इष्ट—अतिशय प्रिय है, अतएव तेरे ही (अथवा तेरे ही-जैसे प्रेमी भक्तोंके) हितके लिये मैं तुझसे यह परम वचन कह रहा हूँ। अर्जुन ! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझको ही प्राप्त होगा—यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है। सब धर्मोंको त्यागकर तू केवल एक मुझ परम पुरुषोत्तम परमेश्वर श्रीकृष्णकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तू शोक मत कर।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ९ । ३२-३३)

अर्जुन ! मेरे शरण होनेपर स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि (चाण्डालादि) कोई भी हों, वे सब परम गतिको ही प्राप्त होते हैं। फिर जो पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्त हैं, उनके लिये तो कहना ही क्या है। इसलिये तू इस सुखरहित और क्षणभंगुर मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।

शरणागतके लिये शोककी वस्तु नहीं रह जाती

मां प्रपन्नो जनः कश्चिन्न भूयोऽर्हति शोचितुम् ॥
(श्रीमद्भागवत १० । ५१ । ४४)

जो पुरुष मेरी शरणमें आ जाता है, उसके लिये फिर ऐसी कोई वस्तु नहीं रह जाती, जिसके लिये वह शोक करे।

असम्मूढ कौन है ?

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता १० । ३)

जो मुझ (श्रीकृष्ण)को अजन्मा, अनादि और लोकोंका महान् ईश्वर तत्त्वसे जानता है, वह मनुष्योंमें असम्मूढ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता १५ । १९)

भारत ! जो असम्मूढ पुरुष मुझको इस प्रकार 'पुरुषोत्तम' जानता है वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझको ही भजता है ।

मूढ कौन है ?

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ७ । १५)

जिनका ज्ञान मायाके द्वारा हरा गया है; जो आसुरी-भावका आश्रय किये हैं तथा जो मनुष्योंमें अधम एवं दूषित कर्म करनेवाले हैं, वे मूढ़लोग मुझको (भगवान्‌को) नहीं भजते ।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ९ । ११)

समस्त भूत-प्राणियोंके महान् ईश्वररूप मेरे (भगवान्‌के) परम भावको न जाननेवाले मूढ़लोग मानव-शरीरधारी मुझ परमात्माको तुच्छ समझते हैं ।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता १६ । २०)

(आसुरी सम्पदावाले) मूढ़लोग मुझको (भगवान्‌को) न प्राप्त होकर जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होकर फिर उससे भी नीच गति—(घोर नरक आदि-) को प्राप्त होते हैं ।

गोपियोंका स्वरूप

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः ।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम् ॥
(श्रीमद्भागवत १० । ४६ । ४)

उन (गोपियों-) के प्राण, उनका जीवन, उनका सर्वस्व मैं ही हूँ। मेरे लिये उन्होंने अपने पति-पुत्र आदि सभी सगे-सम्बन्धियों-को छोड़ दिया है । उन्होंने बुद्धिसे भी मुझको ही अपना प्यारा, अपना प्रियतम—नहीं, नहीं, अपना आत्मा मान रक्खा है । मेरा यह व्रत है कि जो लोग मेरे लिये लौकिक और पारलौकिक धर्मोंको छोड़ देते हैं, उनका भरण-पोषण मैं स्वयं करता हूँ ।

गोपी-महिमा

यथाहं च तथा यूयं नाहं भेदः श्रुतौ श्रुतः ।
प्राणोऽहं चैव युष्माकं यूयं प्राणा मम प्रभो ॥
व्रतं वो लोकरक्षार्थं न हि स्वार्थमिदं प्रियाः ।
सहागताश्च गोलोकाद्गमनं च मया सह ॥
गच्छत स्वालयं शीघ्रं वोऽहं जन्मनि जन्मनि ।
प्राणेभ्योऽपि गरीयस्यो यूयं मे नात्र संशयः ॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० २७ । २३८–२४०)

जैसा मैं हूँ, वैसी ही तुम हो । हममें-तुममें भेद नहीं है । मैं तुम्हारे प्राण हूँ और तुम भी मेरे लिये प्राणस्वरूपा हो । प्यारी गोपियो ! तुमलोगोंका यह व्रत लोकरक्षाके लिये है, स्वार्थ-सिद्धिके लिये नहीं; क्योंकि तुमलोग गोलोकसे मेरे साथ आयी हो और फिर मेरे साथ ही तुम्हें वहाँ चलना है (तुम मेरी नित्यसिद्धा प्रेयसी हो । तुमने साधन करके मुझे पाया है, ऐसी बात नहीं है) । अब शीघ्र अपने घर जाओ । मैं जन्म-जन्ममें तुम्हारा ही हूँ । तुम मेरे लिये प्राणोंसे भी बढ़कर हो; इसमें संशय नहीं है ।

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते ।
ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम् ॥
सहाया गुरवः शिष्या भुजिष्या बान्धवाः स्त्रियः ।
सत्यं वदामि ते पार्थ गोप्यः किं मे भवन्ति न ॥
मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम् ।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः ॥
(आदिपुराण)

अर्जुन ! गोपियाँ अपने अङ्गोंको मेरी सेवाके लिये ही सुरक्षित रखती हैं; उन गोपियोंके अतिरिक्त मेरा निगूढ़ प्रेमपात्र और कोई नहीं है । वे मेरी सहायिका हैं, गुरु हैं, शिष्या हैं, बन्धु हैं तथा प्रेयसी हैं । मैं तुमसे सत्य कहता हूँ— अर्जुन ! गोपियाँ मेरी क्या नहीं होती हैं—वे सब कुछ हैं । पार्थ ! मेरी यथार्थ महिमा, मेरी पूजा (सेवा), मेरी श्रद्धा

और मेरे मनकी बातको तत्त्वसे केवल गोपियाँ ही जानती हैं; अन्य कोई नहीं जानता।

भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हैं

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(श्रीमद्भगवद्गीता १४। २७)

उस अविनाशी परब्रह्मका, अमृतका, नित्य धर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं (पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही) हूँ।

सारे यज्ञोंके भोक्ता और स्वामी भगवान् ही हैं

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ९। २४)

सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ; परंतु वे मुझ परमेश्वरको तत्त्वसे नहीं जानते, इसीसे उनका पतन होता है (वे पुनर्जन्मको प्राप्त होते हैं)।

भगवान्के सिवा और कुछ भी नहीं है

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ७। ७)

धनंजय ! मुझसे भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें (सूत्रके) मणियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है।

भगवान्में सत्य और धर्म

न ब्रवीम्युत्तरे मिथ्या सत्यमेतद् भविष्यति।
एष संजीवयाम्येनं पश्यतां सर्वदेहिनाम्॥
नोक्तपूर्वं मया मिथ्या स्वैरेष्वपि कदाचन।
न च युद्धात् परावृत्तस्तथा संजीवतामयम्॥
यथा मे दयितो धर्मो ब्राह्मणश्च विशेषतः।
अभिमन्योः सुतो जातो मृतो जीवत्वयं तथा॥
यथाहं नाभिजानामि विजये तु कदाचन।
विरोधं तेन सत्येन मृतो जीवत्वयं शिशुः॥
यथा सत्यं च धर्मश्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ।
तथा मृतः शिशुरयं जीवतादभिमन्युजः॥
यथा कंसश्च केशी च धर्मेण निहतौ मया।
तेन सत्येन बालोऽयं पुनः संजीवतामयम्॥

(महाभारत आश्वमेधिक० ६९। १८—२३)

बेटी उत्तरा ! मैं झूठ नहीं बोलता। मैंने जो प्रतिज्ञा की है, वह सत्य होकर ही रहेगी। देखो, मैं समस्त देहधारियोंके देखते-देखते अभी इस बालकको जिलाये देता हूँ। मैंने खेल-कूदमें भी कभी मिथ्या-भाषण नहीं किया है और युद्धमें कभी पीठ नहीं दिखायी है। इस शक्तिके प्रभावसे अभिमन्युका यह बालक जीवित हो जाय। यदि धर्म और ब्राह्मण मुझे विशेष प्रिय हों, तो अभिमन्युका यह पुत्र, जो पैदा होते ही मर गया था, फिर जीवित हो जाय। मैंने कभी अर्जुनसे विरोध किया हो, इसका स्मरण नहीं है; इस सत्यके प्रभावसे यह मरा हुआ बालक अभी जीवित हो जाय। यदि मुझमें सत्य और धर्मकी निरन्तर स्थिति बनी रहती हो तो अभिमन्युका यह मरा हुआ बालक जी उठे। यदि मैंने कंस और केशीका धर्मके अनुसार वध किया है, तो इस सत्यके प्रभावसे यह बालक फिर जीवित हो जाय।

सबमें भगवान्का तेज है

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥

(श्रीमद्भगवद्गीता १५। १२)

जो सूर्यमें स्थित तेज समस्त जगत्को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है, उसको तू मेरा ही तेज जान।

भगवान्का अवतार कब और क्यों होता है ?

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ४। ६—८)

अर्जुन ! मैं अजन्मा, अविनाशीस्वरूप तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर रहते हुए ही अपनी प्रकृतिमें अधिष्ठित रहकर अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ। भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपनेको उपर्युक्त रूपमें प्रकट करता हूँ। साधु पुरुषोंका

परित्राण करनेके लिये, पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ ।

भगवान्‌के जन्म-कर्मको जाननेके फल

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ४ । ९)

अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य (अप्राकृत-अलौकिक) हैं, इस प्रकार जो तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता; वह मुझे ही प्राप्त होता है ।

भगवान्‌को जो जैसे भजता है, वैसे ही भगवान् उसे भजते हैं

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ४ । ११)

जो मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ । अर्जुन ! सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं ।

श्रीकृष्णका मारनेवालेके साथ भी आदर्श व्यवहार

मा भैर्जरे त्वमुत्तिष्ठ काम एष कृतो हि मे ।
याहि त्वं मदनुज्ञातः स्वर्गं सुकृतिनां पदम् ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । ३० । ३९)

व्याधके द्वारा पैरमें बाण मारनेपर उस व्याधसे भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे जरे ! तू डर मत, उठ-उठ ! यह तो तूने मेरे मनका काम किया है । जा, मेरी आज्ञासे तू उस स्वर्गमें निवास कर, जिसकी प्राप्ति बड़े-बड़े पुण्यवानोंको होती है ।

सत्सङ्ग तथा भक्तियोग

प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनोद्धव ।
नोपायो विद्यते सध्र्यङ् प्रायणं हि सतामहम् ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । ११ । ४८)

प्यारे उद्धव ! मेरा ऐसा निश्चय है कि सत्सङ्ग और भक्तियोग—इन दो साधनोंका एक साथ ही अनुष्ठान करते रहना चाहिये । प्रायः इन दोनोंके अतिरिक्त संसारसागरसे पार होनेका और कोई उपाय नहीं है; क्योंकि संतपुरुष मुझे अपना आश्रय मानते हैं और मैं सदा-सर्वदा उनके पास बना रहता हूँ ।

सत्सङ्गकी महिमा

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः ।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । १२ । १-२)

जगत्‌में जितनी आसक्तियाँ हैं, उन्हें सत्सङ्ग नष्ट कर देता है । यही कारण है कि सत्सङ्ग जिस प्रकार मुझे वशमें कर लेता है, वैसा साधन न योग है न सांख्य, न धर्मपालन और न स्वाध्याय । तपस्या, त्याग, इष्टापूर्त और दक्षिणासे भी मैं वैसा प्रसन्न नहीं होता । कहाँतक कहूँ—व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ और यम-नियम भी सत्सङ्गके समान मुझे वशमें करनेमें समर्थ नहीं हैं ।

साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम् ।
दर्शनान्नो भवेद् बन्धः पुंसोऽक्ष्णोः सवितुर्यथा ॥
(श्रीमद्भागवत १० । १० । ४१)

जिनकी बुद्धि समदर्शिनी है और हृदय पूर्णरूपसे मेरे प्रति समर्पित है, उन साधु पुरुषोंके दर्शनसे बन्धन होना ठीक वैसे ही सम्भव नहीं है, जैसे सूर्योदय होनेपर मनुष्यके नेत्रोंके सामने अन्धकार होना ।

मदर्थे धर्मकामार्थानाचरन् मदपाश्रयः ।
लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव सनातने ॥
सत्सङ्गलब्धया भक्त्या मयि मां स उपासिता ।
स वै मे दर्शितं सद्भिरञ्जसा विन्दते पदम् ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । ११ । २४-२५)

प्रिय उद्धव ! जो मेरा आश्रय लेकर मेरे ही लिये धर्म, काम और अर्थका सेवन करता है, उसे मुझ अविनाशी पुरुषके प्रति अनन्य प्रेममयी निश्चला भक्ति प्राप्त हो जाती है । भक्तिकी प्राप्ति सत्सङ्गसे होती है; जिसे भक्ति प्राप्त हो जाती है, वह मेरी उपासना करता है, मेरे सांनिध्यका अनुभव करता है । इस प्रकार जब उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब वह संतोंके उपदेशोंके अनुसार उनके द्वारा बताये हुए मेरे परमपदको—वास्तविक स्वरूपको सहजहीमें प्राप्त हो जाता है ।

संत ही महान् तीर्थ हैं

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥
नाग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारका
न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः ।
उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं
विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया ॥
(श्रीमद्भागवत १० । ८४ । ११–१२)

केवल जलमय तीर्थ ही तीर्थ नहीं कहलाते और केवल मिट्टी या पत्थरकी प्रतिमाएँ ही देवता नहीं होतीं; संत पुरुष ही वास्तवमें तीर्थ और देवता हैं। उन सबका बहुत समयतक सेवन किया जाय, तब वे पवित्र करते हैं; परंतु संत पुरुष तो दर्शनमात्रसे ही कृतार्थ कर देते हैं। अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, पृथ्वी, जल, आकाश, वायु, वाणी और मनके अधिष्ठातृ-देवता उपासना करनेपर भी पापका पूरा-पूरा नाश नहीं कर सकते; क्योंकि उनकी उपासनासे भेद-बुद्धिका नाश नहीं होता, वह और भी बढ़ती है। परंतु यदि घड़ी-दो-घड़ी भी ज्ञानी महापुरुषोंकी सेवा की जाय तो वे सारे पाप-ताप मिटा देते हैं; क्योंकि वे भेद-बुद्धिके विनाशक हैं।

अमूल्य मानवशरीरके द्वारा भगवान्‌की प्राप्ति करनी चाहिये

न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि ।
एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम् ।
यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २९ । १९½, २२)

उद्धव! यह मेरा भागवत-धर्म है; इसको एक बार आरम्भ कर देनेके बाद फिर किसी भी विघ्न-बाधासे इसमें रत्तीभर भी अन्तर नहीं पड़ता। विवेकियोंके विवेक और चतुरोंकी चतुराईकी पराकाष्ठा इसीमें है कि वे इस विनाशी और असत्य शरीरके द्वारा मुझ अविनाशी एवं सत्य तत्त्वको प्राप्त कर लें।

अहंकार महान् विष है

अहन्त्वविषचूर्णेन येषां कायो न मारितः ।
कुर्वन्तोऽपि हरन्तोऽपि न च ते निर्विषूचिकाः ॥
(योगवासिष्ठ ६ । २ । ५३ । १०)

जिनका शरीर अहंकाररूपी विषसे नष्ट नहीं हुआ, वे सब प्रकारके कार्योंको करते तथा उनका फल भोगते हुए भी सभी राग-रोगादि दोषोंसे मुक्त तथा स्वस्थ हैं।

ममतासे हानि और ममता-त्यागसे परम लाभ

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् ।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥
ब्रह्ममृत्यू ततो राजन्नात्मन्येव व्यवस्थितौ ।
अदृश्यमानौ भूतानि योधयेतामसंशयम् ॥
अविनाशोऽस्य सत्त्वस्य नियतो यदि भारत ।
भित्त्वा शरीरं भूतानामहिंसां प्रतिपद्यते ॥
लब्ध्वा हि पृथिवीं कृत्स्नां सहस्थावरजङ्गमाम् ।
ममत्वं यस्य नैव स्यात् किं तया स करिष्यति ॥
अथवा वसतः पार्थ वने वन्येन जीवतः ।
ममता यस्य द्रव्येषु मृत्योरास्ये स वर्तते ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० १३ । ३–७)

'मम' (मेरा) ये दो अक्षर ही मृत्युरूप हैं और 'न मम' (मेरा नहीं है) यह तीन अक्षरोंका पद सनातन ब्रह्मकी प्राप्तिका कारण है। ममता मृत्यु है और उसका त्याग सनातन अमृतत्व है। राजन्! इस प्रकार मृत्यु और अमृत—दोनों अपने भीतर ही स्थित हैं। ये दोनों अदृश्य रहकर प्राणियोंको लड़ाते हैं अर्थात् किसीको अपना मानना और किसीको अपना न मानना यह भाव ही युद्धका कारण है, इसमें संशय नहीं। भरतनन्दन! यदि इस जगत्‌की सत्ताका विनाश न होना ही निश्चित हो, तब तो प्राणियोंके शरीरका भेदन करके भी मनुष्य अहिंसाका ही फल प्राप्त करेगा। चराचर प्राणियोंसहित समूची पृथ्वीको पाकर भी जिसकी उसमें ममता नहीं होती, वह उसको लेकर क्या करेगा अर्थात् उस सम्पत्तिसे उसका कोई अनर्थ नहीं हो सकता। किंतु कुन्तीनन्दन! जो वनमें रहकर जंगली फल-फूलोंसे ही जीवन-निर्वाह करता है, उसकी भी यदि द्रव्योंमें ममता है तो वह मौतके मुखमें ही विद्यमान है।

ममतारूपी मलके परित्यागमें ही कल्याण है

न क्वचिद्राजते कायो ममतामेध्यदूषितः ।
प्राज्ञोऽप्यतिबहुज्ञोऽपि दुःशील इव मानुषः ॥
(योगवासिष्ठ ६ । २ । ५३ । ११)

जैसे अत्यन्त बुद्धिमान् तथा विशेषज्ञ व्यक्ति भी दुष्ट-स्वभावका होनेसे शोभा नहीं पाता, उसी प्रकार ममतारूपी मलमें लिपटा हुआ प्राणी भी कहीं शोभा नहीं पाता।

कामनाओंका निग्रह ही धर्म और मोक्षका मूल है

कामात्मानं न प्रशंसन्ति लोके
नेहाकामा काचिदस्ति प्रवृत्तिः ।
सर्वे कामा मनसोऽङ्गप्रभूता
यान् पण्डितः संहरते विचिन्त्य ॥
भूयो भूयो जन्मनोऽभ्यासयोगाद्
योगी योगं सारमार्गं विचिन्त्य ।
दानं च वेदाध्ययनं तपश्च
काम्यानि कर्माणि च वैदिकानि ॥
व्रतं यज्ञान् नियमान् ध्यानयोगान्
कामेन यो नारभते विदित्वा ।
यद् यच्चायं कामयते स धर्मो
न यो धर्मो नियमस्तस्य मूलम् ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० १३ । ९—११)

जिसका मन कामनाओंमें आसक्त है, उसकी संसारके लोग प्रशंसा नहीं करते हैं। कोई भी प्रवृत्ति विना कामनाके नहीं होती और समस्त कामनाएँ मनसे ही प्रकट होती हैं। विद्वान् पुरुष कामनाओंको दुःखका कारण मानकर उनका परित्याग कर देते हैं। योगी पुरुष अनेक जन्मोंके अभ्याससे योगको ही मोक्षका मार्ग निश्चित करके कामनाओंका नाश कर डालता है। जो इस बातको जानता है—वह दान, वेदाध्ययन, तप, वेदोक्त कर्म, व्रत, यज्ञ, नियम और ध्यान-योगादिका कामनापूर्वक अनुष्ठान नहीं करता तथा जिस कर्मसे वह कुछ कामना रखता है, वह धर्म नहीं है। वास्तवमें कामनाओंका निग्रह ही धर्म है और वही मोक्षका मूल है।

शम-तितिक्षा आदिके यथार्थ अर्थ

शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इन्द्रियसंयमः ।
तितिक्षा दुःखसम्मर्षो जिह्वोपस्थजयो धृतिः ॥
दण्डन्यासः परं दानं कामत्यागस्तपः स्मृतम् ।
स्वभावविजयः शौर्यं सत्यं च समदर्शनम् ॥
ऋतं च सूनृता वाणी कविभिः परिकीर्तिता ।
कर्मस्वसंगमः शौचं त्यागः संन्यास उच्यते ॥
धर्म इष्टं धनं नृणां यज्ञोऽहं भगवत्तमः ।
दक्षिणा ज्ञानसंदेशः प्राणायामः परं बलम् ॥
भगो म ऐश्वरो भावो लाभो मद्भक्तिरुत्तमः ।
विद्याऽऽत्मनि भिदाबाधो जुगुप्सा ह्रीरकर्मसु ॥
श्रीर्गुणा नैरपेक्ष्याद्याः सुखं दुःखसुखात्ययः ।
दुःखं कामसुखापेक्षा पण्डितो बन्धमोक्षवित् ॥
मूर्खो देहाद्यहंबुद्धिः पन्था मन्निगमः स्मृतः ।
उत्पथश्चित्तविक्षेपः स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः ॥
नरकस्तमउन्नाहो बन्धुर्गुरुरहं सखे ।
गृहं शरीरं मानुष्यं गुणाढ्यो ह्याढ्य उच्यते ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । १९ । ३६—४३)

बुद्धिका मुझमें लग जाना ही 'शम' है। इन्द्रियोंके संयमका नाम 'दम' है। न्यायसे प्राप्त दुःखके सहनेका नाम 'तितिक्षा' है। जिह्वा और जननेन्द्रियपर विजय प्राप्त करना 'धैर्य' है। किसीसे द्रोह न करना, सबको अभय देना 'दान' है। कामनाओंका त्याग करना ही 'तप' है। अपनी वासनाओंपर विजय प्राप्त करना ही 'शूरता' है। सर्वत्र समस्वरूप, सत्यस्वरूप परमात्माका दर्शन ही 'सत्य' है। इसी प्रकार सत्य और मधुर भाषणको ही महात्माओंने 'ऋत' कहा है। कर्मोंमें आसक्त न होना ही 'शौच' है। कामनाओंका त्याग ही सच्चा 'संन्यास' है। धर्म ही मनुष्योंका अभीष्ट 'धन' है। मैं परमेश्वर ही 'यज्ञ' हूँ। ज्ञानका उपदेश देना ही 'दक्षिणा' है। प्राणायाम ही श्रेष्ठ 'बल' है। मेरा ऐश्वर्य ही 'भग' है। मेरी श्रेष्ठ भक्ति ही उत्तम 'लाभ' है। सच्ची 'विद्या' वही है, जिससे ब्रह्म और आत्माका भेद मिट जाता है। पाप करनेसे घृणा होनेका नाम ही 'लज्जा' है। निरपेक्षता आदि गुण ही शरीरका सच्चा सौन्दर्य—'श्री' है। दुःख और सुख दोनोंकी भावनाका सदाके लिये नष्ट हो जाना ही 'सुख' है। विषयभोगोंकी कामना ही 'दुःख' है। जो बन्धन और मोक्षका तत्त्व जानता है, वही 'पण्डित' है। शरीर आदिमें जिसका 'मैं' पन है, वही 'मूर्ख' है। जो संसारकी ओरसे निवृत्त करके मुझे प्राप्त करा देता है, वही सच्चा 'सुमार्ग' है। चित्तकी बहिर्मुखता ही 'कुमार्ग' है। सत्त्वगुणकी वृद्धि ही 'स्वर्ग' और सखे! तमोगुणकी वृद्धि ही 'नरक' है। गुरु ही सच्चा 'भाई-बन्धु' है और वह 'गुरु' मैं हूँ। यह मनुष्य-शरीर ही सच्चा 'घर' है तथा सच्चा 'धनी' वह है, जो गुणोंसे सम्पन्न है, जिसके पास गुणोंका खजाना है।

अहिंसा परम धर्म

अहिंसा सर्वभूतानामेतत् कृत्यतमं मतम् ।
एतत् पदमनुद्विग्नं वरिष्ठं धर्मलक्षणम् ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ५० । २)

सब प्राणियोंकी अहिंसा ही सर्वोत्तम कर्त्तव्य है—ऐसा माना गया है। यह साधन उद्वेगरहित, सर्वश्रेष्ठ और धर्मको लक्षित करानेवाला है।

हिंसापराश्च ये केचिद् ये च नास्तिकवृत्तयः।
लोभमोहसमायुक्तास्ते वै निरयगामिनः॥
(महाभारत आश्वमेधिक० अनु० ५०।४)

जो लोग प्राणियोंकी हिंसा करते हैं, नास्तिकवृत्तिका आश्रय लेते हैं और लोभ तथा मोहमें फँसे हुए हैं, उन्हें नरकमें गिरना पड़ता है।

सत्कर्मरहित दिन व्यर्थ जाता है

स्नानं दानं जपो होमः स्वाध्यायो देवतार्चनम्।
यस्मिन् दिने न सेव्यन्ते वृथा स दिवसो नृणाम्॥
यत् प्रातः संस्कृतं सायं नूनमन्नं विनश्यति।
तदीयरससम्पुष्टे काये का नाम नित्यता॥
(गरुडपुराण उत्तर० १३।१३—१५)

जिस दिन स्नान, दान, होम, स्वाध्याय (वेद-पुराण-पाठ, स्तोत्र-मन्त्र-जप), देवपूजन—ये सब कर्म नहीं होते, मनुष्यका वह दिन व्यर्थ है। जो प्रातःकाल अन्न तैयार होता है, वह संध्यातक नष्ट हो जाता है। फिर उसीके रससे पुष्ट इस शरीरकी नित्यता कैसी?

श्रद्धाकी महिमा

धनेन धार्यते धर्मः श्रद्धायुक्तेन चेतसा।
श्रद्धाविहीनो धर्मस्तु नेहामुत्र च वृद्धिभाक्॥
धर्मात् संजायते ह्यर्थो धर्माद् कामोऽभिजायते।
धर्म एवापवर्गाय तस्माद्धर्मं समाचरेत्॥
श्रद्धया धार्यते धर्मो बहुभिर्नार्थराशिभिः।
अकिंचना हि मुनयः श्रद्धावन्तो दिवंगताः॥
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पक्षिन्! प्रेत्य नेह न तत्फलम्॥
(गरुडपुराण उत्तर० २।२९—३२)

गरुड़! अत्यन्त श्रद्धायुक्त चित्तसे उपयोग करनेपर ही धनद्वारा धर्मकी प्राप्ति होती है। बिना श्रद्धाके किया गया धर्म इस लोक या परलोकमें कहीं भी फलीभूत नहीं होता। धर्मसे ही अर्थ एवं सुख-भोग प्राप्त होता है तथा धर्म ही मोक्षका कारण है; अतः धर्मका आचरण करना चाहिये। श्रद्धासे ही धर्म धारण किया जा सकता है, बहुत-सी धन-राशिसे नहीं। जिनके पास कुछ न था—ऐसे ऋषि-गण भी श्रद्धा-सम्पन्न होनेके कारण स्वर्गको प्राप्त हो गये। बिना श्रद्धासे किये गये हवन, दान, तप तथा अन्य भी सभी कर्म असत् कहे जाते हैं और गरुड़! उनका फल न यहाँ मिलता है, न परलोकमें।

अश्रद्धासे कोई फल नहीं

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह॥
(श्रीमद्भगवद्गीता १८।२८)

अर्जुन! अश्रद्धासे किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ शुभ कर्म होता है, वह सब 'असत्'—इस प्रकार कहा जाता है। वह न तो मरनेके बाद ही और न इस लोकमें ही लाभदायक होता है।

सांख्ययोग और कर्मयोग फलरूपमें एक ही हैं

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ५।४—५)

संन्यास और कर्मयोगको बाल-बुद्धिके लोग ही पृथक्-पृथक् (फल देनेवाले) बतलाते हैं; न कि विद्वजन; क्योंकि इनमेंसे एकमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फल-(रूप परमात्मा-)को प्राप्त होता है। ज्ञानयोगियोंके द्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, वही कर्मयोगियोंके द्वारा भी प्राप्त किया जाता है। इसलिये जो पुरुष सांख्य और कर्मयोगको (फलरूपमें) एक देखता है, वही (यथार्थ) देखता है।

संन्यासी कौन है?

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ६।१)

जो कर्मके फलको न चाहकर करनेयोग्य कर्म करता है, वही संन्यासी और योगी है और केवल अग्निका

त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है तथा न केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी ही है।

निष्काम कर्मयोग

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता २ । ४७–४८)

तेरा कर्मोंमें ही अधिकार है, उनके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलकी वासनावाला मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो। धनंजय! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समबुद्धि होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्यकर्मोंको कर। यह 'समत्व' ही योग कहलाता है।

स्वधर्ममें मरना भी श्रेष्ठ है

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ३ । ३५)

अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए पराये धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है। अपने धर्ममें मरना भी श्रेष्ठ है; परंतु पराया धर्म भयकारक है।

ब्राह्मण, गौ, देश आदिके लिये प्राण-त्याग करनेवाला स्वर्गको जाता है

ब्राह्मणार्थे च गुर्वर्थे स्त्रीणां बालवधेषु च।
प्राणत्यागपरो यस्तु स वै मोक्षमवाप्नुयात् ॥
गवार्थे देशविध्वंसे देवतीर्थविपत्सु च।
आत्मानं सम्परित्यज्य स्वर्गवासं लभन्ति ते ॥
(गरुडपुराण उत्तर० २८ । १२, १४)

जो ब्राह्मण, गुरु, स्त्री तथा बालकोंकी रक्षामें अपना प्राण छोड़ देता है, वह सभी बन्धनोंसे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। गोरक्षा, देश-विध्वंस, देवता तथा तीर्थोंके ऊपर आपत्ति पड़नेपर प्राणत्याग करनेवाला प्राणी स्वर्गमें वास करता है।

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥
(महाभारत कर्ण० ६९ । ५८)

धर्म ही प्रजाको धारण करता है और धारण करनेके कारण ही उसे 'धर्म' कहते हैं। इसलिये जो धारण—प्राणरक्षासे युक्त हो—जिसमें किसी भी जीवकी हिंसा न की जाती हो, वही धर्म है। ऐसा ही धर्मशास्त्रोंका सिद्धान्त है।

वर्णाश्रमधर्मका पालन आवश्यक

मयोदितेष्ववहितः स्वधर्मेषु मदाश्रयः।
वर्णाश्रमकुलाचारमकामात्मा समाचरेत् ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । १० । १)

प्यारे उद्धव! साधकको चाहिये कि सब प्रकारसे मेरी शरणमें रहकर (गीता, पाञ्चरात्र आदिमें) मेरेद्वारा उपदिष्ट अपने धर्मोंका सावधानीसे पालन करे।

भगवान् धर्मके पक्षमें हैं

यदि ह्येनं नाहनिष्यत् कर्णः शक्त्या महामृधे ॥
मया वध्योऽभविष्यत् स भैमसेनिर्घटोत्कचः।
मया न निहतः पूर्वमेष युष्मत् प्रियेप्सया ॥
एष हि ब्राह्मणद्वेषी यज्ञद्वेषी च राक्षसः।
धर्मस्य लोप्ता पापात्मा तस्मादेष निपातितः ॥
(महाभारत द्रोण० १८१ । २५–२७)

यदि महासमरमें कर्ण अपनी शक्तिद्वारा भीमसेनपुत्र घटोत्कचको नहीं मारता तो एक दिन मुझे उसका वध करना पड़ता। (भीमसेनका पुत्र होनेपर भी वह पापात्मा था। मेरी प्रीति वास्तवमें धर्मसे ही है।) तुमलोगोंका प्रिय करनेकी इच्छासे ही मैंने इसे पहले नहीं मारा था। यह ब्राह्मण और यज्ञोंसे द्वेष रखनेवाला तथा धर्मका लोप करनेवाला पापात्मा राक्षस था; इसीलिये इसे मरवा दिया है।

धर्मसंस्थापनार्थं हि प्रतिज्ञैषा ममाव्यया।
ब्रह्म सत्यं दमः शौचं धर्मो ह्रीः श्रीर्धृतिः क्षमा ॥
यत्र तत्र रमे नित्यमहं सत्येन ते शपे।
(महाभारत द्रोण० १८१ । २९-३०)

धर्मकी स्थापनाके लिये ही मैंने यह अटल प्रतिज्ञा कर रक्खी है। मैं तुमसे सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि जहाँ वेद, सत्य, दम, शौच, धर्म, लज्जा, श्री, धृति और क्षमाका निवास है, वहीं मैं सदा सुखपूर्वक रहता हूँ।

साधारण धर्म

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता ।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । १७ । २१)

उद्धवजी ! चारों वर्णों और चारों आश्रमोंके लिये साधारण धर्म यह है कि मन, वाणी और शरीरसे किसीकी हिंसा न करें; सत्यपर दृढ़ रहें; चोरी न करें; काम, क्रोध तथा लोभसे बचें और जिन कामोंके करनेसे समस्त प्राणियोंकी प्रसन्नता और उनका भला हो, वे ही करें ।

ब्राह्मणकी महिमा

ये द्रुह्यन्ति द्विजान् मूढाः सन्ति ते मम शत्रवः ॥
ये पूजयन्ति विप्रांश्च मम भावेन भूजनाः ।
ते भुञ्जन्ति सुखं चात्र ह्यन्ते यास्यन्ति मत्पदम् ॥
(गर्गसंहिता अश्वमेध० ५५ । ५२-५३)

जो विवेकीजन ब्राह्मणोंसे द्वेष रखते हैं, वे मेरे शत्रु हैं । जो मनुष्य मेरी भावनासे ब्राह्मणोंकी पूजा करते हैं, उन्हें संसारमें सुखकी उपलब्धि होती है और अन्तमें वे मेरे धामके अधिकारी होते हैं ।

गोदानकी महत्ता

तैस्तैर्गुणैः कामदुघा च भूत्वा
नरं प्रदातारमुपैति सा गौः ।
स्वकर्मभिश्चाप्यनुबध्यमानं
तीव्रान्धकारे नरके पतन्तम् ।
महार्णवे नौरिव वायुनीता
दत्ता हि गौस्तारयते मनुष्यम् ॥
यथौषधं मन्त्रकृतं नरस्य
प्रयुक्तमात्रं विनिहन्ति रोगान् ।
तथैव दत्ता कपिला सुपात्रे
पापं नरस्याशु निहन्ति सर्वम् ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० दाक्षिणात्यपाठ)

दानमें दी हुई गौ अपने विभिन्न गुणोंद्वारा कामधेनु बनकर परलोकमें दाताके पास पहुँचती है । वह अपने कर्मोंसे बँधकर घोर अन्धकारपूर्ण नरकमें गिरते हुए मनुष्यका उसी प्रकार उद्धार कर देती है, जैसे वायुके सहारेसे चलती हुई नाव मनुष्यको महासागरमें डूबनेसे बचाती है । जैसे मन्त्रके साथ दी हुई ओषधि प्रयोग करते ही मनुष्यके रोगोंका नाश कर देती है, उसी प्रकार सुपात्रको दी हुई कपिला गौ मनुष्यके सब पापोंको तत्काल नष्ट कर डालती है ।

गौको घास देना महापुण्य

तीर्थस्थानेषु यत्पुण्यं यत्पुण्यं विप्रभोजने ॥
सर्वव्रतोपवासेषु सर्वेष्वेव तपःसु च ।
यत्पुण्यं च महादाने यत्पुण्यं हरिसेवने ॥
भुवः पर्यटने यत्तु सर्ववाक्येषु यद्भवेत् ।
यत्पुण्यं सर्वयज्ञेषु दीक्षायां च लभेन्नरः ।
तत्पुण्यं लभते प्राज्ञो गोभ्यो दत्त्वा तृणानि च ॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० २१ । ८७—८९)

तीर्थ-स्थानोंमें जाकर स्नान-दानसे जो पुण्य प्राप्त होता है, ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे जिस पुण्यकी प्राप्ति होती है, सम्पूर्ण व्रत-उपवास, सब तपस्या, महादान तथा श्रीहरिकी आराधना करनेपर जो पुण्य सुलभ होता है, सम्पूर्ण पृथ्वीकी परिक्रमा, सम्पूर्ण वेद-वाक्योंके स्वाध्याय तथा समस्त यज्ञोंकी दीक्षा ग्रहण करनेपर मनुष्य जिस पुण्यको पाता है, वही पुण्य बुद्धिमान् मानव गौओंको घास देकर पा लेता है ।

गौको घास चरनेसे रोकना और गो-ब्राह्मणको मारना महापाप

भुक्तवन्तीं तृणं यश्च गां वारयति कामतः ।
ब्रह्महत्या भवेत्तस्य प्रायश्चित्ताद्विशुध्यति ॥
सर्वे देवा गवामङ्गे तीर्थानि तत्पदेषु च ।
तद्गुह्येषु स्वयं लक्ष्मीस्तिष्ठत्येव सदा पितः ॥
गोष्पदाक्तमृदा यो हि तिलकं कुरुते नरः ।
तीर्थस्नातो भवेत् सद्यो जयस्तस्य पदे पदे ॥
गावस्तिष्ठन्ति यत्रैव तत्तीर्थं परिकीर्तितम् ।
प्राणांस्त्यक्त्वा नरस्तत्र सद्यो मुक्तो भवेद् ध्रुवम् ॥
ब्राह्मणानां गवामङ्गं यो हन्ति मानवाधमः ।
ब्रह्महत्यासमं पापं भवेत् तस्य न संशयः ॥
नारायणांशान् विप्रांश्च गाश्च ये घ्नन्ति मानवाः ।
कालसूत्रं च ते यान्ति यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० २१ । ९०—९५)

जो घास चरती हुई गायको स्वेच्छापूर्वक चरनेसे रोकता है, उसे ब्रह्महत्याका पाप लगता है तथा वह प्रायश्चित्त करनेपर ही शुद्ध होता है । पिताजी ! सब देवता गौओंके अङ्गोंमें, सम्पूर्ण तीर्थ गौओंके पैरोंमें तथा स्वयं लक्ष्मी उनके गुह्य स्थानों-

(मल-मूत्रके स्थानों) में सदा वास करती हैं । जो मनुष्य गायके पद-चिह्नसे युक्त मिट्टीद्वारा तिलक करता है, उसे तत्काल तीर्थस्नानका फल मिलता है और पग-पगपर उसकी विजय होती है । गौएँ जहाँ भी रहती हैं, उस स्थानको तीर्थ कहा गया है । वहाँ प्राणोंका त्याग करके मनुष्य तत्काल मुक्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है । जो नराधम ब्राह्मणों तथा गौओंके शरीरपर प्रहार करता है, निःसंदेह उसे ब्रह्महत्याके समान पाप लगता है । जो नारायणके अंशभूत ब्राह्मणों तथा गौओंका वध करते हैं, वे मनुष्य जबतक चन्द्रमा और सूर्यकी सत्ता है, तबतकके लिये 'कालसूत्र' नामक नरकमें जाते हैं ।

माता-पिताकी सेवाका महत्त्व

सर्वार्थसम्भवो देहो जनितः पोषितो यतः ।
न तयोर्याति निर्वेशं पित्रोर्मर्त्यः शतायुषा ॥
यस्तयोरात्मजः कल्प आत्मना च धनेन च ।
वृत्तिं न दद्यात्तं प्रेत्य स्वमांसं खादयन्ति हि ॥
मातरं पितरं वृद्धं भार्यां साध्वीं सुतं शिशुम् ।
गुरुं विप्रं प्रपन्नं च कल्पोऽबिभ्रच्छ्वसन् मृतः ॥

(श्रीमद्भागवत १० । ४५ । ५--७)

यदि कोई मनुष्य सौ वर्षतक जीकर माता और पिताकी सेवा करता रहे, तब भी वह उनके उपकारसे उऋण नहीं हो सकता । जो पुत्र सामर्थ्य रहते भी अपने माँ-बापकी शरीर और धनसे सेवा नहीं करता, उसके मरनेपर यमदूत उसे उसके अपने शरीरका मांस खिलाते हैं । जो पुरुष समर्थ होकर भी बूढ़े माता-पिता, सती पत्नी, बालक-संतान, गुरु, ब्राह्मण और शरणागतका भरण-पोषण नहीं करता, वह जीता हुआ भी मुर्देके समान ही है ।

पितृमातृसमं लोके नास्त्यन्यद् दैवतं परम् ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन पूजयेत् पितरौ सदा ॥
हितानामुपदेष्टा हि प्रत्यक्षं दैवतं पिता ।
अन्या या देवता लोके न देहप्रभवा हि ताः ॥
शरीरमेव जन्तूनां स्वर्गमोक्षैकसाधनम् ।
शरीरं सम्पदो दाराः सुता लोकसनातनाः ॥
यस्य प्रसादाद् प्राप्यन्ते कोऽन्यः पूज्यतमस्ततः ।

(गरुडपुराण उत्तर० ११ । ३४—३७)

वस्तुतः माता-पिताके समान इस संसारमें कोई श्रेष्ठ देवता नहीं है । अतएव सब प्रकारसे उनकी पूजा करनी चाहिये । पिता हितका उपदेश करनेवाला प्रत्यक्ष देवता है । संसारमें जो दूसरे देवी-देवता हैं, वे शरीरके प्रदान करनेवाले नहीं हैं । शरीर ही जीवके स्वर्ग तथा मोक्षका एकमात्र साधन है । जिनकी कृपासे शरीर, धन, स्त्री, पुत्र और सनातन लोक—सभी मिले हैं, उनसे बढ़कर पूज्यतम भला और कौन हो सकता है ?

माता-पिता-गुरुकी महिमा

पितरं मातरं विद्यामन्त्रदं गुरुमेव च ।
यो न पुष्णाति पुरुषो यावज्जीवं च सोऽशुचिः ॥
सर्वेषामपि पूज्यानां पिता वन्द्यो महान् गुरुः ।
पितुः शतगुणामाता गर्भधारणपोषणात् ॥
माता च पृथिवीरूपा सर्वेभ्यश्च हितैषिणी ।
नास्ति मातुः परो बन्धुः सर्वेषां जगतीतले ॥
विद्यामन्त्रप्रदः सत्यं मातुः परतरो गुरुः ।
न हि तस्मात्परः कोऽपि वन्द्यः पूज्यश्च वेदतः ॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्म० ७२ । १०९--११२)

जो पुरुष पिता और माताका तथा विद्यादाता एवं मन्त्रदाता गुरुका पोषण नहीं करता, वह जीवनभर पापसे शुद्ध नहीं होता । समस्त पूजनीयोंमें पिता वन्दनीय महान् गुरु है; परंतु माता गर्भमें धारण एवं पोषण करती है, इसलिये पितासे भी सौगुनी श्रेष्ठ है । माता पृथ्वीके समान क्षमाशीला और सबका समानरूपसे हित चाहनेवाली है; अतः भूतलपर सबके लिये मातासे बढ़कर बन्धु दूसरा कोई नहीं है । साथ ही यह भी सत्य है कि विद्यादाता और मन्त्रदाता गुरु मातासे भी बहुत बढ़-चढ़कर आदरके योग्य है । वेदके अनुसार गुरुसे बढ़कर वन्दनीय और पूजनीय दूसरा कोई नहीं है ।

जैसा चिन्तन, वैसा ही परिणाम

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥
तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम् ।
हित्वा मयि समाधत्स्व मनो मद्भावभावितम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । १४ । २७-२८)

जो पुरुष निरन्तर विषय-चिन्तन किया करता है उसका चित्त विषयोंमें फँस जाता है और जो मेरा स्मरण करता है, उसका चित्त मुझमें तल्लीन हो जाता है । इसलिये तुम दूसरे साधनों और फलोंका चिन्तन छोड़ दो । अरे भाई ! मेरे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं; जो कुछ जान पड़ता है, वह ठीक वैसा ही है जैसे स्वप्न

अथवा मनोरथका राज्य । इसलिये मेरे चिन्तनसे तुम अपना चित्त शुद्ध कर लो और उसे पूरी तरहसे— एकाग्रतासे मुझमें ही लगा दो ।

विषयचिन्तन ही सर्वनाशमें कारण है

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता २ । ६२-६३)

विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है । क्रोधसे अत्यन्त मूढभाव उत्पन्न हो जाता है, मूढभावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेपर यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है—उसका सर्वनाश हो जाता है ।

दूसरोंकी निन्दा-स्तुति करनेवाले साधनसे गिर जाते हैं

परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत् ।
विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च ॥
परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति ।
स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २८ । १-२)

उद्धवजी ! यद्यपि व्यवहारमें पुरुष और प्रकृति— द्रष्टा और दृश्यके भेदसे दो प्रकारका जगत् जान पड़ता है, तथापि परमार्थ-दृष्टिसे देखनेपर यह सब एक अधिष्ठान-स्वरूप ही है; इसलिये किसीके शान्त, घोर और मूढ़ स्वभाव तथा उनके अनुसार कर्मोंकी न स्तुति करनी चाहिये और न निन्दा । सर्वदा अद्वैत-दृष्टि रखनी चाहिये । जो पुरुष दूसरोंके स्वभाव और उनके कर्मोंकी प्रशंसा अथवा निन्दा करते हैं, वे शीघ्र ही अपने यथार्थ परमार्थ-साधनसे च्युत हो जाते हैं; क्योंकि साधन तो द्वैतके अभिनिवेशका—उसके प्रति सत्यत्व-बुद्धिका निषेध करता है और प्रशंसा तथा निन्दा उसकी सत्यताके भ्रमको और भी दृढ़ करती है ।

मित्रका धर्म

व्यसने क्लिश्यमानं हि यो मित्रं नाभिपद्यते ।
अनुनीय यथाशक्ति तं नृशंसं विदुर्बुधाः ॥
आकेशग्रहणान्मित्रमकार्यात् संनिवर्तयन् ।
अवाच्यः कस्यचिद् भवति कृतयत्नो यथाबलम् ॥
(महाभारत उद्योग० ९३ । १०-११)

जो किसी व्यसन या विपत्तिमें पड़कर क्लेश उठाते हुए मित्रको यथाशक्ति समझा-बुझाकर उसका उद्धार नहीं करता है, उसे विद्वान् पुरुष निर्दय एवं क्रूर मानते हैं । जो अपने मित्रको उसकी चोटी पकड़कर भी बुरे कार्यसे हटानेके लिये यथाशक्ति प्रयत्न करता है, वह किसीकी निन्दाका पात्र नहीं होता है ।

यो मित्रतां निष्कपटं करोति
　　निष्कारणो धन्यतमः स एव ।
विधाय मैत्रीं कपटं विदध्यात्
　　तं लम्पटं हेतुपटं नटं धिक् ॥
(गर्गसंहिता मथुरा० ४ । १९)

जो किसी बातकी कामना नहीं रखता और शुद्धान्तःकरण हो मित्रता स्थापित करता है, वही अनेकशः धन्यवादका पात्र है । जो मैत्री करके हृदयमें कपट रखता है, वह तो महाधूर्त है । उसने तो कार्यवश स्वाँग रच लिया है—ऐसे नट (मित्र-) को धिक्कार है ।

पाण्डवबन्धु श्रीकृष्ण

यस्तान् द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्ताननु स मामनु ।
ऐकात्म्यं मां गतं विद्धि पाण्डवैर्धर्मचारिभिः ॥
कामक्रोधानुवर्ती हि यो मोहाद् विरुरुत्सति ।
गुणवन्तं च यो द्वेष्टि तमाहुः पुरुषाधमम् ॥
(महाभारत उद्योग० ९१ । २८-२९)

जो पाण्डवोंसे द्वेष करता है, वह मुझसे भी द्वेष करता है और जो उनके अनुकूल है, वह मेरे भी अनुकूल है । तुम मुझे धर्मात्मा पाण्डवोंके साथ एकरूप हुआ ही समझो । जो काम और क्रोधके वशीभूत होकर मोहवश किसी गुणवान् पुरुषके साथ विरोध करना चाहता है, उसे पुरुषोंमें अधम कहा गया है ।

ममैव त्वं तवैवाहं ये मदीयास्तवैव ते ।
यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु ॥
(महाभारत वन० १२ । ४५)

पार्थ ! तुम मेरे ही हो, मैं तुम्हारा ही हूँ । जो मेरे हैं, वे तुम्हारे ही हैं । जो तुमसे द्वेष रखता है, वह मुझसे भी रखता है । जो तुम्हारे अनुकूल है, वह मेरे भी अनुकूल है ।

असंतोषी ही दरिद्र है

दरिद्रो यस्त्वसंतुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः ।
गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसङ्गो विपर्ययः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । १९ । ४४)

जिसके चित्तमें असंतोष है, अभावका बोध है, वही 'दरिद्र' है । जो जितेन्द्रिय नहीं है, वही 'कृपण' है । समर्थ, स्वतन्त्र और 'ईश्वर' वह है, जिसकी चित्तवृत्ति विषयोंमें आसक्त नहीं है । इसके विपरीत जो विषयोंमें आसक्त है, वही सर्वथा 'असमर्थ' है ।

संतोषके बिना सुख नहीं

असंतुष्टोऽसकृल्लोकानाप्नोत्यपि सुरेश्वरः ।
अकिञ्चनोऽपि संतुष्टः शेते सर्वाङ्गविज्वरः ॥

(श्रीमद्भागवत १० । ५२ । ३२)

यदि इन्द्रका पद पाकर भी किसीको संतोष न हो तो उसे सुखके लिये एक लोकसे दूसरे लोकमें बार-बार भटकना पड़ेगा; वह कहीं भी शान्तिसे बैठ नहीं सकेगा । परंतु जिसके पास तनिक भी संग्रह-परिग्रह नहीं है और जो उसी अवस्थामें संतुष्ट है, वह सब प्रकारसे संतापरहित होकर सुखकी नींद सोता है ।

तृष्णा

इच्छति शती सहस्रं सहस्री लक्षमीहते ।
कर्तुं लक्षाधिपती राज्यं राज्येऽपि सकलचक्रवर्तित्वम् ॥
चक्रधरोऽपि सुरत्वं सुरत्वलाभे सकलसुरपतित्वम् ।
भवितुं सुरपतिरूर्ध्वंगतित्वं तथापि न निवर्तते तृष्णा ॥

(गरुडपुराण उत्तर० २ । १४-१५)

गरुडजी ! तृष्णाकी बात ही निराली है । शताधिपति सहस्राधिपति बनना चाहता है और सहस्राधीश लक्षाधीश । लक्षाधीशको राज्यकी कामना होती है और राज्य मिल जानेपर उसमें सम्पूर्ण विश्वके चक्रवर्ती साम्राज्यकी अभिलाषा उदय होती है । चक्रवर्ती सम्राट् हो जानेपर वह देवता बनना चाहता है और देवत्व लाभ होनेपर इन्द्र । इन्द्र बन जानेपर भी उससे ऊँचे पदोंकी लालसा बनी ही रहती है । कहाँतक कहा जाय, यह तृष्णा कभी निवृत्त नहीं होती । वास्तवमें जो इस तृष्णासे मुक्त हैं, वे ही सच्चे मुक्त हैं ।

किन कर्मोंसे बन्धन होता है ?

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ३ । ९)

यज्ञके (भगवत्सेवा या भगवान्के) लिये किये जानेवाले कर्मोंसे अतिरिक्त दूसरे कर्मोंमें लगा हुआ यह मनुष्यसमुदाय कर्म-बन्धनसे बँध जाता है । इसलिये अर्जुन ! तू आसक्तिरहित होकर उस यज्ञके लिये ही कर्मका भलीभाँति आचरण कर ।

विषयासक्तिकी निवृत्ति कब होती है ?

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता २ । ५९)

निराहारी (इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले) पुरुषके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं; परंतु उनमें रहनेवाला रस (विषयासक्ति) निवृत्त नहीं होता । परमात्माका साक्षात्कार करनेपर पुरुषकी विषयासक्ति भी निवृत्त हो जाती है ।

स्त्री-सङ्गसे बड़ी हानि

स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान् ।
क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः ॥
न तथास्य भवेत् क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः ।
योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । १४ । २९-३०)

संयमी पुरुष स्त्रियों और उनके प्रेमियोंका सङ्ग दूरसे ही छोड़कर; पवित्र एकान्त स्थानमें बैठकर बड़ी सावधानीसे मेरा ही चिन्तन करे । प्यारे उद्धव ! स्त्रियोंके सङ्गसे और स्त्रीसङ्गियोंके—लम्पटोंके सङ्गसे पुरुषको जैसे क्लेश और बन्धनमें पड़ना पड़ता है, वैसा क्लेश और बन्धन और किसीके भी सङ्गसे नहीं होता ।

स्त्री-महिमा

जामयो यत्र पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते विनङ्क्ष्यत्याशु तद् गृहम् ॥
जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव सद्यो यान्ति पराभवम् ॥

अमृतस्येव कुण्डानि सुखानामिव राशयः।
रतेरिव निधानानि योषितः तेन निर्मिताः॥
(भविष्यपुराण १७१ । २—४)

जहाँ स्त्रियोंकी पूजा होती है, वहाँ देवतागण रमण करते हैं और जहाँ इनकी पूजा नहीं होती, वह घर शीघ्र ही चौपट हो जाता है। स्त्रियाँ तिरस्कृत होकर जिन घरोंको शाप देती हैं, वे घर कृत्या राक्षसीके द्वारा हत होनेकी तरह दुर्दशाग्रस्त हो जाते हैं। स्त्रियाँ मानो अमृतके कुण्ड अथवा सुखकी राशि ही हैं। ब्रह्माने इन्हें सम्पूर्ण आनन्दके निधान-के रूपमें ही रचा है।

सती-महिमा

नारी भर्तारमासाद्य कुणपं दहते यदि।
अग्निर्दहति गात्राणि ह्यात्मानं नैव पीडयेत्॥
दह्यते धम्यमानानां धातूनां हि यथा मलम्।
तथा नारी दहेद्देहो हुताशे ह्यमृतोपमे॥
(गरुडपुराण उत्तर० १६ । ४८-४९)

पतिव्रता स्त्री यदि अपने पतिके साथ अपने शरीर-को जला डालती है, तो धर्मके प्रभावसे अग्नि यद्यपि उसके शरीरको जलाता हुआ-सा दीखता है तथापि उसे कोई पीड़ा नहीं होती। (उसके लिये वह आग अमृतके समान सुखद तथा शीतल हो जाती है।) जिस प्रकार धातुको अग्निमें डाल देनेसे केवल उसका मल जल जाता है, उसी प्रकार पतिव्रता स्त्री अमृतोपम अग्निमें अपने मलवत् शरीरका ही दाह करती है।

नरकके तीन द्वार—काम, क्रोध, लोभ

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥
(श्रीमद्भगवद्गीता १६ । २१)

काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले हैं, इसलिये इन तीनोंका त्याग करना चाहिये।

काम-क्रोध ही पापमें कारण हैं

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ३ । ३७)

रजोगुण (विषयासक्तिरूप रज—राग-) से उत्पन्न यह काम ही (प्रतिहत होनेपर) क्रोध बनता है, यह काम (विषयोंकी कामना) बहुत खानेवाला (भोगोंसे कभी न अघानेवाला) और बड़ा पापी है, इसीको तू इस विषयमें वैरी जान।

काम-क्रोधसे नरकप्राप्ति

कुकर्मविहितो घोरे कामक्रोधार्जितेऽशुभे॥
नरके पतितो भूयो यस्योत्तारो न विद्यते।
(गरुडपुराण उत्तर० ३४ । ३५)

काम-क्रोधयुक्त अशुभ कर्मोंके (अर्जन) करनेपर मनुष्य ऐसे घोर नरकमें गिरता है, जहाँसे उद्धारकी सम्भावना ही नहीं होती।

क्षत्रियधर्म

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥
(श्रीमद्भगवद्गीता २ । ३१-३२)

अर्जुन ! अपने (क्षत्रिय-) धर्मको देखकर भी तुझे युद्धसे काँप जाना नहीं चाहिये; क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मरूप युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है। पार्थ ! अपने-आप प्राप्त यह (स्वधर्मरूप युद्ध) स्वर्गके खुले हुए द्वाररूप है। इस प्रकारके युद्धको भाग्यवान् क्षत्रिय ही पाते हैं।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥
(श्रीमद्भगवद्गीता २ । ३७)

यदि तू युद्धमें मारा गया तो स्वर्गको प्राप्त होगा अथवा संग्राममें जीतकर पृथ्वीका राज्य भोगेगा। इस कारण कुन्तीपुत्र अर्जुन ! तू युद्धके लिये निश्चय करके खड़ा हो जा।

स्वर्गं ह्येव समास्थाय रणयज्ञेषु दीक्षिताः।
जयन्ति क्षत्रिया लोकांस्तद् विद्धि मनुजर्षभ॥
स्वर्गयोनिर्महद् ब्रह्म स्वर्गयोनिर्महद् यशः।
स्वर्गयोनिस्तपो युद्धे मृत्युः सोऽव्यभिचारवान्॥
एष ह्यैन्द्रो वैजयन्तो गुणैर्नित्यं समाहितः।
(महाभारत सभा० २२ । १७—१९)

नरश्रेष्ठ ! स्वर्गप्राप्तिका ही उद्देश्य रखकर रणयज्ञकी दीक्षा लेनेवाले क्षत्रिय अपने अभीष्ट लोकोंपर विजय पाते हैं। यह बात तुम्हें भलीभाँति जाननी चाहिये। वेदाध्ययन स्वर्गप्राप्तिका कारण है, परोपकाररूप महान् यश भी स्वर्गका हेतु है, तपस्याको भी स्वर्गलोकका साधन बताया गया है, परंतु क्षत्रियके लिये इन तीनोंकी अपेक्षा युद्धमें मृत्युका वरण करना ही स्वर्गप्राप्तिका अमोघ साधन है। क्षत्रियका यह युद्धमें मरण इन्द्रका वैजयन्त नामक प्रासाद (राजमहल) है। यह सदा सभी गुणोंसे परिपूर्ण है।

जयो वधो वा संग्रामे धात्राऽऽदिष्टः सनातनः ।
स्वधर्मः क्षत्रियस्यैष कार्पण्यं न प्रशस्यते ॥
(महाभारत उद्योग० ७३ । ४)

क्षत्रियके लिये विधाताने यही सनातन कर्तव्य बताया है कि वह संग्राममें विजय प्राप्त करे अथवा वहीं प्राण दे दे। यही क्षत्रियका स्वधर्म है। दीनता अथवा कायरता उसके लिये प्रशंसाकी वस्तु नहीं है।

सुभद्राके प्रति क्षात्रधर्मकी महत्ताका कथन

वीरसूर्वीरपत्नी त्वं वीरजा वीरबान्धवा ।
मा शुचस्तनयं भद्रे गतः स परमां गतिम् ॥
(महाभारत द्रोण० ७७ । १७)

सुभद्रे ! तुम वीरमाता, वीरपत्नी, वीरकन्या और वीर भाइयोंकी बहिन हो। तुम पुत्रके लिये शोक न करो। वह उत्तम गतिको प्राप्त हुआ है।

क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य गतः शूरः सतां गतिम् ।
यां गतिं प्राप्नुयामेह ये चान्ये शस्त्रजीविनः ॥
व्यूढोरस्को महाबाहुरनिवर्ती रथप्रणुत् ।
गतस्तव वरारोहे पुत्रः स्वर्गं ज्वरं जहि ॥
अनुयातश्च पितरं मातृपक्षं च वीर्यवान् ।
सहस्रशो रिपून् हत्वा हतः शूरो महारथः ॥
(महाभारत द्रोण० ७७ । २१—२३)

शूरवीर अभिमन्युने क्षत्रिय-धर्मको आगे रखकर सत्पुरुषोंकी गति पायी है, जिसे हमलोग और इस संसारके दूसरे शस्त्रधारी क्षत्रिय भी पाना चाहते हैं। सुन्दरी ! चौड़ी छाती और विशाल भुजाओंसे सुशोभित, युद्धसे पीछे न हटनेवाला तथा शत्रुपक्षके रथियोंपर विजय पानेवाला तुम्हारा पुत्र स्वर्गलोकमें गया है। तुम चिन्ता छोड़ो। बलवान्, शूरवीर और महारथी अभिमन्यु पितृकुल तथा मातृकुलकी मर्यादाका अनुसरण करते हुए सहस्रों शत्रुओंको मारकर मरा है।

सुभद्रे मा शुचः पुत्रं पाञ्चाल्याश्वासयोत्तराम् ।
गतोऽभिमन्युः प्रथितां गतिं क्षत्रियपुङ्गवः ॥
ये चान्येऽपि कुले सन्ति पुरुषा नो वरानने ।
सर्वे ते तां गतिं यान्तु ह्यभिमन्योर्यशस्विनः ॥
कुर्याम तद् वयं कर्म क्रियासु सुहृदश्च नः ।
कृतवान् यादृगद्यैकस्तव पुत्रो महारथः ॥
(महाभारत द्रोण० ७८ । ४०—४२)

सुभद्रे ! तुम पुत्रके लिये शोक न करो। द्रुपदकुमारी ! तुम उत्तराको धीरज बँधाओ। वह क्षत्रियशिरोमणि सर्वश्रेष्ठ गतिको प्राप्त हुआ है। सुमुखि ! हमारी इच्छा तो यह है कि हमारे कुलमें और भी जितने पुरुष हैं, वे सभी यशस्वी अभिमन्युकी ही गति प्राप्त करें। तुम्हारे महारथी पुत्रने अकेले ही आज जैसा पराक्रम किया है, उसे हम और हमारे सुहृद् भी कार्यरूपमें परिणत करें।

शत्रुके घरमें प्रवेश कैसे करे ?

अद्वारेण रिपोर्गेहं द्वारेण सुहृदो गृहान् ।
प्रविशन्ति नरा धीरा द्वाराण्येतानि धर्मतः ॥
(महाभारत सभा० २१ । ५३)

धीर मनुष्य शत्रुके घरमें बिना दरवाजेके और मित्रके घरमें दरवाजेसे जाते हैं। शत्रु और मित्रके लिये ये धर्मतः द्वार बतलाये गये हैं।

प्रबल और सुसंगठित शत्रुको जीतनेका उपाय

ते वयं नयमास्थाय शत्रुदेहसमीपगाः ।
कथमन्तं न गच्छेम वृक्षस्येव नदीरयाः ॥
पररन्ध्रे पराक्रान्ताः स्वरन्ध्रावरणे स्थिताः ।
व्यूढानीकैरतिबलैर्न युद्ध्येदरिभिः सह ।
इति बुद्धिमतां नीतिस्तन्ममापीह रोचते ॥
अनवद्या ह्यसम्बुद्धाः प्रविष्टाः शत्रुसद्म तत् ।
शत्रुदेहमुपाक्रम्य तं कामं प्राप्नुयामहे ॥
(महाभारत सभा० १७ । ६—८)

जब हमलोग नीतिका आश्रय लेकर शत्रुके शरीरके निकटतम पहुँच जायँगे, तब जैसे नदीका वेग किनारेके वृक्षको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार हम शत्रुका अन्त क्यों न कर डालेंगे। हम अपने छिद्रोंको छिपाये रखकर शत्रुके छिद्र

देखते और अवसर मिलते ही उसपर बलपूर्वक आक्रमण कर देंगे। जिनकी सेनाएँ मोर्चे बाँधकर खड़ी हों और जो अत्यन्त बलवान् हों, ऐसे शत्रुओंके साथ (सम्मुख होकर) युद्ध नहीं करना चाहिये; यह बुद्धिमानोंकी नीति है। यही नीति मुझे भी अच्छी लगती है। यदि हम छिपे-छिपे शत्रुके घरमें पहुँच जायँ तो यह हमारे लिये कोई निन्दाकी बात नहीं होगी। फिर हम शत्रुके अङ्गपर आक्रमण करके अपना काम (सहज ही) बना लेंगे।

किसको मारना धर्म है ?

निकृत्योपचरन् वध्य एष धर्मः सनातनः॥

(महाभारत वन० १२ । ७)

जो दूसरेके साथ छल-कपट अथवा धोखा करके सुख भोग रहा हो, उसे मार डालना चाहिये। यह सनातन धर्म है।

लुटेरोंसे रक्षाके लिये असत्य बोलना भी उचित है

येऽन्यायेन जिहीर्षन्तो धर्ममिच्छन्ति कर्हिचित्।
अकूजनेन मोक्षं वा नानुकूजेत् कथंचन॥
अवश्यं कूजितव्ये वा शङ्केरन्नप्यकूजतः।
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं तत् सत्यमविचारितम्॥

(महाभारत कर्ण० ६९ । ५९-६०)

जो लोग अन्यायपूर्वक दूसरोंके धन आदिका अपहरण कर लेना चाहते हैं, वे कभी अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये दूसरोंसे सत्यभाषणरूप धर्मका पालन कराना चाहते हों तो वहाँ उनके समक्ष मौन रहकर उनसे पिण्ड छुड़ानेकी चेष्टा करे, किसी तरह कुछ बोले ही नहीं; किंतु यदि बोलना अनिवार्य हो जाय अथवा न बोलनेसे लुटेरोंको संदेह होने लगे, तो वहाँ असत्यको ही बिना विचारे सत्य समझे।

कैसे सभासद् नष्ट हो जाते हैं ?

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च॥
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः।
विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्र प्रपद्यते॥
न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः।
धर्म एतानारुजति यथा नद्यनुकूलजान्॥

(महाभारत उद्योग० ९५ । ४८—५०)

जहाँ सभासदोंके देखते-देखते अधर्मके द्वारा धर्मका और मिथ्याके द्वारा सत्यका गला घोंटा जाता हो, वहाँ वे सभासद् नष्ट हुए माने जाते हैं। जिस सभामें अधर्मसे विद्ध हुआ धर्म प्रवेश करता है और सभासद्गण उस अधर्मरूपी काँटेको काटकर निकाल नहीं देते हैं, वहाँ उस काँटेसे सभासद् ही बिंधे जाते हैं (अर्थात् उन्हें ही अधर्मसे विद्ध होना पड़ता है)। जैसे नदी अपने तटपर उगे हुए वृक्षोंको गिराकर नष्ट कर देती है, उसी प्रकार वह अधर्मविद्ध धर्म ही उन सभासदोंका नाश कर डालता है।

किसीके घर भोजन किस कारण किया जाता है ?

सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः।
न च सम्प्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम्॥

(महाभारत उद्योग० ९१ । २५)

दुर्योधन! किसीके घरका अन्न या तो प्रेमके कारण भोजन किया जाता है या आपत्तिमें पड़नेपर (भूखों मरनेपर)। नरेश्वर! प्रेम तो तुम नहीं रखते और किसी आपत्तिमें हम पड़े नहीं हैं।

गृहस्थाश्रमकी महिमा

न गार्हस्थ्यात्परो धर्मो नास्ति दानं गृहात् परम्।
नानृतादधिकं पापं न पूज्यो ब्राह्मणात् परः॥
न गृहेण विना धर्मो नार्थकामौ सुखं न च॥
न लोकपङ्क्तिर्न यशः प्राप्यते त्रिदशैरपि।

(भविष्यपुराण उत्तर० १६८ । ३, ६)

गृहस्थाश्रमसे बढ़कर कोई धर्म नहीं है। गृहदानसे बढ़कर कोई दान नहीं है। झूठसे बढ़कर कोई पाप नहीं है और ब्राह्मणसे बढ़कर कोई पूज्य नहीं है। घरके बिना धर्म, अर्थ, काम, सुख, यश और दूसरे प्रकारकी भी कोई लौकिक सफलता मनुष्यको तो क्या देवताओंको भी नहीं प्राप्त हो सकती।

स्नानकी आवश्यकता

नैर्मल्यं भावशुद्धिश्च विना स्नानं न युज्यते।
तस्मात् कायविशुद्ध्यर्थं स्नानमादौ विधीयते॥
अनुद्धृतैरुद्धृतैर्वा जलैः स्नानं समाचरेत्।
तीर्थं प्रकल्पयेद् विद्वान् मूलमन्त्रेण मन्त्रवित्॥
नमो नारायणायेति मूलमन्त्र उदाहृतः॥

(भविष्यपुराण उत्तर० १२३ । १—३)

स्नानके बिना चित्तकी निर्मलता और भावशुद्धि नहीं आती। अतएव शरीरकी शुद्धिके लिये सर्वप्रथम स्नानका ही विधान है। नदी आदिमें जलमें प्रवेशकर और कूप आदिपर

जलको बाहर निकालकर स्नान करना चाहिये । मन्त्रज्ञ विद्वान्‌को मूलमन्त्रसे तीर्थकी कल्पना करनी चाहिये । तीर्थ-निर्माणका मूलमन्त्र 'ॐ नमो नारायणाय' कहा गया है ।

समझ-बूझकर कर्म करनेवाले सफल होते हैं

ज्ञात्वाज्ञात्वा च कर्माणि जनोऽयमनुतिष्ठति ।
विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात्तथा नाविदुषो भवेत् ॥
(श्रीमद्भागवत १० । २४ । ६)

यह संसारी मनुष्य समझे-बेसमझे अनेकों प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करता है । उनमेंसे समझ-बूझकर करनेवाले पुरुषोंके कर्म जैसे सफल होते हैं, वैसे बेसमझके नहीं ।

कर्मानुसार ही फलकी प्राप्ति

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते ।
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते ॥
(श्रीमद्भागवत १० । २४ । १३)

पिताजी ! प्राणी अपने कर्मके अनुसार ही पैदा होता और कर्मसे ही मर जाता है । उसे उसके कर्मके अनुसार ही सुख-दुःख, भय और मङ्गलके निमित्तोंकी प्राप्ति होती है ।

कुश्ती समान बलवानोंमें होती है

भवेन्नियुद्धं माधर्मः स्पृशेन्मल्ल सभासदः ॥
(श्रीमद्भागवत १० । ४३ । ३८)

कुश्ती समान बलवालोंके साथ ही होनी चाहिये, जिससे देखनेवाले सभासदोंको अन्यायके समर्थक होनेका पाप न लगे ।

श्रेष्ठ पुरुषोंकी लोग नकल करते हैं

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत् तदेवेतरो जनः ।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ३ । २१)

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, दूसरे लोग भी उसीका अनुकरण करके वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं । वह (अपने आचरणद्वारा) जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है ।

पाँच प्रकारकी शुद्धि

मनश्शौचं कर्मशौचं कुलशौचं च भारत ।
शरीरशौचं वाक्छौचं शौचं पञ्चविधं स्मृतम् ॥
पञ्चस्वेतेषु शौचेषु हृदि शौचं विशिष्यते ।
हृदयस्य च शौचेन स्वर्गं गच्छन्ति मानवाः ॥
(महाभारत आश्वमेधिक० दाक्षिणात्यपाठ)

मनःशुद्धि, क्रियाशुद्धि, कुलशुद्धि, शरीरशुद्धि और वाक्-शुद्धि—इस तरह पाँच प्रकारकी शुद्धि बतायी गयी है । इन पाँचों शुद्धियोंमें हृदयकी शुद्धि सबसे बढ़कर है । हृदयकी ही शुद्धिसे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं ।

जीते-जी अपना कल्याण-कार्य कर लेना चाहिये

तावत् स बन्धुः स पिता यावज्जीवति भारत ।
मृतो मृत इति ज्ञात्वा क्षणात् स्नेहो निवर्तते ॥
तस्मात् स्वयं प्रदातव्यं शय्याभोज्यजलादिकम् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरिति संचिन्त्य चेतसि ॥
आत्मैव यो हि नात्मानं दानभोगैः समर्चयेत् ।
कोऽन्यो हिततरस्तस्मात् कः पश्चात् पूरयिष्यति ॥
(भविष्यपुराण उत्तर० १८४ । ३–५)

तभीतक मनुष्य अपने परिवारवालोंका भाई-बन्धु और पिता बना रहता है जबतक वह जीवित बना रहता है । मरनेपर उसे मृत समझकर सभी तत्काल अपना स्नेह खींच लेते हैं । इसलिये मनुष्यको स्वयं ही अपने लिये अन्न, जल और शय्या आदिका दान करना चाहिये । मनुष्य स्वयं ही अपना बन्धु है; इसे हृदयमें स्मरण रखना चाहिये । जो दान, धर्म और भोग आदिके द्वारा स्वयं अपना कल्याण नहीं करता तो फिर उसके मरनेके बाद उसके लिये दूसरा कोई क्या व्यवस्था कर सकता है ?

जीव अकेला ही आता-जाता है

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥
(गरुडपुराण उत्तर० २ । २२-२३)

जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है एवं वह अपने पाप-पुण्य भी अकेला ही भोगता है । उसके मृत शरीरको मिट्टी और काष्ठके समान छोड़कर उसके सभी बान्धव वापस लौट आते हैं; केवल धर्म ही उसके साथ जाता है ।

बड़ोंका अपमान ही उनका वध करना है

त्वमित्यत्रभवन्तं हि ब्रूहि पार्थ युधिष्ठिरम्।
त्वमित्युक्तो हि निहतो गुरुर्भवति भारत॥

(महाभारत कर्ण० ६९ । ८३)

पार्थ ! तुम युधिष्ठिरको सदा 'आप' कहते आये हो, आज उन्हें 'तू' कह दो। भारत ! यदि किसी गुरुजनको 'तू' कह दिया जाय, तो यह साधुपुरुषोंकी दृष्टिमें उसका वध ही हो जाता है।

अपने मुँह अपना गुणगान करना ही आत्महत्या है

युधिष्ठिरका तिरस्कार करनेपर आत्मग्लानि होनेपर अर्जुन आत्महत्याके लिये तैयार हो गये। तब भगवान् श्रीकृष्णने कहा—

ब्रवीहि वाचाद्य गुणानिहात्मन-
स्तथा हतात्मा भवितासि पार्थ।

(महाभारत कर्ण ७० । २८½)

पार्थ ! अब तुम यहाँ अपनी ही वाणीद्वारा अपने गुणोंका वर्णन करो। ऐसा करनेपर यह मान लिया जायगा कि तुमने अपने ही हाथों अपने आत्माकी हत्या कर ली।

तीन दान श्रेष्ठ हैं

त्रीण्याहुरतिदानानि गावः पृथ्वी सरस्वती।
आसप्तमं पुनन्त्येते दोहवाहनवेदनैः॥

(भविष्यपुराण १५१ । १८)

दानोंमें तीन दान अत्यन्त श्रेष्ठ हैं—गोदान, पृथ्वीदान और विद्यादान। ये दूहने, जोतने और जाननेसे सात कुलतक पवित्र कर देते हैं।

धनका सदुपयोग दानमें ही है

यस्य त्रिवर्गशून्यानि दिनान्यायान्ति यान्ति च।
स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति॥
आयासशतलब्धस्य प्राणेभ्योऽपि गरीयसः।
गतिरेकैव वित्तस्य दानमन्या विपत्तयः॥
नोपभोगैः क्षयं यान्ति न प्रदानैः समृद्धयः।
पूर्वार्जितानामन्यत्र सुकृतानां परिक्षयात्॥

(भविष्यपुराण १५१ । ८, ११, १२)

जिस पुरुषके सभी दिन धर्म, अर्थ और काम—इस त्रिवर्गसे रहित होकर आते और चले जाते हैं, वह मनुष्य लोहारकी भाथीके समान श्वास लेता हुआ भी जीवित नहीं है। सैकड़ों प्रकारके प्रयत्न एवं श्रमसे कमाये हुए तथा प्राणोंसे भी प्यारे धनका दान ही उसकी एकमात्र गति है। इस धनका अन्य प्रयोग तो विपत्तियाँ हैं। जबतक पहलेका पुण्य रहता है तबतक भोग और दान करनेसे भी धन समाप्त नहीं होता। किंतु पुण्योंके क्षय होनेपर वह विना दान-भोग किये हुए भी नष्ट हो जाता है।

दान न करनेवाला दरिद्र तथा पापी होता है

अदत्तदानाच्च भवेद्दरिद्री दरिद्रभावाच्च करोति पापम्।
पापप्रभावान्नरकं प्रयाति पुनर्दरिद्रः पुनरेव पापी॥

(गरुडपुराण उत्तर० १४ । १९)

जो दान नहीं देता, वह दरिद्र होता है और दरिद्र होकर उसे विवश होकर पाप करना पड़ता है। पापोंके प्रभावसे वह नरकमें जाता है और नरकसे निकलनेपर फिर दरिद्र तथा पापी ही होता है। इस तरह वह भारी कुचक्रमें फँस जाता है।

विद्यार्थी-सहायताका महत्त्व

छात्राणां भोजनाभ्यङ्गं वस्त्रभिक्षामथापि वा।
दत्त्वा प्राप्नोति पुरुषः सर्वकामान् न संशयः॥
विवेको जीवितं दीर्घं धर्मकामार्थसम्पदः।
सर्वं तेन भवेद् दत्तं छात्राणां पोषणे कृते॥

(भविष्यपुराण १७४ । १८-१९)

जो मनुष्य छात्रोंके भोजन, अभ्यङ्ग (तेल), वस्त्र और भिक्षा आदिकी व्यवस्था करता है, उसकी सारी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। छात्रोंके पोषण करनेपर विवेक (ज्ञान), दीर्घायु, धर्म, काम और सभी सम्पत्तियोंके देनेका फल मिल जाता है।

देहकी अन्तिम शोचनीय अवस्थाएँ

त्रिधावस्थास्य देहस्य कृमिविड्भस्मरूपतः।
को गर्वः क्रियते तार्क्ष्य क्षणविध्वंसिभिर्नरैः॥

(गरुडपुराण उत्तर० ५ । २४)

गरुडजी ! इस शरीरकी बस, तीन प्रकारकी ही अवस्थाएँ हैं—कृमि, विष्ठा और भस्म। पृथ्वीमें गाड़ दिये जानेपर इसमें कीड़े पड़ जाते हैं, यह कृमिरूप हो जाता है। बाहर या जलमें फेंके जानेपर मगर, घड़ियाल, कौए, कुत्ते, सियार, गीध आदि जीव इसे खाकर विष्ठा कर डालते हैं तथा आगमें

जला डालनेपर यह भस्म हो जाता है । ऐसे क्षणभङ्गुर शरीरपर मनुष्यके गर्वका क्या अर्थ है ?

तीर्थका फल और उसका अधिकारी

यस्य हस्तौ च पादौ च वाङ्मनस्तु सुसंयते ।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥
अश्रद्दधानः पापात्मा नास्तिकोऽच्छिन्नसंशयः ।
हेतुनिष्ठाश्च पञ्चैते न तीर्थफलभागिनः ॥

(भविष्यपुराण उत्तर० १२२ । ७-८)

जिसके हाथ, पैर, मन और वाणी सुसंयत हैं तथा जिसकी विद्या, कीर्ति और तपस्या पूरी है; उसे ही तीर्थका फल मिलता है । श्रद्धारहित, पापी, संशयग्रस्त, नास्तिक और तार्किक—इन पाँच प्रकारके मनुष्योंको तीर्थका फल नहीं मिलता ।

पाँच पदार्थ कभी हेय नहीं होते

विप्रा मन्त्राः कुशा वह्निस्तुलसी च खगेश्वर ।
नैते निर्माल्यतां यान्ति योज्यमानाः पुनः पुनः ॥

(गरुडपुराण उत्तर० १९ । २०)

ब्राह्मण, मन्त्र, कुशा, अग्नि तथा तुलसी—ये सब बार-बार प्रयुक्त किये जानेपर भी निर्माल्यताको नहीं प्राप्त होते—उच्छिष्ट अथवा हेय नहीं होते ।

असार संसारके छः सार पदार्थ

विष्णुरेकादशी गङ्गा तुलसीविप्रधेनवः ।
असारे दुर्गसंसारे षट्पदी मुक्तिदायिनी ॥

(गरुडपुराण उत्तर० १९ । २३)

भगवान् विष्णु, एकादशी-व्रत, गङ्गानदी, तुलसी, ब्राह्मण और गौएँ—ये छः इस दुर्गम असार-संसारमें मुक्ति देनेवाली वस्तुएँ हैं ।

भगवान्‌को प्रणाम करनेवाले निर्भय होते हैं

अतसीपुष्पसंकाशं पीतवाससमच्युतम् ।
ये नमस्यन्ति गोविन्दं न तेषां विद्यते भयम् ॥

(गरुडपुराण उत्तर० ४ । ५१)

अतसी (तीसी-) के पुष्पके समान कान्तिवाले, पीताम्बरधारी गौओंके स्वामी भगवान् अच्युतको जो प्रणाम करते हैं, उन्हें कोई भी भय नहीं होता ।

उज्जीवन-मन्त्र

(लेखक—आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय)

गीतामें मानवमात्रके प्रति विश्वगुरु भगवान् श्रीकृष्णका दिव्य उपदेश-वचन—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥

(गीता २ । ३)

जीवनमें किसी भी परिस्थितिमें क्लीवताको आश्रय मत दो । स्मरण रक्खो—तुम पार्थ हो,—मा पृथिवीने युग-युगान्तर तपस्या करके स्वतन्त्र ज्ञानेच्छाक्रियाशक्ति-सम्पन्न तुमको (मनुष्यको) हृदयपर धारण करनेका अधिकार अर्जन किया है । विश्वविधाताने अपनी सृष्टिमें एकमात्र मनुष्यको ही स्वातन्त्र्यसम्पन्न, पुरुषकारसम्पन्न, नयी-नयी सृष्टि करनेकी सामर्थ्यसे सम्पन्न बनाकर उसकी पृथ्वीपर प्रतिष्ठा की है । मनुष्यमें 'पौरुष'-रूपमें ही भगवान्‌का खेल चलता है । अतएव जिससे पौरुषकी हानि होती हो, आत्मशक्तिपर अनास्था प्रकट होती हो, ऐसा कुछ भी मनुष्यके लिये तनिक भी शोभा नहीं देता । अतः सभी अवस्थाओंमें, सभी प्रकारकी जटिल परिस्थितियोंमें हृदयकी सब प्रकारकी दुर्बलताको, क्लीवताको, निर्वीर्य-भावको झाड़कर फेंक दो और कर्मक्षेत्रमें अपने मनुष्यत्वका सुन्दर परिचय देनेके लिये खड़े हो जाओ । यह मत भूलो कि भगवान्‌ने 'परंतप' बनाकर ही तुम्हारा निर्माण किया है ।

यही मन्त्र गीतोक्त मानवधर्मका बीजस्थानीय है । यही मानवमात्रको भगवान्‌के द्वारा दिया हुआ 'उज्जीवन-मन्त्र' है । मानवजीवनको पशुजीवनसे उद्धार करके यथार्थ मानवताके आदर्शपर उज्जीवित करनेके लिये सर्वप्रथम आवश्यक है—'आत्मप्रत्यय और दुर्बलताका

परिहार। 'प्रकृतिका दासत्व ही पशुजीवन है, प्रकृतिके ऊपर अपने आदर्शके प्रभुत्वकी प्रतिष्ठा ही मनुष्यजीवन है'। मन-बुद्धि-हृदयके दुर्बल होनेपर ही प्रकृति मानव-जीवनपर प्रभाव जमा लेती है। मनुष्यके मन-बुद्धि-हृदय प्रबल आत्मप्रत्यय और पुरुषकारके साथ जितने ही अपने अभीप्सित आदर्शके मार्गपर अग्रसर होते हैं, उतनी ही उसकी अन्तःप्रकृति और बहिःप्रकृति वश्यता स्वीकार करती है और अन्तःप्रकृति तथा बहिःप्रकृतिकी सारी शक्तियाँ प्रतिकूलताका परित्याग करके उसके अभीष्ट साधनके अनुकूल कार्य करने लगती हैं। मनुष्यका आदर्श है—जीवनकी पूर्णताका सम्पादन, अमरत्वकी प्राप्ति। उसे मनुष्यको अपने अदम्य पुरुषकारके द्वारा—अविरत साधनके द्वारा ही उपलब्ध करना होगा। प्रकृतिके सामने पराजय-स्वीकार, प्रकृतिके चरणोंमें पौरुषका आत्मसमर्पण मनुष्यको पशुमें परिणत कर देता है और उसे मरणकी ओर खींच ले जाता है।

विश्व-प्रपञ्चके लीलामय विधाता, विश्व-प्रकृतिके अधीश्वर, परम पुरुष भगवान्‌ने इस प्राकृतिक जगत्‌में मनुष्यके पौरुषको पूर्णरूपसे विकसित करनेके लिये ही मानो उसे एक विशाल रणाङ्गणमें लाकर खड़ा कर दिया है। उसके भीतर शत्रु हैं, बाहर शत्रु हैं। शत्रुके साथ संग्राममें ही शक्तिका विकास है। शत्रुके व्यूहका भेद करके ही मनुष्यके अन्तरात्माको अपनी पूर्णतामें प्रतिष्ठित होना है, सच्चिदानन्दमय परमपुरुषके साथ अपनी अभिन्नताका आस्वादन करना है। उसकी अन्तःप्रकृतिमें कितनी छोटी-बड़ी वासना, कामना, कितने काम-क्रोध, लोभ, कितनी हिंसा, घृणा, भीति, कितने दम्भ-दर्प, अभिमान, कितने प्रमाद, आलस्य, अवसाद, और भी न जाने कितने क्या-क्या भरे हैं। ये सभी उसको दुर्बल बनाना चाहते हैं, प्रकृतिके अधीन करना चाहते हैं, उसकी सत्ता, चैतन्य और आनन्दके ऊपर आवरणको घनीभूत करना चाहते हैं और उसकी विचारशक्ति, इच्छाशक्ति तथा कर्मशक्तिकी स्वतन्त्रताको नष्ट करके उसे पशु बना देना चाहते हैं। इसी प्रकार बहिःप्रकृतिमें भी कितनी जड शक्तियाँ, कितनी दैवी शक्तियाँ, कितनी आधिभौतिक तथा आधिदैविक शक्तियाँ एवं कितने प्रलोभन तथा विभीषिकाएँ उसकी जीवनी-शक्तिको संकुचित करने तथा पीस डालनेके लिये ही मानो अनवरत कार्य कर रही हैं। संसारके समराङ्गणमें मनुष्य अपनेको भीतर और बाहर सदा ही शत्रुसे घिरा हुआ अनुभव करता है। परंतु वास्तवमें भगवान्‌के विधानमें ये सभी उसकी मानवीय शक्तिको, उसके स्वतन्त्र पौरुषको सदा जगाये रखने तथा विकसित करनेके लिये ही रहते हैं। उसको सर्वविजयी पहलवान बनना है, इसीलिये इतने सारे पहलवानोंके साथ उसे लड़ते रहनेकी व्यवस्था की गयी है।

भगवान् मनुष्यको पुनः-पुनः 'परंतप' सम्बोधन करके उसे उत्साह प्रदान करते हैं। उसके भय-विषादको हटाकर उसे उज्जीवित करते हैं। अन्तःप्रकृति और बहिःप्रकृतिके सब 'पर' को—समस्त शत्रुसमूहको—जलाकर और मिटाकर, उसके पौरुषको स्वमहिमामें प्रतिष्ठित करनेकी सामर्थ्य भगवान्‌ने उसे पहलेसे दे रक्खी है; इसीलिये वे बार-बार उसका स्मरण कराते हैं। भगवान् कहते हैं—'मामनुस्मर युध्य च'—निरन्तर मेरा स्मरण करो और युद्ध करो। मनुष्यके पौरुषकी विजय अवश्यम्भावी है। परंतु प्रतिकूल शक्तिसमूहके विरुद्ध—सारे राक्षसी और तामसी भावोंके विरुद्ध—समस्त असुरों एवं राक्षसोंके विरुद्ध—सुनिपुण और घोर संग्रामके द्वारा ही उसे यह विजय प्राप्त करनी होगी। आतङ्कका कोई कारण नहीं है, हताशा और अवसादका कोई कारण नहीं है; क्योंकि प्रकृतिके अधीश्वर स्वयं भगवान् मनुष्यके सारथि और सखा हैं। मनुष्यके जीवन-रथको सारी प्राकृतिक शक्तियोंके साथ संग्राममें विजयी बनाकर उसे प्रकृतिके उस पार अप्राकृत अमृतमय धाममें ले

जानेके लिये ही वे उसके सारथि बने हैं—'युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ।'

अशेष विचित्रताओंसे समन्वित यह विशाल प्रकृतिराज्य प्रकृतिके अधीश्वर निखिलरसामृतसिन्धु भगवान्का लीला-क्षेत्र है, विचित्र रसास्वादनका क्षेत्र है, प्रकृतिकी गोदमें लालित-पालित तथा संवर्धित असंख्य जीवोंके लिये यह संग्राम-क्षेत्र है । जीव-जगत्के ये नियत संग्राम, ये जय-पराजय, सुख-दुःख और जीवन-मरण—सभी सर्व-जीवान्तर्यामी भगवान्के स्वरूपभूत आनन्दका विचित्र भावसे आस्वादन करनेके विचित्र रससमन्वित उपकरण हैं । इस रणाङ्गणमें जीवोंको वे कितने विचित्र रसोंका आस्वादन कराते हैं । ये सब रस ही उन जीवोंको संजीवित करते हैं, उज्जीवित करते हैं । ये सब रस ही तो उन्हें जीवनसंग्राममें शक्ति, उत्साह और उद्दीपन प्रदान करते हैं । रस ही तो जीवन है । इस संग्रामके और उसके विचित्र रस-सम्भोगके द्वारा ही जीव उच्चसे उच्चतर सोपानपर आरोहण करते हैं और उन्नततर शक्ति-सामर्थ्य एवं मधुरतर रससम्भोगका अधिकार प्राप्त करते हैं ।

इस जीव-जगत्में मनुष्यका अधिकार और गौरव अनन्य-साधारण है । संग्राम उसको भी अवश्य ही करना पड़ता है; किंतु उसे संग्राम करना पड़ता है अपने पौरुषके द्वारा, अपनी स्वतन्त्र ज्ञानशक्ति, इच्छा-शक्ति और कर्मशक्तिके सुनियन्त्रित प्रयोगके द्वारा । अन्यान्य जीव स्वभावके दास होकर संग्राम करते हैं; किंतु मनुष्य अपने स्वभावपर प्रभुत्व स्थापन करके, स्वाभाविक शक्तियों और प्रवृत्तियोंको सुनियन्त्रित करके, जीवनके चरम तथा परम उत्कर्षकी ओर लक्ष्य रखकर संग्राम करनेका अधिकारी है । उसे विचारपूर्वक साध्य-साधन-तत्त्वका निरूपण करके अदम्य वीर्यके साथ साध्यकी ओर अग्रसर होनेके लिये पुरुषकारका प्रयोग करना पड़ता है । मनुष्यका संग्राम उसका साधन-संग्राम है । इस साधन-संग्रामके द्वारा मनुष्य इस पार्थिव-जीवन-में ही भागवत-जीवन प्राप्त करने और इस प्राकृत जगत्में ही भगवान्के अप्राकृत लीलारस-आस्वादन करनेका अधिकारी हो सकता है । परंतु इस परम आदर्शके पथपर संग्राम करके ही, अपने पुरुषकारका प्रयोग करके ही उसे अग्रसर होना पड़ेगा । हृदयमें दुर्बलताको स्थान देनेपर, किसी भी अवस्थामें चित्तके अवसाद-ग्रस्त होने-पर, साधन-समरसे विमुख होनेपर मानवजीवनकी सार्थकता सम्भव नहीं है—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः ।'

मानव-जीवनके समरक्षेत्रमें भगवान् मनुष्यके जीवन-रथके सारथि बनते हैं । वे रथीका आसन ग्रहण नहीं करते । मनुष्यके पौरुषको ही रथीके आसनपर दृढ़ताके साथ अधिष्ठित करके उसे उत्साहित करते हैं, प्रयोजनके अनुसार उसे उपदेश प्रदान करते हैं, उसके साधन-पथके काँटोंको हटाकर रथको ठीक रास्तेपर चलाकर ले जाते हैं तथा उसकी मूल भ्रान्तियोंका संशोधन करते हैं । जब मनुष्य अपनेको संग्राममें अयोग्य पाकर उनके शरणागत होता है, तब वे आवश्यकतानुसार शक्तिका संचार करते हैं । परंतु वे मनुष्यके पौरुषको स्थानच्युत नहीं करते, मनुष्यके साधन-संग्रामका दायित्व वे अपने हाथमें नहीं लेते । जबतक मनुष्यमें 'अहं'-बोध है, तबतक संग्रामके दायित्वसे उसे छुटकारा नहीं देते । मनुष्यका 'पौरुष' भगवान्की ही विशेष विभूति है—'पौरुषं नृषु' । वे सारथिरूपमें, सखा रूपमें, गुरुरूपमें, सर्वभावसे मनुष्यकी जीवन-संग्राममें—साधन-समरमें सहायता करते हैं । परंतु वे संग्राम कराते हैं मनुष्यके द्वारा ही । साधन कराये बिना वे किसीको सिद्धि प्रदान नहीं करते ।

जब भी वे मनुष्यकी—शरणागत भक्तकी भी—संग्राममें शिथिलता देखते हैं, तभी गम्भीर स्वरसे कहते हैं—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
(गीता ६ । ५)

'अपने द्वारा ही अपना उद्धार करना है, अपनेको कभी अवसादग्रस्त नहीं होने देना है। याद रक्खो—तुम आप ही अपने बन्धु हो और तुम आप ही अपने शत्रु हो।'

शरणागतिके नामपर भगवान् तामसिकताको कभी प्रश्रय नहीं देते। न वे कभी आत्मनिवेदनके नामपर साधनविमुखताका समर्थन करते हैं। शरणागत एकान्त भक्तको भी साधन-समरमें लड़नेके लिये प्रोत्साहित करते हैं और नाना प्रकारकी परीक्षाओंके द्वारा उसके ज्ञान, भक्ति, धीरता, स्थिरता, एकाग्रता और चरित्रबलका पता लगाते रहते हैं। मनुष्यमें 'आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्' कहाँतक चरित्रगत हो गया है, कहाँतक वह अपने चित्तको कर्तृत्वाभिमान, भोक्तृत्वाभिमान तथा विषयासक्तिसे मुक्त कर पाया है, इसीके द्वारा उसकी शरणागतिकी सामर्थ्यकी परीक्षा हो जाती है। मनुष्यमात्रको ही वीर्यवान् साधक बनना पड़ेगा।

जो मानवजीवनका पूर्णता-सम्पादन और यथार्थ रसास्वादन करना चाहते हैं, उनको भगवान्ने श्रुति-मुखसे उपदेश दिया है—

'युवा स्यात्। साधु युवा। अध्यापकः। आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठो मेधावी।' युवा होना चाहिये। साधु युवा। यौवनकी अति सुन्दर साधना होनी चाहिये। यौवनशक्तिका जिसमें किसी प्रकार भी अपव्यय न हो, इसलिये ब्रह्मचर्यपरायण होना आवश्यक है; इन्द्रियों और मनोवृत्तियोंका संयम, शरीर-वाणी और चिन्तनकी पवित्रता एवं अन्तर्जीवन और बहिर्जीवनके सब प्रकारके व्यवहारोंमें श्रद्धा और शौर्यके साथ जीवनके परम आदर्शका अनुसरण आवश्यक है। यही यौवनकी साधना है। अर्जित शक्तिको भोगके मार्गपर, सामयिक इन्द्रिय-तृप्तिके पथपर, शरीर-मनके क्षणिक सुखके पथपर लगानेसे ही यौवनका अपव्यय होता है। जीवन मृत्युके मार्गपर अग्रसर होता है और यथार्थ आनन्दप्राप्तिकी सम्भावना दूर चली जाती है। जीवनके परम और पूर्ण आदर्शके निरूपणके लिये स्वाध्यायशील और तत्त्व-अनुसंधान-परायण युवा होना चाहिये। स्वाध्याय और तपस्याका साथ-साथ अनुशीलन करना चाहिये। स्वाध्यायके द्वारा जिस श्रेयका निरूपण हो, उस श्रेयके विरोधी प्रेयके आकर्षणको सर्वथा विच्छिन्न करके तथा सब प्रकारके क्लेश-सहन तथा त्यागके लिये प्रस्तुत होकर उस श्रेयके पथपर अग्रसर होनेके लिये दृढ़ संकल्प करना पड़ेगा। इसीका नाम तपस्या है, यही यौवनकी साधना है। युवाका लक्षण यही है कि उसका हृदय उच्च आशासे भरा हो, निराशाके लिये हृदयमें स्थान रहे ही नहीं। उसके भीतर शुभ संकल्पकी विजयकी दृढ़ता हो और देहमें भी ऐसा बल और अस्खलित वीर्य हो, जिससे उसकी कर्मशक्ति और सहनशक्ति किसी भी प्रतिकूल परिस्थितिके सामने कभी पराजय स्वीकार न करे एवं जिसकी बुद्धि सदा मेधायुक्त तथा तत्त्वानुसंधानपरायण बनी रहे। शारीरिक जीवनके अन्त-पर्यन्त इस यौवनको, अन्ततः आन्तरिक यौवनको—अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये प्रयत्नशील होना पड़ेगा। प्राकृतिक नियमानुसार देहके क्षीण होनेपर भी जिससे आन्तरिक यौवनका नाश न हो, स्थविरताकी प्राप्ति न हो, निराशा और अवसादवश म्रियमाण न होना पड़े, इसके लिये सदा सावधान रहना पड़ेगा। अन्तरमें पूर्ण यौवन बने रहनेपर ही जीवन आनन्दमय होता है और इस प्रकारके पूर्ण यौवनको लेकर देह-त्याग करनेपर वह मरण भी आनन्दमय हो जाता है। यौवनकी सम्यक् पूर्णताका सम्पादन होनेपर—ज्ञान, प्रेम और कर्मद्वारा

पूर्ण जीवनकी प्रतिष्ठा होनेपर मनुष्य नित्य युवा, नित्य किशोर, रसामृतसिन्धु लीलामय परम पुरुषके भावसे भावित हो जाता है । तभी आनन्दकी परिपूर्णता, ब्रह्मानन्दकी अनुभूति होती है । तभी सम्यक् उज्जीवन होता है। नित्यगुरुका यह 'उज्जीवन-मन्त्र' हम सभीके हृदयोंमें प्रतिध्वनित हो ।

श्रीकृष्णके द्वादश चमत्कार और उनके चरणोंमें विनम्र प्रार्थना

(लेखक—विद्यावारिधि पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा)

इस घोर कलिकालमें अज्ञानमिश्रित तर्कजालसे ग्रस्त लोगोंके लिये हिंदू-धर्मकी किसी भी बातको समझना कठिन हो रहा है; विशेषतः श्रीकृष्णके अद्भुत चरित्रको समझना तो और भी कठिन है । इसका कारण यह है कि आज विश्वमें भौतिक विज्ञानका दौर-दौरा है । आज संसार आध्यात्मिक विज्ञानसे शून्य और केवल भौतिक विज्ञानसे विमोहित होता जा रहा है। भारतमें भी नास्तिक और परप्रत्ययनेयमति लोगोंकी कमी नहीं । फिर भी कुछ जिज्ञासु विद्वान् और भक्तलोग यत्र-तत्र मिलते हैं। उन्हीं लोगोंके संतोषार्थ श्रीकृष्णके रहस्यमय चरित्रपर अति संक्षेपमें कुछ लिखनेका साहस यहाँ किया जा रहा है। श्रीकृष्णकी लीलाएँ सभी चमत्कारपूर्ण हैं, पर उनमें ये बारह मुख्य हैं—

(१) पहली महान् रहस्यकी बात दिव्य प्रेमराज्यसे सम्बन्ध रखती है । वह यह है कि भगवान् श्रीकृष्णने रासलीलाके समय जिन गोपियोंको वनमें वंशीद्वारा बुलाया था, उन्हें स्थूल शरीरसे नहीं बुलाया था । उनके शरीर तो वहीं रहे थे । इसीसे तो उनके पतियोंको यही मालूम हुआ कि उनकी पत्नियाँ उन्हींके पार्श्वमें सोयी हैं।

मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥
(श्रीमद्भागवत १० । ३३ । ३८)

वहाँ तो वे दिव्य भावदेहसे गयी थीं, जो सर्वदा चिन्मय था । यह महान् चमत्कार है।

(२) शास्त्रसम्मत चौदह रस हैं। उनमें वीर, करुण, हास्य आदि गौण हैं और दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर आदि मुख्य हैं । इन सब रसोंके द्वारा प्रेम करनेके विषयमें भक्तिशास्त्रका यह सिद्धान्त है कि—

न तत्रापि माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः ॥२२॥
तद्विहीनं जाराणामिव ॥ २३ ॥ (नारदसूत्र)

यह सर्वथा सत्य है कि गोपियोंका श्रीकृष्णके प्रति अनन्य प्रेम माहात्म्यपूर्वक था । वह उन्हें ईश्वर ही जानती-मानती थीं । श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

'प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ।'
(श्रीमद्भागवत १० । २९ । ३२)

'न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।'
(श्रीमद्भागवत १० । ३१ । ४)

(३) भगवान् श्रीकृष्ण प्रत्येक दृष्टिसे अनन्वयालङ्कार और उल्लेखालङ्कारके विषय हैं । अचिन्त्यानन्त परस्परविरोधी गुणोंके समाश्रय होनेसे वे पूर्ण ब्रह्म ही हैं । मोह और वैराग्य इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं । कौन नहीं जानता, वे व्रजवासियोंके स्नेहकी मूर्ति थे । दूसरी ओर उन्होंने अपने ही सम्मुख यदुवंशका नाश करवाकर भी वे वैसे ही समभावापन्न रहे ।

(४) संसारके किसी भी विशाल देशमें कहीं भी, कभी भी पूर्णतया और अविकल धर्मराज्यकी स्थापना नहीं हुई । यह बात श्रीकृष्णके प्रतापसे भारतमें ही हो सकी ।

(५) केवल रथ हाँककर ही उन्होंने पाण्डवोंद्वारा कौरवोंकी विशाल सेनाको परास्त करा दिया। स्वयं युधिष्ठिरने कहा है—'वासुदेव ! भारत-जैसा विशाल राज्य आज केवल आपकी कृपासे ही मेरे अधिकारमें है।'

(६) श्रीकृष्ण पूर्ण योगेश्वर थे। 'यत्र योगेश्वरः कृष्णः।' पर रासलीलाके प्रसंगमें व्यासदेवने लिखा है—

'सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः।'

भगवान् श्रीकृष्ण ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी थे। जब अर्जुन और दुर्योधनने युद्ध-निमन्त्रणके लिये भगवान् श्रीकृष्णके कक्षमें प्रवेश किया, तो वह कमलगन्धसे पूरित था। यह लौकायत बात है और कुछ लोग तो इसे अच्छी तरह जानते हैं कि स्वर्गीय स्वामी विशुद्धानन्दके शरीरसे कमलगन्ध निकला करती थी। आज प्राचीन प्रथा ब्रह्मचर्यका लोप हो जानेसे इन विचारोंको समझना हमारे लिये कठिन हो रहा है।

(७) भगवान् श्रीकृष्ण सत्यासत्यके वास्तविक तथ्यको ठीक-ठीक समझते-समझाते थे। उनका मत सर्वथा नित्य, एकरस और अटल होता था।

(८) आज भारतके निवासी हीन-भावना (Inferiority Complex) से ग्रस्त हैं। आत्म-विश्वास-हीनताका दौरदौरा है, जो शताब्दियोंकी दासताका ही कुफल है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें स्वार्थशून्य स्वाभिमानका उपदेश दिया है। वे प्रत्येक स्थलमें उत्तम पुरुषके रूपमें बोलते हैं, जो आजकी आत्महीनताके लिये अर्द्धचन्द्रका काम देता है। वे विश्व-उपमानोंको अपना रूप कहते हैं। सेनापति स्कन्दको अपनेसे भिन्न नहीं मानते। विजय-नीतिको भी वे अपना मूर्तरूप बताते हैं। भगवान्के ऐसे प्रवचनसे वर्तमान आत्महीनता 'ख-पुरुष' बन जाती है।

(९) श्रीकृष्ण वेदके सार गायत्रीको अपना रूप ही कहते हैं। वे सामवेदको तो अपनेसे बिल्कुल ही भिन्न नहीं समझते। युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञके समय उनके सर्वप्रथम अग्रपूज्य होनेके प्रमाणमें ऋषियोंने कहा था कि 'श्रीकृष्णसे बढ़कर वेदज्ञ हममेंसे एक भी नहीं है।' क्यों न हो; वेद ईश्वरका ही तो श्वास-निःश्वास है !

(१०) वेदव्यास जो वेदोंके विस्तारकर्ता हैं—और वेदप्राण पुराण तो उन्हींकी रचना है—वे स्वयं कहते हैं—

अन्ये चांशकलाः प्रोक्ताः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

(११) श्रीकृष्णचन्द्र लीला-पुरुषोत्तम हैं। उनका व्यक्तित्व ललित कलाओंका हार्द है। ब्रह्मकल्पमें गोलोकमें भगवान्ने रासलीलाके लिये रासमण्डप बनवाया था। व्रजभूमि उसी गोलोकका एक स्वरूप है। रासलीला अध्यात्मप्राण, जीवनसमुद्धारक सच्चिदानन्द-स्वरूप भगवान्की रसात्मक क्रीड़ाका प्रतीक है। साहित्यके तो श्रीकृष्ण आलम्बनोंके आलम्बन हैं। उनकी रासलीला उनका अपना लोकालोक-दुर्लभ आत्मप्रकाश है। इसके विषयमें प्राच्यविद्यामहार्णव श्रीवसुने लिखा है—'पूर्ण ब्रह्म सनातन रसस्वरूप हैं, ये पूर्णब्रह्म सनातन स्वयं श्रीकृष्ण हैं। ये श्रीकृष्ण ही अखिल रसामृतमूर्ति हैं। इन रसराज, रसिक-शेखर, रस-परमब्रह्मकी प्राप्तिके लिये चिदानन्दरसमयी जो क्रीडा विशेष है, वही रास है। इसीलिये रास नारायणकी नाभिसे उत्पन्न ब्रह्माके लिये भी दुर्लभ है। यहाँतक कि रास-रस-रसिकेन्द्र श्रीकृष्णके हृदयमें नित्य विहार करनेवाली साक्षात् लक्ष्मी भी रासकी अधिकारिणी नहीं हैं। इसीसे इस बातका आभास पाया जाता है कि रासलीला किस उच्चतम तत्त्वमें प्रतिष्ठित है। इसीलिये सूक्ष्मदर्शी भक्तप्रवर

श्रीमद्भागवतके प्रसिद्ध व्याख्याता श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती महोदयने लिखा है—

शास्त्रबुद्धिविवेकाद्यैरपि दुर्गममीक्ष्यते।
गोपीनां रसवर्त्मेदं तासामनुगतीर्विना॥

(श्रीमद्भागवत १०। ३३। ४० की सारार्थदर्शिनी टीकाका परिशिष्ट भाग)

अर्थात् रास आनन्द-चिन्मयरस-प्रतिभाविता गोपियोंके लिये रसवर्त्म है। इसकी समस्त प्रकारकी अनुगतियोंके सिवा शास्त्रबुद्धि और विवेकादिद्वारा रासका मर्म कुछ भी नहीं समझा जा सकता।

(१२) श्रीकृष्णकी बाललीला मधुरतम परमानन्द-दायिनी है। इसीसे बाल-साहित्यका सूरसागर-सा ग्रन्थ विश्व-दुर्लभ है। इसीलिये कि अन्यत्र सूर-सा कवि नहीं है। यदि कदाचित् भविष्यमें कोई निकल भी पड़े, तो भी श्रीकृष्ण-सा पूर्णावतार बालक उसे नहीं मिलेगा; क्योंकि वहाँ अवतार-सिद्धान्तका ही अभाव है।

श्रीकृष्णकी प्रत्येक जीवनलीला, चमत्कार, आदर्श, आदेश, निर्देश, संदेश और वचन-प्रवचनपर अनेक ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं, अपितु महान् विश्वकोषतक। तत्त्वातीत भगवान् श्रीकृष्णके विषयमें जो कुछ कहा जाय, वही ठीक है। हम यहाँ वेदान्ताचार्य श्रीमधुसूदन स्वामीके शब्दोंमें यही कहते हैं—

कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने।

और उनके अखिलभुवनवन्दित परम पावन श्रीचरणकमलोंमें विनम्र निवेदन करते हैं—

भगवन् वासुदेव! आजका संसार सर्वथा पतनोन्मुख और विनाशोन्मुख हो रहा है। चरित्र तो अन्तिम श्वास ले रहा है। तृतीय युद्धकी विभीषिकासे राजनीतिक और वैज्ञानिक—सभी प्रकम्पित हो रहे हैं। भारतकी तो इससे भी भयावनी दशा है। यहाँ तो सहस्रों दुःशासन और हिरण्यकशिपु अपना काम कर रहे हैं। ये हिंदू-संस्कृति-का नाम शेष करनेपर तुले हुए हैं तथा उसके कीर्तिगान सुननेसे तो उनके कानके पर्दे फटने लगते हैं।

यह भी सत्य है कि विश्व-सीमास्पर्शी हिंदूजाति आज भारततक ही सीमित हो गयी है तथा वह अपने घरमें ही दो प्रान्तोंमें तो अल्पमतका शिकार हो गयी थी, जिसका परिणाम किसीसे छिपा नहीं है।

इस क्षण भी इसकी दशा दयनीय है, परंतु यह समझमें नहीं आ रहा है कि इसको पुनः स्वरूपभूत उन्नतिकी दिशामें मोड़ कैसे दिया जाय? जो सोये हुए हैं उनको कैसे जगाया जाय और जो जगे होनेपर भी प्रमादग्रस्त हैं उनमें कैसे चेतना उत्पन्न करके उन्हें कर्तव्यपरायण बनाया जाय? यदुपति! कठिनाईका कारण यह है कि भारत सदैव ही भगवत्-वचनाश्रित रहा है, पर आज वह उसीकी अवहेलना कर रहा है।

शौर्य-वीर्यको जगाकर निष्काम-कर्ममें लगानेका और अन्तमें शरणागतिकी महत्ताका प्रतिपादन करके मोहग्रस्त अर्जुनको निष्काम भगवत्सेवापरायण कर्तव्यशील बना देनेका महान् कार्य आपके वचनामृतसे ही सम्पन्न हुआ था। आपका गीता-विज्ञान शरणागतिकी महत्ताका ही तो परिचायक है। उसमें आप स्वयं कहते हैं—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥
(२। ३७)

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(१८। ६६)

आज हम गीताका पाठ करनेवाले होनेपर भी आपके इन वचनोंपर ध्यान नहीं दे रहे हैं। इसीसे हम अपनेको किंकर्त्तव्यविमूढ़ और अरक्षित-सा पाते हैं। आप कृपा करके हमारी चेतनाको उद्बुद्ध करके हमें अपनी शरणमें लीजिये और निष्कामभावसे कर्तव्य-पालन करनेवाला बनाइये।

यदुनन्दन! आपके नाममात्रमें लोहेको स्वर्णमें परिणत करनेका विलक्षण गुण है—असम्भवको सम्भव

बनानेकी क्षमता है। हम तो यहाँतक कह सकते हैं कि आपके वास्तविक स्मरणमात्रसे, अक्षर-चित्रोंमें ही आपकी झाँकी लेनेमात्रसे और आपकी मूर्तिपर छत्र-चँवर करनेमात्रसे साधककी कुदशा सुदशामें परिणत हो सकती है।

दीनबन्धु ! एक-एक विषय ही मनुष्यको कुछ-से-कुछ बना देता है। गणितशास्त्र मनुष्यको गणितात्मक सत्य (Arithmetical truth) में ढाल देता है तथा साहित्य ऋषिकल्प बना देता है। आप तो सम्पूर्ण साहित्यके, समस्त कलाओंके, सम्पूर्ण विज्ञानके परमाधार, मूल, अन्त और प्रकट मूर्तरूप हैं। हम भारतवासी आपके अनुग्रहसे क्या नहीं बन सकते ? आपकी लीलाओंमें तो बलात् आपके चरणोंमें झुका देनेकी शक्ति है। आपकी माधुर्यपूर्ण और ऐश्वर्यप्रधान लीला-कथाएँ श्रोताके मनोजगत्‌में नवीन सृष्टि उत्पन्न करनेका विलक्षण गुण रखती हैं।

भगवन् ! आपके चरणकमलोंमें निवेदन तो है, किंतु विमलमति न होनेसे सूझ-बूझ काम नहीं देती कि निवेदन भी कैसे किया जाय। ऐसी दशामें अर्जुनके शब्दोंमें यही कहना पड़ता है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

(गीता २। ७)

सारांश यह कि भारत आज कायरतारूप दोषसे उपहत-स्वभाव हो रहा है। धर्म क्या है, इसके सम्बन्धमें सम्मूढचित्त होकर ही कुछ भी निर्णय करनेमें असमर्थ है। अब आप ही अपने इस भारतको अपने निश्चित कल्याणकारक साधनमें लगाइये। भारत सदा ही आपका शिष्य है, आपके शरणागत है। आप अशरण-शरण महाप्रभु हैं; क्रियात्मक शिक्षा देकर कृतार्थ कीजिये। यही श्रीचरणोंमें विनम्र प्रार्थना है।

भगवान्‌की आज्ञाएँ

(लेखक—श्रीरामलालजी पहाड़ा)

भगवान्‌की आज्ञाओंमें चैतन्यामृत भरा हुआ है। जो उनका सक्रिय पालन करते हैं, उनको वह सत्य तत्त्व प्राप्त होता है। भगवान्‌की प्रथम आज्ञा है—**'क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।'** हृदयकी दुर्बलतासे मनुष्य कर्मक्षेत्रमें उपस्थित होकर भी हतोत्साह हो जाता है। दुर्बलताके हट जानेपर मनुष्यको कर्म करनेमें उत्साह होता है। देखिये—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

तुम अपनी सहनशक्ति बढ़ाओ। संसारके सुख-दुःखमय प्रपञ्चसे जरा भी घबराओ मत; क्योंकि—

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।

हे भारत ! भारतवर्षीयगण ! आत्मा अप्रमेय, अमर है। शरीर नाशवान् है। इसलिये रण-सम्मुख आनेपर युद्ध करो और यश-कायासे अमर रहो—**'कीर्तिर्यस्य स जीवति।'** कर्मके सम्बन्धमें स्पष्ट कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

कर्मफलका हेतु रखकर कर्म मत करो और न अकर्ममें—निकम्मे पड़े रहो, निठल्ले मत रहो।

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

यज्ञ, परोपकार, भगवत्सेवा—लोकसेवाके सिवा अन्यान्य कर्म संसारमें बाँधनेवाले, जन्म-मरणमें डालनेवाले होते हैं और यज्ञ—भगवत्सेवाके काम मुक्ति दिलानेवाले होते हैं। इसलिये बन्धनकारक कर्मोंको छोड़कर अनासक्तभावसे भगवत्सेवारूप कामोंको अच्छी प्रकारसे आचरणमें लाओ।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

करनेयोग्य कामको अच्छी तरहसे करो। स्वार्थ त्यागकर कर्म करनेवाला मनुष्य परम सत्यको प्राप्त करता है। उसका जीवन सुखी होता है। इसलिये अध्यात्म-चेतनासे अपने सब कर्मोंका भार मुझे (भगवान्‌को) सौंपकर मेरा भरोसा रखकर—

निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।

निराशी और निर्भय होकर युद्ध करो और कामना-जनित ज्वरको दूर हटाओ। इसीमें तुम्हारा कल्याण है। तुम्हें मानसिक कामना-ज्वर है; अतः उसको हटानेके लिये मानसिक शक्ति ही उपयुक्त है। परम्पराको देखो और—

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।

पूर्वजोंद्वारा किये हुए कामोंको तुम भी करो, इसलिये अब तुम—

छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।

हे भारत—भारतके महान् प्रतिनिधि! संशयको मिटाकर समत्व-योगका आश्रय लेकर उठो और कर्तव्यका पालन करो। तुम महान् उत्तरदायित्व लेकर रणमें उपस्थित हुए हो। तुम महारथी हो।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

इसलिये सब समय—प्रतिक्षण मेरा स्मरण करते हुए युद्ध करो। तुम अपनेको मेरी सद्भावनामें लीन कर दो। अर्जुन! सर्वदा योगयुक्त—योगमें लीन रहो।

एक जगह भगवान् कहते हैं—**'तस्माद्योगी भवार्जुन'** क्योंकि योगी तपस्वीसे, ज्ञानीसे और कर्मीसे भी श्रेष्ठ है। यद्यपि भगवान् अष्टाङ्गयोगके भी पक्षमें हैं, पर उसको वे विशिष्ट पुरुषोंके लिये करनेयोग्य मानते हैं। अन्यान्य जनोंके लिये समत्व रखना, कर्ममें कुशलता रखना, कर्मफलका आश्रय न लेना ही उत्तम योग मानते हैं और अर्जुनको भी ऐसा ही योगी बननेकी आज्ञा दे रहे हैं। रणभूमिमें यही उचित भी है। भगवान्‌में मन लगानेसे भगवान्‌का परम तत्त्व समझमें आता है। क्रमशः आचरणमें भगवान्‌के श्रेष्ठ गुणोंका प्रवेश होने लगता है। संसारका प्रपञ्च सरल हो जाता है और मनकी उद्विग्नता मिट जाती है। किल्बिषोंसे शुद्ध होनेपर मनुष्य परमगतिको प्राप्त हो जाता है। जीवनमें अभ्यास सर्वश्रेष्ठ है। अभ्याससे सब काम सरल हो जाते हैं। सत्सङ्गमें रहकर अभ्यास करनेसे मुक्ति होती है और दुःसङ्गमें बन्धन होता है। खेद है, इस समय बन्धनकारक सङ्गोंकी वृद्धि बड़े वेगसे हो रही है। अन्तमें भगवान् आज्ञा देते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

भगवान्‌के मनोऽनुकूल जीवननिर्वाह करना, सब प्रकार भगवान्‌के भक्त हो जाना, भगवान्‌पर पूर्ण प्रेम जमानेका अभ्यास करना, भगवान्‌के लिये यजन-पूजन करते रहना और भगवान्‌को ही नमन करना—भगवान्‌में प्रवेश पानेके कर्म हैं। इनको करनेसे जीवन कल्याणमय हो जाता है। प्रवृत्तिको सद्गुणोंमें झुकाना ही उत्तम नमस्कार है। आधुनिक नमस्कार व्यर्थ कहलाता है; उससे भगवान्‌में प्रवेश पाना दुर्गम है। नमस्कारके साथ नम्रताकी भावना होनी आवश्यक है। भगवान्‌के स्थापित किये हुए प्रतीकोंको सभी नमन करते हैं, परंतु भगवान्‌के चैतन्य प्रतीकोंका ध्यान नहीं रक्खा जाता; उनकी उपेक्षा बहुधा होती है। इसीसे भगवान्‌में प्रवेश पाना दुर्गम हो जाता है। भगवान्‌की शरण लेनेसे सब

कुछ हो जाता है। मनमें अनेक धर्मोंकी भावना रखनेसे मन विचलित हो जाता है। जिस प्रकार गणितज्ञ नवीन जिज्ञासुओंको अङ्कोंका, बीजोंका, रेखाओंका परस्पर व्यवहार समझाता रहता है, इससे जिज्ञासुओंके मनमें गणितका ज्ञान प्रवेश करता है। इसीको परोक्ष रीतिसे यों कहा जाता है कि जिज्ञासुओंका गणितमें प्रवेश हो गया है। इसी तरह संतजन भक्तोंको अपने सङ्गमें रखकर उन्हें सद्गुणोंका अभ्यास कराते हैं। इससे जिज्ञासुओंके आचरणमें सद्गुण समाते रहते हैं। जिज्ञासुओंका गुणोंमें समाना या गुणोंका जिज्ञासुओंमें समाना एक ही क्रिया है। भगवान्‌में प्रवेश पानेका रहस्य यही है कि भक्तोंके आचरणोंमें भगवान्‌के सद्गुणोंका प्रवेश होते रहना चाहिये। कबीरजीने इसी तत्त्वको कहा है—'यों तो भगवान् सभी प्राणियोंमें समा रहा है, परंतु बलिहारी उस घट—व्यक्तिकी है, जिसमें भगवान्‌के सद्गुण प्रकट हों।'

नम्र निवेदन

बहुत दिनों पहलेकी बात है। 'कल्याण'का 'ईश्वराङ्क' निकला था और उसके लिये पूज्यपाद महामना मालवीयजीका लेख प्राप्त करनेके लिये हमें उनके चरणोंमें उपस्थित होनेका सौभाग्य मिला था। उस समय बातों-ही-बातोंमें उन्होंने इस आशयकी बात कही थी कि 'क्राइष्टके वचनोंके संग्रहोंके अंगरेजीमें बहुत-से संस्करण निकले हैं और उनका बड़ा प्रचार तथा आदर है, यद्यपि 'क्राइष्ट' के वचन सर्वतोमुखी, सार्वभौम या संसारके सभी क्षेत्रोंके लिये उतने उपयोगी नहीं हैं। उनमें क्राइष्टकी साधुता भरी है; परंतु हमारे भगवान् श्रीकृष्णके वचन तो सर्वतोमुखी हैं। उनकी लीलाका बड़ा विशाल क्षेत्र रहा है और उन्होंने प्रायः सभी आवश्यक विषयोंपर—आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक—लोक-परलोक-परमार्थके सभी विषयोंपर उपदेश दिये हैं। केवल उपदेश ही नहीं हैं, श्रीकृष्णकी जीवन-लीलाने यथास्थान उन उपदेशोंको प्रत्यक्ष चरितार्थ किया है। अतएव उनके वचनोंका संग्रह प्रकाशित हो, यह बहुत आवश्यक है। एक बार मूल तथा हिंदी अनुवाद-सहित छपे, फिर उसका अंग्रेजी अनुवाद भी छापा जाय।' उसी समय वचन-संग्रहका कुछ काम आरम्भ किया गया था। हमारे एक पण्डित श्रीज्येष्ठारामजीने—जो अब अत्यन्त वृद्ध हो गये हैं, हमारी प्रार्थनापर कार्य आरम्भ भी कर दिया था। पर कई कारणोंसे वह रुक गया।

अब भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे तथा भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणासे ही इस वर्ष 'कल्याण' के विशेषाङ्कके रूपमें यह 'श्रीकृष्णवचनामृताङ्क' प्रकाशित हो रहा है। इसमें महाभारतकी श्रीमद्भगवद्गीता तथा भागवतोक्त उद्धवगीता तो पूरी है; शेष वचनोंका संक्षिप्त संग्रह है। भगवान्‌के सारे वचनोंका संग्रह एक विशेषाङ्कमें सम्भव ही नहीं था। इसलिये बहुत-सा अंश छोड़ देना पड़ा है।

वचनामृतके साथ ही अधिकांशमें कथाप्रसङ्ग भी दे दिये गये हैं, जिससे हमारे कथाप्रेमी पाठक-पाठिकाओंको उपदेशके साथ-साथ लीला-स्मरणका विशेष आनन्द प्राप्त होगा। भगवान् श्रीकृष्णके बहुत-से चित्र भी दिये गये हैं। उनमें कई चित्र तो बहुत ही सुन्दर हुए हैं। अवश्य ही सब चित्र प्रसङ्गानुसार नहीं हैं।

इस 'वचनामृतसंग्रह'में विद्वान् विचारकों और लेखकोंको भी भगवान् श्रीकृष्णके विविध विषयोंके वचन, एक ही जगह ग्रन्थके नाम, अध्याय तथा श्लोकोंकी संख्या-सहित मिल जायँगे। इससे उन्हें बोलने-लिखनेमें बड़ी सुविधा होगी। इस विषयमें हमारे पास कई विद्वानोंके पत्र भी आ चुके हैं, जिन्होंने इस अङ्ककी प्रस्तावनाका बड़ा स्वागत किया है और इसकी उपादेयतापर अपनी अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट की है और कुछने तो हमलोगोंको आशीर्वाद देनेके साथ ही बड़ी सद्भावना प्रकट की है। इसके लिये हम उनके आभारी हैं।

लीला-प्रसङ्ग और अन्यान्य वक्ताओंके द्वारा कथित श्लोक तथा अनुवाद प्रायः १२ प्वा० नं० १ और नं० ३ टाइपोंमें दिये गये हैं और भगवान् श्रीकृष्णके श्लोक तथा उनका अनुवाद १५ प्वा० काला और सादा टाइपोंमें दिया गया है। पाठकोंको टाइपोंके इस भेदसे सुविधा होगी, ऐसी आशा है। कहीं-कहीं इसमें व्यतिक्रम भी हो गया है, इसके लिये हम क्षमा-प्रार्थी हैं।

इस वचन-संकलनके कार्यमें सबसे अधिक सहायता हमारे सम्मान्य साहित्याचार्य पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्त-जी शास्त्री 'राम'से प्राप्त हुई है। हमारे सम्मान्य पं० श्रीजानकीनाथजीसे भी पर्याप्त सहायता मिली है। ये दोनों ही महानुभाव 'कल्याण-परिवार'के ही हैं; तथापि उनकी इस महान् सहायता तथा सहयोगके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं। इनके अतिरिक्त हमारे साथी प्रायः सभी सज्जनोंने न्यूनाधिक सहायता दी है। हम उन सभीका हृदयसे धन्यवाद करते हैं।

'कल्याण'में लिखनेवाले हमारे परम माननीय विद्वानों-से पहले ही प्रार्थना कर दी गयी थी कि 'इस अङ्कमें लेख प्रायः नहीं छप सकेंगे।' तथापि कुछ पूज्य पुरुषोंने कृपा करके लेख भेज दिये। उनमेंसे अधिकांश प्रकाशित कर दिये गये हैं, यद्यपि इसमें कुछ कठिनाई हुई है। उन सबकी अयाचित कृपा तथा आत्मीयताके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं। बहुत-से विद्वानोंकी इस कृपासे हम स्वेच्छापूर्वक ही वञ्चित रहे हैं, इसका हमें खेद है।

इस अङ्कमें रही हुई अनेक त्रुटियोंके लिये हम जिम्मेवार हैं और हम अपनी अज्ञता, असावधानी, भ्रम-भ्रान्तिके लिये क्षमा-प्रार्थना करते हुए यह निवेदन करते हैं कि हमारे विज्ञ पाठक यथावकाश भूल बतानेकी कृपा करें—जिससे भविष्यमें अधिक सावधानी बरतना सम्भव हो।

भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे इधर कई महीने उन्हीं-की लीला-सुधा तथा वचन-सुधाके पान-अवगाहनमें बीते हैं। यह हमारा बड़ा सौभाग्य है। उनकी कृपा अहैतुकी, अनन्त और अमोघ है—हम जितना ही विश्वास तथा अनुभव करें, उतना ही हमारा परम कल्याण है।

विनीत क्षमा-प्रार्थी— { हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी } सम्पादक

श्रीघनश्यामजीसे याचना

(लेखक—पं० श्रीरामनारायणजी त्रिपाठी 'मित्र' शास्त्री)

बरस दो वचनामृत घनश्याम।
उमँड़-घुमड़ फिर आओ व्रजमें,
मन लोचन अभिराम।
बरस दो वचनामृत घनश्याम ॥

पीत वसन वनमाल इन्द्र धनु,
धारण कर छबि धाम।
श्रीराधा दामिनी संगमें,
विहरो लोक ललाम ॥
बरस दो वचनामृत घनश्याम ॥ १ ॥

मुरली ध्वनि नीरद निनादसे,
गुंजित कर वन ग्राम।
भक्त मयूर जगा दो जगमें,
रटें तुम्हारा नाम।
बरस दो वचनामृत घनश्याम ॥ २ ॥

रहते हैं भवरोग कुपीड़ित,
जो जन आठों याम।
उन्हें वचन पीयूष पिला दो,
पा जायें विश्राम।
बरस दो वचनामृत घनश्याम ॥ ३ ॥

उद्धव और पार्थके जिससे,
सींचे उर-आराम।
उसी सुधासे मित्र हृदय-हृद,
भरा करो अविराम।
बरस दो वचनामृत घनश्याम ॥ ४ ॥

श्रीहरिः

कल्याणके नियम

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है ।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें । लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है । अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते । **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं ।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ७ रुपये ५० नये पैसे और भारत-वर्षसे बाहरके लिये १० रुपये (१५ शिलिंग) नियत है । **आजीवन ग्राहक-शुल्क १००) है । विदेशका १२५) रुपये या १० पौंड है ।**

(३) 'कल्याण'का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक जनवरीसे ही बनाये जाते हैं । वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं; किंतु जनवरीके अङ्कके बाद निकले हुए तबतकके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे । 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते ।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते ।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है । यदि किसी मासका अङ्क समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये । वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये । डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें अड़चन हो सकती है ।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये । **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये ।** महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये । पता-बदलीकी सूचना न मिलनेपर अङ्क पुराने पतेसे चले जानेकी अवस्थामें दूसरी प्रति बिना मूल्य न भेजी जा सकेगी ।

(७) जनवरीसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला जनवरीका अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) दिया जायगा । विशेषाङ्क ही जनवरीका तथा वर्षका पहला अङ्क होगा । फिर दिसम्बरतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करेंगे ।

(८) .४५ नये पैसे एक संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है । ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लें तो .४५ नये पैसे बाद दिये जा सकते हैं ।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण'में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण' की किसीको एजेन्सी देनेका नियम नहीं है ।

(१०) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये । पत्रमें आवश्यकताका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये ।

(११) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है । एक बातके लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रकी तिथि तथा विषय भी देना चाहिये ।

(१२) **ग्राहकोंको चंदा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये ।** वी० पी० से अङ्क बहुत देरसे जा पाते हैं ।

(१३) **प्रेस-विभाग तथा कल्याण-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये ।** 'कल्याण'के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते । प्रेससे १.०० से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती ।

(१४) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते ।

(१५) **मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर (नये ग्राहक हों तो 'नया' लिखें), पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये ।**

(१६) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि **व्यवस्थापक 'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)** के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **सम्पादक 'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)** के नामसे भेजने चाहिये ।

(१७) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे या रेलसे मँगानेवालोंसे चंदा कम नहीं लिया जाता ।

व्यवस्थापक—**'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

श्रीगीता और रामायणकी परीक्षाएँ

श्रीगीता और रामचरितमानस—ये दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके लोग विशेष आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। इसलिये समितिने इन ग्रन्थोंके द्वारा धार्मिक शिक्षा-प्रसार करनेके लिये परीक्षाओंकी व्यवस्था की है। उत्तीर्ण छात्रोंको पुरस्कार भी दिया जाता है। परीक्षाके लिये स्थान-स्थानपर केन्द्र स्थापित किये गये हैं। इस समय गीता-रामायण दोनोंके मिलाकर लगभग ३५० केन्द्र हैं। विशेष जानकारीके लिये नीचे पतेपर कार्ड लिखकर नियमावली मँगानेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीता-भवन, पो० 'स्वर्गाश्रम' (देहरादून)

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस—दोनों आशीर्वादात्मक प्रासादिक ग्रन्थ हैं। इनके प्रेमपूर्ण स्वाध्यायसे लोक-परलोक दोनोंमें कल्याण होता है। इन दोनों मङ्गलमय ग्रन्थोंके पारायणका तथा इनमें वर्णित आदर्श सिद्धान्त और विचारोंका अधिक-से-अधिक प्रसार हो—इसके लिये 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ' ग्यारह वर्षोंसे चलाया जा रहा है। अबतक गीता-रामायणके पाठ करनेवालोंकी संख्या ३७,११५ से अधिक हो चुकी है। इन सदस्योंसे कोई शुल्क नहीं लिया जाता। सदस्योंको नियमितरूपसे गीता-रामचरितमानसका पठन, अध्ययन और विचार करना पड़ता है। इसके नियम और आवेदनपत्र मन्त्री—श्रीगीता-रामायण-प्रसार-संघ, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) को पत्र लिखकर मँगवा सकते हैं।

साधक-संघ

देशके नर-नारियोंका जीवनस्तर यथार्थरूपमें ऊँचा हो, इसके लिये साधक-संघकी स्थापना की गयी है। इसमें भी सदस्योंको कोई शुल्क नहीं देना पड़ता। सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम हैं। प्रत्येक सदस्यको १९ नये पैसेमें एक डायरी दी जाती है, जिसमें वे अपने नियमपालनका ब्यौरा लिखते हैं। सभी कल्याणकामी स्त्री-पुरुषोंको स्वयं इसका सदस्य बनना चाहिये और अपने बन्धु-बान्धवों, इष्ट-मित्रों एवं साथी-संगियोंको भी प्रयत्न करके सदस्य बनाना चाहिये। आनन्दकी बात है कि इसके सदस्योंकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है। नियमावली इस पतेपर पत्र लिखकर मँगवाइये—संयोजक—'साधक-संघ', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)।

प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकें भेजिये

प्राचीन ग्रन्थोंकी सुरक्षाके लिये प्राचीन ग्रन्थोंका गीताप्रेसमें संग्रह किया जा रहा है। जिनके अपने पास या जिनकी जानकारीमें संस्कृत तथा हिंदीके और बंगलाके प्राचीन हस्तलिखित—वेद, उपनिषद्, शास्त्र, दर्शन, स्मृति, इतिहास, पुराण, काव्य, वैद्यक, हिंदी-काव्य, रामचरित, कृष्णचरित आदि ग्रन्थ सचित्र या अचित्र हों, वे कृपया स्वयं भेज दें और प्रयत्न करके भिजवा दें। रेल या डाकखर्च गीताप्रेससे दिया जायगा। व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

आवश्यक प्रार्थना

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पत्रव्यवहार बहुत ही कम कर पाते हैं तथा सार्वजनिक सभाओं, उत्सवों-समारोहोंमें भी सम्मिलित होनेमें और लोगोंसे मिलने-जुलनेमें भी उन्हें बड़ी असुविधा है। अतएव सबसे प्रार्थना है कि बहुत आवश्यक होनेपर ही उनको व्यक्तिगत पत्र लिखें, पत्रका उत्तर देरसे पहुँचे या न पहुँचे तो क्षमा करें; सार्वजनिक सभाओं, उत्सव-समारोहोंमें बुलानेका कृपया आग्रह न करें और यहाँ मिलनेके लिये, पहलेसे स्वीकृति प्राप्त किये बिना, पधारनेका कष्ट भी कृपापूर्वक न करें। कोई सज्जन आ जायँ और उनसे मिलना न हो तो व्यर्थ कष्ट होगा, इसीसे यह प्रार्थना की गयी है।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)